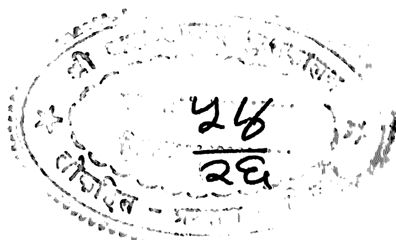
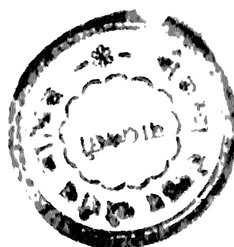
वैदिक कोश

[वैदिक विषयों एवं नामों का]



सूर्यकान्त



बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ।
१९६३

लघुरूप-सूची

अजफि०	=	अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलोलजी
अथप०	=	अथर्व-पद्धति अथवा आथर्वणीय पद्धति; कौशिकसूत्र पर
अथपरि०	=	अथर्व-परिशिष्ट
अथप्रा०	=	अथर्व-प्रातिशाख्य
अवे०	=	अथर्ववेद (शौनकीय)
अवेपै०	=	अथर्ववेद पैप्पलाद
आकैविवी०	=	आबहाण्डलुङ्गन देर कैजरिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन त्सु वीन
आगृ०	=	आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आपगृ०	=	आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र
आपमंब्रा०	=	आपस्तम्ब-मन्त्रब्राह्मण अथवा मन्त्रपाठ
आपश्रौसू०	=	आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र
आप्रअवि०	=	आबहाण्डलुङ्गन देर कोइनिग्लिशन प्रसिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन
आबहाण्डलुङ्ग	=	आबहाण्डलुङ्ग उबेर देन अथर्ववेद
आरसं०	=	आरण्यक-संहिता
आले०	=	आल्तिन्दिश्शेस लेबन, त्सिमर
आश्रौसू०	=	आश्वलायन-श्रौतसूत्र
इंलि०	=	इन्दिश्शे लितरात्यूर गेश्शिश्ते—वेबर
इंस्त्रा०	=	इन्दिश्शे स्त्राइफन
इस्तू०	=	इन्दिश्शे स्तूदियन
ऋवे०	=	ऋग्वेद
ऐआ०	=	ऐतरेय आरण्यक
ऐब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण
ओलिंस्ट	=	ओरियण्टल ऐण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज
ओसंटै०	=	ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स
कन्ट्रिब्यूशन्स	=	कन्ट्रिब्यूशन्स टु दि इन्टरप्रिटेशन आफ दि वेद—ब्लूम—फील्ड
कपिसं०	=	कपिष्ठल संहिता
काश्रौसू०	=	कात्यायन श्रौतसूत्र
कासं०	=	काठक-संहिता
कुत्सा०	=	कुह्न्स त्साइतश्रिफ्त फ्यूर फेर्ग्लाइशेन्दे श्प्राखफोर्शुंङ्ग
कौब्रा०	=	कौषीतकि-ब्राह्मण
कौसू०	=	कौशिक-सूत्र
गोगसू०	=	गोभिल-गृह्यसूत्र
गोगेआ०	=	गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन
गौधसू०	=	गौतम-धर्मसूत्र
छाउ०	=	छान्दोग्योपनिषद्
जअओसो०	=	जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
जबैंएसो०	=	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बैंगाल

जिकोप्रअवि०	=	जित्सुङ्गसबेरिश्ते देर कोइनिग्लिशे प्रसिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन
जूए०	=	जूर्नाल् एशियातीक
जैब्रा०	=	जैमिनीय-ब्राह्मण
जैब्रा०	=	जैमिनीय-ब्राह्मण-उपनिषद्
तैआ०	=	तैत्तिरीय-आरण्यक
तैब्रा०	=	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
तैसं०	=	तैत्तिरीय-संहिता
त्सादामौगे०	=	त्साइतश्रिफ्त देर दायत्शन मौर्गनलान्दिश्शन गेजलशाफ्त
दालित्सा०	=	दायत्से लितरात्यूरत्साइतुङ्ग
पंब्रा० अथवा पंविब्रा०	=	पञ्चविंश-ब्राह्मण अथवा ताण्ड्य-ब्राह्मण
पागृसू०	=	पारस्कार-गृह्यसूत्र
प्रोअओसो०	=	प्रोसीडिङ्गस ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
प्रोबेएसो०	=	प्रोसीडिङ्गस ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
बृउ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
बेकोज़ागेवि०	=	बेरिश्ते देर कोइनिग्लिशे ज़ाखजिश्शन गेज़लशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन
बेबा०	=	बेत्सनबर्गर्स बाइत्रागे त्सुर कुन्दे देर इन्दोजर्मानिश्शन श्प्राखन
बौधाघ०	=	बौधायन-धर्मसूत्र
मागृसू०	=	मानव-गृह्यसूत्र
मैसं०	=	मैत्रायणी-संहिता
लाश्रौसू०	=	लाटचायन-श्रौतसूत्र
वाधसू०	=	वासिष्ठ-धर्मसूत्र
वासं०	=	वाजसनेयि-संहिता माध्यंदिन शाखा की
वीत्साकुमौ०	=	वीनेर त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दी कुन्दे देस मौर्गेनलान्देस
वैसू० या वैतान	=	वैतान-सूत्र
वैस्तू०	=	वदिश्शे स्तूदियन
वोबू०	=	वोर्टेरबूख = रॉथ - बोहटलिङ्गक्
शब्रा०	=	शतपथ-ब्राह्मण
शांगृसू०	=	शांखायन-गृह्यसूत्र
शांश्रौसू०	=	शांखायन-श्रौतसूत्र
षब्रा०	=	षड्विंश-ब्राह्मण
साविब्रा०	=	सामविधान-ब्राह्मण
सावे०	=	सामवेद
सेबुई०	=	सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट
हिऐंसलि०	=	हिस्ट्री ऑफ ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर
हिकेसू०	=	हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र

अ

अंश—ऋग्वेद (२. २७. १) में अंश एक आदित्य के रूप में उल्लिखित है। उनसे यह अनुरोध किया गया है कि वे हमारी स्तुति को ध्यानपूर्वक सुनें। द्र० आदित्य।

१. अंशु—ऋग्वेद (८. ५. २६) में अश्विनी कुमारों के एक कृपापात्र। जीग[१] के अनुसार अंशु खेल का ही दूसरा नाम है। वंश ब्राह्मण (१) के अनुसार अमावास्य शाण्डिल्यायन का एक शिष्य धनंजय। द्र०—इं०स्तू०, ४. ३७३।

अंशुमती—अंशुमतो शब्द संहिताओं और ब्राह्मणों में कई बार आया है। तैत्तिरीय आरण्यक (१. ६. ३) में इसकी व्याख्या करते हुए इसे पृथिवी बताया गया है—'पृथिव्यंशुमती'। पण्डित गिरीशचन्द्र अवस्थी ने (वेद धरातल में) अंशुमती को नदी माना है। सूर्यकान्त शास्त्री ने इसे सरस्वती माना है[२]। मोनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोश में यमुना नदी के अर्थ में भी इसे ग्रहण किया है।

अंसत्र—ऋग्वेद (८. १७. १४) में एवं अन्यत्र यह शब्द कवच के अर्थ में आया है। (अंसत्र=अंस का त्राण करने वाला)। ऋग्वेद (४. ३४. ९) में ऋभुओं के अंसत्र बनानेका उल्लेख है। मोनियर विलियम्स इसे धनुष् के अर्थ में भी लेते हैं। किंतु ऋग्वेद (१०. १०१. ७) में "अंसत्र-कोश" का प्रयोग कूप से जल को बाहर खींचने वाले डोल के लिए जान पड़ता है।

अंहस्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अंहस् शब्द पाप अथवा क्लेश के अर्थ में अनेक बार आया है। अंहस् से मुक्ति और रक्षा के लिए प्रार्थनाएं प्रायः की गई हैं: "बछड़े को रस्सी से छोड़ने की भांति अंहस् से मुक्त कर दो" (ऋ० २. २८. ६); "हमें संपूर्ण अंहस् से मुक्त कर दो" (ऋ० १. १०६. १); "हमें कल्याण-पूर्वक अंहस् के पार पहुंचा दो" (ऋ० २. ३३. ३)।" "ते नो मुञ्चत्वंहसः" अर्थात् वे (देव) हमें अंहस् से मुक्त करें, ऐसी प्रार्थना अथर्ववेद में लगातार कई ऋचाओं के चतुर्थ चरण में की गई हैं (द्र०-अ० वे०, ४. २७. १-७, ११. ६. १-६, ८, १०-२१ आदि)।

तु०—बो. रा., संस्कृत वोर्टेरबूख "अंहस्" शब्द।

[१] दी. ग्रा. ऋ. १२९। द्र०—लुड्विग, ट्रां. ऋ. ३. १६०, हापकिन्स, जअओसो. १७. ८९।

[२] द्र०—भारती, बुलेटिन आफ दि कालेज आफ इंडोलोजी, १, पृ० १६

अंहसस्पति—वाजसनेयि-संहिता (७. ३०, २२. ३२) में अधिकमास या मलमास का द्योतक है। द्र०—मास।

अकूपार—यद्यपि ऋग्वेद (१०. १०९. १) में सूर्य के अर्थ में आया है, तथापि वाजसनेयि-संहिता (२४. ३५) में समुद्र का द्योतक है। (द्र०—"आकूपार"।

अक्र—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर (१. १४३. ७; १. १८९. ७; ३. १. १२; ३. ४. ३; १०. ७२. २) अक्र शब्द का अर्थ गेल्डनर ने[१] अश्व माना है, किंतु राथ[२] के अनुसार इस शब्द का समीचीन अर्थ सवारी का घोड़ा है। तु०—अश्व।

अक्तु—निघण्टु (१. ७) में अक्तु को रात्रि के पर्यायवाची नामों में गिनाया गया है। वैदिक साहित्य में कुछ स्थलों पर यह इस अर्थ में आया है (ऋ० ३. ३०. १३; ५. ३०. १३; ६. २४. ९; ६. ३९. ३; ६. ४९. १०; १०. १२. ७; १०. ६४. ३)। किंतु कुछ स्थलों पर अंजन के प्रसंग में यह घृत, तेजस्, अथवा हविर्द्रव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (ऋ० ३. १७. १; ६. ६९. ३; ९. ५०. ५)। कुछ स्थलों पर प्रकाश या किरण के अर्थ में भी इसका प्रयोग प्रतीत होता है (ऋ० १. ९४. ५; ४. ५३. १; ३; ७. ७९. २; १०. १४. ९ इत्यादि)।

१. अक्ष—ऋग्वेद (१. ३०. १४; १. १६६. ९; ३. ५३. १७; ६. २४. ३; १०. ८९. ४ आदि) एवं परवर्ती साहित्य में रथ के एक भाग 'धुर' (वह लोहा जिस पर पहिया घूमता है) का वाचक है। अक्ष-नह् द्वारा यह रथ के कोश से संलग्न होता था (अक्षनह्=अक्ष से संबद्ध, बाँक)[३]। ऋग्वेद (१०. ५३. ७) में इस शब्द का प्रयोग अश्व के अर्थ में प्रतीत होता है[४]। अक्ष के तप्त होने और उसके भग्न होने के भय से लोग परिचित थे (ऋ० १. १६४. १३)।

२. अक्ष—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द अक्ष-क्रीड़ा के अर्थ में प्रायः आया है। अक्ष-क्रीडन वैदिक भारत में अश्वधावन (घुड़दौड़) के समान मनोरञ्जन का एक प्रमुख साधन था; किंतु यह क्रीडा कैसे होती थी, इसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने प्रस्तुत नहीं है।

[१] वैस्तू, १. १६८, १८९।

[२] त्सादामीगे ९, ४८. ११८.
(द्र०—मैं०, से० ई० ३२. ४१४)।

[३] तु०—त्सिमर, आले०, २४६।

[४] तु०—राथ, वोबू।

(१) **सामग्री**—अक्ष साधारणतया विभीदक (बहेड़ा) के बीजों से बनते थे। ऋग्वेद (७. ८६. १; १०. ३४. १) एवं अथर्ववेद (२०. ४. ६) में ऐसे अक्षों का उल्लेख मिलता है। वर्ण में ये बभ्रु थे और वायुपूर्ण देश में पनपते थे (ऋ० १०. ३४. १, ५; अ० वे०, ७. ११४. ७)। अग्न्याधेय और राजसूय महोत्सवों के अक्ष-क्रीड़ा-प्रसंग में सामग्री का उल्लेख स्पष्ट नहीं है, किंतु संभव है कि वहां विभीदक-बीजों के स्थान पर इनके स्वर्ण-प्रतीक प्रचलित रहे हों (द्र०—सायण, तै० सं० का भाष्य, १. ८. ६. १२; श० ब्रा०, ५. ४. ४. ६)। परवर्ती साहित्य में काकिनी या कपर्दक का प्रयोग अक्ष के लिए आया है, किंतु वैदिक साहित्य में इसकी इस अर्थ में स्पष्ट झलक नहीं मिलती (सायण, उपर्युक्त एवं ऋ० भा० १. ४१. ९; महीधर, वा० सं० भाष्य, १०. २८)।

(२) **संख्या**—ऋग्वेद (१०. ३४. १२) में अक्षराट् को "महान् गण (अक्ष-समूह) का सेनानी" कहा गया है। एक स्थान पर इनकी (ऋ० १०. ३४. ८) संख्या "त्रिपञ्चाशः" बताई गई है, किंतु इस पद की व्याख्या के विषय में मतभेद है। लुड्विग (ऋग्वेदानुवाद), वेबर[१] और त्सिमर[२] इसे १५ मानते हैं; किंतु व्याकरण की दृष्टि से ऐसा मानना कठिन है। सायण, राथ और ग्रासमान (ऋ० अनुवाद) के अनुसार इस शब्द का अर्थ ५३ है। ल्यूडर्स[३] इसका अर्थ १५० करते हैं, किंतु साथ ही उनका यह कहना भी है कि यह अधिक संख्या का उपलक्षणमात्र है। त्सिमर[४] अक्षों की अल्प संख्या के समर्थन में ऋग्वेद १. ४१. ९ को उद्धृत करते हैं, जिसमें किसी के चार से डरने का उल्लेख है (चतुरश्चिद् ददमानाद् विभीयात्), किंतु इस कथन का वास्तविक अर्थ बहुत कुछ अक्षक्रीडा की पद्धति पर निर्भर है।

(३) **अक्ष-क्रीड़ा-शैली**—परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में अक्षक्रीड़ा से संबद्ध कुछ पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता (४. ३. ३. १-२) में कृत, त्रेता, द्वापर, आस्कन्द और अभिभू ये नाम आते हैं। वाजसनेयि संहिता (३०. १८.) के अनुसार पुरुषमेध में चढ़ाई गई बलियों में से 'कितव' अक्षराज को दिया जाता है, आदिनव-दर्श कृत को, कल्पिन् त्रेता को, अधिकल्पिन् द्वापर को और सभास्थाणु आस्कन्द को दिया जाता है। इसके समानान्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४. १. १६) में आने वाले नाम यों है: कितव, सभाविन्, आदिनवदर्श, बहिःसद् और

१ ऊबर दास राजसूय, ७२। २ आले, २८४।
३ दास व्युर्फलश्पील इम आल्तन इंदीन २५।
४ आले, २८३।

सभास्थाणु (संभवतः ये अक्षक्रीड़ा करने वाले हों, किंतु इन नामों का असली अर्थ ज्ञात नहीं है), और अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर, एवं कलि। शतपथ ब्राह्मण (५. ४. ४. ६.) से ज्ञात होता है कि कलि का इतर नाम अभिभू था। तैत्तिरीय और वाजसनेयि संहिताओं की समानान्तर सूचियों से संकेत मिलता है कि अक्षराज ही अभिभू है। इन क्षेपणों में से कुछ नाम ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी पाए जाते हैं। कलि का उल्लेख अथर्ववेद (७. ११४. १) में आता है। ल्यूडर्स[१] के अनुसार ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर कृत का अर्थ क्षेपण है, न कि 'विज्' अथवा 'जीता हुआ धन' और इस शब्द का यह भाव अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर स्पष्ट है (७. ५२; द्र० ऋ० १०. ४२. ९, 'कृतं वि चिनोति'; १०. ४३. ५; १०. १०२. २; ५. ६०. १; ९. ९७. ५८; १. १३२. १; १०. ३४. ६; १. १००. ९; ७. १९. १०) और यह बात कि क्षेपण (अयाः) एक से अधिक होते थे, ऋग्वेद के उस मन्त्र (१०. ११६. ९) से प्रमाणित हो जाती है, जहां कि देवों की तुलना अक्षों से की गई है, जो या तो धन को जीतते हैं, अथवा उसे नष्ट कर देते हैं।

अक्ष-क्षेपण वस्तुतः कैसे किया जाता था, इसके विषय में संदेह है। सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार उपर्युक्त नाम ४, ३, २, या १ से अंकित अक्षों के बोधक होते थे, अथवा इस प्रकार से अंकित अक्ष-पार्श्वों के। दूसरी व्याख्या का भारतीय भाष्यकार समर्थन करते हैं (आनन्दगिरि, छा० उ० भाष्य, ४. १. ४, नीलकण्ठ, महाभारत-टीका, ४. ५०. २४)। इसके विपरीत प्रथम व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए प्रमाण नहीं मिलते। अक्ष-रूप में व्यवहृत विभीदक-बीजों की आकृति ऐसी होती है कि उनका कोई पार्श्व ठीक सिरे पर हो जाने से ऊपर आ ही नहीं सकता[२]। अग्न्याधेय और राजसूय महोत्सवों पर होने वाली यज्ञिय क्रीड़ा के वर्णन से इन शब्दों पर कुछ प्रकाश पड़ता है (द्र०बौ०श्रौ०सू०, २. ८. ९; आ०श्रौ०सू० ५. १९. ४; ५. २०. १ अग्न्याधेय पर रुद्रदत्त की टिप्पणी के साथ। आप०श्रौ०सू०, १८. १८. १६ में एवं आगे, राजसूय के खेल का वर्णन है। तु०—मै०सं०, ४. ४. ६; तै०ब्रा०, १. ७. ५, श०ब्रा०, ५. ४. ४. ६; का०श्रौ०सू०, १५. ७. ५ एवं आगे। कृत के चार होने के संबन्ध में द्र०—श०ब्रा० १३. ३. २. १; तै०ब्रा०, १. ५. ११. १)। खेल की प्रक्रिया के बारे में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता, किंतु इतना स्पष्ट है कि इस खेल में अक्षों की सम संख्या प्राप्त करनी होती थी, ऐसी संख्या जो कि ४ से विभक्त हो सके[३]।

१ उपर्युक्त, ४३ एवं आगे। २ द्र० ल्यूडर्स, वही, १८।
३ द्र०—कैलेंड, त्सादामीगे. ६२. १२३ एवं आगे।

चार से विभक्त होने पर कृत होता था; शेष तीन क्षेपण होते थे त्रेता, जब कि ४ से भाग देने पर ३ शेष रहता था, द्वापर जब कि २ शेष रहते थे, और कलि, जब कि शेष केवल एक रहता था। यदि विभाजक संख्या पांच होती थी तो कुछ भी शेष न रहने पर कलि, चार शेष रहने पर कृत, एवं इसी क्रम से अन्य होते थे। अक्षों पर कोई संख्या अङ्कित नहीं होती थी। प्रश्न तो यह रहता था कि स्वयं अक्षों की कुल संख्या कितनी है।

इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद-कालिक अक्षक्रीडा की पद्धति भी कुछ इन्हीं सिद्धान्तों पर आधृत थी, भले ही हमें उसका विस्तृत विवरण न मिल पावे। खेल में काम आने वाले अक्षों की संख्या अवश्य ही अधिक रहती थी (ऋ० १०. ३४. ८)। चार के क्षेपण से और एक से खोने के उल्लेख से संकेत मिलता है कि कृत जयात्मक रहा होगा (ऋ० १. ४१. ९; जुए में हारने का कारण बताया गया है 'अक्षस्य एकपरस्य' ऋग्वेद १०. ३४. २; जो कि पाणिनि २. १. १० प्रदत्त द्वापर की व्याख्या को प्रमाणित करता है)। दूसरी ओर अथर्ववेद में कलि के जयात्मक होनेका संकेत मिलता है (७. ११४. १)। कम से कम एक बात में तो साधारण खेल यज्ञिय खेल से भिन्न रहा होगा। यज्ञिय खेल में द्यूतकार को केवल अक्षों की अपेक्षित संख्या को उठा लेना होता था, और यह इसलिये कि वह उन भयंकर गलतियों से, जिनका हो जाना लौकिक खेल में नितान्त स्वाभाविक सा था, बच जाय। लौकिक खेल में अक्ष-क्षेपण संभवतः उसी शैली से होता रहा हो (ऋ० १० ३४. १; १०. ८. ९. अ० वे०, ४. ३८. ३) जैसा कि ल्यूडर्स ने बताया है[१]: क्रीड़ा-स्थल में एक व्यक्ति कुछ अक्ष फेंकता है, तब दूसरा व्यक्ति इतने अक्ष फेंकता है जो कि पहले फेंके गये अक्षों के साथ मिलकर चौगुने या पांचगुने बन जांय। इस सिद्धान्त से इस बात का पता चल आता है कि बाद के काल में द्यूतकार की गणना-विषयक अटकल पर इतना अधिक बल क्यों दिया जाता था, जैसा कि नल की कहानी से सुव्यक्त है।

अक्षक्रीडा में किसी पट्ट या फलक के उपयोग का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु भूमि पर एक इस प्रकार का ढलान तैयार कर लिया जाता था, जिस पर पासे फेंके जा सकते थे। इसके लिये अधिदेवन (अ०वे० ५. ३१. ६; ६. ७०. १; मै०सं०, १. ६. ११; ४. ४. ६ इत्यादि), देवन (ऋ० १०. ४३. ५) और इरिण (ऋ० १०. ३४. १) ये नाम आते हैं। अथर्ववेद (७. ११४. २.) में अक्ष के भूमि पर गिरने का उल्लेख मिलता है। अक्ष-पेटिका का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु शतपथ ब्राह्मण (५. ३. १. ११) में अक्षों के रखने के लिए अक्षा-वपन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (४. ३८. १) में अक्ष-क्षेपण को ग्रह कहा गया है, किंतु उससे पहले ऋग्वेद (८. ८१. १; ९. १०६. ३) में उसे ग्राभ बताया गया है। आक्षिक पण को प्रायः 'धन' नाम से अभिहित किया गया है, किंतु ऋग्वेद (१. ९२. १०; २. १२. ५.) में उसे विज्, (२. १२. ४ में लक्ष) कहकर भी पुकारा गया है[१]। ऋग्वेद १. ९२. १० का अर्थ राथ और त्सिमर[२] करते हैं—वह अक्षों को गुप्तरूप से तिरोहित कर देता है। द्यूत-क्रीड़ा में भयंकर हानियां संभव थीं। ऋग्वेद १०. ३४. २ में एक जुआरी पत्नी-सहित अपनी अशेष संपत्ति को खोकर पश्चात्ताप करता है। द्यूत में धोखा भी दिया जाता था, इस बात का संकेत ऋ० ५. ८५. ८; ७. ८६. ६; ७. १०४. १४; अ०वे० ६. १२८ में मिलता है। ल्यूडर्स ने[३] छान्दोग्योपनिषद् (४. १. ४. ६) के आधार पर एक अन्य प्रकार के द्यूत का उल्लेख किया है। हरिवंश २. ६१. ३९ पर नीलकण्ठ भाष्य के अनुसार आक्षिकपण को दश में बाँटा जाता था; और तब कलि को १, द्वापर को ३, त्रेता को ६, और कृत को सारे १० मिलते थे। यह व्याख्या चिन्त्य प्रतीत होती है।

तु० राथ, गुरुपूजाकौमुदी, १-४, त्सिमर, आले २८३-२८७, ल्यूडर्स, दास व्युर्फलश्पील इम आल्तन इंडीन, कालेण्ड, त्सादामोगे ६२. १२३ एवं आगे, कीथ, जराएसो, १९०८, ८२३ एवं आगे।

३. अक्ष—छान्दोग्य उपनिषद् (७. ३. १) में यह शब्द विभीदक (बहेड़ा) के बीज का नाम प्रतीत होता है।

अक्षत या अक्षित—अथर्ववेद (७. ७६. ४) में जायान्य रोग के प्रकरण में अक्षत अथवा अक्षित नामक फोड़ों के लिये एक ओषधि का विधान है। कौशिकसूत्र के अनुसार यह पाठ अक्षत और सुक्षत है, जब कि सायण ने अक्षित और सुक्षित शब्दों पर भाष्य किया है। ब्लूमफील्ड ने[४] इन शब्दों का अर्थ किया है: जो काटने से न उत्पन्न हुए हों और जो काटने से उत्पन्न हुए हों। पहले उन्होंने[५] बद (tumour) अथवा व्रण यह अर्थ किया था। ह्विटनी ने[६] यहां जायान्य ही के दो भेद माने हैं।

[१] उपर्युक्त, ५६।

[१] द्र०-ल्यूडर्स, उपर्युक्त, १० टि० ५, ६२ टि० १।
[२] उपर्युक्त, २८६।
[३] उपर्युक्त. ६१ में।
[४] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, १७. ५६२।
[५] जअओसो १३, ११७ एवं आगे।
[६] ट्रां० अवे, ४४२।

लुडविग सायण की भांति अक्षित पढ़ते हैं और इसका अर्थ करते हैं : जो कि रोगी में पूरी तरह उभर आया हो[१]। त्सिमर[२] के अनुसार यह क्षत रोग है।

१. अक्षर—अविनश्वर सत्ता, ब्रह्म, आत्मा। ओम् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उपनिषत्काल में तो इसका व्याख्यान ज्ञान का प्रमुख अङ्ग बन कर उभरा है; उदाहरणार्थ देखो, बृउ०, ३.८ ८,९; कठउ०, २. १६; मुण्डकउ०, १.१.६; माण्डूक्यउ०, १, आदि।

२. अक्षर—वर्ण के अर्थ में भी अक्षर शब्द का प्रयोग आया है। यह शांखायन आरण्यक (८.१) में अन्तःस्थ वर्णों के लिए व्यवहृत है। ऋग्वेद (१.१६४.२४) में अक्षर द्वारा सात वाणियों के मापने का उल्लेख है—"अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः"। अक्षरभाजः (ऐ० ब्रा०, १.१०; २.३७; ३.२२; शां० ब्रा०, १४.२; १८.५), अक्षरशः (ऐ० ब्रा०, ६.२) एवं अक्षरसमाम्नाय (ऐ० आ० ३. २,३) ये पद भी मिलते हैं। द्र० कतमत्तदक्षरमिति यत्क्षरन्नाक्षीयतेति इन्द्र इति। जैउ १. ४३. ८ तु० स्वर।

अक्षावपन—द्र०—२ अक्ष।

अक्षावाप—शतपथ ब्राह्मण (५. ३. १. ११) में सायण ने अक्षावाप को अक्ष फेंकने वाला या अक्ष की रक्षा करने वाला द्यूतकार माना है। कात्यायन (१५. ३. १२) के अनुसार यह शब्द द्यूताध्यक्ष, द्यूतपति या अक्षगोप्ता का वाचक है।

अक्षि—"आँख"। द्र० शरीर।

अक्षित—द्र० अक्षत।

अक्षिति—पुरुष, शत्रप. १४. ४. ३. ७; = आपः कौ. ७. ४।

अक्षु—ऋग्वेद (१. १८०. ५) और अथर्ववेद (९. ८. १८; ९. ३. ८) में अक्षु शब्द जाल-वाचक है। अथर्ववेद ८. ८. १८ में 'अक्षु-जालाभ्याम्' आया है। राथ ने अपने कोश में इसका अर्थ जाल दिया है, किंतु बोटलिंग्क ने "रथ का अक्ष" यह अर्थ दिया है। गेल्डनर[३] इसे शलाका या बांस मानते हैं, जो मछुए के जाल में लगा होता है, अथवा जो शकट या गृह में प्रयुक्त होता है, किंतु वह लंबा है या सपाट इस पर कुछ नहीं कहते (द्र० वंश)। ब्लूमफील्ड[४] इसे "वैदल आवरण" (बांस आदि का बनाया हुआ विशाल छाता) समझते हैं; इसके द्वारा वे इसके सहस्राक्ष होने का समाधान भी अनेक छिद्रों की उपस्थिति से कर लेते हैं; किंतु अथर्ववेद के दूसरे स्थल पर वे इसका अर्थ जाल ही करते हैं। वे यह भी संकेत देते हैं कि संभवतः सायण के अनुसार ऋग्वेद में इसका प्रयोग विशेषण (अ-क्षु) के रूप में हुआ हो। तु०-त्सिमर, आले, १५३, २६५; ह्विटनी, अवे० ट्रां०, ५०६; ओल्डेनबेर्ग, ऋ० नो० १. १७९।

[१] ट्रां० ऋ०, ३. ५००। [२] आले, ३७७।
[३] वैस्तू, १. १३६।
[४] हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ५९८।

अगस्ति—अगस्त्य के नाम का यह रूप एक बार अथर्ववेद (४. ९. ३) में आता है, जहाँ वे मित्र और वरुण के प्रिय व्यक्ति के रूप में चित्रित किये गये हैं। तु०—जीग, दा० जा० ऋ०, १२७ टि० ५।

अगस्त्य—ये एक पौराणिक ऋषि हैं। परवर्ती साहित्य में इनके महत्त्वपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वे एक मान थे (ऋ० ७. ३३. १०. १३)। इसीलिए वे मान्य तथा मान के पुत्र कहे जाते हैं (ऋ० १. १६५. १५. १६६. १५. १६७. ११. १६८. १०; १. १६५. १४; १. १७७. ५; १. १८४. ४ "मान्य"; १. १८९. ८; १. ११७. ११ मानस्य सूनुः)। उनके मित्रावरुण के पुत्र होने का उल्लेख ऋग्वेद (७. ३३. १३.) में केवल एक बार मिलता है; किंतु परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख बहुधा हुआ है[१]।

उनका सबसे अधिक दक्ष कार्य था इन्द्र और मरुतों में पुनः संधि स्थापित कराना, जब कि उन्होंने इन्द्र के लिए प्रतिज्ञात हवि को मरुतों को समर्पित करने की चेष्टा की थी। ऋग्वेद के तीन सूक्तों (१. १६५, १७०; १७१) में और यत्र-तत्र ब्राह्मणों (तै० सं० ७. ५. ५. २; तै० ब्रा०, २. ७. ११. १; मै० सं०, २. १. ८; का० सं०, १०. ११; पंचविंश ब्रा०, २१. १४. ५; ऐ० ब्रा०, ५. १६; कौ० ब्रा०, २६. ९) में अगस्त्य के इस कार्य का उल्लेख मिलता है। इस कथा के रहस्य एवं विस्तार पर जीग[२], हर्टेल[३] और श्रोडर ने[४] पर्याप्त लिखा है।

अगस्त्य का लोपामुद्रा के साथ एक विचित्र वार्तालाप भी ऋग्वेद (१. १७९) में आता है, जिसमें ऋषि अन्त में लोपामुद्रा के प्रलोभन के सामने झुक जाते हैं[५]। श्रोडर इसे वानस्पतिक यातु का यज्ञिय नाटक समझते हैं[६]।

[१] तु० गेल्डनर, वैस्तू, २. १३८ एवं आगे।
[२] दी० जा० ऋ०, १०८-११९।
[३] वि०ओ०ज०, १८, १५२-१५४।
[४] मि०उण्ड मि०इम ऋ०, ९१ एवं आगे।
[५] तु० जीग उपर्युक्त, १२०-१२६; ओल्डनबर्ग, उपर्युक्त, ६६-६८।
[६] उपर्युक्त, १५६-१७२।

ऋग्वेद (१. ११७. ११; तु० १. ११६. १५) में अगस्त्य अश्विनों के सहायक बनकर आते हैं, जब कि वे विश्पला की उतरी टांग चढ़ाते हैं। सायण के अनुसार अगस्त्य खेल के पुरोहित थे। जीग को[१] यह मान्य है, किंतु पिशल के मत में खेल राजा न होकर एक देव-विशेष (विवस्वान्) हैं[२]।

ऋग्वेद (७. ३३. १०, १३) के आधार पर गेल्डनर ने[३] यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अगस्त्य वसिष्ठ के भाई थे; क्योंकि ये दोनों ही मित्रा-वरुण से उत्पन्न हुए थे। अगस्त्य ने वसिष्ठ का परिचय **तृत्सुओं** से कराया था। अगस्त्य का उल्लेख ऋग्वेद में दो स्थानों पर और है: एक स्थान पर तो अन्य पुरुषों के साथ एक लम्बी सूची में उनका नाम आया है (ऋ० ७. ५. २६)[४]; दूसरे स्थल पर (ऋ० १०. ६०. ६) वे अपनी बहन के पुत्रों को (नद्भ्यः) बन्धु कहकर संकेत करते हुए उद्दिष्ट हुए हैं। अथर्ववेद में उनका संबन्ध अभिचार-कर्म से दिखाया गया है (२. ३२. ३; ४. ३७. १)। संभवतः इसीलिए ऋग्वेदानुक्रमणी में उनका संबन्ध एक यातु-सूक्त (ऋ० १. १९१) से स्थापित किया गया हो। अथर्ववेद (१८. ३. १५) का ऋषियों की लम्बी सूची में अगस्त्य का भी नाम आया है। मैत्रायणी संहिता (४. २. ९) में उनके पास विष्ट्यकर्णी गौओं का होना बताया गया है। (तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ११७; जीग, दी जा० देस ऋ० १०६-१२९, मैकडोनेल, बृ० दे, २. १३६ एवं आगे। ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ४२. २२१; ऋग्वेद नोटन, १. ११०)।

अगस्त्य-तीर्थ—गोपथब्राह्मण (२. ८) में यह शब्द आता है। संभवतः अगस्त्य ऋषि के नाम पर बसाया गया यह कोई स्थान है; किंतु यह कहां था यह अनिश्चित है।

अगार—कौषीतकि उपनिषद् (२. १५) में यह गृह के अर्थ में आया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१. ७. २१) में भी अगार शब्द आता है। (तु०—अथर्ववेद ४. ३६. ३ में 'आगार') (तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ०दि अ०वे०, ४०७)।

अगोह्य—ऋग्वेद (१. ११०. २, ३) में यह सविता का नाम है। ऋभुओं के १२ दिन तक अगोह्य के यहां रहने और अमरता प्राप्त करने का उल्लेख वहां मिलता है। द्र०—मैकडोनेल, वे० मि०, पृ० १३३।

[१] उपर्युक्त, १२८। [२] वैस्टू० १. १७१-१७३।
[३] वैस्टू, २. १३८, १४३।
[४] जीग ने इसे खेल से संबद्ध माना है, उपर्युक्त, १२९।

अग्नायी—ऋग्वेद में एवं अन्यत्र अग्नि-पत्नी के रूप में अग्नायी का नाम आया है। (दे०ऋ० १. २२. १२)।

अग्नि—अग्नि मुख्यतया पृथ्वीस्थानीय देव है। वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया का मूल आधार होने के कारण अग्नि का बहुशः उल्लेख है। वैदिक देवों में इन्द्र के बाद अग्नि का ही स्थान आता है। ऋग्वेद के कम से कम दो सौ सूक्तों में अग्नि की स्तुति आती है। इसके अतिरिक्त अन्य देवों के साथ भी अग्नि का उल्लेख मिलता है।

घृत से समिद्ध होने के कारण अग्नि को घृत-पृष्ठ (ऋ० ५. ४. ३) एवं घृतास्य (ऋ० ३. १. १८) आदि विशेषणों से सजाया गया है। अग्नि को मार्जनशील वृषभ कहा गया है। उत्पन्न होने के समय वह गो-वत्स प्रतीत होता है; किंतु समिद्ध होते ही वह देवों को वहन करने वाला अश्व बन जाता है। अग्नि मर्त्यों का मित्र है। वह देवों और मर्त्यों के बीच एक माध्यम है। ऋषि विश्रब्ध मित्र के समान उससे वार्तालाप करते हैं। जैसे पिता पुत्र का हितैषी होता है, वैसे ही अग्नि मर्त्यों के लिए वरद है। गृहस्थों का वह देवता है, स्त्री-पुत्रों का रक्षक है, गृह को वह संपन्न बनाता है। यह गृहपति है और सब गृहस्थों का मूर्धन्य अतिथि है। अमर्त्य अग्नि मर्त्यों में स्थित होकर उन्हें समृद्ध बनाता है। ऋग्वेद (१. ६६. ८) में उसे युवतियों का प्रेमी और पति कहा गया है। विवाह-सूक्त के अनुसार वधू पहले अग्नि को दी जाती है, अग्नि से पति अपनी पत्नी को पाता है। जातकर्म, विवाह आदि सभी अवसरों पर अग्नि की आराधना की जाती है। यज्ञ में अग्नि दूत के समान है, वह देवों को अग्निशाला में लाता है। वह पुरोहित है, और वह होता भी है। ऋग्वेद (१. १४३. ५) में उसे वनों का दाहक कहा गया है। उसका जन्म त्रेधा है—आकाश में सूर्य, पृथ्वी पर अग्नि और जल में विद्युत्। अग्नि दो अरणियों से उत्पन्न होता है, अतः उसकी दो माताएं हैं। (द्र०—मैकडोनेल, वे०मि०; विं० हिस्ट्री आफ इं० लि०, भा १)।

अग्निदग्ध—यह शब्द (ऋ० १०. १५. १४; तै० ब्रा०, ३. १. १. ७;—दग्धाः, अ० वे० १८. २. ३४) उन लोगों के लिए आया है, जिनकी अन्त्येष्टि चिता पर की जाती थी। वैदिक काल में शव-संस्कार दो प्रकार से संपन्न होता था। दूसरा प्रकार शव के गाड़ने का है और उसका नाम अनग्निदाह है (ऋ० उपर्युक्त; "निखाताः", अ० वे०, १८. २. ३४)। अथर्ववेद में इसके लिए दो और शब्द प्रयुक्त हुए हैं: "परोप्ताः" (फेंके हुए) और "उद्धिताः" (असहाय छोड़े हुए), किंतु इन शब्दों का अर्थ संदिग्ध है। त्सिमर[१] के मत में प्रथम प्रक्रिया के अनुसार मृतक

[१] आले, ४०२।

को ईरानियों की प्रथा के समान जानवरों के खाद्य के रूप में छोड़ दिया जाता था। दूसरी प्रक्रिया में उन वृद्धों की ओर संकेत प्रतीत होता है, जो असहाय छोड़ दिये जाते थे। ह्विटनी[१] के अनुसार दूसरी प्रक्रिया में मृतक को किसी ऊँचे मंच पर असहाय अवस्था में छोड़ दिया जाता था।

गाड़ने की प्रथा ऋग्वेद-काल में अज्ञात नहीं कही जा सकती। एक पूरे सूक्त (ऋ० १०. १८.) में इसका वर्णन मिलता है (द्र०—ऋ० ५. ८. और पत्नी शब्द)। मृतक को उसकी पूरी पोशाक में, उसके धनुष् के साथ गाड़ा जाता था, और संभवतः वन्य जातियों की भांति कभी-कभी उसकी पत्नी को भी उसके उपहार के रूप में चढ़ा दिया जाता था। किंतु वैदिक काल में दोनों प्रथाएँ परिमार्जित रूप में पाई जाती हैं। मृतक के पास से उसके धनुष् को उसका पुत्र उठा लेता है, और उसकी विधवा पत्नी को उसका भाई या अन्य संबन्धी उठाकर अलग कर देते हैं। मृत और उसके संबन्धियों के बीच एक पत्थर रख दिया जाता है जो कि संभवतः दोनों को अलग करने के लिए एक संकेत-रूप है। अथर्ववेद (१८. २. २५, १८. ३. ७०) में एक वृक्ष को रखने का उल्लेख है; किंतु ऋग्वेद में ऐसा नहीं मिलता। दोनों ही संहिताओं में भूमिगृह का उल्लेख है। ओल्डनबर्ग (रिलिजन देस वेद ५७१) के अनुसार दाह और दफन की दो प्रथाएँ नहीं थीं: मैकडानेल और कीथ[२] के अनुसार दोनों ही प्रथाएँ साथ-साथ प्रचलित थीं। इसके लिए वे ग्रीस की समानान्तर प्रथाओं का उदाहरण देते हैं।

कुछ भी हो, दाह-प्रथा तब प्रचलित थी और वह धीरे-धीरे अपना प्रमुख स्थान बना रही थी। छान्दोग्य उपनिषद् (८. ८. ४.) में मृतक के शरीर को दधि (आमिक्षा) से सजाने और वस्त्र आभूषण द्वारा प्रसाधित करके उसके लिये द्वितीय लोक को जीतने का प्रयास व्यर्थ बताया गया है। वाजसनेयि संहिता (३५; तु० कौशिक सूत्र ८० एवं आगे; अथर्ववेद १८. १–३ के मंत्र) के मृतक-संस्कार में केवल दाह का विधान पाया जाता है। यहाँ पर दफनाने का जो उल्लेख मिलता है, वह अवशिष्ट अस्थियों के श्मशान में गाड़ने की ओर संकेत प्रतीत होता है (अवे० ५. ३१. ८; १०. १. १८; तैसं, ५. २. ८. ५; ५. ४. ११. ३)। ऋग्वेद के मृतक-संस्कार-सूक्त से हमें यह आभास मिलता है कि शव को चर्बी से ढँकने की प्रथा चालू थी (ऋ० १०. १६. ७)। एक अज को मृतक के साथ जला दिया जाता था (ऋ० १०. १६. ४)। किंतु हो सकता है कि अज का अर्थ अनुत्पन्न अंश हो जैसा कि वेबर ने माना है[१]। अथर्ववेद (१२. २. ४८) के अनुसार एक वृषभ को परलोक में मृत की सवारी के लिए जला दिया जाता था। ऐसा समझा जाता था कि मृतक वहाँ "सर्वतनु" और "सर्वाङ्गपूर्ण" होकर जायगा। किंतु साथ ही चक्षु के सूर्य में जाने का और प्राण के वायु में चले जाने आदि का भी संकेत मिलता है (ऋ० १०. १६. ३)।

दफनाने या जलाने के पहले मृतक को स्नान कराया जाता था (अवे० ५. १९. १४), और उसके पैर में एक कूडी (कूची या निगड) बाँध दी जाती थी, जिससे वह फिर पृथ्वीलोक पर न लौट सके (अवे, ५. १९. १२)। द्र०—राथ, फेस्टग्रुस आन बार्टलिक, ९२; ब्लूमफील्ड, अजफि०, १२. ४१६; तु०—त्सिमर, आले, ४०१–४०७; राथ, त्सादामौग०, ८. ४६८ एवं आगे; जीला०, १५०. ८ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ५७० एवं आगे; कैलेंड, दी आ० तो० उण्ड बे० गे०; फान श्रोडर, इ० लि० उ० कु० ४०. ४२, हिल्लेब्रांड्ट वे० मि०, १६५. १६६; प्रो० ब० अ०, १८९५,८१५ एवं आगे।

अग्निभू काश्यप—वंशब्राह्मण (२) में इन्द्रभू काश्यप के शिष्य। (द्र० इस्तु, ४. ३७४)।

अग्निशाला—अथर्ववेद (९. ३. ३७) और वाजसनेयि संहिता (१९. १८) में गृह के एक भाग के लिए, संभवतः केन्द्रीय कक्ष के लिए, जहां यज्ञादि के लिए अग्नि को स्थापित किया जाता था, प्रयुक्त हुआ है। (तु० ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद ५९८; त्सिमर, आले १५४)।

अग्निष्टोम—यह पांच दिनों तक चलने वाला यज्ञ है। ताण्ड्य ब्राह्मण या पञ्चविंशब्राह्मण के षष्ठाध्याय में इसका विस्तृत निरूपण मिलता है। इसमें दो प्रकार की वेदी होती है: ऐष्टिक और सौमिक। प्रथम में आनुषंगिक इष्टियों का और द्वितीय में प्रधान इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें १२ शस्त्रों का प्रयोग होता है। यह ज्योतिष्टोम की पांच प्रमुख संस्थाओं में से एक है, जिससे स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करता है। इसमें १६ ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है[२]।

अग्रभण—ऋग्वेद (१. ११६. ५) में समुद्र के विशेषण के रूप में अग्रभण (जहां कुछ पकड़ने को न हो) शब्द आया है।

---

[१] ट्रांस० अवे, ८४१। [२] वेदिक इंडेक्स।

[१] प्रो० ब० अ०, १८७५, ८४७।
[२] द्र०—कैलेण्ड, पंचविंश ब्राह्मण का अनुवाद।

अग्रु—'वेद धरातल' में यह शब्द साधारण नदी के अर्थ में लिया गया है। यह शब्द ऋग्वेद (१. १९१. १४, ७. २०५) और निरुक्त (२. २४) में आया है।

अग्रू—ऋग्वेद (४. १९. ९) के अनुसार 'अग्रू' के पुत्र को इन्द्र ने वल्मीक के अन्दर से निकाल कर स्वस्थ बनाया था और उसकी अंधता को ठीक कर के उसे देखने योग्य बनाया था। सायण ने अग्रू को एक स्त्री का नाम माना है। किंतु ग्रिफिथ ने 'अग्रुवः पुत्रः' को 'अविवाहिता कन्या का पुत्र' बताया है। हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. ४१९।

अग्रेदधुस्, अग्रेदिधिषु—मैत्रायणी संहिता (४. १. ९) में अग्रेदधुस् और काठकसंहिता (३१. ७) एवं कपिष्ठल-कठ संहिता (४७. ७) में अग्रेदिधिषु शब्द आया है। मनु (३. १६०) के अनुसार ज्येष्ठा कन्या के अविवाहित रहने पर यदि अनुजा का विवाह संपन्न हो जाय तो उसे अग्रेदिधिषू कहा जाता है। दिधिषू का पाठान्तर दिधिषु भी मिलता है। तु० **पति**।

अघ—वैदिक साहित्य में अघ शब्द पाप के अर्थ में बार-बार आया है। प्रार्थना की गई है कि हमारा अघ नष्ट हो जाय (ऋ० १. ९७. १); आदित्य देव अघ की निष्कृति को जानते हैं (८. ४७. २)। कहीं-कहीं अघ शब्द पापी को भी उद्दिष्ट करता है, जैसे 'अघो वृकः' अर्थात् पापी वृक (ऋ० १. ४२. २)। अघायु से बचाने की प्रार्थना की गई है (ऋ० १. १२०. ७, २७)।

अघा—ऋग्वेदीय विवाह-सूक्त (१०. ८५. १३) में आता है कि गौएं अघाओं में मारी जाती हैं और विवाह अर्जुनी में होता है। अथर्ववेद (१४. १. १३) में अघा के स्थान पर मघा शब्द है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि गौ के मारणरूप कार्य संबद्ध होने के कारण ऋ. का मौलिक मघा पाठ अघा में बदल गया है। इससे गौ के अघ्न्या विशेषण पर विशेष बल पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १. ४. ८) में एक मन्त्र है: 'मघाओं के लिए स्वाहा, अनघाओं के लिए स्वाहा'। द्रष्टव्य **नक्षत्र** भी। (तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३६४; प्रोसी० आफ दि ब० अ० १८९४, ८०४; य.कोबी, फेस्टग्रुस आन राथ, ६९; विंटरनित्स, दास आल्तिन्दिशे होखत्साइट्सरित्चुअल ३२, ह्विटनी, ट्रां० आफ दि अथर्ववेद, ७४२; थिबो, इंडियन ऐंटीक्वेरी, २४. ९५)।

अघाश्व—अथर्ववेद (१०. ४. १०) में एक सर्प का नाम है (तु०—त्सिमर, आले ९५)। ऋग्वेद में अघाश्व एक राजा का नाम प्रतीत होता है।

अघ्न्या—द्रष्टव्य **मांस**।

अङ्क—तैत्तिरीय संहिता (१. ७. ७. २) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ७. ८ १; तु० पं० विं० ब्रा०, १. ७. ५) में दो अङ्कों और दो न्यङ्कों का उल्लेख रथ के दो भागों के रूप में हुआ है। इन शब्दों का अर्थ संदिग्ध है। भाष्यकारों के अनुसार इनसे रथके पार्श्वों या चक्रों का बोध होता है। त्सिमर[१] ग्रीक शब्द अन्तुगेस[२] से तुलना करके अंक को रथ का ऊपरी भाग, कोश या बन्धुर बतलाते हैं, न्यङ्क को वे नीचे का रिम मानते हैं, जो रथ की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। ओल्डेनबर्ग[३] पारस्कर गृह्यसूत्र (३. १४. ६) में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनका वास्तविक अर्थ बताना कठिन है, किंतु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि ये शब्द एक साथ रथाङ्ग और देवताओं के लिये प्रयुक्त हुए हैं। बार्टलिक ने अपनी डिक्शनरी में अंक को केवल देवत्व के अर्थ में ग्रहण किया है।

अङ्कुश—ऋग्वेद (८. १७. १०) में आया है कि हे इन्द्र, तुम्हारा अङ्कुश दीर्घ हो, जिससे तुम धन प्रदान करते हो। अथर्ववेद (६. ८२. ३) में इन्द्र के वसुप्रद, बृहत् स्वर्णिम अंकुश का उल्लेख है, जिससे वह पत्नी की कामना वाले को पत्नी प्रदान करता है। अंकुश शब्द के इन आलंकारिक प्रयोगों से प्रतीत होता है कि अङ्कुश का प्रयोग वैदिक युग के प्रारंभ में ज्ञात था। तु०—**आयुध**। (द्र० ऋ०, १०. १३४. ६; १०. ४४. ९ इत्यादि)।

अङ्ग—यह नाम एकबार अथर्ववेद (५. २२. १४) में गन्धार, मूजवान् और मगधों के साथ जन-विशेष का बोधक बनकर आता है। गोपथ ब्राह्मण (२. ९) में भी एक समस्त पद 'अङ्गमगधाः' आता है। उत्तरवर्ती काल में ये लोग सोन और गंगा के किनारे बसते थे[४]। अतः संभव है कि वे पहले भी वहीं रहे हों। पार्जीटर[५] के अनुसार अङ्ग एक अनार्य जाति थी, जो समुद्रीय मार्ग से पूर्वी भारत में आई थी। किंतु वैदिक साहित्य में इस अनुमान की पुष्टि के लिए सामग्री नहीं है।

वेद-धरातल में इसे एक प्रदेश के अर्थ में ग्रहण किया गया है और चम्पा (वर्तमान भागलपुर) को इसकी राजधानी माना गया है।

अङ्ग वैरोचन—ऐतरेय ब्राह्मण (८. २२) में अभिषिक्त राजाओं की सूची में अङ्ग वैरोचन का नाम आया है। **उदमय आत्रेय** उनके पुरोहित थे। (तु०—त्सादामौगे, ४२. २१४)।

---

१ आले २५१, २३२।

२ इलियड, ५. ७२८; तु० स्मिथ, डिक्शनरी आफ ऐंटीक्विटीज।

३ सेबुई २९. ३६४।

४ तु० त्सिमर, आले, ३५, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४४६, ४४९।

५ जराएसो, १९०८, ८५२।

अङ्गारावक्षयण—बृहदारण्यक (३. ९. १८) में प्राप्त यह शब्द संदिग्धार्थक है। मैक्समूलर और बार्टलिंक ने इसका अर्थ संदंश या चीमटा किया है। वोबू में इसका अर्थ "कोयले बुझाने का पात्र" दिया गया है। मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ "कोयले बुझाने का यन्त्र" यह दिया है। छोटी वोबू में इसका अर्थ कोयले हटाने का चिमटा या सन्दंश यह दिया है। तुलनीय **उल्मूकावक्षयण**।

अङ्गिरस— ऋग्वेद में अङ्गिरस् अर्धपौराणिक व्यक्ति के रूप में आते हैं। उन्हें ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता; उन स्थलों (ऋ० १. ४५. ३; २. १३९. ९; ३. ११. ७ इत्यादि; छा० उ०, १. २. १०) पर भी नहीं, जहां कि वे आङ्गिरस जाति के प्रवर्तक बताए गए हैं। उनके संबन्ध में अयन, द्विरात्र आदि यज्ञिय प्रयोग उल्लिखित हैं (अवे, ४. ८; पंवि ब्रा०, २०. ११. १; तैसं, ७. १. ४. १)। तु० मैकडोनल, वे० मि०; हिल्ले-ब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलागी, १४२–१४३।

१. अङ्गुरि अङ्गुलि—वैदिक साहित्य में अङ्गुलि शब्द अनेक वार आया है (अवे, २. ३३. ६; वासं, १८. २२; २०. ६; शब्रा, १. १. २. १६ आदि)। अथर्ववेद (४. १८. ६; ५. ३१. ११; २०. १३६. १३) में अङ्गुरि रूप पाया जाता है। अङ्गुलि की पोरियों का भी उल्लेख मिलता है (द्र० **शरीर**)। मनुष्य को आलंकारिक भाषा में इक्कीस अवयवों वाला कहा गया है, जिसमें पैर की दश अङ्गुलियां हाथ की दश अङ्गुलियां और इक्कीसवां आत्मा है। (देखो ऐब्रा १. १९ शब्रा, ३. १. ४. २३ आदि)।

२. अङ्गुलि—शतपथ ब्राह्मण (१०. २. १. २) में माप के लिए अङ्गुलि का उल्लेख है। यह सबसे छोटा माप है। तु० फ्लीट, जराएसो, १९१२ २३१।

अङ्गुष्ठ—काठक उपनिषद् (४. १२; ६. १७) में माप-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अच्युत—जैमिनीय ब्राह्मण (३. २३३) में विभिन्दु-कीयों के सत्र में प्रतिहर्ता का काम करने वाले के रूप में उल्लिखित हैं। द्र०—जाअओसो, १८. ३८।

अच्युतपाजस्—तैत्तिरीय आरण्यक (३. ५. १) में एक ऋषि का बोधक है।

अच्युतमनस—तैत्तिरीय आरण्यक (३. ५. १ में) उपवक्ता ऋषि के रूप में आये हैं।

अच्छावाक—सोमयाग में **होता** का सहकारी ऋत्विक्। अच्छावाक शब्द ब्राह्मणों में अनेक बार आया है (ऐब्रा, ६. १४; ६. ३०; शां० ब्रा०, २८. ५; शब्रा, ४. ३. १. १ आदि। अच्छावाक सामन् का भी उल्लेख अनेक बार आया है (जैब्रा, १३०; ताब्रा०, ८. १० आदि)। अच्छावाक द्वारा गाये गए सामन् को यह शब्द उद्दिष्ट करता है। इसका दूसरा नाम उद्वंशीय भी है।

१–अज, अजा—ऋग्वेद (१०. १६. ४; १. १६२. २, ४) अथर्ववेद (९. ३. १) और वाजसनेयि संहिता (२१. ९) आदि में अज शब्द और ऋग्वेद (८. ७०. १५), अथर्ववेद (६. ७१. १) वाजसनेयि संहिता (२३. ५६) आदि में अजा शब्द का प्रयोग मिलता है। उसे बस्त, छाग और छगल भी कहते हैं। अज और अवि का उल्लेख एक साथ भी (अजावयः) आता है (ऋ० १०. ९०. १०; अवे, ८. ७. २५; वासं, ३. ४३ आदि)। अजा के संबन्ध में कहा गया है कि वह दो या तीन बच्चे एक साथ देती है (तैसं, ६. ५. १०. १)। अजा का दूध निर्दिष्ट है (तैसं, ४. १. ६. १; ४. १. ७. ४)। शव गाड़ने की प्रक्रिया में अज का पूषा के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण भाग है (ऋ० १०. १६. ४ आदि)। अजपाल भी गोपाल एवं अविपाल की भांति बहुधा उल्लिखित है। अजपालन की वृत्ति का उल्लेख स्पष्ट है (वासं, ३०. ११; तैब्रा, ३. ४. ९. १)

२–अज—ऋग्वेद की एक मन्त्र (७. १८. १९) में सुदास् की अध्यक्षता में तृत्सुओं द्वारा पराजित अज लोगों का उल्लेख मिलता है। वहां यक्षु और शिग्रु लोगों के साथ उनका उल्लेख है। त्सिमर के अनुसार अज लोगों ने **भेद** की अध्यक्षता में सुदास् के विरुद्ध संघ बनाया था।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि अज आर्य थे अथवा अनार्य।[2]

अज एकपाद्—वैदिक साहित्य में अज एकपाद् एक अन्तरिक्ष–स्थानीय देवता के रूप में उल्लिखित हैं। अहि-बुध्य के साथ ही प्रायः इनका उल्लेख आया है। भाष्यकार ने इसे अग्नि का एक रूप माना है। अज एकपाद् की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। (ऋ० १०. ६५. १३; १०. ६६. ११–अवे, १३. १. ६; तैब्रा, ३. १. २. ८; निघंटु ५. ६ इत्यादि)। द्र०–मैकडोनल वै० मि०, पृ०७३–७४)।

अजकाव—ऋग्वेद (७. ५०. १) में विषाक्त वृश्चिक का नाम है। (तु० त्सिमर, आले, ९९।

अजगर—(अज+गर='अज को निगलने वाला')। अथर्ववेद (११. २. २५, २०. १२. ९, १७) में और

---

[1] द०–आले, १२७; तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७३।

[2] तु० मैकडोनल, वै० मि०, १५३; कीथ, जराएसो १९०७, ९२९; ऐतरेय आरण्यक, २००, २१, रिज़ली, पीपुल्स आफ इंडिया, ८३ एवं आगे

तैसं (५. ५. १४. १) मैसं (३. १४. १९) तथा वासं (२४. ३८) की अश्वमेधीय पशुओं की सूची में यह शब्द भीमकाय सर्प-राज के लिए आता है। अन्य स्थलों पर (तैसं, ५. ५. १३. १; वासं २४. ३४ में) इसे वाहस कहा गया है। पंब्रा के नागसत्र (२५. १५, "अजगाय" के रूप में, तु० अजकाव) में यह आदमी के अर्थ में आया है।

अजमीढ—ऋग्वेद के एक सूक्त (४. ४४. ६) में अजमीढों अथवा अजमीढ के वंशजों का उल्लेख है। लुडविग[१] और ओल्डेनबर्ग[२] के अनुसार अजमीढ उस सूक्त के ऋषि का नाम है।

अजशृङ्गी—अजशृङ्गी (अज के समान शृङ्ग वाली) पौधा भाष्यकारों के अनुसार विषाणिन् का पर्याय है। अथर्ववेद (४. ३७) में इसे भूतनाशक बताया गया है। इसका दूसरा नाम **अराटकी** (अ वे०, ४. ३७. ६) है। वेबर के अनुसार यह 'प्रोसोपित स्पिसिगेरा" या "मिमासा सुमा" है। तु० इस्तू १८. १४४; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद; त्सिमर, आले, ६८; कैलेण्ड, आ० त्सा० ८९)।

अजातशत्रु—बृहदारण्यक (२. १. १) और कौषीतकि उपनिषद् (४. १.) में काशिराज अजातशत्रु का उल्लेख है। अजातशत्रु ने दृप्त बालाकि गार्ग्य को आत्मा के वास्तविक स्वरूप का उपदेश दिया था। इन्हें बौद्ध ग्रन्थों का अजातसत्तु नहीं माना जा सकता। (तु० वेबर, इस्तू, १. २१३, हर्नले, ओस्टियोलजी, १०६, कीथ, त्सादामौगे०, ६२. १३८)।

अजिन—यह शब्द प्रायः पशु-चर्म को सूचित करता है, जैसे कि मृग-चर्म (अवे० ५. २१. ७) या अज-चर्म (श० ब्रा० ५. २. १. २१, २४)। शतपथ ब्राह्मण (३. ९. १. १२) में अजिनवासिन् शब्द से चर्म के वस्त्ररूप में व्यवहार करने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। वाजसनेयि-संहिता (३०. १५ अजिन-सन्ध) से पशुलोम-विक्रय की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। (तु० तैब्रा० ३. २. १३. १ अजिन-संधाय)। मरुद्-गण भी मृग-चर्म धारण करते हैं (ऋ० १. १६६. १०)। ऋग्वेद की एक उत्तरकालीन ऋचा (१०. १३६. २)[३] में मुनि चर्म (=मल) से आच्छादित जान पड़ता है।

अजिर—पंचविंश ब्राह्मण (२५. १५) के नाग-सत्र में अजिर सुब्रह्मण्य पुरोहित थे। (द्र०—वेबर—इस्तू १. ३५)।

[१] ट्रां० ऋग्वेद, ३. १२३, १३५।

[२] त्सादामौगे, ४२. २१५।

[३] तु० त्सिमर, आले, २६२।

अजीगर्त सौयवस—ऐतरेय ब्राह्मण (७. १५. १७) के प्रसिद्ध आख्यान में शुनःशेप के पिता का नाम अजीगर्त सौयवस दिया गया है (तु० शांश्रौसू, १५. १९)। वेबर[१] के अनुसार आख्यान को उस प्रयोजन-विशेष के लिए गढ़ लिया गया है।

अज्ञातयक्ष्म—ऋग्वेद (१०. १६१. १ अ० वे० ३. ११. १), अथर्ववेद (६. १२७. ३) और काठक-संहिता (१३. १६) में अज्ञातयक्ष्म शब्द का उल्लेख है। राजयक्ष्म के साथ इसका निर्देश है। ग्रोहमान[२] के अनुसार दोनों ही दो प्रकार के रोग हैं। ऋग्वेद में सभी रोगों के उन्मूलन के लिए (१०. १७१. १) मन्त्र है। अथर्ववेद (६. १२७. ३) के आधार पर ग्रोहमान ने उसका संबन्ध बलास से जोड़ा है। त्सिमर ने रोग के संबन्ध में कोई निर्णय न देते हुए भी उपर्युक्त मत को अस्वीकार कर दिया है[३]।

अञ्जसी—ऋग्वेद (१. १०४. ४) में आने वाले अञ्जसी शब्द को वेदधरातल ने एक नदी का नाम माना है। इसे उन्होंने शिफा की सहायक के रूप में नेपाल में माना है।

अज्येयता—द्र० ब्राह्मण।

अणीचिन् मौन—कौषीतकि ब्राह्मण (२३. ५) ने अणीचिन् मौन का यज्ञ-प्रसंग में निर्देश किया है। वे जाबाल और चित्र गौश्रायणि या गौश्र के समकालीन थे।

अणु—वाजसनेयि संहिता (१८. १२) और बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ३. १३ काण्व) में एक अन्न का नाम अणु है, जिसे "पनिचुम मिलियास्थूम" कहा जा सकता है (द्र० वाजसनेयि संहिता पर द्विवेद की टिप्पणी)।

अतस—ऋग्वेद-काल से ही यह शब्द शीघ्र जलने वाले पदार्थ (काष्ठ) का द्योतक है। वोबू के अनुसार यह शणवृक्ष (सनई) है।

(ऋ १. ५८. २,४; २. ४. ७; ३. ७. ३; ४. ४. ४; ४. ७. १०; १०. ८९. ५ आदि)।

अतित्वरी, अतिष्कद्वरी—वाजसनेयि संहिता (३०. १५) में अतित्वरी (अतिकुलटा) और अतिष्कद्वरी (गर्भ-स्राव करने वाली कुटनी) ये दोनों शब्द पुरुषमेधीय बलियों की सूची में आये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४. ११. १) में अपष्कद्वरी आता है।

[१] इस्तू, १. ४६०; द्र० वोबू।

[२] इस्तू, ९. ४००।

[३] आले, ३७७—३७८; तु—ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ६०; जाली, मेडिसिन, ब्युहलर की इंसाइक्लोपीडिया, ८९।

अतिथि—अथर्ववेद के एक सूक्त (९. ६) में आतिथ्य का महत्त्व बतलाया गया है। पहले अतिथि को भोजन कराने का उपदेश है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ११. २) में भी अतिथि का महत्त्व दर्शाया गया है। अतिथि को देव मानने को कहा गया है—"अतिथिदेवो भव"। ऐतरेय आरण्यक (१. १. १) में आता है कि "केवल पुण्यशील व्यक्ति ही अतिथि-सत्कार के योग्य समझे जा सकते हैं।" शतपथ ब्राह्मण (७. ३. २. १) में यज्ञ का एक अङ्ग अतिथि-सत्कार भी है। अतिथि के लिए गौओं का वध किया जाता रहा है। (तु० ब्लूमफील्ड, अजफि १७, ४२६; हिल्लेब्रांड्ट, रिचुअल लिटरेचर, ७९)।

अतिथिग्व—ऋग्वेद में यह नाम प्रायः दिवोदास् के विशेषण के रूप में आया है। बेर्गेन्य[1] दोनों को एक ही व्यक्ति नहीं मानते, किंतु शम्वर को हराने के प्रसङ्ग में जब दोनों नाम एक साथ (ऋ० १. ५१. ६; १. ११२.१४; १. १३०. ७; ४. ३६. ३; ६. ४७. २२) आते हैं, तब दोनों की एकता खिल उठती है। ऋग्वेद (१. ५३. ८; १०. ४८. ८) में कहा गया है कि अतिथिग्व ने पर्णय और करंज (ऋ० ६. २६. ३) को मारने में इन्द्र को सहायता दी थी। कहीं-कहीं अनियत रूप से अतिथिग्व का नाम आया है, जैसे तुर्वश और यदुओं के शत्रु के रूप में। ऋग्वेद (७. १९. ८) के कथन को किसी बाद के अतिथिग्व से संबद्ध नहीं कहा जा सकता। फिर अतिथिग्व का नाम तूर्वयाण से पराजित आयु और कुत्स के साथ भी आया है (ऋ० १. ३३. १०; २. १४. ७; ६. १८. १३; ८. ५३. २)।

राथ ने अपनी डिक्शनरी में तीन अतिथिग्वों का उल्लेख किया है:—(१) अतिथिग्व दिवोदास्, (२) पर्णय और करंज के शत्रु, (३) तूर्वयाण के शत्रु। ऋग्वेद की दानस्तुति (८. ६८. १६,१७) में किसी दूसरे अतिथिग्व का नाम आता है, जिनके पुत्र का नाम इन्द्रोत (=इन्द्र+ऊत) दिया गया है। विविध उल्लेखों का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है: अतिथिग्व दिवोदास् एक प्राचीन ग्रामणी थे, जो वाद में पौराणिक होते गये। तु०—लुड्विग. ट्रां० ऋ०, ३. १२३, ब्लूमफील्ड, अजफि, १७.४२६, इन्होंने इसका अर्थ किया है—अतिथियों को गौएँ देने वाला; अतिथि की ओर जाने वाला?

अतिधन्वन् शौनक—छान्दोग्य उपनिषद् (१. ९. ३) और वंश-ब्राह्मण (२) में एक आचार्य के रूप में उल्लिखित है। (द्र०—इस्तू, ४. ३८४)।

अतिष्कद्वरी—द्र०—अतित्वरी।

[1] रिलिजन वेदिक, २. ३४२।

अतृणाद्—(=तृण न खाने वाला)। बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ५. २) में नवजात गोवत्स का वाचक है। तु०—त्सिमर, आले, २६८।

(१) अत्क—ऋग्वेद में बहुधा आने वाले इस शब्द का अर्थ संदिग्ध है। राथ, ग्रासमान, लुड्विग, त्सिमर[1] और कुछ अन्य विद्वान् इसका अर्थ उन स्थलों (ऋ० १. ९५. ७; २. ३५. १४; ४. १८. ५; ५. ३५. ६; ५. ७४ ५; ६. २९. ३; ८. ४१. ७; ९. १०१. १४; ९. १०७. १३, सा० वे०, २. ११९३) पर माला करते हैं, जहाँ पर पहनने या उतारने का भाव अभिप्रेत है। जहाँ बुनने का भाव है (ऋ० १. १२२. २) और जहाँ ठीक बैठाने का भाव है (ऋ० ६. २०. ३; १०. १२३. ७) वहाँ भी इसका अर्थ माला ही माना गया है। पिशल[2] को यह मान्य नहीं है। उन्होंने कुछ स्थलों (ऋ० ५. ५५. ६; ६. ३३. ३; १०. ४९. ३; १०. ९९. ९) पर इसका अर्थ कुल्हाड़ी किया है[3]। मैकडानल के अनुसार अत्क का अर्थ वस्त्र है।

(२) अत्क—राथ, ग्रासमान और लुड्विग ने ऋवे के दो स्थानों (१०. ४९. ३; १०. ९९. ९) पर इस शब्द को व्यक्तिवाचक नाम माना है, किंतु त्सिमर ने[4] इसका अर्थ योद्धा का "पूर्ण कवच" किया है। किंतु पिशल का मत है कि इन दोनों स्थलों पर भी इसका अर्थ कुल्हाड़ी ही करना चाहिए[5]।

अत्यंहस् आरुणि—तैब्रा (३. १०. ९. ३–५) के अनुसार इस आचार्य ने सावित्र अग्नि के संबन्ध में प्लक्ष दयापाति से प्रश्न पूछने के लिए एक शिष्य भेजा था। इस अविनय के लिए वह शिष्य बहुत निन्दित हुआ था।

अत्य—ऋवे (१. ५८. २) एवं परवर्ती साहित्य में अत्य शब्द अश्व का बोधक है। द्र० 'अत्योऽसीत्याह। तस्मादश्वः सर्वान् पशूनत्येति'। तैब्रा० ३. ८. ९. १; शब्रा० १३. १. ६. १.

अत्यराति जानंतपि—राजकुमार न होने पर भी अत्यराति जानंतपि को वासिष्ठ सत्यहव्य ने राजसूय की दीक्षा दी थी। इससे वे पृथ्वी को जीत सकने में समर्थ हुए थे। जब वासिष्ठ सत्यहव्य ने उन्हें अपना ऋणी बताया और बहुत बड़ा पुरस्कार मांगा तब उन्होंने कहा कि मैं **उत्तरकुरु** को जीतना चाहता हूँ। उसके पश्चात् आप संपूर्ण पृथ्वी के अधिपति हो जाइयेगा, मैं केवल सेनापति रहूँगा। वासिष्ठ

[1] आले, २६२। [2] वैस्तू २. १९३–२०४

[3] तु० ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ९४. टि० १।

[4] आले०, २६२. २९७। [5] वैस्तू, २. १९५।

सत्यहव्य ने उत्तर दिया कि कोई भी मर्त्य उत्तरकुरु को जीतने में समर्थ नहीं हो पाया है। इस प्रकार वे पुरस्कार न पा सके। उन्होंने युक्तिपूर्वक **अमित्रतपन शुष्मिण शैब्य** के हाथों अत्यराति जानंतपि का वध करा दिया[1]। (द्रष्टव्य—ऐब्रा ८. २३, तु०–इस्टू०, १, २१४)।

अत्रि—वैदिक इंडेक्स के लेखकों के अनुसार न तो अत्रि और न अत्रि के वंशज ही ऐतिहासिक व्यक्ति माने जा सकते हैं। मैकडोनल ने वैदिक माइथोलजी (पृष्ठ १४५) में अत्रि के संबन्ध में विस्तार के साथ विचार किया है (तु० अवे०, २. ३२. ३; ४. २९. ३; मन्त्र ब्रा०, २. ७. १; तैआ, ४. ३६ इत्यादि; बृउ, २. २. ४)। अत्रि एवं अत्रि के वंशजों को ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के ऋषि होने का गौरव प्राप्त है (तु०–ऋ० ५. ३९. ५; ५. ६७. ५; कौब्रा०, २४. ३; ऐआ० २. २. १)। हो सकता है कि प्रियमेधा और कण्व ऋषियों का अत्रि-वंश से गहरा संबन्ध रहा हो (तु०–(१) ऋ० १. ४५. ३; १. १३९. ९; ५. ५. २५; ऐब्रा०, ८. २२; (२) ऋ० १. ११८. ७, ५. ४१. ४; १०. १५०. ५,)। संभवतः गौतमों (तु० ऋ० १. १८३. ५) और **काक्षीवतों** (तु० ऋ० १०. १४३. १) के साथ भी उनका संबन्ध था। पञ्चम मण्डल के एक सूक्त में परुष्णी और यमुना दोनों नदियों का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि अत्रि-वंश दूर तक फैला हुआ था (ऋ० ५. ५२. ९. १७)[2]। दे० 'वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते'। शब्रा० १४. ५. २. २,।

अत्रिन्—ऋवे में अत्रिन् शब्द भक्षक राक्षस के अर्थ में आया है। अत्रिन् लोगों को निःसन्तान बनाने के लिए प्रार्थना की गई है (ऋ० १. २१. ५); उन्हें जला डालने का अनुरोध किया गया है (ऋ० १. ३६. १४)। कहा गया है कि अत्रिन् पणि को मार डालो, क्योंकि वह वृक है (६. ५१. १४)। द्र० अत्रिणो वै रक्षांसि। ष० ३. २; रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः। ऐ० २. २, (तु०–ऋ० १. ४५. ३; १. ९४. ९; १. ८६. १०; ६. १६. २८; ७. १०४. ६ आदि)।

अथरी—यह शब्द केवल ऋवे (४. ६. ८) में पाया जाता है; इसलिये इसका अर्थ संदिग्ध है। राथ ने अपने शब्दकोश में एवं उनके अनुयायियों ने इस शब्द का 'शक्ति, तोमर का नुकीला बिन्दु' अथवा शर यह अर्थ किया है। किंतु पिशल[1] के अनुसार इसका अर्थ हाथी है।

[1] तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १२८, १४२; वेर्गेन्य, रिलिजन वेदिक, २. ४६९; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ४२, २१२–२१५; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि० ३. ३१०।

[2] वैस्टू १. ९९।

अथर्य, अथर्यु—वासं (३. ३७) में अथर्य (अतनवान्-गमनवान्) दक्षिणाग्नि का नाम है। ऋग्वेद (७. १. १) में इसी अर्थ में अथर्यु शब्द आया है। (वोबू, निरुक्त, ५. १०; निघण्टु २. ५)।

अथर्वन्—एकवचन में अथर्वन् का अर्थ होता है पौराणिक पुरोहितों के एक अर्ध-दैवी वंश का प्रमुख या प्रवर्तक[1]। बृउ (२. ६. ३) में अथर्वन् दैव को मृत्यु का शिष्य बताया गया है। अथर्वन् के संबन्ध में कोई निश्चित ऐतिहासिक बात नहीं कही जा सकती। बहुवचन में प्रयुक्त होकर यह शब्द पूरे कुटुम्ब का बोधक होता है। कुछ स्थलों पर तो इस शब्द से एक असली वंश-विशेष का बोध होता प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, दानस्तुतिसूक्त (ऋ० ६. ४७. २४) में उन्हें उदार अश्वत्थ से दान लेने वाले बताया गया है। ऋवे (९. ११. २) में उल्लेख मिलता है कि उन्होंने यज्ञ में घृत-मिश्रित दुग्ध का प्रयोग किया था। तैब्रा (३. ४. ११. १; तु०–वासं०, ३०. १५) के अनुसार अवतोका (चोट खाकर बच्चा गिरा देने वाली) गौ अथर्वन् लोगों को दी जाती थी। (तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अथर्ववेद, ३५ एवं आगे; इन्होंने अवतोका का अर्थ स्त्री (पृ० ३८) और अथर्वन् का अर्थ सूक्त किया है; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, २. १७४ एवं आगे)।

अथर्वाणः—अङ्गिरसः के साथ इस शब्द का प्रयोग प्रायः अथर्ववेद का बोधक होता है। "अथर्वाङ्गिरसः" इस समस्त पद का भी प्रयोग इसी अर्थ में है। (द्र०–तैब्रा० ३. १२. ९. १; पंविब्रा० १६. १०. १०; शब्रा०, १३. ४. ३. ५ एवं आगे)।

अथर्वाङ्गिरसः—परवर्ती ब्राह्मणों के अनेक स्थलों पर (तैब्रा, ३. १२. ८. २; तैआ, २. ९. १०; शब्रा, ११. ५. ६. ७; बृउ, २. ४. १०; ४. १. २. ५. ११. छाउ, ३. ४. १. २; तैउ, २. ३. १) अथर्ववेद का नाम अथर्वाङ्गिरसः आता है। अवे (१०. ७. २०) में भी एक बार यह नाम आया है। स्मरण रहे कि "अथर्ववेद" यह नाम सूत्रकाल से पहले नहीं मिलता (द्र०–शांश्रौसू, १६. २. ९ आदि)। ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार "अथर्वाङ्गिरसः" यह समस्त पद दो पदार्थों का बोधक है: प्रथम है भद्र मन्त्र या "भेषजानि" (अवे ११. ६. १४) और द्वितीय है "यातु" (द्र० शब्रा०, १०. ५. २. २०) और अभिचार (द्र० कौसू ३. १९) के मन्त्र। "घोर आङ्गिरस" और 'भिषज् आथर्वण' इन

[1] द्र० मैकडोनल, वेदिक मिथोलाजी, पृ० १४१।

[2] जअसोसो ११. ३८७ एवं आगे; हिम्स आफ दि अ० वे०, १८. एवं आगे।

नामों से भी इस बात की पुष्टि होती है। पंविब्रा० (१२. ९. १०; १६. १०. १०) में "अथर्वाणः" और "आथर्वणानि" का भेषज के साथ संबन्ध भी इस बात की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त अवे (१०. ६. १४) में ही "भेषजी" (औषध) यह शब्द उस वेद का पर्याय बन कर आता है; जब कि शतपथ ब्राह्मण (१०. ५. २. २०) में यातु (जादू) शब्द उसी अर्थ का व्यापक बन कर आया है। फिर भी विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव में यह भी संभव है कि सामूहिक रूप से अथर्ववेद के प्रवर्तक इन दोनों ऋषियों में कोई अन्तर न रहा हो। (तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलोगी, २. १७७)।

अदाभ्य—ग्रह० द्र० 'अदभाम वा एनान् (असुरान्) इति तस्माददाभ्यो न वै नो दभन्निति तस्माददाभ्यो वाग् वा अदाभ्यः'। शब्रा० ११. ५. ९. ५.

अदिति—अदिति—(न बँधी हुई) ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में अदिति का उल्लेख एक देवी के रूप में आता है। अदिति के लिए कोई अकेला पूर्ण सूक्त तो नहीं है, किंतु उसका नाम ऋग्वेद में अनेक बार आया है। अदिति का उल्लेख प्रायः उसके पुत्रों (आदित्यों) के साथ आया है, और बहुत ही कम अकेले आया है (ऋ० ८. १९. १४)। अदिति का गौ के रूप में भी उल्लेख मिलता है (ऋ० १. १५३. ३; ८. ९०. १५; वासं०, १३. ४३)। किंतु एक स्थान पर अदिति से सार्वभौम सत्ता का संकेत मिलता प्रतीत होता है :—

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः" (ऋ० १. ८९. १०)।

द्र० सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्' श० १०. ६; ५. ५; अदिति=पृथ्वी श० १. १. ४. ५, २. २. १. १९; अदिति=गौ श० २. ३.४. ३. ४; वाग्=अदिति श० ६. ५. २. २०. (अदिति के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य मैकडानल, वैदिक माइथोलाजी, १२०–१२३)।

अदृष्ट—ऋवे (१. १९१. ४;) एवं अवे (६. ५२. ३) में कृमि की एक विशेष जाति के लिए अदृष्ट शब्द का प्रयोग हुआ है। सूर्य को भी "अदृष्टहन्" बताया गया है (ऋ० १. १९१. ९; अ० वे० ६. ५२. १; अवे ५. २३. ६)। अदृष्ट के साथ-साथ "दृष्ट" का भी उल्लेख मिलता है। (अवे २. ३१. २; ८. ८. १५)। दृष्ट और अदृष्ट दोनों नाम कृमियों के हैं (अवे ५. २३. ६,७)। हो न हो यह नामकरण रोगों में कृमियों की व्यापकता के आधार पर किया गया है, चाहे ये कृमि देखे जा सकें अथवा अति सूक्ष्मता के कारण न देखे जा सकें[१]। द्र०—कुह्न, त्सा० फ्यूर फे० श्फ़ाखफोर्शुङ्ग १३. १३५ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३१३–३१५; त्सिमर, आले, ९८)।

अद्म—ऋवे (१. ५८. २) में अद्म शब्द अन्न के अर्थ में आया है। अद्म-सद् (ऋ० १२४. ४) शब्द भाष्यकारों के अनुसार भोज्य का बोधक है, किंतु गेल्डनर के मत में इसका अर्थ है मक्खी और मोनियर विलियम्स के अनुसार "भोजन के लिए पंक्ति में बैठा हुआ।" द्रष्टव्य अद्मसद्। (तु० अद्मसद्यः ऋ, ८. ४३. १९; अद्मसद्वन्, ऋ० ६. ४. ४)।

अद्मसद्—"भोजन के लिए बैठने वाला"। इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है। इसका अर्थ बहुधा "भोजन पर आया अतिथि" यह किया जाता है (ऋ० १. १२४. ४; ६. ३०. ३; ७. ८३. ७; ८. ४४. २९; अद्मसद्वन्, ६. ४. ४) किंतु गेल्डनर इसका अर्थ करते हैं—"मक्षिका", क्योंकि मक्खी प्रायः भोजन पर बैठा करती है[१]।

अद्रि—त्सिमर ने (आले० ३०१ में) सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋवे (१. ५१. ३) में अद्रि (पाषाण) शब्द का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि उस समय प्रस्त-रक्षेपणी (पत्थर फेंकने का गोफिया) का प्रयोग प्रचलित था; किंतु वह प्रसंग पुरा-कथा का है, और वहाँ इन्द्र की सहायता का प्रसंग है और उसे हरगिज भी मानव-युद्ध में साक्ष्य के रूप में नहीं पेश किया जा सकता। अधिक संभावना इस बात की है कि वह इन्द्र के वज्र का परिचायक रहा हो। द्र० अशनि। गिरिर्वा अद्रिः श. ७. ५. २. १८।

अधिकल्पिन्—माध्यंदिनशाखीय वासं० (३०. १८) और काण्वशाखीय वासं० (३४. ३,५) में अधिकल्पिन् शब्द कुशल अक्ष-क्रीडक के लिए प्रयुक्त हुआ है। तु०—२ अक्ष।

अधिदेवन—ल्यूडर्स के[२] अनुसार जिस स्थान पर अक्ष फेंके जाते थे उसे अवे० (५. ३१. ६, ६. ७०. १) और शब्रा० (५. ४. ४. २०; २२; २३) में अधिदेवन कहा गया है। राथ और ह्विटनी (अवे का अनुवाद) के अनुसार भी यह अक्ष-पट्ट का बोधक है। द्र०—२ अक्ष। द्र० अधिदेवनं वा अग्निस्तस्यैते अङ्गारा यदक्षाः श० ५. ३. १. १०।

अधिराज—प्रारम्भिक साहित्य में यह शब्द प्रायः आता है (ऋ० १०. १२८. ९; अवे० ६. ९८. १; ९. १०. २४; तैसं २. ४. १४. २; मैसं, ४. १२. ३; कासं ८.

---

[१] द्र०—वैस्तू०, २. १७९, १८०, किंतु तु०—ओल्डेनबर्ग, वेद फोर्शुङ्ग, ९०।

[२] दास ब्यूर्फलश्पील इम आ० इं०, ११. १३।

१७, तै, ३. १. २. ९ अधिराजन्, श ५. ४. २. २, निरुक्त ८. २)। "राजा और राजकुमारों के राजा" के अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है। किसी भी स्थान पर यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इस शब्द से सचमुच एक "राजाओं पर राजा" अभिप्रेत होता था; क्योंकि राजन् शब्द का अर्थ होता है एक राजा, एक राजकुमार, अथवा राजपरिवार का एक व्यक्ति। ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द राजकुमार के विपरीत 'राजा' का बोध कराता था।

अधिषवण—अधिषवण उन दो फट्टों को कहते हैं, जिनके मध्य में से सोम को पीसकर निकाला जाता था (वासं १८. २१; अवे, ५. २०. १०; शब्रा, ३. ९. ४. १; ३. ५. ३. २२; अधिषवणे फलके, ऐब्रा० ७. ३२. अधिषवणं चर्म, अधिषवणे फलके आ) राथ और त्सिमर[1] ऐसा ही मानते हैं। इन दोनों के अनुसार इन दो फट्टों के बीच में सोम को दबाकर उसका रस निकाला जाता था। हिल्लेब्रांड्ट[2] कहते हैं कि ये फट्टे एक के ऊपर दूसरा इस प्रकार नहीं रखे जाते थे, अपितु एक के पीछे दूसरा इस प्रकार बिठाये जाते थे, और उनके ऊपर पाषाण से सोम को पीस दबाकर उसका रस निचोड़ा जाता था। ऐसा उन्होंने कल्पसूत्रों के आधार पर प्रतिपादित किया है। इस मन्तव्य में अधिषवण शब्द का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ बिल्कुल ठीक निकल आता है। किंतु हाग के अनुसार[3] दक्षिण में देशी परंपरा के अनुसार पहले सोमपत्र को एक चमड़े पर रखते हैं, फिर उस पर एक फट्टा रखा जाता है, जिससे उसे पीसते हैं। पिसे हुए सोमपत्रों को निकाल कर फट्टे पर रखते हैं और दूसरा फट्टा ऊपर रख दिया जाता है।

अधीवास—यह शब्द ऊर्ध्व-वस्त्र अर्थात् ऊपर की गाती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका स्पष्ट वर्णन तो नहीं मिलता, किंतु शब्रा (५. ३. ५. १९) में आये याज्ञिक अनुष्ठान में राजा पहले-पहल अधोवस्त्र पहनता है, फिर वस्त्र, और फिर अधीवास, अर्थात् ऊपरी वस्त्र, जिससे प्रतीत होता है कि यह संभवतः आच्छादक वस्त्र या उत्तरीय परिधान रहा हो (द्र० ऋ० १. १४०. ९; १. १६२. १६; १०. ५. ४; शब्रा, ५. ३. ५. २२ प्रतिमुञ्च; ५. ४. ४. ३ आस्तृ आदि)। तु० त्सिमर, आले २६८।

अध्याण्डा—शब्रा (१३. ८. १६) में अन्य पौधों के नाम के साथ यह भी एक पौधे के नाम के रूप में आता है।

अध्वन्—ऋग्वेदिक (१. २३. १६, ९. ५२. २ आदि) काल से ही अध्वन् शब्द का प्रयोग मार्ग के अर्थ में होता आया है। दे. अध्व-र

अध्वर—वैदिक साहित्य में अध्वर शब्द यज्ञ या हविर्यज्ञ के अर्थ में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १. १२८. ४; १. १६५. २; १. ४९. ७; शब्रा, १. १. ४. ७ इत्यादि, निघण्टु, ३. १७। तु० अध्वन्-अध्वन.

शब्रा (१. ४. १. ४०) में कहा गया है कि देवों का यज्ञ द्वारा यजन करने वालों के विरुद्ध सपत्न असुरों की दुधूर्षा (हानि पहुंचाने की इच्छा) सफल न हो पाई, अतएव यज्ञ को अध्वर कहा गया है (तु० निरुक्त, १. ८)। =अ+ध्वर ? द्र० देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षांचक्रुः ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद् यज्ञोऽध्वरो नाम। शब्रा० १. ४. १. ४०. प्राणोऽध्वरः शब्रा० ७. ३. १. ५; रसोऽध्वरः शब्रा० ७. ३. १. ६.।

अनघास—द्र० नक्षत्र।

अनड्वाह्—'अनस् (शकट) को वहन करने वाला'। यह शकट खींचने वाले वृषभों का सामान्य नाम है (ऋ० १०. ५९. १०; १०. ८५. १०; ३. ५३. १८; अवे०, ३. ११. ५; ४. ११. १. आदि; ऐब्रा, १. १४; शब्रा, २. १. ४. १७ आदि)। ये वृषभ प्रायः छिन्नवृषण् (बधिया) कर दिये जाते थे (काश्रौसू १५. १. ५ अनड्वान्-सांडः)। अनडुही का भी प्रयोग शकट में होता था, किंतु बहुत ही कम (अवे ४.११; शब्रा, ५. ३. ४. ११, १३)। द्र०—गो भी। तु० वह्निर्वा अनड्वान् तैब्रा १. १. ६. १०;, अग्निरेष यदनड्वान् शब्रा ७. ३. २. १. तु०—वेबर, इस्टू १३. १५१. टि; त्सिमर, आले २२६।

अनन्त—यह एक संख्या है। द्र० दशन्।

अनप्नस्—ऋवे में केवल एक बार (२. २३. ९) प्रयुक्त यह शब्द साधनरहित या धनरहित का व्यापक है।

अनस्—यह शब्द रथ से भिन्न शकट के लिए प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ४. ३०. १०; १०. ८५. १०; १०. ८६. १८ आदि; शब्रा, १. १. २. ५ आदि, छाउ, ३. ८ आदि)। ऋवे (३. ३३. ९) में स्पष्ट रूप से दोनों में भेद प्रदर्शित किया गया है। एक बार इन्द्र को भी अनर्विश् (शकट में बैठा हुआ) कहा गया है (ऋ० १. १२१. ७)। यद्यपि उषा कभी रथ पर भी चढ़ती है, तथापि शकट उसका वाहन है (ऋ० २. १५. ६; ४. ३०. ११; ८. ९१. ७; १०. ७३. ६; १०. १३८. ५)। इसके तत्कालीन निर्माण के संबन्ध में बहुत कम ज्ञात है। वैवाहिक शकट, जिसपर सूर्य की पुत्री सूर्या बैठी थी, एक

---

[1] आले २७७। [2] वे० मि० १. १४८ एवं आगे।
[3] दी ऐब्रा, २ पृ० ४८८, टि० १०।

छत्र (छदिस्) से युक्त कहा गया है (ऋ० १०. ८५. १०) इसे हिन्दी में बहल कहते हैं। गांवों में बहलों और रथों का प्रयोग विवाहों पर प्रचलित है। अक्षपेटिका (=ख) का उल्लेख मिलता है (ऋ० ८. ९१. ७, जैउब्रा १. ३)। अवे (१५. २. १) में विपथ का उल्लेख आता है, जिसे विषम यान कहा जा सकता है, और जो संभवत: विषम मार्गों पर प्रयुक्त होता रहा हो। शकट अनड्वाहों द्वारा खींचा जाता था, जैसे कि बरातों में। उषा का शकट अरुण गौओं या वृषभों द्वारा खींचा जाता था।

(बौश्रौसू०, १३. ३८, आश्रौसू०, १९. २६. २, ४)[2]। (तु० त्सिमर आले २४६, गेल्डनर, वैस्तू, २. ४)।

अनाधृष्य—तैआ (३. ५. १) में एक ऋषि का नाम अनाधृष्य है। **अप्रतिधृष्य** के साथ इन्हें यज्ञ का अभिगर ऋत्विक् कहा गया है।

अनारम्भण—ऋवे (१. ११६. ५; १. १८२. ६) में अनारम्भण (आलम्बनरहित) शब्द समुद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। (तु०—वेदधरातल)।

अनास्—द्र० दस्यु।

अनीक—वैदिक साहित्य में अनीक शब्द अनेक अर्थों में आया है। कुछ स्थलों (ऋ० १. ११५. १; ४. १२. २ आदि) पर यह संघ को ख्यापित करता है। अन्यत्र यह अग्नि, सूर्य, प्रभृति के तेजोमण्डल का बोधक है (ऋ० ७. ८८. २; १०. ४८. ३; ६. ५१. १; वासं, ५. ३४)। यह शब्द बाण के अग्रभाग का भी बोधक है (शब्रा २. ३. ३. १०)।

अनु, आनव—ग्रासमान और राथ[3] अनु और आनव शब्दों में अनार्य जातियों का उल्लेख मानते हैं, किंतु यह स्पष्ट है कि वे एक विशेष जाति के हैं, जिनका उल्लेख **यदुओं, तुर्वशों, द्रुह्युओं** और **पुरुओं** के साथ आया है (ऋ० १. १०८. ८; ७. १८. १४; ८. १०. ५,)[4]। यह निष्कर्ष और भी पुष्ट हो जाता है जब ऋग्वेद (८. ७४. १५; तु० ७. १८. १४) में यह उल्लेख मिलता है कि ये लोग परुष्णी नदी के किनारे रहते थे। ओल्डेनबर्ग[5] का यह अनुमान संदेहास्पद है कि अनु लोग भृगुओं से संबद्ध थे, क्योंकि इसका आधार केवल इतना ही है कि एक स्थान पर भृगु और द्रुह्यु लोगों का एक साथ उल्लेख मिलता है, किंतु वास्तव में वहां अनु और द्रुह्यु लोगों का एक साथ उल्लेख नहीं है। आनव अग्नि के विशेषण के रूप में (ऋ० ८. ७४. ४; तु०—ऋ० ५. ३१. ४) प्रयुक्त हुआ है, किंतु तुर्वश के साथ एक बार (ऋ० ७. १८. १३ में) और दो एक बार अनु राजकुमार के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ८. ४. १; स्पष्ट रूप से राजकुमार के रूप में भी, ६. ६२.९ तु०—कुरुङ्ग)। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०५; हिल्लेब्रांड्ट, वे० मि० ३. १५३; मै० संस्कृत लि० १५४।

अनुक्षत्तृ—वासं (३०. ११. ७३) और तैब्रा (३. ४. ९. १) में पुरुषमेध की बलियों की सूची में यह शब्द आता है। वासं के भाष्यकार महीधर के अनुसार इसका अर्थ द्वारपाल का अनुयायी और सायण के अनुसार सारथि का अनुयायी है। द्र० क्षत्तृ भी।

अनुछाद—शब्रा (३. १. २. १८) में कपड़ा बुनने के लिए प्रयुक्त ताने-बाने में से ताने को अनुछाद कहा गया है। तु० तन्तु।

अनुमति—अवे (१. १८. २) में अनुमति का एक देवी के रूप में उल्लेख आया है (तु०—वासं ३४. ३)। यहाँ उसे काम से संबद्ध देवी कहा गया है। ऋवे में भी एक भावात्मक देवता (देवों की अनुमति या प्रीति) के रूप में इसका उल्लेख है। (ऋ० १०. ५६. ९; १०. १६७. ३)। द्र० मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, पृ० ११९।

अनुयाज—ऋग्वैदिक काल से ही अनुयाज शब्द का प्रयोग मिलता है (ऋ० १०. ५१. ८; १०. १८२. २; अवे १. ३०. ४; तैसं २. ६. १. ६. आदि)। यास्क के समय में ही यह शब्द दुरूह बन गया था, संभवत: इसीलिए उन्होंने निरुक्त (८. २३) में इसके विषय में अनेक अनुमान प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार अनुयाज और प्रयाज शब्द अग्निदेवता से संबद्ध हैं। ऐतरेयब्राह्मण (२. १८) ११ में देवविशेषों को अनुयाज कहा गया है। प्रयाज शब्द यज्ञ के प्रथम अङ्ग को सूचित करता है, और अनुयाज शब्द शेष अङ्ग को, किंतु परिशिष्ट अङ्ग को उपयाज शब्द उद्दिष्ट करता है। हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र (४. १६. १७) में इस यज्ञ का विशद विवेचन है।

अनूक, अनूक्य—द्र० शरीर।

अनुवत्सर—द्र० संवत्सर।

अनुव्याख्यान—बृउ० (२. ४. १०; ४. १. २; ४. ५. ११) में एक विशेष प्रकार की रचना का नाम अनुव्याख्यान है। शंकराचार्य ने उसका अर्थ किया है 'मन्त्रों की व्याख्या'। बहुवचन में यह शब्द सूत्रों के समान रचना के

---

[1] मैकडोनेल, वेदिक मिथो०, ४७।
[2] गार्बे, आपश्रौसू का संस्करण, ३. ३५६।
[3] वोबू। [4] तु० त्सिमर, आले १२५।
[5] त्साडामौगे०, ४२, २२१ टि० १।

अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः रचनाविशेष या ग्रन्थ-विशेष के अर्थ में इसे ग्रहण करना उचित ही है, किंतु जीग[1] ने इसे अन्वाख्यान के समकक्ष माना है।

अनुशासन—शब्रा० (११. ५. ६. ८) के अनुसार यह शब्द बहुवचन में साहित्य के एक अङ्ग-विशेष का द्योतक है। सायण के अनुसार यह वेदाङ्ग का वाचक है।

अनुशिख—पंब्रा० (२५. १५) में यह नागसत्र के पोतृ ऋत्विक् का नाम है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३५।

अनृत—ऋत के विपरीत। यह शब्द शाश्वत नियमों के प्रतिकूल को ख्यापित करता है। बाद में जब ऋत शब्द सत्य के रूप में गृहीत हुआ तब यह भी असत्य का वाचक बन गया। वैदिक साहित्य में अनृत को बड़ा पाप माना गया है। आदित्यों को 'अनृतद्विषः" कहा गया है (ऋ० ७. ६६. १३; ऋ० १. २. ३८; ३. ५३. १८; ७. १०४. ८; अवे०, १. ३२. २; शब्रा०, १. १. १. ४ आदि)।

अन्त—वासं० (१७. २ एवं आगे) में एक खरब संख्या का वाचक है। द्र० **दशन्**।

अन्तक—ऋवे (१. ११२. ६) में माधव-भाष्य के अनुसार अन्तक एक ऋषि का नाम है; स्कन्द स्वामी ने अन्तक को एक राजा माना है। सायण ने "शत्रुओं का अन्त करने वाला" यह अर्थ लिया है (द्र०—डा० लक्ष्मणस्वरूप, ऋगर्थदीपिका, १. ५६८)। यहाँ प्रसंगतः अन्तक शब्द व्यक्तिवाचक प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ अश्विनों द्वारा रक्षित उनके कृपापात्रों की गणना की गई है। अन्तक=संवत्सर शब्रा० १०. ४. ३. २।

अन्तरात्मा—उपनिषदों में आत्मा या अन्तरात्मा का विवेचन भरा पड़ा है। उसे अङ्गुष्ठमात्र या सूक्ष्म कहा गया है—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा" (श्वेउ ३. १३)। सर्वभूतान्तरात्मा का भी वहीं उल्लेख है (६. ११)। तैउ (२. २) में अन्तरात्मा का विवेचन मिलता है।

अन्तर्वती—गर्भवती के अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद-काल से ही प्रयुक्त है। ऋवे (३. ५५. ५) में लक्षणिकरूप से इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

अन्तरिक्ष—वैदिक साहित्य में अन्तरिक्ष शब्द द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्यवर्ती लोक को उद्दिष्ट करता है (ऋ० १. २५. ७; १. ३५. ७; ३. ५४. १९; अवे० ४. २५. २; शब्रा०, ७. १. २. २३ आदि; तु० मैकडोनल, वैदिक माइथोलजी, पृ० १०. ७२)। द्र० सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षम-भवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्। शब्रा० ७. १. २. २३।

[1] दी० ज्ञा० ऋ० ३४ में।

अन्त्य—द्र० **दशन्**।

अन्धस—अन्धस् शब्द अन्न के अर्थ में (ऋ० १. ९. १) प्रारम्भ में था, किंतु वैदिक साहित्य में यह शब्द सोम के अर्थ में अधिक आया है। द्र०—**सोम**। द्र०—'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' शब्रा ९. १. १. २४.

अन्ध्र—अन्ध्र एक जाति का नाम है। इसका उल्लेख पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब लोगों के साथ हुआ है। ये लोग म्लेच्छ थे और विश्वामित्र के उन पचास बड़े पुत्रों से बने थे, जिन्होंने विश्वामित्रका शुनःशेप को अपनाना स्वीकार नहीं किया था। ऐतरेयब्राह्मण में "उदान्त्यः" (सीमापारका) मिलता है, किंतु शांखायन श्रौतसूत्र में उदञ्चः (उत्तरी) यह पाठ मिलता है, किंतु प्रथम पाठ ठीक मालूम पड़ता है। (ऐब्रा, ७. १८; शांश्रौसू, १५. २६)। संभवतः ये लोग अनार्य माने जाते थे, और अन्ध्र भी अनार्य ही प्रतीत होते हैं। विंसेंट स्मिथ[1] ने अन्ध्रों को प्रारम्भ में पूर्वी भारत में माना था—कृष्ण और गोदावरी नदियों के मध्य प्रदेश में। तु०—रैप्सन, कैटेलाग आफ इंडियन कौइन्स, १५, १६; भण्डारकर, बाम्बे गजेटियर, १. २. १३८; वेदधरातल, अन्ध्र)।

अन्यतः प्लक्षा—"लहरदार पत्ते वाला प्लक्ष वृक्ष जिसके एक ओर है"। शब्रा (११. ५. १. ४) के अनुसार यह कुरुक्षेत्र की एक झील का नाम है। पुरूरवा उर्वशी की कहानी में इसका उल्लेख है। पिशल ने इस स्थान को सिरमौर के आस पास माना है[2]।

अन्यतोदन्त्—तैसं (२. १. १. ५; ५. १. २. ६; ५. ५. १. ३) में अन्यतोदन्त् शब्द उन पशुओं को उद्दिष्ट करता है, जिनके एक ही (निचले) जबड़े में दांत होते हैं। तु०—**उभयादन्त्** और **पशु**।

अन्येद्यु—अवे (१. २५. ४) में अन्येद्यु ज्वर-विशेष का नाम है। संभवतः यह तेइये ज्वर का बोधक हैं। तु०—**तक्मन्**।

अन्यवाप—"दूसरों के लिए बोना"। कोयल का नाम हैं, क्योंकि वह अपने अण्डों को पलवाने के लिये उन्हें अन्य पक्षियों के नीड़ों में रख देती है (वासं, २४. ३७; मैसं०, ३. १४, १८)।

अन्वाख्यान—"अनु-आख्यान' से पूरक कहानी का भाव प्रकट होता है। शब्रा के तीन स्थलों में से दो पर यह अर्थ कठिनता से निकाला जा सकता है (६. ५. २. २२; ६. ६. ४. ७) क्योंकि वहां यह पुस्तक के अग्रिम भाग

[1] त्सादामौगे, ६५७।

[2] वैस्तू २। २१७।

(६. ६. ४. ८) की ओर संकेत करता है। किंतु तीसरे स्थान (११. १. ६. ९) पर इसे इतिहास से अलग दिखलाया गया है। वहां इसका अर्थ स्पष्ट रूप से "पूरक कहानी" होता है। तु०—**अनुव्याख्यान**। (तु०—जीग, दी० ज्ञा० ऋ०, ३४)।

अपगर—पंब्रा (२५. १४. ३) में अभिगर और अपगर इन दो ऋत्विजों का उल्लेख है। काश्रौ (१३. ३. ४, ५) में अभिगर को 'आक्रोश करने वाला' और अपगर को 'प्रशंसा करने वाला' बताया गया है।

अपचित्—अवे० में (६. २५. १; ६. ८३. १; ७. ७५. १; ७. ७७. १) यह शब्द कई बार आता है। राथ,[1] त्सिमर[2] एवं लुड्विग[3] के अनुसार यह एक कृमि है, जिसके दंश से शोथरोग (ग्लौ सूजन) हो जाता है। किंतु ब्लूमफील्ड[4] के अनुसार यह शब्द गण्डमाला का वाचक है। केशव और सायण का भी यही मत है। परवर्ती काल में भी अपची रोग का उल्लेख मिलता है। व्युत्पत्ति है अप+चि ('चुनना')।

अपत्य—ऋग्वेद-काल से ही अपत्य शब्द संतान के अर्थ में आता रहा है। अच्छे अपत्य के लिए प्रार्थना की गई है (ऋ० ४. २. ११; द्र० ऋ० १. ६८; ७; १. १७९. ६; ७. ५७. ९; १०; अवे, ७. १०९. १; वासं, १३. ३५ आदि)।

अपभरणी—द्र० **नक्षत्र**।

अपराजिता—उत्तर दिशा। देखो 'ते (देवासुराः) उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता'। ऐब्रा० १. १४.

अपराह्ण—शब्रा (१. ६. ३. १२; २. २. ३. ९; ३. २. २. १६; ४. ४. २. २१) और छान्दोग्योपनिषद् (२. ९. ६; २. १४ आदि) में अपराह्ण शब्द मध्याह्न के बाद और संध्या के पूर्व के समय को उद्दिष्ट करता है। दे० शब्रा० १. ५. ३. ३.

अपश्रय—द्र० **उपश्रय**।

अपस्—वैदिक साहित्य में अपस् शब्द कर्म का वाचक है (ऋ० १. ५४. ८; ४. २. १४; ४. ३३. ९; १०. ५३. ६ आदि)। वेद में अपस् की बड़ी उदात्त कल्पना है। प्रार्थना की गई है कि अपस् की मात्रा समय के पूर्व न शीर्ण होने पाए—"मा मात्रा शार्यपसः पुरा ऋतोः" (२. २८. ५)। इस प्रसंग में अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं: १. २. ९; १. ३१. ८ आदि।

अपस्कम्भ—अवे में केवल एक स्थान पर यह शब्द आता है (अवे ४. ६. ४)। वहाँ इसकी नोक को विषाक्त बताया गया है। राथ के अनुसार बाणाग्र को नुकीला करने से तात्पर्य है। ह्विटनी इसे स्वीकार करते हैं, किंतु पाठ को अशुद्ध मानते हैं[1]। त्सिमर ने राथ का अनुसरण किया है[2]। लुडविग इसका अर्थ शूलाग्र करते हैं[3]। ब्लूमफील्ड ने इसे चीरने वाला बाण माना है[4]। यह अर्थ व्युत्पत्तिसंमत है।

अपस्कद्वरी—द्र० **अतित्वरी**।

अपांनपात्—जलों का पुत्र"। ऋवे (१. २२. ६) में अपांनपात् सविता का विशेषण है; किंतु प्रायः यह अग्नि के विशेषण-रूप में प्रयुक्त हुआ है। अवेस्ता के अपांनपात् से इसकी अभिन्नता है[1]। (ऋ० २. ३५. ९. ११; १. १२२. ४; १. ४३. १; १. १८६. ५; वासं, ८. २५ आदि)। द्र०—मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, ६९, ७०।

अपाच्य—ऐब्रा (८. १४) में पश्चिमी राजाओं का नाम अपाच्य आया है। इनका उल्लेख नीच्यों के साथ हुआ है।

अपान—यह शब्द अवे और परवर्ती साहित्य में अनेकशः आता है (अवे २. २८. ३; ५. ३०. १२ आदि; वासं १३. १९, २४ आदि)। पांच प्राणों में से यह एक है। इसका प्रयोग प्रायः प्राण के साथ या अन्य तीनों में से किसी एक के साथ आता है। इसका प्रारम्भिक अर्थ प्रेरणा प्रतीत होता है[5]। ऐउ (१. ४) में इसका संबन्ध नाभि से बताया गया है[6]। इसके विषय में देखिये शब्रा १४. ६. २. २; १०. १. ४. १२; अग्निरपानः जैउ ४. २२. ९; अपाना अनुयाजाः कौ० ७. १. १० आदि।

अपामार्ग—यह एक पौधा (अचिरैन्थेस ऐस्पेरा) है, जिसका उल्लेख अभिचार एवं ओषधि आदि के मन्त्र में मिलता है (अवे ४. १७. ६; ४. १८. ७; ४. १९. ४;

---

[1] वोबू। [2] आ० ९७।
[3] ट्रां० ऋ०, ३४२, ५००।
[4] अजफि, ११. ३२० एवं आगे; हिम्स आफ दि अथर्ववेद ५०३, ५०४; तु० जाली, मेडिसिन, ८९, ह्विटनी, ट्रां० आफ दि अथर्ववेद, ३४३।

[1] ट्रां० अ० वे०, १५३। [2] आले, ३००।
[3] ट्रां० ऋ० ३. ५१२।
[4] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३७५।
[5] द्र० कैलेण्ड, त्सादामागे०, ५५. २६१; ५६. ५५६–५८; जअओसो० २२. २४९।
[6] तु०—डायसन, फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स, २६३।

७. ६५. २. वासं ३५. ११; तैब्रा. १. ७. १८; शब्रा, ५. २. ४. १४; १३. ८. ४. ४.)। विशेषतः यह क्षेत्रिय रोग की ओषधि है। अवे (४. १४. २) में यह प्रत्यावृत्तियुक्त (पुनः-सर) के रूप में चित्रित किया गया है। राथ,[१] त्सिमर[२] और ह्विटनी[३] के अनुसार इसका आधार है उसकी पत्तियों की पुनरावृत्ति। ब्लूमफील्ड[४] के अनुसार इसका आधार यह है कि वह अभिचार करने वाले के पास उसके मन्त्र को उलटे पहुँचा सकता है। अपामार्ग होम के लिए देखो शब्रा ५. २. ४. १४; तैसं १. ७. १. ८. प्रतीचीनफलो वा अपामार्गः शब्रा० ५. २. ४. २० भी ध्यातव्य है।

अपालम्ब—इस शब्द से उस दण्ड-यष्टि का बोध होता है, जिसे शकट को उलटने से बचाने के लिये शकट में लटका दिया जाता है। =अड़सल्ला; अप+आ+लम्ब "लटकना" (शब्रा, ३. ३. ४. १३)। तु०—कैलण्ड और हेनरी, ल अग्निष्टोम, ५०, राथ, वोबू।

अपाला—ऋवे (८. ९१. ७) में अपाला शब्द आया है। सायण ने उसे अत्रि की ब्रह्मवादिनी पुत्री का नाम माना है। शाट्यायनब्राह्मण के आधार पर उन्होंने कथा दी है। बृहद्देवता (६. ९९–१०८ मैकडोनल का संस्करण) में अपाला की कथा विस्तार से दी गई है। अत्रि की पुत्री अपाला चर्म-रोग से दूषित थी। पिता के घर में उसे अकेली देखकर इन्द्र उस पर रीझ गए। तप द्वारा वह इन्द्र के भाव को भांप गई। वह घड़ा उठाकर जल लेने के लिए चल दी। वहाँ उसने सोम को पड़ा देखा; अपने मुख से सोम को चबाकर उसने रस निकाला; फिर इन्द्र का आह्वान किया। जब इन्द्र को उसने भोजनादि से तृप्त कर लिया, तब उनकी स्तुति करती हुई वह बोली कि हे शक्र! मुझे प्रचुर केश वाली सुन्दरी बना दो। इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होंने रथ के छिद्र में उसके शरीर को डालकर उसे तीन बार खींचा। तब वह सुन्दर चर्म वाली गौ-री बन गई। उसका जो पहला चर्म छूटा वह शल्यक बन गया, दूसरा चर्म गोधा और तीसरा चर्म छूटने के बाद कृकलास बन गया। तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. २२६. एवं आगे, टि०।

अपाष्ठ—अवे में यह शब्द दो बार बाण के अग्रभाग के अर्थ में आया है। (४. ६. ५; ५. १८. ७ शतापाष्ठ, बाणशतशूलाग्र)। तु०—त्सिमर, आले०, ३००, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३७५।

[१] वोबू
[२] आले, ६७,
[३] ट्रां० अ० वे०, १८०।
[४] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३९४; तु० ब्लूमफील्ड, जअओसो १५, १६०, १६१; वेबर, इस्टू।

अपिशर्वर—द्र०—अहन्। अपिशर्वर छन्द के लिये दे० ऐ० ४. ५, गो उ ५. १.

अपी—लुड्विग ने ऋवे में एक अपी नामक व्यक्ति का उल्लेख माना है, जिनके पुत्र यज्ञ नहीं करते थे। (अयज्ञसाच् थे), और जो मित्र तथा वरुण के नियमों को तोड़ते थे[१]। राथ और ग्रासमान "अप्यः पुत्राः" का अर्थ "जल के पुत्र" करते है।[२]

अपूप—ऋवे (३. ५२. ७) में एवं उसके बाद के साहित्य में अपूप शब्द आता रहा है। वह घृतयुक्त होता था (ऋ० १०. ४५. ९); चावल या यव से बनता था (शब्रा, २. २. ३. १२, १३; ४. २. ५. १९)। छाउ (३. १. १. में विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। मैक्समूलर इसका अर्थ मधुकोश करते हैं। बार्टलिक ने इसे "मधु का छत्ता" माना है और लिटिल[३] ने इसका अर्थ पूआ या केक किया है।

अप्नवान्—ऋवे (४. ७. १; ८. ९१. ५) में यह एक ऋषि का नाम है। यह नाम भृगुओं के साथ आया है। लुडविग्[४] के अनुसार ये भृगुवंशी ऋषि थे।

अप्नस्वती—ऋवे (१. १२७. ६) में अप्नस्वती शब्द भूमि के विशेषण के रूप में आया है, जिसका अर्थ खनन-कर्षणयुक्त उर्वर भूमि किया गया है। अन्यत्र (१. ११२; २४; १०. ४२. ३) यह वाक् का विशेषण है; और कर्मोन्मुख ओजस्वी वाणी को उद्दिष्ट करता है। निघण्टु (२. १) में अप्नस् शब्द कर्म के नामों में रखा गया है।

अप्रतिधृष्य—तैआ (३. ५. १) में एक ऋषि का नाम अप्रतिधृष्य है। अनाधृष्य के साथ इन्हें यज्ञ का अभिगर ऋत्विक् कहा गया है। दे० अप्रतिधृष्या तदादित्यः ऐ० ५. १५।

अप्रतिरथ—"जिसके रथ का प्रतिरोध न हो"। ऐब्रा (१. ८. १०) और शब्रा (९. २. ३. १. ५) के अनुसार ऋवे के उस सूक्त (१०. १०३) के ऋषि अप्रतिरथ हैं, जिसमें इन्द्र को अजेय योद्धा कहा गया है।

अप्वा—अवे (९. ८. ९) में एक उदररोग का नाम अप्वा है। त्सिमर[५] के अनुसार संभवतः यह अतिसार है। इस रोग को शत्रु के पास भेजने के लिए प्रार्थना की गई है (ऋ० १०. १०३. १२=अवे, ३. २. ५,=सावे, २. १२.

[१] ट्रां० ऋ० ३. १५८. १५९।
[२] वोबू "अप्य" शब्द।
[३] ग्रामेटिकल इंडेक्स, "अपूप" शब्द।
[४] ट्रां० ऋ० ३. १२८।
[५] आले० ३८९।

११=वासं, १७. ४४)। वेबर के विचार में अप्वा संभवतः भयजन्य अतिसार का नाम है[1]। महाकाव्यों में भी इसका नाम आता है[2]। यास्क (निरुक्त, ९. ३३) का यही मत है, और ब्लूमफील्ड इसका समर्थन करते हैं।[3] तु० ट्रां० अ० वे० ८६, ८७।

अप्सरस्—अप्सराओं का उल्लेख ऋग्वैदिक काल से ही प्रचलित है। ऋवे (१०. १३६. ६) में अप्सराओं का उल्लेख गंधर्वों और मृगों के साथ आया है। उन्हें समुद्रिय विशेषण भी दिया गया है (ऋ० ९. ७८. ५) अवे (४. ३७. १२) में गंधर्वों का पति और अप्सराओं का पत्नी के रूप में उल्लेख आया है। द्र०—अवे० २. २. ५; ११. ९. १५; १४. २. ३५; शब्रा०, ११. ५. १. ४ आदि।

अभिक्रतु—अभिक्रतु शब्द अभिकर्मिन् या शत्रु के अर्थ में ऋवे (३. ३४. १०) में प्रयुक्त हुआ है। तु०—अवे० २०. ११. १०; मैसं० ४. १४. ५, १३।

अभिगर—द्र०—अपगर।

अभिचार—किसी शत्रु को मारने या हानि पहुँचाने के लिए किये जाने वाले यज्ञ या मन्त्रपाठ को अभिचार कहते हैं। अवे में अभिचार मंत्र का उल्लेख आता है। अवे (११. १. २२) में कहा गया है कि "तुम्हें शपथ या अभिचार न प्राप्त हो"। (तु०—अवे०, ८. २. २६; १०. ३. ७; १९. ९. ९; काश्रौ, २. ३. ५; १५. ७. ३५)। अवे (१०. ४. ९) में अभिचारिन् शब्द भी आया है।

अभिजित्—नक्षत्रविशेष। दे० तैब्रा० १. ५. २. ३. ५, ३. १. २. ५; 'अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादषाढानामवस्ताच्छ्रोणायै' तै० १. ५. २. ३; =यज्ञ, कौब्रा० २४. २; तां २२. ८. ४. १६. ४. ६; शब्रा० १२. १. ३. १२.

अभितृण्ण—ऋग्विशेष। ऐ. ६. ११; गोउ २. २१.

अभिपित्व—अभिपित्व शब्द (प्रपित्व के समान) अभिप्राप्ति के अर्थ में आया है। यह अहन् के एक भाग को (प्रातः या सायं को) उद्दिष्ट करता है (द्र०—**अहन्**)। ऋवे (१०. ४०. २) में आता है: "ओ अश्विनो, कहां रात्रि में, कहां प्रातः रहते हो, कहां तुम्हारा अभिपित्व (अभिप्राप्ति या ठहरने का स्थान) है, रात्रि में कहां सोते हो? (ऋ० १. ८३. ६; ४. १६. १; १. १८६. १, ६; ७. १८. ९; ८. ४. २१ आदि)। (तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. ४३८)।

अभिप्रतारिन् काक्षसेनि—जैउब्रा ब्राह्मण (१.५९. १; ३. १. २१; २. २. १३), छाउ (४. ३. ५) और पंब्रा (१०. ५. ७; १४. १. १२, १५) में अभिप्रतारिन् काक्षसेनि का नाम दर्शन पर विचार-विनिमय करने वालों के साथ आया है। जैब्रा में यह भी उल्लेख है कि उनके जीवन-काल में ही उनके पुत्रों ने संपत्ति आपस में बांट ली थी। वे एक कौरव राजकुमार थे। (द्र० जै०उ०, ३. १५६)[1]।

अभिप्रश्निन्—तैब्रा (३. ४. ६. १) और वासं (३०. १०) में पुरुषमेध की बलियों में प्रश्निन् के पश्चात् और प्रश्न-विवाक के पूर्व यह शब्द आता है। सायण और महीधर के अनुसार इसमें केवल जिज्ञासु का भाव है। किंतु संभव है कि यह शब्द विधान-संबन्धी हो और न्यायाधीश तथा वादी के विपरीत प्रतिवादी का सूचक रहा हो।

अभिनिधन—सामविशेष। दे० तां० १४. ४. ५.

अभिप्लव—षडह का द्योतक है। दे० गो० पू० ४. २३, शब्रा० १२. २. २. १०; कौ० २. १. ६.

अभिभू—शब्रा० (५. ४. ४. ६) में यह शब्द अक्ष-क्रीडा के प्रसंग में आता है। अक्षों के एक प्रकार के फेंकने को अभिभू कहते हैं। तु० २. **अक्ष**। अभिभूति छन्दोवाचक है: तां ९. ४. ७.

अभिमाति—सपत्न का द्योतक है। शब्रा० ३. ९. ४. ९. ५.

अभिवान्यवत्सा—ऐब्रा० (७. २. १.) में यह शब्द ऐसी गौ को बोधक है, जिसका बछड़ा मर जाने पर दूध दुहते समय दूसरी गौ का बछड़ा उसके सामने लाकर खड़ा किया जाता है। तु०—**निवान्यवत्सा**।

अभिशस्—ऋवे (१०. १६४. ३) में अभिशस् शब्द शाप या गाली के अर्थ में आया है। (तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आदि ऋग्वेद २. ५९९)।

अभिश्री—"मिश्रण"। यह शब्द आहुति के पूर्व सोम में दूध मिलाने के अर्थ में आता है (ऋ० ९. ७९. ५; ९. ८६. २७)। (तु०—त्सिमर, आले २२७; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, १. २११)

अभिषवणी—त्सिमर[2] ने अवे (९. ६. १६) के इस शब्द को सोम पीसने का यन्त्र माना है, किंतु यह तो सोम पीसते समय प्रयुक्त होने वाले जलों का विशेषण जान पड़ता है। (तु०—ह्विटनी, ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद ९. ६. १६)।

---

[1] इस्तू०, ९. ४८२; १७. १८४।

[2] द्र०—इस्तू० १७. १८४।

[3] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३२७। तु०—ह्विटनी,

[1] जअओसो० २६. ६१। [2] आले २२७ में।

अभिषेक—वैदिक काल के राजाओं का अभिषेक, उनके चुने जाने के पश्चात् एक बृहद् यज्ञिय समारोह के साथ होता था। इसका विस्तृत वर्णन ब्राह्मणों में पाया जाता है (तैब्रा०, १. ७. ५; पंविब्रा०, १८. ८, शब्रा०, ५. ३. ३; ऐब्रा, ८. ५)। यजु: संहिताओं में इसके मन्त्र आते हैं (तैसं, १. ८. ११; कासं १५. ६; मैसं, २. ६; वासं १०. १–४), "अभिषेचनीया आप:" द्वारा अभिषेक किया जाता था (द्र० शब्रा, ५. ३. ५. १०–१५)। केवल राजा का ही अभिषेक होता था। इतर जन अनभिषेचनीय बताये गए हैं (शब्रा, १३. ४. २. १७)। अभिषेक करने वाले का उल्लेख पुरुषमेध की बलियों में किया गया है (वासं ३०. १२; तैब्रा, ३. ४. ८. १)। यह अभिषेक राजसूय यज्ञ का आवश्यक भाग है[१]। (तु०—हिल्लेब्रांड्ट, रिचुअल लिटरेचर, १४३–१४७; एगलिंग, सेबुई, ४१. २६, वेबर, ऊबर डेन राजसूय)।

अभीत्वरी—सेना का बोधक है। द्र० कौ० २८. ५.

अभीवर्त—ऋवे (१०. १७४. १, ३) में यह शब्द हवि का और अवे (१. २९. १) में मणि का विशेषण है, जिसका अर्थ है "दमन करने वाला", सफलता प्रदान करने वाला", अपनी ओर खींचने वाला। द्र० तां० ४. ३. २; ८. २. ८. अभिवृत्। संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते शब्रा ८. ४. १. १५.

अभीशु—अश्व की लगाम के लिए सामान्य वैदिक शब्द है। रथ में बहुत से अश्वों को एक साथ जोता जाता था, इसलिए इसका प्रयोग बहुवचन में आता है। ऋवे (१०. ९४. ७) में दशाभीशु शब्द का प्रयोग भी इसीलिये आया है। (द्र० ऋ० १. ३८. १२; ५. ४४. ४; ६. ७५. ६; ८. ३३. ११; अवे० ६. १३७. २; ८. ८. २२; वासं ३४. ६; और शब्रा, ५. ४. ३. १४ जिसमें अभीशु को रश्मियों के समान कहा गया है)।

अभ्यग्नि ऐतशायन—ऐब्रा (६. ३३) के अनुसार यह व्यक्ति अपने पिता ऐतश से झगड़ा करने के कारण अभागा निकला था। फलत: वह और उसके वंशज और्वो में निकृष्ट कहे गए हैं। कौब्रा (३०. ५) के अनुसार अभ्यग्नि के स्थान पर **ऐतशायन आजानेय** पाठ है, और और्व के स्थान पर भृगु पाठ है। संभवत: और्व लोग भृगु-वंश की एक शाखा के रहे हों। (तु०—हिल्लब्रांड्ट, वैदिश्शे मिथोलगी, २. १७३)।

अभ्यञ्जन—ऋग्वेद-काल से ही अभ्यञ्जन, या अञ्जन =आँखों में लगाये जाने वाले पदार्थ का उल्लेख मिलता है। ऋवे के विवाह-सूक्त (१०. ८५. ७) में आया है कि जब सूर्या अपने पति के यहाँ गई, तब उसकी देहपर अलंकार थे और उसकी आंखों में अभ्यञ्जन था। द्रष्टव्य **आञ्जन**।

अभ्यावर्तिन् चायमान—यह नाम ऋवे (६. २७. ८, ५) की एक दानस्तुति में आता है। **वरशिख** के नेतृत्व में इन्होंने वृचीवानों को जीता था। संभव है कि ये **शृञ्जय दैववात** हों, जिनका उल्लेख उसी सूक्त (६. २७. ७) में आया है; और जिनके लिए इन्द्र ने तुर्वशु और वृचीवानों को हराया था। इस प्रकार वे शृञ्जयों के सम्राट् थे। दैववात को एक जगह अग्निपूजक बताया गया है। ऋ० ४. १५. ४)।

अभ्यावर्तिन् का उल्लेख पार्थव के रूप में भी हुआ है। लुड्विग[१] और हिल्लेब्रांड्ट के अनुसार वह पार्थिया के थे। हिल्लेब्रांड्ट ने अभ्यावर्तिन् की **हरियूपीय** (हरप्पा ?) और पव्यावंती स्थानों की विजय को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अभ्यावर्तिन् की पश्चिमी प्रजा ईरान के आर्कोशिया नामक स्थान की थी (ऋ० ६. २७. ५६ के आधार पर)। किंतु त्सिमर का यह मत ठीक प्रतीत होता है कि पार्थव का अर्थ केवल "पृथु का वंशज है, पार्थिया (ईरान) से समानता अनेक आर्य-ईरानी सांस्कृतिक समानताओं में से एक है[3]।

अभ्र—वैदिक साहित्य में अभ्र शब्द बादल का वाचक है (ऋ० १. ७९. २; १. १६८. ८; वासं०–२२. २६; अवे० ४. १५. १. ९)। छाउ (५. १०. ५. ६) में अभ्र को मेघ से थोड़ा पहले का रूप बताया गया है: "धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति"। 'अभ्रं वा अपां भस्म' शब्रा ७. ५. २. ४८ भी द्रष्टव्य है।

अभ्रयन्ती—यह एक तारा है, द्र० **नक्षत्र**।

अभ्रातर:—"भ्रातृहीन"। ऋग्वेद में भ्रातृहीन लड़कियों का उल्लेख आता है, जो भाई न होने पर आदमियों की ओर झुक जाती थीं (ऋ० १. १२४. ७; ४. ५. ५; तु०—अवे, १. १७. १)। निरुक्त (३. ५. "अभ्रात्री") में साफ तौर से ऐसी लड़कियों से विवाह करने का निषेध है। संभवत: कारण यह रहा हो कि ऐसी लड़की "पुत्रिका" बनाई जाने वाली होती थी, अर्थात्

---

[१] ट्रा० ऋ० ३. १९८.

[२] वेदिश्शे मिथोलगी, १. १०५; ३. २६८ टि० १; तु०—ग्रियर्सन, जराएसो १९०८, ६०४।

[3] द्र०—आलें० १३३, ४३३; बेर्गेन्य, रिलिजन वेदिक, २. ३६२।

उससे उत्पन्न हुआ पुत्र उसके पति के वंश का न होकर उसके पिता के वंश का माना जाता था। द्र० **अयोगू**। (तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, २५९; त्सिमर, आले० ३२८)।

अभ्रातृव्या—प्रजापति की तनूविशेष। ऐं० ५. २५. कौ० २७. ५.

अभ्रि—(अभ्रि=खनित्र)। अभ्रि बांस, विकंकत या गूलर की लकड़ी से बनाई जाती थी। शब्रा (६. ३. १. ३०) के अनुसार यह अनेक काष्ठों की बनायी जाती थी और यह कई तरह की होती थी। आकार में यह एक बालिश्त या अरत्नि के बराबर होती थी। यह खोखली होती थी, और इसका एक या संभवतः दोनों किनारे पैने होते थे। प्रतीत होता है कि इसका बेंट लकड़ी का होता था, और सिरा धातु का, जैसा कि आजकल कुदाल का होता है। (द्र०—अवे, ४. ७. ५, ६ अभ्रिखात, १०. ४. १४ निरण्ययीभिरभ्रिभिः; वासं० ५. २२; ११. १०; ३७. १; पंविंब्रा, १६. ६; शब्रा, २. ३. २. १५ आदि)। शब्रा० ६. ४. १. ५ वाग् वा अभ्रिः; शब्रा० ३. ५. ४. २ वज्रो वा अभ्रिः स्मरणीय है।

अमत्र—पात्र-विशेष, जिसमें पीसने के बाद सोम रखा जाता था, (द्र०—ऋ० २. १४. १; ५. ५१. ४; ६. ४२. २ आदि) और जिसमें से निकाल-निकाल कर उसकी देवों को आहुति दी जाती थी (ऋ० १०. २९. ७)। (तु० त्सिमर, आले २७८; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ६१)।

अमला—यह वनस्पति संभवतः "एम्ब्लिका आफिसिनेलिस" या "मिरोबैलन" है। इसका उल्लेख जैउब्रा (१. ३८. ६) में आता है। छाउ (७. ३. १.) में इसे आमलक या आमलका भी कहते हैं। वहाँ पर पाठ "वामलक" है, जिसमें से "अमलक" या "आमलक" शब्द निकाला जा सकता है।

अमा—वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र अमा शब्द गृह का वाचक है। (ऋ० २. ३८. ६; ६. ५१. १५; शब्रा, १. ६. ४. ३. आदि; तु०—**अमाजुर्**)।

अमाजुर्—अमाजुर् शब्द उन लड़कियों का बोधक है, जो विवाह के बिना ही अपने घर पर वृद्ध हो जाती थीं। अन्यत्र उनका नाम "पितृसद्" (पिता के घर में बैठने वाली) है। उदाहरण के लिए देखो **घोषा**।

अमावस्या अमावास्या—अवे (१. १६. १) एवं परवर्ती वैदिक साहित्य (कासं ७. ५; तैसं १. ६. ९. १ आदि) में अमावस्या या अमावास्या शब्द कृष्ण पक्ष की अन्तिम रात्रि का बोधक है। ष० ४. ६, शब्रा १. ६. ४. ५. में चन्द्रमा के घर चले जाने की ओर निर्देश है।

अमावास्य शाण्डिल्यायन—वंशब्राह्मण (२) में अंशु धनंजय के गुरु अमावास्य शाण्डिल्यायन का उल्लेख आया है। (द्र०—इस्टू० ४. ३७३)।

अमित्रतपन शुष्मिण शैव्य—ऐब्रा (८. २३) में अत्यराति जानंतपि के वध करने वाले का नाम अमित्रतपन शुष्मिण शैव्य है।

अमीव—वैदिक साहित्य में अमीव शब्द रोग का वाचक है। अमीवचातन और अमीवहा शब्द प्रायः आते हैं। (ऋ० १. १२. ७; १. १७. २. इ०)।

अमूला—"मूल-रहित"। अवे (५. ३१. ४) में एक पौधे (मेथोनिका सुपर्बा) का नाम है। इसका प्रयोग बाणों को विषाक्त करने के लिए किया जाता था। ब्लूमफील्ड[१] ने इसका अनुवाद "चल संपत्ति" किया है, किंतु ह्विटनी[२] ने इसे मूल-रहित वनस्पति ही माना है[३]।

अमृत—अमृत शब्द अमर देवता या व्यक्ति को सूचित करने के साथ-साथ सुधा का वाचक भी है। ऋवे (१. ३८. ४) में व्यक्ति के अमृत या अमर बनने की प्रार्थना है। देवों के अर्थ में यह ऋवे (१. २४. १; १. ७२. २; ४. ४२. १ आदि) में आया है। पेय अमृत का भी निर्देश ऋवे (६. ४४. १६) और वासं (१८. २६) आदि में पाया जाता है। अमृत=प्राण शब्रा० ९. ३. ३. १३; गो० ३. १. १३; कौ० ११. ४, १४. २; शब्रा, १०. १. ४. २० अमृत=जल, गो० ३. १. ३ कौ० २१. १; अमृत=हिरण्य तै० १. ७. ६. ३. शब्रा ६. ७. १. २. अमृत=आदित्य शब्रा १०. २. ६. १६. अमृत=अग्नि शब्रा १०. २. ६. १७.

अम्बरीष—ऋवे (१. १००. १७) में **ऋज्राश्व**, **सहदेव**, **सुराधस्** और **भयमान** के साथ वार्षागिर के रूप में अम्बरीष का उल्लेख हुआ है। (तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १४०)।

अम्बष्ठ—द्र०—**आम्बष्ठ्य**।

अम्बा, अम्बि, अम्बी आदि—माता के अर्थ में अम्बा, अम्बि, अम्बालिका, अम्बाला, अम्बाली, अम्बी, अम्बिका इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य में पाया जाता है। अम्बाः ऋ० २. ४१. १६; वासं, ६.

---

[१] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४५७।

[२] ट्रां० अवे० २७९ में।

[३] तु० वेबर, इस्टू० १८. २८६।

३६ इत्यादि; अम्बि: ऋ० १. २३. १६; अवे, १. ४. १. इत्यादि; अम्बालिका: वासं २३. १८; मैसं० ३. १२. २० आदि०; अम्बाली, तैसं० ७. ४. १९. १; कासं० ४४. ८; अम्बी: ऋ० ८. ७२. ५; अम्बिका: वासं० ३. ५७; तैसं० १. ८. ६ १ आदि। आपो वा अम्बय: कौ० १२. १. २;

अय—द्र०—**अक्ष**।

अयन—अयन शब्द प्रारम्भ से ही घर के अर्थ में आया है (ऋ० १०. १४२. ७, ८; वासं० ३१; १८ शब्रा०, २. ४. २. ६; निरुक्त २. २५ आदि)। अयन=मार्ग इ गति० कौ० ६. १५.

अयव—शब्रा (८. ४. २. १२. ८. ४. ३. १८) में यव और अयव शब्द: क्रमश: शुक्ल और कृष्ण पक्ष के वाचक हैं। तु०—**मास**। दे० अपरपक्षा अयवा:। शब्रा ८. ४. २. ११+१. ७. २. २६.

अयस्—ऋवे (१. ५७. ३; १. १६३. ९; ४. २. १७; ६. ३. ५) में यह शब्द किस धातु के लिए आता है, यह निश्चित नहीं है। लौह की अपेक्षा कांस्य इसका अधिक उचित अर्थ जान पड़ता है। त्सिमर ने ऐसा ही माना है[1]। अग्नि को अयोदंष्ट्र कहा गया है (ऋ० १. ८८. ५; १०. ८७. २)। सूर्यास्त या उष:काल में मित्र और वरुण के बैठने के स्थान को 'अय:-स्थूण' कहा गया है (ऋ० ५. ६२. ८; तु० ५. ६२. ७)। इतना ही नहीं वासं (१८. १३) में छ: धातुओं की सूची में अयस् का भी उल्लेख है: हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीस, त्रपु (टिन)। यहाँ श्याम (काला) और लौह (लाल) क्रमश: लोहे और तांबे का अर्थ देते हैं; अत: अयस् का अर्थ कांस्य होना चाहिए। अवे और अन्य पुस्तकों में कुछ स्थलों पर अयस् को दो जातियों में विभक्त किया है: श्याम (लोहा) और लोहित (तांबा या कांसा; द्र० अवे० ११. ३. १, ७; मैसं० ४. २. ९)। शब्रा० (५. ४. १. २) में अयस् और लौहायस् के बीच भेद किया गया है। यह भेद संभवत: एगलिंग के मतानुसार लोहा और ताँबे का है, अथवा श्रोडर के अनुसार ताँबा या काँसे का है[2]। अवे (५. २८. १) में इसका अर्थ लोहा निश्चित है। संभवत: ऋवे (६. ७५. १२) में भी बाणाग्र के लिए जो अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है (यस्या अयो मुखम्) उसका अर्थ लोहा ही हो। कुछ भी हो, अयस् का अर्थ ताम्र समझा जा सकता है और कांस्य अधिक संभव है।

लोहे को श्याम अयस् या केवल अयस् कहते हैं (अवे ११. ५. ४) द्रष्टव्य **कार्ष्णायस्** भी। ताम्र लोहायस् या लोहितायस् है।

धातु के विद्रावण, विलयन या पिघलाने का भी उल्लेख मिलता है (ध्मा)। शब्रा (६. १. ३. ५; तु०—६. १. १. १३; ५. १. २. १४; १२. ७. १. ७; १२. ७. २. १०) में उल्लेख है कि यदि अच्छी तरह धातु विद्रावित (बहुध्मात) हो तो वह काँस्य और सोने की भांति दीखती है। वासं (३०. १४) और तैब्रा (३. ४. १०. १) में अयस् को तपाने वाले का उल्लेख मिलता है। अयस् के पात्र का भी उल्लेख मिलता है (अवे० ८. १०. २२; मैसं० ४. २. १३)।

अयस्थूण—शब्रा (११. ४. २. १७) के अनुसार ये एक एक गृहपति थे। उन्होंने अपने अध्वर्यु को यज्ञिय पात्रों के प्रयोग के औचित्य की शिक्षा दी थी।

अयास्य आङ्गिरस—ऋवे (१०. ६७. १; १०. १०८. ८ और संभवत: १०. ९२. १५) में एक ऋषि के रूप में इनका उल्लेख हुआ है। अनुक्रमणी में उन्हें ऋग्वेद के कुछ सूक्तों (९. ४४–४६; १०. ६७–६८) का ऋषि माना गया है। ऐब्रा (७. १६) के अनुसार व उस यज्ञ में उद्गाता थे, जिसमें शुन:शेप की बलि दी जाने वाला थी। जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण (२. ७. २. २. ६; ८. ३) में उनके उद्गीथ का उल्लेख है (तु०—छाउ०, १. २. १२)। पंचविंश ब्राह्मण (१४. ३. २२; १६. १२. ४; ११. ८. १०) बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ३. ८, १९, २४) और कौषीतकि ब्राह्मण (३०. ६) में उन्हें यज्ञिय व्यवस्था का प्रामाणिक अधिकारी माना गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ६. ३; ४. ६. ३ दोनों शाखाओं में) की वंश-सूची में उन्हें आभूति त्वाष्ट्र का शिष्य बताया गया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १५६, हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, २. १५९; वेबर, इस्टु० ३. २०४।

अयास्य—तैत्तिरीय आरण्यक (३. ५. १) में अयास्य उद्गाता के रूप में उल्लिखित है। तु०—**अयास्य आङ्गिरस**।

अयुत—एक संख्या का वाचक है। द्र०—**दशन्**।

अयोगू—वासं (३०. ५) और तैब्रा (३. ४. १. १) में बलियों की सूची में यह नाम आया है। इसका अर्थ संदिग्ध है। संभवत: परवर्ती आयोगव की भांति यह भी मिश्रवर्ण का कोई व्यक्ति रहा हो (आयोगव=वैश्य स्त्री से शूद्र का पुत्र)। वेबर ने इसका अर्थ 'अविनीता स्त्री'

---

[1] आले. ५२.   [2] द्र०—एगलिंग, सेबुई ४१. ९०; श्रोडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटिज़, १८९.

किया है[1]। रिजले[2] ने आयोगव को उत्सवकालीन बढ़ई समझा है (तु० मनुस्मृति, १०–४८)। त्सिमर[3] के अनुसार यह शब्द भ्रातृहीन कन्या के लिए आया है, जिसके वेश्या बनने का भय रहता था। तु० **आयोगव**।

अर—द्र०- **रथ**।

अरटु—अवे (२०. १३१. १७) में अरटु एक पौधे का नाम है, जिसे कोलोसेन्थेस इंडिका कह सकते हैं। इसकी लकड़ी से रथ का अक्ष (धुरा) बनता था (द्र० ऋ० ८. ४६. २७; तु०–त्सिमर, आले० ६२. २४७)।

अरणी—अग्नि-उत्पादक दो लकड़ियों का नाम अरणी है (ऋ० १. १२७. ४; १. १२९. ५; ३. २९. २; ५. ९. ३; ७. १. १; १०. १८४. ३; अवे० १०. ८. २०; शब्रा, ३. १. १–११; ४. ६. ८. ३; १२. ४. ३. ३, १०; क०उ०, ४. ७; श्वे० उ०, १. १४. १५; आ० गृ० सू० ४–६)। उत्तरारणि और अधरारणि का भी उल्लेख है (शब्रा०, ३. ४. १. २२; ११. ५. १. १५; काश्रौसू०, ५. १. ३०)। उत्तरारणि अश्वत्थ की कठोर लकड़ी की होती थी (अवे० ६. ११. १, शब्रा० ११. ५. १. १३; काश्रौसू० ४. ७. २२); अधरारणि शमी की मुलायम लकड़ी की होती थी (अवे० ६. ११. १; ६. ३०. २, ३; तैब्रा० १. ३. ११ इत्यादि)। उत्तरारणि को बल-पूर्वक (ऋ० ६. ४८. ५) अधरारणि पर हाथों से (ऐब्रा० ३. ४. ७; तु० ऋ० १०. ७. ५.) या रस्सियों से (ऋ० १०. ४. ६) रगड़ा जाता था। मन्थन की क्रिया के समान वह क्रिया होती थी। इन अरणियों का उदाहरण आज भी भारत की याज्ञिक संस्थाओं और पिटरीमर म्यूज़ियम में देखा जा सकता है। (तु०–ऋ० ६. १५. १७; ६. ४८. ५ इत्यादि "मन्थन" शब्द के लिए)।

अरण्य—यह शब्द वन के अतिरिक्त ग्राम के बाहरी कृषि-रहित प्रदेश को भी उद्दिष्ट करता है। इसे गृह और कृषि से दूर बताया गया है। (ऋ० ६. २४. १०; अवे०, २. ४. ५)। शब्रा (१३. ६. २. २०) में इसे मनुष्यों से दूर कहा गया है। ऋवे (१. १६. ३. ११), अवे (१२. १. ५६) और वासं (३. ४५; २०. १७) में अरण्य का ग्राम से भेद दिखलाया गया है। शब्रा (५. २. ३. ५; १३. २. ४. ४) में अरण्य को चोरों का निवास बताया गया है। ऋवे के एक सूक्त (१०. १४६) में अरण्यात्मा (अरण्यानी) के रूप में इसकी विशेषताओं का चित्रण किया गया है। मृतकों को वहाँ दफनाया जाता था (बृहदारण्यक उपनिषद्, ५. ११)। साधु वहाँ रहते थे (छाउ० ८. ५. ३)। अरण्य-अग्नि (यज्ञ) का भी उल्लेख सामान्य है (ऋ० १. ६५. ४; १. ९४. १०, ११; २. १४. २; १०. ९२. १; १०. १४२. ४; अवे० ७. ५० इत्यादि; तु०–त्सिमर, आले० ४८, १४२)

अरण्यानि, अरण्यानी—ऋवे (१०. १४६. ६) में अरण्य की आत्मा के रूप में अरण्यानी का वर्णन आया है। पूरा सूक्त अरण्यानी के संबन्ध में है। यहां "अरण्यानि" (नी नहीं) शब्द है।

अरत्नि—एक बित्ता या बालिश्त अथवा संभवतः हाथ के माप को अरत्नि कहा गया है, जिसे २४ अंगुल का मानते हैं[1]।

अररु—असुरविशेष शब्रा० १. २. ४. १७; भातृव्यो वा अररुः तै० ३. २. ९. ४.

अराजानः—शब्रा के दो स्थानों पर (३.४.१.७,८; १३. ४. २. १७), और ऐब्रा (८. २३) में कुछ मनुष्यों के लिए अराजानः शब्द का व्यवहार हुआ है। वेबर ने[2] अवे (३. ५. ७) में भी इस शब्द का प्रयोग माना है। वहाँ वे इससे सूतों और ग्रामणियों का अर्थ समझते हैं, जो राजा न होने पर भी राजा के अभिषेक में भाग लेते थे[3]।

अराटकी—अराटकी एक पौधा है, जिसका उल्लेख एक बार अवे (४. ३७. ६) में हुआ है। स्पष्ट रूप से यह अजश्रृंगी से मिलता है। तु०–**अरटु**। तु०–त्सिमर, आले, ६८, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४०८)।

अराति—अराति शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अदानशील, अज्ञाति या शत्रु के अर्थ में प्रायः आया है। (तु० ऋ० १. २९. ४; २. ७. २; ७. ८३. ५; अवे ३. १५. १; १०. ५. ३६ इत्यादि)।

अरि—अरि शब्द वैदिक साहित्य में दो परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्थलों पर यह

---

[1] इस्तू० १. ७६; त्सादामौगे० १८. २७७ की टिप्पणी में उन्होंने इसे अक्ष या अयस् के लिए प्रयुक्त समझा है।

[2] पीपल्स आफ इंडिया, २५०।

[3] आले०, ३२८।

---

[1] बौशुसू०, फ्लीट, जराएसो, १९१२, २३१ टि० २; तु०–शब्रा०, १०. २. १. ३।

[2] इस्तू० १७. १९९।

[3] किंतु यहाँ, उन्होंने राजानः के स्थान पर अराजानः पढ़ा है; उस पर ह्विटनी की टिप्पणी, तु०–ब्लूमफील्ड हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३३३; वेबर, ऊबर डेन राजसूय, २२।

स्तोता या ईश्वर के अर्थ को उद्दिष्ट करता है (ऋ० १. ९. १०; १. ७०. १ इत्यादि); अन्यत्र यह शत्रु के अर्थ में आया है (अवे १३. १. २९; ७. ८८. १ इत्यादि)। गेल्डर ने वैस्तू में इस पर विचार किया है।

अरितृ—ऋवे (२. ४२. १; ९. ९५. २) में नाव खने वाले को अरितृ कहा गया है। तु०—**अरित्र**।

अरित्र—अरित्र शब्द का प्रयोग पतवार के अर्थ में हुआ है जिससे नाव चलाई जाती थी। ऋवे (१. ११६. ५) और वासं (२१. ७) में शत अरित्र वाली एक नाव का उल्लेख है। नौका को अरित्र से चलाने (अरित्र-पारण) का निर्देश मिलता है (ऋ १०. १०१. २; तु शब्रा, ४. २. ५. १०)। सेंटपीटर्सबर्ग डिक्शनरी के अनुसार ऋग्वेद में दो स्थानों (१. ४६. ८; दशारित्र, २. १८. १) पर इस शब्द का अर्थ रथ का कोई भाग है। ऋवे (२. ४२. १; ९. ९५. २) में नौकावाहक को अरितृ कहा गया है। द्र०—**नौ**। तु०—त्सिमर, आले २५६।

अरिंदम सनश्रुत—ऐब्रा (७. ३४) में एक महाराज का नाम अरिंदम सनश्रुत है।

अरिष्टनेमि—हानि-रहित नेमिवाला। यह शब्द तार्क्ष्य का विशेषण है। वासं (१५–१८) में यह स्वतंन्त्र रूप में उल्लिखित है। तु०—**तार्क्ष्य**। (ऋ० १०. १७८. १; १. ८९. ६; १. १८०. १०; ३. ५३. १७ इत्यादि)।

अरुण—तैआ के प्रथम प्रपाठक में बहुवचन में अरुण नामक ऋषियों का उल्लेख कई बार आया है (१. १०. ६; १. २३. २ इत्यादि) आरुणकेतुक अग्नि का दर्शन और चयन इनके नाम पर उल्लिखित है; इनके साथ ही बहुवचन में केतु और वातरशना ऋषियों का भी उल्लेख उपर्युक्त स्थलों पर पाया जाता है।

अरुण आट—पंचविंश ब्राह्मण (२५. १५) के नागोत्सव में अरुण आट अच्छावाक ऋत्विज् थे।

अरुण औपवेशि गौतम—यह एक आचार्य का नाम है, जिनका उल्लेख तैसं (६. १. ९. २; ६. ४. ५ १), मैसं (१. ४. १०; ३. ६. ४. ६; ३. ७. ४; ३. ८. ६; ३. १०. ५), कासं (२६. १०), तैब्रा (२. १. ५. ११), शब्रा (२. २. २. २०; ११. ४. १. ४; ११. ५. ३. २), बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ५. ३ दोनों शाखाओं में) प्रभृति में हुआ है। प्रसिद्ध उद्दालक आरुणि इनके पुत्र थे। वे उपवेश के शिष्य और राजा अश्वपति के समकालीन थे (शब्रा, १०. ६. १. २)[1] अश्वपति ने इन्हें शिक्षा दी थी। तु०—**आरुण**।

[1] तु०—गेल्डनर, वैस्तू, ३. १४६ टि० ४।

१–अरुंधती—अरुंधती एक वनस्पति का नाम है, जिसका उल्लेख अवे में अनेकशः (४. १२. १; ५. ५. ५, ९; ६. ५९. १–२; ८. ७. ६; १९. ३८. १) है। यह घावों को भरने वाली लता है। इसे गौओं का दूध बढ़ाने वाली कहा गया है। यह चढ़ने वाली लता है, जो **प्लक्ष, अश्वत्थ, न्यग्रोध** और **पर्ण** के वृक्षों पर चढ़ती है (अवे ५. ५. ५)। इसे हिरण्यवर्णा और लोमशवक्षणा कहा गया है (अवे ५. ५. ७)[1]; इसे शिलाची भी कहते थे, और ऐसा प्रतीत होता है कि लाक्षा इसी से निकाली जाती थी[2]।

२–अरुंधती—तैआ (३. ९. २) में एक नक्षत्र के रूप में इसका उल्लेख है। बाद के सूत्र-साहित्य में इसका उल्लेख आम है।

अरुष—द्र० वर्ण।

अरुष—अग्निर्वा अरुषः। तैब्रा ३. ९. ४. १।

१ अर्क—अवे (६. ७२. १) में अर्क एक वृक्ष का नाम है। द्र०—ह्विटनी का नोट उक्त स्थल पर वोबू। द्र०—अन्नमर्कः। शब्रा, ९. १. १. ४, ९, ४२; १. २. ३. १२, १३। तैब्रा १. १. ८. ५।

२ अर्क—अर्चन-साधन मन्त्र का नाम ऋवे (१. १६४. २४) में अर्क आया है, अर्किन् (ऋ० १. ७. १) और अर्ककर्मिन् (ऋ० १. १०. १) का भी उल्लेख इन मन्त्रों को गाने वालों के लिए हुआ है। किंतु अर्क शब्द प्रायः किरणों के अर्थ में या किरणों से युक्त, (सूर्य, अग्नि आदि) के अर्थ में आया है (ऋ० ६. ४. ६; २. ११. १५; ३. ३४. १; ९. ५० ४ इत्यादि)। तु० आदित्यो वा अर्कः। शब्रा १०. ६. २. ६; अयं वा अग्निरर्कः शब्रा ८. ६. २. १९; आपो वा अर्कः। शब्रा १०. ६. ५. २. प्राणो वा अर्कः। शब्रा १०. ४. १. २३।

अर्गल—शांआ (२. १६) में द्वार की काष्ठीय अर्गला के लिए इस शब्द का प्रयोग मिलता है। "अर्गलेषी में" यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। तु०—**इषीका**।

अर्गल काहोडि—कासं (२५. ७) में एक गुरु के रूप में अर्गल काहोडि का उल्लेख मिलता है। यह नाम अर्यल हो सकता है, जैसा कि वोबू और फान् श्रोडर द्वारा संपादित संस्करण में मिलता है। कापिष्ठल संहिता में अर्यल शब्द है।

[1] पिशल, वैस्तू १. १७४, ब्लूमफील्ड, त्सादामौगे ४८. ५७४।

[2] तु०—अवे ४. १२ पर ह्विटनी की टिप्पणी, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद।

अर्चनानस्—ऋवे (५. ६४. ७) में मित्र और वरुण से अर्चनानस् की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

अर्चन्त्—संभवतः लुड्विग के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त (१०. १४९. ५) के ऋषि का यह नाम हैं, किंतु यह शब्द केवल "प्रशंसा करते हुए" के अर्थ में व्यवहृत माना जा सकता हैं[1]। अवे (१८. ३. १५) में श्यावाश्व एवं अन्य पूर्वजों के साथ इनको भी आहूत किया गया है। पंब्रा (८. ५. ९) में वे श्यावाश्व के पिता प्रतीत होते हैं। अपने पुत्र के विवाह में उनके भाग लेने का उल्लेख मिलता है। जीग ने इस कथा के स्रोत को ऋवे में ढूंढ़ा है[2]।

अर्चा—द्र०—ब्राह्मण।

अर्जुन—अवे (२. ८. ३) में अर्जुन शब्द आया है। भाष्यकार ने इसे एक वृक्ष माना है। किंतु ह्विटनी[3] ने अर्जुन का अर्थ श्वेत किया है। 'द्र० अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम' शब्रा० ५. ४. ३. ७.

अर्जुनी—ऋवे (१०. ८५. १३) में यह एक नक्षत्र का नाम है। अवे (१४. १. १३) में इसे फल्गुनी कहा गया है। अघा (जो मघा का रूपान्तर है) के साथ विवाह-सूक्त में यह शब्द थोड़े रूपान्तर के साथ आता है (तु शब्रा, २. १. ११. २)।

अर्ण—ऋवे (४. ३०. १८) में अर्ण एक आर्य राजा का नाम है; चित्ररथ के साथ इन्द्र ने इनका भी वध किया था।

अर्णव—वैदिक साहित्य में और उसके पश्चात् भी यह शब्द समुद्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (द्र० ऋ० १. ५५. २; ३. २२. २; शब्रा, ७. १. ८३, तैआ ४. ४२)। दे० प्राणो वा अर्णवः शब्रा० ७. ५. २. ५१·

१—अर्बुद—यह एक ग्रावस्तुत् ऋत्विज् का नाम है (पंविंब्रा० २५. १५ नागोत्सव)। संभवतः मन्त्रकृत् अर्बुद काद्रवेय (ऐब्रा ६. १; कौब्रा २९. १; तु० शब्रा, १३. ४. ३. ९) से वे अभिन्न हैं।

२-अर्बुद—यह एक संख्या है। तु०—दशन्।

३-अर्बुद—ऋवे (१. ५१. ६) में अर्बुद एक असुर का नाम है, जिसका वध इन्द्र ने किया था। ऋवे (२. ११. २०; २. १४. ४; ८. ३२. २६) में भी अर्बुद शब्द इन्द्र द्वारा मारे गये व्यक्ति को बताता है; किंतु दोनों शब्दों के स्वर में भेद है। (प्रथम अर्बुद में उदात्त द पर है; जब कि दूसरे अर्बुद में उदात्त अ पर है)। अन्य स्थलों पर अर्थ अर्बु या अंबु को देने वाला मेघ हो सकता है:, अथवा इससे भी असुर ही उद्दिष्ट माना जा सकता है। द्र० 'वाग् वा अर्बुदम्' तैब्रा० ३. ८. १६. ३.

अर्भक, अर्भा—वैदिक साहित्य में अर्भक (ऋ० १. २७. १३) बालक को और अर्भा (ऋ० १. ५१. १३) बालिका को उद्दिष्ट करता है।

१. अर्म, अर्मक—वासं (३०. ११) में पुरुषमेध की बलियों की सूची में हस्तिप अर्म को समर्पित किया गया है। ग्रिफिथ ने इसका अर्थ चक्षू-रोग दिया है[1]। महीधर ने कोई अर्थ नहीं दिया है। परवर्ती आयुर्वेदिक साहित्य में यह शब्द नेत्र-रोग के अर्थ में ही आया है, किंतु ऋग्वेद (१. १३३. ३) में अर्मक शब्द को वेंकट माधव ने हिंसक अर्थ में और सायण ने अरमणीय या कुत्सित स्थान के अर्थ में ग्रहण किया है[2]।

२. अर्म—लाश्रौसू (१०. १९. ५–१५ में यह दृषद्वती का उद्‌गम प्रतीत होता है। (द्र० वेदधरातल)।

अर्य—प्राचीन साहित्य में यह शब्द इस रूप में कम आता था किंतु कुछ समासों में आता था। गेल्डनर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह "आर्य" के ही अर्थ में आया है[3]। राथ[4] और त्सिमर[5] ने भी वासं के कुछ स्थलों (१४. ३०; २०. १७; २३. २१; २६. २) पर इसका वही अर्थ माना है (तु०—कासं, ३८. ५; तैसं ७. ४. १९. ३)। अवे (१९. ३२. ८) में भी ऐसा ही एक रूप आता है। वह ब्राह्मण, राजन्य और शूद्र की तुलना में आया है, वहाँ भी ह्विटनी ने इस शब्द का अर्थ आर्य ही ग्रहण किया है (तु०—अवे, १९. ६२. १, ऋ० ८. ९४. ३)[6] किंतु यह अर्थ समस्त पद अर्य-पत्नी के लिए ठीक है या नहीं—यह विवाद-ग्रस्त है (ऋ० ७. ६. ५, १०. ४३. ८)। अर्य-पत्नी शब्द इन्द्र द्वारा मुक्त किये गये जलों के लिए आया है। महीधर (वासं २२. ३० पर भाष्य) का मत है कि इसका अर्थ आर्य नहीं,

[1] द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३३।

[2] दी ज़ा ऋ०, ५०, तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १२७; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ३५४।

[3] ट्रां० अवे, १. ४९।

[1] द्र०—दि टेक्स्ट आफ दि ह्वाइट यजुर्वेद, पृ० ३०५।

[2] द्र०—लक्ष्मण स्वरूप, ऋगर्थदीपिका, २. पृ० ९७।

[3] वैस्तू ३. ९६।

[4] वोबू।

[5] आले २१४, २१५।

[6] पिशल, त्सादामौगे० ४०. १२५.।

वैश्य है[१]। वासं (२३. ३०) की व्याख्या में शब्रा (१३. २. ९. ८) में यह अर्थ दिया गया है (तु०–शांश्रौसू० १६. ४. ४)[१] यद्यपि अर्य शब्द का अर्थ बाद में वैश्य हो गया, किंतु यह स्पष्ट नहीं कि क्या प्रारंभ में भी इसका यही अर्थ था।

अर्यमन्—अर्यमन् एक वैदिक देवता हैं। इनकी गणना आदित्यों में की गई है (ऋ० २. २७. १; तैब्रा; १. १. ९. १ आदि)। प्रायः उनका उल्लेख अन्य देवों, विशेषतः मित्र और वरुण के साथ हुआ है। ऋवे (१. २६. ४) में मित्र, वरुण और अर्यमा का एक साथ उल्लेख हुआ है। (तु० १०. ११७. ६; अवे, ३. ५. ५; तैब्रा, ३. १. १. ९; शब्रा, ५. ३. १. २ आदि; द्र०–मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, पृ० ४३, ४५)।

अर्यम्णः पन्था—"अर्यमा का मार्ग"। यह प्रयोग ब्राह्मणों में प्रायः आया है (तैब्रा, १. ७. ६. ६; पंविब्रा० २५. १२. ३; शब्रा, ५. ३. १. २)। वेबर के अनुसार इसका अर्थ दुग्धपथ है[२]। हिल्लेब्रांड्ट के अनुसार इसका अर्थ सूर्य-पथ या क्रान्ति-कक्ष है[३]।

अर्यल—पंब्रा (२३. १. ५) में गृहपति के रूप में इनका उल्लेख है। जिस नागोत्सव के प्रसङ्ग में इनका उल्लेख है, उसमें होता आरुणि थे। द्र०–**अर्गल** भी।

अर्वन्त्—द्र०–**अश्व**। तु० 'यच्छ्वयदरुरासीत् तस्मादर्वा नाम' तैब्रा० ३. ९. २१. २.

अर्वाग्वसु—द्र० 'अर्वाग्वसुर्ह वै देवानां ब्रह्मा पराग्व-सुरसुराणाम्' गो० उ. १. १.

अर्वावसु—द्र० 'अर्वावसुर्ह वै देवानां ब्रह्मा' कौ० ६. १३ शब्रा० १. ५. १. २४.

अर्शस्—वासं (१२. ९८) में एक रोग का नाम अर्शस् है। इसका उल्लेख क्षुद्र रोग और क्षय रोग के साथ हुआ है। वर्तमान चिकित्सा-साहित्य में संभवतः यह हिमोराइड्स (Haemorrhoids) है। (तु०–त्सिमर, आले, ३९८; राथ–वोबू)।

अलज—अलज कोई पक्षी प्रतीत होता है; अश्वमेध के अवसर पर इसकी भी बलि दी जाती थी (तैसं ५. ५. ११. १; ५. ५. २०. १; मैसं ३. १४. १८; कासं २१ ४; वासं, २४. ३४)।

[१] लुडविग् ट्रा० ऋ०, ३. २१२; वेबर इस्टू०, १०. ६; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटेन १. १२६, ३६३।

[२] ऊबर डेन राजसूय, ४८, २।

[३] वेदिश्शे मिथोलगी, ३. ७९, ८०।

अलजि—अथर्ववेद में एक रोग का नाम अलजि है। बाद में यह एक प्रकार का नेत्र-रोग बन गया है, जिसमें आंख से आस्राव निकलता है—(अवे ९. ८. २०; तु–त्सिमर, आले, ३९०; वोबू०)।

अलम्म पारिजात—पंब्रा (१३. ४. ११; =अलं मे १३. १०. ८) में अलम्म पारिजात का उल्लेख एक ऋषि के रूप में हुआ है।

अलसाला—अवे (६. १६. ४) में केवल एक बार यह शब्द आता है, और किसी सस्य-वल्ली या मंजरी का व्यापक है।

अलाण्डु—अवे (२. ३१. २) में यह किसी कृमि का विशेषण है। ब्लूमफील्ड[१] के मत में अलगण्डु ठीक पाठ है।

अलापु—द्र०–**अलाबु**।

अलाबु—अलाबु तुम्बी को कहते हैं। यह तुम्बी तितलौकी या लौकी के सूखे खोल की होती है। अवे में इससे बने पात्रों का उल्लेख है (अवे, ८. १०. २९, ३०; २०. १३२. १, २; तु० अलापु, मैसं, ४. २. १३)।

अलाय्य—अलाय्य ऋवे के एक दुरूह स्थल (९. ६. ७. २०) पर एक व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है। हिल्लेब्रांड्ट ऐसा नहीं मानते; वे पाठ में भी संशोधन करना चाहते हैं[२]। वोबू में इसे इन्द्र का नाम माना गया है। पिशल की धारणा है कि यह शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसकी कुल्हाड़ी खो गई थी और जिसकी प्राप्ति के लिए उस सूक्त में मन्त्र है[३]।

अलिक्लव—अवे में यह शब्द एक अमेध्य पक्षी का नाम है। (अवे ११. २. २; ११. ९. ९; तु० त्सिमर, आले८८)।

अलिन—ऋवे (७. १८. ७) में एक बार किसी जाति का नाम बनकर आया प्रतीत होता है। राथ के मत से ये तृत्सुओं के सहायक या उनके ही एक अंग थे[४]। लुड्विग के विचार में ये सुदास् द्वारा **पक्थों, भलानसों, शिवों,** और **विषाणिनों** के साथ पराजित किये गये थे[५]। इन्हीं लोगों के साथ परुष्णी नदी के तट पर इनका उल्लेख मिलता है। त्सिमर[६] का सुझाव है कि ये लोग काफिरिस्तान के उत्तर-पूर्व में रहते थे।

[१] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३१५।

[२] त्सादामौगे०, ४८. ४१८।

[३] त्सादामोगे०, ४८, ७०१।

[४] त्सुर लितरात्यूर, ९५; त्सिमर, आले, १२६।

[५] ट्रां० ऋ० ३. २०७। [६] आले ४३१, इस प्रदेश का उल्लेख युवन च्वांग ने किया है।

अलीकयु वाचस्पत्य—कौब्रा (२६. ५; २८. ४) में अलीकयु वाचस्पत्य दो बार प्रामाणिक अधिकारी के रूप में उल्लिखित है।

अलाण्डु—द्र० अलाण्डु।

अल्पशयु—अवे (४. ३६. ९) में अल्पशयु कृमि-विशेष का नाम है। (तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४०८; ह्विटनी, ट्रां० अवे, २१०)।

अवका—अवका जल में उत्पन्न होने वाला एक पौधा है (ब्लिक्सा आक्टेण्ड्रा)। अवे (८. ७. ९; ८. ३७. ८–१०), तैसं (४. ६. १. १; ५. ४. २. १; ५. ४. ४. ३), वासं (१७. ४; २५. १) और मैसं (२. १०. १) में इसका उल्लेख आया है। शब्रा (७. ५. १. ११; ८. ३. २. ५; ९. १. २. २०, १३. ८. ३. १३) में भी यह शब्द मिलता है। अवे (४.३७.८) में ऐसा कहा गया है कि गंधर्व इसे खाते हैं। इसका बाद का नाम शैवल है, जो शियाल या सियाल से अभिन्न है (द्र०—आश्रौसू०, २. ८. ४. ४)। 'अथ (आपः) यदब्रुवन्नवाङ नः कमगादिति ता अवाक्का अभवन्नवाक्का ह वै ता अवकाः' श० ९. १. २. २२ तु०—ब्लूमफील्ड, प्रोअओसो, अक्तूबर, १८९०, ४१–४३; अजफि० ११. ३४९; त्सिमर, आले ७१।

अवत—अवत शब्द कूप के अर्थ में ऋवे में अनेकशः आता है (१. ५५. ८८; १. ८५. १०, ११; १. ११६. ९, २२; १. १३०. २; ४. १७. १६; ४. ५०. ३; ८. ४९. ६; ८. ६२. ६; ८. ७२. १०; १२; १०. २५. ४; १०. १०१. ५, ७; तु०—निरुक्त, ५. २६)। यह उत्स के विपरीत कृत्रिम रूप से खोदा जाता था। उत्स शब्द का प्रयोग भी कृत्रिम कूप के लिए हुआ है। ये कूप निर्माता द्वारा आच्छन्न कर दिये जाते थे, और उन्हें अक्षित तथा जलपूर्ण कोश कहा जाता था (ऋ०१.५५.८; १०. १०१. ६ आदि)। जल एक चक्र (घिरड़ी) द्वारा ऊपर खींचा जाता था, जिसमें वरत्रा या चर्मरज्जु बांधी जाती थी, और उसमें एक कोश (डोल) बांध दिया जाता था। ऋ० (१०. १०१. ७) के अंसत्र कोश की व्याख्या इस प्रकार ठीक हो जाती है। अश्मचक्र और उच्चाचक्र के लिए द्र०—१०. १०१. ७; ८. ७२. १०; वरत्रा, ऋ० १०. १०१. ६; संभवतः ऋवे १०. १११. २ में "कूचक्र" उपर्युक्त चक्र का ही एक नाम है;[1] ऊपर खींचने के वाद जल को लकड़ी के आहाव, द्रोणी या नांद में गिराया जाता था (ऋ० १०. १०१. ६, ७)। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंचाई के लिए भी इन कूपों का प्रयोग होता था। जल चौड़ी नालियों (बरहों) द्वारा खेत में ले जाया जाता था। इन नालियों का नाम **सूर्मि सूषिरा** मिलता है ऋ० ८. ६९. १२; तु०—त्सिमर, आले, १५६, १५७; गेल्डनर, वैस्टू २. १४)।

[1] किंतु तु०—वोबू।

अवतोका—द्र०—पति-पत्नी।

अवत्सार—ऋवे (५. ५४. १०) में अवत्सार को एक ऋषि कहा गया है। ऐब्रा (२. २४) में उन्हें एक पुरोहित कहा गया है। कौब्रा (१३. ३) में उन्हें प्रस्रवण का पुत्र प्रास्रवण (या प्राश्रवण) कहा गया है। अनुक्रमणी में गलती से ऋवे का एक सूक्त (९. ५८) उनके नाम पर मढ़ दिया गया है। (तु० लुड्विग, ३. १३८; वेबर इस्टू १. ८८८; २. ३१५; जीग, दी जा, ६२)।

अवदान—होतव्य द्रव्य। तु० 'अथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद् यत् किं चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम' शब्रा० १. ७. २. ६.

अवध्यता—द्र० ब्राह्मण।

अवस—विशेषण "अन्-अवस" के रूप में ऋवे (६. ६६. ७) में यह शब्द आकर्षणी या रथ का अर्थ देने वाला हो सकता है। (तु० मैक्समूलर, सेबुई, ३२. ३७२)।

अवस्—द्र०—पति-पत्नी।

अवस्कव—अन्य कृमियों के साथ अवस्कव का भी एक कृमि के रूप में उल्लेख अवे (२. ३१. ४) में मिलता है। तु०—ह्विटनी, अवे २. ३१. ४. का अनुवाद; त्सिमर आले ९०; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३१६।

अवात—द्र०—वात।

अवि—"भेड़"। अज के साथ अवि का प्रयोग ऋवे में और बाद में भी आम है। वृक उनका बहुत बड़ा शत्रु था (अवे ५. ८. ४; ऋ० ८. ३४. ३; ८. ६६. ८)। अविपाल या गड़रिया उनकी देखभाल करता था (वासं, ३०. ११; शब्रा, ४. १. ५. २; तैब्रा, ३. ४. ९. १ अविप)। अवि और गौ शत्रुओं से छीन लिए जाते थे (ऋ० ८. ८६. २)। सोम छानने की चलनी अवि की ऊन से बनाई जाती थी, और अनेकशः "अवि", "मेषी", "अव्य" और "अव्यय" के रूप में उसका उल्लेख हुआ है (ऋ० ९. १०९. १६; ९. ३६. ४ आदि)[1]। भेड़ों के वड़े-बड़े रेवड़ होते थे। ऋज्राश्व द्वारा एक सौ मेष मारने का उल्लेख ऋवे

[1] द्र०— हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, १. १०३।

(१. १९६. १७) में मिलता है। दानस्तुति (ऋ० ८. ६७. २) में सौ भेड़ों के दान का उल्लेख है। मेष या वृष्णि को कभी-कभी छिन्नमुष्क या बधिया कर दिया जाता था (पेत्व; ऋ० १. ४३. ६; १. ११६. १६; तैसं २. ७. ४; ऋ० ७. १८. १०. अवे, ४ ४. ८; तैसं, ५. ५. २२. १; वासं, २९. ५८. ५९)। अविपालन का मुख्य उद्देश्य ऊन था; अवि के लिए ऊर्णावती शब्द का प्रयोग हुआ है (ऋ० ८. ६७. ३; तु०–१०. ७५. ८; एवं उरा, १०. ९५. ३)। वासं (१३. ५०) में मेष को ऊर्णमय तथा "चतुष्पदों एवं द्विपदों का चर्म" कहा गया है, क्योंकि उसकी ऊन से मनुष्यों के गर्म कपड़े बनते थे और वही ऊन पशुओं के बाड़े में भी काम में आती थी। ऋवे (१०. २६. ६) में पूषन् के अवि-ऊर्ण से वस्त्र बुनने का उल्लेख मिलता है। साधारणतः भेड़ें चरागाह में रहती थीं। ऋवे के एक दुरूह स्थल (१०. १०६. ५) पर भेड़ों के बाड़े में रहने का उल्लेख मिलता है। गांधारदेशीय एडकाएं (भेड़ें) ऊन के लिए प्रसिद्ध थीं। पिशल[1] के अनुसार परुष्णी नाम (ऋ० ४. २२. २; ५. ५२. ९) वहां भेड़ों की अधिकता के कारण पड़ा है; "परुष" भेड़ों के झुण्ड की ओर संकेत करता है (ऋ० ९. १५. ६; पर्वन्, ४. २२. २)[2]। तु० 'इयं पृथिवी वा अविः इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति' शब्रा. ६. १. २. ३३)।

अशनि—त्सिमर[3] इस शब्द को ऋवे (६. ६. ५; तु० १. १२१. ९) में प्रस्तर-क्षेपणी (गोफिया) से फेंके जाने वाले प्रस्तर के अर्थ में लेते हैं; और अद्रि (ऋ० १. ५१. ३) से इसकी तुलना करते हैं। दोनों ही पक्षों में इनका प्रयोग इन्द्र के कार्यों के प्रसंग में हुआ है। श्रोडर अशन् को भी इसी अर्थ में मानते हैं, किंतु किसी भी वैदिक पाठ के लिए इस अर्थ की अपेक्षा नहीं है।[4] तु० 'मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन्। साशनिरभवत्' तैब्रा० १. १. ३. १२।

अशिमिद्—वात। तु० 'अयं वा अवस्युरशिमिदो योऽयं (वातः) पवते' शब्रा० १४. २. २. ५।

अशीति—अन्न। 'अन्नमशीतिः' शब्रा० ८. ५. २. १७।

अशुष—ऋवे (२. १४. ६) में एवं अन्यत्र यह एक असुर का नाम है।

[1] वैस्तु २. ११०।

[2] तु०–त्सिमर, आले, २२९, २३०; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन १. ३४८।

[3] आले, ३०१।

[4] द्र० प्रि० हिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, २२१।

अश्मा—आदित्य; तु० 'असौ वादित्योऽश्मा पृश्निः' शब्रा० ९. २. ३. १४; 'अथ यदश्रु संरक्षितमासीत् सोऽश्मा पृश्निरभवत् अश्रुर्हं वै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ६. १. २. ३।

अश्मगन्धा—"अश्म (प्रस्तर या चट्टान) की गन्धवाला"। यह शब्द शब्रा (१३. ८. १. १६) में आया है। संभवतः यह परवर्ती "अश्वगन्धा" शब्द का पर्याय हो। असगन्ध = फिसेलिस फ्लेम्सुओसा। (द्र० एगलिंग की टिप्पणी, सेबुई, ४४. ४२७)।

अश्व—घोड़े के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में आम है। उसे अत्य (दौड़ने वाला), अर्वा (तेज) वाजी (शक्तियुक्त), सप्ति (दौड़ने वाला) और हय (गतिमान्) भी कहा गया है। घोड़ी के अश्वा, अत्या, अर्वती, वडवा आदि नाम आये हैं। अश्व कई रंग के कहे गये हैं: जैसे हरित, हरि, अरुण, अरुष, पिशङ्ग, रोहित, श्वेत। अवे (५. १७. १५) में श्याम कर्ण वाले श्वेत अश्व को विशेष मूल्यवान् कहा गया है। घोड़ों को बड़े-बड़े पुरस्कार दिये जाते थे (द्र०–ऋ० १. ८३. १; ४. ३२. १७; ५. ४. ११; ८. ७८. २ आदि)। अश्व विरल नहीं थे, जैसा कि राथ ने माना है[1]; क्योंकि एक दानस्तुति में चार सौ घोड़ियों का उल्लेख मिलता है। विशेष अवसरों पर उन्हें स्वर्ण और मोतियों से सजाया जाता था (ऋ० ८. ५५. ३; तु०–५. ३३. ८, ६. ४. ७, २२–२४; ६. ६३. १०; ८. ६. ४७; ८. ४६. २२)[2]। द्र० 'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत् परापतत्। ततोऽश्वः समभवत्। यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वम्' शब्रा० १३. ३. १. १. तां० २१. ४. २; तै० १. १. ५. ४. 'अथ यदश्रु संरक्षितमासात् सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्हं वै तमश्व इत्याचक्षते' शब्रा० ६. १. १. ११।

वडवाओं को रथ में जोतना अधिक ठीक समझा जाता था, क्योंकि वे तेज-तर्रार और ठंडे मिजाज की होती थीं[3]। वे गाड़ी में जुतती थीं, किंतु इस काम में साधारणतया उन्हें नहीं लगाया जाता था (शब्रा ५. ५. ४. ३५)। युद्ध में वडवा पर सवार होकर जाने का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु अन्य कार्यों में उनकी सवारी लोक-प्रिय थी। (तु. ऋ० ५. ६१. १–३, वासं ३०. १३;

[1] त्सादामौगे ३५. ६. ८६।

[2] हापकिन्स, अजफि० १५. १५७; ऋ० १०. ६८. ११।

[3] पिशल, त्सादामौगे० ३५. ७१२–७१४; वैस्तु, १. ९०. ३०५; तु०–रथो वधूमान् ऋ० १. १२६. ३; ७. १८. २२; वाजिनीवान् ७. ६९. १।

तैब्रा, ३. ४. ७. १; ऋ० १. १६२. १७; १. १६३. ९. अवे ११. १०. २४)[१]।

अश्व प्रायः घुड़सालों में बाँधे जाते थे। वहीं उन्हें रातब दिया जाता था (द्र० अश्वपस्त्य=अश्वों से भरा, सा. व्याप्तगृहम् ऋ० ९. ८६. ११; अवे,६. ७७. १; १९. ५५. १); किंतु घोड़ों को बाहर चरने के लिए भी छोड़ा जाता था[२]। उनके पैरों को छान दिया जाता था। यही भाव "पड्बीश" में आता है (ऋ० १. १६२. १४, १६; बृ उ, ६. २. १३; छाउ, ५. १. १२; शांआ ९. ७)।[३] घुड़दौड़ के बाद उन्हें ठंडा किया जाता था (ऋ० २. १३. ५; ३. ४. ३; मैसं १. ११. ६)[४]। अश्व रखने वालों के कई नाम आये हैं, जैसे अश्वपाल (शांश्रौसू १६. ४. ५); अश्वप (वासं ३०. ११; तैब्रा, ३. ४. ९. १); अश्वपति (वासं १६. २४; कासं, १७. १३)। सवृष्ण अश्व को कभी-कभी बधिया (वध्रि ऋ० ८. ४६. ३०) कर दिया जाता था। रश्मि, अश्वाभिधानी (अश्वप्रग्रह) और अश्वाजनी (कोड़ा) का उल्लेख मिलता है (अवे, ४. ३६. १०; ५. १४. ६; ऐब्रा, ६. ३५; शब्रा, ६. ३. १. २६; १३. १. २. १; अश्वाजनी, ऋ० ५. ६२. ७; ६. ७५. १३; वासं २९. ५०)। द्र०–**रथ**। सिन्धु प्रदेश (=सिन्ध) के अश्व महार्घ होते थे (बृउ, ६. २. १३; शाआ, ९. ७)। ऋवे (१०. ७५. ८) में सिन्धु के विशेषण के रूप में वाजिनीवती शब्द का प्रयोग मिलता है। सरस्वती-प्रदेश के अश्वों को भी मूल्यवान् कहा गया है (ऋ० १. ३. १०; २. ४१. १८; ६ ६१. ३, ४; ७. ९६. ३)[५]। अश्व=वीर्य, शब्रा० २. १.४. २३–२४; = क्षत्र, शब्रा० १३. २. २. १५; =यजमान, तै० ३. ९. १७. ४, ५.=वज्र, श० १३. १. २. ९; =इन्द्र, कौ० १५. ४.=आदित्य, शब्रा० ३. ३. २. ५ इत्यादि।

अश्वगन्धा द्र०–**अश्मगन्धा**।

अश्वतर-अश्वतरी—अश्वतर और अश्वतरी शब्द खच्चर के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप में व्यवहृत हुए हैं। अवे (४. ४. ८; ८.८. २२), ऐब्रा (३. ४७; ४. ९), शब्रा (१२. ४. १. १०), जैउब्रा (१. ४. ४) आदि में इन पशुओं का उल्लेख मिलता है। वे भरोसे के नहीं माने जाते थे (तैसं, ७. १. १. २–३; तु० अद्भुत ब्राह्मण[१]) और अश्व से हेठे गिने जाते थे (जैसे कि गधे, तैसं, ५. १. २. २; शब्रा, ६. ४. ४. ७) किंतु अश्वतर का रथ में प्रयोग सामान्य था (ऐब्रा, ४. ९; छाउ, ४. २. १ दोनों ही स्थलों पर अश्वतरी[२]–रथ)।

१. अश्वत्थ—('अश्व के ठहरने का स्थान')। भारतवर्ष के सबसे महान् वृक्षों में से एक अश्वत्थ (फिकस रिलिजिओसा) है, जिसे बाद में पिप्पल या पीपल कहा गया है। ऋवे (१. १३५. ८; १०. ९७. ५) में अश्वत्थ से बने पात्रों का उल्लेख है। पिप्पल शब्द ऋवे में केवल एक बार (१. १६४. २०) आया है, जहाँ वह अपने छोटे फल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती काल में अश्वत्थ वृक्ष का उल्लेख आम रहा है (अवे ३. ६. १; ४. ३७. ४ इत्यादि)। इसकी कठोर लकड़ी के दो टुकड़े अग्नि जलाने के समय शमी की लकड़ी के ऊपर प्रयुक्त होते थे (अवे, ६. ११. १; शब्रा, ११. ५. १. १३)। यह वृक्ष अन्य वृक्षों, विशेषतः खदिर पर भी पैदा हो जाता है, और उन वृक्षों को नष्ट कर देता है (अवे ३. ६); इसीलिए इसका नाम 'वैबाध' पड़ा है। इसके छोटे फलों को मीठा कहा गया है। पक्षी उन्हें खाते थे (ऋ० १. १६४. २०, २२) ऐसा कहा गया है कि देव उसके नीचे तृतीय स्वर्ग में बैठते हैं (अवे, ५. ४. ३; छाउ, ८. ५. ३; कौउ १. ३)। इसे और **न्यग्रोध** को शिखण्डिन् कहा गया है (अवे ४. ३७. ४,)। तु० 'तेजसो वा एष वनस्पतिरजायत यदश्वत्थः' ऐ० ७. ३२. 'प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्' नै० ३. ८. १२. २, शब्रा० १२. ७. १. ९. (तु० त्सिमर, आले, ५७. ५८)।

२. अश्वत्थ—एक दान-स्तुति (ऋ ६. ४७. २४) में इस राजा का नाम पायु को दान देने वाले व्यक्ति के रूप में आता हैं। ग्रिफिथ[३] उसे **दिवोदास्** से अभिन्न मानते हैं, किंतु यह अभिन्नता पक्की नहीं है।

अश्वदावन्—लुड्विग ने[४] ऋवे (५. १८. ३) में अश्वदावन् नामक एक राजा का उल्लेख माना है। वहाँ पचास अश्वों के दान का कथन है; किंतु यह शब्द इन्द्र का विशेषण प्रतीत होता है, जिसका (अर्थ है अश्वों का दान देने वाला)।

---

[१] तु०–हापकिन्स, जअओसो० १३. २६२; लुड्विग, ट्रांस० ऋ० ३. २२१।

[२] तु०–त्सिमर, आले, २३२।

[३] तु० पिशल, वैस्टू १. २३४–२३६।

[४] पिशल, वैस्टू १. १९. १९०।

[५] पिशल, वैस्टू १. १०। तु०–त्सिमर, उपर्युक्त २३०–२३२।

[१] इस्टू १. ४०।

[२] तु० अर्ट्ल, ट्रांजैक्शन्स आफ दि कनक्टिकुट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५ १७५)।

[३] हिम्स आफ दि ऋग्वेद १. ६११।

[४] ट्रां० ऋ०, ३. २७४.

अश्वप—द्र०—अश्व ।

अश्वपति कैकय—अश्वपति केकयों के एक राजा का नाम है, जिन्होंने प्राचीनशाल और अन्य ब्राह्मणों को शिक्षा दी थी (छाउ ५. ११. ४; शब्रा, १०. ६. ६२) ।

अश्वपाल—द्र०—अश्व ।

१. **अश्वमेध**—वैदिक यज्ञों में अश्वमेध प्रधान यज्ञ है। इसे सार्वभौम राजा ही कर सकता था। तैब्रा (३. ८. ९. ४) के अनुसार जो असमर्थ होने पर भी इसे करता था, उसे हटा दिया जाता था। शब्रा के १३ वें काण्ड में इसका रोचक वर्णन है। यह एक वर्ष में समाप्त होता था। इसमें एक अश्व छोड़ा जाता था, जो सर्वत्र घूमता था, उसके पीछे सेना रहती थी; यदि कोई अश्व को पकड़ ले तो उसे पराजित करके अश्व लेना पड़ता था। इस बीच राजधानी में यज्ञोपाख्यानादि चलते रहते थे। वर्ष के अन्त में जब अश्व लौट आता था तब उसकी बलि दी जाती थी। अश्व के साथ और भी लगभग ३०० पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्वमेध = आदित्य, शब्रा० ९. ४. २. १८, १३. ५. १. ५, १०. ६. ५. ८; = चन्द्रमा, शब्रा० ११. २. ५. १; = राष्ट्र, शब्रा० १३. २. १. १६; = यजमान, शब्रा० १३. २. २. १। (इस संबन्ध में विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, कीथ, वेद आफ ब्लैक यजुष् स्कूल, भूमिका का पृष्ठ १३२; एगलिंग, सेबुई शब्रा १३ वें काण्ड का अनुवाद) ।

२. **अश्वमेध**—ऋवे (५. २७. ४-६) में एक राजा का नाम अश्वमेध है। वह सूक्त त्र्यरुण की दान-स्तुति का है। उसमें तीन ऋचाएं अश्वमेध को प्रशंसा में भी हैं। द्र० अश्वमेध। (तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. २७५) ।

अश्वयुजौ—द्र०—नक्षत्र। तु० 'आश्वनोरश्वयुजौ' तैब्रा० १.५.१.५ ।

अश्वल—विदेह-राज जनक के होतृ-पुरोहित अश्वल बृउ (३. १. २, १०) में एक प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में आये हैं।

अश्ववार, अश्ववाल—('अश्व का बाल')। अश्वार शब्द मैसं (३. ७. ९) में और अश्ववाल शब्द कासं (२४. ८), कापिसं (३८. १) में नरकट (सच्चरुमस्पान्टेन्युम) के अर्थ में आया है। ऋवे (१. ३२. १२) में 'अश्व्यो वार:' द्रष्टव्य है। तु० 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। सोऽश्वो भूत्वा पराङावर्वर्त तस्य देवा अनुहाय वालानभिपेदुस्तानालुलुपुस्तानालुप्य सार्धं संन्यासुस्तत एता ओषधय: समभवन् यदश्ववाला:' शब्रा ३.४.१.१७ ।

अश्वसादिन्—द्र०—अश्व ।

[1] तु० व्रान श्रोडर द्वारा संपादित मैसं १, पृ० १५ ।

अश्वसूक्ति—ऋगवेद-अनुक्रमणी के अनुसार अश्वसूक्त एक ऋषि का नाम है, और वे ऋवे के दो सूक्तों (८. १४, १५) के द्रष्टा हैं। पंब्रा (१९. ४. १०) में अश्वसूक्ति के एक साम का उल्लेख है। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे० ४२. २३० टि० ४।

अश्वाजनि—द्र०—अश्व और रथ।

अश्वाभिधानी—द्र०—अश्व ।

१—**अश्विनी**—द्र०—नक्षत्र ।

२—**अश्विनी**—ऋवे (५. ४६. ८) में अश्विनों की पत्नी का नाम अश्विनी आया है। (तु०—मैकडोनल, वैदिक माईथोलजी, पृ० ५१. १२८) ।

अश्विनौ—सर्वदा द्विवचन में उल्लिखित ये देव ऋवे में अत्यन्त महत्त्वशाली हैं। वे युवा हैं (ऋ० ७. ६७. १०); साथ ही वे प्राचीन हैं (ऋ० ७. ६२. ५)। वे देवताओं के भिषक् हैं (ऐब्रा० १. १८, कौ० १८. १) नासत्य (असत्यरहित) और दस्र (विचित्र कार्य करने वाले) उनके प्रमुख विशेषण हैं। उनके रथ में रासभ जुड़ते है (ऐ० ४. ९. कौ० १८. १) उनके अनेक कृपापात्रों का उल्लेख है। उनसे संबद्ध अनेक पुराकथाएं हैं। तु० 'इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्' शब्रा० ४. १. ५. १६; अश्विन् = श्रोत्र, शब्रा० १२. ९. १. १३. = नासिके, शब्रा० १२. ९. १. १४. = अध्वर्यू, ऐ १. १८.। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, मैकडोनल, वैदिक माइथोलजी, पृ० ४९—५४।

अषाढ कैशिन्—कासं के एक अशुद्ध एवं दुरूह संदर्भ में आषाढ केशिन् का नाम कुन्तियों द्वारा पञ्चालों की पराजय के प्रसंग में आया है (कासं, २६. ९; कपिसं ४१. ७)। द्र०—वेबर, इस्टू ३. ४७१।

अषाढ उत्तर पाराशर्य—जैउब्रा के एक वंश-विवरण में अषाढ उत्तर पाराशर्य का उल्लेख एक आचार्य के रूप में मिलता है (जैउब्रा, ३. ४१. १)।

अषाढा—द्र०—नक्षत्र। तु० अषाढा = सर्वे प्राणा: शब्रा० ७. ४. २. ३६; = ग्रीवा, ७. ५. १. ३५; = पृथिवी ६. ५. ३. १; = वाक्, ७. ४. २. ३४।

अषाढि सौश्रोमतेय—शब्रा० (६. २. १. ३७) में आता है कि अषाढि सौश्रोमतेय अग्निवेदिका की ईंटों से संबद्ध यज्ञ के शीर्ष को अनुचित रूप में प्राप्त करने के कारण मर गया था।

अष्टक—ऐतरेय ब्राह्मण (७. १७) के अनुसार विश्वामित्र के एकपुत्र अष्टक का उल्लेख मिलता है। तु० शा० श्रौ० सू० १५. २६।

अष्टकर्णी—ऋ० (१०. ६२. ७) में यह शब्द आया है। राथ ने सर्वप्रथम उसे व्यक्तिवाचक नाम माना[1] था। ग्रासमान का सुझाव है कि इस शब्द का प्रयोग मनुष्य के लिए नहीं अपितु गौ के लिए हुआ है। यह मत ठीक प्रतीत होता है। गौ को इस नाम से बुलाने का वास्तविक कारण क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। राथ का बाद का विचार यह है कि इस शब्द का अर्थ "छिन्न-भिन्न कर्ण वाला" है; क्योंकि पाणिनि के समय में इस प्रकार के विशेषण (भिन्न-कर्ण और छिन्न-कर्ण) मिलते हैं (पा० ६. ३. ११५)। ग्रासमान इसका अर्थ 'आठ के चिह्न से युक्त कर्ण वाला" करते हैं। इस कथन का समर्थन 'कर्करिकर्ण्यः' (वंशी-चिह्नयुक्त कर्ण वाली), दात्रकर्ण्य; (हंसिया के चिह्न से युक्त कर्णवाली), स्थूणकर्ण्यः (स्तम्भचिह्नयुक्त कर्ण वाली), छिद्रकर्ण्यः (छिद्रयुक्त कर्ण वाली) और विष्ट्यकर्ण्यः इन शब्दों से होता है, जो मैसं (४. २. ९) में पाये जाते हैं। चिह्नित कर्ण का अर्थ उसी समय समर्थित हो जाता है जब कि मैसं के उसी स्थल में अक्ष धातु का प्रयोग चिह्नित करने के अर्थ में आता है। अ० में मिथुनचिह्न के प्रयोग का उल्लेख है, जो निःसंदेह उत्पादनशक्ति प्राप्त करने के लिए एक जादू है।

यह स्पष्ट है कि उस काल में नियमित रूप से कानों को चिह्नित किया जाता था। अवे में इसका दो बार उल्लेख मिलता है (६.१४१.१; १२.४.६)। दाग को लक्ष्मन् कहा जाता था और ताम्र (लोहित) के तेज चाकू से दागा जाता था (अवे उपर्युक्त स्थल)। मैसं में बाणाग्र (तेजन) या लोहे से इस कार्य के करने का प्रतिषेध है, और इक्षुकाण्ड से करने का विधान है। (तु०—त्सिमर, आले, २३४, ३४८; डेलब्रुक, गुरुपूजाकौमुदी, ४८. ४९; वेबर, इस्तू १३. ४६६; ह्विटनी, ट्रां० अ० व० ३८७)।

अष्टका—द्र० मास। तु० 'प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टका। पर्वैतत्संवत्सरस्य यदष्टका' शब्रा ६. २. २. २३-२४।

अष्टादंष्ट्र वैरूप—पंब्रा (८. ९. २१) के अनुसार अष्टादंष्ट्र वैरूप दो सामों के द्रष्टा थे।

अष्ट्रा—अष्ट्रा कृषक का तोद या पैनी है, जो खेत जोतते समय बैलों को हांकने के लिए काम में आती है। ऋवे में अनेकशः यह शब्द आया है (ऋ० ४. ५७. ४; ६. ५३. ९; ६. ५८. २; अष्ट्राविन् १०. १०२. ८, द्र० कीसू मी)। तु०—रोथ्शर, आर्काइव्स फ्यूर रिलीगियोन्स् विस्सन्-शाफ्ट; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी. ३. ३६४ टि० ८।

अष्ठीवन्त्—द्र० शरीर।

[1] द्र—वोबू।

[2] तु०—बार्टलिक, डिक्शनरी।

असमाति राथप्रौष्ठ—परवर्ती ब्राह्मणों में रथप्रोष्ठ-वंशीय इक्ष्वाकुराजा असमाति और उसके पुरोहित गोपायनों का कलह पाया जाता है (जैब्रा ३. १६७; शाट्यायनक, सायण द्वारा उल्लिखित ऋ० १०. ५७. १, १० ६०. ७ के भाष्य में; बृहद्देवता ७. ८३; पंब्रा १३. १२. ५)। यह ऋग्वेद (१०. ६०. २, ५) को ठीक न समझने का परिणाम है, जहां असमाति केवल एक विशेषण है (तु०—अवे, ६. ७९. १)[1]। परवर्ती कथा यह है कि किरात और आकुलि नामक दो असुरों ने राजा से अनुरोध करके उनके वंश-पुरोहितों को छुड़ा दिया और अपने जादू से पुरोहित के भाई सुबन्धु का वध करने का प्रयास किया, किंतु दूसरे व्यक्तियों ने ऋवे के सूक्तों (१०. ५७. ६०) द्वारा उसकी रक्षा की।

असि—असि प्रायः याज्ञिक छुरे के लिए आता है (ऋ० १. १६२. २०; १०. ९७. ६; १०. ८६. १८; अवे, ९. ३. ९; १०. १. २० आदि); किंतु कभी-कभी इसका अर्थ युद्ध में प्रयुक्त तलवार होता है (अवे ११. ९. १)। "असि" का प्रयोग इस अर्थ में महाकाव्य-काल में प्रायः हुआ है[2]। तलवार रखने के म्यान (वव्रि) का भी उल्लेख मिलता है (कासं, १५. ४) उसका पेटी को "बाल" कहा गया है (कासं, १५. ४, मैसं २. ६. ५) जैउब्रा (३. १३९) में वव्रि को असिधारा कहा गया है। दे. 'वज्रो वाऽसिः' श० ३. ८. २. १२.

असिक्नी—"काली"। ऋ० (८. २०. २५; १०. ७५. ५) में एक नदी का नाम असिक्नी है। बाद में इसे चन्द्रभागा कहा गया है। ग्रीकों ने इसे अकेसिनेस कहा है। आजकल पंजाब का यह चेनाब नदी है। (द्र० निरुक्त, ९. ३६)[3]।

१. असित—परवर्ती संहिताओं में काले सर्प का नाम असित है (अवे ३. २७. १; ५. १३. ५; ६. ५६. २; तैसं, ५. ५. १०. १; मैसं ३. १४. १८; और संभवतः वासं, २४. ३७)।

२. असित—(अ) इस नाम के एक पुराकालीन ऋषि जादूगर के रूप में अवे में गय (अवे १. १४. ४)

[1] ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४९९; मैक्स-मूलर, जराएसो०, १८६६, ४२६–४६५; बार्टलिक की डिक्शनरी; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ४८ टि० १।

[2] द्र० हापकिन्स, जअओसो १३. २८४।

[3] त्सिमर, आले, १२।

अथवा जमदग्नि (अवे ६. १३७. १) के साथ उल्लिखित हैं। शब्रा (१३. ४. ३. ११) में वे असित धान्व (धान्वन, शांश्रौसू १६. २. १९) के रूप में तथा पंब्रा (१४. ११. १८, १९; तु० १५. ५. २७) और कासं (२२. ११)[1] में दैवल या देवल के रूप में प्रतीत होते हैं।

(ब) असित वार्षगण बृउ (६. ५. ३ काण्व; ६. ४. ३३, माध्यंदिन) के वंश के अनुसार हरित कश्यप के शिष्य हैं।

असितग्रीव—'अग्निर्वा असितग्रीवः', शब्रा० १३. २. ७. २.

असितमृग—ऐब्रा (७. २७)[2] में कश्यपों के वंश की संज्ञा असित-मृग है। जनमेजय ने इनका एक यज्ञ से बहिष्कार कर दिया था, किंतु इन्होंने भूतवीरों से, जिन्हें राजा ने नियुक्त किया था, हविःप्रदान का कार्य छीन लिया। जैब्रा (१. ७५) और षब्रा (१. ४) में असित-मृगों को कश्यपों का पुत्र बताया गया है। उनमें से एक का नाम कुसुरबिन्दु (विविध रूप में पठित, असुरबिन्द, कुसुरविन्द, कुसुरबिन्द) औद्दालकि आया है। तु० एगलिंग, सेबुई ४३. ३४५।

असु—असु शब्द वैदिक साहित्य में प्राण के अर्थ में आया है। शब्रा (६. ६. २. ६) में "प्राणो वाऽसुः" कहा गया है। दे० 'तस्या एतस्यै वाचः प्राणा एवासुः। एषु हीदं सर्वमसूतेति' जैउ १. ४०. ७.

असुर—असुर शब्द प्रारम्भ में "प्राणवान्" के अर्थ में आया है। ऋ० (१. २४. १४) में यह वरुण को लक्षित करता है। यह शब्द अवेस्तिक अहुर के समकक्ष है[1]। किंतु ऋग्वेद के ही कुछ प्राचीन स्थलों पर यह अर्थ है (द्र०–१. १३१. १; ८. २०. १७; १०. ९२. ६ इत्यादि)। बाद में यह शब्द सुर या देवता के विलोम अर्थ वाला अ–सुर बन गया। ऋवेद काल में ही यह अर्थ भी इस शब्द में समाहित हो गया था (१०. १३८. ३; १०. १२४. ५; १०. १५७. ६; अवे ८. ९. २४; शब्रा १. २. ४. ८ इत्यादि)। ब्राह्मणों में प्रायः दूसरे ही अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। देवों और असुरों को प्रजापति का पुत्र बताया गया है (ताब्रा, १८. १. २)। द्र० 'तेनासुनासुरानसृजत। तदसुराणामसुरत्वम्'। तै० २. ३. ८. २; 'दिवा देवानसृजत नक्तमसुरान्। यद्दिवा देवानसृजत तद्देवानां देवत्वं यदसूर्यं तदसुराणामसुरत्वम्'। ष० ४. १. 'अहर्वै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुराः'। गोउ० ५. २.

असुरविद्या—शां और आ (१०. ७) श्रौतसूत्रों में आने वाला असुर-विद्या शब्द शब्रा (१३. ४. ३. ११; शांश्रौसू १०. ६१. २, २१) के मात्रा शब्द के समकक्ष है, जिसका अनुवाद एगलिंग[1] ने "यातु" या जादू किया है।

असुर्या—ऋ० (१. १६८. ७) में असुर्या शब्द आसुरी सेना और ईउ (३) में आसुरी लोक को उद्दिष्ट करता है।

अस्त—वैदिक साहित्य, में विशेषतः ऋ० में अस्त शब्द गृह के अर्थ में आया है (ऋ० १. ११६. २५; ४. १६. १० इत्यादि। द्र० 'गृहा वा अस्तम्' शब्रा० २. ५. २. २९।

अस्तृ—अस्तृ (क्षेपक) शब्द ऋ० और अ० में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द रथ में बैठे हुए धनुर्धर के लिए आया है। (ऋ० १. ८. ४; १. ६४. १०; २. ४२. २ इत्यादि; अ० वे०, ६. ९३. १, २; ११. २. ७; तु०–त्सिमर, आले० २९६)।

अस्थि—शरीर। तु० 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्यास्थीनि' शब्रा० १०. ५. ४. १२; 'अस्थि वा एतत्। यत्समिधः'। तै० १. १. ९. ४।

अहन्—अहन् (दिन)। अन्य जातियों की भांति वैदिक आर्य भी समय की गणना के लिए रात्रि और दिन दोनों का प्रयोग करते थे, किंतु प्रधानतः नहीं (ऋ० ४. १६. १९; ८. २६. ३; १. ७०. ४; तु०–अवे १०. ७. ४२)। दिन (अर्जुन) के विपरीत रात्रि को कृष्ण कहा गया है (ऋ० ६. ९. १)। रात्रि और दिन के संमिलित रूप के लिए अहोरात्र (ऋ० १०. १९०. २; अवे १३. ३. ८ इत्यादि; वासं २३. ४१ इत्यादि) शब्द का प्रयोग हुआ है।

दिन को अनेक रूप से विभक्त किया गया है। अ० (९. ६. ४५) में "उद्यन् सूर्यः" (सूर्योदय), संगव (गौओं का साथ आना), मध्यंदिन (दोपहर), अपराह्ण (तीसरे पहर का समय) "अस्तंयन्" (सूर्यास्त) के रूप में दिन का विभाजन किया गया है। तैब्रा (१. ५. ३. १; ४. ९. २) में वही विभाजन प्रातः और संध्या शब्दों की विशेषता के साथ आता है। उसी की एक छोटी सूची में प्रातः, संगव और सायम् शब्द आते हैं। मैसं (४. २. ११) में यह विभाजन उषस्, संगव, मध्यंदिन और अपराह्ण के रूप में आता है।

त्सिमर के मत से प्रातः को उस समय अपि-शर्वर (ऋ० ३. ९. ७)[2] कहा जाता था जब अंधेरा अभी-अभी दूर ही

[1] तु० लुडविग, ट्रां० ऋ०, ३. १३२।
[2] तु०–मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, पृ० ७।

[1] सेबुई, ४४, ३०८।
[2] तु०–ओल्डेनबर्ग, ऋ० नो० १. २३०।

हुआ हो। उस समय को स्वसर (ऋ० २. ३४. ८; ९. ९४. २) कहते हैं, जब कि गौ दूध दुहने के पहले रातब खा रही हों और जब पक्षी जग गए हों (ऋ० २. १९. २; २. ३४. ५)। त्सिमर[१] के अनुसार इस समय को प्रपित्व कहते हैं (ऋ० ७. ४१. ४; ८. १ २९)[२]। किंतु गेल्डनर[३] कहते हैं कि यह नाम दोपहर के बाद वाले समय के लिए आता है; और उसी को अपि-शर्वर भी कहते हैं, क्योंकि वह रात्रि की सीमा के पास है; वह समय तब आता है जब कि दिन दौड़ के अन्त के समान अपने अवसान के निकट पहुंचता है। दूसरे दृष्टिकोण से अभिपित्व (ऋ० १. १२६. ३; ४. ३४. ५) संध्या को कहा जाता है, जब कि सभी लोग विश्राम के लिए लौटते हैं। प्रातः और संध्या को "उदिता सूर्यस्य" और "निम्रुच" भी कहा गया है। दोपहर को नियमित रूप से "मध्यम् अह्नाम्" (ऋ० ८. ४१. ४) "मध्ये" (ऋ० ८. २७. २०) या "मध्यंदिन" कहा गया है। संगव (तु० ऋ० ५. ७६. ३ संगवे, प्रातर् अह्नो मध्यंदिने; तैब्रा, २. १. ३. ३, जैउब्रा० १. १२. ४; ऐब्रा, ३. १८. १४)[४] दोपहर के पहले का, प्रातः और मध्यंदिन के बीच का समय है।

दिन से छोटा समय का विभाजन विरल रूप से मिलता है। शब्रा (१२. ३. २. ५; तु०—तैब्रा० ३. १०. ११ एवं आगे) में दिन और रात को मिलाकर ३० मुहूर्तों का कहा गया है। १ मुहूर्त=१५ क्षिप्र; १ क्षिप्र; =१५ एर्तर्हि; १ एर्तर्हि=१५ इदानि; १ इदानि=१५ श्वास; १ श्वास=१ श्वसनं (Spiration)=१ निमेष इत्यादि (७. २०; तु० शांश्रौ० सू० १४. ७८)[५]। विभाजन इस प्रकार है—ध्वंसयो, निमेषाः, काष्ठाः, कलाः, क्षणाः, मुहूर्त्ताः, अहोरात्राः। ऋ० (१, १२३. ८) में एक स्थल पर दिन और रात्रि का विभाजन तीस-तीस विभागों में किया गया है, ऐसा त्सिमर मानते हैं और वे बेबीलोनिया के दिनरात्रि के साथ, विभागों द्वारा, उसकी समानता देखते हैं। किंतु जो अभिव्यक्ति तीस योजन के रूप में हुई है, वह अनियत और दुरूह है। बेर्गेन्य[१] इसे आकाश के लिए व्यवहृत मानते हैं। अतः इस पर पक्के तौर से कोई सिद्धान्त नहीं स्थिर किया जा सकता।

समय के बड़े विभाग हैं—अर्धमास, मास, ऋतु और संवत्सर। अहोरात्र के बाद इस संबन्ध में प्रायः (तैसं ७. १. १५; मैसं ३. १२. ७; वासं २२. २८; शांआ, ७. २०; बृउ ३. ८. ९ इत्यादि)[२] ये ही विभाग प्रयुक्त होते हैं।

अहल्या मैत्रेयी—अहल्या मैत्रेयी एक पौराणिक नाम है। जिस स्त्री की कथा कुछ ब्राह्मणों (शब्रा ३. ३. ४. १८; जैब्रा २. ७९.;) में दी गई है; वह इन्द्र के एक विशेषण "अहल्यायै जारः" से संबद्ध है। द्र० 'अहल्याया ह मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस' शब्रा० १. १।

१ अहि—एक असुर के रूप में अहि शब्द का उल्लेख ऋ० एवं परवर्ती साहित्य में आया है (ऋ० १. ३२. १. ४. १७. १, ७. इत्यादि)। तु०—वृत्र, और (मैकडोनल, वैदिक माइथोलजी, ७३, १५९, १६०, १६१)।

२ अहि—ऋ० (७. १०४. ७ आदि)[३] से ही यह शब्द सर्प के अर्थ में आता रहा है। कई बार (ऋ ९. ८६. १४; अवे १. २७; शब्रा, ११. २. ६. १३; बृउ ४. ४. १०; जैब्रा, १. ९; २. १३९; कउ २. ६; २. १७) उसके निर्मोक (केंचली) छोड़ने का भी उल्लेख मिलता है। सर्प की विशेष प्रकार की गति (ऐआ ५. १. ४) का भी उल्लेख मिलता है। उसकी विशेष गति की रेखा को देखकर उसे "दत्वती रज्जुः" का विशेषण (अवे ४. ३. २) दिया गया है। इसके काटने के विषमय प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है (ऋ० ७. १०४ ७; अवे १०. ४. ४ एवं आगे, ६. ५६), साथ ही सर्प के शीत में निश्चेतन होने तथा पृथ्वी के अन्दर बिल में सरक जाने का भी उल्लेख मिलता है अवे १२. १. ४६)। उसके छोड़े हुए निर्मोक का उपयोग परिपन्थियों या दस्युओं के विरुद्ध औषधि के रूप में करने का भी उल्लेख मिलता है (अवे १. २७)। एक देवशास्त्रीय पैद्व अश्व का उल्लेख मिलता है, जिसे अश्विनों ने पेदु को सर्पों से रक्षा के लिए दिया था (ऋ० १. ११७–११९)। उसे सर्पों का विनाशक कहा गया है (अवे १०. ४. ६, १०); नकुलको सर्प का सहज शत्रु कहा गया है। उनके विष से सुरक्षा के लिए मनुष्य एक घाव भरने वाले पौधे (अवे ६.

[१] आले, ३६२।

[२] जीग, दी जा ऋ०, १२७ एवं अग्रिम में "परि-तक्म्यायाम्" ऋ० १. ११६. १५ की वैसी ही व्याख्या करते हैं।

[३] वैस्तू, २. १५५–१७९।

[४] गेल्डनर, वैस्तू ३. ११२, ११३; त्सिमर, वही, ३६२ इसे बहुत ही पहले, गौओं के बाहर निकलने से पहले वाले समय को मानते हैं।

[५] वेबर, इस्तू १. ९२–९५।

[१] रिलिजन वैदिक, ३. २८३ एवं आगे, तु० राथ, वोबू "ऋतु"।

[२] तु०— त्सिमर, आले ३६१, ३६२।

[३] "सर्प" शब्द जो अवे में प्रायः आता है, ऋ० में केवल एक बार (१०. १६. ६) आता है।

१३९. ५; ८. ७. २३) का प्रयोग करते हैं। वे दण्ड (अवे १०. ४. ९) से उसे मारते और उसके सिर को कुचल डालते हैं (अवे ६. ६७. २)[1]।

सर्प की अनेक जातियां हैं। द्र०—**अघाश्व, अजगर, असित, कंकापर्वन्, करिक्रत, कल्माषग्रीव, कसर्णील, कुम्भीनस, तिरश्चिराजि, तैमात, दर्वि, दशोनसि, पुष्करसाद, पृदाकु, लोहिताहि, शर्कोट, श्वित्र, सर्प**।

अहि बुध्न्य—"तल—भाग का सर्प"। यह एक अन्तरिक्षस्थानीय देवता के रूप में वैदिक साहित्य में **अज एकपाद्, अपां नपात्** प्रभृति के साथ उल्लिखित है। निघण्टु (५. ४) में भी इसे अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों के साथ गिनाया गया है। संभवतः वह पहले वृत्र या अहि से अभिन्न रहा हो, किंतु बाद में एक देवता बन गया हो। (द्र० ऋ० ५. ४१. १६; ७. ३४. १६, १७; ७. ३५. १३; १०. ६६. ११ इत्यादि)। तु०—मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, पृ० ७२–७३।

अहिर्बुध्न्य—'एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्यः,' ऐ० ३. ३६; 'अग्निर्वा अहिर्बुध्न्यः,' कौ० १६. ७.

अहीना आश्वत्थ्य—अहीना आश्वत्थ्य एक मुनि थे, जो एक विशेष यज्ञ (सावित्र) के ज्ञान से मुक्त हो गए थे (तैब्रा, ३. १०. ९. १०)। नाम की व्युत्पत्ति ध्यान देने योग्य है।

आकाश—दे० 'स यः स आकाश आदित्य एव सः। एतस्मिन् ह्युदिते सर्वमिदमाकाशते' जैउ १. २५. २; 'यः स आकाश इन्द्र एव सः' जैउ १. २८. २.

आकुलि—यह देवशास्त्रीय पुरोहित **किरात** के साथ **असमाति** और **गोपायनों** की कथा में भाग लेता है।

आकूति—ऋ० एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में आकूति शब्द अभिप्राय के अर्थ में आया है। कहा गया है कि 'मेरे मन की आकूति सत्य हो'; (ऋ० १०. १२८. ४; १०. १५१. ४; १०. १९१. ४; वासं, ४. ७; ११. ६६; अवे ३. २. ३, ४; ३. ८. ५ आदि); 'हमारी आकूति की समृद्धि हो' (अवे ४. ३६. ४; ५. ६. १० आदि)।

आकूपार—सामविशेष। 'आ तू न इन्द्र क्षुमन्तमित्याकूपारम्' तां० ९. २. १३; १५. ५. ३०। द्र० **अकूपार**।

आक्ताक्ष्य—ये एक गुरु थे जो अग्निचिति के संबन्ध में एक विशेष मत रखते थे, जिसका निषेध शब्रा (४. १. २. २४) में किया गया है। तु० लेवी, ला डाक्ट्रिन द सेक्रिफाइस, १४०।

[1] द्र० त्सिमर, आले ९४. ९५।

आक्रमण—जैउब्रा (१. ३) में यह शब्द पेड़ पर चढ़ने के क्रम के अर्थ में आया है।

आक्षार—सामविशेष। दे० 'एभ्यो वै लोकेभ्यो रसोऽपाक्रामत् तं प्रजापतिराक्षारेणाक्षारयद् यदाक्षारयत् तदाक्षारस्याक्षारत्वम्' तां० ११. ५. १०.

आखर—अवे (२. ३६. ४) में आखर शब्द मृगों या वन्य पशुओं की नांद को उद्दिष्ट करता है। तु०—ऋ० १०. ९४. ५।

आखु—इस शब्द का वास्तविक अर्थ अनिश्चित है। त्सिमर[1] इसका अनुवाद छछुन्दर करते हैं, जबकि राथ[2] मूषक या चूहा बताते हैं। यह बाद की संहिताओं (तैसं, ५. ५. १४. १; मैसं, ३. १४. ७; वासं, ३. ५७; २४. २६. २८; अवे ६. ५०. १) में प्रायः उल्लिखित होता रहा है, तथा ऋ० (९. ६७. ३०) को यह शब्द ज्ञात है; किंतु पिशल[3] मानते हैं कि यहाँ वह शब्द "चोर" इस अर्थ में आया है। हिल्लेब्रांड्ट[4] इसे स्वीकार नहीं करते।

आख्यान—ऐब्रा (७. १८. १०; तु० शांश्रौसू, १५. २७) में हम शुनःशेप आख्यान के विषय में सुनते हैं। वह आख्यान होतृपुरोहित द्वारा राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में कहा गया है। अश्वमेधयज्ञ के प्रसङ्ग में जब एक वर्ष तक अश्व को स्वेच्छया घूमने के लिए छोड़ देते थे तब आख्यानों की जो शृंखला चलती थी, उसे **परिप्लव** (शब्रा १३. ४. ३. २, १५) कहते थे। ऐब्रा (३. २५. १) में आख्यानविदों का उल्लेख मिलता है, जो सौपर्ण आख्यान कहते थे, जिसे अन्यत्र (शब्रा ३. ६. २.७) **व्याख्यान** कहा गया है। यास्क निरुक्त (५. २१; ७. ७) में ऋ० की व्याख्या की एक शैली के रूप में ऐतिहासिकों के मत या आख्यान के मत का उल्लेख करते हैं (११. १९, २५)। तु०—जीग, दी ज़ा. ऋ० १६ एवं आगे।

आख्यायिका—स्पष्टतः यह शब्द केवल एक बार बाद के तैआ (१. ६. ३) में आता है, जहाँ इसका अर्थ संदिग्ध है। तु०—जीग, दी ज़ा. ऋ० २० टि० १।

आगस्—**अंहस्** या अघ के समान ही आगस् शब्द है। वैसी ही भावना इस शब्द के साथ भी लगी है

[1] आले, ८४, ८५; ब्लूमफील्ड ने भी अनुकरण किया है, हिम्स आफ दि अवे०, १४२।

[2] वोबू; ह्विटनी द्वारा अनुकृत, ट्रां० अवे, ३१७. ३१८।

[3] वैस्तू, २. २४६; त्सादामौगे ४८. ७०१।

[4] त्सादामौगे ४८. ४१८; वेद इंटरप्रेटेशन, ७.

(ऋ० १. २४. १५; १. ७९. ५; १. १८५. ८ इत्यादि)।

आगस्ति—"अगस्त्य का वंशज"। जैब्रा (३. २३३) में **वृढच्युत्** का पैतृक नाम आगस्ति है।

आगस्त्य—ऐ० (३. १. १) और शांखायन (७. २) आरण्यकों में ये एक गुरु के रूप में निर्दिष्ट हैं।

आगीत—दे० 'अथ यानि त्रीण्यागीतानि अग्निर्वायुरसावादित्य एतान्यागीतानि,' जैउ १. २०. ८.

आग्निवेशि शत्रि—ऋ० (५. ३४. ९) की एक दानस्तुति में ये एक राजा के रूप में उल्लिखित हैं। तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ० २. १५५।

आग्निवेश्य—बृउ की वंश-सूचियों में इस नाम के कई गुरुओं का उल्लेख है। माध्यंदिन शाखा (२. ५. २१; ४. ५. २०) के अनुसार ये **आग्निवेश्य सैतव** के शिष्य हैं। काण्व शाखा के एक वंशक्रम (६. २) के अनुसार वे **शाण्डिल्य** और **आनभिम्लात** के शिष्य हैं और दूसरे वंशवर्णन (४६. २) के अनुसार वे **गार्ग्य** के शिष्य हैं।

आग्नीध्र—'अन्तरिक्षमाग्नीध्रम्' तै० २. १. ५. १; श० ९. २. ३. १५.

आग्रयण—'आत्माग्रयण:' श० ४. ४. १. ५; ४. २. २. ५. 'अग्रचमिव हीदम्' (आग्रयणाख्यं हवि:) श० २. ४. ३. १३.

आग्रहायण—यह एक मास का नाम है। द्र०—**मास**।

आग्लागृध—दे० 'तं वा एतमाग्लाहतं सन्तमाग्लागृध इत्याचक्षते परोक्षेण···। य एष ब्रह्मणो गायनो वा वर्तनो वा भवति तमाग्लागृध इत्याचक्षते' गो० ५. २. २१.

आघाटि—आघाटि एक वाद्य-यन्त्र या करताल है, जो नृत्य में ताल के लिए खड़काया जाता है। ऋ० (१०. १४६. २) और अ० (४. ३७. ४ आघाट) में इसका उल्लेख है। तु०—त्सिमर, आले, २८९।

आङ्गिरस—अङ्गिरस्-वंशीय होने के रूप में आङ्गिरस एक उपाधि है। यह **कृष्ण**, **आजीगर्ति**, **च्यवन**, **अयास्य**, **संवर्त**, **सुधन्वन्** आदि अनेक ऋषियों को मिली है। तु० 'आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रस:' श० १४. ४. १. ९; 'स एष एवाङ्गिरस:' (अन्नाद्यम्) अतो हीमान्यङ्गानि रसं लभन्ते। तस्मादाङ्गिरस:,' जैउ २. ११. ९.

आङ्गूष—ऋ० (१. ६१. ३; १. ६२. १; १. १०५. १९; ४. २९. १; ५. ७४. ८; ७. २४. ३; निरुक्त, ५. ११ इत्यादि) में आङ्गूष शब्द स्तोत्र के अर्थ में आया है।

आजकेशिन्—आजकेशिन् एक वंश का नाम है, जिसमें जैब्रा (१. ९. ३) के अनुसार **बक** ने **इन्द्र** के विरुद्ध काम किये थे।

आजनि—अ० (३. २५. ५) में यह शब्द कोड़े के अर्थ में आया है। अज् 'चलाना'।

आजद्विष—"अजद्विष् का वंशज"। जैब्रा (२. ७. २) में **बम्ब** का पैतृक नाम **आजद्विष** है।

आजनेय ऐतशायन—द्रष्टव्य–**ऐतशायन**।

आजातशत्रव—द्र०—**भद्रसेन**।

आजि—ऋ० (५. ३७. ७; ६. २४. ८ आदि) में और उसके बाद के साहित्य में आजि शब्द प्राय: 'दौड़' के अर्थ में तथा विरल रूप में युद्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक भारत में[1] घुड़दौड़ मनोरञ्जन का प्रमुख साधन था; दूसरा प्रमुख साधन था **अक्ष-क्रीडन**। दौड़ का मार्ग, जिसे **काष्ठा** (ऋ० ८. ८०. ८; अवे २. १४. ६) और **आजि** (ऋ० ४. २४. ८; अवे १३. २. ४) भी कहते थे, अ० (२. १४. ६; १३. २. ४) के उल्लेख से वृत्ताकार जान पड़ता है, जिसमें एक चिह्न या **कार्ष्मन्** (ऋ० ९. ३६. १; ९. ७४. ८) तक पहुंने के बाद लौटना होता था। ऋवे में मार्ग को (**उर्वी**) विस्तृत और दूरी को मापित (अपावृक्ता अरत्नय:)[2] कहा गया है। इसके लिए धन (धा) दिये जाते थे (ऋ० १. ८१. ३; १. ११६. १५; ६. ४५. १ एवं आगे; ८. ८०. ८; ९. ५३. २; ९. १०९. १०)[3] और इस प्रतियोगिता में जनता उमंग के साथ भाग लेती थी। विजय और पुरस्कार के लिए दूसरे शब्द "**कार**" (ऋ० ५. २९. ८; ९. १४. १) और "**भर**" (ऋ० ५. २९. ८; ९. १६. ५) हैं और दौड़ में

---

[1] त्सिमर आले, २९१; गेल्डनर, वैस्तू, १. १२०; २. १ एवं आगे।

[2] ऋ० ८. ८०. ८ में अर्थ संदिग्ध है। त्सिमर का कहना है कि मार्ग सीधा होता था, जिसमें कोई व्यावर्तन नहीं था। इस विचार के लिए तु० गेल्डनर वैस्तू, २. १६०. (ऋ० ३. ५३. २४) दौड़ के मार्ग की तुलना धनुर्ज्या से करते हैं। अर्थ: "इसके प्रतिरोध हटा दिये जाते हैं।"

[3] गेल्डनर के अनुसार, वैस्तू १. १२० टि० धन, धन् 'प्रारम्भ करने' से है। तु० पिशल वही, १७; तु० "धनसा", ऋ० १. ११२. ७, १०; २. १०. ६; ८. ३. १५ आदि। ३ अ–वैस्तू, १७१–१७३, तु० जीग, दी ज़ा. ऋ०, १२७ एवं आगे।

दौड़ने को 'आजिम् अज्, इ, धाव् और सृ (ऐब्रा, २. २५; ४. २७; शब्रा, २. ४. ३. ४; ५. १. १. ३; ४. १; ६. १. २. १२; ७. १. २. १) शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। जो व्यक्ति दौड़ कराता था उसे आजि-सृत् (शब्रा, ५. १. ५. १०, २८; ११. १. २. १३) कहा गया है; इन्द्र को आजिकृत् (ऋ० ८. ५३. ६) और आजिपति (वही, १४) बताया गया है।

दौड़ में काम आने वाले घोड़े प्रायः नहलाए एवं सजाए जाते थे (ऋ० २. ३४. ३; ९. १०९. १०; १०. ६८. ११)। पिशल के अनुसार एक तेज घोड़ी का नाम विश्पला (ऋ० १. ११६. १५)[१] के रूप में अवशिष्ट है, जिसके टटे कूल्हे को अश्विनों ने चढ़ाया था। किंतु यह व्याख्या बहुत ही संदिग्ध है। गेल्डनर[२] का मत है कि ऋग्वेद के मुद्गल-सूक्त में एक रथ की दौड़ का चित्रण है। किंतु ब्लूमफील्ड[३] इस व्याख्या को अनुचित बताते हैं। पिशल[४] यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि यह दौड़ें देवों को रिझाने के लिए की जाती थीं, किंतु इस मन्तव्य के पक्ष में उचित प्रमाण नहीं मिलते[५]। राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में नियमतः घुड़दौड़ होती थी (तैसं, १. ८. १५; तैब्रा १७. ९; कासं १५. ८; वासं १०. १९ एवं आगे; शब्रा, ५. ४. २, २)।

तु०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ४३

आजिकृत्, आजिसृत्—ये दोनों शब्द दौड़ या रेस के प्रवर्तकों को लक्षित करते हैं। प्र०—आजि।

आजिज्ञासेन्या—ऋग्विशेष। द्र० 'आजिज्ञासेन्याभिर्वै देवा असुरानाज्ञायाथैनानत्यायन्' गो० उ० ६. १३।

आजीगर्ति—द्र०—शुनःशेप, जो ऐब्रा (७. १७; तु० शांश्रौसू०, १६. ११. २) में इस पैतृक नाम से अभिहित हैं। कासं (१९. ११) में उन्हें आङ्गिरस बताया गया है।

[१] पिशल यहाँ विवस्वान् के संमान में एक दौड़ का अर्थ पाते हैं। किंतु विवस्वान् और खेल की अभिन्नता का उनका यह मत जीग को स्वीकार नहीं है; जो विश्पला-संबन्धी उनकी कल्पना को स्वीकार करते हैं।

[२] वैस्टू २. १ एवं आगे।

[३] त्सादामौगे० ४८. ५४१ एवं आगे। श्रोडर, मिस्टीरियम उण्ड मिमस इन ऋग्वेद, ३४६ एवं आगे। वे गेल्डनर का अनुकरण करते हैं। तु०—विंटरनित्स, वियाना ओरि० जर्नल २३, १३७।

[४] वैस्टू १. १७२।

[५] जीग, वही, १२८।

आज्य—घृत। तु० 'अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम्' तै० ३. ८. १४. २; 'देवलोको वा आज्यम्' बौ० १६. ५; 'एतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यम्' श० १३. ३. ६. २; 'एतद्वै संवत्सरस्य स्वयं पयः यदाज्यम्' श० १. ५. ३. ५; 'पशव आज्यम्' तै० १. ६. ३. ४; 'यजमानो वा आज्यम्' तै० ३. ३. ४. ४; 'वज्रो ह्याज्यम्' श० १. ३. २. १७; 'काम आज्यम्' तै० ३. १. ४. १५; 'सत्यमाज्यम्' श० ११. ३. १. १; 'प्राणो वा आज्यम्' तै० १५. २. ३; =रेतः। श० १. ३. १. १८; =छन्दस्। तै० ३. ३. ५. ३।

आञ्जन—अ (४. ९. ६; १०२. ३; ९. ६. ११; १९. ४४) में प्रायः अञ्जन का उल्लेख मिलता है, जो हिमालयस्थ त्रिककुभ् (४. ९. ९, १०; १९. ४४. ६) पर्वत से लाया जाता था। इसका प्रयोग आंखों की चमक के लिए किया जाता था (तु० अवे ४. ९. १ अक्ष्यम्, ऐब्रा १. ३; तैसं में कथा है, ६. ११. ५; तु० १. २. १. २; मैसं ३. ६. ३; शब्रा ३. १. ३. १५; वासं ४. ३)। यमुना-प्रदेश (अवे ४. ९. १०) को भी इसके उद्भव का स्थान बताया गया है। इसका लेप पाण्डु, यक्ष्म, जायान्य एवं दूसरे रोगों (अवे १९. ४४. १ एवं आगे) का विनाशक है। पुरुषमेध (वासं ३०. १४ आंञ्जनकारी; तैब्रा, ३. ४. १०. १) की बलियों की सूची में लेप बनाने वाली स्त्री का उल्लेख मिलता है। तु० त्सिमर, आले, ५ ६९; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे० ३८१ एवं आगे; अजफि०, १७. ४०५, ४०६; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, १५९।

आट अरुण—द्रष्टव्य अरुण आट।

आटिकी—छाउ (१. १०. १) में उशस्ति की पत्नी का नाम आटिकी है।

आट्णार—पर का पैतृक नाम।

आडम्बर—आडम्बर एक प्रकार का वाद्य (नगाड़ा) है। वासं (३०. १९; तु० शब्रा, १४. ४. ८. १) में पुरुषमेध की बलियों में इसके बजाये जाने (आडम्बराघात) का उल्लेख है।

आणि—यह ऋ० (१. ३५. ६; ५. ४३. ८) में पाया जाता है और बाद (ऐआ के एक मन्त्र २. ७.) में[१] विरल रूप में मिलता है। राथ[२] और त्सिमर[३] के अनुसार रथ के उस अक्ष (=धुर) के अर्थ में व्यवहृत है, जो चक्रों की नाभि में लगाया जाता था। सायण ने इसका अर्थ कील किया है; निरुक्त (६. ३२) में भी यही अर्थ दिया गया

[१] द्र०—कीथ-कृत संस्करण पृ० २६६. २७६; द्र० वाणी।

[२] बोवू।

[३] आले, २४७।

है और ल्यूमान[1] ने इसे स्वीकार कर लिया है। ऋ० (१. ६३. ८)[2] में एक स्थान पर उपलक्षण से यह शब्द संपूर्ण रथ के लिए प्रयुक्त हुआ है; किंतु गेल्डनर[3] के मत से वह स्थल दुरूह है।

आण्डीक—अण्डयुक्त। अ० में (४. ३४. ५; ५. १७. १६) यह शब्द पाया जाता है। यह एक खाद्य पौधा है, जिसके पत्र या फल अण्डाकार होते हैं और जो कमल से मिलता-जुलता है। तु०—त्सिमर, आले, ७० वेबर, इस्टू १८. १३८।

आता—बहुवचन में यह शब्द द्वार के चौखटों के लिए ऋ० (१. ५६. ५; १. ११३, १४; ३. ४३. ६; ९. ५. ५ आतैः) में प्रयुक्त हुआ है; किंतु प्रायः सभी स्थलों पर आकाश के द्वार अभिप्रेत रहे हैं। वासं (२९. ५ आतैः; तु० आताभिः, दुर्गाचार्य, निरुक्त व्याख्या, ४. १८) में भी यह शब्द आया है। त्सिमर[4] इस शब्द की लैटिन अन्ताए (antae) से तुलना करते हैं, जो इसके साथ संबद्ध है[5]।

आतान—यज्ञ। 'यज्ञो वा आतानः' श० ३. ८. २. २।

आति—यह एक जल-पक्षी का नाम है। पुरूरवा और उर्वशी की कथा में अप्सराएं पुरूरवा के पास आति पक्षियों (=हंसों ?) के रूप में आती हैं (ऋ० १०. ९५. ९; तु० शब्रा, ११. ५. १. ४)। इन पक्षियों का उल्लेख अश्व-मेध के प्रसङ्ग में भी आता है (तैसं ५. ५. १३. १; मैसं ३. १४. १८; वासं. २४. ३४)। महीधर (वासं २४. ३४) वहां पर आडी (तुर्दुस गिगिनिआनुस) अर्थ करते हैं। सायण (तैसं ५. ५. १३. १) ने एक उद्धरण देकर इस शब्द का अर्थ नीलकण्ठ (कारेशियस इंडिका) किया है। तु०—त्सिमर आले ८९।

आतिथिग्व—यह **इन्द्रोत** का पैतृक नाम है।

आतुर—वैदिक साहित्य में आतुर शब्द रोगी का वाचक है। द्र० ऋ० ८. २२. १०; अवे, ६. १०१. २; आगृसू, १. २४; मुं० ३२., १. २. १० इत्यादि।

आत्मन्—उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। ऋग्वेद-काल (१. ११५. १; १०. १०७. ७ आदि) से ही यह शब्द प्रचलित रहा है। किंतु इसके अर्थ का क्रमशः विकास हुआ है, और तब अन्त में उपनिषदों में यह ब्रह्म के समकक्ष परम सत्त्व के रूप में व्याख्यात हुआ है। उदाहरणार्थ बृउ (१. १. १) में इसका अर्थ शरीर है, वहीं (३. २. १३) पर यह वैयक्तिक आत्मा को उद्दिष्ट करता है; फिर परम तत्त्व के अर्थ में तो यह प्रायः आता रहा है (ऐउ, तृतीय अध्याय; छाउ, ७ २५. २ आदि)। द्र० 'षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः' कौ० २०. ३; 'स पञ्चविंश आत्मा' श० १०. १. २. ८; 'तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृष्यति च' तां० ५. १. ७. दे० श० १०. ६. ३. २, १४. ५. ४. ५, १४. ५. ५. १। तु० ह्यूम, थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स्, पृ० २३–३०।

आत्रेय—बृउ (२. ६. ३; ४. ६. ३ दोनों शाखाओं में) में **माण्टि** के शिष्य का पैतृक नाम आत्रेय हैं। ऐब्रा (८. २२) में एक **आत्रेय अङ्ग** के पुरोहित जान पड़ते हैं। कुछ यज्ञों में एक **आत्रेय** निश्चित रूप से पुरोहित थे (वही, ७. ७; शब्रा, ४. ३. ४. २१ काश्रौसू १०. २. २१ सदसः पुरस्तात्) शब्रा (१. ४. ५. १३)[1] में एक **आत्रेयी** स्त्री का उल्लेख मिलता है।

आत्रेयी—शब्रा (१. ४. ५. १३) में आत्रेयी शब्द रजस्वला स्त्री के अर्थ में आया है।

आत्रेयी-पुत्र—बृउ (६. ५. २ दोनों ही शाखाओं में) **आत्रेयी-पुत्र गौतमीपुत्र** का शिष्य बताया गया है।

आथर्वण—पौराणिक अथर्वन् के आधार पर यह एक पैतृक नाम है। यह बहुवचन नपुंसक लिङ्ग में अथर्ववेद के सूक्तों के अर्थ (ता० १६. १. १०) में प्रयुक्त होता है। यह नाम बाद के १९ वें काण्ड में अ० (१९. २३. १) में तथा पंब्रा (१२. ९. १०) में आता है। **आथर्वण** शब्द पुल्लिंग एक-वचन में छाउ (७. १. २, ४; २. १; ७. १) में सर्वप्रथम आता है; किंतु यह नाम **अथर्वन्** नाम से प्राचीन है। **अथर्ववेद** यह नाम पहले-पहल सूत्रों (शांश्रौसू० १६. २. १० आदि) में पाया जाता है। निदान—सूत्र (२. १२) में आथर्वणिकों या अथर्ववेद के अनुयायियों का उल्लेख है।

विशेषजातीय किंतु प्रायः पुराकथात्मक आथर्वण व्यक्ति ये हैं—**कबन्ध, बृहद्दिव, भिषज्, वध्यश्च, विचारिन्**। तु० ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, २५; 'अथर्ववेद' ८ एवं आगे।

आदर्श—(दर्पण) शब्द केवल उपनिषदों (बृउ, २. १. ९; ३. ९. १५; छाउ, ८. ७. ४; कौउ, ४. २. ११) और आरण्यकों (ऐआ ३. २. ४; शांआ ८. ७) में पाया जाता है।

---

[1] एटिमोलाजिश्शेस् वोर्टरबूख ३०।

[2] पिशल, वैस्टू १. ९६।

[3] गेल्डनर, वही, १. १४१ टि० ३।

[4] पैप्पलाद शाखा में इस शब्द के स्थान पर पौण्ड्रीक है; व्हिटनी, ट्रां० अ० वे० २०७।

[5] आले, १५४।

[6] ब्रुगमान, ग्रुन्ड्रिस, १. २०९; २. २१४।

[1] राथ, वोबू।

आदायिन्—ऐब्रा (७. २९. २) में ब्राह्मण को आदायी='उपहार लेने वाला' बताया गया है।

आदार—आदार एक प्रकार का पौधा है जो **सोम** (शब्रा ४. ५. १०. ४) के स्थान पर काम में लाया जाता था। शब्रा (तु० कासं २४. ३; काश्रौसू० २५. १२ १९) में इसे **पूतीक** से मिलाया गया है। द्र० 'यत्र वा एनं (विष्णुं यज्ञं) इन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यक्षरत् स पूयन्निवाशेत सोऽब्रवीदादीर्येव बत म एष रसोऽस्तौषीदिति तस्मादादाराः' श० १४. १. २. १२। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २७६।

आदित्य—अदिति के पुत्र। ऋ० (२. २७ १) में छः आदित्यों की गणना है : **मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष, अंश**। ऋ० (९. ११४. ३) में सात और ऋ० (१०. ७२. ८) में आठ आदित्यों का उल्लेख है। तैब्रा (१. १. ९. १.) के अनुसार आठ आदित्यों के नाम हैं : **मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धातृ, इन्द्र, विवस्वन्त्**। तु० 'यदसुराणां लोकानादत्त। तस्मादादित्यो नाम' तै. ३. ९. २१. २. 'तत् (छिन्नं विष्णोः शिरः) पतित्वासावादित्योऽभवत्' श० १४. १. १. १०; 'आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः। यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यंदिनोऽथ वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः' श० २. २. ३. ९.; 'स वा एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्रोचति' ऐ ३. ४४। 'अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः। यांस्त्वेत`वा आदित्या इत्याचक्षते सप्त ह वैतेऽविकृतं हाष्टमं जनयांचकार मार्तण्डम्' श० ३. १. ३. ३। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैदिक माइथोलजी, ४३–४९।

आदिनवदर्श—द्र०–२ **अक्ष**।

आधान—यजुर्वेद में लगाम, विशेतः उसके लौह भाग के लिये आया है। तु. तैसं ६. ५. ९. २, ३; कासं २८. ९; मैसं ४. ७. ४; तैब्रा, १. ६. ३. १०.।

आनन्दज चान्दनायन—आनन्दज चान्दनायन वंब्रा[1] में **शाम्ब** के शिष्य के रूप में उल्लिखित हैं।

आनभिम्लात—आनभिम्लात बृउ-गत (२. ६. २ काण्व; माध्यंदिन शाखा में नहीं) एक वंश की सूची में **आनभिम्लात** के शिष्य बताए गए हैं।

आनव—द्र०–**अनु**।

[1] इस्तू ४. ३७२।

आनूक—गेल्डनर इस शब्द को, जो ऋ० (५. ३३. ९) में केवल एक बार आता है, आभूषण के अर्थ में लेते हैं। राथ[1] (वोबू) इसे अव्यय समझते हैं। लुड्विग और ओल्डनबर्ग ने भी ऐसा ही समझा है।

आनूप—"अनूप का वंशज"। पंब्रा (१३. ३. १७) में यह **वध्र्यूश्व** का पैतृक नाम है।=साम, पंब्रा० १३. ३. १०.

आन्त्र—अंतड़ी के अर्थ में ऋ० (२. ३३. ४; ४. १८. १३.) के समय से ही प्रचलित रहा है। द्र०—**शरीर**।

आन्धीगव—सामविशेष। दे० तां० ८. ५. १२.

आपः—बहुवचन में प्रयुक्त **आपः** अवेस्ता के **आपो** के समकक्ष है। यह शब्द जलों के देवता का द्योतक है। जलों को स्वर्गीय और धारा में बहने वाला कहा गया है (ऋ० ७. ४७. ३)। अग्नि का जल में प्रवेश करना प्रसिद्ध है (ऋ० ७. ४९. ४); **आपः** को अग्नि की माता के रूप में भी कहा गया है (ऋ० १०. ९१. ६)। इन्हें पवित्र करने वाली देवी माना गया है (ऋ० १. २३. १६)। तु० 'अश्मनो ह्यापः प्रभवन्ति' श० ९. १. १. ४. 'अद्भ्यो ह वाग्रेऽश्वः संबभूव सोऽद्भ्यः संभवन्न सर्वः समभवत् असर्वो हि वै समभवत् तस्मान्न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठति एकैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति' श० ५. १. ५. ५; 'तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किं चेति तस्मादापोऽभवन्' गो पू० १. २। विशेष विवरण के लिए द्र० मैकडोनल, वेदिक माइथोलजी, पृ० ८५, ८६।

आपया—आपया एक नदी का नाम है, जो ऋ० (३. २३. ४) में केवल एक बार आई है। इसे **दृषद्वती** और **सरस्वती** के बीच में रखा गया है। लुड्विग[2] इसे **आपगा** से मिलाते हुए **गङ्गा** का पर्यायवाची बतलाते हैं; किंतु त्सिमर[3] इसे **सरस्वती** के निकट रखते हैं—या तो सहायक नदी जो थानेश्वर के पास बहती थी, या **इन्द्रमती** जो दूर पश्चिम में है। किंतु पिशल[4] इसे कुरुक्षेत्र की नदी बताते हैं, क्योंकि महाभारत (३. ८३. ६८) में **आपया** कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध नदी कही गई है।

आपायिन्—ऐब्रा (७. २९. २) में ब्राह्मण को आपायी='उपहार को पीने वाला' कहा गया है।

आपिः—ऋ० एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में आपि शब्द संबन्धी को बताता है, (ऋ० १. ३१. १६; १. २६.

[1] वैस्तू० ३. ९४

[2] ट्रां० ऋ० ३. २००; किंतु तु० वही, ४. ३०४।

[3] आले, १८।

[4] वैस्तू, २. २१८।

३; १. ११०. २; २. २९. ४; २. २७. १७; ४. १७. १७; वासं, ९. २० इत्यादि)।

आप्त्य—तु० 'ततः (निष्ठीवनलक्षणवीर्यधारणात् ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात्' सायण) आप्त्याः संबभूवुस्त्रितो द्वितः एकतः' श. १. २. ३. १.

आप्री—द्र० 'आप्रीभिराप्नुवन्। तदाप्रीणामाप्रीत्वम्' तै० २. २. ८. ६; 'तद्यदेनं (पशुम्) आप्रीभिराप्रीणात् तस्मादाप्रियो नाम' श० ११. ८. ३. ५.

आबयु—अ० (६. १६. १) में एक पौधे का नाम है। हो सकता है इससे सर्षप[1] अभिप्रेत हो।

आभिप्रतारिन्—यह **वृद्धद्युम्न** का पैतृक नाम है।

आभूति त्वाष्ट्र—बृउ (२. ६. ३; ४. ६. ३ दोनों शाखाओं में) में वंशों की दो सूचियों में **विश्वरूप** के शिष्य **आभूति त्वाष्ट्र** का उल्लेख मिलता है। दोनों गुरु देवशास्त्रीय है।

आमलक—छाउ (७. ३. १) में आंवले के अर्थ में पाया जाता है। तु० **अमला**।

आमहीयव—सामविशेष। दे. 'स प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स शोचन्नमहीयमानः अतिष्ठत् स एतदामहीयवं (साम) अपश्यत्तेनेमाः प्रजा असृजत' तां० ७. ५. १.

आमिक्षा—आमिक्षा घनीभूत दधि का वाचक है। ऋ० में यह शब्द नहीं है, किंतु बाद की संहिताओं (अवे १०. ९. १३; तैसं २. ५. ५. ४; ३. ३. ९. २; ६. २. ५. ३; मैसं २. १. ९; वासं १९. २१; २३ आदि) और ब्राह्मणों (शब्रा १. ८. १. ७, ९; ३. ३. ३. २ आदि; तैआ २. ८. ८; जैब्रा २. ४३८; छाउ ८. ८. ५. आदि) में आता है। तैआ (२. ८. ८. तु० माश्रौ, २. २. ४०) में इसका संबन्ध वैश्य के साथ बताया गया है।

आम्ब—तै० (१. ८. १०) और कासं (१५. ५) में एक धान्य का नाम **आम्ब** आया है, जिसे शब्रा (५. ३. ३. ८) में **नाम्ब** कहा गया है। द्र० सूर्यकान्त आम्बष्ठ, आम्बष्ठा ऐण्ड आम्बष्ठय, बी. सी. ला वाल्यूम।

आम्बष्ठ्य—ऐतरेय ब्राह्मण (८. २१) में आम्बष्ठ्य एक राजा का बोधक है। उनके पुरोहित नारद थे। यह नाम देश से संबद्ध है, और इसका अर्थ है **अम्बष्ठ** लोगों का राजा। यही अर्थ वोबू में दिया गया है। बाद में **अम्बष्ठ** शब्द का अर्थ हो गया ब्राह्मण और वैश्य पिता-माता की संकर संतान।

आयतन—निवास या गृह के अर्थ में सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले आयतन शब्द का अर्थ छाउ० के केवल एक स्थल (८. २४. २) पर "पवित्र स्थान" या "मन्दिर-गर्भ" है, जैसा कि आर्षकाव्य में पाया जाता है।

आयवस—ऋ० (१. १२२. १५)[1] के एक दुरूह स्थल पर एक राजा का नाम है।

आयास्य—सामविशेष। द्र० 'अयास्यो वा आङ्गिरस आदित्यानां दीक्षितानामन्नमाश्नात् स व्यभ्रंशत स एतान्यायास्यान्यपश्यत्' तां० १४. ३. २२, ११. ८. १०; ११. ८. ११. ११. ८. १२.

आयु—ऋ० (१. ५३. १०; २. १४. ७; ६. १८ ३; ८. ५३. २)[2] में **कुत्स** और **अतिथिग्व** के साथ **आयु** का उल्लेख एक राजा के रूप में हुआ है, जिन्हें **तूर्वयाण** ने इन्द्र की सहायता से हराया था। पिशल[3] के अनुसार वह **पक्थों** का राजा था। संभवतः ऋ० १०. ४९. ५ में[4] उसे इन्द्र की सहायता से **वेश** पर विजयी बताया गया है। अन्य स्थलों पर वह देवशास्त्रीय है[5]। तु० ऋ० १. ३१. ११ और 'उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः' श० ३. ४. १. २२.

आयुत—द्र० घृत।

आयुध—अपने विस्तृत अथ में यह शब्द सभी युद्धोपकरणों को समेट लेता है। ऐब्रा (७. १९. २) में आयुधों को इस प्रकार गिनाया गया है—**अश्व-रथ**, **इषु-धन्व**, और **कवच**। धनुर्बाण आर्य योद्धा का मुख्य आयुध था; फलतः ऋ० (१. ३९. २; १. ६१. १३; १. ९२. १; २. ३०. ९ आदि), अवे (६. १३३. २ आदि) एवं बाद के काल में आयुध शब्द प्रायः धनुर्बाण के ही अर्थ में आया है। ऋ० (६. ७५) के युद्ध-सूक्त से यह बात प्रमाणित हो जाती है। उसमें योद्धा के **धनुर्बाण** से युक्त होने, रथ पर सवार होने और **वर्म** एवं **हस्तघ्न** (हाथ पर धनुष की चोट से बचाने के लिए धारण किया जाने वाला) धारण करने का उल्लेख मिलता है। **कवच** धातु का, पूरे

[1] ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ४६५; कौसू में सूक्त के विनियोग की सूचना के आधार पर, ह्विटनी, ट्रां० अवे० २९२; त्सिमर, आले ७२।

[1] तु० लुड्‌विग, ट्रांस० ऋ०, ३. २०. ६; राथ, वोबू।

[2] बेर्गेन्य, रिलिजन वेदिक, १. ६०।

[3] वेस्तू १. ७१–७५.

[4] किंतु वहाँ पर शब्द संभवतः व्यक्तिवाचक नहीं है।

[5] तु० मैकडानल, वैमा १००, १३५, १४०।

एक टुकड़े का न होकर उसके कई भागों को स्यूत (ऋ० १. ३१. १५) करके बनाया जाता था। संभवतः वह धातु-खण्ड से अथवा किसी कठिन पदार्थ को धातु के साथ मिलाकर बनाया जाता हो। योद्धा **शिरस्त्राण** या **शिप्रा** धारण करता था। ढाल या **जंघात्राणों** के धारण करने का उल्लेख मिलता[1] है। ऋ०[2] (१. ९२. १) में आयुधों के प्रयोग की कुशलता का निर्देश मिलता है।

अद्रि और **अशनि** के प्रयोग के संबन्ध में संदेह है। **अङ्कुश**[3] (ऋ० ८. १७. १०; १०. ४४. ९; १०. १३४. ६; अवे ६. ८३. ३) भी दैवी आयुध ही है। **स्वधिति,**[4] (ऋ० ५. ३२. १०; ९. ६७. ३०; १०. ४३. ९) **वाशी** और **परशु** का उल्लेख संग्रामों के प्रसङ्ग में नहीं मिलता। **भाले** के प्रयोग के संबन्ध में देखिए **ऋष्टि, रम्भिणी, शक्ति, शरु**। **तलवार** के प्रयोग के संबन्ध में देखिए **असि, कृति**। युद्ध में कोई भी आयुध सामान्य नहीं कहा जा सकता, लाठी या **तोमर (वज्र)** का प्रयोग नहीं होता था। युद्ध के संबन्ध में द्रष्टव्य **संग्राम**।

आयुष—आयुष् शब्द वैदिक साहित्य में आयु (उम्र) या आयुवालों (मनुष्यों) का वाचक है। द्र० ऋ० १. १०. ११; १. ३७. १५; २. ४१. १७ आदि।

आयोगव—आयोगव राजा **मरुत्त आविक्षित** ऋ० (१३. ५. ४. ६; तु० शांश्रौसू० १६. ९. १४-१६) में एक यजमान हैं, जहां उनकी विजय के संबन्ध में एक गाथा आती है। तु० **अयोगू**।

आरङ्गर—ऋग्वेद[5] (१०. १०६. १०) में पाए जाने वाले मक्षिकों के नामों में से एक है। अन्य नाम हैं—**सरह्** और **भृङ्ग**।

आरा—बाद[6] में वेधनिका या चर्म-प्रभेदिका के अर्थ में प्रसिद्ध होने वाला यह शब्द ऋग्वेद (६. ५३. ८) में पूषा के आयुध के रूप में व्यवहृत हुआ है। तु० **वाशी**।

आराढि—यह **सौजात** का पैतृक नाम है। तु० **अराड**।

[1] ग्रासमान ने ऋ० १. १३३. २ के वटूरिणा पदा में जंघात्राण यह अर्थ माना है, जो असंभव है।

[2] तु० गेल्डनर, वैस्टू ३. १८३; हापकिन्स, जअओसो १३. २९५।

[3] तु० म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ८७।

[4] तु० त्सिमर, आले २९८–३०१; हापकिन्स, जअओसो १३. २८१ एवं आगे।

[5] तु० त्सिमर, आले, ९७।

[6] हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. ३६५. टि० १।

आरुण औपवेशि—मैसं में यह पाठ आया है। शुद्ध पाठ **अरुण** है।

आरुणि—अरुण औपवेशि के पुत्र **उद्दालक** का पैतृक नाम है। **आरुणि यशस्विन्** भी संभवतः **उद्दालक** का ही नाम है, जिसका उल्लेख जैब्रा (२. ८०) में सुब्रह्मण्या को पढ़ाने वाले गुरु के रूप में हुआ है। **आरुणियों** का उल्लेख जैउब्रा[1] (२. ५. १) कासं (१३. १२) तथा ऐआ (२. ४. १) में मिलता है।

आरुणेय—यह **श्वेतकेतु** का नाम है और **उद्दालक आरुणि** और अरुण औपवेशि के साथ उनके संबन्धको प्रकट करता है। यह शब्रा (१०. ३. ४. १, ११. २. ७. १२, ११. ५. ४. १८, ११. ६. २. १, ७. २. १. ९; बृउ० ६. २. १) और छाउ (५. ३. १; ६. १. १) तक सीमित है, जहाँ **श्वेतकेतु आरुणेय** का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

आर्त—यह **श्रुतर्वन्** और **आश्वमेध** का पैतृक नाम है।

आर्त्तकाय—"ऋक्षाक का वंशज"। जैउब्रा (१. ३८. ४) में यह **गलूनस** का पैतृक नाम है।

आर्चत्क—"ऋचत्क का वंशज"। ऋ० (१. ११६. २२) में यह **शर** ऋषि का पैतृक नाम है।

आर्जीक,[2] **आर्जीकीय,**[3] **आर्जीकीया**[4]—दोनों पुंल्लिग शब्द देश या उसके निवासी को सूचित करते हैं, जबकि स्त्रीलिंग शब्द वहाँ बहने वाली नदी का नाम है। हिल्लेब्रांड्ट[5] उसे कश्मीर में या उसके पास कहीं रखते हैं। एरियन[6] के कथनानुसार अभिसरेज (Abhisares) के भाई **अरसकेज** (Arsaces) का नाम देश के आधार पर पड़ा था। पिशल[7] ने **आर्जीक** को देश तो माना है, किंतु वे उसका ठीक पता नहीं बता सके। किंतु न तो राथ[8] और न त्सिमर[9] ही उसे व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं। दूसरी ओर **आर्जीकीया** को नदी सभी लोग मानते हैं। राथ[10] ऐसा केवल एक स्थल पर मानते हैं (ऋ० १०. ७५). अन्यत्र सोम-पात्रों से उसका संबन्ध ढूंढते हैं। किंतु **आर्जीकीया** शब्द को सर्वत्र समान अर्थ में ही ग्रहण करना

[1] तु० कीथ, ऐआ, २०४।

[2] एकवचन, ऋ० ८. ७. २९, ९. ११३. २, बहुवचन ८. ६४. ११.

[3] ऋ० ८. ६४. ११.

[4] १०. ७५. ५ क प उ

[5] वैमाइथो० १. १२६। १३७.

[6] Anabasis ५. २९. ४.

[7] वेस्टू, २. २०९. २१७.

[8] वोबू।

[9] आले, १२. १४.

[10] वही, ७ सुषोमा।

चाहिए। त्सिमर ने इस नदी का स्थान नहीं बताया है और पिशल के मत में भी इसका ढूंढना दु:साध्य है। हिल्लेब्रांड्ट के अनुसार यह ऊपरी सिन्धु, अथवा **वितस्ता** (झेलम) अथवा कोई अन्य सरित् है। ग्रासमान ने यास्क (निरुक्त ९. २६) का अनुसरण कर इसे **विपाश्** (व्यास) बताया है। किंतु नदी-स्तुति (ऋ० १०. ७५) में आने वाले नदी के नामों के अनुक्रम में अन्तर होने के कारण यह उचित नहीं जान पड़ता। बर्नहोफर[1] इसे **अर्घनाब** (Arghanab) की सहायक नदी **अर्घेसन** (Arghesan) बताते हैं।

तु० मैक्समूलर, सेबुई ३२. २९८, ३९९.

आर्जुनेय—ऋ० में **कौत्स** का पैतृक नाम है। तु ऋ० १. ११२ .२३, ४. २६. १, ७, १९. २, ८. १. ११.

आर्तना—ऋ० (१. १२७. ६) में ऊसर क्षेत्रों का बोधक है। तु०—उर्वरा।

आर्तभाग जारत्कारव—"ऋतभाग का वंशज"। बृउ (३. २. १) में एक आचार्य का नाम है।

आर्तभागीपुत्र—बृउ (६. ५. २; माध्यंदिन शाखा में भी) के एक वंश में **शौंगीपुत्र** के एक शिष्य के रूप में **आर्तभागीपुत्र** का उल्लेख हुआ है। उसी उपनिषद् (३. २. १. १३) में **आर्तभाग, जरत्कारव** का पैतृक नाम है।

आर्तव—एक से अधिक ऋतुओं के रूप में वर्ष के विभागन को सूचित करता है। किंतु यह वर्षार्ध का द्योतक नहीं है, जैसाकि त्सिमर[2] ने दिखाया है; क्योंकि सर्वदा यह शब्द वहुवचन में आया है, द्विवचन में नहीं। अथर्ववेद में यह शब्द ऋतुओं और वर्षों (हायन[3]) के मध्य में आता है। साथ ही यह "ऋतुओं, आर्तवों, मासों और वर्षों[4] के समस्त पद के रूप में आता है; **मासार्ध, मास आर्तव, ऋतु** (अ. वे. ११. ७. २०; तु० १५. ६. ६; १७. ६) के तथा ऋतु **आर्तव, मास मासार्ध,** और **दिन** (१६. ८. १८) के समुच्चय में भी आता है। वाजसनेयि संहिता में "**मास, ऋतु, आर्तव, वर्ष**" (२२. २८) और साधारणतः केवल ऋतुओं (अवे. ५. २८. २, १३; १०. ६, १८; ७. ५; ११. ३. १७; ६. १७, तै० सं०, ७. २. ६. १-३, कौउ, १. ३.)[5] के साथ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

[1] ईरान उण्ड तूरान, ५२.
[2] आले, ३७४।
[3] ३. १०. ९ [4] १०. १०
[5] जिसे वोबू में इस अर्थ में रखा गया है, वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि वहां यह शब्द एक विशेषण है।

आर्त्नी—आर्त्नी धनुष् के उन सिरों को कहते हैं, जिनमें डोरी बांधी जाती है (ऋ० ६. ७५. ४; अवे १. १. ३; मैसं २. ९. २; कासं १७. ११; वासं १६. ९ आदि)। ज्या को सदा धनुष् के किनारों से नहीं बांधते थे, किंतु जब बाण छोड़ना होता था तब उसे कस लेते थे (ऋ० १०. १६६. ३, तु अवे ६. ४२. १)। दूसरी ओर बाद की संहिताओं (मैसं ४. ५. ९) और ब्राह्मणों (पंवि ब्रा० ७. ५. ६; शब्रा, १४. ११. ७ एवं आगे) में विष्णु की मृत्यु की कथा में आया है कि विष्णु अपनी ठोड़ी, कसे हुए धनुष् पर रखे खड़े थे। धनुर्ज्या के कट जाने पर सीधे होते हुए धनुष् ने उनके सिर को धड़ से अलग कर दिया। तु०—त्सिमर, आले, २९७, २९८, हापकिन्स, जअओसो १३. २१७।

आर्द्रा—नक्षत्र-विशेष। तु. 'आर्द्रया रुद्रः प्रथमान एति' तै. ३. १. १. ३.

आर्य—आर्य शब्द आर्य-जाति के लिए ऋ० में (१. ५१. ८, १३०. ८, १५६. ५ आदि) और उसके बाद के साहित्य में आता रहा है। शब्रा (४. १. ६ काण्व शाखा) में दिये गए विभाजन के आधार पर यह शब्द तीन उच्च वर्णो—**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य**—के लिए प्रयुक्त हुआ है। **आर्य** शब्द ऋ० (१. ५१. ८, ९; १. १०३. ३; ६. २०. १०; ६. २५. २, ३ आदि) में **दास** का विलोमार्थक है; अवे (४. २०. ४, ८); मैसं (४. ६. ६, वासं (१४. ३०) आदि में **शूद्र** का विलोमार्थक है। कभी-कभी[1] यह शब्द केवल वैश्यों के लिए पाया जाता है; और ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को दूसरी उपाधि दी जाती है। किंतु ऐसा प्रयोग सामान्य नहीं है और कहीं-कहीं यह अनिश्चित है कि वहां **अर्य** तो नहीं अभिप्रेत है। "**शूद्रार्यौ**" यह प्रयोग (द्र० तैसं ७. ५. ९. ३; काश्रौ सू० १३. ३. ७. ८; कासं, ३४. ५;

[1] त्सिमर, (आले, २०५, २१५ में) अवे. के १९. ३२. ८; १९. ६२. १ में आर्य अर्थ पाते हैं और उन स्थलों पर जहाँ कि शूद्रार्यौ का उल्लेख मिलता है, उपर्युक्त अर्थ देखते हैं। लानमान ह्विटनी के अवे० ट्रां० ९४८, १००३ में स्वीकार करते हैं कि ह्विटनी ने आर्य को जाति के अर्थ में लिया है; वैश्य-मात्र के अर्थ में नहीं; ह्विटनी के विचार के लिए द्र० अवे ४. २०; ४. ८। राथ ने भी वोबू में इसी विचार को अपनाया है। तैसं ४. १०. ३. ८ में शूद्रार्यौ का अर्थ शूद्र और वैश्य ही होना चाहिए; पदपाठ में इसे अर्य ही लिखा गया है, और ऐसा ही त्सिमर ने भी माना है।

पंविब्रा ५. ५. १७; तैब्रा, १. २. ६. ७; लासू, ४. २. ५; शांश्रौसू, १७. ६. २; अनुपद सूत्र, ७. १०) संदिग्धार्थक है। किंतु मौलिक रूप से वह **शूद्र** और **आर्यों** का बोधक रहा होगा; क्योंकि तैब्रा के महाव्रत—संदर्भ में एक **शूद्र** और **आर्य** की लड़ाई तैब्रा. में एक **शूद्र** और **ब्राह्मण** की लड़ाई के रूप में आती है।

आर्य शब्द (स्त्रीलिंग में **आर्या** और **आरी**) बहुधा विश: (ऋ० १.७७.३; १.९६.३१; १०.११.४; १०.४३.४,आदि), आर्य-बस्तियों (ऋ० ३. ३४. ९, तु० वर्ण), नामों (ऋ० ९.६३.१४) वर्णों और धामों (१०.४९.३) का विशेषण बन कर भी आया है। फिर **आर्यों** (व्रत) की देश-व्यापक उच्चता तो (ऋ०१०.६५.११) प्रसिद्ध ही है। **अग्नि** और **इन्द्र** को **आर्य** कहा गया है। उन्हें आर्यों का सहायक कहा गया है (ऋ० ६. ६०. ३)। **दास** शत्रुओं के साथ साथ **आर्य** शत्रुओं (वृत्र, ऋ० ६. ३३. ३; ७. ८३. १; १०. ६९. ६) का भी उल्लेख मिलता है। **दासों** के विरुद्ध **आर्यों** के युद्ध के साथ-साथ **आर्यों** के विरुद्ध भी **आर्यों** के युद्ध का संकेत मिलता है (ऋ० १. १०२. ५; ३. ३२. १४; ६. २२. १०; ६. २५. २, ३; ८. २.४. २७; १०. ३८. ३; १०. ८३. १; १०. १०२. ३ आदि)। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्य लोग ऋग्वेदिक काल में ही मूल-निवासियों की विजय से कहीं आगे निकल गए थे। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में जिन युद्धों का विवरण मिलता है वे **आर्यों** के युद्ध जान पड़ते हैं जब कि निःसंदेह **आर्य** और **दास** शनैः-शनैः एक जाति में घुल-मिल रहे थे।

वेबर[1] के अनुसार ऋग्वेद में उल्लिखित **पञ्चजन** **आर्य** ही थे और चार जन पृथ्वी की चार दिशाओं के थे। किंतु ऐसा संशयरहित नहीं प्रतीत होता। **आर्य वाक्** (ऐआ ३. २. ५, शांआ, ८. ९; तु० कीथ, ऐआ १९५), का उल्लेख ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों में मिलता है।

आर्य—द्र० **माल्य**।

आर्षभ—सामविशेष। तु० 'अभि त्वा वृषभा सुत इत्यार्षभं क्षत्रसाम क्षत्रमेवैतेन भवति' तां० ९. २. १५.

आर्ष्टिषेण—**देवापि** का पैतृक नाम आर्ष्टिषेण है। द्र० ऋ० १०. ९८. ५, ६, ८, निरुक्त २. ११, बृदे. ७. १५५।

[1] इस्टू १७. २८८, तु० राथ, वोबू, क्रुष्टि और **पंचजनासः** शब्द। तु० लुड्विग्, टां० ऋ० ३. २०७ एवं आगे; त्सिमर, आले, २१४ एवं आगे।

आल—अथर्ववेद[1]। (६. १६. ३) में यह घास के अर्थ में आया है; सायण के अनुसार **अलसाला**, **सिलाञ्जाला** (सायण ने शलांजाला पाठ लिया है; किंतु कौसू ६. १६ में शिलांजाला आया है। किंतु तु० **सिलाची**) और **नीलागलसाल** इन तीन शब्दों (अवे ६. १६. ४) के एक के रूप में यह शब्द सस्यवल्ली को सूचित करता है। ह्विटनी[2] के मत में इन शब्दों का ठीक अर्थ अज्ञात है।

आलम्बायनीपुत्र—बृउ, काण्व शाखा (६. ५. २) की एक वंशसूची में **आलम्बीपुत्र** के शिष्य के रूप में **आलम्बायनी-पुत्र** का उल्लेख मिलता है। माध्यंदिन शाखा (६. ४. ३२) में यह संबन्ध उलटा हो गया है। वहां वे **आलम्बीपुत्र** के गुरु और **जायन्तीपुत्र** के शिष्य हैं।

आलम्बीपुत्र—काण्वशाखीय बृउ० के एक वंश-वृक्ष के अनुसार **आलम्बीपुत्र जायन्तीपुत्र** के शिष्य हैं (६. ५. २); किंतु माध्यंदिन शाखा के अनुसार वे **आलम्बा-यनी-पुत्र** के शिष्य हैं (६. ४. ३२)।

आलाक्ता—ऋग्वेद (६. ७५. १५) में विषाक्त बाण को, जिस पर रुरु (मृग) का सींग लगा होता था, **आलाक्ता** कहा गया है। द्र०—**इषु**।

आलिगी—अ० (५. १३. ७) में एक प्रकार के सर्प का नाम है। तु०—**विलिगी**।

आल्लकेय—जैउब्रा (३. ४०. २) में **हृत्स्वाशय** नामक आचार्य का यह विशेषण है।

आवसथ— =रहने का स्थान। इस शब्द का असली अर्थ (अवे ९. ६. ५, अतिथि-सेवी ब्राह्मणों की प्रशंसा में एक सूक्त; तैब्रा ६. १०. ६. ३. ७. ४. ६, शब्रा[3] १२. ४. ४. ६, छाउ ४. १. १; विशेष विवरण सूत्रों में हैं: उदाहरणार्थ आश्रौसू ५. ९. ३; धर्मसूत्र, २. ९. २५, ४) अतिथियों एवं ब्राह्मणों आदि के सत्कार का स्थान प्रतीत होता है। हो सकता है आजकल की धर्म-शालाओं की तरह यात्रियों के रहने का स्थान **आवसथ** कहलाता रहा हो। इस विषय में देखिये[4] ऐउ ३. १२.।

आवसायिन्—ऐब्रा (७. २९. २) में ब्राह्मणों को **आवसायिन्** अर्थात् "सर्वत्र निवास करने वाला" बताया गया है।

[1] किंतु ह्विटनी ५. २२. ६ से तुलना करते हुए इस शब्द को क्रिया समझते हैं।

[2] ट्रां अवे, २९२, २९३, तु० लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ४. ६६।

[3] एगलिंग ने केवल गृह अर्थ किया है।

[4] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वै. मिथो २. १२० टि० १।

आविक—(अवि से प्राप्त)। यह ऊन के लिए आता है। सर्वप्रथम यह बृउ में आया है (२. ३. ६)। तु०–अवि।

आविक्षित—**आयोगव मरुत्त** का यह पैतृक नाम है। तु० ऐब्रा ८. २१, शब्रा १३. ५. ४. ६।

आशरीक—अ० (१९. ३४. १०) के एक सूक्त में एक रोग का नाम है। इससे **जंगिड** ओषधि का महत्त्व बढ़ जाता है। त्सिमर[1] के अनुसार यह केवल अङ्गों की पीड़ा का नाम है, जो ज्वर के कारण उत्पन्न होती है। ह्विटनी[2] के अनुसार यह केवल एक विशेषण है।

तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६७३।

आशस्—ऋ० (१०. १६४. ३) में संबोधन या सामान्य कथन के लिए आशस् शब्द का प्रयोग आया है।

१. आशा—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में आशा शब्द दिशा के अर्थ में आया है। द्र० ऋ० १. ३९. ३, १. १६२. ७, वासं ११. ६३; निघण्टु १. ७ आदि।

२. आशा—अथर्ववेद (६. ११९. ३, १९. ४. २) एवं ब्राह्मणों (शब्रा० ३. ३. १. १५, ऐब्रा, ३. ४६ आदि) में यह शब्द अभिलाषा के अर्थ में आया है।

आशापाल—अथर्ववेद (१. ३१. १) एवं परवर्ती साहित्य (वासं, २२. १९; शब्रा, १३. १. ६. २ आदि) में आशापाल शब्द दिशाओं के रक्षक का वाचक है। वेदोत्तरकाल में **दिक्पाल, लोकपाल** या **दिग्गज** इसी के आधार पर बने हैं। तु० 'शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालाः' श० १३. १. ६. २; 'अथैते दैवाः (आशापालाः) आप्याः साध्या अन्वाध्या मरुतः श. १३. ४. २. १६.

आशिन—ऋग्वेद (१. २७. १३) में **आशिन** शब्द वृद्ध या बड़ी आयु के व्यक्ति का वाचक है।

आशिर्—मिश्रण को, विशेषतः सोम को दूध के साथ मिलाने को **आशिर्** कहते हैं। इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद (१. १३४. ६, ३. ५३. १४, ८. २. १०, ११, आदि, अवे २. २९. १ आदि, नि० ६. ८., ३२.) में और उसके बाद भी प्रायः आया है। इसके लिए केवल दूध का उपयोग नहीं किया जाता था। सोम के "तीन मिश्रणों"[3] का विशेषण त्र्याशिर, दूध **गवाशिर्**, दधि **दध्याशिर्** और अन्न **यवाशिर्** है। ऋ० ५. २७. ५; तु० ८. २. ७।

[1] आले, ६५, ३९१.

[2] ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद, ९३३.

[3] तु०–हिल्लेब्रांड्ट, वैमिथो० १. २०९. और आगे।

आशिष्—आशीर्वाद के अर्थ में **आशिष्** शब्द का प्रयोग ऋग्वेद-काल से ही होता रहा है। द्र०ऋ० ७. १७. ५; १०. १२८. ३; अवे १४. २. ९; वासं २. १०; तैसं ३. १. ८. ३ आदि।

आशीविष—केवल ऐब्रा (६. १.) में आने वाले इस शब्द को राथ[1] ने विशेष प्रकार के सर्प के अर्थ में लिया है। इसकी दंष्ट्रा में (आशी) विष होता है।

१. आशु—"तेज"। ऋग्वेद (२. १६. ३; २. ३१. २; २. ३८. ३ आदि; अवे २. १४. ६; ४. २७. १; १३. २. २; तैसं १. ८. १०; शब्रा ५. ३. ३. ३ आदि) से लेकर परवर्ती साहित्य तक में यह शब्द बिना अश्व शब्द के भी रथ के घोड़े के लिये आता रहा है।

२. आशु—सामविशेष। तु० 'अहर्वा एतदव्लीयत तद् देवा आशुनाभ्यधिन्वंस्तदाशोराशुत्वम्' तां १४. ९. १०.

आशुंग—अथर्ववेद (६. १४. ३) में यह शब्द किसी पशु को सूचित करता है। "शिशुक" शब्द द्वारा इसकी विशेषता बताई गई है। राथ[2] के अनुसार या तो यह तेज उड़ने वाला कोई पक्षी है, या माता के पास तेजी से दौड़ कर जाने वाला अश्वशावक है। सायण इसके साथ के "शिशुक" शब्द को किसी पशु के अर्थ में "शुशुक" के रूप में पढ़ते हैं। ब्लूमफील्ड[3] दोनों शब्दों को मिलाकर शीघ्रगामी अश्वशावक अर्थ करते हैं (शिशुक आशुंग)।

तु० ह्विटनी, ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद २९१।

आश्रम—"विश्राम करने का स्थान"। यह शब्द किसी भी बुद्धपूर्व उपनिषद् में नहीं आता। हिन्दू-जीवन की एक विशेष अवस्था को प्रदर्शित करते हुए यह शब्द सर्व-प्रथम श्वेउ (अत्याश्रमिन् श्वेउ, ६. २१; मैउ, ४. ३ इ०) में आया है। छाउ (८. ५) में एक स्थल पर **ब्रह्मचारी** और **गृहपति** का उल्लेख मिलता है, जिन्हें अध्ययन के पुरस्कार-स्वरूप पुत्रों की उत्पत्ति, योग के अभ्यास, जीवित प्राणियों की हिंसा के अभाव, यज्ञों, एवं जन्म-मरण से मुक्ति की आशा दिलाई गई है। दूसरे स्थान पर (२. २३. १) तीन अवस्थाओं की उक्ति है, किंतु क्रमिक रूप में नहीं : एक **ब्रह्मचारी** या तो **गृहस्थ** बन सकता था, या **वानप्रस्थी** बन सकता था और या गुरु के आश्रम में ही जीवनपर्यन्त रह सकता था। उसी प्रकार एक **वानप्रस्थी** (५.१०) के वन में मरने और

[1] वोबू। आर्षकाव्यों में एवं उनके बाद यह शब्द सामान्य रूप से प्रचलित है।

[2] वोबू। [3] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४६४।

याज्ञिक के ग्राम में ही यज्ञ करने का भी उल्लेख मिलता है। इन तीनों के विपर्यास में (५२. २३. १) ब्रह्मसंस्थ मनुष्य का उल्लेख है। बृउ (४. २. २२) में आत्मज्ञानी पुरुषका उनसे विपर्यास दिखाया गया है, जो (१) अध्ययन करते हैं, (२) जो यज्ञ करते हैं, (३) जो वनवास करते हैं। दूसरे स्थान (३. ८. १०) पर आत्मज्ञानी का विपर्यास उन लोगों से दिखाया गया है, जो यज्ञ करते हैं, जो दान करते हैं, और जो तप करते हैं। तीन आश्रमों से इनके पार्थक्य और विशेषता से एक चतुर्थ आश्रम (जाउ, ४, तु० मुउ) भी सामने आया। **गृहस्थ** को केवल **वानप्रस्थ** ही नहीं, अपितु **संन्यास** (परिव्रजन, भिक्षुचर्या) को भी ग्रहण करना पड़ा। प्रथम आश्रम **ब्रह्मचर्य** अनिवार्य था। किंतु यह आश्रम स्थायी न रहने पाया। तु०—डायसन फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स। ६०, ३९७, एवं आगे।

आश्रेषा, आश्लेषा—द्र० नक्षत्र–विशेष

आश्व-घ्न—ऋग्वेद (१०. ६१. २१) के एक दुरूह मन्त्र में यह शब्द आता है। यह किसी राजा का नाम प्रतीत होता है, जिसने **इन्द्र** को आहुतियाँ दी थीं। जैसा कि लुड्विग (ट्रांस० ऋ०. ३. १६५) का विचार है उसे **वितरण** के नाम से अभिहित किया गया है।

आश्वतर आश्वि, या आश्वतराश्वि—ये दोनों **बुडिल** के पैतृक नाम हैं। पहला ऐब्रा (६. ३० में) मिलता है। दूसरा शब्रा (४. ६. १. ९; १०. ६. १. १); बृउ (४. १५. ८); और छांउ (५. ११. १. ५. १६. १) में। सायण (ऐब्रा पूर्वोक्त) के अनुसार इस शब्द से सूचित होता है कि वे **अश्व** के पुत्र और **अश्वतर** के वंशज थे।

आश्वत्थ्य—**अहीना** का यह पैतृक नाम है। दे. तैब्रा ३. १०. ९. १०।

आश्वम्—सामविशेष। तु० 'अश्वो वै भूत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। सा प्राजायत। बहुरभवत्। प्रजायते बहुर्भवति आश्वेन तुष्टुवानः' तां ११. ३. ५.

आश्वमेध—किसी अज्ञातनामा राजा का यह पैतृक नाम है। ऋग्वेद की एक दानस्तुति (८. ६८. १५, १६) में यह नाम आता है।

आश्वयुज—आगृसू (२. २), काश्रौसू (२३. ४. ४), पागृसू (२. १६) में आश्विन मास का नाम **आश्वयुज** आया है।

आश्वलायन—प्रश्नोपनिषद् (१. १) में **कौशल्य आश्वलायन** का उल्लेख एक ऋषि के रूप में है, जो अन्य ऋषियों के साथ **पिप्पलाद** ऋषि के पास ब्रह्मान्वेषण–संबन्धी प्रश्न पूछने गए थे। यह निश्चित नहीं कि श्रौत-सूत्रों की एक शाखा के प्रवर्तक यही थे या अन्य कोई। (तु०—वेबर, इस्तू १. १८)।

आश्ववाल—इस विशेषण (अश्ववाल-निर्मित) से, जो शब्रा (३. ४. १. १७, ६. ३. १०) में आता है अश्ववाल घास का संकेत मिलता है।

आश्वसूक्त—सामविशेष। तु.'गौषूक्तिश्चाश्वसूक्तिश्च बहु प्रतिगृह्य गरगिरावमन्येतां तानेते सामनी अपश्यतां ताभ्यां गरन्निरघ्नाताम्' तां १९. ४. १०.

आश्वसूक्ति—पंब्रा में (१९. ४. २ एवं आगे) **गौषूक्ति** के साथ **आश्वसूक्ति** का उल्लेख साम के रचयिता के रूप में हुआ है।

आश्विन, आश्वीन—एक अश्वारोही एक दिन की दौड़ में जितनी दूरी तय कर लेता है उतनी को अथर्ववेद (६. १३१. ३) में एवं दो ब्राह्मणों (ऐब्रा, २, १७, पंविब्रा, इस्तू, १. ३४) में इन शब्दों से जताते हैं। यह दूरी की ठीक परिभाषा नहीं है। अथर्ववेद में यह पांच गव्यूति से अधिक की दूरी प्रतीत होती है; क्योंकि तीन या पांच योजनों के तुरन्त बाद यह आती है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्वर्गलोक को सहस्र **आश्विनों** की दूरी पर स्थित कहा गया है।

आष—अथर्ववेद (८. ८. १८) में **आष** शब्द आया है। पैप्पलाद शाखा में **ओष** है। यह बहुत दुरूह है। सायण ने आस् या आस्य लेकर इसका मुख अर्थ किया है। ह्विटनी ने संभवतः ओष के आधार पर 'दाह' अर्थ किया है। तु०—गेल्डनर, वैस्तू 'आक्षु' शब्द।

आषाढ—आषाढ शब्द वर्षा के प्रथम मास को उद्दिष्ट करता है। अथर्ववेद परिशिष्ट (५९. १. २.) में **'आषाढ शुद्ध'** का उल्लेख है। द्र०—आपधसू १. ११. २०, हिधसू०; १. ३. ७० आदि।

आषाढि सौश्रोमतेय—शतपथ ब्राह्मण (६. २. १. ३७),[१] के अनुसार **आषाढि सौश्रोमतेय** का विनाश हो गया था, क्योंकि उसने अग्निचिति में शिरों को ठीक ढंग से नहीं रक्खा था।

आष्ट्रा—आष्ट्रा शब्द कासं (३७. १) में कृषक की पैनी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

[१] एगलिंग ने अषाढि पढ़ा है, किंतु अषाढ से इस पैतृक नाम के निष्पन्न होने से आषाढि ही शुद्ध जान पड़ता है।

आष्ट्री—ऋग्वेद (१०. १५६. ३)[१] में यह शब्द अग्नि-स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। दुष्ट पक्षी के उस पर बैठने को बुरा समझा गया है।

आसङ्ग प्लायोगि—आसङ्ग प्लायोगि एक राजा थे; ऋग्वेद (८. १. ३२, ३३) की एक दानस्तुति में उनका उल्लेख है। वे एक उदार दाता थे। एक विचित्र लैंङ्गिक ऋचा (ऋ० ८. १. ३४) की योजना एवं उसके गलत समझने[२] के आधार पर एक कथा उभर आई जिसके अनुसार वे पुंस्त्वरहित होकर एक स्त्री बन गए थे और फिर **मेध्यातिथि** के प्रयत्न से नर बन गये थे और तब उन्होंने अपनी पत्नी **शश्वती** को प्रचुर रूप में आनन्दित किया था। किंतु यह सब कुछ '**शश्वती नारी**', (प्रत्येक स्त्री) इस वाक्यांश को (८. १. ३४) गलत समझने पर आधृत है। दानस्तुति को (८. १. ३१. ३२)[३] ठीक तरह न समझने के कारण ही '**स्दनद्रय**' को उनका पुत्र कहा गया है, जो केवल एक विशेषण है।

आ-सन्दी—आसन्दी=आसन का उल्लेख बाद की संहिताओं (अवे १४. २. ६५; १५. ३. २ एवं आगे तैसं; ७. ५. ८. ५; वासं ८. ५६; १९. १६; १९. ८६ आदि) एवं ब्राह्मणों (ऐब्रा ८. ५, ६, १२; शब्रा ३. ३. ४. २६; ५. २. १. २२; ५. ४. ४. १ आदि) में हुआ है, किंतु ऋग्वेद में उसका उल्लेख नहीं मिलता। अथर्ववेद (१५. ३. २ एवं अग्रिम) में **व्रात्य** के लिए लाए जानेवाले आसन का उल्लेख है। इसमें दो पाये होते थे, लम्बाई की ओर से और तिर्यक्-टुकड़े सामने और तिर्यक् रस्सियाँ। यह लकड़ी और रस्सी का बना होता था। इसमें एक **आस्तरण** और **उपबर्हण** रहता था। इसमें एक **आसन** (आसाद) और एक उपश्रय रहता था। इसी प्रकार के आसन का उल्लेख कौषीतकि उप० (१. ५)[४] और जैब्रा० (२. २४) में है। राजसूय के अवसर पर राजा के लिये इसी प्रकार के आसन का उल्लेख ऐब्रा (८. ५, ६, १२.) में मिलता है। यहाँ पायों की ऊँचाई एक वितस्ति दी गई है, लम्बाई की ओर से और तिर्यक् रस्सियाँ एक अरत्नि माप की बताई गई हैं। बुना हुआ भाग (विवयन) मूंज से बनता था और पीढ़ा उदुम्बर की लकड़ी का होता था। अथर्ववेद के एक अन्य स्थल (१४. २. ६५) पर आसन्दी को लानमान[१] (अवलम्बी) 'लम्बी कुर्सी' के रूप में लेते हैं। उसमें भी आस्तरण (**उपधान**) और **उपवासन** (आच्छादन, खेस) का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण **आसन्दी** का एक अभिजात आसन के रूप में चित्रण करता है; एक स्थान (५. ४. ४. १) पर उसे खदिर की बनी बताया गया है। उसमें छेद होते थे (वि-तृण्णा) और इन छेदों में पट्टियाँ पड़ी होती थीं जैसा कि '**भारतों**' के आसन में होता था। सौत्रामणी यज्ञ में (शब्रा १२. ८. ३. ४. एवं आगे, जो इन्द्र से संबद्ध है), आसन उदुम्बर का कहा गया है, जो जानु तक ऊँचा होता था, किंतु जिसकी चौड़ाई और लम्बाई के विषय में कुछ नहीं बताया गया है। वह बेंत से मंढा होता था। राजा के आसन (१४. १. ३. ८) को कंधों की ऊँचाई का बताया गया है, और उसे उदुम्बर की लकड़ी का बना कहा गया है। वह बल्वज घास की रस्सी से बुना जाता था। एक अन्य स्थान पर (६. ७. १. १२ एवं आगे) आसन को एक वितस्ति ऊँचा बताया गया है, एक अरत्नि की माप का चौड़ा एवं गहरा कहा गया है, उदुम्बर का बना और बेंत से बुना चित्रित किया गया है। उस पर मिट्टी का पोत भी बताया गया है।

आसन्दीवन्त्—सिंहासन-युक्त। **जनमेजय पारिक्षित** का राजकीय नगर, जहाँ उनके प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ का अश्व बांधा गया था **आसन्दीवन्त्** कहा गया है। शब्रा और ऐब्रा में इस संबन्ध में गाथाएँ मिलती हैं, किंतु दोनों में पुरोहित के नाम भिन्न-भिन्न हैं। शब्रा (१३. ५. ४. २) में उसे **इन्द्रोत दैवाप शौनक** कहा गया है और ऐब्रा (८. २१; तु० शांश्रौसू १६. ९. १; पाणिनि, ८. २. १२ में यह नाम ज्ञात) में उसे **तुर कावषेय** कहा गया है।

आसमात्य—जैउब्रा (४. ८. ७) में यह **भयद** का पैतृक नाम है।

आसाद—अथर्ववेद (१५. ३. ८) में **व्रात्य** के बैठने के आसन (**आसन्दी**) के एक भाग का यह नाम मिलता

[१] तु० श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ३४७।

[२] द्र०—हापकिन्स, रिलिजन्स आफ इंडिया, १५० टि० १; बृहद्देवता, २. ८. ३; ६. ४१ मैकडोनल के नोट के साथ। द्याद्विवेद ने निघण्टु से संकलित वैदिक शब्दों पर विचार करते समय उस कथा को विस्तार से दिया है। सीज द्वारा दिये गए नीतिमंजरी के उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य, दी जा० देस ऋग्वेद, ४०, ४१।

[३] तु० लुड्विग, ट्रांस० ऋ०, ३. १५९; हापकिन्स, जअओसो १७. ८९; ग्रिफिथ, हिम्स आ० ऋ०, २. १०६, १०७; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन १. ३५४।

[४] तु०—वेबर, इंस्तू, १. ३९७, कीथ, शांआ १९

[१] द्र०—उनकी टि०, अ० वे० के ह्विटनी के अनुवाद, ७६५ में। तु० त्सिमर, आले, १५५।

है। ह्विटनी[१] के अनुसार यह बैठने के स्थान का बोधक है। औफ्रेक्ट,[२] त्सिमर[३] और राथ[४] इसे आसन का तकिया मानते हैं।

आसुरायण—बृउ की दोनों शाखाओं में प्रथम दोनों वंशों की सूची (२. ६. ३; ४. ६. ३) में **आसुरायण** को **त्रैवणि** का शिष्य बताया गया है। किंतु तृतीय वंश (६. ५.२)[१] में उन्हें **आसुरि** का शिष्य कहा गया है। तु०वेबर, इस्तू, १. ४३४. टि०।

आसुरि—बृउ के प्रथम दो वंशों (२. ६. ३; ४. ६. ३) की सूची में **आसुरि भारद्वाज** के शिष्य और **औपजन्धनि** के गुरु के रूप में उल्लिखित हैं; किंतु तृतीय वंश (६. ५. २) में उन्हें **याज्ञवल्क्य** का शिष्य और **आसुरायण** का गुरु बताया गया है। शब्रा के प्रथम चार काण्डों (१. ६. ३, २६; २. १. ४. २७; ३. १. ९; ४. १. २; ६. १. २५, ३३; ३. १७; ४. ५. ८. १४) में उन्हें यज्ञिय बातों में आप्त माना गया है, और आत्रेय काण्ड (१. १. ३३ तथा टि० १, २) में उन्हें सिद्धान्तों पर प्रामाणिक व्यक्ति बताया गया है।

तु०—वेबर, इस्तू, १. ४३० और आगे, इनका आचार्य के संबन्ध में सुझाव तथा उन्हें सांख्यमत-प्रवर्तक मानना स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य गार्वे, सांख्य फिलासफी, २९–३०)।

आसुरि-वासिन्—बृउ (६. ५. २, दोनों शाखाओं) में आचार्यों की एक वंश-सूत्री में **प्राश्नीपुत्र** का नाम **आसुरि-वासिन्** है।

आसुरी—अथर्ववेद (१. २४. १, २) में यह शब्द किसी विशेष असुर-स्त्री का बोधक है।

आसेचन—तरल पदार्थों, जैसे कि मांस-रस (यूषन् ऋ० १. ६२. १३) या घी (श० ब्रा० २. १. ९. ५.) रखने वाले पात्र को **आसेचन** कहते हैं। इसके आकार और निर्माण के संबन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। तु–त्सिमर, आले, २७१।

आस्, आसन्, आस्य—वैदिक साहित्य में आस्, आसन् और आस्य शब्द मुख-वाचक है। (आस्: ऋ० ६. १६. ९; ७, १६. ९ आदि; आसन्: ऋ० १. ११६. १४; १. ३४. १०; १०. ९८, २; शब्रा ३. ६. ३. २० आदि; आस्य ऋ० १. ३८. १४; ७. १५. १, १०. ३९. १३, वासं २. ११, अवे ६. ५६. ३ आदि)।

आस्कन्द—एक प्रकार का अक्ष-प्रक्षेप। द्र०—२–**अक्ष**।

[१] ट्रांस आ० अवे, ७७१. [२] इस्तू, १. १३१.
[३] आले, १५५. [४] वोबू।

आस्तरण—व्रात्य के आसन (आसन्दी) का बिछौना (अवे १५. ३. ७)। राजसूय के समय राजा के आसन के आच्छादन को व्याघ्रचर्म-निर्मित बताया गया है (ऐब्रा ८. ५)। कौउ (१. ५) में इसके लिए **उपस्तरण** शब्द का प्रयोग आया है। तु०–त्सिमर, आले १५५।

आस्त्रबुध्न—ऋग्वेद (१०. १७१. ३) के आधार पर **आस्त्रबुध्न** एक व्यक्ति का नाम है, जिसकी सहायता इन्द्र ने की थी। उसी पंक्ति में **वेन्य** का भी उल्लेख है, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वह **आस्त्रबुध्न** का मित्र[१] था अथवा शत्रु[२]।

आस्थातृ—ऋग्वेद (६. ४७. २६) में एक स्थल पर रथी योद्धा को **आस्थातृ** कहा गया है। साधारणतः उसे **रथी** या **रथेष्ठा** कहा गया है। तु० त्सिमर, आले, २९६।

आस्राव—आस्राव एक प्रकार का रोग है, जिसका उल्लेख अथर्ववेद (१. २. ४; २. ३. २; ६. ४४. २) में तीन बार हुआ है। इसके ठीक लक्षण ज्ञात नहीं है। भाष्यकार ने एक स्थान पर इसकी व्याख्या में इसे मूत्रातिसार बताया है (अवे १, २. ४, २ पर; तु० २, २ पर) लानमान[३] इसे मधुमेह बताते हैं; ब्लूमफील्ड इसे अतिसार (डायरिया) समझते हैं; त्सिमर[४] का कहना है कि क्योंकि उसकी दवा 'अरुस्राण' ('घाव भरने वाली') बताई गई है इसलिये **आस्राव** का अर्थ है व्रण-स्राव। ह्विटनी[५] ने इसका अर्थ स्राव किया है और ब्लूमफील्ड के अर्थ को प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा है। लुड्विग[६] इसे बीमारी या सर्दी के रूप में ग्रहण करते हैं।

आहनस्—ऋग्वेद के कई मन्त्रों में 'जायरोई' के अर्थ में **आहनस्** शब्द आया है (ऋ० २. १३. १; ५. ४२. १३; १०. १०. ८; १०. ९५. ५; १०. १२५. २ आदि; निरुक्त, ४. १५; ५. २)।

आहनस्या—व्यभिचारिणी; बहुवचन में यह शब्द अथर्ववेदीय (२०. १३६) अश्लील कुंतापसूक्त के एक अंश को सूचित करता है। (अवे० २०. १३६, ऐब्रा, ६. ३६, कौब्रा ३०. ७)। तु०–ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ९९।

[१] द० ग्रासमान और ग्रिफिथ का ट्रांसलेशन।
[२] लुडविग्, ट्रांसलेशन आफ दि ऋग्वेद।
[३] ह्विटनी का अ० वे० ट्रां० ३।
[४] अजफि ७. ४६७; जअओसो १३, ११३, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, २३३, २३४।
[५] आले ३९२, [६] उपर्युक्त ३. ४१।
[७] ट्रांस० आफ दि ऋ० ३. ५०७. ५०७।

आहवनीय—वैदिक साहित्य में आहवनीय उस अग्नि को कहते हैं, जिसमें सामान्यतया आहुति डाली जाती है। इसके अतिरिक्त **गार्हपत्य** और **दक्षिणाग्नि** भी वैदिक साहित्य में विशेष महत्त्व के हैं। तु० तैसं २. २. ५. ६; २. ६. ३. २; ऐब्रा ७. १७; शब्रा १. ९. २. ४ आदि।

आहाव—कूप (अवत) के प्रसङ्ग में इस शब्द का अर्थ डोल है। तु० ऋ० १. ३४. ८, ६. ७. २, १०. १०१. ५, १०. ११२. ६ निरुक्त ५. २६.।

आहुति—हविर्द्रव्य, जो मन्त्रपाठ के साथ देवों के निमित्त अग्नि में छोड़ा जाता है, **आहुति** कहाता है। दे ऋ० १. ३१. ५; ३. २८. ३; ७. ६६. १९; १०. ५२. २; अवे ३. २२. ४; ७. ७०. १; तैसं ५. १. ३. ४ आदि। तु० 'तद्यदाह्वयति तस्मादाहुतिर्नाम' श० ११. २. २.

आह्नत—मैसं (३. ४. ६) में एक आचार्य का नाम है, जिसका पैतृक नाम **हैतनामन** है।

आह्नेय—यह **सौच** का पैतृक नाम है। द्र० तैआ, २. १२

इ

इक्षु—ईख। इसका प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद (१. ३४. ५) में और तदनन्तर बाद की संहिताओं (मैसं ३. ७. ९, ४. २. ९ इक्षुकाण्ड; वासं २५. १; तैसं, ७. ३. १६ १; काठक, अश्वमेध ३. ८, इसका अर्थ अक्षिपक्ष्म है) में मिलता है। उल्लेखों से यह नहीं ज्ञात होता कि इसकी खेती होती थी अथवा यह जङ्गल में पैदा होता था। तु०—त्सिमर, आले, ७२. राथ, वोबू।

इक्ष्वाकु—ऋग्वेद (१०. ६०. ४) में यह नाम केवल एक बार और वह भी संदिग्ध रूप में आता है। किंतु इतना निश्चित है कि इससे किसी राजा का बोध होता था। बाद के भाष्यकार उसी सूक्त में उल्लिखित **असमाति** को इक्ष्वाकुवंशीय राजा बताते है (जैब्रा ३. १६७,[1])। अथर्ववेद[2] (१४. ३९. ९) में भी यह नाम केवल एक बार आता है, जहाँ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह किसी **इक्ष्वाकु**-वंशीय राजा के लिए आया है, अथवा **इक्ष्वाकु** के ही लिए। कुछ भी हो, **इक्ष्वाकु** एक प्राचीन वीर पुरुष थे। पंब्रा (१३. ३. १२) में **त्र्यरुण त्रैवातव ऐक्ष्वाकु** का उल्लेख है, जिन्हें बृहद्देवता (५. १४ एवं आगे) के **त्र्यरुण त्रैवृष्ण** से मिलाया जा सकता है। उन्हें ऋग्वेद (५. २७. ३) के **त्र्यरुण त्रसदस्यु** से भी मिलाया गया है[1]। **त्रसदस्यु** के **इक्ष्वाकु-कुल** से संबद्ध होने का प्रमाण शब्रा (१३. ५. ४. ५) में **पुरुकुत्स** के **ऐक्ष्वाकु** होने के रूप में मिलता है। इस प्रकार **इक्ष्वाकु** राजाओं का वंश मूलतः **पुरु** राजाओं का वंश था। त्सिमर[2] ने उनका सिन्धु की ऊपरी घाटी में निवास बताया है, किंतु संभवतः वे इससे कुछ पूरब की ओर रहते थे[3]। बाद में **इक्ष्वाकु** का संबन्ध अयोध्या से बताया गया है।

[1] मैक्समूलर, ऋग्वेद में साट्यायनक, ४.१००-१०७; १६७; जअओसो १८. ४२; बृहद्देवता ७. ८५ एवं आगे, मैकडानल के नोट के साथ।

[2] तु—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे ६८०; ह्विटनी, ट्रांस० आ. दि अवे ९६१।

१. इट—यह शब्द दो बार अथर्ववेद में आता है। प्रथम स्थान (६. १४. ३; तु० ४. १९. १,)[4] पर यह एक विशेष दूर्वा या शर को सूचित करता है; द्वितीय स्थान (९. ३. १८)[5] पर बांस या नरकट के टट्टे को सूचित करता है।

२. इट—ऋग्वेद (१०. १७१. १) के एक सूक्त के अनुसार **इट इन्द्र** के शरणागत एक ऋषि थे। राथ[6] ने इसे (इट्) "गलती करना" या 'भ्रमण करना' (तु०अट्) इस अर्थ में माना है। अनुक्रमणी न इसे इसी अर्थ में माना है, किंतु बृहद्देवता में स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं माना गया है (८. ७३)।

तु०—लुडविग्, ट्रांस आ दि ऋ० ३. १३३।

इटन्त् काव्य—एक ऋषि का नाम है, जो कौब्रा (७. ४) के अनुसार **केशी दार्भ्य** के समकालीन हैं। पंब्रा में इनका उल्लेख **इच्छन्त** के रूप में हुआ है (१४. ९. १६)।

तु०—वेबर, इस्तू, १. २९३, २. ३. ८।

इड—अन्न। तु० 'अन्नं वा डः' ऐ० २. ४. ६. १५; =प्रजा० श० १. ५. ४. ३; =वर्षा श० १५. ३. ११.

इडा—इडा शब्द ऋग्वेद में एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में अनेक बार आया है। इसका सामान्य अर्थ

[1] तु० सीग, दी ज़ा० देस ऋ०, ६८–७५, मैकडानल, बृहद्देवता ७. ८५ एवं आगे, लुड्विग, ट्रांस० आ दि ऋ०, ३. १३३. १३८; ४. ३२४।

[2] आले, १०४, १३०.

[3] तु० पिशल, वैस्तू, २. २१८., गेल्डनर; वही, ३. १५२।

[4] ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्वेद।

[5] पिशल, ३५. ७१८. त्सादामीगे।

[6] वोबू।

अन्न या पुष्टि है। (ऋ० ७. ६४. २; ५. ५३. २; ४. ५०. ८; अवे ६. ६२. ३ आदि)। किंतु **इडा** एक देवी के रूप में भी उल्लिखित है (ऋ० ७. १६. ८; १०. ७०. ८) **इडा** को निघण्टु, (२११) में गौ का पर्यायवाची बताया गया है: आप्री सूक्तों में **इडा** का उल्लेख **भारती, सरस्वती, मही** के साथ आया है। अग्नि को **इडा** का पुत्र कहा गया है (ऋ० ३. २९. ९. १०)। शब्रा (१. ८. १. ८; ११. ५. ३. ५) में **इडा** को **मनु** की पुत्री कहा गया है।

इडा=पृथिवी, कौ० ९. २; =गौ० श. ३.३.१.४.= पशवः, कौ० ३. ७. ५.=श्रद्धा श. ११. २. ७. २०= मनुपुत्री श० १. ८. १ ११. (तु०—मेकडोनल वैमाइ, पृ० १२४)।

इडादधः=यज्ञ; तु. 'स एष पशुकामस्याऽन्नाद्यकामस्य यज्ञः' कौ. ४. ५.

इडानां संक्षारः—सामविशेष। तु. 'पशव इडानां संक्षारः' तां. १६. ११. ७.

इतिहास—वैदिक काल से उत्तरवर्ती रचनाओं में साहित्य के एक प्रकार के रूप में **पुराण** के साथ इतिहास का उल्लेख प्रायः मिलता है। अथर्ववेद के पञ्चदश काण्ड (१५. ६. ४ एवं अग्रिम) में सर्वप्रथम दोनों का उल्लेख आता है। इसके बाद इतिहास का नाम शब्रा, (१३. ४३. १२. १३, समस्त रूप में ११. ५. ६. ८; ७. ९) जै० (१. ५३), बृ० (२. ४. १०; ४. १. २; ४. ५. ११) और छा० (३. ४. १. २; ८. १. २. ४; २. १; ७. १) उपनिषदों में मिलता है। अन्तिम में इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद बताया गया है। शांश्रौ (१६. २. २१. २७) में इतिहास को एक वेद और **पुराण** को एक वेद कहा गया है। 'इतिहास-वेद' और 'पुराण-वेद' गोब्रा (१. १०) में पाए जाते हैं। शब्रा (१३. ४. ३. १२, १३) इतिहास और **पुराण** को वेद से अभिन्न बताता है। एक स्थल पर **अन्वाख्यान** और इतिहास में अन्तर बताया गया है। (११. ६.९ तु. पृ. २४) किंतु इन दोनों का ठीक अन्तर दुरूह है। संभवतः **अन्वाख्यान** एक पूरक रहा हो। तैआ (२. ९) में **इतिहास** और **पुराण** का प्रयोग बहुवचन में ही किया गया है।

प्राचीन साहित्य में इतिहास और पुराण के अन्तर को बतानेवाला उल्लेख नहीं मिलता। जीग[1] द्वारा परीक्षित बाद के साहित्य[2] में भी कोई निश्चित अन्तर नहीं प्राप्त

[1] दी जा. देस ऋ. ३१ एवं आगे।

[2] द्र० मैक्समूलर-संपादित सायणसहित ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका (पृ० १२), सायण का शब्रा पर भाष्य, ११. ५. ६. ८; शंकर, बृभाष्य, २. ४. १०।

होता। गेल्डनर[1] ने अनुमान लगाया है कि इतिहास और पुराण एक ही कृति के दो नाम हैं; इसमें सभी प्रकार की पुराकथाएं—वीरतामूलक, सृष्टि की उत्पत्ति से संबद्ध, एवं वंश-परंपरा को बताने वाली—संगृहीत की जाती थीं। किंतु इतिहास और पुराण के दो अलग-अलग ग्रन्थ होने का पता संभवतः पतञ्जलि (पाणिनि, ४. २. ६० पर वार्तिक और महाभाष्य, कीलहार्न—संपादित, २. २८४) को था। गेल्डनर के अनुमान का खण्डन इससे भी होता है कि यास्क ऐसी किसी कृति को नहीं जानते। उनके अनुसार इतिहास मन्त्र-साहित्य का ही एक भाग है (नि० ४. ६)। ऐतिहासिक व्याख्याता वे हैं, जो पुराकल्पनाओं के स्थान पर पुराकथाएं ऋग्वेद में पाते हैं (वही, २. १६; १२. १)। इतिहास-मात्र का ही यास्क उल्लेख करते हैं, (वही, २. १०; २. २४; ४. ६; १०. २६; १२. १०) इतिहास-पुराण इस समस्त पद का नहीं; अतः दोनों का एक होना ठीक नहीं है।

इतिहास का **आख्यान** से संबन्ध भी अनिश्चित है। जीग[2] का विचार है कि इतिहास और पुराण शब्दों का प्रयोग उन पुराकल्पनाओं, पुराकथात्मक इतिहास और सृष्टि-कथाओं के लिए हुआ है, जो वैदिक कवियों के संमुख थीं; और जिन्हें पञ्चम वेद की संज्ञा दी गई है; भले ही उसका स्वरूप अनिश्चित रहा हो। इस प्रकार अन्वाख्यान, **अनुव्याख्यान**, और **व्याख्यान** की उत्पत्ति संभव थी; आख्यान इनसे बाहर भी हो सकते थे और इतिहास-पुराण के अङ्ग के रूप में भी हो सकते थे। उनका यह भी सुझाव है कि आख्यान शब्द का कथा के एक भेद-विशेष की ओर भी संकेत हो सकता था। ओल्डेनबर्ग,[3] विंडिश[4] के मत को मानकर, गेल्डनर[5] सीज और अन्यों से समर्थित इस मत को पुरःसर करते हैं कि आख्यान में गद्य और पद्य दोनों होते थे। आख्यान के प्रमुख भावों को पद्य-बद्ध करने का प्रयास किया जाता था। किंतु हर्टेल[6] और फान श्रोडर[7] ने इस सिद्धान्त

[1] वैस्टू, १. २९० तु० जीग, वही, ३३

[2] उपर्युक्त, ३१ एवं आगे।

[3] त्साइटश्रिफ्ट, ३७, ५४ एवं आगे; ३९. ५२ एवं आगे। तु० गोगेआ।

[4] फेर्हाण्डलुंगेन देर द्राइडण्ड डाइस्सिग्स्तन फेरजामलुंग दायत्शेर फिलोलोगन उण्ड शुलमैनर इन गेरा १८७९, १५ एवं आगे।

[5] वैस्टू १. २८४; २. १ एवं आगे।

[6] विओज १८. ५९ एवं आगे, २३, २७३ एवं आगे। तु० विण्टर्नित्स, वही, २३. १०२ एवं आगे।

[7] मिस्टीरियम उण्ड मिमस इम ऋग्वेद, ३. एवं आगे।

की आलोचना की है। ये विद्वान् मैक्समूलर[1] और लेवी[2] के सुझाव के अनुसार ऋग्वेद के इन तथाकथित आख्यानों में, जिनमें ओल्डेनबर्ग साहित्यिक प्रतिभा के चिह्न पाते हैं, और जिनके गद्य भाग उनके अनुसार नष्ट हो चुके हैं यज्ञात्मक नाटकों का वास्तविक अवशेष पाते हैं। अन्यत्र[12] यह सुझाया गया है कि ये सूक्त केवल साहित्यिक वार्तालाप हैं। (द्र० कीथ, जरा एसो १९११, ९७९-९९५; १९-१२, ४२९ ४३८; ओल्डेनबर्ग, नाखरिश्टन १९११, ४४१-४६८)।

इदु-इदा-इदु वत्सर—द्रष्टव्य-संवत्सर।

इध्म—वैदिक साहित्य में ध्म शब्द समिधा के अर्थ में प्रसिद्ध है। आर्य यज्ञों को बहुत महत्त्व देते थे, अतः इध्म या समित् का उनके साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(द्र० ऋ० १. ९४. ४; ४. २. ६; ८. ४५. २; अवे ५. ८. १; तैसं, २. २. ८. २; ऐब्रा ५. २८; शब्रा ३. ५. २. आदि)।

इन—इन शब्द स्वामी या ईश के अर्थ में अनेक बार आया है।

(ऋ० १. ५३. २; १. १४९. १; ५. ५४. ८; ९. ७९. ४; निघण्टु, २. २२; निरुक्त ३. ११; ११. २१ आदि)।

इन्दु—इन्दु शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में प्रायः सोम के अर्थ में आया है। निघण्टु (१. १२) में इसे उदक के नामों में और वहीं ३. १७ में इसे यज्ञ के नामों में भी गिनाया गया है। बिन्दु अर्थ में भी इसका प्रयोग माना जा सकता है। शब्रा (२. २. ३. २३; ७. ५. २. १९) में 'सोमो वा इन्दुः' अर्थात् 'सोम ही इन्दु है' ऐसा कहा गया है; (१. २९) में भी 'सोमो वे राजेन्दुः' अर्थात् 'सोम ही राजा इन्दु है' ऐसा कहा गया है।

(द्र० ऋ० १. २. ४; १. १४. ४. ६. ३९. ३; ९. १२. १; ९. २१. १; वासं १९. ३४; अवे ६. २. २ आदि)।

इन्द्र—वैदिक आर्यों का ओजपूर्ण देवता इन्द्र है। वह अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। सोम्य, वज्री, वृत्रहन्ता, सुशिप्र, सुनस्, विश्व-चर्षणि, कौशिक, शवसस्पति, वल के बिल को खोलने वाला, नदियों को प्रवाहित करने वाला, वृष्टि करने वाला आदि उसके विशेषण हैं। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य मैकडानल, वैदिक माइथोलाजी (पृ० ५४-६६)

(तु० ऋ० १. ३. ४; १. ९. ३; १. १०. ११; १. ११. २५; १. ५१. २; २. १६. २; ८. ८५. ३; १०. २७. २१; अवे ८. ८५. ८; शब्रा ११. १. ६. १४. आदि)।

तु० 'इन्धो वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव' श० १४. ६. ११. २; 'एष वै शुक्रो य एष (सूर्यः) तपत्येष उ एवेन्द्रः। श० ४. ५. ५. ७; ८. ५. ३. २; २. ३. ४. १२; 'यः स आकाशः स एवेन्द्रः' जैउ १. १८. २. १; =वाक्, शः १. ४. ५. ४; ११. १ ६. १८; जैउ १. ३३. २; कौ. २. ७. १३. ५; 'अयं वा इन्द्रो योऽयं (वातः) पवते' श० १४. २. २. ६ 'स एष एवेन्द्रः योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी (योऽयं सव्येऽक्षन्पुरुषः) श० १०. ५. २. ९; =प्राणः श० १२. ९. १. १४; =हृदय, श० १२. ९. १. १५; =मनः गोउ ४. ११; =रुक्म श० १०. ४. १. ६; =क्षत्र, श० १०. ४. १. ५; =देवलोक, कौ० १६. ८; =वीर्य, तै० १. ७. २. २; =शिश्न, श० १२. ९. १. १६; =अर्जुन, श० २. १. २. ११.

इन्द्रगोप—'इन्द्र से रक्षित,' पुंल्लिग। (२. ३. ६) में एक प्रकार का लाक्षा-कृमि है।

इन्द्रजाल—अथर्ववेद (८. ८. ८) में प्रयुक्त इन्द्र-जाल ('इन्द्र का जाल') शब्द परवर्ती संस्कृत साहित्य के 'इन्द्रजाल' और 'ऐन्द्रजालिक' का मूल माना जा सकता है। यहाँ इन्द्रजाल द्वारा अन्धकार में डालने का प्रसङ्ग है।

इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय वैयाघ्रपद्य—एक आचार्य के रूप में उन अन्य लोगों के साथ **इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय वैयाघ्र-पद्य** का उल्लेख हुआ है, जो वैश्वानर आत्मा के संबन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण रखते थे और जिन्हें **अश्वपति कैकेय** (श० ब्रा० १०. ६. १. १ आदि; छा० उ० ५. ११. १ एवं आगे) ने शिक्षा दी थी। यज्ञिय विषयों के संबन्ध में भाल्लवेय का उल्लेख कई बार शब्रा (१. ६. १. १९; १३. ५. ३. ४. तु०—२. १. ४. ६.) में आया है।

इन्द्रभू काश्यप—वंब्रा[1] में **इन्द्रभू काश्यप** को **मित्रभू काश्यप** का शिष्य बताया गया है।

इन्द्रशत्रु—तु० 'अथ यदववीदिन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्माद् हैनमिन्द्र एव जघानाथ यद्ध शश्वदवक्ष्यद् इन्द्रस्य शत्रुर्वर्ध-स्वेति शश्वदु ह स एवेन्द्रमहनिष्यत्' श० १. ६. ३. १०.

इन्द्रसेना—ऋग्वेद (१०. १०२. २) में इन्द्रसेना मुद्गल की पत्नी **मुद्गलानी** का नाम हो सकता है। तु० गेल्डनर, वैस्तू, २. १।

---

[1] सेबुई, ३२. १८३।

[2] ल थियात्र इन्दीन ३०३, ३०७.

[1] इस्तू ४. ३७४।

इन्द्राग्नी—=प्राणोदान, श० २. ५. २. ८, ४. ३. १. २२; =प्राणापान, गो० २. १; तै० १. ६. ४. ३; =देवानां मुखम् कौ० ४. १४; =विश्वेदेवाः श० १०. ४. १. ९; =इदं सर्वम्, श० ४. २. २. १४.

इन्द्राणी—ऋग्वेद (१. २२. १२) में इन्द्राणी **इन्द्र** की पत्नी का नाम है। तु० 'सेनेन्द्रस्य पत्नी' गो० उ० ३. २. ९; द्र० श० १०. ५. २. ९.

इन्द्रिय—इन्द्रिय शब्द ऋग्वेद के कुछ स्थलों (९. १३. ५; ९. ४७. ३ आदि) पर रस के अर्थ में, कुछ स्थलों (ऋ० १०. ६५. १०; वासं २०. ५५) पर सोम के अर्थ में, कुछ स्थलों (ऋ० ८. ५. १७; १०. ११३. ३ आदि) पर **इन्द्र** की **शक्ति** या "**इन्द्र** से संबद्ध" के अर्थ में आया है, किंतु पुरुष की इन्द्रियों के अर्थ में भी अथर्व-वेद-काल से ही यह शब्द प्रयुक्त होता रहा है। अथर्ववेद (१९. ९. ५) में पांच इन्द्रियों के साथ मन को षष्ठेन्द्रिय कहा गया है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में यह शब्द इसी अर्थ में और विशेषतः जननेन्द्रिय के अर्थ में अनेक बार आया है। द्र० कठ उ०, १. २६; शब्रा १३. १. १. ४; ऐब्रा १. १२. १३ आदि।

इन्द्रियावन्त्—"इन्द्रियों वाला, बलवान्"। वैदिक साहित्य में कुछ स्थलों पर यह शब्द **इन्द्र** को उद्दिष्ट करता है; यथा तैसं २. २. ७. १; ४. २. १. २; वासं ६. २७ आदि।

१. इन्द्रोत—ऋग्वेद (=इन्द्र+ऊत ८. ६८. १० एवं आगे) की एक दानस्तुति में दाता के रूप में **इन्द्रोत** का उल्लेख दो बार हुआ है। दूसरे स्थल पर उन्हें **आतिथिग्व** की उपाधि दी गई है; इससे, जैसा कि लुडविग्[१] ने सुझाव दिया है, वह **अतिथिग्व** के पुत्र रहे होंगे, न कि **ऋक्ष** के[२]।

२. इन्द्रोत दैवाप शौनक—शब्रा (८. ५. ३. ५; ४. १) शाश्रौसू (१६. ७. ७; ८. २७) में उन्हें **जनमेजय** के यज्ञ का पुरोहित बताया गया है। किंतु ऐब्रा (८. २१) में यह संमान **तुर कावषेय** को दिया गया है। जैब्रा (३. ४०. १) में वे **श्रुत** के शिष्यके रूप में आते हैं। वंब्रा[३] में इनका उल्लेख है। वे किसी भी प्रकार **देवापि**[४] से, जिनका उल्लेख ऋग्वेद (१०. ९८) में है, संबद्ध नहीं दीख पड़ते।

[१] ट्रां० ऋ० ३. १६३।
[२] वोबू
[३] इस्टू, ४. ३८४, ३८५.
[४] १. ९२. तु० ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ४२. २४०।

इन्वका, इन्वगा—इन्वका (कासं, ३९. १३; जैआ-षेंब्रा १. ४६३; तैब्रा १. २. १. १३) और इन्वगा (मैसं २. १३ २०) शब्द मृगशीर्ष-संघगत नक्षत्र के नाम हैं। तु० **नक्षत्र**।

१ इभ—इभ का अर्थ संदिग्ध है। यह केवल संहिताओं (तैसं १. २. १४ १; वासं १३. ९) में और विशेषतया ऋग्वेद में (१. ८४. १७; ४. ४. १; ९. ५७. ३; और संभवतः ऋग्वेद ६. २० ८) पाया जाता है। राथ[१] और लुडविग[२] के अनुसार इसका अर्थ है 'अनुचर'; और त्सिमर[३] के अनुसार इसमें केवल अनुचर ही नहीं, राज-परिवार के सभी सदस्यों एवं प्रधानवंशों के युवक योद्धाओं का भी समावेश हो जाता है। पिशल और गेल्डनर[४] के विचार से यह शब्द हाथी का सूचक है। इसका समर्थन सायण (तैसं पर) और महीधर (वासं पर) के भाष्यों से होता है। निरुक्त (६. १२)[५] में भी इस शब्द का एक अर्थ हाथी ही दिया हुआ है। मेगस्थनीज़[६] और निआर्कस[७] का कथन है कि हाथी राजाओं की क्षमता के सूचक थे; इस प्रकार इससे व्युत्पन्न शब्द **इभ्य** की व्याख्या केवल 'धनी' के अर्थ में की जा सकती है। अक्षरशः इसका अर्थ है 'इभ वाला'[८]।

२ इभ—ऋग्वेद (६. २०. ८,)[९] के एक स्थल पर **इभ** शब्द निश्चित रूप से **समिदिभ** के संक्षिप्त रूप में आया है।

[१] वोबू
[२] ट्रां० ऋ० ३. २४६, २४७।
[३] आले०, १६७।
[४] वैस्टू १. १५. १६।
[५] इसका भी अर्थ 'अनुचर' होता है, अशोक स्तम्भ क्र० ५ में ब्युहलर, त्सादामौगे० ३७. २७९ में इसके पाली के रूप में एक वैश्य को उद्दिष्ट मानते हैं।
[६] अपुड स्ट्रैबो, ६
[७] वही, ७०५.
[८] किंतु प्रथम अर्थ के आधार पर भी इस शब्द का अर्थ 'धनी', हो सकता है। अक्षरशः अर्थ है 'अनु-चरों वाला'।
[९] तु० पिशल और गेल्डनर, वैस्टू, १. १६; राथ, वोबू, ओल्डेनबर्ग ऋग्वेद-नोटेन, १. ३८०, त्सिमर, आले०, १६७ में लुड्विग् ट्रांऋ० ३. २४६, २४७ के अनुसार इसका अर्थ "परिवार" या "परिचर-वर्ग" करते हैं।

इभ्य—इभ्य शब्द ऋग्वेद (१. ६५. ४) में बहुवचन में एक बार आता है, जहां एक राजा के संबन्ध में कहा गया है कि वह अपने सभी इभ्यों को उसी प्रकार विनष्ट करता है, जिस प्रकार अग्नि वन को। छाउ (१. १०. १. २) में यह शब्द दो बार आता है। एक बार यह समस्त पद में पहला शब्द है और दूसरी बार या तो व्यक्ति-वाचक नाम है अथवा विशेषण। राथ[1] लुडविग्[2] और त्सिमर[3] इसकी व्याख्या ऋग्वेद में "अनुचर" के रूप में करते हैं। छाउ में राथ का विचार है कि इसका अर्थ है "धनी"। पिशल और गेल्डनर[4] सभी स्थानों पर इसका 'धनी' अर्थ लेते हैं। बाटलिंक छाउ के अनुवाद में इसका अर्थ व्यक्तिवाचक नाम करते हैं। "इभ्य का ग्राम" और "इभ्य"।

इरज्यु—ऋग्वेद (१०. ९३. ३) में **इरज्यु** शब्द ईश या स्वामी के अर्थ में आया है।

इरा—यह शब्द **इडा** का ही पर्याय हैं। यह अन्न या पुष्टि के अर्थ में वैदिक साहित्य में अनेक बार आया है। तु० ऋ० ५. ८३. ४; अवे ४. ११. १०; निघण्टु २. ७ आदि।

इरिण—(नपुंसक लिंग)। यह शब्द बाद की संहिताओं (अवे ४. १५. १२; तैसं०, २. ५. १. ३; ३. ४. ८. ५; ५. २. ४. ३; कासं, ६. १६) और ब्राह्मणों (शब्रा, ५. २. ३. २; ७. २. १८) में भूविवर के अर्थ में, विशेषतः कृत्रिम भूविवर के अर्थ में विरल नहीं है। वही अर्थ, जैसा कि पिशल[5] का भी सुझाव है, ऋग्वेद (१. १८६. ९; ८. ४. ३; ८. ८७. १. ४) के भी तीनों स्थलों पर है। एक मन्त्र (८. ४. ३) में तो उस विवर को जल-निर्मित (अपां कृतम्) कहा गया है। ऋग्वेद के दूसरे स्थल (१०. ३४. १, ९) पर यह शब्द उस स्थान को सूचित करता है जहाँ अक्ष-क्रीडा होती थी। इसी से पिशल[6] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अक्ष की क्रीडा के लिए ऐसे अक्षपट्ट की आवश्यकता थी, जिसमें से अक्ष नीचे गिराए जा सकें। ल्यूडर्स[7] का मत है कि यह धारणा अनावश्यक है; अक्ष केवल ऐसी भूमि पर फेंके जाते थे, जो खोदी हुई होती थी और जिसे इरिण कहा जा सकता था। इसका समर्थन सायण[1] के भाष्य में एवं निरुक्त (९. ८ आस्फुरक-स्थान) पर दुर्गाचार्य के भाष्य के उदाहरण में मिलता है।

इला—द्र०—**इडा**।

इलीबिश—ऋ० (१. ३३. १२) में इलीबिश किसी दास या दैत्य का नाम है। तु०—निरुक्त ६. १९।

इल्य—कौउ (१. ३; १. ५) में इल्य वृक्ष का उल्लेख है। वेबर ने इल्य पाठ दिया है[2]। इल्य किस वृक्ष का नाम है, यह ज्ञात नहीं है। संभवतः यह नाम वहीं उल्लिखित **अजरा** नदी के नाम के समान काल्पनिक वृक्ष का है, जो इला या पृथ्वी से संबद्ध सुगन्धमय वृक्ष की कल्पना पर अवलम्बित है। इल्य=इला-संबन्धी, अत्यन्त पोषक।

१ इष्—ऋग्वेद में प्रायः और परवर्ती साहित्य में भी कुछ स्थानों पर **इष्** शब्द अन्न के अर्थ में आया है। **इष्, इडा, इरा, इला** पर्याय हैं।

तु० ऋ० १. ९. ८; ४. १६. २१; ८. २६. १७; अवे० ५. २०. ११; वासं, ११. ७५ आदि।

२ इष् या इष—इष् और ऊर्ज् का शरद् ऋतु के महीनों के रूप में उल्लेख मिलता है। तु० 'इषश्चोर्जश्च एतावेव शारदौ (मासौ) स यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च' श० ४. ३. १. १७; तु० **मास**।

इष श्यावाश्वि—जैउब्रा में आचार्यों के वंश की सूची (४. १६. १) में **अगस्त्य के** शिष्य के रूप में **इष श्यावाश्वि** का उल्लेख हुआ है।

इषीका—'नरकट या नरई का डंठल'। इषीका शब्द अथर्ववेद (अवे, ७. ५६. ४, १२. २. ५४; शब्रा ४. ३. ४, १६ आदि, जैब्रा, १. ९; २. १३४; छाउ, ५. २४. ३; काउ २. ६. १७ आदि, नि० ९. ८.) में एवं उसके बाद प्रायः पाया जाता है। यह कोमलता का प्रतीक है। शांआ (२. १६) में इसका प्रयोग पशुओं के गोष्ठ या व्रज की अर्गला की सिलम अथवा कील या शंकु के लिए किया गया प्रतीत होता है (अर्गलेषिके)। शब्रा (१. १. ४. १९) में इषीका शूर्प या छाज का सूचक मिलता है। तु०—त्सिमर, आ ले० ७१; अर्टेल, जअओसो १९. १२२, टि० ३.

इषु—ऋ० (२. २४. ८; ८. ७. ४ आदि; १. १३, ४ आदि; वासं १६. ३ आदि; नि० ९. १८)—काल से

---

[1] वोबू

[2] ट्रां. ऋ. ३. २४७.

[3] आले०, १६८.

[4] वैस्तू १. १६, तु०—सायण, ऋग्वेद भाष्य, "धनिनः" और शंकर छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, "ईश्वरो हस्त्यारोहो वा"; बेवर, इस्तू, १. ४७६; तु० लिटिल ग्रामेटिकल इंडेक्स, ३५ भी।

[5] वैस्तू, २. २२२–२२५।

[6] उपर्युक्त २. २२५।

[7] दास व्युर्फलश्पील इम आल्तन इन्दीन, १४।

---

[1] ऋ० भाष्य ('आस्फार')

[2] इस्तू, १. ३९७. ४०१।

ही बाण के लिए इषु शब्द का प्रयोग होता आया है। दूसरे नाम हैं : **शरु, शर्य, शारी** और **बाण**। ऋग्वेद के (६. ७५. १५) के एक सूक्त में, जिसमें शस्त्रों की सूची दी गई है, दो प्रकार के बाणों का स्पष्टतः उल्लेख हुआ है : एक तो विषाक्त (आलाक्त) है और सींग की नोक वाला = रुरुशीर्ष्णी है; दूसरा पीतल, ताँबा या लोहे के शीर्ष वाला = अयोमुखम् है। अ० (४. ६. ७; ५. १८. ८, १५; ५. ३१. ४.) में भी विषाक्त (= दिग्ध) बाणों का उल्लेख है। बाण सपक्ष (ऋ० १०. १८. १४; ६. ७५. ११; अवे ५. २५. १८) होते थे। अ० (४. ६) में बाण के भाग इस प्रकार गिनाए गए हैं : **शल्य, पर्णधि,** (पक्ष), **शीर्ष, कुल्मल** (वह बिन्दु जिसमें शल्य लगाया जाता था) और **अपस्कम्भ** तथा **अपाष्ठ** जो कि अधिक संदिग्धार्थक हैं। ऐब्रा (१. २५) में बाण के भाग इस प्रकार दिये गए हैं : **बिन्दु** (अनीक), **शल्य, तेजन, 'पर्णानि'**। शल्य और तेजन बाण के ऊपरी एवं निचले हिस्से को कहते रहे होंगे; क्योंकि यह माना जा सकता है कि संपूर्ण बाण के भाग यहाँ उल्लिखित हैं। अ० (३. २५. २) में भी काम के बाणों को **पक्ष, शल्य,** और **कुल्मल** (द्र०—मैसं ३ ८. १. २; कासं २५. १) से युक्त बताया गया है। बाण कान तक खींचकर छोड़ा जाता था, इसीलिए ऋ० (६. ७५. ३; २. २४. ८ कर्णयोनि) में कान को बाण का जन्म-स्थान बताया गया है।

लम्बाई में बाण पाँच वितस्ति या तीन फीट का होता था। (शब्रा ६. ५. २. १०); बाण बनाने का एक नियत पेशा था। द्र० इषुकृत्, वासं १६. ४६; तु० ऋ० १. १८४. ३; इषुकार वही, ३०, ७; तैब्रा ३. ४. ३. १। तु०—त्सिमर, आले० ३००; वेबर, इस्तू, १८. २९. २८६; हापकिन्स, जअओसो १३. २७५ एवं आगे; २५. ३३७।

इषुका—अथर्ववेद (१. ३. ९) में इषुका शब्द इषु के ही अर्थ में आया है।

इषुकार, इषुकृत्—वासं (१६. ४६; तु०—ऋ० १. १८४. ३) में इषुकृत् और वहीं (३०. ७) एवं तैब्रा (३. ४. ३. १) में इषुकार शब्द बाण बनाने वालों के लिये आया है।

इषु त्रिकाण्डा—ऐब्रा (३. ३३)[१] में किसी नक्षत्र, संभवतः मृगशिरा की कक्षा के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। **मृग, मृगव्याध,** और **रोहिणी** के साथ इसका उल्लेख हुआ है।

इषु-धि—तूणीर। प्रत्येक धनुर्धारी इषुधि को पास रखता था। ऋग्वेद (१. ३३. ३. ६. ७५. ५; १०. ९५. ३; अवे २. ३३. २; ४. १०. ६ आदि; नि० ९. १३) —काल से ही इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से होता रहा है। वैदिक काल में दो इषुधियों के ले जाने का उल्लेख नहीं मिलता, जैसा कि बाद के साहित्य में पाया जाता है[१]। पिशल[२] के अनुसार ऋ० (१. १८४. ३) में 'इषुकृत्' का प्रयोग 'इषुधि' के लिए हुआ है।

तु०—त्सिमर, आले०, ३००।

इष्टि—प्राप्ति या अभीष्टि (ऋ० १. ६२. ३; १. २५. ४; ६. ८. ७ आदि) के अर्थ के अतिरिक्त इष्टि शब्द यज्ञ का बोधक है : ऋ० १. १४७. २; तैसं, २. ३. ३. २; ऐब्रा, ३. ४५। तु० 'यज्ञौ वै देवेभ्य उदक्रामत्तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन् यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वम्' ऐ० १. २; 'प्रजापतिः तमश्वमेघमिष्टिभिरन्वैच्छत्। तमिष्टिभिरन्वविन्दत्। तदिष्टीनामिष्टित्वम्' तै० ३. १२. २

इष्वास—अ० (१५. ५. १) में **इष्वास** शब्द धनुर्धारी के अर्थ में आया है।

इष्टका—इष्टका या ईंटों का प्रयोग वैदिक काल में ज्ञात था। शब्रा (६. १. २. २२) में ईंटों के पकाने का उल्लेख मिलता है। द्र० वासं १३. ३१, १४. ११; ऐब्रा ५. २८; तैसं ३. ४. १. १० आदि। तु० 'तद् यदिष्टात् समभवंस्तस्मादिष्टकाः' श० ६. १. २. २२; 'यदिष्ट्वापश्यत्तस्मादिष्टका' श० ६. ३. १. २; 'अस्थीनि वा इष्टकाः' ८. ७. २. १०; 'अहोरात्रिणि वा इष्टकाः' ९. १. २. १८।

इष्टापूर्त—इष्टापूर्त शब्द ऋग्वेद-काल से ही प्रयोग में आता रहा है। इष्ट शब्द किये गये यज्ञ को और पूर्त शब्द दान आदि द्वारा पूर्ण किये गए परोपकार प्रभृति कामों को जताता है।

तु० ऋ० १०. १४. १; अवे १८. २. ५७; तैसं, ३. ३. ८. ५; एब्रा ८. १५, शब्रा, १३. १. ५. ६ आदि।

इहनिधन—साम–विशेष। तु० (देवाः) 'अस्मिन्नेव लोके इहनिधनेन प्रत्यतिष्ठन्' तां० १०. १२. ३।

इहेड—साम–विशेष। तु० (देवाः) 'अस्मिन्नेव लोके इहेडेन प्रत्यतिष्ठन्' तां० १०. १२. ४।

---

[१] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वै० मि० २. २०५ टि०।

[१] हापकिन्स, जअओसो १३. २७४; प्रत्येक इषुधि में १० से २० तक बाण होते थे।

[२] वैस्तू०, १. १७; किंतु द्र० ओल्डेनबर्ग, ऋ०-नोटन, १. १८२।

ई

ईनिधन—सामविशेष। (देवाः) 'अमृतत्वमीनिधनेनागच्छन्' तां० १०. १२. ३।

ईर्ष्या—अथर्व-काल से ही ईर्ष्या शब्द मानसिक दाह या जलन के अर्थ में चलता आया है। अ० में ईर्ष्या-शमन के मन्त्र भी हैं। द्र० अवे, ७. ७४. ३. ६. १८. १, ३; ७. ४५. १ आदि।

ईशान, ईश्वर—प्रभु या स्वामी के अर्थ में वैदिक काल से ही ये शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। इन शब्दों में प्रभुत्व या सामर्थ्य का भाव इतना प्रबल है कि बाद में चलकर ये शब्द भगवान् के वाचक बन गए।

द्र० ईशानः ऋ० ६. ५४. ८; ६. ५५. २; १. ५. २ आदि; ईश्वर; अवे, ७. १०२. १; तैसं, २. १. १. १; ऐब्रा, ८. ७ आदि

ईशावास्य—'ईश्वर द्वारा आवास्य'। ईशावास्य शब्द ईशावास्योपनिषद् का प्रथम शब्द है, जिसके आधार पर उस उपनिषद् का नामकरण किया गया है। ईशोपनिषद् यह नाम भी इसी आधार पर है।

ईषा—रथ का भारवाहक दण्ड (=फड़) ईषा कहाता है। प्रायः रथ एक दण्डवाला (एकेषः ऋ० १०. १३५. ३; ३. ५३. १७; ८. ५. २९; अवे ८. ८. २३) होता था; किंतु कुछ स्थलों पर दो दण्डों का भी उल्लेख मिलता है : अवे २. ८. ४; शब्रा १. १. २. १२; ईषायुगानि; किंतु ३. ९. ४३ में द्विवचन; काश्रौ सू०, ७. ९. १४ आदि। यह शब्द कभी-कभी 'युग' (अवे ८. ८. २३ आदि) के साथ समस्त पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। युग के साथ इसे रस्सियों से बाँधा जाता था[१] (ऋ० १०. ६०. ८; तु० ३. ६. ६) द्रष्टव्य ख एवं रथ।

उ

उक्थ—ऋग्वेद में उक्थ शब्द स्तोत्र या अप्रगीतसाध्य स्तोत्र के अर्थ में आया है। द्र० ऋ० १. ८४. ५; २. ११. ३; ३. ३४. ७; ३. ५१. ४; ६. ६९. ३; ७. ५६. २३; ४. ३. ४; अवे २. १२. २; ६. ३५. २; ७. ६३. १; वासं २६. ८ आदि।

एक **उक्थ**-याग का भी वर्णन पंब्रा (४.३) में है। वासं (१७. ५५) में उक्थ-पत्र यज्ञ का नाम आता है। ऋ० (८. १२. १३) में उक्थवाहस् शब्द उक्थ पढ़नेवाले विप्र का बोधक है। ऐसा ही उक्थशास् शब्द भी है (ऋ० ४. २. १६)। तु० 'प्राण उ एवोक्तस्यान्नमेव थं तदुक्थमुक्तः' श० १०. ४. १. २३; 'अग्निर्वा उक्तस्याहुतय एव थम्' १०. ६. २. ८; 'आदित्यो वा उक्। तस्य चन्द्रमा एव थम्' १०. ६. २. ९; 'प्राणो वा उक्तस्यान्नमेव थम्' १०. ६. २. १०; '(वागिति) एतदेषां (नाम्नां) उक्तमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति' १४. ४. ४. १; =वाक् कौ० ११. ८. १७. ७; =प्रजा तै० १. ८. ७. २; =पशवः : ऐ० ४. १. १२।

उक्थ्य—उक्थ्य शब्द सामान्यतया' 'प्रशंसा करने योग्य" इस अर्थ में आता है (ऋ० १. १७. ५; १. ७९. १२) या उक्थ या स्तोत्र के अर्थ में आया है (ऋ० १. ३८. १४); किंतु यह शब्द एक यज्ञ-विशेष को भी उद्दिष्ट करता है। सोमयाग के बाद किये जानेवाले छः यज्ञों में से चतुर्थ यज्ञ उक्थ्य कहाता है; दे० काश्रौसू, १०. ९, २७, २८

उक्षन्—द्रष्टव्य **गो**।

उक्षण्यायन—ऋ० (८. २५. २२) की एक दान-स्तुति में **हरयाण** और **सुषामन्** के साथ **उक्षण्यायन** का प्रयोग हुआ है। लुड्विग[१] के अनुसार ये तीनों एक हैं। राथ[२] उक्षण्यति (ऋ० ८. २६. ९) क्रिया और उक्षण्यु (ऋ० ८. २३. १६) विशेषण में उक्षन् को ही देखते हैं।

उद्गणोरन्ध्र काव्य—पंब्रा (१३. ९. १९)[३] में एक ऋषि के रूप में **उद्गणोरन्ध्र काव्य** का उल्लेख हुआ है।

उखा—उखा का प्रयोग पाकभाण्ड के रूप में नियमित रूप से हुआ है, विशेषतः ऋ० (१. १६२. १३. १५; ३. ५३. २२; अवे १२. ३. २३; तैसं ५. १. ६३ आदि)—काल से ही यज्ञिय प्रसङ्ग में। यह मिट्टी की बनती थी (मृण्मयी वासं ११. ५९; तैसं, ४. १. ५. ४)। द्रष्टव्य **स्थाली**। तु० 'एतद्वै देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमांल्लोकानुदखनन् यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखेत्याचक्षते' श० ६. ७. १. २३; =आत्मा, श० ६. ५. ३. ४; =उदर ७. ५. १. ३८; =योनि ७. ५. २. २; =इमे लोकाः ६. ५. २. १०; 'प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा' ६. २. २. २३; 'पर्वैतदग्नेर्यदुखा' ६. २. २. २४। तु०—त्सिमर, आले०, २५३. २७१।

उग्र—बृउ (४. ३. ३७. ३८) में एक स्थल पर **उग्र** शब्द एक विशेष शक्ति के लिये आया है; संभवतः यहां यह एक अधिकारयुक्त व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है अथवा मैक्समूलर के अनुसार पुलिस के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

[१] त्सिमर ने आले० २४९ में ऋ० १. ११९. ५ में आये वाणी शब्द को रथ के अग्रभाग का द्योतक माना है, किंतु इसका सरल अर्थ है 'वाक्'।

[१] ट्रां० ऋ०, ३. १६२. २७६।

[२] वोबू।

[३] तु०—मैक्समूलर, सेबई ३२, ३९७।

राय[1] ने ऋ० (७. ३८. ६) के एक स्थल से इसकी तुलना की है, जहाँ पर इसका अर्थ है 'शक्तिशाली पुरुष'। बार्टलिक ने उपनिषद् के अनुवाद[2] में इसे विशेषण के रूप में ग्रहण किया है।

उग्रजित्, उग्रंपश्या— अ० (६. ११८. १) में ये दोनों नाम अप्सराओं के संबन्ध में आए हैं; **उग्रंपश्या** शब्द तैआ (२. ४) में भी इसी प्रसङ्ग में आया है। भाष्यकारों ने इन्हें अप्सराओं का नाम माना है, किंतु ह्विटनी[3] ने इन्हें अप्सराओं का विशेषण माना है।

उग्रदेव—ऋ० (१. ३६. १८ उग्रादेव) में एक शक्तिशाली रक्षक के रूप में **तुर्वश** और **यदु** के साथ **उग्रदेव** का उल्लेख हुआ है। यह नाम पंब्रा (१४. ३. १७; २३. १६. ११) और तैआ (५. ४. १२) में भी आया है, जहाँ उसे राजनि की उपाधि दी गई है और 'किलास' कहा गया है। तु०—लुड्विग्, ट्रांस० ऋ० ३. १४७; राथ, वोबू। इनका विचार है कि ऋग्वेद में इसे विशेषण के रूप में लेना चाहिए।

उग्रसेन—उग्रसेन शब्रा (१३. ५. ४. ३) में आया हैं। वहाँ की गाथा में **जनमेजय** के भाई के रूप में **भीमसेन** और **श्रौतसेन** के साथ इनका उल्लेख हुआ है। ये सभी भाई अश्वमेध द्वारा पापनिर्मुक्त हो गए थे।

उग्रादेव—द्र०—उग्रदेव।

उच्चैःश्रवस् कौपयेय—जैउब्रा (३. २९. १–३) में **कुरुओं** के राजा और **केशी** के ममेरे चाचा के रूप में इनका उल्लेख हुआ है। **उपमश्रवस्**, कुरुश्रवस् के पुत्र थे; इन नामों की समानता से **उच्चैःश्रवस्** का कुरुवंशी होना लक्षित होता है।

उच्छीर्षक—कौउ (१. ५)[4] में पर्यङ्क के वर्णन के प्रसङ्ग में आने वाला उच्छीर्षक शब्द स्पष्टतः शीर्षाधान के लिए प्रतीत होता है। द्रष्टव्य **आसन्दी**।

उछूलक—द्र०—शरीर

उडुप—श्वेउ (२. ८) में सर्वप्रथम उडुप शब्द नौका के अर्थ में आया है।

उत्तम्भन—वासं (४. ३६) में यह शब्द शकट को उरलने से बचाने के लिए लगाये गये अवलम्ब का नाम है। तु०—काश्रौसू ७. ९. २५।

[1] वोबू। [2] पृ० ६६ (प्रत्येनसः के साथ)

[3] ट्रां० अ० वे०, १. ३६७, ३६८।

[4] तु०—वेबर, इस्तू १. ४०३, त्सिमर, आ० ले० १५५।

उत्तर अषाढ पाराशर्य–द्र०–**अषाढ उत्तर पाराशर्य।**

उत्तर कुरु—आर्षकाव्य एवं पश्चकालीन साहित्य में जिस **उत्तरकुरु** का उल्लेख देवकथा के संबन्ध में हुआ है, उसका ऐतिहासिक रूप में ऐब्रा (८. १४) में उल्लेख मिलता है। उसे हिमालय के पास (परेण हिमवन्तम्) कहा गया है। एक दूसरे स्थल पर (८. २३) **उत्तरकुरुओं** के देश को **वासिष्ठ सात्यहव्य** ने देवक्षेत्र कहा है; **जानन्तपि अत्यराति** उसे जीतने की इच्छा रखते थे। यहाँ तक तो **उत्तरकुरु** देवशास्त्रान्तर्गत नहीं दीख पड़ते। त्सिमर का मत है कि **उत्तरकुरु** कहीं कश्मीर में रहते थे। सच पूछो तो कुरुक्षेत्र ऐसा स्थान है, जहाँ कश्मीर से आगे बढ़नेवाली जातियाँ पाई जा सकती हैं। तु० **उदीच्य**। द्र० वेबर, इस्तू, १. १६५, त्सिमर आ ले० १०१. १०२; हापकिन्स, जअओसो, १३. ७५, टि०।

उत्तरमद्र—ऐब्रा (८. १४) में उत्तरमद्रों का उल्लेख **उत्तरकुरुओं** के साथ हिमालय के पास रहने वाली एक जाति के रूप में हुआ है। त्सिमर[1] ने यह दर्शाया है कि वंब्रा[2] में **काम्बोज औपमन्यव** को **मद्रगार** का शिष्य कहा गया है, अतः काम्बोजों और मद्रों को एक दूसरे से बहुत दूर नहीं समझा जा सकता। यह निष्कर्ष काम्बोजों की स्थिति को देखते हुए तर्कसंमत प्रतीत होता है[3]।

उत्तरायण—द्र०—**संवत्सर**।

उत्तरीय—ऊपरी दुकूल के अर्थ में उत्तरीय शब्द सूत्रों में प्रयुक्त हुआ है। द्र० काश्रौसू २१. ३. ७; पागृसू, १. ४. १३; २. ५. १७ आदि।

उत्तान आङ्गिरस—तैब्रा (२. ३. २. ५; तु०—२. २. ५. ३) में क अर्ध-पौराणिक व्यक्ति के रूप में उत्तान आङ्गिरस का उल्लेख मिलता है। सायण (तैब्रा भाष्य, २. ३. २. ५) की व्याख्या के अनुसार उन्होंने सभी अच्छी चीजें ग्रहण कीं, किंतु फिर भी उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची; क्योंकि **उत्तान** असल में पृथ्वी थे। उनका नाम कासं (९. ९), पंब्रा (१. ८. ११) और तैआ (३. १०, २. ३) में मिलता है।

उत्तानपर्णा—'उत्तान पत्तेवाली'। ऋ० (१०. १४५. २) और अ० (३. १८. २) में एक वनस्पति का नाम या विशेषण है। यह सपत्नी-मर्दन के लिये अभिप्रेत मन्त्र में उल्लिखित है।

[1] आले १०२।

[2] इस्तू, ४. ३७१।

[3] द्रष्टव्य पार्जिटर, मानचित्र, जराएसो १९०८, पृ० ३३२; तु०—वेबर, इस्तू १. १६५।

उत्स—ऋग्वेद-काल से ही उत्स शब्द स्रोत के अर्थ में प्रयुक्त होता आया है।

तु० ऋ० १. १२१. ८; १. ८५. ११; १. १५४. ५; वासं १७. ८७; अवे, ३. २४. ४ आदि।

उत्सव—संहिताओं में उत्सव शब्द उत्प्रेरणा से युक्त जन-संमेलन के अर्थ में कतिपय स्थलों (ऋ० १. १००. ८, १. १०२. १. माध्यंदिन वासं, ३३. २९, काण्व वासं, ३२. २. १२) पर आया है। ऋ० (१. १००. ८) में 'शवसः उत्सव' शब्द संग्राम के अर्थ में है।

उत्सेध—सामविशेष। 'उत्सेधेन वै देवाः पशूनुदसेधन्' तां० १५. ९. ११।

उदकमण्डलु—शब्रा (१२. ४. १. ५, ८) में उदकमण्डलु शब्द का प्रयोग **उदस्थाली** के साथ आया है। ये दोनों शब्द जल-पात्र को उद्दिष्ट करते हैं। **उदकमण्डलु** संभवतः काष्ठ का होता था, जैसा कि आजकल साधुओं के पास पाया जाता है। **उदस्थाली** धातु के बने लोटे के समान आकार वाला पात्र प्रतीत होता है। अन्य जलपात्रों के नाम ब्राह्मणों में ये हैं : **उदकुम्भ** (जल का घड़ा, शब्रा ३. ३. २. ५, ऐआ, ५. १. १, शाआ ४. १५), **उदचमस** जल छिड़कने या डालने का स्रुवाकार पात्र, शब्रा ७. २. १. १७; ७. २. ४. २; ७. २. ४. १ ७. ३, शब्रा २. ४. २. १६ आदि।

उदकुम्भ—उदकुम्भ शब्द 'जल के घड़े' के अर्थ में ब्राह्मणों और आरण्यकों में आता है। द्र० शब्रा ३.३.२.५, ऐआ ५. १. १, शाआ ४. १५। तु०—**उदकमण्डलु**।

उदगयन—शब्रा (१४. ९. ३. १), कौसू (६. ७) और आगृसू (१. ४) में सूर्य के उत्तरायण होने को उदगयन कहा गया है। तु०—**संवत्सर**।

उदङ्क शौल्बायन—बृउ (४. १. ३) में इनके ब्रह्मविषयक मत का उल्लेख किया गया है, जिसमें इन्होंने ब्रह्म को प्राण से अभिन्न बताया है। इस प्रकार ये विदेहराज **जनक** के समकालीन ठहरते हैं। तैसं (७. ५. ४. २) में भी इनका उल्लेख मिलता है, जहाँ इनके अनुसार दशरात्र को सत्र की समृद्धि या मुख्य भाग कहा गया है।

उदचमस—शब्रा (७. २. १. १७; ७. २. ४. २; ७. २. ४. १ आदि) में उदचमस शब्द 'जल छिड़कने या डालने के स्रुवाकार पात्र' का नाम है। तु०—**उदकमण्डलु**।

उदञ्चन—ऋ० (५. ४४. १३ 'धियामुदञ्चनः'= प्रार्थनाओं में सर्वश्रेष्ठ) में यह शब्द आता है, और ब्राह्मणों (ऐब्रा ७. ३२; शब्रा ४. ३. ५. १२) में इसे पात्र या जलपात्र के अर्थ में लिया गया है।

उदमय आत्रेय—ऐब्रा (८. २२) में उदमय आत्रेय का उल्लेख अङ्ग वैरोचन के पुरोहित के रूप में हुआ है।

उदर—तु० 'विंशतिर्वा अन्तरुदरे कुन्तापान्युदरमेकविंशम्' श० १२. २. ४. १२; =उखा श० ७. ५. १. ३८ द्र०— **शरीर**।

उदरदार—अ (११. ३. ४२) में यह शब्द किसी उदररोग, शूल या अतिसार का बोधक है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, २. ६३०।

उदर शाण्डिल्य—छाउ (१. ९. ३) में एक आचार्य के रूप में तथा वंब्रा[१] में **अतिधन्वन् शौनक** के रूप में **उदर शाण्डिल्य** का उल्लेख हुआ है।

उदर्क—'रसो वा उदर्कः' कौ० ११. ५।

उदल—वैश्वामित्र **उदल** का उल्लेख एक साम-द्रष्टा के रूप में पंब्रा (१४. ११. १३) में हुआ है।

उदवसानीया—उदवसानीया एक इष्टि का नाम है, जिसका उल्लेख ब्राह्मणों में आया है। द्र० शब्रा, ४. ५. १. १३; ५. ३. ५. १६; १३. ४. ४. ४; ऐब्रा ८. ५ आदि।

उदस्थाली—शब्रा (१२. ४. १. ५, ८) में उदस्थाली शब्द **उदकमण्डलु** के साथ आया है; यह धातु से बने लोटे के आकार के जल-पात्र के अर्थ में प्रतीत होता है। तु०—**उदकमण्डलु**।

उदाज—मैसं (१. १. १६; ४. ३. १.) में संग्राम में राजा द्वारा जीते गये धन का सूचक प्रतीत होता है। डेलब्रुक[२] की यह व्याख्या ठीक है; किंतु फान श्रोडर द्वारा दिया गया "आगे बढ़ना" (मै० सं० १. १५) यह अनुवाद, जिसे बार्टलिक[३] ने स्वीकार किया है, उचित नहीं जान पड़ता। **उदाज** इस प्रकार होमर के गेरस शब्द का समानान्तर है। यह काठक (२८. ३) और कापिष्ठल (४४. ३) संहिताओं के **निराज** शब्द के समान है।

उदान—जब पाँच प्राणों का उल्लेख किया जाता है तब पाँचवाँ प्राण उदान होता है; उदाहरणार्थ : मैसं (३. १२. ९); कासं (५. ४. १०); शब्रा (११. २. २. ५; (११. ८. ३. ६ में क्रम है—**प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान**) बृउ १. ५. ३; ३. ४. १४ (**समान** को छोड़ दिया गया है); ३. ९. २६; छाउ, ३. १३. ५; ५. २३. १, २; ऐआ २. ३. ३ आदि। कभी-कभी [वासं १. २०; ७. २७; शब्रा, ९. ४. २. १० इ० (**व्यान** के साथ); ऐब्रा १. ७.

---

[१] इस्टू, ४. ३८४।

[२] फेस्टग्रुस आन बार्टलिक, २५।

[३] वोबू।

२ (**समान** के साथ)] इसे दूसरा **प्राण** गिना जाता है और तब यह **प्राण** के बाद आता है, और इसके पीछे **व्यान** और **समान** आते हैं। कभी-कभी (वासं, ६. २०; शब्रा ४. १. २. २; ९. २. ४. ५, आदि) यह **प्राण** के विरुद्ध आता है, अथवा कभी-कभी केवल **प्राण** और **अपान** (शाआ, ८. ८; ११. १) के पीछे आता है। शब्रा (११. २. ४. ५) में इसे भोजन पचाने वाला **प्राण** कहा गया है। यह मत पश्चकालीन उपनिषदों (मैं० उ०, २. ६) में भी पाया जाता है। किंतु इसे गले (अमृतबिन्दु उ०, ७. ३), से ऊपर उठने वाला और आत्मा को शरीर से बाहर ले जाने वाला **प्राण** भी बताया गया है। तु० 'उदानो-ह्यन्तर्यामोऽमुं (दिवं) ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनिति' श० ४. १. २. २७; =चन्द्रमा, जैउ ४. २२. ९; =त्रिककुप् छन्द, श० ८. ५. २. ४। तु०—डायसन, फिलासफी आफ दि उपनिषद्स, २८०।

उदीची—उत्तर दिशा। तु० 'एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्' तै० २. १. ३. ५; 'उत्तरा ह वै सोमो राजा' ऐ० १. ८; 'एषा वै रुद्रस्य दिक्' श० २. ६. २. ७; =वरुणस्य दिक् तै० ३. ८. २०. ४; उदीची दिक् मित्रावरुणौ देवता तै० ३. ११. ५. २; 'साम्नामुदीची महती दिगुच्यते' तै० ३. १२. ९. १; 'तस्मादेतस्या—मुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते विराडित्येनान-भिषिक्तानाचक्षते' ऐ० ८. १४; 'उदीचीमेव दिशं पश्य या स्वस्त्या प्राजानंस्तस्मादत्रोत्तरा हि वाग् वदति कुरुपञ्च लत्रा' श० ३. २. ३. १५।

उदीच्य—शब्रा (११. ४. १. १, तु०—गोब्रा, १. ३. ६) में उदीच्य ब्राह्मण **स्वैदायन शौनक** के नेतृत्व में **कुरुपञ्चाल** ब्राह्मण **उद्दालक आरुणि** से विवाद कर उन्हें जीतने वाले बताये गए हैं। कुरुपञ्चाल ब्राह्मणों से उनका संबन्ध इस बात से भी प्रकट होता है कि उनकी वाणी को उसी ब्राह्मण (३. २. ३. १५)[१] में कुरुपञ्चाल ब्राह्मणों की वाणी के समान बताया गया है। उदीच्य ब्राह्मणों की वाणी को शुद्ध माना गया है; अतः विद्यार्थी उदीच्य ब्राह्मणों से पढ़ने के लिए जाया करते थे, जैसा कि कौब्रा (७. ६)[२] में उल्लेख मिलता है जबकि बौद्ध ग्रन्थों में तक्षशिला (गान्धार) के विद्यालय को विद्यार्थियों का आश्रम कहा गया है[३]। हो सकता है कि फ्रेंक[४] के अनुसार संस्कृत का विकास कश्मीर में विशेष रूप से हुआ हो। द्रष्टव्य **कुरु**।

उदुम्बर—गूलर (फिकस ग्लोमरेटा) का वाचक यह शब्द ऋग्वेद में नहीं आता; अ० में एवं उसके बाद (१९. ३१. १; तैसं, २. १. १. ६ आदि, शब्रा ३. २. १. ३३; ७. ४. १. ३८ आदि) यह शब्द प्रायः आता है। प्रायः सभी यज्ञों में इसकी लकड़ी का प्रयोग होता था। यूप (तैसं २. १. १. ६) और स्रुवा आदि (तैसं ५. ४. ७. ३) इससे बनाए जाते थे। उदुम्बर के बने ताबीज का भी उल्लेख मिलता है (अवे १९. ३१. १)। **अश्वत्थ**, **न्यग्रोध** और **प्लक्ष** आदि की लकड़ियों के साथ इसका भी यज्ञ में उपयोग होता था (तैसं ३. ४. ८. ४)। ऐब्रा (७. १५) में इसके फल को मधुर बताया गया है, और उसे **मधु** के समकक्ष कहा गया है। वहाँ साल में इसके तीन बार पकने का उल्लेख आता है (५. २४.)। पंब्रा (१६. ६. ४) में उदुम्बर वृक्षों के एक वन का उल्लेख है। तु० 'स अब्रवीदयं वाव मा सर्वस्मात् पारमत उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदु-म्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षम्' श० ७. ५. १. २२; 'ऊर्ग् वा अन्नाद्यमुदुम्बरः' ऐ० ५. २४; तै० १. १. ३. १०; 'यद्वैतद्देवा इषमूर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बरः समभवत् तस्मात् स त्रिः संवत्सरस्य पच्यते' ऐ० ५. २४। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ५९।

उदुम्बल—'बभ्रुवर्ण'। ऋ० (१०. १४. १०-१२) में यम के दूत दो श्वानों के वर्णन में उन्हें चार नेत्र वाला, शबल और **उदुम्बल** बताया गया है।

उदौदन—द्र०—**ओदन**।

उद्गातृ—चार प्रमुख ऋत्विजों में उद्गाता सामगान से संबद्ध ऋत्विक् है। द्र०—**ऋत्विज्**। तु० 'सूर्य उद्गाता' गो० पू० १. १३; 'आदित्यो वा उद्गाताऽधिदैवं चक्षुर-ध्यात्मम्' ४. ३; 'पर्जन्यो वा उद्गाता' श० १२. १. १. ३; 'वर्षा उद्गाता तस्माद् यदा बलवद् वर्षति साम्न इवोपब्दिः क्रियते' श० ११. २. ७. ३२; 'देवानां वै षडुद्गातार आसन् वाक् च मनश्च चक्षुश्च श्रोत्रं चापा-नश्च प्राणश्च' जैउ २. १. १।

उद्गीथ—सामवेद का गान उद्गीथ कहाता है। यह उद्गाता पद के साथ संबद्ध है (अवे ११. ७. ५; १५. ३. ८)। छाउ (१. १. २-५) में उद्गीथ की विस्तृत विवेचना की गई है। द्र०—**उपद्रव**। तु० 'सोऽसावादित्यः स एष एव उद् अग्निरेव गी चन्द्रमा एव थम्। सामान्येव उद् ऋच एव गी यजूंष्येव थमित्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्।

---

[१] तु०—वेबर, इस्टू १. १९१; लेवी, ला डाक्ट्रिन दु सैक्रिफाइस, ३५।

[२] वेबर, उपर्युक्त, १. १५३; २. ३०९।

[३] रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, ८. २८. २०३।

[४] तु०—पाली उण्ड संस्कृत (१९०२), ८८, ८९।

प्राण एव उद् वागेव गी मन एव थम्। स एषोऽधिदैवतं चाध्यात्मं चोद्गीथः' जैउ ४. २३. २; 'एष (प्राणः) उ वा उद्गीथः। प्राणो वा उत् प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धम्। 'वागेव गी थोच्च गीथा चेति स उद्गीथः' श० १४.४. १. २५; =आदित्य, जैउ १. ३३. ५; =प्रजापति तै० ३. ८. २२. ३; =ऋतवः, ष० ३. १; =वर्षा, ष० ३. १; = पुरुषः, जैउ ४. ९. १; =मांसम्, जैउ १. ३६. ६।

उद्दालक आरुणि—**अरुण** के पुत्र उद्दालक प्रमुख आचार्यों में से एक हैं। शब्रा (११. ४. १. २; तु०—गोब्रा १. ३. ६) के अनुसार ये कुरुपञ्चालदेशीय ब्राह्मण थे। इस कथन का समर्थन इस तथ्य से भी हो जाता है कि वे कौशाम्बी के **प्रोति कौसुरुबिन्दि** के आचार्य थे (१२. २. २. १३) तथा उनके पुत्र ने **श्वेतकेतु** पञ्चालों से विचार-विमर्श किया था (बृउ ६. १. १; छाउ ५. ३. १) वे अपने पिता अरुण (बृउ ६. ४. ३३ दोनों शाखाओं में) और मद्रवासी **पतंचल काप्य** (बृउ, ३. ७. १. ६) के शिष्य थे। वे **याज्ञवल्क्य वाजसनेय** (बृउ ६. ३. १५; ४. ३३) और **कौषीतकि** (शाआ १५) के गुरु थे; किंतु अन्यत्र (बृउ, ३. ७. ३१) यह भी उल्लेख मिलता है कि **याज्ञवल्क्य** ने उन्हें विवाद में चुप कर दिया था। उन्होंने विवाद में **प्राचीनयोग्य शौचयेय** (शब्रा ११. ५. ३. १ एवं आगे) और **भद्रसेन आजातशत्रव** (५. ५. ५. १४)[१] को जीता था, यद्यपि वहाँ पर पाठ 'आरणि' मिलता है। वे एक **गौतम** (शब्रा, ११. ५. ३. २, कौउ, १. १) थे और कभी-कभी इसी नाम से वे उद्दिष्ट भी किए जाते थे। यज्ञ और दर्शन पर प्रमाण के रूप में वे अपने पैतृक नाम **आरुणि** से शब्रा (१. १. २. ११; २. २. १. ३४; ३. ३. ४. १९; ४. ४. ८. ९; ११. २. ६. १२), बृउ (३. ५. १) छाउ (३. ११. ४; ५. ११. २; १७. १; ६. ८. १) ऐब्रा (८. ७), कौब्रा (२६. ४), और षड्विंश (१. ६) ब्राह्मणों में अनेकशः अभिहित किए गये हैं। कौउ (१. १ एवं आगे) में भी उनका उल्लेख आता है। गेल्डनर[२] के अनुसार मैसं में इनका नहीं इनके पिता का उल्लेख है; वेबर[३] के अनुसार पंब्रा में इनका नाम नहीं आया है, किंतु कासं (७. ८. तु०—८. ६) में वे आरुणि के रूप में **'दिवोदास भैमसेनि'** के समकालीन हैं, और जैउब्रा (१. ४२. १) में **वाशिष्ठ चैकितानेय** की सेवा करनेवाले के रूप उल्लिखित हैं। तै० परंपरा में वे विरल रूप में ही आये है। तैसं (७. २. २. १ बाद का अनुच्छेद) में **कुसुरुबिन्द औद्दालकि** का संकेत है; तैब्रा (३. २. ८. १ एवं आगे) के अनुसार **नचिकेता, वाजश्रवा गौतम** का पुत्र था, जिन्हें *सायण* (तैब्रा पर भाष्य तु०—छाउ, १. ११) ने **उद्दालक** बताया है। किंतु **नचिकेता** का उपाख्यान कुछ अवास्तविक-सा होने से संबन्ध सिद्ध करने में मूल्यवान् नहीं समझा जा सकता। तैसं **अरुण** को जानती है। **उद्दालक** के वास्तविक पुत्र **श्वेतकेतु** हैं, जिन्हें आपस्तम्ब[१] ने उनके बाद प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। यह विवरण आरुणि के समय-निरूपण के लिए महत्त्वपूर्ण है।

उद्दालकायन—काण्वशाखीय बृउ (४. ६. २) की द्वितीय वंश-सूची में उद्दालकायन को **जाबालायन** का शिष्य कहा गया है।

उद्यतसूच्—ऋग्वेद (१. ३१. ५) में यह शब्द करने वाले व्यक्ति का बोधक है।

उद्यान—(उत्+यान=उन्नति)। अ० (८. १. ६) में उन्नति के अर्थ में उद्यान शब्द आया है। वहाँ कहा गया है कि 'हे पुरुष तुम्हारा उद्यान हो, अवयान (अवनति) न हो, (उद्यानं ते पुरुष नावयानम्)।

उद्र—यजुर्वेद की संहिताओं (तैसं ५. ५. २०. १; मैसं, ३. १४. १८; वासं, २४. ३७) में अश्वमेध के बलिपशुओं की सूचि में एक पशु के रूप में उद्र का उल्लेख मिलता है। महीधर (वासं भाष्य) के अनुसार यह केकडा है, किंतु तैसं (५. ५. २०. १) के भाष्य में इसे जल की बिल्ली बताया गया है, अतः यह ऊदबिलाव हो सकता है। तु०—त्सिमर, आले, ९५–९६, श्राडर; प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज़, २४७; 'उद्रिन्' बौश्रौ (२. ५.) में भी आता है।

उद्धि—उद्धि (अवे, ८. ८. २२; शब्रा, १२. २. २. २; ऐआ, २. ३. ८) रथ का कोई भाग है; संभवतः यह बैठने का स्थान हो[२]; किंतु राथ[३] के अनुसार यह अक्ष पर आधृत रथ का ढांचा है।

[१] एगलिंग, सेबुई ४१. १४१ में 'आरणि' पढ़ते हैं। इससे आरुणि को समझने में एक समय-संबन्धी कठिनता है; क्योंकि आजातशत्रव उन अजात-शत्रु का वंशज होगा, जो जनक के समकालीन थे (द्र० कौउ, ४. १) जो उन याज्ञवल्य के आश्रयदाता थे जो आरुणि के शिष्य थे। [२] वैस्टू, ३. १४६। [३] इं० लितरात्यूर, ६९; किंतु तु० २३. १. ५।

[१] द्र०—ब्यूहलर, सेबुई २, ३८; कीथ, ऐआ, ३. ९। तु०—वेबर, इस्टू, १. १७० दि०; २. २०१, २०२; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३६९ टि०। एगलिंग, सेबुई १२. ४०. ४१।

[२] इसी प्रकार, ह्विटनी का अवे० का ट्रां०, ५०६; एगलिंग, सेबुई ४४-१४९। [३] वोबू।

उद्वत्सर—द्र०—**संवत्सर**।

उन्नेतृ—द्र०—**ऋत्विज्**।

उपकेतु—कासं (१३. १) में एक मनुष्य का नाम उपकेतु है।

उपकोसल कामलायन—छाउ (४. १०. १; १४. १) में इन्हें एक आचार्य और **सत्यकाम जाबाल** का शिष्य बताया गया है।

उपक्वस—अ० (६. ५०. २) में एक जहरीले कीड़े का नाम है, जो बीज को खा जाता है। सायण इस शब्द को बहुवचन में विशेषण (अपवक्सः=अदग्धाः) मानते हैं; किंतु पैप्पलाद शाखा से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। तु०—त्सिमर, आले, २३७; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४८६; ह्विटनी, अथर्ववेद का अनुवाद ३१८।

उपगातृ—तैसं (३. ३. २. १), शब्रा (१३. २. ३. २) और ऐब्रा (७. १) में किसी प्रधान गायक (उद्गाता आदि) के पीछे एक साथ गान करने वालों को उपगाता कहा गया है। तु० 'तस्माद् चतुर एवोपगातॄन् कुर्वीत' जैउ० १. २२. ६; 'त य एवेमे मुख्याः प्राणा एत एवोद्गातारश्चोपगातारश्च' जैउ १. २२. ५।

उपगु सौश्रवस—पंब्रा (१४. ६. ८) में **कुत्स औरव** के पुरोहित के रूप में उपगु सौश्रवस का उल्लेख आया है। उनके द्वारा इनका वध हुआ था इन्द्र को नमस्कार करने के कारण। १—तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वै० मि० ३. २६८; हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स एण्ड साइंसेज, १५. ५७।

उपचित्—वासं (१२. ९७) में एक रोग का नाम उपचित् है, जिसे राथ[1] ने सूजन या स्फीति कहा है; किंतु ब्लूमफील्ड[2] ने **अपचित्** से अभिन्न बतलाया है।

उपजा—अ० (११. १. १९) में प्रजा के साथ उपजा शब्द आया है, जो वंशज के अर्थ में माना गया है। द्र०—ह्विटनी, ट्रांस अवे, उक्त स्थल।

उपजिह्विका, उपजीका, उपदीका—ये सब शब्द एक प्रकार की चींटी या दीमक (वम्रि=बमी) के नाम हैं। ऋ० (८. १०२. २१) में 'उपजिह्विका'; अवे (२. ३. ४; ६. १००. २१) में 'उपजीका'; किंतु पैप्पलाद शाखा में 'उपचीका' है। उपदीका तैब्रा, (१. १. ३.४) तैआ (५.१.४; १०.९) और शब्रा (१४.१.१.८) आता है। इनके संबन्ध में अ० (६. १००. २) में कहा गया है कि ये पृथ्वी से जल को निकाल लेते हैं, जिसमें मानव को नीरोग करने की शक्ति है। वे इसीलिए प्रायः विष-निवारक मन्त्रों में उल्लिखित हैं। ये 'घाव भरने वाली हैं" यह विश्वास संभवतः इसलिए था कि उनकी बनाई बमी में जल पाया जाता है। तु० 'इमा वै वम्र्यो यदुपदीकाः' श० १४. १. १. ८।

तु०—अजफि, ७. ४८२ एवं आगे, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५११, ह्विटनी का ट्रां० आदि अवे, ४१. ३५४; बेर्गेन्य और हेनरी, मैनुएल वैदिक, १५३।

उपद्रव—षब्रा (३. १) में यह शब्द पाँच भाग वाले सामन् के चतुर्थ भाग का बोधक है। ये पाँच भाग हैं:—**प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार, उपद्रव** और **निधन**। तु० 'विश्वेदेवा उपद्रवः' जैउ १. ५८. ९; 'आपः प्रजा ओषधय एष उपद्रवः' जैउ १. १९. २।

उपधान—अ० (१४. २. ६५) में आसन्दी (बैठने के आसन) के लिए आया है। इसकी अन्य ग्रन्थों के **उपबर्हण** के साथ समानता है।

उपधि—ऋ० (२. ३९. ४) और अ० (६. ७०. ३) में एक बार उपधि शब्द **प्रधि** शब्द के साथ रथ-चक्र के एक भाग को सूचित करने के लिए आया है। वह कौन सा भाग है इस बात का निश्चय करना कठिन है। राथ[1], त्सिमर[2] और ब्लूमफील्ड[3] के मत में यह शब्द सामूहिक रूप से अरों का बोधक है। ह्विटनी[4] इसे नहीं मानते हैं; **प्रधि** को वे रीम समझते हैं और **उपधि** को शेष भाग। दूसरी संभावनाएँ[5] ये हैं कि उपधि नेमि के नीचे का रिम हो सकता है, या नेमि हो सकता है, जैसा कि टायर।

उपनक्षत्र—शब्रा (१०. ५. ४. ५) में नक्षत्रों के उपनक्षत्रों का उल्लेख मिलता है। (तु०—**नक्षत्र**)।

उपनयन—द्र०—**ब्रह्मचर्य** और **उपवीत**।

उपनिषद्—उपनिषद् शब्द ब्राह्मणों (शब्रा १०. ३. ५. १२; ४. ५. १; ५. १. १; १२. २. २. २३ आदि; छाउ, १. १. १०; १३. ४; ८. ८. ४. ५; बृउ, २. १. २०; ४. २. १; ५. ५. ३; ऐआ, ३. १. ६; २. ५; कौउ २. १. आदि) में किसी शब्द या पाठ ('रहस्यार्थ') को सूचित करता है; कभी-कभी परिव्राजक के 'गूढ

---

[1] वोबू।
[2] प्रोअओसो अक्टूबर, १८८७, १८।

[1] वोबू।
[2] आ० ले०, २४८
[3] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४९३।
[4] ट्रां० अवे, ३३४।
[5] ब्लूमफील्ड, वहीं का स्थल।

नियमों' को भी व्यक्त करता है। किंतु बृउ (२. ४. १०; ४. १. २; ५. ११) में इस शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है और निसंदेह एक ग्रन्थ-विशेष के लि भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है जो विषय और कथन की दृष्टि से उपनिषदों के समान है और उस काल में निश्चित रूप से जिसकी सत्ता रही थी। उसी प्रकार तैउ में अनुवाकों का अन्त प्रायः 'इत्युपनिषद्' शब्द के साथ हुआ है। ऐआ (१. १) अपने तृतीय भाग को 'संहिता का उपनिषद्' यह शीर्षक देता है; शांआ (६. २. तु०—तैउ, १. ३. १) में भी यह शीर्षक आता है। इसका ठीक-ठीक मौलिक भाव अज्ञात है। स्वारसिक व्युत्पत्ति, जो मैक्समूलर[1] ने की थी, और उस समय से जो सामान्यतया स्वीकृत है, है: 'शिष्यों का उपवेश', इस प्रकार 'गुप्त सिद्धान्त' और तब 'गूढतत्त्वों की पुस्तक'। ओल्डेनबर्ग[2] ने इस शब्द का मूल अर्थ पूजा वताया है (तु० **उपासना**)। डायसन[3] के अनुसार इसका मौलिक अर्थ है 'गूढ शब्द', फिर 'गूढ ग्रन्थ' और फिर 'गूढ उपदेश', किंतु यह अर्थ—परंपरा जँचती नहीं है। हापकिन्स[4] का सुझाव है कि यह शब्द एक 'उपकारक ग्रन्थ' के लिए प्रयुक्त हुआ है, किंतु यह अर्थ भी अग्राह्य है। इस शब्द का सामान्य अर्थ 'रहस्य' प्रचलित है।

उपपति—उपपति का उल्लेख जार के साथ वासं (३०. ९; तैब्रा, ३. ४. ४. १) में पुरुषमेध के बलि-पशु के रूप में हुआ है।

उपबर्हण—ऋ० (१०. ८५. ७) अ० (९. ५. २८; १२. २ १९, २०; १५. ३. ७) में एवं ब्राह्मणों (ऐब्रा ८. १२, शब्रा, १३. ८. ४. १०, कौउ, १. ५, तैब्रा, १. १. ६. १०; ६. ८. ९; कासं, २८. ४ आदि) में आसन्दी के उपधान या विष्टर के रूप में उपबर्हण शब्द का उल्लेख मिलता है। स्त्रीलिंग में उपबर्हिणी शब्द भी उसी अर्थ में ऋग्वेद में आया है, किंतु पृथ्वी का रूपक बनकर।

उपब्द, उपब्दि—उपब्द (ऋ० ७. १०४. १७, तु० अवे २. २४. ६) और उपब्दि (ऋ० १. ७४. ७; १. १६९. ७; ९. ८८. ५; शब्रा ११. २. ६. ३२ आदि) शब्द भाष्यकारों द्वारा शब्द या ध्वनि के अर्थ में ग्रहण किये गए हैं। निघण्टु (१. ११) में उपब्दि शब्द वाक् के नामों में गिनाया गया है।

उपभृत्—अथर्ववेद (१८. ४. ५, ६) और वासं (२. ६) में उपभृत् एक **स्रुच्** के रूप में **जुहू**, **स्रुच्** और **ध्रुवा** के साथ आया है। तैसं (३. ५. ७. ३) के अनुसार खादिर स्रुक्, पर्णमयी जुहू, आश्वत्थी उपभृत् और वैङ्कती स्रुवा होती थी। (तु०—काश्रौसू, १. ३. ३५ आदि)। तु० 'अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्' श० १. ३. २. ४; 'अन्तरिक्षमुपभृत्' तै० ३. ३. १. २; 'उपभृत् सव्यः (हस्तः)' तै० १. ३. २. ११.

उपमन्थनी—मथानी के अर्थ में उपमन्थनी शब्द का प्रयोग बृउ (६. ३. १३) में आया है। वासं (३०. १२; तैब्रा, ३. ४. ८. १) में पुरुषमेध की बलियों में "उपमन्थिता" का उल्लेख है और क्रिया "उपमन्थ्" का (तैब्रा, १. ६, ८. ४, ५; शब्रा, २. ६. १. ६; छाउ, ५ २. ४) द्रव पदार्थों को मिलाने अथवा उनके मथने के अर्थ में प्रयोग आम है।

उपमन्यु—लुड्विग[1] के अनुसार ऋग्वेद (१. १०२. ९) में एक व्यक्ति का नाम है; किंतु राथ[2] ने उसे एक विशेषण-मात्र माना है।

उपमश्रवस्—उपमश्रवस् का उल्लेख ऋग्वेद (१०. ३३. ६, ७) में **कुरुश्रवण** के पुत्र और **मेधातिथि** के पौत्र के रूप में हुआ है। उनसे संबद्ध संदर्भ का यथार्थ अभिप्राय अनिश्चित है। बृहद्देवता (७. ३५, ३६)[3] लुड्विग,[4] और लानमान[5] के अनुसार **कवि उपमश्रवस्** को उनके पितामह की मृत्यु पर सान्त्वना देता है। दूसरी ओर गेल्डनर[6] का विचार है कि कवि **कवष ऐलूष** के साथ उसके आश्रयदाता के पुत्र **उपमश्रवस्** ने अनुचित व्यवहार किया और उसे कूप में डाल दिया, जहाँ उसने उनसे शिकायत की और दया दिखलाने को कहा। किंतु इसके लिए कोई साक्ष्य नहीं है; बृहद्देवता की परंपरा ही समुचित प्रतीत होती है।

उपमित्—गृह के किसी भाग-विशेष का नाम बनकर यह शब्द दो बार ऋ० (१. ५९. १; ४. ५. १) में और एक बार अथर्ववेद (९. ३. १) में आया है। ऋग्वेद के

[1] सेबुई १, ३३ एवं आगे, तु०—वोबू; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २०४।

[2] त्साइटश्रिफ्ट ५०. ४५७; ५४. ७०; दी लितराट्यूर देस आल्तन इन्दीन, ७२।

[3] फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स, १६ एवं आगे।

[4] रिलिजन्स आफ इंडिया, २१८।

[1] ट्रां० आ० दि ऋ०, ३. ११३।

[2] वोबू।

[3] मैकडानल के नोट के साथ।

[4] ट्रां० आ० दि ऋ०, ३. १६५.

[5] संस्कृत रीडर, ३८६, ३८९,

[6] वैस्तू, २. १५० टि०।

स्थलों से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि यह शब्द सीधे घड़े गये स्तम्भों के लिए आया है। अथ० में यह शब्द **परिमित्** और **प्रतिमित्** शब्दों के साथ आता है। फलतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि **प्रतिमित् उपमित्** को सहारा देने वाले कोण–विशेष पर आधृत टोर रहे होंगे और **परिमित् उपमितों** को जोड़ने वाली बल्ली रही होगी। किंतु ये व्याख्याएँ–अनुमान-मात्र हैं। द्रष्टव्य **गृह** भी। तु०–त्सिमर, आले०, १५३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५९६, ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ५२५।

उपयज—तु० 'यद्यजन्तमुपयजति तस्मादुपयजो नाम' श० ३. ८. ४. १०;

उपयमनी—तु० 'उदरं वा उपयमन्युदरेण हीदं सर्वमन्नाद्यमुपयतम्' श. १४. २. १. १७.

उपयाम—ग्रह। तु० 'इयं (पृथिवी) वा उपयाम इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्यः' श. ४. १. २. ८.

उपर—उपर शब्द, जो पिशल[१] के अनुसार प्रस्तर के लिए आम है, एक प्रस्तर-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसपर सोम को रखा जाता था उसे दूसरे पत्थरों (ग्रावा, अद्रि) से पीसने के लिए। यह शब्द विरल है, केवल तीन बार ऋ० (१. ७९. ३; १०. ९४. ५; १७५. ३.) में और एक बार अ० (६. ४९. ३) में आया है। उपर=उप+र 'ऊपर का'। तु०–हिल्लेब्रांड्ट, वै० मि० १.१५४, ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३१७; फान श्रोडर, मिस्टीरिउम उण्ड मिमस, ४१४।

उपल-प्रक्षिणी—यह शब्द ऋग्वेद (९. ११२. ३) में एक बार एक स्त्री की वृत्ति को बताने के लिए आया है। उसके पुत्र कवि हैं और पिता भिषक् हैं। यास्क (नि० ६. ५) ने इसका अर्थ (सत्तू बनाने वाली) सक्तुकारिका किया है। राथ,[२] ग्रासमान,[३] त्सिमर[४] और अन्य विद्वानों ने इसका अर्थ "धान्य कूटने वाली" किया है। पिशल[५] का मत है कि धान्य को दो प्रस्तरों के बीच नहीं पीसा जाता था, अपितु एक पत्थर (=ओखली) में मूसल की सहायता से कूटा जाता था; अतः **उपल-प्रक्षिणी** उस स्त्री को कहते थे जो सोम-सवन में सहायता करती थी। तु० **उपर**। फान श्रोडर[१] ने संकेत किया है कि उपल धान्य कूटने की ओखली है, जिसमें धान्य को डाल कर मूसल से कूटा जाता था; फलतः **उपलप्रक्षिणी** का अर्थ है "ओखली को (धान्य) से भरने वाली (स्त्री)"।

उपला—ब्राह्मणों (शब्रा, १. १. १. २२; २. १. १४. १७; २. २. २. १ इ०) में यह शब्द ऊपरी छोटे पत्थर को सूचित कर सकता है जो एक मूसल के रूप में दृषद् (उलूखल) के साथ उल्लिखित है। किंतु संहिताओं में **उपर** उलूखल के लिए और **दृषद्** मूसल के लिए प्रयुक्त हुआ है। तु०–फान श्रोडर, मिस्टीरियम उण्ड मिमस, ४१३. टि० ३

उपवक्तृ—यह एक **ऋत्विज्** है। द्र० **ऋत्विज्**।

उपवसथ—सोमयाग के पूर्व दिवस को उपवसथ कहा गया है; इस दिन यज्ञ की दीक्षा लेकर उपवास का विधान है (शब्रा ९. ५. १. ६, ९; १०. २. ५. १५; ११. २. ४. ७; काश्रौ सू०, ४. १५. ३५; १२. १. २५ आदि। शब्रा (९. २. १. १) में उपवसथीय अहन् का उल्लेख है। वहीं (१. १. १. ७ में) कहा गया है कि "देवता यह समझकर कि कल यह यज्ञ करेगा उसके घर चले आते हैं। तु. 'यदहरस्य श्वोऽन्याधेयं स्यात्। दिवैवाश्नीयान्मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतच्छ्वोऽन्याधेयं विदुस्तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स आवसथः' श० २. १. ४. १। द्र०–शब्रा० २. ३. २. ७, ११. १. ७. ३; ऐब्रा ३. ४५ इत्यादि।

उपवाक—वासं (१९. २२, ९०; २१. ३० घाव भरने वाला) में और ब्राह्मणों (शब्रा १२. ७. १. ३; २. २. आदि) में एक अन्न की जाति के रूप में उपवाक का उल्लेख हुआ है। बाद में यह इन्द्रयव कहाने लगा। भाष्यकार महीधर (वासं १९. २२ पर भाष्य) इसका अर्थ केवल **यव** करते हैं। वासं के अनुसार यह करम्भ का आवश्यक तत्त्व था। उपवाक के सक्तुओं का शब्रा (१२. ९. १. ५) में उल्लेख मिलता है। द्र० 'यच्छ्लेषमणस्ता उपवाकाः' (अभवन्); श. १२. ७. १. ३. द्र०–त्सिमर, आले, २४०' २७०।

---

[१] वैस्टू, १. १०९; यह उपल का रूप है (वासं २५. ८)

[२] वोबू।

[३] वही, "ऊपरी प्रस्तर को नीचे के प्रस्तर पर फिट करना"।

[४] आले, २६९; तु० हिल्लेब्रांड्ट, वेदक्रिस्टोमेथी, पृच् को भरने के अर्थ में लेकर कहा है—यह व्याख्या अनवगम्य है।

[५] वैस्टू, १. ३०८-३१०

[१] मिस्टीरियम उण्ड मिमस, ४१२ एवं आगे। फान श्रोडर उक्त प्रसङ्ग में गायक की मां का संकेत नहीं मानते। किंतु उस स्थल पर इस शब्द का यह अर्थ किया जा सकता है; उनका दिया अर्थ "धान्य माता" असंभव है। तु०–कीथ, जराएसो० १९०९, २०४

उपवासन—ऊपरी वासस् या आवरण-वस्त्र को आसन्दी के उपधान के प्रसङ्ग में उपवासन कहा गया है। (अवे १४. २ ६५)।

उपवीत—तैसं (२. ५. ११. १) एवं परवर्ती साहित्य में उपवीत शब्द का उल्लेख मिलता है। यज्ञोपवीत ब्राह्मण धर्म की एक प्रमुख विशेषता है। इस पावन सूत्र को वामस्कन्ध के ऊपर से दक्षिण बाहु के नीचे की ओर पहना जाता है। इसे **उपवीत** कहते हैं; और इसके विपरीत (दक्षिण स्कन्ध के ऊपर से वाम बाहु के नीचे से) पहनने पर **प्राचीनावीत** कहते हैं। दोनों बाहुओं को न उठाने पर और दोनों कंधों पर से लटकने पर उसे **निवीत या संवीत** कहते है। उपवीत का देवों के लिए, प्राचीनावीत का पितरों के लिए, और निवीत या संवीत का मनुष्यों के लिए विधान है (तैसं २. ५. ११. १; तैआ, २. १. १,)। यज्ञोपवीत धारण करके ही यज्ञादि कार्य करने का विधान मिलता है। किंतु पहले सूत्र के स्थान पर वस्त्र या कृष्णाजिन भी उसी प्रकार धारण किया जाता था (तैआ २. १. १)। यद्यपि यज्ञोपवीत या उपनयन का उल्लेख अथ (११. ५) एवं उसके बाद मिलता है और ऋग्वेद में इसके संकेत नहीं मिलते; तथापि नवजोत के रूप में पारसियों के संस्कार के मूल पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि यह प्रथा आर्य-ईरानी काल में प्रचलित थी। द्र०—वी० एम० आप्टे, सोशल ऐंड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, पृ० २०२।

विवरण: काश्रौसू० १. ७. २३; शांगृसू०, २. १३. ६; मागृसू० का प्रारंभ ही इस संस्कार के वर्णन से होता है।

उपवेशि—बृउ (६. ५. ३ दोनों शाखाओं) में कुश्रि के शिष्य के रूप में उपवेशि का उल्लेख एक वंश-सूची में आया है। द्रष्टव्य **औपवेशि** भी।

उपवेष—खदिर की लकड़ी से बना हस्ताकार, अरत्नि के परिमाण वाला यज्ञ-पात्र उपवेष है। द्र० तैसं, २. ६. ५. ५; शब्रा, १. २. १ ३; काश्रौसू, ४. २. १२ आदि; द्र०—लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सभाष्य शब्रा की भूमिका में उपवेष के आकार का सूचक चित्र।

उपश्री, उपश्रय—दोनों शब्द एक ही अर्थ में आए हैं। पहला कौउ की एक शाखा (१. ५) में पाया जाता है और दूसरा संभवतः उसी उपनिषद् की दूसरी शाखा[1] (पाठ) में। दूसरा शब्द अवे (१५. ३. ८)[2] में भी एक स्थल पर आया है; किंतु वहाँ पर पाठ अपश्रय है, जिसे राथ[1] ने संभव माना है। दोनों ही शब्दों का अर्थ कोच से संबद्ध (**आसन्दी** अथर्ववेद में और **पर्यङ्क** कौषीतकि उपनिषद् में) है। औफ्रेख्त[2], राथ[3] और मैक्समूलर[4] इसे शय्याच्छद या उपधान मानते हैं। किंतु ह्विटनी[5] अधिक प्रामाणिक ढंग से उसका अर्थ 'आश्रय' या तकिया करते हैं।

तु०—वेबर, इस्टू, १. ४०२; त्सिमर, आले १५५।

उपसद् इष्टि—उपसद् एक इष्टि है, जिसका उल्लेख संहिताओं और ब्राह्मणों में अनेक बार हुआ है: तैसं ५. ३. २. ५; ६. २. ४. १; वासं १९. १४; ऐब्रा, १. २३ आदि। आश्रौसू (४. ८. १–११) में इस यज्ञ का विशेष विवरण है। वासं (१९. १४) के भाष्य में कहा गया है कि तीन रात तक अभिषुत सुरा के गर्त में उपस्थापित करने से इसका नाम उपसद् है।

तु० 'ते (देवाः) एताभिरुपसद्भिरुपासीदंस्तद्यदुपासीदं स्तस्मादुपसदो नाम' श० ३. ४. ४. ४; =ऋतवः श० १०. २. ५. ७; =मासाः, श० १०. २. ५. ६; =अर्धमासाः, श० १०. २. ५. ५; =अहोरात्राणि, श० १०. २. ५. ४; =इमे लोकाः, श० १०. २. ५. ८।

उपस्तरण—कौउ० (१. ५) में पर्यङ्क के वर्णन के प्रसङ्ग में उसके आच्छद-वस्त्र के रूप में यह शब्द आया है। एक रूपक में ऋ० (९. ६९. ५) में भी यह शब्द आता है। अथ० (५. १९. १२) में भी इस शब्द का वही अर्थ है। ह्विटनी[6] ने इसका अर्थ कोच किया है जबकि अपने अनुवाद[7] में अन्यत्र (१५. ३. ७) उन्होंने इसके समान-रूप आस्तरण शब्द का अर्थ तकिया किया है। तु०—वेबर, इस्टू, १. ४०३; त्सिमर, आले १५५।

उप-स्ति—ऋ० (१०. ९७. २३; वासं १२. १०१; अवे ६. १५. १) और अथ० (३. ५. ६) दोनों ही में यह शब्द आश्रित के अर्थ में आया है; जैसा कि आर्ष काव्य[8] में भी बाद में "उपस्था" क्रिया द्वारा वैश्य को दो ऊपरी वर्णों का आश्रित बताया गया है। उसी अर्थ में

---

[1] द्र०—कीथ, शाआ, टि० ३।

[2] तु०—ह्विटनी की टिप्पणी उनके अनुवाद में।

---

[1] वोबू; बार्टलिक, डिक्शनरी, में भी अनुसृत।

[2] इस्टू, १. १३१।

[3] द्रष्टव्य—**अपश्रय**।

[4] सेबुई १. २७८।

[5] ट्रां० अवे ७७७.

[6] ट्रां० आ दि अवे०, २५४.

[7] वही, ७७६।

[8] हापकिन्स, जअओसो, १३. ९२ आले, १८४. १८५.

यह शब्द "स्ति" के रूप में आता है; किंतु केवल ऋ० (७. १९. ११, १०. १४८. ४, स्ति-प ७. ६६. ३, १०. ६९. ४) में। यह अधीनता किस प्रकार की थी इसका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया जा सकता। त्सिमर[1] का अनुमान है कि ये आश्रित पराजित आर्य जाति के होते थे, जो राजा के अधीन बन जाते थे, जैसे कि ग्रीकों, रोमनों एवं जर्मनों में द्यूत (ऋ० १०. ३४) के कारण अपनी स्वतन्त्रता खोने वाले व्यक्ति बन जाया करते थे। अ० (३. ५. ६. ७) के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि उपस्तियों में **रथकार, तक्षा, सूत** और **ग्रामणी** संमिलित थे जब कि ऋग्वेद के उद्धरणों में सारी प्रजा 'स्ति' शब्द से नहीं ली जा सकती। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे राजा के अमला होते थे, उसके दास नहीं। त्सिमर द्वारा सुझाए गए व्यक्तियों के अतिरिक्त उनमें और ऊँचे लोग भी हो सकते हैं, जैसे कि दूसरी जातियों के शरणार्थी, एवं महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति, जो राजा की सेवा में उच्च पद प्राप्त करने की इच्छा से आ जाते थे। निश्चय ही, सूत और ग्रामणी राजा के गृह-पदाधिकारी होते थे,—राजा के बनाने वाले, किंतु वे स्वयं राजा नहीं थे, जैसा कि अथ० ने (३. ५. ७) उनके विषय में लिखा है। तैसं, (७. २. ५. ४; तु०—६. ५. ८. २) तैब्रा (३. ३. ५. ४) और कासं (३१. ९) में इस शब्द का प्रयोग आलंकारिक है; जैसा कि यह ऋ० के उस स्थल पर है जहाँ कि यह आया है। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा (३. ५. ७) में वैश्य, शूद्र और आर्य को उपस्ति बताया गया है, जो संभवतः प्रजा के समान्य अर्थ में है। उपस्ति=उप+अस्+ति ?

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, २. २४६; ह्लिटनी, ट्रां० अ०वे० ९२; वेबर, इस्टू, १७. १९६ एवं आगे।

उपस्तुत—ऋ० (१. ३६. १०, १७; १. ११२. १५; ८. ५. २५; १०. ११५. ८.) में एक पुराण ऋषि के रूप में इनका कई बार उल्लेख हुआ है। विशेषतः **कण्व** के साथ इनका नाम आया है, जिनकी **अग्नि, अश्विनीकुमारों** एवं अन्य देवों ने सहायता की थी। **वृष्टिहव्य** (१०. ११५. ९) के पुत्र **उपस्तुतों** को गायक (८. १०३. ८; १०. ११५. ९) बताया गया है। तु०—लुड्विग्, ट्रां० ऋग्वेद, ३. १०८; मैक्समूलर, सेबुई, ३२. १५२. १५३।

उपह्वर—ऋ० (१. ८७. २) में गेल्डनर के अनुसार इसका अर्थ रथ का "क्रोड" (=उप-स्थ) है। तु० ऋ० २. ८. ६. ९. ६; दे० प्रतिह्वर (ऋ० ७. ६६. १४) और **अभिह्वार** (अ० ६. ७. ६. ३).

उपाधाय्यपूर्वय—तैसं (२. २. ११. ४) में **उपाधाय्यपूर्वय** शब्द आया है। आश्रौसू (१९. २०. २) के अनुसार यह झालरदार कपड़े का बोधक है। तु०—**वासस्**।

उपानस—अथ० (२. १४. २) में उपानस को अक्ष (=धुर) के विपरीत कहा गया है। अतः इसका अर्थ शकट पर बैठने का स्थान (उप-स्थ) हो सकता है। सायण का सुझाव है कि इसका अर्थ "अन्नपूर्ण शकट" है। ऋग्वेद (१०. १०५. ४) में, जहाँ यह शब्द केवल एक बार आता है, इसका अर्थ संदिग्ध है। पिशल[1] ने वहाँ इस शब्द को विशेषण न मानकर सामान्य संज्ञा या भाव-वाचक माना है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३०१; ह्लिटनी अथर्ववेद, ५।

उपानह—पश्चकालीन संहिताओं (तैसं ५. ४. ४. ४, ६. ६. १) के समय से जूते अथवा चप्पल के लिए उपानह् शब्द का प्रयोग हुआ है। शब्रा (५. ४. ३. १९) में जूते बनाने के काम में शूकर-चर्म का उपयोग होता था। दण्ड और उपानह् का एक साथ प्रयोग (दण्डोपानह्) कौब्रा (३. ३) के समय से मिलता है।

उपावि जानश्रुतेय—इनका उलेख ऐब्रा (१. २५. १५) में उपसदों (सोमयागों) के विषय में प्रामाणिक अधिकारी के रूप में हुआ है।

उपांशु—ग्रहविशेष। तु० 'अथवा उपांशुः प्राण एव' कौ० १२. ४; 'यज्ञमुखं वा उपांशुः' श. ५. २. ४. १७; 'इयं (पृथिवी) ह वा उपांशुः' ४. १. २. २७.

उपांशुसवन—'आत्मा वा उपांशुसवनः' ऐ० २. २१; 'व्यान उपांशुसवनः', श० ४. १. १. १.

उपोदिति गौपालेय—पंब्रा (१२. १३. ११) में साम-द्रष्टा ऋषि के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।

उभयद्यु—यह एक प्रकार का ज्वर है, जिसका उल्लेख अथ० (१. २५. ४; ७. ११६. २) में आता है। द्र०—**तक्मन्**।

उभयमन्तरेण—ऐआ (३. १. ३, ५) और शांआ (७. १०. १२) में **प्रतृण्ण, निर्भुज्** और **उभयमन्तरेण** शब्द क्रमशः **संहितापाठ, पदपाठ** और **क्रमपाठ** के अर्थ में आए हैं। तु०—**स्वर**।

उभयादन्त्—"दोनों जबड़ों में दांत वाला"। यह शब्द पालतू पशुओं में घोड़ा, गधा आदि को बकरी, भेंड़

[1] वैस्टू, ३. ४६; ल्यूडर्स, वरुण, पृ० ३३७. नोट।

[1] वैस्टू, १. १९७.

एवं इसी प्रकार के अन्य जानवरों से पृथक् करता है। यह विभेद 'ऋग्वेद के एक बाद के सूक्त (१०. ९०. १०) में बताया गया है और बाद की संहिताओं (तैसं, २. २. ६. ३; ५. १. २. ६; मैसं, १. ८. १) एवं ब्राह्मणों (शब्रा १. ६. ३. ३० उभयतादन्त) में इसका अनेकशः उल्लेख हुआ है। तैसं (२. २. ६. ३) में एक स्थान पर मनुष्य को घोड़े के समान उभयादन्त् की श्रेणी में रखा गया है। इसका विलोम है "अन्यतोदन्त्" (एक ही जबड़े में दांत वाला)। इसका प्रयोग उन पशुओं (तैसं, २. १. १. ५; ५. १. २. ६, ५. १. ३) के लिए हुआ है, जिनके आठों दांत नीचे के जबड़े में होते हैं। अ० (५. ३१. ३) में गर्दभ को उभयादन्त् कहा गया है। फिर अ० में ही एक स्थल पर (५. १९. २) मेष को उभयादन्त् कहा गया है, किंतु यहाँ भाव आश्चर्य का है : ठीक वैसे ही जैसे ऋ० (८. १८. १७) में एक मेष एक सिंहिनी को चीर डालता है। ब्लूमफील्ड[1] ने अ० में वहाँ एक अन्य पाठ का सुझाव दिया है, जिससे अर्थ होगा "अश्व"। एक इसी प्रकार का ही पशुओं का विभाजन तै० (४. ३. १०. २) और वा० (१४. ३०) संहिताओं में है, जिसमें उन्हें 'एक सुम वाले' और 'क्षुद्र' इन दो विभागों में बाँटा गया है।

त्सिमर[2] ग्रीक् अम्फोडोण्टा[3] और लैटिन ऐम्बीडेन्स[4] के साथ तुलना करके यह दिखाते हैं कि भारोपियन लोग पाँच यज्ञिय पशुओं के दो वर्गों—पहला मनुष्य और अश्व, दूसरा मेष, अज आदि पशुओं—से परिचित थे। किंतु यह मान्यता आवश्यक नहीं है।

उमा हैमवती—केनोपनिषद् (३. १२. एवं आगे) में उमा हैमवती के रूप में परब्रह्म का वर्णन किया गया है। यही बीज है जिसके आधार पर वेदोत्तर काल में हिमवान् की पुत्री उमा या पार्वती की कथा का प्रादुर्भाव हुआ है।

उरस्—वक्षःस्थल। तु० 'तस्मा उरुरभवत्। तदुरस उरस्त्वम्' जैउ० ४. २४. २.; 'उरस्त्रिष्टुप्', ष० २. ३; ३२: 'उरः सांतपनीया (इष्टिः) उरसा हि समिव तप्यते' श. ११. ५. २. ४। द्र०—**शरीर**।

उरा—अवि के लिए "उरा" शब्द केवल ऋ० (८. ३४. ३) में आता है। यह आश्चर्य की बात है कि उन दो स्थलों में से एक पर, जिनमें कि यह शब्द आया है, यह 'भयानक अवि' के रूप में वृक की ओर संकेत करता है और दूसरी जगह '**उरामथि**' (८. ६६. ८; तु० वि० ५. २१) इस विशेषण के द्वारा वृक को जताता है। ये दोनों संदर्भ एक ही मण्डल में आते हैं। फलतः हो सकता है कि उरा शब्द एक स्थानीय बोली का शब्द रहा हो। द्रष्टव्य—**अवि**।

उरुकक्ष—उरुकक्ष शब्द ऋग्वेद (६. ४५. ३१) में केवल एक बार आता है, जो बहुत ही विवादग्रस्त स्थल है। पाठ है 'उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः', जो गंगातीर—वासी **उरुकक्ष** नामक व्यक्ति का अभिधान हो सकता है[1]; अथवा गंगा का पुत्र हो सकता है; अथवा उस नाम का काष्ठ-विशेष हो सकता है[2]; अथवा यह शब्द गंगा के प्रशस्त प्रस्तार का ही सूचक हो सकता है[3]।

उरुक्षय—ऋग्वेद के एक सूक्त (१०. ११८. ८-९) में अग्नि के उपासक **उरुक्षय** लोगों के एक वंश का उल्लेख है। तु०—लुड्विग्, ट्रां० ऋ०, ३. १६७।

उरुंजिरा—निरुक्त (९. २६) में **विपाश्** (=व्यास) नदी का नाम है।

उरुण्ड—अथर्ववेद (८. ६. १५) में एक प्रकार के दैत्यों को **उरुण्ड** कहा गया है।

उरूक—ऐतरेय ब्राह्मण (२. ७) में उरूक शब्द का अर्थ सायण ने काक-विरोधी कोई विशेष **उलूक** माना है। सामश्रमी सत्यव्रत शर्मा ने उसे पेचक के रूप में प्रसिद्ध माना है (देखो उनका सायण-भाष्य-समेत ऐतरेय आरण्यक का संस्करण पृ० २९३ टि०)। कीथ ने भी उलूक अर्थ माना है; तु०—ऋग्वेद ब्राह्मणाज़, ७२, १४० टि० और ५४९।

उर्वरा—कृषि के लिए उपयुक्त उपजाऊ भूमि (ग्रीक 'अरौर') के अर्थ में ऋग्वेद (१. १२७. ६; ४. ४१. ६; ५. ३३. ४; ६. २५. ४; १०. ३०. ३; १४२. ३ इत्यादि, अवे० १०. ६. ३३; १०. ८; १४. २. १४. इ०,)—काल से ही यह शब्द **क्षेत्र** के साथ आता है। **अप्नस्वती** (ऋ० १. १२७. ६,=उपजाऊ) और **आर्तना** (ऋ० १.१२७.६, =बंजर) भूमियों का उल्लेख आम है। ऋग्वेद (७. ४९. २) और अथर्ववेद (१. ६. ४, १९. २. २) दोनों में सिंचाई की सहायता से अधिक उपज का उल्लेख है; साथ ही खाद

[1] हिम्स आफ दि० अवे०, ४३४.

[2] आले, ७४—७६.

[3] अरिस्टोटल, हिस्ट० एन०, २. १. ८.

[4] फेस्टुस अपुड पौलुम डियाकोनुम। तु० वेबर, इस्टू, १०. ५८

[1] ग्रासमान, वोबू; तु०—मैकडानल, वैदिक ग्रामर, २९१।

[2] लुडविग् का अनुवाद।

[3] वेबर, एपिश्शेस इम वेदिश्शेन रितुएल, २८ टि० ५; ओल्डेनबर्ग, ऋ० नो० १. ३९६।

(अवे० ३. १४. ३, ४; १९. ३१. ३) के उपयोग का भी उल्लेख आता है। ऋग्वेद (१. ११०. ५) के अनुसार खेतों को सावधानी से नापा जाता था; और इस से कृषि-क्षेत्र का वैयक्तिक स्वामित्व सूचित होता है; इसकी पुष्टि ऋग्वेद (८. ९१. ५) के एक सूक्त में **अपाला** के संदर्भ से भी होती है, जिसमें उसके पिता के क्षेत्र (उर्वरा) को उसी स्तर पर रखा गया है जिस पर कि उसके शिर के बाल आदि थे। इसके साथ संगत ये विशेषण भी मिलते हैं:— 'उर्वरा-सा' 'उर्वरा-जित्', 'क्षेत्र-सा', (ऋ० ४. ३८. १ और ६. २०. १; २. २१. १; ४. ३८. १) जब कि एक देव (८. २१. ३, तु० क्षेत्र) को "उर्वरा-पति" कहना मनुष्य के स्वामित्व का उस पर स्थानान्तरित करना—मात्र है। साथ ही क्षेत्रों को उसी सम्बन्ध में कहा गया है, जिसमें बच्चों (ऋ० ४. ४१. ६ इत्यादि) को और क्षेत्रों की विजय का संहिताओं (तैसं०, ३. २. ८. ५; कासं० ५. २; मैसं० ४. १२. ३) में उल्लेख आम है। संभावना यह है, जैसा कि पिशल[१] ने सुझाया है, कि कृषि की भूमि चरागाहों से घिरी होती थी, जिसे **खिल** या **खिल्य** कहते थे और जो सामूहिक संपत्ति समझी जाती थी। वैदिक साहित्य में सामाजिक संपत्ति[२] का उल्लेख नही है और नहीं वहाँ सामाजिक कृषि का ही उल्लेख मिलता है। भूमि भी वैयक्तिक संपत्ति संभवतः बाद में बनी थी। छान्दोग्य उपनिषद् (७. २४. २) में संपत्ति के उदाहरण-रूप में जो वस्तुएँ गिनाई गई हैं, उनमें खेत और घर भी हैं। ग्रीक साक्ष्य[३] से भी भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व का ही पता चलता है। 'वैयक्तिक स्वामित्व' शब्द से यथार्थ स्वामित्व का ठीक अवगमन नहीं हो पाता। कुटम्ब के मुखिया का कुटुम्ब के व्यक्तियों से वैधानिक संबन्ध क्या था इसका भी उल्लेख नहीं मिलता (द्र० पितृ)। संभवतः कुटुम्ब के सब व्यक्ति भूमि को बिना बाँटे बरतते थे। सूत्रों [तु०—गौतम धर्म सूत्र, १८. ५ एवं आगे; बौध सू०, २. २. ३; आं० ध० सू०, २. ६. १४; यह ठीक है कि नियम अधिक प्राचीन हैं, किंतु यह कितने प्राचीन हैं यह नहीं कहा जा सकता। देश के बसने के साथ भूमि के उत्तराधिकार और विभाजन अनिवार्य हो जाते हैं] से पहले भूमि के उत्तराधिकार-संबधी नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण (१३.६.२.१८; ७.१.१३.१५) में भूमि को दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को देने का कथन है, किंतु वह निन्दा के साथ है। उस समय भी भूमि एक ऐसी संपत्ति थी, जिसे यों ही दान में देना या बाँटना संभव नहीं था। तैसं (३. १. ९. ४) की उस पौराणिक कथा में, जिसमें **मनु**, अपनी संपत्ति का विभाजन करते हैं, और जिसमें वे **नाभानेदिष्ठ** को सम्मिलित नहीं करते; वे उसे पशु देकर उसकी कमी को पूरा करते हैं। यह स्पष्ट है कि संपत्ति का आधार भूमि नहीं, अपितु पशु थे[१]। भूमि के स्वामियों का राजा तथा अन्य लोगों से संबन्ध जानने के लिए द्रष्टव्य **ग्राम**; ग्राम्य कृषि के लिए द्रष्टव्य **कृषि**।

१ वैस्तू, २. २०४–२०७।

२ तु० बैडेन पावेल, इंडियन विलेज कम्युनिटी, (१८९९), त्सिमर, आले०, २३६; मिसेज रीज् डेविड्स, जराएसो० १९०१, ८६०।

३ तु० डिडोरस, २. ४०; एरियन, इंडिका, ११; स्ट्रैबो, पृ० ७०३; हापकिन्स, १३. ८७ एवं आगे; तु० वही, २०. २२, २३।

उर्वशी—ऋग्वेद (७. ३३. ११) के अनुसार **वसिष्ठ** की उत्पत्ति उर्वशी नामक अप्सरा से **मित्रावरुण** द्वारा आश्चर्यजनक रूप से हुई थी। ऋग्वेद (१०. ९५. १०, १७) में भी, जो **पुरूरवा** और **उर्वशीका** संवाद माना गया है, दो बार उर्वशी नाम आया है। शतपथ ब्राह्मण (११. ५. १ एवं आगे) में उर्वशी और पुरूरवा के इस संवाद को विस्तृत कथा के रूप में दिया गया है। वहाँ एक विशेष अग्नि-चयन द्वारा पुरूरवा के गंधर्व हो जाने और इस प्रकार उर्वशी का सांनिध्य प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।

उर्वारू (स्त्री), **उर्वारुक** (संज्ञा)—'ककंटी'। इनमें से प्रथम (अ० वे० ६. १४. २) एक पौधे को सूचित करता है और दूसरा (ऋ० ७. ५९. १२; अवे०, १४. १. १७; मैसं०, १. १०. ४; तैसं, १. ८. ६. २; वासं ३. ६०) फल को, किंतु दोनों ही बहुत विरल हैं। सभी उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि जब फल पक जाता है (सायण, अवे० ६. १४. २ पर) तब पौधा शिथिल पड़ जाता है। एक ब्राह्मण (पंचविंश ब्रा० ९. २. १९) में फल को भी उर्वारु कहा गया है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २४२।

१ जैसे आयरलैंड, इटली (तु० पेक्यूनिया), ग्रीस आदि में पशु व्यक्तिगत संपत्ति मानेजाते थे, इस प्रकार भूमि नहीं। भूमि-वितरण लिए समष्टि की अनुमति अपेक्षित थी। वैदिक साहित्य में एतद्विषयक उल्लेख न मिलने से हमें सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है। तु०—श्राडर, हि० ऐन्टी०, २८९; जाली, रेख्त उण्ड सिट्टे, ९४–९६, रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया—४८ एवं आगे।

उल—उल एक अज्ञात वन्य पशु का नाम है; संभवतः जैसा ह्विटनी ने सुझाव दिया है, वह शृगाल हो। इसका उल्लेख अथर्ववेद (१२. १. ४९) में और बाद की संहिताओं (तैसं०, ५. ५. १२. १ उल के रूप में, मैसं ३. १३. १२; १४. २, वासं २४. ३१ तु०—उलल, बौ० श्रौ० सू०, २. ५) में है, किंतु भाष्यकारों ने इसका ठीक परिचय नहीं दिया है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८२।

उल वार्ष्णि-वृद्ध—कौषीतकी ब्राह्मण (७. ४) में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख मिलता है।

उलप—उलप ऋग्वेद (१०. १४२. ३) में और उसके बाद (अवे०, ७. ६६. १; इस शब्द से निकले विशेषण हैं, 'उलप्य'; वासं १६. ४५ इत्यादि; और 'उपोलण' मैसं १. ७. २) घास की एक विशेष जाति का नाम है।

उलुक्य जानश्रुतेय—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ६. ३) में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है।

उलूक—ऋग्वेद-काल (१०. १६५. ४) से ही यह उल्लू का नाम है। यह पक्षी अपनी आवाज (ऋ० १०. १६५. ४) के लिए प्रसिद्ध था, और इसे नैर्ऋत या दुर्भाग्य (अवे० ६. १९. २; तैसं ५. ५. १८. १; वासं २४. ३८) का अग्रदूत समझा जाता था। अश्वमेध के अवसर पर उलूकों को वन्य वृक्षों को प्रदान किया जाता था, क्योंकि वे वहाँ सोते थे : वासं २४. २३; मैसं० ३. १४. ४।

उलूकयातु—ऋग्वेद (७. १०४. २२) में **उलूकयातु**, **शुशुलूकयातु** आदि शब्द दैत्यों के विशेष भेदों को उद्दिष्ट करते हैं।

उलूखल—ऋग्वेद-काल (१. २८. ६; अवे १०. ९. २६; ११. ३. ३; १२. ३. १३; तैसं ५. २. ८. ७; ७. २. १. ३; शब्रा, १. १. ४. ६) से ही ओखली के लिए उलूखल शब्द का प्रयोग मिलता है। मुसल के साथ (अवे ९. ६. १५; शब्रा १. १. १. २२) समस्त रूप में भी यह कभी-कभी आता है। सूत्र-काल के पहले इसकी वास्तविक निर्माण-प्रक्रिया का पता नहीं चलता।

उलूलु—छान्दोग्य उपनिषद् (३. १९. ३) में उलूलु शब्द आया है, जिसका अर्थ भाष्यकारों ने **उरूरवा** या विशेष ध्वनि किया है।

उल्का—ऋग्वेद (४. ४. २; १०. ६८. ४; अवे १९. ९. ८; षड्विंश ब्रा०, ६. ८ इत्यादि) काल से ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है। ब्राह्मणों (लब्रा ५. ५. ४. १९) में यह जलते काष्ठ के अर्थ में भी मिलता है। बहुत ही विरल 'उल्कुषी' (अवे ५. १७. ४; शब्रा, ११. २. ७. २१; जलते काष्ठ के रूप में, वही, ३. ९. २. ९) शब्द भी दोनों अर्थों में आता है।

उल्ब—छान्दोग्य उपनिषद् (३. १९. २) में जरायु के साथ उल्ब का उल्लेख है। **जरायु** को स्थूल गर्भ-वेष्टन और **उल्ब** को सूक्ष्म गर्भ-वेष्टन कहा जा सकता है। तु०—छाउ ५. ९. १; तैआ ३. ११. ४; ऐब्रा १. ३ इत्यादि।

उल्मुक—जलती लकड़ी के लिए ब्राह्मणों (ऐब्रा २. १६; शब्रा, १. ८. २. १; २. १. ४. २८ इत्यादि; जैब्रा, २. ७६)[1] में यह सामान्य शब्द है। उल्मुक से 'अंगार' (शब्रा, १२. ४. ३. ३; जैब्रा, १. ६१. १)[2] लिये जाते थे।

उल्मुकावक्षयण—शतपथ ब्राह्मण (४. ६. ८. ७; ५. २. ४. १५; ११. ६. ३. ३; जैब्रा २. ७६) में अनेक बार यह शब्द अंगारों को बुझाने वाले के अर्थ में आया हुआ है, अथवा अधिक संक्षिप्त रूप में संदंश या चिमटे के अर्थ में आया है। **तु० अङ्गारावक्षयण।** बार्टलिंक, डिक्शनरी।

उशनस् काव्य—ये एक प्राचीन ऋषि हैं; ऋग्वेद (१. ५१. १०; ८३. ५; १२१. १२; ४. १६. २; ६. २०. ११; ८. २३. १७; ९. ८७. ३; ९७. ७; १०. ४०. ७ संभवतः, १. १३०. ९; ५. ३१. ८; ३४. २; ८. ७. २६; १०. २२. ६; अवे ४. २९. ६ भी) में ही ये अर्धपुराकल्पनात्मक रूप ग्रहण कर चुके हैं, जहाँ इनका उल्लेख **इन्द्र** और **कुत्स** के साथ हुआ है। बाद (तैसं, २. ५. ८. ५ पंविब्रा, ७. ५. २०; शाश्री सू०, १४. २७. १) में देवासुर-संग्राम के प्रसंग में ये असुरों के पुरोहित कहे गए हैं। इस नाम का एक दूसरा रूप है कवि **उशनस्** (ऋ० ४. २६. १)। वे ब्राह्मणों में एक आचार्य के रूप में भी पाए जाते हैं (पंविब्रा, १४. १२. ५; जैउब्रा, २. ७. २६)। तु०—राथ, वोबू; गेल्डनर, वैस्तू, २. १६७ एवं आगे; बेर्गेन्य, रिलिजन वैदिक, २. ३३९ एवं आगे; मैकडानल, वैदिक माइथो०, पृ० १४७।

उशना—शतपथ ब्राह्मण (३. ४. ३. १३; ४. २. ५. १५) में उशना एक पौधे का नाम है, जिससे सोम तैयार किया जाता था।

उशिज—उत्सुक या ऋत्विज् के अर्थ में उशिज् शब्द वैदिक साहित्य में अनेक बार आया है।

---

[1] जअओसो० १५. २३९।

[2] जअओसो० २३. ३४२।

(तु० ऋ० १. १३१. ५; २. २१. ५; ३. ११. २; वासं ६. ७; तैसं ३. ५. २. २ इत्यादि)।

उशीनर—ऐतरेय ब्राह्मण (८. १४) में कुरु-पञ्चालों को मध्यदेश में **वशों** और **उशीनरों** के साथ रहने वाला कहा गया है। कौषीतकि उपनिषद् (४. १; द्र० कीथ, शाआ, ३६) में भी उशीनर लोग कुरुपंचालों और वशों के साथ उल्लिखित हैं, किंतु गोपथ-ब्राह्मण (२. ९) में वशों और उशीनरों को उत्तरी कहा गया है। ऋग्वेद (१०. ५९. १०) में यह जाति एक मन्त्र में इनकी **रानी उशीनराणी** के प्रसंग में उल्लिखित है। त्सिमर[1] का विचार है कि उशीनर लोग प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिम में रहते थे; किंतु इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। उनका यह मत केवल इस तथ्य पर आधृत है कि ऋग्वेदानुक्रमणी **शिबि औशीनर** को एक सूक्त (ऋ० १०. १७९) का ऋषि बतलाती है। **शिबि** लोग सिकन्दर को ज्ञात थे[2], और सिन्धु और चिनाव के मध्य में रहते थे। किंतु किसी भी हालत में इसे निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। **शिबि** लोगों ने आर्षकाव्य-काल[3] में निश्चय ही कुरुक्षेत्र के उत्तर का प्रदेश प्राप्त कर लिया था। कोई भी कारण नहीं जिससे उशीनरों को वैदिककाल में मध्यदेश से और अधिक पश्चिय में माना जा सके।

उष—मैत्रायणी संहिता (१. ६. ३) में ऊष के पाठान्तर के रूप में उष (=नमक की भूमि) शब्द आता है।

उषस—वैदिक साहित्य में उषा का उल्लेख सौन्दर्य की देवी के रूप में है जो उषःकालीन अरुणिमा के प्राकृतिक दृश्य के आधार पर है। अन्धकार को दूर करती हुई और प्रकाश बखेरती हुई वह आती है (ऋ० ५. ८०. ५, ६); वह प्राणियों को जगाकर काम में लगाती है (ऋ० ४. ५१. ५)। वह ऋत का पालन करती है (ऋ० १. ९२. १२; १२३. ९; १. १२४. २; ७. ७६. ५)। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य मैकडानल-कृत वैदिक माइथोलजी, पृ० ४६–४९।

उषस्त चाक्रायण—एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख बृहदारण्यक (३. ५. १) और छान्दोग्य (१. १०. १; ११. १) उपनिषदों में मिलता है; दूसरे ग्रन्थ में इनका नाम **उषस्ति** है।

उष्टि, उष्ट्र—दोनों ही शब्द, जिनमें प्रथम बहुत ही विरल (संभवतः ऋ० १०. १०६. २ में; तैसं ५. ६. २१. १; कासं १५. २,) है, समानार्थक हैं। राथ[1] और औफ्रेख्ट[2] की धारणा है कि ऋग्वेद (१. १३८. २; ८. ५. ३७; ६. ४८; ४६. २२, ३१; अवे० २०. १२७. २; वासं १३. ५०.) और ब्राह्मणों (शब्रा० १. २. ३. ९; इत्यादि; ऐब्रा २. ८.) में इसका अर्थ डीलडौल वाला बैल या भैंसा है; किंतु राथ का विचार है कि वाजसनेयि संहिता (२४. २८. ३९) में इसका अर्थ संदिग्ध है और संभवतः इसका अर्थ ऊँट है। हापकिन्स[3] का निश्चित मत है कि प्रत्येक स्थान पर अर्थ ऊँट ही है। भारवाहक के रूप में ऐसे चार पशुओं को जोता जाता था : अवे० २०. १२७. २; ऋ० ८. ६. ४८।

उष्णिहा—अथर्ववेद (२. ३३. २) में उष्णिहा शब्द नाड़ी के अर्थ में आया है। तु०—**शरीर**।

उष्णीष—उष्णीष पगड़ी या साफा को सूचित करता है जिसे वैदिक स्त्री और पुरुष दोनों (ऐब्रा० ६. १; शब्रा० ३. ३. २. ३; ४. ५. २ ७ यज्ञके अवसर पर गर्भ को आवेष्टित करने के लिए प्रयुक्त १४. २. १. ८ इन्द्राणी का उष्णीष इत्यादि; कासं० १३. १०) धारण करते थे। अथर्ववेद (१५. २. १) और पंचविंश ब्राह्मण (१७. १. १४; तु० १६. ६. १३) दोनों में व्रात्य के उष्णीष का उल्लेख है। वाजपेय (शब्रा०, ५. ३. ५. २३) और राजसूय (मैसं०, ४. ४. ३.) यज्ञों के अवसर पर राजा राजपद-सूचक एक विशेष उष्णीष को धारण करता था।

उष्यल—अथर्ववेद (१४. १. ६०) में एक बार कोच या वैवाहिक रथ के वर्णन के प्रसंग में "उष्यल" शब्द आता है, जहां यह ढांचे के चार टुकड़ों का अर्थ व्यक्त करता है। 'उष्पल' पाठ भी संभव है[4] तु०—त्सिमर, आले १५५; ह्निटनी, उपर्युक्त ७५२।

उस्र, उस्रा, उस्रिक, उस्रिय, उस्रिया—ये सभी शब्द वृष या गौ को सूचित करते हैं। ये ऋग्वेद [उस्र, ऋ० ६. १२. ४; उस्रा, १. ३. ८; ८. ७५. ८; ९६. ८; ९. ५८. २ इ०; उस्रिक, १९०, ५; उस्रिय, ५. ५८. ६ वृषभः के साथ; ९. ७. ४. ३; उस्रिया, १. १५३. ४; १८०. ३; २. ४०. २ इत्यादि। ९. ७०. ६. में उस्रिय एक बछड़े के लिए आया है। ९. ६८. १ और ९. ९३.

[1] आले०, १३०। [2] डिओडोरस, १७. १९।
[3] द्रष्टव्य पार्जिटर का मानचित्र, जराएसो० १९०८, पृ० ३२२। तु०—वेबर, इस्तू, १. २१३. ४१९; हुल्श, इ० ऐंटिक्वेरी, ३४. १७९।

[1] वोबू।
[2] म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स्, ५. ४६८ में उल्लेख; तु०—त्सिमर, आ ले०, २२४।
[3] जअओसो०, १७. ८. ३।
[4] ह्निटनी, ट्रांअवे, ३८५।

२ में उस्रिय का अर्थ दूध है] में प्रायः एवं बाद (उस्री धूर्षाही; वासं ४. ३३; उस्रा, अवे, १२. ३. ३७; उस्रिय, अवे, १. १२. १; उस्रिया, अवे, ९. ४. १; वासं, ३५. २. ३; अथर्ववेद ५. २०. १; २८. १ में इसका अर्थ गोचर्म है, या ५. २८. ३ में दूध है) में भी आते हैं, किंतु प्रत्यूष आभा का भी कुछ संबन्ध इनके साथ बना रहता है। कुछ स्थानों पर इनका अर्थ संदिग्ध है। द्र० **गो**।

ऊ

ऊति—ऊति या रक्षा के लिए वैदिक साहित्य में अनेक प्रार्थनाएं हैं। तु० ऋ० १. ११. ३; ५. ५४. ७; शब्रा० १२. २. २. ४ इत्यादि।

ऊधस्—वैदिक साहित्य में गाय के बांक को सामान्यतया ऊधस् कहा गया है। ऊधस् शब्द इसी अर्थ में या रूपक के अन्तर्गत अनेकशः प्रयुक्त हुआ है।

तु० ऋ० ८. ९. १९; ४. १. १९; ४. १०. ८; अवे, १०. ९. २२; शब्रा, २. ५. १. ५ इत्यादि।

ऊरु—द्र—**शरीर**।

१—ऊर्ज्—अन्न या बल के अर्थ में वैदिक साहित्य में यह शब्द अनेक बार आया है।

तु० ऋ० १. ११६. ८; १. ११८. ७; ८. ८. १६; अवे १२. १. १२; शब्रा ४. ३. १ १७ इत्यादि।

२ ऊर्ज—वाजसनेयि संहिता (१४. १६, २२) तथा शतपथ ब्राह्मण (४. ३) के अनुसार इष् और ऊर्ज शरद् ऋतु के मास हैं। तु०—**मास**।

ऊर्जयन्त् औपमन्यव-वंश-ब्राह्मण[१] में इनका उल्लेख भानुमन्त् औपमन्यव के शिष्य के रूप में हुआ है।

ऊर्जयन्ती—ऋग्वेद (२. १३. ८) के एक मन्त्र में लुड्विग[२] इसे एक किले का नाम बताते हैं, जो **नार्मर** का किला था। किंतु वह मन्त्र संदिग्धार्थक है[३]।

ऊर्जव्य—ऋग्वेद (५. ४१. २०) में केवल एक बार आने वाले इस शब्द को लुड्विग[४] ने एक यजमान का नाम माना है। राथ[५] ने इसे विशेष 'शक्ति-संपन्न' माना है। यह व्याख्या अधिक संभव है।

१ इं० स्टू०, ४. ३७२. २ ट्रां० ऋ०, ३. १५२.

३ सायण ने ऊर्जयन्ती को एक पिशाची कहा है; ग्रासमान ने सूर्य बताया है; राथ, 'ऊर्जय', को विशेषण मानते हैं। तु०—ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटेन, १. १९९।

४ ट्रां० ऋ०, ३. १५५. ५ वोबू।

ऊर्णनाभि[१], ऊर्णवाभि, ऊर्णावत्—ये सभी मकड़ी के नाम हैं, जो बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में आते हैं। इनका प्रयोग मकड़ी के जाल से संबद्ध है, जो कि ऊन बुनने के समान है।

ऊर्णा—'ऊन'। ऋग्वेद (४. २२. २; ५. ५२. ९; शब्रा १२. ५. १. १३; ७. २. १० इ०; 'ऊर्णायु' (ऊनी) वासं, १३. ५०; पंविब्रा, १२. ११. १०)—काल से ही यह शब्द प्रायः आता है। **परुष्ण** देश ऊन के लिए प्रसिद्ध था[२], जैसे कि **गान्धार** (ऋ० १. १२६. ७) भेड़ों के लिए प्रसिद्ध था। विभिन्न लोमगुच्छों के लिए **पर्वन्** (ऋ० ४. २२. १०) या **परुष्** (ऋ० ९. १५. ६) शब्द का प्रयोग होता था। ऊर्णम्रदस् (ऊन सा कोमल), विशेषण का प्रायः प्रयोग हुआ है (ऋ० ५. ५. ४; १०. १८. १०; वासं २. २; ४. १०; २१. ३३; इत्यादि) भेंड़ को ऊर्णावती (ऋ० ८. ५६. ३) कहा गया है। बाद की संहिताओं (मैसं, ३. ११. ९; कासं ३८. ३; वासं, १९. ८० इत्यादि; तु०—ऊर्णास्तुका, ऐब्रा १. २८; कासं २५. ३) और ब्राह्मणों (तैब्रा, २. ६. ४; शब्रा, १२. ७. २. ११ इत्यादि) में 'ऊर्णा-सूत्र' का अनेकशः प्रयोग मिलता है। ऊर्णा शब्द केवल भेड़ की ऊन के लिए नहीं (तु०—अनैडकीर् ऊर्णाः 'ऊन जो एक—भेंड़ की विशेष जाति से नहीं आती', शब्रा २. ५. २. १५) अपितु बकरी के बालों को भी सूचित करता है[३]।

ऊर्णावती—ऋग्वेद (१०. ७५. ८) के नदी-सूक्त में लुड्विग[४] ने ऊर्णावती को सिन्धु के एक धनी प्रदेश के रूप में माना है। यह व्याख्या निश्चित रूप से गलत है। राथ[५] ने इसका अनुवाद 'ऊन वाली' किया है। त्सिमर[६] ने लुडविग् के सुझाव को सूक्त के अर्थ को दुर्गम्य बनाने वाला कहा है। पिशल[७] ने इस शब्द को **सिन्धु** का विशेषण (भेड़ों से संपन्न) बताया है।

१ ऊर्णनाभि, (नाभि में ऊन रखने वाला), तैब्रा, १. १. २. ५; बृउ, २. १. २३; ऊर्णवामी, (ऊन बुनने वाला), कासं, ८. १; शब्रा, १४. ५. १. २३; ऊर्णावन्त् (ऊन रखने वाला)। कौब्रा, १९. ३ (एक मन्त्र में)।

२ ऋ० उक्तस्थल, पिशल, वैस्टू, २. २१०; किंतु तु०—मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३१५।

३ तु०—हापकिन्स, जअओसो० १७. ८३ टि०।

४ ट्रां० ऋ०, ३. २००

५ वोबू। ६ आले० ४२९।

७ वैस्टू, २. २१०।

ऊर्दर—ऋग्वेद (२. १४. ११) में यह शब्द एक बार आया है। प्रसंग है: **इन्द्र** को सोम से वैसे ही भरने का जैसे कोई ऊर्दर को **यव** से भरता है। सायण ने इसका अर्थ अन्न रखने का वाहन किया है; किंतु राथ[1] और त्सिमर[2] इसका सरल अर्थ 'अन्न-कोष्ठ' करते हुए अधिक ठीक प्रतीत होते हैं।

ऊर्ध्वबृहती—ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१६. ३३) में एक छन्द का नाम **ऊर्ध्वबृहती** है।

ऊर्मि—समुद्र की लहर के अर्थ में ऊर्मि शब्द वैदिक साहित्य में प्रायः आया है। द्र० ऋ० १. ४४. १२; १. ७५. १०; ३. ३३. २; अवे १०. ५. १६; वासं ६. २७

ऊर्व—वैदिक साहित्य में ऊर्व शब्द बड़वानल के अर्थ में आया है। द्र० ऋ० २. ३५. ३; ३. ३०. १९; तैसं ५. ५. १०. ६; तु०—वोबू; गिरीशचन्द्र अवस्थी, वेद-धरातल।

ऊल—उल का दूसरा नाम है।

ऊष—बाद की संहिताओं (तैसं ५. २. ३. २ आदि) एवं ब्राह्मणों (ऐब्रा ४. २७; शब्रा ५. २. १. १६ आदि) में नमकीन भूमि के लिए यह शब्द आया है, जो पशुओं के लिए उपयुक्त है। तु०—**उष**।

ऊषर—शतपथ-ब्राह्मण (२. १. १. ६; ८. १. १४) और कात्यायन-श्रौतसूत्र (२१. ३. १६) में ऊषर शब्द बंजर भूमि को जताता है।

ऊष्मण्य—ऋग्वेद (१. १६२. १३) में उष्णता-निवारणार्ह पदार्थ को ऊष्मण्य कहा गया है; यह शब्द इसी अर्थ में विशेषण भी माना जा सकता है।

ऊष्मन्—प्रातिशाख्यों में श, ष, स, ह, प्रभृति वर्णों को ऊष्मन् कहा गया है। द्र०ऋप्रा०, १.२. वाप्रा ८. १०; अवे प्रा०, १. ३१; २. ३२, ३३ आदि। तु०—**स्वर**।

ऋ

१—ऋक्ष—'भालू'। यह शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार और बाद में बहुत ही कम पाया जाता है; क्योंकि वैदिक भारतीयों के प्रदेश में ये बहुत ही विरल थे। बहुवचन में ऋक्ष शब्द 'सात ऋक्ष' सूचित करने के लिए आता है, जो बाद में **सप्तर्षि** या **सप्तर्क्ष** कहलाए; या सप्तर्षि-मण्डल के नाम से प्रसिद्ध हुए।

२—ऋक्ष—ऋग्वेद (८. ६८. १५) की एक दान-स्तुति में एक दाता का नाम **ऋक्ष** है। दूसरी ऋचा में

[1] वोबू। [2] आले०, २३८।

उनके पुत्र का नाम **आर्क्ष** दिया गया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३।

ऋक्षला—वाजसनेयि संहिता (२५. ३) में **ऋक्षला** शब्द आया है। भाष्यकारों ने इसका अर्थ किया है—गुल्फ के नीचे की नाड़ी।

ऋक्षाका—अथर्ववेद (१८. २. ३१) में एक दुर्गम्य स्थल पर यह शब्द एक बार आया है। अर्थ सर्वथा अज्ञात है। वेबर[1] का विचार है कि यह शब्द दुग्ध-पथ (आकाश-गंगा) का अभिधायक है, किंतु यह निराधार है। ह्विटनी[2] ने इसके अर्थ के संबन्ध में निराशा व्यक्त की है।

ऋक्षीका—अथर्ववेद (१२.१.४९), वाजसनेयि-संहिता (३०. ८) और शतपथ-ब्राह्मण (१३. २. ४. २, ४) में पाया जाने वाला यह शब्द एक दैत्य का अभिधायक है। शतपथ-ब्राह्मण के भाष्य में हरिस्वामी ने इसे **ऋक्ष** शब्द से संबद्ध कर इसका अर्थ भालू किया है। तु०—एगलिंग, सेबुई ४४. ३०७।

ऋग्वेद—ऋग्वेद ऋचाओं के एक संकलन का नाम है; पहले यह नाम ब्राह्मणों (ऐब्रा, १. ३२; तैब्रा ३. १२. ९. १ में विवक्षित है; शब्रा ६. ५. ४. ६; ८. ३; १२. ३. ४. ९) में आता है और तदनन्तर आरण्यकों (ऐआ ३. २. ३. ५; शाआ, ८. ३. ८) और उपनिषदों (बृउ, १. ५. १२; २. ४. १०; ४. १. ६; ५. ११; छाउ, १. ३. ७; ३. १. २. ३; १५. ७; ७. १. २. ४; २. १; ७. १.) में आम हो गया है।

ऋजिश्वन्—ऋग्वेद में (१. ५१. ५; ५३. ८; १०१. १; ६. २०. ७; ८. ४९. १०; १०. ९९. ११. १३८. ३) अनेक बार इसका उल्लेख आया है, किंतु सदा इस प्रकार मानों कि यह अत्यन्त पुरातन हो। वह **इन्द्र** की **पिप्रु** आदि दानवों एवं **कृष्ण-गर्भों** के विरुद्ध सहायता करता है। लुडविग[3] के अनुसार वह **औशिज**[4] का पुत्र था। उसे दो बार (ऋ० ४. १६. १३, ५. २९. ११) **विदथिन्** का पुत्र **वैदथिन** कहा गया है।

ऋजीष—द्र०—**सोम**।

[1] फेस्टग्रुस आन राथ, १३८, टि०२; बर्लिन कैटलाग, २.५९. टि०; प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडेमी, १८९५, ८५६।

[2] ट्रां० अवे, ८४०।

[3] ट्रां० आफ दि ऋ० ३. १४३. १४९.

[4] ऋ० १०. ९९. ११ दे० औशिज। विवरण: मैक-डानल, वैमा, पृ० १६१.

ऋजु-क्रतु—**ऋजुक्रतु** शब्द **इन्द्र** के विशेषण के रूप में ऋग्वेद (१. ८१. ४७) में आया है। तु-अवे २०. ५६. ४; मैसं, ४. १२. ४; कासं, १०. १२।

ऋजूनस्—ऋग्वेद (८. ५२. २; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३) में एक बार अन्य छः सोमयाजियों के साथ इनका उल्लेख हुआ है।

ऋज्राश्व—ऋज्राश्व ऋग्वेद (१. १००. १६, १७) में वार्षागिरों में एक के रूप में **अम्बरीष, सुराधस्, सहदेव,** और **भयमान** के साथ उद्दिष्ट किए गए हैं और एक रेस में ये विजयी दिखाए गए हैं। ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में (१.१११६,७; १.११७.१६,१७) एक दुरूह पुराकथा है, जिसमें ये एक **सालावृकी** (भेड़िया) को १०० भेंडें खिला देने के कारण अपने पिता द्वारा अन्धे बना दिए गए थे; और फिर **अश्विनों** की कृपा से इनकी दृष्टि लौट आई थी। तु०—मैकडानल, वैमा., पृ० ५२।

ऋण—ऋग्वेद (२. २७. ४ आदि में प्रायः रूपक के भाव में)—काल से ही यह शब्द आम रहा है और स्पष्टतः वैदिक भारतीयों की एक सामाजिक पद्धति की सूचना देता है। द्यूत के समय वादा किए हुए ऋण का प्रायः उल्लेख मिलता है ऋ० १०. ३४. १०; अवे, ६. ११९. १। ऋण चुकाने को "ऋणं सम्-नी", (ऋ० ८. ४७. १७; अवे ६.४६.३) कहते थे। लौटाने की मंशा के अभाव में भी ऋण का उल्लेख मिलता है: अवे ६. ११९. १।

ऋण के न चुकाने का परिणाम बहुत गम्भीर बताया गया है। द्यूत खेलने वाला दास (ऋ० १०. ३४)[१] बन सकता था। ऋणियों को अन्य अपराधियों—जैसे चोर आदि—के समान "द्रु-पद" (ऋ० १०. ३४. ४)[२] में बाँधा जाता था; स्पष्टतः यह इसलिए किया जाता था कि वे या उनके मित्र ऋण चुका दें।

ऋण पर व्याज के धन का विवरण मिलना असंभव सा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद (ऋ० ८. ४७. १७; अवे ६. ४६. ३) के एक दुरूह विवरण में अष्टमांश या षोडशांश (कला) का उल्लेख है; किंतु यह नहीं कह सकते कि वह व्याज है, अथवा किश्त है। संभवतः व्याज में चीजें दी जाती थीं। कहां तक ऋण पुत्रपौत्रों द्वारा देय था इसका उल्लेख नहीं मिलता। कौशिक सूत्र [४६. ३६-४०) अथर्ववेद (६. ११७-११९, न चुकाए ऋण का नाम अवे ६. ११७. १ में अपमित्यम् अप्रतीत्तम् है; तैसं ३. ३. ८. १ में कुसीदम् अप्रतीत्तम् है; मैसं ४. १४. १७ में तथा तै आ० २. ३. १. ८ में कुसीदम् अप्रतीतम् है; मन्त्र ब्रा० २. ३. २० में अप्रदत्तम् है] के तीन सूक्तों का विनियोग उत्तमर्ण की मृत्यु के बाद ऋण चुकाने के लिए करता है। ऋणी के संबन्धियों द्वारा ऋण के भुगतान के विषय में उल्लेख और अधिक अस्पष्ट है। (तु०—ऋ०४.३.१३ भाई का पाप या ऋण)। त्सिमर[३] का विचार है कि ऋण का भुगतान साक्षियों की उपस्थिति में होता था, जिससे विवाद के समय उनकी सहायता ली जा सके। यह निष्कर्ष बिल्कुल अनिश्चित है और अथर्ववेद के एक अनिश्चितार्थक मन्त्र पर आधृत है: ६. ३२. ३; ८. ८. २१। तु०—शाआ, १२. १४। द्र०—**ज्ञातृ**।

ऋणंचय—ऋग्वेद (५. ३०. १२. १४) की एक दान-स्तुति में **रुशमस्** के राजा के रूप में **ऋणंचय** का उल्लेख कवि **बभ्रु** पर उदारता दिखाने के लिये किया गया है। तु०—त्सिमर, आले, १२९; मैकडानल बृहद्देवता, २. १. ६९. १७४।

ऋतु—ऋतु शब्द ऋग्वेद—(१. ४९. ३; ८४. १८ इत्यादि)—काल से ही प्रयुक्त होता रहा है। वर्ष की तीन ऋतुओं (तु०—ऋ० १. ६४. २ त्रिनाभि; ४८ त्रीणि नभ्यानि; संभवतः ऋभुओं को तीन ऋतुओं और उषः कालों से संबद्ध कहा गया है)[४] को प्रायः लक्षित किया गया है; किंतु उनके नाम नहीं दिए गए हैं। ऋग्वेद (१०. ९०. ६) में एक स्थल पर **वसन्त, ग्रीष्म** और **शरद्** का उल्लेख

---

[१] तु०—ल्यूडर्स, व्युर्फेलश्पील इम आल्त इंदीन ६१

[२] तु० वै स्तू १. २२८; अवे ६. २. ११५. ३; द्र० ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे, ५२८, टि० १; ह्विटनी, ट्रां आ दि अवे, ३६४; ऋ० १. २४. १३, १५; अवे ६. ६३. ३; ८४. ४; १२१ १ एवं आगे; चोरों के बांधने का उल्लेख: ऋ० ७.८६.५; अवे १९. ४७. ९; ५०. १; तु०—**तस्कर**।

[१] कैलेण्ड, आल्टिं, त्साउबररितुएल, १५४; ब्लूम-फील्ड, उपर्युक्त, ५२८.

[२] जाली, रेख्त उण्ड सिट्टे, ९९. १००.

[३] आले १८१; इस सुझाव को ब्लूमफील्ड ने भुला दिया है; उपर्युक्त, ३७५, और ह्विटनो ने भी, उपर्युक्त ३०४. तु०—त्सिमर, उपर्युक्त, १८१., १८२, २५९.।

[४] तु०—मैकडानल, वैदिक माइथोलजी, पृ० १३३; हिल्लेब्राण्ड्ट, वै० मिथो०, २. ३३. एवं आगे। शब्रा, १४. १. १. २८ और 'चातुर्मास्यानि' अर्थात् चार मास पर होने वाले यज्ञ, जो प्रत्येक चार महीने के प्रारम्भ में किए जाते थे; वेबर, नक्षत्र, २. ३२९ एवं आगे।

है। ऋग्वेद में **प्रावृष्** और **हिमा** या **हेमन्त** का भी उल्लेख है। ऋतुओं का सामान्य-विभाजन [अवे ८. २. २२; ९. १५; १३. १. १८; तैसं, १. ६. २. ३; ४. ३. ३. १. २; ५. १. १०. ३; ३. १. २; ४. १२. २; ६. १०. १; ७. २. ४; ७. १. १८. १, २; मैसं १. ७. ३; ३. ४. ८; १३. ९; कासं, ४. १४; ९. १६; वासं०, १०. १०. १४; शब्रा, १. ३. ५. ११; ६. २. २. ३ आदि; तैब्रा, ३. १०. ४. १; ११. १०. ४ आदि, तु० ऋ० १. १६४. १३][1] जो ऋग्वेद में नहीं पाया जाता, पांच विभागों में किया गया है : **वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त-शिशिर;** कभी-कभी **वर्षा-शरद्** (शब्रा १३. ६. १. १०, ११) को एक मानकर विभाजन किया जाता है। कभी-कभी छः [अवे, ६. ५५. २; १२. १. ३६; तैसं ५. १. ५. २; ७. ३; २. ६. १ आदि, मैसं १. ७. ३; ३. ११. १२ कासं ८. ६; वासं, २१. २३-२८; शब्रा, १. ७. २. २१; २. ४. २. २४; १२. ८. २. ३४; तैब्रा, २. ६. १९ आदि; तु०—ऋ० १. २३. १५] ऋतु गिनी जाती हैं; **हेमन्त** और **शिशिर** को अलग करके गिनते हैं जिससे छः ऋतु १२ महीने के समानान्तर हो जांय। कभी-कभी कृत्रिम विभाजन (अवे ६. ६१. २; ८. ९. १८; शब्रा, ८. ५. १. १५; ९. १. २. ३१; २. ३. ४५; ३. १. १९; ५. २. ८; संभवतः अवे ४. १. १. ९ और तु०—ऋ० १. १६४. १) से ऋतु ७ गिनाई गई हैं; संभवतः **मलमास** को एक ऋतु के रूप में ग्रहण किया गया है, जैसी कि बेबर और त्सिमर[2] की धारणा है; अथवा सात के प्रति पूर्वानुराग-मात्र के कारण ऐसा किया कया है, जैसा कि राथ[3] ने सुझाव दिया है। कुछ अवसरों पर ऋतु शब्द मास के लिए आया है (अवे, १५. ४; तैसं ४. ४. ११. १; वासं १३. २५; १४. ६, १५, २६. २७; १५. ५७ आदि)। शतपथ ब्राह्मण (१. ५. ३. १३) के अनुसार अन्तिम ऋतु **हेमन्त** है।

ऋतुओं के तीन से बढ़कर पाँच हो जाने के संबन्ध में त्सिमर[1] ने ठीक ही कहा है कि यह आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने के साथ-साथ हुआ है। यह ऋग्वेदीय नहीं है, किंतु बाद की संहिताओं में प्रधान है। ऋग्वेद में **शरद्** और **ग्रीष्म** स्पष्ट नहीं अभिप्रेत हैं; वहाँ **हिमा** और **समा** शब्द वर्ष के वाचक के रूप में सामान्यतः आते हैं। इन सब की अपेक्षा **शरद्** का अधिक व्यवहार हुआ है[2]; क्योंकि यह खलिहान की सूचना देता है, जो कि एक वृद्धिशील कृषि-निर्भर जाति के लिए उल्लास का समय है। अथर्ववेद (८. ९. १७) के एक मन्त्र में वर्ष का दो भागों में विभाजन व्यावहारिक है; यह प्राचीन परंपरा की ओर इशारा नहीं करता[3]।

ऋतुपर्ण—बौश्रौसू० (२०. १२) के एक ब्राह्मण-तुल्य संदर्भ में **भङ्गाश्विन्** के पुत्र और **शफाल** के राजा के रूप में **ऋतुपर्ण** का उल्लेख हुआ है। आश्रौसू० (२१. २०. ३) में 'ऋतुपर्ण—कयोवधी भंग्यश्विनौ' का उल्लेख है। तु०—कैलेण्ड, त्सादामोगे ५७. ७४५।

ऋत्विज्—याज्ञिक के लिए सामान्य शब्द ऋत्विज् है, जिसमें यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों के सभी प्रकारों का समावेश है। ऐसा निश्चित प्रतीत होता है कि सभी ऋत्विज् ब्राह्मण होते थे[4]। किसी यज्ञ में विभिन्न कार्य करने वाले ऋत्विजों की संख्या प्रायः **सात** होती थी। सबसे प्राचीन सूची में, जो ऋग्वेद (२. १. २)[5] के एक मन्त्र में दी गई है; यज्ञ के संस्थापक के सामने **होतृ, पोतृ, नेष्टृ, आग्नीध्र, प्रशास्तृ, अध्वर्यु** और **ब्रह्मन्** हैं। यह सात की संख्या सप्त-होतृ और सप्त-ऋषि की ओर संकेत करती है, जिनका ऋग्वेद में कई बार उल्लेख हुआ है। यह ईरान के 'आठ' से तुलनीय है[6]। इन सात ऋत्विजों में **'होता'** प्रधान था, जो ऋचाओं का गान करता

---

[1] हिल्लेब्रांड्ट ने उपर्युक्त २. ३५ में ऋ० ५. १४. ४; ९. ९१. ६ मन्त्र में ३ ऋतु देखी है 'गावः' (वसन्त ?) आपः (वर्षा), स्वर् (घर्म) और आं० श्रौ० सू० में यही विभाजन, ऋतु, घर्म और ओषधि इनमें किया गया है।

[2] द्र० वेबर, उपर्युक्त, २. ३५२।

[3] जैसा कि राथ ने वोबू में व्याख्या की है।

[4] इस्तू, १८. ४४; आले०, ३७४,

[5] वोबू; द्र० ऋतु; तु०—हापकिन्स, रिलिजन्स आफ इंडिया, १८. ३३।

---

[1] उपर्युक्त, ३७३।

[2] हापकिन्स, अजफि १५१५९. १६०; वेबर, इस्तू, १७. २३२; ब्युहलर, त्सादामौगे ४१. २८।

[3] तु०—त्सिमर, ३७२।

[4] यह कथन संपूर्ण वैदिक साहित्य के अनुशीलन के आधार पर तथा इस नियम के आधार पर है कि कोई क्षत्रिय याज्ञिक हविष् को नहीं भोग सकता; निःसंदेह इसका कारण यही था कि केवल ब्राह्मण ही इतने पवित्र माने जाते थे कि वे ही यज्ञ-भोज में भाग ले सकते थे और इससे उनमें देवता की स्थापना हो जाती थी।

[5] तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३८३।

[6] दार्मेस्तेतर, ल ज़न्द अवेस्ता, १. ७० एवं आगे।

और संभवतः प्राचीन काल में जो ऋचाओं का प्रणयन भी करता था। **अध्वर्यु** प्रार्थना एवं निर्ऋतिनाशक मंत्रोच्चारण के साथ यज्ञ का व्यावहारिक कार्य करता था। उसको प्रमुख सहायता **अग्नीध्** से मिलती थी; दोनों एक दूसरे की सहायता के बिना छोटे-मोटे यज्ञ सम्पन्न करते थे। **प्रशास्तृ, उपवक्ता** या **मैत्रावरुण**—जैसा कि उसे कभी-कभी कहते थे—बहुत बड़े-बड़े यज्ञों में बुलाया जाता था, और वह **होता** को उपदेश देता था, एवं कुछ प्रार्थनाएँ करता था। **पोतृ, नेष्टा** और **ब्रह्मन्** का संबन्ध सोमयाग से था। **ब्रह्मन्** को बाद में ब्राह्मणाच्छंसिन् भी कहते थे; इस कथन से उसे बाद के उस **ब्रह्मन् ऋत्विज्** से भिन्न करना अभिप्रेत है जो निरीक्षक के रूप में कार्य करता था। दूसरे ऋत्विज्, जिनका ऋग्वेद (ऋ० ८. ८१. ५) में उल्लेख मिलता है, साम-गायक होते थे; वे **उद्गाता** और उसके सहायक **प्रस्तोता** थे; दूसरे सहायक **प्रतिहर्ता** का यद्यपि उल्लेख नहीं मिलता, किंतु वह अवश्य उपस्थित रहा होगा। उनके कार्य बाद के यज्ञ-विकास की ओर संकेत करते हैं; इनमें एक ओर तो अनेक नए आह्वान हैं, और दूसरी ओर सोम के पौधे के लिए अनेक लम्बे सूक्तों का उच्चारण है। दूसरे ऋत्विज् **अच्छावाक**[१], **ग्रावस्तुत्, उन्नेता,** तथा **सुब्रह्मण्य** बाद में परिचित हुए और इस प्रकार बाद में ब्राह्मणों में कुल १६ ऋत्विज् गिनाए गए, जिन्हें कृत्रिम रूप से तथा वर्गीकरण की दृष्टि से ४ वर्गों (आश्वलायन श्रौतसूत्र ४. १. ४–६; शाश्रौसू, १३. १४. १ आदि)[२] में विभाजित किया गया है: **होतृ, मैत्रावरुण, अच्छावाक** और **ग्रावस्तुत्; उद्गातृ, प्रस्तोतृ, प्रतिहर्तृ,** और **सुब्रह्मण्य; अध्वर्यु, प्रतिस्थातृ, नेष्टा,** और **उन्नेतृ; ब्रह्मन् ब्राह्मणाच्छंसिन्, अग्नीध्र** और **पोतृ**।

इन सब के अतिरिक्त **पुरोहित** होता था जो राजा को आध्यात्मिक एवं अन्य धार्मिक सलाहें दिया करता था। गेल्डनर[१] का विचार है कि जब पुरोहित स्वयं किसी बड़े यज्ञ में भाग लेता था तब वह नियमतः **ब्रह्मन्** का पार्ट अदा करता था, जिसमें यह भाव निहित है कि वह संपूर्ण यज्ञ का अधीक्षण करता था। उन्हें इस विचार के समर्थन में ऋग्वेद (ऋ० १. ४४. १०; ९४. ६; ८. २७ १ इ०) के कुछ स्थल एवं कुछ बाद के साहित्य [बृहस्पति देवों का पुरोहित है, ऋ० २. २४. ९; तैब्रा २. ७. १. २; ऐब्रा ३.१७.२; शब्रा ५.३.१.२; किंतु वह ब्रह्मन् है, ऋ० १०. १४३. ३; कौब्रा ६. १३; शब्रा १. ७. ४. २१ में। वसिष्ठ पुरोहित हैं, सुदास् पैजवन के ऋ० १०. ५०. ५; शाश्रौसू १६. ११. ४ में; किन्तु वे शुनःशेप-यज्ञ में ब्रह्मन् हैं, वहीं १५.२१] में संदर्भ मिलते हैं, जो पुरोहित और ब्रह्मन् को अभिन्न बतलाते हैं। कुछ भी हो, ओल्डेनबर्ग[२] अधिक औचित्य के साथ अपना यह दृष्टिकोण रखते हैं कि प्राचीनकाल में यह बात नहीं थी; पुरोहित सामान्यतः होतृ होता था; वह महत्त्वपूर्ण सूक्तों का गायक होता था। किन्तु बाद में **ब्रह्मन्**, जो कि निरीक्षक के रूप में ऋग्वेद में अज्ञात है, अब पुरोहित के अधिकार का निरीक्षण करने लगा था, जादू जानने वाला था और राजा की दानवों से रक्षा के लिए मंत्र-प्रयोग करता था, जो कि यज्ञ की रक्षा के लिए भी प्रयोग में लाए जा सकते थे। इससे इस तथ्य की भी संगति बैठती है कि अग्निको। जो कि प्रधानतः[३] मनुष्यों का पुरोहित है, **होतृ** कहा गया है; आप्री सूक्त के दो पुरोहितों को भी **होतृ** कहा गया है (ऋ० १०. ६६. १३; १०. ७०. ७ में पुरोहितावृत्विजा); दूसरी ओर इस सिद्धान्त को व्यक्त रूप में ऐतरेय ब्राह्मण (७. २६) में मान लिया गया है कि क्षत्रिय एक ब्राह्मण को पुरोहित के रूप में रक्खे। तैत्तिरीय संहिता (३. ५. २. १ आदि) में वसिष्ठ-वंश के लोग ब्रह्मन्-पुरोहित होने का विशेष अधिकार दिखाते हैं; संभवतः यह इस बात का संकेत है कि उन्होंने सर्वप्रथम पुरोहित के **होतृ** रूप को त्याग कर **ब्रह्मन्** रूप को ग्रहण किया था।

बहुधा यज्ञ किसी एक व्यक्ति के लिए किए जाते थे। सत्त्र[४] या लम्बे याज्ञिक समारोह पुरोहितों के सामान्य

[१] तु०–अच्छावाक के लिए, कौब्रा २८. ४; ऐब्रा ६. १४. ८ इत्यादि; वेर्गेन्य, रिशेर्शे स्युर ल हिस्त्वार द ला लितुर्जी वेदिक, ४७; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३९७, टि० २; अन्य तीन ऐतरेय और दूसरे ब्राह्मणों में आते हैं। द्र०–वोबू।

[२] ऋग्वेदसूत्र में चारों का क्रम इस प्रकार है: होतृ, ब्रह्मन्, उद्गातृ, और अध्वर्यु; एक सत्रहवें ऋत्विज् का भी उल्लेख मिलता है; किन्तु सामान्यतया उसे स्वीकृति नहीं मिली है, यद्यपि कौषीतकि शाखा वाले उसे सदस्य मानते हैं। द्र०–शब्रा १०. ४. १. १९; एगलिंग, सेबुई, ४३. ३८४, टि; कीथ, ऐआ, ३७; वेबर, इंस्टू, ९. ३७५।

[१] वैस्टू, २. १४३. एवं आगे।

[२] उपर्युक्त, ३८० एवं आगे।

[३] अग्नि एक पुरोहित के रूप में ऋ० १. १. १; ३. ३. २; ११. १; ५. १२. २ में। उनका पौरोहित्य होतृ के कार्यों की विशेषताओं से युक्त है; ऋ० ८. २७. १, १०. १. ६ में। देवापि पुरोहित और होतृ हैं, ऋ० १०. ९८।

[४] ओल्डेनबर्ग, ३७१।

हित के लिए किए जाते थे। इनका फल तभी मिल सकता था, जब सभी लोग, जो उसमें भाग लेते थे, दीक्षित हों। किसी जाति या वर्ग के लिए ऐसे यज्ञ का उल्लेख नहीं मिलता। यह सच है कि राजा के लिए किए जाने वाले यज्ञ में उसकी प्रजा का हित सन्निहित होता था, किंतु यह विशेषता थी कि कल्याण की प्रार्थना (वासं २२. २२; तैसं ७. ५. १८; मैसं ३. १२. ६; कासं ५. ५. १४ इत्यादि) में केवल राजा और पुरोहित का नाम होता था, और सामान्य लोगों की समृद्धि, पशु-वृद्धि और कृषि-संपन्नता के लिए परोक्ष रूप में प्रार्थना की जाती थी।

तु०—वेबर, इस्तू, १०. १४१ एवं आगे; ३७६ एवं आगे; रिटुएल लिटरेचर, ९७; ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, ३७०-३९७; लुड्विग, ट्रां० ऋग्वेद, ३. २२४।

ऋबीस—ऋग्वेद में **ऋबीस** शब्द एक अग्निकुण्ड के अर्थ में आया है। **अश्विनों** ने **अत्रि** को ऋबीस से बाहर निकाला था। द्र० ऋ० १. ११६. ८; तु०–१. ११७. ३; ५. ७८. ४; १०. ३९. ९; काश्रौसू; ४. १०. १५; निरुक्त ६. ३५. ३६।

ऋभु—वैदिकसाहित्य में ऋभुओं को महान् एवं देवता बनाने वाली वस्तु है उनकी विशिष्ट कर्म-शीलता। वे **सुधन्वन्** के वंशज और **शवस्** या **शक्ति**के नपात् कहे गए हैं। एक बार वे **इन्द्र** के भी सूनु कहे गए हैं : ऋ० ४. ३७. ४। उन्हें यज्ञों के अवसर पर भी सोमपान के लिए आहूत किया गया है : ४. ३४. १-४; ४. ३६. २; ४. ३७. १ इत्यादि। **ऋभुक्षण्** (ऋभुओं का प्रमुख), **वाज** और **विभ्वन्** ये तीन विशेष ऋभु हैं : ऋ० ४. ३६. ६। ऋभु सुहस्त और स्वपस् कहे गए हैं : ऋ० ४. ३३. १, ८। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य मैकडानल, वैदिक माइथोलजी, पृ० १३१-१३४।

ऋश्य—मृग-वाचक एक शब्द का यह शुद्ध रूप है (अवे ४. ४. ७. में ऋष शब्द आता है; मैसं ३. १४. ९. १८ में ऋष्य है), जो ऋग्वेद (८. ४. १०) और बाद के साहित्य (अवे ४. ४. ५, ७, ५, १४. ३; १. १८. ४ ऋश्य-पद; वासं, २४. २७, ३७; ऐब्रा, ३. ३३, शांश्रौसू में उद्धरण, ८. २५. ८ आदि) में आता है। इसकी मादा रोहित् (अ० ४. ४. ७) है। स्पष्टतः मृग को गड्ढों ('ऋश्य-द' ऋ० १० ३९. ८) की सहायता से पकड़ा जाता था। मृग की प्रजनन-शक्ति (आर्ष्य वृष्ण्य) बहुत प्रसिद्ध है : अवे ४. ४. ५। तु०—वेबर, इंस्तू०, १८. १८; त्सिमर, आले, ८२; ह्विटनी ट्रांस० आ दि अवे, १५०.१५१।

ऋश्यद—ऋग्वेद (१०. ३९. ८; निघण्टु ३. २३) के अनुसार हरिण पकड़ने के लिए बनाए गए गर्त को **ऋश्यद** कहते हैं। तु०-**ऋश्य**।

१ ऋषभ—ऋग्वेद-काल (६. १६. ४७; ६. २८. ८; १०. ९१. १४ इत्यादि) से ही (अवे ३. ६. ४ इत्यादि; तैसं २. १. ३. २ इत्यादि; वासं, २१. २२ इत्यादि; पं० विं० ब्रा०, १३. ५. १८. इत्यादि) ऋषभ शब्द का प्रयोग सांड के लिए होता आ रहा है। द्रष्टव्य **गो**।

२ ऋषभ—शतपथ ब्राह्मण (१३. ५. ४. १५; तु० शाश्रौसू०, १६. ९. ८. १०) में अश्वमेध-कर्ता के रूप में **श्विक्नों** के राजा **ऋषभ** का—जिनका पैतृक नाम **याज्ञतुर** था—उल्लेख है। वहां (१२. ८. ३. ७) वे संभवतः **गौरीविति शाक्त्य** के एक कथन के आधार भी प्रतीत होते हैं।

३ ऋषभ—ऐतरेय ब्राह्मण (७. १७) में **विश्वामित्र** के पुत्र **ऋषभ** का उल्लेख मिलता है।

ऋषि—'द्रष्टा'। ऋषि मूलतः देवों के लिए सूक्तों का रचयिता है। ऋग्वेद (१. १. २; १. ४५. ३; ८. ४३. १३ इत्यादि) में प्राचीन गायकों एवं समकालीन कवियों का उल्लेख मिलता है। पुरानी कविताएं उत्तराधिकार में रिक्थरूपेण मिलती थीं और वे प्रणेता के वंश (१. ८. ९. ३; १. ९६. २; ३. ३९. २; ८. ६. ११, ४३; ८. ७६. ६ इत्यादि) में फिर से परिष्कृत की जाती थीं; किंतु गायकों का मूल उद्देश्य रहता था नए सूक्तों का प्रणयन : १. १०९. २; २. १८. ३; ३. ६२. ७; ६. ५०. ६; ७. १४. ४; ७. ९३. १; ८. २३. १४. इत्यादि। ब्राह्मण-काल के पूर्व तक सूक्तों का प्रणयन बन्द नहीं हुआ था।[1]

किंतु इस काल में भी कविता गाथाओं के रूप में पुरोहितों द्वारा स्वयं यज्ञ के अवसर पर वीणा के साथ गाई जाती थी : शब्रा, १३. ४. २. ८; ३. ५। ऋषि ब्राह्मणों में सर्वोत्कृष्ट था : ऋ० ९. ९६. ६ इत्यादि। तु०—शब्रा १२. ४. ४. ६, जहां एक ब्राह्मण को ऋषि से नीचे महत्त्व दिया गया है; उसकी बुद्धि को, जो कि कभी-कभी तक्षन् (ऋ० १. १३०. ६; ५. २. ११; ५. २९. १ ५; ५. ७३. १०; १०. ३९. १४,)[2] के समान कही गई है, स्वर्गीय समझा जाता था : ऋ० १. ३७. ४; ७. ३६. १-९; ८. ३२.

[1] गेल्डनर, वैस्तू, २. १५१।

[2] इस प्रकार एक कवि कारु है (यदि √कृ 'बनाने' से, किंतु प्रायः √कृ 'स्मरण करने' से व्युत्पन्न) जो सूक्त बनाता है (√कृ ऋ० २. ३९. ८; ८. ६२. ४); और उन्हें उत्पन्न करता है (√जन् ऋ० ७. १५. ४; ८. ८८. ४)।

२७; ८. ५७. ६, इत्यादि। पुरोहित, चाहे वह होतृ हो और चाहे ब्रह्मन् (द्र०—**ऋत्विज्**), गायक होता था : ऋ० ९. ९५१. ७।[१] इसमें संदेह नहीं कि ऋषि लोग बड़े या छोटे राजाओं या राजवंश के महापुरुषों के साथ विधानतः[२] संबद्ध होते थे। इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि कुछ अवसरों[३] पर राजा भी कविता करते थे : **राजन्यर्षि**, जो बाद के रार्जाष शब्द का आदर्श है, यद्यपि पंचविंश ब्राह्मण (१२. १२. ६ इत्यादि) में ओल्डेनबर्ग[४] के अनुसार पुराकल्पनात्मक है, तथापि इस बात की ओर संकेत करता है कि राजा भी कविता में वैसी ही रुचि रखते थे[५] जैसी बाद में वे दार्शनिक विवेचनों में लेते थे[६]। किंतु वैध रूप से कविता करना ब्राह्मणों का ही कार्य था। **विश्वामित्र** एवं अन्य ऋषि ऋग्वेद में राजा नहीं अपितु ब्राह्मण थे।

परवर्ती साहित्य में, संहिताओं में सुरक्षित सूक्तों के ऋषियों के नाम बताए गए हैं। जब किसी वैदिक संहिता का उद्धरण दिया जाता है तब एक ऋषि का नाम भी बताया जाता है : ऐब्रा, २. २५; ८. २६; शब्रा, १. ७. ४. ४; २. २. ३. ६; ५. १. ४; ६. १. १. १ इत्यादि; नि० ७. ३ इत्यादि। अपरं च, ऋषि लोग भी भतकाल के प्रतिनिधि हो जाते हैं। वे पवित्र सन्त के रूप में स्मरण किए जाने लगे। उनके कार्य ईश्वर या सुरों के कार्य समझे जाने लगे : ऐब्रा १. १७; २. १९; शब्रा, १. ६. २. ७ इत्यादि। उन्हें सप्त[७] ऋषियों के विशेष वर्ग के रूप में चार बार ऋग्वेद (४. ४२. ८; १०. १०९. ४; १०. १३०. ७)[८] में कहा गया है; कई बार परवर्ती संहिताओं (वासं १४. २४; अवे ११. १. १, २४; १२. १. ३९ इत्यादि) में भी ऐसा कहा गया है; तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (२. २. ६) में उन्हें इस प्रकार गिनाया गया है : **गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप**, और **अत्रि**। ऋग्वेद में भी **कुत्स** (१. १०६. ६), **अत्रि** (१. ११७. ३), **रेभ** (१. ११७. ४), **अगस्त्य** (१. १७६. ६), **कौशिक** लोग (३. ५३. १०), **वसिष्ठ** (७. ३३. १३), **व्यश्व** (८. २३. १६) और भी कुछ दूसरे लोग ऋषि कहे गए हैं। अथर्ववेद (४. २९. तु०—१८. ३. १५, १६) की लम्बी सूची में हैं : **अंगिरस्, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवन्त्, कण्व, मेधातिथि, त्रिशोक, उशना काव्य, गौतम** और **मुद्गल**।

कवियों या वन्दियों में प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। यह प्रतिद्वन्द्विता वैदिक यज्ञ अश्वमेध की विशेषता ब्रह्मोद्य का एक पक्ष[१] होती थी। उपनिषदों में ऐसी प्रतिद्वन्द्विता प्रायः उल्लिखित है। जनकराज **विदेह** के यहाँ **याज्ञवल्क्य** के साथ अन्यों की प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् (३. १. १ एवं आगे) में है, जिससे काशी के **अजातशत्रु** (बृउ २. १. १ एवं आगे, कौउ ४. १ एवं आगे) को भी व्यथा हुई थी। तत्सम अभ्यास के रूप में एक ब्राह्मण **उद्दालक आरुणि** की भांति विवाद करता था और उससे पुरस्कार रूप में धन के लिए प्रतिद्वन्द्विता करता था : शब्रा ११. ४. १. १ एवं आगे; गोपथ ब्राह्मण, १३. ८. एवं आगे[२]।

ऋषिस्—ऋग्वेद (१०. ८२. २) में एक स्थल पर एवं कभी-कभी बाद (अवे ६. ४०. १)[३] में 'सप्तऋषिस्' शब्द एक **सप्तर्षि-मण्डल** को सूचित करता है (द्र०—१ **ऋक्ष**)। संभवतः यह (बादका) दूसरा प्रयोग है, जो **'सप्त-ऋक्ष'** के स्थान पर हुआ है और जो 'सप्त-ऋषियों' शब्द के अधिकतर प्रयोग के कारण प्रचलित हो गया।

---

[१] गेल्डनर, उपर्युक्त, २. १५३; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३८०।

[२] गेल्डनर, उपर्युक्त, २. १५४; बृहद्देवता की परंपरा में दानस्तुतियों को राजाओं की विशेषता मानते हैं। [३] वही, १५४।

[४] त्साडामीगे० ४५, २३५. टि० ३.

[५] बाद में इसे बिल्कुल वैधानिक और स्वाभाविक माना गया। द्र०—रथवीति दार्भ्य या दाल्भ्य की कथा, जो राजन्यर्षि हैं और तरन्त तथा पुरुमीढ, जो ऋषि और राजा दोनों ही हैं, बृहद्दे० ५. ५० एवं आगे।

[६] तु०—गार्बे, फिलासोफी आफ एंशिएंट इंडिया, ७३ एवं आगे; डायसन, फिलासफी आफ दि उपनिषद्स, १६, एवं आगे; कीथ, एआ ५०।

[७] तु०—इस्तू, ८. १६७.

[८] मैकडानल, वैदिक माइथोलजी, पृ० १४४।

[१] त्सिमर, आले०, ३४५. ३४६; ब्लूमफील्ड, जअओसो० १५. १७२; रिलिजन देस वेद, २१६ एवं आगे।

[२] गेल्डनर, वैस्तू, २. १८५, ३४४.

तु०—त्सिमर, आले०, ३४०–३४७; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ३. १२०. एवं आगे।

[३] ह्विटनी ने अपने अनुवाद में केवल 'सप्तऋषि' अर्थ किया है और उसे विशेष अर्थ में नहीं ग्रहण किया है। द्र०—शब्रा २. १. २. ४; १२. ८. १. ९; नि० १०. २६ इत्यादि।

तु०—हिल्लेब्रांड्ट वैदिक मिथो०, ३. ४२२; राथ, वोबू; मैकडानल, वैदि० माइ०, पृ० १४४।

ऋषु—ऋग्वेद में ऋषु शब्द कुछ स्थलों (१. १२७. १०; ५. २५. १; ८. ६०. १५; १०. ६. १) पर आया है; भाष्यकारों ने इसका अर्थ सूर्य-रश्मि, दर्शक मनुष्य, एवं अग्नियुक्त काष्ठ किया है। यह शब्द प्रायः अग्नि के प्रसंग में आया है, और ग्रिफिथ ने सर्वत्र अग्नियुक्त काष्ठ अर्थ किया है। तु०—हिम्स आफ दि ऋग्वेद, उपर्युक्त स्थल।

ऋष्टि—ऋग्वेद १. ३७. १; १. ६४. ४, ८; १. १६६. ४; ५. ५२. ६; ५. ५४. ११; ५. ५७. ६; ८. २०. ११; ऋ० १. १६९. ३ में ऋष्टि शब्द मरुतों के अस्त्र के रूप में आया है और निःसंदेह विद्युत् का बोधक है। ऋवे० १. १६९. ३ के अनुसार **इन्द्र** के पास एक ऋष्टि है; तु—अवे ४. ३७ ८।[1] मर्त्यों के युद्ध में यह भाले के रूप में प्रयुक्त होता था—यह त्सिमर[2] का कथन किसी भी मन्त्र से समर्थित नहीं है। द्र० ऋ० १. १६७. ३; ७. ५५. २; ८. २८. ५; १०. ८७. ७. २४। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक एंटीक्विटीज़, २२१।

ऋष्टिषेण—निरुक्त २. ११ में पैतृक नाम **आर्ष्टिषेण** की व्याख्या में **ऋष्टिषेण** शब्द आया है। इस संबन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है। तु०—जीग, दी जा०ऋ० १३०, १३६.

ऋष्यशृङ्ग—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४. १ की वंश-सूची में, एवं वंश-ब्राह्मण[3] में **काश्यप** के शिष्य एक आचार्य के रूप में तथा पैतृक नाम **काश्यप** के साथ **ऋष्य-शृङ्ग** का उल्लेख हुआ है। इस नाम का अधिक शुद्ध रूप **ऋश्यशृंग**[4] है। द्र०—ल्यूडर्स, दी ज़ागे फॉन ऋश्यशृंग, १८९७; फान श्रोडर, मिस्टेरियम उण्ड मिमस, २९२-३०१.; किंतु यह रूप किसी वैदिक पाठ में नहीं मिलता।

ए

एकयू—इसका ऋग्वेद के एक सूक्त में एक कवि के रूप में उल्लेख है : ऋ. ८. ८०. १०; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ११२.

एकयावन् गां-दम—एक व्यक्ति के रूप में पंब्रा २१. १४. २० में और तैब्रा २. ७. ११ ('कांदम') में इनका उल्लेख है। तु० वेबर, इस्तू०, १. ३२; हापकिन्स, ट्रांज़ेक्शंस आफ दि कनेक्टीक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज़, १५. ६९.।

एकत्रिक—यज्ञ-विशेष। तु. 'अथैष एकत्रिकः प्रजापतेरुद्भित्। एतेन वै प्रजापतिरेषां लोकानामुदभिनत्' तां. १६. १६. १-२,

एकपात्—वायुरेकपात्तस्याकाशं पादः' गो. पू. २. ८.।

एकपातिन्यः—ऋग्विशेष। 'प्राणोऽपानो व्यान इति-तिस्र एकपातिन्यः' कौ. ब्रा० १५. ३; १६. ४.

एक-राज्—"सार्वभौम"; "एकतन्त्र-राजा" का भाव 'एक राजा' से अधिक नहीं प्रतीत होता। ऋ० ८. ३७. ३ में यह शब्द केवल रूपक बनकर प्रयुक्त हुआ है। किंतु ऐब्रा ८. १५ और अवे ३. ४. १ में इसका वास्तविक अर्थ में प्रयोग मिलता है। तु०—वेबर, राजसूय, १४१.

एकवचन—शब्रा १३. ५. १. १८ में **एकवचन** और **बहुवचन** शब्दों का उल्लेख मिलता है। तु०—निरुक्त, ४१५; ६. १६।

एकवीर—'एको ह्येवैष वीरो यत्प्राणः' जैउ. २.५.१.

एकशफ—वैदिक साहित्य में एक ही खुर, अर्थात् बिना फटे सुम या शफ वाले पशुओं, (जैसे अश्व) को **एकशफ** कहा गया है।

द्र. वा० सं० १३. ४८; १४. ३०, तै० सं० ६. ५. १०. १; श० ब्रा०, १३. ३. ४. ४; का० श्रौ० सू०, २२. १०. १९ इत्यादि। तु० 'पशवो वा एकशफम्' तैब्रा ३. ९. ११. ४; 'श्रीर्वा एकशफम्' तैब्रा. ३. ९. ८. २.

एकस्तोम—'यदिममाहुरेकस्तोम इत्ययमेव योऽयं पवते' जैउ. ३. ४. १२.

एकातिथि—'एष (सूर्यः) ह वै स एकातिथिः स एष-जुह्वत्सु वसति' ऐब्रा. ५. ३०.

एकायन—छाउ० ७. १. २. ४, २. १. ७. ६ में एकायन शब्द किसी अध्ययन के विषय को सूचित करता है। वोबू में इसका अर्थ है "एकता का सिद्धान्त", अद्वैत-वाद"; मैक्समूलर ने इसका अर्थ "नीति-विद्या" किया है और मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में इसका अर्थ "सांसारिक बुद्धि" दिया है।[1]

---

[1] तु—मैकडानल, वैमा, प० ७९.

[2] आले, ३९१.

[3] इस्तू, ४. ३७४, ३८५।

[4] बाद की पुरा-कथा में प्राचीन तथ्य हो सकता है।

[1] मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स इस प्रकार शंकर का अनुकरण कर "नीतिशास्त्र" अर्थ लेते हैं। तु०—वेबर, इस्तू, १. २६७. ४८४; लिटिल ग्रामेटिकल इंडेक्स, ४३।

एकाष्टका—अथर्ववेद १५. १६. २; तु० ब्रा०, ६. २. २. २३; ४. २. १० से प्रतीत होता है कि पूर्ण चन्द्र से आठवां दिन एकाष्टका कहलाता था। "पूर्ण अष्टका" या "एकाष्टका" निरी अष्टका का ही नहीं, अपितु किसी विशेष अष्टका का नाम है। अवे ३. १० के भाष्य में सायण एकाष्टका-सूक्त के प्रसङ्ग में माघ कृष्णा अष्टमी (जनवरी-फरवरी) को बताते हैं। तैसं ७. ४. ८. १; तु०—३. ३. ८. ४; ४. ३. ११. १; ५. ७. २. २; पं० वि० ब्रा०, ५. ९. ४ में एकाष्टका को वार्षिक यज्ञ करने वालों की दीक्षा का समय बताया गया है। द्रष्टव्य मास। तु० 'एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका' तां. ५. ९. २; 'संवत्सरस्य या पत्नी सा वो अस्तु सुमङ्गली' अवे ३. १०. २; तु—त्सिमर, आ. ले., ३६५; वेबर नक्षत्र. २. ३४१, ३४२।

एकाह—'प्रतिष्ठा वा एकाहः' ऐब्रा० ६. ८।

एजत्क—अवे ५. २३. ७ में एक कृमि का नाम है। तु०—त्सिमर, आले०, ९८; ह्विटनी, ट्रां० अवे, २६२।

एडक—शब्रा० १२. ४. १. ४; २. ५. २. १५ में और जैब्रा० १. ५१. ४[1] में एक दुष्ट मेंढ़े का बोधक है।

एणी—परवर्ती संहिताओं (अवे ५. १४. ११, तैसं, ५. ५. १५. १, मैसं, ३. १४. १७, वासं, २४. ३६), में मृगी का नाम है; यह एत का स्त्रीलिंग है। तु० त्सिमर, आ० ले०, ८२।

एत—(बहुवचन में एताः)। मरुतों के घोड़ों के लिए यह शब्द आया है, संभवतः हरिण की तीव्रगामी जाति का सूचक है। ऋ० १. १६५. २; १. १६९. ६, ७; ५. ५४. ५; १०. ७७. २ में अनेक बार इसका प्रयोग हुआ है। **एत** के चर्म को मरुत् अपने कन्धे पर रखते हैं: ऋ० १. १६६. १०।[2] उनके लिए 'पृथुबुध्न एता' भी एक वार ऋ० १. १६९. ६ में आया है, जिसकी विविध व्याख्याएं की गई हैं: 'चौड़े खुर वाला'[3], 'चौड़े वक्ष वाला'[4], 'चौड़े पिछाड़े वाला'[5]। इन व्याख्याओं से ज्ञात होता है कि **एत** तनुशरीरी मृग-जाति के नहीं थे[6]।

[1] जअओसो०, २३. ३३२। तु०—एगलिंग, सेबुई ४४. १७८।
[2] तु० राथ, वोबू।
[3] ग्रासमान और त्सिमर।
[4] ग्रिफिथ, हिम्स आंफ दि ऋग्वेद, १. २३५।
[5] मोनियर विलियम्स, कोश।
[6] तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८३

१. एतश—ऋवे० के अनेक स्थलों (१. ६२. १५; ४. ३०. ६; ५. २९. ५) पर, राथ[1] के अनुसार एक शरणार्थी के रूप में, जिसे इन्द्र ने सूर्य के विरुद्ध सहायता दी थी, एतश का उल्लेख मिलता है। किंतु इन सभी स्थलों पर **एतश** 'सूर्य के अश्व' प्रतीत होते हैं।

२. एतश—कौब्रा ३०. ५ में एक ऋषि का नाम है, जिनके संवन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अपने पुत्रों को एक यज्ञ के बीच में बोलने पर शाप दिया था। फलतः **ऐतशायनों** को भृगुओं में निकृष्ट बताया गया था। ऐब्रा ६.३३ में यही कथा कुछ अन्तर के साथ आती है, जहां ऋषि का नाम **ऐतश** है और **ऐतशायनों** को **और्वों** में निकृष्ट बताया गया है। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, २. १७३।

एदिधिषुः पति—केवल वासं ३०. ९ में यह शब्द आता है, जहां भाष्यकार महीधर इसकी व्याख्या करते हैं—"बड़ी बहन के पूर्व ब्याही गई छोटी बहन का पति"। यद्यपि यह भाव सही हो सकता है, तथापि जैसा कि डेलब्रुक[2] ने कहा है यह रूप भ्रष्ट है। द्रष्टव्य **दिधिषूपति**।

एनस्—वैदिक साहित्य में **एनस्** उन्हीं अर्थों में आया है, जिनमें **अंहस्** या **अघ**; द्र० ऋ० ७. २०. १; ५. ३. ७; १. १२५. ७; अ० वे० ६. ११६. २ आदि। देखो **अंहस्, अघ**। तु० 'निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति सत्यं हि भवति' श० २. ५. २. २०।

एम—वासं १८. १५ में प्रयुक्त **एम** शब्द की महीधर ने "प्राप्तव्य अर्थ" यह व्याख्या की है।

एरण्ड—सर्वप्रथम शांआ १२. ८ में एरंड पौधे का उल्लेख हुआ है।

एरु—अवे० ६.२२.३ में **एरु** शब्द कुछ दुरूह सा है। ह्विटनी ने अपने अनुवाद में इसे अनुवाद किये बिना छोड़ दिया है। भाष्यकार सायण ने इसका अर्थ 'प्रेरक मेघ' दिया है।

एवश्छन्द—'अयं वै पृथ्वी-लोक एवश्छन्दः' श० ८. ५. २. ३।

एवावद—लुड्विग[3] ने ऋ ५. ४४. १० के एक दुरूह मन्त्र में **एवावद** को एक गायक के रूप में **क्षत्र, मनस** और **यजत** के साथ लिया है। भाष्यकार सायण ने भी इसे

[1] वोबू।
[2] मैकडानल, वैमा पृ० १४९-१५०।
[3] दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वाण्ड्श्शाफ्ट्सुनामन, ५६९. टि० १।
[4] ट्रां० आ. ऋ० ३. १३८।

एक व्यक्तिवाचक नाम माना है। किंतु राथ[१] के अनुसार यह विशेषण है, जिसका अर्थ है 'यथार्थवादी'।

एष्टयः—'ऋक्-सामानि वा एष्टय ऋक्सामैर्ह्याशासत इति नोऽस्त्विवत्थं नो स्त्विति' श० ९. ४. १. १२।

ऐ

ऐकादशाक्ष मानु-तन्तव्य—ऐब्रा० ५. ३० में सूर्योदय के बाद होम करने वाले (उदितहोमी) एक राजा का नाम है, जो **नगरी जानश्रुतेय** का समकालीन था। तु०—वेबर, इस्तू० १. २२३.

ऐकाहिक—सवनविशेष; 'एते वै शान्ते क्लृप्ते प्रतिष्ठिते सवने यदैकाहिके' ऐ० ८. २; =होत्रविशेष; 'एते वै शान्ताः क्लृप्ता होत्रा यदैकाहिकाः' ऐ० ८. ४.

ऐक्ष्वाक—शब्रा० १३. ५. ४. ५ में **पुरुकुत्स** का पैतृक नाम है। दूसरे ऐक्ष्वाक हैं **वार्ष्ण**, जिनका उल्लेख जैउब्रा १. ५. ४ में एक आचार्य के रूप में आया है। एक ऐक्ष्वाक राजा **हरिश्चन्द्र वैधस** से ऐब्रा ७. १३. १६ परिचित है। पंब्रा १३. ३. १२ मे **त्र्यरुण** को ऐक्ष्वाक कहा गया है।

ऐड या ऐल—ऋवे० १०. ९५. १८ और शब्रा ११. १. ५. १ में ऐड या ऐल इडा (इला) में **पुरूरवा** से उत्पन्न हुआ पुत्र है। =सामविशेष, (देवाः) 'प्रतिष्ठामिडाभिरैडेनावरुन्धत' तां १०. १२. ४.

ऐढत—सामविशेष। 'इढन्वा एतेन काव्योऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः' तां० १४. ९. १६.

ऐतरेय—"इतर" से व्युत्पन्न ? यह एक पैतृक नाम है। सायण[२] के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति "इतरा" (—माता) शब्द से है। ऐआ[३] और छाउ[४] में यह **महिदास** का विशेषण है।

ऐतश, ऐतशायन—द्र० **एतश, एतशायन**। ऐतश-प्रलाप अथर्ववेद (२०. १२९–१३२) का एक भाग है। तु० 'आयुर्वा ऐतशप्रलापः' ऐ० ६. ३३। तु०—बृहद्देवता ८. १०१., मैकडानल के नोट के साथ।

[१] वोबू।

[२] औफ़ेक्त द्वारा उद्धृत, ऐब्रा ३.

[३] २. १. ८; ३. ७.

[४] ३. १६. ७; तु०—वेबर, इस्तू १. ३८९ **ऐतरेयिन्** रूप आता है: अनुपदसूत्र, ८. १; आश्वसू०, १. ३ इत्यादि। **महैतरेय** का उल्लेख; आगृसू०, ३. ४. ४. ४ इत्यादि।

ऐतिहासिक—प्रारम्भ में यह शब्द उन लोगों के लिए आता था जो वैदिक सूक्तों की इतिहास की दृष्टि से व्याख्या करते थे, जैसा कि जीग[१] ने दिखाया है। ऐतिहासिक मत का उल्लेख निरुक्त २. १६, १२. १ आदि में हैं, जो वैदिक शब्दों की व्याख्या में व्युत्पत्ति को आधार मानता है। जीग[२] का यह मन्तव्य ठीक प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक लोग निरुक्त ६. ९; ७. ६ में अभिहित **नैदानों** में से थे; और उनका आधार-ग्रन्थ 'निदान' था।

ऐन्द्रवायवः—'वाक् च प्राणश्चैन्द्रवायवः' ऐ० २. २६.

ऐन्द्राग्न—आज्यस्तोत्र। 'इयं वामस्य मन्मन इत्यैन्द्राग्नम्' तां० १२. ८. ७.

ऐन्द्रोत—द्र०—**दृति ऐन्द्रोत**।

ऐभावत—"**इभावन्त्** का वंशज"। यह **प्रतीदर्श** का पैतृक नाम है: शब्रा १२. ८. २. ३।

ऐरावत—"**इरावन्त्** का पुत्र"। **धृतराष्ट्र** का एक सर्पासुर के रूप में यह नाम अवे. ८. १०. २९ में तथा पंब्रा २५. १५. ३ में आया है।

ऐ

ऐलूष—"**इलूष** का वंशज"। यह **कवष** का पैतृक नाम है।

ऐशिर—सामविशेष। 'ऐशिरं भवति प्रजातिर्वा ऐशिराणि प्रजायते बहुर्भवत्यैशिरेण तुष्टुवानः' तां. १४. ११. २०

ऐश्वर्य—शब्रा १३. ४. ३. १५ में ऐश्वर्य प्रभुता के अर्थ में आया है; निरुक्त ८. २ में यह ईश्वरत्व के अर्थ में है, जहां कि सभी देवों में ईश्वरत्व को माना गया है—"सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते"।

ऐष-कृत—द्र० **शितिबाहु**।

ऐषावीर—**ऐषावीरों** का एक बार शब्रा ११. २. ७. ३२ में बुरे याज्ञिक होने के रूप में उल्लेख आया है। सायण ने इसे एक व्यक्तिवाचक नाम माना है ("**एषवीर** के वंशज")। किंतु राथ इस शब्द का अर्थ 'दुर्बल'[३] या या 'अकिंचन व्यक्ति' करते हैं, जो ठीक प्रतीत होता है।[४]

[१] दी जा. ऋ०, १३ एवं आगे। [२] उपर्युक्त, २९।

[३] परवर्ती साहित्य में ऐरावत इन्द्र के हाथी का नाम है; संभवतः वह इससे संबद्ध है; क्योंकि 'नाग" का अर्थ सर्प और हाथी दोनों होता है। [४] वोबू।

[५] बार्टलिक की डि०, (वह जो मनुष्य बनना चाहता है, किंतु है नहीं); तु० शब्रा, ९. ५. १. १६; कौब्रा १. १, जहां लिण्डनर के संस्करण में "सेषावीर इव" पाठ है। तु०—वेबर, इस्तू १. २२८, एगलिंग, सेबुई० ४४. ४५।

ऐषुमत—"इषुमन्त् का अपत्य"। वंब्रा[1] में यह त्रात का पैतृक नाम है।

ओ

ओकस्—वैदिक साहित्य में **ओकस्** शब्द गृह के अर्थ में आया है: ऋ० ५. ७६. ४; १०. ११७. ४; अवे० ३. २. २ आदि; तु—**गृह**।

ओंकार, ओम्—उपनिषदों में ओम् और ओंकार शब्दों की विशद व्याख्या है। ओम् को परब्रह्म के रूप में दिखाया गया है: छांउ, १. ११; बृ० ३. ९. १; ५. १. १; ईउ १७; कउ, १. २. १५; प्रउ० ५. ५। तु० (ओंकारस्य) को धातुरित्यापृधातुरवतिमप्येके रूप-सामान्यादर्थसामान्यान्नेदीयस्तस्मादापेरोंकार: सर्वमाप्नोतीत्यर्थ:' गो. पू. १. २६। 'को विकारी च्यवते। प्रसारणमाप्नोतेराकारपकारौ विकार्यावादित ओंकारो विक्रियते। द्वितीयो मकार एवं द्विवर्ण एकाक्षर ओमित्योंकारो निर्वृत्त:' गो. पू. १. २६.; 'तासामभिपीडितानां (व्याहृतीनां) रस: प्राणेदत्। तदेतदक्षरमभवदोमिति यदेतत्' जैउ. १. २३. ७; 'अथैकस्यैवाक्षरस्य रसं (प्रजापति:) नाशक्नोदादातुम् ओमित्येतस्यैव। सेयं वागभवत्। ओमेव नामैषा। तस्य उ प्राण एव रस:' जैउ. १. १. ६. ७.

ओगण—ऋ १०. ८९. १५ में बहुवचन में यह शब्द केवल एक बार आया है, जहां यह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के एवं आर्यधर्म के विरोधी व्यक्तियों को जताता है। लुड्विग[2] इसे एक जाति का नाम मानते हैं, किंतु पिशल इसे केवल विशेषण समझते हैं, जिसका अर्थ 'दुर्बल' है। (ओगण=अवगण) जैसा कि पालि भाषा में मिलता है।

ओजस्—वैदिक साहित्य में बल-वीर्य के अर्थ में **ओजस्** शब्द अनेकश: आया है। देवों से ओज प्रदान करने की प्रार्थनाएं आम हैं: ऋ० १. ९. १; १६०. ५; २. २२. ३; अवे १. ३५. २ आदि।

ओतु—वैदिक साहित्य (ऋ० ६. ९. २. ३; अवे १४. २. ५१; तैसं, ६. १. १. ४ आदि,) में **ओतु** शब्द बुनने की वाणि (woof) को जताता है: और तन्तु का समानार्थक है। ये दोनों शब्द √वा (ऋ० ६. ९. २ आदि) "बुनना" और √तन् (वा० सं०, १९. ८०; ऋ०, १०. १३०. २; अवे १०. ७. ४३ आदि) "फैलाना" धातुओं से व्युत्पन्न हैं, और समान अर्थ में आते हैं। बुनने में एक तसर (ढरकी) का प्रयोग होता था। बुनने वाले को **वाय** (ऋ० १०. २६. ६) और बुनने के यन्त्र को **वेमन्** (वासं, १९. ८३) कहते थे। एक लकड़ी की गुल्ली (मयूख=करघा) का प्रयोग तन्तु-संतति को फैलाने के लिए किया जाता था। सीसक का प्रयोग इसे बढ़ाने के लिए किया जाता था: वासं १९. ८०।

बुनने का कार्य स्त्रियों (अवे १०. ७. ४२; १४. २. ५१; ऋ० १. ९२. ३) का था। अवे. (१०. ७. ४२; तै० ब्रा० २. ५. ५. ३) के एक रूपक में रात्रि एवं दिन को दो बहनों के रूप में "वर्ष" की तन्तु-संतति बुनते हुए दिखाया गया है, जहाँ रात्रि **तन्तु** है और दिन **ओतु** है। तु०—त्सिमर, आले०, २५४, २५५; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६५।

ओणि—ऋग्वेद के अनेक स्थलों (ऋ० ९. १६. १, ९. ६५. ११, ९. १०. १. १४, निघण्टु, ३. ३०,) पर **ओणि** शब्द आया है, जिसे भाष्यकारों ने निघण्टु ३. ३० के आधार पर **द्यावापृथिवी** माना है। तु०—वासं, ४. २५; ऋ० १. ६१. १४ आदि।

ओदन—भात; पका अन्न: दे० ऋ० ८. ६९. १४ आदि; अवे, ४. १४. ७ आदि। प्राय: यह दुग्ध के साथ पके भोजन (क्षीर-पाकम् ओदनम् ऋ० ८. ७७. १०) को अभिव्यक्त करता है। विशेष द्रव्य भी गिनाए गए हैं, जैसे **क्षीरौदन**, शब्रा, २. ५. ३. ४; ११. ५. ७. ५, बृउ ६. ४. १३; **दध्योदन** बृउ ६. ४. १६; **मुद्गौदन** शाआ १२. ८; **तिलौदन** बृउ ६. ४. १५ **उदौदन** वही, ६. ४. १५ **मांसौदन** वही, ६. ४. १६; शब्रा, ११. ५. ७. ५; शांआ १२. ८, **घृतौदन** शांआ, १२. ८ आदि। तु० 'परमेष्ठी वा एष:। यदौदन:' तै. १. ७. १०. ६; 'रेतो वा ओदन:' श. १३. १. १. ४.

ओपश—संदिग्धार्थक **ओपश** शब्द ऋवे० १०. ८५. ८; तु० १. १७३. ६; ८. १४. ५; ९. ७१. १, और अवे० ६. १३८. १, २; ९. ३. ८, (जहाँ यह रूपक के अन्तर्गत घर की छत के लिए प्रयुक्त हुआ है) में एवं कभी-कभी परवर्ती साहित्य (पंविब्रा ४. १. १) में आया है। संभवत: इसका अर्थ वेणी है, जो स्त्रियों (अवे ६. १३८. १, २) के केश-प्रसाधन में काम आती थी, और प्रारम्भिक काल (ऋ० १. १७३. ६; ८. १४. ५) में स्त्री-पुरुष दोनों के केश-प्रसाधन का उपकरण थी। **सिनीवाली** देवी को **स्वोपशा** कहा गया है: तैसं ४. १. ५. ३; मैसं २. ७. ५; वासं ११. ५६;[1] किंतु इस विशेषण का अर्थ संदिग्ध

---

[1] इस्टू ४. ३७२.

[2] ट्रांऋ०, ५. २०९.

[3] वैस्टू, २. १९१. १९२.

---

[1] ब्लूमफील्ड "स्वोपशा" (सुन्दर ओपशयुक्ता) को ठीक पाठ बताते हैं।

है । इससे त्सिमर[1] ने यह अनुमान लगाया है कि नकली वेणियों का व्यवहार वैदिक काल में अज्ञात नहीं था । "पृथुस्तुक" (ऋ० १०. ८६. ८; ='बड़ी वेणी से युक्त') "विषितस्तुक" (ऋ० १. १६७. ५ रोदसी के लिए; ='खुली वेणी से युक्त') और ओपश में क्या अन्तर था, यह प्राप्य संदर्भों से नहीं बताया जा सकता । गेल्डनर[2] के अनुसार **ओपश** का मौलिक भाव था "सींग"; और जब इसका प्रयोग **इन्द्र** (ऋ० ८. १४. ५) के लिए होता है तब इसका अर्थ किरीट हो जाता है ।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे०, ५३८, ५३९; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३४८ ।

ओमात्रा—ऋ० १०. ५०. ५ में रक्षण के अर्थ में आया है ।

ओभ्या, ओभ्यावन्त्—शांश्रौसू १. ६. २ में **ओभ्या** और ऋ० १. ११२. ७, २० में **ओभ्यावन्त्** शब्द आया है । इनका अर्थ 'मैत्री' और 'मैत्रीपूर्ण' है ।

ओषधि—स्थूल रूप से वनस्पति-जगत् को वैदिक साहित्य (ऋ० १०. ९७.) ने **ओषधि** (=वीरुध्) और **वन** (=वृक्ष) इन दो में बांटा है । अवे १२. १. २ में **ओषधि** को वीरुध् के विरोध में भैषज्य गुण वाली बताया गया है, जब कि 'वीरुध्' शब्द से सामान्य वनस्पति-वर्ग का बोध होता है । जहाँ **ओषधि** के साथ **वीरुध्** का प्रयोग मिलता है (तैसं० २. ५. ३. २) वहां उससे तात्पर्य उन पौधों से रहता है, जिनमें दवा के गुण नहीं होते ।

परवर्ती संहिताओं (तैसं० ७. ३. १९. १; वासं, २२. २८) में पौधे के अङ्गों का वर्णन है, जो हैं : **मूल, तूल** (panicle), **काण्ड** (stem), **वल्श** (twig) **पुष्प,** और **फल,** जबकि एक वृक्ष में (तैसं, ७. ३. २०. १; तु०—ऋ० १. ३२. ५; अवे १०. ७. ३८) में **स्कन्ध** (corona), **शाखा** और **पर्ण** अधिक होते हैं । अवे ८. ७. ४[3] में पौधों के भेद बताए गए हैं : **प्रस्तृणती** : (फैलीं हुई expanded), **स्तम्बिनी** : (bushy झाड़ीदेदार), **एकशुङ्गा** : (एक कोष वाली), **प्रतन्वती** : (creepers' लताएँ), **अंशुमती** : (of many stalks =अनेक डंठल वाली), **काण्डिनी** : (=jointed पोरों वाली), और **विशाखा** : (शाखाओं वाली having spreading branches) । ऋग्वेद १०. ९७. ३,१५ में ओषधियों को **फलिनी** : (फल वाली) **पुष्पवती** : (पुष्प कलिकाओं से युक्त), **प्रसूवरी** : (खिले फूल वाली) कहा गया है ।

औ

औक्ष—अवे २. ३६. ७ में एक लेप का बोधक है । तु०—केशवी गृहपद्धति ४. १०. ५ ।

औक्षगन्धि—"वृषवपा की गन्ध वाला" । अवे ४. ३७. ३ में एक अप्सरा का नाम है, जहां **गुग्गुलू** और **नलदी** शब्द पौधों की ओर संकेत करते हैं । फलतः औक्षगन्धि भी एक पौधा हो सकता है । तु०—त्सिमर, आ० ले०, ६९; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३२४; ट्रां० अथर्ववेद, २११, २१२ और **औक्ष** पर वही, ८२, ८३ ।

औक्ष्णोरन्ध्रे—सामविशेष । 'उक्ष्णो रन्ध्रो वा एताभ्यां काव्योऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत्' तां० १३. ९. १९ ।

[1] आले०, २६४.

[2] वैस्टू, १. १३१; पंविब्रा० १३. ४. ३ का उद्धरण जहाँ "द्वयोपशाः" पशुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, किंतु भाव आलंकारिक है ।

[3] ह्विटनी के नोट के साथ; तु०—हिम्स आ०दि०वे०, ५७९, हेनरी, ले लिव्रेस, ८ एवं ९; दि ल् अवे, ५८ एवं आगे । तु०—'(प्रजापतिः) तां (आहुतिं) व्यौक्षत् । ओषं धयेति । तत ओषधयः समभवंस्तस्मादोषधयो नाम' श० २. २. ४. ५; 'प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा ओषधयो नाम' श० ७. ४. २. ११; 'द्वय्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्योऽन्याः फलं गृह्णन्ति । मूलेभ्योऽन्याः' तै० ३. ८. १७. ४; 'उभय्योऽस्मै स्वदिताः पच्यन्तेऽकृष्टपच्याश्च कृष्टपच्याश्च' तां० ६. ९. ९; 'वाग्देवत्यं साम वाचो मनो देवता मनसः पशवः पशूनामोषधयः ओषधीनामापः । तदेतदद्भ्यो जातं सामाप्सु प्रतिष्ठितम्' जैउ० १. ५९. १४; 'तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्त्योषधय उ हापां रसस्तस्मादापः पीता केवल्यो न धिन्वन्ति यदैवोभय्यः संसृष्टा भवन्त्यथैव धिन्वन्ति' श० ३. ६. १. ७; 'एष ह वै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः' कौ० २. १; 'अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः' तै० ३. २. ५. ७; 'ओषधयो वै पशुपतिस्तस्माद्यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति' श० ६. १. ३. १२; 'ओषधयः खलु वै वाजः' तै० १. ३. ७. १; 'सोम ओषधीनामधिराजः' गो० उ० १. १७; 'सप्त ग्राम्या ओषधयः सप्तारण्याः' तै० १. ३. ८. १; 'ओषधयो वै देवानां पत्न्यः' श० ६. ५. ४. ४; सैनान्यं वा एतदोषधीनां यद्यवाः' ऐ० ८. १६; 'ओषधिवनस्पतयो मे लोमसु श्रिताः' तै० ३. १०।

औग्रसैन्य—"उग्रसेन का अपत्य"। राजा **युद्धांश्रौष्टि** का यह पैतृक नाम ऐब्रा ८ २१ में आता है।

औच्चामन्यव—"उच्चामन्यु का अपत्य"। पंब्रा १०. ५. ७ में यह **गिरिक्षित्** का पैतृक नाम है।

औदन्य—"उदन्य या **ओदन** का अपत्य'। शब्रा १३. ३. ५. ४ में **मुण्डिभ** का नाम है, जिन्हें ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त ढूंढने का श्रेय दिया जाता है। तैब्रा ३. ९. १५. ३ में यह नाम **औदन्यव** के रूप में आता है। तु०—त्रोबू, ओदन शब्द पर; एगलिंग, सेबुई, ४४. ३४१ टि० १।

औदमय—वेबर[1] के अनुसार ऐब्रा ८. २२ में अङ्ग **वैरोचन** के पुरोहित **आत्रेय** के लिए यह शब्द आया है। औफ़ेख्ट[2] अपने संस्करण में इसका शुद्ध पाठ **उदमय** मानते हैं।

औदल—सामविशेष। 'उदलो वा एतेन वैश्वामित्रः प्रजापतिं भूमानमगच्छत्। प्रजायते बहुर्भवत्यौदलेन तुष्टुवानः' तां, १४. ११, ३३.

औदवाहि—"उदवाह का अपत्य"। **भारद्वाज** के गुरु के रूप में बृउ० (२. ५. २०=४. ५. २६ माध्यंदिन शाखा) के प्रथम दो वंशों में **औदवाहि** नाम आया है।

औदुम्बरायण—निरुक्त १. १ में एक वैयाकरण का यह पैतृक नाम है।

औद्ग्रभण—हविष्। 'औद्ग्रभणैर्वै देवा आत्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभ्युदगृह्णन्त यदुदगृह्णन्त तस्मादौद्ग्रभणानि' श० ६. ६. १. १२.

औद्दालकि—"उद्दालक का अपत्य"। यह आचार्य **असुरविन्द** (जैब्रा १. ७५[3]) या **कुसुरुबिन्द** (षब्रा, १. १६; पंब्रा २२. १५. १०.) और **श्वेतकेतु** (शब्रा ३. ४. ३. १३; ४. २. ५. १५; वे ही संभवतः कउ, १. ११ में विवक्षित हैं) का पैतृक नाम है।

औद्भारि—"उद्भार का वंशज"। शब्रा ११. ८. ४. ६ में यह **केशिन्** के गुरु **खण्डिक** का पैतृक नाम है।

औप-जन्धनि—"उपजन्धन का वंशज"। बृउ में (२. ६. ३, ४. ६. ३, वंशों में) आसुरि और सायकायन के (४. ५. २७ माध्यंदिन शाखा में) शिष्य एक आचार्य का यह पैतृक नाम है।

[1] इस्तू०, १. २२८.

[2] तु०—त्रोबू, "उदमय" पर।

[3] जआओसो०, २३. २२७.

औपतस्विनि—"उपतस्विन का वंशज"। यह शब्रा० ४. ६. १. ७ में **राम** का पैतृक नाम है।

औपमन्यव—"उपमन्यु का वंशज"। यह अनेक व्यक्तियों का पैतृक नाम है: द्रष्टव्य **काम्बोज, प्राचीनशाल, महाशाल**। इस नाम के सुप्रसिद्ध वैयाकरण **"औपमन्यव"** थे, जिनका उल्लेख यास्क (१. १; २. २; ६, ११ इ०) ने शब्द की अनुकरणात्मक व्युत्पत्ति के विरोधी के रूप में किया है। बौश्रौ २२. १ में एक गुरु के रूप में **औपमन्यवीपुत्र** का उल्लेख हुआ है।

औपर—"उपर" का वंशज"। तैसं ६. २. ९. ४ में यह **दण्ड** का पैतृक नाम है।

औपवेशि—उपवेश का वंशज"। **उद्दालक** के पिता **अरुण** का यह पैतृक नाम है। द्र०—कासं, २६. १० और **अरुण**।

औपस्वतीपुत्र—"उपस्वान् (?) की वंशजा का पुत्र"। बृउ (६. ५. १ केवल काण्व शाखा) की एक वंश-सूची में **पाराशरीपुत्र** के शिष्य के रूप में **औपस्वतीपुत्र** का उल्लेख आता है।

औपावि जानश्रुतेय—"उपाव का वंशज", "जनश्रुति का वंशज"। शब्रा० ५. १. १. ५, ७ एवं मैसं० १. ४. ५. ६[1] में इनका उल्लेख वाजपेय यज्ञ करने वाले एवं परलोक सशरीर चढ़ने वाले के रूप में किया गया है।

औपोदिति—"उपोदित का वंशज"। इस नाम का उल्लेख तैसं १. ७. २. १ में **तुमिंज** के लिए, और बौश्रौ २०. २५ में **गौपालायन** के लिए, जो **व्याघ्रपद** के पुत्र एवं कुरुओं के स्थपति थे, हुआ है। शब्रा १. ९. ३. १६ में **औपोदितेय** का मातृपरंपरागत **उपोदिता** के पुत्र के रूप में उल्लेख हुआ है, जहां पर काण्व पाठ में उन्हें **तुमिंज औपोदितेय वैयाघ्रपद्य** कहा गया है। तु० एगलिंग, सेबुई १२. २७१, टि० २

और्ण-वाभ—"ऊर्णवाभि का वंशज"। (१) बृउ ४. ५. २६ के एक वंश के अनुसार यह **कौण्डिन्य** के शिष्य का नाम है। (२) इस नाम के एक आचार्य का उल्लेख अनेकशः निरुक्त में हुआ है; दो स्थलों (७. १५; १२. १९) पर उनकी व्याख्याएं ऋग्वेद के नैरुक्त व्याख्याकारों के समान है। दूसरे स्थलों (६. १३; १२. १) पर वे ऐतिहासिकों से संबद्ध जान पड़ते हैं।

और्णायव-साम। 'अङ्गिरसो वै सत्रमासत तेषामाप्तः स्पृतः स्वर्गो लोक आसीत्। पन्थानं तु देवयानं न प्राजानन्

[1] तु—वेबर, इस्तू, १. २२२. २२३।

तेषां कल्याण आङ्गिरसोऽध्यायमुदव्रजन् स ऊर्णायुं गंधर्वमप्सरसां मध्ये प्रेङ्खयमाणमुपैत् स ईयामिति यामभ्यदिशत् सैनमकामयत तमभ्यवदत् कल्याणां इ इत्याप्तो वै वः स्पृतः स्वर्गो लोकः पन्थानं तु देवयानं न प्रजानीथेदं साम स्वर्ग्यं तेन स्तुत्वा स्वर्गं लोकमेष्यथ मा तु वोचोहमदर्शमिति' तां १२. ११. १०.

और्व—"उरु या उर्व का वंशज"। ऋवे १०. ९८. ११ में भृगु से इनका निकट का संबन्ध प्रतीत होता है। संभवतः ये भी **भृगु** थे। ऐतरेय ब्रा०[1] में **ऐतश** के वंशजों को **और्वों** में निकृष्ट कहा गया है, तथा कौब्रा. ३०. ५ में उन्हें **भृगुओं** में निकृष्ट बताया गया है। इससे पता चलता है कि **और्व** लोग **भृगुओं** के विशाल वंश की एक शाखा के थे। तैसं ७. १. ८. १ में **और्व** के **अत्रि** से संतान प्राप्त करने की बात लिखी है। पंब्रा २१. १०. ६[2] में दो **और्वों** को प्रमाण-रूप बताया गया है। द्र० **कुत्स**।

औलान—ऋ १०. ९८. ११ में केवल एक स्थल पर यह शब्द आया है, जहां यह उल के वंशज **शंतनु** का पैतृक नाम हो सकता है। लुड्विग[3] का अनुमान है कि पाठ **कौलान** है। जीग[4] के अनुसार **औलान शंतनु** के परवर्ती वंशज[5] हैं, जिन्होंने **देवापि** की वर्षा करने की कथा को अपने वर्षा-सूक्त में व्यापित किया है।

औलुण्ड्य—'उलुण्ड का वंशज'। वंब्रा[6] में यह **सुप्रतीत** का पैतृक नाम है।

औशिज—'उशिज् का वंशज'। ऋ १. ३८. १ में **कक्षीवान्** का पैतृक नाम है। यह **ऋजिश्वन्** (१०. ९९. ११) के लिए भी प्रयुक्त है; किंतु लुड्विग[7] का विचार है कि ठीक पाठ "औशिजस्यर्जिश्वा" (औशिज का पुत्र ऋजिश्वा) है। एक स्थल (ऋ० १. ११२. ११) पर **कक्षीवान्** और **औशिज** दोनों का उल्लेख है। अन्य स्थलों पर जहां कि पैतृक नाम आया है, यह कहना कठिन है कि किसके लिए इसका प्रयोग हुआ है, अथवा कोई व्यक्ति-वाचक नाम अभिप्रेत भी है या नहीं : ऋ० १. ११९. ९; १. १२२. ४; ४. २१. ६. ७; ५. ४१. ५; ६. ४. ६)[1]। पंब्रा १४. ११. १६[2] में एवं अन्यत्र भी **कक्षीवान् औशिज** का उल्लेख मिलता है।

औशन—सामविशेष। 'वायुर्वा उशंस्तस्येदमौशनम्' तां० ७. ५. १९; 'उशना वै काव्योऽसुराणां पुरोहित आसीत्तं देवाः कामदुघाभिरुपामन्त्रयन्त तस्मा एतान्यौशनानि प्रायच्छन्' तां० ७. ५. २०; 'रश्मी वा एतौ यज्ञस्य यदौशनकावे' तां० ८. ५. १६।

औष्ट्राक्षि—'उष्ट्राक्ष का वंशज'। वंब्रा[3] में **साति** के पैतृक नाम के रूप में आता है।

क

ऋग्वेद १०. १२१ में ही **"क" प्रजापति** का वाचक बन गया है। वहाँ प्रथम ९ ऋचाओं में "कस्मै देवाय हविषा विधेम" आता है, और अन्तिम ऋचा में कहा गया है कि "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः"। तैसं १. ७. ६. ६ में स्पष्टतः "प्रजापतिर्वै कः" कहा गया है। इसके बाद प्रायः यह शब्द **प्रजापति** के लिए आता रहा है। तु० 'कः प्रजापतिरब्रवीदथ कोऽहमिति यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत्ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत् को वै नाम प्रजापतिः' ऐ० ३. २१; 'प्रजापतिर्वै कः' ऐ० २. ३८; कौ० ५. ४; तां० ७. ८. ३; तै० २. २. ५. ५; जैउ ३. ३. २. १०, गोउ० १. २२. द्र० वासं २०. ४; २२. २०; शब्रा, ४. ५. ६. ४; ६. २. २. ५, १२ शांश्रौसू, ९. २७. १; १५. २. ५ आदि।

१. कंस—अवे० में एवं अन्यत्र धातु-निर्मित पात्र के लिए आया है : अवे १०. १०. ५; ऐब्रा, ८. १०; बृउ, ६. ३. १ आदि; नि०, ७. २३, शांआ १२. ८।

२. कंस—जैउब्रा० के एक वंश में कंस दो व्यक्तियों का नाम है : **प्रोष्ठपद वारक्य** (३. ४१. १.) के शिष्य **कंस वारक्य**, और **दक्ष कात्यायनि आत्रेय** के शिष्य **कंस वाराकि** (३. ४१. १) या **वारक्य** (४. १७. १)।

---

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १६६.

[2] हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स आ० दि० कनेक्टिक्युट एकेडेमी आ०आर्ट्स एण्ड सांइसेज, १५-५४ में ऊर्व है। तु०—हिल्लेब्राड्ट. वैमि० २. १७३. टि० १.

[3] ट्रां० ऋ०, ३. १६६।

[4] दी ज़ा० ऋ०, १४१।

[5] तु० सायण, ऋ० १० ९८. ११ का भाष्यः कुरुकुलजातः शांतनवः (कुरुकुल में उत्पन्न शंतनु का वंशज)।

[6] इस्तू, ४. ३७२।

[7] ट्रां ऋ० ३. १४३, १४९।

[1] तु०—वोबू।

[2] द्र०—हापकिन्स, ट्रांज़ेक्शन्स आफ दि कनेक्टीक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ५६. टि०, द्र०—**कक्षीवान्**।

[3] इस्तू, ४. ३७२। तु० वेबर, इन्दीन लितरात्यूर ७५।

ककर—याजुष संहिताओं (मैसं ३. १४. १; वासं, २०. २४) में अश्वमेध के एक बलि-पशु के रूप में आया है। महीधर (वासं० तत्स्थल-भाष्य) के मत में यह किसी पक्षी को जताता है। तु०—त्सिमर, आ० ले० ९४।

ककाटिका—अवे० १०. २. ८ में मस्तिष्क या कपाल के अर्थ में आया है। द्र०—**शरीर**।

ककुठ—मैसं ३. १४. १३ में यह किसी पशु को जताता है। बार्टलिंग[1] के अनुसार यह **कक्कट** से अभिन्न है।

ककुत्सल—अवे० १८. ४. ६६ में प्रयुक्त यह शब्द दुरूह है। सायण ने 'ककुत्स्थल' पाठ माना है और 'प्रधानावयव' या कंधा (ग्रीवापरभाग) अर्थ दिया है। 'ककुत्सलमिव जामयः अभ्येनं भूम ऊर्णुहि' वाक्य है, जिसका भाव है कि 'हे भूमि, तुम इसे उसी प्रकार अच्छी तरह ढक दो, जिस प्रकार स्त्रियाँ ककुत्सल को ढंकती हैं।" ह्विटनी ने इसका अनुवाद नहीं किया है। नीचे के नोट में उन्होंने 'छोटे बच्चे' के अर्थ की संभावना प्रकट की है द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे उक्त स्थल। ककुत्सल= ककुप्+स्थल ? =वक्षः स्थल ?

ककुद्—इसका प्रारम्भिक अर्थ 'ऊँची चोटी' है; इसी से 'त्रिककुद्' एक पर्वत का नाम है। फिर यह शब्द आलंकारिक रूप से उच्च, श्रेष्ठ, या महान् का द्योतक बन गया। इसी अर्थ में 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्' (ऋ० ८. ४४. १६), 'सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्' (अवे, ६. ८६. ३) "वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व" (अवे, ३. ४. २; ७. ७६. ३) इत्यादि प्रयोग आये हैं। ककुद् शब्द वृषभ की पीठ पर उठे हुए ठाठ को भी जताता है; ऋ० (१०. ८. २; १०. १०२. ७) में **ककुद्मान्** शब्द वृषभ का विशेषण है।

ककुप्—छन्दः। 'प्राणो वै ककुप् छन्दः' श० ८. ५. २. ४; 'पुरुषो वै ककुप्' तां० ८. १०. ६।

ककुभ्—ककुभ् दिग्वाचक है। 'अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्याः' (ऋ० १. ३५. ८); 'उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्रभ्वीं ककुभं पृथिव्याः' (ऋ० ७. ९९. २; ८. ४१. ४); 'अवाभिनत् ककुभः पर्वतानाम्' (ऋ० ४. १९. ५) में उक्त अर्थ पाया जाता है। दिशाओं की संख्या आदि के लिए द्र० **दिश्**।

ककुह—ऋ० १. ४६. ३; १. १८१. ५; १. १८४. ३; २. ३४. ११; ३. ५४. १४; ५. ७३. ७; ५. ७५. ४. ८. ६. ४८ में अनेक बार आने वाला यह शब्द राथ[2] के अनुसार रथ के किसी भाग, संभवतः आसन के लिए प्रयुक्त हुआ है। लुड्विग[1] ऋग्वेद ८. ६. ४८ में इसे किसी **यादव** राजा का नाम मानते हैं, जिसने **पर्शु**, **तिरिन्दिर** से युद्ध में जीता हुआ धन लिया था, किंतु यह दुरूह है[2]। सब मिलाकर यह शब्द 'मुख्य, या प्रधान' के भाव को सूचित करता है, और विशेषण के रूप में घोड़ों, रथों, और राजाओं आदि (निश्चय के साथ, ऋ० ८. ४५. १४; ९. ६७. ८; तैसं, ३. ३. १. २ में, कभी-कभी प्राचीन रूप ककुभ् में) के लिए प्रयुक्त हुआ है। ग्रासमान[3] ने केवल यही अर्थ अपनाया है, जिसे राथ[4] ने बाद में मान लिया है।

कक्कट—याजुष संहिताओं (तैसं, ५. ५. १५ जहाँ वेबर ने कत्कट रूप लिया है; वासं, २४. ३२) में **केकड़े** के लिए यह शब्द आया है, जो बाद में[5] बहु-प्रचलित **कर्कट** का प्राकृत रूप प्रतीत होता है। किंतु राथ[6] ने इसे पक्षी माना है और इसकी ककर से तुलना की है। द्रष्टव्य **ककुठ**।

१ कक्ष—कुछ स्थलों पर **कक्ष** शब्द 'गुप्त स्थान' को जताता है। 'ये कक्षेष्वघायतः' (वासं, ११. ७९) : 'क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात्' (ऋ० १०. २८. ४) आदि संदर्भ देखे जा सकते हैं।

२ कक्ष—जैउब्रा की एक वंशावलि में दो गुरुओं का नाम है : एक **कक्ष वारक्य** है, (३. ४१. १) जो **प्रोष्ठपद वारक्य** का शिष्य है, और दूसरा **कक्ष वाराकि** (३. ४१. १ अथवा वारक्य ४. १७. १) है, जो **दक्ष काव्यायनि आत्रेय** का शिष्य है। दे० **उरु कक्ष**

कक्षीवान्—यह एक ऋषि का नाम है, जो कई बार ऋ० (१. १८. १; १. ५१. १३; १. ११२. ११; १. ११६. ७; १. ११७. ६; १. १२६. ३; ४. २६. १; ८. ९. १०; ९. ७४. ८; १०. २५. १०; १०. ६१. १६) में और कभी-कभी अन्यत्र (अवे० ४. २९. ५) भी पाया जाता है। वे एक **'उशिज्'** नामक दासी [ऋ० १. ११८. १; संभवतः १. ११२. ११ भी, किंतु **औशिज** वहाँ भिन्न नाम भी हो सकता है, द्र० **औशिज**; तु०—पंब्रा, १४. ११. १६] के वंशज जान पड़ते हैं। वे अवश्य **पज्र**-वंशीय रहे

[1] डिक्शनरी।

[2] वोबू।

[1] ट्रां० आदि ऋ०, २. १८२; ३. १६०, १६१; ५. १४२.

[2] वेबर, एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल ३६, ३७.

[3] उनके लेक्सिकन में।

[4] बार्टलिक की डिक्शनरी।

[5] त्सिमर, आ० ले०, ९५.

[6] वोबू।

होंगे, क्योंकि वे **'पज्रिय,'** (ऋ० १. ११६. ७; १. ११७. ६) कहाते हैं और उनके वंशज **पज्र** (ऋ० १. १२६. ४) बताये गए हैं। ऋग्वेद १. १२६ में वे सिन्धुवासी राजा **स्वनय भाव्य** की प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने उन्हें अनेक दिव्य दान दिए थे। शांश्रौसू १६. ४. ५ में **स्वनय भावयव्य** की प्रशंसा में कहे गए **कक्षीवान् औशिज** के नाम से नाराशंसी में एक गाथा का उल्लेख है। उन्होंने वृद्धावस्था में कुमारी **वृचया** (ऋ० १. ५१. १३) को पत्नी के रूप में प्राप्त किया था। उनके संबन्ध में कहा गया है कि वे शतजीवी (ऋ० ९. ७४. ८) थे, जो वैदिक युग में आयु की आदर्श सीमा है। सर्वत्र उन्हें भूतकाल के व्यक्ति के रूप में स्मरण किया गया है। अवे० ४. २६. १ में उनका अर्धपुराकल्पनात्मक **कुत्स** और **कवि उशनस्** के साथ नाम लिया गया है। अन्यत्र भी उन्हें प्राचीनकाल (अवे ४. २९. ५; १८. ३. १५; ऐब्रा १. २१. ६, ७; जैउब्रा, २. ६. ११) का आचार्य कहा गया है।

ऋग्वेद ८. ९. १० में **दीर्घतमस्** के साथ उनके उल्लेख के अतिरिक्त उनसे इनका कोई संबन्ध वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। किंतु बृहद्देवता (४. ११ एवं आगे) में उन्हें दासी **उशिज्** से **दीर्घतमस्** का पुत्र बताया गया है।

वेबर (एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल, २२. २५) का विचार है कि **कक्षीवान्** मूलतः क्षत्रिय थे, ब्राह्मण नहीं। इसके समर्थन में वे **पर आट्णार, वीतहव्य श्रायस** और **त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य** आदि राजाओं के साथ (तैसं ५. ६. ५. ३; कासं २२. ३; पंविब्रा, २५. १६. ३; तु० १४. ११. १६) उनके उल्लेख को पेश करते हैं। ये सभी राजा थे, ऐसा मानना अनावश्यक है। ये सभी व्यक्ति उन संदर्भों में केवल प्राचीन काल के प्रसिद्ध व्यक्ति कहे गए हैं, जिन्होंने देवशास्त्रीय यज्ञ किये थे और इसके परिणामस्वरूप असंख्य पुत्र प्राप्त किए थे। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ट्रां० ऋ० ३. १०२; गेल्डनर, ऋग्वेद कमेण्टार २३. २४।

कक्ष्या—अश्व या हाथी की कोख को **कक्ष्या** कहा गया है: ऋ० १. १८. १; निरुक्त, २. २; ऋ० १. १७३. ७; ७. १०४. ६; १०. १०. १३; १०. १०१. १० आदि। "कक्ष्यप्रा" (भरी कोखों वाला, पुष्ट) **इन्द्र** के अश्व का विशेषण है: ऋ० १. १०. ३।

कङ्क—कङ्क एक पक्षी का नाम है; सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग क्रौंच[1] के लिए किया जाता है, किंतु कुछ स्थलों पर यह शिकारी पक्षी[2] के रूप में आया है। सर्वप्रथम

[1] त्सिमर, आ. ले., ९१.

[2] राथ, बोबू; तु०—शां. आ., १२. १३.

यह याजुष संहिताओं (तैसं ५. ४. ११. १ कङ्क-चित्त "कङ्क के आकार में बनी वेदी", वासं २४. ३१; मैसं, ३. १४. १२, सावे, २. ९. ३. ६. १) में आता है।

कङ्कत—एक पशु का नाम है जिसका उल्लेख एक बार ऋ १.१९१.१ में हुआ है। सायण के अनुसार यह एक 'विनाशक पशु' है। संभवतः, जैसा कि ग्रासमान ने माना है, यह वृश्चिक का नाम हो। तु०—त्सिमर, आले, ९८.

कङ्कतीय—शब्रा० ९. ४. ४. १७ में यह एक वंश का नाम है, जिसने **शांण्डिल्य** से अग्निचयन की शिक्षा ली थी। निःसंदेह आश्रौसू १४. २०. ४ में किसी शाखा-विशेष के **कंकति** ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है। यह बौश्रौसू० २५. ५[1] में उद्दिष्ट **छागलेय** ब्राह्मण हो सकता है।

कङ्कपर्वन्—(क्रौञ्च पर्व वाला ?) अवे० ७. ५६. १[2] में एक बार आया यह शब्द, जिसका अर्थ वृश्चिक है, सर्पविशेष का व्यापक है। पैप्पलाद शाखा में "अङ्ग-पर्वणः" प्रयोग मिलता है; फलतः **कङ्क-पर्वन्** पाठ अशुद्ध भी हो सकता है।

कङ्कूष—अवे० ९. ८. २ में कंकूष शब्द कान के एक भाग को सूचित करता है। वहां कहा है कि "कर्णाभ्यां ते कंकूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्मकम्"। द्र० **शरीर**।

कट—कट शब्द चटाई का वाचक है जो बेंत से बनाई जाती थी: तैसं, ५.३.१२.२; तु०—शब्रा, १३.३.१.३। वासं० (३०. ८., महीधर के भाष्य के साथ; तैब्रा ३. ४. ५. १. में बिद्लकार का उल्लेख है) में चटाई बनाने वाले को बिद्लकारी कहा गया है। अवे० ६. १३८. ५ में वैतस को काटकर चटाई बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २५५.

कठ—द्र०—काठक।

कण्टकीकारी—"कांटों में काम करने वाला"। यह वासं० (३०. ८; तैब्रा० ३. ४. ५. १ में "कण्टककार" शब्द है) में उल्लिखित पुरुषमेध यज्ञ की बलियों में से एक है। निःसंदेह कांटे काटे जाते थे और चटाइयों को गूथने के लिए या बिस्तर को भरने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २५५।

[1] तु०—कालेंड, ऊब्रर दास रितुआल, सूत्र देस बौधायन, ४०.

[2] तु०—त्सिमर, आले०, ९४; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे० ४२६; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि० अ० वे०, ५. बार्टलिक, डिक्शनरी।

कण्ठ—गले के अर्थ में कण्ठ शब्द आया है : ऐब्रा० ७, १; गोब्रा० १. ३. १४, १८; २. २. १; शब्रा० १२. २. १. २-५ आदि।

कण्व—**कण्व** एक प्राचीन ऋषि है, जिनका नाम ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में आता है : ऋ० १. ३६. ८. १०. ११, १७, १९; १. ३९. ७, ९; १. ४७. ५; १. ११२. ५; १. ११७. १८, १. १७८. ७; १. १३९. ९; ५. ४१. ४, ८. ५. २३, २५; ८. ७. १८; ८. ८. २०; ८. ४९. १०; ८. ५०. १०; १०. ७१. ११; १०. ११५. ५; १०. १५०. ५; अ० वे० ४. ३७. १; ७. १५. १; १८. ३. १५; वासं १७. ७४; पंविब्रा ८. २. २; ९. २. ६; कौब्रा २८. ८; कण्ववत्, ऋ०, ८. ६. ११; ८. ५२. ८; अ० वे०, २, ३२. ३; कण्व मान ऋ०, ८. २. २२। उनके पुत्रों और वंशज; बहुवचन में कण्वाः—ऋ० १. १४. २, ५; १. ३७. १, १४; १. ४४. ८; १. ४६. ९; १. ४७. २, ४-१०; १. ४९. ४; ८. २. १६; ८. ३. १६; ८. ४. २, ३; ८. ५. ४; ८. ६. ३; ८. ६. १८. २१, ३१, ३४, ४७; ८. ७. ३२; ८. ८. ३; ८. ९. १४; ८. ३२. १; ३३. ३; ८. ३४. ४; कण्वस्य सूनवः—ऋ० १. ४५. ५; पुत्राः—८. ८. ४. ८; काण्वायनाः—८. ५५ ४; काण्व—८. १ ८; ८. २. ४०; ८. ४. २०; ८. ७. १९; ८. ९. ३, ९; ८. १०. २। **कण्वों** का भी प्रायः उल्लेख मिलता है; ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में उस मण्डल का तथा प्रथम मण्डल के कुछ भाग का कर्तृत्व **कण्वों** का बताया गया है। **कण्व**-वंशज का नाम अकेले, (उदा० ऋ० १. ४८. ४; ८. ३४. १,) या पैतृक नाम **कण्व नार्षद** (ऋ० १. ११७. ८; अवे ४. १९. २; लुडविग्, ट्रां ऋ० ३. १५० इ०), **कण्व श्रायस** (तैसं ५. ४. ७. ५; कासं २१. ८; मैसं, ३. ३. ९) प्रायः एक वचन में; और बहुवचन में **कण्वाः सौश्रवसाः** (कासं १३. १२ शाश्रौ सू०, १६. ११. २० में वत्स काण्व भी) ये प्रयोग भी मिलते हैं। **कण्व-वंश** का अत्रि-वंश[१] से संबन्ध प्रतीत होता[२] है। अवे० २. २५[३] में एक स्थान पर उन्हें शत्रु के रूप में देखा गया है।

[१] ओल्डेनवर्ग, त्सादामौगे. ४२. २१४.

[२] हिल्लेब्रांड्ट वैमिथो०, ३. २८५, तु०—१. २०७, ४३८.।

[३] तु०—पाणिनि, ३. १. १४ पर वार्त्तिक; बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. ४६५; हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, १. २०७; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटेन, १. ११०. तु०—ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, २१६ एवं आगे; लुड्विग, उपर्युक्त, ३. १०५

कण्व रथंतर—सामविशेष। 'तेजो वा एतद्रथंतरस्य यत्कण्वरथंतरम्' तां० १४. ३. १६; 'पशवो वै कण्वरथंतरम्' तां० १८. ४. ९।

कथा—इस शब्द का 'दार्शनिक चर्चा' के अर्थ में प्रयोग[१] छाउ १. ८. १[२] में मिलता है।

कद्रू—ऋग्वेद ८. ४५. २६ में यह शब्द एक बार आता है और 'एक पुरोहित', का नाम है किंतु संभवतः इसका ठीक अर्थ लुड्विग[३] के अनुसार 'सोम-पात्र'[४] है। तु० 'इयं (पृथिवी) कद्रूः' श० ३. ६. २. २।

कनक—स्वर्ण के अर्थ में आया है। द्र० संउब्रा, ५; षविब्रा, ५. ६; तैआ, १. ४. १।

कनक्न—अवे० १०. ४. २२ में प्रयुक्त यह शब्द या तो विष का बोधक है अथवा काण्डाविष का विशेषण है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स अ दि अवे०, ६०४; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ५७८।

कना, कन्या—ऋग्वेद-काल से ही छोटी लड़की के अर्थ में **कना** (ऋ० १०. ६१. ५) और **कन्या** (ऋ० १. १२३. १०; १. १६१. ५; ३. २३. १०; अवे १. १४. २; ११. ५. १८; १२. १. २५) शब्दों का प्रयोग मिलता है। '**कना**' का प्रयोग कम है। यह संदिग्ध है कि क्या **कनीनका** ('का' पर उदात्त स्वर) का भी यही अर्थ है : अथवा इसका अर्थ 'आँख की कनीनिका' है, जिसके अर्थ में **कनीनका** और **कनीनिका** ('नी' पर उदात्त स्वर) शब्द पाए जाते हैं[५]। अन्य रूप कन्यना (ऋ० ८. ३५. ५) और कन्यला (अवे ५. ५. ३; १४. २. ५२) भी मिलते हैं।

कनी—ऋग्वेद १. ६६. ८४ में कन्या के अर्थ में आया है। द्र०—**कना, कन्या**।

कनीनक—ऋग्वेद १०. ४०. ९ में लड़के या युवक के अर्थ में आया है। वहाँ कहा गया है 'जनिष्ट योषा पतयत् कनीनकः'। सायण के अनुसार **कनीनक** का अर्थ 'कन्याकामः पतिः' है। तु० 'शुष्णो दानवः प्रयङ्‌ पतित्वा

[१] कोलब्रुक, मिस्सेलेनियस एसेज, १. २९३।

[२] स्थल इस प्रकार है : 'हन्तोद्गीथे कथां वदाम', (उद्गीथ के विषय में हम दार्शनिक विमर्श प्रारम्भ करें)।

[३] ट्रां० ऋ०, ३. १६०।

[४] वोबू।

[५] वोबू में ऋ० ४. ३२. २३; १०. ४०. ९ और निरुक्त, ४. १५ में कन्या अर्थ किया गया है, किंतु ये स्थल अस्पष्ट हैं; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, ४०१; कीथ, ऐआ, २०७।

मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक इव परिभासते' श० ३. १. ३. ११।

कनीनका, कनीनिका—'आँख की पुतली' के अर्थ में ये शब्द आए हैं: ऐब्रा, ५. २२; ऐआ, २. १. ५; शब्रा, १२. ८. २. २६; १३. ४. २. ४; १४. ५. २. ३; शाआ ८. ७; तैआ, १. ४. १; ता०-ब्रा०, १०. ४. २ आदि तु०-**कना, कन्या**।

कन्यकुमारि—तैआ १०. १. ७ में **कन्यकुमारि** दुर्गा (दुर्गी) का विशेषण है। कहा गया है कि 'कात्यायनाय विद्महे कन्यकुमारि धीमहि। तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्।'

कन्यला—अथर्ववेद ५. ५. ३; १४. २. ५२ में **कन्या** के अर्थ में आया है।

कपना—ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र ५. ५४. ६ में यह शब्द आता है। निरुक्त ६. ४ में इसे 'एक कीड़ा' माना गया है, जो वृक्षों की पत्तियों को चाट जाता है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९७; मैक्समूलर, सेबुई ३२. ३३०।

कपर्द, कपर्दिन्—'वेणी', 'वेणी धारण करने वाला'। ये शब्द वैदिक काल में वेणी धारण करने की प्रथा की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद १०. ११४. ३ में एक युवती के चतुष्कपर्द (या चार वेणियों वाले) बालों का उल्लेख है। वासं ११. ५६ में देवी **सिनीवाली** को सुकपर्दा कहा गया है। मनुष्य भी ऐसे बाल धारण करते थे; **रुद्र** और **पूषन्** को भी कपर्दी कहा गया है; रुद्रः ऋ० १. ११४. १, ५; वासं, १६. १०, २९, ४३, ४८, ५९; पूषन् ऋ० ६. ५५. २; ९. ६७. ११। **वसिष्ठों** को एक विशेषता थी कि वे दक्षिणतस्कपर्द (दक्षिण की ओर एक कपर्द धारण करने वाले) थे: ऋ० ७. ३३. १; तु० ७. ८३. ८। कपर्द के विपरीत साधारण बाल वाले के लिए पुलिस्त शब्द आया है: वासं १६-४३। द्र० **ओपश** भी। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६४, २६५; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६२; मैक्समूलर, सेबुई ३२. ४२४।

१ कपाल—वैदिक साहित्य के कुछ स्थलों पर कपाल शब्द पुरोडाश आदि पकाने के पात्र का बोधक है। संभवतः यह मिट्टी से बनता था और ऊपर एवं नीचे के दो भागों वाला होता था। याजुष संहिताओं एवं ब्राह्मणों में कपाल शब्द अनेकशः आया है: तैसं १. ५. १०. ३; १. ६. ९. ३; शब्रा, १. १. १. २२, आदि। **त्रिकपाल** (ऐब्रा १. १), **पञ्चकपाल** (तैसं, १. ५. १. ४; १. ५; २. १), **अष्टाकपाल** (वासं २९-६०), **एकादशकपाल** (ऐब्रा १. १), **एककपाल, ऊर्ध्वकपाल** (काश्रौसू, ४. १४. १) और **अङ्गारकपाल** (कौसू, ३८. १३५) आदि का भी उल्लेख मिलता है।

२. कपाल—द्र०-**शरीर**।

१. कपि—"बन्दर"। ऋग्वेद में केवल एक बार कपि शब्द आता है: १०. ८६. ५, जहाँ **इन्द्र** और **इन्द्राणी** का वार्तालाप **वृषाकपि** की उपस्थिति में उल्लिखित है[1]। वहां कपि को हरित वर्ण का बताया गया है। **अथर्ववेद** में कपि को बालों वाला एवं कुत्तों का शत्रु कहा गया है: ३. ९. ४; ४. ३२. ११; ६. ४९. १; तु० छाउ, १. ६. ७; कप्यास=कपि का बैठने का स्थान। कपि पालतू भी होते थे, इसका समर्थन वृषाकपि—सूक्त से तथा तैसं ४. २. १०. १ में **मयु** के वन्य कहे जाने से होता है। द्र०-**मयु, मर्कट, पुरुषहस्तिन्**।

२. कपि—वोबू के अनुसार कासं ३०. २ में पाये जाने वाले **लुश खार्गलि** का ही एक नाम **कपि** है; किंतु असली नाम संभवतः लुशाकपि रहा हो।

कपिंजल—याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में कपिंजल चातक या पपीहे का नाम है: तैसं, २. ५. १. १; मै० सं०, ३. १४. १; कासं १२. १०; वासं, २४. २०, ३८; शब्रा, १. ६. ३. ३; ५. ५. ४. ४; १३. ५. १. १३; जैब्रा, १. १५४. २। ट्रांजैक्शन्स, १५. १८१; त्सिमर, आले० ९१। द्र० 'स यत् सोमपानं (विश्वरूपस्य मुखं) आस ततः कपिंजलः समभवत्, तस्मात् स बभ्रुक इव बभ्रुरिव हि सोमो राजा' श० १. ६. ३. ३.

कपिल—श्वेउ० ५. २ में एक आचार्य का नाम कपिल है। वेबर[2], और गार्बे[3] के मत में ये **सांख्य दर्शन** के प्रवर्तक **कपिल मुनि** हैं। किंतु यह संदिग्ध है[4]।

---

[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १७४; गेल्डनर, वैस्टू० २. २२. एवं आगे; फान श्रोडर, मिस्टीरियम उण्ड मिमस, ३०४ एवं आगे; शिरमाइसन, दी अरिश्शन गोत्तरगेस्ताल्तन; २१८ एवं आगे; तिलक, ओरायन, १७०—१७९ त्सिमर, आले, ८५. ८६।

[2] इस्टू, १. २४ एवं आगे; ५. ४१२; इन्दीन लितरात्यूर २३६।

[3] सांख्य फिलासोफी, २७ एवं आगे; सांख्यतत्त्व-कौमुदी का अनुवाद, ५३१।

[4] मैक्समूलर, सेबुई, २. ४१ और डायसन, ज्रेख-त्सिग उपनिषद्स् ३०४-ये कपिल को आचार्य नहीं मानते; डायसन ने कपिल ऋषि का अनुवाद कपिल वर्ण का ऋषि (हिरण्यगर्भ के संदर्भ में) किया है।

कपिवन भौवायन—ये एक आचार्य हैं : मैसं, १. ४. ५; कासं, ३२. २; पंविब्रा, २०. १३. ४। कपिवन के "द्व्यह" (दो-दिन के) यज्ञ का काश्रौसू २५. २. ३ में उल्लेख है। तु० आश्रौसू, १०. २। तु०—वेबर, इस्तू० १. २४; ३. ४७३; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५५. टि० २; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मियोलोगी, २. १५७।

कपोत—"कबूतर"। ऋग्वेद-काल से ही कपोत का उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ३०. ४; अवे, २०. १३५. १२; मैसं, ३. १४. ४; वासं २४. २३, ३८। कुछ स्थलों पर **उलूक** के साथ इसे निर्ऋति (दुर्भाग्य) का दूत कहा गया है : ऋ० १०. १६५. १–५; अवे, ६. २९. २। कपोत के अपशकुन का आधार कोई प्राचीन अन्धविश्वास है, जो भारत के बाहर भी दूर तक फैला हुआ मिलता था। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, २५३; तु०—त्सिमर, आले०, ८९; वोबू।

कफोड—द्र०—**शरीर**।

कबन्ध—द्र० **शरीर**।

कबन्ध आथर्वण—बृउ० ६. ७. १ में **सुधन्वन् आङ्गिरस** के साथ एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है; किंतु ये अर्धपौराणिक प्रतीत होते हैं। उनके पुत्र का नाम **विचारिन् काबन्धि** है। तु०—गोब्रा, १. २. ९, १८; हिल्लेब्रांड्ट, वैदिश्शे मिथो०, २. १७६. टि० ४; वेबर, इन्दीन लितरात्यूर, १४९।

कम्—तु० 'अन्नं वै कम्' ऐ० २१; 'सुखं वै कम्' गो० उ० ६. ३;

कमण्डलु—जलपात्र के अर्थ में ब्राह्मणों में आया है तैब्रा, ३. ९. ११. ४; २. ७. ९. ३। तु०—**उदकमण्डलु**।

कमद्यू—ऋग्वेद १०. ६५. १२ में **विमद** की पत्नी का नाम है। संभवतः वह **पुरुमित्र** की कुमारी (योषा) दुहिता है। ऋग्वेद १. ११७. २०; १०. ३९. ७ में **विमद** के साथ उसका उल्लेख है, जिसनेउस के पिता की इच्छा के विपरीत उसे अपनी पत्नी बना लिया था। तु०—त्सिमर, आले, ३१०।

कमल—अथर्ववेद ८. ६. ९ में एक बार कमल शब्द आया है—"तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमंजिवम्"। इसका अर्थ संदिग्ध है। भाष्यकार के अनुसार यह गर्भद्वार का बोधक है। तु०—ह्विटनी, ट्रा० अ० वे०, २. ४९५।

कम्बल—अथर्ववेद १४. २. ६२. ६७ में ऊनी कम्बल का उल्लेख है। द्र०—निरुक्त, २. २।

कम्बोज—यास्क ने निरुक्त २. २ में **कम्बोजों** की भाषा को अन्य आर्यों से भिन्न कहा है। **कम्बोज** लोग बाद में सिन्धु के उत्तर-पश्चिम में बसे थे। प्राचीन पारसी शिलालेखों में उन्हें **कम्बुजिय** कहा गया है। वंश-ब्राह्मण में **मद्रगार** के शिष्य का नाम **काम्बोज औपमन्यव** है।[1] इससे ज्ञात होता है कि **मद्रों**, विशेषतः **उत्तर-मद्रों** से उनका संबन्ध रहा था।

कयाशुभीय—सामविशेष। 'अगस्त्यस्य कयाशुभीयं शस्यम्' तां० ९. ४. १७.

कयोवधि—द्र०—**ऋतुपर्ण** और **भंग्याश्विन**।

करंज—यह शब्द, जो बाद के सूत्रों में कंजा नामक वृक्ष के लिये आता है, ऋग्वेद में केवल दो बार (१. ५३. ८; १०. ४८. ८) इन्द्र के किसी शत्रु का बोधक बनकर आया है। यह कोई असुर था या मनुष्य यह निश्चित नहीं है। द्र०—त्सिमर, आ० ले० ६३, लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४९; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलोगी, ३. २९२।

करंजह—ऋग्वेद १०. ४८. ८ में करंजह किसी वृत्र-सहायक का नाम है; **पर्णय** के साथ इन्द्र ने उसका वध किया था। तु०—**करञ्ज**।

करंब—आज्य-मिश्रित सत्तू। 'विश्वेषां वा एतद्देवानां रूपं यत् करम्वाः' तैं० ३. ८. १४. ४; द्र० **करम्भ**।

करम्भ—यह जौ मिलाकर बनाया एक हविर्द्रव्य (सत्तू, लप्सी) है, जो **पूषन्** को विशेष रूप से दिया जाता है: ऋ० १. १८७. १६; ३. ५२. ७; ६. ५६. १; ६. ५७. २; ८. १०२. २; अवे ४. ७. २, ३; ६. १६. १; तैसं, ३. १. १०. २; ६. ५. ११. ४ आदि; शब्रा, २. ५. २. १४; ४. २. ४. १८.[2] **पूषा** दन्त-रहित देवता है, इसलिये उनकी लप्सी को विशेष प्रकार से पकाया जाता था; साथ ही पूषा कृषि और पशुओं के देवता हैं इसलिये उन्हें ऐसी लप्सी फबती भी है। यह करम्भ **उपवाक** (इन्द्रयव) और **तिर्य** (तिल) से भी बनाया जाता था।

---

[1] इस्तू, ४. ३७२। तु०—त्सिमर, आले०, १०२; वेबर, इन्दिश्शे स्त्राइफन, २. ४९३; ३. ३८४; इस्तू, १०. ७; एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल, ४५; मैक्समूलर, त्सादामौगे० ७. ३७३; याकोबी, जराएसो० १९०९, ७२१ एवं आगे; १९१०, ४५७ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, वही, १०. ९५ एवं आगे; कीथ, वही, ११०० एवं आगे; केनेडी, वही, ११०७ एवं आगे; द्र० **पर्शु**।

[2] तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ३१७; एगलिंग, सेबुई १२. ३९५ टि० १।

(वासं १९. २२; अवे, ४. ७. ३,)[1] यवपिष्ट आज्यसंयुत सत्तू। 'पूष्णः करम्भः' तै० १. ५. ११. ३; 'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भभाग्' कौ० ६. १३; 'ते देवाः सर्पेभ्य आश्रेषाभ्य आज्ये करम्भं निरवपन्। तान् (असुरान्) एताभिरेव देवताभिरुपानयन्' तै० ३. १. ४. ७।

करस्न—कुछ स्थलों पर करस्न शब्द बाहु (मुट्ठी ?) के अर्थ में आया है : ऋ० १. १६१. १२; ६. १९. ३; ३. १८. ५; निघण्टु, २. ४; निरुक्त, ६. १७।

करिक्रत—अथर्ववेद १०. ४. १३, (पैप्पलादशाखा में कनिक्रद्) में यह त्सिमर के अनुसार सर्प-विशेष का बोधक है। आ० ले०, ९५।

करीर—यह पत्र-रहित करील का बोधक है, जिसका उल्लेख तैसं २. ४. ९. २, कासं ११. ११; ३६. ७ और शब्रा २. ५. २. ११ में आता है।

करीष—शब्रा २. १. १. ७ में सूखे गोबर का बोधक है। अवे० ३. १४. ३. ४; १९. ३१. ३ में पशुओं के गोबर की खाद को खेतों के लिए उपयोगी बताया गया है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २३६।

करूकर—द्र०—शरीर।

करूळती—ऋग्वेद ४. ३०. २४ में करूळती एक कृत्तदन्त देव का नाम है। सायण के अनुसार कृत्तदन्त पूषा अभिप्रेत है। तैसं २. ६. ८. ५ के अनुसार पूषा दन्त रहित हैं—'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'। द्र०—निरुक्त, ६. ३१।

(१) कर्कन्धु—यह बदर या बेर का नाम है : कासं, १२. १०; मैसं, ३. ११. २; वासं १९, २३; १९. ९१; २१. ३२; २४. २; शब्रा, ५. ५. ४. १०; १२. ७. २. ९; १२. ९. १. ५; जैब्रा, २. १५६. ५। वासं २४. २ में लाल (रोहित) बेर का उल्लेख है। द्र०—कुवल और बदर। तु०—त्सिमर, आ० ले० २४२।

(२) कर्कन्धु—ऋग्वेद १. ११२. ६ में अश्विनों के एक कृपापात्र हैं। कर्कन्धु के ऋग्वेद में मिलने से यह माना जा सकता है कि कर्कन्धु या बेर फल ऋग्वेद काल में ज्ञात था। तु० 'यत् स्नेहस्तत् कर्कन्धु' श० १२. ७. १. ४।

कर्करि—एक वाद्य-यन्त्र, (संभवतः वीणा) ऋग्वेद-काल से ही ज्ञात है : ऋ० २. ४३. ३; अवे ४. ३७. ४; तु०—२०. १३२. ३, ८। मैसं ४. २. ९ में कर्करिकर्णी गौओं का उल्लेख है; (कर्करिकर्णी-कर्करि के चिह्न से युक्त कर्णवाली)। तु०—डेलब्रुक, गुरुपूजा-कौमुदी, ४८, ४९; त्सिमर, आ० ले०, २८९।

कर्की—अथर्ववेद ४. ३८. ६, ७ में कर्की शब्द आता है। राथ के अनुसार इसका अर्थ 'श्वेत गौ' है। द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, ४१४।

कर्णक—'पशवो वै कर्णकाः' श० ९. २. ३. ४०.

कर्णशोभन—'कर्ण का आभूषण'। ऋग्वेद ८. ७८. ३ में स्पष्टतः मनुष्यों के उपयोग के लिए 'कर्णशोभन' का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद १. १२२. १४ (द्र०—१. ६४. १० भी) में किसी देवता को स्वर्णिम कर्ण वाला कहा गया है। हापकिन्स के अनुसार कर्ण आभूषण का प्रयोग ग्रीवा आदि के आभूषणों के अनन्तर प्रारम्भ हुआ था[1]।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६२।

कर्णश्रवस् आङ्गिरस—पंब्रा १३.११.१४ में एक सामद्रष्टा ऋषि का नाम कर्णश्रवस् आंगिरस है। दावसु जैसी ही कथा उनके बारे में कही गई है।

कर्मदेव—तैउ २. ८ में आजानज देवों (जन्मना देवों) के सौ आनन्द को कर्मदेवों (कर्म से देवत्व प्राप्त करने वालों) के एक आनन्द के बराबर कहा गया है :—'ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः'। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि वैदिक युग में जन्मना महान् होने की अपेक्षा कर्मणा महान् होने को अधिक श्रेयस्कर माना जाता था।

कर्मार—'लोहकार'। वैदिक साहित्य में कर्मार शब्द का प्रयोग आम है : ऋ० १०. ७२. २; अवे, ३. ५. ६; कासं, १७. १३; मैसं २. ९. ५; वासं, १६. २७; ३०. ७; तु०—ऋ० ९. ११२. २; तैब्रा ३. ४. ३. १)। अवे० ३. ५. ६ में धीवानः (मत्स्यमारक) और रथकाराः (रथ बनाने वालों) के साथ कर्मार का उल्लेख है; ये कुशल कारीगर (मनीषिणः) कहे गये हैं।[2] संभवतः ऋग्वेदकाल में पारस्परिक सहयोग पर आधृत आर्य जातियों में कर्मार वर्ग का विकास हो रहा था[3]।

---

[1] किंतु द्र० ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३७७; ह्विटनी, ट्रां० अवे १५५; तु०—त्सिमर, आ० ले० २७०।

[1] जअओसो०, १७. ३५;

[2] द्र०—त्सिमर, आ० ले० २५२; ब्लूमफील्ड, हिम्म आ० दि अ० वे०, १४४; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ९२, ये यहाँ पर 'चतुर' रथकार ही अर्थ करते हैं; किंतु धीवान् का अर्थ धीवर या मत्स्यमारक ही अपेक्षित है।

[3] द्र०—फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुंग, १८२।

कर्मार के उपकरणों के संबन्ध में बहुत कम ज्ञात है। निःसंदेह वह लोहे को गलाता था, जिससे उसे **ध्मातृ** कहा गया है : ऋ० ५. ९. ५। पक्षियों के परों से बनी उसकी धौंकनी का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० ९. ११. २। वह 'घर्म अयस्मय' या धातुओं के पात्र बनाता था, जो अग्नि पर चढ़ाए जा सकते थे : ऋ० ५. ३०. १५। सोम के पात्र भी कभी-कभी धातु के (अयोहत) बनाए जाते थे : ऋ० ९. १. २। तु०–त्सिमर, आ० ले०, २५२, २५३; वेबर, इस्तू, १७. १९६ एवं आगे; ऊबर देन राजसूय, १९ एवं आगे।

कर्वर—अथर्ववेद १०. ४. १९ में **पौंजिष्ठ** या **मत्स्यमारक** द्वारा पकड़ी जाने वाली किसी मछली का नाम है। द्र०–त्सिमर, आ० ले०, ९६; ह्विटनी, ट्रां० अवे ५७८।

कर्षू—शब्रा १. ८. १. ३; १३. ८. ३. १० में हल से धरती में निकाले जानेवाले 'खूड़' (=सीता) के लिये इस शब्द का प्रयोग मिलता है। द्र०–श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, २३८।

कलविङ्क—यजुर्वेद एवं परवर्ती काल में एक पक्षी (गौरैया) का नाम है : तैसं, २. ५. १. २; मैसं, ३. १४. १; कासं, १२. १०; वासं, २४. २०. ३१; शब्रा, १. ६. ३. ६; ५. ५. ४. ५; जैब्रा, २. १५४. ३। तु० 'अथ यत् सुरापाणं (विश्वरूपस्य मुखम्) आस ततः कलविङ्कः समभवत् तस्मात् सोऽभिमाद्यत्क इव वदत्यभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति, श० १. ६. ३. ४; तु० त्सिमर, आ० ले०, ९१।

कलश—ऋग्वेद-काल से ही घड़े के लिए आम रहा है, जो मिट्टी, या खोखले बड़े फल, या खोखले काठ का बनता था : ऋ० १. ११७. १२; ३. ३२. १५; ४. २७. ५; ४. ३२. १९; अवे ३. १२. १७; ९. १. ६; ९. ४. १५; १८. ४. १३; तु०–१०. ३२. ९। मिट्टी के पके और कच्चे दोनों प्रकार के घड़ों का उल्लेख मिलता है : अवे० ४. १७. ४; तैसं, १. १. ८. १; ४. १. ५. ४; ५. १. ७. २; वासं १. २२; ११. ५९। लकड़ी के बने सोम-कलश या द्रोण-कलश का प्रायः उल्लेख यज्ञ-प्रसङ्गों में मिलता है। द्र० **कोश**। तु०–त्सिमर, आले०, २५३; एगलिंग, सेबुई २६. २५७; अर्टेल, ट्रांजैक्शन्स०, १५. १८५ टि० ३; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलोगी, १. १८३ एवं आगे।

कला—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में एक अंश या भेद के अर्थ में कला शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका प्रायः शफ (=है) के साथ उल्लेख है : ऋ० ८. ४७. १७; अवे ६. ९६. ३; १९. ५७. १; तैसं, ६. १. १०. १; मैसं, ३. ७. ७; शब्रा, ३. ३. ३. १; १२. ८. ३. १३ आदि; नि० ११. १२ तु०–हापकिन्स, जअओसो०, १६. २७८; त्सिमर; आले०, २५०।

१. कलि—द्र० **अक्ष**।

२. कलि—द्र०–**युग, त्रेता, द्वापर, कृत**। तु० 'कलिः शयानो भवति' ऐ० ७. १५; एष वा अयानभिभूर्यत् कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति' श० ५. ४. ४. ६.

कलि—ऋग्वेद में दो स्थानों पर (१. ११२. १५; १०. ३९. ८) **अश्विनों** के कृपापात्र एक व्यक्ति के लिए; एक स्थान पर (८. ६६. १५) बहुवचन में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। बहुवचन में उद्दिष्ट व्यक्ति पहले से भिन्न हैं। अथर्ववेद १०. १०. १३ में इनका उल्लेख गंधर्वों के साथ है। ये **कलि** द्यूत से संबद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अथर्ववेद के अनुसार गंधर्व-पत्नियों की द्यूत-क्रीडा में रुचि रहती थी, और वे जुआरियों को भाग्यवान् बनाती थीं। द्र० मैकडानल, वेदिक माइथोलजी १३५. हापकिन्स, जअओसो०, १७. ८९; लुड्विग, ऋ०, ३. १६३।

कल्प—तैआ २. १० में यह शब्द **कल्पसूत्रों** का बोधक है। यज्ञ-विधि-निरूपक सूत्रों के संग्रह का नाम कल्प है। कल्पसूत्र में श्रौत्रसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आते हैं। यद्यपि प्राप्त कल्पसूत्रों का समय बहुत बाद का है, किंतु कल्प का उल्लेख अथर्ववेद-काल से ही मिलता है : अवे, ८. ९. १०; २०. १२८. ६; ऐब्रा ७. ५; तैआ, १. ३१. २; साविब्रा० १. ३. ८; शब्रा २. ४. ३. ३; गोब्रा १. १. २४ आदि। तु० 'प्राणा वै कल्पाः' श० ९. ३. ३. १२.

कल्पिन्—द्र०–**अक्ष**।

कल्मलीकिन्—ऋग्वेद २. ३३. ८ में आने वाला यह शब्द निघण्टु १. १७ और सायण-भाष्य के अनुसार "ज्वलन्त्" के अर्थ में आया है।

कल्माषग्रीव—अथर्ववेद ३. २७. ५ में एक सर्प का विशेषण कल्माषग्रीव (काली गर्दन वाला) है। पैप्पलाद शाखा में कुल्माषग्रीव पाठ है। द्र०–अवे १२. ३. ५९; तैसं ५. ५. १०. २; तु० त्सिमर, आले० ९४, ९५।

१. कल्याण—पंब्रा० १२. ११. १० में किसी आङ्गिरस ऋषि का नाम है, जिन्होंने **और्णायव** साम को देखा था। तु०–हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंण्ड साइंसेज, १५. ६८. टि० २।

२. कल्याण—कल्याण शब्द ऋग्वेद-काल से ही 'स्वस्ति' अर्थ में आया है। "कल्याणी जाया" जैसे वाक्यांश भी मिलते हैं। द्र० ऋ० ३. ५३. ६; ४. ५८. १०; १०. ३०. ५; शब्रा १४. ७. २. ५; कल्याणतरं रूपम्:—शब्रा १४. ७. २. ५, कल्याणी वाक्:—वासं २६. २; कल्याण:—ऋ० १. ३१. ९ आदि।

कवच—वर्म या 'वक्ष:स्थल-रक्षक' का वाचक : यह शब्द अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है अवे० ११. १०. २२; शब्रा०, १३. २. २. ७; ऐब्रा, ७. १९. २; नि० ५. २५; शब्रा, १३. १. ६. ३; १३. ४. १. ५; ऐब्रा, ३. ४८; वासं, १६. ४५। कोई ऐसा उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर इसे धातु-निर्मित कहा जा सके; किंतु ऐसा होना संभव था (द्र०—**वर्मन्**)। अथर्ववेद ११. १०. २२ में कवच-पाश का उल्लेख है जो संभवत: हेरोडोटस द्वारा उल्लिखित सन के कवच रहे हों। द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आदि अवे०, १२९; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ६५९, जिसमें केवल पुरुष के कवच का उल्लेख है।

कवष—ऋग्वेद के एक सूक्त ७. १८. १२ में **कवष** एक ऐसे व्यक्ति का नाम है, जिसे **इन्द्र** ने **तृत्सुओं** की रक्षा के लिए **द्रुह्युओं** के राजा के साथ पराजित किया था। अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के कुछ सूक्तों (जिनमें १०. ३२, ३३ भी हैं) के ऋषि **कवष** कहे गए हैं, जिनमें राजा **कुरुश्रवण** और उसके वंशज **उपमश्रवस्** का उल्लेख है। कोई कारण नहीं कि इस बात को अस्वीकार किया जाय; त्सिमर[1] और गेल्डनर[2] भी इसे स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि **कवष कुरुओं** और **क्रिवियों** के संयुक्त गण **वैकर्ण** के पुरोहित थे; और वे ऋग्वेद के अनुसार इस गण के प्रतिनिधि थे। त्सिमर का यह भी मत है कि ऋग्वेद १०. ३३. ४ की समुचित व्याख्या तभी की जा सकती है, जब **तृत्सुओं** द्वारा **कुरुओं** और **क्रिवियों** की पराजय के तथ्य को ध्यान में रखा जाय। किंतु दूसरी ओर लुड्विग मानते हैं कि **कवष पञ्चजनों** के पुरोहित थे[3]। गेल्डनर की धारणा है कि **कवष कुरुश्रवण** के पुरोहित थे, जिनके पुत्र **उपमश्रवस्** ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया था, और तब उन्होंने अपने आश्रयदाता के क्रोध के विषय में इस सूक्त (ऋ० १०. ३३) की रचना की थी[4]। हापकिन्स का विचार है कि **कवष** एक राजा थे[5]। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में **कवष** **ऐलूष** का उल्लेख है, जिन्हें दासीपुत्र बताया गया है और अन्य ऋषियों ने इसीलिए उन्हें ताना मारा था : ऐब्रा० २. १९. कौब्रा १२. १. ३। संभवत: वे ऋग्वेद के ही **कवष** हैं।

१. कवि—ऋग्वेद १. ११६. १४ में कवि **एक** ऋषि का नाम है, जिन्हें **अश्विनोंने** दृष्टि प्रदान की थी। वेंकट माधव ने इन्हें **काव्य उशनस्** का **वैल्वनामक** पिता माना है; स्कन्दस्वामी ने इन्हें **मेधावी कण्व** माना है, किंतु सायण ने केवल एक 'अन्धा ऋषि' यह लिखा है। द्र०—लक्ष्मणसरूप, ऋगर्थदीपिका, १. ६१४।

२. कवि—वैदिक साहित्य में कवियों का व्यक्तित्व अत्यन्त आदरणीय है। वे ऋतपालक एवं देवों के सहचर कहे गए हैं—"त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावान: कवय: पूर्व्यास:" (ऋ० ७. ७६. ४)। ईशावास्योपनिषद् ८ में परम ब्रह्म को "कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:" कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण १. ४. २. ८ में कवि को ऋषि कहा गया है :—"ऐते वै कवयो यदृषय:"। कवि का उल्लेख कई रूपों में एवं आलंकारिक भाषा में किया गया है : ऋ० १. ९१. १४; १. २. ९; १. ११. ४; १. ९५. ८; तैसं, ४. ३. ११. ३; वासं २८. ३०; २८. ३४; अवे ८. १७; ६. ४७. ३ आदि। तु० 'ये वैते न ऋषय: पूर्वे प्रेतास्ते वै कवय:' ऐ० ६. २०; 'ये ह वा अनेन पूर्वे प्रेतास्ते वै कवय:' गोउ० ६. २; 'असौ वा आदित्य: कवि:' श. ६. ७. २. ४.

कविक्रतु—"कवि के समान शक्ति वाला"। यह अग्नि, सोम आदि का विशेषण है : ऋ० १. १. ५; ३. २. ४; ३. १४. ७; ३. २७. १२; ९. ९. १; ९. २५. ५; ९. ६२. १३; वासं, ४. २५।

कव्य—पितृदेवत्य हवि के अर्थ में कुछ स्थलों पर आया है। द्र०—ऋ० १०. १५. ९, शांश्रौसू, ६. १२. ९ आदि। द्र० **कव्यवाहन**।

कव्यवाहन—कव्य का वहन करने के कारण अग्नि को **कव्यवाहन** कहा गया है : वासं २. २९; १९. ६४; अवे १८. ४. ७१। तैसं के अनुसार तीन अग्नि हैं—**हव्यवाहन** देवों के लिए, **कव्यवाहन** पितरों के लिए और **सहरक्षा** असुरों के लिए :—'त्रयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां, कव्यवाहन: पितृणां, सहरक्षा असुराणाम्' : तैसं, २. ५. ८. ६; तु०—शब्रा, २. ६. १. ३०; गृह्यसंग्रह, १. ९।

---

[1] आलें०, १२७। [2] वैस्टू, २. १५०।
[3] द्र०—ऋ० ३. १३९)। [4] द्र०—वैस्टू, २. १५०।
[5] जअओसो०, १५. २६१, २६३। तु०—वेबर, इस्टू ३. ४५९; लानमान, संस्कृत रीडर, ३८६, ३८७; पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, ५०।

कश—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूचियों में एक अज्ञात पशु का नाम कश है।

द्र० तैसं, ५. ५. १७. १; ५. ५. १८. १; वासं, २४. २६; २४. ३८; मैसं, ३. १४. ७ : तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८४।

कशा—अश्व को हाँकने के कोड़े का नाम है—'रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्' : द्र० ऋ० ५. ८३. ३; द्र०—ऋ० १. २२. ३; १. ३७. ३; १. १६८. ४. अवे ९. १. ५ आदि; त्रिकश रथ, ऋ०, २. १८. १।

कशीका—ऋग्वेद १. १२६. ५ में एक पशु का नाम है। सायण ने इसका अर्थ नकुल या नेवला किया है। फिक के अनुसार यह ऊदबिलाव की जाति का कोई पशु है[1]। गेल्डनर ने इसे एक विशेष प्रकार का नेवला माना है, जो मगर के अंडों को नष्ट कर देता है[2]।

कशिपु—अथर्ववेद ६. १३८. ५ में स्त्रियों द्वारा नड या नरकट से बनाई चटाई या उपधान का नाम है। स्त्रियाँ नरकट को पत्थर से कूट कर उपयोग के अनुकूल बनाती थीं। दूसरी ओर शब्रा १३. ४. ३. १ में स्वर्ण-निर्मित **कशिपु** का उल्लेख है।

कशु—ऋग्वेद ८. ५. ३७ में एक राजा का नाम **कशु** है, जिसका पैतृक नाम **चैद्य** है, और जो **चेदि-वंश** का है। ऋषि ने उसे उदार आश्रयदाता के रूप में चित्रित किया है। न तो इस राजा का और न **चेदियों** का ही वैदिक साहित्य में अन्यत्र उल्लेख मिलता है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, १२९।

कशो-जू—ऋग्वेद १. ११२. १४ में **कशो-जू** या तो किसी व्यक्ति का नाम है, या **दिवोदास** का विशेषण है। शब्द का अर्थ अनिश्चित है।

(१) कश्यप—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में कूर्म या कछुआ का बोधक है : अवे, ४. २०. ७; मैसं, ३. १४. १८; वासं २४. ३. ३७; शब्रा ७. ५. १. ५; ऐब्रा, २. ६। तु० वेबर, इस्तू, १८. ८६; ब्लूमफील्ड, अजफि०, १७. ४०३।

(२) कश्यप—एक ऋषि का नाम है। ऋग्वेद ९. ११४. २ में इनका उल्लेख है। सावे, १. १, २, ४. १०; १. ४, २, ३. २; वोब्रू के अनुसार 'प्रजापति' अर्थ है : अवे १. १४. ४; २. ३३, ७; ४. २०. ७; ४. २९. ३; ४. ३७. १; मैसं ४. २. ९; वासं, ३. ६२। उन्हें सर्वत्र प्राचीन-काल का बताया गया है और उनका चरित्र पुराकल्पनात्मक प्रतीत होता है : ऐब्रा ८. २१; शब्रा, १३. ७. १. १५ के अनुसार उन्होंने **विश्वकर्मन् भौवन** राजा का अभिषेक किया था। उपनिषदों में उन्हें ऋषि कहा गया है : बृउ, २. २. ६, जैब्रा, ४. ३. १। ऐब्रा ७. २७ में कश्यप का उल्लेख **जनमेजय** के संदर्भ में आया है। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ४२. २३५ टि० १।

कश्यप नैध्रुवि—शब्रा० की अन्तिम वंश-सूची में इन्हें एक आचार्य के रूप में बताया गया है। द्र० बृउ, ६. ४. ३३. (माध्यंदिन=६. ५. ३ काण्व)।

कष्कष—अथर्ववेद ५. २३. ७ में एक कीट का नाम है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९८।

कसर्णील—अथर्ववेद १०. ४. ५ में एक प्रकार के सर्प का नाम है। तैसं १. ५. ४. १ में भी **कसर्णीर** के रूप में यह शब्द एक ऋषिभूत (कसर्णीर काद्रवेय का) बोधक है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९८; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६०७।

कस्तम्भी—शब्रा १. १. २. ९ में गाड़ी की ईषा को टेकने के लिए लगाए जाने वाली लकड़ी के टुकड़े का नाम है। तु०—कैलेंड और हेनरी, ल् अग्निष्टोम, ४९; एगलिंग, सेबुई बु० १२. १४. टि० १।

कहोड कौषीतकि, या कौषीतकेय—ब्राह्मणों में यह नाम **याज्ञवल्क्य** के समकालीन आचार्य का है। तु०—**काहोडि**। द्र० शब्रा, २. ४. ३. १; बृउ, ३. ५. १; शाआ, १५।

काकम्बीर—ऋग्वेद ६. ४८. १७ में एक उपयोगी वृक्ष का नाम है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ६२।

काकुद्—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर काकुद् शब्द तालु के अर्थ में आया है : ऋ० १. ८. ७; ६. ४१. २; ८. ५८. १२।

कात्तसेनि—पंब्रा १४. १. १२ में **अभिप्रतारिन्** का पैतृक नाम है।

काक्षीवत—द्र०—**नोधस्**। सामविशेष। 'काक्षीवान् वा एतेनौशिजः प्रजातिं भूमानमगच्छत्। प्रजायते बहुर्भवति काक्षीवतेन तुष्टुवानः' तां० १४. ११. १७।

[1] बेत्सनबेर्गर बाइट्रागे, ३. १६५; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, २४७; त्सिमर, आ० ले० ८४; हापकिन्स, जअओसो, १७. ५७।

[2] ऋग्वेद, ग्लोस्सर, ४४।

काट—ऋग्वेद १. १०६. ६ और अथर्ववेद १२. ४. ३ में काट शब्द कूप या गर्त के अर्थ में आया है।

काठक—निरुक्त १०. ४ में कृष्णयजुर्वेद की कठ-शाखा का नाम है। अनुपद-सूत्र ३. ११; ७. ११ में भी यह नाम आता है। आरम्भ में काठक-संहिता का प्रकाशन एल० फोन श्रोडर ने किया था।

काण्ठे-विद्धि—'कण्ठेविद्ध का वंशज'। वंश-ब्राह्मण में एक आचार्य का नाम है। तु०—इस्तू ४. ३८२।

काण्ड—खण्ड के अर्थ में आया है। अथर्ववेद १२. ३. ४२ में आता है कि स्वर्ग तीन काण्डों से तीन स्वर्गों पर चढ़ गया तु०—१२. ३. ४५। ऐब्रा ३. ३३ में 'इषु त्रिकाण्डा' का उल्लेख है। (तु०—शब्रा, २. १. २. ९)। अथर्ववेद २. ७. ३ में दूर्वा की गाँठों को कांड कहा गया है। शतकाण्ड अवे १९. ३२. १ और सहस्रकाण्ड अवे १९. ३२. ३; २. ७. ३ का उल्लेख मिलता है।

काण्डवीणा—कासं ३४. ५ में नरकट के पोरों से बने हुए वाद्य-विशेष का नाम है, जो महाव्रत के अवसर पर बजाया जाता है।

काण्डूवय—जैउब्रा ३. १०. २ में एक उद्‌गाता के रूप में इनका उल्लेख है।

काण्व—द्र०—**कण्व**। **देवातिथि, मेधातिथि** और **वत्स** कण्व वंश के प्रमुख व्यक्ति हैं। सामविशेष; 'वयमु त्वा तदिदर्था इति काण्वम्' तां० ९. २. ५; 'एतेन वै कण्व इन्द्रस्य सांविद्यमगच्छत्' तां० ९. २. ६।

काण्वायन और काण्व्यायन—'कण्व का वंशज', 'काण्व्य का वंशज'। ये दोनों पैतृक नाम ऋग्वेद ८. ५५. ४ और षब्रा०[१] में आये हैं।

काण्वी-पुत्र—बृउ० में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में **कापीपुत्र** के शिष्य का नाम **काण्वीपुत्र** है। द्र० बृउ, ६. ५. १।

कातीय—कल्पसूत्रों की एक शाखा कातीय है। वेबर ने गृह्यसूत्र का उल्लेख किया है। तु०—वेबर, इन्दीन लितरात्यूर १३८।

कात्यायन—प्रातिशाख्य, अनुक्रमणी और कल्पसूत्र के एक प्रसिद्ध आचार्य हैं।

कात्यायनि—द्र०—**दक्ष**।

कात्यायनी—बृउ० २. ४. १; ४. ५. १, २ में **याज्ञवल्क्य** की दो पत्नियों में से एक का नाम **कात्यायनी** है। एक **कात्य** का उल्लेख बौश्रौसू २. १५ में है। तु०—वेबर, इं० लि०, १३८।

कात्यायनीपुत्र—काण्वशाखीय बृउ० ६. ५. १ में **गौतमीपुत्र** और **कौशिकीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य **कात्यायनीपुत्र** का उल्लेख है। शांआ ८. १०. में **जातूकर्ण्य कात्यायनीपुत्र** का उल्लेख एक आचार्य के रूप में है। तु०—वेबर, इं० लि०, १३८।

काद्रवेय—ऐब्रा० ६. १ और कौब्रा० २९. १ में **अर्बुद** नामक ऋषि का पैतृक नाम **काद्रवेय** ('**कद्रू** का वंशज') है। द्र० शब्रा, १३. ४. ३. ९।

कानान्ध—बौश्रौसू० २१. १० में **वध्र्यश्व** के पुत्र का नाम है।

कानीत—ऋग्वेद ८. ४६. २१, २४ में **पृथुश्रवस्** का पैतृक नाम है। तु०—शाश्रौसू, १६. ११. २३।

कानीन—अथर्ववेद ५. ५. ८ में 'कन्या से उत्पन्न पुत्र' का नाम **कानीन** है। द्र०—**पति**। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३३४।

कान्दम—तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७. ११ में **एकयावन** कान्दम नामक व्यक्ति का उल्लेख है। पंब्रा २१. १४. २० में **गान्दम** नाम आया है।

कान्दाविष—अथर्ववेद १०. ४. २२ में एक विष का नाम है। तु०—**कनक्नक**।

कापटव सुनीथ—वंब्रा० में **सुतेमनस् शांडिल्यायन** के शिष्य **कापटव सुनीथ** का उल्लेख है। तु०—इस्तू, १. २१६ इं० टि०, ४३३।

कापिलेय—**कापिलेयों** और **बाभ्रवों** का उल्लेख ऐब्रा ७. १७ में है। इन्हें **देवरात वैश्वामित्र** का वंशज बताया गया है, जो **शुनःशेप** का नाम है। तु०—इस्तू, १. २१६ टि० ४३३।

कापिवन—कापिवन द्विरात्र। 'एतेन वै कपिवनो भौवायन इष्ट्वाऽरूक्षतामगच्छत् अरूक्षो भवति य एवं विद्वानेतेन यजते' तां० २०. ३०. ४-५.

कापिष्ठल—कृष्ण यजुर्वेद की एक उपशाखा कापिष्ठल है। कपिष्ठल-कठ-संहिता मिलती है।

कापीपुत्र—**कापी** का पुत्र। काण्वशाखीय बृउ० ६. ५. १ के आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में **आत्रेयी-पुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम **कापीपुत्र** है।

कापेय—'कपि का वंशज'। कासं १३. १२ और पंब्रा २०. १२. ५ में **कापेयों** को **चित्ररथ** का पुरोहित

[१] द्र०—इस्तू १. ३८; सायणभाष्य, ऋ० १. ५१. १ और ८. २. ४० पर।

बताया गया है। द्रष्टव्य **शौनक**। तु०—हापकिन्स, ट्रांजै-क्शन्स, १५. ५२, ५३; हिल्लेब्रांड्ट, वै० मिथो०, २. १५७।

काप्य—'कपि का वंशज'। जैब्रा० ३. २३३ में **विभिन्दुकीयों** के सत्र में काम करने वाले दो कल्पित व्यक्तियों (**सनक** और **नवक**) का पैतृक नाम **काप्य** है। बृउ० ३. ३. १; ३. ७. १ में **पतंचल** का भी यही पैतृक नाम है। द्र०—**कैशोर्य**। तु०—वेबर, इं० लि०, १२७, १३७।

काबन्धि—'कबन्ध का वंशज'। गोब्रा १. २. ९. १८ में **विचारिन्** का पैतृक नाम काबन्धि है।

काम—काम का महत्त्व वैदिक साहित्य में भी वैसा ही है, जैसा कि परवर्ती साहित्य में। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त १०. १२९. ४ में काम के उद्भव का उल्लेख है—"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"। अथर्ववेद ९. २. १९ में भी काम की प्रथमोत्पत्ति का वर्णन है:—"कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः"। वासं ७. ४८; २४. ३९; पागृ सू० ३. १२ में काम को दाता, अदाता सब कुछ कहा गया है—"कामो दात् कामायादात्। कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता, कामैतत्ते"। अवे ३. २५. १ के समय से ही कामबाण का उल्लेख मिलता है—"इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि"। तु० 'समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य' तैब्रा० २. २. ५. ६. 'श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि' तै. २. ८. ८. ८.

कामदुधा—"इच्छानुसार दुही जाने वाली"। वैदिक साहित्य में गौ का नाम है : वासं १२. ७२; १७. ३। अवे० ४. ३४. ८ में गौ के कामदुधा होने की प्रार्थना है—"विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु"। तु०—अवे, ८. ९. २; ९. ५. १०, २५; ११. १. २८; १२. १. ६१; १८. ४. ३३; तैसं ५. ४. २. ४ आदि

काम-प्रि—"**कामप्र** का वंशज"। ऐब्रा० ८. २१ में **मरुत्त** का पैतृक नाम काम-प्रि है। वोबू में यह सुझाव है कि शुद्ध पाठ "कामप्र" (कामपूरक) होना चाहिए, जो 'यज्ञ' का विशेषण है। तु. 'अमृतं वै कामप्रम्' श. १०. २. ६. ४.

कामलायन—"**कमल** का वंशज"। छाउ० ४. १०. १ में **उपकोसल** का पैतृक नाम है।

कामेश्वर—तैआ० १. ३१. १ में **कुबेर** को **कामेश्वर** कहा गया है।

काम्पील याजुष संहिताओं में "काम्पील-वासिनी" किसी स्त्री", संभवतः राजमहिषी-का विशेषण है, जो अश्व-मेध के समय हत पशु के साथ सोती है : तैसं, ७. ४. १९. १, मैसं, ३. १२. २०; कासं, अश्वमेध, ४. ८; वासं, २३. १८; तैब्रा, ३. ९. ६; शब्रा, १३. २. ८. ३। इस की व्याख्या एवं व्युत्पत्ति अनिश्चित है। वेबर[1] ओर त्सिमर[2] के मत में परवर्ती साहित्य में उल्लिखित **काम्पिल्य** नगर का नाम ही यहाँ अभिप्रेत है, जो बाद में मध्यदेश के पञ्चालों की राजधानी था।

काम्बोज औपमन्यव—"**कम्बोज** का निवासी", "**उपमन्यु** का वंशज"। वंब्रा० में **काम्बोज औपमन्यव** का एक आचार्य के रूप में उल्लेख है। द्र०—वेबर, इस्तू ४, ३७२, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुअल, ४५, त्सिमर, आले, १०२।

कार—ऋग्वेद ५. २९. ८; ९. १४. १ में कार शब्द घुड़दौड़ के पुरस्कार का बोधक है।

कारपचव—पंब्रा० २५. १०. २३ में यमुना के किनारे के एक स्थान का नाम है। द्र० आश्रौसू, १२. ६; शांश्रौसू, १३. २९. २५; काश्रौसू, २४. ६. १०; वेबर, इस्तू, १. ३४।

कारस्कर—बौश्रौसू २०. १३. १४; बौधसू, १. २. १४ में एवं आसू० २. २. ६. १८ तथा हिकेसू १७. ६ में एक जाति का नाम **कारस्कर** है। तु०—ब्युहलर, सेबुई, १४, ४३८; कैलेंड, त्सादामौगे ५६. ५३३।

कारि—वासं० ३०. ६, २०; तैब्रा० ३. ४. २. १ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में **कारि** का उल्लेख है, जिसे '**हास्य**' को समर्पित किया गया है। महीधर ने इसे 'करणशील' माना है, किंतु वोबू में इसे "जयजयकार करने वाला" व्यक्ति कहा गया है और प्रशंसार्थक √कृ धातु से व्युत्पन्न माना गया है।

कारीरादि—जैउब्रा० २. ४. ४ में उन व्यक्तियों का नाम **कारीरादि** है, जिनका उद्‌गीथ के संबन्ध में विशेष प्रकार का विचार है।

कारु—"कवि"। कारु शब्द प्रायः ऋग्वेद में सीमित है : ऋ० १. १४८. २; १. १६५. १२; १. १७७. ५; १. १७८. ३; २. ४३. १; ३. ३३. ८; ३. ३९. ७; ५. ३३. ७; ७. २७; ७. ६८. ९; ७. ७२. ४ आदि; मैसं,

[1] इस्तू, १. १८४, इंलि, ११४, ११५।

[2] आले, ३६. ३७। तु०—लुड्विग, ट्रां ऋ०, ३. २०४; फान श्रोडर, मैसं, १. २१; इंदीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर १६४; एगलिंग, सेबुई, ४४. ३२१, ३२२

१. ८. ७; गोब्रा, १. २. २१। इस बात के साक्ष्य विद्यमान हैं कि कारु अथवा कवि भी **भिषज्** की भांति एक पेशावर व्यक्ति था : ऋ० ९. ११२. ३। निःसंदेह कवि राजाओं के दरबार में रहते थे और उनके अनुगामी थे : ऋ० ७. ७३. १; कभी-कभी संभवतः वे धनिक वैश्यों की भी प्रशंसा करते थे। संभवतः पुरोहित और कवि में विशेष संबन्ध नहीं था। यद्यपि पुरोहित प्रायः कवि होते थे, किंतु कविता केवल पुरोहितों तक ही सीमित नहीं थी। निश्चय ही, शब्रा० १३. १. ५. १; १३. ४. ३. ५ में अश्वमेध के अवसर पर राजन्य द्वारा गाई जाने वाली गाथा का उल्लेख ब्राह्मण की गाथा के साथ है। अनुक्रमणी में ऋग्वेद के अनेक सूक्त राजाओं के कहे गए बताये गए हैं; उदाहरणार्थ, ऋग्वेद १०. ९२ के रचयिता का नाम **शार्यात मानव** है। संभवतः यह भी कुछ सीमा तक उसी प्रकार की प्रथा का परिणाम हो, जिसने शूद्रक ओर हर्ष को क्रमशः मृच्छकटिक और रत्नावली के प्रणेता का पद दिलाया है[1]। इसी प्रकार कतिपय राजाओं को भी ब्रह्म-संबन्धी सिद्धान्तों का व्याख्याता कहा गया है[2]। फिर भी भारतीय परंपरा में अब्राह्मणों का कवि होना निराली बात नहीं है। धर्मेतर कविता का बहुतम भाग नष्ट हो चुका है; क्योंकि आर्षकाव्य तो अपने वर्तमान रूप में, बाद की रचना हैं। द्र०—**ऋषि**।

कारोतर—ऋग्वेद १. ११६. ७ और परवर्ती साहित्य (वासं, १९. १६. ८२; शब्रा, १२. ९. १. २; कौब्रा २ ७) में कारोतर सुरा के छानने की चलनी का नाम है। द्र० तु०—त्सिमर, आले०, २८०।

कारोती—शब्रा० ११. ५. २. १५ में कारोती किसी स्थान या नदी का नाम है, जहाँ **तुर-कावषेय** ने सर्वोत्तम अग्नि-वेदी स्थापित की थी।

कार्त्तिक—सूत्रों में कार्त्तिक मास और कार्त्तिकी पूर्णिमा का उल्लेख मिलता है : विधसू, ९०. १६; गौधसू, १६. ३७; कौसू ७५. २; शांश्रौसू, ३. १५. १ आदि। तु०—**कृत्तिका**।

काशंकेयी-पुत्र—'काशंकेयी का पुत्र'। बृउ में आचार्यों की अन्तिम सूची में इनका नाम है। काण्वशाखा (बृउ, ६. ५. २) के अनुसार वे **प्राचीनयोगी पुत्र** के शिष्य हैं, माध्यंदिन बृउ, ६. ४. ३३ के अनुसार उनके गुरु का नाम **प्राश्नीपुत्र आसुरिवासिन्** है।

कार्ष्णायस—'काली धातु'। उपनिषदों में पाया जाने वाला यह शब्द अवश्य ही लोहे का सूचक है। द्र०—**अयस्**।

द्र० छाउ, ४. १७. ७; ६. १. ५; जैंउब्रा, ३. १७. ३; तु०—त्सिमर, आले०, ५२।

कार्ष्मन्—कार्ष्मन् का शाब्दिक अर्थ 'हलाई या लीक' है। ऋग्वेद में यह रथ की दौड़ की एक सीमा है, जिस तक पहुँच कर प्रतिद्वन्द्वी अपने स्थान पर लौट आते थे। द्र० ऋ० १. ११६. १७; ९. ३६. १; ९. ७४. ८; अवे० २. १४. ६; तु०—त्सिमर, आ० ले०, २९१, २९२।

कार्ष्मर्य—कार्ष्मर्य एक वृक्ष का नाम है, जिसका उल्लेख तैसं ५. २. ७. ३, ४; ६. २. १. ५, मैसं ३. २. ६; ३. ७. ९ और शब्रा० ३. ४. १. १६; ७. ४. १. ३७ में मिलता है। तु० 'यत्र वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे तदुदीचः कृष्यमाणस्यावाङ मेधः पपात स एष वनस्पतिरजायत तद्यत्कृष्यमाणस्यावाङ्पतत् तस्मात् कार्ष्मर्यः' श० ३. ८. २. १७; 'प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणा कर्षत् सोऽत्रोदरमत् यत्कृष्ट्वोदरमत् तस्मात् कार्ष्मर्यः' श० ७. ४. १. ३९। द्र०—त्सिमर, आ० ले०, ६२।

काल—समय के लिए सामान्य शब्द काल सर्वप्रथम ऋवे १०. ४२. ९ में आया है; यहाँ केवल एक ही बार इस शब्द का प्रयोग है, और वह भी बाद के दशम मण्डल में। अवे० १९. ५३, ५४ में काल का अर्थ 'भाग्य' के रूप में विकसित हो चुका है। ब्राह्मणों में यह शब्द प्रायः आया है, और इसने प्रारम्भिक ऋतु शब्द की जगह ग्रहण कर ली है : शब्रा, १. ७. ३. ३; २. ४. २. ४; ३. ८. ३. ३६; ७. २. २. २१ आदि। काल का सामान्य विभाग है : **भूत, भवत्** और **भविष्यत्**। द्र०—शाआ, ७. २० आदि। अन्य विभागों के लिए द्रष्टव्य **अहन्, मास, संवत्सर**।

काल शब्द समय के अर्थ में एक देवता के रूप में भी आया है। अवे १९. ५३ और १९. ५४ में काल को परमेश्वर के समान सर्वशक्तिशाली माना गया है। वह भुवनों का पोषण करने वाला है, सभी भुवनों में व्यापक है; उससे बढ़कर अन्य कोई तेजस् नहीं है : अवे १९, ५३. ४। काल ने ही द्युलोक और पृथिवीलोक की रचना की है : १९. ५३. ५; काल ने प्रजाओं की सृष्टि की है; काल ने ही पहले प्रजापति को उत्पन्न किया था : १९. ५५. १०; काल ने ही भूत और भविष्य को बनाया है;

[1] द्र० पिशल—वैस्टू, ३. २०२।

[2] द्र० वेबर, इण्डिशेस इम वेदिश्शन रितुअल, २० टि० ४; इनके अनुसार अवे० का बीसवाँ कांड क्षत्रिय-विशेषता से युक्त है। वे **विश्वामित्र** और **कक्षीवान्** को भी क्षत्रिय मानते हैं। परंतु इसके लिए प्रमाण नहीं है। तु०—**वर्ण**।

काल से ही ऋचाएँ निकली हैं और काल से ही यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई है : १९. ५३. ३। काल में पूर्ण कुम्भ (ब्रह्माण्ड) रखा है; उसे हम विविध रूपों में देखते हैं; वह सर्वत्र व्यापक है : वह परम व्योम में है, विद्वान् लोग उसे काल कहते हैं : १९. ५३. ३।

कालकवन—'कालावन'। बौधसू० १. २९; तु०—वसिधसू, १. ८ में कालकवन को आर्यावर्त की पूर्वी सीमा पर बताया गया है। संभवतः यह हरद्वार के पास कनखल के समीप का वन हो। तु०—**मध्यदेश**।

कालका—याजुष संहिताओं (तैसं ५. ५. १५. १; मैसं ३. १४. १६; वासं, २४. ३५.) में अश्वमेध की बलियों में से एक **कालका** है, जो कोई पक्षी[1] या गिर-गिट[2] हो सकता है।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९९।

कालकाञ्ज—अवे ६. ८०. २ में कालकाञ्ज को आकाश में होने वाला कहा गया है। राथ (वोबू) और त्सिमर[3] मानते हैं कि यह किसी नक्षत्र का नाम है। किंतु **कालकाञ्जों** के **इन्द्र** द्वारा पराजित किये जाने का उल्लेख भी मिलता है : कासं० ८. १; तु०—मैसं, १. ६. ९; तैब्रा, १. १. २. ४-६; कौउ० ३. १; अतः उक्त व्याख्या पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। ह्विटनी का सुझाव है कि मृगशिरा के तीन तारकों का उल्लेख है[4]। ब्लूम-फील्ड के अनुसार इनमें सामान्यतया तारकों का या आकाश-गङ्गा का संकेत है[5]।

तु०—वेबर, इस्तू, १. ४१०, ४१४ एवं आगे; ३. ४६५; अर्टल, जअओसो० १९. १२१।

कालेय—सामविशेष। '(देवाः) तेन (कालेयेन साम्ना) एतान् (असुरान्) एभ्यो लोकेभ्योऽकालयन्त यद-कालयन्त तस्मात् कालेयम्' तां० ८. ३. १.

काव—सामविशेष। 'अभि प्रियाणि पवत इति कावं प्राजापत्यं साम' तां० ८. ५. १४-१५.

कावषेय—'**कवष** का वंशज'। **तुर** का बार-बार आने वाला पैतृक नाम **कावषेय** है। ऋग्वेद-आरण्यकों (ऐआ० ३. २. ६; शांआ ८. ११,) में **कावषेयों** को दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञाता कहा गया है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३९१ टि; २. ४१८; कीथ, ऐआ, २५७।

[1] महीधर, वासं पर भाष्य।
[2] सायण, तैसं पर भाष्य।
[3] आ० ले०, ३५३।
[4] ट्रां० अवे, ३४१।
[5] हिम्स आ दि अवे ५००; जअओसो०, १५. १६३. १६९।

काव्य—'**कवि** का वंशज'। **उशनस्** का पैतृक नाम **काव्य** है : ऋ० १. ५१. ११; १. ८३. ५; १. १२१. १२; ६. २०. ११; ८. २३. १७; अवे ४. २९. ६; तैसं, २. ५. ८. ५ आदि। पंब्रा० १४. ९. १६ में **इढत्** और १३. ९. १९ में **ऊक्ष्णोरन्ध्र** का भी पैतृक नाम **काव्य** है। तु० 'ऊमा वै पितरः प्रातःसवन अर्वा माध्यंदिने काव्यास्तृतीय सवने' ऐ० ७. ३४.। तु०—हापकिन्स, ट्रां०, १५. ४८. ४९।

काश—काश कांस को कहते हैं। राथ (वोबू) के अनुसार ऋग्वेद के एक मन्त्र १०. १००. १० में यह चटाई का नाम है, किंतु यहाँ पाठ अनिश्चित है। तैआ ६. ९. १ में यह अर्थ निश्चित है।

काशि, काश्य—बहुवचन में **काशि** शब्द काशी के रहने वालों का अभिधायक है : शब्रा, १३. ५. ४. १९, २१; पैप्पलादशाखीय अवे, ५. २२. १४; और **काश्य** शब्द काशी के राजा की उपाधि है। शब्रा० १३. ५. ४. १९ के अनुसार काशी के राजा **धृतराष्ट्र** को **शतानीक सात्राजित** ने पराजित किया था; उसी समय से काशी वालों ने अश्वमेध करना छोड़ दिया था। सात्राजित **भरत** थे : **अजातशत्रु** के भी काशी-राज होने की सूचना मिलती है : बृउ, २. १. १; ३. ८. २; कौउ, ४. १ और निःसंदेह **भद्रसेन अजातशत्रव** काशी के राजा थे और **उद्दालक** के समकालीन थे।

काशी और विदेह के लोग भौगोलिक सामीप्य के कारण परस्पर संबद्ध थे। कौउ० ४. १ में "काशी-विदेह" यह समस्त पद आया है। बृउ ३. ८. २ में **गार्गी** ने **अजातशत्रु** को काशी या विदेह का राजा बताया है। शांश्रौसू १६. २९. ५ के अनुसार काशी, कोसल, और विदेह के राजाओं के यहाँ एक ही पुरोहित काम करता था। बौश्रौसू २१. १३ में काशी और विदेह की घनिष्ठता का उल्लेख है। वेबर ने इस सुझाव को पूरी तरह अस्वीकृत किया है कि काशी और विदेह मिलकर **उशीनर** बनते थे, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं के तुल्य है[1]।

कोशल और विदेह का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध था और इसीलिए "काशी-कौसल्य" यह समस्तपद भी गोब्रा १. २. ९ में मिलता है।

यद्यपि काशि बाद का शब्द है, किंतु यह संभव है कि यह नगर इससे पहले का हो, क्योंकि अवे० ४. ७.

[1] इस्तू १. २१२. २१३.

१ में **वरणावती** नदी का उल्लेख है, जिसका संबन्ध परवर्ती वाराणसी से जोड़ा जा सकता है[1]।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब काशी, कोसल और विदेह संबद्ध थे, तब कुरु—पञ्चाल लोग उनसे शत्रुता रखते थे। अतः यह निष्कर्ष साफ़ है कि इन दोनों संघों में क्षेत्रगत मतभेद था और उनकी संस्कृति भी कुछ भिन्न-भिन्न थी। शब्रा १. ४. १. १० एवं अग्रिम में इस काल की एक कथा की झलक है, जिसमें आर्य सभ्यता के कोसल और **विदेह** में फैलने का वर्णन है, तथा जिसमें ब्राह्मण-सभ्यता का केन्द्र **कुरु-पञ्चाल** को माना गया है[2] (द्र० **कुरु-पञ्चाल**)। यद्यपि यह भौगोलिक स्थिति से प्रमाणित है कि **कोसल-विदेह** पहले बसे हुए थे, तथापि उनमें ब्राह्मण-संस्कृति का समावेश **कुरु-पञ्चाल** लोगों द्वारा ही हुआ था। यह संभव है कि पश्चिम की अपेक्षा पूर्व आर्य-सभ्यता में पीछे था; और ब्राह्मणों की आध्यात्मिक श्रेष्ठता स्वीकार करने में भी यह देश उतना आगे नहीं बढ़ा था; क्योंकि पूर्व में बौद्ध धर्म का आन्दोलन उठा था और बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रिय को ब्राह्मण के ऊपर रखा गया है[3]। इससे यह बात व्यक्त हो जाती है कि परवर्ती सूत्रों में **मगध** आदि के प्रति घृणा की भावना क्यों है: काश्रौसू, २२. ४; लाश्रौसू, ८. ६. २८;[4] क्योंकि सचमुच ये प्रदेश ब्राह्मण धर्म की कट्टरता में पश्चिम से पीछे थे। इस घृणा का यह भाव वासं० के समय में भी देखा जा सकता है: ३०. ५, २२। यह संभव है कि **काशी-कोसल-विदेह** के लोग उसी शाखा के हों जो बाद में **कुरु-पञ्चाल** के नाम से ख्यात हुई; और यह भी संभव है कि वे लोग दूरी के कारण अपनी ब्राह्मण-संस्कृति को भूल गए हों। किंतु यह अनुमान कम संभव है, यद्यपि शब्रा० के उपर्युक्त आर्य-प्रस्तार की कथा से इसे समर्थन अवश्य मिल जाता है[5]।

[1] तु०—त्सिमर, आले०, २०; ब्लूमफील्ड. हिम्स आ दि अवे, ३७६.

[2] तु०—वेबर, इस्तू, १. १७०. एवं अग्रिम; एगलिंग, सेबुई, १२. ४२ एवं आगे, १०४ टि० १।

[3] द्र०—फिक, दी सोशयाल ग्लीडरुंग, अध्याय ४।

[4] द्र०—वेबर, इस्तू, १०. ९९; फिक, उपर्युक्त, १४० टि० १; तु०—**मगध**।

[5] द्र०—एगलिंग, सेबुई, १२. १०४ टि०—१। तु०—ग्रियर्सन, जराएसो०, १९०८, ८३७, ११४३; कीथ, वही, ८३१, ११३८; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०२. एवं अग्रिम।

काश्यप—"**कश्यप** का वंशज"। यह एक सामान्य पैतृक नाम है, और **ऋश्यशृंग, देवतरस्, श्यावसायन, शूष वाह्नेय** के साथ जोड़ा जाता है। द्र०—शब्रा० ७. ५. १. ५; तैआ० २. १८; १०. १, ८ आदि।

काश्यपी-बालाक्या-माठरी-पुत्र—**काश्यपी-बालाक्या माठरी** का पुत्र यह कुतूहल-जनक नाम बृउ० ६. ४. ३१ माध्यंदिन में **कौत्सीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का है।

काषायण—बृउ० की आचार्यों की दूसरी सूची में एक नाम है। माध्यंदिन शाखा ४. ५. २७ के अनुसार ये **सौकरायण** के शिष्य थे, किंतु काण्वशाखा ४. ६. २ के अनुसार **सायकायन** के।

काष्ठा—ऋग्वेद में इसका अर्थ 'रथों की दौड़ में निश्चित सीमा' प्रतीत होता है: ऋ० १. ३७. १०; १. ६५. ३; ४. ५८. ७; ६. ४६. १; ७. ९३. ३; ८. ८०. ८; ९. २१. ७। ऋग्वेद १०. १०२. ९ में एवं अन्यत्र (अवे २. १४. ६; तैसं १. ६. ९. ३; वासं, ९. १३; ऐब्रा ४. ७; शब्रा, ११. ५. ७. २ आदि) यह शब्द लक्ष्य,—या तो **कार्ष्मन्** की न्याईं लौटने का पाला—अथवा अन्तिम लक्ष्य (परमा काष्ठा) का भी बोधक है। तु० 'सुवर्गो वै लोकः काष्ठा' तै० १. ३. ६. ५। द्र०—त्सिमर, आले०, २९१. २९२; मैक्समूलर, सेबुई ३२. ७७।

कास्, कास, कासा, कासिका—ये सभी शब्द खांसी के अर्थ में आते हैं; अवे० में इनका बारबार उल्लेख है कास्: अवे० १. १२. ३. ५. २२. १०, कासः अवे, ५. २२. ११; कासा, अवे ६. १०५. १ एवं आगे; कासिका, अवे ५. २२. १२; ११. २. २२। कास को अवे० में शिरोवेदना का साथी बताया गया है: अवे, १. १२. ३; ज्वर या **तक्मन्** का भी खांसी एक लक्षण है: अवे, ५. २२. १०। खांसी एक स्वतन्त्र रोग भी है: अवे ६. १०५। द्र०—त्सिमर, आले०, ३८५; ग्रोहमैन, इस्तू, ९. ३९४; जाली, मेडिसिन, ८९।

काहोडि—"**कहोड** का वंशज"। कासं २५. ५ में **अर्गल** का पैतृक नाम है।

किंशुक—केसू वृक्ष का नाम है। ऋग्वेद के विवाह-सूक्त में इसके फूलों से विवाह के रथ को सजाने का उल्लेख है: १०. ८५. २०। द्र०—त्सिमर, आले०. ६२; सायण के अनुसार रथ किंशुक की लकड़ी का बनता था।

किकिरा—ऋग्वेद ६. ५३. ७, ८ में पणियों के हृदय को किकिरा (कीर्ण या शिथिल) करने के लिये प्रार्थना की गई है।

किकि-दीवि—किकि-दीवि किसी पक्षी—संभवतः नीलकंठ का नाम है : राथ, वोबू; ऋ० १०. ९७. १३। तैसं ५. ६. २२. १ में भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ तित्तिरि या तीतर है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९२; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, २५१।

कितव—'द्यूतकार'। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में कई बार **कितव** शब्द आया है : ऋ० २. २९. ५; ५. ८५. ८; १०. ३४. ३. ७, १०. ११, १३; अवे ७. ५०. १; ७. १०९. ३; वासं ३०. ८, १८, २२; ऐब्रा, २. १९ आदि। ऋग्वेद २. २९. ५ में पिता अपने पुत्र को द्यूत से बचने की शिक्षा देता हुआ दिखाया गया है (तु०—**पितृ**)। ऐसा प्रतीत होता है कि कितव अपने परिवार के साथ कभी-कभी अपने आप को बेचकर दासता स्वीकार कर लेता था, जिससे कि वह द्यूत के ऋण की पूर्ति कर सके (ऋ० १०. ३४; तु०—'भक्तदासः' मानवधर्मसूत्र ८. ४१५ में)।[1] याजुष संहिताओं (तैसं० ४. ३. ३. १ एवं आगे; वासं ३०. १८) में विभिन्न द्यूत-क्रीडकों के नाम ये हैं : **आदिनवदर्श, कल्पिन्, अधिकल्पिन्, सभा-स्थाणु**। इनमें से किसी की भी व्याख्या निश्चय के साथ नहीं की जा सकती; फिर भी अन्तिम **सभास्थाणु** के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि 'द्यूत सभा में स्थाणु (खंभे) की भाँति स्थिर रहने वाला'। यह नाम **कितव** को उसकी द्यूत-प्रियता के कारण दिया गया प्रतीत होता है। द्र० महीधर, वासं ३०. १८ पर भाष्य; सायण, तैब्रा ३. ४. १६. १ पर भाष्य[2]। **आदिनवदर्श** का शाब्दिक अर्थ 'दुर्भाग्य देखने वाला' हो सकता है; और यह **कितव** की तेज खेलने की प्रक्रिया में विरोधी की भूल को देखने की उत्सुकता को व्यक्त कर सकता है[3]।

किमीदिन्—ऋग्वेद ७. १०४. २ में और अ० ४. २८. ७; १. ७. ३; १. २८. १२; २. २४. १; ४. २०. ५. ८; ८. ३. २५; ८. ६. २१, २५; १२. १. ५० में किमीदिन् शब्द पिशुन के अर्थ में आया है। किमीदिनों के विनाश के लिए या उनको दूर करने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं।

किंपुरुष—'क्या और कुत्सित पुरुष?' ब्राह्मणों में यह शब्द वानर का बोधक प्रतीत होता है, जो मनुष्यों की नकल करता है : ऐब्रा, २. ८; शब्रा १. २. ३. ९; ७. ५. २. ३२। संभवतः वासं ३०. १६; तैब्रा ३. ४. १२. १ में भी इसका यही अर्थ है, जहाँ राथ ने अपने कोश में 'घृणास्पद मनुष्य' अर्थ किया है। मैक्समूलर ने इसका अर्थ 'जंगली' माना है[1]

तु०—वेबर, इस्तू, ९. २४६; ओमिना उंड पोर्टेंटा, ३५६; एगलिंग, सेवुई १२. ५१. टि० ३.।

कियाम्बु—कियाम्बु किसी जलीय पौधे का नाम है; ऋग्वेद के दाह-संस्कार-सम्बन्धी एक सूक्त १०. १६. १३; अवे १८. ३. ६ में मृत शरीर के दाह-स्थान पर इसके उगने का उल्लेख है। इस शब्द का अर्थ सामान्य व्युत्पत्ति के आधार पर होगा 'कुछ जल के साथ'; तु०—सायण ऋ० १०. १६. १३ पर भाष्य; तैआ ६. ४. १, २ पर भाष्य, जहाँ **क्याम्बु** रूप है। तु०—त्सिमर, आ० ले० ६२; ब्लूमफील्ड, प्रोअओसो, अक्टूबर, १८९०, ४०।

(१) किरात—पर्वतों में रहने वाली एक जाति का नाम है, जैसा कि वासं ३०. १६; तु०—तैब्रा, २. ४. १२. १ में किरात के गुहा को समर्पित किये जाने के उल्लेख से ज्ञात होता है। अवे १०. ४. १४ में भी एक **किरात** लड़की के पर्वतों पर ओषधि खोदने का उल्लेख है। बाद में **किरात** जाति के नेपाल में रहने का उल्लेख है[2]। किंतु यह नाम किसी भी पहाड़ी जाति के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जो निःसंदेह आदिवासियों का व्यापक है, यद्यपि मानव-धर्मसूत्र १०. ४४ में उन्हें हीनवर्ण क्षत्रिय बताया गया है।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३२; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०७; विंसेंट स्मिथ, जराएसो, १९०९, २५८ टि० १; लेवी, ल नेपाल, २. ७७।

(२) किरात—असमाति की कथा में **गौपायनों** के विरोधी दो पुरोहितों **किरात** और **आकुलि** का उल्लेख पंब्रा० १३. १२. ५ में मिलता है (यहाँ पाठ किरातकुल्यौ है)[3]। शब्रा० २. १. ४. १४ में **किलात** ओर **आकुलि** पाठ हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह नाम इसलिये नहीं रखा जाता था कि अमुक व्यक्ति ऐतिहासिक है किंतु केवल इसलिये कि वह एक विरोधी पुरोहित है; क्योंकि **किरात** नाम पार्वत्यों का प्रतीत होता है, जैसा कि इससे पहले लेख में दिखाया जा चुका है।

---

[1] फिक, दी सोश्याल ग्लीडरूङ्ग, १९७।

[2] तु०—वेबर, त्सादामोगे०, १८. २८२; त्सिमर, आ० ले०, २८४।

[3] राथ, वोबू; वेबर, उपर्युक्त।

---

[1] ऐंशियट संस्कृत लिटरेचर, ४२०।

[2] द्र०—लास्सन, इंदिश्शे आल्तरथुम्सकुण्ड, १२. ५३०. ५३४।

[3] बाटलिंक ने सायण के अनुसार 'किरात-कुल का' यह अर्थ किया है; बृहद्देवता ७. ८६ में 'किराताकुली' पाठ है।

तु०—शाट्यायनक, सायण भाष्य ऋ० १०. ५७. १; १०. ६०. १ पर; जैब्रा, ३. १६७; जअओसो १८. ४१ एवं आगे; हापकिन्स, ट्रां० १५. ४८ टि० १।

किरिका—'नमो वः किरिकेभ्य इति। एते हीदं सर्वं कुर्वन्ति' श० ९. १. १. २३।

किलात—द्र०—**किरात** (२)।

किलास—अथर्ववेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में कुष्ठ रोग का नाम है। इसमें चर्म के ऊपर **पलित** वर्ण या श्वेत वर्ण के चकत्ते पड़ जाते हैं। हाग, ऐब्रा० ६. ३३. ५ के **'अलस'** को भी यही रोग मानते हैं; किंतु उनका यह मत संदेहास्पद है। ऋग्वेद ५. ५३. १ के **किलासी** शब्द को मैक्समूलर ने 'चितकबरे हरिण' के अर्थ में लिया है। द्र०—अवे १. २३. २४; वासं ३०. २१; पंविब्रा, १४. ३. १७; २३. ११. ११; तैआ, ५. ४. १२; तु० त्सिमर, आ० ले०, ३९६; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे० २६६; जाली, मेडिसिन, ९८; हापकिन्स, ट्रां० १५. ६८।

किल्बिष—ऋग्वेद-काल से ही **किल्बिष** शब्द पाप के अर्थ में आया है: ऋ० ५. ३४. ४. अवे, ५. १९. ५। हाथ आदि से किये किल्वषों से मुक्ति की प्रार्थना की गई है: अवे, ६. ११८. १, २; तु० १२. ३. ४८। वासं ३५. ११ में **अघ, किल्बिष, कृत्या** और रेपस् को दूर करने को प्रार्थनाएँ हैं।

कीकट—ऋग्वेद ३. ५३. १४ में केवल एक बार **कीटक** लोगों का उल्लेख है, जहाँ ये **प्रमगन्द** के नेतृत्व में और गायक ऋषि के शत्रु के रूप में उल्लखित हैं। यास्क का कथन है कि **कीकट** एक अनार्य देश का नाम है: निरुक्त, ६. ३२; बाद में **कीकट मगध** का पर्यायवाची बन गया है[1]। इस प्रकार त्सिमर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कीकट लोग अनार्य जाति के थे और **मगध** में रहते थे[2]। वेबर की धारणा है कि कीकट लोग **मगध** में रहते थे, किंतु ये आर्य थे, यद्यपि वे अन्य आर्यों से भिन्न थे—संभवत: अपनी परंपरागत विशेषताओं के कारण, क्योंकि बाद में **मगध** ही बौद्धधर्म का उद्गम-स्थान बना था[3]। किंतु यह अनिश्चित है और ओल्डेनबर्ग और हिल्लेब्रांड्ट ने इसमें संदेह किया है[4]। सूर्यकान्त[5] के अनुसार कीकट कीकर (हिन्दी) का पर्याय है और यह कुरुक्षेत्र के समीपस्थ कीकर वाले प्रदेश का बोधक है।

कीकस—वक्षःस्थ हड्डी को अथर्ववेद २. ३३. २ में कीकस कहा गया है। द्र०—**शरीर**।

कीट—अथर्ववेद एवं उपनिषदों में एक विशेष जाति के कीड़े का नाम कीट है: अवे, ९. ४. १६; बृउ०, ६. १. १९; ६. १०. २; ७. २. १; ७. ७. १; कौउ, १. २ आदि; तु०—त्सिमर, आले० ९८।

कीनाश—ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में कृषक का नाम है। द्र० **कृषि**। द्र० ऋ० ४. ५७. ८; अवे, ४. ११. १०; ६. ३० १; वासं ३०. ११; तैब्रा, २. ४. ८. ७; तु०—त्सिमर, आ० ले० २३७; वेबर, इस्तू० १८. ४५; हापकिन्स, जअओसो. १७. ८६ टि०।

कीरि—ऋग्वेद में कवि का नाम कीरि है। तुलनीय **ऋषि**। द्र. ऋ० १. ३१. १३; २. १२. ६; ५. ५२. १२; द्र०—मैक्समूलर, सेबुई ३२. ३१७; गेल्डनर; ऋग्वेद ग्लासर, ४६; पिशल, वैस्तू० १. २२३।

कीर्ति—यश के अर्थ में ऋग्वेद-काल से आम है। ऋग्वेद १०. ५४. १ में मघवा की कीर्त्ति का उल्लेख है। शब्रा १. ४. १. १३, १९; १४. ९. १. ११ में "धृत-कीर्त्ति" शब्द आया है। अवे ५. २०. ९ में बहुजनों के अर्थ कीर्ति प्राप्त करने की कामना की गई है। लाश्रौसू० ३. ११ में दुन्दुभि से अनुरोध किया गया है कि वह सुमित्र्या कल्याणी वाक् एवं कीर्त्ति का घोष करे: तु०—शांश्रौसू, १३. १४, ६। तैउ १. १० में अपने को सर्वोच्च सत्ता के रूप में अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि मेरी कीर्त्ति पर्वत-शिखर के समान उच्च है—"कीर्त्ति: पृष्ठं गिरेरिव"।

कीर्शा—तैसं ५. ५. २०. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में **कीर्शा** भी एक है, जो संभवत: कोई पशु या पक्षी है। तु०—त्सिमर, आ० ले० ९९।

कीलाल—किसी मधुर पेय के अर्थ में **कीलाल** शब्द बाद की संहिताओं में पाया जाता है, किंतु ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है: अवे ४. ११. १०; ४. २६. ६; ४. २७. ५; ६. ६९. १; १०. ६. २५; १२. १. ५९; तैब्रा २. ६. १२. १३; मै० सं०, २. ७. १२; ३. ११ ३, ४; वासं २. ३४; ३. ४३; २०. ६५; ३०. ११)। वासं ३०. ११; तैब्रा, ३. ४९. १ में सुरा सदृश कीलाल को समर्पित किया गया है; अत: कीलाल भी **सुरा** के समान कोई तरल पदार्थ रहा होगा। संभवत: वह त्सिमर के अनुसार 'गुड़ की मदिरा' रहा हो। द्र०—आ० ले० २८१।

---

[1] द्र० वोबू। [2] आले०, ३१, ११८; तु—गेल्डनर, ऋग्वेद, कोमेण्टार ५८।

[3] इस्तू १. १८६; इंदीन लितरात्यूर ७९ टि०।

[4] द्र०, बुद्ध, ४०१, ४०३; ऋग्वेद नोटेन, १. २५३; वेदिश्शे मिथोलागी, १. १४-१८.

[5] कीकट एण्ड पणि, वेल्वल्कर वाल्यूम

कीश्मील—पैप्लादशाखीय अवे १९. ८. ४ में बार्टलिक कोश के अनुसार एक प्रकार के रोग का नाम है।

कीस्त—ऋग्वेद के दो स्थलों (१. १२७. ७; ६. ६७. १०; तु०—यास्क, निरुक्त, ३. १५) पर **"कीरि"** के समान ही कवि का नाम **कीस्त** है।

कुक्कुट—"मुर्गा"। केवल यजुर्वेद में कुक्कुट शब्द आता है। द्र० वासं, १. १६; तु०—त्सिमर, आले०, ९१।

कुक्षि—कुक्षि शब्द कोख के अर्थ में आम है। ऋग्वेद १. ८. ७ में बहुत अधिक सोम समाने वाली कुक्षि का उल्लेख है—"यः कुक्षिः सोमपातमः" तु०—ऋ० ८. २१. २४; ९. ८०. ३; ९. १०९. १८; अवे, ७. १११. १; ९. ७. १२; शब्रा ७. ५. १. ३८। कुक्षि के भरे-पूरे होने का भी कथन है: ऋ० १०. ८६. १४; तु०—८. १७. ५; १०. २८. २; वासं २५. ८; अवे २. ५. ४; २. ३३. ४; ४. १६. ३; ९. ५. २०; १०. ९. १७; ऋ० २. ११. ११; ३. ५१. १२। ऋग्वेद ३. ३६. ८ के अनुसार ह्रद के समान कुक्षियाँ भी सोमधान हैं— "ह्रदा इव कुक्षयः सोमधानाः"।

कुटरु—यह शब्द केवल याजुष संहिताओं में पाया जाता है। महीधर (वासं, २४. २३ पर भाष्य) के अनुसार यह **कुक्कुट** का पर्यायवाची है। द्र० तैसं, ५. ५. १७. १. मैसं, १. १. ६; ३. १४. ४. २०; ४. १. ६; वासं २४. २३, ३९; तु० त्सिमर, आले० ९३।

कुणप—अवे० एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में **कुणप** शब्द शव के अर्थ में आया है: अवे, ११. ९. १०; ११. १०. ४, ११. १०. ८; तैसं ७. २. १०. २; शब्रा ४. १. ३. ८ आदि।

कुणारु—ऋग्वेद ३. ३०. ८ में क्वणनशील के अर्थ में आया है। तु०—निरुक्त २. २; ६. १।

कुण्ड-पायिन्—"कुण्ड या बड़े बर्तन से पीने वाला"। पंब्रा० २५. ४. ४ और आश्रौसू०, १२. ४. ६; काश्रौसू, २४. ४. २१ में एक आचार्य का नाम है।

कुण्ड-पाय्य—"**कुण्डपायिन्** का वंशज"। ऋग्वेद के एक मन्त्र ८. १७. १३ में एक श्रृंगवृष का पैतृक नाम है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६१; हापकिन्स, १७. ९०।

कुण्डृणाची—याजुष-संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक अज्ञात जानवर का नाम है: तैसं, ५. ५. १६. १; मैसं ३. १४. १८; वासं २४ ३७। ऋग्वेद १. २९. ६ में भी यह शब्द आता है, जहाँ इससे कोई पक्षी अभिप्रेत हो सकता है; किंतु सायण इसका अर्थ करते हैं, "कुटिल गति से" (कुटिलगत्या)। तैसं ५. ५. १६. १ के भाष्य में इसका अर्थ उन्होंने "गृह-गोधिका" 'घरकी गोह' किया है। तु०—त्सिमर, आले० ८९)।

कुत्स—**कुत्स** ऋग्वेद में नायक के रूप में उल्लिखित हैं, वहाँ उसके चरित के विषय में विशेष नहीं कहा गया है; क्योंकि **कुत्स** पहले ही देवशास्त्रीय बन चुके थे। वे **आर्जुनेय** या **अर्जुन** के वंशज बताये गये हैं: ऋ० ४. २६. १; ७. १९. २; ८. १. ११। वे **शुष्ण** को पराजित करने एवं सूर्य को जीतने के प्रसंग में **इन्द्र** के साथी कहे गए हैं: ऋ० १. ६३. ३; १. १२१. १९; १. १७४. ५; १. १७५. ४; ४. ३०. ४; ५. २९. ४; ६. २०. ५; ७. १९. २; १०. ९९. ९। वे **स्मदिभ** और **वेतसु** को पराजित करने वाले हैं: ऋ० १०. ४९. ४; किंतु कई स्थलों पर **अतिथिग्व** और **आयु** के साथ वे **इन्द्र** द्वारा स्वयं पराजित हुए कहे गए हैं ऋ० १. ५३. १०; २. १४. ७; ८. ५३. २; तु०—४. २६. १। एक मन्त्र १. ५३. १० में उनकी पराजय **तूर्वयाण** के हाथों बताई गई है। अन्यत्र **अतिथिग्व** के साथ वे **इन्द्र** के मित्र बनते हैं: ऋ० १. ५१. ६; ६. २६. ३। परवर्ती साहित्य में एक पुराकथा के प्रसंग को छोड़कर इनका नाम बहुत कम आया है: अवे, ४. २९. ५; पंविब्रा, १४. ११. २६। उस पुराकथा का उल्लेख ब्राह्मणों में है: पंविब्रा, ९, २. २२; शाट्यायनक, सायणभाष्य, ऋ० १०. ३८. ५ पर उल्लिखित; जैब्रा, १, २२८[1], जिसमें उनके हाथों **इन्द्र** के बाँधने का जिक्र है; और ऋग्वेद की एक दुरूह ऋचा १०. ३८. ५ पर आधृत है। तु०— 'उपगुर्वै सौश्रवसः कुत्सस्यौरवस्य पुरोहित आसीत्' तां० १४. ६. ८। ऋग्वेद ८. २५. ५ में कुत्स के वंशज कुत्सों का उल्लेख है।

तु०—लुड्विग्, ट्रां० आदि० ऋ०, ३. ११३, १४८; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ४२. २१०. २११; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलागी, ३. २८४ एवं आगे; इनका सुझाव है कि कुत्स—एक इन्द्र के मित्र और दूसरे शत्रु के रूप में दो समझे जाने चाहिएँ। गेल्डनर, वैस्तू, ३. १७१; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स, १५. ५७ टि० १।

कुत्स औरव—"उरु का वंशज"। पंब्रा १६. ६. ८ के अनुसार इन्होंने अपने पुरोहित **उपगु सौश्रवस** को मार डाला था; क्योंकि पुरोहित के पिता **इन्द्र** की अर्चना पर बल देते थे। इस तथ्य का ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर

[1] अर्टल, जअओसो०, १८. ३१।

उल्लिखित **इन्द्र** और **कुत्स** के वैर से मेल बिठाया जा सकता है : द्र०—**कुत्स**। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वै० मिथो० ३. २८४; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५७; वेबर, इस्तू०, १०. ३२।

१. कुंताप—द्र०—शरीर।

२. कुंताप—अथर्ववेद के कुछ खिल-सूक्तों (२०. १२७—१३६) का नाम कुंताप-सूक्त है। द्र०—शांब्रा, ३०. ५; शाश्रौसू०, १२. ६. १२; १२. १३. १७; आश्रौसू० ८. ३। तु० 'कुयं ह वै नाम कुत्सितं भवति तद्यत्तपति तस्मात् कुंतापाः। तत् कुंतापानां कुंतापत्वम्' गो० उ० ६. १२.

कुन्ति—कासं २६. ९ के एक अशुद्ध पाठ के आधार पर **कुन्तियों** ने **पञ्चालों** को हराया था। तु०—मैसं, ४. २. ६। द्र० वेबर, इस्तू, ३. ४७१।

कुबेर वारक्य—जैउब्रा ३. ४१. १ में **जयन्त वारक्य** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

कुबेर वैश्रवण—कुबेर वैश्रवण (**विश्रवण** के पुत्र) का उल्लेख अथर्ववेद—काल ८. १०. २८ से ही मिलता है। शब्रा० १३. ४. ३. १० के अनुसार **कुबेर वैश्रवण** राजा हैं और **रक्षस्** उनकी प्रजा हैं। तु०—आश्रौसू, १०. ७; शांश्रौसू, १६. २. १७। तैआ १. ३१. ३ में **कुबेर** एक देव के रूप में नमस्कृत एवं प्रार्थित हैं। वहां इनके अग्रज का भी उल्लेख है। अवे ८. १०. २८ में **कुबेर** के पुत्र **कावेरक रजनाभि** का भी उल्लेख है।

कुभा—ऋग्वेद में दो बार ५. ३३. ९; १०. ७५. ६ उल्लिखित **कुभा** एक नदी है, जो आजकल की **काबुल** नदी मानी जा सकती है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, १४; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००।

कुभ्र—मैसं २. ५. ३ में **कुभ्र** एक पशु का नाम है।

कुमार—यह शब्द लड़के के अर्थ में आया है : ऋ० १. १५५. ६; २. ३३. १२; ५. २. १; ५. ७८. ९; ६. ७५. १७; अवे, १. ११. ५; ऐब्रा १. ३। शब्रा ११. ४. १. ७, तु०—श्वेउ, ४. ३ में कुमार के रेतस् का सिक्त होना असंभव कहा गया है:—"कुमारस्य रेतः सिक्तं न संभवति"। वहीं ६. १. ३. ८-२० में एक ऐसे कुमार की उत्पत्ति का वर्णन है, जो जन्म लेते ही अपने नाम-संस्कार के लिए रोने लगा था; और प्रजापति ने एक-एक कर उसकी तुष्टि के लिए **रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान** ये आठ नाम उसे दिये थे; कुमार नवम नाम है:—"तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि, कुमारो नवमः"।

इसी अर्थ में **कुमारक** शब्द का भी प्रयोग मिलता है : ऋ० ८. ३०. १; ८. ५८. १५; शब्रा १. ३. १. ९ आदि। स्त्रीलिंग में कुमारी शब्द भी अनेक बार आया है : अवे, २. ३६. १; १०. ८. २७; १४. १. ६३; ऐब्रा ५. २९; शब्रा २. ६. २. १३; १३. ५. २. १; खेउ, ४. ३ आदि।

विशेष विवरण के लिये देखो सूर्यकान्त, कालिदासास विज़न आफ कुमार संभव.

कुमार हारीत—बृउ० में आचार्यों की प्रथम वंश-सूची (२. ५. २२ माध्यं०=२. ६. ३ काण्व) में **गालव** के शिष्य **कुमार हारीत** का उल्लेख है।

कुमुद—अ० ४. ३४. ५ में जलीय पौधों के साथ **कुमुद** का भी उल्लेख है। वेदोत्तर—कालीन **कुमुद** से इसे अभिन्न माना जा सकता है। तु०—त्सिमर, आ०, ले०, ७०।

कुम्ब—अथर्ववेद ६. १३८. ३ में **ओपश** और **कुरीर** के साथ स्त्री के केशों के अलंकरण कुम्ब का उल्लेख आता है। गेल्डनर[१] का मत है कि पहले दो शब्दों के साथ इसका भी मौलिक अर्थ सींग है, किंतु यह संदिग्ध है। भारतीय परंपरा के अनुसार केशों के सजाने के लिए यह अलंकरण है : द्र० सायण, अ० वे० ६. १३८. ३ पर भाष्य।

कुम्ब्या या कुम्ब्या—शब्रा ११. ५. ७ १० में **ऋच्, यजुस्, सामन्** और **गाथा** के बाद यह शब्द किसी वाग्विशेष को जताता है। ऐआ २. २. ६ में **ऋच्** और **गाथा** के साथ यह भी मात्रायुक्त वाक् को सूचित करता है। शब्द का अर्थ अज्ञात है। वेबर[२] का सुझाव है कि इसका अर्थ गीत की टेक हो सकता है।

कुम्भ—कलश के अर्थ में ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में कुम्भ शब्द अनेक बार आया है। प्रायः यह मिट्टी का होता था और शीघ्र टूट जाता था : ऋ० १. ११६. ७, १. ११७. ६, ७. ३. १३ आदि, अवे० १. ६. ४, ३. १२. ७ आदि, वासं १९. ८७ आदि, ऋ० १०. ८९. ७ कुंभ का टूटना। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ३६७।

कुम्भीक—परवर्ती साहित्य में एक नरक के रूप में और दानविशेष के अर्थ में अथर्ववेद १६. ६. ८ में आया है।

---

[१] वैस्तू, १. १३१। विवरणः त्सिमर, आले, २६५, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अ० वे०, ५३८, ५३९, ह्विटनी, ट्रांस० आ० दि अ० वे० ३४८, कालेंड, ऊबर दास रितु एल सूत्रस् देस बौधायन, ५९।

[२] इस्तू० १०. १११ टि०। तु०—कीथ, ऐआ, २२१, एगलिंग, सेबुई, ४४. १०१।

कुम्भीनस—"कुम्भ के समान नाक वाला"। तैसं ५. ५. १४. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी पशु का नाम कुम्भीनस है। संभवतः परवर्ती साहित्य के समान इसका अर्थ सर्प-विशेष हो। तु०—त्सिमर, आले०, ९५, वोबू।

कुयव—ऋग्वेद में **कुयव** एक असुर का नाम है: इसका उल्लेख प्रायः **शुष्ण** और **अशुष** नामक असुरों के साथ आया है। इन्द्र के साथ इनके युद्ध का भी उल्लेख है: ऋ० १. १०३. ८, २. १९. ६, ४. १६. १२, ६. ३१ ३, ७. १९. २ आदि।

कुय-वाच्—ऋग्वेद १. १७४. ७ में इन्द्र द्वारा मारे गए किसी दैत्य का नाम है; संभवतः आर्यों का विरोध करने वाली किसी जाति के एक व्यक्ति का नाम है। ऋग्वेद ५. २९. १०, ५. ३२. ८ में **मृध्रवाच्** (=निन्दा-वचन बोलने वाला) अनार्यों को जताता है। द्रष्टव्य **दस्यु**।

कुरीर—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त १०. ८५. ८ और अथर्ववेद ६. १३८. ३ में **ओपश** और **कुम्ब** के समान वधू की सज्जा के प्रसंग में उसके केशों के किसी अलंकार का नाम **कुरीर** भी आया है। यजुर्वेद संहिताओं में सिनीवाली देवी को **सुकपर्दा, सुकुरीरा** और **स्वोपशा** कहा गया है: तैसं ४. १. ५. ३, मैसं २. ७. ५, वासं ११. ५६।

गेल्डनर[1] के अनुसार इस शब्द का मौलिक अर्थ सींग है, किंतु यह अर्थ अनपेक्षित है, क्योंकि कहीं भी यह शब्द इस भाव को द्योतित नहीं करता: गोब्रा, १. ३. २१, वैतान सूत्र ११. २२; इन स्थलों को गेल्डनर ने प्रमाण के रूप में रखा था।

तु०—त्सिमर, आ० ले, १६५, ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे, ५३९; ह्विटनी, ट्रांस० आ दि अवे, ३४८; कालैंड ऊबर दास रितुएल सूत्र देस बौधायन, ५९।

कुरीरिन्—'कुरीर वाला'। अथर्ववेद ५. ३१. २ में कुरीरिन् शब्द आता है, यह किसी कलगी वाले जानवर को, (त्सिमर आले, ९१ के अनुसार) मयूर को उद्दिष्ट करता है, या अज का विशेषण है, जिसके सींग होता है; और जहाँ इसका अर्थ होगा 'सींगवाला'; किंतु दूसरे मत में भी रूपकात्मक प्रयोग मानने से काम चल जायगा, जैसे कि पंचविंश ब्राह्मण १३. ४. ३ में **ओपश** को पशुओं के सींग के अर्थ में रखा गया है; फलतः गेल्डनर (वेंस्तू, १. १३०) का यह मत अनावश्यक है कि कुरीर का मौलिक अर्थ सींग है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ४५७, ५३९, वेबर, इस्तू, १८. २८५; ह्विटनी, ट्रां० आ० दि अवे, २७९।

[1] वेंस्तू १. १३१, १३२।

कुरु—ब्राह्मणसाहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण जाति **कुरुओं** की है। यह स्पष्टतः प्रमाणित है कि ब्राह्मणों का निर्माण कुरु या कुरुपञ्चालों के प्रदेश में हुआ था[1]। कुरुओं का नाम अकेले बहुत कम आया है। पञ्चालों के साथ उनके निकट संबन्ध के कारण दोनों के नाम एक साथ आये हैं; कुरुपञ्चाल प्रायः एक संघराज्य के रूप में आये हैं: जैउब्रा, ३. ७. ६; ८ ७; ४. ७. २; कौउ ४. १; गोब्रा १. २. ९; कासं १०. ६; वासं ११. ३. ३ काण्व शाखीय। कुरुपञ्चालों के देश में वाक् का बसेरा बताया गया है: शब्रा ३. २. ३. १५। कुरु—पञ्चालों की यज्ञ-प्रणाली सर्वोत्तम कही गई है: शब्रा १. ७. २. ८; कुरु-वाजपेय: शाश्रौसू १५. ३. १५; लाश्रौसू ८. ११. १८। कुरु-पञ्चाल के राजा राजसूय-यज्ञ करते थे: शब्रा ५. ५. २; ३. ५; उनके राजा हिमऋतु में आक्रमण करते थे और ग्रीष्मऋतु में लौटते थे: तैब्रा १. ८. ४. १, २। परवर्ती काल में कुरु-पञ्चाल के पुरोहितों को उपनिषदों में प्रसिद्ध बताया गया है: जैब्रा २. ७८; जैउब्रा ३. ३०. ६; ४. ६. २; बृआउ ३. १. १; ३. ९. २० आदि। वेबर[2] और ग्रियर्सन[3] ने दोनों जातियों के बीच कलह का चिह्न वैदिक-साहित्य में ढूंढ़ने का प्रयास किया है; ग्रियर्सन ने तो इस तथ्य से उस सिद्धान्त को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, कि कुरु लोग बाद में भारत में आये थे और वे अधिक ब्राह्मणमतावलम्बी थे, जब कि **पञ्चाल** लोग ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध भी थे। वेबर ने अपने मत की पुष्टि के लिये काठक संहिता[4] १०. ६ में उल्लिखित **बकदाल्भ्य** और **धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य** के विवाद की कथा का उद्धरण दिया है, और **बक बकदाल्भ्य** को **पञ्चाल**

[1] पविब्रा के लिये तु० हापकिन्स, ट्रान्जैक्शन्स १५. ४९, ५०; वेबर, इण्डि० लिट० ६७–६८; ऐब्रा० और शब्रा० के लिये द्र० वेबर, उपर्युक्त ४५; ऐआ० और शाआ० के लिये द्र० कीथ, जरा-एसो० १९०८, ३८७; शब्रा के लिये वेबर, उपर्युक्त १३२; ट्रान्जैक्शन्स आफ दि बर्लिन एकेडेमी, १८९५, ८५९; जैब्रा० और गोब्रा में **कुरुपञ्चाल** शब्द अनेक बार आया है; तैब्रा के लिये द्र० १. ८. ४. १, २; मैसं० के लिये द्र० ४. २. ६.

[2] इस्तू ३. ४७०, इण्डि० लिट० ११४।

[3] जराएसो १९०८, ६०२-६०७, ८३७-८४४।

[4] तु० एगलिङ्ग, सेबुई १२. ४१।

का और **धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य** को कुरु-प्रदेश का माना है। किंतु वहाँ **कुरुओं** एवं **पञ्चालों** के झगड़े का उल्लेख नहीं है; वहाँ केवल एक यज्ञ-संबन्धी प्रश्न पर एक राजा और पुरोहित का वाद-विवाद है : उसी स्थल पर नैमिषीय यज्ञ के **कुरु-पञ्चालों** के बीच प्रचलित होने का और उन दोनों के घनिष्ठ संबन्धी होने का भी उल्लेख है[१]। वेबर ने दूसरा उल्लेख वाजसनेयि-संहिता २३. १८ के आधार पर किया है, जिसमें **काम्पिल** की **सुभद्रिका** का विवाह निकटवर्ती जाति के राजा से उल्लिखित है, जिसके लिये अश्वमेध किया गया था। किंतु इसकी वेबर द्वारा की गई व्याख्या बहुत ही संदेहपूर्ण है[२]। काण्व-शाखीय वाजसनेयि-संहिता[३] ११. ३. ३ के राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में **कुरु-पञ्चालों** के एक ही वास्तविक राजा होने का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ७ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **पञ्चालों** का प्राचीन नाम **क्रिवि** था। **क्रिवि** शब्द **कुरु** का एक पाठभेद जैसा प्रतीत होता है; और त्सिमर[४] का मत है कि **कुरु** और **क्रिवि** मिलकर ऋग्वेद ७. १८. ११ के **वैकर्ण** जनों को बनाते थे : क्योंकि दोनों जातियाँ सिन्धु और असिक्नी के तट पर रहने वाली बताई गई हैं[५]।

कुरुक्षेत्र में केवल कुरुओं के रहने का ही उल्लेख मिलता है। **कुरुओं** और **सृञ्जयों** के एक ही पुरोहित का उल्लेख है : शब्रा २. ४. ४. ५; अतः किसी समय वे परस्पर संबद्ध रहे होंगे[६]। छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७. ९ में एक **अश्वा** द्वारा **कुरुओं** की रक्षा का उल्लेख है[७]। उसी उपनिषद् १. १०. १ में मटची अर्थात् ओले और पत्थर पड़ने से **कुरुओं** की हानि का भी उल्लेख है। सूत्रों में कुरुओं के एक वाजपेय का उल्लेख है : शाश्रौसू १५. ३. १५। वहाँ एक अभिशाप का भी उल्लेख है, जिससे उन्हें वहाँ से हटना पड़ा था : उपर्युक्त,[८] १५. १६. ११।

[१] द्र० कीथ, जराएसो १९०८, ८३१-८३६; ११३८-११४२।

[२] द्र० एगलिङ्ग, सेबुई, ४४. ३३२।

[३] तु० वेबर, इण्डि० लि० ११४ टि०।

[४] आले १०३।

[५] द्र० कीथ, उपर्युक्त ८३५।

[६] तु० वेबर, इण्डि० लिट० १२३।

[७] बाटलिङ्क ने अपने संस्कृत कोश में **अक्ष्णा** पाठ दिया है, जिसे लिटिल ग्रामेटिकल इण्डेक्स, १ में स्वीकार किया है।

[८] तु० वेबर, इण्डि० लिट० १३६।

संभवतः आर्षकाव्य-परंपरा में कौरवों के दुर्भाग्य की यह बात प्रतिबिम्बित है।

ऋग्वेद में **कुरुओं** का उल्लेख जाति के रूप में नहीं है, किंतु **कुरुश्रवण** (कुरुओं का यज्ञ) नामक एक राजा का उल्लेख है : ऋ० १०. ३३. ४। **पाकस्थामन् कौरयाण** का भी उल्लेख है : ऋ० ८. ३. २१। अथर्ववेद २०. १२७, ७ एवं अग्रिम खिल ५. १० में कुरुओं के राजा **परिक्षित्** का उल्लेख है, जिनके पुत्र **जनमेजय** को शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४ में अश्वमेध करने वाले बड़े राजाओं में से एक बताया गया है।

संभवतः ओल्डेनबर्ग का यह सुझाव ठीक है कि बाद में **कुरु** नाम से अभिहित इस जाति में अन्य नामों से ऋग्वेद में उल्लिखित बहुत सी जातियाँ मिलकर एक बन गई थीं।[१] **कुरुश्रवण**—जिसका नामतः **कुरुओं** के साथ संबन्ध प्रकट होता है—को ऋग्वेद में **त्रासदस्यव** (त्रसदस्यु का वंशज) कहा गया है, जो **पुरुओं** का सुप्रसिद्ध राजा है। साथ ही **तृत्सु भरत** लोग, जो ऋग्वेद में **पुरुओं** के शत्रु दीख पड़ते हैं, बाद में उनमें घुल मिलकर **कुरु**-जाति को बनाते हैं।[२] ब्राह्मणों में **भरतों** को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जाति के रूप में दिखाया गया है; किंतु परवर्ती साहित्य में जातियों की सूची में इनका उल्लेख नहीं मिलता; अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि ये किसी अन्य जाति में विलीन हो कर एक हो गये थे। साथ ही, इस बात के भी प्रमाण है कि **भरत** लोग उसी प्रदेश में रहते थे जिसमें बाद में **कुरु** लोग बसे थे। ऋग्वेद ३. २३ में दो **भरतों** के **दृषद्वती**, **आपया** और **सरस्वती** के तट पर यज्ञ करने का उल्लेख है। ये ही क्षेत्र बाद में **कुरुओं** के भी निवास-स्थान बने थे। इसी प्रकार देवी भारती का (भरतों से संबद्ध) आप्रीसूक्तों में सरस्वती के साथ उल्लेख किया गया है।[३] शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ११ के अनुसार एक भरत राजा काशी वालों पर विजयी हुआ था, और एक अन्य राजा ने गङ्गा और यमुना के किनारे आहुति दी थी : शब्रा १३. ५. ४. २१। ऐतरेय ब्राह्मण[४] २. २५ में **सत्वन्त्** लोगों के विरुद्ध किये गये भरतों के आक्रमणों का उल्लेख है। यह तथ्य भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है कि वाजसनेयि-संहिता के एक स्थल ११. ३. ३ पर **भरतों** को **कुरुपञ्चालों** के पाठान्तर के रूप में

[१] द्र० बुद्ध ४०३, ४०४।

[२] द्र० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध ४०६-४०९।

[३] तु० शेफ्तलोवित्स, दि अपोक्रिफन देस ऋग्वेद १४५।

[४] तु० हॉग का संस्करण, २. २१८ टि० ३; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध ४०७ टि०।

माना गया है, और अश्वमेध करने वालों की सूची में एक **कुरु** और दो **भरत** राजाओं का नाम उनके द्वारा शासित जातियों का उल्लेख किये बिना ही, दिया गया है, जब कि अन्य प्रसङ्गों में वह सूचना विशेष रूप से दी गई है।[1]

ऐतरेय ब्राह्मण[2] ८. १४ में मध्यप्रदेश को **कुरु-पञ्चालों** का प्रदेश माना गया है। फिर भी कुरुओं का एक समूह सुदूर उत्तर की ओर हिमालय के पार **उत्तर कुरु** के रूप में विद्यमान था। शतपथ ब्राह्मण ३. २. ३. १५ के अनुसार उत्तरी लोगों की, संभवतः **उत्तरी कुरुओं** की वाक् और **कुरु-पञ्चालों** का वाक् समान था एवं शुद्ध समझी जाती थी। शब्रा० का यही भाव संभव है, क्योंकि **कुरु-पञ्चालों** को उत्तरीय मानना कठिन है; और कौषीतकिब्राह्मण ७. ६ में उत्तर की वाक् के शुद्ध होने का प्रमाण मिलता है[3]। इसमें संदेह नहीं है कि ब्राह्मण-संस्कृति कुरु-पञ्चाल प्रदेश में विकसित हुई और वहाँ से, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में फैली। पञ्चविंश ब्राह्मण[4] १७. १. १ के व्रात्यस्तोमों (अब्राह्मणों को आर्यों में संमिलित करने के लिये यज्ञ) में इसके चिह्न मिलते हैं, और वस्तुतः शाङ्खायन आरण्यक ७. १३ के अनुसार एक ब्राह्मण का **मगध** में निवास करना अस्वाभाविक था[5]। **कुरु-पञ्चाल** के ब्राह्मणों का बार-बार उल्लेख करना भी उनके प्रचारक स्वभाव का प्रमाण है। द्र० शब्रा ११. ४. १. २ और तैब्रा० १. ८. ४. १, २।

कुरुपञ्चालों की भौगोलिक स्थिति से यह झलकता है कि **कोसल-विदेह** और **काशी** वालों की अपेक्षा वे बाद में भारत में आये थे;[6] और उन्होंने पहले आये इन लोगों को और पूर्व की ओर खदेड़ दिया था। किंतु वैदिक साहित्य में इसका प्रमाण नहीं मिलता कि बाद में आने वाले आर्यों का समय की दृष्टि से पहले आये आर्यों के साथ ठीक-ठीक क्या संबन्ध था। केवल उन भाषातत्त्वों के आधार पर, जो कि वैदिक युग पर लागू नहीं होते, यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है कि **कुरु** लोग भारत में बाद में आये थे, और ये एक दूसरे मार्ग से भारत में घुसे थे, और इन्होंने भारत में पहले आये आर्यों के बीच उन्हें इधर उधर खदेड़कर अपना घर बना लिया था[1]। तु० **कृत्वन्**; अन्य **कुरु** राजाओं के लिये द्र० **कौरव्य**।

---

[1] तु० आल्डेनबर्ग, बुद्ध ४०८-४०९।

[2] तु० ओल्डेनबर्ग, ४०९ टि०।

[3] तु० ओल्डेनबर्ग, ३९२, ३९३।

[4] तु०-एगलिङ्ग, सेबुई० १२. ४२; वेबर, इण्डि० लिट० ४५; इस्तू १. १९१।

[5] द्र० अथर्ववेद १५, ह्निटनी और लानमान के नोटों के साथ; वेबर, इस्तू १. ३३ एवं आगे; इण्डि० लि० ६७. ७८, ८०।

[6] तु० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध ४०० टि०; वेबर, इण्डि० लिट० ११२ टि०, १२६।

[7] उदाहरणार्थ द्र० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध ९. ३९१, ३९८, ३९९; लानमान, संस्कृत रीडर २९७ आदि। शब्रा. १. ४. १. १० एवं आगे की कथा में कोशल-विदेहों का कुरु-पञ्चालों की शाखा के रूप में उल्लेख किया गया है; तु० वेबर, इस्तू १. १७०· किंतु ओल्डेन-बर्ग और मैक्डानल (संस्कृत लिटरेचर, २१८) इसकी व्याख्या में कहते हैं कि यह ब्राह्मणसंस्कृति के प्रसार का कथन है, राष्ट्रीयता के विस्तार का नहीं।

[1] तु० ग्रियर्सन, लैङ्ग्वेजेज आफ इण्डिया, ५२ एवं आगे; जराएसो १९०८, ८३७ एवं आगे। दूसरी ओर, यह सोचना गलत है कि **भरत** लोग कुरुक्षेत्र से सुदूर पश्चिम में रहते थे और ऋग्वेद के प्रमुख कार्यकलापों का प्रदेश पञ्जाब था। ऋग्वेद ३. ३३ में, जहाँ विश्वामित्र के विपाश् और शुतुद्री को पार करने का उल्लेख है, वहाँ वे पूर्व से पश्चिम को ओर गये थे; न कि पश्चिम से पूर्व को; तु० पिशल, वैस्तू, २. २१८। सामान्य मत के आधार पर हापकिन्स ने, इण्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ५२ में यह सुझाव दिया है कि यमुना ऋग्वेद में परुष्णी का ही दूसरा नाम है; किंतु यह असंभव मत अनावश्यक हो जाता है जब भरतों की सोमा स्थूल-रूप में कुरुक्षेत्र के समानान्तर मानी जाती है, जो पूर्व में यमुना नदी तक थी। दूसरी ओर, हिल्लेब्राण्ड्ट ने वेडिश्शे मिथोलगी १. १४२, १४३ में कुरुओं को आर्जीकीया के पास कश्मीर में माना है, जो बहुत ही उत्तर की ओर है। इसी प्रकार द्र० त्सिमर, आले० १०३; एगलिङ्ग, सेबुई १२, भूमिका पृ० ४२। यह संभव प्रतीत होता है कि कुरु लोग प्राचीन काल में कभी उत्तर में हिमालय के पास, **कुरुक्षेत्र** में और **सिन्धु** तथा **असिक्नी** के पास फैले हुए थे। तु० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०० एवं आगे; मैक्डानल, संस्कृत लिटरेचर, १५२-१५७, फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, १६४ एवं आगे, इण्डि० लिट० ११४, १३५, १३६; रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया २७। पार्जीटर, जराएसो० १९०८, ३३३ एवं आगे; हापकिन्स, जअओसो, १३ २०५ टि०।

कुरुक्षेत्र—'कुरुओं का स्थान'। ब्राह्मण ग्रन्थों में **कुरुक्षेत्र** को पवित्र स्थान माना गया है : पंविब्रा, २५. १०, शब्रा०, ४. १. ५. १३; ११. ५. १. ४; १४. १. १. २; ऐब्रा० ७. ३०, मैसं २. १. ४; ४. ५. ९; जैब्रा०, ३. १२६, जराएसो ११. १४६ शांश्रौसू, १५. १६. ११ आदि। इसकी सीमा के अन्तर्गत **दृषद्वती** और **सरस्वती** तथा **आपया** नदियाँ बहती थीं : ऋवे०, ३. २३[1]; वहाँ **शर्यणावन्त** भी थी;[2] जो एक झील के रूप में अभिज्ञात है, जैसे कि शब्रा ११. ५. १. ४ में **अन्यतःप्लक्षा** का उल्लेख है। पिशल के अनुसार वहाँ **पस्त्या** नामक नदी भी थी, जिसे वे ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के आधार पर मानते हैं[3]। तैआ ५. १. १ में कुरुक्षेत्र की सीमा इस प्रकार है : इसके दक्षिण में **खांडव**, उत्तर में **तूर्घ्न** और पश्चिम में **परीणह** हैं (ये प्रदेश नहीं पहचाने जा सकते)। स्थूलरूप से कहा जा सकता है कि आजकल के **सरहिन्द** में ही कुरुक्षेत्र समाहित था। तु०—फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर १६४. १६५; मैक्समूलर, सेबुई ३२. ३९८. ३९९ वेबर, इस्तू, १. ७८. ७९; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर १७४; एर्गलिंग, सेबुई, १२ भूमिका का पृ० १; इन्होंने बहुत ही पूर्व में **गंगा** और **यमुना** के मध्य में कुरुक्षेत्र को माना है।

कुरुङ्ग—ऋग्वेद ८. ४. १८, निरुक्त, ६. २२ में कुरुङ्ग का एक राजा और आश्रयदाता के रूप में उल्लेख है। लुडविग,[4] का सुझाव है कि वे **अनुओं** के राजा थे; किंतु इस निष्कर्ष के लिए अच्छा आधार नहीं है। उसी ऋचा में **तुर्वशों** का भी उल्लेख है : संभवतः वे उन्हीं के एक राजा रहे हों। इस नाम से कुरुओं से संबन्ध का पता चलता है, और यह ध्यान देनें की बात है कि शब्रा ११. ५. ४. १६ में **तुर्वशों** को पञ्चालों (क्रिवियों) से संबद्ध कहा गया है। द्र० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०४।

कुरुश्रवण त्रासदस्यव—कुरुश्रवण त्रासदस्यव को ऋग्वेद के एक सूक्त में मृतक के रूप में दिखाया गया है; वहीं उनके पुत्र **उपमश्रवस्** और पिता **मित्रातिथि** का भी उल्लेख है; तु०—बृहद्देवता, ७. ३५, ३६। एक अन्य सूक्त में जीवित व्यक्ति के रूप में उनका उल्लेख है : ऋ० १०. ३२.९।[5] उनके नाम से एक ओर तो उनका संबन्ध कुरुओं के साथ बनता है और दूसरी ओर **त्रसदस्यु** और **पुरुओं** से।

[1] पिशल, वैस्तू, २. २१८।

[2] द्र०—पिछले, स्थानीय उल्लेख और तु०—आर्जीकीया

[3] द्र०—पिशल, उपर्युक्त २१८।

[4] ट्रांस० आ दि ऋग्वेद, ३. १६०।

[5] तु०—लुड्विग, ट्रांस० आ० दि ऋ०, ३।१६५. गेल्डनर, वैस्तू०, २. १५०. १८४; लानमान, संस्कृत रीडर, ३८६।

कुरूरु—अथर्ववेद में दो बार **कुरूरु** शब्द आया है, जो कृमियों की एक विशेष जाति का बोधक है : अ० वे० २. ३१. २, ९. २. २२। तु०—त्सिमर, आले०, ९८.

कुर्कुर—अथर्ववेद ७. ९५. २ में कुर्कुर कुत्ते का नाम है, जो उसकी आवाज के अनुकरण पर पड़ा है। तु०—त्सिमर, आले, २३३।

कुल, कुल-पा—बिना समास के अकेला कुल शब्द ब्राह्मण-काल से पहले प्रयुक्त नहीं होता : शब्रा० १. १. २. २२, २. १. ४. ४, २. १. ४. १४, ११. ५. ३. ११, ११. ८. १. ३, १३. ४. २. १७, बृउ०, १. ५. ३२, छाउ० ३. १३. ६ आदि। यह "कुटुम्ब के घर" को जताता है, फिर अजहत्स्वार्था लक्षणा से यह कुटुम्ब का ही वाचक है। कुल-पा (शब्दशः अर्थ है "गृह-रक्षक" या कुल का मुखिया) का ऋग्वेद १०. १७९. २ में उल्लेख है, जहां उसे **व्राजपति** के नीचे और उसका अनुसरण करने वाला बताया गया है। व्राजपति संभवतः युद्ध के समय ग्राम या जाति के योद्धाओं का नेता होता था। अथर्ववेद १. १४. ३ में एक लड़की को व्यंग्यात्मक रूप में कुलपा कहा गया है, क्योंकि वह बिना पति के इस दुनिया में अकेली छोड़ दी जाती है और यम के अतिरिक्त और कोई उसका पति नहीं हो सकता।[1]

कुल शब्द व्यक्तिगत कुलों की परंपरा को जताता है, जिनमें से प्रत्येक कुल पिता या बड़े भाई की प्रधानता में कुछ सदस्यों का होता था। गोत्र से भिन्न कुल शब्द उससे कुछ संकीर्ण है, जो एक बड़े अविभाजित परिवार के अन्तर्गत है। तु०—**गृह, ग्राम, जन, विश्**।

कुलाय—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य मे कुलाय शब्द नोड या घोंसले के अर्थ में अनेकशः आया है : अवे०, ९. ३. २०, १४. १. ५७, २०. १२७. ८, तैसं० ५. ६. ४. ५; ऐब्रा० १. २८; शंब्रा० ८, २. १. ५, १५, १४. ४. २. १६ आदि। ऋग्वेद ६. १५. ६. में भी कुलायिन् शब्द नीडस्थ के अर्थ में आया है।

कुलाल—यजुर्वेद के शतरुद्रिय-मन्त्रों में कुम्भकार के अर्थ में कुलाल शब्द आया है : वा सं०, १६. १७ तु०—कुलाल-कृत, मैसं०, १. ८. ३ और **कौलाल**।

कुलिश—"कुल्हाड़ी"। ऋग्वेद २. २. १ में कुलिश का उल्लेख रथ बनाने के प्रसङ्ग में हुआ है; वहीं १. ३२.

[1] तु०—ह्विटनी, ट्रांस० आ० दि अ० वे०, १५; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि० अ० वे० २५२। तु०—त्सिमर, आले०, १६२।

५ में युद्ध के समय भी इसके प्रयोग का उल्लेख है। अथर्ववेद २. १२ ३ में वृक्ष काटने के लिए भी कुलिश के प्रयोग का उल्लेख है। तु०—त्सिमर, आले०, २५२।

कुलीकय—तैसं ५. ५. १३. १ में कुलीकय किसी पशु का नाम है; स्पष्टत: यह कोई मछली है, जैसा कि महीधर ने वासं २४. २१. ३५ के **कुलीपय** शब्द के भाष्य में लिखा है। अथर्ववेद ११. २. २५ में **पुरीकय** शब्द है। भाष्यकार ने मैसं ३. १४. २ के समान **पलीकय** पाठ लिया है।[1] ये विभिन्न पाठान्तर संभवत: एक अपरिचित नाम के उल्लेख की गलत परंपरा के कारण हैं।

कुलीका—वासं २४. २४ में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी पक्षी का नाम कुलीका है। मैसं ३.१४.५ में इसके स्थान पर **पुलीका** पाठ है। तु०—त्सिमर, आले०, ९४।

कुलीपय—वासं २४. २१. २४. ३५ में कुलीपय शब्द किसी जानवर का नाम है। महीधर के अनुसार यह एक मत्स्य-विशेष है। तु०—**कुलीकय**।

कुलङ्ग—यजुर्वेद में अश्वमेध का बलियों की सूची में किसी पशु, संभवत: हरिण का नाम है : तै सं०, ५. ५. ११., १; मैसं० ३. १४. ९. १३; जहां पाठान्तर कुलङ्ग है; वासं० २४. २७ ३२। तु—त्सिमर, आले०, ८३।

कुलुंच—वाजसनेयि-संहिता के रुद्राध्याय १६. २२ में "कुलुंचानां पतये नम:" आया है। यहां कुलुंच शब्द कुत्सित लुटेरों के अर्थ में प्रतीत होता है।

कुल्मल-बर्हिस्—पंचविंश ब्राह्मण १५. ३. २१ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम है।

कुल्माष—छान्दोग्य उपनिषद् १. १०. २, ७ में बहुवचन में कुल्माष शब्द आया है। भाष्यकार ने "कुत्सित माष"=खराब उड़द या मूंग यह अर्थ किया है। बार्टलिक ने भी अपनी डिक्शनरी में यही अर्थ किया है। तु०—भागवत-पुराण, ५. ९. १२, इसे "कीड़ों से खाये गए माष' के साथ रखा गया है। लिटिल ने निरुक्त १–४ के आधार पर इसका अर्थ **धान्याम्ल प्रासौवीर** किया है। द्र०—ग्रामेटिकल इंडेक्स, ५२।

कुल्या—म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६५. ४६६ के अनुसार ऋग्वेद ३. ४५. ३, १०. ४३. ७ में कुल्या शब्द ह्रद में पड़ने वाली नहरों का बोधक है। द्र०—**अवत**।

[1] द्र० ह्विटनी, ट्रांस० आ० दि अ० वे० ६२४। तु०—त्सिमर, आले०, ८३।

कुवय—द्रष्टव्य **क्वयथि**।

कुवल—याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में **कर्कन्धु** और **बदर** फलों से संबद्ध कुवल का उल्लेख मैसं०, ३. ११. २; वासं०, १९. २२, ८९, २१. २९; कासं०, १२. १०; शब्रा०, ५. ५. ४. १०, १२. ७. १. २, १२. ७. २. ९, १२. ९. १. ५ आदि में आया है। तु०—त्सिमर, आले०, २४२। द्र० **कोल**।

कुश—परवर्ती साहित्य में पवित्र कुशा घास के रूप में उल्लिखित कुश को वोबू में शतपथ ब्राह्मण के स्थलों का निर्देश करते हुए केवल घास के अर्थ में ग्रहण किया है : शब्रा०. १५. २. १५, ३. १. २. १६, ५. ३. २. ७ आदि; कुशा और कुशी का उल्लेख: मैसं० ४. ५. ७, शब्रा० ३. ६. २. ९। तैब्रा०, १. ५. १०. १, २, ७ में ये शब्द विशेषत: लकड़ी या धातु की कील का अर्थ देते हैं।

कुशर—ऋग्वेद १. १९१. ३ में **शर** के साथ कुशर का उल्लेख ऐसी घास के रूप में हुआ है, जहाँ सर्पों को छिपने का स्थान मिल जाता है। तु०—त्सिमर, आले०, ७२।

कुशिक—कुशिक संभवत: कुशिकों के पूर्वज, विशेषत: इस वंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति **विश्वामित्र** के पिता हैं : निरुक्त २. २५, ऋ० ३. ३३. ५। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में **कुशिकों** का अनेक बार उल्लेख आया है : ३. २६. १, ३. २९. १५, ३. ३०. २०, ३. ३३. ५, ३. ४२. ९, ३. ५०. ४, ३. ५३. ९, १०। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८, शाश्रौसू० १५. २७ में **शुन: शेप** के आख्यान से उनका संबन्ध है। वे स्पष्टत: पुरोहितों के वंश के थे, जो **भरतों** के पौरोहित्य-कार्य में सलग्न थे। वे **इन्द्र** की आराधना विशेष रूप से करते थे, अत: ऋग्वेद में **इन्द्र** को भी कौशिक कहा गया है : १. १०. ११ सायण-भाष्य के साथ; तु० मैसं०, ४. ५. ७; शब्रा०, ३. ३. ४. १९; तैआ० १. १२. ४, मैकडानल, वैमा, पृ० ६२, ६३। तु०—वेबर, इस्टू०. १. ३८; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १२. ३४२ एवं आगे; लुड्विग, ट्रांस० आ दि ऋ०, ३. १०१, १२१; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५५; ओल्डेनबर्ग, त्साइत-श्रिफ्त, ४२. २०९।

कुश्रि वाजश्रवस—शतपथ ब्राह्मण १०. ५. ५. १ में यज्ञिय अग्नि के विद्वान् के रूप में एक आचार्य का नाम कुश्रि वाजश्रवस है। बृहदारण्यक उपनिषद् की अन्तिम वंश-सूची (६. ४. ३३ माध्यंदिन ६. ५. ३ काण्व) में इन्हें **वाजश्रवस्** का शिष्य कहा गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या वे बृहदारण्यक उपनिषद की

अन्तिम सूची (६. ५. ४ काण्व) के **कुश्रि** से तथा शतपथ ब्राह्मण १०. ६. ५. ९ के **यज्ञवचस् राजस्तम्बायन** के शिष्य से अभिन्न थे। वंशसूचियों में नाम कुश्रि है, ऋवे १०. ५. ५ में कुश्रि हैं; किंतु इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। तु०—वेबर, इस्तू० १. ७०; एगलिंग, सेबुई, १२. भूमिका का पृष्ठ ३३।

कुषण्ड—पंचविंश ब्राह्मण २५. १५. ३ के नागोत्सव के प्रसङ्ग में **षण्ड** के साथ पुरोहित के रूप में **कुषण्ड** का उल्लेख है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३४, लाश्रौसू०, १०. २०. १०।

कुषवा—ऋग्वेद ४. १८. ८ में "ममच्चन त्वा कुषवा जगार" में कुषवा शब्द आया है। वेंकटमाधव के भाष्य में उसे निष्क्रष्टोदरी कहा गया है। सायण के अनुसार यह किसी राक्षसी का नाम है।

१. कुषीतक—तैत्तिरीय संहिता ५. ५. १३. १ में भाष्यकार के अनुसार कुषीतक शब्द समुद्री काक के अर्थ में आया है। तु०—त्सिमर, आले०, ७२।

२. कुषीतक सामश्रवस—पंचविंश ब्राह्मण १७. ४ में **कौषीतकियों** के एक यज्ञिय सत्र के गृहपति का नाम कुषीतक सामश्रवस है। तु०—वेबर, इस्तू०, १. ३४।

कुषम्भक—ऋग्वेद १. १९१. १६ में किसी विषैले जानवर का नाम कुषुम्भक है। ऋ० १. १९१. १५ में इस शब्द का अर्थ विष की थैली है,[1] जैसा कि अथर्ववेद २. ३२. ६ में **कुषुम्भ** का अर्थ "विष की थैली"[2] है। एजर्टन ने दोनों ही स्थलों पर इसका अर्थ किया है, "विष की थैली।"[3]

१. कुष्ठ—कुष्ठ एक पौधे का नाम है, जिसका अथर्ववेद में अनेक बार उल्लेख आया है: ५. ४, ६. १०२, १९. १३९। यह कोस्टुस स्पेकिओसुस (Costus speciosus) या अराबिकुस (arabicus) हो सकता है।[4] यह सोम के समान पर्वतों पर होता था, विशेषत: हिमवन्त् के उच्च शिखरों पर, जहां श्येनों का नीड था, वहीं से इसे पूर्व में मनुष्यों के लिए लाया जाता था: अथर्ववेद ५. ४. १, २, ८, १९. ३९. १। सोम की भांति इसके भी, तृतीय स्वर्ग में, अश्वत्थ के प्रसिद्ध वृक्ष के नीचे होने का उल्लेख है; जहां देवता एकत्र होते थे, वहां से स्वर्णिम पोत में इसे लाया जाता था: अ०वे० ५, ४. ३. ६, ६. ७५. १, २. १९. ३९. ३–८। ओषधि के रूप में प्रयुक्त होने के कारण इसका पौधों में महत्व-पूर्ण स्थान था; क्योंकि इसके शुभ नाम **नघमार** और **नघारिष** आए हैं। इसे **"जीवल"** और **"जीवला"** से उत्पन्न हुआ बताया गया है: अवे० ५. ४. १, १९. ३९. ४। यह शीर्षामय, नेत्ररोग और शारीरिक कष्ट की ओषधि है: अवे० ५. ४. १०; किंतु मुख्यतया यह ज्वर और यक्ष्म की ओषधि है, अतः इसे **तक्म-नाशन** कहा गया है। इसकी गुणगरिमा के कारण इसे 'विश्वभेषज' कहा गया है: अ०वे० १९. ३९. ९। इसके गन्ध का महत्त्व भी ज्ञात था, क्योंकि **आञ्जन** और **नलद** के साथ इसका उल्लेख मिलता है: अवे० ६. १०२. ३।

२. कुष्ठ—मैत्रायणी संहिता ३. ७. ७ में **कला, कुष्ठ, शफ** और **पद** शब्द क्रमशः १।१६, १।१२, १।८, और १।४ के लिये आये हैं। तु०—बार्टलिक, डिक्शनरी।

कुसीदिन्—शतपथ ब्राह्मण १३. ४. ३. ११, और निरुक्त ६. ३२ में, और सूत्रों में सूद या ब्याज लेने वाले को कुसीदिन् कहा गया है। जाली (रेख्त उन्द ज़ित्ते) का यह मत ठीक है कि तैत्तिरीय संहिता ३. ३. ८. १, २ में "अनृण" के साथ जहां "कुसीद अप्रतीत्त" आया है वहां उसका अर्थ "न चुकाया हुआ उधार" है। सूत्र-काल से पहले ब्याज की दरों का उल्लेख नहीं मिलता। तु०—**ऋण**।

कुसुरुबिन्द औद्दालकि—यज्ञ के विषय में एक प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में **कुसुरुबिन्द औद्दालकि** का उल्लेख पंचविंश ब्राह्मण २२. १५. १, १०, तैसं० ७. २. २. १ जैब्रा० १. ७५ (जहां असुरबिन्द आठ है) और षब्रा १. १६ ("कुसुरुबिन्दु" नाम है) में आया है। वे **श्वेतकेतु** के भाई रहे होंगे, जैसा कि वेबर[1] का सुझाव है। शांश्रौ १६. २२. १४ में **कुसुरबिन्दु** नाम है।

कुहू—द्र० **मास**। तु०' योत्तरा (अमावास्या) सा कुहूः' ऐ. ब्रा. ७. ११; गो. उ. १. १०; 'या कुहूः सानुष्टुप्' ऐब्रा. ३. ४. ७. ४८

कूचक्र—ऋवे की एक दुरूह ऋचा १०. १०२. ११ में कूचक्र त्सिमर[2] के अनुसार कुए में से जल भरने की

---

[1] जैसा कि बार्टलिक ने भी अपनी डिक्शनरी में माना है।

[2] तु०—त्सिमर, आले०, ९९; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद १. २५७।

[3] जअओसो, १९१२, २३७।

[4] तु०—ग्रोहमान, इस्तू०, ९. ४२० एवं आगे; त्सिमर, आले०, ६३. ६४; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, २२७, २२८:

---

[1] इस्तू० ५. ६१ टि०।

[2] आ० ले०, १५७; तु०—वैस्तू० २. १४

घिरड़ी का नाम है; किंतु राथ[१] के अनुसार यह स्तन को व्यक्त करता है।

कूट—ऋवे० १०. १०२. ४, अवे० ८. ८. १६ और ऐब्रा०, ६. २४; शब्रा, ३. ८. १. १५; जैब्रा० १. ४९. ९; १. ५०. २ में यह शब्द आता है। अर्थ इसका संदिग्ध है। किंतु 'मुद्गर' या 'मुसल' यह अर्थ सभी स्थलों में ठीक बैठ जाता है।[२] वोबू में इसका अर्थ सींग दिया गया है, जिसे ह्विटनी ने अ० वे० के अनुवाद में स्वीकार किया है।[३] गेल्डनर के अनुसार इसका अर्थ 'पाश' है।[४]

कूदी—अवे० ५. १९, १२ और कौशिक—सूत्र[५] में कूदी शब्द (पाण्डुलिपियों में 'कूटी' पाठान्तर भी) एक शाखा का बोधक है, जो बदरी की मानी गई है, और जो मृत व्यक्ति के शव से बांध दी जाती थी, जिससे उसकी आत्मा पुराने घर में न लौटने पावे।

१—ब्लूमफील्ड का संस्करण, ४४, तु०—ब्लूमफील्ड, अजफि. ११. ३५५; १२. ४१६; राथ, फ़ेस्ट्ग्रुस आन बार्टलिक, ९८; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, २५४; मैकडानल, वैदिक मा. पृ० १६५।

कूप—ऋ० वे०, १. १०५. ७ में और परवर्ती साहित्य अवे० ५. ३१. ८; शब्रा, ३. ५. ४. १; ४. ४. ५. ३; ६. ३. ३. २६ आदि; जैब्रा, १. १८४ आदि में ("कूप्य" अर्थात् "कूपस्थ" शब्द परवर्ती संहिताओं में कई बार आया है) कूए के अर्थ में आम मिलता है। कहीं-कहीं ये कूप गहरे रहे होंगे, जैसा कि त्रित की कथा से ज्ञात होता है, जिसके अनुसार त्रित एक ऐसे कूप में गिर गया था जहां से वह बिना दूसरों की सहायता के नहीं निकल सकता था। द्र०—मैकडानल, वैदिक मा० पृ० ६७।

कूबर—मैसं २. १. ११ में कूबर, शब्रा ४. ६. ९. ११, १२ और कौब्रा २७. ६ में **कूबरी** शब्द गाड़ी के फड़ को जताता है।

कूर्च—तैसं ७. ५. ८, ५ में और परवर्ती साहित्य शब्रा, ११. ५. ३. ४ ७; बृउ, २. ११. १; ऐआ ५. १. ४ में घास के उस बंडल को कूर्च कहा गया है, जो बैठने के काम में आता था। शब्रा १३. ४. ३. १ में एक स्वर्णिम **कूर्च** का उल्लेख है।

कूर्म—"कछुआ या कच्छप"। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में यह आम है, किंतु इसकी विशेषताओं का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

द्र: अवे ९. ४. १६; तैसं २. ६. ३. ३; ५. २. ८. ४, ५; ५. ७. १३. १; मैसं ३. १५. ३; वासं, २४. ३४ आदि; शब्रा, १. ६. २. ३; ६. १. १. १२ आदि। तु०—'स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' शब्रा ७. ५. १. ५, 'यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ रसोऽत्यक्षरत् स एष कूर्मः' शब्रा ७. ५. १. १, 'स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः' शब्रा ६. ५. १. ६; 'प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति' शब्रा ७. ५. १. ७। तु०—त्सिमर, आले० ९५; मैकडानल, वैमा, पृ० १५३। द्रष्टव्य **कश्यप**

कूशाम्ब स्वायव लातव्य—पंब्रा ८. ६. ८ में एक पुरोहित के रूप में इनका उल्लेख है। नाम की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है: **लातव्यगोत्रीय स्वायु-पुत्र कूशाम्ब (कुशाम्ब=कूशाम्ब)**।

कूष्माण्ड—वासं के तीन मन्त्रों २०. १४-१६ में कूष्माण्ड का उल्लेख है। इनके द्वारा पाप से मुक्ति मिलती है। तैआ २. ७. १; २. ८. १ में भी कूष्माण्ड मन्त्रों द्वारा यज्ञ करके प्रायश्चित्त करने का विधान मिलता है।

कृकलास—यजुर्वेद आदि में अश्वमेध की बलियों की सूची में कृकलास (गिरगिटान) का उल्लेख मिलता है: तैसं, ५. ५. १९. १; मैसं ३. १४. २१; वासं, २४. ४०; बृउ, १५. २२; जैब्रा, १. २२१; शाट्यायनक, सायण भाष्य ऋ० ८. ९१ में। ब्राह्मणों में **कृकलासी** का भी उल्लेख है: जैब्रा, १. २२१: शाट्यायनक, उपर्युक्त। द्रष्टव्य **गोधा** और **शयण्डक**। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९५।

कृकदाशु—ऋवे १. २९. ७ में **कृकलास** के लिए आया है।

कृकवाकु—"कुक्कुट"। अवे ५. ३१. २; १०. १३६. १० में इसका उल्लेख भेड़ों, बकरियों एवं अन्य पालतू पशुओं के साथ हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि मुर्गा भी पालतू परिंदा था; तु०—सायण-भाष्य तैसं ५. ५. १८. १; जिन्होंने किसी कुक्कुट को वन्य कहकर वर्गीकरण किया है। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में **कृकवाकु** सविता को समर्पित किया गया है: तैसं, उपर्युक्त मैसं, ३. १४. १५; वासं २४. ३५। यास्क, निरुक्त १२. ३ के अनुसार काल-सूचक होने के कारण

---

[१] वोबू।

[२] द्र० ब्लूमफ़ील्ड, त्सादामौगे ४८., ५४८; हिम्स आ० दि० अ० वे०, ५८५।

[३] द्र०—ट्रां अवे ५०५।

[४] वैस्तू० १. १३८; २. ७; तु०—फान ब्राडके, त्सादामौगे ४६. ४५८; कुह्न का त्सा. ३४. १५६; वेवर, इस्तू०, ९. २२२।

इसे कृकवाकु कहा गया है। महीधर ने इसकी व्याख्या में इसे ताम्रचूड ("लाल चोटी वाला") बताया है। वस्तुतः यह शब्द अव्यक्तानुकरण है='कृक बोलने वाला'[1]। द्र० कुक्कुट। तु०—त्सिमर, आ०ले, ९१।

कृकाट—अवे ९. ७. १ में प्रजापति और परमेष्ठी को शृङ्ग, इन्द्र को शिर, अग्नि को ललाट और यम को कृकाट (गल-ग्रन्थि) बताया गया है।

कृत—द्रष्टव्य **२—अक्ष** और **२—युग**। तु०—दु० मो० भट्टाचार्य, दि अडयार लाइब्रेरी बुलेटीन वा. २५. भाग १-४, जहां वे अवे ७. १०९. ४ में घृत की जगह 'कृत' पढ़ते हैं।

कृतध्वज—'झंडा धारण किये हुए'। ऋवे ७. ८३. २ में युद्धार्थ संगमन करने वाले कृतध्वज मनुष्यों का उल्लेख है। एक झण्डे के नीचे युद्ध करने की प्रथा बहुत प्राचीन है।

कृति—ऋवे के एक मन्त्र १. १६८. ३ में मरुतों के कृति नामक शस्त्र धारण करने का उल्लेख है। त्सिमर[2] अनुसार कृति युद्ध में काम आनेवाली तलवार या कटार है। किंतु कृति को मानवीय शस्त्र कहने के लिये साक्ष्य नहीं मिलता। द्र०—**असि**।

तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, २२१।

कृत्तिः—वासं० के रुद्राध्याय में रुद्र के कृत्ति (चर्म) धारण करने का निर्देश है—'कृत्तिं वसान आ चर', वासं १६. ५१। तु०—ऋ० ८. १९. ६; अवे ८. ६. ११।

कृत्तिका—द्र०—**नक्षत्र**। तु० 'मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत् कृत्तिकाः' तैब्रा १. १. २. १; 'एतद्वा अग्नेर्नक्षत्रं यत् कृत्तिकाः' तैब्रा १. १. २. १; 'एता वा अग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः' शब्रा २. १. २. १।

कृत्नु—'कर्तनशील' या 'कर्ता' के अर्थ में ऋवे में कई स्थलों पर आया है। कुछ स्थलों पर यह इन्द्र के लिए आया है: ऋ० १. ९२. १०; ८. ६८ १; ८. १६. ४।

कृत्या—आभिचारिक कर्म के अर्थ में अनेक स्थलों पर आया है: ऋ० १०. ८५. २८, २९; वासं० ५. २३. ३५. ११। अवे ५. १४. ११ में मनाया गया है कि कृत्या अपने कर्ता के पास ही लौट जाय:—'मृगीव कृत्या कर्तारमृच्छतु'। तु०—शब्रा, २. ४. ३. २, १३; ३. ५. ४. २, ३; ४. १. ५. १; कौसू ६ आदि।

[1] द्र०—श्राडर, प्रिहिस्टो ऐंटी, २५१; वेबर, इस्टू, १८. २८५।

[2] आ० ले०, ३०१।

कृत्वन्—ऋवे के एक मन्त्र ९. ६५. २३ में बहुवचन में कृत्वन् शब्द आर्जीकों और पञ्चजनों के साथ उल्लिखित है। पिशल[1] के अनुसार यह किसी जाति का नाम है; किंतु सायण के मत में देश-विशेष का बोधक है: 'कृत्वान इति देशाभिधानम्'। संभवतः इसका संबन्ध कुरुओं या क्रिवियों से रहा हो। हिल्लेब्रांड्ट[2] के अनुसार यह आर्जीकों की विशेषता को प्रकट करता है, और किसी शत्रु द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उन्हें 'यातु करने वाला' कहकर सूचित करता है। इस मत के समर्थन में वे युवनच्वांग का यह विवरण[3] प्रस्तुत करते हैं कि पार्श्ववर्ती राजा निचले कश्मीरियों को ऐसी अवज्ञा से देखते थे कि उनके साथ किसी भी प्रकार का मैत्री-संबन्ध नहीं स्थापित करना चाहते थे; और उन्हें कि-लि-तो (कृत्या) नाम देते थे। उनका सुझाव है कि प्राचीन काल में कश्मीर में रहने वाले आर्जीक भी परवर्ती आर्जीकों के समान अवज्ञा के भाजन थे।

तु०—राथ, वोबू।

कृत्स्न हारीत—शांआ ८. १० में एक आचार्य का नाम है। तु०—**कृष्ण हारीत**।

कृप—ऋवे० ८. ३. १२, ८.४. २ में रुशम और श्यावकके साथ कृप का उल्लेख इन्द्र के कृपा-पात्र के रूप में हुआ है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६२।

कृमि—विशेषतः अवे० में और परवर्ती संहिताओं में कृमियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है: अवे, २. ३१, ३२; ५ २३; तैसं ५. ५. ११. १; मैसं० ३. १४. ११; वासं २४. ३०, मैसं, ३. १४. ११; वासं २४. ३०; मैब्रा, २. ६; तैआ ४. ३६; शब्रा ५. ४. १. २ और तु०—ऋ० १. १९१। इन्हें विषैला बताया गया है और पर्वतों, वनों, जलों, पौधों एवं मनुष्य के शरीर में उनकी स्थिति मानी गई है। उन्हें मनुष्यों और पशुओं में रोग की उत्पत्ति का कारण माना गया है। अवे० के उपर्युक्त तीनों सूक्तों में कृमियों के प्रभाव को दूर करनेवाले मन्त्र हैं। इनमें से पहला सूक्त सामान्य विशेषताओं का है, दूसरे में पशुओं के कृमियों को नष्ट करने के लिए मन्त्र हैं, और तीसरे में बालकों को कृमियों के दुष्प्रभाव से मुक्त करने के लिए मन्त्र हैं। मनुष्यों में पाए जाने वाले कृमियों का स्थान शीर्ष और पार्श्व-अस्थियों में माना गया है: अवे० २. ३१. ४; उनके नाक और दांतों का भी उल्लेख है: अवे ५. २३. ३। उन्हें काला, भूरा और शरीर के अग्रभाग में श्वेत माना गया है; उनके कान काले हैं और

[1] वैस्टू, २. २०९।

[2] वैमा, १. १३६, १३७।

[3] कनिंघम, ऐं० जियोग्रफी आ० इं०, ९३।

उनके तीन सिर हैं : अवे ५. २३. ४ एवं आगे। उनके कई नाम हैं-**अलाण्डु, एजत्क, कष्कष, कीट, कुरूरु, नीलंगु, येवाष, वघा, वृक्षसर्पी, शलून, शवर्त, शिपविलुक, स्तेग।** तु०-त्सिमर, आले ९८, ३९३; कुह्न, त्साइतश्रिफ्त फ्यूर फेर्ग्लाइशेन्दे श्प्राखफोर्शुङ्ग १३. ४९ एवं आगे, ११३ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ३१३ एवं आगे; वेबर, इस्टू०, १३. १९९; ह्विटनी, ट्रां० वे० ७३।

क्रमुक—कासं० १९. १० में जलाने के काम में आने वाली एक लकड़ी का नाम है। **क्रामुक** भी इसी अर्थ में आता है। तु०-"धनुष उपादान-भूतः सारवान् वृक्ष-विशेषः" इति सायणः। "तस्मात् स स्वादूरसो हि तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हि स एषोऽग्निरेव यत् क्रमुकः" शब्रा, ६. ६. २. ११।

कृश—ऋवे के एक बालखिल्य सूक्त ८. ५४. २ में **संवर्त** के साथ **कृश** को **इन्द्र** के लिए यज्ञ करने वाला बताया गया है; एक अन्य सूक्त ८.५९. ३ में उन्हें सत्य बोलने वाला कहा गहा है; एक तीसरा सूक्त परंपरा के अनुसार उनका बनाया हुआ बताया जाता है।[1] ऋवे के एक अन्य सूक्त १०. ४०. ८ में **शयु** के साथ **अश्विनों** के कृपा-पात्र के रूप में उनका उल्लेख है, किंतु वहां **कृश** शब्द केवल "दुर्बल" के अर्थ में भी हो सकता है। द्र० राथ, वोबू।

कृशन—"मुक्ता"। ऋवे में सविता के रथ को सजाने के प्रसङ्ग में मोतियों का उल्लेख है : ऋ० १. ३५ ४; अश्व की सज्जा के लिए भी उसके उपयोग का उल्लेख है : ऋ० १०. ६८. १। इसीलिए अश्व को **कृशनावन्त्** कहा गया है : ऋ० १. १२६. ४; तु०-कृशनिन् ७. १८. २३। अवे १०. १. ७ में भी मोती और उसकी सीपी (शंखः कृशनः) का उल्लेख है, जो समुद्र से प्राप्त किये जाते थे और तावीज का काम देते थे : अवे ४. १०. १, ३। निघण्टु १. २ में इसे हिरण्य के नामों में गिनाया गया है : तु०-सामब्रा, १. ६. २२। द्र०-त्सिमर, आले०, ५३, ५४; लानमान, ह्विटनी के ट्रांस० आ० अ० वे०, १६१ में।

कृशानु—ऋ० वे० में एक देवशास्त्रीय व्यक्ति प्रतीत होते हैं।[2] ऋग्वेद १. ११२. ११ में राथ[3] ने इसे एक धनुर्धारी का नाम माना है।

[1] इस्टू १. २९३ टि०। तु०-लुड्विग, ट्रांस० आ० दि ऋ० ३. १३२, १६३।

[2] द्र०-मेकडानल, वैमा. पृ० ७४, ११२, १३७; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि १. ४४८।

[3] वोबू।

कृषि—ईरान से बिछुड़ने के पहले ही आर्यों को खेती का ज्ञान था, जैसा कि वैदिक शब्दों "यवं कृष्" और "सस्य" की अवेस्ता के "यवो करेश्" और "हृव्य" शब्दों की समानता से व्यक्त होता है। ये शब्द बीज ओरने और उनके उपजने को जताते हैं।[1] किंतु यह भी ध्यान देने की बात है कि कृषि से संबद्ध शब्द प्रायः प्रथम और दशम मण्डल में ही आए हैं; तथाकथित वंश-मण्डलों (२-७) में नहीं : ऋ० १. २३. १५; १. १७६. २; १०. ३४. १३; १०. ११७. ७; १०. १४६. ६; तु०-१०. १०१. ४ कृष् शब्द ८. २०. १९; ८. २२. ६ में भी आया है। वंशमण्डलों में से केवल ४. ५७. ४, ८ में विकृष् शब्द आया है। अ० वे० ८. १०. २४ में **पृथीवैन्य** को कृषि प्रारम्भ करने का श्रेय दिया गया है; ऋ० वे० १. ११७. २१ में भी **अश्विनों** के जोतने एवं बीज बोने का उल्लेख है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में कृषि का अनेकशः उल्लेख है : अवे २. ४. ५; ८. २. १९; ८. १०. २४, १०. ६. १२; १२. २. २७ आदि; तैसं, ७. १. ११, १ आदि; मैसं १. २. २; ३. ६. ८; वासं ४. १०; ९. २२; १४. १९, २१ आदि; शब्रा ७. २. २. ७; ८. ६. २. २; तैब्रा, ३. १. २. ५ आदि; अवे ६. ११६. १ में **कार्षीवण** शब्द हल चलाने वाले का बोधक है। द्र० **कार्ष्मन्**।

ऋग्वेद-काल में ही कृषि के महत्त्व को पहचाना जा चुका था : ऋ०-१०. ३४. १३[2]। पंब्रा १७. १ में ब्राह्मण-संस्कृति-विहीन व्रात्यों को कृषि न करने वाला कहा गया है।

कृषि की भूमि को **उर्वरा** या **क्षेत्र** बताया गया है। खाद (शकन् या करीष) का उपयोग होता था और सिंचाई की जाती थी (खनित्र)। हल (लाङ्गल, सीर) को बैल खींचते थे; छः, आठ या बारह की जोड़ी भी जोती जाती थी जैसी कि आज भी ऊद में जोड़ी जाती है : अवे, ६. ९१. १; कासं १५. २; तु०-ऋ० ८. ६. ४८; १०. १०१. ४। शब्रा १. ६. १. ३ में जोतने, बोने, काटने और गाहने का उल्लेख है; तु० कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः। खेत को दांती (दात्र, सृणी) से काटा जाता था, पूलियों (पर्ष) में बांधा जाता था और खलिहान में गाहा जाता था : ऋ० १०. ४८. ७। अनाज को गाह लेने के बाद उसे छाज से (तितउ) या शूर्प से उड़ाते थे : ऋ० १०. ७१. २; अवे १२. ३. १९; पारिभाषिक शब्द है : तुषैर् विविच्, अवे ११. १, १२; प्लावान् अपविच्,

[1] द्र०-त्सिमर, आले, २३५; हापकिन्स, जअओसो, १७. ८५.

[2] तु०-हापकिन्स, इंडिया, ओल्ड ऐंड न्यू, २०८।

१२. ३. १९। नाज उड़ाने वाले को 'धान्यकृत्' कहते थे। अन्न को पात्र से मापा जाता था, जिसे ऊर्दर कहते थे: धान्यकृतः ऋ० १०. ९४. १३; ऊर्दरः ऋ०, २. १४. ११ द्र०—**स्थिवि**।

कौन से अन्न बोये जाते थे, इस संबन्ध में ऋग्वेद चुप है, क्योंकि यव और धाना से तो इस पर प्रकाश नहीं पड़ पाता। परवर्ती संहिताओं में स्थिति भिन्न है। वहां (वासं १८. १२ में इनकी सूची देखी जा सकती है) **व्रीहि** (चावल), यव और उसकी विशेष जाति का **उपवाक**, **मुद्ग**, **माष**, **तिल**, **अणु**, **खल्व**, **गोधूम**, **नीवार**, **प्रियंगु**, **मसूर**, **श्यामाक**, **उर्वारु**, **उर्वारुक**, ये नाम पाये जाते हैं। यह अनिश्चित है कि फलदार वृक्ष बोये जाते थे अथवा जंगली पेड़ों की तरह स्वयं पैदा हो जाते थे, किंतु **कर्कन्धु**, **कुवल**, और **बदर** का उल्लेख आम है। ऋ० ३. ४५. ४ में पके फलों को तोड़ने का उल्लेख है, तु०—"पक्वा शाखा" ऋ० १. ८. ८; "वृक्ष पक्व" ऋ० ४. २०. ५; अवे २०. १२७. ४; किंतु इससे फलदार पेड़ों की खेती का साक्ष्य नहीं मिलता।

तैसं में एक स्थल ७. २. १०. २ पर खेती की मौसमों का कथन है: **यव** ग्रीष्म में पकता है, निश्चय ही यह आजकल की न्याईं शरद् में बोया जाता रहा होगा। **धान** शरद्-हेमन्त में पकता था और वर्षा के आरम्भ में बोया जाता था। **मुद्ग**, **माष** और **तिल** वर्षा में बोये जाते थे और हेमन्त तथा शिशिर में पकते थे। तैसं ५. १. ७. ३ के अनुसार वर्ष में दो फसलें (सस्य) काटी जाती थीं। कौब्रा १९. ३,[१] के अनुसार जाड़े की फसल चैत्र (मार्च-अप्रैल) में पकती थी।

आज की न्याईं तब भी किसान को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। गड्ढों में रहने वाले चूहे-गोह आदि जानवर खेती को कुतर देते थे; पक्षी और अनेक प्रकार के कीड़े (**उपक्वस**, **जभ्य**, **तर्द**, **पतंग**) नवांकुरों को चाट जाते थे। अतिवृष्टि या अनावृष्टि से फसलों को क्षति पहुंचती थी। अवे ६. ५०. १४२; ७. ११ में इन ईतियों से बचने के लिए मन्त्र दिये गये हैं।[२]

कृष्टि—ऋग्वेद-काल से ही कृष्टि शब्द खेतिहरों को जताता आया है: ऋ० १. ५२. ११; १. १००. १०; १. १६०. ५; १. १८९. ३; ३. ४९. १; ४. २१. २ आदि; अवे १२. १. ३, ४ आदि। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग इस बात का साक्षी है कि आक्रान्ता आर्य लोग कृषि से परिचित थे, यद्यपि उनमें से सभी उस वृत्ति पर नहीं जीवित थे। **इन्द्र** और **अग्नि** कृष्टियों के सर्वोच्च स्वामी हैं: ऋ० १. १७७. १; ४. १७. ५; ७. २६. ५, ८. १३. ९ (इन्द्र); १. ५९. ५; ६. १८. २; ७. ५. ५ (अग्नि)। कभी-कभी "मानुषी" या "मानवी" इन विशेषणों के साथ भी **कृष्टि** शब्द का प्रयोग हुआ है: ऋ० १. ५९. ५; ६. १८. २; अवे० ३. २४. ३।

पाँच जनों (पञ्च कृष्टयः) का विशेष उल्लेख कई स्थानों पर आया है: ऋ० २. २. १०; ३. ५३. १६; ४. ३८. १०; १०. ६०. ४; १०. ११९. ६; १०. १७८. ३; अवे ३. २४. २; १२. १. ४२। इसका ठीक-ठीक भाव ज्ञात नहीं है। द्र० **पञ्चजनाः**। तु० त्सिमर, आले०, १४१।

१. कृष्ण—"काला"। काले पशु या पक्षी को जताता है। कुछ स्थलों पर प्रसङ्गतः हरिण का बोधक है: तैसं ५. २. ६. ५; ६. १. ३. १; शब्रा, १. १. ४. १; ३. २. १. २८; इसी प्रकार "कृष्ण-विषाण" अर्थात् काले मृग का शृङ्गः, वही, ३. २. १. १८, २८; ३. २. २. २०; ४. ४. ५. २; ५. ४. २. ५; तैसं ६. १. ३. ७; द्र० अश्वमेध के स्थल, मैसं ३. १४. १७; वासं. २४. ३६. तु०—२. १। कुछ स्थलों पर शिकारी पक्षी अभिप्रेत प्रतीत होता है जैसे कि ऋ० १०. ९४. ५; अवे ११. २. २; और शांआ, १२. २७ में। तु० 'अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत' शब्रा. १४. १. १. ३१. **कृष्णाजिन**।

२. कृष्ण—ऋवे के एक सूक्त ८. ८५. ३, ४ में एक ऋषि का नाम है। परंपरा के अनुसार वे या उनके पुत्र **विश्वक** (कार्ष्णि) अगले सूक्त ऋ० ८. ८६ के ऋषि माने गए हैं। पैतृक नाम **कृष्णिय** भी ऋग्वेद के अन्य दो सूक्तों में आया है: ऋ० १. ११६. २३; १. ११७. ७, (**कार्ष्ण्य** के स्थान पर कृष्णिय पैतृक नाम है; तु० **पज्रिय**[१])। उक्त स्थलों पर अश्विन् विश्वक कृष्णिय को **विष्णापू** देते बताये गए हैं। इस प्रकार कृष्ण, विष्णापू के बाबा ठहरते हैं। ये कृष्ण कौब्रा ३०. ९ के **कृष्ण आङ्गिरस** हो सकते हैं।

३ कृष्ण देवकीपुत्र—छाउ ३. १७. ६ में **घोर आङ्गिरस** के शिष्य का नाम कृष्ण देवकीपुत्र है। परंपरा एवं कुछ आधुनिक विद्वान्—ग्रियर्सन, गार्बे और फान श्रोडर—

[१] तु०—कीथ, शांआ, ८१ टि०—१।

[२] तु०—त्सिमर, आले, २३५-२४३

[१] मैकडानल, वैग्रा, २२८ और २००। तु०—लुड्विग, ट्रांस० आ० दि ऋग्वेद, ३. १०८; मैकडानल, वैमा. पृ० ५२।

इससे भगवान् कृष्ण को लेते हैं[१]। इनके मत में वे धर्म के व्याख्याता एक क्षत्रिय हैं जो कि अवतार थे, जिनका धर्म-व्याख्याता ब्राह्मणों से कुछ सिद्धान्तों में भेद था। किंतु इस बात की यथार्थता में संदेह है; और बहुत अधिक संभव है कि ये दोनों सुतरां पृथक् व्यक्ति रहे हों।

तु०—वेबर, उपर्युक्त, ७१. १४८; हापकिन्स, जराएसो १९०५. ३८६।

कृष्ण विषाणा—तु० 'या सा योनिः सा कृष्णविषाणा' शब्रा ३. २. १. २८।

४ कृष्ण हारीत—ऐआ ३. २. ६ में एक आचार्य का नाम है। शां आ के समानान्तर स्थल ८. १० पर कृत्स्न शब्द है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३९१ टि०; इन्दीन लितरात्यूर, ५०।

कृष्ण-दत्त लौहित्य—'लोहित का वंशज'। जैउब्रा ३. ४२. १ में आचार्यों की एक वंश-सूची में **श्याम-सुजयन्त लौहित्य** के एक शिष्य हैं।

कृष्ण-धृति सात्यकि—'सत्यक का वंशज'। जैउब्रा ३. ४२. १ में आचार्यों की एक वंश-सूची में **सत्यश्रवस्** के शिष्य एक आचार्य हैं।

कृष्णरात लौहित्य—'लोहित का वंशज'। जैउब्रा ३. ४२. १ में आचार्यों की एक वंश-सूची में **श्यामजयन्त लौहित्य** के एक शिष्य हैं।

कृष्णल—एक छोटा सा बीज है, जो माप के काम में आता था; मनु ८. १३४ के अनुसार चार **कृष्णल** एक **माष** के बराबर होता था। माप के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख परवर्ती संहिताओं में पाया जाता है: तैसं २. ३. २. १ एवं आगे; मैसं, २. २. २; कासं ११. ४ हिरण्य-कृष्णल; तैब्रा, १. ३. ६. ७; अनुपद सूत्र, ९. ६। बाद में इसे रक्तिका, गुंजा या चोंटली कहते हैं। तु०—वेबर का 'ज्योतिष' का संस्करण, ८२ एवं आगे; इंदिश्शे स्त्राइ-फन १. १०२, १०३।

कृष्णा—अवे १. २३. १ में **इन्द्रावरुणी** या **इन्द्रायन** औषधि का नाम प्रतीत होता है।

कृष्णाजिन—काले मृग (कृष्ण)—चर्म (=अजिन) का नाम है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में यज्ञ के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख आम है। तु०—'ब्रह्म वै कृष्णा जिनम्' कौब्रा ४. ११; 'ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयो रूपं यत् कृष्णाजिनम्' तैब्रा २. ७. ३३; 'इयं (पृथिवी) वै कृष्णाजिनम्' श० ६. ४. १. ९; 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम्' शब्रा ६. ४. १. ६। द्र अवे ९.६.१७; तैसं, २. ४. ९. २; ५. ४. ४. ४; शब्रा, १. १. १. २२; १. १. ४. १; १. ९. २. ३५ आदि।

कृष्णात्वच्—आलंकारिक रूप से आर्यों के कृष्ण-वर्णीय शत्रुओं का बोधक है: ऋ० ९. ८६. ४४; तैब्रा ३. ७. १३. १। तु० **त्वच्**।

कृष्णायस—"काली धातु", "लोहा"। छांउ ६. १. ६ में आती है। द्रष्टव्य **अयस्** और **कार्ष्णायस**।

कृसर—षब्रा ५. २ में चावल और तिल के मिश्रित भोजन को कृसर (=खिचड़ी) कहा गया है। सूत्रों में इसका उल्लेख आम है। तु०—वेबर, ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा।

केकय—एक जाति का नाम है, जो परवर्ती काल में और संभवतः वैदिक काल में भी उत्तर-पश्चिम में सिन्धु और वितस्ता के बीच रहती थी[१]। वैदिक ग्रन्थों में केवल राजा **अश्वपति कैकय** के नाम में इन लोगों का उल्लेख बचा हुआ है। द्र० शब्रा, १०. ६. १. २ एवं आगे, छाउ ५. ११. ४. १२०, इस्तू, १. १२६।

केत—तु० 'अन्नं केतः' शब्रा० ६. ३. १. १९.

१. केतु—वेबर के अनुसार अद्भुत ब्राह्मण[२] में उल्का या धूमकेतु के अर्थ में यह शब्द आया है।

२. केतु—तैआ १. २३. २; १. २४. ४; १. ३. १. ६ में "अरुणाः" और "वातरशनाः" के साथ बहुवचन में प्रयुक्त 'केतवः' शब्द ऋषियों का सूचक है। इन्हीं के नाम पर **आरुण केतुक** अग्नि का नामकरण हुआ है, जो इस आरण्यक के प्रथम प्रपाठक का प्रतिपाद्य विषय है।

केतु वाज्य—'वाज का वंशज'। वंब्रा (इस्तू ४. ३७२) में एक आचार्य के रूप में आते हैं।

केन, केनेषित—केनोपनिषद् या केनेषित उपनिषद् नाम उस उपनिषद् के प्रथम शब्द के आधार पर पड़ा है।

[१] तु०—वेबर, इन्दीन लितरात्यूर १६९। उनके अनुसार ये आचार के क्षत्रिय प्रवक्ता थे जिनका ब्राह्मण आचार-प्रवक्ताओं से बहुत सी बातों में भेद था; फान श्रोडर, विओज, १९. ४१४, ४१५; ग्रियर्सन, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन्स, भक्ति पर लेख; गार्बे, भगवद्गीता।

[१] पार्जिटर, जराएसो, १९०८, ३१७, ३३२।

[२] इस्तू, १. ४१; "अरुणाः केतवः, अवे, ११. १०. १, २, ७ को वोबू में इसी अर्थ में माना गया है, किंतु बार्टोलिक ने अपनी डिक्श० में इसे नहीं स्वीकार किया है।

केवट—ऋवे ६. ५४. ७ में यह शब्द गर्त के अर्थ में आया है; जहाँ **पूषन्** से प्रार्थना की गई है कि न हमारा कोई पशु मरे न उसे व्याघ्रादि खावें और न वह केवट (गर्त) में गिरकर मरने पावे।

केवर्त, कैवर्त—वासं ३०. १० (महीधर भाष्य के साथ) और तैसं ३. ४. १२. १ (सायण भाष्य के साथ) में **केवर्त** और **कैवर्त** शब्द धीवर (मछली मारने वाले) के अर्थ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में आये हैं।

केश—'सिर के बाल'। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में केश शब्द आम है : अवे ५. १९. ३; ६. १३६. ३ आदि; वासं १९. २२; २०. ५; २५. ३; शब्रा २. ५. २. ४८। वैदिक आर्य केशों का बहुत ध्यान रखते थे; अवे के कई सूक्तों में घने बालों की वृद्धि के लिए मन्त्र आते हैं : अवे, ६. १३७[1]। बालों के काटने और साफ करने (√वप्) का भी उल्लेख है : अवे, ८. २. १७; शब्रा, ५. ५. ३. १ आदि[2]। पुरुष के लम्बे केश स्त्रीत्व के द्योतक थे : शब्रा, ५. १. २. १४[3]। केशों के सजाने के संबन्ध में द्र०—**ओपश** और **कपर्द**। दाढ़ी के संबन्ध में द्रष्टव्य **श्मश्रु**।

केशव—तु० 'न वा एष स्त्री न पुमान् यत् केशवः पुरुषो यदह पुमांस्तेन न स्त्री न पुमान्' शब्रा ५. १. २. १४।

१ केशिन्—शब्रा ११. ८. ४. ६ में जाति का नाम है, जहाँ उनके राजा यज्ञ के अवसर पर देखे गए दुःस्वप्न के संबन्ध में प्रायश्चित्त के लिए **खण्डिक** से शिक्षा लेते हैं। तु०—पाणिनि, ६. ४. १६५; एगलिंग, सेबुई, ४४. १३१, १३४।

२ केशिन् दार्भ्य या दाल्भ्य—'दर्भ का वंशज'। केशिन् दार्भ्य या दाल्भ्य कुछ विशेष व्यक्तित्व वाले पुरुष हैं। जैउब्रा, मैसं, तैसं, कौब्रा, और बृदे में दार्भ्य शब्द मिलता है; कासं, पंविब्रा और ऋग्वेदानुक्रमणी में दाल्भ्य रूप आता है। शब्रा ११. ८. ४. १ (एवं आगे, सायण भाष्य के साथ) और जैउब्रा ३. २९. १ (एवं आगे) के अनुसार वे एक राजा हैं, और **उच्चैःश्रवस्** की बहन के पुत्र हैं : जैउब्रा, उपर्युक्त; वे पञ्चालों की जाति के थे, जिनकी एक शाखा केशिन् रही होगी। इन्हें **त्र्यनीक** अर्थात् तीन प्रकार का कहा गया है : कासं, ३०. २; जैउब्रा, उपर्युक्त बौश्रौसू, २०. २५। मैसं १. ४. १२ में **खण्डिक** से यज्ञ-कल्प के संबन्ध में उनके विवाद की कथा है[1]। शब्रा ११. ८. ४. १ एवं आगे में भी यह कथा कुछ भेद के साथ आती है। मैसं १. ६. ५. और तैसं २. ६. २. ३ के अनुसार वे **केशिन् सात्यकामि** नामक एक साधु के समकालीन और साथी थे। पंब्रा १३. १०. ८ में एक साम का उल्लेख उनके नाम पर हुआ है। कौब्रा ७. ४ में आता है कि एक स्वर्णिम पक्षी ने उन्हें शिक्षा दी थी।

प्रारम्भिक साहित्य में सर्वदा दार्भ्य को ऋषि कहा गया है; अतः यह संदिग्ध है कि भाष्यकार का शब्रा में इनसे एक राजा या जाति को लेना ठीक है या गलत; जब कि स्वयं जैउब्रा० अधिक प्रामाणिक नहीं है। संभवतः जैउब्रा ने यह समझा हो कि कासं ३०. २ में **केशिन्** लोगों से कोई एक राजा अभिप्रेत है; किंतु ऐसा मानना अनिवार्य नहीं है।

३ केशिन् सात्यकामि—"सत्यकाम का वंशज"। तैसं २. ६. २. ३ और मैसं १. ६. ५ में **केशिन् दार्भ्य** के के समकालीन एक आचार्य हैं।

केसर-प्राबन्धा—अ० वे० ५. १८. ११ में **वैत-हव्यों** के अपराधों की सूची में **केसर प्राबन्धा** की अन्तिम अजा (चरमाजाम्) के पकाने का संकेत है। यहां केसर-प्राबन्धा "ग्रथित वेणो" वाली कोई स्त्री प्रतीत होती है।[2] लुड्विग[3] और उनके अनुकरण पर ह्विटनी[4] ने संशोधन करके "चरम-जा" पाठ स्वीकार किया है; और अर्थ किया है : 'केसरप्राबन्धा नामक गौ से उत्पन्न अन्तिम बछड़ा'। किंतु यह व्याख्या उस नाम के उपयुक्त नहीं प्रतीत होती।

कैकेय—'कैकयों" का राजा।" यह **अश्वपति** का विशेषण है : शब्रा १०. ६. १. २; छाउ ५. ११. ४।

कैरात—अ० वे० ५. १३. ५ में यह एक सर्प का नाम है; संभवतः 'करैत'। द्र०—ह्विटनी, ट्रांस० आ० दि अ० वे० २४३।

---

[1] तु०—त्सिमर, आले, ६८; ब्लूमफील्ड, हिम्स आदि अवे ५३६, ५३७।

[2] तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देश वेद, ४२५ एवं आगे।

[3] तु०—विंसेंट स्मिथ, इंडियन ऐंटीक्वैरी, ३४, २०३।

[4] वेबर इस्तू, ३. ४७१।

[1] फान श्रोडर ने पाठान्तर नहीं दिया है। तु०—वेबर, इस्तू, १. १९३; २०९; २. ३०८; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स, १५. ५८,५९ जीग, दी ऋा० ऋ०, ६२ टि० २।

[2] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अ० वे०, ४३२, ४३३।

[3] ट्रां० ऋ०, २. ४४७।

[4] ट्रां० अ० वे०, २५२।

कैरातिका—"किरात जाति की लड़की"। अ० वे० १०. ४. १४ में इसे चिकित्सा के लिए औषधि खोदती हुई दिखाया गया है।

कैरिशि—"किरिशि का वंशज"। ऐब्रा ८. २८ में यह **सुत्वन्** का पैतृक नाम है।

कैवर्त—द्र०—**केवर्त**।

कैशिन—कासं २६. ९ और कसं ४१. ७ में **अषाढ कैशिन** का उल्लेख मिलता है।

कैशिनो—शब्रा ११. ८. ४. ६ के एक दुरूह संदर्भ में यह शब्द आया है; सायण ने "कैशिन्यः प्रजाः" अर्थात् "केशिन् की प्रजा" के रूप में इसकी व्याख्या की है। पता नहीं उस ब्राह्मण के समय में ये लोग विद्यमान थे अथवा समाप्त हो चुके थे।

कैशोर्य—'कैशोरि का वंशज'। बृउ की प्रथम दो वंशसूचियों (२. ५. ५२; ४. ५. २८ माध्यं, २. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व) में **काप्य** का यह पैतृक नाम है।

१. कोक—ऋवे और अवे में यह शब्द कोयल के अर्थ में आया है; सायण ने इसे चक्रवाक माना है। राथ ने[1] इसे पेड़ पर पड़ने वाला एक हानिकारक, जानवर माना है। तु०—**अन्यवाप**।

२. कोक—शब्रा १३. ५. ४. १७ में पञ्चाल के राजा **सात्रासाह** के पुत्र का नाम है।

कोकिल—आर्षकाव्य एवं परवर्ती साहित्य में कोयल के लिए सामान्यतः प्रयुक्त कोकिल शब्द वैदिक साहित्य में केवल एक राजपुत्र के नाम के रूप में पाया जाता है। काठक अनुक्रमणी, वेबर, इस्तू, ३. ४६०।

कोणेय, कौणेय—द्र०—**रजन**।

कोल—**कुवल** या **बदर** का दूसरा रूप कोल छाउ ७. ३. १ में मिलता है।

१ कोश.—कूप या अवत से जल खींचने वाले डोल को ऋग्वेद १. १३०. २; ३. ३२. १५; ४. १७. ६[2] में कोश कहते है। यज्ञ-कल्प में कलश के विपरीत सोम रखने के बड़े पात्र को कोश कहा गया है। द्र० ऋ० ९. ७५. ३; अवे, १८. ४. ३० आदि।

[1] तु०—एगलिंग, सेबुई ४४, १३४; वेबर, इस्तू०, १. २०८।

[2] बोबू में ऋ०—७. १०४. २२ कोलयातु' : अवे ५. २३. ४; ८. ६. २; तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे ४५४; ह्विटनी, ट्रां० अवे, २६२; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ४९; त्सिमर, आ० ले०, ९२।

[3] तु०—त्सिमर, आ० ले०, १५६; हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, १८३ एवं आगे।

२. कोश—रथ के ढाँचे को कोश कहते हैं : ऋ० १. ८७. २; १०. ८५. ७ आदि। यह अक्षों पर बंधा होता था, किंतु फिर भी यह बहुत पक्का होता था, क्योंकि **पूषन्** के रथ को खासतौर से न गिरने वाला बताया गया है : ऋ० ६. ५४. ३। अक्षा-नह् शब्द संभवतः कोश को कसकर बाँधने वाली रस्सी को जताता है (द्र०—**१ अक्ष**)। उपलक्षण से यह शब्द संपूर्ण रथ का बोधक है : ऋ० ८. २०. ८; ८. २२. ९। द्र० **बन्धुर, रथ**। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २४६।

३. कोश—कोशकार का उल्लेख पुरुषमेध की बलियों की सूची में आया है, किंतु यहाँ कोश का अर्थ अनिश्चित सा है; संभवतः यह 'आवरक कोष' या म्यान का बोधक है। द्र० वासं, ३०. १४; तैब्रा ३. ४. १०. १।

कोष—शब्रा १०. ५. ५. ८ में पुरोहितों के एक वंश का नाम कोष है, जहाँ उसके एक व्यक्ति **सुश्रवस्** का नाम भी आया है : १०. ५. ५. १।

कोसल—कोसल एक जन का नाम है, जिसका उल्लेख प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। शब्रा सैषा (सदानीरा नदी) अप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा १. ४. १. १ (एवं आगे) में आर्यों के प्रसार की कथा में **विदेघ माथव** के वंशज **कोसल-विदेहों** को देर में ब्राह्मण-संस्कृति के अन्तर्गत आने वाला बताया गया है। उसी प्रसङ्ग में इन दोनों जनों के बीच सीमा के रूप में **सदानीरा** नदी का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र शब्रा १३. ५. ४. ४ में **कौसल्य** या **कोसलराज, पर आट्णार हैरण्यनाभ** के अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है। तु—हिरण्यनाभ; शांश्रौसू, १६. ९. १३; प्र० उ०, ३. २ जहां इन्हें **कौसल्य** राजपुत्र कहा गया है; शांश्रौसू १६. ९. ११ में इन्हें **विदेह** कहा गया है। शांश्रौसू, १६. २९. ५ में **काशी** और **विदेह** से भी इनका संबन्ध रहा मालूम पड़ता है। वेबर[1] के अनुसार **आश्वलायन,** जो संभवतः **अश्वल** के वंशज थे और **विदेह** के होतृ पुरोहित थे, प्रउ ६. १ में **कोसल** कहलाए हैं। उत्तरी और दक्षिणी कोसल के विभाजन के संबन्ध में न तो वैदिक और न बौद्ध साहित्य में ही कोई उल्लेख मिलता है।[2]

[1] इस्तू, १. १८२, ४४१।

[2] ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९३ टि०। तु०—फान श्रोडर, इंदीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर १७६; एगलिंग, सेबुई १२. ४२; वेबर, इन्दीन लितरात्यूर, ३९. १३२ एवं आगे; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २१३-२१५; रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, २५।

कोसल लोग गङ्गा के उत्तर-पूर्व में थे, और स्थूल रूप से आधुनिक अवध में रहते थे।

कौकूस्त—शब्रा ४. ६. १. १३ में एक यज्ञ के पुरोहितों को दक्षिणा या उपहार देने वाले **कौकूस्त** का उल्लेख है। काण्व शाखा में पाठ **कौस्थस्त** है। द्र०—एगलिंग, सेबुई २६, ४२६ टि० १; तु०—वेबर, इन्दीज़ लितरात्यूर, १३४।

कौणेय—द्र०—**रजन**।

कौण्ठरव्य—ऐआ ३. २. २ और शांआ ७. १४; ८. २ में एक आचार्य का नाम है। तु०—कीथ, ऐ० आ०, २४९।

कौण्डिनी—द्र०—**पराशरी कौण्डिनीपुत्र**।

कौण्डिन्य—बृउ में आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों (२. ५. २०; ४. ५. २६ माध्यंदिन, २. ६. १; ४. ६. १ कण्व) में **शाण्डिल्य** के शिष्य का नाम है। द्र०—**वैदर्भी कौण्डिन्य**।

कौण्डिन्यायन—माध्यंदिन-शाखीय बृउ में आचार्यों की प्रथम वंश-सूची २. ५. २० में कौण्डिन्यायन को **कौण्डिन्यका**, जो कि **आग्निवेश्य** और **कौण्डिन्य** का शिष्य था, एक शिष्य बताया गया है। दूसरी वंश-सूची ४. ५. २६ में इन्हें दो का शिष्य बताया गया है जो कि **और्णवाभ** के शिष्य थे, जो **कौण्डिन्य** का शिष्य था, जो स्वयं **कौण्डिन्य** का शिष्य था जो कि कौडिन्य और अग्निवेष्य का शिष्य था। इनमें से किसी भी वंश को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। द्र०—एगलिंग, सेबुई १२. ३४।

कौतस्त—पंब्रा २५. १५. ३ में द्विवचन में उल्लिखित यह शब्द नाग-यज्ञ के दो अध्वर्यु-पुरोहितों—**अरिमेजय** और **जनमेजय**—का पैतृक नाम है। तु०—वेबर, इस्टू०, १. ३५।

कौत्स—'**कुत्स** का वंशज'। शब्रा १०. ६. ५. ९; बृउ, ६. ५. ४ काण्व शाखा में **माहित्थि** के शिष्य का नाम कौत्स है। निरुक्त १. १५ में वेद का विरोध करने वाले एक **कौत्स** के मत का खण्डन किया गया है। **कौत्सों** के विरुद्ध कल्पसूत्रों की परंपरा में अनेकशः उल्लेख है, जैसे कि आश्रौसू १०. २०. १२ में[1]।==सामविशेष। तु० 'कुत्सश्च लुशश्चेन्द्रं व्यह्वयेतां स इन्द्रः कुत्समुपावर्तत तं शतेन वार्ध्रीधिराण्डयोरबध्नात्तं लुशोऽभ्यवदत् प्रयुच्छस्व परिकुत्सादिहागहि किमु त्वावानाण्डयोर्बद्ध आसाता इति ताः संछिद्रय प्राद्रवत् स एतत्कुत्सः सामापश्यत् तेनैनमन्ववदत् स उपावर्तत' तां० ९. २. २२।

कौत्सीपुत्र—'**कुत्स-वंशीया** का पुत्र'। माध्यंदिन शाखीय बृउ की अन्तिम वंश-सूची ६. ४. ३१ में **बौधीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

कौपयेय—**उच्चैः श्रवस्** का यह पैतृक नाम है।

कौम्भ्य—'**कुम्भ्य** का वंशज'। यह **बभ्रु** का पैतृक नाम है।

कौरम—द्र०—**कौरव**।

कौरयाण—ऋवे ८. ३. २१; तु०—निरुक्त, ५. २५ में **पाकस्थामन्** का यह पैतृक नाम है। हापकिन्स[1] के अनुसार **कौरायण** पाठ उचित है।

कौरव—अवे २०. १२७. १ में आये **कौरम** के स्थान पर खिलों ५. ८. १[2] में और शांश्रौसू की कुछ पाण्डुलिपियों (१२. १४. १) में **कौरव** पाठ आया है, जहाँ इसे **रुशमों** के बीच एक उदार दाता बताया गया है।

कौरव्य—'**कुरुओं** से संबद्ध': अवे २०. १२७. ८; खिल, ५. १०. २; शांश्रौसू, १२. १७. २; वैतानश्रौसू ३४. ९ में एक मन्त्र में **कुरु**-जनों के एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के साथ **परिक्षित्** के राज्य में संपत्ति का उपभोग करते हुए दिखाया गया है। शब्रा १२. ९, ३. ३ में कौरव्य राजा **बल्हिक प्रातिपीय** का उल्लेख है। परवर्ती लोककथा (निरुक्त, २. १०) में **आर्ष्टिषेण** और **देवापि** को भी कौरव्य कहा गया है।

कौरव्यायणी-पुत्र—'**कुरुवंशीया** का पुत्र'। बृउ ५. १. १ में एक आचार्य का नाम है।

कौरु-पञ्चाल—'**कुरु-पञ्चालों** से संबद्ध,। शब्रा ११. ४. १. २ में **आरुणि** का यह विशेषण है; उसी ग्रन्थ के १. ७. २. ८ में आता है: 'एतद्ध न्वेतत् प्रज्ञातं कौरुपाञ्चालं यच्चतुरवत्तं तस्माच्चतुरवत्तं भवति।'

कौलकावती—मैसं २. १. ३ में **रथप्रोत दार्भ्य** को सलाह देनेवाले दो पुरोहितों का नाम है।

कौलाल—वंशानुगत कुम्भकार ('कुलाल या कुम्भकार के पुत्र') को वासं ३०. ७ में कौलाल कहा गया है; अन्य संहिताओं में **कुलाल** शब्द आया है, यथा: मैसं, २. ९. ५; कासं १७. १३; तु०—वासं, १६. २७।

---

[1] हिल्लेब्रांड्ट, वैदिश्शे मिथोलगी, ३. २८५; तु०—वेबर, इन्दीन लितरात्यूर ७७. १४०।

[1] जअओसो, १७. ९० टि० २।

[2] शेफ्ट्लोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, १५५।

[3] तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे ६८९।

कौलितर—ऋवे ४. ३०. १४ में **कौलितर** को एक दास कहा गया है। स्पष्टतः यह **शम्बर** का विशेषण है, जो 'कुलितर का पुत्र' है। इससे प्रतीत होता है कि **शम्बर** एक दैत्य न होकर पार्थिव शत्रु था। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वेदिश्शे मिथोलगी, ३. २७३; मैकडानल, वैमा० पृ० ६४. १६१।

कौलीक—यजुर्वेद में अश्वमेघ की बलियों की सूची में **कुलीका** के समान किसी पक्षी का नाम है: वासं, २४. २४; मैसं, ३. १४. ५।

कौल्मल बर्हिष—सामविशेष। 'कुल्मलबर्हिर्वा एतेन प्रजापतिर्भूमानमगच्छत् प्रजायते बहुर्भवति कौल्मलबर्हिषेण तुष्टुवानः' तां० १५. ३. २१।

कौशाम्बेय—'**कुशाम्ब** का वंशज'। वोबू के अनुसार शब्रा १२. २. २. १३; गोब्रा, १. २. २४ में एक आचार्य **प्रोति** का यह पैतृक नाम है। इसका समर्थन इस तथ्य से होता है कि पंविब्रा ८. ६. ८ में **कूशाम्ब** नाम आया है; इसी का आर्षकाव्य में 'कुशाम्ब' रूप पाया जाता है। यह भी संभवः है कि यह शब्द **कौशाम्बी** नगर के निवासियों को बताता हो, जैसा कि हरिस्वामी ने शब्रा के भाष्य में माना है। द्र०—एगलिंग, सेबुई, ४४. १५३ टि० ५; तु०—वेबर, इस्तू, १. १९३; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, ३. ३६; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९७।

कौशिक—'**कुशिकों** से संबद्ध;' इस अर्थ में यह **इन्द्र** का विशेषण है, और "**कुशिक** का पुत्र" इस अर्थ में यह **विश्वामित्र** का पैतृक नाम है एक परवर्ती खिल में[१] एक **कौशिक** आचार्य का उल्लेख **कौण्डिन्य** के शिष्य के रूप में बृउ में आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों २. ६. १; ४. ६. १ काण्व में आया है। तु० 'अथ यत् सुवर्णरजताभ्यां परिगृहीत आसीत् सास्य (आदित्यरूपस्य चात्वालस्य) कौशिकता' तैब्रा. १. ५. १०. १२.

कौशकायनि—"**कौशिक** का वंशज"। बृउ में आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यं०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व में **घृतकौशिक** के शिष्य के रूप में **कौशकायनि** का उल्लेख है।

कौशिकीपुत्र—"**कुशिक-वंशीया** का पुत्र"। काण्वशाखीय बृउ में आचार्यों की एक वंश-सूची ६. ५. १ में **आलम्बीपुत्र** और **वैयाघ्रीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

कौश्रेय—"**कुश्रि** का वंशज"। कासं २०. ८, २१. ९ में **सोमदक्ष** का पैतृक नाम है।

[१] शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफेन देस ऋग्वेद, १०४।

कौषारव—"**कुषारु** का वंशज"। ऐब्रा ८. २८ में **मैत्रेय** का पैतृक नाम है।

कौषीतकि—"**कुषीतक** का वंशज"। कौब्रा, शांआ और श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में इन ग्रन्थों के प्रणेता या उनकी परंपरा के व्यक्तियों के रूप में **कौषीतकि** का उल्लेख आता है: कौब्रा, २. ९; ७. ४. १०; ८. ८; ११. ५, ७; १४. ३, ४; १५. २; १६. ९; १८ ५; २२. १, २; २३. १. ४; २८. ८., ९; २५. ८; १०. १४, १५ आदि; शा आ २. १७; १५. १; कौउ, २. १. ७; शांश्रौसू०, ४. १५. ११; ७. २१. ६; ९. २०. ३३; ११. ११. ३, ६ आदि)। विरल रूप में अन्यत्र भी उनका उल्लेख मिलता है: शब्रा २. ४. ३. १; छाउ, १. ५. २। कौषीतकि के सिद्धान्तों को **कौषीतक** कहा गया है: कौब्रा, ३. १; १९. ३; शांश्रौसू, ४. २ १३; ११. १४. २६; अनुपद सूत्र, २. ७; ७. ११; ८. ५ आदि। निदान-सूत्र ६. १२ में कौषीतकि के शिष्य **कौषीतकियों** का उल्लेख है। पंविब्रा १७. ४. ३ में **लुशाकपि** द्वारा उनके अभिशप्त होने का उल्लेख है। अन्यत्र उन्हें **कौषीतकिन्** कहा गया है: आश्रौसू १०. १. १०; आगृसू १. २३। यदि शांआ[१] का विश्वास करें, तो इनके दो श्रेष्ठ आचार्य **कहोड** और **सर्वजित्** थे। कहोड का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है: शब्रा, २. ४. ३. १; बृउ, ३. ४. १, आगृसू, ३. ४। पंविब्रा १७. ४. ३ का पाठ यों है: 'एतेन वै (स्तोमेन) शमनी चीमेढ्रा अयजन्त तेषां कुषीतकः सामश्रवसो गृहपतिरासीत् तान् लुशाकपिः खार्गल्लिरनु व्याहरत् अवाकीर्षत कनीयांसौ स्तोमावुपागुरिति तस्मात् कौषीतकानां न कश्चनातीव जिहीते। यज्ञावकीर्णा हि सा'।

कौष्य—"**कोष** का वंशज"। **सुश्रवस्** का पैतृक नाम है।

कौसत्य—"कोसल का राजा"। शब्रा १३. ५. ४. ४ में **पर आट्णार** का और शांश्रौसू १६. ९. १३; तु० १६. २९. ५ में **हिरण्यनाम** का विशेषण है। प्रउ १. १ में **आश्वलायन** को "कौसल्य" अर्थात् कोसलदेश में रहने वाला बताया गया है। गोब्रा १. २. ९ में **काशी-कौसल्यों** का उल्लेख है। वहां "कौशल्य" पाठ है।

कौसित—मैसं २. १. ११ में **कौसिताथिन्** नामक

[१] तु०—कीथ, शांआ, १४. २४, ७१। तु०—वेबर, इस्तू, १. २५९; २. २८९ एवं आगे; इंदोन लितरात्यूर ४४ एवं आगे; लिंड्र, कौब्रा ९।

एक दानव के प्रसङ्ग में एक झील का नाम है। कासं १०. ५ में इसके स्थान पर **कौसिद** पाठ मिलता है।

कौसुम्भ—शांआ ११. ४ में **कौसुम्भ-परिधान** रेशमी वस्त्र को कहा गया है। द्र०—**वासस्**।

कौसुरुबिन्दि—**कुसुरुबिन्द** का वंशज। शब्रा १२. २. २. १३ में **प्रोति कौशाम्बेय** का यह पैतृक नाम है। गोब्रा १. ४. २४ में **कौसुरबिन्दु** पाठ है।

कौहड—**कोहड** का वंशज। वंब्रा (द्र० वेबर, इस्टू, ४. ३७२, ३८२ एवं आगे) में **मित्रविन्द** और **श्रवणदत्त** का पैतृक नाम **कौहड** है। गोगृसू ३. ४. ३४ में **कौहडियों** की एक शाखा का उल्लेख है।

क्रतु—बल, मानसिक बल या बौद्धिक बल के अर्थ में अनेकशः ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आता है। क्रतु की महिमा प्रशस्त रूप में गाई गई है; क्रतु से **अग्नि** ने अमृतों को तार दिया : ऋ० ७. ४. ५; **इन्द्र** हाथ में वज्र और शीर्ष में क्रतु धारण करते हैं : ऋ० २. १६. २। इस क्रतु के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं : हे इन्द्र, हममें क्रतु भर दो, जैसे पिता पुत्र में भर देता है : ऋ० ७. ३२. २६; द्र०—ऋ० १. ६२. १२; १. १८३. २; १०. ५९. १; शब्रा १०. ६. ३. १; छाउ ३. १४. १ आदि। तु० 'स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुः' शब्रा ४. १. ४. १; 'क्रतुर्मनोजवः' शब्रा ३. ३. ४. ७; 'संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः षड्तवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिंशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति' शब्रा ८. ४. १. २१।

क्रतुजित् जानकि—'जनक का वंशज'। यजुर्वेद में **रजन कौणेय** के पुरोहित का नाम है। द्र० **क्रतुविद्**। द्र० तैसं, २. ३. ८. १; कासं, ११. १; तु० वेबर, इस्टू ३. ४७४।

क्रतुविद् जानकि—**जनक** का वंशज। ऐब्रा ७. ३४ में **अग्नि** से सोम के संबन्ध में कुछ सिद्धान्त सीखने वाले **क्रतुविद् जानकि** का उल्लेख आता है।

क्रतुस्थला—वासं १५. १५. में **क्रतुस्थला** और **पुंजिकस्थला** ये अप्सराओं के नाम हैं:—'पुंजिकस्थला क्रतुस्थला चाप्सरसौ'।

क्रन्दस्—संग्राम में दोनों पक्षों की ललकार को क्रन्दस् कहते हैं। लक्षणा से यह संग्राम के लिए ललकारने वाले दल को भी बताता है : ऋ० २. १२. ८; तु०—६. २५. ६; १०. १२१. ६।

क्रमुक—दे० **क्रमुक**। तु० 'एषा वा अग्नेः प्रिया तनूर्यत् क्रमुकः' तैब्रा १. ४. ७. ३।

क्रय—क्रय शब्द ऋग्वेद में तो नहीं आता, किंतु √क्री धातु, जिससे यह शब्द निकला है, वहाँ पाया जाता है : ऋ० ४. २४. १०। धातु और संज्ञा दोनों ही परवर्ती साहित्य में आम हैं : तैसं ३. १. २. १; ६. १. ३. ३; वासं ८. ५५; १९. १३; शब्रा ३. ३. २. १० इत्यादि; क्री : अवे, ३. १५. २; तैसं, ६. १. १०. ३; ७. १. ६. २ आदि; अप-क्री : अवे ४. ७. ६ आदि; वि-क्री : वासं, ३. ४९ आदि। ऋग्वेद-काल में क्रय का आधार विनिमय रहा होगा : ऋ० ४. २४. १०। **इन्द्र** की एक मूर्ति का संभव मूल्य दस गौएँ हैं; किंतु अन्यत्र कहा गया है कि न तो सौ, न एक हजार और न दस हजार ही गौओं से **इन्द्र** को खरीदा जा सकता है : ऋ० ८. १. ५। अवे० ४. ७. ६ में वाणिज्य की कुछ वस्तुओं के नाम हैं : **वस्त्र** (दूर्श), **आवरक** (पवस्त) और **अजिन** (अज-चर्म)। ऋग्वेद-काल में बाजार की टूट-फूट का भी उल्लेख है : ऋ० ४. २४. ९[1]। अवे० के एक विशेष सूक्त ३. १५ में सफल वाणिज्य के लिए मन्त्र आते हैं[2]। मूल्य को **वस्न** और व्यापारी को **वणिज्** कहा गया है, जिसका लालच प्रसिद्ध है : ऋ० १. ३३. ३। द्र०—**पणि**।

मूल्य के रूप में मुद्रा का प्रचलन अल्प-सिद्ध है। जब कोई विशेष वस्तु उद्दिष्ट न हो तो वहां गौ को समझा जा सकता है। तु०—हरिस्वामी, शब्रा १३. ४. २. १ पर भाष्य, जहां उन्होंने सहस्राहं को "एक हजार गौओं से शक्य" इस अर्थ में माना है। शब्रा के अनेक स्थलों पर एवं अन्यत्र "हिरण्यं शतमानम्" के प्रयोग से पता चलता है कि गौओं के अतिरिक्त और भी कोई मोलतोल का मानदण्ड था, यद्यपि इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि "सौ गौओं से क्रय करने योग्य स्वर्ण"; किंतु **कृष्णल** का माप के रूप में उपयोग यह बताता है कि "**सौ कृष्णल स्वर्ण**" यह अर्थ भी हो सकता है और यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **कृष्णल** के लिए द्र० : कासं. ११, ४; तैब्रा १. ३. ६. ७; अनुपद सूत्र, ९. ६[3]। यह

[1] द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ४१९, ४२०; इन्होंने जीग, दी ज़ा० ऋ०, ९१ और गेल्डनर के कोमेण्टार ४. २४. पर सुधार किया है।

[2] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, ३५२; ह्विटनी, ट्रां अ० वे०, १११, ११२।

[3] वेबर, इंदिश्शे स्त्राइफन १. ९९—१०३। तु०—त्सिमर, आले०, २५५, २६०; विनिमय-प्रथा जातकों के समय तक समाप्त हो चुकी थी : मिसेज़ रीज़ डेविड्स, जराएसो० १९०१, ८७४ एवं आगे।

कृष्णल ऋग्वेद-काल में अज्ञात प्रतीत होता है, जहां एक बार **मना** शब्द का प्रयोग आता है, और जहां **निष्क** (हार) अधिक कीमती रत्नों का बनता रहा होगा और विनिमय के साधन के रूप में भी प्रयुक्त होता रहा होगा।

क्रवण—ऋवे० ५. ४४. ९ में केवल एक बार आने वाले इस शब्द का लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३८, ने 'होतृ पुरोहित' या 'यज्ञकर्ता' यह अर्थ किया है। राथ ने पहले इसे निरर्थक विशेषण माना था, किंतु बाद में उन्होंने इसका अर्थ "कायर" किया है। द्र०—बार्टलिक की डिक्शनरी। सायण ने इसका अर्थ किया है "पूजा करता हुआ"। ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन–१. ३४२, ने इसका अर्थ "बलि को मारने वाला" यह लिया है।

क्रविस्—क्रविस् शब्द आम मांस के अर्थ में आया है: ऋ० १. १६२. ९; १०; १०. ८७. १६; अवे० ८. ६. २३। तु०—**मांस**।

क्रव्य—"कच्चा मांस"। इसका वैदिक साहित्य में मनुष्यों के खाद्य पदार्थ के रूप में उल्लेख नहीं मिलता है। केवल दैत्यों को **क्रव्य-भक्षक** कहा गया है: ऋ० ७. १०४. २; १०. ८७. २; १९; १०. १६२. २; अ० वे० ३. २८. २; ४. ३६. ३; ५. २९. १० आदि। **अग्नि** को भी **क्रव्याद्** इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह शवों को जलाता है: ऋ० १०. १६. ९, १०,[१]। ऋवे० में जो व्यक्ति कुत्ते का मांस खाने के लिये विवश होता है, वह उसे पकाता है: ऋ० ४. १८. १३।

क्रव्याद्—'अथ येन (अग्निना) पुरुषं वहन्ति स क्रव्याद्' शब्रा. १. २. १. १६.

क्रातु-जातेय—जैउब्रा ३. ४०. २; ४. १६. १ में **राम क्रातुजातेय वैयाघ्रपद्य** का यह पैतृक नाम है।

क्रिमि—द्र०—**कृमि**।

क्रिवि—शब्रा 'क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते' १३. ५. ४. ७ में पञ्चालों का प्राचीन नाम **क्रिवि** है; इसका समर्थन वहाँ उल्लिखित राजा के **क्रैव्य पाञ्चाल** इस विशेषण से हो जाता है। ऋग्वेद-काल में क्रिवि लोग **सिन्धु** और **असिक्नी** के तट पर बसे थे: ८. २०. २४; ८. २२. १२; अन्यत्र क्रिवि का अर्थ संदिग्ध प्रतीत होता है। कुछ स्थलों १. ३०. १; ८. ८७. १; ९. ९. ६; १. १६६. ६ पर, जहाँ **क्रिविर्दती** बिजली के अर्थ में है अश्व के अर्थ में भी ग्रहण किया गया है[१]। त्सिमर[२] का यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि **कुरुओं** के साथ मिलकर ये लोग **वैकर्ण** जन कहाते थे; तु०—**कवष**। **पञ्चालों** का महत्त्व और क्रिवियों की महत्त्वहीनता इससे प्रकट हो जाती है कि बाद के **कुरु-पञ्चालों** के संघ में **भरतों** को भी मिला लिया गया था। यह भी संभव है, जैसा ओल्डेनबर्ग का सुझाव है, कि शब्रा १३. ५. ४. १६ के अनुसार **तुर्वश** लोग भी पञ्चालों में मिल गए थे; और जैसा कि **पञ्चाल** नाम से प्रकट होता है, अन्य जन भी उनमें मिले थे। और यदि हापकिन्स[३] के मत को माना जाय—जिसके अनुसार **तुर्वश यदुओं** के राजा थे—तो **यदु** भी अंशतः क्रिवियों के साथ पञ्चालों में जा मिले थे[४]।

क्रीत वैतहोत्र—**वीतहोत्र** का वंशज। मैसं ४. २. ६ में **कुरुओं** के संबन्ध में इनका उल्लेख है।

क्रुञ्च्, क्रुञ्च, क्रौञ्च—ये शब्द एक पक्षी के बोधक हैं; क्रुञ्च्, मैसं, ३. ११. ६; कासं ३८. १; वासं, १९. ७३ एवं आगे; तैब्रा, २. ६. २. १-३; क्रुञ्च, वासं, २४. २२. ३१; २५. ६ में भाव अनिश्चित हैं; मैसं ३. १४. ३; क्रौञ्च, तैसं ५. ५. १२. १। परवर्ती साहित्य में नीर-क्षीर-विवेक का जो गुण हंस का कहा गया है, वही यहाँ इस पक्षी का कहा गया है[५]।

---

[१] तु० मैकडानल, वैमा. पृ० ९०; १६५ त्सिमर, आ० ले, २७०, २७१।

[१] ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद-नोटेन, १. १६६, ३४१ में अश्व के अर्थ में ग्रहण किया है। अन्यत्र २. १७. ६; २. २२. २; ८. ५१. ८ में उन्होंने इसे व्यक्ति-वाचक नाम माना है; जब कि ५. ४४. ४ में उन्हें संदेह बना रहा है।

[२] आ० ले०, १०३।

[३] जअओसो, १५. २५८ एवं आगे।

[४] किंतु यह मत विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता, जब कि इनके परवर्ती अनुल्लेख का कारण क्रिवियों के साथ इनका पञ्चाल जन में विलयन है। क्रिवि और तुर्वश नाम आर्षकाव्य-काल में नहीं आते। द्र०—पार्जिटर, जराएसो, १९१०, ४८ टि० ४. ५। तु०—मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५५, १५७; ग्रियर्सन, जराएसो, १९०८, ६०२. ६०७; कीथ, वही, ८३१ एवं आगे; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५२, १५३; एगलिंग, सेबुई, १२. ४१; मैक्स-मूलर, सेबुई, ३२. ४०७।

[५] द्र०—लानमान, जअओसो, १९. १५१-१५८; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५०। तु०—त्सिमर, आ० ले०, १९, ९२।

२. क्रुञ्च आङ्गिरस—पंविब्रा १३. ९. ११; १३. ११. २० में क्रौञ्च नामक साम के द्रष्टा एक ऋषि का नाम क्रुञ्च आङ्गिरस है। इस तथ्य के आधार पर यह कहा गया है कि साम-छन्दों के नाम उनके ऋषियों के नाम पर रखे जाते थे, यद्यपि इसके अनेक अपवाद हैं[१]।

क्रुमु—यह शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है, एक बार पञ्चम मण्डल ५. ५३. ९ में और दूसरी बार दशम मण्डल के **नदी-सूक्त** १०. ७५. ६ में। यह **सिन्धु** की पश्चिमी सहायक नदी आजकल की **कुरुम** है[२]।

क्रुमुक—क्रुमुक लकड़ी का नाम है; क्रुमुक का पाठान्तर प्रतीत होता है। द्र० तैसं, ५. १. ९. ३; तैब्रा, १. ४. ७. ३।

क्रूर—'संग्रामो वै क्रूरम्' शब्रा १. २. ५. १९।

क्रैव्य-पाञ्चाल—शब्रा १३. ५. ४. ७ में **क्रिवियों** के राजा क्रैव्य पाञ्चाल के, **परिवक्रा** के तट पर अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख है[३]। किंतु एगलिंग ने **क्रैव्य** को **पञ्चालों** के एक राजा का नाम माना है[४]।

क्रोध—'अथ य एते (श्रद्धाऽश्रद्धे) सोऽन्तरेण पुरुषः। कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिरस्थात् क्रोधो वै सोऽभूत्,' शब्रा ११. ६. १. १३; 'वराहं (क्रोधः) गच्छति' गो० पू. २. २.

क्रोश—पंविब्रा १६. १३. १२ में एक कोस की दूरी का बोधक है। क्रोश का शाब्दिक अर्थ है 'चिल्लाना' अतः जहाँ तक चिल्लाने की ध्वनि या 'क्रोश' पहुँच सके वह दूरी। सामविशेज, तां० १३. ९. ११। तु०—वेबर, इस्टू ८. ४३२ एवं आगे; परवर्ती साहित्य में डेढ़ मील की दूरी को क्रोश कहा गया है। आज भी दूरी का माप क्रोश या कोस है। फ्लीट ने क्रोश को १$\frac{1}{2}$ मील का माना है: जराएसो, १९१२, २३७।

क्रोष्टृ—'शृगाल'। ऋवे १०. २८. १ में वराह की तुलना में क्रोष्टा को कायर बताया गया है। अवे ११. २. २ में इसे शवों को खाने वाला कहा गया है। वासं २४. ३२ में भाष्यकार ने इसे शृगाल कहा है। द्र०—**लोपाश**। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८४।

१. क्रौञ्च—द्र०—**क्रुञ्च**।

२. क्रौञ्च—वैदिक साहित्य में एक पर्वत का नाम है: तैआ, १. ३१. २; सामविशेष, तां० १३. ९. ११; = रज्जु, तां० १३. ९. १७; =वाग्, तां० ११. १०. १९। द्र० वेबर, इं० लिट, ९३; इस्टू १. ७८।

क्रौञ्चिकीपुत्र—**क्रौञ्चवंशीया** का पुत्र। बृउ आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची ६. ५. २ काण्व में **वैदृटमतीपुत्र** के शिष्य का नाम है। माध्यंदिनशाखीय बृउ ६. ४. ३२ में **वैदभृतीपुत्र** के शिष्य का यह नाम है।

क्रौष्टुकि—**क्रोष्टुक** का वंशज। निरुक्त ८. २, बृहद्देवता ४. १३७ और छन्दस् ५ में एक वैयाकरण का नाम है[१]। किंतु अवे-परिशिष्ट में एक ज्योतिषी का नाम है[२]।

क्लोमन्—अवे २. ३३. ३ में क्लोमन् शब्द मूत्राधार या मसाना का बोधक है। तु०—**शरीर**। तु० 'क्लोमा वरुणः' शब्रा १२. ९. १. १५।

क्वयि—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पक्षि-विशेष का नाम है: तैसं, ५. ५. १७. १; वासं, २४. २९। मैसं ३. १४. १८ में **कुवय** रूप है।

क्वल—तैसं २. ५. ३. ५ में क्वल दूध जमाने वाले किसी पदार्थ का नाम है, संभवतः यह **कुवल** या **बदर** से अभिन्न हो। द्र० वोबू; तु०—त्सिमर, आ० ले०, २२७।

क्षत—त्सिमर, आ० ले०, ३७७ के अनुसार अवे ७. ७६. ४ में यह क्षय का नाम है। किंतु यहाँ पाठ अक्षित है; द्र०—**अक्षत**। हो सकता है कि यह एक विशेषण हो[३]।

क्षण—शांआ ७. २० में समय के विभागों में **ध्वंसयो, निमेषाः, काष्ठाः, कलाः, क्षणाः, मुहूर्त्ताः, अहोरात्रा** का उल्लेख है। तु०—शांश्रौसू, १४. ७८ एवं आगे; वेबर, इं० स्त्राइफन, १. ९२-९५। तु०—**अहन्**।

क्षत्तृ—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में राजवंशीय सदस्य को **क्षत्र** कहते हैं, किंतु इस शब्द का अर्थ कुछ अनिश्चित सा है। ऋवे ६. १३. २ में एक देवता का

---

[१] द्र०—हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स०, १५. ६८; तु०—हिल्लेब्रांण्ड्ट, वैदिश्शे मिथोलगी, २. १६०।

[२] द्र०—राथ, निरुक्त, एर्लाउटरुंगन, ४३; त्सिमर, आ० ले०, १४; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००।

[३] द्र०—वोबू; वेबर, इं० लिट, १२५ टि०; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०९ टि०।

[४] सेबुई, ४४, ३९७।

[१] तु०—इस्टू, १. १०५।

[२] वेबर, बर्लिन कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स्, १. ९४; द्र० बोलिंग और फान नेगेलिन, अथर्ववेद परिशिष्ट २. ४३८; एवं आगे, जहाँ परिशिष्ट स्वप्नाध्याय, १. २; २. ८ में नाम क्रौष्टुकि है। तु०—वेबर, ज्योतिष, १२; इं० लिट०, ६१।

[३] ब्लूमफ़ील्ड, हिम्स आ० दि अवे, ५०९; ह्विटनी, ट्रा. अवे, ४४२।

यह नाम है, जो अपने उपासकों को अच्छे-अच्छे पदार्थ देता है। अवे में, एवं अन्यत्र भी यही भाव पाया जाता है : अवे, ३. २४. ७; ५. १७. ४; शब्रा १३. ५. ४. ६; शांश्रौसू, १६. ९. १६। वासं के एक स्थल ३०. १३ तु०—तैब्रा ३. ७. ३. ५.) पर महीधर ने इसका अर्थ 'द्वार-पाल' दिया है, जो अन्य स्थलों पर भी संभव है : तैसं, ४. ५. ४. २; मैसं २. ९. ४; कासं १७. १३; छाउ, ४. १. ५; पंविब्रा, १९. १. ४। सायण ने शब्रा ५. ३. १. ७ में इसका अर्थ 'अन्तः पुराध्यक्ष' किया है; तु०—१३. ४. २. ५ आयव्ययाध्यक्ष; और हरिस्वामी १३. ५. ४. ६ पर कोशाध्यक्ष। काश्रौसू, १५. ३. ९ पर भाष्यकार ने 'मन्त्री दूतो वा' माना है; २०. १. १६ में 'प्रतीहारो दूतो वा' यह माना है। कुछ अन्य स्थलों पर 'सारथि' अर्थ भी संभव है : वासं. १६. २६; तैब्रा ३. ४. ७. १; 'अनु-क्षत्तृ' शब्द, भाष्य के साथ, जिसे 'सारथेर् अनुचर' कहा गया है : शांश्रौसू, १६. १. २० पर भाष्य। बाद में क्षत्तृ को मिश्रित जाति माना गया है[1]।

१. क्षत्र—देवों और मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले राज्य, शासन या शक्ति के अर्थ में सामान्यतः ऋग्वेद-काल से ही यह शब्द आता है : ऋ० १. २४. ११; १. १३६. १; ३; ४. १७. १; ५. ६२. ६ आदि; अवे, ३. ५. २; ५. १८. ४ आदि; इसी प्रकार क्षत्र-श्री : ऋ० १. २५. ५; ६. २६. ८; क्षत्रभृत्, अर्थात् स्वामित्व लाने वाला : तैसं २. ४. ७. २; तैब्रा, २. ४. ६. १२; २. ७. ६. ३; वासं, २७. ७ आदि। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में 'शासक' के अर्थ में भी यह शब्द आया है : ऋ० १. १५७. २; ८. ३५. १७; अवे. ४. २२. २; वासं, १०. १७; तैब्रा २. ७. ६. ३। किंतु जैसे परवर्ती विवरण में यह **ब्राह्मण**, **वैश्य** और **शूद्रों** से भिन्न एक शासक जाति के रूप में उल्लिखित है : [अवे, २. १५. ४; ९. ७. ९; १२ ५. ८; १५. १०. ५ आदि; तैसं १. ६. १. २; २. २. ११. २ आदि; वासं ५. २७; १४. २४; १८. ३८ आदि; द्र० **वर्ण** के अन्तर्गत अन्य उदाहरण] उस प्रकार ऋग्वेद में यह नहीं आता[2]। द्र०—**क्षत्रिय**। कभी-कभी **क्षत्रपति** शब्द का भी उल्लेख मिलता है, जो राजा का समकक्ष है : तैसं १. ८. १४. २ वासं, १०. १७; तैब्रा, १. ७. ८. ५; शब्रा, ५. ४. २. २।

विवरण : 'प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः' शब्रा १४. ८. १४. ४; 'क्षत्रं राजन्यः' ऐब्रा ८. ६; 'ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः' ऐब्रा ८. २; 'क्षत्रं हि राष्ट्रम्' ऐब्रा ७. २२; 'आदित्यो वै दैवं क्षत्रम् आदित्य एषां भूतानामधिपतिः' ऐब्रा ७. २०; 'क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः' ऐब्रा ८. ६; 'क्षत्रं वा एतद् वनस्पतीनां यन् न्यग्रोधः' ऐब्रा ७. ३१; 'क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् व्रीहयः' ऐब्रा ८. १६; 'क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा' ऐब्रा ८. ८; 'क्षत्रस्यैतद् रूपं यद् धिरण्यम्' शब्रा १३. २. २. १७; 'ब्रह्मणो वै रूप-महः क्षत्रस्य रात्रिः' तैब्रा ३. ९. १४. ३; 'क्षत्रस्य वा एतद् रूपं यद् रात्रिः' शब्रा १३. १. ५. ५; 'क्षत्रं हि ग्रीष्मः' शब्रा २. १. ३. ५; अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च' शब्रा ६. ६. ३. १५; 'क्षत्रं सोमः' ऐब्रा २. ३८; 'प्रजा-पतिर्वै क्षत्रम्' शब्रा ८. २. ३. ११; 'मित्रः क्षत्रं क्षत्र-पतिः' तैब्रा २. ५. ७. ४; 'क्षत्रं वरुणः' कौब्रा ७. १०; 'क्षत्रं वा इन्द्रः' कौब्रा १२. ८; 'क्षत्रमिन्द्रः क्षत्रियेषु ह पशवोऽभविष्यन्' शब्रा ४. ४. १. १८; 'तस्माद् क्षत्रियो भूयिष्ठं हि पशूनामीष्टे' गो उ ६. ७; 'क्षत्रं वैश्वानरः' शब्रा ६. ६. १. ७; यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये' शब्रा १४. ४. २. २३; 'ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्' तां० ११. १. २; 'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म' शब्रा १४. ४. २. २३; 'ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्' तैब्रा २. ८. ८. ९; 'अभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः' शब्रा ४. १. ४. १; एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति तस्माद् क्षत्रियेण कर्म करिष्यमा-णेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः' शब्रा ४. १. ४. ६; 'क्षत्रं वै होता' ऐब्रा ६. २१; 'यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्' तैब्रा ३. १२. ९. २; 'यस्तान्तवं वस्ते क्षत्रं वर्धते न ब्रह्म' गो० उ० २. ४; 'ब्रह्म वै पौर्णमासी क्षत्रममावास्या' कौब्रा ४. ८; 'एतानि क्षत्रस्यायुधानि यदश्वरथः कवच इषुधन्व' ऐब्रा ७. १९।

२. क्षत्र—ऋग्वेद के एक दुरूह मन्त्र ५. ४४. १० में **मनस**, **यजत** और **अवत्सार** के साथ **क्षत्र** भी किसी व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३८।

क्षत्र-विद्या—शासक-वर्ग की विद्या। छाउ ७. १. २. ४; ७. २. १; ७. ७. १ में क्षत्र-विद्या का उल्लेख है। भाष्यकार शंकर ने इसका अर्थ 'धनुर्वेद' किया है।[1]

क्षत्रिय—जातियों के उद्भव, उनके आपसी संबन्ध, अन्तर्जातीय विवाह और इसी प्रकार के अन्य विषयों पर **वर्ण** नामक लेख में विचार किया गया है; फलतः यहाँ केवल

[1] म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १२. ४८१। तु० वेबर, इस्टू २. ३६; १७. २९०; वोबू।

[2] द्र०—राथ, वोबू, **वर्ण**।

[1] द्र० हापकिन्स, जअओसो, १३. १०४।

क्षत्रियों, या सामूहिक रूप से **क्षत्र** की सामान्य विशेषताओं पर ही विचार किया जायगा।

जातकों[1] के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि 'खत्तिय' शब्द उन प्राचीन आर्य सामन्तों का बोधक था, जिनके नेतृत्व में आर्यों ने आदि-जातियों पर विजय प्राप्त की थी; और साथ ही उन आदिम लोगों को भी सूचित करता था, जो पराजित होने पर भी अपने राजकीय महत्त्व को बनाए हुए थे। आर्षकाव्य[2] में क्षत्रिय शब्द उपर्युक्त सभी लोगों को सूचित करता था, किंतु निश्चय ही वहाँ **'खत्तिय'** की अपेक्षा क्षत्रिय का अधिक व्यापक भाव रहा था, और इसमें सभी राजकीय सैनिक अधिकारी एवं सामन्त आ जाते थे जैसे कि अंग्रेजों में बैरन लोग थे। न तो जातकों[3] में और न आर्षकाव्य[4] में ही यह शब्द सभी प्रकार के योद्धाओं का समानान्तर है; क्योंकि फौज में तो क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य बहुत से लोग भी रहते थे जो कि लड़ाके न होकर दूसरी तरह के अफसर रहे होंगे।

परवर्ती संहिताओं[5] और ब्राह्मणों[6] में 'क्षत्रिय' समाज का एक विशेष अङ्ग है, जो **ब्राह्मण, वैश्य** और **शूद्रों** से भिन्न एक जाति है: अवे ६. ७६. ३, ४; १२. ५. ५; ४४; ४६ आदि; वासं, ३०. ५ आदि; (द्र०—**वर्ण** और **राजन्य**); ऐब्रा, ७. २४ आदि; शब्रा १. ३. २. १५; ४. १. ४. ५, ६ आदि। यह महत्त्व की बात है कि **राजन्य** शब्द भी क्षत्रिय के लिये आता है, और यह उससे प्राचीन है। फलतः यह कहा जा सकता है कि दोनों ही शब्द समान मूल के हैं, और राज्य-तत्त्व से संबद्ध हैं। साथ ही, ऋग्वेद में क्षत्रिय शब्द का आरम्भिक प्रयोग नितरां राजकीय अथवा दैवी अधिकार से संबद्ध है: ऋ० ४. १२. ३; ४. ४२. १. ५. ६९. १; ७. ६४. २; ८. २५. ८; ८. ५६. १; १०. १०९. ३; तु०—वासं, ४. १९; १०. ४, तैब्रा, २. ४. ७. ७।

यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि कौन-कौन से जन क्षत्रियों में संमिलित थे। इतना तो निश्चित है कि असली राज-परिवार और उससे संबद्ध अन्य राज-परिवारों के व्यक्ति इसमें आ जाते थे। निश्चय ही सामन्त एवं राजन्य भी इसमें आ जाते थे; इससे राजन्यों और क्षत्रियों के बीच के विरोध को गाँठ भी खुल जाती है, जिसका उल्लेख ऐब्रा ७. २० में आया है; तु०—पंविब्रा, २४. १८. २; कासं २०. १; ऐब्रा, जहाँ एक राजन्य एक क्षत्रिय से 'देव-यजन' के स्थान के लिये माँग करता है। फलतः क्षत्रिय शब्द का राजन्य शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ है। सच पूछिये तो इन दोनों ही शब्दों का अर्थ एक है; और दोनों ही को अधोलिखित तथ्यों के लिये साक्ष्य के रूप में बरता गया है। क्षत्रियों के अन्दर हमेशा योद्धामात्र आ जाते थे, यह सिद्ध नहीं हो पाया है। ऋग्वेद[1] में एवं बाद में भी क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के लड़ने का उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ६९. ३; १२६. ५. ४. २४. ४; ६. २६. १; ७. ७९. २; ८. १८. १८; ८. ९६. १५ में 'विशः' लड़ते दिखाये गये हैं और संभवतः ऐसा ही है ७. ३६. ६ में भी, जहाँ कि 'तृत्सूणां विशः' का अर्थ तृत्सुओं की प्रजा हो सकता है। ६. १४. ५ में विशों एवं पृतनाओं का विपर्यास दिखाया गया है। किंतु यदि राजाओं की तरह सामन्तों के भी अमला होते थे, तो क्षत्रिय उन अमलाओं में आता था, जिनका संबन्ध युद्ध से रहता था। सभी राजकीय अधिकारियों के लिए यह शब्द नहीं आता था; उदाहरण के लिये **ग्रामणी** एक वैश्य होता था।

क्षत्रियों का ब्राह्मणों से निकट का संबन्ध था। दोनों की बढ़ोतरी[2] को—विशेषतः **राजा** और **पुरोहित** की बढ़ोतरी को—संमिलित बताया गया है: तैसं, ५. १. १०. ३; मैसं, २. २. ३; ३. १. ९; ३. २. ३; ४. १. ९; कासं, २९. १०; वासं ५. २७; ७. २१; १८. १४; १९. ५; ३८. १४ आदि; पंविब्रा ११. ११. ९; ऐब्रा ७. २२; शब्रा १. २. १. ७; ३. ५. २. ११; ३. ६. १. १७; ६. ६. ३. १४। **राजन्य** के सब जातियों में उच्च होने का उल्लेख तैसं २. ५. १०. १ आदि में मिलता है; **ब्राह्मणों** की क्षत्रियों से श्रेष्ठता का उल्लेख: अवे ५. १८; ५. १९;

---

[1] द्र०—फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुंग इम नोर्दोस्ट-लिशन इन्दीन त्सु बुद्धाज़ त्साइत, ५९ एवं आगे; रीज़ डेविड्स, डाइलॉग्स आफ बुद्ध, १. ९५ एवं आगे; बुद्धिस्ट इंडिया, ५२ एवं आगे।

[2] द्र०—हापकिन्स, जअओसो, १३. ७३ एवं आगे।

[3] द्र०—फिक, उपर्युक्त, ५२ टि० २।

[4] हापकिन्स, उपर्युक्त ५२ टि० २।

[5] पिशल, वैस्तू २. १२१; गेल्डनर, वैस्तू, २. १३६; अवे ९. ७. ९; परवर्ती नीति-ग्रन्थ, गौतम, ७. ६; वसिष्ठ २. २२; आर्षकाव्य के लिए द्र०—हापकिन्स, उपर्युक्त ९४, ९५, १८४ एवं आगे।

[6] तु०—हापकिन्स, उपर्युक्त, ७६।

[1] द्र०—हापकिन्स, ट्रां०, १५. ३०. टि० २।

[2] द्र०—मैक्समूलर, एंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४२१ एवं आगे; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १, ४२६ एवं आगे। उसी प्रकार दीक्षा के समय क्षत्रिय ब्राह्मण बन जाता है: ऐब्रा, ७. २३; तु०—शब्रा, ३. ४. १. ३।

मैसं ४. ३. ८; वासं २१. २१; शब्रा १३. १. ९. १; १३. ३. ७. ८ में देखा जा सकता है। फलतः राजाओं का राजसूय-यज्ञ पुरोहितों के वाजपेय-यज्ञ से नीचे दरजे का है : शब्रा ५. ११. १२; और यद्यपि ब्राह्मण राजा के यहाँ जाता है, फिर भी वह उससे अधिक शक्तिशाली है : शब्रा ५. ४. २. ७; ५. ४. ४. १५[१]। कहीं-कहीं क्षत्रियों और **ब्राह्मणों** के बीच कलह का उल्लेख मिलता है : कासं, २८. ५; अवे ५. १८, १९। **ब्राह्मण** का यज्ञ पर अधिकार था, इसलिये वह एक क्षत्रिय को, उसके विरोध में या तो जनता को अथवा अन्य क्षत्रियों को उभाड़कर हानि पहुँचा सकता था; जनता द्वाराः तैसं २. २. ११. २; मैसं १. ६. ५; २. १. ९; ३. ३. १०; कासं, १९. ८ आदि; अन्य क्षत्रियों द्वाराः मैसं ३. ३. १०. आदि।

सामान्य लोगों की अपेक्षा तो एक क्षत्रिय की सर्वोच्चता निर्विवाद थी : कासं १६. ४; २१. १०; २२. ९; २९. ९; १०; ऐब्रा, २. ३३; शब्रा, ११. २. ७. १५, १६; मैसं, ४. ४. ९. १०; ४. ४. ६. ८ आदि। कभी-कभी आम जनों एवं क्षत्रियों के बीच कलह का भी उल्लेख मिलता है, जिसमें क्षत्रियों की आपेक्षिक अल्प संख्या की कमी उनके सामर्थ्य एवं शस्त्र-सज्जा से पूरी हो जाती थी : तैसं, ५. ४. ६. ७; मैसं ४. ६. ७। ऐब्रा ७. २९ (तु०—**राजन्**) में **वैश्य** को 'बलि या कर देने वाला' (=बलिकृत्), दूसरों द्वारा उपभोग्य (=अन्यस्याद्य) और इच्छानुसार दबाया जाने वाला (=यथाकामज्येय) बताया गया है। संभवतः ये सभी विशेषण राजा की आम प्रजा पर लागू रहे हों, किंतु उक्त स्थल से ज्ञात होता है कि प्रजा सामन्त लोगों की कृपा पर निर्भर रहती थी। निःसंदेह राजा सामन्तों को अधिकार देता था; और यह अधिकार आनुवंशिक होता था कि प्रजावर्ग उनका भरण-पोषण करें; इसी अधिकार के कारण प्रजा सामन्त लोगों के इशारे पर नाचा करती थी। प्रजा की इन सेवाओं के बदले में क्षत्रियों का कर्तव्य था कि वे इनकी रक्षा करें; साथ ही कुछ-कुछ कचहरी का काम भी उनका रहता था, जैसा कि कासं के एक संदिग्ध संदर्भ से ज्ञात होता है : २७, ४; 'तस्माद्राजन्येनाध्यक्षेण वैश्यं घ्नन्ति'।

वैदिक युग के छोटे-छोटे राज्यों में क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य था युद्ध के लिए संनद्ध रहना[२]। धनुष् क्षत्रिय का प्रधान लक्षण है, जैसे कि अष्ट्रा या पैनी एक किसान का प्रमुख लक्षण था; क्योंकि वेद में युद्ध का प्रमुख साधन धनुष् था : अवे, १८. २. ६०; कासं, १८. ९; ३०. १; शब्रा, ५. ३. ५. ३०; तैआ ६. १. ३। ऐब्रा, ७. १९ की सूची लंबी है : वहाँ **रथ, कवच, इषु-धन्वन्** का उल्लेख है। क्षत्रिय या राजन्य की समृद्धि के लिए की गई प्रार्थना में अश्वमेध के अवसर पर कहा गया है कि वह **धनुर्धारी, रथीय** योद्धा बने : तैसं, ३. १२. ६; कासं, अश्वमेध, ५. १४; वासं, २२. २। फलतः **इन्द्र** को क्षत्रियों का देवता कहा गया है : मैसं, २. ३. १; ४. ५. ८ आदि। क्षत्रिय मानसिक कर्मों पर कितना ध्यान देता था यह निश्चय के साथ बताना कठिन है। सबसे बाद के ब्राह्मण-साहित्य में **विदेह जनक** जैसे विद्वान् क्षत्रियों के उल्लेख मिले हैं, जिसके संबन्ध में कहा गया है कि वह ब्राह्मण बन गया था; अर्थात् उसने ब्राह्मणों के संपूर्ण ज्ञान को हस्तगत कर लिया था[१] : शब्रा ११. ६. २. १; तु०—कौउ, ४. १,। इस काल के अन्य अनूचान क्षत्रिय थे : **प्रवाहण जैवलि** बृउ, ६. १. १; छाउ १. ८. १; ५. ३. १; म्यूर, उपर्युक्त, ४३३-४३५, ५१५; **अश्वपति कैकेय** शब्रा १०. ६. १. २ एवं आगे, और **अजातशत्रु** बृउ, २. १. १; कौउ, ४. १। गार्बे,[२] ग्रियर्सन और कुछ अन्य लोगों का मत है कि क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के विपरीत अपने एक विशेष सिद्धान्त का विकास किया था, जो आगे चलकर भक्तियोग के रूप में प्रचलित हुआ[३]। दूसरी ओर इस बात के प्रमाण भी मौजूद हैं कि इस प्रकार के गूढ़ विषयों पर क्षत्रियों के मत को कम महत्त्व[४] दिया जाता

---

[१] वेबर, इस्टू, १०. ११७; मैक्समूलर, सेबुई १. ७५,

[२] द्र०—गार्बे, बाइट्रागे त्सूर इन्दिश्शन कुल्टूरगेशिश्त, १ एवं आगे; तु०—डायसन, फिलासफी आफ दि उपनिषद्स, १७ एवं आगे; विंतरनित्स, गेशिश्त देर इन्दिश्शन लितरात्यूर, १. १९९; ग्रियर्सन, 'भक्ति' निबन्ध, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐंड एथिक्स, जराएसो०, १९०८, ८४३।

[१] तु०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ७३ टि० १; कीथ, ऐआ, ५०. २५७; जराएसो०, १९०८, ८६८, ८८३, ११४०-११४२, प्रोफेसर एगलिंग का भी मत है कि क्षत्रियों का धार्मिक विकास में कम हाथ रहा था।

[२] द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादांमौगे०, ४२. २३५ टि०; द्र०—**वर्ण**।

[३] जीग, दी जा० ऋ०, ९१ एवं आगे; द्र०—**देवापि**; **विश्वामित्र** के राजपुत्र होकर ऋषि बनने का भी उल्लेख है : ऐब्रा ७. १७; किंतु यह केवल वंश से संबद्ध तथ्य है और इसे बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। द्र० **वर्ण**।

था; और साथ ही यह भी स्मरणीय है कि राजा को प्रतिभाजन्य मतों का आख्याता बताना चाटुकारिता का सुन्दर निदर्शन है : शब्रा, ८. १. ४. १०। कुछ राजन्य-ऋषियों के उल्लेख भी पहले के साहित्य में मिलते हैं; यथा, पंविब्रा, १२. १२. ६ में[१]। फिर सायण के उल्लेखों का तो कहना ही क्या ? किंतु उस बात पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। निरुक्त २. १० में एक कथा आती है जिसमें एक राजा का पुत्र **देवापि** अपने अनुज **शंतनु** का पुरोहित बनता है; किंतु यह कथा ऋवे १०. ९८ (दे जीग) में भी आती है या नहीं इसमें भारी संदेह है[२]। कुछ भी हो, इस प्रसङ्ग में केवल कुछ उच्च क्षत्रियों का उल्लेख मिलता है, जब कि सामान्य क्षत्रियों के बौद्धिक व्यापारों में लगे रहने का साक्ष्य नहीं मिलता। क्षत्रियों के कृषि, व्यापार या वाणिज्य करने का भी उल्लेख नहीं मिलता और यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि प्रशासन और सुरक्षा के काम से ही क्षत्रियों को छुट्टी नहीं मिलती होगी। दूसरी ओर हम अश्वमेध के अवसर पर एक **राजन्य** द्वारा वीणा बजाने और गाने का उल्लेख पाते हैं : शब्रा १३. ४. ३. ५। यह इस बात का सूचक हो सकता है कि पुरोहितों के मन्त्रपाठों के साथ-साथ क्षत्रियों की भी एक अपनी गान-परंपरा थी, जिसका विकास आर्षकाव्य के रूप में हुआ है।

क्षत्रियों की शिक्षा और उनके प्रशिक्षण का उल्लेख नहीं मिलता; और संभवतः यह इसलिये कि उन्हें तो धनुष्-बाण की शिक्षा दी जाती थी; और उससे बचे समय में प्रशासन-नीतियों का ब्यौरा बताया जाता था; जो कि आगे चलकर उनके काम आता था। ऋग्वेद के आरम्भिक युग में उदित हुए सामन्तवाद के उस स्तर पर एक **वैश्य** भी क्षत्रिय बन जाता रहा होगा; कम से कम इस कल्पना से विशेषतः 'मिथ्या क्षत्रियत्वधारण' (क्षत्रियं मिथ्या धारयन्तम्) के ऋग्वेदीय कथन की व्याख्या हो जाती है : ऋ० ७. १०४. १३; तु०—मिथ्या ब्राह्मणत्व के लिए ऋ० १०. ७१. ८।

निश्चय ही राजा और क्षत्रियों का निकट संबन्ध रहा होगा। राजा क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ रहा होगा, और संभवतः उसी के संबन्ध में शब्रा ८. १. १. ८ के वे कथन हैं, जिनमें कहा गया है कि एक क्षत्रिय अपनी बिरादरी की संमति से ही किसी को गाँव में स्थान देता था या उसे भूमि प्रदान करता था। स्पष्टतः यह उन बहुत से शासनों जैसी प्रथा है, जिनमें एक प्रधान व्यक्ति अन्य जाति वालों की संमति से ही बची हुई भूमि का वितरण करता था। शतपथ ब्राह्मण १२. ८. ३. १९[१] में कहा गया है कि क्षत्रिय का क्षत्रिय ही अभिषेक करता है; यह स्पष्टतः भाष्यकार के अनुसार उस प्रथा को सूचित करता है जिसमें राजा अपने कुमार का अभिषेक करता था, जो कि उसका उत्तराधिकारी होता था। साथ ही[२] यह भी कहा गया है कि पुरोहित और क्षत्रिय ही (राजा) मिलकर पूर्ण हैं और यहां पुरोहित के समानान्तर क्षत्रिय से निश्चय ही राजा अभिप्रेत है। दूसरी ओर कहीं-कहीं राजा का राजन्य से विपर्यास दिखाया गया है : शब्रा १३. ४. २. १७; (द्र०—**राजन्य**)।

सूत्रों में क्षत्रियों की शिक्षा और वृत्ति का विस्तृत विवरण मिलता है[३]। किंतु ब्राह्मण-साहित्य में उनके ये विवरण नहीं मिलते, फलतः उनका महत्त्व विवादास्पद है।

द्र०—त्सिमर, आ० ले०, २१२ एवं आगे; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २३१ एवं आगे; फोन श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, १५१ एवं आगे; वेबर, इस्तू, १०. ४ एवं आगे; जहाँ इस विषय के प्रायः सभी संदर्भों का उल्लेख है। हापकिन्स, जअओसो, १३. ९८ एवं आगे, जहाँ आर्षकाव्य के उदाहरण उद्धृत हैं।

क्ष-पावन्—पृथिवी का रक्षक। यह ऋवे ३. ५५. १७ में किसी राजा का नाम है, या ऋ० १. ७०. ५; ७. १०. ५; ८. ७१. २; १०. २९. १ में केवल 'राजा' इतने का बोधक है। किंतु संभवतः[४] यह शब्द राजा के कर्तव्य (भूमि का संरक्षण) का सूचक है। तु०—क्षिति-प, पृथ्वी का रक्षक, 'राजा', संस्कृत-साहित्य में।

क्षय—'क्षयो वै देवाः' गो० उ० २. १३.

क्षिति—ऋवे १. ६५. ३; ३. १३. ४; ५. ३७. ४ आदि में क्षिति रहने के स्थान का बोधक है। विशेष रूप में क्षिति 'क्षितिर्ध्रुवा' (सुरक्षित निवास-स्थान) का उल्लेख ऐसे संदर्भों में हुआ है, जो इसे **वृजन** या **ग्राम** के रूप में 'पक्का स्थान' प्रमाणित करते हैं : ऋ० १. ७३. ४; तु०—१. ७३. २; द्र०—त्सिमर, आ० ले०, १४२। बाद में इसी अर्थ का विकास 'जन' इस अर्थ में हुआ : ऋ० ३. ३८. १; ४. २४. ४; ४. ३८. ५; ५. १. १० आदि; और अन्ततः यह **पञ्च-जनों** का भी सूचक बन

[१] तु०—एगलिंग, सेबुई, ४४, २५४ टि० १।
[२] तु० एगलिंग, वही, ४१, २५९ टि० १।

[१] द्र० ब्युहलर, सेबुई, १४. ३९५, ३९६।
[२] तु०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ७२; प्रसक्त मन्त्र में क्षपावन् 'क्षपावन्त्' का रूप है।

गया : ऋ० १. ७. ९; १. १७६. ३; ५. ३५. २; ६. ४६. ७; ७. ७५. ४; ७. ७९. १।

क्षिप्त—मारने या फेंकने से उत्पन्न घाव। अवे ६. १०९. १, ३ में **क्षिप्त** और उसकी ओषधि **पिप्पली** का उल्लेख है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३०९।

क्षिप्र—शब्रा १२. ३. २. ५ में क्षिप्र एक काल-विभाग है; १५ क्षिप्र के एक मुहूर्त्त का उल्लेख है। तु०—तैब्रा ३. १०. १. १ एवं आगे। द्र०—**अहन्**।

क्षिप्र-श्येन—तेज गृध्र। मैसं ३. १४. ११ और शब्रा १०. ५. २. १० में क्षिप्र-श्येन एक पक्षी का नाम है। 'यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तम्' शब्रा ६. ३. २. २ भी पठनीय है।

क्षीर—दूध। क्षीर—जिसे **गौ** या पयस् भी कहा गया है—का वैदिक आर्यों की अर्थ-व्यवस्थामें प्रमुख स्थान था। यह शब्द ऋग्वेद के २-७ मण्डलों में नहीं आता। ऋ० १. १०९. ३; १. १६४. ७; ८. २. ९; ९. ६७. ३२; १०. ८७. १६; अवे ८. ३. १५[१]। यह धारोष्ण या पक्व रूप में, जैसा कि गौ के स्तनों से निकलता था, प्रयोग में लाया जाता था : ऋ० १. ६२. ९; १. १८०. ३; ३. ३०. ४। अन्न में मिलाकर भी इसे पकाया जाता था और 'क्षीर-पाकम् ओदनम्' के रूप में इसका उपयोग होता था : ऋ० ८. ७७. १०; अवे १३. २. २०; (तु०—क्षीर-श्री दुग्धमिश्रित) : तैसं, ४. ४. ९. १; वासं, ८. ५७ आदि। इसे सोम में भी मिलाया जाता था : **अभिश्री आशिर**। इससे **घृत** बनाया जाता था। दूध को जमाया भी जाता था; **पूतीका** और **क्वल** जैसे वनस्पतियों का जामनकी जगह उपयोग होता था : तैसं, २. ५. ३. ५। जमाया हुआ दूध (=दधि) भोजन के साथ काम में आता था। ऋवे० के एक मन्त्र ६. ४८. १८ में पनीर का उल्लेख भी प्रतीत होता है। **अज-क्षीर** का भी उल्लेख मिलता है : शब्रा, १४. १. २. १३। द्र०—**अज**।

क्षीरौदन—दूध में पका चावल, 'खीर'। शब्रा में कई बार इसका उल्लेख आया है : २. ५. ३. ४; ११. ५. ७. ५ आदि।

क्षुद्र-सूक्त—छोटे सूक्तों का बनाने वाला। ऋग्वेद के कुछ छोटे सूक्तों के रचयिता ऋषियों को बहुवचन में "क्षुद्र-सूक्ताः" कहा गया है : ऐब्रा २. २. २; तु०—कीथ, ऐआ २१२; मैकडानल, बृदे ३. ११६ पर नोट। तु०—महासूक्त।

क्षुमा—इषु। 'अथ ययापैव राघ्नोति सा तृतीया सासौ द्यौः सैषा क्षुमा नाम' शब्रा ५. ३. ५. २९।

क्षुम्प—ऋवे के केवल एक मन्त्र १. ८४. ४ में यह शब्द आता है, जहाँ इसका एक झाड़ी यह अर्थ प्रतीत होता है। निरुक्त ५. १६ इसे अहिच्छत्रक=छत्रक कुकुरमुत्ता या साँप की छतरी बताता है। तु०—बेनफी, सामवेद ग्लासर, ५३।

क्षुर—क्षुर शब्द ऋवे में तीन बार आता है। एक मन्त्र में यह धार के अर्थ में आता है : ऋ० १. १६६. १०,[१]; दूसरे मन्त्र १०. २८. ९ में भी इसी अर्थ में आया है, जहाँ एक खरगोश के क्षुर निगल जाने का उल्लेख है। सायण ने इसका अर्थ "पंजे वाला" किया है और परवर्ती परंपरा में अज द्वारा क्षुर को निगलने का प्रसङ्ग आता है। तृतीय मन्त्र ऋ० ८. ४. १६ में शाण पर छुरे को तेज करने का उल्लेख है[२]। म्यूर[३] ने 'कैंची के परों' यह अर्थ किया है, जो अथर्ववेदीय २०. १२७. ४ **क्षुर** के प्रसङ्ग में ठीक नहीं बैठ ता, जहाँ **भुरिजों** पर **क्षुर** के चलने की उपमा ओठों पर फिरने वाली जिह्वा से दी गई है[४]। अवे ६. ६८. १, ३; ८. २. ७ में इसका अर्थ छुरा स्पष्ट है, जहाँ इससे दाढ़ी बनाने का उल्लेख स्पष्ट है। कुछ अन्य स्थलों पर दोनों में कोई सा भी अर्थ ठीक बैठ जाता है : शब्रा, २. ६. ४. ५; ३. १. २. ७; क्षुर-पवि, अवे १२. ५. २०, ५५; तैसं, २. १. ५. ७; २. ५.

---

[१] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १७. ६४. ७३ एवं आगे; द्र०—अवे, २. २६. ४; ५. १९. ५; १०. ९. १२ आदि; तैसं, ३. ४. ८. ७ आदि। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ६३, २२६, २६८।

[१] हापकिन्स, जअओसो०, १७. ६१, ६९; तु०—१३. २९२, जैसे आर्षकाव्य में 'चाकू' का अर्थ है। मैक्समूलर, सेबुई २२. २३५ टि० ४ का मत है कि "पविषु क्षुराः" जो मरुतों के रथ के प्रसङ्ग में आया है, छुरे के अर्थ में ही लेना चाहिए।

[२] "भुरिजोस्", इस द्विवचन में पिशल, वैस्तू, १. २४३ शाण के उन दो किनारों को मानते है, जिनके बीच शाण का पत्थर घूमता है, और जैसी मशीनें आजकल पाई जाती हैं, वैसी ही उस काल में भी मानते हैं। "सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरम्" अर्थात् "हमें उसी प्रकार तेजकर दो जैसे भुरिजों पर छुरे को तेज किया जाता है।

[३] संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६६; राथ, वोबू, भुरिज् शब्द के आधार पर।

[४] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, १९७; इन्होंने "क्षुरतेजन-चर्म" यह अर्थ किया है।

५. ६; ५. ६. ६. १; शब्रा, ३. ६. २. ९ आदि; मैसं १. १०. १४; कासं, ३६. ८; निरुक्त, ५. ५। तैसं में 'क्षुरो भृज्वान' शब्द आया है : ४. ३. १२. ३; तु०—मैसं, २. ८. ७; वासं, १५. ४; शब्रा, ८. ५. २. ४; ब्लूमफील्ड के अनुसार इसका अर्थ "क्षुर-तेजन चर्म" है[१]। क्षुर-धारा का (जैउब्रा, ३. ३. २ में और "क्षुरस्य धारा" का बृउ, ३. ३. २) उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में क्षुर-कोष =क्षुरधान का उल्लेख मिलता है : कौउ, ४. २०। द्र०—श्मश्रु :

क्षेत्र—खेत। ऋग्वेद १०. ३३. ६; तु०—३. ३१. १५; ५. ६२. ७ में इस शब्द का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि अच्छी तरह अलग-अलग काटे हुए (ऋ० १. ११०. ५) खेत विद्यमान थे, यद्यपि कुछ स्थलों पर अर्थ कम निश्चित है, और कृषि-भूमि-मात्र की सूचना मिलती है। [द्र० ऋ० १. १००. १८; ९. ८५. ४; ९. ९१. ६; क्षेत्रजेष, १. ३३. १५ खेत की प्राप्ति"; क्षेत्रसा, ४. ३८. १ "क्षेत्र पाना"; क्षेत्रजय, "क्षेत्र जीतना", मैसं, २. २. ११; स्थान का व्यापक अर्थ, ५. २. ३; ५. ४५. ९; ६. ४७. २० आदि और बाद में भी] अवे एवं परवर्ती साहित्य में अलग-अलग खेतों का उल्लेख स्पष्ट है : अवे ४. १८. ५; ५. ३१. ४; १०. १. १८; ११. १. २२; तैसं, २. २. १. २; छाउ, ७. २४. २ आदि; यद्यपि सामान्य अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है : अवे २. २९. ३; १४. २. ७; शब्रा १. ४. १. १५, १६ आदि। खेत का देव "क्षेत्रस्य पति" प्रत्येक खेत का अधिपति माना जा सकता है; जैसे कि 'वास्तोष्पति' प्रत्येक निवास-स्थान का अधिपति है : ऋ० ४. ३७. १, २; ७. ३५. १०; ६६. १३; अवे २. ८. ५; क्षेत्र की पत्नी, अवे २. १२. १; क्षेत्राणां पतिः, वासं, १६. १८[२]। यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि वैदिक काल में खेत अलग-अलग व्यक्तियों के स्वामित्व में आ गए थे। द्र०—उर्वरा, खिल्य। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २३६; शब्रा, ७. १. १. ८ जहाँ क्षत्रिय जनता की संमति से खेत को देता है, जो ऋ० १. ११०. ५ के अनुसार मापा हुआ माना जा सकता है।

क्षेत्रिय—अवे में कई बार क्षत्रिय शब्द एक रोग का बोधक है, जिसके निवारणार्थ तीन सूक्तों का निर्माण किया गया है : अवे, २. ८. १०; ३. ७ तु०—२. १४. ५; ४. १८. ७। कासं १५. १ और तैब्रा २. ५. ६. १-३ में भी इसका उल्लेख है। तैब्रा के उक्त स्थल पर क्षेत्र शब्द है, जिसकी व्याख्या में उसे रोग उत्पन्न करने वाला दानव बताया गया है, जो अवे ३. १० के स्थान पर गलत पाठ प्रतीत होता है। अवे के भाष्यकारों ने इसे आनुवंशिक रोग माना है। इसका अर्थ "शरीरज" या "खेत में उत्पन्न" यह हो सकता है, जो सिद्धान्ततः ठीक मालूम पड़ता है[१]। असल में यह रोग कौन-सा है यह बताना कठिन है। वेबर के मत में इस प्रसङ्ग में अथर्ववेद के सूक्तों का लक्ष्य 'खेत में उत्पन्न घाव' को दूर करने का है[२]। ब्लूमफील्ड ने इसे गण्डमाला या उपदंश रोग माना है[३]। जिन ओषधियों का उल्लेख है, उनसे रोग के लक्षणों का पता नहीं चलता। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, २५८ एवं आगे; ह्विटनी, ट्रां० अवे, ४८, ४९; त्सिमर, आ० ले०, ३९१, ३९२; स्पेयर, दे सेरेमोनियो ओपुद इंदोस क्वे जातकर्म वोकातूर, ७६-८३; पाणिनि, ५. २. ९२ काशिका वृत्ति के साथ।

क्षेम—कल्याण, शुभ, मङ्गल या कुशल के अर्थ में क्षेम शब्द ऋवे-काल से ही चलता आया है : ऋ० १०. १२४. ७; १०. २०. ६; अवे ३. ३. ६; ११. ७. १३; शब्रा. ३. ५. ३. २०; ऐब्रा १. १४; तैसं ५. २. १. ७; वासं, ३०. १४; पारगृसू, २. ७, ३४ आदि।

क्षेमधृत्वन् पौण्डरीक—पुण्डरीक का वंशज। पंविब्रा २२. १८. ७ में क्षेमधृत्वन् पौण्डरीक ने सुदामन् नदी के तट पर यज्ञ किया था। तु०—वेबर, इस्तू०, १. ३२; बाद में नाम क्षेमधन्वन् है : देखो हरिवंश, ८२४ आदि।

क्षैप्र—प्रातिशाख्यों में उदात्त और अनुदात्त की एक विशेष संधि को क्षैप्र कहा गया है : ऋप्रा, २. ८; ३. ७; ७. ५; वाप्रा १. ११६; अवेप्रा, ३. ५७, ६४।

क्षैमि—क्षेम का वंशज। जैउब्रा ३. ६. ३; ३. ७. १; ३. ८. ६ आदि में सुदक्षिण का पैतृक नाम है।

१. क्षोणी—ऋग्वेदीय काल से पृथ्वी के अर्थ में आता रहा है : ऋ० १. ५४. १; १. ५७. ४; १. १७३. ७; ८. १३. १७; ८. ३. १० आदि।

---

[१] द्र०—अजफि, १७. ४१८। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६६; पिशल, वैस्तू, १. २३९. २४३; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटिक्विटीज़, ३८ एवं आगे।

[२] द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० १३८।

[१] द्र०—वोबू।

[२] द्र०—इस्तू, ५. १४५; १३. १५० एवं आगे; १७. २०८; नक्षत्र, २. २९२।

[३] 'अथर्ववेद', ६०।

२. क्षोणी—बहुवचन में प्रयुक्त **क्षोणी** शब्द वोबू और लुडविग[1], के अनुसार ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों १. ५७. ४; १. १७३. ७; ८. ३. १०; ८. १३. १७; १०. ९५. १९ में राजा के स्वतन्त्र भृत्यों को सूचित करता है। ऋ० २. ३४. १३; १०. २२. ९ में अर्थ अनिश्चित है। गेल्डनर ने कभी[2] इसे 'राजा की पत्नियों' के अर्थ में लिया था; बाद में उन्होंने कुछ 'दैवी पत्नियों' के अर्थ में माना[3] है।

क्षोम—रेशमी वस्त्र। मैसं ३. ६. ७ आदि में 'क्षौम' का उल्लेख है।

क्ष्विङ्का—ऋवे १०. ८७. ७ में केवल एक बार आने वाले **क्ष्विंका** शब्द का एक 'शिकारी पक्षी' यह अर्थ जान पड़ता है। तैसं में अश्वमेध की बलियों की सूची ५. ५. १५. १ में भी यह शब्द आया है, जहाँ भाष्यकार ने इसका अर्थ 'लाल मुंह वाली बंदरिया' यह किया है। द्र०—त्सिमर, आ० ले०, ९३।

क्ष्णोत्र—ऋवे २. ३९. ७ 'क्ष्णोत्रेण स्वधितिं संशिशीतम्' में **क्ष्णोत्र** किसी तेजन-पाषाण, निहान, या शाण का बोधक है, जिस पर रगड़ कर स्वधिति या चाकू आदि को तेज किया जाता था।

– ख –

ख—ऋवे एवं परवर्ती संहिताओं में रथ की नाभि के छिद्र को, जिसमें अक्षको डाला जाता था, **ख** कहा गया है। **रथ** और **अनस्** इन दोनों की नाभियों के छिद्र में कुछ अन्तर अवश्य होता होगा। द्रष्टव्य **१. युग**।

द्र० ऋ० ८. ७७. ३; ८. ९१. ७; १०. १५६. ३ जहां केवल **ख** का उल्लेख है; तु० विशेषण "सु-ख" अर्थात् अच्छे "ख" वाला; बाद में अर्थ आराम हो गया : बृउ ५. १२. १ माध्यंदिन=५. १०. १ काण्व; जैउब्रा, १. ३. ६; गेल्डनर, वैस्तू, २. ३३३ द्र०—त्सिमर, आ० ले० २४७।

खड्ग—द्रष्टव्य **खड्ग**।

खजङ्कर—ऋवे १. १०२. ६ में खजंकर युद्ध-कर्ता का बोधक है। सायण ने खज की व्याख्या में लिखा है : "खजति मथ्नाति पुरुषान् इति खजः"।

अवे ११. ९. १६ में खदूर शब्द की व्याख्या में सायण ने "खदूर"="आकाश या दूरदेश" यह लिखा है। ह्विटनी ने अथर्ववेद के अनुवाद में इसका अर्थ करना छोड़ दिया है।

खड्ग—वासं २४. ४० के **खड्ग** इस पाठ के स्थान पर मैसं ३. १४. २१ में **खड्ग** यह पाठ है; वासं में **खड्ग** भी विकल्प से आया है। यह किसी पशु का नाम प्रतीत होता है, जो हो सकता है गेंडा हो[1]। शांश्रौसू १४. ३३. २६ में "खड्गकवच अश्वरथ" का उल्लेख है, जिसका अर्थ है : 'गेंडे के चमड़े से ढका रथ'।

खण्डिक औद्भारि—उद्भार का वंशज। शब्रा ११. ८. ४. १ में **केशिन्** के गुरु का नाम है; किंतु मैसं २४. ४० में इन्हें यज्ञ-प्रसङ्ग में **केशिन्** से परास्त हुआ दिखाया गया है। बौश्रौसू में कोई **खाण्डिक**, **केशिन्** का शत्रु प्रतीत होता है[2]।

खदिर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में खैर के वृक्ष को खदिर कहा गया है : ऋ० ३. ५३. १९; अवे, ३. ६. १; ५. ५. ५; ८. ८. ३; १०. ६. ६; मैसं ३. ९. ३ आदि। "खादिर" अर्थात् "खदिर की लकड़ी से बना हुआ : तैसं, ३. ५. ७. १; ऐब्रा, २. १; शब्रा १. ३. ३. २०; ३. ६. २. १२ आदि। खदिर की लकड़ी को बहुत कठोर बताया गया है : अवे १०. ६. ६। अवे ३. ६. १+ ८. ८. ३ में खदिर के ऊपर अश्वत्थ के जमने का भी उल्लेख मिलता है। अवे के एक अन्य प्रसङ्ग ५. ५. ५ में **अरुंधती** नामक लता के इसके ऊपर फैलने का उल्लेख मिलता है। इसकी लकड़ी कठोर होती है इसलिये यज्ञिय स्रुवा इसी से बनाई जाती थी : तैसं ३. ५. ७. १। तैसं के उपर्युक्त संदर्भ में इसे गायत्री के रस से उत्पन्न हुआ बताया गया है। शब्रा १३. ४. ४. ९ में इसे प्रजापति की हड्डियों से बना होने के कारण 'दारुण' एवं **बहुसार** या बहुत मजबूत बताया गया है। इसके सार-भाग से आभूषण भी बनाए जाते थे : शांआ, १२. ८। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ५८, ५८।

खद्योत—आकाश को प्रकाशित करने वाला। छाउ ६. ७. ३, ५ में खद्योत या जुगनू का उल्लेख मिलता है।

खनित्र—खोदने का साधन। खनित्र या कुदाल शब्द का प्रयोग ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है। द्र० ऋ० १. १७९. ६ संभवतः रूपकात्मक। द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. १७२, यह स्थल दुरूह है; लाश्रौसू, ८. २. ४; आदि।

---

[1] ट्रां० ऋ० ३. २४७।

[2] बेत्सनबर्गर बाइट्रागे ११. ३२७ में।

[3] वैस्तू, १. २७९. २८३।

[1] द्र०—त्सिमर, आ० ले०, ८६।

[2] द्र०—कालेंड, ऊबर दास रितुअल सूत्र देस बौधायन, २०।

खनित्रिम—खनने से उत्पन्न। यह शब्द "आपः" या जल का विशेषण है। निश्चय ही यह सिंचाई के काम में आने वाले, बरहों में बहने वाले जल का बोधक है। सिंचाई की यह प्रथा ऋग्वेद-काल से चालू है: ऋ० ७. ४९. २; अवे, १. ६. ४; १९. २. २।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, २३६; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६६।

खर—ऐआ ३. २. ४ में खर या **गदर्भ** शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जहाँ खरों के एक रेवड़ का उल्लेख है। शब्रा ५. १. २. १५; १४. १. २. १७; १४. २. २. ३० में यज्ञिय पात्रों को रखने के लिए **मृत्तिका-चय** या 'खर' बनाने का उल्लेख है। हो सकता है मट्टी का यह 'थड़ा' गधे की पीठ के आकार का होता हो। इस प्रसङ्ग में 'गधे' के पीठ की 'गून' भी स्मरणीय है। द्र० वोबू।

खर्गला—ऋवे ७. १०४. १७ में उलूक या किसी अन्य रात्रिकालीन पक्षी का नाम खर्गला है। द्र०—कौशिक-सूत्र, १०७; त्सिमर, आ० ले० ९३।

खर्जूर—यजुर्वेद में खजूर के वृक्ष का उल्लेख मिलता है। द्र० तैसं, २. ४. ९. २; कासं ११. १०; ३६. ७। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ६३।

खल—खलिहान। ऋवे और अवे में खलिहान के अर्थ में खल शब्द का प्रयोग मिलता है। तु० 'खल उत्त-रवेदिः' तां० १६. १३. ७; द्र०—**कृषि**। तु० ऋ० १०. ४८. ७; निरुक्त ३. १०; अवे, ११. ३. ९; 'खलज' अर्थात् खलिहान में उत्पन्नः ८. ६. १५; 'खल्य' अर्थात् 'खलिहान में वर्तमान', २. ९. ६। द्र०—त्सिमर, आ० ले०, २३८।

खल-कुल—बृउ में यह शब्द आया है। सायण ने इसे कुलत्थ की दाल माना है। तु०—बृउ ६. ३. २२ माध्यंदिन=६. ३. १३ काण्व। तु०—वेबर, इस्टू, १. ३५५।

खल्व—खल्व एक अन्न का नाम है। वासं में अन्य अन्नों के साथ इसका भी उल्लेख है: १८. १२; महीधर ने इसका अर्थ **चना** दिया है। अवे २. ३१. १; ५. २३. ८ में इसे दृषद् या पत्थर द्वारा दलने का उल्लेख है। बृउ ६. ३. २२ माध्यंदिन=६. ३. १३ काण्व में भी यह शब्द आता है, जहाँ शंकराचार्य ने इसका अर्थ 'निष्पाव' किया है। द्र०—वेबर, इस्टू, १. ३५५; त्सिमर, आ० ले०, २४१।

खाण्डव—तैआ ५. १. १ में **कुरुक्षेत्र** की एक सीमा **खाण्डव** है। इससे संदेह नहीं कि यह महाभारत का **खाण्डव वन** है। इसके अलावा यह शब्द केवल पंविब्रा २५. ३. ६ और शाट्यायनक[1] में आता है।

खाद—'अन्तो वै खादः' ऐब्रा ५. १२।

खादि—ऋवे में उल्लिखित यह शब्द किसी आभूषण का बोधक है, जो हाथों में पहना जाता था; संभवतः अङ्गद, कंगन, या अंगूठी: ऋ० ५. ५४. ११ और संभवतः ५. ५३. ४; ऋ० १. १६६. ९; ७. ५६. १३; ५. ५८. १[2], । मैक्समूलर के अनुसार यह शब्द चक्र का बोधक है[3]। अंगूठियाँ कभी-कभी सोने की होती थीं=हिरण्य-खादि: शांश्रौसू, ३. ५. १२; ८. २३. ६।

खारी—ऋग्वेद के एक मन्त्र ४. ३२. १७ में **खारी** शब्द सोम के एक माप का सूचक है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २८०।

खार्गलि—खर्गला या **खृगला** का वंशज। कासं ३०. २ और पंविब्रा १७. ४. ३. में **लुशाकपि** का मातृक नाम है।

खिद्र—ऋवे ५. ८४. १ में, जहाँ 'वडित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि' आया है, वहाँ खिद्र शब्द किसी भेदन-साधन के अर्थ में आया है। तु०—निरुक्त, ११. ३७।

खिद्वन्—ऋवे ६. २२. ४ में खिद्वन् शब्द सायण के अनुसार 'शत्रुओं के खेदयिता' के अर्थ में आया है। इस शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए आम है।

१. खिल, खिल्य—ये दोनों शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं: खिलः अवे ७. ११५. ४; शब्रा ८. ३. ४. १; खिल्य: ऋ० ६. २८. २; १०. १४२. ३। राथ की डिक्शनरी के अनुसार इनका अर्थ है: दो चलते खेतों के बीच की बंजर भूमि; किंतु उन्होंने यह भी माना है कि प्रस्तुत अर्थ ऋग्वेद के मन्त्र ६. २८. २ में ठीक नहीं बैठता है, जहाँ यह कहा गया है कि देवता उपासक को 'अभिन्न खिल्य' में स्थापित करते हैं। पिशल[4] के अनुसार

---

[1] द्र०—मैक्समूलर, ऋग्वेद[2], ४. १०१ वेबर, इस्टू, १. ७८।

[2] राथ के अनुसार ६. १६. ४० वोबू में, २. ३४. २; १०. ३८. १।

[3] सेबुई, ३२. १२०. २३०; तु०—वृषखादि, ऋ० १. ६४. १०। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६२; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. १४९।

[4] वैस्टू, २. २०५।

यहाँ 'बड़ी गोचर भूमि' से तात्पर्य है, जहाँ गाँव के सारे पशु चरते थे; और जिसे जोता या तोड़ा नहीं जाता था। ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ३८५, ३८६ का कहना है कि इसका अर्थ दो चलती भूमियां के मध्य की ही पट्टी है; किंतु राथ के उपर्युक्त मतानुसार वह बंजर भूमि नहीं है। यह मत इस तथ्य के अनुकूल बैठता है कि वैदिक काल में अलग-अलग खेत ज्ञात थे। तु० 'यद्वा उर्वरयो रसं भिन्नं भवति खिलमिति वै तदाचक्षते' कौब्रा ३०. ८=शब्रा ८. ३. ४. १। द्रष्टव्य **क्षेत्र**। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २३६; लुड्विग, ट्रां० ३. ४९९; कीथ, जराएसो, १९१०, २२८।

२. **खिल**—ऋग्वेद के प्रक्षिप्त सूक्तों का यह नाम सूत्रकाल में आता है[1]। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग "खाली स्थान", "प्रक्षेप" इस अर्थ के आधार पर है।

खृगल—खृगल, अथवा जिस रूप में कि यह पैप्पलादशाखीय अवे ३. ९. ३ में पाया जाता है, **खृगिल** शब्द केवल दो बार ऋ० २. ३९. ४ और अवे, ३. ९. ३ मिलता है। ऋवे में इसका अर्थ "बैसाखी=वृद्ध की सहारे का यष्टि" है; अथर्ववेद में सायण ने इसका अर्थ किया है, "तनुत्राण", जिसका असली भाव अनिश्चित है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ३४०; ह्विटनी, ट्रा० अ० वे०, ९८।

खेल—ऋग्वेद के एक मन्त्र १. ११६. १५ में **खेल** का नाम आया है। पिशल[2] के अनुसार यहाँ **विवस्वान् देव** अपेक्षित है; क्योंकि रेस या दौड़ **विवस्वान्** देव के सम्मान में की जाती थी, अतः "आजा खेलस्य" का अर्थ होगा : "खेल की दौड़ में"। राथ इसे किसी व्यक्ति का नाम मानते हैं, और जीग ने सायण के आधार पर एक राजा का नाम **खेल** माना है, जिसके पुरोहित **अगस्त्य** थे[3]। द्र०—**अंशु**।

– ग –

गङ्गा—गङ्गा नदी का उल्लेख ऋवे में केवल एक बार नदी-सूक्त १०. ७५. ५ में आया है; किंतु इससे व्युत्पन्न गाङ्ग्य शब्द **उरुकक्ष** का विशेषण है : ऋ० ६. ४५. ३१; यदि ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद १. ३६६ के अनुसार 'बनी' अर्थ को भी ले लिया जाय, तो भी गङ्गा का नाम तो बना ही रहता है[1]। अन्य संहिताओं में इस नदी का नाम नहीं आता; किंतु शब्रा १३. ५. ४. ११ में आता है, जहाँ **भरत दौष्यन्ति** की गङ्गा-यमुना के तट पर की गई विजयों का उल्लेख आता है, जो विजय **कुरुओं** के क्षेत्र-विस्तार को सूचित करती है। तु०—ऐब्रा ८. २३; वैतानसूत्र, ३४. ९ जहाँ **सरस्वती** का भी उल्लेख है। तैआ में गङ्गा और **यमुना** नदियों के तट पर रहने वालों को बहुत अभिजात माना गया है; निश्चय ही यह प्रदेश उस आरण्यक का रचना-स्थल रहा होगा : तैआ २. २०। लुड्विग[2] का यह मत कि **गङ्गा** और **आपया** एक हैं (ऋ० ३. २३. ४) त्याज्य है। द्र०—**आपया**।

गज—आर्षकाव्य एवं परवर्ती साहित्य में हाथी का सामान्य नाम गज वैदिक साहित्य में केवल एक बार बाद के अद्भुत-ब्राह्मण, इस्तू १. ३९ में आया है। द्र०—हापकिन्स, जअओसो, १३. ९६५, २६९।

गण—समूह के अर्थ में गण शब्द आम है। **मरुद्गण**, **देवगण** और **गणपति** ये शब्द प्रायः पाये जाते हैं: ऋ० १. १४. ३; १. ६४. १२; वासं १८. ४५; ऋ० ४. ५३. ३; ४. ५०. ५; ७. ९. ५; तैसं ३. ४. ५. १; शब्रा, १४. ५. १. १०; पारगृसू०, २. १०।

गणक—ज्योतिषी। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में **गणक** का भी नाम है: वासं ३०. २०; तैब्रा, ३. ४. १५. १। द्र०—**नक्षत्रदर्श**। तु०—वेबर, इ० स्त्राइ, १. ७८।

गण्डूपद—'यानि स्नावानि ते गण्डूपदाः' ऐब्रा ३.२६।

गति—गमनार्थक गति शब्द मरणोत्तर गति के अर्थ में भी वैदिक काल से ही पाया जाता है। शब्रा ९. ४. १०. १५ में स्वर्ग-लोक की गति का उल्लेख है। द्र०—ऋ० ५. ६४. २; वासं, १८. १५; शब्रा, ११. ६. २. ४; शांश्रौसू, ४. ६. १२ आदि।

गन्धमाल्य, गन्धमाल्यलोक—छाउ ८. २. ६ में कहा गया है: अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते। उक्त उल्लेख से तत्कालीन लोगों की गन्ध और माल्य से अपने आपको अलंकृत करने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है।

---

[1] द्र०—शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋवे १६ एवं आगे।

[2] वै० स्टू० १. १७१–१७३

[3] वीबू।

[4] दी जा० ऋ० १२७, १२८। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ४. २८।

[1] तु०—वाकरनागल, आल्तिन्द ग्रा, २. २८८; द्र० वेबर, प्रोसी० आ० दि बर्लिन एके०, १८९८, ५६३, टि० १।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. २००। तु०—त्सिमर आ० ले०, ४, ५।

गंधर्व—अप्सरस् के साथ गंधर्व शब्द का उल्लेख अनेक संदर्भों में मिलता है। अवेस्ता में **"गन्दरेवा"** एक असुर का नाम है; ऐसा प्रतीत होता है कि किसी सामान्य नाम के आधार पर **गंधर्व** वर्ग का विकास हुआ है। द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० १३६। सोम की रक्षा से भी गंधर्व का संबन्ध है: ऋ० ९.८३.४; ९.८५.१२। **विश्वावसु** एक प्रमुख गंधर्व का नाम है: ऋ० १०.१३९.५।

तु० 'गन्धेन वै रूपेण च गंधर्वाप्सरसश्चरन्ति' शब्रा ९.४.१.४; योषित्कामा वै गन्धर्वाः' शब्रा, ३.२.४.३; 'स्त्रीकामा वै गंधर्वाः' ऐब्रा, १.२७; 'त उ ह स्त्रीकामाः' कौब्रा, १२.३; 'एतदेव कुमारी गंधर्वगृहीतोवाच' कौब्रा, २.९; =मनः, शब्रा, ९.४.१.१२; =यज्ञ, शब्रा, ९.४.१.११; =अग्नि, शब्रा, ९.४.१.७; =चन्द्रमा: शब्रा, ९.४.१.९; =सूर्यः, शब्रा, ९.४.१.८; 'गंधर्वाः सप्तविंशतिः' शब्रा, ५.१.४.८। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० १३६ एवं आगे।

गंधर्वायण बालेय अग्निवेश्य—बलि का वंशज। बौश्रौसू २०.२५ में एक **पाञ्चाल** के रूप में इनका उल्लेख है।

गन्धार—ऋवे एवं अवे में **गन्धारि** शब्द के स्थान पर **गन्धार** शब्द का उल्लेख एक जन के नाम के रूप में मिलता है। छाउ ६.१४.१, २ में गंधारों को लेखक से बहुत दूर कहा गया है। द्र०—**गांधार**। द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९९ टि०; वेबर, इस्तू, १.२१९ टि०। दूसरी ओर मैक्समूलर ने माना है कि गंधार लोग लेखक के निकट थे: सेबुई, १५.१०६।

गन्धारि—भारत के **उत्तर-पश्चिम** में एक जन का नाम **गन्धारि** है। ऋवे १.१२६.७ में वहाँ की भेड़ों का ऊन उल्लिखित है। गंधारि लोगों का उल्लेख अवे ५.२२.१४ में **मूजवन्तों, अङ्गों** और **मगधों** के साथ हुआ है। गंधारि या गांधारि जनों का उल्लेख श्रौत-सूत्रों में भी मिलता है। गंधारि: हिश्रौसू, १७.६; आपश्रौसू, २२.६.१८; गांधारि: बौश्रौसू, २१.१३[1]। त्सिमर[2] के अनुसार वैदिक काल में ये लोग **कुभा** के दक्षिणी तट पर थे, और **सिन्धु** में उसके गिरने के स्थान तक तथा कुछ आगे **सिन्धु** के पूर्वी तट तक भी फैले हुए थे। बाद में वे पारसी राज्य के अङ्ग बन गये; गंधारों की फ़ौज को साथ लेकर यर्कसीज ने ग्रीस पर आक्रमण किया था[3]।

[1] द्र०—कालेंड, त्सादामौगे, ५६, ५५३।
[2] आ० ले०, ३०-३१। [3] द्र०—कीथ, ऐआ, २३। तु०—लुडविग, ट्रां० ऋ०, ३.२०६।

गभस्ति—राथ, वोबू के अनुसार **गभस्ति** रथ के फड़ का बोधक है; स्यूम-गभस्ति ऋ० १.१२२.५; ७.७१.३ शब्द का अर्थ वे करते हैं: "दीर्घदण्ड के समान अभीशु या लगाम वाला"; यह विशेषण देवों के रथ का है। तैब्रा २.७.१३.४ में भी बहुवचन में यह शब्द आया है। अर्थ प्रायः संदिग्ध ही है। राथ ने वहां स्यूम-गभस्ति को 'दो अभीशुओं' के अर्थ में भी सुझाया है। गभस्ति=किरण इस अर्थ से सभी प्रसङ्गों में काम चल जाता है। 'पाणी वै गभस्तिः' शब्रा ४.१.१.९।

१. गय—गृह। ऋवे और कुछ परवर्ती साहित्य में गय शब्द गृह के अर्थ में आया है: ऋ० १.७४.२; ५.१०.३; ५.४४.७; ६.२.८ आदि; अवे ६.३.३; ६.८४.१; वासं, २७.३। तु० 'स यदाह गयोऽसीति सोमं वैतदाहैष वै चन्द्रमा भूत्वा सर्वान् लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस् तद् गयस्य गयत्वम्' गो० पू० ५.१४; 'प्राणा वै गयाः' शब्रा १४.८.१५.७।

२. गय प्लात—प्लति का वंशज। ऋवे १०.६३.१७; १०.६४.१७ में गय प्लात का उल्लेख है। ये दोनों सूक्त इन्हीं के कहे हैं। सर्वानुक्रमणी और ऐब्रा ५.२ में भी ये सूक्त इनके ही कहे बताये गए हैं। अवे १.१४.४ में **असित** और **कश्यप** के साथ वे अर्ध-पुराकथात्मक मायी बताये गए हैं। तु०—खिल ऋ० ५.५१.१५ के बाद; इस्तू, ३.२१४, ब्लूमफाल्ड, अजफि १७.४०३। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३.१३३; वेबर, इस्तू, ३.४६०।

१. गर—विष। अवे ५.१८.१३ में "गर-गीर्ण" अर्थात् विषाक्त का उल्लेख है। गर शब्द अकेले: पंविब्रा, १९.४.२; इस्तू, १.३३; तैआ १.९.१०; गर-गिर, 'विषाक्त': पंविब्रा, १७.१.९; १९.४.२, १०। शब्रा ११.५.८.६ में यह शब्द केवल द्रव के अर्थ में आया है।

२. गर—पंविब्रा ९.२.१६ में गर को एक साम-द्रष्टा ऋषि और **इन्द्र** का मित्र बताया गया है। तु०—हॉपकिन्स, ट्रांजैक्शन्स आ० दि कनेक्टिक्युट एके० आ० आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५.५२।

गरुड—वैदिक साहित्य में गरुड का उल्लेख सर्वप्रथम तैआ १०.१.६ में आया है—"तन्नो गरुडः प्रचोदयात्"। परवर्ती संस्कृत साहित्य में विष्णु के वाहन के रूप में गरुड का उल्लेख आम है।

गर्ग—गर्ग एक ऋषि का नाम है, जो स्वतः तो किसी संहिता में उल्लिखित नहीं, किंतु जिनके वंशज "गर्गाः

प्रावरेयाः" इस रूप में कासं १३. १२ में आये हैं। अनुक्रमणी में ऋ० ६. ४७ के ऋषि का नाम **गर्ग भारद्वाज** आया है; तु०—वेबर, इस्तू, ३. ३७४। सूत्र-काल से पहले गर्ग का नाम नहीं आता। **गर्ग त्रैरात्र** या **गर्ग त्र्यह** तीन दिनों का एक भोज है। द्र० आश्रौसू, १०. २; शाश्रौसू, १६. २२. २; काश्रौसू २३. २. ८।

गर्गर—किसी वाद्य-यन्त्र का नाम ऋवे ८. ६९. ९ में गर्गर है। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १४४ टि० १; त्सिमर, आले, २८९।

गर्त—ऋवे ६. २०. ९ में यह शब्द रथ पर योद्धा के बैठने के स्थान का बोधक है[1]। यह अवश्य बड़े आकार का रहा होगा, क्योंकि इसे बृहन्त् बताया गया है : ऋ० ५. ६२. ८; ५. ६८. ५। बाद में यह शब्द रथ का ही बोधक बन गया है : संभवतः ऋ०—५. ६२. ५ में; **गर्तारुक्** "रथ पर चढ़ने वाला" : ऋ० १. १२४. ७ में; निरुक्त ३. ५; द्र० गेल्डनर, ऋग्वेद कोमेंटर, २२; रूपकात्मक अर्थ में : ऋ० ७. ६४. ४ में। तु० 'पितृदेवत्यो वै गर्तः' शब्रा ५. २. १. ७; 'पुरुषो गर्तः' शब्रा ५. ४. १. १५।

गर्तारुह्—गर्त या रथ की सीट पर चढ़कर बैठने वाले को **गर्तारुह्** कहा गया है : ऋ० १. १२४. ७; तु०—निरुक्त ३. ५; द्र०—गेल्डनर, ऋग्वेद कोमेंटार, २२। तु० **गर्त**।

गर्दभ—ऋवे में गर्दभ को अश्व से कम महत्त्व दिया गया है : ऋ० ३. ५३. २३। ऐब्रा ४. ९ में गर्दभ द्वारा खींचे गए रथ का उल्लेख है। (द्र० **खर**)। तैसं ५. १. २. १, २ में उसे अश्व से निम्न श्रेणी का बताया गया है; किंतु पशुओं में उसे उत्तम भारवाही 'भारभारितम' कहा गया है : ५. १. ५. ५। वहीं उसे **द्विरेतस्** भी कहा गया है, क्योंकि उसका पोषण अश्वा और गर्दभी दोनों से अभिप्रेत है : ५. १. ५. ५; ७. १. १. २, जैब्रा, १. ५७. ४[2]। गर्दभ की भोजन-क्षमता का भी उल्लेख मिलता है : तैसं, ५. १. ५. ५। अवे ८. ६. १० में इसकी कर्ण-कटु ह्रींचु-ह्रींचु ध्वनि का भी उल्लेख मिलता है। ऋवे १. २९. ५ में एक गायन की आवाज को गर्दभ-ध्वनि के समान बताया गया है। एक वालखिल्य सूक्त ८. ५६. ३ में एक गायक को सौ गर्दभों का उपहार मिलने का उल्लेख है। **अश्वतर** 'खच्चर' को गर्दभ और अश्वा से उत्पन्न बताया गया है। गर्दभ की भाँति **अश्वा** को भी द्विरेतस्=दो बीज धारण करने वाली कहा गया है : तैसं, ७. १. १, २, ३; पंविंब्रा, ६. १. ६; जैब्रा, १. ५७. ४। गर्दभ को कभी-कभी **रासभ** नाम भी दिया गया है। गर्दभी का उल्लेख अवे १०. १. ४ और बृउ १. ४. ८ में मिलता है। गर्दभ के अन्य प्रसङ्ग हैं : अवे ५. ३१. ३; ऐब्रा, ३. ३४; शब्रा, ४. ५. १. ९; १२. ७. १. ५। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २३२, २३३।

गर्दभी-मुख—वंब्रा, इस्तू, ४. ३८४, में **गर्दभीमुख** एक आचार्य का नाम है।

गर्दभी-विपीत या गर्दभी-विभीत—बृउ ४. १. ११ माध्यंदिन=४. १. ५ काण्व में **जनक** के समकालीन एक **भारद्वाज** आचार्य का नाम **गर्दभीविपीत** या **गर्दभी-विभीत** आया है।

गर्भ—'एष वै गर्भो देवानां य एष (सूर्यः) तपत्यष हीदं सर्वं गृह्णात्यनेनेदं सर्वं गृभीतम्' शब्रा १४. १. ४. २; 'पुरुष उ गर्भः' जैउ ३. ३६. ३; 'इन्द्रियं वै गर्भः' तैब्रा १. ८. ३. ३; 'षण्मास्या वा अन्तमा गर्भा जाता जीवन्ति' शब्रा ९. ५. १. ६३।

गर्मुत्—तैसं २. ४. ४. १, २ में किसी वन्य माष या उड़द का नाम **गर्मुत्** आया है। कासं १०. ११ में 'गन्मुत्' पाठ है, जो संभवतः गलत है। मैसं २. २. ४ में "गार्मुत" अर्थात् "गर्मुत् से बना पदार्थ" आता है। तु० वोबू; त्सिमर, आ० ले०, ७१।

गलुन्त—अवे में केवल एक बार ६. ८३. ३ में यह शब्द आया है, जहाँ इसका अर्थ है[1]; शोथ; किंतु ह्विटनी ने इसका अर्थ किया है : "गर्दन"[2]।

गलूनस आर्क्षाकायण—**ऋक्षाक** का वंशज। जैउपब्रा १. ३८. ४ में एक आचार्य का नाम है।

गल्दा—ऋवे ८. १. २० में **गल्दा** शब्द आया है। निघण्टु १. ११ में वाक् के नामों में उसका पाठ है। तु० निरुक्त ६. २४। तु० गल्हा की जिसका अप्रा० में निर्देश है। द्र०—सूर्यकान्त, अथर्वप्रातिशाख्य 'गल्हा' पर।

गवय—ऋग्वेद-काल से ही गवय=नीलगाय का उल्लेख मिलता है : ऋ० ४. २१. ८; मैसं, ३. १४. १०;

[1] द्र०—त्सिमर, आ० ले०, २४६, १४७; इन्होंने गलती से 'रथ में खड़े होने' को उद्दिष्ट माना है। द्र०—हापकिन्स, जअओसो, १३. २३८, २३९; गेल्डनर, वैस्तू, ३. ४८; तु०—गर्त-सद्, ऋ० २. ३३. ११।

[2] अर्टल, ट्रांजैक्शन्स०, १५. १७७-१८०, रासभ का उल्लेख : शब्रा ६. ३. १. २३।

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, प्रोअओसो, १८८७, १६; ह्रिम्स आफ दि अवे, ५०५।

[2] द्र०—ट्रां० अवे, ३४३।

कासं १६. १७; वासं, २४. २८; ऐब्रा २. ८; ३. ३४; शब्रा, १. २. ३. ९; शाश्रौसू १६. ३. १४ आदि। वासं २४. २८ में **गौर** और **महिष** के साथ इसका उल्लेख है। वहीं वन्य गवय का भी कथन है: वासं, १३. ४९; तैसं, ४. २. १०. ३; मैसं २. ७. १७; कासं १६. १७। तु०–त्सिमर, आ० ले०, ८३-८४।

गवाशिर्—दूध में मिलाया हुआ। ऋवे में प्रायः यह सोम का बोधक है: १. १३७. १; १. १८७. ९; २. ४१. ३; ३. ३२. २; ३. ४२. १. ७; ८. ५२. १०; ८. १०१. १०; तु०–'गवाशीर्जगती' तां १२. १. २। तु०–त्सिमर, आ० ले०, २७९।

गविष्टि—शब्दशः अर्थ है गौ की इच्छा। ऋवे के कुछ स्थलों पर युद्ध या संघर्ष का बोधक है, विशेषतः पशुओं के लिए किये गए युद्ध का: ऋ० १. ९१. २३; ३. ४७. ४; ५. ६३. ५; ६. ३१. ३; ६. ४७. २०; ६. ५९. ७; ८. २४, २; ९. ७६. २। इसी प्रकार अवे ४. २४. ५ में। **गव्या** शब्द का भी इसी प्रसङ्ग में प्रयोग मिलता है: ऋ० ७. १८. ७।

गविष्ठिर आत्रेय—अत्रि का वंशज। ऋवे और अवे में इन्हें एक ऋषि बताया गया है: ऋ० ५. १. १२; १०. १५०. ५; अवे ४. २९. ५। द्र०–आश्रौसू १२. १४. १। तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १२६।

गवीधुका, गवेधुका—एक प्रकार की घास, कोईक्स बर्बाटा, Coix barbata। गवीधुका: तैसं, ५. ४. ३. २; गवेधुका: शब्रा ५. २. ४. १३; ५. ३. १. १०; 'यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् तत एता ओषधयो जज्ञिरे' १४. १. २. १९ है। विशेषण **गवीधुक**: तैसं, १. ८. ७. १; १. ८. ९. २; तैब्रा, १. ७. ३. ६; मैसं, २. ६. ५; ४. ३. ८; वासं, १५. ५ में और गावेधुक: शब्रा, ५. २. ४. ११. १३; ५. ३. १. १०; ५. ३. ३. ७ में। इसे चावल के साथ उबाला जाता था;=गवीधुका यवागू: तैसं, ५. ४. ३. २। जौ के साथ भी उबाला जाता था: शब्रा ९. १. १. ८।

गवीनी—अवे १. ३. ६ में यह शब्द आया है। सायण के अनुसार: "मूत्राशयमार्गे पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्येते" =मूत्राशय के रास्ते में दोनों पार्श्वों की नाडियों को गवीनी कहते हैं।

गव्य—द्र०–**गव्यूति**।

गव्या—द्र०–**गविष्टि**।

गव्यूति—ऋवे १. २५. १६; ३. ६२. १६; ५. ६६. ३; ७. ७७ ४, आदि में **गव्यूति** राथ[1] के अनुसार चरागाह के अर्थ में आम है। इसी अर्थ में **गव्य** शब्द भी पाया जाता है: ऐब्रा, ४. २८[1]। बाद में गव्यूति शब्द दूरी के माप में आता है: पंविब्रा, १६. १३. १२। गेल्डनर[2] के अनुसार इसका प्रारम्भिक अर्थ सड़क है, जो ऋ० १. २५. १६ में या रूपक बनकर ऋ० ६. ४७. २०; १०. १४. २ में आया है। इसके बाद यह दूरी का बोधक बनकर आया है: ऋ० ८. ६० २०; पंविब्रा १६. १३. १२ में; और अन्त में भूमि के अर्थ में आता है: ऋ० ३. ६२. १६; ७. ६२ ५; ७. ६५. ४; ८. ५. ६।

गाङ्ग्य—गङ्गातटीय। ऋवे ६. ४५. ३१ में उरुकक्ष का विशेषण है या 'बनी' का बोधक है[3]।

गाङ्ग्यायनि—गाङ्ग्य का वंशज। कौउ १. १ में **चित्र** का पैतृक नाम है। इसका पाठान्तर **गार्ग्यायणि** भी वहाँ पाया जाता है। तु०–वेबर, इस्तू, १. ३९५।

गातु—तु० 'गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह' शब्रा १. ९. २. २८। द्र०–**गाथा**।

गात्र—ऋग्वेद-काल से ही गात्र शब्द शरीर के अर्थ में आम रहा है: ऋ० १. १६२. ११; ऐब्रा २. ६; ऋ० ८. १७. ५; ८. ४८. ९; ९. ८३. १; वासं, २३. ३९; २३. ४४; अवे १. १३. १; ५. २९. १२; १०. ७. २७; ११. १. २४; तैसं ३. ४. २. २ आदि। द्र०–**शरीर**।

गाथ, गाथपति—ऋवे १. १६७ ६; ९. ११. ४ में स्तोत्र के अर्थ में आया है। ऋवे १. ४३. ४ में गाथपति शब्द **स्तोत्रपति** के अर्थ में आया है। तु०–**गाथा**।

गाथा—ऋवे में गाथा शब्द "गान" या "पद्य" के अर्थ में है: ऋ० ८. ३२. १; ८. ७१. १४; ८. ९८. ९; ९. ९९. ४; गाथः १. १६७. ६; ९. ११. ४; गाथपतिः १. ४३. ४; 'गाथा-नी', 'गाथानेतृ': १. १९०. १; ७. ९२. २; ऋजुगाथ, 'ठीक गान करने वाला' ५. ४४. ५; गाथिन्: १. ७. १[4]। इसी अर्थ में **गातु** शब्द आया है: ऋ० १. १५१. २; २. २० ५; ३. ४. ४; ४. ४. ६; ५. ८७. ८; १०. २०. ४; १०. १२२. २। ऋवे १०. ८५. ७ में विशेषतः गाथा शब्द **नाराशंसी** या **रैभी** के अर्थ में उल्लिखित है; इस प्रकार संग्रह-रूप में यह

[1] वोबू।

[1] वोबू, "गव्य" ३ ब। [2] वेंस्तू, २. २९०, २९१।

[3] उरुकक्ष का विशेषण, राथ, वोबू; तु०–वाकरनागल, आल्तिं ग्रा, २. २८८; वेबर, एपिक्शस इम वैदिश्शन रितुआल, २८; बनी यह अर्थ: ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ३९८; तु०–वेबर, इस्तू, २. २९१ टि०।

[4] तु०–हापकिन्स, जअओसो०, १७. ६५।

परवर्ती साहित्य में अनेक बार उल्लिखित है : तैसं,७. ५. ११. २; कासं, अश्वमेध, ५. २; ऐब्रा, ६. ३२; कौब्रा, ३०. ५; शब्रा, ११. ५. ६. ८ (जहाँ रैभी का उल्लेख नहीं है) गोब्रा २. ६. १२। भाष्यकारों ने इन तीन पारिभाषिक शब्दों को अथर्ववेद के कुछ सूक्तों के रूप में माना है। उदाहरणार्थ गाथा=अवे, २०. १२७. १२ एवं आगे; **नाराशंसी**: अवे २०. १२७. १-३; **रैभी**=अवे, २०. १२७. ४-६, जब कि उस सूक्त के ७-१० मन्त्र **पारिक्षित्यः** कहे गए हैं। किंतु ओल्डेनबर्ग ने यह दर्शाया है कि ऋग्वेद में यह अर्थ ठीक नहीं बैठता[1]। **गाथाओं** का अन्यत्र भी उल्लेख है : अवे १०. १०. २०; १५. ६. ४; शब्रा ३. २. ४. १६; ११. ५. ७. १०; १३. १. ५. ६; १३. ४. २. ८; १३. ५. ४. २; तैआ, २. १०; छाउ, ४. १७. ९ आदि। ऐआ २. ३. ६; शब्रा, ११. ५. ७. १० में इन्हें मात्रात्मक बताया गया है; और **ऋच्** तथा **कुम्भ्या** के साथ इनका उल्लेख किया गया है। ऐब्रा ७. १८ में ऋच् को **दैवी** और गाथा को **मानवीय कृति** बताया गया है और वहीं **शुनःशेप** की कथा को "शतगाथम्" कहा गया है। वोबू में ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों की परंपरा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गाथा यद्यपि धार्मिक मानी जाती थी, तथापि उसे **ऋच्, यजुस्** और **सामन्** से भिन्न, अवैदिक माना जाता था; मन्त्र के रूप में उसे मान्यता नहीं प्राप्त थी। इसके साथ ही **यज्ञ-गाथा** किसी यज्ञ के विवरण के संक्षिप्त रूप में संगृहीत पद्य को कहते थे। शब्रा में ऐसी गाथाएँ हैं, जिनमें बड़े राजाओं के यज्ञ-कार्य को गाथा-रूप में गाया गया है : शब्रा १३. ५. ४ आदि। द्र०—१३. ४. २. ८ जहाँ गाथाएँ स्पष्टतः दान-स्तुतियाँ हैं, जैसी कि बृदे ३. १५४ में **नाराशंसियों** को कहा गया है। मैसं ३. ७. ३ में गाथाओं को विवाह के अवसर पर गेय बताया गया है। कभी-कभी गाथा को **नाराशंसी** कहा गया है; जहाँ कि ये उदार-दाता की स्तुति रही होंगी : 'यद् ब्रह्मणः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्' तैब्रा, १. ३. २. ६[2]।

[1] द्र०—त्सादामौगे ४२. २३८; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ६८९ एवं आगे; इन्होंने संभवतः ऋग्वेद में भी वही अर्थ माना है।

[2] द्र०—एगलिंग, सेबुई, ४४, ९८; इन्होंने शब्रा ११. ५. ६. ८ को ऐसा ही माना है; सायण यहाँ दोनों को एक मानने में या दोनों में भेद करते सकुचाये हैं। गाथा का अर्थ व्यापक है, किंतु वह **नाराशंसी** को अपने में समाहित कर लेता है, फिर भी उसका सामानान्तर नहीं है। ऐआ २. ३. ६ पर सायण ने गाथा का उदाहरण दिया है : 'प्रातः प्रातर् अनृतं ते वदन्ति', अर्थात् 'रोज सबेरे वे झूठ बोलते हैं', स्पष्टतः यहाँ **नाराशंसी** नहीं है।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे, ६८९ एवं आगे; वेबर, एपिश्शस इम वैदिश्शन रितुआल ४ एवं आगे; मेक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४९३।

१ गाथिन्—सर्वानुक्रमणी के अनुसार गाथिन् **कुशिक** के पुत्र और **विश्वामित्र** के पिता का नाम है। यह कहना कठिन है कि यह परंपरा ठीक है या नहीं। ऐब्रा ७. १८ से इसका कुछ समर्थन होता है, जहाँ **गाथिनों** के **दैव-वेद** का उल्लेख आता है, जिसमें **विश्वामित्र** द्वारा स्वीकृत किये जाने पर **शुनःशेप** ने भी भाग लिया है। द्र०—**गाथिन**।

गाथिन—ऐब्रा ७. १८ में **विश्वामित्र** के पुत्रों को "गाथिन" या "**गाथिन्** का वंशज" बताया गया है; जो परंपरा के अनुसार उनके बाबा थे; और **विश्वामित्र** को सर्वानुक्रणी में '**गाथिन**' कहा गया है। तु०—आश्रौसू, ७. १८[1]।

गाध—नदी के गाहन-योग्य स्थान का बोधक है : नि० २. २४; ऋ० ७. ६०. ७; ६. २४. ८ आदि; बाद में प्रतिष्ठा के अर्थ में आता है : ऋ० ६. ४८. ९; शब्रा, १२. २. १. २ आदि।

गान—'तस्मादु गायतां नाश्नीयात्। मलेन ह्येते जीवन्ति' जैउ, १. ५७. १।

गांदम—पंवि ब्राह्मण २१. १४. २० में **एकयावन्** के नाम का एक रूप **गांदम** है, जो तैब्रा, २. ७. ११. २ में **कांदम** इस रूप में आता है। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ६९।

गांधार नग्नजित्—ऐब्रा ७. ३४ में गंधार-राज **नग्नजित्** का नाम उन व्यक्तियों की सूची में आया है, जिन्होंने सोम के स्थान पर उपयोग किये जा सकने वाले पदार्थों के संबन्ध में अपने मत दिये हैं। शब्रा, ८. १. ४. १० में वे ही या उनका कोई वंशज **स्वर्जित् नग्नजित्** के रूप में उद्दिष्ट है, जिसका यज्ञविधि के संबन्ध में मत स्वीकार नहीं किया गया है; क्योंकि वह राजवंशीय (राजन्यबन्धु) व्यक्ति था।

गायत्र—सामविशेष।

गायत्री—ऋवे में एवं अन्यत्र गायत्री एक छन्द है। ऋवे १०. ११४. १६ में गायत्री एवं वहीं अन्य स्थलों

[1] वेबर, एपिश्शस इम वैदिश्शन रितुआल १६ टि० ३; तु०—म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १. ३४८ एवं आगे; पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, ३२ एवं आगे।

१. १२. ११; १. २७. ४; ८. २. १४; ८. १. ७, ८ आदि में गायत्र शब्द आया है। ऐब्रा १. १; ४. २९ में इसे **अष्टाक्षरा** और वहीं (३. ४०; तु०—शब्रा, ६. २. १. २२; निरुक्त ७. ८; शब्रा, १. ४. १. ३४; १. ७. १. १; ३. २. ४. २; छाउ ३. १२. १, २, ५; ऋप्रा, १६. १०) उसके तीनों पादों को ध्यान में रखकर उसे **चतुर्विंशत्यक्षरा** बताया गया है। ब्राह्मणों में अनेक अलौकिक कथाओं का गायत्री एवं अन्य छन्दों से संबन्ध जोड़ा गया है। तु०—सा हैषा गयांस्तत्रो प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे तद् यद् गयांस्तत्रै तस्माद् गायत्री नाम' शब्रा, १४. ८. १५. ७; 'सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायद् यदगायत् तस्मादियं (पृथिवी) गायत्री' शब्रा, ६. १. १. १५; 'इयमेव (पृथिवी) गायत्री' जैउ १. ५५. ३; =प्राण, कौब्रा १५. २; शब्रा, ६. ४. २. ५; ६. २. १. २४; ७. ५. १. २१; १. ३. ५. १५; =अग्नि, शब्रा, १. ८. २. १३; ३. ४. १. १९; =ब्रह्म, तां, ११. ११. ९; जैउब्रा, १. १. ८; ऐब्रा, ४. ११; शब्रा, १. ३. ५. ४; =ब्रह्मवर्चस, तैब्रा, २. ७. ३. ३; ऐब्रा, १. ५. २८; कौब्रा, १७. २. ९; तां० १५. १०. ६; गो० उ० ५. ३; =ज्योतिः, तां, १३. ७. २; कौब्रा, १७. ६; =भर्गः, गो० पू० ५. १५; =वीर्य, तां, ७. ३. १३; शब्रा, १. ३. ५. ४; =शिरः, शब्रा, ८. ६. २. ३; =मुख, कौब्रा, ११. २; तां० ६. १. ६; रथंतरस्य योनि, तां० १५. १०. ५; =यज्ञ, शब्रा, ४. २. ४. २०; =इमेलोकाः तां० १५. १०. ९; =श्येनः, शब्रा, ३. ४. १. १२; =सर्वाणि छन्दांसि, तां० ८. ४. ४; =द्यौः, ऐब्रा, ३. ४८; =प्राची दिक्, शब्रा,=८. ३. १. १२; । 'ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्' शब्रा, १. ३. ५. ५; 'तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं दाधार पदैर्द्वितीयमक्षरैस्तृतीयम्' तां० १०. ५. ३; 'एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री त्रिष्टुम् च' तां० २०. १६. ८; 'अष्टाक्षरा गायत्री' ऐब्रा २. १७; कौब्रा, ९. २; तैब्रा, १. १. ५; तां० ६. ३. १३; नवाक्षरा वै गायत्र्यष्टौ तानि यान्यन्वाह प्रणवो नवमः' शब्रा, ३. ४. १. १५; चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री' कौब्रा, १२. ३; ऐब्रा, ३. ३९; 'एषा वै गायत्री पक्षिणी चक्षुष्मती ज्योतिष्मती ज्योतिष्मती भास्वती यद् द्वादशाहस्तस्य यावभितोऽतिरात्रौ तौ पक्षौ यावन्तराग्निष्टोमौ ते चक्षुषी येऽष्टौ मध्य उक्थाः स आत्मा' ऐब्रा, ४. ३२; 'यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः' शब्रा ३. ४. १. १२; 'गायत्र्या वैं देवाः पाप्मानं शमलमपाघ्नत' ऐब्रा, २. १७।

गार्गी वाचक्नवी—बृउ ३. ६. १; ३. ८. १ में याज्ञवल्क्य की समकालीन और उनकी प्रतिद्वंद्विनी के रूप में **गार्गी वाचक्नवी** का उल्लेख आता है। तु०—वेबर, इस्तू, १०. ११८।

गार्गी-पुत्र—माध्यंदिन-शाखीय बृउ ६. ४. ३० में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में तीन आचार्यों का नाम **गार्गी-पुत्र** है। इनमें से सबसे पहले आचार्य **बाडेयीपुत्र** के शिष्य और दूसरे **गार्गीपुत्र** के गुरु थे। ये दूसरे गार्गीपुत्र उन **पाराशरी कौण्डिनीपुत्र** के गुरु थे, जो तीसरे गार्गीपुत्र के गुरु कहे गए हैं।

गार्ग्य—**गर्ग** का वंशज। बृउ २. १. १ और कौउ ४. १ में बालाकि का पैतृक नाम गार्ग्य है। बृउ की दूसरी वंश-सूची ४. ६. २ काण्व में दो गार्ग्यों का उल्लेख है; उनमें से एक **गौतम** के शिष्य हैं, और दूसरे पहले **गार्ग्य** के। अन्य गार्ग्यों का उल्लेख तैआ १. ७. ३, निरुक्त १. ३; १२; ३. १३ और कल्प-सूत्रों में आता है। इस प्रकार यह वंश कल्प और व्याकरण की समृद्धि के साथ संबद्ध है।

गार्ग्यायण—**गार्ग्य** का वंशज। बृउ में आचार्यों की द्वितीय वंश-सूची ४. ६. २ काण्व में **उद्दालकायन** के शिष्य एक आचार्य हैं।

गार्हपत्य—वैदिक यज्ञ के प्रमुख तीन अग्नियों में एक **गार्हपत्य** है। अवे ९. ६. ३० के अनुसार "योऽतिथीनां स आहवनीयो, यो वेश्मनि स गार्हपत्यः। यस्मिन्पचति स दक्षिणाग्निः" अर्थात् अतिथियों के लिए प्रयुक्त अग्नि आहवनीय, गृह-यज्ञों में प्रयुक्त गार्हपत्य और पकाने का अग्नि दक्षिणाग्नि है। तु०—**आहवनीय**। गार्हपत्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी आया है। कहा गया है कि इस "गृह में गार्हपत्य के लिए जागो"—"अस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि" : ऋ०, १०. ८५. २७; "देवों ने मुझे गार्हपत्य के लिए तुम्हें दिया है—"मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः : ऋ० १०. ८५. ३६; तु०—१. १५. १२; ६. १५. १९। शब्रा १. १. १. ११; तु०—१. ७. १. ८ में गार्हपत्य, आहवनीय प्रभृति अग्नियों के लिए **गार्हपत्यागार** और **आहवनीयागार** का भी उल्लेख मिलता है; तु०—काश्रौसू, ४. ७. १५। सूत्रों में इन अग्नियों का उल्लेख आम है : काश्रौसू, १. ८. ३४; ७. ४. २५; आश्रौसू, २. २ आदि। यजुर्वेद और ब्राह्मण-साहित्य में भी इनका अनेकशः उल्लेख है : वासं ३. ३९; १९. १८; शांब्रा, २. १; ऐब्रा ७. ६; ७ १२; शब्रा, ३. ६. १. २८; ७. १. २. १२ आदि। द्र० 'ऋग्वेदाद् गार्हपत्यो (ऽजायत)' शब्रा ४. १; 'गृहा वै गार्हपत्यः' शब्रा १. १. १. १९; 'जाया गार्हपत्यः' ऐब्रा ८. २४; 'प्रजापतिर्वै गार्हपत्यः' कौब्रा २७. ४; 'अथैष

एव गार्हपत्यो यमो राजा' शब्रा २. ३. २. २; 'अन्नं वै गार्हपत्यः' शब्रा ८. ६. ३. ५; 'कर्मेति गार्हपत्यः' जैउ ४. २६. १५; 'अयं वै (भू-) लोको गार्हपत्यः' शब्रा ७. १. १. ६; 'श्रपणो वै गार्हपत्यः' कौब्रा २. १; 'गार्हपत्यो वा अग्नेर्योनिः' तैब्रा १. ४. ७. ४।

गार्ग्यायणि—गार्ग्य का वंशज। कौउ १. १ में **चित्र** के पैतृक नाम **गाङ्ग्यायनि** के स्थान पर पाठान्तर गार्ग्यायणि है।

गालव—बृउ में आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों २. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यं०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व में **विदर्भीकौडिन्य** के एक शिष्य का नाम गालव है। ऐआ ५. ३. २ में भी संभवतः उन्हीं का उल्लेख है। इनका यज्ञविधि के प्रसङ्ग में उल्लेख किया गया है। निरुक्त ४. ३ में इस नाम के एक वैयाकरण का उल्लेख है। तु०—पाणिनि, ६. ३. ६१; ७. १. ७४; ७. ३. ९९; ८. ४. ६७।

गिर्—ऋग्वेद-काल से ही गिर् शब्द वाणी के अर्थ में आया है। छाउ १. ३. ६ में प्राण से वाणी के निकलने तथा वाणी के ही गिर् होने का उल्लेख मिलता है: "प्राणे ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते"। तु० 'वाग्वै गीः' शब्रा ७. २. २. ५; 'विशो गिरः' शब्रा ३. ६. १. २४। द्र०—ऋ० १. ५. ११; १. ७७. १; २. २. १; ५. ५३. १३; ६. ३४. १; ७. ३६. ४; ५. ८७. ३; अवे, १३. १. ५३, ५४; १. १५. २; २. ५. ४; ७. ११०, ३।

गिरि—पर्वत या ऊँचाई। ऋग्वेद में गिरि शब्द अनेक बार आया है: ऋ०—१. ५६. ३; १. ६१. १४; १. ६३. १; ४. २०. ६; ६. २४. ८ आदि। गिरि पर खड़े वृक्षों के कारण उसे **वृक्षकेश** ऋ० ५. ४१. ११ में कहा गया है। पर्वत से समुद्र की ओर बहने वाली नदियों का भी उल्लेख है: ऋ० ७. ९५. २। कभी-कभी गिरि का, पर्वत विशेषण के साथ उल्लेख आता है: ऋ० १. ५६. ४; ८. ६४. ५; अवे, ४. ७. ८; ६. १२. ३; ६. १७. ३; ९. १. १८ आदि। ऋग्वेद में पर्वत से गिरने वाले जलों का उल्लेख है: ६. ६६. ११; द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ४११; ऋ० ८. ३२. ४; १०. ६८. १, आदि। अथर्ववेद में बर्फीले पर्वतों का उल्लेख है: १२. १. ११; द्र०—**हिमवन्त्**। पर्वतों के नाम **मूजवन्त्**, **त्रिककुद्**, **हिमवन्त्** आए हैं। **क्रौञ्च**, **महामेरु** और **मैनाक** ये नाम केवल तैआ में आए हैं। **नावप्रभ्रंशन** को व्यक्तिवाचक नाम नहीं माना जा सकता। द्र० अवे, १९. ३७. ८; ह्विटनी का नोट उनके ट्रांसलेशन में; मैकडानल, जरा-एसो०, १९०९, ११०७; तु० त्सिमर, आ० ले० ४७।

गिरिक्षित् औच्चामन्यव—**उच्चामन्यु** का वंशज। पंविब्रा १०. ५. ७ में **अभिप्रतारिन् काक्षसेनि** के समकालीन गिरिक्षित् औच्चामन्यव का उल्लेख मिलता है।

गिरिज बाभ्रव्य—**बभ्रु** का वंशज। ऐब्रा ७. १ में गिरिज बाभ्रव्य का उल्लेख है, जिसने **श्रौत** से यज्ञिय पशु के विभाजन ("पशोर्विभक्ति") की शिक्षा पाई थी।

गुग्गुलु—अवे १९. ३८. २ में गुग्गुलु को **सिन्धु** और समुद्र में उत्पन्न कहा गया है[1]। त्सिमर[2] के अनुसार गुग्गुलु वृक्ष का गोंद है, और वह समुद्र से नहीं उत्पन्न होता; समुद्र का उल्लेख तो इस बात का साक्षी है कि समुद्री मार्ग से व्यापार होता था। हो सकता है कि इस संदर्भ में कोई अन्य पदार्थ उद्दिष्ट हो। इसी रूप में यह शब्द अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आता है: अवे २. ३६. ७; ऐब्रा, १. २८; कभी-कभी यह अपने प्राचीन रूप गुग्गुलु में पाया जाता है; पाण्डुलिपियों में ये दोनों पाठ पाठान्तरों में आते हैं: तैसं ६. २. ८. ६; मैसं ३. ८. ५; पंविब्रा, २४. १३; शब्रा, ३. ५. २. १६। तु० 'तस्य (अग्नेः) यन्मांसमासीत्तद् गुग्गुल्वभवत्' तां० २४. १३. ५; तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे०, ६७५; लास्सन, इंदिश्शे आल्तरथुम्सकुंद, १२. ३३९; ह्विटनी ट्रां० अवे, ९५७, ९५८।

१. गुङ्गु—गुङ्गु के वंशज **गुङ्गुओं** का उल्लेख ऋग्वेद १०. ४८. ८ में है, जहाँ वे **अतिथिग्व** के मित्र बताये गये हैं। हो सकता है गुङ्गु कोई जनविशेष रहे हों। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६५।

२. गुंङ्गू—ऋग्वेद २. ३२. ८ में गूङ्गू **कुहू** का एक नाम है; वहाँ "या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती" यह पाठ है।

गुदा—द्र०—**शरीर**।

गुप्त—जैउब्रा ३. ४२ म **वैपश्चित दार्ढजयन्ति गुप्त लौहित्य** के नाम का एक अंश गुप्त शब्द है। अन्य तीनों पैतृक नाम हैं, जिनके आधार पर इन्हें **विपश्चित्**, **दृढजयन्त** और **लोहित** के वंशों का माना जा सकता है।

गुल्गुलु—द्र०—**गुग्गुलु**।

गुल्फ—द्र०—**शरीर**।

---

[1] या नदियों से, जैसा कि राथ ने वोबू, "गुग्लु" में सैन्धव को लिया है।

[2] आले, २८।

गुहा—कुछ स्थलों पर गुहा शब्द पर्वत की गुफा के अर्थ में आया है। वासं ३०. १६ में **किरात** का संबन्ध गुहा से दिखाया गया है: "गुहाभ्यः किरातम्"। तां० ब्रा० १. २. १, ३ में भी गुहा शब्द इसी अर्थ में है: "वम्रीभिरनुवित्तं गुहासु"। अन्यत्र प्रायः गुहा शब्द गूढ़ के अर्थ में है: ऋ० ८. ८. २३; १०. ४५. २; १०. १००. ७. शब्रा ११. २. ६. ५; अवे ११. ५. १०; १०. ८. ६ आदि।

गूर्द—सामविशेष। 'गौपायनानां वै सत्रमासीनानां किरातकुल्यावसुरमाये अन्तः परिध्यसून् प्राकिरतान्तेऽग्ने त्वं नो अन्तम' इत्यग्निमुपासीदंस्तेनासूनस्पृण्वंस्तद् वाव ते तर्ह्यकामयन्त कामसनि साम गूर्दः काममेवैतेनावरुन्धे' तां० १३. १२. ५।

गृत्स—वासं १६. २५ के **शतरुद्रिय** मन्त्रों में गृत्स तस्कर-विशेष का नाम है। तु०—**तस्कर**।

गृत्समद—गृत्समद एक ऋषि का नाम है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार ये ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के ऋषि हैं। इस परंपरा का समर्थन ऐब्रा और ऐआ से होता है: ऐब्रा ५. २. ४; ऐआ, २. २. १। कौब्रा, २२. ४ में उन्हें **भार्गव** कहा गया है; तु०—**गार्त्समदि**, कौब्रा, २८. २। इसका पाठान्तर **बाभ्रव** भी है; किंतु परवर्ती परंपरा में **भार्गव** ही पैतृक नाम के रूप में उद्दिष्ट है[1]। गृत्समदों का उल्लेख ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में कई बार आता है: २. ४. ९; २. १९. ८; २. ३९. ८; २. ४१. १८; उनका **शुनहोत्रों** के रूप में उल्लेख किया गया है: २. १८. ६; २. ४१. १४, १७; किंतु **गार्त्समद** या **शौनहोत्र** नाम नहीं आये हैं। गृत्समद व्यक्तिगत रूप से वहाँ अभिप्रेत नहीं हैं[2]। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ११८; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि ३. २८७।

गृध्र—ऋग्वेद-काल से ही गृध्र पक्षी का उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ११८. ४; २. ३९. १; ७. १०४. २२; १०. १२३. ८; अवे, ७. ९५. १; ११. २. २; ११. ९. ९; ११. १०. ८, २४; तैसं, ४. ४. ७. १; ५. ५. २०. १; मैसं, ४. ९. १९; तैआ, ४. २९; अद्भुतब्रा, इस्तू, १. ४० आदि। इसकी तेज उड़ान: ऋ० २. ३९. १ और शव-भक्षण: अवे ११. १०. ८, २४; प्रायः इसे शिकारी पक्षी बताया गया है। श्येन गृध्रों में प्रमुख है: ऋ० ९. ९६. ६। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८८; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. २२५।

[1] द्र०—म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १२, २२६ एवं आगे।
[2] द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ४२. २००, २०१।

गृष्टि—गृष्टि उस नई गौ को कहते हैं, जिसने अभी केवल एक ही बच्चा दिया हो। इसका उल्लेख ऋग्वेद, अवे और परवर्ती सूत्र-साहित्य में आता है: ऋ० ४. १८. १०; अवे २. १३. ३; ८. ९. २४; १९. २४. ५; कौसू, १९. २४ आदि।

गृह—वैदिक साहित्य में गृह शब्द एकवचन या बहुवचन में घर के अर्थ में आया है: एकवचन में: ऋ० ३. ५३. ६; ४. ४९. ६; ८. १०. १ आदि; अवे, ७. ८३. १; १०. ६. ४; ऐब्रा, ८. २१। बहुवचन में: ऋ० २. ४२. ३; ५. ७६. ४; १०. १८. १२; १०. ८५. २६; १०. १४२. ४; १०. १६५. २; अवे १. २७. ४; ३. १०. ११; ६. १३७. १; ऐब्रा, २. ३१; ८. २६; वासं २. ३२; ४. ३३; १८. ४४; शब्रा १. १. २. २२; १. ६. १. १९ आदि। **दम** और **दम्** भी उसी अर्थ में आए हैं। पस्त्या और हर्म्य शब्द घेरे से युक्त घर के बोधक हैं। घर में केवल परिवार के ही लोग नहीं होते थे, अपितु उसमें पशु और भेड़ें भी रात में रहती थीं; पशु: ऋ० ७. ५६. १६; अवे १. ३. ४; ९. ३. १३; भेड़ें: ऋ० १०. १०६. ५; अवे ३. ३। इसमें कई कमरे होते थे और यह सुरक्षित रूप से बन्द भी किया जा सकता था: ऋ० ७. ८५. ६। **द्वार्** या **द्वार** का भी उल्लेख आता है, और इसी कारण गृह को **दुरोण** भी कहा गया है। प्रत्येक घर में अग्नि को प्रज्वलित रखा जाता था: ऋ० १. ६९. २; तु०—गार्हपत्य अग्नि, अवे ५. ३१. ५; ६. १२०. १; ६. १२१. २; ८. १०. २; ९. ६. ३०; १२. २. ३४; १८. ४. ८; वासं ३. ३९; १९. १८; ऐब्रा, ७. ६. १२; कौब्रा, २. १; शब्रा, ३. ६. १. २८; ७. १. १. ६ आदि।

घर कैसे बनता था, इस संबन्ध में बहुत कम ज्ञात है। अनुमानतः पत्थर का उपयोग नहीं किया जाता था[1]। मेगस्थनीज के समय में भी लकड़ी के मकानों का उल्लेख मिलता है[2]। अथर्ववेद के सूक्तों में गृह-निर्माण की कुछ सूचना है; किंतु इसके विवरण दुरूह हैं; क्योंकि प्रसक्त संदर्भ में स्पष्ट अर्थ क्या है इस बात में संदेह बना रहता है: अवे ३. १२; ९-३[3]। त्सिमर आ० ले०, १५३ के अनुसार चार खम्भें खड़े किये जाते थे=**उपमित्**; उन पर बांस लगाये जाते थे=**प्रतिमित्**; सीधे स्तम्भों पर

[1] त्सिमर, आले, १५३; म्यूर, संस्कृत-टेक्स्ट्स ५. ४६१ के अनुसार दीवारें मिट्टी की बनाई जाती थीं।
[2] एरियन, इण्डिका, १०. २।
[3] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे, ३४३ एवं आगे; ह्विटनी, ट्रां० अवे, ५२५ एवं आगे।

बांस बांधे जाते थे=**परिमित्**। छत बाँस की पच्चकों से बनाई जाती थीं; उन पर **विषूवन्त्** नामक छाजन या जाल=(**अक्षु**) होता था, जो एक घना आवरण माना जा सकता है : अवे ९. ३. ८[1]। इसे घास् के बंडलों=(पलद) से भर दिया जाता था। संपूर्ण ढांचे को बंधनों (=नहन, प्राणाह, संदंश, परिष्वंजल्य) से बाँध दिया जाता था : अवे, ९. ३. ४, ५। गृह के संबन्ध में चार ऐसे शब्दों का उल्लेख मिलता है, जो प्रारम्भिक रूप में यज्ञ से संबन्ध रखते थे; किंतु बाद में जिनका गृह के भागों से भी संबन्ध जुड़ गया था। वे शब्द हैं : **हविर्धान**=हविष् का स्थान; **अग्निशाला, "पत्नीनां सदन"**=स्त्रियों के रहने का स्थान; भीतर दालान और **सदस्**=बैठक। घर में टंगे **छिक्के**=शिक्य का भी उल्लेख मिलता है : अवे ९. ३. ६[2]। निःसंदेह इट घर की दीवारों को पूरा करने के लिए प्रयुक्त होता था : अवे ९. ३. १७। पार्श्वों को पक्ष कहा गया है। ढांचे के साथ द्वार को **आता** कहा गया है।

तु०—त्सिमर, आले, १४८-१५६।

गृह-प या गृहपति—गृहस्वामी के अर्थ में ऋग्वेद-काल से ही ये नाम आ रहे हैं : ऋ० ६. ५३. २; अवे, १४. १. ५१; १९. ३१. १३; शब्रा ४, ६, ८, ५; ८, ६, १, ११; गृहप : वासं, ३०, ११; अग्नि के विशेषण के रूप में : ऋ० १. १२. ६; १. ३६. ५; १. ६०. ४; ६. ४८. ८; वासं, २. २७; ३. ३९; ९. ३९; २४. २४ आदि। गृह-स्वामिनी को **गृहपत्नी** कहा गया है : ऋ० १०. ८५. २६; अवे २. २४. ६। तु०—**गार्हपत्य**, ऋ० १. १५. १२; ६. १५. १९; १०. ८५. २७, ३६। गृहपति के अधिकार एवं पद के संबन्ध में देखिये **पितृ**। विवरण : 'असावेव गृहपतिर्योऽसौ (सूर्यः) तपत्येष हि गृहाणां पतिस्तस्यर्तव एव गृहाः' ऐब्रा ५. २५; कौब्रा २७. ५; 'अयं वै (पृथिवी-) लोको गृहपतिः' शब्रा १२. १. १. १; 'अग्निर्गृहपतिरिति हैक आहुः सोऽस्य लोकस्य गृहपतिः' ऐब्रा ५. २५; 'तप आसीद् गृहपतिः' तैब्रा ३. १२. ९. ३; 'वायुर्गृहपतिरिति हैक आहुः सोऽन्तरिक्षस्य लोकस्य गृहपतिः' ऐब्रा ५. २५।

गृहस्थ—द्र०—**आश्रम**।

गृह्य—शब्रा २. ५. २. १४; २. ५. ३. १६; २. ६. २. ४; ३. ४. १. ६; १२. ४. १. ४; (तु०—गृहाः १. ७. ४. १२) में घर के सदस्यों या परिवार को **गृह्य** कहा गया है।

गौपालेय—पंविब्रा १२. १३. ११ में **उपोदिति** का पैतृक नाम गौपालेय आया है। तु०—**गौपालायन**।

गैरि-क्षित—**गिरि-क्षित्** का वंशज। ऋग्वेद ५. ३३. ८ में **त्रसदस्यु** का पैतृक नाम गैरिक्षित है[1]। कासं १३. १२ में यह **यास्क** का पैतृक नाम है।

१. गो—(क) वृषभ या गौ। वैदिक आर्यों की प्रधान संपत्ति गौ है; ऋग्वेद काल से ही गौ का उल्लेख प्रचुर रूप में मिलता है : ऋ० १. ८३. १; १. १३५. ८; २. २३. १८ गाव उक्षणः १. १६८. २; अवे ३. ११. ८; वासं २१. २०; गावो धेनवः ऋ० १. १७३. १; ६. ४५. २८; १०. ९५. ६; वासं, २१. १९ आदि। पाँच यज्ञिय पशु हैं : **मनुष्य, अज, अवि, गो, अश्वा** : शाश्रौसू, ९. २३. ४; शब्रा, २. ४. ३. १३; ३. १. २. १३; ४. ५. ५. १०; १४. १. १. ३२। दूध (**क्षीर**) या तो वैसे ही पिया जाता था, अथवा उससे दधि-घृत बनाया जाता था। दूध को **सोम** में भी मिलाया जाता था; और उसमें अन्न भी पकाए जाते थे (=क्षीरौदन)। गौएँ दिन में तीन बार दुही जाती थीं; जैसा कि **प्रातर्दोह, संगव** और **सायंदोह** शब्दों से प्रकट होता है : तैसं, ७. ५. ३. १। तैब्रा १. ४. ९. २ के अनुसार गौएँ तीन बार=प्रातः, संगवे, सायं चरने को भेजी जाती थीं। गौएँ भोर होते ही चरने को भेजी जाती थीं, दोपहर की गर्मी में **संगविनी** में विश्राम करती थीं, अपराहृण में चरती थीं, और फिर शाम को घर लौटती थीं, जैसा कि उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ६६. ५; १. १९४. ४; वासं, १५. ४१। पहले **दोह** में भरपूर दूध निकलता था, शेष दो में कमः तैसं ७. ५. ३. १। ऐब्रा ३. १८. १४ के अनुसार **भरतों** की गौएँ रात के समय **गोष्ठ** में रहती थीं, और दोपहर को **संगविनी** में। सायण ने इस कथन की विशद व्याख्या करते हुए कहा है कि सायंकाल दूध देनेवाली गौएँ घर जाती थीं शेष चरागाह के ही किसी स्थान (गोष्ठ) में रहती थीं; किंतु दोपहर को दोनों ही **संगविनी** में आराम करती थीं। **संगव** के पहले के समय को, जब गौ स्वेच्छया चरती रहती थीं, **स्वसर** कहा गया है : ऋ० २. २. २; २. ३४. ८; ५. ६२. २; ८. ८८. १; ९. ९४. २; प्रातः गौओं के चरागाह में जाने का उल्लेख है : ऋ० १. २५. १६; १०. ९७. ८। जब गौएँ बाहर चरती होती थीं तब बछड़े उनसे

---

[1] ब्लूमफील्ड ने बाँस की निर्मित चटाई आदि की छत का उल्लेख किया है : उपर्युक्त, ५९८; वैस्तू, १. १३६; तु०—फर्ग्यूसन, हिस्ट्री आफ इंडियन आर्कीटेक्चर, २. २. १३५ तु०—१२६।

[2] द्र०—ह्विटनी, उपर्युक्त ५२६, ब्लूमफील्ड, ५९७।

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५५, १७४। वेबर, इस्टू, ३. ४७४, ४७५।

अलग रहते थे; किंतु संगव के समय उन्हें गौओं के साथ रहने दिया जाता था : ऋ० २. २. २; ८. ८८. १; तैंब्रा, २. १. १. ३; शंकर-भाष्य, छाउ २. ९. ४ पर; जैउब्रा, १. १२. ४; नारायण आश्रौसू पर, ३. १२. २। सायंकाल के समय भी कभी-कभी बछड़ों को गौओं के साथ रहने दिया जाता था : गोभिगृसू, ३. ८. ७; ऋ० २. २. २[१]।

चरते समय वे एक बालदी (=**गोपा या गोपाल**) की निगरानी में रहती थीं, जिसके हाथ में डण्डा रहता था; पवीरवान्, ऋ० १०. ६०. ३ में संभवतः इसी अर्थ में आया है। डंडे का सामान्य नाम **अष्ट्रा** है, जो वैश्य का चिह्न है; तु०—ऋ० ७. ३३. ६। फिर भी गौओं के लिए भय बना रहता था, जैसे कि खो जाना, गड्ढे में गिर जाना, टांग आदि टूट जाना और चोरी हो जाना : ऋ० १. १२०. ८; ६. ५४. ५-७। पूषन् उनका देवता है, जो उनकी रक्षा करता था, और जिसे इसीलिए 'अनष्टपशु' कहा गया है : ऋ० १०. १७. २[२]। पशुओं के कानों पर निशान बनाने का भी उल्लेख मिलता है, जिससे वे पहचाने जा सकें : ऋ० ६. २८. ३; मैसं ४. २. ९; तु०—**अष्टकर्णी** और **स्वधिति**।

पशुओं के बड़े-बड़े गोल होते थे, जैसा कि दानस्तुति के सूक्तों से पता चलता है, भले ही उसमें कुछ अतिशयोक्ति क्यों न हो : ऋ० ८. ५. ३७ आदि; तु०—पंविब्रा १७. १४. २; ऐब्रा, ८. २१. २३; शब्रा, १३. ५. ४. ८ आदि। पशुओं की संपत्ति का महत्त्व इतने ही से ज्ञात हो सकता है कि जहाँ अपनी समृद्धि के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं, वहाँ धन की बढ़ोतरी की भी कामनाएँ की गई हैं : ऋ० १. ४३. २; १. १६२. २२; ५. ४. ११; ९. ९. ९ आदि; अवे० १. ३१. ४; २. २६. ४; ५. २९. २; ११. २. ९ आदि; तैसं, ३. २. ३. १; ५. ५ ५. १; ६. ५. १०. १; वासं, ३. ५९; ऋ० १. ८३. १; ४. ३२. १७; ५. ४. ११; ८. ८९. २ आदि। इसीलिए **गविष्टियों** का भी उल्लेख मिलता है। **भरतों** को 'गव्यन् ग्रामः' कहा गया है : ऋ० ३. ३३. ११। 'गो-पाय' (=गौओं की रक्षा) से संबद्ध √गुप् धातु ऋग्वेद-काल से ही प्रयुक्त है : ऋ० ७. १०३. ९; अवे १०. ९. ७, ८; १९. २७. ९, १०[३]। वैदिक कवि अपने गानों को गौओं रांभने की ध्वनि के समान कहने में संकोच नहीं करते; वे उनके रांभने की उपमा अप्सराओं के संगीत से देते हैं। कवि के गानः ऋ० ७. ३२. २२; ८. ९५. १; ८. १०६. १; ९. १२. २ आदि; अप्सराओं का गानः[१] ऋ० १०. ९५. ६।

वैदिक आर्यों की गौएँ अनेक रंग की होती थीं : लाल (रोहित), सफेद (शुक्र), चितकबरी (पृश्नि) और काली (कृष्णा) : ऋ० १. ३२. ९। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में अन्य अनेक रंगों का भी उल्लेख है, किंतु संभवतः वह अपवाद है। त्सिमर[२] ने ऋग्वेद १. ८७. १ में चिह्नित शीर्ष वाली गौओं का उल्लेख माना है, किंतु यह अनिश्चित है, क्योंकि वहाँ "तारों से युक्त आकाश" भी अर्थ किया गया है।

बैलों का उपयोग हल जोतने और गाड़ी खींचने के लिए (अनस्+वाह्) होता था। इन कार्यों के लिए बैलों को बधिया बना दिया जाता था : अवे ३. ९. २; ६. १३८. २; तैसं, १. ८. ९. ६। कभी-कभी गौ-बैलों का मांस भी खाया जाता था। पशु व्यक्ति के स्वामित्व में थे, और वे विनिमय के आधार थे। द्र०—**क्रय**।

(ख) कभी-कभी गो शब्द गौ से प्राप्त पदार्थों के लिये भी आता है। इसका अर्थ प्रायः दूध है : ऋ० १. ३३. १०; १. १५१. ८; १. १८१. ८; २. ३०. ७; ४. २७. ५; ९. ४६. ४; ९. ७१. ५; विरल रूप से यह गो-मांस के लिये आता है : ऋ० १०. १६. ७ दाह-संस्कार संबन्धी कल्प में। कुछ अन्य स्थलों पर यह चर्म या उससे बने पदार्थों—जैसे **धनुर्ज्या** ऋ० ६. ७५. ११; १०. २७. २२; अवे १.२.३ में, **प्रस्तरक्षेपणी** ऋ० १.१२१ ९ में, रथ के अंगों को कसने वाले पाश ऋ० ६. ४६. १४ में, अभीशु ऋ० ६.४६.१४ में या कशा ६, ४७. २६; ८, ५९.५ के अर्थ में आया है। द्र०—**चर्मन्**, जिसका कभी-कभी गौ शब्द पर्यायवाची है : ऋ० १०. ९४. ९[४]।

(ग) राथ[५] के अनुसार ऋग्वेद १. १५४. ६; ७. ३६. १ में 'गावः' शब्द आकाश के तारों के अर्थ में आया है। तु० 'इमे वै लोका गौर्यद्धि किंच गच्छती-

[१] द्र०—गेल्डनर, वैस्टू, २. १११-११४।
[२] मैकडानल, वैमा, पृ० ३६।
[३] तु० मैकडानल, वैग्रा पृ० ३५८ टि० १३।

[१] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ५. ५१७।
[२] आले, २२६।
[३] वेबर, इस्टू, १३. १५१ टि०, द्र०—**महानिरष्ट**। गौएँ गाड़ी खींचने के काम में नहीं आती थीं, यद्यपि कहीं-कहीं उनके इस कार्य का उल्लेख मिलता है; शब्रा ५. २. ४. १३।
[४] तु०—त्सिमर, आले, २२८।
[५] बोवृ।

मांस्तल्लोकान् गच्छति' एब्रा ६. १. २. ३४; 'इमे लोका गौः' शब्रा ६. ५. २. १७; 'अयं मध्यमो (लोकः अन्तरिक्षम्) गौः' तां० ४. १. ७; 'अन्तरिक्षं गौः' ऐब्रा ४. १५; 'गावो वा आदित्याः' ऐब्रा ४. १७; 'अन्नमु गौः' शब्रा ७. ५. २. १९; तैब्रा ३. ९. ८. ३; शब्रा ४. ३. ४. २५; 'यज्ञो ह्येवेयं (गौः) नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायते ऽन्नं ह्येवेयं (गौः) यद्धि किंचान्नं गौरेव तदिति, शब्रा २. २. ४. १३; 'यज्ञो वै गौः' तैब्रा ३. ९. ८. ३; 'प्राणो हि गौः' शब्रा ४. ३. ४. २५; 'इन्द्रियं वै वीर्यं गावः' शब्रा ५. ४. ३. १०; 'मुखादेवास्य बलमस्रवत्। स गौः पशुरभवद् ऋषभः' शब्रा १२. ७. १. ४; 'इडा हि गौः' शब्रा २. ३. ४. ३४; 'सरस्वती हि गौः' शब्रा १४. २. १. ७; 'या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती' ऐब्रा ३. ४८; 'विराड् वै गौः' शब्रा ७. ५. २. १९; 'विराजो वा एतद्रूपं यद् गौः' तां० ४. ९. ३; 'साहस्रो वा एष शतधार उत्सः यद् गौः' शब्रा ७. ५. २. ३४; 'स हैष सोमोऽजस्रो यद् गौः' शब्रा ७. ५. २. १९; गौर्वै स्रुचः' तैब्रा ३. ३. ५. ४; 'रौद्री वै गौः' तैब्रा २. २. ५. २; 'आग्नेयो वे गौः' शब्रा ७. ५. २. १९; 'सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः' ऐब्रा ४. १७; 'अपशवो वा एते यदजावयश्चारण्याश्च। एते वै सर्वे पशवः यद् गव्या इति' तैब्रा ३. ९. ९. २; १३. ३. २. ३; 'तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपमिति' शब्रा १२. ९. १. ४; 'सा या बभ्रूः पिङ्गाक्षी (गौः) सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी यामिदं राजा संग्रामं जित्वोदाकुरुतेऽथ या रोहिणी श्येताक्षी सा पितृदेवत्या यामिदं पितृभ्यो घ्नन्ति' शब्रा ३. ३. १. १४; 'तस्मादु संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते' शब्रा ११. १ ६. २।

२. गो आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पंविब्रा १६. ७. ७ में एक साम के संमानित लेखक का नाम **गो आङ्गिरस** है। तु०—लाश्रौसू ६.११.३। संभवतः वे पुराकथात्मक है: हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, २. १६०; हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स०, १५. ६८।

गो-आयुषी—साम-विशेष। 'अथ यद् गो आयुषी उपयन्ति। मित्रावरुणावेव देवते यजन्ते' शब्रा १२. १. ३. १. ६; प्राणापानौ वै गो आयुषी' कौब्रा २६. २; 'द्यावा पृथिवी वै गो आयुषी' कौब्रा २६. २; 'अहोरात्रे वै गो-आयुषी' कौब्रा २६. २; 'यदेवेदं द्वितीयमहर्यच्च तृतीयमेते वा उ गो-आयुषी' कौब्रा २६. २।

गो-घात—गौ का मारने वाला। यजुर्वेद में **गो-घात** को पुरुषमेध की बलियों की सूची में गिनाया गया है द्र० वासं, ३०. १८; तैब्रा, ३. ४. १६. १। द्र०—**मांस**।

गोजा—'एष (सूर्यः) गोजाः' ऐब्रा ४. २०।

गोतम—ऋग्वेद ऋ० १.६२. १३; १. ७८. २; १. ८४. ५; १. ८५. ११; ४. ४. ११ में **गोतम** नाम आया है, किंतु कहीं भी उनके सूक्त—रचयिता होने की बात नहीं आई है[१]। यह स्पष्ट है कि वे आङ्गिरसों से संबद्ध थे: ऋ० १. ६२. १; १. ७१. २; १. ७४. ५; १. ७५. २; १. ७८. ३; ४. २. ५; ४. १६. ८ आदि। ऋग्वेद १. ७८. ५ से संकेत मिलता है कि **राहूगण** उनका पैतृक[२] नाम था। शब्रा १. ४. १. १०; ११. ४. ३. २० से इसका समर्थन होता है, जहाँ उन्हें वैदिक संस्कृति को बढ़ाने वाला एवं **माथव विदेघ** का पुरोहित बताया गया है[३]। उसी ब्राह्मण ११. ४. ३. २० में उन्हें **विदेह** के **जनक** एवं **याज्ञवल्क्य** का समकालीन कहा गया है। उन्हें एक स्तोम का रचयिता भी कहा गया है: शब्रा १३. ५. १. १; आश्रौसू, ९. ५. ६; ९. १०. ८ आदि। अवे के दो स्थलों पर भी उनका उल्लेख है: ४. २९. ६; १८. ३. १६; द्र०—पंविब्रा, इस्तू, १. ३८; बृउ २. २. ६। गोतमों का उल्लेख ऋग्वेद के कई स्थलों पर है: १. ६०. ५; १. ६१. १६; १. ६३. ९; १. ७७. ५; १. ७८. १; १. ८८. ४; १. ९२. ७; ४. ३२. ९, १२; ८. ८८. ४; तु०—आश्रौसू, १२. १०। **वामदेव** और **नोधस्** इनमें प्रमुख माने गए हैं। **वाजश्रवस्** लोग भी उन्हीं में हैं। द्र०—**गोतम**। तु०—लुड्विग, ट्रां०, ३. ११०. १२३; वेबर, इस्तू, १. १७०, १८०; गेल्डनर, वैस्तू, ३. १५१, १५२।

गोतमी-पुत्र—काण्वशाखीय बृउ ६.५.१ में **भारद्वाजीपुत्र** के शिष्य का नाम गोतमीपुत्र है। द्रष्टव्य **गोतमी-पुत्र**।

गोत्र—ऋग्वेद में पुराकथात्मक **इन्द्र** के महत्त्वपूर्ण कार्यों के प्रसङ्ग में गोत्र शब्द अनेक बार आया है: ऋ० १. ५१. ३, २. ७१. १, २. २३. १८, ३. ३९. ४, ३. ४३. ७, ८. ७४. ५, १०. ४८. २, १०. १०३. ७। राथ[४] ने वहाँ गोष्ठ अर्थ दिया है, जब कि गेल्डनर[५] के अनुसार वहाँ पशुओं के गोल से तात्पर्य है। दूसरा अर्थ परवर्ती साहित्य को ध्यान में रखते हुए अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, जहाँ 'परिवार' या 'जन' के लिए यह शब्द आया है। छाउ ४. ४. १ में भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग

---

[१] द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२, २१५।

[२] तु०—ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, २३६ टि० १।

[३] तु०—वेबर, इस्तू २. ९ टि०।

[४] वोबू।

[५] वैस्तू, २. २७५. २७६।

मिलता है; द्र०—शांश्रौसू, १. ४. १६ आदि; आगृसू, ४. ४ आदि; कौब्रा, २५. १५।

गृह्य-सूत्रों में गोत्र के अन्दर और वधू की माता के सपिण्डों में अर्थात् जातीय एवं सजातीय जनों में विवाह का निषेध किया गया है: गोभि-गृसू, ३. ४. ४, आप धसू, २. ५. ११, १५, १६[1]। सेनार[2] के अनुसार इसी प्रथा से जातियों का विकास हुआ है; और भारत-यूरोपीय परंपरा से इसका समर्थन होता ह। किंतु इसे भारत-यूरोपीय काल की प्रथा बताने के लिए साक्ष्य नहीं हैं, जब कि भारत में ही श.ब्रा. १. ८. ३. ६ में किसी पक्षकी तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह की मान्यता स्पष्टतः उल्लिखित है[3]। सायण के अनुसार **काण्वों** ने तृतीय पीढ़ी में विवाह की स्वीकृति दी थी, जब कि **सौराष्ट्रों** ने केवल चतुर्थ पीढ़ी में मान्यता दी थी; वज्रसूची के भाष्यकार[4] के अनुसार काण्वों के समान **अन्ध्र** और **दाक्षिणात्य** भी थे जब कि वाजसनेयियों ने मातुल-पुत्री से विवाह करना रोक दिया था। मैकडानल और कीथके वैदिक इंडेक्स में पितृव्य की कन्या से विवाह की प्रथा का उल्लेख मिलता है, किंतु उस कथन का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। गोत्र का परिवर्तन संभव था, जैसा कि **शुनःशेप** और **गृत्समद** के आख्यान से पता चलता है, जो पहले आङ्गिरस थे और बाद में **भार्गव** बन गये थे[5]।

गोदान—शब्रा ३. १. २. ५, ६ में गोदान कपालज बालों के दोनों पक्षों को सूचित करता है, जहाँ दीक्षा लेने वाला व्यक्ति पहले दाहिने कपाल के बालों को बनवाता है, फिर बाएँ कपाल के। बाद में **गोदान-विधि** पुरुष के युवा होने के समय एवं उसके विवाह के समय विहित है: आगृसू, १. १९; शांगृसू, १. २८ आदि। यद्यदि अवे ६. ६८ ने इस संस्कार को माना है, तथापि वहां इसका नाम नहीं मिलता। **गोदान** का मौलिक अर्थ है; 'गौ का दान'; क्योंकि केश-वपन के अवसर पर गौ दान में दी जाती थी इस लिये केश वपन संस्कार का नाम भी **गो-दान** पड़ गया था।

[1] मैक्समूलर, ऐंशि० सं: लिट, ३८७; सपिंड के संबन्ध में द्र. गौधसू, ४. १७–१९।

[2] ले कास्ट्स दां ल् इन्द, २१० एवं आगे, तु० द ला व्वाला पूस्सें, ल वैदिस्मे, १५।

[3] द्र० कीथ, जराएसो, १९०९, ४७१, ४७२।

[4] द्र०—वेबर, इस्टू, १०, ७३—७६।

[5] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, फेस्टग्रुस आन राथ, १०८। तु०—जाली, रेख्त उण्ड ज़ित्ते, ६१ एवं आगे; त्सिमर, आ० ले, ३२३ रेख्त।

द्र० कौसू, ५३. १७–२०; किंतु अवे २. १३ का कौसू के अनुसार वर्गीकरण नहीं किया जा सकता; यह तो लड़के के पुराने वस्त्र के स्थान पर उसे दूसरे वस्त्र देने के संस्कार पर लागू होता है। द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, ५६. ५७ जिन्होंने वेबर, इस्टू, १३. १७३ और त्सिमर, आ० ले०, ३२२, ३२३ की गलती सुधारी है; तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे ३०६, ५७४, ६५५।

गोधा—(क) ऋग्वेद १०. २८. १०, ११ में गोधा का अर्थ **धनुर्ज्या** निश्चित है; दूसरे मन्त्र ८. ६९. ९ में भी यह संभव है[1]। राथ[2] के अनुसार अवे ४. ३. ६ में भी यही अर्थ लेना उचित है। अवे में यह शब्द केवल एक बार आया है।

(ख) ऋग्वेद ८. ६९. ९ में राथ और हिल्लेब्रांड्ट[3] के अनुसार गोधा शब्द किसी **वाद्य-यन्त्र** का वाचक है।

(ग) अन्यत्र यह शब्द किसी जानवर को जताता है: तै.सं ५. ५. १५. १; वासं, २४. ३५; पं.विंब्रा, ९. २. १४; बौश्रौ, २. ५; जैब्रा, १. २२१; शाट्यायनक, सायण भाष्य, ऋ०, ८. ९१ में[4]। लुड्विग[5] और वेबर[6] के अनुसार यह शब्द नक्र या ग्राह का वाचक है। राथ और त्सिमर[7] के अनुसार यह एक बड़े गिरगिटान का नाम है। संभवतः अवे ४. ३. ६ में भी यह किसी जानवर के अर्थ में आया हो[8]।

गोधूम—गेहूं। याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में गोधूम का उल्लेख अनेक बार आया है: मै सं १. २. ८; वासं, १८. १२; १९. २२, ८९; २१. २९ आदि शब्रा, १२. ७. १. २; १२. ७. २. ९; बृ उ, ६. ३. २२ माध्यं०=६. ३. १३ काण्व आदि। **व्रीहि** और **यव** से इसके अन्तर का उल्लेख किया गया है; व्रीहि से: तैब्रा, १. ३. ७. २; यव से: शब्रा, १२. ९. १. ५। इसके सत्तू (सक्तवः) का भी उल्लेख मिलता है: शब्रा ५. २. १. ६। तु 'यत् पक्ष्मभ्यः (तेजोऽस्रवत्) ते गोधूमाः' शब्रा. १२. ७. १. २; 'सोऽयं

[1] तु० हापकिन्स, जअओसो १७. ५३।

[2] वोबू।

[3] वैमि, १. १४४ टि० १।

[4] जअओसो १८. २९।

[5] ट्रां. ऋ०, ३. ४९९।

[6] इस्टू, १८. १५, १६।

[7] आ०ले, ९५।

[8] किंतु ह्टिनी ने इसका अनुवाद नहीं किया है; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ३६८ का "अहि" अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता।

(पुरुषः) अत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां नेदिष्ठतमा यद् गोधूमास्तेषां न त्वगस्ति' शब्रा. ५. २. १. ६. तु० त्सिमर, आ०ले०, २४१।

गोपति—पशुओं का स्वामी। स्वामि-मात्र के लिये ऋग्वेद में गोपति शब्द का प्रयोग आता है, जो इस बात का साक्षी है कि ऋग्वेद-काल में गौएं ही प्रमुख धन थीं :—१. १०१. ४; ४. २४. १; ६. ४५. २१; ७. १८. ४ आदि; अवे, ३. १४. ६ आदि।

गोप-वन—अत्रि-वंशीय किसी कवि का नाम ऋग्वेद में गोप-वन है। द्र०—**गौपवन**। द्र० ऋ०—८. ७४. ११; तु०—वेबर, इस्टू, १. २१५; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०७।

गोपा और गोपाल—गौओं का रक्षक। ऋग्वेद-काल से ही ये शब्द आम रहे हैं, किंतु गोपा शब्द आलंकारिक रूप से किसी भी रक्षक को सूचित करता है, जब कि गोपाल गौओं के पालक को ही व्यक्त करता है।

गोपा : ऋ० १. १६४. २१; २. २३. ६; ३. १०. २; ५. १२. ४ आदि; गोपाल; वासं, ३०. ११; शब्रा, ४. १. ५. ४; गोपा **रक्षक** के अर्थ में : पंविब्रा, २४. १८; "गोपीथ" अर्थात् 'रक्षा', ऋ० ३. ६५. ६; १०. ३५. १४ आदि; गोप्तृः अवे, १०. १०. ५ एवं बाद में आम है। तु० 'एष वै गोपा य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं गोपायति' शब्रा १४. १. ४. ९; 'प्राणो वै गोपाः स हीदं सर्वं मनिपद्यमानो गोपायति' जैउ ३. ३७. २; 'इन्द्रो वै गोपाः' ऐब्रा ६. १०; 'अग्निर्वै देवानां गोपाः' एब्रा १. २८।

गो-बल वार्ष्ण—वृषभ के समान शक्ति वाला, "वृष्णि का वंशज"। तैसं ३. ११. ९. ३ और जैउब्रा १. ६ १ में एक आचार्य का नाम है।

गोमती—गौओं वाली। ऋग्वेद के दशम मण्डल में नदी-स्तुति सूक्त १०. ७५. ६ में एक नदी का नाम है। उस सूक्त में इसे **सिन्धु** की एक सहायक नदी माना जा सकता है; और वह आजकल की **गोमल** प्रतीत होती है[१]। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र ८. २४. ३० में **गोमती** शब्द के स्वरों से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी कोई नदी ही अभिप्रेत है। एक तीसरे मन्त्र ऋ० ५. ६१. १९[२] में भी स्वर में परिवर्तन करके, गोमतीर् के स्थान पर गोमतीर् पढ़ना चाहिये। गेल्डनर[३] का सुझाव है कि अन्तिम दो स्थलों पर गुमती या इसकी चार ऊपरा धाराएँ अभिप्रेत हैं, और इसीलिए इस प्रसङ्ग में बहुवचन का प्रयोग किया गया है : इस बात की संगति इसके बाद में होने वाले प्रयोग के साथ बैठ जाती है और साथ ही इस संभाव्यता के साथ भी बैठ जाती है कि यह नदी कुरुक्षेत्र के आसपास कहीं रही होगी, जो कि वैदिक सभ्यता का उन दिनों केन्द्र था[१]।

गोमायु—गौ के समान आवाज करने वाला। अद्भुत ब्राह्मण[२] से पहले शृगाल के अर्थ में गोमायु शब्द का प्रयोग चिन्त्य है।

गोमृग—वृषभ की एक विशेष जाति, जिसे आजकल गवय या गयल (बोस गवीयस 'Bos gavaeus') कहते हैं, गोमृग के रूप में यजुर्वेद के अश्वमेध यज्ञ की बलियों की सूची में उल्लिखित है : मैसं ३. १४. ११; वासं, २४. १. ३०; शब्रा, १३. ३. ४. ३; १३. ५. २. १०; तैब्रा ३. ८. २०. ५। तैसं २. १. १०. २ में इसे न तो जंगली और न पालतू ही कहा गया है; अनुमानतः यह अर्ध-पालतू पशु था, या वन्य था और कहीं-कहीं यदाकदा पाला जाता था। इस पशु के नाम के साथ **मृग-महिष** की तुलना की जा सकती है, जिसे ऋग्वेद ९. ९२. ६ में जंगली बताया गया है। द्रष्टव्य **गवय**। तु०—त्सिमर, आले०, ८३. ८४; एर्गलिंग, सेबुई ४४, ३३८ टि० १।

गोलत्तिका—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पशु का नाम गोलत्तिका है : तैसं, ५. ५. १६. १; मैसं, ३. १४. १८; वासं, २४. ३७; तु०—त्सिमर, आले, ९९।

गो-विकर्तन—गौ काटने वाला। शब्रा ५. ३. १. १० में गोविकर्तन शिकारी का नाम है। द्र०—**गोघात**। तु०—तैब्रा, ३. ४. १६. १; वासं, ३०. १८; वेबर, इंस्त्राइ १. ८२।

गोव्यच—द्र०—**व्यच**।

गो-शर्य—ऋग्वेद ८. ८. २०; ८. ४९. १; ८. ५०. १० में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम गो-शर्य है।

गो-श्रु जाबाल—जैउब्रा ३. ७. ७ में एक ऋषि के रूप में **गो-श्रु जाबाल** का उल्लेख मिलता है।

---

[१] द्र०—त्सिमर, आले०, १४; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००।

[२] द्र०—ओल्डनबर्ग, ऋग्वेद नोटेन, १. ३५५, ३५६।

[३] वैस्टू, ३. १५२ टि० २।

[१] द्र०—पिशल, वैस्टू २. २१८; हापकिन्स, जअओसो, १९. १९ एवं आगे; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १७४; कीथ, जराएसो, १९०८, ११४१।

[२] इस्टू १. ४०।

गो-श्रुति वैयाघ्रपद्य—**व्याघ्रपद्** का वंशज। छाउ ५. २. ३ में **सत्यकाम** के शिष्य का नाम गोश्रुति वैयाघ्रपद्य है। शांआ ९. ७ में **गोश्रुत** नाम है।

गो-षादी—गौ पर बैठने वाला। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में गो-षादी एक पक्षी का नाम है : मैसं, ३. १४. ५; वासं, २४. २४; तु०—त्सिमर, आले०, ९४।

गोषूक्तिन्—सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के दो सूक्तों ८. १४, १५ के ऋषि गोषूक्तिन् बताये गए हैं; पंविब्रा १९. ४. ९ में संभवतः **गौ-षूक्त** के नाम से एक साम-द्रष्टा ऋषि के रूप में उन्हीं का उल्लेख है। द्र० **गौषूक्ति**।

गोष्टोमातिरात्र—ऋतु। 'गवा (गोष्टोमातिरात्रेण) वै देवा असुरानेभ्यो लोकेभ्योऽनुदन्त' तां० २०. ७. १।

गोष्ठ—गौओं के ठहरने का स्थान। यह शब्द गौओं के रहने के कोठे की अपेक्षा उनके चरने के स्थान को ही अधिक बताता है, जैसा कि गेल्डनर[१] ने ऐब्रा के एक स्थल ३. १८. १४ पर और वासं ३. २१ पर महीधर के एक नोट के आधार पर उल्लेख किया है। यह अर्थ ऋग्वेद के सभी स्थलों (१. १९१. ४; ६. २८. १; ८. ४३. १७) पर ठीक बैठ जाता है; और अवे ३. १४. १, ५, ६ का भाव इससे बिल्कुल ठीक निकल आता है[२]। अन्यत्र भी यह शब्द इसी अर्थ में ग्राह्य है : अवे २. २६. २; वासं, ३. २१; ५. १७; शब्रा, ११. ८. ३. २ आदि; कासं ७. ७; मैसं, ४. २. ११। द्र० **गो**।

गौङ्गव—सामविशेष। 'अग्निरकामयतान्नादः स्यामिति। सत पोऽत्प्यत। स एतद् गौङ्गवमपश्यत् तेनान्नादोऽभवद् यदन्नं वित्त्वागर्दद् यदगर्गूयत्तद् गौङ्गवस्य गौङ्गवत्वम्' तां १४. ३. १९।

गौतम—**गौतम** का वंशज। यह एक सामान्य पैतृक नाम है, जो **अरुण** (शब्रा १०. ६. १. ४), **उद्दालक आरुणि** [शब्रा, ११. ४. १. ३; ११. ५. १. २; बृउ, ६. १. ७; छाउ, ५. ३. ६ एवं आगे कौउ, १. १; जैउब्रा, १. ४२. १], **कुश्रि** (शब्रा, १०. ५. ५. १), **साति** (वंब्रा, इस्टु, ४. ३७३) और **हारिद्रुमत** (छाउ, ४. ४. ३) इन नामों के साथ लगाया गया है। बृउ में आचार्यों की वंश-सूचियों में कई गौतमों का उल्लेख है, जो **अग्निवेश्य** (२.६. १काण्व), **सैतव** और **प्राचीनयोग्य** (वही २. ६. २), **सैतव** (४. ६. २ वही), **भारद्वाज** (२. ६. २ काण्व=२. ५. २२; ४. ५. २७ माध्यं), **गौतम** (२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व=२. २. ५. २२, ४. ५. २८ माध्यंदिन) और **वात्स्य** (२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व=२. ५. २०, २२; ४. ५. २६ माध्यं०) के शिष्य कहे गए हैं। एक गौतम का एक और जगह उल्लेख है। माध्यं० बृउ २. ५. २०; ४. ५. २६ में **बैजवापायन** और **वैष्टपुरेय** के शिष्य गौतम का उल्लेख है।=सामविशेष, 'स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते (गौतमेन साम्ना) तुष्टुवानः' तां. ११. ५. २२.

गौतमीपुत्र—**गौतमवंशीया** का पुत्र। काण्वशाखीय बृउ ६. ५. २ में **भारद्वाजीपुत्र** के शिष्य का नाम गौतमीपुत्र है। माध्यंदिनशाखीय बृउ. ६. ४. ३१ में **वात्सीपुत्र** के शिष्य गौतमीपुत्र, **गौतमीपुत्र** के शिष्य **आत्रेयीपुत्र** और फिर आत्रेयीपुत्र के शिष्य गौतमीपुत्र का उल्लेख है। द्र० **गौतमीपुत्र**।

गौपवन—**गोपवन** का वंशज। काण्वशाखीय बृउ २. ६. १; ४. ६. १ की प्रथम दो वंश-सूचियों में **पौतिमाष्य** के शिष्य गौपवन का उल्लेख है।

गौपायन—गोप का वंशज। **असमाति**, **किरात** और **आकुलि** की लोककथाओं में गौपायनों का नाम आया है, जिनका उल्लेख सर्वप्रथम ब्राह्मणों में हुआ है : पंविब्रा, १३. १२. ५; जैब्रा ३. १६७[१]।

गौपालायन—**गोपाल** का वंशज। मैसं ३. १०. ४ में **शुचिवृक्ष** का पैतृक नाम गौपालायन है; तु०—ऐब्रा, ३. ४८. ९; जहाँ औफ्रेक्ट ने गौपालायन पाठ लिया है। बौश्रौसू २०. २५ में **कुरुओं** के स्थपति **औपोदिति** का भी यह पैतृक नाम है। पंविब्रा १२. १३. ११ में **गौपालेय** के रूप में यह **उपोदिति** या **औपोदिति** का पैतृक नाम है। संस्करण में 'उपोदिति' पाठ है।

गौर—वृषभ की एक जाति (बास गौरुस Bos gaurus) के अर्थ में **गवय** के साथ ऋग्वेद-काल से ही गौर शब्द आता रहा है : ऋ० १. १६. ५; ४. २१. ८. ४. ५८. २; ५. ७८. २; ७. ६९. ६; ७. ९८. १ आदि; मैसं ३. १४. १०; वासं २४. २८; ऐब्रा, ३. ३४ आदि। वासं १३. ४८ में **आरण्य गौर** के उल्लेख से ऐसा पता चलता है कि इन्हें पाला जाता था। **गौरी** का स्त्रीलिंग में प्रयोग मिलता है : ऋ० १, ८४, १०; ४, १२, ६; ९,

१ वैस्टू ३. ११२. ११३।

२ जहाँ ह्विटनी और ब्लूमफील्ड के अनुवाद शिथिल जान पड़ते हैं।

१ जअओसो, १८, ४१; शाट्यायनक, सायणभाष्य, ऋ० १०. ५७ पर; मैक्समूलर का संस्करण ४[२]. १०० एवं आगे बृदे, ७. ८३ एवं आगे, मैकडानल के नोट के साथ।

१२, ३; और दुरूह ऋचा १, १६४, ११। **गौर-मृग**= वन्य गौरपशु का उल्लेख भी कई स्थानों पर मिलता है: वासं, २४. ३२ ऐब्रा २. ८। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८३. २२४।

गौरिवीति शाक्त्य या गौरीवीति शाक्त्य—(शाक्त्य=शक्ति का वंशज)। ऋग्वेद ५. २९. ११ के ऋषि के रूप में इनका उल्लेख ब्राह्मणों में पाया जाता है: ऐब्रा, ३. १९; ८. २; **गौरीवीति**: शब्रा, १२. ८. ३. ७; पंविब्रा, ११. ५. १२. १३; २५. ७। जैब्रा २. २३३ के अनुसार **विभिन्दुकियों** के सत्र में वे प्रस्तोता पुरोहित थे। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १२६; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ४२, २१५।

गौरीविति—सामविशेष। 'गौरीवितिः (ऋषिः) वा एतच्छाक्त्यो ब्रह्मणोऽतिरिक्तमपश्यत् तद् गौरीवितमभवत्' तां० ११. ५. १४. 'देवा वै वाचं व्यभजन्त तस्या यो रसोऽत्यरिच्यत तद् गौरीवितमभवत्' तां० ९. २. ३; 'प्र व इन्द्राय मादनम्' इति गौरीवितम्' तां० ९. २. २।

गौश्र—**शुश्रि** का वंशज। कौब्रा १६. ९; २३. ५ में एक आचार्य का नाम है। द्र०—**गौश्ल**।

गौश्रायणि—कौब्रा २३. ५ में **चित्र** नामक आचार्य का पैतृक नाम गौश्रायणि है।

गौश्ल—ऐब्रा ६. ३० में **गौश्र** के पाठान्तर के रूप में एक आचार्य का नाम गौश्ल आया है। **बुडिल आश्वतर अश्वि** से इनके मतभेद का वहाँ उल्लेख है। तु०—गोब्रा, २. ६. ९ गोश्ल।

गौषूक्त—सामविशेष। 'गौषूक्तिश्चाश्वसूक्तिश्च बहु प्रतिगृह्य गरगिरावमन्येतां तावेते सामनी अपश्यतां ताभ्यां गरन्निरघ्नाताम्' तां० १९. ४. १०।

गौ-षूक्ति—जैउब्रा में आचार्यों की एक वंश-सूची ४. १६. १ में **इष श्यावाश्वि** के शिष्य का नाम गौ-षूक्ति है। पंविब्रा १९. ४. ९ में यह एक आचार्य का नाम है, जहाँ इसकी गोषूक्त सामन् की व्याख्याकार के रूप में ऊहा की गई है, जो कि अनावश्यक है, क्योंकि वह तो **गौषूक्ति** का साम है। तु०—वोबू; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ३०।

गोसव—ऋतु। 'अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः' तां० १९. १३. १।

ग्रह—पकड़ने वाला। शब्रा ४. ६. ५. १ में सूर्य का नाम ग्रह है; संभवतः बाद के ग्रहों के अर्थ में नहीं, अपितु जादू का प्रयोग करने वाली शक्ति के रूप में। ज्योतिष के ग्रह के अर्थ में मैउ में यह शब्द आया हुआ है: ६. १६[1]। वैदिक आर्यों के ग्रह-विषयक ज्ञान का प्रश्न जटिल है। ओल्डेनबर्ग[2] का कथन है कि सात आदित्यों के रूप में **सूर्य, चन्द्रमा** और शेष **पाँच ग्रहों** को उद्दिष्ट किया गया है। यद्यपि इस मत को असंभव या अनुचित नहीं कहा जा सकता, तथापि इसके लिए कोई साक्ष्य नहीं है; अतः अनेक विद्वानों के साथ हिल्लेब्रांड्ट, पिशल, फान श्रोडर, मैकडानल और ब्लूमफील्ड ने इसे अस्वीकार कर दिया है[3]। हिल्लेब्रांड्ट[4] के अनुसार ऋग्वेद ३. ७. ७ में **पाँच अध्वर्युओं** के रूप में ग्रहों को उद्दिष्ट किया गया है, किंतु यह केवल अनुमान-मात्र है। ऋग्वेद के दूसरे स्थल १. १०५. १० में (तु०—१. १०५. १६) ओल्डेनबर्ग के नोट के साथ के **पाँच वृषभों** (उक्षाणः) के रूप में भी उसी अनिश्चितता के साथ ग्रहों की कल्पना की गई है[5]। दुर्ग ने निरुक्त १. १४ की व्याख्या में, जहाँ यास्क ने **भूमिज** का अर्थ मङ्गल ग्रह किया था, वहाँ केवल "भूमि का पुत्र" अर्थ लिया है[6]। थिब्रो, जो वेद में ग्रहोल्लेख के संबन्ध में संशयालु थे, कहते हैं कि **बृहस्पति** के उल्लेख से **बृहस्पति ग्रह** अभिप्रेत है[7]। किंतु यह असंभव है, यद्यपि तैसं ४. ४. १०. १ में बृहस्पति को **तिष्य** का राजप्रतिनिधि कहा गया है। ग्रहों का अधिक संभव उल्लेख तैआ १. ७ के **सप्त सूर्याः** में पाया जा सकता है[8]। दूसरी

[1] वेबर, इंलित०, ९८ टि०; वोबू; एगलिंग, सेबुई २६. ४३२ टि० २।

[2] रिलिजन देस वेद, १८५ एवं आगे; त्सादामौगे ५०, ५६ एवं आगे।

[3] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. १०२ एवं आगे; पिशल, गोगेआ, १८९५, ४४७; फान श्रोडर, विओज, ९. १०९; मैकडानल, वैमा०, पृ० ४४; ब्लूमफील्ड, रिलिजन आ०दि वेद, १३३ एवं आगे।

[4] वैमि, ३. ४२३।

[5] हापकिन्स, जअओसो, २४. ३६।

[6] वेबर, ज्योतिष १०. टि० २।

[7] द्र—एस्ट्रोनमी, एस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक ६।

[8] द्र०—वेबर, ओमिना उण्ड पोर्टेण्टा, ३३९; इस्टू, २. २३८; ९. ३६३; १०. २४०, २७१; ज्योतिष, १०; रामायण, २८ टि० २। विवरण: लुड्विग, ट्रां. ऋ०, ३. १८३ एवं आगे; मैक्समूलर, ऋग्वेद, ४[2], ३० आगे; ह्विटनी, ओरियण्टल एंड लिंग्विस्टिक एसेज, २. ४१२ टि०; जअओसो, १६. ८८।

ओर लुड्विग ने ऋग्वेद में प्रकाश १०. ५५. ३ और अश्वमेघ के पशु की पृष्ठास्थियों १. १६२. १८ की ३४ संख्या से यह अनुमान लगाया है कि वहाँ **सूर्य, चन्द्रमा, पाँच ग्रह** और २७ **नक्षत्र** अभिप्रेत हैं, किंतु यह भी एक क्लिष्ट कल्पना है। तु० 'यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः' शब्रा १०. १. १. ५; 'तं सोममघ्नन्। तस्य यशो व्यगृह्णन ते ग्रहा अभवन्' तैब्रा २. २. ८. ६; 'तद् यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णन तस्माद् ग्रहा नाम' श० ४. १. ३. ५; 'यद् वित्तं (यज्ञं) ग्रहैर्व्यगृह्णत तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्' ऐ० ३. ९; 'ते देवाः सोममन्वविन्दन्। तमघ्नन्। तस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णन्त। ते ग्रहा अभवन्' तै० १. ३. १. २; 'अष्टौ ग्रहाः (प्राणः जिह्वा, वाक्, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, हस्तौ, त्वक्') श० ४. ६. ५. १; 'प्राणा वै ग्रहाः' श० ४. २. ४. १३; 'अन्नमेव ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम्' श० ४. ६. ५. ४; 'वागेव ग्रहः। वाचा हीदं सर्वं गृहीतम्' श० ४. ६. ५. २; 'अङ्गानि वै ग्रहाः' श० ४. ५. ९. ११ 'साम ग्रहः' श० ४. २. ३. ७। द्र०—**शुक्र, मन्थिन्, वेन**।

ग्ना—स्त्री के अर्थ में ग्ना शब्द आया है: ऋ० १. १५. ३; १. २२. १०; ५. ४३. ६ आदि। ऋग्वेद ५. ४६ ८; तु०—१. ६१. ८ में ग्ना का **देवपत्नी** के रूप में उल्लेख किया गया है—'ग्ना देवपत्नीः'। किंतु ६. ४८. ४ में ग्ना को **नरों** के साथ रखा गया है। ग्नावन्त् शब्द स्त्रीयुक्त के अर्थ में आया है: ऋ० १. १५. ३; काश्रौसू, ९. ८. १३; ऋ० २. १. ५। तु. 'छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' श. ६. ५. ४. ७।

ग्मा—वेद में ग्मा शब्द पृथिवी का वाचक है: ऋ० १. २५. २०; निघण्टु १. १।

ग्रथिन्—ऋग्वेद ७. ६. ३ में **पणियों** को ग्रथिन् कहा गया है; सायण के अनुसार इसका अर्थ जल्पक है।

ग्राभ—पकड़नेवाला √ग्रभ 'पकड़ना। ऋग्वेद ८. ८१. १; ९. १०६. ३ में ग्राभ शब्द **अक्ष** को पकड़कर फेंकने की क्रिया का वाचक है। द्र०—**ग्लह**। तु०—ल्यूडर्स, दास व्युर्फेलश्पील इम आल्तन इंन्दान, ४९, ५०।

ग्राम—ऋग्वेद-काल से ही ग्राम शब्द गाँव के अर्थ में आता रहा है: ऋ० १. ४४. १०; १. ११४. १; २. १२. ७; १०. १४६. १; १०. १४९. ४ आदि; अ.वे, ४. ३६. ७, ८; ५. १७. ४; ६. ४०. २ आदि; वा सं ३. ४५; २०. १७ आदि। ऋग्वेद-काल में आर्य ग्रामों में बसते थे, जो कहीं तो पास-पास थे: शब्रा, १३. २. ४. २; ऐब्रा, ३. ४४ और कहीं दूर-दूर थे: छाउ, ८. ६. २। ग्राम और जंगल का जगह-जगह विपर्यास दिखाया गया है; और ग्राम के पशुओं, वनस्पतियों का भी वन्य पशुओं एवं वनस्पतियों से विपर्यास दिखाया गया है: पशु: ऋ० १०. ९०. ८; अवे २. ३४. ४; ३. १०. ६; ३. ३१. ३; तैसं, ७. २. २. १; कासं, ७. ७; १३. १; व सं, ९. ३२; पंविब्रा, १६. १. ९; शब्रा, ३. ८. ४. १६ आदि; वनस्पति: तैसं, ५. २. ५. ५; ७. ३. ४. १ आदि। ग्रामों में मनुष्यों के साथ पशु, अश्व एवं अन्य पालतू जानवर रहते थे: अवे ४. २२. २; ७. ७. ११ आदि। गावों में अन्न के भण्डार होते थे: बृउ, ६. ३. १३ काण्व=६. ३. २२ माध्यं.। सायंकाल के समय पशु जंगल में चरकर गाँव में लौटते थे: ऋ० १०. १४९. ४; मैसं, ४. १. १। ग्राम प्रायः खुले होते थे; पुर् या किले तो उनमें कभी ही बनाए जाते थे[1]। संभवतः ये अलग-अलग बगड़ों के बीच के स्थान को भरकर बनाए जाते थे; किंतु वैदिक साहित्य में **पुर्** के संबन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलते। बड़े ग्रामों=महा ग्रामाः का उल्लेख मिलता है: जैउब्रा, ३. १३. ४।

ग्रामीणों के आपसी संबन्ध कैसे थे, यह बताना कठिन है। कुछ स्थलों पर मनुष्यों के समुदाय के लिये ग्राम शब्द आया है: ऋ० १. १००. १०; ३. ३३. ११; १०. २७. १; १०. १२७. ५; अवे, ४. ७. ५; ५. २०. ३ जहाँ ग्राम अर्थ संभव है, शब्रा ४. १. ५. २; ६. ७. ४. ९; १२. ४. १. ३ आदि। हो सकता है इस प्रयोग का मूल **ग्राम** शब्द का 'गाँव के लोग' इस अर्थ में प्रयोग रहा हो जैसा कि शब्रा ४. १. ५. २, ७ में कहा गया है कि **शर्यात मानव** अपने **ग्राम** के साथ इधर-उधर घूमता था। किंतु—जैसा कि त्सिमर का विचार है—ऋग्वेद में इस अर्थ का प्रयोग नहीं मिलता; जहाँ कि ३. ५३. ११, १२ में **भरतों** के जन को 'गव्यन् ग्रामः' अर्थात् 'गौ की इच्छावाला ग्राम=जन-समुदाय' कहा गया है। त्सिमर **ग्राम** को कबीले के अर्थ में लेते हैं जो कि **परिवार** एवं **विश्** के बीच का है[3]। **ग्राम** को परिवारों का समुदाय माना जा सकता है, जो सब एक कबीले के नहीं होते किंतु जो एक कबीले के टुकड़े या अंश

---

[1] जैसे आजकल होते हैं। द्र०—त्सिमर, आले०, १४४, जिसका उद्धरण ह्यूगल ने 'कश्मीर', २. ४५ में दिया है।

[2] आले० १६१।

[3] द्र०—आले०, १५९. १६०; यहाँ उनकी भाषा स्पष्ट नहीं है। तु०—हापकिन्स, रिलिजन्स आफ इंडिया, २७; इनका मत है कि त्सिमर गण और विश् को अभिन्न मानकर गलती करते हैं। यह खेल है, जो गण (=जन) से एक संकीर्ण नाचे है।

अवश्य हो सकते हैं, जैसा कि आज कल भी पाया जाता है[१]।

वैदिक साहित्य में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था कैसी थी यह बताना कठिन है। इस बात के लिये साक्ष्य नहीं मिलता कि गाँव की धरती गाँव या बिरादरी की साझी थी। इस विषय में जो कुछ भी थोड़े बहुत निर्देश मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि भूमि व्यक्तिगत संपत्ति थी (द्र०—**उर्वरा, क्षेत्र**); किंतु यह एक व्यक्ति-विशेष की न होकर उसके परिवार की साझी होती थी। ग्राम-काम =ग्राम का इच्छुक शब्द के अनेक बार प्रयोग (तैसं, २. १. १. २; २. १. ३. २; २. ३. ९. २, मैसं, २. १. २; २. २. ३; ४. २. ७ आदि)[२] से पता चलता है कि राजा खुश होकर अपने कृपा-भाजनों को ग्राम के आधिपत्य का विशेषाधिकार दे देता था—कमसे कम राजस्वाधिकार के विषय में। बाद में यह विचार उभर आया कि राजा सारी ही भूमि का स्वामी है, और साथ ही साथ यह विचार भी कि दानपत्रित व्यक्ति **जमींदार** या **भूमिपति** है।[३] किंतु इन दोनों में से एक विचार के भी संकेत वेद में नहीं मिलते; हाँ 'ग्रामकाम' शब्द अवश्य मिलता है, जिसका लक्ष्य राजस्वप्रदान अधिक है न कि भूमिप्रदान, जैसा कि ट्यूटानिक लोगों में आम रिवाज था[४]। ऐसे प्रदत्त अधिकारों का उद्देश्य संभवतः **कृषकों** को दबाना एवं उन्हें रैयत बनाना रहा होगा, किंतु प्रारम्भिक अवस्था में इसका प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा होगा।

प्रारम्भिक काल में ग्रामों को कानूनी बातों की दृष्टि से एक इकाई नहीं माना जा सकता, फिर उनके राजनीतिक इकाई होने का तो कहना ही क्या[१]। ग्रामों में—जैसा कि बाद में देखा जाता है—कृषक भूमिधरों के अतिरिक्त कमीन भी बसते थे; **ब्राह्मण** और **क्षत्रिय** भी रहते थे, जो राजप्रदत्त अधिकारों के बल पर अथवा तत्कालीन रिवाज के अनुसार भूमि जोते बिना भी गाँव में अपनी टेक रखते थे उसी प्रकार जैसे कि एक **रथ-कार, तक्षन्** (=बढ़ई) और कर्मार (=लोहार) की थी; किंतु फिर भी ये लोग गाँव की बिरादरी, अंश, या जुज़ नहीं होते थे[२]। सभी राजनीतिक दृष्टि से राजा की प्रजा थे; और उसे अन्न, सेवा या दूसरी तरह की बलि देने पर बाध्य थे और यह तबतक जबतक कि वह अपने अधिकारों को राजकीय परिवार के किसी सदस्य को पूरा या अंशतः न दे दे, जैसा कि प्रायः होता रहता था। अथर्ववेद-काल से ही ग्राम में राजा के भाग का उल्लेख मिलता है: ४. २२. २।

ग्राम का मुखिया **ग्रामणी**=ग्राम-नेता होता था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलता है: ऋ० १०. ६२. ११; १०. १०७. ५; अवे, ३. ५. ७; १९. ३१. १२; तैसं, २. ५. ४. ४; मैसं, १. ६. ५; ग्रामणीथ्य अर्थात् ग्रामणी का पद: तैसं, ७. ४५. २; कासं ८. ४; १०. ३; वासं १५. १५; ३०. २०; तै ब्रा, १. १. ४. ८; १. ७. ३. ४; २. ७. १८. ४; शब्रा ३. ४. १. ७; ५. ४. ४. ८; ८. ६. २. १; बृउ, ४. ३. ३७, ३८ आदि। इस शब्द का ठीक आशय अज्ञात है। त्सिमर[३] के अनुसार **ग्रामणी** का कार्य सेना से संबद्ध है; क्योंकि **सेनानी** के साथ अनेकशः उसका उल्लेख भी हुआ है। किंतु इस शब्द के अर्थ को इतना सीमित करने के लिये साक्ष्य का अभाव है; फलतः एक **ग्रामणी** अपने गाँव का दोनों ही में अगुआ रहता था गाँव की आम बातों में और सैन्य-संबन्धी मामलों में। शब्रा ५. ४. ४. १८ में ग्रामणी को **सूत**=सारथि से नीचे दिखाया गया है, जिसके साथ कि उसे राजा के **रत्नियों**=रत्नों में गिनाया गया है: शब्रा, ५. ३. १. ५। वैश्य के लिए तो यह पद अत्यन्त महत्त्व का था, क्योंकि इसे पाकर

---

[४] श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटिक्विटीज़, ३९३; लाइस्ट, अल्तारिश्शेस जोजेंटिउम, ३४; बैडेन पावल, विलेज कम्युनिटीज़ इन इण्डिया, ८५ एवं आगे।

[५] हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स०, १५. ३२ यहाँ ग्राम का अर्थ 'पशु-गोल' करते है।

[१] तु०—बैडेन पावल, इंडियन विलेज कम्युनिटीज, २०७ एवं आगे। तु०—मनु० ९. ३४; द्र० **राजन्**; क्षत्रियों तथा जन की संमति से क्षत्रिय द्वारा भूमि-विभाजन; शब्रा, ७. १. १. ८।

[२] तु०—पोलक और मैटलैंड, हिस्ट्री आफ इंगलिश ला, २. २३७ एवं आगे; बैडेन पावल, विलेज कम्यूनिटीज इन इण्डिया ८३; रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, ४८; वैदिक साहित्य में भूमि के न बेचने का उल्लेख '**उर्वरा**' लेख में आए प्रमाणों के अतिरिक्त और जगह नहीं है। तु०—छाउ, ४. २. ४; शांगृसू, १. १४; कौसू, ९४।

[१] तु०—फीय, दी कौइनिग्लिशे गेवाल्त, २० टि०; जाली, रेख्त उण्ड जिट्टे, ९३; हापकिन्स, जअओसो, १३. ७८. १२८।

[२] तु०—बैडेन पावल, इण्डियन विलेज कम्युनिटीज, १७. १८।

[३] आले०, १७१।

वह श्री-संपन्न (=गतश्री) बन जाया करता था : तैसं, २. ५. ४. ४; मैसं, १. ६. ५[1]। गामणी का राजा के साथ होने वाला संबन्ध इस बात को सूचित करता है कि वह राजा द्वारा मनोनीत किया जाता था; जनता द्वारा चुना नहीं जाता था। किंतु ग्रामणी का ओहदा कभी जद्दी हो सकता है और कभी चुनाव से भी; अलबत्ता इस विषय में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिलता। एकवचनान्त **ग्रामणी** शब्द के प्रयोग से कठिनता होती है। संभवतः उस ग्राम या नगर का, **ग्रामणी**, जहाँ कि राजा रहता था, अधिक चलता हुआ एवं दबदबे वाला होता था[2]।

तैसं में **ग्रामिन्**=ग्रामवाला और **ग्रामिन्** बनाने वाले अनुष्ठानों का उल्लेख है; संभवतः यहाँ ग्राम की पंचायत पर प्रभुत्व का भाव है जो राजा द्वारा प्रदत्त न होने पर भी सूद पर ऋण आदि देकर अथवा धरती खरीदकर प्राप्त करना संभव था : तैसं २. १. ३. २; २. १. ६. ७; २. २. ८. १; २. २. ११. १. २. ३. ३. ५; २. ३. ९. २।

ग्रामिन्—तैसं २. १. ३. २; २. १. ६. ७; २. २. ८. १; २. २. ११. १; २. ३. ५ और २. ३. ९. २ में ग्रामिन् या ग्रामी शब्द आया है। यहाँ गाँव प्राप्त कराने या **ग्रामी** बनाने के लिए अनुष्ठानों का उल्लेख है। इसमें व्यक्ति को सजातों और समानों में श्रेष्ठ बनाने का उल्लेख है। हो सकता है कि एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ऋण आदि देकर या भूमि खरीदकर **ग्रामी** बन जाता हो; और राजा भी उसके अधिकारों में हस्तक्षेप न करता हो। द्र०—**ग्राम**।

ग्राम्य—ऋग्वेद १०. ९०. ८ में ग्राम्य पशुओं का उल्लेख है। बाद के साहित्य में "आरण्याः पशवः' के साथ प्रायः' ग्राम्याः पशवः' आता है : अवे, २. ३४. ४; ३. ३१. ३; ३. १०. ६; वासं ९. ३२; तैसं, ७. २. २. १; शब्रा ३. ८. ४. १६। शब्रा १४. ९. ३. २२ में दस **ग्राम्य धान्यों** का उल्लेख है।

ग्राम्यवादिन्—स्पष्टतः यजुर्वेद में इससे ग्राम का न्यायाधीश अभिप्रेत है : तैसं २. ३. १. ३; कासं ११. ४; मैसं, २. २. १।

ग्रावन्—ग्रावन् शब्द पत्थर का वाचक है। वैदिक-साहित्य में सोम पीसने के प्रसङ्ग में ग्रावन् शब्द का उल्लेख आया है : ऋ० ८. ३४. २; ४. ३. ३; ५. २८. ८; अवे ५. २०. १०; ऋ० ३. ३०. २, वासं ६. २६. २६. ४, शब्रा ३. ३. ४. २४ आदि। तु० '**प्राणा वै ग्रावाणः**' श. १४. २. २. ३३; '**वज्रो वै ग्रावा**' श. ११. ५. ९. १२ '**पशवो वै ग्रावाणः**' तां० ९. ९. १३; '**विड् वै ग्रावाणः**' तां. ६. ६. १; 'विशो ग्रावाणः' श. ३. ९. ३. ३; 'जागता वै ग्रावाणः' कौ. २९. १; 'बार्हता ग्रावाणः' श. १२. ८. २. १७; 'मारुता वै ग्रावाणः' तां. ९. ९. १४; 'विद्वांसो हि ग्रावाणः' श. ३. ९. ३. १४।

ग्रावस्तुत्—एक ऋत्विज् को ग्रावस्तुत् कहा गया है : आश्रौसू, ४. १. ४–६; शाश्रौसू, १३. १४. १ आदि। द्र०—**ऋत्विज्**।

ग्राह—पकड़ने वाला। शब्रा ३. ५. ३. २५; ३. ६. १. २५ में एक रोग का नाम है। संभवतः अवे ११. ९. १२ में यह ऊरुस्तंभ का बोधक है यदि भाष्यकार के ऊरुग्राहः को ग्रहण किया जाय; किंतु ह्विटनी ने ट्रां० अ०वे०, ६५३ में पाठ 'उरुग्रह' ही लिया है और उसका अर्थ 'विस्तृत पकड़ने वाला' यह किया है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे, ६३५।

ग्राहि—पकड़नेवाली। ऋवे एवं अवे में किसी रोग को उत्पन्न करने वाली दानवी का नाम है : ऋ० १०. १६१. १; अवे २. ९. १; १०. ६. ८; ६. ११२. १; ६. ११३. १; ८. २. १२; ८. ३. १८; १६. ७. १; १६. ८. १; १९. ४५. ५)। इसके पुत्र का नाम **स्वप्न** आया है : अ० वे० १६. ५. १। तु०—वेबर, इस्टू १३. १५४;

ग्रीवा—अ०वे० २. ३३. २ में ग्रीवा शब्द गर्दन के अर्थ में आया है। तु० 'ग्रीवा उष्णिहः' श. ८. ६. २. ११; 'उष्णिक् छन्दः सविता देवता ग्रीवाः' श. १०. ३. २. २; 'ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः' श. ३. ४. ४. १; 'ग्रीवाःपञ्चदशः, चतुर्दश वा एतासां करूकराणि वीर्यं पञ्चदशं तस्मादेताभि रण्वीभिः सतीभिर्गुरुं भारं हरति' श. १२. १. ४. १०; गो. पू. ५. ३,

[1] तु०—वेबर, इस्टू, १०. २०. टि० २।

[2] राज्य में कई ग्रामणी होते होंगे, किंतु राजा के रत्नियों में केवल एक ही ग्रामणी का उल्लेख है। तु०—एगलिंग सेबुई, ४१ ६० टि०; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ९६; रीज डेविड्स, उपर्युक्त, ४८ का मत है कि उसे या तो गाँव की पंचायत चुनती थी, अथवा कोई आनुवंशिक अफसर मनोनीत कर देता था; क्योंकि परवर्ती ग्रन्थों—जैसे कि मनु० ७. ११५—में ही राजा द्वारा नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। किंतु निर्वाचन या आनुवंशिकता किसी एक के विषय में पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते हैं; और हम यह नहीं बता सकते कि पुराने युग में इस संबन्ध में राजा कहाँ तक दस्तंदाजी किया करता था। संभवतः यह राजा-राजा के साथ अलग-अलग रहती थी। तु०—**राजन्** और **विशरथ**।

ग्रीष्म—ऋवे १०. ९०. ६ में वसन्त और शरद् के साथ ग्रीष्म ऋतु का उल्लेख मिलता है। तु० 'तस्य (वायोः) रथेस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविति ग्रैष्मौ तावृतू' श. ८. ६. १. १७; 'अनिरुक्त ऋतूनां ग्रीष्मः' जैउ. १. २५. ३; 'यत् स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य (रूपम्)' श. २. २. ३. ८; 'तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत। क्षत्रं हि ग्रीष्मः' श. २. १. ३. ५; 'ग्रीष्मो वै राजन्यस्यर्तुः' तै. १. १. २. ७; 'ग्रीष्म. संवत्सरस्य दक्षिणः पक्षः' तै. ३. ११. १०. ३; 'ग्रीष्मो वै तनूनपाद् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति' श. १. ५. ३. १०; 'ग्रीष्मः प्रस्तावः' ष. ३. १. द्र०—**ऋतु**।

ग्रैव्य—ग्रीवा की मांस-वृद्धि या शोथ: अवे ६. २५. २; ७. ७६. २; तु० ब्लूमफील्ड, प्रोअओसो; अक्टूबर, १८८७, १९; हिम्स आ० दि अवे ४७२।

ग्लह्—**ग्राभ** की तरह यह अक्ष फेंकने की क्रिया का बोधक है। **ग्राभ** के ही स्थान पर बाद में यह शब्द आया है: अवे ४. २८. १. एवं आगे। तु०—ल्यूडर्स, दास व्युर्फल श्पील इम आल्तन इन्दीन, ४९।

ग्लहन—अवे ७. १०९. ५ में अक्ष के ग्रहण करने के अर्थ में **ग्लहन** शब्द आया है। तु०—**ग्लह्** और **शेवण**।

ग्लाव मैत्रेय—**मैत्री** का वंशज। छाउ १. १२. १, ३; तु०—गोब्रा १. १. ३१ में **ग्लाव मैत्रेय** का उल्लेख है, जहाँ इन्हें **बक दाल्भ्य** से अभिन्न बताया गया है। पंवि-ब्रा २५. १५. ३ में एक नागोत्सव में इनका **प्रस्तोता पुरोहित** के रूप में उल्लेख किया गया है। षविब्रा १. ४ में भी इनका उल्लेख मिलता है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३५. ३८।

ग्लौ—अवे ६. ८३. ३ और ऐब्रा १. २५ में ग्लौ शब्द किसी रोग का बोधक है; ब्लूमफील्ड के अनुसार यह रोग व्रण है[1]। वासं के एक स्थल २५. ८; मैसं, ३. १५. ७ पर जहां कि यह शब्द आता है इसका अर्थ दुरूह है; हो सकता है वहां इसका अर्थ यज्ञिय पशु का कोई अङ्ग रहा हो[2]।

घ

घन—कुछ संदर्भों में घन शब्द वज्रसदृश किसी अस्त्र-विशेष का बोधक है। ऋग्वेद १. ३३. ४ में घन द्वारा दस्यु के वध का उल्लेख है—'वधीर्हि दस्युं घनिनं घनेन'। ऋ. १. ८. ३ पर वज्र और घन दोनों का उल्लेख है—"आ वज्रं घना ददीमहि"। तु०—१. ३६. १६; १. ६३. ५; ९. ९७. १६।

घर्म—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दूध पकाने के पात्र को—विशेषतः अश्विनों के लिए दूध पकाने के पात्र को—घर्म कहा गया है: ऋ० ३. ५३. १४; ५. ३०. १५; ५. ४३. ७; ५. ७६. १ आदि; अवे ७. ७३. ६; वासं, ८. ६१; ऐब्रा, १. १८. २२ आदि। इसीलिए कभी-कभी गरम दूध या गरम पदार्थ को भी घर्म कहा गया है: ऋ० १. ११९. २; १. १८०. ४; ७. ७०. २; ८. ९. ४ आदि; अवे ४. १. २; वासं ३८. ६ आदि। तु० 'तद् यच्छिन्नं (विष्णोः शिरः) घृङ्ङ इत्यपतत् तस्माद् घर्मः' श. १४. १. १. १०; 'अस्य (अग्नेः) एवैतानि (घर्मः अर्कः, शुक्रः, ज्योतिः, सूर्यः) नामानि' श. ९. ४. २. २५; 'अग्निर्वै घर्मः' श. ११. ६. २. २; 'आदित्यो वै घर्मः' श. ९. ४. २. १९; 'देवमिथुनं वा एतद् यद् घर्मः' गो. उ. २. ६; 'तदेतद् देवमिथुनं यद् घर्मः स यो घर्मस्तच्छिश्नम्' ऐ. १. २२. तु०—निरुक्त, ६. ३२; ११. ४२; त्सिमर, आ० ले० २७१; वोबू।

घास—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में उल्लिखित घास पशुओं का चारा है: अवे ५. ३८. ७; ८. ७. ८; ११. ५. १८ आदि; वासं ११. ७५; २१. ४३; तैसं, ६. ५. ९. ३; तैब्रा १. ६. ३. १० आदि। ऋग्वेद १. १६२. १४ में अश्वमेध की बलि के अश्व का चारा घासि कहा गया है।

घृणावन्त्—वासं २४. ३९ में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पशु का नाम है। मैसं के समानान्तर स्थल ३. १४. २० पर घृणावन्त् शब्द है। ऋ० १०. १७६. ३ में यह शब्द विशेषण है। तु०—त्सिमर, आले०, ९९।

घृत—ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में घृत शब्द घी के अर्थ में प्रायः आया है। इसका उपयोग सामान्य भोजन एवं यज्ञिय हवि में होता था: ऋ० १. १३४. ६; २. १०. ४; ४. १०. ६; ४. ५८. ५, ७, ९; ५. १२. १ आदि; वासं, २. २२ आदि; शब्रा, १. ८. १. ७ दधि, मधु और आमिक्षा के साथ; ९. २. १. १ दधि, मधु, घृत आदि। ऐब्रा १. ३ के सायण भाष्य में घृत और सर्पिष् के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मक्खन गलाने के बाद घनीभूत होने पर घी कहाता था, और सर्पिष् उसके तरल होने पर; किंतु इस अन्तर पर विशेष बल नहीं दिया जा सकता। अग्नि में हवनार्थ घी डाला जाता

[1] द्र० प्रोअओसो; अक्टबर, १८८७, १५; हिम्स आ० दि० अवे, १७. ५०३; ह्विटनी, ट्रां० अवे, ३४३।

[2] द्र०—वोबू, लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ५००; इन्होंने ग्लौ का अर्थ उलूक किया है।

था, अतः अग्नि को **घृत-प्रतीक**, **घृत-पृष्ठ** और **घृतप्री** कहा गया है : ऋ० १. १४३. ७; ३. १. १८; ५. ११. १; १०. २१. ७ आदि; १. १६४. १; ५. ४. ३; ५. ३७. १; ७. २. ४ आदि; ऋ० ५. १५. १। मक्खन को धोने के लिए जल का प्रयोग होता था; अतः जल को **घृत-पू** विशेषण दिया गया है : अवे १२. १. २०; १८. ४. ४१। ऐब्रा १. ३ में कहा गया है कि **आज्य**, **घृत**, **अयुत** और **नवनीत** क्रमशः देवों, मनुष्यों, पितरों और शिशुओं से संबद्ध हैं। तु० 'तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम्' ऐ० ८. २०; 'आग्नेयं वै घृतम्' श० ७. ४. १. ४१; 'एतद् वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्' तै० १. १. ९. ६; 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' गो० उ० १. ४; 'रेतो वै घृतम्' श० ९. २. ३. ४४; 'रेतःसिक्तिर्वै घृतम्' कौ० १६. ५; 'घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्)' श० ७. ५. १. ३। तु०—त्सिमर, आले, २२७।

घृतकौशिक—माध्यंदिन-शाखीय बृउ की प्रथम दो वंश-सूचियों २. ५. २१; ४. ५. २७ में **पाराशर्यायण** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है। तु०—वेबर, इस्तू, ४. ३८४।

घृताची—'घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना' श० १. ३. ४. ४४; १. ३. ४. १४; ८. ६. १. १९।

घृतौदन—द्र०—**ओदन**।

घोर आङ्गिरस—कौब्रा ३०. ६ (तु०—आश्रौसू, १२. १०) में एक देवशास्त्रीय आचार्य का यह नाम है, जहाँ उन्हें **कृष्ण देवकीपुत्र** का गुरु बताया गया है। इस नाम की काल्पनिकता इससे भी सिद्ध है कि **भिषज् आथर्वण** के साथ इसका भी उल्लेख है; और ऋग्वेद के सूत्रों में "अथर्वाणो वेदः" का "भेषजम्" और "आङ्गिरसो वेदः" का 'घोरम्' कहकर उल्लेख किया गया है : आश्रौसू १०. ७; शांश्रौसू, १६. २[1]। अतः ये अथर्व-मन्त्रों के अभिचारादि पक्ष के प्रतिनिधि हैं[2]। कासं के अश्वमेध प्रकरण १. १ में भी उनका उल्लेख है। तु० 'त आदित्या (अग्नि) ऊचुरथास्माकमघसुत्या तेषां नस्त्वमेव होतासि बृहस्पतिर्ब्रह्मायास्य उद्गाता घोर आङ्गिरसोऽध्वर्युरिति' कौ० ३०. ६।

१. घोष—द्र०—**घोषा**।

[1] जअओसो, १७. १८१; वेबर, इस्तू, ३. ४५९।
[2] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ८. २३; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १८९, १९०; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि २. १६. टि०।

२. घोष—द्र०—**स्वर**।

घोषवन्त्—द्र०—**स्वर**।

घोषा—ऋग्वेद के दो स्थलों १. ११७. ७; १०. ४०. ५ (तु०—१०. ३९. ३, ६) पर **अश्विनों** की कृपापात्र एक **घोषा** का संकेत है, जिसने उनकी कृपा से पति प्राप्त किया था। एक अन्य मन्त्र १. १२२. ५ में संभवतः उसे **अर्जुन** कहा गया है, किंतु यह संभव नहीं है[1]। सायण ने परवर्ती बृहद्देवता ७. ४१–४८ के आख्यान के आधार पर उसे चर्म-रोग से दूषित होने के कारण बड़ी उम्र तक अविवाहित माना है, किंतु इसके लिये प्रमाण अपेक्षित है। सायण के अनुसार ऋग्वेद के एक दुरूह मन्त्र १. १२०. ५ में उसके पुत्र **सुहस्त्य** का उल्लेख है; ओल्डेनबर्ग[2] ने यहाँ भी **घोषा** का उल्लेख माना है। सुहस्त्य को ऋग्वेद १०. ४१. ३ में ढूंढ़ा गया है, जो ऋ० १. ११७. २४ में वध्रिमती के **हिरण्यहस्त** नामक पुत्र के आधार पर है। पिशल[3] का विचार है कि यहाँ **घोषे** शब्द संज्ञा न होकर क्रिया-रूप है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १४३; ऊबर मेथोडे वाई इंटरप्रेटेशन देस ऋग्वेद, ४३; म्यूर, संस्कृत-टेक्स्ट्स, ५. २४७; मैकडानल, वैमा पृ० ५२।

च

चक—पंविब्रा २५. १५. ३ में **पिशङ्ग** के साथ **चक** का नागोत्सव के एक उन्नेतृ पुरोहित के रूप में उल्लेख किया गया है। तु०—वेबर, इस्तू १. ३५. इन्होंने चक्क पाठ दिया है; १०. १४२ टि० ३, १४४।

चक्र—पहिया। ऋग्वेद-काल से रथ या गाड़ी के चक्र का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी आलंकारिक रूप में भी इसका उल्लेख आता है : ऋ० १. १३०. ९; १. १५५. ६; १. १६४. २; ११. १४; १. १७४. ५; ४. १. ३ आदि; अवे ११. ७. ४; १९. ५३. १, २ आदि। चक्र को अक्ष में फँसा दिया जाता था और फँसाने में पर्याप्त शक्ति लगती थी, जैसा कि ऋग्वेद ८. ४१. ६ से ज्ञात होता है। चक्र में अर =अरे और **नाभि** =पहिये की नाह होती थी—जिसके **ख** =छिद्र में, **आणि** =धुरे का किनारा डाल दिया जाता था। रथ में चक्र की मजबूती का महत्त्व **पूषन्** के रथ-चक्र के उल्लेख से आंका जा सकता है, जिसके विषय में कहा गया है कि उसका चक्र कभी भी खम नहीं खाता : ऋ०—६. ५४. ३। चक्र दो होते थे : ऋ० ८. ५. २९; छाउ,

[1] ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १२२।
[2] ऋग्वेद-नोटन, ११९।
[3] वैस्तू, १. ४; २. ९२।

४. १६. ५; कौउ, १. ४; किंतु ऋग्वेद के सात स्थलों पर **तीन चक्रवाले** रथ का उल्लेख है : १. ११८. २; १. १५७. ३; १. १८३. १; ८. ५८. ३; १०. ४१. १; १०. ८५. १४; इन सभी संदर्भों का **अश्विनों** के रथ से संबन्ध है। ४. ३६. १ में तीन ऋभुओं द्वारा बनाए गए ऐसे एक रथ का वर्णन है। कुछ अन्य स्थलों में **सात चक्र** वाले रथ का उल्लेख है : ऋ० १. १६४. ३; १२; २. ४०. ३। अवे ११. ४. २२ में **आठ चक्र** वाले रथ का भी उल्लेख है। त्सिमर,[1] का कथन है कि इन स्थलों पर वास्तविक रथ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि जहाँ कहीं भी **त्रि-चक्र** का उल्लेख है, वहाँ देवशास्त्रीय रथ का ही प्रसङ्ग है। दूसरी ओर वेबर कहते हैं कि **तीन चक्र** वाला रथ रहा होगा, जिसमें तीसरा चक्र दो सामान्य चक्रों के मध्य में घूमता होगा[2]। किंतु यह निश्चित नहीं है। **सात** और **आठ** चक्र वाले किसी वास्तविक वाहन के अस्तित्व को स्वीकार करना कठिन है।

शब्रा में कुम्भकार के चक्र (=चाक) का भी उल्लेख मिलता है: ११. ८. १. १।

चक्रवाक—स्पष्टतः हंस-जातीय पक्षी का नाम **चक्रवाक** उसकी ध्वनि के आधार पर रखा गया प्रतीत होता है। हिन्दी में इसे चकवा और अंग्रेजी में 'ब्रह्मनी डक' कहते हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में इसका उल्लेख है, जब कि अथर्ववेद में इनके दांपत्यव्रत का विवरण है, जो संस्कृत साहित्य में अनेकशः वर्णित है: ऋ० २. ३९. ३; मैसं, ३. १४. ३, १३; वासं २४. २२. ३२; २५. ८; अवे १४. २. ६४, तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८९।

चक्षुष्—आँख। अथर्ववेद में नजर अथवा 'घोर-चक्षस्' के दुष्प्रभावों से बचने के लिए मन्त्र दिए गए हैं : अवे २. ७; १९. ४५; कल्पसूत्रों में इनके विनियोग इसी कार्य के उल्लिखित हैं। नजर को दूर करने के लिए **त्रिककुभ्** के अञ्जन और **जंगिड** पौधे की बनी ओषधि का उल्लेख हैं : अवे ४. ९. ६; १९. ३५. ३। विवाह-संस्कार में पत्नी के 'अघोर-चक्षस्' होने की प्रार्थना की गई है : पारगृसू १. ४; शां.गृ.सू, १. १६। आँख की बनावट और उसकी पुतली के शुक्ल और कृष्ण वर्ण का उल्लेख है; उसकी कनीनिका का परवर्ती ब्राह्मणों में अनेक बार उल्लेख है : शब्रा, १२. ८. २. २६; जैब्रा, १. २५४, ३२४; जैउब्रा, १. २६. १; १. ३४. १; बृउ, २. २. २; ऐ आ, २. १. ५ आदि। आंख में पुरुष का उल्लेख: छाउ, १. ७. ५; ४. १५. १; बृउ २. ३. ५; ४. २. २; ५. ५. २, ४ आदि। जैउब्रा, १. २७. २; बृउ २. २. ३ में आँख में जल का भी कथन है, ऊपरी और नीचे की पलकों तथा सात लाल रेखाओं, 'लोहिन्यो राजयः' का भी उल्लेख आता है। **अलजि** रोग आँख का हो जान पड़ता है।

'चक्षुर्वा ऋतं तस्माद् यतरो विवदमानयोराहाहमनुष्ठ्या चक्षुषादर्शमिति तस्य श्रद्दधति' ऐ. २. ४०; 'सत्यं वै चक्षुः सत्यं हि वै चक्षुस्तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम' श. १. ३. १. २७; 'एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः' ऐ. १. ६; 'तस्मादेकं सच्चक्षुर्द्वेधा' ऐ. २. ३२; 'चक्षुर्हृदये(श्रितम्)तै. ३. १०. ८. ५; 'यच्चक्षुः स बृहस्पतिः' गो. उ. ४. ११; 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' श. ८. १. २. ३; 'चक्षुर्मैत्रावरुणः' ऐ. २. २६; =अध्वर्यु, गो. उ. ५. ४; =उद्गाता, गो. पू. २. १०; =ब्रह्मा, तै. २. १. ५. ९; =ब्रह्म, गो.पू. २. १०; =देवः, गो.पू. २. १०; =हिरण्य, गो.पू. २. २१; =आदित्य, शब्रा १०. ३. ३. ७; =सूर्य, तैब्रा १. १. ७. २; =चरण, शब्रा १०. ३. ५. ७; = उष्णिक्, शब्रा १०. ३. १. १; =यशः, शब्रा १२. ३. ४. १०। तु०—वेबर, इस्टू, १३. १४९।

चण्डातक—शब्रा ५. २. १. ८ और का श्रौसू १४. ५. ३ में चण्डातक स्त्रियों का कोई भीतरी वस्त्र है।

चण्डाल, चाण्डाल—एक नीची जाति का नाम चण्डाल : छाउ, ५. १०. ७; ५. २४. ४; आगृसू, ४. ९; शांगृसू, २. १२; ६. १ आदि, या चाण्डाल : वासं, ३०. २१; तैब्रा ३. ४. १७. १; बृउ, ४. १. २२ में आया है। संभवतः यह आदिम जातियों में से ही कोई रहे हों[1]। किंतु ब्राह्मणोंके सिद्धान्त के अनुसार शूद्र पिता द्वारा ब्राह्मण माता में उत्पन्न हुआ पुत्र चाण्डाल कहाता है[2]। याजुष संहिताओं और उपनिषदों में इस जाति को नीच बताया गया है; किंतु इसका वहाँ विशेष विवरण नहीं दिया गया है।

चतुर्होता; तु० 'तस्मै चतुर्थं हूतः प्रत्यशृणोत्, स चतुर्थोऽभवत्, चतुर्हूतो हवै नामैषः तं वा एतं चतुर्हूतं सन्तं

[1] आ० ले, ८९।

[2] द्र०—प्रोआबए, १८९८, ५६४; इन्होंने विर्शाउ, त्साइतश्रिप्त फ्यूर एथनोलगी, ५. २०० का उद्धरण दिया है। तु०—त्सिमर, आ.ले., २४७।

[1] द्र—फिक, दी सोशियाल ग्लीडरुंग, २०४ एवं आगे।

[2] त्सिमर, आ०ले०, २१७ के अनुसार स्पष्टतः यह वैदिक काल में भी माना जा सकता है। तु०—फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, ४३३।

चतुर्होतेत्याचक्षते' तैब्रा २. ३. ११. ४; 'यदेवेषु चतुर्धा-होतारः तेन चतुर्होतारः। तस्माच्चतुर्होतार उच्यन्ते' तैब्रा. २. ३. १. १; 'ब्रह्म वै चतुर्होतारः' तैब्रा ३. १२. ५. १; 'प्रजापतिर्वै चतुर्होता' तैब्रा २. २. ३. ५; 'इन्द्रो वै चतुर्होता' तैब्रा २. ३. १. ३; 'सोमो व चतुर्होता' तैब्रा २. ३. १. १; 'यशो वै चतुर्होता' तैब्रा २. २. ८. २।

चतुष्पद्—ऋग्वेद-काल से ही पशुओं के लिये चतुष्पद् शब्द का प्रयोग होता आया है : ऋ० १. ४९. ३, १. ९४. ५, १. ११९. १, ३. ६२. १४ आदि, अवे, ४. ११. ५, १०. ८. २१; वासं, ८. ३०, ९. ३१, १४. ८. २५; ऐब्रा ६. २, ८. २० आदि। चतुष्पद् और द्विपद्=मनुष्य का विपर्यास भी कई स्थलों पर आया है : ऋ० १०. ११७. ८. अवे, ६. १०७. १ आदि। पशुओं के लिए चतुष्पाद् शब्द का प्रयोग भी मिलता है : ऐ ब्रा, २. १८. ६. २, शब्रा, ३. ७. ३. २, ६. ८. २. १७ आदि।

चनस्—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर चनस् शब्द आया है। भारतीय भाष्यकारों ने उसे अन्न के अर्थ में ग्रहण किया है। किंतु अन्य विद्वानों ने इसे 'सुख' या 'संतोष' के अर्थ में लिया है। तु०—वोबू; ग्रिफिथ; हिम्स आफ दि ऋग्वेद।

१. चन्द्र, चन्द्रमस्—चन्द्रमा के अर्थ में चन्द्रमस् शब्द ऋग्वेद-काल से ही प्रयुक्त होता आया है : ऋ० १. १०५. १; ८. ८२. ८; १०. ५. ३; १०. ८५. १९; अवे ११. ६. ७; वासं, १. २८; २३. १०, ५९ आदि; किंतु चन्द्र शब्द पहली बार अवे में आया है : अवे, २. १५. २; २. २२. १; ३. ३१. ६ आदि; वासं, २२. २८; ३९. २; शब्रा ६. २. २. १६ आदि। वैदिक साहित्य में चन्द्रमा के संबन्ध में बहुत ही कम उल्लेख है; अलबत्ता इसकी सोम से अभिन्नता का उल्लेख अवश्य मिलता है; क्योंकि दोनों ही वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं[१]। चन्द्रमा के नियमित परिवर्तन और सूर्य के बाद आने का उल्लेख मिलता है : ऋ० १०. ६८. १०; तु—१. ६२. ८; १. ७२. १०। सोम के रूप में सूर्य से इसके विवाह का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० १०. ८५. १८, १९। अमावास्या के दिन चन्द्रमा के न दिखलाई पड़ने का उल्लेख है : शब्रा १. ६. ४. १८; ४. ६. ७. १२; ११. १. ६. १९; १४. ४. २. १३; ऐ ब्रा, ८. २८. ८; संभवतः ऋ० १०. १३८. ४। सूर्य से चन्द्रमा के प्रकाश ग्रहण करने का भी संकेत है : ऋ० ९. ७१. ९; ९. ७६. ४; ९. ८६. ३२; सामवेद, २. ९, २, १२. १[१]। अवे में चन्द्र-ग्रहण उत्पन्न करने वाले दानवों (ग्रहाश्चान्द्रमसाः) का उल्लेख है : अवे १९. ९. १० कौसू १००. ३ में अवे, ६. १२८ का भी इसी प्रसङ्ग में उल्लेख है[२]।

चन्द्रमा की कलाओं और काल-मापक मास के लिए द्र० मास; चन्द्रमा और उसके नक्षत्रों के लिए द्र० नक्षत्र। तु०—त्सिमर, आले, ३४९, ३५०, ३५२। तु० 'असौ वै चन्द्रः पशुस्तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते' श० ६. २. २. १७; 'स (इन्द्रः) चन्द्रं म आहरेति प्रालपत्। तच्चन्द्र-मसश्चन्द्रमस्त्वम्' तै० २. २. १०. ३; (प्रजापतिः) तम् (रुद्रम्) अब्रवीन् महान् देवोऽसीति। तद्यदस्य तन्नामा-करोत् चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः प्रजापतिर्वै महान् देवः' श० ६. १. ३. १६; (इन्द्रः) तं (वृत्रं) द्वेधान्वभिनत् तस्य यत् सौम्यं व्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्' श० १. ६. ३. १७; 'अथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भान्तः इति भाति हि चन्द्रमाः' श० ८. ४. १. १०; 'चन्द्रमा ह्येतस्यान्नं य एष (सूर्यः) तपति' श० ४. ६. ७. १२; 'स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत् तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम्' श० १. २. ५. १८; 'एतद्वा इयं (भूमिः) अमुष्यां (दिवि) देवयजन-मदधाद् यदेतच्चन्द्रमसि कृष्णमिव' ऐ० ४. २७; 'चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति' ऐ० ८. २८;=प्रजा-पति, श० ६. २. २. १६;=सविता, जैउ ४. २७. १३;=हिरण्य, तै० १. ७. ६. ३;=मासः (तस्मान्मेत्याह) जैउ० ३. १२. ६;=सोमः, कौ० १६. ५; वृत्र (अथैष वृत्रो यच्चन्द्रमाः) श० १. ६. ४. १३;=वरेण्य, जैउ० ४. २८. १;=देवसत्य, कौ० ३. १;=असुः, तै० २. ५. ७. ३;=सविता, गोपू० १. ३३;=मनः, श० १०. ३. ३. ७;=रेतः, श० ६. १. २. ४;=अन्न, श० ८. ३. ३. ११;=प्राणः, जैउ० ४. २२. ११;=धाता, ष० ४. ६;=ब्रह्म, ऐ० २. ४१;=ब्रह्मा, श० १२. १. १. २;=रात्रि, श० १२. ४. ४. ७;=उदान, जैउ०, ४. २२. ९;=मनुष्य लोकः, जैउ ३. १३. १२;=वाक्, जैउ० ३. १३. १२;=हन्त, जैउ० ३. ६. २;=हिंकारः, जैउ० १. प्रतिहारः, जैउ० १. ३६. ९;=भर्गः, जैउ० ४. २८. २;=सर्वम्, गो० पू ५. १५।

२. चन्द्र—कुछ स्थलों पर चन्द्र शब्द ऋग्वेद-काल

[१] द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० ११२. ११३; यह अभिन्नता ऋग्वेद के परवर्ती भागों में पाई जाती है : ऋ० १०. ५५. ५; तु० अवे १०. ८. ३२।

[१] हिल्लेब्रांड्ट, वैमि १. ४६३ एवं आगे; तु०—सूर्य।

[२] तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे, ५३३।

से ही **स्वर्ण** के अर्थ में आया है : ऋ० २. २. ४; ३. ३१. ५; अवे, १२. २. ५३; तैसं, १. २. ७. १; कासं, २. ६; वासं, ४. २६; १९. ९३; पंविंब्रा. ६. ६; शब्रा, ३. ३. ३. ४ आदि। तु०—विशेषण **चन्द्रिन्** : वासं, २०. ३७. ३१. ३१।

चप्य—वासं १९. ८८, मैसं ३. २. ९ कासं, ३८. ३ और शब्रा १२. ७. २. १३; १२. ९. १. ३ में **चप्य** शब्द किसी यज्ञिय पात्र का बोधक है।

चमस—चमस किसी 'पान-पात्र' को, विशेषतः यज्ञिय सोम को धारण करने वाले पात्र को जताता है। ऋग्वेद के समय से ही इसका उल्लेख आम है : ऋ० १. २०. ६; १. ११०. ३; ८. ८२. ७; १०. १६. ८; १०. ९६. ३ आदि; अवे ७. ७३. ३; १८. ३. ५४; वासं, २३. १३ आदि; निरुक्त, ११. २; १२. ३८। यह लकड़ी से बनता था, इसीलिए इसे **द्रु** कहा गया है : ऋ० १०. ६८. ८; १. १६१; १। शब्रा ७. २. ११. २ के अनुसार यह **उदुम्बर** की लकड़ी का बनता था। तु०—त्सिमर, आले, २८०; हिल्लेब्रांड्ट, बैमि०, १. १६७. १६८।

चमू—चमू शब्द ऋग्वेद-काल से ही सोम के संबन्ध में आता रहा है, किंतु इसका अर्थ बहुत कुछ अनिश्चित रहा है। त्सिमर[1] का मत है कि यह उन दो फलकों का बोधक है, जिनके बीच में रखकर सोम को पेरा जाता था—तु०, **अधिषवण**। राथ[2] का यह मत ठीक जान पड़ता है कि यह उस पात्र का वाचक है, जिसमें पिड़ता हुआ सोम इकट्ठा होता था। हिल्लेब्रांड्ट[3] ने बताया है कि जब कभी भी चमू शब्द बहुवचन में आया है, तब इसका सब जगह यही अर्थ है : ऋ० ३. ४८. ५; ८. २. ८; ८. ८२. ७, ८; ९. २०. ६; ९. ६२. १६; ९. ६३. २; ९. ९२. २; ९. ९३. ३; ९. ९७. २१, ३७, ४६; ९. ९९. ६, ८। यह वहाँ बाद के कर्मकाण्डीय पात्रों का समानान्तर है; और कभी-कभी एकवचन और द्विवचन में भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है : ऋ० ९. १०७. १८; १०. ९१. १५; ऋ० ९. ६९. ५; ९. ७१. १; ९. ७२. ५; ९. ८६. ४७; ९. ९६. २०, २१; ९. ९७. २, ४८; ९. १०३. ४; ९. १०७. १०; ९. १०८. १०। कुछ स्थलों पर वे इसे **उलूखल** के अर्थ में लेते हैं, जिसमें सोम को कूटकर उसका रस निकाला जाता था : ऋ० ५. ५१. ४; ८. ४. ४; ८. ७६. १०; ९. ४६. ३; १०. २४. १; १. २८. ९; ४. १८. ३; ६. ५७. २; ९. ३६. १। उनका कहना इस विषय में ठीक हो सकता है; क्योंकि सोम-सवन की यह विधि आर्य-ईरानी काल की है[1]।

ओल्डनबेर्ग का कथन है कि द्विवचनान्त चमू शब्द उन पात्रों का बोधक है जिनमें सोम को, उसे **कोश** में पानी में मिलाकर और चलनी में छान कर रखा जाता था; और जब यह शब्द बहुवचन में आता है तब यह उन विविध पात्रों का बोधक होता है, जिनमें कि सोम को उसके सवन की प्रक्रिया में रखा जाता है। इसी प्रकार कलश शब्द भी एक या बहुत से पात्रों को जताता था, किंतु **कलश** द्विवचन में नहीं आता। बाद के कर्मकाण्ड में **चमू** का स्थान **द्रोण-कलश** एवं **पूतभृत** ने ले लिया, जो कि बाद में **आधावनीय** के साथ एक हो गया, जो कि **कोश** का ही दूसरा नाम है। किंतु **कलश** द्विवचन में क्यों नहीं आता यह सोचने की बात है। फलतः गेल्डनर फिर उसी मत पर आ जाते हैं, जिसके अनुसार चमू उन दो पाषाणों का बोधक है जिनमें कि सोम को पीड़ा जाता था।

शब्रा १३. ८. २. १ में इससे एक कूण्ड अभिप्रेत है, जो या तो ईटों की बनी होती थी, अथवा पत्थर की जिसमें पूर्वी प्रदेश के लोग मृतक को भूमि के संपर्क से बचाने के लिए रखते थे, जैसे कि आजकल की पत्थर की बनी कब्रें या मकबरे होते हैं[3]।

विवरण: मैकडानल, वैमा०, पृ० १०५ एवं आगे।

चरक—चरक का प्रारम्भिक अर्थ है 'विचरण करने वाला' (विद्यार्थी), जो बृउ. ३. ३. १ में पाया जाता है। अधिक विशेषता के साथ यह शब्द कृष्ण यजुर्वेद की **चरक-शाखा** का अभिधायक है, जिसके मतों को शब्रा के कुछ स्थलों पर अस्वीकार किया गया है : शब्रा ३. ८. २४ जहाँ संदर्भ तैसं ६. ३. ९. ६; ६. ३. १०. २ का है; शब्रा ४. १. २. १९; ४. २. ३. १५; ४. ४. १. १०; ६. २. २. १, १०; ८. १. ३. ७; ८. ७. १. १४, २४। वासं ३०. १८ और तैसं ३. ४. १६. १ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में **चरकाचार्य** का भी उल्लेख है[4]।

[1] आले, २७७, २७८।

[2] वोबू; तु०—ग्रासमान, ऋ० १. १५।

[3] वैमि, १. १६४–१७५।

[1] हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, १. १५८, १६४।

[2] द्र०—त्सादामौगे, ६२, ४५९–४७०।

[3] तु०—एगलिंग, सेबुई, ४४. ४३० टि० १; शांश्रौसू १४. २२. १९ में अर्थ संदिग्ध है।

[4] फान श्रोडर, इंदीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, १८८, का मत है कि किसी समय सभी कृष्ण-यजुर्वेदीय संहिताएं **चरक** शाखा के अन्तर्गत थीं। किंतु यह

चरकाचार्य की बलि देना यज्ञ-विधि-संबन्धी कलह का सूचक हो सकता है।

चरक-ब्राह्मण—चरक-ब्राह्मण कोई ग्रन्थ था, जिसके कुछ उद्धरण सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य ८. ६६. १० में दिये हैं[1]।

चराचर—इधर-उधर दौड़ने वाला। याजुष संहिताओं में सरीसृप के साथ चराचर शब्द किसी जानवर का नाम प्रतीत होता है : तैसं, १. ८. १३. ३; कासं १५. ३; मैसं, ३. १२. १०; वासं, २२. २९।

चरु—ऋग्वेद-काल से ही किसी पात्र या कड़ाही के लिए चरु शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ० १. ७. ६; ७. १०४. २; ९. ५२. ३; १०. ८६. १८; १०; १६७. ४; अवे ४. ७. ४; ९. ५. ६; ११. १. १६; ११. ३. १८; १८. ४. १६ एवं आगे। इसे पंचबिल या पांच छेदों वाला बताया गया है : तैसं, १. ६. १. २; कासं, ५. ६; ३२. ६; मैसं १. ४. ४, ९ आदि। इसका एक ढक्कन या अपिधान होता था, और इसमें कुंडे (=अंक) लगे होते थे, जिनसे इसे आग पर बिठाया जाता था : ऋ० १. १६२. १३; अवे १८. ४. ५३। यह पीतल या लोहे का=अयस्मय होता था : शब्रा, १३. ३. ४. ५[2]। इसका गौण अर्थ इसमें पकाया जाने वाला खाद्य है : तैसं, १. ८. १०. १; ऐब्रा १. १; शब्रा, १. ७. ४. ७; २. ५. ३. ४; ३. २. ३. १ आदि।

चर्मण्य—ऐब्रा ५. ३२ में चर्मण्य शब्द चर्म से बने पदार्थ का बोधक है। तु०—शांआ, २. १ द्र०—**चर्मन्**।

चर्मन्—चर्मन् शब्द ऋग्वेद-काल से ही चमड़े के अर्थ में आता रहा है : ऋ० १. ८५. ५; १. ११०. ८; १. १६१. ७; ३. ६०. २; ४. १३. ४ आदि; अ.वे, ५. ८. १३, १०. ९. २; ११. १. ९ आदि; तैसं ३. १. ७. १; ६. १. ९. २ आदि। चर्म (सप्तमी में चर्मे) तैब्रा २. ७. २. २ में पाया जाता है। गो-चर्म से अनेक वस्तुएं—**धनुर्ज्या**, गोफिया, और **लगाम** आदि बनती थीं, द्र०—**गो**। विशेषतः इसे उन फलकों या फलों पर बिछाया जाता था, जिन पर सोम को पत्थर से कूटते थे, और उससे रस निकालते थे[1]: ऋ० १०. ९४. ९; १०. ११६. ४। चमड़े के बैग भी बनते थे : ऋ० १०. १०६. १०[2]। ऐब्रा ५. ३२, (तु०—परिचर्मण्यः शां आ, २. १) में चर्मण्य शब्द "चमड़े के पदार्थ का अभिधायक है। चर्मसंधान (म्ला) चमड़ा कमाने का काम ऋग्वेद को ज्ञात है, जहाँ चर्मम्ना शब्द आता है : ८. ५५. ३ "बाद का सूक्त"; ८. ५. ३८; वासं, ३०. १५; तैब्रा, ३. ४. १३. १। रूप के लिए द्र०—मैकडानल, वैग्रा, पृ० ३८ टि० १; पृ० २४९, टि० ४। यद्यपि इसके विषय में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है, तथापि शब्रा २. १. १. ९ में शंकुओं (=खूँटियों) से चर्म को विस्तृत करने का संकेत आता है; और ऋग्वेद १. ८५. ५ में चर्म को नम करने का उल्लेख मिलता है।

चर्षणि—बहुवचनान्त चर्षणि शब्द ऋग्वेद में सामान्यतः मनुष्यों का वाचक है; अथवा लोगों या जनों (चर से स्फूर्तिमय व्यक्तियों या कृष् से कृषकों) का बोधक है, जो खानाबदोशों का विपर्यास है : ऋ० १. ८६. ५; १. १८४. ४; ३. ४३. २; ४. ७. ४; ५. २३. १; ६. २. २; १०. १८०. ३ आदि। चर्षणियों के राजा (राजा चर्षणीनाम्) का कई बार उल्लेक आया है : ऋ० ३. १०. १; ५. ३९. ४; ६. ३०. ५; ८. ७०. १; १०. १३९ आदि। युद्ध के प्रसंग में भी "जनों" का उल्लेख है : ऋ० १. ५५. १; १. १०९. ६; ४. ३१. ४; ४. ३७. ८; ६. ३१. १ आदि। अवे में पशुओं और चर्षणियों का एक साथ उल्लेख है : १३. १. ३८। पांच चर्षणियों के लिए द्र०—**पञ्चजनाः** (चर्षणयः), ऋ० ५. ८६. २; ७. १५. २; ९. १०१. ९, व्युत्पत्ति के लिये द्र०—मैकडानल, वैग्रा. १८५ और विशेषतः १२२. २ अ जहां इसे चर् से व्युत्पन्न कहा गया है; मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी में कृष् से व्युत्पत्ति बताई गई है।

चषाल—उलूखल के समान ऊपरी आकार वाले चषाल का उल्लेख ऋग्वेद-काल से चलता आया है : ऋ० १. १६२. ६; तैसं ६. ३. ४. २, ७; कासं, २६. ४. आदि; मैसं १. ११: ८ आदि। शब्रा ५. २. १. ६ में इसे गेहूँ के मैदे से बनाने का निर्देश है। तु० एगलिंग, सेबुई २६. १६८, टि० १; ४१. ३१ टि० १।

चाक्र—शब्रा में चाक्र एक व्यक्ति का नाम है, जिसे **रेवोत्तर स्थपति पाटव चाक्र** (शब्रा १२. ८. १. १७) या

मत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह नाम केवल बाद के ग्रन्थों में आता है। विवरण : वेबर, इस्टू, २. २८७ टि० २; ३. २५६, २५७, ४५४; ८७; त्सिमर, आ० ले, २१२।

[1] द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० ४१।

[2] तु०—त्सिमर, आ०ले० २७१। तु०—वेबर, इस्टू, ९. २१६।

[1] द्र०—हिलेब्रांड्ट, वैमि, १. १४८-१५०; १८१. १८३।

[2] त्सिमर ने आ०ले०, २२८ में ओडिसी, १०. १९ से तुलना की है। विवरण : त्सिमर, आ० ले, २२८, २५३।

रेवोत्तर पाटव चाक्र स्थपति (शब्रा १२. ९. ३. १) कहा गया है। वहाँ सृंजयों द्वारा उसके निकाले जाने का उल्लेख है, किंतु उन्होंने उनके राजा दुष्टरीतु को कौरव्य राजा वल्हिक प्रातिपीय के विरोध करने पर भी फिर से लौटा दिया था : शब्रा, १२. ९. ३. १ एवं आगे। उन्हें योद्धा होने की अपेक्षा ऋषि अधिक माना जा सकता है; क्योंकि शब्रा १२. ८. १. १७ में उनका केवल आचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है। तु० स्थपति। द्र० वेबर, इस्टू, १. २०५–२०७; १०. ८५ टि० १; इं० लिट०, १२३; एगलिंग, सेबुई, ४४, २६९ एवं आगे, जिनके पाठ को ऊपर ग्रहण किया गया है।

चाक्रायण—चक्र का वंशज। उषस्त या उषस्ति का यह पैतृक नाम है : बृउ, ३. ५. १; छाउ, १. १०. १; १. ११. १।

चाक्षुष—अवे १६. ७. ७ में चाक्षुष शब्द केवल एक बार आया है। वोबू में इसे सुयामन् का पैतृक नाम बताया गया है। ह्विटनी ने इसे केवल एक विशेषण (दृष्टि-संबन्धी) माना है। द्र० ट्रां० अ० वे०।

चाण्डाल—द्र०–चण्डाल।

चातुर्मास्य—चार महीने पर होने वाला। वैदिक कल्प के अनुसार उस उत्सव को चातुर्मास्य कहा जाता है, जो वैदिक वर्ष के चार मास के तीन प्रमुख मौसमों के आरम्भ में मनाया जाता था : तैंसं, १. ६. १०. ३. ८; तैब्रा, १. ४. ९. ५; २. २. २. २; शब्रा, १. ६. ३. ३६; २. ५. २. ४८; २. ६. ४. १; ५. २. ३. १०; १३. २. ५. २; कौब्रा, ५. १। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मौसम के प्रारम्भ में एक यज्ञ होता था : शब्रा, १. ६. ३. ३६; तु०–१४. १. १. २८; कौब्रा ५. १। यह निश्चित है कि उनमें से प्रथम वैश्वदेव फाल्गुनी पूर्णिमा को होता था; दूसरा 'वरुणप्रघासाः' आषाढ़ी पूर्णिमा को होता था; और तीसरा साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा को होता था जब चन्द्रमा कृत्तिका नक्षत्र में रहता था, : शब्रा २. ६. ३; कौब्रा, ५. १ आदि। किंतु उत्सवों की दो वैकल्पिक तिथियां थीं; उत्सव चैत्री, श्रावणी और आग्रहायणी (मार्गशीर्षी) पूर्णिमाओं को हो सकते थे : शांश्रौसू, ३. १३. १; ३. १४. १, २; ३. १५. १; अथवा वैशाखी, भाद्रपदी और पौषी पूर्णिमाओं को हो सकते थे : काश्रौसू पर देव की पद्धति, पृ० ४३०, ४५०, ४९७। किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में परवर्ती तिथियों का उल्लेख नहीं मिलता; किंतु हो सकता है इनका ज्ञान पहले भी रहा हो; क्योंकि तैसं ७. ४. ८. १, २ और पंविब्रा ५. ९. ८, ११ में फाल्गुनी पूर्णिमा के स्थान में चैत्री पूर्णिमा के दिन नये वर्ष का प्रारम्भ होना माना गया है।

याकोबी का कहना है कि फाल्गुन पूर्णिमा से वर्ष का आरम्भ होना—जिसके लिये अन्य प्रमाण मिलते हैं—इस बात को जताता है कि कभी उत्तरायण में फाल्गुनी पूर्णिमा के साथ भी वर्ष का आरम्भ होता था, ग्रैष्म दक्षिणायन के समानान्तर जब कि सूर्य फल्गुनी में रहता था[1]। ये ज्यौतिष परिस्थियाँ ऋग्वेद-काल में ईसा से चार हजार बरस पहले वर्तमान थीं : ऋ० ७. १०३. ९; १०. ८५. १३[2]। वैकल्पिक तिथियां उस युग को सूचित करती हुई मानी जानी चाहिएँ जब कि दक्षिणायन चैत्री या वैशाखी पूर्णिमा के समानान्तर था। किंतु ओल्डेनबर्ग[3] और थिबो[4] का कहना है कि फाल्गुनी का वसन्त के प्रारम्भ के साथ आना, जो कि एक निश्चित बात है, इस मत के लिए घातक है; और इस तिथि का दक्षिणायन की माघ पूर्णिमा तिथि के साथ मेल बिठाने में कठिनाई नहीं पड़ती जो तिथि कि कौब्रा १३. ९ ने बताई है और जो ज्यौतिष गणना का आधार है[5]। इस प्रकार फाल्गुन की पूर्णिमा को दक्षिणायन से डेढ़ महीने बाद रखा जा सकता है—जैसे कि फरवरी के पहले सप्ताह में जो तिथि कि थिबो के अनुसार भारत में नवीन मौसम के आरम्भ को ईसा से ८०० बरस पहले के आसपास निर्धारित करती है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि तिथि कृत्रिम ही थी; क्योंकि वर्ष तीन मौसमों में विभाजित था, और भारतीय वर्ष कभी भी तीन बराबर काल के मौसमों का नहीं रहा है। अन्य तिथियों में परिवर्तन करना अस्वाभाविक नहीं होगा यदि कोई शाखा अपने वसन्तोत्सव, वैश्वदेव को तबतक स्थगित रखना चाहे जबतक कि वसन्त असलियत में न आ जाय। द्र०–संवत्सर भी।

१७-१८; फाल्गनी का वसन्त से संवन्ध : तैब्रा, १. १. २. ६, ८; शब्रा, १३. ४. १. २-४; इसी प्रकार फाल्गुनी पूर्णिमा को ऋतुओं का मुख कहा गया है : पंविब्रा, २१. १५. २; कासं, ८. १; मैसं, १. ६. ९।

[1] द्र०–इंडियन ऐंटिक्वैरी, २३, १५६ एवं आगे; त्सादामौगे, ४९, २२३ एवं आगे; ५०. ७२. ८१।

[2] तु०–फेस्टग्रुस आन रुडोल्फ फान राथ, ६८ एवं आगे।

[3] त्सादामौगे, ४८, ६३० एवं आगे; ४९. ४७५, ४७६; ५०. ४३३–४५७।

[4] इण्डियन ऐंटिक्वैरी, २४, ८६ एवं आगे।

[5] द्र०–थिबो, ऐस्ट्रोनमी, ऐस्ट्रोलजी, उण्ड माथामटीक

सर्वत्र वसन्त को पहला ऋतु कहा गया है : शब्रा, १. ५. ३. ८-१४; २. १. ३. १; ७. २. ४. २६; ११. २. ७. ३२; १२. ८. २. ३४; १३. ५. ४. २८; तैसं २. १. २. ५; कासं, १३. १. ७ आदि। द्र० वेबर, नक्षत्र, २. ३५२। विवरण: वेबर, नक्षत्र, २. ३२९ एवं आगे; ह्विटनी, जअओसो, १६. ८६, ८७; कीथ, जराएसो, १९०९, ११०१–११०४।

चात्वाल—'अग्निरेष यच्चात्वाल:' शब्रा ७. ११. ३६; 'एष वाव स समुद्रः। यच्चात्वाल:' तैब्रा १. ५. १०. १।

चान्धनायन—वंब्रा, इस्टू, ४. ३७२, ३८३ में आनन्दज का पैतृक नाम चान्धनायन है।

चायमान—ऋग्वेद ६. २७. ५, ८ में अभ्यावर्तिन् का पैतृक नाम चायमान है।

चाष—नीला दार्वाघात या कठफोड़वा पक्षी। ऋवे में तथा यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में चाष पक्षी का उल्लेख है : ऋ० १०. ९७. १३; मैसं, ३. १४. ४; ३. १५. ९; वासं, २४. २३; २५. ७। तु०—त्सिमर, आले, ९२।

चिच्चिक—ऋग्वेद १०. १४६. २ में एक अज्ञात वृषारव पक्षी के साथ चिच्चिक का नाम भी आता है। कौशिक सूत्र २६. २० पर दारिल के अनुसार यह 'चिटक' है। द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे, २६६। तु०—त्सिमर, आले०, ९०; ग्रिफिथ, हिम्स आ दि ऋ०, २. ५८९।

चिति—'यच्चेतयमाना अपश्यंस्तस्माच्चितय:' शब्रा ६. २. ३. ९; 'तद् यत् पञ्च चितीश्चिनोति एताभिरेवैनं तत् तनूभिश्चिनोति यच्चिनोति तस्माच्चितय:' शब्रा ६. १. २. १७; 'पञ्च ह्येतेऽग्नयो यदेताश्चितय:' शब्रा ६. २. १. १६; 'पञ्च तन्वो व्यस्रंसन्त लोमत्वङ् मासमस्थि मज्जा ता एवैता: पञ्च चितय:' श० ६. १. २. १७; ऋतवो हैते यदेताश्चितय:' श० ६. २ १. ३६; 'सप्त योनी : इति चितीरेतदाह' श० ९. २. ३. ४४।

१. चित्ति—मैकीथ के अनुसार ऋग्वेद १. १६४. २९ में चित्ति शब्द (=चीत्कार) के अर्थ में आया है—चटचटा 'सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यम्'। किंतु चित्तिभिः का अर्थ 'ज्ञानैः' संभव है। तु०—निरुक्त २. ९।

२. चित्ति—कुछ स्थलों पर चित्ति शब्द कर्म एवं चेतना के अर्थ में आया है। ऋग्वेद ३. २. ३ में कहा गया है कि देवों ने चित्ति =कर्म द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया—"क्रत्वा दक्षस्य तरुषो विधर्मणि देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः"। तु०—ऋ० ३. ३. ३; ५. ४४. १०; द्र०—ऋ० ८. ४४. १९ वालखिल्यसू ९. ३। अवे ५. ६. १०; ५. २४. १; ६. ४१. १ में चित्ति शब्द आकूति का समानान्तर है।

चित्य:—'चेतव्यो ह्यासीत्तस्माच्चित्य:' श० ६. १. २. १६; 'चेतव्यो ह्यस्य भवति तस्माद् वेव चित्य:' श० ६. १. २. १६।

चित्र—चित्र कई व्यक्तियों का नाम है :—

(क) ऋग्वेद की दान-स्तुति ८. २१. १८ में एक राजा का नाम चित्र है। बृहद्देवता ७. ५८ एवं आगे के अनुसार इस दानस्तुति को सोभरि ने कहा है। वहाँ चित्र को चूहों का राजा बताया गया है। द्र०—बृदे पर मैकडानल का नोट।

(ख) कौउ १. १ में चित्र गाङ्ग्यायनि या गार्ग्यायणि को आरुणि और श्वेतकेतु का समकालीन बताया गया है।

(ग) 'सर्वाणि हि चित्राण्यग्नि:' शब्रा ७. ४. १. २४। तु०—वेबर, इस्टू, १. ३९५; कीथ, शांआ, १६. टि०—१।

(ग) कौब्रा २३. ५ में एक आचार्य के रूप में चित्र गौश्रायणि का उल्लेख है। तु०—वेबर, इस्टू, १. ३९५।

चित्ररथ—विचित्र रथ वाला। चित्ररथ दो व्यक्तियों का नाम है :—

(क) यह एक आर्य राजा का नाम है। ऋग्वेद ४. ३०. १८ के अनुसार तुर्वश-यदुओं के लिए इन्द्र ने चित्ररथ को अर्ण के साथ सरयू (अवध की सरजू) के तट पर पराजित किया था। तुर्वशों के क्रिवि या पञ्चाल जनों के साथ संबन्ध को देखते हुए स्थिति ठीक जान पड़ती है।

(ख) चित्ररथ एक ऐसे राजा का नाम है, जिसके लिए कापेयों ने द्विरात्र नाम का एक विशेष यज्ञ किया था; पंविब्रा २०. १२. ५ के अनुसार जिसके फलस्वरूप चैत्ररथ वंश का केवल एक व्यक्ति ही क्षत्र-पति होता था—बाकी उसके आश्रित होते थे। संभवत: यह इस बात को जताता है कि चैत्ररथि वंश वाले अन्य राजाओं से कुछ भिन्न प्रकार के होते थे; उनके यहां खेल के मुखिया का दरजा अन्य जनों की अपेक्षा कुछ ऊँचा होता था, जिसमें परिवार के मुखिया राजा न होकर सामन्त होते थे।

तु० 'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयंस्तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वंस्तस्माच्चैत्ररथीनामेक: क्षत्रपतिर्जायतेऽनुलम्ब इव द्वितीय:' तां. २०. १२. ५. तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५२, ५३; वेबर, इस्टू, १. ३२; इं० लिट० ५८ टि० १।

चित्ररथ सौर्यवर्चस्—अवे ८. १०. २७ में एक गंधर्व का नाम **चित्ररथ सौर्यवर्चस्** है।

चित्रा—द्र०—**नक्षत्र**। 'ते ह देवाः समेत्योचुः। चित्रं वा अभूम य इयतः सपत्नानवधिष्मेति तद्वै चित्रायै चित्रात्वं चित्रं ह भवति हन्ति सपत्नान् हन्ति द्विषन्तं भ्रातृव्यं य एवं विद्वांश्चित्रायामाधत्ते तस्मादेतत् क्षत्रिय एव नक्षत्रमुपेत्सेज्जिघांसतीव ह्येषसपत्नान् नीव जिगीषते' श. २. १. २. १७; 'त्वष्टा नक्षत्रमभ्येति चित्राम्' तैब्रा. ३. १. १. ९; 'चक्षुर्वा एतत् संवत्सरस्य यश्चित्रापूर्णमासः' तां. ५. ९. ११.

चित्रावसु—'रात्रिर्वै चित्रावसुः। सा हीयं संगृह्येव चित्राणि वसति' शब्रा २. ३. ४. २२.

चिल्वटि—गोब्रा १. २. ७ में एक अज्ञात पशु का नाम चिल्वटि है।

चीपुद्रु—अवे ६. १२७. २ में किसी घाव भरने वाले पदार्थ का नाम चीपुद्रु है। भाष्यकार सायण ने उसे **चीपद्रु** पढ़ा है; और इसे एक वृक्ष माना है। इसका समर्थन कौशिक सूत्र २६. ३४ से होता है, जहाँ अ० वे० ६. १२७ के विनियोग के प्रसङ्ग में पलाश के काष्ठ-खण्ड को अग्नि में डालने का उल्लेख है। ह्विटनी का सुझाव है कि यहाँ पाठ चिपुडु होना चाहियेः ट्रां० अवे, ३७६। द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ०दि अवे, ३५०-३५२, अवे ६२; त्सिमर, आ०ले०, ३८६; राथ और ह्विटनी के पाठों में **शीपुद्रु** है।

चुपुड़िका—चुपुड़िका एक तारे का नाम है, जो **कृत्तिका** नक्षत्र के सात तारों में से एक है। इसका उल्लेख तैसं ४. ५. ४. १ और कासं ४०. ४ में मिलता है। द्र०—**नक्षत्र**।

चुमुरि—**दभीति** के एक शत्रु का नाम चुमुरि है; ऋग्वेद ६. २०. १३; १०. ११३. ९ के अनुसार **इन्द्र** ने **दभीति** के लिए **चुमुरि** और **धुनि** को पछाड़ा था। ऋ० ६. २६. ६ में केवल **चुमुरि** का ही उल्लेख है। **दभीति** के लिए **दासों** या **दस्युओं** के कई बार हराने का उल्लेख मिलता है: ऋ० ४. ३०. २१; २. १३. ९; द्र०—२. १५. ९; ७. १९. ४ भी। ऋग्वेद ६. १८. ८ में इन दोनों का उल्लेख **शम्बर, पिप्रु** और **शुष्ण** के साथ हुआ है, जहाँ **इन्द्र** ने इनका दमन किया है और इनके पुरों को तहस-नहस कर डाला है। इन नामों से मनुष्य अभिप्रेत हैं अथवा दानव, यह बताना कठिन है; किंतु चुमुरि शब्द अनार्य भाषा का प्रतीत होता है, और यह किसी आदिवासी का नाम हो सकता है। द्र०—वाकरनागल, आल्तिन्द ग्रा, १. २२। विवरण : हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. २७५; मैकडानल, वैमा पृ० १६२।

चूड—'यदु वा अतिरिक्तं चूडः सः' शब्रा ८६. १. १४।

चूड भागवित्ति—**भगवित्त** का वंशज। बृउ में **मधुक पैङ्ग्य** के शिष्य का नाम **चूड भागवित्ति** है। बृउ ६. ३. ९ (काण्व=६. ३. १७, १८ माध्यंदिन) काण्व शाखा में चूल पाठ है।

चूर्ण—कौउ १. ४ में **चूर्ण-हस्त** शब्द आया है। चूर्ण अप्सराओं द्वारा प्रयोग में आने वाला कोई सुरभित पाउडर जान पड़ता है।

चेतन—चेतना-युक्त पदार्थों को ऋग्वेदीय काल से ही चेतन कहा गया है: ऋ० २. ५. १; ३. १२. २; ८. १३. १८; ९. ६४. १०; ९. ३१. १; ८. ५१. ९; अवे ९. ४. २१।

चेदि—चेदि एक जन का नाम है, जिसके राजा **कशु** का उल्लेख इन लोगों के साथ ऋग्वेद में केवल एक बार एक दान-स्तुति-सूक्त के अन्त में आया है: ऋ० ५. ३७. ३९। वहाँ उनकी उदारता सर्वश्रेष्ठ बताई गई है। बाद में आर्षकाव्य में उनका उल्लेख **मत्स्यों** के साथ आया है; जो बुन्देलखण्ड में रहते थे[1]। वैदिक काल में भी वे प्रायः उसी क्षेत्र में थे।

चेलक शाण्डिल्यायन—**शाण्डिल्य** का वंशज। शब्रा १०. ४. ५. ३ में एक आचार्य का नाम है।

चैकितानेय—**चेकितान** का वंशज। जैउब्रा १. ३७. ७; २. ५. २ में एक आचार्य हैं। वहीं १. ४२. २ में चैकितानेयों का उल्लेख उनके उपास्य सामन् के प्रसङ्ग में आया है। बृउ १. ३. ४ में एक सामन् के प्रसङ्ग में **ब्रह्मदत्त चैकितानेय** का उल्लेख है। षब्रा ४. १ और वंब्रा[2] में **वासिष्ठ चैकितानेय** का उल्लेख है। यह शब्द (शंकराचार्य बृउ के उक्त स्थल के भाष्य के अनुसार 'चैकितान' से बना एक पैतृक नाम है) 'चैकितान' से बना है[3] और आर्ष काव्य में भी आया है।

चैकितायन—**चिकितायन** का वंशज (शंकरभाष्य, छां उ० १. ८. १) अथवा "**चकित** का वंशज" (वोबू)। छा उ० १. ८. १ में **दाल्भ्य** का पैतृक नाम चैकितायन है।

---

[1] द्र०—लास्सन, इं. आल्तरथुम्स कुंद, १२, ६८८टि० ३; त्सिमर, आले, १२९; पार्जिटर, जराए-सो; १९०८, ३३२; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०२।

[2] इस्तू, ४. ३७३, ३८४।

[3] द्र० वोबू।

१–चैत्र—कासं २१.४ में **यज्ञसेन** का पैतृक नाम है।

२–चैत्र—द्र०–**मास**।

चैत्ररथि—द्र०–**चित्ररथ** और **सत्याधिवाक्**।

चैत्रायण—तैसं ५. ३. ८. १ में **यज्ञसेन** का पैतृक या मातृक नाम चैत्रायण है।

चैद्य—द्र०–**चेदि**।

चैलकि—**चैलक** का वंशज। शब्रा २. ३. १.३४ में **जीवल** का पैतृक नाम चैलकि है।

चोर—तैआ के अन्तिम प्रपाठक १०. ६५ में चोर शब्द आया है। चोर के लिए पहले वैदिक शब्द हैं: **तस्कर, तायु, स्तेन,** और **परिपन्थिन्**।

च्यवतान मारुताश्व—**मरुताश्व** का वंशज। ऋग्वेद की एक दान-स्तुति ५. ३३. ९ में स्पष्टतः एक राजा का नाम है। संभवतः दो व्यक्ति अभिप्रेत हों, तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५५।

च्यवन, च्यवान—च्यवन या च्यवान एक प्राचीन ऋषि का नाम है। च्यवन शब्द ऋग्वेद के अतिरिक्त प्रायः सभी वैदिक साहित्य, निरुक्त, ४. १९ और आर्षकाव्य में आया है; ऋग्वेद में प्रायः 'च्यवान' रूप आता है। ऋग्वेद में एक जराग्रस्त ऋषि का नाम **च्यवान** है, जिन्हें **अश्विनों** ने यौवन और सौन्दर्य प्रदान कर पत्नी का प्रिय और युवतियों का पति बनाया था: ऋ० १. ११६. १०; १. ११७. १३; १. ११८. ६; ५. ७४. ५; ७. ६८. ६; ७. ७१. ५; १०. ३९. ४। शब्रा ४. १. ५. १ में यह कथा अन्य प्रकार से है, जहाँ **शर्यात** की कन्या **सुकन्या** से उनके विवाह का वर्णन है। उन्हें वहाँ **भृगु** या आङ्गिरस बताया गया है; और पहली बार एक तालाब में डुबकी लगाकर उनके नवयौवन प्राप्त करने का उल्लेख है, जिसका जिक्र परवर्ती साहित्य में अनेक बार आया है। च्यवान के संबन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण आख्यान ऋग्वेद के दुरूह सू० १०. ६१. १-३ में आया है, जहाँ **इन्द्र** के उपासक **पक्थों** के राजा **तूर्वयाण** का उनसे विरोध दिखाया गया है, जो स्वयं **अश्विनों** के उपासक हैं। पिशल, वैस्टू, १. ७१. ७७ की यह व्याख्या जैब्रा ३. १२१-१२८ से समर्थित होती है, जहाँ **भृगु** के दूसरे पुत्र **विदन्वन्त्** द्वारा की गई **इन्द्र** के विरुद्ध उनकी सहायता का उल्लेख आता है[1]। यह ध्यान देने योग्य है कि शब्रा ४. १. ५. १३ के अनुसार **सुकन्या** के अनुरोध पर **अश्विनों** को यज्ञ में भाग दिया गया था। किंतु इन्द्र और **च्यवन** के वैर का शमन हो गया होगा, क्योंकि ऐब्रा ८. २१. ४; पिशल, उपर्युक्त, १. ७५ के अनुसार च्यवन ने **शर्यात** को **ऐन्द्र महाभिषेक** से अभिषिक्त किया था। पंविब्रा १३. ५. १२; १९. ३. ६; १४. ६. १०; ११. ८. ११ के अनुसार च्यवन साम-मन्त्रों के द्रष्टा थे। तु० 'च्यवनो वै दाधीचोऽश्विनोः प्रिय आसीत्। सोऽजीर्यत तमेतेन (वीङ्केन) साम्नाप्सु व्यैङ्कयतान्तं पुनर्युवानमकुरुताम्' तां० १४. ६. १०; 'सा (सुकन्या) होवाच (हेऽश्विनौ) पतिं (च्यवनं) नु मे पुनर्युवाणं कुरुतम्' शब्रा ४. १. ५. ११। तु०–म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. २४३; २५०–२५४; लुड्विग, ट्रां०, ३. १५६; मैकडानल, वैमा, पृ० ५१, ५२; हापकिन्स, जअओसो, २८. ४३ एवं आगे; ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५६. ५७।

च्यावन—साम। 'एभ्यो वै लोकेभ्यो वृष्टिरपाक्रामत्। तां प्रजापतिश्च्यावनेनाच्यावयद् यदच्यावयत् तच्च्यावनस्य च्यावनत्वम्। च्यावयति वृष्टिं च्यावनेन तुष्टुवानः' तां० १३. ५. १३; 'प्रजापतिर्वै च्यावनं प्रजायते बहुर्भवति च्यावनेन तुष्टुवानः' तां० १३. ५. १२; प्रजापति र्वै च्यावनम्' तां० १९. ३. ६।

छ

छग—तैसं ५. ६. २२. १ में **छग** अज या बकरी का नाम है। तु०–**अज** और **छाग**।

छदिस्—ऋग्वेद (१०. ८५. १० सूर्या के विवाह-रथ) में और प्रायः परवर्ती साहित्य (तैसं, ६. २. ९. ४; ६. १०. ५. ७; वासं, ५. २८; ऐब्रा, १. २९; शब्रा, ३. ५. ३. ९ आदि) में छदिस् शब्द किसी गाड़ी, घर, छप्पर या खपरैल को जताता है। वेबर का विचार है कि अवे ३. ७. ३ में यह शब्द किसी नक्षत्र का बोधक है, और ह्विटनी बिना यह देखे कि यह अर्थ आवश्यक है या नहीं कुम्भ राशि के कुछ नक्षत्रों को अभिप्रेत मानते हैं; क्योंकि अगले मन्त्र में "विचृतौ" का उल्लेख है, जो **वृश्चिक** राशि से संबन्ध रखते हैं और कुम्भ से बहुत दूर नहीं हैं। द्रष्टव्य **छर्दिस्**। द्र०–ह्विटनी, ट्रां० अ०, ९५; तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे, ३३६।

छदिश्छन्द—'अतिच्छन्दा वै छदिश्छन्दः। सा हि सर्वाणि छन्दांसि छादयति' शब्रा ८. २. ४. ५; 'अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः' शब्रा ८. ५. २. ६।

१. छन्दस्—ऋग्वेद में छन्दस् शब्द प्रायः "स्तुति-मन्त्र" या सूक्त का बोधक है: १०. ८५. ८; १०. ११४. ५; अवे ४. ३४. १; ५. २६. ५; ६. १२४. १; ११.

[1] तु०–ग्रिफिथ, हिम्स आ दि ऋ० २. ४६५।

७. ८ आदि। √छन्द् धातु से व्युत्पन्न हुए इस शब्द का अर्थ 'आकर्षक मन्त्र' या 'जादू का मन्त्र' प्रतीत होता है, जिसे देवों पर प्रभाव उत्पन्न करने वाला माना जाता था[1]। ऋग्वेद के एक बहुत ही बाद के सूक्त १०. ९०. ९ में और अवे ११. ७. २४ में बहुवचन में यह शब्द (छन्दांसि) **ऋच्**, **सामन्** और **यजुस्** के साथ आया है; और अपने मौलिक अर्थ के अनुसार संभवतः अवे के विषय को लक्षित करता है। मात्रिक सूक्त को उद्दिष्ट करने के कारण ऋग्वेद के एक बहुत बाद के सूक्त १०. १४. १६ में इसका अर्थ मात्रा या छन्द है, जहाँ गायत्री, त्रिष्टुभ् और सब छन्दों का उल्लेख है। परवर्ती संहिताओं में तीन छन्दों (अवे, १८. १. १७; वासं १. २७ आदि) या सात छन्दों (अवे ८. ९. १७, १९) का उल्लेख है। शब्रा ८. ३. ३. ६ आदि में आठ छन्दों का उल्लेख है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के समय से छन्दों की गंभीर परख का उल्लेख मिलता है, यद्यपि मात्राओं की गणना का संदर्भ पहले भी प्राप्य है : ऋ० प्रा०, १६. १ एवं आगे[2], कासं, १४. ४; तैसं, ६. १. २. ७। बाद में सामान्यतः छन्दस् शब्द वैदिक साहित्य का बोधक बन जाता है, जैसे कि शब्रा ११. ५. ७. ३ में और गोगृसू, ३. ३. ४, १५ आदि में। तु० 'छन्दांसि छन्दयन्तीति वा' दे० ३. १९; 'तान्यस्मै (प्रजापतये) अच्छदयंस्तानि यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छन्दांसि' शब्रा ८. ५. २. १; (देवाः) 'तं (सोमं) छन्दोभिरसुवन्त तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' तैब्रा २. २. ८. ७; 'न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्' ऐ० १. ६. २. ३७; 'नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्यां न स्तोत्रियया स्तोमः' शब्रा १२. २. ३, ३; 'न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति नो द्वाभ्याम्' कौब्रा २७. १; 'सप्त वै छन्दांसि' कौब्रा १४. ५; शब्रा ९. ५. २. ८; 'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' तैब्रा ३. २. ९. ३; 'छन्दांसि वै वाजिनः' गो० उ० १. २०; =पशवः, शब्रा ७. ५. २. ४२; ऐब्रा ४. ११; =दिशः, शब्रा ८. ३. १. १२; =रसः, शब्रा ७. ३. १. ३७; =इन्द्रियं वीर्यम्, तां० ६. ९. २६; =प्राणाः, कौब्रा ७. ९; ११. ८; =देव्यः, शब्रा ९. ५. १. ३९; =साध्या देवाः, ऐब्रा १. १६; =देवाः प्रातर्यावाणः, शब्रा ३. ९, ३. ८; =ग्नाः, शब्रा ६. ५. ४. ७; प्रजापति के अङ्ग, ऐब्रा २. १८; हिरण्यम् ऋतं च, शब्रा ६. ३. १. ४२; =लोमानि, शब्रा ६. ४. १. ६; =सावित्री, गो० पू० १. ३३।

२. छन्दस्—अवे ३. १२. ३ में **बृहच्छन्दस्** शब्द घर का विशेषण है; यहाँ **छन्दस्** का अर्थ छत प्रतीत होता है। ब्लूमफील्ड[1] ने इस पाठ को स्वीकार किया है; किंतु ह्विटनी ने **छदिस्** के रूप में सुधार करना आवश्यक समझा है[2]।

[1] तु०-राथ, वोबू।

[2] तु०-मैक्समूलर, सेबुई, ३२. ९५ एवं आगे।

छन्दोग—छन्द गाने वाला। साम गान करने वालों को छन्दोग कहा गया है; क्योंकि सामवेद के छन्द-आर्चिक के नियमों के अनुसार इनका गान होता था। यह शब्द शब्रा १०. ५. २. १० में और सूत्रों में आया है : बौश्रौसू, २. २; २२. ४; शाश्रौसू, १०. ८. ३३; १३. १ आदि। तु०-ओल्डेनबर्ग, गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन १९०८, ७२०।

छन्दोम—स्तोमविशेष। 'तद् यच्छन्दोभिर्मितास्तस्माच्छन्दोमाः' कौब्रा २६. ७; 'अस्तोमा वा एते ये छन्दोमाः' तां० ३. ९. ३; =पशवः, ऐ० ५. १६, १७, १८, १९; तां० ३. ८. २; 'तान् छान्दोमास्त उ पुष्टिरित्याहुः' तां० १०. १. २१; 'तम इव वा एतान्यहानि यच्छन्दोमास्तेभ्य एनेन (भासेन) साम्ना विवासयति' तां० १४. ११. १५; 'नाथविन्दून्येतान्यहानि यच्छन्दोमा नाथमेवैतैर्विन्दते' तां० १४. ११. २३; 'उग्रगाधमिव वा एतद् यच्छन्दोमास्तद् यथाद उग्रगाधे व्यतिषज्य गाहन्त एवमेवैतद् रूपे व्यतिषजति छन्दोमानामसंव्याथाय' तां० १४. ८. ४, ८; 'छन्दांस्येव छन्दोमानामायतनम्' तां० १०. १. १९।

छर्दिस्—ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द आता है, जिसका अर्थ है सुरक्षित निवास-स्थानः ऋ० १. ४८. १५; १. ११४. ५; ६. १५. ३; ६. ४६. ९, १२ आदि; तैसं, ४. २. ९. २; ४. ३. ६. १; वासं, १३. १९; १४. १२। यह शब्द अशुद्ध रूप में लिखा हुआ पाया जाता है; क्योंकि छन्द की मात्रा के अनुसार आदि में ह्रस्व होना चाहिए। राथ का सुझाव है कि इसके स्थान पर छदिस् पढ़ना चाहिए[3]। किंतु छदिस् छप्पर के अर्थ में आता है, जब कि छर्दिस् का यह अर्थ कभी नहीं होता। अतः बार्थोलोमी का यह सुझाव कि यथार्थ शब्द छडिस् है उचित प्रतीत होता है।

छाग—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में छाग शब्द अज या बकरी के अर्थ में अनेक बार आया है : ऋ०—१. १६२.

[1] हिम्स आफ दि अवे, ३४५; त्सिमर, आले, १५०।

[2] ट्रां० अवे, १०५।

[3] वोबू; ओल्डेनबर्ग, प्रोलेगोमेना, ४७७-

[4] स्तूदियन, १. ४७ : २. ५८।
विवरण : वाकरनागेल, आल्ति० ग्रा, १. १२. टि० २; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ५५, ३१२।

३; वासं, १९, ८९; २१. ४०, ४१; शब्रा, ३. ३. ३. ४; ५. १. ३. १४; मैसं, ३. ११. २। द्र०—छग, अज।

छाया—'मृत्युर्वै तमश्छाया' ऐब्रा. ७. १२।

छिद्रकर्णी—द्र०—अष्टाकर्णी।

छुबुक—ऋग्वेद १०. १६५. १, अवे २. ३३. १, शब्रा, १०. ६. १. ११; पारगृसू, ३. ६ प्रभृति में छुबुक शब्द चिबुक या ठोढ़ी के अर्थ में आया है। द्र०—शरीर।

ज

जगत्—गतिमान्। अवे एवं परवर्ती साहित्य में कभी-कभी यह शब्द वन्य पशुओं (=श्वपद्) के विपरीत पालतू पशुओं के लिये आया है: अ. ८. ५. ११। कुछ अवसरों पर केवल गौ का उल्लेख अलग होता है, एवं अन्य सभी पालतू पशुओं को जगत् कहा जाता है: अवे १. ३१. ४; १०. १. २९; १९. ४७. १०; वासं ३. ५९। ऋग्वेद में यह शब्द सामान्यतः पशु के लिए प्रयुक्त हुआ है। किंतु तु०—'जगती', ऋ० १. १५७. ५; ६. ७२. ४। विवरणः त्सिमर, आ०ले १५० टि०।

जगती १—जगती शब्द कुछ स्थलों पर जगत् के अर्थ में आया है। कहा गया है कि 'युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थः' =ऋ० १. १५७. १५। तु०—ऋ० ६. ७२. ४; निघण्टु, २. ११; वासं १. २१ आदि।

जगती २—जगती एक प्रमुख वैदिक छन्द है, जिसका उल्लेख ऋग्वेदीय साहित्य में भी पाया जाता है: ऋ० १०. १३०. ५; अवे ८. ९. १४, २०; १९. २१. १; शब्रा, १. ७. ३. २५; ६. २. १. २९; १३. १. ३. ८; ऐब्रा १. ५; ३. २५; ४. ३; छांउ, ३. १६. ५; ऋप्रा, १६. ४९; निरुक्त ७. १३। 'जगती गततमं छन्दो जज्जगतिर्भवति क्षिप्रगतिर्जज्मला कुर्वन्नसृजतेति हि ब्राह्मणम्' देवताध्याय ३. १७; 'इयं पृथिवी वै जगती' शब्रा. १२. ८. २. २०; 'या सिनीवाली सा जगती' ऐब्रा. ३. ४७; 'या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती' ऐब्रा. ३. ४८; 'ब्रह्म ह वै जगती' गो उ. ५. ५; 'पशवो वै जगती' गोउ. ५. ५; कौब्रा १६. २; शब्रा ३. ४. १. १३; जागताः पशवः' कौब्रा ३०. २; 'जागतोऽश्वः प्राजापत्यः' तैब्रा. ३. ८. ८. ४; 'जागतो वै वैश्यः' ऐब्रा. १. २८; 'जगती प्रतीची दिक्' श. ८. ३. १. १२; 'जगत्यादित्यानां पत्नी' गो उ. २. ९; 'जागतेऽमुष्मिलोके जागतोऽसावादित्योऽध्यूढः' कौब्रा १४. ३; 'त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः' तां.४. ६. २३; 'श्रोणी जगत्यः' शब्रा ८. ६. २. ८; 'अनूकं जगत्यः' शब्रा ८. ६. २. ३; 'योऽयमवाङ् प्राण एष जगती' शब्रा १०.३. १. १; 'बलं वै वीर्यं जगती' कौब्रा ११. २; 'जगत्येव यशः' गो.पू. ५. १५; 'द्वादशाक्षरपदा जगती' षब्रा २. १; 'अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती' शब्रा ६. २. २. ३३।

जघन—जघन शब्द ऋग्वेद-काल से ही जङ्घा के अर्थ में आया है: ऋ० १. २८. २; ६. ७५. १३; ५. ६१. ३; अवे १४. १. ३६; तांब्रा, २. ४. २. ७; तैसं, २. १. ४. ५; निरुक्त, ९. २०। द्र० शरीर।

जङ्गिड—अवे के सूक्तों में घाव भरने वाले एक पौधे के (रूसा) रूप में जङ्गिड का उल्लेख है: २. ४; १९. ३४, ३५, इसे तक्मन्, बलास, आशरीक, विशरीक, पृष्ट्यामय, (अ० वे० १९. ३४. १०), ज्वर, वात-पीड़ा विष्कन्ध, संस्कन्ध (अ०वे० २. ४. १; १९. ३४. १, ५), और जम्भ आदि को हटाने के लिये ताबीज के रूप मे बाँधा जाता था। किंतु इसे सभी रोगों के लिये सामान्य ओषधि एवं सर्वश्रेष्ठ घाव भरने वाली दवा बताया गया है: अ०वे० १९. ३४. ९, ७। इसे कृषि के रस (अवे २. ४. ५) के रूप में उत्पन्न हुआ बताया गया है; किंतु इसका अर्थ इतना ही है कि यह जोते हुए खेत में उत्पन्न होता था, न कि इसकी खेती की जाती थी। यह वस्तुतः किस पौधे का नाम था, यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता, क्योंकि परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता। कालण्ड[1] ने कौशिकसूत्र में इसे टर्मिनेलिया अर्जुनेया (Terminalia arjuneya) माना है।

जङ्घा—जङ्घा टांगों के लिये प्रयुक्त हुआ है: ऋ०—१. ११६. १५; १. ११८. ८; अवे, ४. ११. १०; ९, ७. १०; १०. २. २; १०. ९. २३; १९. ६०. २; वासं २०. ९; २५. ३; ऐब्रा ७. १५; शांश्रौसू, ४. १५. २८; कौसू १८ आदि। द्र० शरीर।

जठर—जठर शब्द उदर के अर्थ में आया है: ऋ १. ५४. १०; ३. २. ११; १. ९५. १०; २. १६. २; २. २२. २; ३. २२. १; ३. ३५. ६; वासं २०. ४५; अवे, १३. ३. ४ आदि। तु० 'मध्यं वै जठरम्' श. ७. १. १. २२।

जतू—भङ्गारी या एक पक्षिविशेष। अवे ९. २. २२ में तथा अश्वमेध की एक बलि के रूप में मैसं ३. १४. ६, वासं २४. २५, २६ में इसका उल्लेख है। त्सिमर, आले, ८६।

[1] आल्तिन्दिश्शेस त्साउबर रितुआल; कौ०सू० ८. १५ का अनु०। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४३३; ह्विटनी, ट्रां. अथर्ववेद, ४२; वेबर, इस्तू, १३.१४१; ग्रोहमान, वही, ९. ४१७; त्सिमर, आ०ले, ६५. ६६. ३९०।

जन—एक **व्यक्ति** (=जने) के अर्थ के अतिरिक्त जन शब्द सामूहिक रूप से एक **जाति** या **कबीले** के अर्थ में ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में आता रहा है। इस प्रकार **पञ्च जनाः** या **जनासः** का प्रयोग आम हुआ है; और ऋग्वेद ८. ६. ४६, ४८ के एक सूक्त में **याद्व जन** और **याद्वाः** पर्याय शब्द हैं। फिर **राजा** को **जन** का (=जनस्य) गोपा : [ऋ. ३. ४३. ५; इसी प्रकार सोम को जन का गोपति ऋ. ९. ३५. ५] बताया गया है; और 'राजा+जन' से संबद्ध संदर्भ अनेक हैं : ऋ. ५. ५८. ४। **'भारत जन'** का उल्लेख मिलता है : ऋ. ३. ५३. १२ (द्र० **भरत** तु० १०. १७४. ५=अ वे १. २९. ६)। हापकिन्स[1] का यह कहना कि यहां **जन** का अर्थ **खेल** या **ग्राम** है, **जन** नहीं, संदेहास्पद है।

यह बताना कठिन है कि **जन** (=जनता) का ठीक-ठीक विभाजन क्या था। त्सिमर[2] ऋग्वेद २. २६. ३ के आधार पर कहते हैं कि **जन विशों** में विभक्त था; **विश् संयुक्त परिवारों**, **ग्राम** या **वृजन** में विभक्त थे; और ये अलग-अलग परिवारों में। उनका विचार है कि ये चार विभाग प्रसक्त स्थल में प्रतिबिम्बित हैं: **जन, विश्, जन्मन्** और **पुत्राः** में; साथ ही वह कहते हैं कि एक ग्राम-बिरादरी का आधार 'रिश्ता' या 'संबन्ध' था। किंतु इस बात में संदेह है कि **जन** का यह विभाजन कहां तक समुचित है। **जन** का कई **विशों** में विभाजन संभव हो सकता है, क्योंकि ऋग्वेद[3] १०. ८४. ४ में **विश्** को **योद्धाओं की एक इकाई** बताया गया हैं; और इस प्रकार यह इस बात को सूचित करता है कि होमरिक युग एवं प्राचीन जर्मनी की तरह भारत में भी सैन्य-व्यवस्था में रिश्ते या संबन्ध को उचित आधार समझा जाता था। किंतु **विश्** का अनेक **ग्रामों** में विभाजन बहुत ही संदिग्ध है। त्सिमर[4] मानते हैं कि न तो **ग्राम** (ऋ. ३. ३३. ११) में ही और न **वृजन** (ऋ. ७. ३२. २७; १०. ४२. १०) में खास तौर से **विश्** के उपविभाग होने का भाव मिलता है, जब कि युद्ध के प्रसंग में इनका नाम आता है, वहाँ पर तो इनका अर्थ होता है 'शस्त्र-सज्जित फौज'। वे ग्राम-समुदाय का दूसरा पर्याय **व्रा** (ऋ. १. १२६. ५, विश्या इव व्राः) और **व्राज** (१०. १७९, २; अ वे ७. ७२. २) में ढूंढते हैं; किंतु इस प्रसङ्ग में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि प्रथम संदर्भ असाधारण रूप से संदिग्ध है[1], जब कि दूसरे का युद्ध से कोई संबन्ध ही नहीं है। फलतः यह कहना कठिन है कि **ग्राम** का **विश्** से या **परिवार** (=कुल अथवा गोत्र) से वैदिक युग में क्या संबन्ध था। **ग्राम** और **विश्** दोनों का अर्थ अनियत होने से यह भ्रम और भी अधिक बढ़ जाता है। यदि **विश्** को एक स्थानीय विभाग मानें तो **ग्राम** जिले का अङ्ग होगा; किंतु यदि **विश्** रिश्ते या संबन्ध की एक इकाई थी, तब एक **ग्राम** में अनेक **विशों** के परिवार हो सकते हैं; और कभी एक **ग्राम** एक ही **विश्** का समानाधिकरण भी हो सकता है; और कभी-कभी उसमें **विश्** का कोई एक अंश निवास कर सकता है। कुछ भी हो, वर्ण-व्यवस्था के उभर आने पर, मौलिक परिस्थिति में भारी परिवर्तन आया होगा। **जनों** के मूल तत्त्व कुटुम्ब में प्रतिनिहित थे—यह एक कुटुम्ब भी हो सकता था, जो एक घर (=कुल) में रहता था; और बहुधा अनेक भाइयों के परिवारों का संयुक्त परिवार भी हो सकता था, अथवा पिता के साथ रहने वाले भाइयों का वंशपति-निर्भर एक परिवार भी हो सकता था—ये तत्त्व प्रतिनिहित थे 'खेल' में भी जो कि बाद में **गोत्र** कहलाया, और जिसमें वे सभी संमिलित थे, जो अपने आप को एक पूर्वज से पैदा हुआ मानते थे। गोत्र को लैटिन गन्स (gens) का और ग्रीक गेनोस (genos) का समकक्ष मान सकते हैं; और संभवतः **विश्** को क्यूरिया (curia) का एवं ग्रीक फ्रेत्रे (phretre) का समकक्ष। इन तीनों विभागों का ईरानियन **विश्, ज्ञन्तु** और **दक्यू** से सामानाधिकरण्य माना जा सकता है; जहाँ कि **विश्** शब्द का प्रयोग यह प्रकट कर सकता है कि भारतीय **विश्** में स्थान का इतना भाव नहीं था जितना कि खूनी संबन्ध का; और संभवतः यही बात दीख पड़ती है टैसीटस द्वारा जर्मानिया[3] में

[1] रिलिजन्स आफ इण्डिया, २६, २७; यह सच है कि **भरतों** को 'गव्यन् ग्रामः' (=वाजान्वेषी समूह) कहा गया है, ऋ. ३. ३३. ११; किंतु ग्राम का तो वहाँ सामान्य प्रयोग है।

[2] आ. ले. १५९. १६०।

[3] विशः का भी वैसे स्थलों पर वही अर्थ हो सकता है: ४. २४. ४४. ५. ६१. १; ६. २६. १; ७. ७९. २; ८. १२. २९; किंतु यह आवश्यक नहीं कि अर्थ यही हो। किंतु १०. ९१. २ में **विश्** और **जन** में विरोध स्पष्ट है।

[4] उपर्युक्त १६१; वे. ऋ. ५. ५३. ११ पर भी निर्भर है, जिसमें मरुतों को **शर्ध, व्रात** और **गण** में विभक्त किया गया है; किंतु ये शब्द संदिग्धार्थक हैं।

[1] तु० पिशल वेस्तू, २. १२१, ३१९।

[2] तु० इलियड, २. ३६२.

[3] त्सिमर ने दूसरे सभी कारण दिये हैं, जिनके लिए तु० श्राडर, प्रिहिस्टोरिक एण्टिक्विटीज़, ३९३ एवं आगे; ठीक समानान्तरता नहीं उपस्थापित की जा सकती।

वर्णित प्राचीन जर्मन राज्य-व्यवस्था में जहां कि विभाजन इस प्रकार है: **विकुस, पगुस** और **सिविटस**। ऋग्वेद १०. ९१. २ में (जहाँ जनंजनम् और विशंविशम् आते हैं, और जहाँ विपरीतता दिखाना लक्ष्य है) में कुटुम्ब **जन** का तृतीय तत्त्व दीख पड़ता है, जहाँ कि **गृह** का विपर्यास **जन** और **विश्** के साथ दिखाया गया है। और संभव यह भी है कि ऋ. ८. ८२. १ में **अध्वर** (=पारिवारिक यज्ञ) का **जन** और **विश्** के यज्ञ से विपर्यास दिखाया गया है; न कि त्सिमर[१] के कथनानुसार, **ग्राम** का दो बड़ी इकाइयों के साथ। किंतु वैदिक भारतीयों के भेदवाद की यह एक विशेषता ध्यान देने योग्य है कि जहाँ एक राजा तक विशेष अग्नि को बराबर प्रज्वलित रखता था जिसे कि **जन** की अग्नि समझा जा सकता था, वहाँ किसी ऐसे कर्मकाण्ड का पता नहीं चल पाता जिसे कि राजा और एक गृहस्थ व्यक्ति के बीच का कर्मकाण्ड माना जा सके। राज्य में महत्त्वपूर्ण तत्त्व दो थे—**गोत्र** और **जन**, जैसे कि गेन्स और **ट्राइब्स** और गेनोस (genos), फुगोन (phugon)। यह हो सकता है कि प्राचीन साहित्य में **विश्** कभी-कभी उसी अर्थ को जताता हो जिसे कि परवर्ती साहित्य में **गोत्र** जताता है। द्रष्टव्य **विश्**।

ब्राह्मणकालीन समाज के संविधान को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है। **कबीला** या **जन** अब भी था; और वह पूर्वकल्पित था; किंतु अब **विश्** में विभाजन समाप्त हो जाता है। अब विभाजन का आधार **वर्ण** बन जाता है, किंतु उन बहुत से उपविभागों का आधार, जिनमें कि एक **वर्ण** विभक्त दीख पड़ता है, आंशिक रूप से **गोत्र** को माना जा सकता है।

२. जन शार्कराक्ष्य—**शर्कराक्ष** का वंशज। शब्रा १०. ६. १. १ में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख आया है। छाउ. ५. ११. १; ५. १५. १ में भी ये आये हैं। वे **अश्वपति कैकेय, अरुण औपवेशि** तथा इनके पुत्र **उद्दालक आरुणि** के समकालीन थे।

जनक—**विदेहराज जनक** का शब्रा. ११. ३. १. २; ११. ४. ३. २०; ११. ६. २. १ आदि; बृउ. ३. १. १; ४. १. १; ४. २. १; ४. ४. ७, ५. १४. ८, जैब्रा १. १९. २; २. ७, ६ और कौउ. ४. १ में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे **याज्ञवल्क्य वाजसनेय** श. ब्रा. ११. ३. १. २; ११. ४. ३. २०; बृ.उ., उपर्युक्त, जै.ब्रा, उपर्युक्त **श्वेतकेतु आरुणेय** के एवं अन्य अनेक ऋषियों (श. ब्रा. ११. ६. २. १ एवं आगे) के समकालीन थे। काशी के **अजातशत्रु** (कौ. उ ४. १; बृ. उ. १. १. १) के समय में ही वे ब्रह्म की एकान्तता पर बल देने के कारण ख्यातनामा बन गये थे। यह स्मरणीय है कि उन्होंने **कुरुपञ्चाल** के ब्राह्मणों से—जैसे कि **याज्ञवल्क्य**, और **श्वेतकेतु**—अपना संबन्ध बनाये रखा था और इससे इस बात का पता चलता है कि औपनिषद ज्ञान का क्षेत्र **कुरुपञ्चाल** था न कि पूरब। श. ब्रा. ११. ६. २. १० में उनके **ब्राह्मण** (=**ब्रह्मा**) बन जाने का जिक्र आता है। किंतु इससे वर्ण-परिवर्तन की सूचना नहीं मिलती, अपितु इतना ही प्रतीत होता है कि ज्ञान में **जनक ब्राह्मण** बन गये थे (देखिये **क्षत्रिय**)। परवर्ती साहित्य में भी कभी-कभी जनक का जिक्र आता है। तैब्रा. ३. १०. ९. ९ में वे पूर्णतः पौराणिक बन गए हैं; शांश्रौसू १६. २६. ७ में **सप्तरात्र नामक यज्ञ** का विधान उनके नाम पर आता है।

जनक को **अजातशत्रु** का समकालिक बताया जाता है; और **अजातशत्रु** को पाली साहित्य[१] के **अजातसत्तु** का तदात्म बताया जाता है; इससे इनका काल ई० पू०[२] षष्ठ शतक का अन्त निकलता है; किंतु इन दोनों के तादात्म्य के संबन्ध में भारी संदेह है: **अजातशत्रु** काशी के राजा थे, जब कि **अजातसत्तु** मगध के राजा थे, काशी से उनका संबन्ध केवल **कोसल-राज पसेनदि** की कन्या से विवाह करने पर हुआ था[३]। साथ ही इस काल-क्रम को स्वीकार कर लेने पर भारतीय दर्शनक्रम के इतिहास की श्रृङ्खला को ठीक बिठाना कठिन हो जाता है: क्योंकि इससे बौद्ध धर्म का विकास उपनिषद्-दर्शन के साथ-साथ जा पड़ता है; जब कि यह पूर्णरूपेण निश्चित है कि प्राचीन उपनिषद् बुद्ध-काल से कहीं पहले के हैं[४]। **बिम्बिसार** और **पसेनदि** का या बौद्ध-साहित्य में ज्ञात किसी भी अन्य राजा का वैदिक साहित्य में नाम तक नहीं मिलता।

[१] आ० ले०, ४३५.

[२] हिल्लेब्राण्ट्, वैमि. २. १२६।
विवरण: मैक्डानल, संस्कृत लिटरेचर, १५८; फान श्रोडर, इन्दीन्स लितूरात्यूर उन्द कुल्तूर ३२-३३; त्सिमर, आल्टिन्डिशेस लेबेन १५९.

[१] विंसेन्ट स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, २६ एवं आगे।

[२] हर्नले, ओस्टियोलजी, १०६.

[३] रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, ३. एवं आगे।

[४] द्र०—फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, २४३; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २२४; डायसन, फिलासफी आफ दि उपनिषद्स, २३ एवं आगे; कीथ, ऐतरेय आरण्यक, २५, २९।

विदेह-राज जनक सीता के पिता हो सकते हैं[1], किंतु इस तादात्म्य को निर्विवाद नहीं कहा जा सकता; सूत्रों में **जनक** एक प्राचीन राजा के रूप में सामने आते हैं, जो एक ऐसे समय से परिचित थे जब कि पत्नी का आदर परवर्ती काल की अपेक्षा कम होता था[2]।

तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ४२६ एवं आगे; मैक्स-मूलर, ऐंशिएंट संस्कृत लिटरेचर, ४२१ एवं आगे; फ़ान श्रोडर, उपर्युक्त, १८७, १८९; वेबर, इस्तू, १७५, २३१; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३१, टि०।

जनता—परवर्ती संहिताओं (तैसं २. २. १. ४; ६. ४; ३. ४. २; कासं, ९. १७; अवे ५. १८. १२ आदि) एवं ब्राह्मणों (तैब्रा, १. ४. ६. १; २. ३. १. ३; ऐब्रा, १. ७, ९; ३. ३१; ५. ९ आदि) में प्रायः आने वाला यह शब्द जनसमूह (द्र०—**सभा**) का वाचक है। तु०—वेबर, इस्तू, १३. १५३. टि०।

जनपद—ब्राह्मणों में यह शब्द राजा के विपरीत (ऐब्रा ८. १४ बहुवचन; शब्रा, १३. ४. २. १७) जन-गण, प्रदेश अथवा राष्ट्र (तैब्रा, २. ३. ९. ९; बृउ. २. १. २०; छा उ ५. ११. ५; ८. १. ५) का वाचक है। जन-पद (शब्रा, १४. ५. १. २०) शब्द प्रजा के अर्थ में भी आया है।

१–जनमेजय=जनम्-एजय = मनुष्य को प्रेरणा देने वाला। ब्राह्मण-काल के अन्त में एक **पारीक्षित** राजा का यह नाम है: शब्रा १३.५.४.१. एवं आगे; ऐब्रा, ७. ३४; ८. ११. २१; शांश्रौसू, १६. ८. २७ आदि। शब्रा ११. ५. ५. १३ में आता है कि उनके पास ऐसे घोड़े थे, जिन्हें थक जाने पर, मधुर पेय देकर ताजा किया जाता था। **जनमेजय** ने अश्वमेध यज्ञ किया था: शब्रा १३. ५. ४. १-३। श. ब्रा. १३. ५. ४. २ और ऐ.ब्रा. ८. २१ में उदाहृत एक गाथा के अनुसार उनकी राजधानी **आसन्दी-वान्** थी। उनके भाई **उग्रसेन, भीमसेन** और **श्रुतसेन** के संबन्ध में कहा गया है कि वे अश्वमेध यज्ञ द्वारा निष्पाप बन गये थे। **इन्द्रोत दैवापि शौनक** (शब्रा, १३. ५. ४. १; शांश्रौसू १६. ८. २७) ने उनके लिए अश्वमेध यज्ञ किया था। किंतु दूसरी ओर ऐब्रा ८. २१. तु०—४. २७; ७. ३४ में, जहाँ उनके अश्वमेध का उल्लेख है, **तुर कावषेय** को उनका पुरोहित बताया गया है। इसमें एक दुर्गम्य कथा भी आती है, जिसमें कहा गया है कि एक यज्ञ में उन्होंने **कश्यपों** को न नियुक्त करके **भूतवीरों** को नियुक्त किया था, किंतु **असितमृगों** के सिफ़ारिश करने पर फिर **कश्यपों** का आश्रय लिया था: ७. २७[1]। वे एक **कुरु** राजा थे। द्रष्टव्य **परिक्षित्**। गो.ब्रा. १. २. ५ में उनके संबन्ध में एक कथा आई है, जिसमें उन्हें एक प्राचीन नायक माना गया है।

२–जनमेजय—पंविब्रा २५. १५. ३ में **जनमेजय** एक पुरोहित का नाम है, जिन्होंने नागयज्ञ में भाग लिया था। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३५।

जनश्रुत काण्डूविय—मनुष्यों में प्रसिद्ध। **जनश्रुत काण्डूविय, हृत्स्वाश्य** के शिष्य बनकर जै.उ.ब्रा. ३. ४०. २ के एक वंश में और **जयन्त** शिष्य **वारक्य** के शिष्य के रूप में उसी ब्राह्मण ३. ४१. १; ४. १७. १ में फिर आते हैं। तु०—**जानश्रुति**।

जनि, जनी—ये शब्द 'पत्नी' के अर्थ में, विशेषतः 'पति' शब्द के योग में, प्रयुक्त होते हैं। सामान्य स्त्री के अर्थ में इनका प्रयोग संदिग्ध है। उषा के लिये जब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है (ऋ० ४. ५२. १) तब उसका अर्थ पत्नी ही होता है। ऋङ्—मन्त्र ५. ६१. ३ में, जिसे डेल्ब्रुक[2] ने उद्धृत किया है, "पत्नियों" का अर्थ अपे-क्षित जान पड़ता है। ये शब्द प्रायः बहुवचन में (ऋ० १. ८५. १; ४. ५. ५; ४. १९. ५; ७. १८. २; ७. २६. ३; ९. ८६. ३२; वासं, १२. ३५; २०. ४०; २०. ४३ आदि; तु०—ऋ० १०. ४३. १; ऋ० १०. ११०. ५ में 'पनयो न जन्यः' प्रयोग है, जहां दोनों का बहुवचन में प्रयोग है) प्रयुक्त होते हैं; अतः हो सकता है कि ये 'पत्नियों' को न बता कर वेश्याओं को सूचित करते रहे हों, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऋग्वेद १०. १८. ८; (तु० **जनित्वम्**, ८. २. ४२) में 'पत्युर्जनित्वम्' का प्रयोग मिलता है। 'जनयो न पत्नीः' (१. ६२. १०; १. १८६. ७ पत्नियां या 'जनियां' जो पत्नी या मालकिन रही हों) का प्रयोग भी मिलता है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर विवाह के प्रसङ्ग में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है[3] ५. ६१. ३।

[1] तु०—वेबर, इंलि, १३५; फान श्रोडर, उपर्युक्त, १८९, मैकडानल, उपर्युक्त, २१४।

[2] डाली, रेल्त उन्द जित्ते।

[1] तु० वेबर, इस्तू, १. २०४, म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ४३८ टि०; २२९; एगलिंग, सेबुई, ४३. ३४५ टि०। विवरण वेबर, इंडियन लिटरेचर, १२३–१२५; १३४–१३६; ओल्डेनबर्ग, त्सादा-मौगे ३७. ६५ एवं आगे; ४२, २३९; पार्जिटर, जराएसो, १९१०, २८ एवं आगे।

[2] दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवाण्ड्श्शाफ्त्स नाम, ४१३।

[3] दोनों के अर्थों में विशेषता यह है: जनि; √जन् से पुत्रवती पत्नी; 'पत्नी; पति का स्त्रीलिङ्ग, स्वामिनी।

इसी प्रकार, १०. ४०. १० में यह शब्द विवाह का बोधक है। यम और यमी के वार्तालाप १०. १०. ३ में एक वचन में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

जनित्र—'विड् वै जनित्रम्' शब्रा ८. ४. २. ५; 'वसिष्ठो वा एते (जनित्रे) पुत्रहतः सामनी अपश्यत् स प्रजया पशुभिः प्राजायत' तां. १९. ३. ८; 'वसिष्ठस्य जनित्रं प्रजा कामाय ब्रह्मसाम कुर्यात्' तां. ८. २. ३।

जनितृ[1] और जनित्री[2]—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में कभी-कभी प्रयुक्त होनेवाले ये शब्द पिता और माता के विषय में उत्पादकता का भाव व्यक्त करते हैं।

जन्तु—अपने सामान्य अर्थ मनुष्य के अतिरिक्त, इस शब्द का प्रयोग अनुचर और प्रजा के अर्थ में भी आया है: ऋ० १. ९४. ५; १०. १४०. ५। **श्वैत्रेय** ऋ० ५. १९. ३ के अनुचरों की तुलना **तृणस्कन्द** ऋ० १. १७२. ३ की प्रजाओं=विशः के साथ की जा सकती है। तु० 'मनुष्या वै जन्तवः' शब्रा. ७. ३. १. ३२।

जन्मन्—ऋग्वेद के दो मन्त्रों३. १५. २; २. २६. ३ में, जहां 'जनेन, विशा, जन्मना, पुत्रैः' इस क्रम का प्रयोग हुआ है जन्मन् का प्रयोग संबन्धी के अर्थ में हुआ है। इनमें से दूसरे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग सामूहिक रूपेण हुआ है। तु० त्सिमर, आले, १६०; द्र०—**जन** और **विश्**।

जन्य—ऋग्वेद ४. ३८. ६ और अवे. ११. ८. १ में वर के अर्थ में **जन्य** शब्द का प्रयोग हुआ है। तु० 'सपत्ना वै द्विषन्तो भ्रातृव्या जन्यानि' ऐब्रा ८. २६।

जय—'ब्रह्म वै जयः' कौब्रा ३. ७.

जबाला—अवैध पुत्र **सत्यकाम** की माता का नाम छाउ. ४. ४. १, २, ४ में **जबाला** है।

जभ्य—दंशक। अवे. ६. ५०. २ में अन्न को चाट जाने वाले एक कीट का यह नाम है (=घुन या कणसुआ ?) तु०—त्सिमर, आले, २३७।

जमद्-अग्नि—ऋग्वेद के एक देवशास्त्रीय ऋषि जमदग्नि हैं, जहां वे अनेक बार आये हैं। ऋग्वेद, ३. ६२. १८; ८. १०१. ८; ९. ६२. २४; ९. ६५. २५ में तो उनका नाम इस प्रकार आया है मानों वे सूक्त के रचयिता हों। इसी प्रकार एक बार उनका उल्लेख **विश्वामित्र** के साथ हुआ है: ऋ० १०. १६७. ४; ऋग्वेद ७. ९६. ३; ९. ९७. ५१ में उनका उल्लेख-मात्र हुआ है। एक बार **जमदग्नियों**=जमदग्नि के वंशजों का उल्लेख हुआ है: ऋ० ३. ५३. १५, १६। अवे में (२. ३२. ३; तु०—तैआ, ४. ३६; मंब्रा ७. १; अवे. ४. २९. ३; ५. २८. ७; ६. १३७. १; १८. ३. १५. १६); याजुष संहिताओं में=तै. सं. २. २. १२. ४; ३. १. ७. ३; ३. ३. ५. २; ५. २. १०. ५; ५. ४. ११. ३; मै. सं, २. ७. १९; ४. २. ९; कासं, १६. १९; २०. ९; वासं, ३. ६२; १३. ५६ एवं ब्राह्मण आदि में=पं विब्रा ९. ४. १४; १३. ५. १५; २१. १०. ५. ७; २२. ७. २; ऐब्रा ७. १६; शब्रा. १३. २. २. १४; तैआ, १. ९. ७; बृउ, २. २. ४; जैउब्रा, ३. ३. ११; ४. ३. १ उनका नाम आम आया है। यहाँ वे **विश्वामित्र** (तैसं, ३. १. ७. ३; ५. ४. ११. ३; पंविब्रा, १३. ५. १५) के मित्र और **वसिष्ठ** (तैसं उपर्युक्त) के विरोधी के रूप में उभरे हैं। वे अपनी संपत्ति का आधार **चतूरात्र यज्ञ** को बताते थे; और उनके वंश के लोग भी उसी से सफल हुए थे: पंविब्रा ७. १६। अवे. २. ३२. ३, ६. १३७. १ में उनका **अत्रि**, **कण्व**, **असित** और **वीतहव्य** से संबन्ध है। वे **शुनःशेप** के यज्ञ में पुरोहित थे: ऐब्रा, ७. १६। तु०'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' शब्रा. ८. १. २. ३। विवरण: हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ५३, ५४; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ. दि अवे, ३१९; वेबर, इस्तू, १०. ९५।

जम्भ—अवे. में दो बार यह शब्द किसी रोग या रोग के दानव के लिए आया है। एक स्थान २. ४. २ पर कहा गया है कि यह रोग **जंगिड** पौधे से अच्छा हो गया था। दूसरे स्थान ८. १. १६ पर इसे 'संहनुः'=जबड़ों को एक साथ सटा देने वाला बताया गया है। वेबर[1] ने कौशिक सूत्र ३२.१ के आधार पर इसे शिशुरोग बताया है, विशेषतः दांत निकलने से संबद्ध। ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार इसका अर्थ ऐंठन या क्षोभ है। कालण्ड[3] का विचार है कि यह 'टेटनस' है; ह्विटनी[4] ने इसे 'जबड़ा बन्द होना' या ऐंठन रोग माना है।

---

[1] ऋ० १. १२९. ११; १. १६४. ३३; ३. १. १०; ३. ५४. ९ आदि, अ. वे. ४. १. ७; वासं, १९. ८७ आदि।

[2] ऋ० ३. ४८. २; ३. ५४. ११; अ. वे. ६. ११०. १३; ९. ५. ३० आदि। देखिये **पितृ**, **मातृ**।

[1] इस्तू १३. १४२।

[2] हिम्स आ० दि० अवे, २८३।

[3] त्सादामौगे, ५३. २२४, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबर रितुआल, १०३.

[4] ट्रां० अ० वे०, ४२. विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ३९२।

जम्भक—वासं ३०. १६ और शांआ १२. २५ में एक दानव का, संभवतः **जम्भ** रोग को उत्पन्न करने वाले दानव का नाम है। तु०—कीथ, शांआ, ६७. टि० ७.

जयक लौहित्य—लोहित के वंशज जयक। जैउब्रा ३. ४२. १ में इनका उल्लेख **यशस्विन् जयन्त लौहित्य** के शिष्य के रूप में हुआ है।

जयन्त—जैउब्रा में जयन्त कई आचार्यों का नाम है:
(अ) **जयन्त पाराशर्य**=**पराशर** के वंशज; एक वंशसूची ३. ४१. १ में **विपश्चित्** के शिष्य के रूप में उल्लिखित हैं।
(आ) **जयन्त वारक्य**=वरक के वंशज; उसी वंश में **कुबेर वारक्य** के शिष्य कहे गये हैं। उनके बाबा को भी **कंस वारक्य** का शिष्य बताया गया है।
(इ) **जयन्त वारक्य, सुयज्ञ शाण्डिल्य** के शिष्य संभवतः पहले से अभिन्न हैं; ये दूसरे वंश ४. १७. १ में उल्लिखित हैं।
(ई) **यशस्वी लौहित्य** का नाम जयन्त (३. ४२. १)[१] है। द्रष्टव्य, **दक्ष जयन्त लौहित्य**।

जराबोध—ऋग्वेद १. २७. १० में केवल एक बार आने वाला यह शब्द संदिग्धार्थक है। लुड्विग[२], इसे एक ऋषि का नाम मानते हैं। राथ[३] इसे विशेषण समझ कर इसका अर्थ करते हैं, "आवाहन पर उपस्थित होने वाला"; यह व्याख्या संभव प्रतीत होती है। ओल्डेनबर्ग[४] इसे किसी व्यक्ति का नाम बताते हैं। अर्थ है: वृद्धावस्था में सचेत रहने वाला।

जराबोधीय—सामविशेष—'अन्नं वै जराबोधीयम्' तां. १४. ५. २८; 'जराबोधीयं भवत्यन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै' तां. १४. ५. २७।

जरायु—अवे. १. २७. १ में यह शब्द केंचुली के लिए आया है। भ्रूण के बाह्य आवरण के अर्थ में यह प्रायः आया है: ऋ० ५. ७८. ८; अ० वे० १. ११. ४; ६. ४९. १; ९. ४. ४; तैसं, ६. ५. ६. ३; वासं १०. ८; १९. ७६; ऐब्रा, १. ३; शब्रा. ३. २. १. ११ आदि; छाउ, ३. १९. २ आदि, जब कि उल्व का अर्थ होता है भीतरी आवरण। कहीं-कहीं जीवों का वर्गीकरण उनकी जन्म के विधा के आधार पर किया गया है। छाउ, ६. ३. १; में उन्हें **अण्डज, जीवज,** और **उद्भिज्ज** कहा गया है। ऐआ. २. ६ में उन्हें **आण्डज, जारुज** अर्थात् जरायुज, जो अवे १. १२. १ में पाया जाता है, **उद्भिज्ज** और **स्वेदज** बताया है। तु०—डायसन, फि०आ०दि उपनिषद्स, १९६, २९२; कीथ, ऐआ, २३५।

१ नाम का यह रूप तो बाद का है ही: तु० ह्विटनी, संस्कृत ग्रामर, १२०९ डी; और मैंडकानल, वैग्रा, १९१ ए; साथ ही जिस उपनिषद् में इस नाम का उल्लेख आया है, वह भी बाद की है।

२ ट्रां० ऋ०, ३. १०३।

३ वोबू; तु०—नि० १०. ८।

४ ऋग्वेद नोटेन, १. २३; इन्होंने इसकी अवे. ५. ३०. १० के "ऋषी बोधप्रतिबोधौ" से तुलना की है।

१. जरितृ—ऋग्वेद में प्रायः=१. २. २; १. १६५. १४; २. ३३. ११; ३. ६०. ७ आदि और परवर्ती साहित्य=अवे ५. ११. ८, २०. १३५. १ आदि में कभी-कभी मन्त्र के गायक ऋषि अथवा उपासक के लिए जरितृ शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यजमानो जरिता' ऐब्रा, ३. ३८।

२. जरितृ—जीग[१] के अनुसार ऋग्वेद १०. १४२ में शार्ङ्गों में से एक के लिए जरितृ शब्द आया है। वे उक्त सूक्त का संबन्ध आर्ष काव्य[२]-परंपरा के ऋषि **मन्द-पाल** से जोड़ते हैं, जिन्होंने जरिता को ब्याहा था, जो कि एक शार्ङ्ग चिड़िया (=चटका) थी, और जिसके चार पुत्र हुए थे। ऋषि ने इन्हें छोड़ दिया था; और जब ये वन्य अग्नि में जलने ही वाली थीं तब इन्होंने ऋ० १०. १४२ सूक्त से अग्नि की आराधना की थी। यह व्याख्या चिन्त्य है। किंतु सायण ने ऋ० १०. १४२. ७, ८ पर इसे स्वीकार कर लिया है।

जरूथ—ऋग्वेद में तीन स्थलों पर एक दानव का नाम प्रतीत होता है: ७. १. ७; ७. ९. ६; १०. ८. ३;[३] इसे अग्नि ने पछाड़ा था। लुड्विग का मत, जिसे ग्रिफिथ[४] ने भी माना है, यह है कि ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के परंपरागत प्रणेता **वसिष्ठ** के पौराहित्य में संपन्न एक युद्ध में मारा गया एक शत्रु **जरूथ** था।

जर्तिल—वन्य तिल। तैसं ५. ४. ३. २ में इसे त्याज्य हव्य कहा है। शब्रा ९. १. १. ३ में तिलों को खाद्य बताया गया है और इनकी खेती बताई गई है। साथ ही इन्हें वन्य भी बताया गया है; क्योंकि ये बिना बोये भी जम जाते थे। तु०—'उभयं वै तदन्नं यज्जर्तिला यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यं यदह तिलास्तेन ग्राम्यं यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यम्' शब्रा ९. १. १. ३।

१ दी. जा. ऋ. ४४ एवं आगे।

२ महाभारत, १. २२२. १ एवं आगे।

३ राथ, वोबू; नि० ६. १७।

४ ह्विम्स आफ दि ऋग्वेद २. ११ टि०।

जर्वर—पंविब्रा २५. १५. ३, में वर्णित नागसत्र के गृहपति थे। तु०—वेबर, इस्टू १. ३५।

जलजातूकर्ण्य—जातूकर्ण का वंशज जल। शांश्रौसू १६. २९. ६ में इनका उल्लेख **काशी, विदेह, कोसल** के राजाओं के यहाँ पुरोहिताई करने वालोंके रूपमें किया गया है।

जलाष-भेषज—जिसकी ओषधि ठण्डी हो। ऋग्वेद १. ४२. ४; ८. २९. ५ में एवं अ०वे० २. २७. ६ में आकर यह शब्द एक बहुत ही बाद के नीलरुद्र उपनिषद् में भी आता है, ३; ऋग्वेद में विशेषण के रूप में यह आता है; २.३३. ७; ८. ३५. ६ में यह रुद्र का विशेषण है। अवे के सूक्त ६. ५७ में **जालाष** शब्द आता है, जहाँ इसे अर्ब्बुद या व्रण की ओषधि बताया गया है[1]। इस स्थल के भाष्यकार न और कौशिक सूत्र ३१. ११ ने 'जालाष' को **मूत्र** के अर्थ में लिया है, जो कि ठीक प्रतीत होता है।[2] किंतु गेल्डनर[3] इसे मूत्र के रूप में भावित वर्षा–जल मानते हैं। निघण्टु १२ में इसे उदक से अभिन्न माना है।

जव—'वीर्यं वै जवः' शब्रा. १३. ४. २. २।

जष—अ.वे० ११. २. २५ में (पाठान्तर झष, जख, जघ) तथा तैसं ५. ५. १३. १ में किसी जलचर जीव या मत्स्य का नाम जष है। तैसं के भाष्य में इसे मकर बताया गया है। गो.ब्रा २. २. ५ में भी यह शब्द आया है। तु०—**झष**। द्र० त्सिमर, आ० ले, ९६; ह्विटनी, ट्रा. अ० वे०, ६२४।

जहका—लोमश मार्जार। तैसं, ५. ५. १८. १; मैसं, ३. १४. १७; वासं. २४. ३६[4] में अश्वमेध की बलि के रूप में इसका उल्लेख है। सायण ने तैसं पर इसे बिलवासी क्रोष्टा या शृगाल बताया है।

जह्नु—**शुनःशेप** के आख्यान में **जह्नु** शब्द केवल बहुवचन में आया है। शुनःशेप ने **'देवरात' जह्नुओं** का आधिपत्य और **गाथियों** का देवी ज्ञान प्राप्त किया था: ऐब्रा, ७. १८ जह्नूनां चाधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्', आश्रौसू, १२. १४; शांश्रौसू, १५. २७[5]। पंविब्रा २१. १२[1] के अनुसार एक जाह्नव —जह्नु के वंशज **विश्वामित्र** थे, जिनके संबन्ध में कहा गया है कि **वृचीवानों** के विरुद्ध युद्धमें चतूरात्र यज्ञ की सहायता से उन्होंने **जह्नुओं** के लिए राज्य प्राप्त किया था। ऐब्रा ७. १७, ६, ७ में भी **विश्वामित्र को राजपुत्र** एवं **भरतर्षभ** कहा गया है। इससे यह सूचित होता है कि यद्यपि संहिताओं में नहीं, तथापि ब्राह्मणों में **विश्वामित्र** को राजा और पुरोहित एक साथ कहा गया है; किंतु बाद के साहित्य[2] में उनके ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की जो कथा है, उसका यहाँ आभास भी नहीं मिल पाता।

ऋग्वेद १. ११६. १९; ३. ५८. ६[3] में उल्लिखित **जह्नावी** या तो **जह्नु** की पत्नी हैं, या जैसा कि सायण ने कहा है, जह्नावी शब्द से जह्नु–जाति-संबन्ध का बोध होता है। **जह्नुवंश** कभी बहुत विशाल रहा होगा, जो बाद में **भरतों** में मिल गया था। तु० 'जह्न्वृचीवन्त ('जह्नोः पुत्रा ऋचीवन्नामकाः' सायणः) अहिंसन्त स विश्वामित्रो जाह्नवो राजैतम् (चतूरात्रम्) अपश्यत् स राष्ट्रमभवदराष्ट्र मितरे' तां. २१. १२. २. 'अधीयत देवरातो रिक्थयोरुभयो- ऋषिः) जह्नूनां चाधिपत्ये च दैवे वेदे च गाथिनाम्' ऐ. ब्रा. ७. १८।

जह्नावी—**जह्नु** की प्रजा या अपत्य के अर्थ में जह्नावी शब्द आया है: ऋ० १. ११६. १९, ३. ५८. ६। द्र०—**जह्नु**।

जागरित—'ज्योतिर्वै जागरितम्' कौब्रा. १७. ९।

जातवेदस्—जातवेदस् शब्द **अग्नि** का नाम है और वैदिक साहित्य में आम है: ऋ० १. १२७. १; ३. २६. ७; ६. ८. १; ८. २३. १७; अवे २. १२. ८; ११. १. २९; शब्रा, १. ७. ३. १५ आदि। तु० 'सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति तज्जातवेदस्यमभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' ऐब्रा. ३. ३६; 'प्राणो वै जातवेदाः। स हि जातानां वेद' ऐब्रा. २. ३९; 'वायुर्वै जातवेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किं च' ऐब्रा. २. ३४।

जात शाकायन—शाक का वंशज। कासं २२. ७ में यज्ञ के लिये प्रमाण-रूप से स्वीकृत एवं **शंख** के समकालीन **जात शाकायन** का उल्लेख मिलता है।

---

[1] ब्लूमफील्ड, अजफि ११. ३२१ एवं आगे; हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४८९।

[2] ब्लूमफील्ड, अजफि १२. ४२५ एवं आगे।

[3] वैस्तू, ३. १३९. टि० २। विवरण: ह्विटनी, ट्रां. अ०वे०, ३२३, ३२४; मैकडानल, वैमा, पृ०–७६-७७; हापकिन्स, प्रोअओसो १८९४, ११०।

[4] तु० त्सिमर, आ० ले ८६।

[5] हिल्लेब्रांड्ट के संस्करण में पाठ दूसरा है और अर्थ भी बदल गया है: 'जह्नूनां चाधितस्थिरे दैवे वेदे च गाथिनः'।

---

[1] हापकिन्स, ट्रांजे.आ० दि कनेक्टि०एके० आ० आर्ट्स एंड साइं० १५. ५४ ने शुद्ध अर्थ दिया है।

[2] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२, ३३७ एवं आगे।

[3] तु०—लुड्विग, ट्रां. ऋ०, ३. १५३।

जात-रूप—सहज रूप से युक्त। ऐब्रा, ८. १३ जात रूपमय; बृउ, ६. ४. २५, नैघण्टुक, १. २, शांश्रौसू, १. ६. २४; तु०—८. १. ३; कौसू १०. १६; १३. शांश्रौसू, ३. १९. ९ आदि में स्वर्ण का नाम है।

जाति—पाली[1] में जाति अथवा कौम का बोधक यह शब्द प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में नहीं आता, और जब यह बाद में आता है, (जैसे कि कात्यायन श्रौत सूत्र १५. ४. १४ में,) तब यह 'परिवार' के अर्थ को प्रकट करता है; द्र० **कुल, गोत्र, विश्**। परिवार-प्रथा जाति को उत्पन्न करने में कैसे प्रभावशाली हुई, इसके लिए देखिए **वर्ण**। यह अनुमान कि परिवार जाति का आधार था—जैसा [2]सेनार ने माना है—कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि परिवार के लिये शब्द और परिवार पर बल दोनों चीजें बाद की हैं[3]।

जातूकर्ण्य—**जातूकर्ण** का वंशज। यह पैतृक नाम कई व्यक्तियों का है :

(अ) काण्वशाखीय बृउ २. ६. ३; ४. ६. ३ की एक वंश-सूची में यह नाम **आसुरायण** और **यास्क** के शिष्य का है। माध्यंदिनशाखा २. ५. २१; ४. ५. २७ के अनुसार वे **भारद्वाज** के शिष्य हैं।

(आ) शांआ ८. १० में किसी **कात्यायनीपुत्र** का यह नाम है।

(इ) कौब्रा २६. ५[4] में **अलीकयु वाचस्पत्य** एवं अन्य ऋषियों के समकालीन एक **जातूकर्ण्य** का उल्लेख है।

(ई) ऐ आ, ५. ३. ३; शांश्रौसू, १. २. १७; ३. १६. १४; २०. १९; २६. २९. ६ (जल); काश्रौसू, ४. १. २७; २०. ३. १७; २५. ७. ३४ आदि में **जातूकर्ण्य** नाम से जिन व्यक्तियों का उल्लेख है उनकी ठीक पहचान करना कठिन है। यहाँ जातूकर्ण्य से एक ही व्यक्ति या अनेक व्यक्ति भी अभिप्रेत हो सकते हैं।

जातूष्ठिर—ऋग्वेद २. १३. ११ में यह शब्द आया है; सायण और लुड्विग[5] ने इसे एक व्यक्ति का नाम माना है। राथ[1], इसे विशेषण मानकर इसका अर्थ करते हैं : स्वाभाविकशक्ति-संपन्न[2]।

१. जान—**जन** का वंशज। पंविब्रा १३. ३. १२ एवं प्रत्यक्षतः शाट्यायनक (ऋ० ५. ५. ५ के सायण भाष्य में तु०—बृहद्देवता, ५. १४ एवं आगे,)[3] में यह **वृश** का पैतृक नाम है।

२. जान—कुछ स्थलों पर जान शब्द जन्म के अर्थ में आया है। ऋग्वेद ५. ५३. १ में पूछा गया है कि कौन इन मरुतों के **जान** को जानता है—'को वेद जानमेषाम्?' ऋग्वेद १०. ७२. १ में देवों के **जान** का उल्लेख है; और ऋवे, १०. ३२. ३ में पुत्र के **जान** का उल्लेख है। ऋग्वेद १. ९५. ३में तीन जन्मों का उल्लेख है—"त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य"; तु०—ऋ० २. ३७. ९। अवे ७. ७६. ५ में कहा गया है कि मैं तुम्हारे **जान** को जानता हूँ, जहाँ से तुम उत्पन्न हुए हो—"विद्मं वै ते जानं यतो जायसे"। तु०—शब्रा, ३. २. १. ४०।

जानक—**जनक** का पुत्र। ऐब्रा ७. ३४ की कुछ पाण्डुलिपियों में **क्रतुविद्** का पैतृक नाम **जानक** है। तैसं २. ३. ८. १; का०सं० ११. १ में **क्रतुजित् जानकि** का नाम आता है। बृउ ६. ३. १० काण्व की कुछ पाण्डुलिपियों के अनुसार **आयस्थूण** का भी पैतृक नाम **जानक** है; किंतु हो सकता है कि यह **जानकि** का अशुद्ध पाठ हो।

जानकि—**जनक** का वंशज। तैसं २. ३. ८. १; कासं, ११. १ में **क्रतुजित्** का, ऐब्रा ७. ३४, में **क्रतुवित्** का, बृउ ६. ३. १० काण्व=६. ३. १८, १९ मा०, में **आयस्थूण** का पैतृक नाम **जानकि** है। बृउ में **आयस्थूण जानकि** को **चूड भागवित्ति** का शिष्य और **सत्यकाम जाबाल** का गुरु बताया गया है।

जानंतपि—**जनंतप** का पुत्र। ऐब्रा ८. २३ में **अत्यराति** का पैतृक नाम जानंतपि भी है।

जानपद—द्रष्टव्य **जनपद**।

जानश्रुति—**जनश्रुत** का पुत्र। छाउ ४. १. १; ४. २. १ में **पौत्रायण** का यह पैतृक नाम है।

जानश्रुतेय—**जानश्रुति** या **जनश्रुत** का पुत्र। यह इन अनेक व्यक्तियों का पैतृक या मातृक नाम है : **उपावि**: ऐब्रा, १. २५. ११५ या **औपावि**, शब्रा, ५. १. १. ५;

---

[1] फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग, २२. टि० ४।

[2] ले कास्ट दां ल् इन्द, (१८९६)

[3] फिक, उपर्युक्त, ३; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे ५१. २६७ एवं आगे।

[4] लिण्डर के इंडेक्स १५९ में जातुकर्ण्य शब्द अशुद्ध छपा है। तु०—वेबर, इ० लितरा०, १३८. १४०।

[5] ट्रां०, ऋ० ३. १५२.

---

[1] वोबू; संदर्भ २. २३. ११ अशुद्ध है।

[2] ग्रासमान, वोर्टरबूख, इसकी व्याख्या करते हैं: स्वभाव या जन्म से शक्तिशाली (जातू)।

[3] मैकडानल की टिप्पणी के साथ। जीग, दी जा० ऋ. ६४ एवं आगे।

७; मैसं, १. ४. ५ **उलुक्यः** जैउब्रा, १. ६. ३, **नगरिन्** वही, ३. ४०. २, और **सायक**; जैउब्रा, ३. ४०. २।

जानु—द्र०—शरीर।

जाबाल—जबाला का अपत्य। यह **महाशाल** (शब्रा, १०. ३. ३. १; १०. ६. १. १) और **सत्यकाम** (वही, १३. ५. ३. १; बृउ, ४. १. १४; ६. ३. १९; छाउ, ४. ४. १ आदि; ऐब्रा ८. ७) का मातृक नाम है। जैउब्रा ३. ९. ९ में **जाबाल** को एक आचार्य के रूप में बताया गया है। उसमें **जाबालों** (३. ७. २) का भी उल्लेख है। कौब्रा २३. ५ में **जाबाल गृहपतियों** का उल्लेख है। तु०—वेबर, इस्टू, १. ३९५।

जाबालायन—जाबाल का अपत्य। काण्वशाखीय बउ ४. ६. २ के एक वंश में **माध्यंदिनायन** के शिष्य एक आचार्य का यह पैतृक नाम है।

जामदग्निय—**जमदग्नि** का अपत्य। तैसं ७. १. ९. १ में दो व्यक्तियों का यह पैतृक नाम है। पंविब्रा २१. १०. ६ से ज्ञात होता है कि 'जमदग्निय' का प्रयोग **औवों** के लिये हुआ है, और जमदग्नि के वंशज कभी बहुत समृद्ध थे। तु०—वेबर, इस्टू, १२. २५१ टि०; हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स आ० दि कने० एके० आ० आर्ट्स ऐ० साइंसेज, १५. ५४।

जामातृ—ऋग्वेद (८. २. २०; ८. २६. २१, २२ जहाँ वायु को **त्वष्टा** का **जामाता** कहा गया है)[1] में दामाद के अर्थ में यह शब्द आम आया है। **विजामातृ** शब्द भी आया है, जो ऐसे जामाता के लिये आया प्रतीत होता है, जिसने पर्याप्त मूल्य न दिया हो, अथवा जो अपने आप में कमियां होने के कारण एक पत्नी को खरीदता हो। ऋग्वेद १०. २८. १[2] में **जामाता** और **श्वशुर** के मैत्रीपूर्ण संबन्ध का उल्लेख मिलता है।

जामि—जामि शब्द, जिसका मौलिक अर्थ 'रक्त से संबद्ध' है, कभी-कभी बहिन = स्वसृ का विशेषण बन कर आया है, और कभी तो बहिन के अर्थ में भी आया है, जहाँ इसका आशय 'रक्त-संबन्ध' पर जोर देना प्रतीत होता है।[3] इसी प्रकार यह अवे १. १७. १ में भी आया है, जहाँ भ्रातृहीन बहनों (अभ्रातर इव जामयः) का उल्लेख मिलता है। ऐब्रा ३. ३७ में एक यज्ञ के प्रसङ्ग में, जहाँ राका एवं देवपत्नियों के प्राधान्य का विवाद है, यह शब्द आता है। एक पारिवारिक भोज में बहन को तरजी देने का उल्लेख मिलता है—'जाम्यै वै पूर्वपेयम्;' क्योंकि उसका अपने भाई के साथ खून का रिश्ता है, जब कि पत्नी अन्योदर्या[1] है। नपुंसक लिङ्ग में (ऋ० ३. ५४. ९; १०. १०. ४, अवे ४. १९. १; तु०ऐ०ब्रा) उपर्युक्त जामि शब्द 'संबन्ध' को व्यक्त करता है; जैसे कि जामित्व शब्द, जो कि ऋग्वेद १. १०५. ९; १. १६६. १३; १०. ५५. ४; १०. ६४. १३ में आता है।

जामिशंस—बहन या संबन्धी द्वारा शाप। अवे में (२. १०. १, तैब्रा, २. ५. ६. ३ अ.वे. ९. ४. १५ में मूर्त; तु०—'जाम्याः शपथः' अ. वे. २. ७. २) में इसका प्रयोग मिलता है, जिससे यह पता चलता है कि परिवार में विवाद चलते ही रहते थे। भ्रातृव्य शब्द के प्रयोग से भी इसकी पुष्टि होती है। 'भ्रातृव्य' (चचेरा भाई) शब्द प्रायः शत्रु के अर्थ में आया है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अ. वे०, ३६२।

जाम्बिल—घुटने का विवर[2]। मैसं ३. १५. ३ में एक बार जाम्बिल शब्द आया है। कासं ५. १३. १ में और वासं २५. ३ में जाम्बील के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद-संहिता पर अपने भाष्य में महीधर ने इसे 'जानु-पिठर' बताया है; क्योंकि वह जाम्बीर जैसा दीख पड़ता है।

जायन्तीपुत्र—जायन्ती का पुत्र। बृ.उ. ६. ५. २ काण्व = ६. ४. ३२ मा० की एक सूची में **माण्डूकायनीपुत्र** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।

जाया—'जाया' पत्नी के लिए आता है; **पत्नी** की तुलना में, जो कि पति के प्रेम का भाजन है, जाया में जाति के सांतत्य का भाव अधिक है[3]। ऋग्वेद १०. ३४. २, ३; १०. १०९ में ब्राह्मण की जाया और जुआरी की जाया का उल्लेख मिलता है; पति (ऋ०, ४. ३. २; १०. १४९.

---

[1] तु०—डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन् फेरवाण्ड्त्श्शाफ्त्सनामन ५१७; पिशल, वैस्टू, २. ७८. ७९।

[2] तु०—ब्लूमफील्ड, जअओसो; १५. २५५।

[3] तु०—डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवाण्ड्त्श्शाफ्त्सनामन, ४६३, ४६४; संबन्ध के अर्थ में ऋ० १. ३१. १०; १. १७. ५. ३, ४; १. १००. ११; १. १२४. ६ आदि। बहन के अर्थ में ऋ०, १. ६५. ७; १०. १०. १० आदि। स्वसा के साथ १. १२३. ५; १. १८५. ५; ३. १. ११; ९. ९५. १; ९. ८९. ४ आदि।

[1] डेलब्रुक, उपर्युक्त।

[2] संभवतः 'जानुबिल' के लिए प्रयुक्त। तु०—मैकडानल, वै. ग्रा, पृ० ११ टि० ४।

[3] डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन······४११. ४१२; तु० ऋ० १. १०५. २; १. १२४. ७; ३. ५३. ४; ४. ३. २; ४. १८. ३; ९. ८२. ४; १०. १०. ७; १०. १७. १; १०. ७१. ४ आदि; अवे, ३. ३०. २; ६. ६०. १ आदि।

४) के साथ संयुक्त रूप में भी इसका उल्लेख आया है। परवर्ती साहित्य ऐब्रा, ३. ६२३. १; तु० ७. १३. १०; शब्रा. ४. ६. ७. ९; तु०—मैसं, १. ६. १२ में ऐसा ही उल्लेख है। दूसरी ओर **पत्नी** को यज्ञ (शब्रा. १. ९. २. १४) में भाग लेने वाली दिखाया गया है; जब उसे यह अधिकार नहीं दिया जाता तब वह जाया (१. १. ४. १३) कहाती है। किंतु यह भेद आपेक्षिक है इसलिए मनु की पत्नी को एक पाठ (वही, १. १. ४. १६) में **पत्नी** और दूसरे (मै.सं. ४. ८. १) में **जाया** कहा गया है। तु. 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' ऐब्रा. ७. १३; 'तद् यदब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किं चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते' गो. पू. १. २; 'अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायतेऽसर्वो हि तावद् भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते, तर्हि ह सर्वो भवति सर्वं एतां गतिं गच्छानीति तस्माज्जायामामन्त्रयते' शब्रा. ५. २. १. १०; 'तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः' ऐब्रा. ३. २३; 'तस्मादप्येकस्य पुंसो बह्व्यो जाया भवन्ति' शब्रा. ९. ४. १. ६; 'तस्मादपि स्वया जायया तिर इवैव चिचरिषति' शब्रा. ६. ४. ४. १९; तस्माज्जायाया अन्ते नाश्नीयाद् वीर्यवान् हास्माज्जायते वीर्यवन्तमु ह सा जनयति यस्या अन्ते नाश्नाति' शब्रा. १०. ५. २. ९; 'जाया (गार्हपत्यः) अग्निः' ऐब्रा. ८. २४।

जायान्य, जायेन्य—अवे. (जायान्यः ७. ७६. ३-५; १९. ४४. २) और तैसं (जायेन्यः २. ३. ५. २; २. ५. ६. ५) में ये किसी रोग के नाम हैं। अवे १९. ४४. २ में इसका उल्लेख पाण्डुरोग (हरिमा) के साथ आया है; वहाँ इसे 'अङ्गभेदो विसल्यकः' अर्थात् अङ्गों को भेदनेवाला या पीड़ा देने वाला बताया गया है। त्सिमर[१] इन्हें इस रोग के लक्षण मानते हैं; उनके अनुसार मूल रोग फेफड़ों का रोग अर्थात् **यक्ष्मा** है। ब्लूमफील्ड[२] इसे **उपदंश** रोग मानते हैं, इस संबन्ध में वे कौशिक सूत्र ३२. ११; तु० अ. वे. ७. ७६ भाष्य, तथा तैसं, २. ३. ५. २; २. ५. ६. ५ में कुछ संकेत पाते हैं। राथ इसे एक **वातरोग** मानते हैं, किंतु ह्विटनी[३] रोग को संदिग्ध छोड़ देते हैं।

[१] आ० ले, ३७७, वाइज़ के हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन, ३२१ के अनुकरण पर, जिसमें **अक्षत** का वर्णन है। [२] अजफि, ११. ३२० एवं आगे; हिम्स आफ दि अ. वे. ५५९. ५६१।

[३] ट्रां. अ. वे. ४४२, तु०—हेनरी, ल लिब्रेवी द ल् अथर्ववेद।

जार—प्रारम्भिक साहित्य (ऋ० १. ६६. ८; १. ११७. १८; १. १३४. ३; १. १५२. ४; ९. ३२. ५ आदि; देवशास्त्रीय प्रयोग, 'जार उषसाम्', ७. ९. १; तु०—त्सिमर, आ० ले, ३०८) में इस शब्द में पापी का भाव नहीं था; और वहाँ किसी भी प्रेमी के लिये यह आ सकता था। किंतु यह संभव है कि पुरुषमेधयज्ञ (वासं, ३०. ९; तैब्रा. ३. ४. ४. १) के प्रसङ्ग में जार को अवैध प्रेमी समझा गया हो। बृउ. ६. ४. ११ में भी यही भाव है; इन्द्र को गौतम की पत्नी **अहल्या** का जार कहा गया है[१]।

जारत्कार व आर्तभाग—जरत्कारु का वंशज, ऋतभाग का वंशज। शांआ. ७. २० में और बृउ. ३. २. १ में एक आचार्य का यह नाम है।

जारु—द्रष्टव्य—**जरायु**।

जाल—जाल शब्द का प्रयोग अवे. ८. ८. ५, ८; १०. १. ३० में एवं काश्रौसू, ७. ४. ७ में मिलता है। बृ. उ. ४. २. ३ में **जालक** शब्द का प्रयोग बने हुए आवरण के सदृश जालाकार झिल्ली के लिए है।

जालाष—द्रष्टव्य **जलाष**, जिसे सायण ने अवे. ६. ५७. २ में **जालाष** के स्थान पर पढ़ा है।[२]

जास्कमद—अवे. ११. ९. ९ में यह किसी अज्ञात पशु का नाम है। तु०—त्सिमर, आ० ले, ८८।

जास्पति—ऋग्वेद १. १८५. ८ में यह शब्द परिवार के अध्यक्ष के अर्थ में आता है। इसका भाववाचक रूप **जास्पत्य**=बच्चों का स्वामित्व भी वहां पाया जाता है: ऋ० ५. २८. ३; १०. ८५. २३।

जाहुष—ऋग्वेद १. ११७. १०; ७. ७१. ५ में यह **अश्विनों** के एक कृपापात्र का नाम है। तु०—लुड्विग, ट्रां. ऋ०, ३. १५९।

जाह्नव—**जह्नु का वंशज**। पंविब्रा २१, १२[३] में यह **विश्वामित्र** का पैतृक नाम है। यह तथ्य कुछ महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इससे औफ्रेख्ट के इस मत (ऐ० ब्रा० ४२४) का खण्डन हो जाता है कि **जह्नु** लोग **शुनःशेप** के पिता **अजीगर्त** के वंश के थे।

जित्वन् शैलिनि—बृउ० ४. १२ काण्व=४, १. ५ माध्यं०, (जिसमें पैतृक नाम शैलिनि है) में **जनक** और **याज्ञवल्क्य** के समकालीन एक आचार्य का यह नाम है। उनका मत था कि वाक् ही ब्रह्म है।

[१] मैकडानल, वै. मा. पृ० ६५।

[२] तु०—ब्लूमफील्ड, अजफि, ११, ३२०।

[३] तु०—वेबर, इस्टू, १, ३२; हापकिन्स, ट्रां० जैक्स०, १५. ५४।

जिह्वावान् बाध्योग—बृ.उ. ४. ५. ३ काण्व=६. ४. ३३ मा० की अन्तिम वंशसूची में **असित वार्षागण** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख है।

जिह्वा—अ. वे. १०. २. ७ में कहा गया है कि जबड़ों के बीच में जिह्वा देकर उसमें वाणी की सृष्टि की गई—'हन्वोर्हि जिह्वामदधात्पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्'। जिह्वा शब्द का जीभ के अर्थ में एवं आलंकारिक उक्तियों में अनेकशः उल्लेख हुआ है: ऋ० १. ८७. ५; ३. ३९. ३; ९. ७३. ९; अ. वे. १. २४. २; शब्रा. ३. ५. ४. २३; ३. ८. ३. १७; १०. ३. ४. ५; ऐब्रा. ७. १ आदि। तु० 'जिह्वा सरस्वती' शब्रा, १२. ९. १. १४; 'जिह्वेव शम्या' शब्रा. १. २. १. १७।

जीव—प्राणी के अर्थ में जीव शब्द ऋग्वेद-काल से आ रहा है: ऋ० १०. १८. ३; १०. ५७. ५; वासं. १९. ४६; अवे १. ३५. २; ४. ४६. १; १२. २. ४५; १८. २. ५२ आदि। अवे. २. ९. १ में जीवों के लोक का उल्लेख है।

जीवगृभ—जीवित पकड़ना। राथ[1] के अनुसार ऋग्वेद १०. ९७. ११ में पुलिस कर्मचारी के लिए यह शब्द आया है। किंतु, यद्यपि उसी स्थल पर (ऋ० १०. ९७. १२) मध्यस्थ के अर्थ में **मध्यमशी** के प्रयोग से इसकी संभाव्यता बढ़ जाती है, तथापि उपर्युक्त अर्थ न तो आवश्यक है और न संभव ही।

जीवज—द्रष्टव्य—**जरायुज**।

जीवन्त्—अवे. १९. ३९. ३;[2] में किसी पौधे के अर्थ में जीवन्त् शब्द प्रयुक्त हुआ है; राथ और ह्विटनी दोनों ने **'जीवल'**[3] पढ़ा है।

१—जीवल, जोवला—द्र०—**कुष्ठ**।

२ जीवल चैलकि—**चेलक** का वंशज। शब्रा. २. ३. १. ३१–३५ में तक्षा की निन्दा करते हुए इनका उल्लेख हुआ है। तु०—लेवी, ला डाक्ट्रिन दु सेक्रिफिस, १४०।

जुम्बक—'वरणो वै जुम्बकः' शब्रा. १३. ३. ६. ५।

जुहू—ऋग्वेद ८. ४४. ५; १०. २१. ३; अवे, १८. ४. ५, ६[4] एवं परवर्ती साहित्य में जुहू शब्द जिह्वा के समान आकार वाले चमस का नाम है, जिससे देवों को हवि दी जाती थी। तु. 'असौ (द्यौः) वै जुहूः' तैब्रा. ३. ३. १. १; 'तस्यासावेव द्यौर्जुहूः' शब्रा. १. ३. २. ४; 'अत्रैव जुहूराद्य उपभृत्' शब्रा. १. ३. २. ११; 'क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः' शब्रा. १. ३. ४. १५; 'आग्नेयी वै जुहूः' तैब्रा. ३. ३. ७. ६;

जूः—'जूरसीत्येतद्ध वा अस्याः (वाचः) एकं नाम' शब्रा. ३. २. ४. ११।

जूर्णि—अलात या ज्वलत्काष्ठ। इसे त्सिमर[1] ने वैदिक भारतीयों का एक अस्त्र माना है। किंतु ऋग्वेद १. १२९. ८ तु० नि० ६. ४ में केवल एक बार इसे दैत्यों का अस्त्र कहा गया है; इससे इसका युद्ध में प्रयोग अनुमित नहीं होता।

जूर्णी—अवे. २. २४. ५ में सर्पो के नामों में से यह भी एक है। संभवतः यह नाम उनका निर्मोक या केंचुली छोड़ने के कारण पड़ा हो।

जेतृ—द्र०—**सृणि**।

जैत्रायण सहोजित्—कासं. १८. ५ में राजसूय यज्ञ करने वाले एक राजा का यह नाम है। फान श्रोडर[2] ने **जैत्रायण** के व्यक्तिवाचक नाम होने के प्रमाणस्वरूप पाणिनि ४. २. ८० द्वारा उल्लिखित करणादि-गण के आधार पर 'जैत्रायणि' शब्द को **'जैत्र के वंशज'** के रूप में व्युत्पन्न माना है। किंतु यह स्मरणीय है कि कपि.सं २८. ५[3] में उसका समानान्तर जो स्थल है; उसमें कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं मिलता; और वहां विषय **इन्द्र** अर्थात् ईश्वर है। हमारा पाठ अधिक संभव प्रतीत होता है; क्यों कि श्लोक सामान्य होना चाहिये जो प्रत्येक यजमान राजा के लिए ठीक बैठ जावे।

जैमिनि—सूत्र-काल, आ. गृ. सू, ३. ४; शां. गृ. सू, ४. १०; ६. ६ आदि से पहले जैमिनि का उल्लेख नहीं मिलता[4]। किंतु सामवेद की एक जैमिनीय संहिता विद्यमान है, जिसे कालंड[5] ने संपादित किया है। जैमिनीय

[1] वोबृ, लीडर, १७४।
[2] त्सिमर, आ० ले, १८०।
[3] तु०—ह्विटनी, ट्रां. अ. वे. ९६०।
[4] इसके साथ तु०—**जीवला**, एक पौधे का विशेषण; अवे, ६. ५९. ३; ८. २. ६; ८. ७. ६; १९. ३९. ३।

[1] आ० ले०, ३०१।
[2] त्सादामौगे, ४९. १६८।
[3] फान श्रोडर द्वारा उद्धृत, काठक, १ पृ० २६९।
[4] वे व्यास के शिष्य भी प्रतीत होते हैं, सामविधान ब्राह्मण, अन्त में; वेबर, इस्तू. ४. ३७७; तु० इं. लि., ५६।
[5] हिल्लेब्राण्ड्ट के इन्दिश्शे फोर्शुङ्गन, ब्रेसलाउ, १९०७ का द्वितीय भाग; द्र०—ओल्डेनबर्ग, गोत्तिंगिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन, १९०८, ७१२ एवं आगे।

ब्राह्मण, जिसका एक विशेष भाग जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] कहाता है, प्रसिद्ध है; और अर्टल[2] ने उस पर कई लेख लिखे हैं।

जैवन्तायन—जीवन्त का वंशज। बृ उ. ४. ५. २६ माध्यंदिन शाखा[3] में शौनक और रैम्य के साथ रौहिणायन के गुरु के रूप में इनका उल्लेख आया है।

जैवल या जैवलि—जीवल का अपत्य। बृ उ. ६. २. १ काण्व=६. १. १ मा० जहां कि रूप जैवल है और छाउ. १. ८. १, २. ८; ५. ३. १ में प्रवाहण का यह पैतृक नाम हैं। जैउब्रा. १. ३८. ४ के जैवलि राजा भी वही हैं।

ज्ञाति—(पुं०) यह शब्द जिसका मौलिक अर्थ 'परिचित'[4] था, ऋग्वेद (७. ५५. ५, संभवतः पैतृक गृह में सोने वाले संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का उल्लेख है; १०. ६६. १४; १०. ८५. २८ नवोढा के निकट के संबन्धी अभिप्रेत हैं; १०. ११७. ९) एवं परवर्ती साहित्य (अ.वे. १२. ५. ४४)[5] में संवन्धी का, (विशेषतः रक्त-संबन्ध का और वह भी पैतृक परंपरा में) बोधक है। किंतु इस सीमाकरण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह भावना वैदिक समाज के पैतृक होने[6] से इस शब्द में स्वयं आ आ जाती है।

ज्ञातृ—अवे. ६. ३२. ३; ८. ८. २१ में दो स्थानों पर और शांआ. १२. १४[7] में एक स्थान पर कुछ दुर्गम्य अर्थ में यह शब्द आया है। त्सिमर[8] का यह अनुमान कि यह शब्द साक्षी का बोधक है, ठीक हो सकता है। संभवतः वहां एक ऐसी प्रथा की ओर संकेत है, जिसमें प्राचीन समाजों (मनु० ८. ५७ में यह शब्द साक्षी का पाठान्तर है)[9] की भांति कार-व्यौहार के समय साक्षी को सामने रखा जाता था जिससे आपस में झगड़ा न होने पावे। राथ[1] का सुझाव है कि इस शब्द का अर्थ 'प्रतिभू या जामिन' है, किंतु ब्लूमफील्ड[2] और ह्विटनी इस अर्थ को नहीं मानते।

ज्या—ऋग्वेद ४. २७. ३; ६. ७५. ३; १०. ५१. ६ इ० में एवं परवर्ती साहित्य अवे, १. १. ३; ५. १३. ६; ६. ४२. १; वा. सं, १६. ९; २९. ५१ आदि में धनुष् की डोरी के लिये यह आम शब्द है। ज्या-निर्माण की एक विशेष कला थी, जैसा कि वा.सं, ३०. ७; तैब्रा, ३. ४. ३. १ के पुरुषमेध की बलियों में ज्या-कार अर्थात् ज्या बनाने वाले का उल्लेख होने से सिद्ध होता है। धनुर्ज्या वृषभचर्मं (ऋ० ६. ७५. ३; अ०वे० १. १. ३)[3] की तांत से बनती थी। यह हमेशा बंधी हुई नहीं रहती थी: अवे. ६. ४२. १, अपितु जब धनुष् का प्रयोग करना होता था तब उसे कस लिया जाता था: ऋ० १०. १६६. ३। अथर्ववेद में ज्या-घोष का उल्लेख है: ५. २१. ९। तु० आर्त्नी।

तु०—त्सिमर, आ० ले, २९८, २९९।

ज्याका—कुत्सितार्थ में धनुर्ज्या के लिये ज्याका शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १०. १३३. १ में और अवे. १. २. २ में हुआ है।

ज्या-कार—धनुष् की डोरी बनाने वाला। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में ज्या-कार का भी उल्लेख है: वासं, ३०. ७; तैब्रा, ३. ४. ३. १।

ज्या-पाश—अवे. ११. १०. २२ में ज्या के लिए यह शब्द आया है।

ज्या-ह्रोड—पंविब्रा. १७. १. १४ में (मूल पाठ में इसे-ह्वोड और भाष्य में इसे ह्रोड कहा गया है) व्रात्य के अस्त्रों के वर्णन में ज्या-ह्रोड शब्द आया है; सूत्रों (काश्रौ. सू, २२. ४. ११ ह्रोड है; ला.श्रौ.सू, ८. ६. ८ ह्रोड है) में भी यह पाया जाता है। इसका अर्थ दुर्गम्य है। एक सूत्र में इसे 'अयोग्यं धनुष्' (कात्यायन, २२. ४. ११) और दूसरे में 'धनुष्क अनिषु' (लाट्यायन, ८. ६. ८) कहा गया है। दोनो ही अर्थो में एक धनुष् अभिप्रेत है। तु०—त्सिमर, आ० ले, ३८; हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स०, १५, ३२; वेबर, इस्टू, १. ३३. ५२।

[1] अर्टल द्वारा संपादित जअओसो, १६. ७९. २६०।

[2] जअओसो, १८. १५ एवं आगे; १९. ९७; २३. ३२५; २६. १७६. ३०६; २८. ८१; आक्तेस द्यु आनीमे कांग्रेस इन्तरनासियोनाल देज् ओरियन्तालिस्तेस् १. २२५; ट्रांजक्शन्स आफ दि कनक्टिक्युट एकेडमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. १५५ एवं आगे।

[3] पाणिनि, ४. १. ३ को यह नाम ज्ञात है।

[4] ज्ञा (=जानना) से व्युत्पन्न है, जन् (=जन्म देना) से नहीं; तु०—वोबू।

[5] म्यूर, संस्कृत-टैक्ट्स, ५. ४३२।

[6] तु०—कीथ, शांआ, ६६. टि० ४।

[7] आ. ले. १८१।

[8] तु०—जाली, रेख्त उन्द जित्ते, १४०।

[1] वोबू।

[2] हि० आ० दि अ०वे, ४७५।

[3] ट्रां. अ०वे०, ३०६।

[4] आर्षकाव्य में ज्या =मौर्वी का उल्लेख है। हापकिन्स, जअओसो., १३. २७१।

ज्येष्ठ—सामान्यतः सर्वश्रेष्ठ के अर्थ में होते हुए भी ऋग्वेद ४. ३३. ५; १०. ११. २ में बड़े भाई[1] के लिए यह शब्द आया है। सबसे बड़े पुत्र के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है: अवे. १२. २. ३५; ऐब्रा, ७. १७; शब्रा. ११. ५. ३. ८; तु०—**ज्यैष्ठिनेय**।

ज्येष्ठघ्नी—ज्येष्ठको मारने वाली। यह किसी नक्षत्र का, जिसे प्रायः ज्येष्ठा कहा गया है, अवे, ६. ११०. २; (तु० ६. ११२. १) और तैब्रा. १. ५. २. ८ में नाम है। यह अन्तरेस (Antares) या कॉर स्किपिओनिस (Cor Scipionis) है। तु० 'ज्येष्ठमेषामवधिष्मेति। तज्ज्येष्ठघ्नी' तैब्रा. १. ५. २. ८। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ.वे, ३६१।

ज्येष्ठा—द्रष्टव्य-**नक्षत्र**।

ज्यैष्ठिनेय—तैब्रा २. १. ८. १ और पंविब्रा, २. १. २; २०. ५. २ में यह पिता की प्रथम पत्नी (ज्येष्ठा) के पुत्र का बोधक है।

ज्योतिः—सुवर्गो वै लोको ज्योतिः तैब्रा. १. २. २. २; 'अयमेव (भूलोकः) ज्योतिः' तां. ४. १. ७; 'अयं वै (भू—) लोको ज्योतिः' ऐब्रा. ४. १५; 'इयं (पृथिवी) वै ज्योतिः' तां. १६. १. ७; 'ज्योतिरेष य एष (सूर्यः) तपति' कौ.ब्रा. २५. ३; 'असौ (सूर्यः) वाव ज्योतिस्तेन' सूर्यं नाति शंसति' ऐब्रा. ४. १०; =हिरण्य, तां. ६. ६. १०; =प्राण, शब्रा. ८. ३. २. १४।

ज्योतिष—यह स्मरणीय बात है कि संहिताओं एवं ब्राह्मणों में ज्योतिष के किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। जो ग्रन्थ वेदों में ज्योतिष का वर्णन करता है, उसे वेबर[2] ने संपादित किया है और उस पर काफी विमर्श हो चुका है[3]। उसका समय अनिश्चित है; किंतु इतना असंदिग्ध है कि यह बाद का ग्रन्थ है।

ज्योतिष्टोम—'अथ यदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतमस्तुवं स्तस्माज्ज्योतिःस्तोमस्तं ज्योतिःस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते' ऐब्रा. ३. ४३; एष वाव प्रथमो यज्ञानां य एतेनानिष्ट्वाथान्येन यजते कर्त्तपत्मेव तज्जीयते वा प्र वा मीयते' तां. १६. १. २।

ज्योतिष्मन्त् पन्था 'देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः, ऐब्रा. ३. ३८।

[1] स्वर-परिवर्तन के साथ, **'ज्येष्ठ'** : मैकडानल, वै. ग्रा., पृ० १८३. १४।

[2] ऊबर देन वेदकलेंडर नामन्स ज्योतिषम् १८६२।

[3] थिबो के ऐस्ट्रानमी ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक, २०. २९ आदि में संदर्भ देखे जा सकते हैं।

ज्वालायन—ज्वाल का वंशज। जैउब्रा. ४. १६. १ में आचार्यों की एक सूची में **गौषूक्ति** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख आया है।

झ

झष—शब्रा. १. ८. १. ४ में, जहां **मनु** की कथा आई है, वहां झष शब्द भाष्यकार के अनुसार **महामत्स्य** के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एगलिंग[1] का सुझाव है कि इस प्रसङ्ग में शृङ्गयुक्त मत्स्य अभिप्रेत है; क्योंकि तैसं. १. ७. १; २. ६. ७ में इडा या मूर्त तर्पण के प्रतिनिधि के रूप में गौ को प्रस्तुत किया गया है; इसी ने बाद में शृङ्गयुक्त मत्स्य का रूप ग्रहण किया होगा। तुलनीय **जष**।

त

तकवान—**तकु**[2] से निष्पन्न एक पैतृक नाम है, जो ऋग्वेद १. १२०. ६ में एक ऋषि, अनुमानतः तकु **कक्षीवान्** के वंशज के लिए आया है। यह नाम **कक्षीवान्**[3] ऋषियों के सूक्तों में आया है।

तक्मन्—अवे. में एक रोग के नाम के रूप में यह शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है, किंतु परवर्ती साहित्य में यह नहीं मिलता। अवे. के ५ सूक्तों=१. २५; ५. २२; ६. २०; ७. ११६; १९. ३९; तु० ५. ४ का यह विषय है; और अन्यत्र भी अवे. ४. ९. ८; ५. ४. १, ९; ५. ३०. १६; ११. ८. ६; ११. २. २२, २६ आदि में यह मिलता है। वेबर[4] ने पहले इसे ज्वर बताया था, और ग्रोहम[5] ने दिखाया था कि **तक्मन्** में सारे लक्षण ज्वर[6]

[1] सेबुई, १२. २१७. टि० ३; २६, ३१।

[2] तु०—**भृगवाण**, भृगु से निष्पन्न; राथ, वोबू; ऋग्वेद ९. ९७. ३२ में **तकु** एक विशेषण के रूप में आता है।

[3] ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ४२. २२१। विवरण—पिशल, वैस्तू, २. ९२; लुड्विग्, ऊबर मेथोड, बाइ इंटरप्रेटेशन देस ऋग्वेद, ४७।

[4] इस्तू, ४. ११९; राथ ने, त्सुर लितरात्यूर उन्द गेशिश्ते देस वेद ३९ में कुष्ठ की एक दवा होने से इसे कुष्ठ माना है; पिक्टेट ने कुह्न ५. ३३७ में इसे ठीक माना है: म्यूर ने, संस्कृत-टैक्स्ट्स ४. २८० में इसे क्षय रोग बताया है।

[5] इस्तू, ९. २८१ एवं आगे।

[6] द्र०-ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ४५१, एवं आगे; त्सिमर, आ० ले, ३७९, ३८५, तु०—**ज्वर** (अवैदिक शब्द 'जो संस्कृत-साहित्य में ज्ञात है') हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन, २१९ एवं आगे; जाली, मेडिसिन, ७०. ७२; दारिल और केशव, (कौशिक सूत्र के भाष्यकार) हर जगह **तक्मन्** और ज्वर को अभिन्न मानते हैं।

के हैं। अवे. १. २५. २२. ४; ५. २२. २, ७, १०; ६. २०. ३; ७. ११६. १ में बुखार में होने वाली गरम-ठंडी कंपकपी का वर्णन है। अवे. १. २५. २; ५. २२. २; ६. २०. ३ में बुखार के साथ पैदा होने वाले पाण्डुरोग का जिक्र है। ज्वर की विशेषताओं को बताने वाले शब्द हैं: **अन्येद्युः** अवे. १. २५. ४; ७. ११६. २; **उभयद्युः** (वहीं), **तृतीयक**=तेइया, अवे. १. २५. ४; ५. २२. १३; १९. ३९. १०; **वितृतीय** अवे. ५. २२. १३ और **सदंदिः** अवे. ५. २२. १३; १९. ३९. १०। इनमें से कुछ का अर्थ अनिश्चित है। यह सर्वमान्य[१], है कि प्रथम शब्द **प्रात्यहिक** ज्वर को सूचित करता है, जो प्रतिदिन नियत समय पर आता है, किंतु यह शब्द कुछ अजीब सा है; इसका अक्षरशः अर्थ होगा; 'दूसरे दिन'। **उभयद्युः** (=दोनों दिन) शब्द दो दिन तक रहने वाले ज्वर को सूचित करता है, जिसमें तीसरे दिन आराम रहता है[२]। किंतु सायण कहते हैं कि यह तेइये =तीसरे दिन आने वाले ज्वर का नाम है। **तृतीयक** त्र्याहिक ज्वर (सायण, अवे, भा०, १. २५. ४) हो सकता है; किंतु त्सिमर[३] का मत है कि यह ऐसा ज्वर है, जिसमें तृतीय आक्रमण खतरनाक होता है। ग्रोहमान[४] का विचार है कि **वितृतीयक** 'तेर्तियना डुप्लिकेटा' है, जो दक्षिणी प्रदेशों में अधिकता से पाया जाता है और जिसमें ज्वर तो प्रतिदिन चढ़ता है, किंतु इसका जोर एक दिन छोड़कर होता है। ब्लूमफील्ड[५] के अनुसार यह 'उभयद्युः' ज्वर से अभिन्न है। **सदंदि**[६] ज्वर संभवतः परवर्ती **संतत** ज्वर का नाम है, जिसमें कई दिनों तक ज्वर रहता है, बीच में थोड़े अवकाश के बाद फिर नया आक्रमण होता है। ज्वर **शरद्** में (=शारद), **ग्रीष्म** में (=ग्रैष्म) और **वर्षा** में (=वार्षिक) चढ़ते थे: अवे, ५. २२. १३; किंतु इनका प्रकोप शरद् में विशेष रूप से होता था, जैसा कि 'विश्व शारद ('=प्रत्येक शरद् में आने वाला') शब्द से ज्ञात होता है: अ.वे, ९. ८. ६, १९. ३४. १०।

[१] ग्रोहमान, उपर्युक्त, ३८७,
[२] ग्रोहमान, ३८८,
[३] उपर्युक्त, ३८३,
[४] ,, ३८८,
[५] ,, ४५१,
[६] व्युत्पत्ति संदिग्ध है: या तो "सर्वदा काटने वाला" सायण, अवे १९. ३९. १० है या "सर्वदा उपवास करने वाला" है (राथ, वोबू) या "सर्वदिन या सभी दिन रहने वाला" है। (त्सिमर, आ० ले० ३८३ टि०, ब्लूमफील्ड, हि० आ० दि अ० वे० ४५२)।

कहा गया है कि रोग तब उत्पन्न होता है, जब अग्नि जल में प्रवेश करता है: अवे. १. २५. १। इससे वेबर[१] यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऐसा माना जाता था कि उष्णता पर शीत की विजय से यह रोग होता है, अथवा खादर पर गरमी पड़ने से यह उत्पन्न होता था। ग्रोहमान[२] के अनुसार वर्षा में यह रोग विशेष होता था, जब अग्नि, विद्युत् के रूप में भूमि पर उतर आता था[३]। त्सिमर[४] इस मत को स्वीकार करते हैं; उन्होंने तराई प्रदेशों में ज्वर की विशेषता मानी है; अथर्ववेद ६. २०. ४ में 'वन्य' को ज्वर का विशेषण माना है, जिसका अर्थ होता है; वन से आया हुआ (ज्वर); क्योंकि पश्चिमी हिमालय की दो पर्वत श्रेणियों में **मूजवन्त्** और **महावृष** में ज्वरका प्रकोप था: अवे, ५, २२. ५। मच्छरों के काटने से ज्वर फैलने का उल्लेख नहीं मिलता, जो गन्दे जलों में रहते थे और अंडे देते थे; परवर्ती संस्कृत-साहित्य में इसकी मान्यता है।[५] ज्वर के लक्षणों, या उससे उत्पन्न हुए रोगों के रूप में **पामन्**(खुजली),**शिरोवेदना (सिरदर्द)**, **खांसी (कासिका)** और **दाह** तथा एक प्रकार की खुजली **बलास** का उल्लेख मिलता है: अवे, १९. ३९. १०।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि **तक्मन्** का उल्लेख अथर्ववेद से पहले नहीं मिलता। यह सर्वथा संभव है कि वैदिक भारतीय पहले जब भारत में बसे तब वे इस रोग का नाम न जानते रहे हों, जिसे उन्होंने कुछ दिनों इधर रहने के बाद अनुभव किया हो। इसके उपचार के लिये वे क्या लेते थे, यह बताना कठिन है; क्योंकि अथर्ववेद में इसके विरुद्ध केवल मन्त्रों का और **कुष्ठ** का उल्लेख किया गया है, जिसे इस संबन्ध में प्रभावपूर्ण ओषधि नहीं माना जा सकता, यद्यपि आज भी ज्वर में मन्त्रों का प्रयोग आम है। हो सकता है कि अथर्ववेद काल में अनेक व्यक्ति तक्मन् के शिकार होते रहे हों; तभी तो इसका इतना अधिक उल्लेख किया गया है।

तक्वन्[६], **तक्वरी**[७]—ऋग्वेद में तेज उड़ने वाले एक पक्षी का नाम है। सायण ऋ० १. ६६. २ पर **तक्वन्** का अर्थ तेज घोड़ा करते हैं।

[१] इस्टू, ४. ११९। [२] उपर्युक्त, ९. ४९३।
[३] तु०—मेकडानल, वैमा पृ० ९२।
[४] उपर्युक्त, ३८४।
[५] द्र० जाली, जराएसो,१९०६, २२२।
[६] ऋ० १. ६६. २, तु०—१. ३४. ५ और **त्सारिन्**।
[७] वही, १. १५१. ५, १०. ९१. २, किंतु दोनों ही स्थलों पर यह शब्द विशेषण हो सकता है।

तक्षक वैशालेय—विशाला का वंशज। अवे ७. १०. २९ में एक देवशास्त्रीय व्यक्ति के रूप में विराज् के पुत्र तक्षक वैशालेय का उल्लेख आया है। पंविब्रा २५ १५. २ में नागोत्सव के प्रसङ्ग में ब्राह्मणाच्छंसिन् पुरोहित के रूप में इसका उल्लेख है। तु०—बेवर, इस्टू, १. ३५।

तक्षन्—शब्रा० २. ३. १. ३१-३५ में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख आया है, जिन्होंने जीवल चैलकि के एक मन्तव्य को स्वीकार नहीं किया था। द्र० लेवी, ला दाक्त्रिन दु सेक्रीफीस पृ० १४०।

१. तक्षन्—बढ़ई। ऋग्वेद ९. ११२. १ में एवं परवर्ती साहित्य=अवे १०. ६. ३; कासं, १२. १०; १८. १३; मैसं, २. ९. ५; वासं १६. २७; ३०. ६; तैब्रा, ३. ४. २. १; शब्रा., १. १. ३. १२; ३. ६. ४ आदि में तक्षन् शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। वह रथ और गाड़ी आदि बनाता था और नक्काशी का काम भी करता था: ऋ० १०. ८६. ५; अवे, १९ ४९. ८; तु० ऋ०, १. १६१. ९; ३. ६०. २। कुलिश (ऋ० ३. २. १), या परशु अर्थात् कुल्हाड़ी, (कासं०, १२. १०) उसका औजार है, और संभवतः भुरिज् भी (=बसूला ?), जिसका ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है। ऋ० १. १०५. १८[1] में उसके काम की कठिनता का उल्लेख है। बढ़ई नीच जाति के थे, अथवा उनका एक अलग वर्ग था यह बात ऋक्-काल के लिए अनिश्चित है।[2]

तक्षन् बृबु - शांश्रौसू १६. ११. ११ के अनुसार भरद्वाज ने तक्षन् बृबु से भेंट की थी। मानव-धर्मशास्त्र १०. १०७ में भी यह बात आती है, जहां तक्षन् को बढ़ई के अर्थ में लिया गया है।

तडित्—विद्युत्। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में तडित् शब्द आया है: १. ९४. ६; २. २३९। निघण्टु २. १६ और निरुक्त ३. ११ में इसे अन्तिक या निकट का पर्याय माना गया है; क्योंकि तडित् दूर होने पर भी पास प्रतीत होती है।

तण्डुल—चावल। अवे १०. ९. २६; ११. १. १८; १२. ३. १८, २९, ३० में तथा परवर्ती साहित्य मैसं, २. ६. ६; कासं, १०. १. आदि; ऐब्रा १. १; शब्रा, १. १. ४. ३; २. ५. ३. ४; ५. २. ३. २; ६. ४. १. ८ आदि; श्यामाक-तण्डुल: शब्रा, १०. ६ ३. २; छाउ, ३. १४. ३; अपामार्ग-तण्डुल: ५. २. ४. १५ आदि में इसका प्रयोग आम है, किंतु ऋग्वेद में यह शब्द नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि धान की खेती ऋग्वेद-काल[1] में नहीं होती थी। तैसं १. ८. ९. ३[2] में 'कर्ण' और 'अकर्ण' चावल का उल्लेख है। तु० 'वसूनां वा एतद्रूपं यत्तण्डुला:' तैब्रा. ३. ८. १४. ३।

तत—दद। यह ऋग्वेद ८. ९१. ६; ९. ११२. ३ में तथा बाद में अवे, ५. २४. १६; तैसं, ३. २. ५. ५; तैब्रा, १. ६. ९. ७; अवे, ८. ४. ७७; ऐब्रा, ५. १४; ७. १५; ऐआ, १. ३. ३. में पिता का प्रसिद्ध नाम है। द्रष्टव्य तात और पितृ। विवरण—डेल्बुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवाण्ड्स्शाफ्त्स् नामन. पृ. ४४९.।

ततामह—बाबा। अवे, ५. २४. १७; ८. ४. ७६, में इसका सामान्य अर्थ "महान् पिता" प्रतीत होता है।

ततुरि—'उपहूतेडा ततुरिरिति। तदेनां प्रत्यक्षमुपह्वयते ततुरिरिति सर्वं ह्येषा पाप्मानं तरति तस्मादाह ततुरिरिति' शब्रा. १. ८. १. २२.।

तनय—ऋग्वेद १. ९६. ४; १. १८३. ३; १. १८४. ५; ७. १. २१. आदि ("तोकं च तनयं च": १. ९२. १३; ९. ७४. ५,)[3] में अपत्य के अर्थ में यह शब्द आया है; कहीं-कहीं तोक के साथ यह विशेषण के रूप में आया है।[4] यह मानने का कोई आधार नहीं है कि तोक पुत्रों के अर्थ में और तनय प्रपौत्रों के अर्थ में आता था।[5]

तु०—वोबू; तन्, और तनस् भी उसी अर्थ में हैं। द्र०-ऋ० ६. ४६. १२. ६. ४९. १३; ७. १०४. १०; ८. ६८. १२ आदि में "तन्"। ऋ० ७. १०४. १०; ८. ६८. १२ आदि में "तन"। ऋ० ५. ७०. ४ में तनस्।

तनूनपात्—'प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्व: पाति' ऐब्रा. २. ४; 'ग्रीष्मो वै तनूनपाद् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति' शब्रा. १. ५. ३. १०; तनूनपातं यजति ग्रीष्ममेव हि यजति, ग्रीष्मो हि तन्वं तपति, कौब्रा ३. ४।

तन्ति—ऋग्वेद ६. २४. ४ में एक बार यह शब्द आता है। राथ[6] इसका अर्थ बछड़ों के बंधन या 'खूंटा'

---

[1] तु०—राथ, निरुक्त, इर्लाटरुङ्गन, ६६; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. १००।

[2] फिक, दी सोशयाल ग्लीडरुङ्ग, २१० टि०—१; तु० त्सिमर, आ० ले०, २४५, २५३।

[1] त्सिमर, आ० ले०, २३९; द्र०—व्रीहि।

[2] द्र०—पिशल, वैस्टू०, १. १९०।

[3] तु०—६. २५. ४; ६. ३१. १; ६. ६६. ८; और १. ३१. १२. जैसी कि पिशल ने व्याख्या की है, वैस्टू, ३. १९३।

[4] ऋ० १. ६४. १४; १. ११४. ६; १. १४७. १. १. १८९. २; २. ३०. ५. आदि; ऐब्रा, २. ७।

[5] निरुक्तं, १०. ७; १२. ६।

[6] वोबू।

यह अर्थ करते हैं; परवर्ती साहित्य में यह रस्सी के अर्थ में प्रयुक्त है, और यहाँ बछड़ों के खूँटे के लिए प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है ।

तन्तु—तागा, ताना । बुनाई में यह **ओतु** का विलोम है । दोनों ही भाग अथर्ववेद[1] १४. २. १५; १५. ३. ६ में पाये जाते हैं । शब्रा, ३. १. २. १८ में इन्हें **"अनुछाद"** और **'पर्यास'** कहा गया है । तैसं ६. १. १. ४ में इन्हें **'प्राचीन तान'** और **ओतु** बताया गया है । पर्यङ्क के तन्तुओं का उल्लेख कौउ १. ५. में किया गया है;[2] ऋग्वेद में इसका उल्लेख आलंकारिक है; और ब्राह्मणों में वह अनेकशः है ।[3] द्र०—**वाण** ।

तन्त्र—तन्त्र भी तन्तु के समान 'ताना' के अर्थ में आता है । यह ऋग्वेद १०. ७१. ९ में और बाद में अवे, १०. ७. ४२; तैब्रा, २. ५५. ३; पंविब्रा, १०. ५; शब्रा, १४. २. २. २२ में आया है । तु०—त्सिमर, आ. ले, २५४ ।

तन्त्रायी—'एष वै तन्त्रायी य एष (सूर्यः) तपत्येष हीमांल्लोकांस्तन्त्रमिवानुसंचरति' शब्रा १४. २. २. २२.

तन्यतु—वैदिक साहित्य में वज्र या तत्समान किसी स्तनयित्नु, अर्थात् गर्जन-शील अस्त्र का नाम **तन्यतु** ह : ऋ० १. २३. ११; १. ५२. ६; ५. २५. ८; ४. ३८. ८; ७. ३. ६; १. ३२. १३; १. ११६. १२; ९. १००. ३; अवे, ५. १२. ३ ।

तपस्, तपस्य—तु० 'असौ वा आदित्यस्तपः' शब्रा. ८. ७. १. ५; 'तपो वा अग्निः' शब्रा. ३. ४. ३. २; 'तप आसीद् गृहपतिः' तैब्रा. ३. १२. ९. ३; '(तपश्च तपस्यश्च) एव शैशिरौ मासौ तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च' शब्रा. ४. ३. १. १९. संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षड्तवः संवत्सर एव तपो नवदशस् तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि तपति, शब्रा. ८. ४. १. १४. द्रष्टव्य— **मास** ।

तपोनित्य पौरुशिष्टि—तैउ, १. ९. १ में एक आचार्य का यह नाम है, जिनकी तप में निष्ठा थी ।

तमस्—अन्धकार । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त १०. १२९. ३ में आया है कि पहले तमस् ही तमस् था, सब कुछ तमस् से आवृत था—"तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे-ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।" तमस् शब्द प्रायः अन्धकार के अर्थ में आया है : ऋ० १. १८३. ६; २. २४. ३; ३. ५. १; ३. ३९. ७; ४. ५१. २. ७. ७५. १; अवे, ८. २. १; ९. २. १७; शब्रा, १. ९. २. ३५; २. ४. २. ५; ऐब्रा, ७. १३; काश्रौसू, ४. १५. १३ आदि । तु० 'मृत्युर्वै तमः' शब्रा. १४. ४. १. ३२; =पाप्मा, शब्रा. १२. ९. २. ८ ।

तयादर—अवे ६. ७२. २ में एक पशु का यह नाम है । केवल विशेषण **"तायादर"** के रूप में **"पारस्वन्त्"** (=जंगली गर्दभ) के साथ यह शब्द आया है । तु०—ह्विटनी, ट्रां अ०वे०, ३३५ ।

तर—'स्तोमो वै तरः' तां. ११. ४. ५. 'स्तोमो वै देवेषु तरो नामासीत्' तां, ८. ३. ३. ।

तरक्षु—यजुर्वेद, तै०सं० ५. ५. १९. १, मैं० सं०, ३. १४. २१, वा०सं० २४. ४० में अश्वमेध की बलियों की सूची में तरक्षु का उल्लेख है । सायण ने तैसं के भाष्य में उसे गर्दभाकार व्याघ्रविशेष (चीता ?) बताया है । तु०—त्सिमर, आ० ले ८१ ।

तरन्त—ऋग्वेद ५. ६१. १० में **पुरुमीळ** के साथ **श्यावाश्व** के आश्रयदाता के रूप में इनका उल्लेख है । पंविब्रा १३. ७. १२ एवं अन्य ब्राह्मणों (जैब्रा, ३. १३९; शाट्यायनक, सायण-भाष्य ऋ० ९. ५८. ३; सामवे २. ४१०) में **पुरुमीळ्ह** के साथ उनका **ध्वस्** (ऋ० ९. ५८. ३) और **पुरुषन्ति** से दान लेना उल्लिखित हैं; किंतु क्षत्रियों के लिए दान लेना निषिद्ध था; अतः वे ऋषि बन गए; और दाताओं की प्रशंसा में उन्होंने कुछ सूक्त कहे । **पुरुमीळ्ह** के समान वे भी **वैददश्वि** या **विददश्व** के पुत्र थे : ऋ० ५. ६१. १०; पंवि ब्रा, १३. ७. १२; जैब्रा, ३. १३९; शाट्यायनक, सायण के भाष्य में, उपर्युक्त स्थान । विवरण : अर्टल जअओसो, १८. ३९; जीग, दीज़ाऋ. ५० एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ४२. २३२ टि० १; ऋ० नोटेन, १. ३५३, ३५४, यहाँ उनका मत है कि ब्राह्मण-परंपरा और वृहद्देवता (५. ५०-८१ मैकडानल नोट के साथ) विश्वसनीय नहीं हैं ।

तरु—संस्कृत का यह वृक्षवाची शब्द ऋग्वेद ५. ४४. ५ के सिवाय अन्यत्र उसमें नहीं आया है । सायण ने "तरुभिः" का अर्थ वृक्षैः वहां दिया है ।[1]

---

[1] एगलिंग, सेबुई २६. ८, ९ ।

[2] कीथ, शांआ, २० टि० २ ।

[3] वोबू । ऋ० १०. १३४. ५ में यह पौधों के तन्तुओं को जताता है; २. १. २३ में मकड़ी के जाले का बोधक है ।

[1] राथ, वोबू "तरोभिः" शब्द, ऋ० २. ३९. ३ के समानान्तर मानते हैं । इसी प्रकार ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ३४१ ।

तरुक्ष—ऋग्वेद ८. ४६. ३२ में एक व्यक्ति का नाम है। इनका उल्लेख एक दान-स्तुति में **बल्बूथ** नामक दास के साथ आया है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३९१; त्सिमर, आ० ले० ११७।

तर्कु—तकुआ। केवल यास्क के निरुक्त २. १ में तर्कु शब्द का उल्लेख है; इन्होंने अक्षर-विपर्यय के आधार पर √कृत् अर्थात् 'कातना' धातु से इसे व्युत्पन्न माना है।

तर्द—वेधक या छिद्रकर्ता। अथर्ववेद ६. ५०. १, २ में यह शब्द उन कीड़ों के अर्थ में आया है, जो अन्न को हानि पहुँचाते हैं। ह्विटनी[1] के अनुसार इसका अर्थ चूहा या मूषक है। राथ[2] के मत में यह एक पक्षी है।[3]

तर्द्मन—अथर्ववेद १४. १. ४० में **युग** का छिद्र, (=जुआ) जिसमें सिलम डाली जाती है, तर्द्मन कहाता है। शब्रा ३. २. १. २ में यह चर्म के छिद्र का बोधक है। तु० एगलिंग, सेबुई, २६. २६ टि० १।

तर्य—सायण के अनुसार ऋग्वेद ५. ४४. १२ में एक व्यक्ति का नाम है।[4] किंतु यहां यह अर्थ संदिग्घ है।[5]

तलब—यजुर्वेद में पुरुषमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में एक गायक का नाम तलब है: वासं, ३०. २०; तैब्रा, ३. ४. १५. १; तु०—वेबर, इंस्त्रा० १. ८३. टि० १५।

तलश—अथर्ववेद ६. १५. ३ में तलश किसी वृक्ष का नाम है। ह्विटनी[6] का सुझाव है कि यह वही वृक्ष है, जिसे तालीश (फ्लैकोर्टिया कैटक्रेक्टा) कहा गया है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ६२।

तल्प—बिस्तर के लिए ऋग्वेद ७. ५५. ८, अवे ५. १७. १२; १४. २. ३१, ४१ एवं परवर्ती वैदिक साहित्य तैसं, ६. २. ६. ४; तैब्रा, २. २. ५. ३; पंविब्रा, २३. ४. २; २५. १. १० में यह शब्द आम है। तैब्रा १. २. ६. ५ में **उदुम्बर** से बने पलंग का उल्लेख है। छाउ ५. १० ९ में गुरु के तल्प के अतिक्रमण का उल्लेख है। शब्रा १३. २. ६. २ में तल्प्य शब्द "वैवाहिक तल्प पर उत्पन्न" औरस पुत्र का बोधक है। तु० मानवो वै तल्पः' तैब्रा २. २. ५. ३ तु०—त्सिमर, आ०ले, १५४।

[1] ट्रां० अ० वे०, ३१८।
[2] वोबू।
[3] तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, ४५८।
[4] तु०— लुड्विग्, ट्रां० ऋ० २, १५८, १५९।
[5] द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. ३४२।
[6] ट्रां० अवे०, २९१।

तवस्य—ऋग्वेद २. २०. ८ में तवस्य को वेंकट माधव ने 'कर-प्रदान' के अर्थ में और सायण ने बल के अर्थ में माना है।

तष्टृ—तक्षन् के समान तष्टृ शब्द भी ऋग्वेद में बढ़ई के अर्थ में आया है, और यह भी √तक्ष् से व्युत्पन्न है: ऋ० १. ६१. ४; १. १०५. १८; १. १३०. ४; ३. ३८. १; ७. ३२. २०; १०. ९३. १२; १. ११९. ५; तु०—निरुक्त, ५. २१।

तसर—ऋग्वेद एवं याजुष संहिताओं में तसर शब्द बुनकर की नाल या "ढरकी" का बोधक है: ऋ०, १०. १३०. २; वासं, १९. ८३; मैसं, ३. ११. ९; कासं, ३८. ३; तैब्रा, २. ६. ४. २। तु०—त्सिमर, आ० ले, २५४।

तस्कर—ऋग्वेद १. १९१. ५; ६. २७. ३; ७. ५५. ३; ८. २९. ६ और परवर्ती वैदिक साहित्य अवे, ४. ३. २; १९. ४७. ७; १९. ५०. ५; वासं, ११. ७७, ७८; १२. ६२; १६. २१ आदि; निरुक्त, ३. १४ में तस्कर शब्द चोर या डाकू के अर्थ में आम है। यह **स्तेन** का पर्याय है, जिसके संबन्ध में इसका उल्लेख होता रहा है: ऋ० ७. ५५. ३; अवे १९. ४७. ७; १९. ५०. ५; वासं, ११. ७९; १६. २१ आदि। ११. ७९ में **स्तेन** और **तस्कर** का **मलिम्लु** से विपर्यास दिखाया गया है, जिसे सेंध मारने वाला या दीवाल तोड़कर चोरी करने वाला बताया गया है, जब कि स्तेन और तस्कर रास्ते में लूटने वाले हैं; अथवा ऋग्वेद १०. ४. ६ के अनुसार वे "वन में फिरने वाले और जीवन को खतरे में डालने वाले "तनूत्यजा वनर्गू" हैं। वासं के उक्त स्थल पर **मलिम्लु** को "जनेषु" अर्थात् मनुष्यों में, और अन्यों को "वने" अर्थात् जंगल में चोरी करने वाला बताया गया है। ऋग्वेद ७. ५५. ३ में **स्तेन** और **तस्कर** के ऊपर कुत्तों के भूंकने का उल्लेख है, जो उनके, घरों में चोरी करने की ओर संकेत करता है। चोर रात के समय जाता है: ऋ० १. १९१. ५; वह उस मार्ग को जानता है जहाँ उसे अपने शिकार पर आक्रमण करना रहता है: ऋ० ८. २९. ६। ऋग्वेद १०. ४. ६ में पाश के प्रयोग का उल्लेख है, किंतु यह पता नहीं कि चोरों को बाँधने के लिए अथवा शिकार को बाँधने के लिए।[1] १९. ५०. ५ में **स्तेन** और **तस्कर** का पशुओं तथा अश्व की चोरी के प्रसङ्ग में उल्लेख आया है।[2]

[1] द्र०—त्सिमर, आ० ले, १७८ टि०।
[2] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ९८४; तु०—ऋ० १०. ९७. १०. स्तेन।

तायु एक दूसरे प्रकार का चोर था; संभवतः यह कम निपुण रहा हो और बटमारों की अपेक्षा अधिक घरेलू व्यक्तित्व वाला रहा हो यद्यपि उसे **पशु-चोर** : ऋ० १. ६५. १; ७. ८६. ५, **वस्त्र-चोर** : ऋ० ४. ३८. ५ और **ऋणी** भी बताया गया है : ऋ० ६. १२. ५; निःसंदेह यह चोरी ऋणाधिक्य के कारण है। ऋ० १. ५०. २ में उषा के आगमन पर नक्षत्रों की भाँति तायुओं के छिप जाने का उल्लेख आया है; अन्यत्र उषा को द्वेषियों को हटाने वाली ("यावयद् द्वेषस्") और ऋत की रक्षा करने वाली ('ऋत–या') देवी के रूप में दिखाया गया है।[1]

वासं, १६. २०. २१ के मन्त्रों में रुद्र को **आव्याधियों**=उपद्रवियों, **स्तेनों**=चोरों, **डाकुओं**=तस्करों, **स्तायुओं**=जेबकटों, **मुष्णन्तों**=चुराने वालों और **विकृन्तों**=काटने वालों का अधिपति बताया गया है। तु०–तैसं, ४. ५. ४. १; कासं, १७. १३; मैसं, २. ९. ४। **गृत्सों**=धूर्तों और **गणों** एवं **व्रातों** (स्पष्टतः डाकुओं के दलों) का भी उल्लेख मिलता है : वासं, १६. २५। इसलिए इस बात में आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि क्यों ऋग्वेद में घर तथा मार्ग में सुरक्षा के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं : ऋ० १. १२९. ९; २. २३. १६; ६. २४. १०; ६. ४१. ५; ६. ५१. १५; १०. ६३. १६, अथवा अथर्ववेद में अनेक रात्रि-सूक्त क्यों है, जिनमें चोरों और डाकुओं के कारनामों से रक्षा के मन्त्र पढ़े गये हैं : अ०वे० १९. ४७–५०।

पिशल[2] का सुझाव है कि ऋग्वेद ७. ५५ में **वसिष्ठ** को सेंध मारने वाला चोर कहा गया है, किंतु वे यह स्वीकार करते हैं कि **वसिष्ठ** अपने पिता **वरुण** का घर तोड़ रहे थे; अतः वे उसी को लेना चाहते रहे होंगे, जिसे वे अपना समझते थे। किंतु प्रसक्त सूक्त की व्याख्या अनिश्चित है।[3]

ऋग्वेद ६. ५४. १ के सायण-भाष्य में पशुओं का पीछा करने वाले, पंजाब के **खोजियों** के समान, पेशेवर लोगों की सूचना दी गई है, जो ठीक जान पड़ती है।[4]

[1] तु० मैकडानल, वैमा, पृ० ४७।

[2] वैस्तू, २. ५५. ५६; १. १०६ का विपर्यास।

[3] तु०–औफ़ेल्ट, इस्तू, ४. ३३७ एवं आगे; लानमान, संस्कृत रीडर, ३७०; त्सिमर, आ० ले, ३०८; बृ० दे० ७. ११ एवं आगे, मैकडानल के नोट के साथ।

[4] द्र०–त्सिमर, उपर्युक्त, १८२, १८३; इलियट, मेम्वायर्स, १. २७६ का उद्धरण; जाली, रेल्त उन्द ज़ित्ते, १२३।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में चोरों को दण्ड देना उसी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता था, जिसके यहाँ चोरी होती थी। बेड़ियों या जंजीरों में बाँधने का उल्लेख मिलता है : तु०–ऋ० १. २४. १३, १५; ७. ८६. ५; अवे, ६. ६३. ३; ६. ८४. ४; ६. ११५, २, ३; ६. १२१; १९. ४७. ९; १९ ५०. १। इन सभी स्थलों को त्सिमर[1] ने उक्त प्रसङ्ग में प्रमाण के स्वरूप में उद्धृत किया है।[2] किंतु बाद में, और संभवतः पहले भी, अधिक कठोर दण्ड दिए जाते थे; और राजा द्वारा मृत्युदण्ड भी दिया जाता था : गौधसू, १२. ४३–४५; आपधसू, १. ९. २५. ४, ५; जाली, उपर्युक्त, १२४। दोष–निर्णय कैसे किया जाता था, इसका वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता; अथर्ववेद में अग्नि-परीक्षा का उल्लेख नहीं माना जा सकता।[3] छाउ, ६. १६. में उल्लिखित अग्नि-परीक्षा भी चोरी के लिए नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि यदि चोरी गई संपत्ति का पता चल जाता था, तो उसे ले लिया जाता था। किंतु यदि संपत्ति असली चोर के हाथ से निकल कर दूसरे व्यक्ति के पास पहुँच जाती थी, तो क्या किया जाता था, इसका ठीक-ठीक पता नहीं मिलता।

तस्तुव या तस्रुव—अवे. ५. १०. ११ में **ताबुव** के साथ **तस्तुव** का सर्प-दंश की ओषधि के रूप में उल्लेख है।

[1] आ० ले, १८१, १८२।

[2] किंतु केवल ऋ० ७. ८६. ५ निर्णायक प्रमाण नहीं हो सकता, यद्यपि अवे, १९. ४७. ९; १९. ५०. १ में "द्रुपदे आह्व" का संभवतः वही अर्थ है। ह्विटनी ने ट्रां० अ०वे०, ९७६, ९८३ में पाश में बाँधने का अर्थ दिया है। पिशल ने वैस्तू, १. १०६ में ऋग्वेद ७. ८६. ५ की व्याख्या में लिखा है कि पशु-चोर जिस पशु को चुराना चाहता था, उसकी रस्सी को खोल देता था। इसी तरह ऋ० १०. ४. ६ के लिए द्र०–त्सिमर, आ० ले, १७८ टि०। जर्मनों और स्लावोनिक लोगों के संबन्ध में त्सिमर, १८२ टि० द्वारा उद्धृत प्रमाण इस बात का समर्थन करते हैं। तु०–ऋण के संबन्ध में भी वैसा ही दण्ड।

[3] अवे, २. १२ की व्याख्या में श्लागिन्त्वाइत ने ऐसा लिखा है; द्र०–दी गोत्तेसुरथाइले देर इन्दर, ९ एवं आगे; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ४५५; त्सिमर, १८३ एवं आगे; किंतु द्र०–ब्लूमफील्ड, अजफि ११, ३३० एवं आगे; हिम्स आफ दि अ०वे०, २९४–२९६; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ५४; ग्रिल हुंडेर्त लीडर, ४७, ८५; जाली, उपर्युक्त १४६।

पैप्पलाद शाखा में तस्तुव पाठ है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ४२८; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, २४४।

ताजद्भङ्ग—आसानी से टूटा हुआ। अवे ८. ८. ३ में ताजद्भङ्ग किसी वृक्ष या पौधे का नाम है। कौशिक सूत्र १६. १४ में इस शब्द को सामासिक पद कहा है, और इसके भाष्यकार ने इसे एरंड माना है। किंतु ह्विटनी ने इसमें दो शब्द माने हैं, और उन्होंने अर्थ किया है कि "वे भङ्ग के समान शीघ्र (ताजत्) नष्ट हो जायं।"[1]

ताण्ड—एक ऋषि का नाम प्रतीत होता है; लाट्यायन श्री सू ७. १०. १७[2] में उल्लिखित ताण्ड्य ब्राह्मण से जिनका संबन्ध था।

ताण्डविन्द या ताण्डविन्दव—शांआ ८. १० में यह एक आचार्य का नाम है। पाण्डु लिपियों में पाठान्तर अनेक हैं।

ताण्डि—सामविधान ब्राह्मण में आचार्यों की वंश-सूची में बादरायण के शिष्य का नाम ताण्डि है। द्र०—कोनो का ट्रांसलेशन, ८०, टि० २।

ताण्ड्य—शब्रा ५. १. २. २५ में एक आचार्य का नाम ताण्ड्य है, जिनका उल्लेख अग्निचित् के संबन्ध में आया है।[3] वंब्रा में भी इनका उल्लेख है।[4] सामवेद ताण्ड्य महाब्राह्मण या पंविब्रा ताण्डियों की शाखा का सूचक है।[5]

तात—यह पिता द्वारा पुत्र के लिए प्रयुक्त प्रेम का संबोधन है। (तु०—तत)। यह शब्द केवल संबोधन में ब्राह्मणों में एवं अन्यत्र आया है: ऐब्रा, ७. १४. ४; बृउ, ६. १. ६; छाउ, ४. ४. २, किंतु तत के साहचर्य से भ्रम के कारण ऐआ १. ३. ३ के समय से ही यह पिता के अर्थ में आ रहा है।[6] तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वाण्ड्सशाफ्त्सनामन, ४४९, ४५४।

[1] विवरण: ब्लूमफील्ड, अ०वे०, ४४; हिम्स आ० दि० अवे०, ५८३, ५८४; कालंड, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबररितुआल, ३५; लानमान, ह्विटनी के ट्रां० अ० वे०, ५०२ में; त्सिमर, आ०ले, ७२।

[2] तु०—वेबर, इस्तू, १. ४९।

[3] तु०—लेवी, डाक्ट्रिन द्यु सैक्रीफीस, १४०।

[4] द्र० वेबर, इस्तू, ४. ३७३, ३८४।

[5] द्र०—वेबर, इं० लि०, ६६ एवं आगे; ७४; १३३; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २०३, २१०। हापकिन्स-ट्रांजेक्शन्स०, १५. २३ एवं आगे।

[6] लिटिल ने ग्रामेटिकल इंडेक्स, ७५ में तात का प्रारम्भिक अर्थ पिता माना है, जो संभव नहीं जान पड़ता।

तादुरी—अथर्ववेद ४. १५. १४ में मण्डूकी के साथ तादुरी शब्द का उल्लेख है; संभवतः यह मेंढक जैसे ही किसी जन्तु का बोधक हो; किंतु दुर्ग ने निरुक्त ९. ७ के भाष्य में इसे एक विशेषण माना है, जिसे राथ ने भी स्वीकार किया है।[1]

तानूनप्त्र—'ते यद् वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत तत् तानूनप्त्रमभवत् तत् तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम्' ऐब्रा० १. २४।

१—तान्व—ऋग्वेद ३. ३१. २ में औरसपुत्र के अर्थ में तान्व का उल्लेख है, जो पिता के उत्तराधिकार =रिक्थ को बहन= =जामि के यहां पहुँचने से बचाता है। ठीक अर्थ अज्ञात है। किंतु उक्त स्थल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लड़की के लिए उत्तराधिकार स्वीकृत नहीं था। यदि वह आजीवन अविवाहिता रहती थी तो भाई उसको आवश्यक व्यय देता था; किंतु उस का स्वतन्त्र अधिकार नहीं था। विवरण: ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. ३४८; ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटेन, १. २४०, गेल्डनर, वैस्तू, ३. ३४; जाली, रेख़्त उन्द ज़ित्ते ८७। द्र०—दाम।

२—तान्व—ऋग्वेद १०. ९३. १५ में किसी का पैतृक नाम तान्व =तन्व का वंशज प्रतीत होता है। लुड्विग[2] के अनुसार पूर्ववर्ती ऋचा में उल्लिखित दुःशीम का यह पैतृक नाम है, किंतु यह बात संदिग्ध है।

१—तापस—तपस्वी। उपनिषदों के समय से पहले यह शब्द वैदिक साहित्य में नहीं आता। बृउ ४. ३. २२ यह आया है। तु०—फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग पृ० ४०।

२—तापस—पंविब्रा २५. १५ के नागोत्सव के प्रसङ्ग में उल्लिखित होतृ पुरोहित दत्त का यह नाम है।

ताबुव—अवे ५. १३. १० में सर्प-विष के निराकरण के लिए एक ओषधि का नाम ताबुव है। पैप्पलाद शाखा में उसके स्थान पर ताबुच शब्द है। वेबर[3] के मत के अनुसार प्रारंभिक रूप तायुव था, जिसे √स्था धातु से 'ठहराने' या 'रोकने' के अर्थ में व्युत्पन्न माना जा सकता है। किंतु इस व्युत्पत्ति में कठिनाइयां हैं।[4]

[1] वोबू; उन्होंने ताडुरी शब्द पढ़ा है, जिसे √तड् "मारना" धातु से व्युत्पन्न कहा गया है।

[2] ट्रां० ऋ० ३. १६६।

[3] वेबर, प्रोसी आ० दि बर्लिन एके०, १८९६, ६८१।

[4] बार्थ, रेव्यू द ल हिस्त्वार दे रिलिजन्स, ३९. २६; तु९—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ४२८।

तायादर—**तयादर** से संबद्ध : अवे ६. ७२. २ ।

तायु—चोर । ऋग्वेद में **तायु** शब्द अनेक बार आया है : ऋ० १. ५०. २; १;. ६५. १; ४. ३८. ५; ५. १५. ५; ५. ५२. १२; ६. १२. ५; ७. ८६. ५; पशु-तृप् अर्थात् पशुचार; द्र०—पिशेल, वैस्तू, १. १०६ तु० **तस्कर** ।

तारका—अवे में अनेक बार= २. ८. १; २. ७. ४; ६. १२१. ३; १९. ४९. ८ तारका शब्द आकाश के तारे के अर्थ में आया है । तैब्रा १. ५. २. ५ में इसका पुंल्लिग रूप "तारक" मिलता है । तु०—सलिलं वा इद-मन्तः (=अन्तरिक्षे) आसीत् । यदतरन् तत् तारकाणां तारकत्वम्' तैब्रा. १. ५. २. ५ ।

तारुक्ष्य—ऐ आ ३. १. ६. और शां आ ७. १९ में एक आचार्य का नाम **तारुक्ष्य** है । प्रथम स्थल पर एक पाठान्तर **तार्क्ष्य** है, और दूसरे स्थल पर **तार्क्ष्य** पाठ है; किंतु संभवतः यह ऋग्वेदीय सूक्त के ऋषि **तार्क्ष्य** के नाम के साथ भ्रान्ति के कारण है । द्र०—ऐआ १. ५. २ कीथ के नोट के साथ; शांश्रौ, ११. १४. २८; १२. ११. १२; आश्रौसू. ९ १ ।

तार्क्ष्य—ऋग्वेद १. ८९. ६; १०. १७८ में **तार्क्ष्य** एक दैवी घोड़े का नाम है; स्पष्टतः यहां सूर्य को अश्व के रूप में माना गया है ।[1] किंतु फौय[2] के अनुसार यह **तृक्षि** का पैतृक नाम है, जिसे ऋग्वेद ८. २२. ७ के समय से **त्रसदस्यु** का वंशज माना गया है; अतः प्रसक्त अश्व **तृक्षि** का असली अश्व रहा होगा । किंतु यह बहुत संभव नहीं है । खिल, २. ४. १ में तार्क्ष्य को एक पक्षी या वायस कहा गया है जो सूर्य का प्रतीक है । वासं १८ में तार्क्ष्य के साथ अरिष्टनेमि शब्द आया है, जो ऋग्वेद में उसका विशेषण है : ऋ० १. ८९. ६; १०. १७८. १ । शब्रा, १२. ४. ३. १३ में उसे **वैपश्चित** नामक पक्षियों का राजा कहा गया है; आश्रौसू, १०. ७ में **वैपश्चित** नाम है ।=वायु, कौब्रा. ३०. ५, 'तस्य (यज्ञस्य) तार्क्ष्यश्चा-रिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्याविति शारदौ तावृतू' शब्रा. ८. ६. १. १९; 'तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि विशः······पुराणं वेद' शब्रा. १३. ४. ३. १३; 'स्वस्त्ययनं वै तार्क्ष्यः' ऐब्रा. ४. २९. तु०—एगलिंग, सेबुई, ५४. ३६९ ।

तार्प्य—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में किसी अज्ञात वस्तु से बने परिधान को **तार्प्य** कहा गया है : अवे, १८. ४. ३१; तैसं, २. ४. ११. ६; तैब्रा, १. ३. ७. १; १. ७. ६. ४; पविंब्रा, २१. १; शब्रा, ५. ३. ५. २०; काश्रौसू, १५. ५. ७ एवं आगे; शांश्रौसू, १६. १२. १९ । काश्रौसू और शब्रा के भाष्यकारों के अनुसार इससे क्षौम वस्त्र, या तीन बार घी में डाले गए किसी पदार्थ से बना वस्त्र, अथवा तृपा या त्रिपर्ण पौधे से बना वस्त्र अभिप्रेत है; तु०—अवे के उक्त स्थल पर सायण भाष्य ।[1] किंतु इस बात में संदेह है कि ब्राह्मण के रचयिता को भी इसके अर्थ का ज्ञान था या नहीं । गोल्डस्टुकर[2] के अनुसार यह क्षौमवस्त्र है, जिसे एगलिंग ने भी स्वीकार किया है ।[3]

तार्ष्टाघ—कौशिक सूत्र २५. २३ में एक वृक्ष-विशेष का नाम **तार्ष्टाघ** है; अवे ५. २९. १५ में विशेषण **तार्ष्टाघी** (तार्ष्टाघ वृक्ष से निष्पन्न) आता है ।[4] वेबर[5] यहाँ सरसों को अभिप्रेत समझते हैं ।

तितउ—ऋग्वेद १०. ७१. २ में तितउ शब्द चलनी या शूर्प के अर्थ में आया है, जिससे अन्न साफ किया जाता है । विवरण : मैकडानल, वैग्रा० २०. ३ । तु०—त्सिमर, आ० ले, २३८ ।

तित्तिर, तित्तिरि—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में तीतर या तीतिल पक्षी के अर्थ में ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं; ये ध्वनि के अनुकरण के आधार पर बने शब्द हैं : तैसं, २. ५. १. २; ५. ५. १६. १; मैसं, २. ४. १; कासं, १२. १०; वासं, २४. ३०, ३६; तित्तिर : मैसं, ३. १४. १; शब्रा, १. ६. ३. ५; ५. ५. ४. ६; जैब्रा, २. १५४. ६[6] इस पक्षी को **बहुरूप** कहा गया है । यह प्रायः **कपिंजल** और **कलविङ्क** के साथ आया है । तु० 'अथ यदन्य-स्मा अशनाय (विश्वरूपस्य मुखम्) आस ततस्तित्तिरिः समभवत् तस्मात् स विश्वरूपतम इव सन्त्येव घृतस्तोका इव त्वन्मधुस्तोका इव त्वत्पर्णेष्वाश्चुतिता एवंरूपमिव हि स तेन मुखेनाशनमावयत्' शब्रा० १. ६. ३. ५. ।

तिथि—चान्द्र दिवस, या उस चान्द्र मास का तीसवाँ भाग, जो विशेषतः २७ दिनों का होता था, तिथि के नाम

---

[1] द्र०—मेकडानल, वैमा, पृ० १४९ ।

[2] कुह्न, त्साइतश्रिफ्त, ११. ३६६. ३६७ ।

[1] ह्विटनी, ट्रां० अवे, ८७९ ।

[2] डिक्शनरी, 'अभिषेचनीय' शब्द ।

[3] सेबुई ४१. ८५. टि० १ ।

[4] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे० ।

[5] इस्टू, १८. २८० । विवरण : त्सिमर, आ० ले, ६२ ।

[6] अर्टेल, ट्रांजैक्शन्स, १५. १८१ । विवरण : त्सिमर, आ० ले, ९१; श्रेडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, २१५ ।

से सूत्रों में उद्दिष्ट है। ब्राह्मणों में यह शब्द नहीं आता; वहाँ केवल "दिन" या "अहन्" आदि शब्दों का चलन है : गोभिल गृसू, १. १. १३; २. ८. १२; २०; शांगृसू०, १. २५; ५. २ आदि; द्र०—थिबो, ऐस्ट्रोलजी, ऐस्ट्रोनमी उण्ड मैथेमेटिक, ७, ८।

तिमिर्घ दौरेश्रुत—**दूरेश्रुत** का वंशज। पंविब्रा. २५. १५ के नागोत्सव के प्रसङ्ग में 'तिमिरघ दौरेश्रुत' का अग्नीध (=अग्नि जलाने वाले) पुरोहित के रूप में उल्लेख आया है। तु०—वेबर, इस्तू, १. ३५।

तिरश्च—अवे, १५. ३. ५ में **व्रात्य** की **आसन्दी** के वर्णन के प्रसङ्ग में "तिरछे" के अर्थ में तिरश्च शब्द आया है; किंतु रूप **तिरश्च्य** होना चाहिए, जो एक विशेषण है। तु०—ह्निटनी, ट्रां० अ०वे०, ७७६; कीथ, शांआ, १९. टि० ३।

तिरश्चराजि, तिरश्चिराजि, तिरश्चीनराजि—तिरछी रेखा से अंकित या चित्रित। ये सभी शब्द परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में सर्प के अर्थ में आए हैं : तिरश्चराजि: तैसं, ५. ५. १०. २; त्सिमर, आ० ले०, ९४, ९५; तिरश्चिराजि: अवे, ३. २७. २; ६. ५६. २; ७. ५६. १; १०. ४. १३; १२. ३. ५६; तिरश्चीनराजि: मैसं, २. १३. २१; शां आ, १२. २७। विवरण : ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अ०वे०, ४८८, ५५३; कीथ, शां आ ६८, टि० २; वेबर, इस्तू, १७. २९५—२९७।

तिरश्ची—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त ८. ९५. ४ के द्रष्टा एक ऋषि का नाम **तिरश्ची** है ! इन्होंने उस सूक्त में **इन्द्र** से यह प्रार्थना की है कि वह उनकी पुकार को सुने। पंविब्रा. १२. ६. १२. में भी एक **तिरश्ची आङ्गिरस** नामक ऋषि का उल्लेख है। किंतु राथ इसे व्यक्तिवाचक नाम नहीं मानते।[१]

तिरश्चीन वंश—छाउ ३. १. १ में तिरश्चीन वंश मधुकोष या मधुमक्षिका के आधार का बोधक है। तु०—लिटिल, ग्रामेटिकल इंडेक्स, ७५।

तिरिन्दिर—ऋग्वेद की एक दान-स्तुति ८. ६. ४६-४८ में **पर्शु** के साथ **तिरिन्दिर** का नाम है, जिनके हाथों गायक को दिये गए बहुत से दानों का उल्लेख है। शांश्रौसू १६. ११. २० में कहा गया है कि **कण्व वत्स** ने **तिरिन्दिर पार्शव्य** से दान लिए थे; इस प्रकार यहां उल्लिखित **तिरिन्दिर पर्शु** एक व्यक्ति हो सकते हैं। लुडविग[१] ऋग्वेद के उक्त स्थल पर **यदुओं** द्वारा तिरिन्दिर पर प्राप्त की गई विजय का उल्लेख पाते हैं; किंतु इस व्याख्या को सिद्ध करने के लिए प्रमाण नहीं हैं, और त्सिमर[२] ने इसे त्याज्य कहा है। **तिरिन्दिर** और **पर्शु** को दो **यदु**-राजा मान सकते हैं, यद्यपि वेबर का विचार है कि गायक यदु थे, राजा नहीं[३]। दूसरे राजा को वे ईरानी मानते हैं और इसके द्वारा वे ईरान एवं भारत का निकट संबन्ध प्रमाणित करते हैं। यह संभव है, किंतु इसके लिए प्रमाणों की अपेक्षा है।

तिरीट—अवे ८. ६. ७ में **तिरीट** से बने विशेषण तिरीटिन् का उल्लेख किसी दानव के संबन्ध में आया है; संभवत: इसका अर्थ है "किरीटिन्" या 'मुकुट वाला'। परवर्ती कोशकारों ने इसका अर्थ शिरोवस्त्र या पगड़ी किया है। विवरण : त्सिमर, आले २६५. ह्निटनी, ट्रां० अवे, ४९५।

तिर्य—अवे ४. ७. ३ में **करम्भ** का विशेषण बनकर **तिर्य** शब्द आया है; संभवत: यह "तिल्य" अर्थात् "तिल से बना हुआ" इस अर्थ का बोधक है, जैसा कि राथ[५] और ह्निटनी[६] ने माना है। किंतु राथ ने राजनिघण्टु में **तिरीय** के रूप में इसे एक चावल माना है।[७] आजकल के तिन्नी चावल से **तिर्य** की तुलना की जा सकती है।

---

[१] द्र०—त्सादामौगे, ४८, ११५; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ५. १८७; हापकिन्स, जअओसो, १७. ९०; मैकडानल, वैग्रा, पृ० २७३।

[१] ट्रां० ऋ०, ३. १६०, १६१; ५. १४२।

[२] आ० ले १३६, १३७।

[३] इस्तू, ४. ३५६ टि०, इं० लिट०, ३. ४; एपिश्शेस् इम वैदिश्शन रितुआल, ३७, ३८।

[४] बोघाज़कोई के नामों के संबन्ध में द्र०—याकोबी, जराएसो, १९०९, ७२१ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, वही, १०९५-११००; कीथ, वही, ११००-११०६; साइस, वही, ११०६, ११०७; केनेडी, वही, ११०७-१११९; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. ९४ एवं आगे का मत है कि अराकोसिया में आर्यों और ईरानियों का संबन्ध था, और वहीं ऋग्वेद के कुछ भागों की रचना हुई थी। हापकिन्स, जअओसो, १७, १६. २७७ का मत है कि ईरानियों से संबन्ध बाद का है। आर्नल्ड, वही, १८, २०५ एवं आगे ने इस मत का विरोध किया है।

[५] वोबू। [६] ट्रां० अवे०, १५५।

[७] द्र० लानमान, ह्निटनी के उपर्युक्त ग्रन्थ में; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे, ३७७ में; इन्होंने इसे विष के विशेषण के रूप में गलत समझा है। ग्रिल, हुण्डेर्त लीडर,[२] १२१ ने 'अतिरिय' के रूप में ग्रहण कर 'उपप्लव-युक्त' अर्थ किया है। द्र०—त्सिमर, आले, २७०; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०१।

तिर्यञ्च् आङ्गिरस—पंविब्रा १२. ६. १२ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम **तिर्यञ्च आङ्गिरस** है। द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, २. १६०।

तिल—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में तिल का उल्लेख मिलता है, जिससे प्रमुख तेल निकाला जाता है: अवे २. ८. ३; ६. १४०. २; १८. ३. ६९; १८. ४. ३२; तैसं, ७. २. १०. २; मैसं, ४. ३. २; वासं १८. १२; शब्रा ९. १. १. ३ आदि। इसका उल्लेख कभी-कभी **माष** (उड़द) के साथ हुआ है: अवे, ६. १४०. २; वासं १८. १२; बृउ, ६. ३. २२; छाउ, ५. १०. ६ आदि। तैसं ७. २. १०. २ में तिल और माष के हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं में होने का उल्लेख है। तिल के डंठल (=तिलपिंजी या तिलपिंज) का प्रयोग ईंधन के रूप में होता था: अवे २. ८. ३; १२. २. ५४; तिलों से **तिलौदन** भी बनाया जाता था: बृउ, ६. ४. १६; शाआ १२. ८। विवरण: त्सिमर, आले, २४०।

तिलपिञ्ज तिलपिञ्जी—द्र०—तिल।

तिलौदन—द्र०—**ओदन**।

तिल्वक—१३. ८. १. १६ में तिल्वक (सिम्पोकस रेसमोसा Sympocos racemosa) एक वृक्ष का नाम है, जिसके नीचे कब्र बनाना अशुभ माना गया है। **तैल्वक** =तिल्वक से बना हुआ का उल्लेख मैसं ३. १. ९ में आया है। षड्विंश ब्राह्मण ३. ८ में इसका यूप के प्रसङ्ग में उल्लेख आया है।

तिष्य—ऋग्वेद ५. ५४. १३; १०. ६४. ८ में स्पष्टतः तिष्य एक आकाशीय तारे का नाम है, यद्यपि सायण ने इसे सूर्य के अर्थ में ग्रहण किया है। निःसंदेह यह अवेस्ता के **तिस्त्र्य** से अभिन्न है। बाद में यह एक चान्द्र नक्षत्र का नाम बन गया है। द्र०—**नक्षत्र**।

विवरण: वेबर, नक्षत्र, २. २९०; त्सिमर, आले, ३५५; मैक्समूलर, सेबुई ३२, ३३१; कीथ, शांआ, ७७ टि० १।

तिसृ-धन्व—तीन बाणों से युक्त धनुष्। तैसं १. ८. १९. १; तैब्रा, १. ८. १. ४; २-७. ९. २; शब्रा, ११. १. ५. १०; १४. १. १. ७ में पुरोहित को दिये गए एक उपहार का नाम **तिसृ-धन्व** है।

तीर्थ—तीर्थ शब्द ऋग्वेद-काल से ही नदी के तट या समीपस्थ क्षेत्र या किसी भी जल अथवा समुद्र के तटीय स्थान के अर्थ में आया है। ऋग्वेद १. ४६. ८ में सिन्धुओं=नदियों का तीर्थ अभिप्रेत है; और शब्रा १२. २. १. १, ५ में समुद्र के तीर्थ का उल्लेख है। तीर्थ के पुण्य-प्रदेश होने की मान्यता क्रमशः बढ़ती गई और बाद में अनेक प्रमुख तीर्थ भारत में माने जाने लगे। तु० 'तीर्थेन हि प्रतरन्ति तद्यथा समुद्रं तीर्थेन प्रतरेयुः' गो० पू० ५. २. 'तद्यत् प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्ति यथा तीर्थेन समुद्रं प्रस्नायुस्तादृक् तत्' शब्रा १२. २. १. १।

तीव्रसोम—एकाह। 'छिद्र इव वा एष यं सोमोऽतिपवते यत् तीव्रसोमेन यजते पिहित्या एवाछिद्रता यै' तां० १८. ५. ६; द्र० तां० १८. ५. ८; १८. ५. ९; १८. ५. १०; १८. ५. ११।

तुग्र—ऋग्वेद १. ११६. ३; १. ११७. १४; ६. ६२. ६ में तुग्र **अश्विनों** के कृपापात्र **भुज्यु** के पिता का नाम है, जिसे **तुग्र** या **तौग्र** कहा गया है: ऋ० ८. ३. २३; ८. ७४. १४; तौग्र्यः ऋ० १. ११७. १५; १. ११८. ६; १. १८२. ५, ६; ८. ५. २२; १०. ३९. ४। ऋग्वेद २०. ८. ६. २६. ४, १०. ४९. ४ में एक अन्य **तुग्र** का उल्लेख है, जो **इन्द्र** का शत्रु प्रतीत होता है। विवरण: ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ५५, ३२८, ३२९; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५७।

तुग्र्य—ऋग्वेद ६. ६२. ६. में **भुज्यु** का पैतृक नाम **तुग्र्य** आया है, किंतु ८. ३२. २० में तुग्र-वंशीय किसी व्यक्ति का यह नाम प्रतीत होता है। ऋग्वेद १. ३३. १५ में सप्तमी के बहुवचन में यह शब्द आया है, जहाँ अर्थ **'तुग्रवंशीय लोगों में'** यह हो सकता है। **तुग्र्यावृध्** शब्द 'तुग्र-वंशीय लोगों में पूजित' के अर्थ में **इन्द्र** (ऋ० ८. ४५. २९; ८. ९९. ७) और सोम (ऋ० ८. १. १५ जहाँ राथ ने वोबू में **इन्द्र** का उल्लेख भी माना है) का विशेषण है।

तुच्—ऋग्वेद ८. १८. १८; ८. २७. १४; ६. ४८. ९ में तुच् शब्द लड़कों के अर्थ में आया है। **तुज्** इसी अर्थ में अपेक्षाकृत अधिक बार आया है: ऋ० ३. ४५. ४; ४. १. ३; ५. ४१. ९; ८. ४. १५। तु० **तनय** और **तोक**।

तुजि—ऋग्वेद ६. २६. ४; १०. ४९. ४ में **इन्द्र** के एक कृपा-पात्र का नाम है। ऋग्वेद ६. २०. ८ में **तूतुजि** नाम आया है। विवरण: लुड्विग, ट्रां. ऋ०, ३. १५६, ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ५५. ३२८।

तुञ्ज—ऋग्वेद १. ७. ७ में तुञ्ज शब्द दान के अर्थ में आया है। किंतु निघण्टु २. २० में इसे **वज्र** का पर्याय माना गया है।

तुण्डिक—अवे ८. ६. ५ में एक असुर का नाम अथवा विशेषण है। द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०।

तुमिञ्ज औपोदिति—तैसं १. ७. २. १ में एक सत्र के होतृ पुरोहित का नाम **तुमिञ्ज औपोदिति** है। वहां **सुश्रवस्** के साथ उनके विवाद का भी उल्लेख है।

तुथ—'ब्रह्म वै तुथः' शब्रा. ४. ३. ४. १५।

तुर कावषेय—शब्रा १०. ६. ५. ९ में पाई जाने वाली आचार्यों की एक वंश-सूची में **तुर कावषेय** का नाम आया है। उनके सिद्धान्त का ही उस काण्ड में प्रतिपादन किया गया है। गुरु-परंपरा में उनके और **शाण्डिल्य** के बीच **यज्ञवचस्** और **कुश्रि** पड़ते हैं। उसी ब्राह्मण ९. ५. २. १५ में शाण्डिल्य ने उन्हें **कारोती** पर अग्नि-वेदिका बनाने वाला कहा है। ऐब्रा ४. २७; ७. १४; ८. २१ के अनुसार वे **जनमेजय पारिक्षित** के पुरोहित थे, और उन्होंने उनका अभिषेक कराया था। बृ उ ६. ५. ४. काण्व और एक खिल[१] १. ९. ६ में उन्हें एक प्राचीन ऋषि बताया गया है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार वे वैदिक युग के अन्तिम भाग के ऋषि थे।[२] राथ[३] के अनुसार पंविब्रा, २५. १४. ५ में उल्लिखित **तुर देवमुनि** से वे अभिन्न हैं।[४]

तुर-श्रवस्—पंविब्रा. ९. ४. १० में तुरश्रवस् अपने दो सामगानों से **इन्द्र** को प्रसन्न करते हैं। **इन्द्र** ने इसके लिए उन्हें **यमुना** तट पर पारावतों द्वारा दी गई हवि प्रदान की थी। विवरण: हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५३; मैक्समूलर, सेबुई ३१. ३१६।

तुरन्त—ऋवे. ५. ६१. १० में **विददश्व** के पुत्र बन कर **तुरन्त** १०० गौओं का दान करते हैं।

तुरुक्ष—ऋवे की दान-स्तुति ८. ४६. ३२ में **दास बल्बूथ** के साथ **तुरुक्ष** का नाम आया है। संभवतः वह भी एक **दास** था।

तुर्यवाह्, तुर्यवाही—परवर्ती संहिताओं में चार वर्ष के बैल को **तुर्यवाह्** और उसी आयु की गौ को **तुर्यवाही** कहा गया है: तैसं, ४. ३. ३. २; मैसं, ३. ११. ११; ३. १३. १७; वासं, १४. १०; १८. २६. आदि।

तुर्व—ऋग्वेद १०. ६२. १० में एक बार तुर्व शब्द **तुर्वश जन** या **राजा** का नाम प्रतीत होता है।

तुर्वश—ऋग्वेद में प्रायः **यदु** लोगों के साथ **तुर्वश** नामक व्यक्ति या जन का नाम अनेक बार आया है। एक वचन में दोनों शब्द बिना किसी संयोगद्योतक अव्यय के केवल **"तुर्वश-यदु"** या **"यदु-तुर्वश"** के रूप में आए हैं: ऋ० १. ३६. १८; १. ५४. ६; १. १७४. ९; ६. २०. १२; ६. ४५. १; ८. ४. ७; ८. ७. १८; ८. ९. १४; ८. ४५. २७; १०. ४९. ८; तु०—तुर्वशःयक्षु, ऋ० ७. १८. ६ जिसे हापकिन्स[१] ने यदु का पाठान्तर माना है। बहुवचन में ये शब्द ऋग्वेद ५. ३१. ८ में आए हैं: और एक बार उसी सूक्त १. १०८. ८ में भी आये हैं, जहाँ कि पहले एकवचन में प्रयोग आ चुका है। एक मन्त्र ४. ३०. १७ में द्विवचन में "तुर्वशा-यदू" का प्रयोग मिलता है। एक मन्त्र में "यदुस्तुर्वशश्च" यह आया है: ऋ० १०. ६२. १०[२]। ऋग्वेद १. ४. ७७; ६. २७. ७ (तु०—८. ४. १) में **तुर्वश** का उल्लेख अकेले है; और एक मन्त्र ७. १९. ८ में **तुर्वश** और **यादव** का उल्लेख है।

इन तथ्यों के आधार पर हापकिन्स (जअओसो, २५८ एवं आगे) ने तुर्वश को जन के अर्थ में लेने को गलत बताया है; और तुर्वश को **यदुओं** का राजा माना है। किंतु इसके लिए प्रमाण अपेक्षित हैं। अनु, द्रुह्यु, **तुर्वश**, **यदु** और **पुरु** लोगों के पञ्चजन होने के तथ्य पर अधिक बल दिए बिना भी कहा जा सकता है कि **यदु** और तुर्वश दो बहुत निकट के संबन्ध वाले **जन** थे। उन सूक्तों में तो कम से कम ऋषियों ने उन्हें इसी रूप में माना है, जिनमें द्विवचन में "तुर्वशा-यदू" और "यदुस्तुर्वशश्च" शब्द आये हैं। ऋग्वेद के दो सूक्तों में बहुवचन में प्रयुक्त तुर्वश शब्द से भी इस कथन का समर्थन होता है।

ऋग्वेद में तुर्वशों का प्रमुख उल्लेख वहाँ है, जहाँ **सुदास्** से उनके युद्ध करने एवं पराजित होने का विवरण आता है: ऋ० ७. १८. ६.। हापकिन्स (जअओसो, २६४) का कहना है कि तुर्वश यह नाम युद्ध-क्षेत्र से जल्दी ही भाग खड़े होने (तुर) के कारण पड़ा था। संभवतः **इन्द्र** ने उनके पलायन में सहायता दी थी; क्योंकि ऋग्वेद ऋ० १. १७४. ९; ४. ३०. १७; ५. ३१. ८; ८. ४. ७ में **इन्द्र** द्वारा **यदुओं** और **तुर्वशों** की सहायता का उल्लेख आता है। यह भी स्मरणीय है कि अनु और **द्रुह्यु** राजा रण-क्षेत्र में पराजित हुए थे; किंतु तुर्वश और **यदु** राजा नहीं। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में तुर्वश उस अनु राजा

---

१ शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, ६५, १९०।

२ त्सादामौगे, ४२. २३९।

३ वोबू.

४ द्र०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शंस, १५. ६८। विवरण: वेबर, इस्तू, १. २०३. टि०; इं. १२०, १३१; एगलिंग, सेबुई ४२. १८।

---

१ हापकिन्स, जअओसो, १५. २६१, तु०—तृत्सु; **"यदु तुर्वश"**: ऋ० ५, ३१. ८।

२ तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६६; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ४२, २२० टि० १।

के साथ **इन्द्र** के उपासक के रूप में उल्लिखित है, जो भागे हुए राजा का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है।[1] ग्रिफिथ[2] का कहना है कि इन स्थलों पर तुर्वश और **यदु** लोगों द्वारा सरयू तट पर पराजित **अर्ण** और **चित्ररथ** का उल्लेख है; किंतु इस मत की पुष्टि के लिए प्रमाण की अपेक्षा है। ऋग्वेद के दो सूक्तों (६. ४५. १; ९. ६१. २ **दिवोदास;** ७. १९. ८ में **अतिथिग्व**) में तुर्वश और **यदु** राजाओं द्वारा **सुदास्** के पिता दिवोदास पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है। यह अनुमान तर्क-संमत है कि दोनों जनों ने मिलकर **दिवोदास** पर आक्रमण किया था; क्योंकि **दिवोदास** के पुत्र **सुदास्** पर तुर्वश द्वारा किए गए आक्रमण के संबन्ध में कठिनाई है। त्सिमर[3] का विचार है कि तुर्वश लोगों को **वृचीवन्त्** भी कहते थे। यह दृष्टिकोण ऋग्वेद के एक सूक्त पर आधृत है, जिसमें **यव्यावती** और **हरियूपीया** के पास **दैवरात** की सहायता में **वृचीवन्तों** और **संजय** की सहायता में तुर्वशों की पराजय का उल्लेख है, जब कि संजय को अन्यत्र **देवरात** का पुत्र कहा गया है : ऋ० ४. १५. ४। किंतु इससे **वृचीवन्तों** और **तुर्वशों** की अभिन्नता नहीं सिद्ध होती; हाँ इतना जरूर प्रकट होता है कि वे दोनों परस्पर मित्र थे।[4]

शब्रा. में तुर्वश **पञ्चालों** के मित्र दीख पड़ते हैं, जहाँ तुर्वशों के अश्वों की संख्या तैंतीस और सशस्त्र पुरुषों की संख्या छः हजार बताई गई है : द्र०—श०ब्रा०, १३, ५. ४. १६।[5] किंतु इसके बाद तुर्वशों का नाम नही आता, जिससे ओल्डेनबर्ग[6] का यह अनुमान ठीक जान पड़ता है कि वे **पञ्चाल** लोगों में विलीन हो गए थे। हापकिन्स[7] का कहना है कि तुर्वश वंश के नाम पर घोड़ों का नाम पड़ा है; किंतु यह मत कम संभव है; क्योंकि मनुष्यों के उल्लेख का फिर कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता।

[1] द्र०—हापकिन्स, २६५।

[2] हिम्स आ० दि ऋ०, १. ४३३ टि०।

[3] आ०ले, १२४।

[4] द्र०; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०४ टि०, हिल्लेब्रांड्ट, वैमि. १. १०५।

[5] राथने वोबू में सशस्त्र जनों के ६०३३ अश्वों का उल्लेख माना है। एग्लिंग ने, सेबुई, ४४. ४०० में ६००० पुरुषों और ३३ अश्वों का उल्लेख माना है; इनके द्वारा उद्धृत हरिस्वामिन् का भाष्य दुरूह है। ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त ने ६०३३ योद्धाओं को अभिप्रेत माना है।

[6] बुद्ध, ४०४।

[7] उक्त, २५८ टि०; तु०—वेबर, इस्टू, १. २२०।

सुदास् से संघर्ष के समय तुर्वश कहाँ रहते थे, यह बताना बहुत कठिन है। उनके **परुष्णी** पार करने का उल्लेख मिलता है, किंतु किस ओर से किस ओर वे गए, यह निश्चय के साथ नहीं बताया जा सकता : ऋ० ७. १८। पिशल[1] और गेल्डनर[2] का यह मत अधिक संभव है कि वे पश्चिम से पूर्व की ओर आये थे, जहाँ कि **भरत** लोग रहते थे। द्र०— **कुरु**।

विवरण : ओल्डेनबर्ग रिलिजन देस वेद, १६७; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. २८६; बेर्गेन्य, रिलिजियों वेदिक, २. २५४ एवं आगे।

तुर्वीति—ऋग्वेद में अनेक बार तुर्वीति का उल्लेख वय्य के साथ : १. ५४. ६; २. १३. १२; ४. १९. ६ और अकेले : १. ३६. १८; १. ६१. ११; १. ११२. २२ आया है। ऋग्वेद १. ६१. ११; २. १३. १२; ४. १९. ६ में बाढ़ के समय **इन्द्र** द्वारा उनकी सहायता का उल्लेख है। लुड्विग[3] का कहना है कि वे **तुर्वशों** और **यदुओं** के राजा थे। किंतु इसके लिए प्रमाण नहीं हैं; यद्यपि वे **तुर्वश** जनों के हो सकते हैं। (**तु०—तुर्वश**)। विवरण : बेर्गेन्य, रिलिजियों वेदिक, २. ३५८; ओल्डेनबर्ग, सेबुई ४२. ३६।

तुला—तराजू। वासं ३०. १७ में तुला का उल्लेख आता है। शब्रा ११. २. ७. ३३ में भी इहलोक एवं परलोक में मनुष्य के पाप एवं पुण्यों के तोलने का उल्लेख आया है। यह उस परवर्ती संतुलन-परीक्षा से भिन्न है, जिसमें मनुष्य को दो बार तोला जाता था, और यदि दूसरी बार वह कम भार वाला होता था, तो उसे अपराधी माना जाता था, अन्यथा निर्दोष करार दिया जाता था।[4] बाद की इस प्रथा को पहले की प्रथा के रूप में नहीं लिया जा सकता।[5]

तुष—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में धान्य की भूसी को, जो कि अग्नि जलाने के काम में आती थी—तुष नाम से पुकारा गया है : अवे, ९. ६. १६; ११. १. १२, २९; ११. ३. ५; १२. ३. १९; तैब्रा, १. ६. ५. ५; ऐब्रा, २. ७. ९ आदि; तुष-पक्व : तैसं, ५. २. ४. २; मैसं ३. २. ४; शब्रा, ७. २ १. ७।

[1] वैस्टू, २. २१८; तु० त्सिमर, आ०ले, १२६।

[2] वैस्टू, ३. १५२।

[3] ट्रां० ऋ०, ३. १४७; ४. २५४।

[4] द्र०—जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते १४५।

[5] द्र०—वेबर, इंस्त्राइफन, १. २१; २. ३६३; तु० एग्लिंग, सेबुई ४४. ४५ टि० ४

तूणव—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में एक वाद्य-यन्त्र-संभवतः वीणा को **तूणव** कहा गया है: तैसं ६. १. ४. १; मैसं, ३. ६. ८; कासं, २३. ४; २४. ५ (इस्तू, ३) ४७७; पंविब्रा ६. ५. १३; तैब्रा, ३. ४. १३. १; ३. ४. १५. १, निरुक्त, १३. ९। पुरुषमेध की बलियों की सूची में **तूणव** बजाने वाले का भी नाम है: वासं ३०. १९, २०; तैब्रा, ३. ४. १३. १। द्र०–त्सिमर, आले, २८९।

तूतुजि—द्र०–**तूजि**।

तूपर—बिना सींग वाला। यज्ञ के लिए विहित अनेक पशुओं का यह विशेषण है; विशेषतः **अज** का। इसका उल्लेख अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आया है: अवे, ११. ९. २२; तैसं, २. १. १. ४ आदि; वासं, २४. १, १५; २९. ५९ आदि; शब्रा, ५. १. ३. ७ आदि।

तूर्घ्न—तैआ ५. १ में **कुरुक्षेत्र** के उत्तरी भाग के रूप में **तूर्घ्न** का उल्लेख है। किंतु इसकी ठीक स्थिति कहाँ थी, यह बताना कठिन है। तु०–वेबर, इस्तू, १. ७८।

तूर्णाश—ऋग्वेद ८. ३२. ४ में पर्वतीय निर्झर का नाम **तूर्णाश** आया है। तु०–निरुक्त, ५. १६।

तूर्वयाण—ऋग्वेद १. ५३. १०; ६. १८. १३ में स्पष्टतः एक व्यक्ति का नाम तूर्वयाण है; ऋ० २. १४. ७ में भी संभवतः उन्हीं का जिक्र है। तु०–ऋ० ८. ५३. २; १. १७४. ३। इन्हें **अतिथिग्व, आयु** और **कुत्स** का शत्रु बताया गया है। इस तथ्य से **पक्थों** के **दाशराज्ञ** युद्ध में **तृत्सुओं** के विरोधी होने का प्रमाण भी मिलता है: ऋ० ७. १८; और तूर्वयाण को ऋग्वेद १०. ६१. १ में **पक्थों** का राजा कहा गया है[1]। वहाँ वे **इन्द्र** के कृपापात्र प्रतीत होते हैं, जिसने **च्यवान** और उनके संरक्षक **मरुतों** के विरुद्ध तूर्वयाण की सहायता की थी। यह संभव नहीं कि वे **सुश्रवस्** से अभिन्न रहे हों।

तूल—द्र०–**ओषधि**।

तूष—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में वस्त्र के अंचल को तूष कहा गया है: तैसं, १. ८. १. १; २. ४. ९. १; ६. १. १. ३; कासं. २३. १; तैब्रा. १. ६. १. ८; पंविब्रा १७. १ आदि। तु०–त्सिमर, आ०ले, २६२।

तृक्षि—ऋग्वेद ८. २२. ७ में एक राजा का नाम **तृक्षि** है, जिसे **त्रासदस्यव** या "**त्रसदस्यु** का वंशज" कहा गया है। दूसरे सूक्त ६. ४६. ८ में उनका उल्लेख **द्रुह्यु** और **पूरु**

[1] द्र०–पिशल, वैस्तू, १. ७१–७७।

लोगों के साथ हुआ है[1]। यह अनुमान किया गया है कि **तार्क्ष्य** नामका अश्व उनका था; किंतु यह ठीक नहीं है।

तृण—घास के अर्थ में ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में तृण शब्द आया है: ऋ० १. १६१. १; १. १६२. ८; ११; १०. १०२. १०; अवे. २. ३०. १ आदि; ऐब्रा. ३. २२; ८. २४ आदि। घर की छत या छप्पर बनाने में इसका उपयोग होता था: अवे, ३. १२. ५; ९. ३. ४, ७।

तृण-जलायुक—वृश्चिक। बृ.उ. ४. २. ४ में तृण-जलायुक शब्द आया है।

तृण-स्कन्द—ऋग्वेद १. १७२. ३ में एक राजा का नाम **तृण-स्कन्द** हैं, जहाँ उसकी प्रजा (=विश्) का भी उल्लेख है[2]। इस शब्द का प्रारम्भिक अर्थ शलभ जान पड़ता है[3]।

तृतीयक—अवे. १. २५. ४; ५. २२. १३; १९. ३९. १० में तृतीयक (=तेइया ?) ज्वर का उल्लेख है। तु०–**तक्मन्**।

तृतीय सवन—तीसरा सवन। इसका **ऋभुओं** के साथ निकट संबन्ध है: द्र० पोद्दार 'ऋभु' बोयूज. २१. १९५२, ऋवे. ८. ५७. १ में **अश्विनों** के लिये भी तृतीय सवन का जिक्र आया है।

तृत्सु—ऋग्वेद में कई बार एकवचन में और अनेक बार बहुवचन में **तृत्सु** शब्द व्यक्तिवाचक नाम के रूप में आता है; एकवचन में: ७. १८. १३; बहुवचन में: ७. १८. ७, १५. १९; ७. ३३. ५, ६; ७. ८३. ४, ६, ८। तृत्सु लोग **दाशराज्ञ** युद्ध में स्पष्टतः **सुदास्** के सहायक थे; विरोधी दशराजा थे: **शिम्यु, तुर्वश, द्रुह्यु, कवष, पूरु, अनु, भेद, शम्बर**, दोनों **वैकर्ण** और संभवतः **यदु**। ये लोग अपने साथ इन मित्रों को भी लाये थे: **मत्स्य, पक्थ, भलानस्, अलिन्, विषाणिन्, शिव, अज, शिग्रु** और संभवतः **यक्षु**। इनमें से **पक्थ, अलिन, भलानस्, विषाणिन्**, और **शिव** लोग संभवतः उत्तर-पश्चिम में, सिन्धु के भी पश्चिम में काबुल नदी के आस-पास थे। **अनु, पुरु, तुर्वश, यदु** और **द्रुह्यु** संभवतः पंजाब में थे। **अज, शिग्रु**, और **यक्षु** पूर्व में थे और **भेद** के नेतृत्व में थे। **शम्बर** भी संभवतः पूर्व का रहने वाला था। **शिम्यु** और **कवष** के संबन्ध में संदेह है। दोनो **वैकर्ण** संभवतः पश्चिम में थे।

[1] तु०–हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. ११३ टि० ३, ४।
[2] द्र०–त्सिमर, आ०ले, १५९; उन्हों ने विशः को मण्डल के अर्थ में माना है; किंतु द्र०–**विश्**।
[3] वोबू।

दश राजाओं की पराजय का उल्लेख ऋग्वेद ७. १८ में मिलता है; दो अन्य सूक्तों ७. ३३, ७. ८३ में भी इसका जिक्र आता है। प्रमुख युद्ध **परुष्णी** के तट पर हुआ था, किंतु **यमुना** के तट पर भी **भेद** के नेतृत्व में **अजों, शिग्रुओं** और **यक्षुओं** से युद्ध हुआ था। दोनों नदियाँ **तृत्सुओं** के क्षेत्र की दो विरुद्ध सीमाओं में थीं, अतः यह कहना कठिन है कि ये दश राजा किस प्रकार संघबद्ध हुए थे।[१] किंतु जिस प्रमुख सूक्त ७. १८ में युद्ध का वर्णन है, उसमें 'दश' शब्द नहीं आया है; यह उल्लेख बाद के दोनों सूक्तों ७. ३३, ७. ८३ में आया है; साथ ही संख्या के सर्वथा ठीक होने पर भी हठ नहीं किया जा सकता।

तृत्सुओं के संबन्ध में ठीक-ठीक विवरण नहीं दिया जा सकता, विशेषतः भरतों से उनके संबन्ध की बात जटिल है, जो **विश्वामित्र** के संरक्षण में समृद्ध हुए थे और **विपाश्** और **शुतुद्री** को पार कर गये थे : ऋ० ३. ३३; ३. ५३. ९-१२। राथ ने युक्ति-पूर्वक उनके संबन्ध को बिठाया है; उनके अनुसार **सुदास्** द्वारा **भरतों** की उस पराजय के बाद यह संबन्ध हुआ था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के सप्तम मण्डल की एक ऋचा में है, जिसे वसिष्ठों का मण्डल माना गया है।[२] किंतु यह निश्चित जान पड़ता है कि ऋचा का अनुवाद गलत किया गया है, और **भरतों** की **सुदास्** पर विजय अभिहित है।[३] लुड्विग ने **तृत्सुओं** और **भरतों** को अभिन्न माना है।[४] ओल्डेनबर्ग ने पहले इस मत को स्वीकार किया था[५], किंतु बाद में उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि तृत्सु लोग **भरतों** के पुरोहित थे[६]; और वे **वसिष्ठों** से अभिन्न थे। इसका समर्थन इस तथ्य से भी हो जाता है कि ऋग्वेद ७. ३३. १ में तृत्सुओं को वैसे ही बाल धारण करने वाला कहा गया है (श्वित्यञ्चो मा दक्षिण-तस्कपर्दाः) जैसे बालकि **वसिष्ठ** लोग धारण किया करते थे : ऋ० ७. ८३. ८ श्वित्यञ्चो दक्षिणतस्कपर्दाः; और वे वहाँ वसिष्ठों के प्रतिनिधि रूप में उल्लिखित प्रतीत होते हैं। किंतु गेल्डनर[१] का यह सुझाव संभव है कि ऋग्वेद ७. १८. १३ में एकवचन में प्रयुक्त **तृत्सु** शब्द तृत्सुओं के राजा **सुदास्** को उद्दिष्ट करता है : ऋ० ७. १८. २४। यह पहली ऋचा के ही समानान्तर है; साथ ही **सुदास्** और **भरतों** की प्रशंसा साथ-साथ भी पाई जाती है : ऋ० ३. ५३. ९, १२, २४; ६. १६. ४, ५; **दिवोदास** का **भरतों** से ऐसा घनिष्ठ संबन्ध है कि वे भरतों के राजा प्रतीत होते हैं। इसी व्याख्या से 'तृत्सूनां विशः'=तृत्सुगोत्र या वंश वालों की प्रजा इस वाक्यांश का ठीक अर्थ बिठाया जा सकता है; क्योंकि 'पुरोहितों की प्रजा' का फिर कोई अर्थ नहीं होगा।[२] वसिष्ठ लोग राजा से निकट संबन्ध के कारण **तृत्सु** कहे गये होंगे। इसका विलोम भी संभव हो सकता है, किंतु **"प्रातृदः"** वसिष्ठों को ग्रहण करते हुए दिखाये गए हैं : ऋ० ७. ३३. १४।[३] **सुदास्** के समय में वसिष्ठ से संबन्ध की अपेक्षा यह संबन्ध पहले का है; **प्रतर्दन** के नाम के आधार पर इसकी पुष्टि की जा सकती है, जो कि दिवोदास् के बाद और सुदास् से पहले उसी वंश में थे (द्र० कौषी, २६. ५)। अतः तृत्सु-वंश को वसिष्ठों से संबद्ध नहीं किया जा सकता। इस वंश के इतिहास और वसिष्ठ तथा विश्वामित्र से इसके संबन्ध के विवरण के लिए द्रष्टव्य **सुदास्**।

यदि ऋग्वेद-काल में **तृत्सुओं** के शासन में **भरत** लोग यमुना और परुष्णी नदियों के मध्य में बस कर अन्य जनों से लड़ रहे थे, तो यह स्पष्ट है कि बाद में **पूरुओं** और संभवतः कुछ अन्य लोगों से मिलकर वे **कुरुजन** में लीन हो गए थे। ऋग्वेद में ही **तृत्सुओं** और **सृञ्जयों** के संमिलन का उल्लेख है : ऋ० ६. ४७, जहाँ दिवोदास् और सृंजय दोनों की प्रशंसा की गई है। ऋ० ६. २७. ५ में **तुर्वशों** का **सृंजयों** से विरोध उल्लिखित है; और ७.

[१] हापकिन्स, इंडिया, ओल्ड ऐंड न्यू, ५२, किंतु जअओसो, १५. २५९ एवं आगे में यह अनुमान नहीं है।

[२] द्र०—राथ, त्सुर लितरात्यूर उन्द गोशिश्ते देस वेद, ९०. १२१, म्यूर, संस्कृत-टेक्स्ट्स, १२. ३२०; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५४, १५५; फान श्रोडर, इं० लितरात्यूर, उन्द कुल्तूर, ३५. ३६; हिल्लेब्रांड्ट, वै. मि. १. ११०. १११; ब्लूमफील्ड, जअओसो; १६. ४१।

[३] द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०६; वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शेन रितुआल, ३४।

[४] ट्रां. ऋ०, ३. १७५।

[५] द्र०—त्सादामौगे, ४२. २०७; तु० बेर्गेन्य, रिलिजियोंवेदिक, २. ३६२।

[६] द्र०—बुद्ध, ४०५, ४०६।

[१] वैस्तू, २. १३६; ऋग्वेद, ग्लासर, ७४।

[२] विशः का यही भाव है, यह निश्चित है। द्र०—गेल्डनर, वैस्तू, २. १३६; त्सिमर, आ०ले, १५९; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि १. १११ इन्होंने विश् को 'मण्डल' के अर्थ में लिया है।

[३] गेल्डनर, वैस्तू, १३८, १३९ का मत है कि वसिष्ठ आश्चर्यजनक ढंग से उत्पन्न हुए थे, उन्हें एक गोत्र की आवश्यकता थी और इसीसे वे तृत्सु बन गये थे।

१८. ६; ७. १९. ८ में तृत्सुओं से तुर्वशों का विरोध उल्लिखित है। शब्रा २. ४. ४. ५ में **कुरुओं** और **सृंजयों** के यहाँ एक ही पुरोहित के काम करने का उल्लेख है।

हिल्लेब्रांड्ट[1] के अनुसार **तृत्सुओं** और **भरतों** को एक नहीं माना जा सकता; किंतु भरत लोगों ने और सुदास् ने मिलकर एक आक्रामक संगठन बनाया था, जिसकी बाद में तृत्सुओं और वसिष्ठ पुरोहितों से मैत्री हो गई थी। उनका यह भी मत है कि ऋग्वेद में सुदास् के पितामह **दिवोदास** का अराकोसिया में **सरस्वती**-तट पर रहने का उल्लेख है; उनके वहाँ **पणियों** से युद्ध का भी वे उल्लेख मानते हैं, जिन्हें वे पार्नियनों से अभिन्न मानते हैं। किंतु इस अनुमान को संभव नहीं माना जा सकता। **सरस्वती** के रूप में मध्य-देशीय उस सरस्वती के अतिरिक्त और किसी नदी का उल्लेख मानने की आवश्यकता नहीं है, जो **तृत्सुओं** के क्षेत्र में बहती थी[2]। यह भी ध्यान देने की बात है कि **तुर्वश यदु** और **अतिथिग्व दिवोदास** के बीच हुए संघर्षों का उल्लेख है: ऋ० ९. ६१. २; तु०–६. ४५. १[3]। इस प्रकार इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती कि **भरत** लोग और **दिवोदास** मध्यदेश में रहते थे, ईरान में नहीं।

तृष्ट – मैसं. और कासं. में असुरों के पुरोहित **वरुत्रि** के साथ **तृष्ट** का उल्लेख है: मैसं, ४. ८. १ पाठ निश्चित नहीं नहीं है; 'त्वष्टा वरुत्री' भी संभव है। द्र०–फान श्रोडर का संस्करण, पृ० १०६ टि०; कासं, ३०. १, यहां भी पाठ अनिश्चित ही है। कपिष्ठल संहिता ४६. ४ में त्वष्टावरुत्री शब्द है; द्र०–वान श्रोडर का का० सं० का संस्करण, २. १८१. टि०। तु०–म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १२. १९०, १९१; लेवी, ला. डाक्ट्रिन द्यु सैक्रिफीस, ११९।

तृष्टामा—ऋग्वेद १०. ७५. ६ में नदी-सूक्त में **तृष्टामा** एक नदी का नाम है। इसकी पहचान कठिन है। तु०–त्सिमर, आ०ले०, १४।

तेजन—ऋग्वेद १. ११०. ५ में तेजन शब्द उस छड़ या बांस की लाठी को जताता है, जो भूमि को मापने के काम में आती थी। अथर्ववेद १. २. ४; २०. १३६. ३= खिल ५. २२. ३ (तु०–कासं, २१. १०) में दो बार बांस का उल्लेख आया है; दूसरे स्थल पर **वासन्तिक बांस** को लिया गया है। सच पूछो तो यह शब्द **बाणाग्र** का व्यापक है; यह अर्थ परवर्ती वैदिक साहित्य में प्रायः आता है: अवे ६. ४९[1]।

तेजनी—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में बांस, बेंत या नरकट के बंडल को तेजनी कहा गया है: शब्रा, १३. ८. ३. १२ संभवतः का.सं. २३. ९। इनकी बनी रस्सी भी इसका अर्थ है; क्योंकि **तेजनी** के दो सिरों का उल्लेख आता है: का०सं० २२. १३; ऐब्रा. १. ११, सायण भाष्य के अनुसार।

तेजस्—श्राडर[2] के अनुसार ऋग्वेद में तेजस् शब्द कुल्हाड़ी के अर्थ में आया है; किंतु सभी स्थलों पर देवता का अस्त्र या वज्र अभिप्रेत है: ऋ० ६. ३. ५; ६. ८. ५; ६. १५. ९।

तैत्तिरीय—कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा तैत्तिरीय है। सूत्र-काल से पहले इस रूप में यह नाम नहीं मिलता: अनुपद सूत्र, २. ६; २. ७, १० आदि[3]। इस शाखा में संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक, जिसके अन्त में दो उप-निषद् हैं, पाए जाते हैं।[4]

---

[1] वैमि १. ९८ एवं आगे।

[2] तु०–ग्रियर्सन, जराएसो, १९०८, ८३७ एवं आगे; ऋ० ६. ६१. ३; ब्रनहोफर, ईरान उन्द तूरान के अनुसार यह आक्सस नदी है, किंतु हिल्लेब्रांड्ट इसे हरक्वैती मानते हैं।

[3] त्सिमर, उपर्युक्त, १२४। तु०–मैक्समूलर, सेबुई, ३२. ४२४।

[1] ह्विटनी ट्रां० अवे, ३१७, 'इषु एकतेजना' अर्थात् एक नोंक वाला बाण: अवे, ६. ५७. १; ऐब्रा, १. २५; ३. २६; कासं, २५. १। यहाँ **श्रृङ्ग**, **शल्य** और **नोंक** ये तीन बाण के भाग कहे गये हैं। मैसं, ३. ८. १ में तेजन के स्थान पर **कुल्मल** शब्द आया है। तैसं, ६. ३. ३. १ में **अनीक**, **शल्य** और **तेजन** ये तीन भाग हैं। तु–**इषु**।

[2] प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, २२१।

[3] द्र०–वेबर, इन्दीन लितरात्यूर, १७५ एवं आगे; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १७५ एवं आगे; फान श्रोडर, मैसं, १. १० एवं आगे।

[4] संहिता का संस्करण वेबर, इन्दू, ११. १२, बिब्लिओथिका इंडिका, १८५४–१८९९; आनन्दाश्रम से, सायण भाष्य के साथ प्रकाशित, मैसूर से भट्ट भास्कर भाष्य के साथ प्रकाशित और सातवलेकर द्वारा औंध से प्रकाशित; ब्राह्मण का प्रकाशन: बिब्लिओथिका इंडिका १८५५–१८७०, आनन्दाश्रम से १८९८। और मैसूर से भट्टभास्कर के भाष्य के साथ, उपनिषद्: रूअर द्वारा १८५० में; आनन्दाश्रम द्वारा १८८९ में; तदनन्तर अनेक बार भाष्यों के साथ।

तैमात—अवे ५. १३. ६; ५. १८. ४[1] में सर्पविशेष का नाम **तैमात** आया है।

तैल—तिल का तेल। अवे १. ७. २ में तैल शब्द आया है। पांडुलिपियों में तौल है, जो निश्चय ही गलत है, पैप्पलाद शाखा में तूल है[2]। अवे २०. १३६. १६ में इसके मटके में रखने का उल्लेख है संभवतः तिल के तेल को मटके में भरकर धरती में गाड़कर रख दिया जाता था; और कुछ महीनों बाद उसे निकलकर खाया जाता था। यह प्रथा आज भी मिलती है। शांआ ११. ४ में तिल का तेल लगाने का उल्लेख है। विवरण : त्सिमर, आले, २४०, २४१।

तैष्य—द्र०—**नक्षत्र**।

तोक—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में तोक शब्द लड़के या वंशज के अर्थ में आम है : ऋ० १. ४३. २; २. २. ११; २. ९. २; ७. ६२. ६; ८. ५. २०; ८. ६७. ११ आदि; अवे १. १३. २; १. २८. ३; ५. १९. २; कासं, ३६. ७[3]। कभी-कभी यह शब्द तनय के साथ आया है : ऋ० १. ३१. १२; १. ६४. १४; १. ११४. ६; १. १४७. १; २. ३३. १४; ५. ५३. १३; ६. १. १२; ऐब्रा, २. ७।

तोक्मन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में एक प्रकार के अन्न का हरा अङ्कुर तोक्मन् के नाम से आता है : ऋ० १०. ६२. ८; वासं १९. १३. ८१; २१. ३०, ४२; कासं १२. ११; मैसं ३. ११. ९; तैब्रा, २. ६. ४; ऐब्रा ८. ५ आदि। ऐब्रा ८. १६ में **व्रीहि, महाव्रीहि, प्रियंगु** और **यव** के अंकुरों का उल्लेख है। सौत्रामणी में इसके प्रयोग के संबन्ध में द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरात्यूर १६०।

तोत्त्र—=गोदी शब्रा २. ४. १. १० में पशुओं को हाँकने के लिए प्रयुक्त सोटी को तोत्त्र कहा गया है।

तोद—ऋग्वेद ४. १६. ११; कौसू, १०७ में तोद अष्ट्रा के अर्थ में आया है; किंतु प्रायः यह शब्द 'प्रेरक' के अर्थ को जताता है : ऋ० ६. ६. ६; १२. १, ३। गेल्डनर[4] का मत है कि ऋवे १. १५०. १ में दण्डधर राजा के अर्थ में भी यह शब्द आया है।

तौग्र्य—तुग्र का वंशज। ऋग्वेद १. ११७. १६; १. ११८. १६; १. १८२. ५, ६; ८. ५. २२; १०. ३०. ४ में यह भुज्यु का पैतृक नाम है।

---

[1] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, २४३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आदि अवे ४२५, त्सिमर, आले, ९५।

[2] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, ७।

[3] इस्तू, ३६. ७; शब्रा, ७. ५. २. ३९ आदि।

[4] वैस्तू, ३. ७४।

तौदी—अवे १०. ४. २४ में एक पौधे का नाम तौदी है।[1] ह्विटनी ने इस शब्द का अनुवाद नहीं किया है। ब्लूमफील्ड[2] इसे काल्पनिक नाम मानते हैं, और इसका अर्थ करते हैं 'खण्ड-खण्ड करने वाला', क्योंकि यह 'घृताची' के साथ उल्लिखित है, जो 'घृत से अञ्चित' के अर्थ में इसी प्रकार का शब्द है।

तौरश्रवस—सामनी; 'तुरश्रवसश्च वै पारावतानां च सोमौ संसुतावास्तां तत एते तुरश्रवाः सामनी अपश्यत् ताभ्यामस्मा इन्द्रः शल्मलिनां यमुनाया हव्यं निरावहद् यत्तौरश्रवसे भवतो हव्यमेवैषां (=यजमानानां विद्विषाम् सायण) वृङ्क्ते' तां० ९. ४. १०।

तौर्वश—द्र०—**तुर्वश**।

तौल—अवे. १. ७. २ में प्रयुक्त तौल शब्द को तैल के अर्थ में लेना चाहिये ?

तौविलिका—अवे. ६. १६. ३ में प्रयुक्त तौविलिका शब्द संदिग्धार्थक है। राथ[3] इसे एक प्रकार का जंगली जानवर मानते हैं; त्सिमर[4] और ह्विटनी[5] के अनुसार यह एक वनस्पति है; सायण ने इसे 'रोग उत्पन्न करने वाला दानव' माना है, जब कि ब्लूमफील्ड ने इसका अर्थ अधूरा छोड़ दिया है।[6]

त्रपु—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में त्रपु शब्द टिन के अर्थ में आया है : अवे, ११. ३. ८; कासं, १८. १०; वासं, १८. १३; तैब्रा, ३. १२. ६. ५; जैउब्रा, ३. १७. ३; छाउ, ४. १७ ७; तैसं, ४. ७. ५. १। इसके शीघ्र द्रवित होने का उल्लेख अथर्ववेद के उक्त संदर्भ में आया है; राथ के अनुसार इसका शीघ्र द्रवण इसकी व्युत्पत्ति से ही सिद्ध है, जिसे वे √त्रप् अर्थात् 'लज्जित होना' धातु से मानते हैं। तु०—त्सिमर, आ०ले, ५३।

त्रयी विद्या—'अथाह। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथंतरं चेति त्रयी हैषा विद्यान्नं वै त्रयी विद्या' शब्रा. ९. ३. ३. १४; 'त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि' शब्रा. ४. ६. ७. १; १. १. ४. ३; 'भूर्भुवः स्व-रिति सा त्रयी विद्या' जैउ. २. ९. ७; 'तद् यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या' शब्रा. ९. ५. १. १८; 'त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः' शब्रा. ८. ५. २. ४ :।

---

[1] तु०— वोबू; ह्विटनी, ट्रां० अवे, ५७८।

[2] हिम्स आ० दि अवे, ६०८।

[3] वोबू।

[4] आ०ले, ७२।

[5] ट्रां० अ०वे०, २९२।

[6] हिम्स आ० दि अ०वे०३०. ४६६।

त्रसदस्यु—**पुरुकुत्स** के पुत्र त्रसदस्यु को ऋवे ५. ३३. ८; ७. १९. ३; ८. १९. ३६; ४. ४२. ८ में **पूरुओं** का राजा कहा गया है : ऋ० ४. ३८. १; ७. १९. ३; १. ६३. ७। पुरुकुत्स की पत्नी पुरुकुत्सानी से उनकी उत्पत्ति मुसीबत के समय में हुई थी; सायण के अनुसार इस कथन से **पुरुकुत्स** का बन्दी बनना सूचित होता है : ऋ० ४. ४२. ८ एवं आगे; संभवतः उनका वध भी हो गया हो। त्रसदस्यु को **गिरिक्षित्** का भी वंशज बताया गया है : ऋ० ५. ३३. ८; और **पुरुकुत्स दुर्गह** के वंशज थे। इस प्रकार यह वंश यों रहा होगा : **दुर्गह, गिरिक्षित्, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु**। त्रसदस्यु **तृक्षि** के पूर्वज थे : ऋ० ८. २२. ७; ६. ४६. ८; और लुड्विग, [१] के अनुसार **हिरणिन्** उनके पुत्र थे। त्रसदस्यु का काल-निर्णय इस बात से सरल बन जाता है कि उनके पिता **पुरुकुत्स, सुदास्** के समकालीन थे; चाहे वे उसके शत्रु रहे हों[२] और चाहे मित्र।[३] **पुरुकुत्स**, संभवतः **सुदास्** के शत्रु थे, क्योंकि सुदास् के पुरखा **दिवोदास्** स्पष्टतः **पुरुओं** के शत्रु थे : ऋ० २. १३०. ७[४] और **दाशराज्ञ युद्ध** में पूरु लोग सुदास् और तृत्सुओं के विपक्ष में थे। त्रसदस्यु स्वयं एक शक्तिशाली राजा थे; उनकी प्रजा **पूरु लोग सरस्वती** के तट पर बसे थे : ऋ० ७. ९५. ९६[५] जो कि मध्यदेश की एक नदी थी; और इस प्रदेश का पूरु लोगों के कुरुओं के साथ बाद में हुए संमिलन से मेल बैठ जाता है। इस संमिलन के उदाहरण-स्वरूप वहाँ रहने वाले **कुरुश्रवण त्रासदस्यव**= त्रसदस्यु के वंशज का नाम लिया जा सकता है, जिनके पिता **मित्रातिथि** थे और पुत्र **उपमश्रवस्** थे : ऋ० १०. ३३. ४[६]। **मित्रातिथि** और **तृक्षि** के बीच संबन्ध साफ नहीं है।

[१] ट्रां० ऋ०, ३. १५५; ऋ० ५. ३३. ७ एवं आगे।

[२] द्र०—लुड्विग, ३. १७४ इन्होंने "सुदासम्" को "सुदासे" के रूप में परिवर्तित किया है : ऋ० १. ६३. ७; तु० ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे., ४२, २०४, २०५, २१९; ऋग्वेद-नोटेन, १. ६३; गेल्डनर, वैस्तू, १. १५३; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १.११२ टि० १; फौय, कुह्नत्सा. ३४. २४२ इन्होंने इस स्थल पर इसे व्यक्तिवाचक नाम नहीं माना है।

[३] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. ११२ टि० १।

[४] लुड्विग, ३. ११४, किंतु द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, १. ११३, ११४,।

[५] लुड्विग, उपर्युक्त, ४. ११४; किंतु द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, १. ११५।

[६] तु०—लानमान, संस्कृत रीडर, ३४६ एवं आगे; गेल्डनर, वैस्तू, २. १५०, १८४।

त्रसदस्यु का दूसरा वंशज था **त्र्यरुण त्रैवृष्ण**; जिसे ऋग्वेद ५. २७ में केवल त्रसदस्यु कहा गया है। वह केवल त्रिवृष्ठा का वंशज ही नहीं था, अपितु पंविब्रा. १३. ३. १२ के अनुसार=**त्रैधात्व** त्रिधातु का वंशज भी था; तु० सायण भाष्य।[१] त्र्यरुण के इन दो पूर्वजों के क्रम का निर्णय वैदिक साहित्य के आधार पर नहीं किया जा सकता। परवर्ती परंपरा के अनुसार **त्रिधन्वन्** नामक एक राजा **त्र्यरुण** से पहले गद्दी पर बैठे थे : हरिवंश ७१४ एवं अग्रिम; वैदिक परंपरा से यह भी पता नहीं चलता कि **त्रिवृषन्** और **त्र्यरुण** के साथ **त्रसदस्यु** का क्या संबन्ध था। कुछ ब्राह्मणों में त्रसदस्यु पौरुकुत्स को **पर आट्णार, वीतहव्य श्रायस और कक्षीवन्त् औशिज** के साथ प्राचीन काल का प्रसिद्ध यज्ञ-कर्ता बताया गया है : पंविब्रा, २५. १६; कासं, २२. ३; तैसं, ५. ६. ५. ३।[२] जै ब्रा. २. ६. ११ में प्राचीन काल के महाराज (पूर्वे महाराजाः) के रूप में इनका उल्लेख किया गया है।

तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे., ४२. २१७ एवं आगे; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. १११–११६; २. १६५ टि० ४; वेबर, इस्तू, १०. २५; लानमान, संस्कृत रीडर, ३८६।

त्रात ऐषुमत—**इषुमन्त्** का वंशज। वंब्रा. १. ३ में **निगड पार्णवल्कि** के शिष्य के रूप में त्रात ऐषुमत का उल्लेख आया है। तु०—वेबर, इस्तू ४. ३७२।

त्रातृ—त्राता शब्द रक्षक के अर्थ में आया है। ऋग्वेद २. २३. ८ में शरीरावयवों के त्राता का उल्लेख है; वहीं ६. २५. ७ में इन्द्र से त्राता बनने की प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद ७. २०. १ में कहा गया है कि इन्द्र महान् से महान् पाप से रक्षा करने वाले त्राता हैं। द्र०—ऋ० ४. ४. १०; १. १. १२; १. १७८. ५; वासं, ८. ४६; अवे ४. १९. ३; ६. ९९. ३; तैसं, २. २. ७. ५ आदि।

त्रायमाणा—अ.वे. ८. २. ६ में किसी अज्ञात पौधे का नाम है। संभव है कि यह शब्द 'रक्षिका' के अर्थ में एक विशेषण हो; किंतु स्वर से यह व्याख्या ठीक नहीं लग पाती : **त्रायमाणा**। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ४७७।

त्रासदस्यव—**त्रसदस्यु** का वंशज। ऋग्वेद में यह **तृक्षि** ८. २२. ७ और **कुरुश्रवण** १०. ३३. ४ का पैतृक नाम है। यह अग्नि का विशेषण भी है, जहां यह **त्रसदस्यु** और उनकी संतति के रक्षक या उनसे उपासित के अर्थ में माना जा सकता है : ऋ० १९. ३२; मैकडानल, वैमा, पृ० ९६।

[१] दी जा० ऋ० ६७।

[२] इस्तू, ३. ४७३।

त्रिककुद् या त्रिककुभ् तीन चोटियों वाला। अवे एवं परवर्ती साहित्य में हिमालय की एक श्रृंखला को त्रिककुद् या त्रिककुभ् कहा गया है, जिसे आजकल त्रिकोट कहते हैं; त्रिककुद् : अवे, ४. ९. ८; शब्रा. ३. १. ३. १२; त्रिककुभ् : मैसं, ३. ६. ३; कासं, २३. १; वासं, १५. ४; पंविब्रा, २२. १४। यहीं से आने वाले आञ्जन का उल्लेख त्रैककुद आंजन अवे, ४. ९. ९. १०; १९. ४४. ६ आदि में आता है : जिसे परंपरा के अनुसार वृत्र की आंख से निकला हुआ बताया गया है : कासं, २३. १। शब्रा, ३. १. ३. १२; मैसं, ३. ६. ३; 'यत्र वा इन्द्रो वृत्र महंस्तस्य यदक्ष्यासीत् तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्'। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १९८; त्सिमर आ० ले, ५. २९. ३०; हिल्लेब्रांड्ट, वै. मि, ३. २३९ टि० ४; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे, ३८१।

त्रिकद्रुक—बहुवचन में प्रयुक्त यह शब्द सोम धारण करने वाले तीन पात्रों को जताता है : ऋ० १. ३२. ३; २. ११. १७; २. १५. १; २. २२. १; १०. १४. १६। सायण इसे एक प्रकार का यज्ञ बताते हैं। ऋ.वे. ८. ४५. २६ में कद्रू शब्द का प्रयोग सोम को एकत्र करके रखने वाले बरतन के लिये आया है, जिसमें से ले लेकर इन्द्र सोम पीते हैं। त्रिकद्रुक का अर्थ होगा 'तीन कद्रू' अथवा 'तीन छोटे कद्रू'।

त्रिखर्व—पंविब्रा २. ८ ३. में पुरोहितों की एक शाखा को त्रिखर्व कहा गया है; इन लोगों ने सफलतापूर्वक कोई विशेष यज्ञ किया था।

त्रिणव—स्तोमः। 'वज्रस्त्रिणवः' शब्रा. ८. ४. १. २०; 'इमे वै लोकास्त्रिणवः' तां. ६. २ ३।

त्रिणिधन—साम। 'एतेन वै माध्यंदिनं सवनं प्रतिष्ठितं यत् त्रिणिधनम्' तां० ७. ३. २।

त्रित—त्रित ऋग्वेद में एक देवता हैं। तु० मैकडानल, वैमा, ६७–६९; किंतु यास्क ने निरुक्त ४. ६ में इन्हें एक ऋषि माना है।

त्रिपाद्—'आदित्यस्त्रिपाद्। तस्येमे लोकाः पादाः' गो. पू. २. ८.।

त्रिपुर—त्रिगुणित अर्थात् तीन दीवारोंवाला किला। ब्राह्मणों में सुरक्षित आश्रय-स्थान के अर्थ में **त्रिपुर** शब्द आया है। किंतु सभी संदर्भ देवशास्त्रीय हैं अतः तीन दीवारों वाले किले के निर्माण के संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। द्र. 'तस्माद् हैतत् पुरां परमं रूपं यत् त्रिपुरम्' शब्रा, ६. ३. ३. २५; द्र० ऐब्रा. २. ११; कौब्रा, (इस्तू०) २. ३१०; तु०—तैसं, ६. २. ३; कासं, २४. १०. आदि। लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रीफीस, ४६ टि० १।

त्रिपुरुष—तीन पीढ़ी। ऐब्रा. ८. ७ में तीन पीढ़ी का उल्लेख है। द्र०—**दशपुरुषं राज्यम्**।

त्रिप्लक्षा तीन प्लक्षों वाला। पंविब्रा. २५. १३. ४ के अनुसार **यमुना** के पास **दृषद्वती** के विनशन के स्थान का नाम त्रिप्लक्षा है। तु०—शांश्रौसू, १३. २९. ३३; लाश्रौसू, १०. १९. ९; काश्रौसू, २४. ६. ३९।

त्रिय-अवि—द्र०—**त्र्यवि**।

त्रियुग—ऋग्वेद १०. ७९. १=तैसं. ४. २. ६. १; वासं, १२. ७५ में कहा गया है कि ओषधियाँ देवों से तीन युग पहले (देवेभ्यस् त्रियुगं पुरा) उत्पन्न हुई थीं। निरुक्त ९. २८ के भाष्यकार का मत है कि यहाँ परवर्ती युग ही अभिप्रेत हैं, तथा भाव इतना ही है कि ओषधियाँ प्रथम युग में उत्पन्न हुई थीं। शब्रा. ७. २. ४. २६ में तीन युगों का अर्थ **तीन ऋतु वसन्त, वर्षा** और **शरद्** के रूप में गृहीत हैं, और वहाँ "त्रियुगं पुरा" इन दो शब्दों को अलग करके, "पहले, तीन ऋतुओं में" लिया गया है। तीन युग का सामान्य अर्थ भी ठीक बैठ जाता है; क्योंकि लोक-गीतों में "तीन" संख्या सामान्यतः आती रहती है। तु०—**युग**। तु०—एगलिंग, सेबुई, ४१. ३४०।

त्रिरात्र—क्रतु। 'अन्तस्त्रिरात्रो यज्ञानाम्' तां. २१. ४. ६; 'तद् यथा अदो मनो (मणौ ?) सूत्रमोतमेवमेषु लोकेषु त्रिरात्र ओतः। शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' तां. २०. १६. ६.।

त्रिवत्स—तीन वर्ष का। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में तीन वर्ष के पशुओं का विशेषण त्रिवत्स अनेक बार आया है। तु०—**त्र्यवि**।

द्र० वासं, १४. १०; १७. २६; २८. २७; पंविब्रा. १६. १३; १८. ९; २१. १४ आदि; तु०— लाट्यायन श्रौसू, ८. ३. ९ एवं आगे, जहाँ त्रिवर्ष शब्द भी आया है।

त्रिवृत् तीन बार मोड़ा हुआ। अवे ५. २८. २, ४ में त्रिवृत् शब्द मणि या रक्षाकवच का विशेषण है। तु० 'वायुर्वा आशुस्त्रिवृत् स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते' शब्रा. ८. ४. १. ९; 'त्रिवृदग्निः' शब्रा. ६. ३. १. २५; तैब्रा. १. ५. १०. ४; 'त्रिवृद् वा अग्निरङ्गारा अर्चिर्धूम इति' कौब्रा. २८. ५.; 'तेजो वै त्रिवृत्' तां. २. १७. २; 'तेजो वै स्तोमानां त्रिवृत्' ऐब्रा. ८. ४; 'ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत्' तैब्रा. २७. १. १; 'ब्रह्म वै त्रिवृत्' तां. २. १६. ४; 'शिर एव त्रिवृत्' गो. पू. ५. ३; 'मुखं वै त्रिवृत् स्तोमानाम्'

तां. १७. ३. २; 'प्राणो वै त्रिवृत्' तां. ६. २. २; 'वज्रो वै त्रिवृत्' ष. ३. ३. ४।

त्रिवेद कृष्णरात लौहित्य—लोहित का वंशज। जैउब्रा. ३. ४२. १ के आचार्यों की एक वंश-सूची में इन्हें **श्यामजयन्त लौहित्य** का शिष्य बताया गया है।

त्रिशङ्कु—तैउ. १. १०. १ में एक ऋषि के रूप में त्रिशङ्कु का नाम आया है। वहाँ **वसिष्ठ** के अभिशाप और **विश्वामित्र** के प्रतिकार के फलस्वरूप उनके आकाश में नक्षत्र-रूप में लटकने का कोई संकेत नहीं मिलता।[1] आर्षकाव्य-परंपरा में त्रिशङ्कु की कथाओं में उनके समय के संबन्ध में व्याप्त भ्रम उन कथाओं की निरर्थकता के उदाहरण हैं।

त्रिशोक—त्रिशोक एक प्राचीन देवशास्त्रीय व्यक्ति हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में आया है: ऋ० १. ११२. १३; ८. ४५. ३०; तु—१०. २९. २; अवे ४. २९. ६। पंविब्रा ८. १ में उनके एक साम का उल्लेख है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०७. १६२; हापकिन्स, ट्रांज़ेक्शन्स, १५. ३३।

त्रिष्टुक्—'इंद्रियं वै त्रिष्टुक्' तैब्रा. ३. ३. ९. ८।

त्रिष्टुप्-त्रिष्टुभ्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह एक प्रमुख वैदिक छन्द है: ऋ० १. १६४. २३; ८. ५८. १; १०. १४. १६; १०. १३०. ५; अ.वे ६. ४८. ३; ८. ९. १४, २०; शब्रा, १. ३. ५. ५; १. ८. २. १२; ४. ३. २. ८, ११; १२. ३. ४. ४; वासं, ९. ३३; ऐब्रा १. ६; काश्रौसू, २५. १२. ७; शांश्रौसू, १४. ३३. १२; ७. २७. ११; ऋ०प्रा, १६. ४१.; छाउ, ५. ६; निरुक्त ७. १२। तु०—'वज्रस्तेन यत् त्रिष्टुप्' ऐब्रा. २. १६; 'वज्रस्त्रिष्टुप्' कौब्रा. ७. २; 'त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः' ऐब्रा. ३. २; 'इन्द्रस्त्रिष्टुप्' शब्रा. ६. ६. २. ७; एते वाव छन्दसी वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च' तां. २०. १६. ८; वीर्यं वै त्रिष्टुप्' ऐब्रा. १. २१; कौब्रा. ७. २. ११. २; 'ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्' ऐब्रा. १. ५. २८; 'उरस्त्रिष्टुप्' षब्रा. २. ३; 'वृषा त्रिष्टुप्' कौब्रा. २०. ३; 'त्रैष्टुभो वै राजन्यः' ऐब्रा. १. २८; 'क्षत्रं वै त्रिष्टुप्' कौब्रा. ७. १०; 'ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्' शब्रा. १. ३. ५. ५; 'त्रिष्टुबेव महः' गो.पू. ५. १५; 'या राका सा त्रिष्टुप्' ऐब्रा. ३. ४७; 'त्रैष्टुभो हि वायुः' श. ८. ७. ३. १२; 'अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्' जैउ. १. ५. ५. ३; श. १. ८. २. १२; १. ७. २. २५; 'असावुत्तमः (लोकः) त्रिष्टुप्' तां. ७. ३. ९; 'त्रैष्टुभो वा एष य एष (सूर्यः) तपति' कौब्रा. २५. ४; 'त्रैष्टुभाः पशवः' कौब्रा. ८. १; 'अपानस्त्रिष्टुप्' तां. ७. ३. ८; 'आत्मा वै त्रिष्टुप्' शब्रा. ६. ४. २. ६; =दक्षिणा दिक्, शब्रा. ८. ३. १. १२; =रुद्राणां पत्नी, गोउ. २. ९; एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्' कौब्रा. ३. २; चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्' शब्रा. ८. ५. १. ११; तु०—आर्नल्ड, वैदिक मीटर।

[1] द्र०—म्यूर, संस्कृत-टेक्स्ट्स, १२, २६२, ३७५ एवं आगे।

१ त्रेता—ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि सोता हुआ **कलि** होता है, जागता हुआ **द्वापर** होता है, खड़ा होता हुआ **त्रेता** होता है, और चलता हुआ **कृत** होता है; अतः चलते रहो, चलते रहो—'कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति' : ऐब्रा ७. १५। उक्त कथन से ज्ञात होता है कि उस काल में चतुर्युग की मान्यता दृढ़मूल हो गई थी और कृत को सब से अच्छा और कलि को निकृष्ट समझा जाने लगा था। द्र०—**युग**। द्र०—मु० उ० १. २. १; शांश्रौसू, १५. १९. ११, निदान १. ६।

२ त्रेता—द्र०—**अक्ष**।

त्रैककुद—त्रिककुद् से संबन्धवाला। यह अवे. ४. ९. ९, १० में आञ्जन का विशेषण है—'यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि'। तु०—अवे, १९. ४४. ६; शब्रा, ३. १. ३. १२; काश्रौसू, ७. २. ३४। द्र०—**त्रिककुद्**।

त्रैककुभ—साम। 'तांस्त्रिककुबधिनिधायाचरत् स एतत् सामापश्यत् यत् त्रिककुबपश्यत् तस्मात् त्रैककुभम्' तां ८. १. ४।

त्रैत—साम। 'त्रैतं भवति प्रतिष्ठायै' तां. १४. ११. २१।

त्रैतन—ऋग्वेद १. १५८. ५ में त्रैतन एक **दास** का नाम प्रतीत होता है, जो **दीर्घतमा** का शत्रु था, जिन्होंने उसे युद्ध में हराया था। वोबू में उसे अमानवीय व्यक्ति कहा गया है, जो **त्रित** (अवेस्तन थ्रित या थ्रितओना) का सहायक था।

तु०—मैकडानल, वैमा, पृ० ६८; तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५१; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १४४।

त्रैधातव—त्रिधातु का वंशज। पंविब्रा. १३. ३. १२ में **त्र्यरुण** का पैतृक नाम है।

त्रैपद—पंविब्रा १६. १३ में दूरी के एक माप को त्रैपद=तीन चौथाई भाग कहा गया है; जहां **योजन** के आधे को **गव्यूति** और चौथे भाग को **क्रोश** बताया गया है। तु०—शांश्रौसू १४. ४१. १२।

त्रैवणि—बृउ में आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों २. ६. ३ काण्व=२. ५. २१ माध्यं०; ४. ५. ३=४. ५. २७ में त्रैवणि को **औपचन्धनि** या **औपजन्धनि** का शिष्य कहा गया है। माध्यंदिन शाखा ४. ५. २७ में दूसरे वंश में दो बार यह नाम आया है, और प्रत्येक बार उन्हें औपजन्घनि का शिष्य कहा गया है।

त्रैवृष्ण **त्रिवृषन्** का वंशज। ऋग्वेद ५. २७. १ में त्र्यरुण का पैतृक नाम त्रैवृष्ण है।

त्रैशोक—साम। 'त्रैशोकं ज्योगामयाविने ब्रह्मसाम कुर्यात्' तां. ८. १. ८; 'इमे वै लोकाः सहासंस्तेऽशोचंस्तेषामिन्द्र एतेन साम्ना शुचमपाहन् यत् त्रयाणां शोचतामपाहंस्तस्मात् त्रैशोकम्' तां. ८. १. ९।

त्र्यम्बक ऋग्वेद-काल से ही रुद्र का एक नाम त्र्यम्बक रहा है। महामृत्युंजय मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद ७. ५९. १२ में आता है—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्'। शब्रा २. ६. २. ९ में कहा गया है कि **अम्बिका** नामक अपनी स्वसा के साथ इनके भाग होने से इन्हें त्र्यम्बक कहा गया है—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागस्तद् यदस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात्त्र्यम्बको नाम'। तु०—वासं ३. ५८।

त्र्यरुण त्रैवृष्ण त्रसदस्यु—एक राजा का नाम त्र्यरुण त्रैवृष्ण त्रसदस्यु है; ऋग्वेद ५. २७. १—३ में उनकी एक गायक के प्रति की गई उदारता का उल्लेख है। पंविब्रा १३. ३. १२ में उन्हें **त्र्यरुण त्रैधातव ऐक्ष्वाक** कहा गया है; और निम्नलिखित कथा का नायक बताया गया है। एक बार रथ पर अपने पुरोहित **वृश जान** के साथ वे कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक ब्राह्मण लड़के को दबा दिया। इस पाप के प्रायश्चित्त के लिये पुरोहित ने अपने वार्श साम-मन्त्र का प्रयोग किया। सायण द्वारा ऋग्वेद के उक्त स्थल के भाष्य में उद्धृत शाट्यायनक में इस कथा का उल्लेख है।[1]

बागडोर वृश के हाथ में थी, इसलिये राजा और पुरोहित एक दूसरे को दोष देने लगे। इक्ष्वाकुओं की संमति मांगी गई और उन्होंने **वृश** को दोषी ठहराया; और उन्होंने **वार्श** नामक साममन्त्र द्वारा उस बालक को उज्जीवित किया। इसे क्षत्रियों द्वारा क्षत्रिय का पक्षपात कहा गया; और उनके यहां अग्नि का दीप्त होना बन्द हो गया। उस अग्नि को फिर से प्रज्वलित करने के लिये प्रार्थना करने पर वृश आये और उन्होंने त्रसदस्यु की पत्नी के रूप में उस पिशाची को देखा, जो उस दीप्ति को चुराए हुए थी। तब वे अग्नि की दीप्ति को लौटाने में समर्थ हुए। कुछ परिवर्तन के साथ यही कथा बृहद्देवता ५. १४ एवं आगे में आती है, जहाँ इसका संबन्ध ऋग्वेदीय सूक्त ५. २ से जोड़ा गया है। जीग[1] का यह कहना उचित नहीं है कि उस सूक्त में सचमुच वह कथा आती है।[2]

यह स्पष्ट है कि यहाँ त्रसदस्यु शब्द 'त्रसदस्यु के वंशज' के लिए आया है। दोनों पैतृक नामों-त्रैवृष्ण और त्रैधात- की सर्वोचित व्याख्या **त्रिवृषन्** और **त्रिधातु** या संभवतः त्रिधन्वन् नामक दो राजाओं का उल्लेख मानकर की जा सकती है, जिनके वंश में आगे चलकर **त्र्यरुण** हुए थे[3] इक्ष्वाकुओं से इनका संबन्ध महत्त्वपूर्ण है। द्र०—**इक्ष्वाकु**।

त्र्यवि—ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में त्र्यवि शब्द 'अठारह मास की आयु वाले' के अर्थ में आया है: ऋ० ३. ५५. १४; कासं, १७. २; १८. १२ आदि। त्रियवि के रूप में: वासं, १४. १०; १८. २६ आदि। व्युत्पत्ति-संबन्धी अर्थ इस प्रकार होगा: 'तीन मेष (काल) वाला' अर्थात् 'छः महीने के तीन काल वाला', जैसे' पंचावि' 'तीस महीने की आयु वाले' के अर्थ में आया है।

त्र्याशिर्—तीन मिश्रण वाला। ऋग्वेद ५. २७. ५ में त्र्याशिर् सोम का विशेषण है। तु०—संभवतः ८. २. ७ 'त्रयः इंद्रस्य सोमाः स्तुताः'। सायण के अनुसार यह **दधि**, **सक्तु** और **पयस्** का सोम के साथ मिश्रण है, अधिक सूक्ष्मता से कहना हो तो इसे **गवाशिर्**, **यवाशिर्** और **दध्याशिर्** कहेंगे। हिल्लेब्रांड्ट वै.मि, १. २०९; ओल्डेनबर्ग, सेबुई, ४६, ४२२।

त्वच्—चर्म। (क) ऋग्वेद १. ७९. ३; ३. २१. ५; ९. ६५. २५; ९. ६६. २९; ९. ७०. ७; ९. ७९. ४; ९. १०१. ११, १६ आदि में सोम का रस निकालने के लिए प्रयुक्त चर्म को त्वच् कहा गया है। **अधिषवण** फलकों पर रखे गये चर्म पर पत्थरों द्वारा कूट-पीस कर सोम-रस निकाला जाता था।[4] यदि मूसल और उलूखल का उपयोग किया जाता था, तो भी उलूखल में नीचे चर्म रखा जाता था, जिससे रस एकत्र किया जा सके; ऊपर चर्म नहीं

[1] द्र०—अर्टल, ज, अ, ओ, सो; १८. २० में जैमिनीय ब्राह्मण।

[1] दी. जा. ऋ, ६४—७६; तु०—गेल्डनर, फेस्टग्रुस आन राथ, १९२।

[2] द्र०—ओल्डेनबर्ग, सेबुई, ४६. ३६६ एवं आगे; ऋग्वेद-नोटन, १. ३१२; हिल्लेब्रांड्ट, गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन, १९०३, २४० एवं आगे।

[3] द्र०—जीग, उपर्युक्त, ७४—७६ और **त्रसदस्यु**।

[4] हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. १८१-१८३।

रखा जाता था, जैसा कि पिशल, वैस्तू, १. ११० ने कहा था।

(ख) सोम का रस निकाल लेने पर बचे हुए अंश को भी त्वच् कहा गया है : ऋ० ९. ८६. ४४; तैब्रा, ३. ७. १३. १।[1]

(ग) आलंकारिक रूप से आक्रामक आर्यों के विरोधी आदिवासियों को 'कृष्ण-त्वच्' कहा गया है : ऋ० १. १३०. ८; और संभवतः ९. ४१. १।[2]

त्वष्टृ—एक बार अवे १२. ३. ३३ में बढ़ई को त्वष्टृ कहा गया है। वहां उसकी **स्वधिति**=कुल्हाड़ी के उपयोग का उल्लेख है, जिससे वह लकड़ी को घड़ता था।[3] तु० 'वाग् वै त्वष्टा। वाग् हीदं सर्वं ताष्टीव' ऐब्रा० २. ४; 'इन्द्रो वै त्वष्टा' ऐब्रा० ६. १०; 'त्वष्टुर्हि पशवः' शब्रा० ३. ८. ३. ११; 'त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृद् रूपपतिः' तैब्रा० २. ५. ७. ४; 'त्वष्टा वै पशूनां रूपाणां विकर्ता' तां० ९. १०. ३; 'त्वाष्ट्राणि वै रूपाणि' शब्रा० २. २. ३. ४; 'त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे' शब्रा० ५. ४. ५. ८; 'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति' शब्रा० १. ९. २. १०; 'रेतः सिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः' कौब्रा० १९. ६।

त्वाष्ट्र—त्वष्टृ का वंशज। बृउ० २. ६. ३ काण्व २. ५. २२ माध्यं०; ४. ६. ३=४. ५. २८ में देवशास्त्रीय ऋषि **आभूति** का पैतृक नाम है।

त्वाष्ट्री साम—साम। 'इन्द्रं वा अक्ष्यामयिणं भूतानि नास्वापयंस्तमेतेन त्वाष्ट्र्योऽस्वापयंस्तद् वाव तास्तर्ह्यकामयन्त कामसनि साम त्वाष्ट्रीसाम काममेवैतेनावरुन्धे' तां० १२. ५।

त्सरु—(क) ऋग्वेद ७. ५० १ में सरक-सरक कर चलने वाले किसी जानवर को त्सरु कहा गया है।[4] तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९९।

(ख) परवर्ती वैदिक साहित्य में चमस जैसे पात्र की डांड़ी का नाम त्सरु है : पंविब्रा, २५. ४; तु०—लाश्रौसू, १०. १२. १२ आदि। इस अर्थ में अथर्ववेद एवं परवर्ती संहिताओं में यह शब्द हल के वर्णन के प्रसङ्ग में आया हुआ प्रतीत होता है। अवे ३. १७. ३, जहां पाठ सोमसत्सरु है, पैप्पलाद शाखा में सोमपित्सल है। तैसं०, ४. २. ५. ६ का पाठ सुमति-त्सरु है; मैसं २. ७. १२; कासं १६. १२; वासं, १२. ७१; वसिघसू, २. ३४ का सोमपित्सरु है।[1]

त्सारिन्—ऋग्वेद १. १३४. ५ के अनुसार **त्सारिन्** एक शिकारी है जो तक्व विशेषित किसी अज्ञात पशु का पीछा करता है, जैसा कि लुड्विग और मैक्समूलर ने[2] माना है।

द

दंश—डसने वाला। मशक के अर्थ में यह शब्द छाउ ६. ९. ३; ६. १०. २ में आया है।

दंष्ट्र—ऋग्वेद ३. १३. ४; १०. ८७. ३; अवे ४. ३६. २; १०. ५. ४३; १६. ७. ३ आदि में तथा बाद में किसी पशु के दन्त-विशेष (हस्ति-दन्त, विष-दन्त आदि) को जताने के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

दक्ष—ऋग्वेद के समय से ही दक्ष प्रजापति प्रसिद्ध हैं : ऋ० १०. ७२. ४, ५; १०. ६४. ५; १०. ५. ७; शब्रा, २. ४. २. २; तैसं ३. ५. ८. १ आदि। 'अथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षः' शब्रा० ४. १. ४. १; 'वरुणो दक्षः' शब्रा. ४. १. ४. १.

दक्ष कात्यायनि आत्रेय जैउब्रा ३. ४१. १; ४. १७. १ में **शङ्ख बाभ्रव्य** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख है।

दक्ष जयन्त लौहित्य—जैउब्रा ३. ४२. १ में **कृष्णरात लौहित्य** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख मिलता है।

दक्ष पार्वति—**पर्वत** का वंशज। शब्रा० २. ४. ४. ६ में एक विशेष यज्ञ करने वाले व्यक्ति के रूप में इनका उल्लेख है। उनके वंशज शतपथ-काल में भी उस यज्ञ को करते थे। इनका उल्लेख कौब्रा 'दक्षो ह पार्वतिरेतेन यज्ञेनेष्ट्वा सर्वान् कामानाप' ४. ४ में भी मिलता है। तु०—वेबर, इस्तू, १. २२३; ४. ३३८; एगलिंग, सेबुई १२. ३७४ एवं आगे, लेवी, ला डाक्ट्रिन द्यु सैक्रीफीस, १३८।

दक्षिणाधन—साम '(प्रजापतिः) तासु (प्रजासु) एतेन साम्ना दक्षायेत्योजो वीर्यमदधाद् यदेतत् साम भवत्योज एव वीर्यमात्मन् धत्ते' तां० १४. ५. १३।

दक्षिणतस्कपर्द—ऋग्वेद ७. ३३. १ में वसिष्ठों का विशेषण है, जो उनके दाहिनी ओर कपर्द धारण करने की प्रथा को जताता है। द्र०—**कपर्द**।

---

[1] हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, ५२।
[2] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, ५१ टि० २; द्र०—**वास**।
[3] तु०—त्सिमर, आ०ले०, ९९।
[4] वेबर, इस्तू, १७. २५५, ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ११६; त्सिमर, आ० ले०, २३६; ब्युहलर, सेबुई १४.१३।

[1] सेबुई, ३२. ४४८।

दक्षिण—'दक्षिणो वा अर्धं आत्मनो वीर्यवत्तरः' तां० ५. १. १३।

दक्षिणा—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दक्षिणा यज्ञ कराने वाले पुरोहित को दिये जाने वाले पुरस्कार का नाम है, जो प्रायः गौ के रूप में होती थी; क्योंकि प्रारम्भिक काल में गौ ही सभी कार्यों के शुल्क के रूप में दी जाती थी। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त १०. १०७ दक्षिणा की प्रशंसा में कहा गया है। तु०—१. १६८. ७; ६. २७. ८; ८. २४. २९; ८. ३९. ५; १०. ६२. १ आदि; अवे ४. ११. ४; ५. ७. ११; ११. ७. ९; ११. ८. २२; १३. १. ५२; १८. ४. ८ आदि, तैसं, १. ७. ३. १; १. ८. १. १; वासं ४. १९; ४. २३; १९. ३०; तैब्रा १. ७. ३. ३ एवं आगे, शब्रा १. ९. ३. १ एवं आगे; कासं १४. ५; तैब्रा, १. ३. २. ६, ७; निरुक्त, १. ७; ११. २। जहां कुछ उल्लिखित न हो वहां गौ देने का विधान है: काश्रौसू, १५. २. १३; लाश्रौसू, ८. १. २; तु०—**गोदान**। परवर्ती दान-स्तुतियों में अतिशयोक्ति है; और यह अतिशयोक्ति ब्राह्मणों में और भी बढ़ जाती है। इन उल्लेखों में प्रायः घरेलू वस्तुओं का ही उल्लेख है; जैसे गौ, अश्व, महिष, उष्ट्र, अलंकार आदि; इनमें भूमि का उल्लेख नहीं है: ऋ० १. १२६. २–४; ५. ३०. १२–१५; ८. १. ३२, ३३; ८. ३. २१ एवं अग्रिम; ८. ४. १९–२१; ८. ५. ३७–३९; ८. ६. ४६–४८, ५५, ५६; ८. १८. २१–२४–[१] अवे. ९. ५. १४. शब्रा. ४. ३. ४. ७। शब्रा. १३. ७. १. १३ में भूमि के दान का उल्लेख है; तु०—१३. ६. २. १८, जहाँ ब्राह्मण को भूमि न देने का विधान है। १३. ७. १. १५ में भूमि-दान को अस्वीकार किया गया है। भूमि-दान प्रायः अस्वीकृत है; क्योंकि भूमि जाति के लोगों की स्वीकृति के बिना नहीं दी जा सकती थी: शब्रा. ७. १. १. ४; तु०—उपर्युक्त। तु०'तं (यज्ञं) देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद् यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद् दक्षिणा नाम' शब्रा. २. २. २. २; कौब्रा. १५. १; 'श्लेष्म वा एतद् यज्ञस्य यद् दक्षिणा' तां. १६. १. १३; 'यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव दक्षिणा भवत्यल्पिकापि' ऐब्रा. ६. ३५; 'अर्धा ह स्म वै पुरा ब्रह्मणे दक्षिणा नयन्तीति। अर्धा इतरेभ्य ऋत्विग्भ्यः' जैउ. ३. १७. ५; 'तस्मादात्रेयाय प्रथमदक्षिणा यज्ञे दीयन्ते' गो. पू. २. १७; 'चतस्रो वै दक्षिणाः 'हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः' शब्रा. ४. ३. ४. ७; 'दक्षिणा सावित्री' गो. पू. १. ३३;।

[१] पूर्ण सूची के लिए द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २७३–२७७; तु०—वेबर, इस्टू, १०. ४९ एवं आगे।

विवरणः त्सिमर, आ.ले, १६९–१७१; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते १०४, १०५; वेबर, इस्टू, १ ९६–९८; ब्लूमफील्ड, रिलिजन आ० दि अ०वे०, ६९–७४, ७६ एवं आगे; १००. १२१;।

दक्षिणाग्नि—'यजुर्वेदाद् दक्षिणाग्निः (अजायत)' षब्रा. ४. १. पोद्दार, सेक्रिफाइस इन दि ऋग्वेद. पृ. ११९।१२२

दक्षिणा दिक्—'पितॄणां वा एषा दिग् यद् दक्षिणा' ष. ३. १; 'घोरा वा एषा दिग् दक्षिणा शान्ता इतराः' गो. पू. २.१९; 'किंदेवतोऽस्या दक्षिणाया दिश्यसीति। यमदेवत इति', शब्रा. १४. ६. ९. २२; 'दक्षिणा दिक्। इन्द्रो देवता' तैब्रा. ३. ११. ५. १; 'दक्षिणामेव दिशं सोमेन प्राजानन्' शब्रा. ३. २. ३. १७; 'दक्षिणा दिग् ब्रह्मणः' शब्रा. १३. ५. ४. २४; 'तस्मादेतस्यां' (दक्षिणस्यां) दिश्येतौ पशू (गौश्चाजश्च) भूयिष्ठौ' शब्रा. ७. ५. २. १६।

दक्षिणापथ—दक्षिण का मार्ग, दक्षिण प्रदेश। बौधसू १. १. २. १३ में सुराष्ट्र के साथ दक्षिणापथ का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद १०. ६१. ८ में वैसा ही शब्द "दक्षिणा पदा"=दक्षिण की ओर पद बढ़ाने वाला है; बहिष्कृत किये जाने पर प्रावृज् के दक्षिण की ओर जाने का वहाँ उल्लेख है। निःसंदेह वह आर्य-संसार से बाहर जाने की ओर निर्देश है; संभवतः कौउ. २. १३ के समय तक विन्ध्य पर्वत सीमा थी। तु०—त्सिमर, आ०ले, १८५; वेबर, इस्टू, १. ४०८; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, ३०; कीथ, शांआ, २८, टि० १; ऐआ, २००।

दक्षिणा-प्रष्टि—शब्रा. ५. १. ४. ९; ९. ४. २. ११ में रथ के दाहिने अश्व को दक्षिणा-प्रष्टि कहा गया है। तु०—५. ४. ३. १७, पंविब्रा. १६. १३. १२। कभी-कभी रथ में चार घोड़े जोते जाते थे, जिनमें से मध्य के दाहिने अश्व को दक्षिणायुग्य और बाएँ अश्व को सव्यायुग्य कहा जाता था। इन दोनों के दोनों ओर दो अश्व और होते थे, जो संभवतः जुए से न बँध कर मध्यस्थ अश्वों से बँधे होते थे। द्र०रथ।

दक्षिणायन—द्र०—सूर्य।

दक्षिणायुग्य—दाहिनी ओर का अश्व। शब्रा. ५. १. ४. ६; ९. ४. २. ११; ५. ४. ३. ८ में दक्षिणायुग्य का उल्लेख है। द्र०—**दक्षिणाप्रष्टि** और रथ।

१ दण्ड—कुछ स्थलों पर यह शब्द दण्ड या छड़ी के अर्थ में आया है। ऋ० ७. ३३. ६ में "गो-अजनासः" अर्थात् पशुओं के हाँकने का दण्ड; शस्त्र के अर्थ में: अवे.

५. ५. ४; तु०—ऐब्रा, २. ३५; शब्रा, १. ५. ४. ६ आदि। शब्रा. ३. २. १. ३२ के अनुसार दीक्षा के अवसर पर एक व्यक्ति दण्ड लेकर खड़ा होता था, जिससे वह दानवों को दूर भगा सके। उपनयन के प्रसङ्ग में भी दण्ड का उल्लेख मिलता है: आगृसू, १. १९; १. २२; शांगृसू, २. १. ६. ११। कुछ परिवर्तन के साथ यह शब्द चम्मच की डाँड़ी के अर्थ में भी आया है: ऐब्रा, ७. ५; शब्रा. ७. ४. १. ३६; एक वाद्य-यन्त्र: शांआ, ८. ९; शांश्रौसू, १७. ३. १.।

२–दण्ड—राजदण्ड या सजा के अर्थ में भी यह शब्द आया है। 'राजप्रेषितो दण्डः', पागृसू, ३. १५; तु०—शब्रा, ५. ४. ४. ७; यहां राजा के अदण्ड्य होने और दण्ड-वध के अधिकारी होने का उल्लेख है। आजकल की परिभाषा के अनुसार राजा अपराधियों के निमित्त कानून का प्रमुख स्रोत था; इसके परवर्ती काल में भी वह इन अधिकारों को धारण करता था।[१] पंविब्रा १७. १. ९. में अब्राह्मण व्रात्यों की एक विशेषता यह भी थी कि वे अदण्ड्यों को दण्ड देते थे।[२] द्र०—धर्म।

दण्ड औपर—उपर का वंशज। तैसं ६. २. ९. ४ और मैसं ३. ८. ७ में किसी विशेष यज्ञ के करने वाले दण्ड औपर का उल्लेख है।

दण्डन—अवे १२. २. ५४ में बांस या बेंत का नाम दण्डन है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे० ६८२।

दत्त तापस—पंविब्रा २५. १५. ३ में नागोत्सव के होतृ-पुरोहित का नाम दत्त तापस है। तु०—वेबर, इस्टू, १. ३५।

दत्वती रज्जुः—अवे ४. ३. २ में 'दत्वती रज्जुः' शब्द सर्प के लिए आया है। तु०—अहि।

दधि—दही। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दधि का उल्लेख आम है: ऋ० ८. २. ९; ९. ८७. १ आदि; अवे ३. १२. ७; ४. ३४. ६; तैसं, २. ५. ३. ४ आदि; पंविब्रा, १८. ५. १२ आदि। शब्रा १. ८. १. ७, (तु० जैब्रा०, २. ३४८) में घृत, दधि, मस्तु और आमिक्षा का उल्लेख है; एगलिंग ने मस्तु को मट्ठा या छाछ माना है। आमिक्षा दही या जामन पड़े दूध के अर्थ में है। किंतु दधि शब्द भी दही के अर्थ में आया है। दही को सोम में मिलाया जाता था; दध्याशिर: ऋ० १ ५. ५; १. १३७. २; ५. ५१. ७; ७. ३२. ४।[३] तु०—(इन्द्रः) 'यदब्रवीद् धिनोति मेति तस्माद् दधि' शब्रा० १. ६. ४. ८; 'ऐन्द्रं वै दधि' शब्रा० ७. ४. १. ४२; 'इन्द्रियं वै दधि' तैब्रा २. १. ५. ६; 'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्' शब्रा० ७. ५. १. ३; 'अथ यदि दधि (आहरेत्) वैश्यानां स भक्षः' ऐब्रा० ७. २९ 'सोमो वै दधि' कौब्रा ८. ९; 'सरस्वत्यै दधि' शब्रा० ४. २. ५. २२।

दधिक्रा—दैवी अश्व के रूप में दधिक्रा शब्द का कई बार उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है: ऋ० ३. २० १; ४. ३९. १; ४. ४०. ४; १०. १. १०२ आदि।

दधि-द्रप्स—शब्रा ९. २. ३. ४० में दधि-द्रप्स शब्द दही के चक्के का बोधक है।

दध्यञ्च् आथर्वण—ऋग्वेद में ये एक दैवी व्यक्तित्व वाले महापुरुष जान पड़ते हैं: ऋ० १. ८०. १६; १. ८४. १३, १४; १. ११६. १२; १. १७. २२। ऋ० १. १३९. ९ में उनका नाम अत्रि, कण्व, प्रियमेध, और अङ्गिरसों के साथ आया है। ऋवे० ६. १६. ४ में दध्यञ्च् को अथर्वन् का पुत्र बताया गया है, जिसका कि ऋग्वैदिक कर्मकाण्ड के विकास में पर्याप्त हाथ रहा है। अश्विनों ने दध्यञ्च् आथर्वण की सहायता की थी: ऋवे० ८०. १६; ११६. १२; ३९. ९; ६. १६. ४; ९. १०८. ४; किंतु परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में वे एक आचार्य के रूप में उल्लिखित हैं: तैसं, ५. १. ४. ४; ५. ६. ६. ३; कासं, १९. ४; शब्रा, ४. १. ५. १८; ६. ४. २. ३; १४. १. १. १८, २०, २५; १४. १. ४. १३; बृउ, २. ५. २२; ४. ५. २८ आदि। पंविब्रा. 'दध्यङ् वा आङ्गिरसो देवानां पुरोधानीय आसीत्' १२. ८. ६ में गलती से उन्हें आङ्गिरस कहा गया है। तु०—गो.ब्रा १. ५. २१। तु०—'वाग् वै दध्यङ्ङाथर्वणः' शब्रा० ६. ४. २. ३। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ दि अवे, ३५; अवे, २३. ११६, ११८; वोबू।

दध्याशिर—द्र०—सोम।

दध्योदन—द्र० ओदन। 'अथ (वृत्रः) यदपात् समभवत् तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद् दानव इत्याहुः' शब्रा १. ६. ३. ९।

दनायु, दनु—

दन्त्, दन्त—दांत के अर्थ म ऋग्वेद-काल से ही दन्त् और दन्त शब्दों का प्रयोग मिलता है: ऋ० ७. ५५. २; १०. ६८. ६; अवे, ५. २३. ३; ५. २९. ४; ६. ५६. ३; दन्त—ऋ०, ४. ६. ८; ६. ७५. ११; अवे, ४. ३. ६ आदि। दांतों को साफ करने (√धाव्) का कार्य दैनिक जीवन का अङ्ग था; विशेषतः दीक्षा के समय स्नान, केश-श्मश्रु-कर्तन और नाखून काटने के साथ दन्त-धावन भी

---

[१] द्र०—फौय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त २१ एवं आगे।
[२] तु० वेबर, इस्टू, १. ३३।
[३] सेबुई १२. २१८
[४] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. २१९ एवं आगे। तु० त्सिमर, आले, २२७

आवश्यक कार्य था : मैसं, ३. ६. २; तु०—तैसं, ६. १. १. २ एवं आगे। अवे. ६. १४० मे बच्चे के पहली-पहली कील निकालने के समय के संस्कार का उल्लेख जान पड़ता है, यद्यपि इस संदर्भ की व्याख्या कुछ दुरूह है।[1] ऐब्रा ७. १४; शांश्रौसू, १५. १८ में बच्चे के पहले दांत गिरने पर किये जाने वाले संस्कार का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद ४. ६. ८ में दन्त शब्द हाथी के दांत के अर्थ में आया प्रतीत होता है।[2] दन्त-चिकित्सा का चलन था, अथवा नहीं, यह अनिश्चित है। ऐआ. २. १. ५ में पाये जाने वाले **हिरण्यदन्त्** नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि दांतों को गिरने से रोकने के लिए सोने का प्रयोग होता था; रोम में यह प्रथा 'ट्वेल्व टेबुल्स' के विधान के समय से थी।[3] तु० 'यस्मादघरे (दन्ताः) एवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरे यस्मादणीयांस एवाघरे प्रथीयांस उत्तरे यस्माद् दंष्ट्रा वर्षीयांसो यस्मात् समा एव जम्भ्याः' शब्रा. ११. ४. ३. ५।

दन्दशूक—'नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूकाः' शब्रा, ५. ४. १. २; 'लोहिता इव हि दन्दशूकाः' ५. ४. १. २।

दभीति—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर इन्द्र के एक कृपा-पात्र का नाम दभीति आया है। इन्द्र ने इनकी रक्षा के लिए **चुमुरि** और **धुनि** नामक असुरों को मारा था : ऋ० १०. ११३. ९; २. १५. ९; ७. १९. ४। इन्होंने इन्द्र के लिए सोम को निचोड़ा था : ऋ० ६. २०. १३ और इन्द्र ने इन्हें पुरस्कार दिया था : ऋ० ६. २६. ६। उनके लिये ३०,००० दस्यु सुला दिये गये थे : ऋ० ४. ३०. २१ और बिना बन्धन के बाँध दिए गए थे : ऋ० २. १३. ९। **तुर्वीति** के साथ दभीति **अश्विनों** के भी कृपा-पात्र रहे प्रतीत होते हैं : ऋ० १. ११२. २३। उन्हें वास्तविक व्यक्ति न मानने का कोई कारण नहीं है।

द्र०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १५५, १५७, १५८। तु०—मैकडानल, वैमा., पृ० १६२।

दम—ऋग्वेद एवं वा.सं. में दम शब्द गृह के अर्थ में आया है : ऋ० १. १. ८; १. ६१. ९; १. ७५. ५; १. १४३. ४; २. १. २ आदि; वासं, ८. २४।

[1] द्र०—त्सिमर, आ०ले, ३२१; वेबर, इस्तू, ५. २२४; ग्रिल, हुंडेर्त लीडर, २. १७६; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ५४०. ५४१; अ०वे०, ७१; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ३८६।

[2] द्र०—पिशल, वैस्तू, १. ९; ओल्डेनबर्ग, सेबुई, ४६. ३४१, ३४२।

[3] द्र०—कीथ, ऐआ, २०६; वर्ड्स्वर्थ, फ्रेगमेंट्स ऐंड स्पेसिमेन्स आफ अर्ली लैटिन, ५३७।

दंपति—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर गृह-स्वामी के अर्थ में यह शब्द आया है : ऋ० १. १२७. ८; २. ३९. २; ५. २२. ४; ८. ६९. १६; ८. ८४. ७।[1] किंतु प्रायः यह शब्द द्विवचन में आता है और गृहस्वामी तथा गृहस्वामिनी के रूप में पति और पत्नी का बोधक है : ऋ० ५. ३. २, ८. ३१. ५, १०. १०. ५, १०. ६८. २; १०. ८५. ३२; १०. ९५. १२ आदि, अवे, ६. १२३. ३, १२. ३. १४; १४. २. ९ आदि। इससे वैदिक युग में स्त्री के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। द्र०—**स्त्री**।

दय्यांपाति—तैब्रा. ३. १०. ९. ९-५ में दय्यांपाति **अत्यंहस** के समकालीन **प्लक्ष** का पैतृक नाम है। तु०—**दैयांपाति**।

दर्भ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में एक घास का नाम है : ऋ० १. १९१. ३; अवे. ६. ४३. २; ८. ८७. २०; १०. ४. १३; ११. ६. १५; १९. २८. १ आदि; तैसं. १. ५. १. ४ आदि। अवे. ६. ४३ में दर्भ को **मन्यु-शमन** कहा गया है। वहां बाल गिरने या हृदय धड़कने के लिए इसके ताबीज का जिक्र आया है : अवे. १९. ३२. २; तु०—१९. ३०। इसे बहुत अधिक जड़ों वाला=भूरि-मूल, हजारों पत्तों वाला=सहस्र-पर्ण और सैकड़ों डण्ठलों वाला=शतकाण्ड बताया गया है : अवे. ६. ४३. २; १९. ३२. १। तु०—उभयं वैतदन्नं यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च या वै वृत्राद् बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन् यद् ऋभन्त्य उदायंस्तस्माद् दर्भास्ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भा यदु दर्भास्तेनौषधयः' शब्रा. ७. २. ३. २; 'आपो दर्भाः' शब्रा. २. २. ३. ११; तैब्रा. ३. ३. २. १। तु०—त्सिमर आ०ले, ७०।

दर्वि, दर्वी—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में ये दोनों शब्द स्रुवा के अर्थ में आये हैं : ऋ० ५. ६. ९; १०. १०५. १०; अवे. ३. १०. ७; ४. १४. ७; ९. ६. १७ आदि। दर्वी के लिये **आसेचनी** शब्द का प्रयोग ऋवे. १०. २१. २; १०५. १० में हुआ है। वास्तव में द्रु=दारु से दर्वी बना है और √ सिच् धातु से उपसेचनी बना है।

[1] शब्द के रूप के लिए द्र०—मैकडानल, वैग्रा, पृ० ३७ टि० ९; पिशल, वैस्तू, २. ३०७ एवं अग्रिम; इन्होंने दंपति रूप माना है, तु०—ऋ० १. १४९. २ में पतिर्दन्; ओल्डनबर्ग, सेबुई, ४६, १७६, १७७। तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्द्स्शाफ्तुस नामन्, ४१८, ४२०।

किंतु अवे. १०. १. १३ में यह शब्द सर्प के फण के अर्थ में भी आया है।[1] त्सिमर ने इसे सर्प के अर्थ में माना है।[2]

दर्विदा—लकड़ी में चोंच मारने वाला पक्षी। बलियों की सूची में **दर्विदा** का उल्लेख है। तु०—**दार्वाघात**। द्र०—तैसं, ५. ५. १३. १; मैसं, ३. १४. १५; वासं, २४. ३। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ९३; वोबू में 'लकड़ी तोड़ने वाला' अर्थ सुझाया गया है। तु०—एफ. डब्ल्यू. थामस का लेख' द सफिक्स, ट्रांजेक्शन्स आफ दि कैंब्रिज फिलोलाजिकल सोसाइटी, ५ भाग २।

दर्श—दर्शन। पूर्णमास के विलोम **दर्श** शब्द से अमावस्या का भाव ग्रहण किया जाता है: अवे०, ७. ८१. ३, ४; तैब्रा, १. २. १. १४; शब्रा. ११. २. २. १; तैब्रा ३. ४. ४. १ आदि। प्रायः द्वन्द्व समास में 'दर्शपूर्णमासौ' का उल्लेख मिलता है; ये दोनों दिन यज्ञिय महत्त्व के हैं: तैसं, १. ६. ७. १; १. ६. ९. ३; २. ५. ६. १; तैब्रा. २. २. २. १; ऐब्रा. १. १; शब्रा, १. ३. ५. ११ इत्यादि[3]। इन शब्दों में 'दर्श' के प्रथम होने से इस बात की सूचना मिलती है कि महीने की गणना अमावस्या से अमावस्या तक की जाती थी, पूर्णमास से पूर्णमास तक नहीं। तु० 'एष वै पूर्णमाः। य एष (सूर्यः) तपत्यहरहर्ह्येवैष पूर्णोऽथैष एव दर्शो यच्चन्द्रमाः ददृश इव ह्येषः। अथो इतरथाहुः एष एव पूर्णमा यच्चन्द्रमा एतस्य ह्यनु पूरणं पौर्णमासीत्याचक्षतेऽथैष एव दर्शो य एष (सूर्यः) तपति ददृश इव ह्येषः' शब्रा. ११. २. ४. १-२; 'दर्शपूर्णमासौ वा अश्वस्य मेध्यस्य पदे' तैब्रा. ३. ९. २३. १। द्र०—मास।

दशग्व—ऋग्वेद ८. १२. २; १०. ६२. २; में **दशग्व** एक व्यक्ति का नाम है, जिसकी इन्द्र ने सहायता की थी। ऋवे. २. ३४. १२ में वे यज्ञ के उत्पादक हैं। अन्यत्र एकवचन में **दशग्व-वंशीय** देवशास्त्रीय व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। **नवग्वों** के साथ इनका निकट संबन्ध है: ऋ० १. ६२. ४; ३. ३९. ५; ४. ५१. ४; ५. २९. १२; १०. ६२. ६; अकेले: २. ३४. १२; द्र०—मैकडानल, वैमा. पृ० १४४ सी। पोद्दार, सेक्रिफाइस इन दि ऋग्वेद, पृ० १५०।

[1] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ५७७; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, १५३।

[2] द्र०—आ०ले०, ९५ इन्होंने वहां **करिक्त** को भी सर्प के अर्थ में लिया है।

[3] द्र०—हिल्लेब्राण्ड्ट, दास आल्तिन्दिश्शे न्यू उन्द फोलमोन्द्स आफर, येना, १८८०; रितुआल लितराट्यूर, १११–११४; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ४३९।

दशतयी—निरुक्त ७. ८; ७. २०; ११. १६; १२. ४० में दशतयी **ऋग्वेद** का नाम है, क्योंकि वह दस मण्डलों में विभक्त है।

दशद्यु—ऋग्वेद १. ३३. १४; ६. २६. ४ में **दशद्यु** एक नायक का नाम है; किंतु **वेतसु** से, जो एक मन्त्र में उन्हीं के साथ उल्लिखित हैं, उनके संबन्ध का पता नहीं चलता। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे; ५५. ३२८।

दशन्—अन्य आर्य-जातियों के समान वैदिक आर्यों की संख्या के विस्तार का मूल **दश** है। किंतु भारत की यह विशेषता है कि यहाँ बहुत बड़ी संख्याओं का भी उल्लेख है, जब कि अन्यदेशीय आर्यों का ज्ञान एक हजार से ऊपर नहीं पहुँच पाता[1]: वासं १२. २ एवं अग्रिम; तु०—२२. ३४; शब्रा. ९. १. २. १६ में **एक, दश, शत, सहस्र** दश सहस्र, **नियुत**=एक लाख, **प्रयुत**=दस लाख, **अर्बुद**=एक करोड़, **न्यर्बुद**=दश करोड़, **समुद्र**=एक अरब, **मध्य**=दस अरब, **अन्त**=खरब, **परार्ध**=दश खरब का उल्लेख मिलता है। काठक-संहिता में सूची वैसी ही है, किंतु **नियुत** और **प्रयुत** में स्थान-विनिमय हो गया है, **न्यर्बुद** के बाद एक नयी संख्या जोड़ दी गई है; और **समुद्र** दश अरब का वाचक बन गया है; किंतु वहीं १७. १० में सूची वासं. के ही समान है, केवल **नियुत** और **प्रयुत** का स्थान-विनिमय है। तैसं. के दो स्थानों पर=४. ४. ११. ४; ६. २. २०. १ वासं. के समान ही सूची है। मैसं. २. ८. १४ में **अयुत, प्रयुत,** फिर **अयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध** का उल्लेख है। पंविब्रा. १७. १४. २ में **न्यर्बुद** तक तो वासं. की ही सूची है; फिर **निखर्वक, बद्व, अक्षित** और **गो** =दश खरब का उल्लेख है। जैउब्रा. १. १०. २८, २९ की सूची में **निखर्वक** के स्थान पर **निखर्व** और **बद्व** के स्थान पर **पद्म** आया है; और अन्त में 'अक्षितिर् व्योमान्तः' का निर्देश है।[1] शांश्रौसूत्र १५. ११. ७ में **न्यर्बुद** के बाद **निखर्वाद, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त** नील या १०००००००००००० तक संख्या गिनाई गई है।

किंतु **अयुत** के बाद किसी संख्या का विशेष महत्त्व नहीं है: ऋ० ३. ६. १५; ८. १. ५; ८. २. ४१; ८. २१. १८; ८. ३४. १५; ८. ४६. २२; अवे. ८. २. २१; ८. ८. ७; १०. ८. २४; पंविब्रा., १९. १३. ६; २१. १८. ३ आदि। त्सिमर[2] के अनुसार **अयुत** का ऋग्वेद में

[1] तु०—ऐआ, ५. ३. २; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स, १५. ३० टि० २; कीथ, ऐआ, २९३, २९४।

[2] द्र०—थिबो, ऐस्ट्रोनमी ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथमेटिक, ७०।

कोई निश्चित अर्थ नहीं है; इस कथन का समर्थन या खण्डन नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर **'शता सहस्राणि'** का उल्लेख है, जो एक लाख का अर्थ देता है : ४. ३२. १८; ८. ३२. १८ आदि। अयुत को भी इस अर्थ में माना जा सकता है, यद्यपि कभी-कभी यह अनिश्चितार्थक हो सकता है। ऐब्रा. ७. २१; ७. २३ में **बद्व** शब्द भी आता है, किंतु वह किसी पक्की संख्या का द्योतक नहीं है।[१] बाद में इन ऊँची संख्याओं का प्रयोग उलझे हुए अर्थ में आया है।

पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ३ में कुछ महत्त्वपूर्ण गणिती प्रक्रिया है, जहाँ याज्ञिक उपहारों का उल्लेख है, और अगला उपहार पहले से दूना कर के गिनाया गया है। 'द्वादशमानं हिरण्यम्' से इसका प्रारम्भ होता है (संभवतः १२ कृष्णल अर्थ है; तु० काश्रौसू, २२. ९. १)[२] और बाद में २४, ४८, ९६, १९२, ३८४, ७६८, १५३६, ३०७२, फिर **'द्वे अष्टाविंशति-शतमाने'** (२×१२८×२४, यहाँ मान एक न होकर २४ का प्रतीत होता है) अर्थात् = ६१४४, फिर १२२८८, २४५७६, ४९१५२, ९८३०४, १९६६०८, ३९३२१६ का उल्लेख मिलता है; तु०—लाश्रौसू, ८. १०. १ एमं अग्रिम; काश्रौसू, २२. ९. १-६। इनके साथ शब्रा १२. ३. २. १ में उल्लिखित समय के सूक्ष्म विभागों को देखा जा सकता है : १ **दिन** = १५ **मुहूर्त**, १ **मुहूर्त** = १५ **क्षिप्र**, १ **क्षिप्र**, = १५ **एतर्हि**, १ **एतर्हि** ··· १५ **इदानी**, १ **इदानी** = १५ **प्राण**। तु०—तैब्रा, ३.१०.१.१ जहाँ मुहूर्त के विभागों के विभिन्न नाम हैं : **इदानीम्, तदानीम्, एतर्हि, क्षिप्रम्, अजिरम्, आशुः** (आशु ?) **निमेषः, प्राणः, द्रवन्, अतिद्रवन्, त्वरन्, त्वरमाणः, आशुः, आशीयान्, जवः**। शांश्रौसू. १४-७५ में दशमलव की परंपरा का भी उल्लेख है : दिन १५ **मुहूर्त** का है, १ **मुहूर्त** = १० **निमेष**, १ निमेष = १० **ध्वंसि**; तु०—शां.आ, ७. २०।

कुछ भिन्नों का भी वैदिक साहित्य में उल्लेख है : **अर्ध, पाद, शफ** और **कला** शब्द क्रमशः १।२, १।४, १।८, १।१६ को उदिष्ट करते हैं, किंतु केवल प्रथम दो का ही अधिक प्रयोग है। 'तृतीय' १।३ भाग को सूचित करता है : तैसं, २. ५. १. ४; ५. २. ६. २; तैब्रा. १. १. ६. १; १. ७. १. २; शब्रा. ३. ८. ४. ४ आदि। ऋग्वेद ६. ६९. ८; अवे, ७. ४४. १; तैसं. ३. २. ११. २; ऐब्रा, ६. १५; शब्रा, ३. ३. १. १३ में कहा गया है कि **इन्द्र** और **विष्णु** ने १००० को ३ से विभाजित किया, किंतु कैसे किया यह अज्ञात है। **त्रिपाद्** शब्द ३।४ का बोधक है : ऋ० १०. ९०. ४।

संभव है कि वैदिक भारतीय संख्याओं का अङ्कन जानते थे। यदि ऋग्वेद १०. ६२. ७ में **अष्टाकर्णी** का अर्थ किया जाय 'आठ के अङ्क से अङ्कित कान वाली गौ' तो उनके अङ्कन-ज्ञान का समर्थन हो जाता है।[१] किंतु यह अर्थ संदिग्ध है।[२]

दशपुरुषं राज्यम्—शब्रा १२.९. ३. १, ३ में 'दशपुरुषं राज्यम्' दश पीढ़ियों से आये राज्य को सूचित करता है, जिसे आनुवंशिक राज्य-परंपरा का साक्षी माना जा सकता है। तु०—श्रौसू. १५. १४. १८। इसी प्रकार 'त्रिपुरुष' = तीन पीढ़ी, ऐ.ब्रा. ८. ७[३]। वेबर[४] ने एक बार इसका **'दशपुरु की राजधानी'** यह अनुवाद किया था और कालिदास के मेघदूत १. ४८ के 'दशपुर' और मध्यदेश के दशार्ण के साथ इसकी तुलना की थी।[५]

दशमेय—'अथ यद् दशमेऽह्न् प्रसूतो भवति तस्माद् दशमेयोऽथो यद् दश दशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति तस्माद् वेव दशमेयः' शब्रा. ५. ४. ५. ३।

दशमास्य—दस महीने का। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दशमास्य शब्द जन्म से पहले गर्भ का विशेषण है : ऋ० ५. ७८. ७, ८; अवे. १. ११. ६; ३. २३. २; दसवें महीने में जन्म : ऋ० १०. १८४. ३ आदि। तु०—वेबर, नक्षत्र २. ३१३ टि०—१; त्सिमर, आ०ले०, ३६६। द्र०—**मास**।

दशमी—अवे. ३. ४. ७ में और पंविब्रा. २२. १४. में दशमी शब्द ९० और १०० वर्ष के मध्य की आयु को जताता है। ऋग्वेद १. १५८. ६ में उसे **दशम युग** कहा गया है। दीर्घ जीवन वैदिक भारतीयों के लिए विरल नहीं था, क्योंकि १०० वर्ष = शरदः शतम् जीने की अभिलाषा आम पायी जाती है : ऋ० १. ८९, ९; १०. १८. १०[६]।

[१] द्र०—वेबर, इस्तू, इस्त्राइ, १. ९६।

[२] वेबर, इस्त्राइ, १०२. १०३।

[१] तु०—त्सिमर, आ०ले, २३४, २३५, ३४८।

[२] तु०—मैकडानल, वैग्रा, पृ० ३०९ टि० १०। विवरण : मैकडानल, वैग्रा, पृ० ३०८; वेबर, इस्त्राइ, १. ९०–१०३; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ३४९; केगी, ऋग्वेद, टि० ६५; हापकिन्स, जअओसो; १६, २७५ एवं आगे।

[३] द्र०—वोबू; एगलिङ्ग, सेबुई, ४४. २६९।

[४] इस्तू, १. २०९।

[५] किंतु द्र०—वही, १०. ७५. टि० १।

[६] द्र०—लानमान, संस्कृत रीडर, ३८४; ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ६२, ६३।

दीर्घतमस् के १०० वर्ष जीने का उल्लेख है : शांआ, २. १७; और महीदास ऐतरेय को ११६ वर्ष जीने का गौरव दिया गया है : छाउ. ३. १६. ७; जैउब्रा, ४. २. ११; कीथ, ऐआ, १७। ओन्सिक्रितोस[१] के अनुसार वे कभी-कभी १३० वर्ष तक जीते थे; यह कथन जातकों[२] की १२० वर्ष जीने की अभिलाषा से मेल खाता है। संभवतः यह संख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक होती थीं। हाँ आधुनिक भारतीयों की अल्पायु का कारण मलेरिया है,[3] जो ऋग्वेद में नहीं जैसा है। द्र०—**तक्मन्**।

दशवीर—'प्राणा वै दशवीराः' शब्रा. १२. ८. १. २२।

दशवृक्ष—राथ[४] के अनुसार अवे, २. ९. १ में दशवृक्ष एक वृक्ष विशेष का नाम है; किंतु ह्विटनी[५] ने 'दशवृक्षों वाला' यह अर्थ किया है।

दशव्रज—ऋग्वेद ८. ८. २०; ८. ४९. १; ८. ५०. ९ में अश्विनों के एक कृपा-पात्र का नाम दशव्रज है।

दशशिप्र—ऋग्वेद ८. ५२. २ में एक यज्ञकर्ता का नाम दशशिप्र है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३।

दशहोता—'तस्मै (ब्रह्मणे) दशमं हूतः प्रत्यभृणोत्। स दशहूतोऽभवत्। दशहूतो ह नामैषः। तं वा एतं दशहूतं सन्तं दशहोतेत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः' तैब्रा. २. ३. ११. १; 'प्रजापतिर्वै दशहोता' तैब्रा. २. २. १. १; 'यज्ञो वै दशहोता' तैब्रा. २. २. १. ६; 'अग्निहोत्रं वै दशहोतुर्निदानम्' तैब्रा. २. २. ११. ६।

दशा—शब्रा ३. ३. २. ९ में और प्रायः सूत्रों में वस्त्र के किनारे या झालर को **दशा** कहा गया है। **दशापवित्र** झालरदार छानने के वस्त्र का नाम है : ऐब्रा, ७. ३२; शब्रा. ४. २. २. ११। तु०—४. १. १. २८।

दशोणि—ऋग्वेद ६. २०. ४, ८ में दशोणि[६] इन्द्र के प्रिय एवं **पणियों** के शत्रु किसी व्यक्ति का नाम है, जिसके लाभ के लिए सैकड़ों पणियों को धराशायी किया गया था। लुड्विग[१] का यह कथन कच्चा है कि वे **पणियों** के पुरोहित थे। अन्यत्र केवल उनका नामोल्लेख है : ऋ० १०. ९६. १२; यहाँ यह सोम का विशेषण हो सकता है। द्र०—**दशोण्य**।

१ स्ट्रैबो, पृ० ७०१ में।
२ फासबोल का संस्करण, २. १६।
३ इंडियन एंपायर, १. ५१३ एवं आगे।
४ वोबू।
५ ट्रां०. अ०वे०, ५०।
६ ट्रां० ऋ० ३. १५६; ५. १०७। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. ९२ टि० १; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे, ५५. ३२८।

दशोण्य—ऋग्वेद ८. ५२. २ में **दशशिप्र** एवं अन्य लोगों के साथ **दशोण्य** को यज्ञ-कर्ता कहा गया है। **दशोणि** से उनकी अभिन्नता है या नहीं, यह बताना कठिन है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ३. १६३।

दशोनसि—अवे. १०. ४. १७; में एक प्रकार के सर्प को दशोनसि कहा गया है। पैप्पलाद शाखा में **नशोनसि** पाठ है। तु०—त्सिमर, आ०ले, ९५; ह्विटनी, ट्रां० अवे, ५७७।

दस्यवे वृक—दस्यु के लिए भेडिया। ऋग्वेद में चार बार एक व्यक्ति का नाम 'दस्यवे वृक' आया है : ऋ० ८. ५१. २; ८. ५५. १; ८. ५६. १, २। ऋवे. ८. ५१ में उन्हें ऋषि कहा गया है; किंतु ८. ५५; ८. ५६ में उन्हें दस्युओं पर विजयी राजा बताया गया है; वहां उन्हें उदार तथा कवियों का आश्रयदाता भी कहा गया है। भिन्न व्यक्तियों का उल्लेख मानना आवश्यक नहीं है : क्योंकि ऋषि शब्द में 'राजत्व' का अर्थ असमाहित नहीं है। वे **पूतक्रतु** और **पूतक्रता** के पुत्र थे : ऋ० ८. ५६. २ पौतक्रत; तु०—८. ६८. १७; ८. ५६. ४। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ऋ. १३९, १६४; ५. ५५२।

दस्यवे सह—राथ[१] के अनुसार ऋग्वेद १. ३६. १८ में किसी व्यक्ति या जन का नाम **दस्यवे सह** है। किंतु वे इस शब्द को अग्नि का विशेषण भी मानते हैं। ओल्डेनबर्ग ने यही व्याख्या की है।

दस्यु—अनिश्चित-मूलक दस्यु शब्द ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर स्पष्टतः अमानवीय शत्रुओं के लिये आया है : ऋ० १. ३४. ७; १. १००. १८; २. १३. ९ आदि। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पर मानवीय शत्रुओं, संभवतः आदिवासियों की सूचना मिलती है। यह भाव निश्चय ही उन सभी स्थलों पर है, जहाँ दस्युओं का आर्यों से विरोध दिखाया गया है; और आर्य लोग देवों की सहायता से उन्हें जीतते दिखाये गये हैं[२] : ऋ० १. ५१. ८; १. १०३. ३; १. ११७. २१; २. ११. १८, १९; ३. ३४. ९; ६. १८. ३; ७. ५. ६; १०. ४९. ३; संभवतः ५. ७०. ३; १०. ८३. ६। दस्युओं और आर्यों का प्रमुख अन्तर उनका धर्म था। दस्युओं को अयजनशील, अयज्ञिय, तरह-तरह की शपथ खाने वाले, देवों से घृणा करने वाले बताया गया है : ऋ० १०. २२. ८; अकर्मन् : ८.७०.११; अदेवयु : ४. १६. ९; अब्रह्मन् : ८. ७०. ११; अयज्वन् : ७. ६. ३; अयज्यु : १. ५१. ८; १. १७५. ३; ६. १४.

१ वोबू।
२ द्र०—मैकडानल, वैमा. पृ० १५७, १५८।

३; ९. ४१. २; अव्रत : ८. ७०. ११; अन्यव्रत : अ०वे०, १२. १. ३७ देवपीयु; इन सभी स्थलों पर मनुष्यों का ही उल्लेख संभव नहीं जान पड़ता। **दास** से तुलना करने पर उनका **जन** होना कम निखरा जान पड़ता है : दस्युओं की '**विशः**'=प्रजाओं का उल्लेख नहीं मिलता; और जहाँ एक ओर इन्द्र के **दस्यु-हत्य**=दस्युओं को मारने का निर्देश आम है, वहाँ **दास-हत्य** शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। दस्युहत्य : ऋ० १. ५१. ५, ६; १. १०३. ४; १०. ९५. ७; १०. ९९. ७; १०. १०५. ११; तु०—दस्युहन् : १. १००. १२; ६. ४५. २४; ८. ७६. ११; ८. ७७. ३; १०. ४७. ४; दस्युहन् अग्नि : ६. १६. १५; ८. ३९. ८ आदि। ऋग्वेद ५. २९. १० में दस्युओं को **अनास्** कहा गया है, जिससे पता चलता है कि वे वस्तुतः मनुष्य थे। किंतु **अनास्** शब्द का अर्थ अनिश्चित है। पदपाठ और सायण के अनुसार इसका अर्थ मुख-रहित=अन्+आस् है।[१] किंतु 'नासिका-रहित'=अ+नास् अर्थ भी संभव है।[२] इस व्याख्या से पिचकी नाक वाले द्राविड़ आदिवासियों को लिया जा सकता है, जिनकी भाषा ब्रहुइयों में आज भी उत्तर-पश्चिम में पायी जाती हैं। इस व्याख्या का समर्थन उस कथन से हो जाता है, जिसमें **वृत्र** को कटी नाक वाला=रुजानास् बताया गया है।[३] किंतु रुजानाः का अर्थ नदी है; फलतः यह कथन चिन्त्य है।

दस्युओं की दूसरी विशेषता है उनका **मृध्रवाच्** होना, जिसका उल्लेख **अनास्** के साथ आया है : ऋ० ५. २९. १०। इसका अर्थ किया गया है 'तुतलाती वाणीवाला' 'अनवगम्य वाणी[१] वाला'। यह अनुवाद ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि यह शब्द आर्यों के लिये भी आया है : ऋ० ७. १८. १३ में **पुरु**[२] लोगों के लिये; ७. ६. ३ में **पणियों** के लिए; अन्यत्र शत्रुओं के लिए : १. १७४. २; ५. ३२. ८; १०. २३. ५। अतः इसका अर्थ 'द्वेषपूर्ण वाणी वाला' हो सकता है।[६]

दस्यु शब्द का समानान्तर ईरानी **दंहु** या **दह्यु** हो सकता है, जो एक प्रान्त का नाम है। त्सिमर[३] के अनुसार मूलतः **दह्** का अर्थ **शत्रु** था, जिससे ईरान में 'शत्रु का प्रान्त', 'जीता हुआ प्रान्त' या 'प्रान्त' यह अर्थ उभरा, जब कि भारतीयों ने इससे शत्रु के भाव को सुरक्षित रखते हुए इसका प्रयोग दानवीय शत्रुओं तक बढ़ा दिया। राथ (वोबू) के अनुसार **दस्यु** का मौलिक प्रयोग देवासुरों के वैर में है; वहाँ से विस्तृत होकर यह शब्द 'मानव वैरी' का बोधक बना है। लासनने[४] **दह्यु**=**दस्यु** तथा **दएव**=**देव** यह समानान्तरता एवं प्रातीप्य निकाला था[५] जो कि धार्मिक भेदों का परिणाम था, और जिसके कारण, हाग के अनुसार, ईरानी और भारतीय एक दूसरे से अलग हुए

---

[१] इसमें दो भाव निकलते हैं: एक तो कुरूप, जैसा कि राथ, वोबू. तथा ग्रासमान; (वोर्टरबूरख) का मत है; दूसरा वाग्-रहित अर्थात् आर्य-वाणी बोलने में असमर्थ, जैसा कि बोलेन्सेन, त्सादामौगे; ४१. ४९६ का मत है।

[२] द्र०—त्सिमर, आ०ले, ४३०; लुड्विग, ट्रां० ऋ० २. १०९; ५. ९५; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. २७७; क्नावर, कुन्ह् का त्सा०, २९. ५२; वाकरनागल, आल्तिन्दिश्शे ग्रामेतीक, २. २९३ 'स्वर'।

[३] द्र०—ब्लूमफील्ड, अजफि, १७. ४१५; इन्होंने ऋग्वेद १. ३२. ८ के 'रुजानाः' को 'रुजान-नाः' के रूप में ग्रहण किया है। द्र०—ओल्डेनवर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ३१. ३२ इन्होंने 'रुजा अनाः' यह माना है। किंतु द्र०—लानमान, संस्कृत रीडर, ३६१; इन्होंने 'रुजानाः' को प्रथमा—बहुवचन का रूप माना है; द्र०—मैकडानल, वैग्रा. पृ० ५९, टि० १। वास्तव में 'रुजानाः' का अर्थ 'नदी' है, जिसका दूसरा नाम 'कूलंकषा' भी है।

[१] तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, २२. ३९३ एवं आगे।

[२] राथ, एर्लाउटरुङ्गन त्सुम निरुक्त, ९७, का मत है कि इसका अर्थ 'अपमानजनक वाणी' है। त्सिमर आ०ले, ११४, ११५ ने बलपूर्वक इसका समर्थन किया है। किंतु हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. ८९, ९०. ११४ इसका अर्थ करते हैं 'शत्रु की भाषा बोलने वाला'। इस आधार पर **पुरुओं** की भाषा को **भरतों** की भाषा से भिन्न कहा गया है, जिसका समर्थन शब्रा, ३. २. १. २३, २४ के आधार पर किया जा सकता है, जहाँ 'हेऽरयो' के स्थान पर असुरों द्वारा 'हेऽलयो' कहे जाने का उल्लेख आता है। द्र० म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, २२. ११४; डैविडसन, त्सा.दा.मौ.गे, ३७. २३ में महाभाष्य का अनुवाद, एगलिंग, सेबुई २६. ३१ टि० ३।

[३] आ०ले, ११० एवं आगे, मैकडानल, वैमा, पृ० १३८।

[४] इन्दिश्शे आल्तरथुम्स कुन्द, १. ६३३।

[५] यह सिद्धान्त अब त्यागा जा चुका है। तु०—जुस्ती, गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्साइगन, १८६६, १४६६ एवं आगे; गेल्डनर, वैस्तू, १. १४२; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १६२ एवं आगे; मैकडानल, वैमा, पृ० १५६।

थे। इस शब्द का मौलिक अर्थ हो सकता है 'दलित क्षेत्र'; उसके बाद 'शत्रुओं का देश', और फिर 'शत्रु-जन'; जिन्हें प्रायः **दास**[1] इस नाम से पुकारा गया है।

कुछ दस्युओं के नाम हैं:—**चुमुरि, शम्बर, शुष्ण**। ऐब्रा. ७. १८–'त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिंदा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः' जहां विश्वामित्र के पुत्रों को 'दस्यूनां भूयिष्ठाः' कहा गया है—में असभ्य जातियों को **दस्यु** कहा गया है, जैसा कि बाद के ग्रन्थों में आता है: शांश्रौसू, १५. २६. ७; मनु, ५. १३१; १०. ३२, ४५।[2]

दस्र—आश्चर्य-जनक काम करने वाला। अनेक स्थलों पर **अश्विनों** के लिए दस्र शब्द का प्रयोग आया है: ऋ० १. ३०. १८; १. ३. ३; १. १८२. २; ८. ७५. १; ८. २६. ६; ८. ७६. ७; ६. ६२. ५; १०. ४०. १४ आदि।

दाक्षायण—**दक्ष** का वंशज। अवे. और यजुर्वेद में दाक्षायणों द्वारा **शतानीक** को दिये गए स्वर्ण के दान का उल्लेख है: अवे. १. ३५. १, २; वासं, ३४. ५१; ३४. ५२[3]; खिल सूक्त, ४. ७. ७, ८। शब्रा. में यह शब्द 'स्वर्ण' के अर्थ में आया है: ६. ७. ४. २ में द्राक्षायण-हस्त =स्वर्णयुक्त हस्त वाला। वहाँ (२. ४. ४. ६; तु०ऐब्रा. ३. ४०) द्राक्षायण[4] लोग एक राजवंश के व्यक्ति प्रतीत होते हैं जो किसी यज्ञ-विशेष के अनुष्ठान से समृद्ध बने थे।

दातृ—देनेवाला। वैदिक साहित्य में दान देने वालों एवं आश्रयदाताओं की भूरिशः प्रशंसा की गई है: ऋ० ४. १७. ८; ७. २०. २; ८. ५५. २; १. २२. ८; ३. १३. ३; १०. ५५. ६; वासं. ७. ४८ आदि। तु० 'अग्निर्वै दाता स एवास्मै यज्ञं ददाति' कौब्रा. ४. २।

[1] दस्यु और दास दोनों √दस् से निष्पन्न होते हैं, जिसका अर्थ ह्विटनी रचित 'रूट्स' के अनुसार 'उजाड़ देना' है; किंतु राथ के अनुसार इसका अर्थ 'अभाव सहना' या 'उजाड़ करना' है।

[2] त्सिमर, आ०ले, ११८। तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि, ३. २७६ एवं आगे।

[3] देखो कठ, श्रोडर द्वारा उद्धृत, ट्यूबिंगेर कठ हाण्ड-श्रिफ्तन ३६।

[4] एगलिंग, सेबुई, ४१. २८३, टि० २।

विवरण—वेबर, इस्तू, १. २२४; ४. ३५८; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १९५; ह्विटनी, ट्रां० आ० दि अ०वे० ३५; लेवी, ला दाक्त्रि द्यु सैक्रीफीस, १३८।

दात्यौह—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में **दात्यौह** का उल्लेख है: तैसं, ५. ५. १७. १; मैसं, ३. १४. ६; वासं, २४. २५, ३९; पाणिनि ७. ३. १ के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति दित्य-वह् से है।[1] तैसं के भाष्य में सायण ने 'कालकण्ठ' या 'पुष्करिणी वसति' माना है; संभवतः यह कुक्कुट, तीतर आदि के समान ही कोई पक्षी हो। आर्ष काव्यों और स्मृति-ग्रन्थों में पाये जाने वाले 'दात्यूह' शब्द का यह पाठान्तर प्रतीत होता है।

दात्र—काटने वाला। ऋग्वेद ८. ७८. १०; निरुक्त, २. १ में दात्र शब्द दांती के अर्थ में आया है। मैसं. ४. २. ९ में दात्रकर्णी =दांती के चिह्न से युक्त कान वाली गौओं का उल्लेख है। इसके बाद यह शब्द सूत्रों और आर्ष-काव्यों में आया है।[2]

दात्रकर्णी दात्र=दांती के चिह्न से युक्त कान वाली। मैसं. ४. २. ९ में दात्र-कर्णी गौओं का उल्लेख है। संभवतः पशुओं की पहचान के लिए उन्हें दागा जाता था। द्र०—**अष्टाकर्णी**।

दात्रेय—वंश-ब्राह्मण[3] में **अराड शौनक** का पैतृक नाम है। संभवतः **दात्रेय** =दृति का वंशज पाठ हो।[4] किंतु वर्ण-विपर्यय से वही व्युत्पत्ति दात्रेय की भी संभव है।

दाधीच—**दध्यञ्च्** का वंशज। पंविब्रा. १४. ६ में च्यवन का पैतृक नाम है।

१ दान—देना, उपहार। ऋग्वेद में, विशेषतः दान-स्तुतियों में दान शब्द का प्रयोग आम है; दानस्तुति शब्द सर्वप्रथम बृहद्देवता ६. ४५, ९२ में आया है। ब्राह्मणों की एक विशेषता दान लेना थी, जब कि अन्य वर्णों के लिए आवश्यक था कि वे दान दें[5]: शब्रा, ११. ५. ७. १। कन्या-दान विवाह का रूप था: निरुक्त, ३. ४। द्र०—**विवाह**।

२ दान—बांटना। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर दान शब्द यज्ञिय भोज के विभाजन[6] के लिए आया है, जिसके लिए देवताओं को आमन्त्रित किया जाता था: ऋ० १. ५५. ७; १. ४८. ४; १. १. १८०. ५; ८. ४६. २६; ८. ६०. ८; ८. ९९. ४ आदि।[5] ऋग्वेद के एक मन्त्र

[1] तु०—त्सिमर, आ० ले, ९१।

[2] द्र०—हापकिन्स, जअओसो, १७. ८६। द्र०—सृणि भी। तु०—त्सिमर, आ०ले० २३८।

[3] द्र०—इस्तू, ४. ३७३।

[4] तु०—वोबू।

[5] वेबर, इस्तू, १०. ४७-६१।

[6] तु०—पिशल, वैस्तू, १. १००।

८. ३३. ८[1] में सायण ने दान शब्द को 'मदजलानि' या हाथियों के मद-जल के अर्थ में भी माना है, जोकि परवर्ती साहित्य में आम मिलता है; और जो संभवतः √दा 'विभाजित करना' या 'चूना' धातु से व्युत्पन्न होता है। किंतु सायण का यह कथन संदिग्ध है। एक अन्य मन्त्र ऋ०, २. १३. ७ में राथ[2] के अनुसार दान का अर्थ चरागाह है।

३ दान –राथ[3] के अनुसार ऋग्वेद के तीन मन्त्रों ५. २७. ५; ७. १८. २३; ८. ४६. २४ में रथ के अश्व के लिए दान शब्द का प्रयोग हुआ है। किंतु इन सभी स्थलों पर दान के सामान्य अर्थ उपहार या देना से काम चल जाता है; क्योंकि अश्व भी दान में दिये जाते थे।

दानु—ऋग्वेद २. १२. १ में एवं अन्यत्र दानु शब्द दानव या असुर के अर्थ में आया है: ऋ० ४. ३. ७; २. ११. १८; शब्रा, १. ६. ३. ९; निरुक्त, ११. २१।

दामन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार रस्सी या पाश के अर्थ में दामन् शब्द आया है। √दा 'बांधना' से इसकी व्युत्पत्ति हुई है: ऋ० १. ५६. ३ आदि; अवे. ६. ६३. १; ६. १०३. २; ७. १०३. १, २; तैसं, २. ४. १३. १ आदि। यज्ञ के अश्व को बाँधने वाले दामन् ऋ० १. १६२. ८ और बछड़ों के बांधने के दामन् ऋ० २. २८. ७ का संदर्भ मिलता है। शब्रा, ५. ३. १. १० में घोड़े के बालों की पट्टी का उल्लेख मिलता है। तु०—एगलिंग, सेबुई, ४१. ६२. टि० २।

दाय—केवल ऋग्वेद १०. ११४. १० में श्रम के पुरस्कार के अर्थ में दाय शब्द आया है; किंतु बाद में अन्यत्र उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है, जो पिता के जीवन–काल में या उसके मरने के बाद उसके पुत्रों में बाँटी जाती थी। सभी संदर्भ इस बात के द्योतक हैं कि संपत्ति पूरे परिवार की न होकर परिवार के स्वामी–प्रायः पिता–की मानी जाती थी; और यद्यपि अन्य सदस्यों का नैतिक दृष्टि से उस पर दावा होता था, तथापि पिता उनके अधिकार की अवहेलना कर सकता था; किंतु कभी-कभी पुत्रों के सबल होने पर वे उसे डरा-धमका लेते थे।

तैसं. ३. १. ९. ४ के अनुसार **मनु** ने अपनी संपत्ति पुत्रों में बाँटी थी।[4] उन्होंने **नाभानेदिष्ठ** को भुला दिया था, जिसे कि बाद में उन्होंने अङ्गिरसों को मनाने और गौ प्राप्त करने की शिक्षा दी थी। यह इस बात का संकेत है कि **मनु** ने केवल चल संपत्ति बाँटी थी, भूमि (द्र०–**उर्वरा**) नहीं। ऐब्रा. ५. १४ के अनुसार **मनु** के जीवन-काल में ही उसके पुत्रों ने संपत्ति को आपस में बाँट लिया था; और बूढ़े पिता को **नाभानेदिष्ठ** पर छोड़ दिया था। जैब्रा. ३. १५६ के अनुसार **अभिप्रतारिन्** के जीवन-काल में ही उसके चार पुत्रों ने संपत्ति को आपस में बाँट लिया था। यह संभव है कि दाय को उत्तराधिकार में मिलने वाली संपत्ति माना जाय; किंतु पिता के विकसित अधिकार का जो उदाहरण **शुनःशेप** के आख्यान में आता है, वह इस मत के विरोध में है कि पुत्रों का नियमतः पिता के साथ संपत्ति पर अधिकार रहता था; जब तक कि वे उसके विभाजन पर बल न दें (द्र०–**राजन्य**)। यद्यपि कोई स्पष्ट प्रमाण तो नहीं हैं, फिर भी संभवतः भूमि का पहले बँटवारा नहीं होता था; किंतु धीरे-धीरे जब चलती धरती सीमित होती गई तब अन्य चल संपत्ति के सादृश्य पर भूमि का भी बंटवारा आरम्भ हो गया।

तैसं. २. ५. २. ७ से प्रतीत होता है कि विभाजन में बड़े लड़के को वरीयता दी जाती थी; संभवतः पिता की मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले बंटवारे में ऐसा प्रायः होता था। किंतु पिता के जीवन-काल में किसी और को भी वरीयता दी जा सकती थी, जैसा कि पंविब्रा १६. ४. ४ से सूचित होता है। शब्रा. ४. ४. २. १३ और निरुक्त ३. ४ के अनुसार स्त्रियों को विभाजन में या उत्तराधिकार में भाग नहीं मिलता था। भाई उनकी मदद करते थे; किंतु यदि भाई न हो तो उनका विवाह होना भी कठिन हो जाता था (द्र०–**स्त्री**)। उत्तराधिकार के विशेष नियमों का उल्लेख सूत्रों में मिलता है: ऐब्रा, ७. १७; शांश्रौसू, १५. २७. ३; शब्रा, १. ७. २. २२; ३. २. १. १८।[1]

उत्तराधिकारी को दायाद (दाय+आ–द) कहा गया है: शब्रा, १२. ४. ३. ९; निरुक्त ३. ४; रूपक में: अवे, ५. १८. ६. १४।

दार—पत्नी। पुंल्लिङ्ग बहुवचन में दार शब्द सूत्रों में अनेक बार आया है, किंतु एक बार बृउ. ६. ४. १२ में यह एकवचन में भी आया है; किंतु वहाँ पाठान्तर 'द्वारेण' भी है। द्र०–वोबू; तु०–डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवाण्डशाफ्त्स्नामन पृष्ठ ४१५, ४१६, जिन्होंने बृ०उ० के संदर्भ को भुला दिया है।

दारु—लकड़ी। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दारु

[1] लुड्विग टां० ऋ० ५. १५७।
[2] वोबू।
[3] वोबू।
[4] तु० म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, १९१–१९४, लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रिफीस, ६७. ६८।

[1] द्र०–जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ८० एवं आगे।

शब्द आम है : ऋ० ६. ३. ४; १०. १४५. ४; अवे, १०. ४. ३; तैसं, २. ५. ८. ३ आदि । इसका उपयोग रथ की यष्टि या फड़ ऋ० १०. १०२. ८, इंधन के गट्ठे ऋ० ८. १०२. २०, रथ के भागों शब्रा ६. ६. २. १४ और संभवतः लकड़ी की टाल् अवे, ६. १२१. २ आदि के लिए होता था । तु०—**तायु** और **द्रुपद** ।

दार्ढ-जयन्ति—**दृढजयन्त** का वंशज । जै.उ.ब्रा. ३. ४२. १ में **वैपश्चित गुप्त लौहित्य** और **वैपश्चित दृढजयन्त लौहित्य** का पैतृक नाम है ।

दार्तेय—**दृति** का वंशज । कासं, ३१. २ और पंविब्रा २५. ३. ६ में दार्तेयों को यज्ञ के विषय में प्रामाणिक माना गया है ।

दार्भ्य—**दर्भ** का वंशज । ऋग्वेद की एक ऋचा ५. ६१. १७ में दार्भ्य का उल्लेख है । राथ[1] ने उन्हें **श्यावाश्व** से अभिन्न माना है; किंतु बृहद्देवता ५. ५०. ७७ के अनुसार वे **रथवीति** से अभिन्न हैं । यही पैतृक नाम **केशिन्** तैसं, २. ६. २. ३; मैसं, १. ४. १२; १. ६. ५; कौब्रा ७. ४.[2] और **रथप्रोत** मैसं, २. १. ३ का है । द्र०—**दाल्भ्य** ।

दार्वाघात—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में **दार्वाघात** एक पक्षी का नाम है, जिसे आजकल 'कठ फोड़वा' कहते हैं : तैसं, ५. ५. १५. १; मैसं, ३. १४. १६; वासं, २४. ३५ । तु०—त्सिमर, आले, ९२ ।

दार्वाहार—लकड़ी बीनने वाला । यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में दार्वाहार का उल्लेख है : वासं ३०. १२; तैब्रा, ३. ४. ८. १ ।

दाल्भि—**दल्भ** का वंशज । कासं १०. ६ में **वक** का पैतृक नाम है ।

दाल्भ्य—**दल्भ** का वंशज । यह **दार्भ्य** का ही एक पाठान्तर है । यह पंविब्रा. १३. १०. ८; तु०—सर्वानुक्रमणी; वोबू; कौब्रा, ७. ४ में **केशिन्** का; छाउ. १. ८. १ और जैउब्रा १. ३८. १; १. ५६. ३७ में **चेकितायन** का, और छाउ. १. २. १३; १. १२. १, ३ में तथा कासं, ३०. २ में **वक** का पैतृक नाम है । तु०—कपि०सं०, ४६. ५; कासं, १०. ६ ।

दाव—**वनाग्नि** । अवे ७. ४५. २ और शब्रा, ११. २. ७. ३२ में दाव का उल्लेख आया है । शब्रा में इस अग्नि के वसन्त में जलने का उल्लेख है । जीग, दी. जा. ऋ., ४४ एवं आगे के अनुसार ऋग्वेद १०. १४२ में दावाग्नि का उल्लेख है; किंतु उनकी यह व्याख्या चिन्त्य है । इस प्रकार के दावों पर ध्यान रखने के लिए आदमियों =दाव–प को नियुक्त किया जाता था : वासं, ३०. १६; तैब्रा, ३. ४. ११. १ ।

दाव-सु आङ्गिरस—पंविब्रा २५. ५. १२, १४ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम दाव-सु आङ्गिरस है । तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि, २. १६० ।

दावसुनिधन—साम । 'आशिषमेवास्मा एतेनाशास्ते' तां. १५. ५. १३ ।

दाश—मछुआ । यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में दाश का उल्लेख है : वासं, ३०, १६; तैब्रा; ३. ४. १२. १; वेबर, इस्त्रा. १. ८१; इन्होंने इसे दास के समकक्ष माना है । तु०—मनु, १०. ३४; वोबृ, 'दाश' २, ३ ।

दाशतय—दशमण्डलों में विभाजित ऋग्वेद के पाठ से संबद्ध; निदान-सूत्र २. ११ में अध्याय का विशेषण **दाशतय** है । कौब्रा. और परवर्ती साहित्य में **दाशतयी** शब्द भी आया है : कौब्रा, ८. ७; ऋप्रा, १६. ५४; १७. ३०; शांश्रौसू, १२. २. १६, २२ आदि; बौश्रौसू, २६. १३; २७. ४ आदि ।

दाशराज्ञ—ऋग्वेद ७. ३३. २, ५; ७. ८३. ८ में और अथर्ववेद १०. १२८. १२ में दस राजाओं के साथ हुए **सुदास्** के महायुद्ध को **दाशराज्ञ** नाम से अभिहित किया गया है । यह बताना कठिन है कि इसमें कौन-कौन से राजा जूझे थे, साथही 'दश' संख्या भी संभवतः गोलमटोल है, और उस पर विशेष बल नहीं दिया जा सकता; द्र०—**तुर्वश** । प्रस्तुत युद्ध का विवरण देने वाले सूक्त ७. १८ में **'दाशराज्ञ'** शब्द नहीं आया है, और जिन स्थलों पर यह शब्द आया है, उन्हें निश्चय ही बाद का कहा जा सकता है । द्र०—बेर्गेन्य, ल हिस्त्वार द ला संहिता, ३८, ७२; ओल्डेनबर्ग, प्रोलेगोमेना, १९८, २००, २०५ टि० १; आर्नल्ड, वैदिक मीटर, ३०९; गेल्डनर, वैस्तू, २. १३० ।

दाशस्पत्य—साम । 'यां वै गां प्रशंसन्ति दशस्पत्येति तां प्रशंसन्त्यहरेवैतेन प्रशंसन्ति' तां. १३. ५. २७ ।

दाश्वान्—हवि देने वाला, होम करने वाला' । ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में 'दाश्वान्' शब्द आम है । दाश्वान् से अनेक प्रकार के धन, पुत्र आदि प्रदान करने के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं : ऋ० १. १. ६; १. २. ३; १. ८. ८; १. १२४. १२; ४. २६. २; ७. ११. ३; अवे,

---

[1] वोबू ।

[2] तु०—जीग, दी. जा. ऋ., ६२. टि० २ ।

७. ४०. २; ७. १७. २, ३; ७. ११०. १; ४. २४. १; वासं, ३४, ३ आदि।

दाशर्म—कासं. ७. ६ में आरुणि के समकालीन एक आचार्य का नाम है। तु०—वेबर, इस्तू, ३. ४७२।

दास—दस्यु के समान दास शब्द भी ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर दानवों के अर्थ में आया है।[1] किंतु अधिकांश स्थलों पर यह आर्यों के शत्रुओं को जताता है: ऋ० ५. ३४. ६; ६. २२. १०; ६. ३३. ३; ६. ६०. ६; ७. ८३. १; १०. ३८. ३; १०. ६९, ६; १०. ८३. १; १०. ३८. ३; १०. ६९. ६; १०. ८३. १; अवे, ५. ११. ३। **दासों** के पास **पुर** थे: ऋ० २. २०. ८; १. १०३. ३; ३. १२. ६; ४. ३२. १०; १. १३१. ४; १. १७४. २; ६. २०. १०; तु०—६. ४७. २। उनकी 'विशः' (बस्तियाँ, प्रजा) का भी उल्लेख है: ऋ० २. ११. ४; ४. २८. ४; ६. २५. २। यह संभव है कि जिन पुरों को "शारदीः" =शरत्कालीन कहा गया है, वे देवशास्त्रीय हों[2]। किंतु यह भी संभव है कि उनमें केवल शरद्-ऋतु में ही आश्रय लिया जाता रहा हो। **"दास-वर्ण"** या कृष्णवर्णीय आदिवासियों का भी जिक्र आया है: ऋ० २. १२. ४; शांश्रौसू, २५. ६; तु०—ऋ० १. १०१. १; १. १३०. ८; २. २०. ७; ४. १६. १३; ६. ४७. २१; ७. ५. ३; **आर्यवर्ण**: ३. ३४. ९; **दास** और **कवियों** के वर्णों का विपर्यास: १. १०४. २; **श्वित्न्य** मित्रों के रूप में ऋ० १. १००. १८ में निःसंदेह **दस्यु** और **शिम्यु** की सहायता करने वाले आर्य हैं। द्र०—वासं २४. ३०।[3] आदिवासी या **दस्यु** "अनास्"=नासिका-रहित कहे गए हैं तु०—**दस्यु**। उन्हें **मृध्रवाच्**=लड़ाई के बोल बोलने वाला कहा गया है: ऋ० ५. २९. १०; द्र० **दस्यु**; गेल्डनर, ऋग्वेद, ग्लासर, १३८। संभवतः **शिश्नदेवाः**=लिङ्गपूजक भी इन्हीं को कहा गया है: ऋ० ७. २१. ५; १०. ९९. ३।[4] यह ध्यान देने योग्य है कि **आर्यों** ओर **दासों** या **दस्युओं** के धर्म के अन्तर पर बल दिया गया है: ऋ० १. ३३. ४; ४. १६. ९; ५. ७. १०; ५. ४२. ९; ६. १४. ३; ८. ७०. १०; १०. २२. ७, ८ आदि।

कुछ विशेष **दास** नौकर के रूप में रख लिए गए थे; इसलिए दास शब्द ऋग्वेद में ही कई स्थलों पर इस अर्थ में आया है: ऋ० ७. ८६. ७; ८. ५६. ३; १०. ६२. १०।[1] **दासी** शब्द इसी अर्थ में अथर्ववेद-काल से आ रहा है: अवे, ५. २२. ६; १२. ३. १३; १२. ४. ९; छाउ, ५. १३. २; बृउ, ६. १. १०=६. २. ७ काण्व[2]। आदिवासियों की स्त्रियों को **दासी** के रूप में इसलिए भी कार्य करना पड़ता होगा कि उनके पति युद्ध में मारे जाते रहे होंगे। कभी-कभी वे उपपत्नी भी बन जाती थीं; एक स्थान पर **कवष** को दासी-पुत्र कहकर उसकी निन्दा की गई है: ऐब्रा, २. ९; कौब्रा १२. ३।

लुड्विग[3] का मत है कि कुछ स्थलों पर शत्रु आर्यों को भी **दास** कहा गया है; किंतु यह अनिश्चित है: ऋ० १. १५८. ५; २. १३. ८ ४. ३०. १४, १५; ६. २०. १०; ७. ९९. ५; १०. ४६. ६. ७। त्सिमर[4] और मेयर[5] का विचार है कि **दास** शब्द का प्रारम्भिक अर्थ शत्रु था[6]। बाद में इससे ईरान में **दहाई** शब्द बना, जो कैस्पियन स्टेपीज़ को जताता है; और भारत में आदिवासी दासों का अभिधायक **दास** शब्द बना[7]। दूसरी

[1] तु०—मैकडानल, वैमा, पृ० १५७।

[2] तु०—मैकडानल, वैमा, पृ० ६०।

[3] तु०—मैकडानल, वैग्रा २६८; द्र०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स; १२. १४०; वेबर, इस्तू, १०.१०.११।

[4] तु०—मैकडानल, उपर्युक्त, पृ० १५५।

[1] राथ, वोबू०; इन्होंने ऋ० ८. ४६. ३२ में "दासान्" को "दासे" के रूप में बल्बूथ का विशेषण माना है। त्सिमर आले, ११७ एवं आगे; इन्होंने आर्यों और दासों के रक्त के मिश्रण का उल्लेख किया है: अवे, ४. ९. ८; छांउ, ७. २४. २; यह अनिश्चित है कि ऋ० १. ९२. ८ में **"दास-प्रवर्ग"** का अर्थ "दास-रूपी धन" है या कुछ और; ऋ० १. १५८. ५ में गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ८२ में यह अर्थ मानते हैं।

[2] त्सिमर, १०७ ने ऋ० ८. १९. ३६ के "वधूमन्त्" के "वधू" शब्द को दासी के अर्थ में लिया है।

[3] ट्रां ऋ०, ३. २०९।

[4] आले, ११० एवं अग्रिम।

[5] गेशिश्त देस आल्तरतुम्स १. ५१५।

[6] √दस् धातु से व्युत्पन्न मानने पर इसका अर्थ नाशक होगा: ह्विटनी, रूट्स।

[7] दहाइ लोगों का ईरानियों के साथ जाति और भाषा का निकट संबन्ध रहा होगा, किंतु यह आवश्यक नहीं है। तु०—कुह्न, कुह्नत्सा० २८. २२४; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. ९५६; मंगोलिन रक्त से संमिश्रण संभव प्रतीत होता है। इसी प्रकार त्सिमर, उपर्युक्त, ११२; ये तूरानी जाति के रूप में हेरोडोटस, १. १२६ के "दओइ" या "दाई" हो सकते हैं।

ओर हिल्लेब्रांड्ट (उक्त, १. ९४) का तर्क है कि **दासों** और **पणियों** का साथ-साथ उल्लेख, ऋ० ५. ३४. ६, ७; ७. ६. ३; अवे ५. ११. ६, आने से इन्हें आपस में संबद्ध जातियों के रूप में माना जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने **पणियों** को 'पार्नियनों' से और **दासों** को 'दहाई' लोगों से अभिन्न माना है। इस मत के द्वारा ऋग्वेद के उस कार्य-क्षेत्र को बहुत ही दूर पश्चिम में घसीटा गया है, जिसमें **दासों** का, विशेषत: **दिवोदास्**=स्वर्ण के दास" का महत्त्वपूर्ण उल्लेख आता है। इस मत को न्याय-संगत बनाने के लिए हिल्लेब्रांड्ट ने ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के दृश्य को सप्तम एवं तृतीय मण्डलों के दृश्य से बहुत ही भिन्न माना है, जिनमें **सुदास्**, **भरतों**, **वसिष्ठ** और **विश्वामित्र** का उल्लेख है। उन्होंने षष्ठ मण्डल की **सरस्वती** को अराखोसिया में और सप्तम मण्डल की **सरस्वती** को मध्यदेश में माना है[1]। किंतु इस मन्तव्य की सत्यता में संदेह है। यह संभव नहीं है कि **दिवोदास्** एक दास हों और दासों के विरुद्ध ही वे युद्ध भी करें; विशेषत: तब जब कि उनके पुत्र **सुदास्** आर्य-संस्कृति के एक महान् व्यक्ति रहे हों। अराखोसिया में **सरस्वती** नदी को ढूँढना भी निरर्थक है, क्योंकि इसका मध्यदेश में होना सर्वथा स्वाभाविक है।

दासों की संपत्ति अवश्य अधिक थी; किंतु उन्हें आक्रामकों के समकक्ष सभ्यता वाला नहीं कहा जा सकता। संपत्ति के लिए द्र० ऋ० १. १७६. ४; ४. ३०. १३; ८. ४०. ६; १०. ६९. ५; अवे० ७. ९०. २; सभ्यता के लिए: ऋ० २. १२. ११; ४. ३०. १४; ६. २६. ५ जहाँ **दासों** को पर्वतों में शरण लेने वाला कहा गया है। प्रमुख दास थे: **इल्बिश**, **चुमुरि**, **धुनि**, **पिप्रु**, **वर्चिन्**, **शम्बर**; आदिवासी जातियों के लिए द्र० **किरात**, **कीकट**, **चण्डाल**, **पर्णक**, **शिम्यु**।

विवरण: हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. २६७-२७५; ३६८; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०७-२१३; त्सिमर, आले, १०१-११८; वेबर, इस्टू, १८. ३५; इन्होंने दास को "बांधना" धातु से व्युत्पन्न माना है; २५४। म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, २, ३५९. एवं आगे; गेल्डनर, वैस्टू, ३. ९६।

दास-वेश—केवल एक बार ऋग्वेद २. १३. ८ में में प्रयुक्त "दास-वेश" **शब्दवेश** नामक **दास** के अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०९।

दास्य—बृउ ४. २. ३० माध्यं०=४. २.२ ३ काण्व में दासता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

दिग्ध - अवे ६. ७५. १५ में विषाक्त बाण को 'दिग्ध इषु' कहा गया है।

दित्यवाह्, **दित्यौही**—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में दो वर्ष के बैढ़े को दित्यवाह् और उसी आयु की बैढ़ी को दित्यौही कहा गया है: तैसं, ४. ३. २. १; ५. ६. १५. १; वासं, १४. १०; १८. २६; २८. २५; पंविब्रा; २१. १ आदि।

दिद्यु, **दिद्युत्**—ऋग्वेद में दिद्यु और दिद्युत् शब्द दैवी या मानवीय शस्त्र या बाण को उद्दिष्ट करते हैं: दिद्यु: १. ७१. ५; ४. ४१. ४; ७. ५६. ९; ७. ८५. २ आदि; अवे, १. २. ३; वासं, २. २०; १०. १७ आदि; दिद्युत्: ऋ० १. ६६. ७; ५. ८६. ३; ७. २५. १ आदि। ऋ० २. १३. ७ में निश्चय ही इसका अर्थ दैवी शस्त्र है। तु० 'इषवो वै दिद्यव:' शब्रा० ५. ४. २. २।

दिधिषु—विवाहेच्छुक। ऋग्वेद १०. १८. १८= अवे १८. ३. २=तैआ ६. १. ३ में दिधिषु शब्द देवर के अर्थ में आया है, जो भाई के दाह-संस्कार के समय पति का स्थान ग्रहण करता था; और यदि स्त्री पुत्र-रहित हुई तो हेब्रू प्रथा के अनुसार उसमें पुत्र भी उत्पन्न करता था। तु आश्वौसू, ४. २. १८, जहाँ **देवृ**, **शिष्य**, या **जरद्दास** का उल्लेख है। तु०—ऋ० १०. ४०. २; केगी, देर ऋग्वेद, टि० ५१। हिल्लेब्रांड्ट[1] तथा लानमान[2] का विचार है कि प्रारम्भ में इसका अर्थ केवल विवाहेच्छुक राजा था, जो पुरुषमेध के अवसर पर महिषी या प्रधान रानी के मृत बलि के निकट लेटने पर पुन: उसे ग्रहण करता था; किंतु यह मत चिन्त्य है[3]। यह नाम **पूषन्** का भी है, जिन्हें अपनी माता या सूर्या का दिधिषु कहा गया है: ऋ० ६. ५५. ५[4]।

---

[1] उक्त ग्रन्थ, १. ९६ एवं आगे; उनका तर्क है कि **दास** शब्द सप्तम मण्डल में चार बार, षष्ठ में आठ बार आया है; इसी प्रकार **शम्बर** का नाम षष्ठ मण्डल में छ: बार और सप्तम में केवल दो बार आया है। किंतु "**दिवोदास**" स्वर्ग के दास के अर्थ में है, जैसा कि ओल्डेनबर्ग ने दिखाया है: रिलिजन देस वेद, १५५, टि० १; बेर्गेन्य, रिलिगियों वैदिक, २. २०९।

[1] त्सादा मौगे०, ४०. ७०८ एवं आगे।

[2] संस्कृत-रीडर, ३८५।

[3] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, ८४८, ८४९; कीथ, जराएसो० १९०७, ९४६।

[4] तु०—पिशल, वैस्टू, १. २१; मैकडानल, वैमा० पृ० ३५। विवरण: गेल्डनर, ऋग्वेद कोमेंतार, १५४।

दिधिषू-पति—काठक एवं कपिष्ठल संहिताओं और आपस्तम्ब, गौतम, एवं वसिष्ठ-धर्म-सूत्रों में दिधिषूपति की गणना पाप करने वालों में की गई है : कासं[1], ३१. ७; कपि सं०, ४७. ७; डेल्ब्रुक, उक्त, ५७९, ५८०; आपधसू, २. ५. १२. २२; गौधसू, १५. १६; वधसू, १. १८; २०. ७ एवं आगे। पारंपरिक अर्थ है : पुनर्भू भार्या का पति।[2] मनु ३. १७३ संभवतः इसे देवर मानते हैं, जो भाई की मृत्यु के उपरान्त पुत्रोत्पत्ति के लिए उसकी विधवा पत्नी से विवाह करता था; यदि दोनों अनुरक्त हों तो; 'अनुरज्यते कामतः'; तु० लीस्ट, आल्तरिश्शे जुस जेन्तियुम, १०६। यह अर्थ संभव है, क्योंकि दिधिषु शब्द विवाहेच्छुक के अर्थ में आया है, और विधवा को भी विवाहेच्छुक कह सकते हैं, यदि वह पतिवरण के लिए इच्छुक हो तो। किंतु दूसरी परंपरा के अनुसार दिधिषू उस बड़ी बहन को कहते हैं, जिसकी छोटी बहन उससे पहले विवाह कर चुकी हो : लौगाक्षिध; कुल्लूक द्वारा मनु० ३. १६० पर उद्धृत; आपधसू, २. ५. १२. २२ पर भाष्य। वसिष्ठधर्म-सूत्र २०. ७ से इस कथन का समर्थन होता है, और "अग्रेदिधिषूपति" =बड़ी बहन के अविवाहित रहते विवाहित छोटी बहन का पति शब्द के प्रयोग से भी इसका समर्थन होता है : आप० ध० सू०, उक्त स्थल; गौधसू १५. १६; वधसू० १. १८; काधंसू० ३१. ७ अग्रेदधुस् : मैसं ४. १. ९, अग्रेदधिषु : कपिसं, उक्त स्थल, अग्रेदिधिषु : तैब्रा : ३. २. ८. ११। इस प्रकार भी दिधिषू का अर्थ विवाहेच्छुक होगा : और बड़ी बहन को दिधिषू कहा जायगा क्योंकि विष्णु-धर्म-सूत्र २४. ४० के अनुसार माता पिता द्वारा विवाह का प्रबन्ध न किये जाने पर वह "स्वयंवर" कर सकती थी, अर्थात् स्वयं अपने पति का चुनाव कर सकती थी। तु०—**एदिधिषुः पति** और **दैधिषव्य**।

दिव्—आकाश। विश्व को तीन लोकों में बांटा गया है : पृथ्वी, अन्तरिक्ष या मध्य और स्वर्ग या दिव् : ऋ० २, ४०; ८. ६. १५; ८. १०. ६; ८. ९०. ६ आदि; कभी-कभी "द्यावापृथिवी" के रूप में केवल दो ही लोक कहे गए हैं, अन्तरिक्ष यहां दिव् में समाहित है : ऋ० १. १४३. २; १. १५९. १; १, १६०. १; ४. १४. २ आदि। बृउ, ३. ८. ३. ९; छाउ, ७. ४. २; ८. १. ३, ऐआ ३. १. २ और शांआ, ७, ३ में कहा गया है कि जब मूसलाधार वर्षा होती है, तब द्यावापृथिवी एक हो जाते हैं। विद्युत्, वायु और वर्षा का संबन्ध अन्तरिक्ष के साथ बताया गया है; सूर्य और चन्द्रमा का दिव् से। कुछ स्थलों पर इन तीन लोकों के बाद **नाक** और **स्वर्** या ज्योतिष् लोकों का भी उल्लेख है : अवे, ४. १४. ३; वासं, १७. ६७।

ब्रह्माण्ड के तीन लोकों में तीन प्रकार के तत्त्वों—पृथ्वी, वायु और आकाश—का उल्लेख है; इस प्रकार एक सर्वोच्च स्वर्ग=उत्तम, ऋ० ५. ६०. ६, एक मध्य =उत्तर ऋ० ४. २६. ४ और एक निम्न=पार्य, ऋ० ६. ४०. ५; "तृतीय" : ऋ० ५. ४. ३ स्वर्ग का उल्लेख पाया जाता है। अवे १८. २. ४८ में तीन स्वर्गों का उल्लेख है : उदन्वती=जलपूर्ण, पीलुमती अनिश्चित अर्थ और प्रद्यौस्=जहां पितर लोग रहते हैं दिव् को **व्योमन्** या **रोचन** भी कहा गया है : "त्रीणि" या "त्री रोचना" : ऋ० १. १०२. ८; १. १४९. ४; ५. ६९. १ आदि। जो दृश्य दिव् को सर्वोच्च दिव् से मिलाता है, उसे **'नाक'**, **'सानु'**, **'पृष्ठ'**, **'नाकपृष्ठ'** या **'नाक-सानु'** कहा गया है : ऋ० १. १२५. ५; तु०—३. २. १२; ऋ० ८. १०३. २; तु० ९. ८६. २७।

इसी प्रकार तीन **अन्तरिक्षों**=रजस् या कभी-कभी दो **अन्तरिक्षों** का भी उल्लेख आता है; किंतु यह विभाजन कृत्रिम है : ऋ० ४. ५३. ५; ५. ६९ १; तु० ९. २२. ५ उत्तम; ३. ३०. २ परम; ९. ७४. ६ तृतीय; १०. ४५. ३; १०. १२३. ८; द्र० १. ६२. ५; ४. ५३. ३। ऋ० एक स्थल १. १६४. ६; तु० ७. ८७. ५ पर ६ **रजोलोकों** का जिक्र आया है, जहां स्वर्ग और पृथिवी का उल्लेख निसंदेह माना जा सकता है। मध्यलोक का सामान्य नाम अन्तरिक्ष है।

तीन पृथिवियों का विभाजन भी कृत्रिम ही है; बहुवचन में पृथिवी शब्द ब्रह्माण्ड के तीन विभागों को उद्दिष्ट करता है जैसे द्विवचन में "पितरौ" शब्द माता-पिता के लिए प्रयुक्त होता है : ऋ० १. १८८. ९, १०; ७. १०४. ११[1]। पृथिवी को **क्षम्, क्ष्मा, ग्मा** कहा गया है; उसके विशेषण भी उसके वाचक बन गए हैं, जैसे **"पृथिवी"**, **"उर्वी"**=चौड़ी, **"मही"** **"उत्ताना"**=विस्तीर्णा। उसे प्रायः "इयम्" यह पृथिवी, यहां इन शब्द से भी कहा गया है; ऐसा प्रायः ऊपरी लोक के प्रसङ्ग में आया है : ऋ० १. २२. १७; १. १५४. १, ३; परवर्ती संहिताओं

---

[1] डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्शशाफ्त्सूनामन, ५७९।

[2] द्र०—वोबू "दिधिषु" ३। तु०—डेल्ब्रुक, उपर्युक्त ५७९-५८६।

[1] तु०—डेल्ब्रुक, आल्ति. सिंटैक्स, ९८; मैकडानल संस्कृत ग्रामर, १८३ सी, पृ० १५८।

और ब्राह्मणों में अनेक बार। पृथ्वी के आकार को ऋग्वेद १०. ८९. ४ में एक चक्र के समान बताया गया है; और शतपथ ब्राह्मण में इसे परिमण्डलाकार कहा गया है[२]। किंतु दूसरी ओर ऋग्वेद १०. ५८. ३ में इसे **चतुर्भृष्टि**=चार कोनों वाली कहा गया है। जब पृथ्वी और आकाश मिलते हैं, तब उन्हें एक दूसरे की ओर उन्मुख बड़े "चम्बा" कहा गया है: ऋ० ३. ५५. २०। ऐतरेय आरण्यक ३. १. २; शां०-आ०, ७. ३ में पृथिवी और आकाश प्रत्येक को एक अण्डे का अर्धभाग बताया गया है। अथर्ववेद १०. ८. १८=१३. २. ३८; १३. ३. १४ में पृथ्वी और आकाश के बीच की दूरी को "सूर्य-पक्षी" के एक हजार दिन की उड़ान की दूरी के बराबर बताया गया है; ऐतरेय ब्राह्मण २. १७. (तु०-**आश्विन**) में इसे अश्व द्वारा एक हजार दिन में पार की जा सकने वाली दूरी के बराबर कहा गया है; किंतु पंचविंश ब्राह्मण १६. ८. ६ में बताया गया है कि यह दूरी उतनी ही है, जितनी एक हजार गौओं को एक के ऊपर एक खड़ी कर देने से हाथ लगेगी; किंतु २१. १. ९ में उसे एक हजार दिन की अश्व या सूर्य की यात्रा की दूरी के बराबर बताया गया है, अथवा उसका एक हजार **गव्यूति** की दूरी के रूप में उल्लेख किया गया है।

त्सिमर[३] के अनुसार अन्तरिक्ष-लोक पृथिवी के ऊपर केवल ऊपरी स्तर में था, किंतु अन्तरिक्ष के नीचे निम्न स्तर में। किंतु इसके लिए प्रमाण (ऋ० ५. ८१. ४; ६. ९. १; ७. ८०. १) पर्याप्त नहीं है[४]। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४. ४ का सिद्धान्त है कि सूर्य रात्रि के समय अपने प्रकाश-पूर्ण भाग को तारों की ओर फेर देता है[५]। इसी को ऋग्वेद का भी सिद्धान्त माना जा सकता है: ऋ० १. ११५. ५; १०. ३७. ३; तु०-मैकडानल, वैमा, उक्त स्थल। द्र०-**सूर्य** और **चन्द्रमस्**। वैदिक आर्यों के ग्रह-संबन्धी ज्ञान के लिए द्र०-**ग्रह**।

वैदिक साहित्य में पृथिवी के भौगोलिक विभाजन का उल्लेख नहीं मिलता। जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण ४. २६. ४ के अनुसार **प्लक्ष प्रस्रवणा** के उत्तर का एक स्थान पृथिवी का मध्य है; और सप्तर्षिमण्डल आकाश का मध्य बिन्दु है।

दिवाकीर्त्य—साम। 'रश्मयो वै दिवाकीर्त्यानि' ऐब्रा. ४. १९; 'रश्मयो वा एत आदित्यस्य यद् दिवाकीर्त्यानि' तां. ४. ६. १३; 'स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाविध्यत् तस्य देवा दिवाकीर्त्यैस्तमोऽपानघ्न्' तां. ४. ६. १३.

दिवोदास अतिथिग्व—प्रारम्भिक वैदिक काल के प्रमुख वैदिक राजाओं में एक **दिवोदास अतिथिग्व** हैं। वे **वध्र्यश्व** के पुत्र थे (ऋ० ६. ६१. १) और **भरतों** के प्रमुख **तृत्सु**-वंशीय राजा **सुदास्** के पिता या संभवतः पितामह थे। संभवतः **पिजवन** उनके पुत्र और **सुदास्** पौत्र थे। दिवोदास् भी स्वभावतः **भरत** थे: ऋ० ६. १४. ४, ५, १९; तु० ७. १८. २३, २५ और **सुदास्** के समान वे भी **तुर्वशों** और **यदुओं** के शत्रु थे; अतिथिग्व के रूप में: ऋ० ७. १९. ८; दिवोदास के रूप में: ऋ० ९ ६१. २। उनका प्रमुख शत्रु **शम्बर** नामक दास था, जो स्पष्टतः पार्वत्य जाति का मुखिया था: ऋ० १. १३०. ७; २. १२. ११; ६. २६. ५; ७. १८. २०;[१] इसे उन्होंने अनेक बार हराया था: ऋ० १. ११२. १४; १. ११६. १८; १. ११९. ४; १. १३०. ७-१०; २. १९. ६; ४. २६. ३; ४. ३०. २०; ६. २६. ३, ५; ६. ४३. १; ६. ४७. २१, २२; ९. ६१ २। अपने पिता **वध्र्यश्व** के समान (ऋ० १०. ६९. १ एवं अग्रिम)[२] वे भी अग्नि-कल्प के समर्थक थे, क्योंकि ऋग्वेद में एक बार **दैवोदास अग्नि**=दिवोदास द्वारा पूजित अग्नि का उल्लेख आया है: ऋ० ८. १०३. २; तु० ६. १६, ५, १९; ६. ३१. १; **इन्द्र** द्वारा पराजय: ऋ० १. ५३. १०; २. १४. ७; ६. १८. १३; ८. ६४. २; बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक २. ३३७, ३४४। दूसरी ओर वे **आयु** तथा **कुत्स** के साथ **इन्द्र** द्वारा पराजित हुए थे। कुछ स्थलों पर वे **भरद्वाजों** के गायक वंश से अच्छी तरह

२ द्र०-मैकडानल, वैमा, पृ० ९।

३ आले, ३५७, ३५८।

४ द्र०-मैकडानल, वैमा. पृ० १०

५ तु०-स्पेयर की इस स्थल की व्याख्या, जराए. सो. १९०६, ७२३-७२७; इस पर मैकडानल, उसी स्थल की टिप्पणी देखें। द्र०-पंविब्रा, २५. १०. १६; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स, १५. ३१. टि० २; तु०-बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, १. १-३; वालिस, कास्मोलाजी आ० दि ऋ०, १११-११७; त्सिमर, उपर्युक्त, ३५७-३५९; मैकडानल, उपर्युक्त ८-११; थिबो एस्ट्रोनमी, ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथमेटिक, ५. ६; वेबर, इस्टू, ९. ३५८-३६४; दिशाओं के लिए द्र० **दिश्**

१ तु०-मैकडानल, वैमा पृ० १६१।

२ तु०-लड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७६; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि १. ९६।

संबद्ध प्रतीत होते हैं: ऋ० १. ११२. १३, १४; १. ११६. १८; ६. १६. ५; ६. ३१. ४; ६. ४७. २२ एवं आगे; पंविंब्रा, १५. ३. ७।[१]

जिस स्थल (ऋ० ६. ६१. १ एवं अग्रिम) पर उनके **पणियों, पारावतों** और **बृसयों** से लड़ने का उल्लेख है, उसके आधार पर हिल्लेब्रांड्ट (१. ९७ एवं अग्रिम) ने उन्हें अराखोसिया में आदिवासी **दासों** से लड़ने वाला माना है; और उनके नाम="स्वर्ग के दास" के आधार पर उन्हें भी एक **दास** बताया है। किंतु यह मत चिन्त्य है,[२] क्योंकि वह **सरस्वती,** जिसके तट पर ये युद्ध हुए थे, अराखोसिया की हरक्वैती नहीं हो सकती; साथ ही पंचविंश ब्राह्मण ९. ४. ११ में **पारावतों** को पूर्व में यमुना के तट पर बताया गया है। बेर्गेन्य, उक्त, २. ३४२ एवं आगे का यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता कि **दिवोदास** और **अतिथिग्व** दो व्यक्ति थे; क्योंकि दोनों ही के लिये समानान्तर कार्य बताये गये हैं: ७ १९. ८; ९. ६१. २; १. ५१. ६; ६. २६. ३ और २. १९६; ६. ३१. ४[३]।

ऋग्वेद के सूक्त १. १३०. १० में दिवोदास के **जन** का उल्लेख है।

दिवोदास भैमसेनि—**भीमसेन** का वंशज। कासं. ७. १. ८ में **आरुणि** के समकालीन दिवोदास भैमसेनि का नाम आया है। तु०—वेबर, इस्तू, ३. ४७२।

दिव्य—धर्मपरीक्षा। परवर्ती साहित्य से पहले दिव्य शब्द नहीं आता, किंतु वैदिक साहित्य में धर्म-परीक्षाओं के जिक्र अवश्य हैं। अथर्ववेद २. १२ में श्लागिन्त्वाइत, वेबर, लुड्विग और अन्य विद्वानों द्वारा मान्य अग्नि-परीक्षा को ग्रिल, ब्लूमफील्ड, और ह्विटनी ने अस्वीकार किया है।[१] किंतु ऐसी एक धर्म-परीक्षा का जिक्र पंविंब्रा, १४. ६. ६ में आया जान पड़ता है; और छाउ. ६. १६ में चोरी का पता लगाने के लिए दीप्त कुल्हाड़ी के प्रयोग का उल्लेख आया है। गेल्डनर[२] के अनुसार यह प्रथा ऋग्वेद-काल से ज्ञात थी: ऋ० ३. ५३. २२; किंतु उनका यह मत चिन्त्य है।[3] लुड्विग[४], और ग्रिफिथ[५] ने ऋग्वेद १. १५८. ४ में **दीर्घतमा** की **अग्नि-परीक्षा** एवं **जल-परीक्षा** का उल्लेख माना है: किंतु इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। वेबर[६] के अनुसार शब्रा. ११. २. ७. ३३ में तुला-परीक्षा का उल्लेख है। द्र०—**तुला**।

दिव्य श्वा—दैवी श्वा। अथर्ववेद ६. ८०. १ में दिव्य श्वा किसी तारे का बोधक प्रतीत होता है। किंतु ब्लूमफील्ड का मत है कि मैसं १. ६. ९ में और तैंब्रा १. १. २. ४-६ में दो दैवी श्वानौ के रूप में सूर्य और चन्द्र अभिप्रेत हैं और अथर्ववेद ६. ८०. १ में सूर्य की ओर संकेत है।[७]

दिश्—दिशा। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दिशा के लिये दिश् शब्द का प्रयोग आम है: ऋ० १. १२४. ३; १. १८३. ५; ३. ३०. १२; अवे, ३. ३१. ४; ११. २. १२ आदि; ऋ० ७. ७२. ५; १०. ३६. १४ १०. ४२. ११; अवे, १५. २. १ एवं आगे। सामान्यतः चार दिशाओं का निर्देश है: **पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर**: तैसं, ७. १. १५; मैसं, २. ८. ९। किंतु कभी कभी इनकी संख्या बढ़ा

[१] हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, १. १०४।

[२] तु०—बेर्गेन्य, उक्त, २. २०९; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १५५; त्सादामौगे. ४९ १७५; ५१. २७२।

[3] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, उक्त, ३. २६८; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे., ४२. २१० एवं आगे; मैकडानल, उपर्युक्त, पृ० १६१। द्र० **प्रतर्दन**। तु०—त्सिमर, आले, १२६; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०६; लुड्विग, उपर्युक्त ३. ११४, १७६; ग्रियर्सन, जराएसो. १९०८, ६०४, ८३७; कीथ, वही, ८३१ एवं आगे; ११३८ एवं आगे; राथ, वोबू; इन्होंने दो **दिवोदास** माने हैं: एक सुदास् के पिता और एक शम्बर के शत्रु; दिवोदास का उल्लेख ऋग्वेद के मण्डल ३, ५, ८, १० में नहीं है।

[१] द्र०—श्लागिन्त्वाइत, दी गोत्तेसुरथाइले देर इन्दर १३ एवं आगे; वेबर, इस्तू १३. १६८; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ४४५; त्सिमर, आ०ले०, १८४; ग्रिल, हुंडेर्त लीडर[२] ४५. ८७; ब्लूमफील्ड, जअओसो, १३. ccxxi; अजफि, ११. ३३४. ३३५; हिम्स आ० दि अ०वे०, २९४; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ५४।

[२] वैस्तू० २. १५९।

[3] द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १ २५४।

[४] उक्त, ४. ४४।

[५] हिम्स आ० दि ऋ०, १. २१०।

[६] इंस्त्रा०, १. २१; २. ३६३। तु०—जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, १४५; त्सादामौगे., ४४. ३४७, ३४८; स्टेंत्सलर, वही, ९. ६६९ एवं अग्रिम।

[७] द्र०—जअओसो., १५. १६३; हिम्स आ० दि अ० वे०, ५००, ५०१। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३५३; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ३४१।

कर दश तक कही गई है। पाँच दिशाओं में इनके साथ **ऊर्ध्वा** है: तैसं, ७. १. १५; मैसं, २. ८. ९; छः में **ऊर्ध्वा** और **अवाची** हैं: मैसं, ३. १२. ८; वासं, २२. २४; बृउ, ४. २. ४; सात में **ऊर्ध्वा** और **ध्रुवा**=खड़े होने का स्थान तथा इनके बीच का अन्तरिक्ष **व्यध्वा**=अन्तरिक्ष है: ऋ० ९. ११४. ३; अवे, ४. ४०. १; शब्रा, ७. ४. १. २०; ९. ५. २. ८; तैआ, १. ७। आठ में पहले की चार प्रमुख दिशाएँ और उनके बीच की चार दिशाएँ हैं: तैसं, ७. १. १५; शब्रा, १. ८. १. ४० आदि; नव में इन आठ के साथ **ऊर्ध्वा** है: शांश्रौसू, १६. २८. २; और दश में इन आठ के साथ **ऊर्ध्वा** और **अवाची** हैं: ऋ० १. १६४. १४; ८. १०१. १३; शब्रा, ६. २. २. ३४, ८. ४. २. १३ आदि। कभी कभी पाँच दिशाओं में खड़े होने के स्थान या **ध्रुवा** का भी निर्देश है: अवे, ८. ९. १५; १३. ३. ६; १५. १४. १–५; वासं, ९. ३२; शब्रा, ९. ४. ३. १०; तु०–**ध्रुवा**। कभी-कभी छः दिशाओं में, **ध्रुवा** और **ऊर्ध्वा** का उल्लेख है: अवे, ३. २७. १; ४. १४. ८; १२. ३. ५५; १५. ४. १ एवं अग्रिम; १८. ३. ३४, ऐब्रा, ८. १४ आदि; तु०–ऋ० १०. १४. १६। कभी-कभी **ऊर्ध्वा** का नाम **बृहती** आया है: वासं, १४. १३; कासं, १७. ८। तु०–'पञ्च वै दिशः' श. ५. ४. ४. ६; 'पञ्च वा इमा दिशश्चतस्त्रस्तिरश्च एकोर्ध्वा' ऐब्रा, ६. ३२; 'सप्त दिशः' श. ९. ५. २. ८; 'नव दिशः' श. ६. ३. १. २१; 'दश दिशः' श. ३. १. २१; स्वर्गो हि लोको दिशः' श. ८. १. २. ४; 'दिशोऽग्निः' श. ६. २. २. ३४; 'दिश उ एव विश्वे देवाः' जैउ. २. २. ४; 'दिशो वै हरितः' श. २. ५. १. ५; 'तद् यच्छ्रोत्रं दिशस्ताः' जै. उ. १. २८. ९; 'श्रोत्रं दिशः' जैउ. ३. २. ८; 'दिशो वै लोहमय्यः' श. १३. २. १०. ३; 'अवान्तरदिशो रजताः' श. १३. २. १०. ३; 'छन्दांसि वै दिशः' श. ८. ३. १. १२; 'दिशो वै प्राणः' जैउ. ४. २२. ११; 'दिशः समानः' जैउ. ४. २२. ९; 'अपरिमिता हि दिशः' श. ६. ५. २. ७। विवरण: त्सिमर, आ० ले० ३५९; वेबर, प्रोसीडिंग्स आ० दि बर्लिन एकेडमी १८९५. ८४६; इस्टू. १७. २९३, २९४; १८. १५३; वोबू।

दीन—दरिद्र के अर्थ में दीन शब्द का प्रयोग आम है: ऋ० ४. २४. ९; ८ ५६. ११; ४. ५४. ३; १०. ८ आदि।

दीर्घ—द्र०–**स्वर**। तु० 'आयुर्वै दीर्घम्' तां० १३. ६९. ११. १२।

दीर्घतमस् मामतेय औचथ्य—दीर्घ अन्धकार, **ममता** का पुत्र, **उचथ** का पुत्र। ऋग्वेद १. १५८. १, ६ में इनका एक गायक ऋषि के रूप में उल्लेख आया है; अन्यत्र भी **मामतेय** के रूप में इनका नाम आया है: ऋ० १. १४७. ३; १. १५२. ६; ४. ४. १३; **कक्षीवन्त्** के साथ उल्लेख: ऋ० ८. ९. १०। ऋग्वेद १. १५८. १, ६ एवं शांआ २. १७; (कीथ, शां०आ० १४) में इन्हें आयु का दशम दशक प्राप्त करने वाला कहा गया है। ऐब्रा ८. २३ में इन्हें **भरत** का पुरोहित बताया गया है। बृहद्देवता ४. ११. १५; ४. २१ २५ में ऋग्वेद के कुछ स्थलों के आधार पर उनके संबन्ध में यह कथा[1] आई है कि वे नेत्रहीन उत्पन्न हुए थे; और बाद में उन्हें नेत्र-ज्योति मिली थी। वृद्धावस्था में उनके नौकरों ने उन्हें नदी में ढकेल दिया; उनमें से एक **त्रैतन** ने उन पर आक्रमण किया, किंतु वह स्वयं मर गया। धारा में बहते-बहते वह अङ्ग देश में पहुँचे जहां उन्होंने **उशिज्** नामक दासी-पुत्री से विवाह किया, और **कक्षीवन्त्** नामक पुत्र को उत्पन्न किया (द्र०–१. १४०-१६४) जो दीर्घतमा ऋषि के ही पुत्र कहे गए हैं।[2] दोनों लोककथाएं एक दूसरे के समान नहीं हैं; दूसरी में उनकी नेत्र-प्राप्ति का उल्लेख नहीं है। पार्जिटर[3] के समान उन्हें महत्त्व देना अदूरदर्शिता होगी। तु०–लुड्विग, ट्रां. ऋ०, ३. १६४. १६५; म्यूर, संस्कृत टेक्स्ट्स १२,२२६,२३२,२४७,२६८, २७९।

दीर्घनीथ—ऋग्वेद ८. ५०. १० में एक यज्ञ-कर्ता का नाम दीर्घनीथ है। तु०–राथ, वोबू। लुड्विग ने "दीर्घसमय वाले" के अर्थ में इसे विशेषण माना है।

दीर्घश्मश्रु—'एष (आदित्यः) दीर्घश्मश्रुः' गो. पू. २.१।

दीर्घश्रवस्—बहुत यशस्वी। पंविब्रा १५. ३. २५ के अनुसार एक राजर्षि का नाम दीर्घश्रवस् है, जिन्होंने राज्य-च्युत होने पर एवं क्षुधा से व्याकुल होने पर एक साम-मन्त्र का दर्शन किया था; और तब उन्हें भोजन मिला था। ऋग्वेद १. ११२. ११ में एक वणिक् का नाम सायण के मत से **औशिज दीर्घश्रवस्** है, किंतु राथ[4] इसे यहाँ विशेषण मानते हैं। सायण के मत से औशिज मातृ— (माता के नाम के आधार पर बना) नाम है, किंतु राथ ने "इच्छुक" इस अर्थ में इसे विशेषण माना है। तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४४।

दीर्घाप्सस्—ऋग्वेद १. १२२. १५ में रथ के

१ मैकडानल का संस्करण।
२ किंतु द्र०–ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे. ४२.२२१।
३ जराएसो १९१०, ४४।
४ वोबू।

विशेषण के रूप में प्रयुक्त दीर्घाप्सस् शब्द का अर्थ राथ[१] के अनुसार "दीर्घ अग्रभाग वाला है"। तु०—पिशल, वैस्तू १. ३१२।

दीर्घायुत्व—दीर्घायु होना। वैदिक भारतीयों की प्रार्थना का एक प्रमुख विषय दीर्घायुष्य की भिक्षा है: ऋ० १०. ६२. २; अवे, १. २२. २; वासं, १८. ६; शब्रा, १९. १. १३; दीर्घायुस्: ऋ० ४. १५. ९, १०; १०. ८५. ३९; वासं, १२. १०० आदि। ब्राह्मणों में प्रायः "सर्वमायुरेति" जैसे भाव पाए जाते हैं। आदर्श जीवन १०० वर्ष का माना गया है। अथर्ववेद में आयु बढ़ाने वाले सूक्त मिलते हैं: १. १३, २८. २९ ७. २२ एवं अन्य अनेक। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ४९ एवं आगे, अथर्ववेद, ६३. ६५।

दीर्घारण्य—अवे ३. ४४, ६. २३ एवं शब्रा १३. ३. ७. १० में प्रयुक्त दीर्घारण्य शब्द तत्कालीन बड़े वनों का बोधक है। ऐतरेय ३. ४४ में कहा गया है कि पूर्व में प्रायः ग्राम है, जो पास-पास हैं, जब कि पश्चिम में वन है।

दीव—ऋग्वेद १०. २७. १३ और अथर्ववेद ७. ५०. ०; ७. १०९. ५ में स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त दीव् शब्द अक्ष-क्रीडा का बोधक है। द्र०—**अक्ष**।

दुघा—दूध देने वाली। संहिताओं में दुघा शब्द गौ के अर्थ में आया है: ऋ० ८. ५०. ३; १०. ६७. १; वा०सं०, २८. १६. आदि।

दुन्दुभि—ध्वनि की अनुकृति पर बना दुन्दुभि शब्द युद्ध एवं शान्ति के काल में बजाया जाने वाला वाद्यविशेष है। ऋग्वेद-काल से ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है: १. २८. ५; ६. ४७. २९, ३१; अवे, ५. २०. १ एवं आगे; ५.२१.७; ५.३१.७; ६.३८.४; १२.१.४१; तैब्रा, १. ३. ६. २; शब्रा, ५. १. ५. ६; दुन्दुभ्य=दुन्दुभि से संबद्ध: वासं, १६. ३५। एक विशेष प्रकार की दुन्दुभि भूमि-दुन्दुभि थी, जो भूमि में गड्ढा खोद कर और उसे चर्म से ढककर बनाई जाती थी। इसका प्रयोग दक्षिणायन के समय दुष्प्रभावों को दूर करने एवं सूर्य के पुनः लौटने के लिए किये जाने वाले महाव्रत यज्ञ में किया जाता था: कासं ३४. ५; इस्तू, ३. ४४७; शांश्रौसू, १७. १४. ११; ऐआ, ५. १. ५।[२] पुरुषमेध की बलियों की सूची में एक दुन्दुभि-वादक का उल्लेख है: तैब्रा ३. ४. १३. १; वासं में नहीं; तु०—बृउ, २. ४. ६। तु०—त्सिमर, आले, २८९; आर्षकाव्य-कालीन दुन्दुभि के प्रयोग के संबन्ध में द्र आर्षः हापकिन्स, ज.अ.ओ.,सो., १३४, ३१८।

दुर्—ऋग्वेद में प्रयुक्त दुर् शब्द द्वार के अर्थ में आया है: ऋ० १. ६८. १०; १. ११३. ४; १. १२१. ४; १. १८८. ५; २. २. ७ आदि।

दुरित—पाप या बुराई के अर्थ में दुरित शब्द ऋग्वेद काल से ही आम है। प्रार्थना की गई है कि 'हे सवितृ देवता, सभी दुरितों को हमसे दूर करो; और शुभ वस्तुओं को हमें प्रदान करो।

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव' ऋ० ५. ८२. ५। द्र०—ऋ० १. २३. २२; १. १२५. ७; १. १४७. ३; ८. ४४. ३०; १०. ११३. १०; अ०वे०, २. १२. २; ५. २८. ८ आदि।

दुरोण—ऋग्वेद एवं कभी-कभी परवर्ती साहित्य में सामान्यतया एवं आलंकारिक रूप से गृह के अर्थ में दुरोण शब्द का प्रयोग मिलता है: ऋ० ३. १. १८; ३. २५. ५; ४. १३. १; ५. ७६. ४ आदि; अवे, ७. १७. ३; वासं ३३. ७२ आदि।

दुर्ग—कठिनता से गमनीय। ऋग्वेद में नपुंसक लिङ्ग में किले के अर्थ में दुर्ग शब्द का प्रयोग मिलता है: ५. ३४. ७; ८. २५. २।

दुर्गह—ऋग्वेद ८. ६५. १२ में एक व्यक्ति का नाम **दुर्गह** है, जहाँ उनके पौत्रों की उदारता की प्रशंसा है, किंतु सायण ने दुःखं गाहमान=दुःख में डूबा हुआ के अर्थ में इसे विशेषण माना है। ऋग्वेद ४. ४२. ८ में सायण ने '**दौर्गह**' की व्याख्या 'दुर्गह का पुत्र' यह करके इसे **पुरुकुत्स** का विशेषण माना है, जिन्हें या तो शत्रुओं ने पकड़ लिया था या मार डाला था। उनकी पत्नी **पुरुकुत्सानी** ने उनके उत्तराधिकारी के रूप में **त्रसदस्यु** को उत्पन्न किया। सायण ने इसके समर्थन में एक और कथा दी है, जो बृहद्देवता में नहीं पाई जाती, यद्यपि राथ ने उसका बृहद्देवता में पाया जाना माना है। दूसरी ओर शब्रा. १३. ५. ४. ५ में **दौर्गह** शब्द अश्व के अर्थ में आया प्रतीत होता है। निघण्टु १. १४ में **दौर्गह** अश्व का पर्यायवाची है। जीग[१] का मत है कि ऋग्वेद में भी अश्व के अर्थ में ही यह शब्द है, जहाँ वे अश्वमेध यज्ञ का प्रसङ्ग मानते हैं। उनके अनुसार **पुरुकुत्स** ने पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ में **दौर्गह** नामक

---

१ वोबू।

२ द्र—वेबर, इस्तू, १७. १९३; फेस्टग्रुस आन राथ, १३७; लानमान, संस्कृत-रीडर, ३८४।

१ दी. जा० ऋ., ९६-१०२।

अश्व को छोड़ा था; वे पिशल[1] और लुडविग[2] के साथ **दधिक्रावन्** को भी एक वास्तविक अश्व, **त्रसदस्यु** का युद्धाश्व मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या संदिग्ध प्रतीत होती है; और **दधिक्रावन्** शब्द को उसके समर्थन में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह दैवी अश्व था, असली अश्व नहीं। द्र०—मैकडानल, वैमा, पृ० १४८, १४९। विवरण : लुड्-विग, उपर्युक्त, ३. १६३, १७४; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ३०१, ३०२।

दुर्णामन्—बुरे नाम वाला। ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक रोग-विशेष या रोग उत्पन्न करने वाले दैत्य का नाम दुर्णामन् आया है : ऋ० १०. १६२. २; अवे, २. २५. २; ८. ६. १ एवं आगे; १६. ६. ७; १९. ३६. १ एवं आगे; दुर्णामनी : ४. १७. ५; १९. ३६. ६। निरुक्त ६. १२ में इसे एक कृमि बताया गया है। बाद में दुर्णामनी शब्द रक्तस्राव को जताता है; दे० सुश्रुत, १. १७७. १० आदि। विवरण : ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ६१, हिम्स आ० दि अ०वे०, ३१४ आगे, ३५१।

दुर्मुख—बुरे मुख वाला। ऐब्रा. ८. २३ में दुर्मुख एक **पञ्चाल-राजा** का नाम है, जिनके पुरोहित **बृहदुक्थ** थे, और जिन्होंने विश्व-विजय की थी। यहां पाठ 'अराजा' हो सकता है, किंतु ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

दुर्य—द्वार या गृह से संबद्ध। संहिताओं में बहुवचन में प्रयुक्त दुर्य शब्द दरवाजे या गृहों का बोधक है : पुं०, बहुवचन, ऋ० १. ९१. १९; १०. ४०. १२; तैसं. १. ६. ३. १; वासं, १. ११; स्त्रीलिङ्ग, बहुवचन, ऋ० ४. १. ९, १८; ४. २. १२; ७. १. ११।

दुर्योण—ऋग्वेद १. १७४. ७; ५. २९. १०; ५. ३२. ८ में दुर्योण शब्द गृह के अर्थ में आया है।

दुर्वराह—संभवतः जंगली शूकर का वाचक है। शब्रा १२. ४. १. ४ और जैउब्रा १. ५१. ४.,[3] में इसका उल्लेख आया है।

दुला—**नक्षत्र (कृत्तिका)**।

दुवस्—कुछ स्थलों पर दुवस् शब्द परिचर्या या सेवा के अर्थ में आया है : ऋ ४; ८. ६; १. १४. १; १. ३०. १५; १. ३६. १४; ६. १४. १; ६. १५. ६; ६. १६. १८; ७. २२. ४; ९. ६५. ३; १०. २०. ७ आदि।

[1] वैस्तू, १. १२४।

[2] ट्रां० ऋ०, ४. ७९; तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ७१।

[3] जअओसो, २३.३३२।

दुश्चर्मन्—चर्मरोग से ग्रस्त। तैसं २. १. ४. ३.; २. ५. १. ७ और तैब्रा १. ७. ८. ३ में इसका उल्लेख आया है। संभवतः यह कुष्ठ के अर्थ में आया है, जिसके लिए सामान्य शब्द किलास है : पंविब्रा., १४. ३. १७; २३. १६. ११; तैआ., ५. ४. १२।

दुःशंस—बुराई या निन्दा करने वाला। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में दुःशंस शब्द आया है : ऋ० १. २३. ९; १. ९४. ९. २. २३. १०; २. ४१. ८; ७. ९४. १२; ८. १८. ४; अ. वे., ६. ६. २; १२. २. २।

दुःशासु—ऋग्वेद १०. ३३. १ में एक व्यक्ति का नाम दुःशासु प्रतीत होता है, जो **कुरुश्रवण** का शत्रु होगा। लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६५ का विचार है कि वे **पर्शु** या **पारसी** थे; किंतु यह सर्वथा चिन्त्य है। यह शब्द "द्रोह-युक्त" के अर्थ में विशेषण भी हो सकता है।

दुःशीम—ऋग्वेद १०. ९३. १४ में **दुःशीम** एक उदार दाता हैं; संभवतः उनका पैतृक नाम **तान्व** है; ऋ० १०. ९३. १५। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६६।

दुष्टरीतु—कठिनता से पराजित होने वाला। दुष्टरीतु **सृञ्जयों** के एक राजा का नाम है; दस पीढ़ियों से चलते आये मुखियापन से उन्हें हटा दिया गया था; किंतु **चाक्र स्थपति** ने **बल्हिक प्रतिपीय** के विरोध करने पर भी उन्हें पुनः सिंहासन पर आरूढ़ कराया था : शब्रा, १३. ९. ३. १[1]।

दुषन्त—द्र०—**दौःषन्ति**।

दुहितृ—ऋग्वेद-काल से ही लड़की के लिए दुहिता शब्द का प्रयोग आम रहा है : ऋ० ८. १०१. १५; १०. १७. १; १०. ४०. ५; १०. ६१. ५. ७; अ वे २. १५. २; ६. १००. ३; ७. १२. १; १०. १. २५; शब्रा, १. ७. ४. १; १. ८. १. ८. आदि। यह शब्द दुह् "दुहना" धातु से व्युत्पन्न जान पड़ता है; इसका भाव "बच्चे का पोषण करने वाली" अधिक उपयुक्त है, न कि "परिवार को दुहने वाली" अथवा स्तनपायिनी। द्र०—डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवाण्ड्सशाफ्त्सनामन ४५४।

दूत—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आलंकारिक रूप से दूत शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ० ३. ३. २; ६. ८. ४; ७. ३. ३; १०. १४. १२; अवे, ३. ८. १०; शब्रा, ३. ५. १. ६; कौउ, २. १ आदि; दूती : ऋ० १० १०८. २, ३ सरमा; दूत्य : ऋ० १. १२. ४; १. ६१. १;

[1] तु०—वेबर, इस्टू., १. २०५-२०७।

४. ७; ४. ८. ४ आदि। संभवतः परवर्ती काल में दूत के कार्यों को सूत करता था।

दूरोह—'असौ वै दूरोहो योऽसौ (सूर्यः) तपति' ऐब्रा ४. २०।

दूर्वा—दूब, घास। ऋग्वेद-काल से ही दूर्वा शब्द आम रहा है : ऋ० १०. १६. १३; १०. १४३. ५; १०. १४२. ८; तैसं ४. २. ९. २; ५. २. ८. ३; वासं, १३. २०; ऐब्रा ८. ५. ८; शब्रा ४.५. १०. ५। यह नम भूमि में उत्पन्न होता था : ऋ० १०. १६. १३; १०. १४२. ८। ऋग्वेद १०. १३४. ५ में इसकी एक उपमा आती है। तु० 'स (प्रजापतिः) अब्रवीत्। अयं (प्राणः) वाव मा धूर्वीदिति यदब्रवीदधूर्वीन्मेति तस्माद् धूर्वा, धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा, ७. ४. २. १२, 'क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा' ऐब्रा. ८. ८.; 'तदेतत् क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो(यद् दूर्वा)लोमान्यन्या सर्वा ओषधयः। एतां दूर्वाम् उपदधत् सर्वा ओषधीरुप दधाति' शब्रा ७. ४. २. १२। तु०—त्सिमर, आले, ७०।

दूर्श—अथर्ववेद ४. ७. ६; ८. ६. ११ में दूर्श शब्द किसी परिधान का बोधक है। वेबर इस्टू, १८. २९ का मत है कि आदिवासी इसे पहनते थे।

दूषीका—नेत्रमल। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में दूषिका आँखों का एक रोग है : अवे. २१. ६. ८, कासं, ३४. १२; वासं, २५. ९, शब्रा, ३. १. ३. १०।

दृढच्युत् आगस्ति—अगस्त्य का वंशज। जैब्रा. ३. २३३ के अनुसार विभिन्दुकीयों के सत्र में दृढच्युत् आगस्ति के उद्गातृ-पुरोहित होने का उल्लेख है। अनुक्रमणी में, जहाँ पैतृक नाम आगस्त्य है, उन्हें ऋग्वेद के एक सूक्त ९. २५ का ऋषि बताया गया है। तु०—इस्टू०, ३. २१९।

दृढजयन्त—द्र० विपश्चित् और वैपश्चित।

१. दृति—तरल पदार्थों को रखने के लिए चमड़े की मशक। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में दृति का अनेक बार उल्लेख मिलता है : ऋ० १. १९१. १०; ४. ५१. १, ३; ५. ८३. ७; ६. ४८. १८; ६. १०३. २; ८. ५. १९; ८. ९. १८; अवे. ७. १८. १; तैसं, १. ८. १९. १; वासं, २६. १८, १९; तैब्रा, १. ८. ३. ४; पंविब्रा, ५. १०. २ आदि। एक स्थल पर इसे "ध्मात" या "फूली हुई" कहा गया है, जहाँ इसकी उपमा जलोदर-ग्रस्त व्यक्ति से दी गई है : ऋ० ७. ८९. २।[1] दृति में दूध और सुरा रखने का उल्लेख मिलता है : पंविब्रा, १४. ११. २६; १६. १३. १३।

[1] तु०—हापकिन्स, जअओसो, २०. ३०.

२. दृति ऐन्द्रोत—इन्द्रोत का वंशज। पंविब्रा. १४. १. १२, १५ में अभिप्रतारिन् काक्षसेनि के समकालीन और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में आचार्यों की एक वंश-सूची ३. ४०. २ में इन्द्रोत दैवाप के शिष्य एक आचार्य का नाम दृति ऐन्द्रोत है। संभवतः पंविब्रा. २५. ३. ६ के "दृति-वातवन्तौ" में भी इन्हीं दृति ऐन्द्रोत का उल्लेख है। परवर्ती साहित्य में एक "दृति-वातवतोर् अयन" का उल्लेख है : काश्रौसू, २४. ४. १६; २४. ६. २५; आश्रौसू, १२. ३; शांश्रौसू, १३. २३. १; लाश्रौसू, १०. १०. ७। वहाँ कहा गया है कि जिस महाव्रत को दृति और वातवन्त् कर रहे थे, उसके समाप्त होने पर भी दृति उसे करते ही गए; फलतः उनके वंशज वातवतों से अधिक समृद्ध हुए। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५२., ५३।

दृप्त बालाकि गार्ग्य—गर्ग का वंशज। बृ. उ. २. १. १ में एक आचार्य का नाम है; वे काशी के अजातशत्रु के समकालीन थे।

दृबा—इषु। 'स यया प्रथमया (इष्वा) समर्पणेन पराभिनत्ति सैका सेयं पृथिवी सैषा दृबा नाम' शब्रा, ५. ३. ५. २९,

दृभीक—ऋग्वेद २. १४. ३ के अनुसार इन्द्र द्वारा मारे गए एक व्यक्ति[1] अथवा दैत्य[2] का नाम दृभीक है।

दृशान भार्गव—भृगु का वंशज। कासं १६. ८ में एक ऋषि का यह नाम है। तु०—वेबर, इस्टू, ३, ४५९।

दृषद्—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अन्नादि को पीसने के लिये प्रयुक्त प्रस्तर को दृषद् कहा गया है : ऋ० २. ३१. १; ५. २३. ८; अवे, २. ३१. १; ५. २३. ८।[3] जब उपला के साथ यह शब्द आता है तब इसका अर्थ ऊपरी या निचला पेषण-प्रस्तर, अथवा उलूखल और मुसल लिया जा सकता है : तैसं० १. ६. ८. ३; १. ६. ९. ३; शब्रा, १. १. १. २२; २. ६. १. ९ आदि; किंतु यह निश्चित नहीं है। एगलिंग ने इन्हें बड़े और छोटे पेषण-प्रस्तर के अर्थ में लिया है।[4] द्र०—उपर, उपला। तु०—पिशल, वैस्टू, १. १०८. १०९।

[1] द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५२. २०७ दर्वाइकों से तुलना: मैकडानल, वैमा, १६२।

[2] द्र०—ग्रासमान, वोबू; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ८५।

[3] राथ, वोबू; त्सिमर, आ०ले, २६९।

[4] द्र०—सेबुई, १२. ११ यहाँ दृषद्-उपल का उलूखल-मुसल से भेद स्पष्ट किया गया है।

दृषद्वती—पत्थर वाली। **दृषद्वती** एक नदी का नाम है, जो **सरस्वती** के समानान्तर बहने के बाद उसी में मिल जाती है। ऋग्वेद ३. २३. ४ में **सरस्वती** और **आपया** के साथ ही इसका भी उल्लेख है; इनके तटवर्ती क्षेत्र **भरतों** के कार्यक्षेत्र हैं। पंविब्रा. २५. १०. १३ और परवर्ती का०श्रौ०सू०, २४. ६. ६, ३८; ला०श्रौ०सू०, १०. १९. ४ में **सरस्वती** और **दृषद्वती** नदियाँ प्रमुख यज्ञों से संबद्ध हैं। मनु २. १७ के अनुसार ये दोनों नदियाँ मध्य-देश की पश्चिमी सीमाएँ हैं। मैकडानल[1] ने इसे **घाघरा** नदी माना था, किंतु वह चिन्त्य है। संभवतः यह छितंग[2] अथवा चित्रंग नदी है।[3] तु०—त्सिमर, आले, १८; वेबर, इस्तू, १. ३४; इं० लिट०, ६७. १०२; मैकडानल, वैमा, पृ० ८७।

दृष्ट—द्र०—**अदृष्ट**।

देव, देवता, देवी—मनुष्य के आराध्य लोगों को देव, देवता या देवी के नाम से पुकारा गया है। ये देव कुछ तो प्राकृतिक शक्तियों के रूप हैं।[4] ऋग्वेद काल से ही इनकी आराधना होती रही है: ऋ० १. १. १; २. २७. ४; ३. ५५. १९; ३. ३२. ६; ३. ३४. ८; ७. ४९. १; वासं. ४. १२; अवे, ६. १३६. १; १४. १. ४७ आदि। तु०—,दिवा वै नोऽभूदिति। तद् देवानां देवत्वम्' तैब्रा. २. २. ९. ९; 'दिवा देवानसृजत नक्तमसुरान्। यद् दिवा देवानसृजत तद् देवानां देवत्वम्' षब्रा. ४. १; 'तद् देवानां देवत्वं यद् दिवमभिपद्यासृज्यन्त' शब्रा. ११. १. ६. ७; 'मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः। स यदैव ते संवत्सरमापुरथा-मृता आसुः' शब्रा. ११. १. २. १२; ११. २. ३. ६; 'उभये ह वा इदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च' शब्रा. २. ३. ४. ४; 'उभयं वैतत् प्रजापतिर्यच्च देवा यच्च मनुष्याः' शब्रा. ६. ८. १. ४; 'प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीन-प्रजनना मनुष्याः' शब्रा. ७. ४. २. ४०; 'प्राची हि देवानां दिक्' शब्रा. १. २. ५. १७; 'यद् वै मनुष्याणां प्रत्यक्षं तद् देवानां परोक्षं यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम्' तां. २२. १०. ३; 'द्राघीयो हि देवायुषं ह्रसीयो मनुष्या-युषम्' शब्रा. ७. ३. १. १०; 'स (सूर्यः) यत्रोदङ्ङावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायति अथ यत्र दक्षिणा-वर्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति' शब्रा. २. १. ३. ३; 'स (प्रजापतिः) आस्येनैव देवान सृजत···तस्मै ससृजानाय दिवेवास।···अथ योऽयमवाङ् प्राणः तेना-सुरानसृजत।···तस्मै ससृजानाय तम इवास' शब्रा. ११. १. ६. ७-८; 'एकाक्षरं वै देवानामवमं छन्द आसीत् सप्ताक्षरं परमं नवाक्षरमसुराणामवमं छन्द आसीत् पञ्चदशाक्षरं परमम्' तां. १२. १३. २७; 'त्रया वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः' शब्रा. ४. ३. ५. १; 'त्रयस्त्रिंश-द्देवताः' तां. ४. ४. ११; 'अष्टौ वसवः। एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः' शब्रा. ४. ५. ७. २; कतमे देवाः। त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। स (याज्ञवल्क्यः) होवाच। महिमान एवैषां (देवानाम्) एते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति' शब्रा. ११. ६. ३, ४-५; 'अग्नि-र्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि' शब्रा, ९. १. १. २३; 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' शब्रा १४. ३. २. ८; 'पृथिवी ह वै सर्वेषां देवानामायतनम्' श ब्रा० १४. ३. २. ४; 'नरो वै देवानां ग्रामः' तां. ६. ९. २; 'यज्ञ उ देवानामात्मा' शब्रा. ८. ६. १. १०; 'यज्ञ उ देवानामन्नम्' शब्रा. ८. १. २. १०; 'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदन्। (प्रजापतिः) तान् (देवान्) अब्रवीद् यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग् वः सूर्यो ज्योतिरिति' शब्रा. २. ४. २. १; 'साम देवानामन्नम्' तां. ६. ४. १३; 'एतद् वै देवानां परममन्नं यत् सोमः। एतन्मनु-ष्याणां यत् सुरा' तैब्रा. १. ३. ३. २–३; 'एतद्वै देवानां परममन्नं यन्नीवाराः' तैब्रा. १. ३. ६. ८; 'उभये देव-मनुष्याः पशूनुपजीवन्ति' शब्रा. ६. ४. ४. २२; 'तस्यै (वाचे) द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति। स्वाहाकारं च वषट्कारं च' शब्रा. १४. ८. ९. १; 'एकं वा एतद्देवानामहः यत्सं-वत्सरः' तैब्रा. ३. ९. २२. १; संवत्सरो वै देवानां जन्म' शब्रा. ८. ७. ३. २१; 'संवत्सरः खलु वै देवानां पूः' तैब्रा. १. ७. ७. ५; 'अहरेव देवाः' शब्रा. २. १. ३. १; 'देवा वै नृचक्षसः' शब्रा. ८. ४. २. ५; 'देवा वै सर्पाः'। तेषामियं (पृथिवी) राज्ञी' तैब्रा. २. २. ६. २; 'अथ हैते मनुष्यदेवा यद् ब्राह्मणाः' गो.उ. १. ६; 'द्वया वै देवाः' अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य-देवाः' शब्रा. २. २. २. ६; 'ऋतवो वै देवाः' शब्रा. ७. २. ४. २६; 'तस्मात् प्राणा देवाः' शब्रा. ७. ५. १. २१; 'वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्' ऐब्रा. ५. २३; 'वाग् वै देवानां पुरान्नमास' तैब्रा. १. ३. ५. १; 'य एवापूर्यतेऽर्धमासः स वै देवाः' शब्रा. २. १. ३. १; 'तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः' शब्रा. ३. १. १. ८; 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति' शब्रा. २. १. ४. १; 'न वै देवाः स्वपन्ति' शब्रा. ३. २. २. २२; 'सत्यसंहिता वै देवाः' ऐब्रा. १. ६; 'आनन्दात्मानो

---

[1] सं० लिट०, १४२।

[2] जअओसो, ६१. ४२२।

[3] ओल्डेनबर्ग, जराएसो; २५. ५८।

[4] मैकडानल, वैमा, आरम्भिक पृष्ठ।

हैव सर्वे देवाः' शब्रा. १०. ३. ५. १३; 'ओषधयो वै देवानां पत्न्यः' शब्रा. ६. ५. ४. ४; 'बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा' शब्रा. १. ७. ४. २१; 'मरुतो वै देवानां विशः' ऐब्रा. १. ९; 'देवक्षेत्रं वा एतद् यत् षष्ठमहः' ऐब्रा. ५. ९; 'देवतायतनानि न कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति' षब्रा. ५. १०।

देवक मान्यमान—**मन्यमान** का वंशज। ऋग्वेद में **तृत्सुओं** के विरोधी और **शम्बर** के साथी का नाम **देवक मान्यमान** आया है: ऋ० ७. १८. २०: देवकं चिन्मान्यमानम्। संभवतः ग्रासमान के अनुसार यह शम्बर का नाम है, जो अपने को देव मानता था; यहाँ देवक अवमान के अर्थ में प्रयुक्त है। तु०—ऋ० २. ११. २, अमर्त्यं चिद् दासं मान्यमानम्। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७३।

देवकीपुत्र—**देवकी** का पुत्र। छाउ. ३. १७. ६; में **कृष्ण** का मातृक नाम देवकीपुत्र है। महाभारत १. ४४. ८०; ५. ८० के अनुसार कृष्ण की माता **देवकी** के पिता **देवक** थे। वोबू में उन्हें गंधर्वों का राजा कहा गया है, जिनका उल्लेख महाभारत १. २७०४ में आता है।

देवजन विद्या—देवताओं से संबद्ध विद्या। शब्रा १३. ४. ३. १०; (तु० १०. ५. २. २०) और छाउ ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में विद्याओं की सूची में **देवजन विद्या** की भी गणना की गई है।

देवतरस् श्यावसायन काश्यप—**काश्यप** का वंशज। जैउब्रा ३. ४०. २ में ऋश्यशृङ्ग के शिष्य का नाम **देवतरस् श्यावसायन काश्यप** है। वंश-ब्राह्मण[1] में **शावसायन** के रूप में वे अपने पिता शवस् के शिष्य कहे गए ,हैं जो **काश्यप** के शिष्य थे। द्र० इस्तू० ४. ३७३.

देवता—'यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् सो देवता तद्यजुः' शब्रा. ६. ५. १. २; 'त्रयस्त्रिंशद्देवताः' तां. ४. ४, ११.

देवपात्र—'देवपात्रं वा एष यदग्निः' शब्रा. १. ४. २. १३; 'देवपात्रं द्रोणकलशः' तां. ६. ५. ७; 'देवपात्रं वै वषट्कारः' गो. उ. ३. १;

देवयजन—ऐब्रा ७. २० में यज्ञ करने योग्य स्थान को देवयजन कहा गया है: १. १३; ४. २७; शब्रा १. २. ५. १८ आदि। तु० 'ऋत्विजो देवयजनम्' गो. पू. २. १४; 'श्रद्धा देवयजनम्' गो. पू. २. १४; 'आत्मा देवयजनम्' गो पू. २. १४.

देवयान—ऋग्वेद-काल से ही देव-यान और पितृयाण का उल्लेख मिलता है: ऋ० १. १८३. ६; ४. ३७. १; ७. ७६. २; १०. ५१. ५; १०. १८. १; अवे ३. १५. २; ९. ४. ३; १२. २. ४१; १८. ४. २, १४; तैसं, २. ३. १४. ५; शब्रा १. ९. ३. २३। तु० 'देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः' ऐब्रा. ३. ३८; 'त्रयो वै देवयानाः पन्थानः' गो. उ. १. १; 'ये चत्वारः पथयो देवयानाः अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति' मंब्रा. २. १०; 'यमाहुरर्यम्णः पन्था इत्येष वाव देवयानः पन्थाः' तां. २५. १२. ३.

देवयु—देवताओं को प्राप्त करने की कामना वाले देवभक्त लोगों को देवयु कहा गया है: ऋ० १. १५४. ५; ४. ९. १; ५. ४८. २; ५. ३४. ५; १०. ५१. ५; ८. ९२. ७; ९. ९६. २४; अवे ८. ९. १३, आदि।

देववीति—कुछ स्थलों पर देवकाम यजमान को **देववीति** कहा गया है: ऋ० ६. १५. १८; ९; २. २३. ७; ३ १७. ५; ६. १६. ७; ६. ६८. १०; १०. ६. ३; १०. ५३. ३; वासं १. १५; २२. १३; ३७. १८ आदि।

देवत्या—अथर्ववेद १. २२. ३ में, यदि पाठ शुद्ध हो तो यह किसी पशु का व्यापक है;[1] किंतु पाठ **रोहिणी-देवत्यास्** होना चाहिए, जिसका अर्थ है, "लाल देवता वाले"।

देवन—ऋग्वेद १०. ४३. ५ में **देवन** शब्द अक्ष-क्रीडा के प्रसङ्ग में आया है। यह उस स्थान को जताता प्रतीत होता है, जहां अक्ष फेंके जाते थे। अन्यत्र इसे **अधिदेवन** कहा गया है; दुर्ग ने निरुक्त ५. २२ के अपने भाष्य में यही अर्थ दिया है। तु०—ल्यूडर्स, दास व्युर्फलश्पील इम आतन इन्दीन, १४।

देवनक्षत्र—देवों का नक्षत्र। तैब्रा १. ५. २. ६, ७ में प्रथम चौदह नक्षत्रों को **देवनक्षत्र** कहा गया है, और उन्हें दक्षिण में माना गया है; शेष नक्षत्रों को **यम-नक्षत्र** कहा गया है और उन्हें उत्तर में माना गया है। तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३०९, ३१०।

देवभाग श्रौतर्ष—शब्रा. २. ४. ४. ५ में **देवभाग श्रौतर्ष** को **सृञ्जयों** और **कुरुओं** दोनों के पुरोहित के रूप में बताया गया है। सायण ने ऋ० १. ८१. ३ के भाष्य में इसे गलत ढंग से उद्धृत किया है।[2] ऐब्रा. ७. १ के अनुसार उन्होंने **गिरिज बाभ्रव्य** को यज्ञिय पशु के काटने =पशोर्विभक्तिः का ज्ञान दिया था। तैब्रा. ३. १०. ९. ११ में उन्हें सावित्र अग्नि के संबन्ध में प्रामाणिक व्यक्ति

---

[1] द्र०—राथ, वोबू।

[2] द्र०—वेबर, इस्तू, २. ९ टि०; गेल्डनर, वैस्तू, ३. १५२।

बताया गया है। तैसं. ६. ६. २. २ के अनुसार वे **वासिष्ठ सातहव्य** के समकालीन थे और उन्होंने यज्ञ में एक गलती कर दी थी, जिससे सृञ्जयों का विनाश हो गया था।

देवमलिम्लुच्—देवों का डाकू। पंविब्रा. १४. ४. ७ में **रहस्य** या **रहस्यु** का विशेषण **देवमलिम्लुच्** है, जिसने **मुनिमरण** नामक स्थान में वैखानसों की हत्या की थी। वह एक असुर था; संभवतः वह वास्तविक व्यक्ति रहा हो। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५, ५१. ५२।

देवमुनि—दैवी ऋषि। पंविब्रा. १५. १४. ५ में **तुर** का विशेषण देवमुनि है। अनुक्रमणी में ऋग्वेद के एक सूक्त १०. १४६ के ऋषि का यह नाम है।

देवयोनि—'अग्निर्वै देवयोनिः' ऐब्रा. १. २२. २. ३।

देवरथ—'इयं (पृथिवी) वै देवरथः' तां. ७. ७. १४; 'देवरथो वा एष यद्यज्ञः' कौब्रा. ७. ७; 'देवरथो वा अग्नयः' कौब्रा. ५. १०,

देव-राजन्—पंविब्रा. १८. १०. ५ में ब्राह्मण-वंशीय एक राजा का नाम **देवराजन्** है। इनके साम-मन्त्रों का उल्लेख है। तु०—**राजन्यर्षि** और **वर्ण**।

देवरात वैश्वामित्र—देव से दिया हुआ, **विश्वामित्र** का वंशज शुनःशेप। ऐब्रा. ७. १७ में **विश्वामित्र** द्वारा **शुनःशेप** की पुत्र-रूप में स्वीकृति के बाद शुनःशेप का नाम देवरात वैश्वामित्र आया है। तु. 'नेति होवाच विश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र आस' ऐब्रा. ७. १७. तु०—शांश्रौसू, १५. २७।

देवल—कासं. २२. ११ में एक ऋषि के रूप में देवल का उल्लेख मिलता है। तु०—**दैवत**।

देवलोक—'त्रयो वै देव लोकाः' गो. उ. १. १; 'सप्त वै देवलोकाः' ऐब्रा. २. १७; 'चतस्रो दिशस्त्रय इमे लोकाः एते वै सप्त देवलोकाः' शब्रा. १. २. ४. ४; 'एकविंशतिर्वै देवलोकाः। द्वादश मासाः पञ्चर्तवः 'त्रय इमे लोकाः'। असावादित्य एकविंशः' तैब्रा. ३. ८. १०. ३.,=वेदिः, शब्रा. ८. ६. ३. ६;=इन्द्र, कौब्रा. १६. ८;=आदित्य, कौब्रा. ५. ७;

देववन्त्—ऋग्वेद की एक दान-स्तुति ७. १८. २२ में देववन्त् को **सुदास्** का पूर्वज कहा गया है; स्पष्टतः वे उनके पितामह थे; किंतु यदि **पिजवन** को **सुदास्** का पिता और **दिवोदास** को पितामह माना जाय तो वे प्रपितामह रहे होगें; और **वध्र्यश्व** के पिता रहे होंगे। और तब वंशानुक्रम यों होगा : **देववन्त्, वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास्**। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १७१; गेल्डनर, वैस्तू, २. १३८।

देववात—देवों का प्रिय। ऋग्वेद ३. २३. २ में **भरत** राजा का नाम देववात है, जिन्होंने **दृषद्वती, सरस्वती** और **आपया** के तट पर यज्ञ किया था। तु०—आल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०९; पिशल, वैस्तू—२. २१८

देववाहन—'मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते' शब्रा. १. ४. ३. ६;

देवविद्या—देवों से संबद्ध विद्या। छाउ. ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में विद्याओं की सूची में **देवविद्या** की भी गणना की गई है।

देवविश् 'मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः' कौब्रा. ७. ८।

देवश्रवस्—ऋग्वेद ३. २३. २, ३. में **देववात** के साथ एक अन्य **भरत** राजा का नाम देवश्रवस् है; इन्होंने भी **दृषद्वतो, सरस्वती** और **आपया** के तट पर **देववात** के साथ यज्ञ किये थे। अनुक्रमणी में इन्हें **यम** का पुत्र कहा गया है; और ऋग्वेद के एक सूक्त १०. १७ का ऋषि भी बताया गया है।

देवसत्य—'एतद् वै देवसत्यं यच्चन्द्रमाः' कौब्रा. ३. १.

देवसव—'यो वै सोमेन सूयते स देवसवः'। यः पशुना सूयते स देवसवः' तैब्रा. २. ७. ५. १.

देवातिथि काण्व—**कण्व** का वंशज। पंविब्रा. ९. २. १९. में साममन्त्रों के द्रष्टा एक ऋषि का नाम **देवातिथि काण्व** है। इन मन्त्रों के बल पर उन्होंने कूष्माण्डों को गौओं के रूप में बदल दिया था, जिससे वे अपने पुत्र के साथ मरुस्थल में भोजन पा सके थे, जहाँ कि शत्रुओं ने उन्हें डाल दिया था। वे ऋग्वेद के एक सूक्त ८. ४ के संमानित द्रष्टा भी हैं। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ६१।

देवापि आर्ष्टिषेण **ऋष्टिषेण** का वंशज। ऋग्वेद के एक सूक्त १०. ९८ और निरुक्त २. १० में **देवापि आर्ष्टिषेण** का उल्लेख है। निरुक्त के अनुसार दो कौरव राजा **देवापि** और **शंतनु** भाई थे। बड़े **देवापि** थे, फिरभी **शंतनु** ने अपना अभिषेक कराया; फलतः उनके राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा न हुई। ब्राह्मणों द्वारा इसका कारण बताने पर उन्होंने **देवापि** को राज्य देना चाहा। **देवापि** ने राज्य तो स्वीकार नहीं किया, किंतु पुरोहित के रूप में उन्होंने यज्ञ कराया, जिससे वर्षा हो गई। बृहद्देवता ७. १४८[1] में भी यही कथा है; किंतु वहां **देवापि** के राजा न बनने का कारण चर्मरोग को बताया गया है। आर्ष-

[1] मैकडानल के नोट के साथ।

काव्य और परवर्ती लोककथाओं में इसके आधार पर दो भिन्न कथाएं विकसित हुई हैं। एक के आधार पर कुष्ठ रोग के कारण **देवापि** को राज्य नहीं मिला था; दूसरी के आधार पर युवावस्था में ही तप करने के कारण उन्होंने राज्य नहीं लिया था: द्र–महाभारत, ५. ५०५४ एवं आगे=१४९, १५ एवं आगे, यहां **शांतनु** नाम है: अग्नि पु०, ३४; ब्रह्म पु०, १३. ११४, ११८ और विष्णु पु० शंतनुः: मत्स्य पु०, १. ३९ एवं आगे; भागवत, ९. २२. १२, १३ और वायु पु०, २३४, २३७, दूसरी कथा: महाभारत १. ३७५१=९४. ६२; ९. २२८५=४०. १, वायु पु० २. ३७. २३० आदि। आर्षकाव्य ने बाल्हीक और **आर्ष्टिषेण** (देवापि के पैतृक नाम को यहां ग्रहण कर) को इनके भाइयों के रूप में लिखा है। इन लोगों को **प्रतीप** का पुत्र बताया गया है। संभवतः जीग[1], का यह मत ठीक है कि **प्रतीप** के पुत्र **देवापि** और **ऋष्टिषेण** के पुत्र **देवापि** की कथाओं को एक में मिलाकर उलझा दिया गया है, किंतु इन कथाओं से यथार्थ इतिहास को निकालना, जैसा कि पार्जिटर[2] ने प्रयत्न किया है, बहुत कठिन है।

ऋग्वेद के उक्त सूक्त के अनुसार **देवापि** ने अवश्यमेव शंतनु के लिए यज्ञ किया था; ऋ० १०. ९८. ११ में उन्हें **औलान** कहा गया है, किंतु वहां दोनों के भाई होने का उल्लेख नहीं है; और न यही संकेत है कि देवापि ब्राह्मण न होकर एक क्षत्रिय थे। जीग[3],—जो निरुक्त के आधार पर उक्त सूक्त की व्याख्या करते हैं—कहते हैं कि वे क्षत्रिय थे, और बृहस्पति नें उन्हें पुरोहित के रूप में कार्य करने के लिए समर्थ बनाया था, क्योंकि उस सूक्त में उनके पौरोहित्य का उल्लेख जान पड़ता है। किंतु यह मत चिन्त्य है। विवरण: म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२, २७२ एवं आगे; वेबर, इस्टू० १. २०३; लुड्विग, ट्रां०, ऋ०, ३. १९२ एवं आगे; मैकडानल, बृ० दे०, १. २९; त्सिमर, आले०, १३१, १३२।

देविका—'अथैष कः प्रजापतिस्तद् यद् देव्यश्च कश्च तस्माद् देविकाः पञ्च भवन्ति। पञ्च हि दिशः' शब्रा. ९. ५. १. ३९; 'छन्दांसि वै देविकाः' कौब्रा. १९. ७;

देवी—द्र०—**देव**।

देवृ—देवर। बड़े भाई की पत्नी का जिन लोगों पर अधिकार बताया गया है, उनमें पति की बहनों (ननदों) के साथ पति के भाइयों=देवरों का भी उल्लेख आता है: ऋ० १०. ८५. ४६; तु०—**पति**; किंतु साथ ही साथ देवर के प्रति श्रद्धा: ऋ० १०. ८५. ४४; और मैत्री की भावना अवे, : १४. २. १८; (तु०–१४. १. ३९) का भी निर्देश है। पति की मृत्यु के बाद देवर द्वारा पुत्रोत्पादन का उल्लेख आया है: ऋ० १०. ४०. २, तु०–१०. १८. ८[1] देवर के प्रसङ्ग में पत्नी के भाई का उल्लेख नहीं मिलता।

देश—वासं के विवादास्पद ३४. ११ मन्त्र में, जहां **सरस्वती** और उसकी पांच सहायक नदियों का उल्लेख है, तथा ऐतरेय ब्राह्मण के एक बाद के स्थल ८. १० में देश शब्द का उल्लेख है; किंतु इसका प्रयोग विशेषतः उपनिषदों और सूत्रों के पहले नहीं आता: बृउ, ४. १. १६; ४. २. ३; शांश्रौसू, ४. १४. ६; काश्रौसू, १५. ४. १७ आदि; 'देशीय': कात्यायन, २२. ४. २२; लाश्रौसू, ८. ६. २८। वासं में प्रयुक्त **देश** शब्द **सरस्वती** को सिन्धु के रूप में मानने के मत को काट देता है; क्योंकि इस शब्द से स्पष्ट होता है कि ऋषि मध्यदेश की ओर संकेत कर रहा है: जिसे कि यजुर्वेद का प्रमुख कार्य-क्षेत्र माना जा सकता है। तु०—त्सिमर, आले, १०; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर १७४।

देष्ट्री—कुछ स्थलों पर देष्ट्री शब्द दात्री, सरस्वती, या धर्माद्युपदेशकर्त्री के अर्थ में आया है: ऋ० १०. ८५. ४७; अ० वे० १०. १०. १७; ११. ४. १२; पारगृसू, १. ४।

देही—ऋग्वेद के ६. ४७. २; ७. ६. ५ सूक्तों में देही शब्द शत्रु के विरुद्ध बनाये गए सुरक्षात्मक पुरों के घेरे को, विशेषतः मिट्टी की दीवारों को जताता है। तु०—**पुर्**। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ३४४; त्सिमर, आ० ले, १४३।

दैधिषव्य—तैसं के एक मन्त्र ३. २. ४. ४; काश्रौसू, २. १. २२; कौसू, ३–५; १३७. ३७ में **दैधिषव्य** शब्द आया है। राथ[2] के अनुसार इसका अर्थ है "पुनर्भू स्त्री का पुत्र," किंतु **दिधिषू** शब्द से व्युत्पन्न होने के कारण इसका अर्थ होगा "बड़ी बहन से पहले विवाहिता छोटी बहन का पुत्र"[3]।

[1] दी ज़ा० ऋ० १३६।
[2] जराएसो०, १९१०, ५२, ५३।
[3] उक्त, १२९–१४२।

[1] केगी, देर ऋग्वेद, टि० ५१; लानमान, संस्कृत-रीडर, ३८५; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ९४८; तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्द्श्शाफ़्तुस नामन, ५१६।
[2] वोबू।
[3] द्र०—अजफि ४३१ टि०।

दैयांपाति—**दयांपात** का वंशज। शब्रा ९. ५. १. १४ के अनुसार एक पूर्वीय आचार्य का नाम दैयांपाति है; **शाण्डिल्यायन** ने इन्हें अग्नि-वेदिका के निर्माण के संबंध में शिक्षा दी थी। **दय्यांपाति** के रूप में वही पैतृक नाम **प्लक्ष** को तैब्रा ३. १०. ९. ३–५ में दिया गया है, जो **अत्यंहस्** के समकालीन बताये गए हैं।

दैर्घश्रवस—सामविशेष। दीर्घश्रवा वै राजन्य ऋषिर्ज्योगपरुद्धोऽशनायंश्चरन् स एतद्दैर्घश्रवसमपश्यत् तेन सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽन्नाद्यमवारुन्ध सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽन्नाद्यमवरुन्धे दैर्घश्रवसेन तुष्टुवानः' तां. १५-३-२५।

१. **दैव**—पुंल्लिङ्ग में यह शब्द छाउ. ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में विद्याओं की सूची में आया है। भाष्यकार शंकर के अनुसार इसका अर्थ 'उत्पात-ज्ञान' है। वोबू का सुझाव है कि यहां यह शब्द विशेषण के रूप में आया है। यही मत लिटिल[1] और बार्टलिक[2] का है, यद्यपि इन्होंने "दैवनिधि" के रूप में अनुवाद नहीं किया है।

२. **दैव**—माध्यंदिनशाखीय वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों २. ५. २२; ५. ५. २८ में पुराकथात्मक **अथर्वन्** का पैतृक नाम **दैव** आया है।

दैवल—**देवल** का वंशज। पंविब्रा १४. ११. १८ में **असित** का पैतृक नाम दैवल है।

दैववात—**देववात** का वंशज। संभवतः ऋग्वेद में **सृञ्जय** या **सृञ्जयों** के राजा का नाम **दैववात** है। उन्हें अग्नि का उपासकः ऋ० ४. १५. ४ और **तुर्वशों** तथा **वृचीवन्तों** पर विजयी कहा गया है: ६. २७. ७। त्सिमर[3] के अनुसार उनका नाम **अभ्यावर्तिन् चायमान पार्थव** (=पृथु का वंशज) था; किंतु हिल्लेब्रांड्ट[4] के अनुसार यह संदेहास्पद है, यद्यपि इन्होंने भी सृञ्जयों को सिन्धु के पश्चिम में **दिवोदास** के पास के प्रदेश में माना है। ध्यान देने की बात तो यह है कि **भरत** राजा **देववात** से इनके नाम की समानता है; **कुरु** और **सृञ्जय** संबद्ध थे; अतः इस निष्कर्ष को ठुकराया नहीं जा सकता: शब्रा० २. ४. ४. ५।

तु०—विवरण ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०२, ४०५; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १५३।

[1] ग्रामेटिकल इण्डेक्स, ८३।
[2] छाउ. का अनुवाद।
[3] आ० ले, १३३, १३४।
[4] वैमि. १. १०५. १०६।

दैवातिथ—सामविशेष। 'देवातिथिः सपुत्रोऽशनायंश्चरन्नरण्य उर्वारूण्यविन्दत् तान्येतेन साम्नोपासीदत् ता अस्मै गावः पृश्नयो भूत्वोदतिष्ठन् यदेतत् साम भवति पशूनां पुष्टचै' तां० ९. २ १९.

दैवाप—**देवापि** का वंशज। शब्रा. १३. ५. ४. १ और जैउब्रा. ३. ४०. १ में **इन्द्रोत** का पैतृक नाम दैवाप है। किंतु ऋग्वेद १०. ९८ के **देवापि** के साथ इनका संबन्ध नहीं मिलता। द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे., ४२. २४०।

दैवावृध—**देवावृध** का वंशज। ऐब्रा ७. ३४ में **बभ्रु** का पैतृक नाम दैवावृध है।

दैवी सभा—'तं वागेव भूत्वाग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वादित्यः श्रोत्रं भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः। एषा वै दैवी परिषद् दैवी सभा दैवी संसत्' जैउब्रा० २. ११. १२-१३.

दैवोदास—द्र०—**दिवोदास**। तु० 'अयं त इन्द्र सोम इति दैवोदासं (साम)' तां. ९. २. ८.

दैवोदासि—**दिवोदास** का वंशज। कौब्रा २६. ५ और कौउ ३. १ में **प्रतर्दन** का पैतृक नाम दैवोदासि है। यह कहना कठिन है कि क्या यहां प्रसिद्ध **दिवोदास** से ही तात्पर्य है। तु०—वेबर, इस्टू, १. २१४।

दोषा—संध्या। ऋग्वेद–काल से ही **उषस्** की विलोम दोषा का उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ३४. ३; १. १७९. १; २. ८. ३; ४. २. ८; ५. ५. ६; ५. ३२. ११; ६. ५. २ आदि अवे, ६. १. १; निरुक्त, ४. १७। छाउ ६. १३. १ में "प्रातर्" के विलोम में 'दोषा' का उल्लेख है।

दोह—दुहने के अर्थ में अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में सामान्य शब्द दोह है: अवे. ४. ११. ४, ९. १२; ५. १७. १७; ८. ९. १५ यहाँ आलंकारिक रूप से पाँच दोहों का उल्लेख है। ऋ० १०. ४२. २ में दोह शब्द सामान्य अर्थ में आया है; तु० वासं, ८. ६२, तैब्रा, १. १. १०. २; २. २. ९. ९ आदि। सूत्रों में **प्रातर्दोह** और **सायंदोह** का उल्लेख है: का.श्रौ.सू, ४. २. ३८ आदि। दोहन शब्द भी उसी अर्थ में आया है: ऋ० ८. १२. ३२; शब्रा, ९. २. ३–३०; का.श्रौ.सू, ४. २. ३७ आदि। द्र०—गौ।

दौरेश्रवस—**दूरेश्रवस्** का वंशज। पंविब्रा. २५. १५. ३ में उल्लिखित नागयज्ञ के पुरोहित **पृथुश्रवस्** का पैतृक नाम दौरेश्रवस है।

दौरेश्रुत—**दूरेश्रुत्** का वंशज। पंविब्रा. २५. १५.

३ में उल्लिखित नाग-यज्ञ में पुरोहित तिमिरर्घ का पैतृक नाम दौरेश्रुत है।

दौर्गह—द्र०—दुर्गह।

दौःषन्ति—दुःषन्त का वंशज। ऐब्रा. ८. २३ और शब्रा. १३. ५. ४. ११ में भरत का पैतृक नाम दौःषन्ति है।

द्यावापृथिवी—'यदा वै द्यावापृथिवी संजानाथेऽथ-वर्षति' शब्रा. १. ८. ३. १२; 'प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी' शब्रा. १४. २. २. ३६; 'इमौ वै लोकौ रेतःसिचाविमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो वा अयं (लोकः) ऊर्ध्वं रेतः सिञ्चति धूमं सामुत्र वृष्टिर्भवति तामसावमुतो वृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजायन्ते' शब्रा. ७. ४. २. २२.

द्युतान मारुत—मरुतों का वंशज। वासं. ५. २७, तैसं. ५. ५. ९. ४ (तु०—६. २. १०. ४) और कासं. १५. ७. में एक दैवी पुरुष का नाम द्युतान मारुत है। शब्रा. ३. ६. १. १६. में इन्हें वायु कहा गया है, जब कि पंविब्रा. १७. १. ७ (तु०—६. ४. २) में उन्हें एक साम-मन्त्र का रचयिता बताया गया है। अनुक्रमणी के अनुसार वे ऋग्वेद के एक सूक्त ८. ९६ के द्रष्टा ऋषि हैं। तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, ३. ३११; इस्तू; ३. २२०

द्युम्न—पिशल[1] के अनुसार ऋग्वेद ८. १९. १४ में द्युम्न शब्द उडुप या नौका के अर्थ में आया है।

द्यूत—अथर्ववेद एवं सूत्रों में द्यूत=अक्षक्रीडा का उल्लेख आया है : अवे. १२. ३. ४६; काश्रौसू. १५. ६. २; लाश्रौसू., ४. १०. २३ आदि। द्र०—अक्ष।

द्योतन—सायण के अनुसार ऋग्वेद ६. २०. ८ में एक राजा का नाम द्योतन है; यद्यपि इसका अर्थ दीप्ति भी किया जा सकता है[2]; किंतु सायण का मत ठीक प्रतीत होता है। उसी स्थल पर उल्लिखित अन्य व्यक्तियों—वेतसु, दशोणि, तूतुजि और तुग्र—से उनका क्या संबन्ध है, यह नहीं बताया जा सकता।

द्यौतान—सामविशेष। 'द्युतानो मारुतस्तेषां गृहपति-रासीत् त एतेन स्तोमेनायजन्त ते सर्वं आर्ध्नुवन् तदेतत् साम भवत्यृद्ध्या एव' तां. १७. १. ७.

द्रप्स—सायण के अनुसार ऋग्वेद-काल से ही द्रप्स शब्द बूंद के अर्थ में आम रहा है : ऋ. १. ९४. ११ "अग्नि की बूंद"; ५. ६३. ४ "वर्षा की बूंद"; ७. ३३. ११ रेतस्, शब्रा., ६. १. २. ६; द्रप्सिन्, ११. ४. १. १५; तै० सं०, ३. ३. १०. २ उरुद्रप्स; "दधि की बूंद" : अवे. १८. ४. १८ का सायण-भाष्य; ला. श्रौ. सू., ३. २. ४ पर अग्नि-स्वामी का भाष्य। उनके अनुसार स्तोक या अल्प के विपरीत द्रप्स शब्द बड़ी बूंद का बोधक है; इसीलिए "दधि-द्रप्स" जैसे शब्दों का उल्लेख मिलता है : शब्रा., ९, २. ३. ४०। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर "द्रप्स" शब्द सोम की बड़ी बूंद या सोम ही को जताता है : ऋ. ९. ७८. ४; ९. ८५. १०; ९. ८९. २; ९. ९७. ५६; ९. १०६. ८; १० ११. ४; १०. १७. ११, १२; तु०—तै. सं. ३. ३. ९. १ तु०—'असौ वा आदित्यो द्रप्सः' शब्रा. ७. ४. १. २०.

ऋग्वेद के दो स्थलों (४. १३. २; द्रप्सिन्, १. ६४ २) पर राथ ने द्रप्स को झंडे के अर्थ में लिया है द्र०—वोबू; बार्टलिक, डिक्शनरी, "द्रप्स", "द्रप्सिन्"; ओल्डेन-बर्ग ने भी इसे मान लिया है[1]। दूसरी ओर गेल्डनर[2] का कहना है कि यह शब्द वहां धूलि के अर्थ में आया है; किंतु यह चिन्त्य है। मैक्समूलर ने ऋ० १. १६४. २ पर "वर्षा की बूंद" के अर्थ में इसे लिया है[3]।

द्रविण—ऋग्वेद-काल से ही द्रविण शब्द धन के अर्थ में आता रहा है। अन्य पदार्थों के साथ द्रविण की प्राप्ति के लिए भी अनेकशः प्रार्थनाएँ हैं : ऋ० ४. २३. ४; ९. १०९, ९; ४. ५. ११; १०. ७०. ७; अ० वे० १८. ३. १ आदि।

द्रापि—ऋग्वेद १. २५. १३, १. ११६. १०, ४. ५३. २, ९. ८६. १४, ९. १००. ९, में एवं अवे; ३. १३. १ में द्रापि शब्द परिधान के अर्थ में आया है।[4] सायण ने इसका अर्थ कवच किया है, जो अनावश्यक है।

द्राह्यायण—कल्पसूत्रों की एक शाखा द्राह्यायणों की है।

द्रु—लकड़ी से बने एक पात्र का नाम। ऋ० १. १६१. १; ५. ८६. ३; ८. ६६. ११; १०. १०१. १० में "उलूखल" अर्थ है। ५. ८६. ३ में बार्टलिङ्क ने इसे

---

[1] त्सादामौगे; ३५. ७२० एवं आगे।

[2] ग्रिफिथ, हिम्स आ. दि ऋ, १. ३८०। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सा. दा. मौ. गे. ५५, ३२८।

[1] द्र०—सेबुई ४६. ३५७; ऋग्वेद १. ६४. ६५.

[2] वैस्तू., ३. ५७, ५८; ऋग्वेद ग्लासर, ८८।

[3] द्र०—सेबुई, ३२. १०४; तु०—मैकडानल, वैमा. पृ० ८०, १०५, ११३।

[4] द्र०—वोबू; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स्, ५. ४७२; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक, एँटीक्विटीज, ३३३। तु०—मैक्स मूलर, ऐंसंलि०, ५३६; पिशल, वैस्तू, २. २०१, २०२।

लकड़ी की डांड़ी के अर्थ में लिया है। प्रायः इसका उपयोग सोम-यज्ञ के अवसर पर होता था : ऋ० ९. १. २; ९. ६५. ६; ९. ९८. २। हिल्लेब्रांड्ट[1] के अनुसार इस पात्र का उपयोग चलनी से सोमरस छानने के समय होता था। तैब्रा १. ३. ९. १ में यह शब्द सामान्यतः लकड़ी के अर्थ में आया है; समास में : ऋ० २. ७. ६; ६. १२. ४ आदि।

द्रु-घण—ऋग्वेद के मुद्गल-सूक्त १०. १०२. ९ और अथर्ववेद ७. २८. १ में द्रुघण शब्द आया है। इसका अर्थ संदिग्ध है। यास्क, निरुक्त ९. २३ के अनुसार इसका अर्थ 'लकड़ी का घन' है; राथ[2] के अनुसार भी इसका अर्थ "लकड़ी की यष्टि" है। गेल्डनर[3] का विचार है कि यह लकड़ी का बैल था, जिसे मुद्गल ने रेस में जाने के समय दूसरे के बैल के स्थान पर रखा था। किंतु उस लोकाख्यान की ऐसी व्याख्या चिन्त्य है।[4] ह्विटनी ने इसे "वृक्ष काटने का शस्त्र" माना है; उन्होंने सायण के अर्थ (काटने का शस्त्र) से यह अर्थ निकाला है; द्र—ट्रां० अवे, ४०७।

द्रुपद—लकड़ी की दीवार या यूप। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में द्रुपद शब्द आया है : ऋ० १. २४. १३; ४. ३२. २३; अवे, ६. ६३. ३; ६. ११५. २; १९. ४७. ९; वासं २०. २०। शुनःशेप को यज्ञ के लिए तीन यूपों से बांधा गया था : ऋ० १. १४. १३। चोरों को दण्ड देने के लिए यूपों से बांध दिया जाता था : अवे, १९. ४७. ९; १९. ५०. १; तु०—६. ६३. ३ = ६. ८४. ४।[5]

द्रुम—षब्रा. ५. ११ और निरुक्त ४. १९; ५. २६; ९. २३ से पहले द्रुम शब्द का प्रयोग वृक्ष के अर्थ में नहीं मिलता।

द्रुवय—लकड़ी का। अथर्ववेद में द्रुवय शब्द दुन्दुभि का विशेषण है : अवे ५. २०. २; तु०—११. १. १२, जहां संभवतः "उपश्वस" या बजाने वाला को यह जताता है, किंतु पाण्डुलिपियों में "द्रुवये" और पैप्पलाद शाखा में द्रुये पाठ हैं।

द्रुहन्—लकड़ी काटने वाला। ऋग्वेद १. १२७. २ में द्रुहन्तर के रूप में यह शब्द आया है, जहाँ इसकी व्याख्या में "शत्रु विजयी" अर्थ किया गया है; किंतु जहाँ यह "परशु" या कुल्हाड़ी का विशेषण है; वहाँ "सशक्त लकड़ी काटने वाला औजार" के अर्थ में इसका प्रयोग माना जा सकता है; किंतु इस अर्थ में स्वर की कठिनाई है।[1]

द्रुह्यु—एक जन के नाम के रूप में द्रुह्यु शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है। ऋग्वेद १. १०८. ८ में बहुवचन में यह यदु, तुर्वश, अनु और पूरु लोगों के साथ आया है, जिससे यह सुझाव दिया गया है कि पञ्चजनों में से एक द्रुह्यु भी है।[2] सुदास् से पराजित राजाओं में द्रुह्यु राजा भी था, जो कहीं जल में डूब गया था : ऋ० ७. १८। एक दूसरे स्थल ८. १०. ५ पर एकवचन में द्रुह्यु, अनु, तुर्वश और यदु इनका उल्लेख है, जब कि ६. ४६. ८ में पूरु और द्रुह्यु का उल्लेख है। द्रुह्यु लोग उत्तर-पश्चिम के निवासी थे।[3] परवर्ती परंपरा में गांधार से उनका संबन्ध बताया गया है।[4]

विवरणः लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०५; मैकडानल, वैमा. पृ० १४०।

द्रोण—ऋग्वेद में द्रोण शब्द लकड़ी के पात्र का बोधक है : ऋ० ६. २. ८; ६. ३७. २; ६. ४४. २०; ९. ९३. १; निरुक्त, ५. २६; बहुवचन में यह प्रायः सोम रखने के पात्र को जताता है : ऋ० ९. ३. १; ९. १५. ७; ९. २८. ४; ९. ३०. ४; ९. ६७. १४ आदि; तु० त्सिमर, आ० ले०, २८०। सोम रखने के बड़े पात्र को द्रोण-कलश कहा गया है : तैसं, ३. २. १. २; वासं, १८. २१; १९. २७; ऐब्रा, ७. १७. ३२; शब्रा. १. ६. ३. १७ आदि। कभी-कभी अग्नि-वेदिका द्रोणाकार बनाई जाती थी : मैसं., ३, ४. ७; कासं., २१. ४; शब्रा., ६. ७. २. ८।

द्रोणाहाव—ऋग्वेद १०. १०१. ७ में उस अवत या कूप का विशेषण द्रोणाहाव है, जिसमें पानी निकालने वाले लकड़ी के डोलचे लगे रहते थे। तु०—त्सिमर, आ० ले, १५७।

द्वादश—बारह का। ऋग्वेद ७. १०३. ९ में वर्ष का नाम "द्वादश" है; क्योंकि उसमें बारह महीने होते हैं।

---

[1] वैमि, १. १९१, १९२।
[2] वोबू।
[3] वैस्तू, २, ३, ४।
[4] तु०—फान ब्राडके, त्सादामौगे०, ४६. ४६२; ब्लूमफील्ड, वही ४८. ४५६; फ्रैंक, विओज, ८. ३४२।
[5] तु०—त्सिमर, आले, १८१, १८२; द्र० तस्कर।

[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, सेबुई, ४६. १३२; ऋग्वेद-नोटन १. १३०।
[2] तु०—त्सिमर, आ० ले, १२२, १२५; हापकिन्स, जअओसो. १५. २५८ एवं अग्रिम।
[3] द्र०—राथ, त्सुर लितरात्यूर उन्द गेशिश्ते देस वेद १३१–१३३.
[4] द्र०— पार्जिटर, ज. रा. ए. सो., १९१०, ४९।

द्र०—**नक्षत्र**। द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे. ४८, ४६५ एवं आगे।

(१) द्वापर—ऐब्रा. ७. १५. में **कलि, द्वापर, त्रेता** और **कृत** इन चारों का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि सोता हुआ **कलि** होता है, जागता हुआ **द्वापर** होता है, उठता हुआ **त्रेता** होता है, और चलता हुआ **कृत** होता है; अतएव चलते रहो, चलते रहो—"कलिःशयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति"। तु०—**त्रेता** और **युग**।

(२) द्वापर—द्र०—**अक्ष**।

द्वार्—ऋग्वेद-काल से ही दरवाजे के अर्थ में द्वार् शब्द आम रहा है: ऋ० १. १३. ६; अवे., ८. ३. २२; १४. १. ६३; वासं., ३०. १०; शब्रा., ११. १. १. २; १४. ३. १. १३ आदि। परवर्ती रूप द्वार भी उसी अर्थ में है: शब्रा., १. ६ १. १९; ४. ३. ५. ९; ४. ६. ७. ९; ११. ४. ४. २ आदि; अवे., १०. ८. ४३ में नवद्वार या शरीर के नव छिद्रों का उल्लेख है। तु०—**गृह**। द्वार को बन्द करने के लिए प्रयुक्त द्वार-पिधान का भी उल्लेख मिलता है: शब्रा., ११. १. १. १ तु० 'द्वार-बाहु:' लाश्रौसू., १. ३. १; २. ३. ९।

द्वारप—द्वारपाल। ऐब्रा., १. ३०. में द्वारप शब्द आलंकारिक रूप में आया है, जहाँ विष्णु को देवों का **द्वारप** कहा गया है। इसके उपरान्त द्वारप शब्द छाउ. ३. १३. ६ में आता है।

द्वारपिधान—शब्रा. ११. १. १. १. और काश्रौसू. २६. ७. ५६ में दरवाजा बन्द करने के लिए प्रयुक्त अर्गला को द्वारपिधान कहा गया है।

द्वारबाहु—लाश्रौतसूत्र १. ३. १; २. ३. ९ में दरवाजे की चौखट के ओर के खड़े काष्ठों को द्वारबाहु कहा गया है।

द्विगत भार्गव—भृगु का वंशज। पंविब्रा १४. ९ में एक साम-मन्त्र के द्रष्टा ऋषि का नाम द्विगत भार्गव है; उसी साम-मन्त्र के बल पर वे दो बार स्वर्ग-लोक में गए थे।

द्विज—दो बार जन्मा हुआ। द्विज शब्द बाद में आर्यों और विशेषतः ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त हुआ है; किंतु वैदिक साहित्य में केवल एकबार अवे. के एक दुरूह स्थल १९. ७१. १ में यह शब्द आया है।[1]

द्विपाद्—दो पैर वाला। ऋग्वेद-काल से ही चतुष्पाद् =पशु के साथ द्विपाद् शब्द मनुष्य के अर्थ में आया है: ऋ० १. ४९. ३; ३. ६२. १४; ८. २७. १२; १०. ९७. २०; १०. ११७. ८; अवे, २. ३४. १; १०. १. २४; वासं., ८. ३०; ९. ३१; १३. १७; १४. ८ आदि। तु० 'चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षापरपक्षौ पादौ' गो.पू. २. ८; 'तस्माद् द्विपाच्चतुष्पादमत्ति' तैब्रा. २. १. ३. ९।

द्विबन्धु—ऋग्वेद के एक दुरूह सूक्त १०. ६१. १७ में द्विबाहु शब्द राथ[1] और ग्रासमान[2] के अनुसार एक व्यक्ति का नाम है; किंतु लुड्विग[3] इसे 'दो बन्धुत्व वाले' इस अर्थ में लेते हैं।

द्विराज—दो राजाओं के बीच का युद्ध। अवे. ५. २०. ९ में द्विराज शब्द आया है। तु०—**दाशराज्ञ**।

द्विरेतस—दो बीज वाला। गर्दभ और अश्वा दोनों का विशेषण **द्विरेतस्** है: गर्दभः ऐब्रा., ४. ९; शब्रा., ६. ३. १. २३; तु०—**गर्दभ**। अश्वा: पंविब्रा, ६. १. ४।

द्विष्—द्वेष करने वाला शत्रु। ऋग्वेद काल से ही द्वेषियों के विनाश और उनसे अपनी रक्षा करने के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं: ऋ० १. ३९. १०; ८. ६०. १; ६. २. ११; ७. ३४. १३; १०. १२६. २; अवे., २. ६. ५; पंविब्रा., १५. ४. ४। किंतु पारस्परिक द्वेषभाव को दूर करने के लिये भी मन्त्र पाये जाते हैं। अथर्ववेद के सांमनस्य सूक्त ३. ३०. ३ में कहा गया है कि 'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वस।' अर्थात् भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे। तु०—शब्रा., १. ५. ४. १२; १. ६. ३. २।

द्वीप—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में द्वीप शब्द आम है: ऋ० १ १६९. ३; कासं., १३. २; शब्रा., १२. २. १. ३; लाश्रौसू., १. ६. १०। 'वैदिक इंडेक्स' के लेखकों ने द्वीप को बड़ी नदियों के बीच बालू का कछार मानते हुए कहा है कि वैदिक आर्यों को भूगोल का ज्ञान नहीं था; क्योंकि वे मेरु के चारों ओर **चार, सात, तेरह** द्वीप मानते हैं;[4] किंतु यह चिंत्य है, क्योंकि समुद्री व्यापार का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में पाया जाता है। द्र०—**समुद्र**।

द्वीपिन्—चीता। अथर्ववेद और मैत्रायणी संहिता में द्वीपिन् या चीते का उल्लेख मिलता है। शब्द का

---

[1] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे, १००८; त्सिमर, आ०ले, २०४; द्विजन्मन् या द्विजाति शब्द भी पहले नहीं आते; यह भावना आरम्भिक नहीं प्रतीत होती।

[1] वोबू।
[2] वोर्टेरबूख; ट्रां० ऋ०, २. ४७५।
[3] ट्रां० ऋ०, २. ६४३ और ५. ५२६।
[4] तु०—त्सिमर, आ०ले, २५६।

असली अर्थ है "चितकबरा" : अवे, ४. ८. ७; ६. ३८. २; १९. ४९. ४; सर्वत्र व्याघ्र के साथ;, मैसं, २. १. ९ तु० त्सिमर, आ० ले० ८०

द्वेषस्—द्विष् के समान ही द्वेष करने वाले शत्रु को द्वेषस् कहा गया है। इन्हें मारकर अभय प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। ऋ० ४७. १२ कहा गया है कि "हे देवो, द्वेषियों को हमसे दूर करो" : ऋ० १०. ६३. १२; तु० वासं, ५. २६; अवे ६. ४. २। द्र० ऋ० १. ३४. ११; २. ३३. २; ४. ४० ७; ६. ४७. १२; १०. ६३. १२; वासं, ५. २६; अवे ६. ४. २; वासं, २१. ४३; २८. १५ आदि।

द्वैगत—सामविशेष। 'द्विगद्वा एतेन भार्गवो द्विः स्वर्गं लोकमगच्छद् आगत्य पुनरगच्छद् द्वयोः कामयोरवरुद्ध्यै द्वैगतं क्रियते' तां० १४. ९. ३२.

द्वैत-वन—द्वितवन का वंशज। मत्स्यों के राजा ध्वसन् का पैतृक नाम द्वैत-वन है, जिनके अश्वमेघ का उल्लेख शब्रा १३. ५. ४. ९ में आया है।

द्व्युदास—सामविशेष। 'द्व्युदासं भवति स्वर्गस्य वा एतौ लोकस्यावसानदेशौ पूर्वेणैव पूर्वमहः संस्थापयन्त्युत्तरेणोत्तरमहरभ्यतिवदन्ति' तां० ५. ७. ४.

द्व्योपश—द्र०—ओपश।

ध

धन—ऋग्वेद में पुरस्कार के अर्थ में, युद्ध के धन की अपेक्षा अधिकतर रेस के पुरस्कार के अर्थ में धन शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ० १. ८१ ३; ६. ४५. २; ८. ८०. ८; ९. ५३. २; ९. १०९. १०।[1] द्यूत के प्रसङ्ग में यह कील के अर्थ में भी आया है : ऋ० १०. ३४. १०; अवे, ४. ३८. ३। कुछ स्थलों पर यह संघर्ष के अर्थ में आया है : ऋ० १. ३१. ६; ५. ३५. ७; ७. ३८. ८; ८. ५. २६; ८. ८. २१; ८ ४९. ९; ८. ५०. ९; १०. ४८. ५ आदि। किंतु प्रायः संपत्ति या उपहार के अर्थ में यह शब्द आता है : ऋ० १. ४२. ६; १० १८. २; १०. ८४. ७; अवे, १. १५. ३; २. ७. ४; ३. १५. २; ५. १९. ९; ६. ८१. १; ७. ८१. ४; ८. ५. १६ आदि। किंतु कुछ स्थलों पर संपत्ति अथवा पुरस्कार की दृष्टि से यह पशु-धन को भी जताता है : ऋ० १. ७४. ३; १. १५७. २ आदि। तु० 'राष्ट्राणि वै धनानि' ऐब्रा. ८. २६; 'तस्माद्धिरण्यं कनिष्ठं धनानाम्' तैब्रा. ३. ११. ८. ७.

धनंजय—धन जीतने वाला। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अग्नि इन्द्र, सोम प्रभृति को धनंजय कहा गया है : ऋ० १. ७४. ३; ३. ४२. ६; ८. ४५. १३; ९. ४६. ५, ९. ८४. ५, अवे ४. १४. २।

धनधानी—धन का कोष, खजाना। तैआ १०. ६९ में धनधानी का उल्लेख मिलता है।

धनपति—अथर्ववेद ४. २२. ३; ५. २३. २; १०. १०. ११; २. ३६. ६ में धनपति सामान्य विशेषण के रूप में आया है; किंतु शांगृह्यसूत्र २. १४ में स्पष्टतः यह कुबेर का नाम है।

धनिष्ठा—बहुत धनी। श्रविष्ठा नक्षत्र के बाद का नाम धनिष्ठा है : शान्तिकल्प, १३; शांगृसू, १. २६।

धनु—स्त्रीलिङ्ग में धनु शब्द नदी के मध्यस्थ 'रेत' के अर्थ में ऋग्वेद में कई बार आया है; किंतु आलंकारिक रूप से अन्तरिक्षस्थ बादलों को भी जताता है : ऋ० १. ३३. ४; १. १४४. ५; ८. ३. १९; १०. ४. ३; १०. २७. १७। अथर्ववेद १. १७ ४ में धनू शब्द रक्त-स्राव बन्द करने के लिए प्रयुक्त बालू के थैले को जताता है[1]।

तु०—धन्वन्।

धनुष—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में धनुष् शब्द आम है : ऋ० ८. ७२. ४; ८. ७७. ११; ९. ९९. १; १०. १८. ९; १०. १२५. ६; अवे., ४. ४. ६; ४. ६. ६; ५. १८. ८; ७. ५०. ९; वासं. १६. १०; पंविं ब्रा. ७. ५. ६; ऐब्रा., ७. १४; शब्रा., १. ५. ४. ६; ५. ३. १. ११ आदि। धनुष् वैदिक आर्यों का प्रमुख अस्त्र था : ऋ० ६. ७५. २। दाह-संस्कार की अन्तिम क्रिया थी मृतक के दाहिने हाथ से धनुस् को ले लेना : ऋ० १०. १८. ९। किसी मजबूत लचकदार लकड़ी से इसे बनाया जाता था; उसकी डोरी तांत की होती थी, जो लकड़ी के दोनों छोरों को मिलाती थी : अवे., ४. ६. ४; ऋ०, ६. ७५. ११; अवे. १. २. ३। धनुर्ज्या को कस देने पर धनुष् के दोनों अग्रभागों को आर्त्नी कहा जाता था। धनुष् का प्रयोग न करने पर डोर कसी नहीं रहती थी; प्रयोग के समय उसे कस दिया जाता था : ऋ०, १०.

[1] तु०—गेल्डनर, वैस्तू, १. १२०; पिशल, वही, १. १७१।

[1] द्र० वेबर, इस्तू, ४. ४११; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, १८; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, २५९, २६०।

१६६. ३; अवे., ६. ४२. १। वासं. १६. २२ में इन प्रक्रियाओं का वर्णन है, जहां धनुर्ज्या को चढ़ाने=आ-तन्, बाण चढ़ाने=प्रतिधा, धनुस् को खींचकर झुकाने=आ-यम् और बाण छोड़ने=अस् का उल्लेख आता है। कान के पास तक धनुर्ज्या को खींचकर बाण छोड़ा जाता था, अतएव उसे कर्ण-योनि कहा गया है: ऋ० ६. ७५. २[१]। धनुष् बनाने वाले धनुष्कार ३०. ७ और धनुष्कृत् १६. ४६ का उल्लेख मिलता है। द्र०—इषु, हस्तघ्न।

१. धन्वन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं धन्वन् शब्द धनुष् के अर्थ में आया है: ऋ० २. २४. ८; २. ३३. १०; ६. ५९. ७; ६. ७५. २; ८. २०. २; ९. ६९. १; निरुक्त, ९. १७; अवे., १. ३. ९; ४. ४. ७; ११. ९. १ आदि; वासं., १६. ९ आदि। इषुधन्व=बाण और धनुष्, आज्य-धन्व =धनुष् के लिए घृत रखने वाला, और अधिज्य-धन्व =ज्या चढ़ाए धनुष् वाला शब्द भी आते हैं। इषुधन्व: ऐब्रा., ७. १९; इषु-धन्विन्: तैसं., ५. १. २; आज्यधन्व: ऐब्रा., १. २५; और अधिज्यधन्व: शब्रा, ९. १. १. ६। तु०—धनुष्।

२. धन्वन्—मरुस्थल। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मरुस्थल के अर्थ में धन्वन् शब्द अनेक बार आया है: ऋ० २. ३८. ७; ३. ४५. १; ४. १७. २; ४. १९. ७; ४. ३३. ७; ५. ५३. ६; ५. ८३. १० समुद्र के धन्वन् का उल्लेख है: अवे., ५. १३. १; ६. १००. १; ७. ४१. १ आदि। मरुस्थल में प्यास से मरने का भी जिक्र आता है: ऐब्रा, २. १९। मरुभूमि के झरने की प्रशंसा की गई है: ऋ० १०. ४. १; तु०—६. ३४. ४ आदि; अवे., १. ६. ४; १९. २. २ ऋग्वेद १०. ८६. २० में सिन्धु और शुतुद्री=सतलज के मध्य-वर्ती बड़े रेगिस्तान का उल्लेख प्रतीत होता है। तु०—त्सिमर, आ० ले, ४७, ४८।

धमनि—ऋग्वेद २. ११. ८ में बांस या नरकट की नली के अर्थ में धमनि शब्द आया है; तु०—निरुक्त ६. २४। अथर्ववेद में नाड़ी, नस या आंत की नली के अर्थ में यह शब्द आया है: १. १७. २३; २. ३३. ६; ६. ९०. २; ७. ३५. २; तु०—छाउ, २. १९. २। कुछ स्थलों पर यह हिरा के साथ आया है: अवे, १. १७. ३; ८. ३५. २; द्र०—हिरा।

विवरण: ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, २५९, ५४६।

धरीमन्—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर धरीमन् शब्द धर्म के अर्थ में आया है: ऋ० १. १२८. १; ९ ८६. ४।

धरुण—वासं ८. ५१. में दूध पीने वाले बछड़े को धरुण कहा गया है। धरुण=धयन√धे 'पीना'। तु० 'धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमेवैतत् पृथ्वीं धयन्तमाह' शब्रा ४. ६. ९. ९।

धर्म, धर्मन्—ऋग्वेद में धर्मन्. और बाद में धर्मन् और धर्म दोनों शब्द विधान या प्रथा को जताते हैं; **धर्मन्**: ऋ० १. २२. १८; १. १६४. ४३, ५०; ३. ३. १; ३. १७. १; ३. ६०. ६; ५. २६. ६; ५. ६३. ७; ५. ७२. २ आदि; अवे., १४. १. ५१; वासं., १०. २९ आदि;[१] **धर्म**,: अवे. ११. ७. १७; १२. ५. ७; १. ३. १; तैसं., ३. ५. २. २; वासं., १५. ६; २०. ९; ३०. ६ आदि। किंतु प्रारम्भिक साहित्य में न्याय-व्यवस्था या विधान का उल्लेख अत्यल्प है। हां धर्म-सूत्रों में इसका पूरा-पूरा विवरण मिलता है।[२]

(१) फौजदारी कानून—वैदिक साहित्य में उल्लिखित अपराधों के संबन्ध में गुरुता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न विचार हैं। प्रधान अपराधों और सामान्य शारीरिक नियम भङ्ग में विभेद नहीं किया गया है: मैसं. ४. १. ९; कासं ३१. ७; कपिसंहिता, ४७. ७; तैब्रा., ३. २. ८. ११।[३]

---

[१] हापकिन्स, जअओसो, १३. २७१; होमरिक प्रथा में धनुष् को सीने के पास तक खींच कर बाण छोड़ा जाता था, द्र०—इलियड, ४. १२३; कर्ण-योनि: ऋ० २. २४. ८।
विवरण:—त्सिमर, आ० ले, २९८, २९९; हापकिन्स, उक्त, १३, २७० एवं आगे; आर्षकाव्य-कालीन धनुष् ५½ फीट का और बाण ३ फुट का होता था।

[१] तु० गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ९०।

[२] द्र० जाली, रेख्त उन्द जित्ते, फाय, दी कोइ-निग्लिशे गेवाल्त नाख देन आल्तिन्दिशन रेश्त ब्यूशर्न; व्युहलर, सेबुई. २ और १४।

[३] द्र० डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्स शाफ्तसनामन ५७९ एवं आगे जहां शारीरिक कमियों का (जैसे कि खराब नाखून, गन्दे दाँत आदि) और बड़ी बहन के रहते हुए छोटी बहन के साथ विवाह करने का उल्लेख हत्या के साथ किया गया है, यद्यपि इन्हें परस्पर समान नहीं बताया गया है: द्र० छा० उ० ५-११-५, जहाँ अश्वपति पापियों की सूची प्रस्तुत करता है, जिसमें मद्यसेवी, चोर और गृह्याग्नि को प्रज्वलित न रखने वाले का एक साथ निर्देश किया गया है।

भ्रूणहत्या को गंभीर अपराध कहा गया है: तैसं., ६. ५. १०. २; कासं., २७. ९; ३१. ७; कपि० सं, ४१. ७; मैसं., ४. १. ९; तैब्रा., ३. २. ८. १२; तैआ., २. ७. ८; २. ८. ३; बृउ., ४. १. २२; निरुक्त, ६. २७; कौउ., ३. १; तु०—अवे, ६. ११२. ३; ६. ११३. २।[1] मनुष्य-हत्या भी गुरु अपराध है: कासं, ३१. ७; कपिसं ४१. ७; मैसं, ४. १. ९; तैब्रा, ३. २. ८. १२; वासं, ३०. ५; द्र० **वैर**। द्र०—वसिष्ठ ध०सू०, ३. १५. १८; तु० वृश जान की कथा: पंविब्रा., १३. ३. १२; ब्राह्मण की हत्या तो बहुत बड़ा अपराध है ही: तैसं., २. ५. १, २; ५. ३. १२, १; ६. ५. १०. २; कासं., ३१. ७; तैब्रा., ३. २. ८. १२। तैआ. १०. ३८ में ब्राह्मण-हत्या को ही हत्या कहा गया है। शब्रा. १३. ३. १. १ के अनुसार ब्राह्मण-हत्या का पाप अश्वमेध यज्ञ करने ही से छूट सकता है। द्र०—निरुक्त, ६. २७; बाद में भ्रूण को भी ब्राह्मण माना गया है।[2] पंविब्रा. १४. ६. ८ में **कुत्स** की कथा में विश्वासघात का दण्ड मृत्यु है, जैसा कि बाद में भी रहा है।[3] किंतु राजा या जनता के अधिकार के अन्तर्गत स्थापित किसी विशेष न्याय-व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। वैर-शोधन की प्रथा का भी पता चलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि न्याय उनके हाथों में था; जिनकी हानि होती थी। दूसरी ओर सूत्रों में अपराधों से राजा की शान्ति भङ्ग होने का उल्लेख है; और उसे दण्ड देने का अधिकारी बताया गया है[4]।

(२) **सिविल कानून या विधि**—वैदिक साहित्य में सिविल कानून का बहुत कम उल्लेख है। कुटुम्ब के संबन्धों और कुटुम्बसंपत्ति का उल्लेख **उर्वरा**, **क्षेत्र** और **पति**—विषयक लेखों में किया गया है। उत्तराधिकार और संपत्ति के बंटवारे का उल्लेख **दाय** शीर्षक के नीचे आया है। चल-संपत्ति के हस्तान्तरण के विषय में—क्यों कि भूमि का बेचना निषिद्ध था, हाँ दक्षिणा के रूप में उसे दिया जा सकता था, किंतु इसका भी बाद में निषेध कर दिया गया था: शब्रा. १३. ७. १. १३—माने हुए प्रकार थे: **दान** और **क्रय**, जिसमें विनिमय संमिलित था। भूमि पर प्रारम्भिक अधिकार तो निःसंदेह कब्जे से और जाति के लोगों में बंटवारे से होता था[1], जब कि अस्थावर संपत्ति तो सामान्यतया कब्जे से अधिकार में आती थी, बशर्ते कि वह अपनी धरती पर मिली हो, अनधिकृत धरती पर मिली हो, या वह और किसी व्यक्तिकी न हो। धर्मसूत्रों में खोई संपत्ति के वितरण का विधान आता है: गौतम धर्मसूत्र १०. ३६ में खोई हुई संपत्ति के मिल जाने पर उसे राजा को सौंप देने का संकेत है, जहाँ उसका एक अंश पाने वाले को दे दिया जाता है; किंतु यदि पाने वाला ब्राह्मण हो तो वह सारी ही उसे लौटा दी जाती है। संविदा के संबन्ध में ऋण (द्र० **ऋण**) को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की संविदा के विषय में वैदिक साहित्य से पता नहीं चलता; और ऐसा होना समाज की प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक भी था। बहुत से ऐसे काम, जिन्हें कि विकसित समाज में एक निश्चित वृत्ति लेकर नौकर करेंगे, उस समय के समाज में दास लोग करते थे (द्र० **दास**, **शूद्र**), जब कि गाँव के शिल्पकार, जिनकी लम्बी सूची वासं० ३० और तैब्रा० ३. ४ में आई है, हर काम के लिए उजरत न पाकर एक निश्चित भत्ता पाते थे, जैसा कि आजकल के गाँवों के नौकर पाते हैं।[2] किंतु यह सब कुछ अनुमान पर आधृत है; और एक बढ़ई या लोहार का गाँव में असली दर्जा क्या था यह बताना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में हरजे या हकतलफी के विषय में बरते जानेवाले नियमों का उल्लेख नहीं मिलता; किंतु सूत्रों में मान-हानि के लिए दण्ड देने का विधान है।[3]

प्रक्रिया के संबन्ध में उल्लेख नहीं के बराबर हैं। पुरुषमेध की बलियों की सूची (वासं. ३०. १०; तैब्रा ३. ४. ६. १) में **प्रश्निन्**, **अभि-प्रश्निन्** और **प्रश्न-विवाक** का उल्लेख है, जिन्हें क्रमशः **वादी**, **प्रतिवादी** और **न्यायाधीश**

---

[1] वेबर, इस्टू० ९. ४८१; १०. ६६; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ् दि अवे, ५२२; अजफि. १७. ४३०।

[2] द्र० शंकर, उद्धृत वेबर, इस्टू., १. ४१० टि०; कीथ, शांआ० ३०, टि० ५, कोनो, सामविब्रा. टि० १; तु० वसिध सू० २०, २३।

[3] द्र० जाली, रेख्त उन्द जित्ते, १२७।

[4] प्रक्रिया: वेबर, इन्दीन लितरात्यूर ७२, ७३।

[1] सीजर, बेल्लुम गालिकुम ४. १; ६. २२; टैसिटस, जर्मानिया, २६, जर्मनी के लिये; मोम्मसेन, रोमिश्शेस श्तात्स्‌रेश्त, ३. १. २१; लाङ्ग, होमर एण्ड दि एपिक, २३६-२४१; रिजवे, जर्नल आफ हेलेनिक स्टडीज़, ६. ३१९; ग्रोट, हिस्ट्री आफ ग्रीस, २. ३६, ३७; पोलक और मेटलैण्ड, हिस्ट्री आफ इंग्लिश ला. २. ३३७, और आगे; बाडन पावल, विल्लेज कम्यूनिटीज इन इण्डिया ६ एवं आगे, १६१।

[2] तु० मेन, विल्लेज कम्यूनिटीज, १२७, १७५; बाडन पावल, वही १२४; ग्रोट, हिस्ट्री आफ ग्रीस, २, ३६, टि. २।

[3] जाली, रेख्त उन्द जित्ते, १२६-२८।

माना जा सकता है; ये शब्द प्रारम्भिक न्यायप्रक्रिया के सूचक हैं जो कि संभवतः पञ्चों का फैसला होता था। यही भाव **मध्यम-शी**=मध्यस्थ शब्द में भी आ जाता है: ऋवे. १०. ९७. १२=अवे. ४. ९. ४; वासं० १२. ८६; जैब्रा का **मध्यमशीवन्** संदिग्धार्थक है। **मध्यम-शी** का राथ[1] और त्सिमर[2] ने न्यायाधीश अर्थ लिया है, क्योंकि एक जज के चारों ओर उसके सहायक अधिकारी एवं श्रोता बैठा करते हैं; जैसा कि प्राचीन जर्मनी[3] में भी होता था; किंतु इस शब्द की यह व्याख्या अनिश्चित है। ह्विटनी के अनुसार यह शब्द केवल उस मुखिया को जताता है, जिसके चारों ओर उसके आदमी बैठते हैं।[4] बाद में तो राजा ही प्रमुख सिविल न्यायाधीश बन गया था; और हो सकता है कि पहले भी वही मुख्य जज रहा हो; संभवतः बिरादरी के वृद्ध पुरुषों की सलाह से वह न्याय करता रहा हो, किंतु यह सब कुछ केवल अनुमान के आधार पर कहा गया है; इस विषय में देखो बाद की **परिषद्**, गौधसू, २८. ४८, ४९; बौधसू० १. १. ७–१६; वसिधसू० ११. ५–७, २०।[5]

यह निश्चित नहीं है कि साक्ष्य के लिये गवाह जुटाये जाते थे या नहीं (तु० **ज्ञातृ**)। **अग्नि-परीक्षा** का सिविल न्याय के क्षेत्र में उल्लेख केवल एक बार मिलता है। पंविब्रा० १०. ६. ६ के अनुसार **वत्स** ने अपना ब्राह्मणत्व अग्नि की लपटों में से बिना जले पार होकर प्रमाणित किया था। किंतु यह भी संभव है कि वह **अग्नि-परीक्षा** आपसी झगड़ों को निपटाने के लिये की जाती रही हो। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि विवादों को निपटाने के लिये शपथ लेने की प्रथा थी अथवा नहीं; किंतु इतना निश्चित है कि न्याय के क्षेत्र में एक ब्राह्मण को अब्राह्मण से तरजी दी जाती थी: तैसं. २. ५. ११. ९।

पोलिस अफसरों का जिक्र नहीं के बराबर मिलता है; और हो सकता है कि दण्ड देने के लिए और अपराधियों को पकड़ने के लिए राजा अपने आश्रितों में से कुछ का उपयोग करता हो। द्र० **उग्र, जीवगृभ्**।

(३) **नैतिकता**—इस शीर्षक के नीचे (क) बच्चों का त्याग, (ख) वृद्धों का त्याग, (ग) वेश्यावृत्ति, (घ) पर-स्त्री-गमन और (ङ) गोत्र-गमन पर विचार करना अभीष्ट है।

(क) **बच्चों का त्याग**—कासं. २७.९; (तु० तैसं ६. ५. १०) शांश्रौसू० १५. १७. १२; निरुक्त ३. ४ के आधार पर त्सिमर[1] ने लड़कियों के त्याग का उल्लेख किया है; किंतु उनकी यह व्याख्या चिन्त्य है।[2] यह स्पष्ट है कि लड़कियों के जन्म को बहुत प्रिय नहीं माना जाता था, और इसे प्रारम्भिक समाज में अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आर्यों की अन्य शाखाओं में भी ऐसा देखने को मिलता है: अवे ८. ६. २५; ऐब्रा. ७. १५।

(ख) **वृद्धों का त्याग**[3] भी त्सिमर[4]ने ऋवे० ८. ५१. २ के आधार पर माना है; उन्होंने अवे० १८. २. ३४ (द्र० **अनग्निदग्ध**) के **उद्-हिताः** शब्द से भी इसकी सूचना मानी है; किंतु यहाँ भौतिक तत्त्वों में मिल जाने के लिये शव का त्याग अभिहित है, जैसा कि पारसियों के यहां भी चलन मिलता है। ऋग्वेद के ८. ५१. २ में किसी व्यक्ति-विशेष का जिक्र आया प्रतीत होता है, जिसे कि किसी कारण-विशेष से छेक दिया गया होगा; इससे बच्चों को फेंक देने की प्रथा पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता। **च्यवान** की कथा से भी इस विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकल पाता।

(ग) 'वैदिक इण्डेक्स' के अनुसार ऋग्वेद-काल में **वेश्या-प्रथा** चालू थी, किंतु यह कहाँ तक थी और कैसी थी यह नहीं बताया जा सकता। भ्रातृ-हीन लड़कियों के

---

[1] सीवेंत्सिग लीडर १७४।

[2] आले. १८०।

[3] सीजर, बेल्लुम गालिकुम ६. २३; टैसिटस-जर्मानिया ११. १२; कूलाङ्गेस, रिशेर्शे स्यूर केल्के प्रोब्लेम द् हिस्त्वार ३६१ एवं आगे।

[4] ट्रा० अ० वे०, १५९।

[5] जाली, रेख़्त उन्द जित्ते, १३२ एवं आगे।

[1] आले० ३१९, ३२०; तु० वेबर, इस्टू ५. ५४, २६०; केगी, देर ऋग्वेद, टि. ४९; श्राडर, प्रिहि० ऐ० ३८९, ३९०; लुड्विग, ट्रा० ऋ० ६. १४२; पिशल, वैस्टू २. ४८।

[2] द्र० बाटलिङ्क, त्सादामौगे., ४४. ४९४-४९६; भारतीय परंपरा की व्याख्या के अनुसार लड़कियों के त्याग का नहीं, अपितु विवाह कर देने के बाद उनके त्याग का उल्लेख है।

[3] मैक्समूलर, एंशि. सं. लि. ४०९; त्सिमर, उक्त ३२०; श्राडर, उक्त, ३९०।

[4] वही, ३२७, ३२८; स्ट्रैबो, पृ० ५१३, ५१७, ५२० में इस प्रथा को ईरान एवं बैक्ट्रिया में बताते हैं; यह नोर्स लोगों में प्रचलित थी: वाइनहोल्ड, आल्तनोर्दिशेस लेबेन, ४७३; द्र० केगी, वही, टि. ५०; श्राडर, वही, ३७९ टि.।

वेश्या बन जाने का डर बना रहता था : ऋ० १. १२४. ७; ४. ५. ५; अवे० १. १७. १, तु० **अयोगू**। ऋग्वेद २. २९. १ में अवैध लड़के को हटा देने का उल्लेख मिलता है। **पुंश्चली** (अवे० १५. २) और **महानग्नी** (अवे० १४. १. ३६; २० १३६. ५ एवं आगे; ऐब्रा० १. २७; तु० **नग्ना** अवे० ५. ७. ८) शब्दों के अतिरिक्त वेश्या-प्रथा[1] के संबन्ध में कुछ और भी संकेत मिलते हैं : **कुमारीपुत्र** वासं० ३०. ६; तैब्रा० ३. ४. २. १ और **अग्रू** या अविवाहिता के पुत्र का ऋग्वेद ४. १९. ९; ३०. १६. १९; २. १३. १२; १५. १७[2] में उल्लेख मिलता है; **अग्रू** के त्याज्य पुत्र पर वन्य पशु के आक्रमण का भी संकेत मिल जाता है। वासं० ३०. १५ में आये हुए **अतिष्कद्वरी, अतित्वरी, विजर्जरा** और तैब्रा० में आये **अपस्कद्वरी** शब्दों के आधार पर **वेश्या-वृत्ति** का उल्लेख किया गया है। पिशल और गेल्डनर[3] के अनुसार ऋग्वेद में राज-दरबार की वेश्याओं का उल्लेख है, किंतु यह मत चिन्त्य प्रतीत होता है।[4]

(घ) परस्त्री-गमन को बहुत बड़ा अपराध माना गया था। वैधानिक ग्रन्थों के अनुसार परस्त्री-गामी को रंगे हाथों पकड़ा जाने[5] पर मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता था। वेबर[6] तथा लुड्विग[7] के अनुसार वैदिक काल में इस प्रकार की बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था; किंतु डेल्ब्रुक[8] ने दिखाया है कि इस अनवधानता के लिए प्रमाण नहीं मिलता; और यज्ञ के प्रसङ्ग में परस्त्री-गमन के निषेध से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सामान्य जीवन में परस्त्री-गमन सह्य था : तैसं० ५. ६. ८. ३; मैसं० ३. ४. ७। वरुण-प्रघास नामक यज्ञ (मैसं० १. १०. ११; शब्रा० २. ५. २. २०) से, जहां कि पत्नी अपने प्रेमी या यार का नाम लेती है, भी परस्त्री-गमन की स्वीकृति नहीं मानी जा सकती; क्योंकि वहां तो पत्नी के पतन से वंश पर आई मुसीबत के निराकरणार्थ ही वैसा करने का विधान प्रतीत होता है; उसी प्रकार शब्रा० १. ३. १. २१ में स्त्री के संबन्ध में **याज्ञवल्क्य के परः-पुंसा** इस कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि एक स्त्री की पवित्रता पर ध्यान नहीं दिया जाता था, एक गलती[1] होगी; क्योंकि वहां तो **परः-पुंसा** का अर्थ है 'पुरुषों से अलग की हुई'। एक ऋषि के ऋषित्व के संबन्ध में आये विवाद (मैसं० १. ४. ११) से भी केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋषित्व की पहचान करना कठिन था; ऋषि के जन्म या प्रभव की अनिश्चितता का वहां भाव नहीं है। किंतु **बहुपत्नीत्व** की प्रथा और **इन्द्र-अहल्या** जैसी कथाओं को देखते हुए उस समय बहुत उच्च नैतिकता की कल्पना नहीं की जा सकती।[2] कुछ ऐसा ही निष्कर्ष तैसं० ७. ४. १९. २, ३; और वासं० २३. ३०, ३१ में ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री के संबन्ध से, एवं छान्दोग्योपनिषद् ६. ४. ११ में श्रोत्रिय की स्त्री के साथ संपर्क करने पर प्रायश्चित्त के विधान से निकलता है।

(ङ) भाई-बहन का विवाह निषिद्ध था, जैसा कि यम-यमी के सूक्त से ज्ञात होता है : ऋ० १०. १०। ऋग्वेद १०. १६२. ५ में भी ऐसा ही जिक्र आया है। ऋग्वेद १०. ६१. ५-७ में प्रजापति के अपनी दुहिता पर मुग्ध होने का जिक्र आता है; किंतु ब्राह्मणों में उसकी व्याख्या देवशास्त्रीय अलंकार के रूप में की गई है, जो ठीक हो सकती है :[3] ऐब्रा० ३. ३३; शब्रा० १. ७. ४. १। अथर्ववेद ८. ६. ७ से ज्ञात होता है कि अगम्य-गमन उन दिनों हो जाया करता था; किंतु उस संदर्भ के देवशास्त्रीय व्याख्यान के औचित्य के विषय में संदेह होने पर भी यह प्रथा सामान्य थी, यह नहीं माना जा सकता।

(१) **धव** अथर्ववेद ५. ५. ५; २०, १३७, ११ में **प्लक्ष, अश्वत्थ** और **खदिर** के साथ **धव** एक वृक्ष का नाम है। तु० त्सिमर, आ. ले., ६२।

(२) **धव**—पति के अर्थ में धव शब्द निरुक्त ३. १५

---

[1] ऋ. १. १६७. ४ पर विल्सन की व्याख्या चिन्त्य है। दे. त्सिमर, वही ३३२ टि.; मैक्स मूलर, सेबुई०, ३२, २७७, इसमें बहुपतित्ववाद का संकेत देखते हैं, किंतु यह अनिश्चित है। दे० ऋ०, ८. १७. ७।

[2] त्सिमर, उक्त, ३३४, ३३५।

[3] वैस्टू. १. २५; १९६, २७५, २९९, ३०९; २. १२०, १५४।

[4] द्र० विन्तरनित्स, गेशिश्ते देर इन्दिशन लितरात्यूर, १. ६०; जाली, उक्त, ४८।

[5] द्र० लाइस्ट, आल्तरिशेस् जुस जेन्तिउम, २७६ एवं आगे।

[6] वेबर, इस्टू १०. ८३ एवं आगे।

[7] उक्त, ५. ५७३।

[8] दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्तशाफ्त्सनामन, ५४५ एवं आगे।

[1] द्र० बाहटलिङ्गक, डि०; डेल्ब्रुक, वही, ५४८।

[2] तु० मैक्डानल, वैमा. पृ. ६५।

[3] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ४. ४६, ४७; मैक्स-मूलर, उपर्युक्त, ५२९, ५३०।

से पहले नहीं आता। "विधवा" की "वि-धवा"=पति-रहित के रूप में गलत व्याख्या के कारण इस शब्द का चलन हुआ है। तु० निघण्टु, २. ३।

धवित्र—शब्रा० १४. १. ३. ३०; १४. ३. १. २१ और तैआ० ५. ४. २३ में धवित्र शब्द अग्नि को जलाने के लिये काम में लाये जाने वाले चमड़े के पंखे के अर्थ में आया है।

धानंजय्य—धनंजय का वंशज। वंश-ब्राह्मण में अंशु का यह पैतृक नाम है; द्र० इस्टू० ४. ३७३; द्र०—लाश्रौसू० १. १. २५; २. १. २, २. ९. १० आदि।

विवरण—वेबर, इं० लित० ७६. ७७. ८२।

धाना—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में धाना शब्द अन्न के दाने के अर्थ में आया है: ऋ० १. १६. २; ३. ३५. ३; ३. ५२. ५; ६. २९. ४ आदि; अवे० १८. ३. ६९; १८. ४. ३२, ३४; वासं० १९. २१, २२; तैब्रा० १. ५. ११. २ आदि। कभी-कभी ये दाने भी भूने जाते थे; भृज्ज् : ऋ० ४. २४. ७; और सोम में मिलाए जाते थे: ऋ० ३. ४३. ४; ३. ५२. १; ८. ९१. २; तैसं० ३. १. १०. २; शब्रा० ४. ४. ३. ९। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटी०, २८३।

धानाकपालोपधान—तु०श्रौतपदार्थनिर्वचन पृ.२६१.

धान्य—धाना शब्द से व्युत्पन्न धान्य शब्द सामान्यतः अन्न के अर्थ में आया है। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह पाया जाता है: ऋ० ६. १३. ४; अवे० ३. २४. २, ४; ५. २९. ७; ६. ५०, १; कौब्रा०, ११. ८; पविंब्राह्म०, ५. ५ आदि। बृउ० ६. ३. २२ माध्यं०=६. ३. १३ काण्व में दश प्रकार के कृष्यन्नों (ग्राम्यान्नों) का उल्लेख है; **व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियंगु, गोधूम, मसूर, खल, कुल**। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में अश्व को धान्याद कहा गया है: ऐब्रा०, ८. २१; शब्रा० १३. ५. ४. २। ऋग्वेद १०. ९४, १३ में अन्न साफ करने वालों को धान्याकृत्="धान्य बनाने वाला" कहा गया है। तु०—'दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति। व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च' शब्रा० १४. ९. ३. २२.

धान्याकृत्—ऋग्वेद १०. ९४. १३ में छाज से अन्न को साफ करने वाले को धान्याकृत् कहा गया है।

धान्व—शब्रा० १३. ४. ३. ११; आश्रौसू० १०. ७ में असित का पैतृक नाम धान्व आया है। शांश्रौसू० १६. २. २०. में धान्वन शब्द आया है।

धामन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में धामन् शब्द गृह के अर्थ में आम है: ऋ० १. १४४. १; २. ३. २; ३. ५५. १०; ७. ६१. ४; ७. ८७. २; १०. ८३. १ आदि; अवे०, ४. २५. ७; ७. ६८. १; १२. १. ५२; वासं०, ४. ३४; तैआ०, २. ७. २। कभी-कभी यह शब्द उसमें रहने वालों को भी जताता है: ऋ० ८. १०१. ६; ९. ६३. १४; १०. ८२. ३; अवे०, २. १४. ६; वोबू के अधिकांश उद्धरण संदेहास्पद हैं। यह शब्द कभी-कभी, विशेषतः ऋत के साथ आने पर नियम या धर्म का अर्थ भी देता है: ऋ०, ४. ५५. २; ६. २१. ३; ७. ६३. ३; ८. ४१. १०; १०. ४८. ११; ऋत के साथ: ऋ० १. १२३. ९; ४. ७. ७; ७. ३६. ५; १०. १२४. ३। हिल्लेब्रांड्ट[1] के अनुसार ऋग्वेद ९. ६६. २ में यह नक्षत्र के अर्थ में आया है।

धाय्या—ऋक्। 'यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य छिद्रं निरजानंस्तद् धाय्याभिरपिदधुस्तद् धाय्यानां धाय्यात्वम्' ऐब्रा० ३. १८; 'पत्नी वै धाय्या' ऐब्रा० ३. ३२; 'महिषी धाय्या' कौब्रा० १५. ४; 'प्राणो वै धाय्या' कौब्रा० १५. ४; 'वायुर्धाय्या' जैउ० ३. ४. २।

धारका—'धारका ह वै नामैषैतया ह वै प्रजापतिः प्रजा धारयांचकार' शब्रा० ११. ६. २. १०.

धारा—धारा शब्द किसी शस्त्र-जैसे कि स्वधिति या क्षुर-की धार को जताता है: ऋ० ६. ३. ५; ६. ४७. १०; तु०—८. ७३. ९; तैआ०, ४. ३८. १। रूपकात्मक प्रयोग; स्वधितिकी धार: कौसू०, ४४; क्षुर: बृउ०, ३. ३. २। तु०—'तद् यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किंचेति तस्माद् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारात्वं यच्चासु ध्रियते' गो० पू० १. २। द्र०—असि।

धासि—ऋग्वेद के कुछ स्थलों में धासि शब्द अन्न या सोमलक्षण अन्न के अर्थ में आया है: ऋ० ४. ५५. ७; ५. ४१. १७; ५. १२. ४; ६. ६७. ६; १०. ३०. १; १०. ८९. ११।

धिषणा—वोबू० के अनुसार सोम तैयार करने के एक पात्र या नांद के लिए धिषणा शब्द आया है; और आलंकारिक रूप से वह सोम को भी जताता है। नांद के अर्थ में: ऋ० १. ९५. १; १. १०२. १; १. १०९. ३, ४; ३. ४९. १; ४. ३४. १; ४. २६. ८; ८. ६१. ९; ९. ५९. २; १०. १७. १२; १०. ३०. ६; वासं० १. १९;

[1] वैमि०, १. ४४६। तु०—गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ९२, ९३।

६. २६, ३५ आदि। सोम के अर्थ में: ऋ० १. १०२. ७; ३. ३२. १४; ३. ४९. ४; ६. १९. २; ७. ९०. ३; ८. १५. ७; १०. ९६. १० आदि। रूपकालंकार के अन्तर्गत द्विवचन में वह दोनों लोकों, स्वर्ग और पृथ्वी को उद्दिष्ट करता है: ऋ० १. १६०. १; ६. ८. ३; ६. ५०. ३; ६. ७०. ३; १०. ४४. ८; बहुवचन में तीन लोकों को: ऋ० ५. ६९. २। कुछ स्थलों पर राथ (वोबू) के अनुसार यह शब्द 'संपत्ति की प्रतिमा' के अर्थ में आया है: ऋ० १. २२. १०; १. ९६. १; १. १०२. १; ३. ३१. १३; ३. ५६. ६; ५. ४१. ८; ६. ११. ३; १०. ३५. ७। हिल्लेब्रांड्ट[1] के मत से धिषणा शब्द पृथ्वी के अर्थ में आया है: ऋ० १. २२. १०; १. ९६. १; १. १०२. १; ३. ३१. १३; ३. ५६. ६; ६. १९. २; ७. ९०. ३; ८. १५. ७; १०. ३०. ६; १०. ३५. ७; १०. ९६. १०। द्विवचन में यह स्वर्ग और पृथ्वी को उदिष्ट करता है: ऋ० ८. ६१. २, एवं ऊपर द्विवचन के संदर्भ; निविद्, शांश्रौसू० १९. ४। बहुवचन में यह पृथ्वी, अन्तरिक्षऔर द्युलोक का वाचक है: ऋ० ४. ३६. ८; ५. ६९. २; ९. ५९. २; : और कुछ स्थलों पर धिषणा शब्द वेदी के अर्थ में आया है: ऋ० १. १०९. ३, ४; ३. २. १; ३. ४९. ४, या संभवतः पृथिवी के अर्थ में ४. ३४. १; ५. ४१. ८; ६. ११. ३; १०. १७. १२; यह निश्चित नहीं है। वाजसनेयी और तैत्तिरीय संहिताओं में सोम को पेरने के लिए प्रयुक्त दोनों अधिषवण-फलकों को धिषणा कहा गया है: वासं० ७. २६; तैसं० ३. १. १०. १; द्र० महीधर भाष्य वासं० ७. २६ पर; सायण-भाष्य, तैसं० ३.१.१०. १ पर। पिशल[2] के अनुसार अदिति और पृथिवी के समान धन की किसी देवी को धिषणा कहा गया है। तु० वाग् वै धिषणा' शब्रा०, ६. ५. ४. ५; विद्या वै धिषणा' तैब्रा० ३. २. २. २; 'अन्तो वै धिषणा' ऐब्रा०, ५. २; 'स्वानः भ्राजः अङ्घारिः, बम्भारिः, हस्तः, सुहस्तः कृशानुः वै धिष्णय्ययानां नामानि' शब्रा० ३. ३. ३. ११। तु०—मैकडानल, वैमा०, पृ० १२४; ओल्डेनबर्ग, सेबुई०, ४६. १२०–१२२।

धिष्ण्या धारण—द्र०—श्रौतपदार्थ निर्वचन, पृ० २७९।

धी—मति। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर धी शब्द प्रार्थना या सूक्त के अर्थ में आया है: १. ३. ५; १. १३५. ५; १. १५१. ६; १. १८५. ८; २. ३. ८ यहाँ सरस्वती से संबन्ध है; २. ४०. ५ आदि। ऋग्वेद २. २८. ५ में एक ऋषि अपनी धी के बुनने का उल्लेख करता है, जब जब कि दूसरा ऋषि ऋ० ३. ३९. २ में अपने पूर्वज की धी=सूक्त का उल्लेख करता है। तु०—त्सिमर, आले०, ३३८।

धीति—ऋग्वेद में धी के समान धीति शब्द भी प्रार्थना या सूक्त के अर्थ में आया है: ऋ० १. ११०. १; ३. १२. ७; ३. ५२. ६; ५. २५. ३; ५. ५३. ११; ६. १५. ९ आदि; निरुक्त २. २४।

धीर—धी-युक्त। वैदिक साहित्य में धीर शब्द बुद्धिमान् व्यक्तियों या ऋषियों के लिये आया है: ऋ०, १. ९१. १; १. १४५. २; १. १७९. ४; ३. ८. ५; ३. ५६. १; ४. ३६. ७; ५. २९. १; ८. ४२. २; ८. ४८. ४; ९. ९६. ११; १०. ७१. २; अवे०, ९. ४. ८; १०. ८. ४४ आदि।

धीर शातपर्णेय—शतपर्ण का वंशज। शब्रा० १०. ३. ३. १ में महाशाल के शिष्य का नाम धीर शातपर्णेय है।

धीवन्—अवे० ३. ५. ६ में धीवन् शब्द आया है, जिसका अर्थ रथकार या मत्स्यमारक किया गया है। राथ,[1] ब्लूमफील्ड[2] और ह्विटनी[3] ने चतुर या बुद्धिमान् के अर्थ में रथकार का नाम माना है। सायण ने इसका अर्थ मछुआ किया है। पैप्पलाद शाखा में इसके स्थान पर 'तक्षन्' (बढई) शब्द आया है। तु०—वेबर, इस्टू०, १७· १९४ एवं आगे; त्सिमर, आ०ले०, २५२।

धुङ्क्षा—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी पक्षी का नाम धुङ्क्षा है: मैसं०, ३. १४. १२; वासं०, २४. ३१; तु० त्सिमर, आ०ले०, ९३। द्र०—धूंक्ष्णा और ध्वांक्ष।

धुनि—इन्द्र के एक शत्रु का नाम **धुनि** है, जिसका उल्लेख सामान्यतः **चुमुरि** के साथ आया है: ऋ० २. १५. ९; ६. १८. ८; ६. २०. १३; ७. १९. ४। ये दोनों **दभीति** के विरोधी जान पड़ते हैं: ऋ० १०. ११३. ९। संभवतः **धुनि** कोई आदिवासियों का सरदार है: वाकरनागल, आल्ति०,ग्रा०, १.२२; मैकडानल, वैमा०, पृ० १६२; तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १५७, १५८।

धुर्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में धुर् शब्द वोबू० के अनुसार युग या जुए के उस भाग का नाम है, जो रथ खींचने वाले पशुओं के कंधे पर रखा जाता है और इसी-

---

[1] वैमि०, १. १७५–१८१।

[2] वैस्टू०, २. ८२–८७।

[1] वोबू०।

[2] ह्रिम्स आ० दि अ०वे०, ११४।

[3] ट्रां० अ०वे०, ११४।

लिए वाजसनेयी संहिता ४. ३३; (तु०—उत्त्र)में उन्हें धूर्षाह् कहा गया है : ऋ० १. ८४. १६; १. १००. १६; १. १३४. ३; १. १६४. १९; २. १८. ७; ३. ३५. २; ५. ५५. ६; ७. ३४. ४ आदि; अवे०, ५. १७. १८; ऐब्रा०, ६. १८; शब्रा०, १. १. २. १०; १. ४. ४. १३ आदि; ऐआ०, १. ५. २ आदि। ऋग्वेद ५. ४३. ८ में भाव अनिश्चित है। राथ[1] के अनुसार अक्ष के दोनों सिरों पर नाभि में अक्ष को रोकने के लिए लगाई जाने वाली बाँक या कील का मुख अपेक्षित है; इस प्रकार वह आणि का पर्याय होगा; ओल्डेनबर्ग ने भी इस मत को स्वीकार किया है।[2] मोनियर विलियम्स ने अपनी डिक्शनरी में 'भार' अर्थ दिया है, जो संभव नहीं है। यह संभव है कि धुर् का अर्थ फड़ या रथ-यष्टि रहा हो;[3] और तब फड़ और अक्ष दोनों रथ को वहन करने वाले भाग माने जाने लगे; इससे ऋग्वेद के उक्त दूरूह स्थल पर धुर् शब्द का अर्थ कुछ कुछ ज्ञात हो जाता है। तु० 'तेन पुरुषेणासुरानधूर्वन् यदधूर्वंस्तद् धुरां धूस्त्वम्' षब्रा० २. ३; 'प्राणा वै धुरः' तां० १४. ९. १८; 'अग्निर्हि वै धूः' शब्रा० १. १. २. ९; द्र० धूर्षद्।

धूङ्क्ष्णा—अन्यत्र धुङ्क्षा के रूप में उल्लिखित पक्षी के लिए तैसं० ५. ५. १९. १ में धूङ्क्ष्णा शब्द आया है। इसे 'श्वेत काकी' माना गया है।[4]

धूति—ऋग्वेद १. ३७. ६; १. ३९. १; १. ६४. ५; १. ८७. ३ में धूति शब्द मरुतों के लिए आया है।

धूप—सुगन्धयुक्त पदार्थ, जिसका पूजादि के समय व्यवहार आम है; आगृसू० ४. ७ में आया है; और धूपन-क्रिया के रूप में इसका प्रयोग याजुष संहिताओं में पाया जाता है : कासं० ३६. १४; मैसं०, १. १०. २०; तैसं०, ५. १. ७. १ आदि। द्र० धूपि।

[1] वोबू०।

[2] ऋग्वेद नोटन, १. ३३९; ग्रिफिथ, हिम्स आ० दि ऋ०, १. ५०८; अक्षधुरों का उल्लेख: आश्रौसू०, ११, ६. ५; काश्रौसू०, ८. ३. २२; तु—कालंड और हेनरी, ल् अग्निष्टोम, ८१।

[3] त्सिमर, आ० ले०, २४६; बाद में फड़ उसके अन्तिम भाग को उद्दिष्ट करता है : ऐआ० १. ५. २ में यही अर्थ है; संभवतः युग या जुए के यष्टि के अन्तिम भाग में होने से यह अर्थ-परिवर्तन हुआ है।

[4] द्र०—त्सिमर, आ०ले०, ९३; इन्होंने गलती से धूङ्क्षण शब्द दिया है। द्र०—ध्वाङ्क्ष।

धूपि—तैआ १. ९. ५ में धूपि शब्द सुगन्धक युक्त करने वायु-विशेष का नाम है। द्र०—धूप।

धूम—धुंआ। ऋग्वेद-काल से ही इसका प्रयोग आम है : ऋ०, १. १६४. ४३; ३. २९. ९; ४. ६. २; ५. ११. ३; ६. ४८. ६; ७. २. १; १०. ४५. ७; अवे. ६. ७६ १ आदि।

धूमकेतु—धूएं की पताका वाला। अवे १९. ९. १० में धूमकेतु शब्द मृत्यु का विशेषण है। त्सिमर के अनुसार यह पुच्छलतारा के अर्थ में आया है[1]। किंतु ह्विटनी ने इस अर्थ को असंभव माना है[2]। लानमान का सुझाव है कि दाह-संस्कार के समय का धूम अपेक्षित है[3]।

धूम्र—बोहट्लिंग्क की डिक्शनरी के अनुसार तैसं. १. ८. २१. १ में धूम्र शब्द उष्ट्र के अर्थ में आया है।

धूर्ति—हिंसा: ऋ० १. १८. ३; १. ३६. १५; १. १२८. ७; ७. १. १३; ७. ९४. ८; ८. २७. १५; ८. ४८. ३।

धूर्षद्—राथ[4] के अनुसार धूर्षद् का अर्थ है धुर् के नीचे होना, अर्थात् भारवहन करने वाला; आलंकारिक अर्थ आगे 'बढ़ने वाला' : ऋ० १, १४३. ७; २. २. १; २. ३४. ४; किंतु तु०—पिशल, वैस्तू०, १. ३०१। ऋग्वेद १०. १३२. ७ में राथ ने अर्थ किया है : युग के नीचे विश्राम करने वाला। अधिक संभव अर्थ है 'फड़ पर बैठने वाला' अर्थात् सारथि, जो बैलों या घोड़ों के पास रहने के लिए फड़ पर या कभी-कभी स्वयं जूए पर भी बैठता था; तु०—महाभारत ८. ६१७ में "धुर्यान् धुर्यगतान् सूतान्।"

१. धृतराष्ट्र—धारण किया है राष्ट्र को जिसने ऐसा। अवे० ८. १०. २९ और पंविब्रा० २५. १५. ३ (तु०—जैउब्रा०, ४. २६, १५)[5] में एक असुर-सर्प का नाम धृतराष्ट्र है; उसका पैतृक नाम ऐरावन्त=इरावत् का पुत्र है।

२. धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य—विचित्रवीर्य का वंशज। कासं० १०. ६* में यह आया है, किंतु यह स्थल दुरूह

[1] आ० ले०, ३५८।

[2] ट्रां० अवे०, ९१४।

[3] उपर्युक्त संदर्भ।

[4] वोबू०। तु०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. २३७ एवं आगे, कीथ, ऐआ०, १९५।

[5] द्र०—वेबर, इस्तू०, १७. २५७।

* तु०—वेबर, इस्तू०, ३. ४६९ एवं आगे।

है। उन्हें **कुरु-पञ्चालों** का राजा मानने का आधार नहीं मिलता; संभवतः वह **कुरु-पञ्चालों** से कुछ दूरी पर रहते थे। वे काशी के राजा **धृतराष्ट्र** से अभिन्न हो सकते हैं, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया था, किंतु वे **सात्राजित शतानीक** से पराजित हुए थे : शब्रा०, १३. ५. ४. २२[1]। **सात्राजित शतानीक** के भरतवंशीय होने से धृतराष्ट्र का **कुरु-पञ्चाल** होना असंभव हो जाता है। काठक संहिता के उक्त स्थल से **वक दाल्भ्य** के साथ उनका विवाद होना सूचित होता है; किंतु यदि वक दाल्भ्य को **पाञ्चाल** मान भी लिया जाय, तो भी धृतराष्ट्र का **कुरु-वंशीय** होना नहीं प्रमाणित होता; और न **कुरु-पञ्चालों** के विवाद के अधिक प्राचीन होने का ही प्रमाण मिलता है[2]। यह सच है कि आर्षकाव्य में **शंतनु विचित्रवीर्य** और धृतराष्ट्र आपस में संबद्ध हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि इस संबन्ध को वेद में ढूंढा जाय।

धृतव्रत—'एष (राजा) च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ' शब्रा० ५. ४. ४. ५.।

धृति—'क्षेमो अन्नं वै धृतिः' शब्रा० १३. १. ४. ३.।

धृष्टि—तैआ० ५. ९. ८, शब्रा० १४. ३. १. २२ और सूत्रों में धृष्टि शब्द गार्हपत्याग्नि से अंगारे उठाने के लिए प्रयुक्त चिमटे के अर्थ में आया है। द्र०—काश्रौसू०, २६. २. १०। द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचन पृ० १०।

१. धेना—ऋग्वेद में धेना शब्द दूध देने वाली गौ के लिए आया है : ३. ३४. ३;* बहुवचन में यह दूध की धाराओं का जताता है : ३. १. ९; ४. ५८. ६। ऋग्वेद १. १०१. १०; ५. ३०. ९ में राथ ने इसे घोड़ी के अर्थ में माना है। किंतु ऋग्वेद १. २. ३ में उन्होंने वायु के रथ के अश्वों को उद्दिष्ट माना है। दूसरी ओर बेनफी[1] ने निरुक्त ६. १७[2] के भाष्यकार दुर्ग के साथ "ओठों" के अर्थ में ऋग्वेद १. १०१. १० के "धेनाः" शब्द को माना है। गेल्डनर[3] ने इसे कई अर्थों में माना है; ओठ : ऋ० १. १०१. १०; ३ः १. ९; वाक्, ऋ० ४. ५८. ६; १. ५५. ४; १. १४१. १; ८. ३२. २२; १०. १०४. ३, १०; गो, ऋ० ५. ६२. २; वायु की गोः ऋ० १. २. ३; प्रिय : ऋ० ५. ३०. ९ और धारा ऋ० ७. २१. ३; ३. ३४. ३।

२. धेना—तैआ० ३. ९. १ में धेना को बृहस्पति की पत्नी बताया गया है। गोब्रा० २. २. ९ में भी ऐसा ही उल्लेख है। तु० 'अन्नं वै धेनाः' शब्रा० ७. ५. २. ११।

धेनु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में धेनु शब्द दूध देने वाली गौ के अर्थ में आम है; ऋ० १. ३२. ९ सहवत्सा; १. १३४. ४; २. २. २; २. ३४. ८; ६. १३५. ८ आदि; अवे०, ५. १७. १८; ७. १०४. १; तैसं०, २. ६. २. ३; ४. ४. ८; वासं०, १८. २७; शब्रा० २. २. १. २१ आदि। कुछ स्थलों पर उसके दूध देने का उल्लेख है : ऋ० ७. ३३. २२; ८. १४. ३; अवे० ४. ३४. ८ 'कामदुघा'; शब्रा०, १२. ८. २. २। कुछ स्थलों पर वृषभ : ऋ० १०. ५. ७; पुमान् : अवे०, ११. १. ३४ या अनड्वाह् : वासं०, १८. २७; शब्रा०, ३. १. २. २१ से इसका विपर्यास दिखाया गया है। बहुवचन में यह शब्द दूध की धाराओं के अर्थ में आया है : ऋ० ४. २२. ६; ८. २. ६; ८. ४. ८; ९. ६१. २१; ९. ७२. १ आदि। इससे व्युत्पन्न 'धेनुका', शब्द केवल स्त्री के अर्थ में आता है : अवे०, ३. २३. ४; पंविब्रा०, २५. १०. २३; आश्रौसू०, १२. ६। तु० 'आपो वै धेनवः आपो हीदं सर्वं हिन्वन्ति' कौब्रा० १२. १; 'इयं (पृथिवी) वै धेनुः' शब्रा० १२. ९. २. ११; 'वाग् वै धेनुः' तां० १८. ९. २१; 'स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद् धेन्वडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतः' शब्रा० ३. १. २. २१।

धेनुष्टरी—कासं० १३. ६ और मैसं० २. ५. ४ में उस गौ को धेनुष्टरी कहा गया है, जो सूख जाय, अर्थात् दूध देना बन्द कर दे।

धैवर—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में मछुए को धवर कहा गया है। तु०—धीवर। धैवर= धीवर का वंशज। द्र०—वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १५. १।

ध्मातृ— =धौंकने वाला। ऋग्वेद ५. ९. ५ में प्रथमा विभक्ति में ध्माता शब्द आया है, जिसका अर्थ है पिघलाने वाला। वहीं "ध्मातरी" भी आया है, जो पदपाठ में "ध्मातरि" है, जो सप्तमी विभक्ति का रूप

---

[1] वेबर, इंलित०, ९०, ११४, १२५; एपिश्शास इम वैदिश्शन रितुआल, ७. ८; राथ, वोबू०।

[2] द्र०—कीथ, जराएसो० १९०८, ८३१ एवं आगे।

* द्र०—मैकडानल, वैमा०, पृ० ६१; ऋ० ९. ६२. २; तु०—गेल्डनर, वैस्तू,० ३. १२४।

[1] ओरियंट उण्ड ओक्सीडेंट, ३. १३०।

[2] तु०—त्सिमर, आले०, २४९।

[3] वैस्तू०, ३. ३५–४३; १६६; ऋग्वेद ग्लासर, ९५। तु०—मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ४४१. ४४२।

हैं; संभवतः इसका अर्थ है "पिघलाने की भट्टी में"।[१] गेल्डनर[२], बार्थोलोमा[३], और ओल्डेनबर्ग[४] इसका अर्थ "पिघलाने में" करते हैं। लुड्विग[५], और नाइसर[६] इसे ध्माता के ही अर्थ में प्रथमा, एकवचन, पुंल्लिग का रूप मानते हैं। पिघलाने की क्रिया का वैदिक साहित्य में उल्लेख है: ऋ० ४. २. १७ शब्रा०, ६. १. ३. ५; अयस् को अश्मन् (कच्चा लोहा) से और सोने को अयस् से पिघलाया जाता था। ध्माता की धोंकनी में पर्ण शकुनानाम् के प्रयोग का उल्लेख है: ऋ० ९. ११२. २। यह कला प्रचलित थी, इसकी सूचना इससे मिलती है कि बाणों के अयोनिर्मित अग्रभागों का वर्णन आता है (तु०—इषु); और कुछ ऐसे पात्रों का भी वर्णन मिलता है, जो आग पर रख कर भोजन बनाने के काम में आते थे: ऋ० ५. ३०. १५; सोम के प्याले भी पिटे हुए लोहे से बनाते थे: ऋ० ९. १. २।

विवरण: त्सिमर, आले०, २५२; श्राडर, प्रिहि० ऐंटि०, १५९।

ध्राजि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में तीव्र जवको ध्राजि कहा गया है। मरुतों के वर्णन में आता है: ऋ० १. १६४. ४४; १०. ९७. १३; १०. १३६. २; अवे०, ३. १. ५; मैसं०, १. २. १७; ४. ९. ५; तैआ० १. ११. १९ आदि; तु०—मैक्समूलर, सेबुई०, ३२,३३; मैकडानल, वैमा० पृ० ७९।

ध्रुव—सूत्रों में विवाह के प्रसङ्ग में ध्रुव तारे का उल्लेख है, जो विवाह के अवसर पर वधू को दृढ़ता के आदर्श के लिए दिखाया जाता है: आगृसू०, १. ७. २२; शां.गृ.सू०, १. १७. २ एवं आगे; लाश्रौसू०, ३. ३. ६ आदि; विवाह के मन्त्रों में ध्रुव तारे का उल्लेख नहीं है। यह कहना कठिन है कि यह परंपरा प्राचीन थी अथवा नवीन। एक परवर्ती ग्रन्थ मैत्रायणी उपनिषद् में ध्रुव के प्रचलन का उल्लेख है।[७] किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः वहाँ ध्रुव तारे की सूक्ष्म गति का निरूपण है, अथवा विश्व के विनाश के समान किसी आश्चर्यजनक कार्य का कथन है, जैसा कि कावेल ने उक्त उपनिषद् के अपने संस्करण में माना है (पृ० २४४)[१] याकोबी ने ध्रुव की गति के आधार पर यह दिखलाने का प्रयास किया है कि स्थिर माना जाने वाला वाला ध्रुव तीन हजार ई० पू० के आस-पास था।[२] किंतु इस आधार पर काल-निर्णय करना चिन्त्य है।[३] तु० 'तद् यदेतं (असुरा) न शेकुरुद्वन्तुं तस्माद् ध्रुवो नाम' शब्रा. ४. २. ४. १९।

ध्रुवा—स्थिर। नीचे की दिशा को ध्रुवा दिक् कहा गया है: अवे०, ३. २७. ५; १२. ३. ५९; १५. ६. १; ऐब्रा०, ८. १४। बृउ०, ३. ९. २५। तु० 'पृथिवी ध्रुवा' तैब्रा. ३. ३. १. २; 'यजमानो वै ध्रुवा' शब्रा० १. ८. १. ३९; 'आत्मा ध्रुवा' तैब्रा० ३. ३. १. ५; ध्रुवा दिक्=मध्यदेशः 'अथैनम् (इन्द्रम्) अस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि साध्याश्चाप्ताश्च देवाः···अभ्यषिञ्चन्··· राज्याय' ऐब्रा० ८. १४; 'तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते राजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा० ८. १४; जुहूसदृश आज्याधारभूत पात्र। द्र० श्रौतपदार्थनिर्वचन पृ० ८।

ध्वज—ऋग्वेद ७. ८५. २; १०. १०३. ११ में ध्वज शब्द लड़ाई के समय दिखाये जाने वाले झंडे को जताता है। आर्षकाव्य-काल में तो झंडों का बहुत महत्त्व था। वेद के दोनों स्थलों में बाणों को झंडों के ऊपर छोड़ने का उल्लेख है।

ध्वन्य—ऋग्वेद ५. ३३. १० में स्पष्टतः एक आश्रयदाता का, (लक्ष्मण के पुत्र का) नाम ध्वन्य है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५५।

ध्वंसि—शांआ० ७. २० में समय के विभाग का क्रम है: **ध्वंसि, निमेष, काष्ठा, कला, क्षण, मुहूर्त,** और **अहोरात्र**। द्र०—अहन्। तु०—शांश्रौसू०, १४. ७८ एवं १४. ८२. १।

ध्वसन् द्वैत-वन—द्वितवन का वंशज। शब्रा० १३.

१ द्र०—मैकडानल, जराएसो०, १८९३, ४४६।

२ वैस्टू०, १. १४६ टि०।

३ इंडोजर्मानिश्शेन फोर्शुङ्गन, १. ४९६ टि० २।

४ सेबुई०, ४६. ३८८।

५ इन्फिनिटिव इम वेद, ९; ट्रां० ऋ०, ४. ३३४।

६ वेत्सनबर्गर बाइत्रागे, २०. ४०।

७ द्र०—मैक्समूलर, सेबुई०, १५. २८९; वेबर, इस्टू०, २. ३९६।

१ द्र०—वेबर, इंदि० लित०, ९८ टि०; १०३; ब्युहलर, इंडियन ऐंटीक्वैरी, २३. २४५ टि० २१; याकोबी, त्सादामौगे०, ४९. २२८ टि०—२।

२ इंडियन ऐंटीक्वैरी, २३, १५७; त्सादामौगे०, ४९. २२८; ५०. ६९ एवं आगे; जराएसो०, १९१०, ७२१ एवं आगे।

३ द्र०—ह्विटनी, जअओसो०, १९०९, ११०२; १९१०, ४६५ एवं आगे।

५. ४. ९ में मत्स्यों के राजा का यह नाम है, जिसने सरस्वती के तट पर अश्वमेध यज्ञ किया था। तु०—वेबर, इस्टू०, १. २११; एपिश्शस इम वैदिश्शन रितुआल, ६।

ध्वसन्ति—ऋग्वेद १. ११२. २३ में **पुरुषन्ति** के साथ ध्वसन्ति के अश्विनों से सहायता पाने का उल्लेख है। इसमें संदेह नहीं है कि यह **ध्वस्र** का ही रूप है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद ९. ५८. ३८ सावे० २. ४०९ और पंविब्रा० १३. ७. १२ (ध्वस्रे स्त्रीलिंग द्विवचन) में मिलता है। तु०—जीग, दी० जा० ऋ०, ६२,६३, बेनफी, सामवेद, १०५, १२६; इन्होंने **ध्वसन्ति पुरुषन्ति** को स्त्रियों का नाम माना है।

ध्वस्र—पंविब्रा० १३. ७. १२ में **पुरुषन्ति** और **ध्वस्र** के द्वारा **तरन्त** और **पुरुमीळ्ह** को दिये जाने वाले दान का उल्लेख है, तु०—जैब्रा०, ३. १३९, शाट्यायनक, सायण द्वारा ऋ०९. ५८. ३ के भाष्य में उद्धृत। ये दोनों राजा होने के कारण दान नहीं ले सकते थे, क्योंकि दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मण को था, किंतु ऋग्वेद की एक ऋचा ९. ५८. ३ की रचना करके इन्होंने अपने आपको दान लेने योग्य बना लिया था। द्विवचन में "ध्वस्रयोः" और "पुरुषन्त्योः" शब्द आए हैं; अर्थ है "दोनों, ध्वस्र और पुरुषन्ति"; दोनों ही द्विवचन में है, जैसे कि वे द्वन्द्व समास में हों[1]। पंचविंश ब्राह्मण के उक्त स्थल में द्विवचन में "ध्वस्रे पुरुषन्ती" के रूप में उल्लेख है, जो कि निदान-सूत्र ९. ९ से समर्थित है। पहला तो निश्चय ही स्त्रीलिङ्ग का रूप है; किंतु सायण ने अपने भाष्य में उसे अनियमित पुंल्लिङ्ग ही माना है। राथ[2] के अनुसार ऋग्वेद ९. ५८. ३ के द्विवचन के आधार पर गलती से आया हुआ यह पाठ है, किंतु ये नाम स्त्रियों के हो सकते हैं; फिर **ध्वस्र** के स्थान पर **ध्वस्रा** होगा, जैसा कि बेनफी[3] ने माना है। वेबर[4] का मत है कि ये दोनों नाम दानवों के हैं, किंतु यह अनावश्यक है, जैसा कि जीग[5] ने कहा है। **ध्वस्र** निःसंदेह **ध्वसन्ति** से अभिन्न है।

[1] तु०—मैकडानल, वैग्रा०, २६१।
[2] वोबू०।
[3] सामवेद १०५, १२६।
[4] एपिश्शस इम वेदिश्शन रितुआल।
[5] दी जा० ऋ०, ६२, ६३। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३९; अर्टल, जअओसो०, १८. ३९; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३६०, मैक्समूलर का मत है कि ऋग्वेद का भाव अनिश्चित है; संभवतः ऋग्वेद ५. ६१ के अनुसार तरन्त और पुरुमीळ्ह दान लेने वाले न होकर दाता हैं, द्र०—५. ६१. ९ में "पुरुमीळ्हाय विप्राय"। द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २३२; ऋग्वेद-नोटन, १. ३५४।

ध्वस्रा—द्र०—ध्वस्र।

ध्वाङ्क्ष—काक। अवे ११. ९. ९; १२. ४. ८ में दो बार यह शब्द आया है। संभवतः **धुङ्क्षा धुङ्क्ष्णा** भी उसी पक्षी के लिए आए हैं। सूत्रों में भी यह शब्द आया है: काश्रौसू० २५. ६. ९। तु०—त्सिमर, आले०, ८८।

ध्वान्त—याजुष संहिताओं अर्थात् तैसं०, १. ७. ७. २, वासं०, ३४. ७ तथा बाद के तैब्रा० २. ७. १६. १; तैआ०, ४. २४. १; ४. २५. १ में एक वायु का नाम ध्वान्त है।

न

नकुल—नकुल का उल्लेख अवे० ६. १३९. ५ में हुआ है, जहाँ कहा गया है कि वह सर्प को काटकर फिर उसे जोड़ सकता है। कहा गया है कि यह सर्प-विष के निराकरण की विद्या को जानता है: अवे०, ८. ७. २३। अश्वमेध की बलियों की सूची में भी नकुल की गणना है: तैसं०, ५. ५. १२. १; ५. ५. २१. १; वासं०, २४. २६; मैसं०, ३. १४. ७। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य १७. ९. के अनुसार तैसं०, ७. ३. १८. १ में यह शब्द एक रंग को जताता है।

नक्त—अव्यय "नक्तम्" के रूप में यह शब्द रात्रि के अर्थ में आम है: ऋग्वेद[1] १. १३. ७; १. ७३. ७; १. ९६. ५; ७. २. ६; १०. ७०. ६; १. २४. १०; १. ९०. ७; ५. ७६. ३; ७. १५. १५; ७. १०४. १७; ८. ९६. १। परवर्ती साहित्य के लिये देखो[2] राथ:

नक्षत्र—नक्षत्र शब्द का मूल और व्युत्पत्ति दुर्बोध हैं। भारतीय व्याख्याकार इसके आरम्भिक अर्थ के संबन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठाते हैं। शब्रा. २. १. २. १८, १९; निरुक्त ३. २० में उद्धृत इसे न+क्षत्र= शक्ति का अभाव बताता है और इसके संबन्ध में एक पुराकथा पेश करता है। निरुक्त[2] इसे प्राप्त्यर्थक √नक्ष् धातु से व्युत्पन्न बताता है; यह व्याख्या तैब्रा० १. ५. २. ५ के आधार पर है। औफ्रेख्ट[3] और वेबर[4] इसकी

[1] छाउ०, ८. ४. २; अवे०, ६. १२८. ४; शब्रा०, २. १. ४. २; १३. १. ५. ५ आदि।
[2] उक्त स्थानीय उल्लेख, वोबू०।
[3] कुह्न का त्साइतश्रिफ्त, ८. ७१. ७२. इसी प्रकार एगलिंग, सेबुई० १२. २२८ टि. २।
[4] नक्षत्र, २. २६८।

व्युत्पत्ति नक्त+त्र=रात्रि का रक्षक इस प्रकार करते हैं; किंतु आधुनिक व्युत्पत्ति नक्+क्षत्र[1]='रात्रि पर शासन करने वाला' पर विद्वानों की आस्था बढ़ रही है। इस शब्द का सामान्य अर्थ तारक है।

ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में तारकों के रूप में नक्षत्र—ऋग्वेद १.५०.२; ७.८६.१; १०.६८.११; १०.११७.७[2] में जिन स्थलों पर नक्षत्र शब्द आया है उन सभी में 'तारक' अर्थ ठीक बैठ जाता है। यही भाव बाद की संहिताओं में भी है; सूर्य और नक्षत्रों का एक साथ उल्लेख : अवे० ६.१०.३; वासं०, २३.४३; पं विं ब्रा०, १०.१.१; तैआ० ४.१०.१२; सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र एक साथ : अवे०, ६.१२८.३; १५.६.२; तैसं०, १.८.१३.३; वासं०, २२.२९ आदि; चन्द्र और नक्षत्र : अवे०, ५.२४.१०; ६.८६.२; तैसं०, ३.४.५.१; कासं०, ३५.१५; ३७.१२; वासं० ३०.२१ आदि; केवल नक्षत्र : तैसं० १.२.२.२; २.६.२.६; कासं०, अश्वमेघ, ५.५ और प्रायः अन्यत्र भी। किंतु इन सभी स्थलों पर चान्द्र नक्षत्रों (अश्विनी आदि) का अर्थ अपेक्षित नहीं जान पड़ता।

दूसरी ओर कम से कम तीन नक्षत्रों का परवर्ती अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। **तिष्य** : ऋ० ५.५९.१३; १०.६४.८[3] चान्द्र नक्षत्र के अर्थ में प्रयुक्त नहीं प्रतीत होता; किंतु **अघाः** (बहुवचन) और **अर्जुनी**[4] (द्विवचन) के विषय में ऐसी बात नहीं है; यह संभव है कि वे बाद के **मघा** (बहुवचन) और **फल्गुनी** (द्विवचन) नामक चान्द्र नक्षत्र हों। ऋग्वेद में ये नाम जान बूझ कर बदले गये प्रतीत होते हैं; साथ ही सूर्या-विवाह के जिस सूक्त में ये आते हैं, वह सूक्त बहुत प्राचीन काल का नहीं कहा जा सकता[5]। लुड्विग[6] और त्सिमर[7] ने ऋग्वेद १.१६२.१८[1] में २७ नक्षत्रों का उल्लेख माना है। विशेषण **रेवती**=धनवती और **पुनर्वसू**=फिर धन लाने वाली शब्दों को, जो ऋग्वेद १०.१९.१ में आते हैं संकेतक मानने की आवश्यकता नहीं है।

चान्द्र नक्षत्र—परवर्ती संहिताओं के अनेक स्थलों पर चन्द्र और नक्षत्रों का संबन्ध वैवाहिक कहा गया है। इस प्रकार काठक ११.३.[2] और तैत्तिरीय २.३.५.६-३; (तु०—३.४.७.१) कासं०, १८.१४; वासं० १८.४०; शब्रा० ९.४.१.९; षविंब्रा०, ३.१२; (चन्द्र के एक नक्षत्र में निवास का उल्लेख मिलता है : शब्रा०, १०.५.४.१७; नि०, ५.२१; कौसू० १३५) तैआ० १.११.६; ५.१२.१ आदि संहिताओं में कहा गया है कि सोम ने नक्षत्रों से विवाह किया था; किंतु रहा वह केवल **रोहिणी** के साथ; इस पर अन्य नक्षत्र तिलमिला उठे और तब उसे सबके साथ समान अवधियों तक रहना पड़ा। वेबर[3] ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी नक्षत्र समान विस्तार के थे; किंतु ऐसा करना पाठ को अनुचित रूप से खींचना है; उससे तो केवल उनकी समानता का बोध होता है। उपर्युक्त दोनों संहिताओं में नक्षत्रों के २७ होने का उल्लेख नहीं है; तैत्तिरीय में ३३ का उल्लेख है और काठक ने कोई भी संख्या नहीं दी है। फिर भी २७ संख्या तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०.१–३ में तथा अन्यत्र [कासं० २९.१३; किंतु मै. सं०, २.१३.२० में २८ संख्या; तैब्रा० १.५.१.१–५; द्र०—वासं०, ९.७.भी; शब्रा० १०.५.४.५; पंविंब्रा० २३.२३; कौब्रा० ५.१; शांआ०, २.१६; तैसं०, ७.१.२.२; ज्योतिष, १८.२०; इसके २४ वें श्लोक में संख्या २८ दी गई है; किंतु यह श्लोक प्रक्षिप्त है; शांश्रौसू०, २४.७८ आदि] पाई जाने वाली सूची में मिल जाती है। इनकी २८ संख्या बहुत कम आई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.२.३[4] में **अभिजित्** को नया आने वाला नाम माना गया है, यद्यपि एक बाद के (३.१.२.६) भाग में। मैसं० २.१३.२० और अथर्ववेद १९.७.१; १९.८.१=नक्षत्रकल्प १०.२६

[1] मैकडानल, वैदिक ग्रामर, पृ. ७४. पं० ८।

[2] सूर्य के लिए प्रयुक्त, ऋ० ६.६७.६ (पुंल्लिङ्ग); ७.८१.२; १०.८८.१३; सूर्य उनके साथ उक्त ३.५४.१९; नक्षत्र-शवस् (तारकों की शक्ति वाला), १०.२१.१०; ऋ० १०.८५.२ में, जहाँ सोम को नक्षत्रों की गोद में कहा गया है, 'तारक' अर्थ ठीक होगा। किंतु यह सूक्त बाद के दो नक्षत्रों को उद्दिष्ट करता है, अतः यहाँ 'चान्द्र नक्षत्र' अर्थ भी ठीक हो सकता है।

[3] वेबर, २.२९०।

[4] वेबर, ३६४-३६७; द्र०—संदर्भ अघा और अर्जुनी में।

[5] तु०—आर्नल्ड, वैदिक मीटर, ३२२।

[6] ट्रां० ऋ०, ३.१८४ एवं आगे।

[7] आ०ले०, ३५४; तु०—तिलक, ओरायन, १५८।

[1] घोड़े के ३४ पार्श्व=चन्द्र, सूर्य, ५ ग्रह और २७ नक्षत्र। ऋ० १०.५५.३ (३४ प्रकाश)।

[2] इस्टू०, ३.४६७।

[3] उपर्युक्त, २७७; तु०—सिद्धान्तों की परवर्ती पद्धतियां, ह्विटनी, ओरियंटल ऐंड लिंग्विस्टिक स्टडीज़, २.३७२; द्र०—तिलक, ओरायन, ३३ एवं आगे।

[4] तु०—वेबर, १.३६० टि०।

एवं शांगृसू०, १. २६ की सूची में इसे स्थान मिल गया है। यह संभव है कि २८ संख्या प्राचीन हो, जिसमें से **अभिजित्** को मन्द-प्रकाश होने से, अथवा सुदूर उत्तर में होने से, या २७ संख्या के अधिक रहस्यात्मक (३×३×३) होने से छोड़ दिया गया हो। इस प्रसङ्ग में यह स्मरणीय है कि चीन के सियाऊ (Sieou) और अरब के मनाज़िल संख्या में २८ हैं[1]। वेबर[2] फिर भी यह मानते हैं कि भारत में २७ संख्या ही अधिक प्राचीन है।

संख्या का आशय शीघ्र ही समझ में आ जाता है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि एक विशेष सामयिक मास (चान्द्र मास) लगभग २७ और २८ दिनों का, विशेषतः २७ दिनों का होता है। इस प्रकार के मास का उल्लेख लाट्यायन ४. ८. १ एवं आगे और निदान ५. ११. १२.[3] सूत्रों में है, जहाँ २७ दिन के १२ महीने का (=३२४ दिनों का) नाक्षत्र वर्ष अथवा एक अधिक मास जोड़ने पर ३५१ दिनों का वर्ष बताया गया है। निदान सूत्र[4] में सौर वर्ष को ३६० दिनों का दिखलाने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि सूर्य प्रत्येक नक्षत्र पर १३⅓ दिनों तक रहता है (१३⅓×२७=३६०); किंतु २७ या २८ दिन के महीने का वेद के काल-निर्णय में कोई भाग नहीं है। द्र० **मास**।

नक्षत्रों के नाम—ऋग्वेद में आये दो नामों के अतिरिक्त अथर्ववेद (काण्ड १–१६) में **ज्येष्ठघ्नी** (अर्थात् बाद का 'ज्येष्ठा', ६. ११०. २)[5] और **विचृतौ**[6] (६. ११०. २; इसका उल्लेख : २. ८. १; ३. ७. ४; ६. १२१. ३) जिनका पास में होना उल्लिखित है, **रेवतियों** और **कृत्तिकाओं** (९. ७. ३) का उल्लेख है। अग्न्याधान के लिए कासं० ८. १, मैसं० १. ६. ९ और तैब्रा० १. १. २. १–६ में **कृत्तिकाओं, रोहिणी, फल्गुनियों** और **हस्त** नक्षत्रों का उल्लेख है; तैत्तिरीय ब्राह्मण में **पुनर्वसू** जोड़ दिया गया है, तथा एक टिप्पण १. १. २. ८ में **उत्तरे फल्गुनी** के पक्ष में **पूर्वे फल्गुनी** का बहिष्कार कर दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण २. १. २. १ में **मृगशीर्ष** और **चित्रा** की भी संभावना बताई गई है। दूसरी ओर तैसं० १. ५. १. ४; मैसं० १. ७. २; कासं० ८. १५; शब्रा० २. १. २. १०; कौब्रा० १. ३ में **पुनर्वसु** को पुनराधेय के लिए उपयुक्त कहा गया है, जो प्रथम आधान में यजमान की समृद्धि न होने पर किया जाता था।[1] काठक संहिता ८. १५; मैसं० १. ७. २ ने **अनुराधा** नक्षत्र को भी स्वीकार कर लिया है।

अग्निचयन की प्रक्रिया में ईंटों की संख्या को नक्षत्रों की संख्या के बराबर रखने का निर्देश मिलता है : शब्रा० १०. ५. ४. ५। ईंटों की संख्या ७५६ है; २७ नक्षत्रों में २७ उपनक्षत्रों का गुणा करके (७२९ के स्थान पर) ७२० में अधिक मास के ३६ दिन जोड़कर ७५६ बनाने का उल्लेख है। पुरोहितों के इस कथन से कोई भी उपयोगी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।[2] किंतु इस संबन्ध में याजुष में २७ नक्षत्रों की गणना है : इन सूचियों को विस्तार के साथ इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—

तैत्तिरीय संहिता	मैत्रायणी संहिता	काठक संहिता
१. कृत्तिकाः (बहुवचन)	कृत्तिकाः	कृत्तिकाः
२. रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी
३. मृगशीर्ष (नपुंसक लिङ्ग)	इन्वगा	इन्वका
४. आर्द्रा	बाहु	बाहु
५. पुनर्वसू (द्विवचन)	पुनर्वसु (एकवचन)	पुनर्वसु

[1] ह्विटनी, उपर्युक्त, ४०९–४११; ज. अ. ओ. सो०, ८. ३९०।

[2] उपर्युक्त, २. २८०; इस्टू०, ९. ४४६; १०. २२३; २२४, २२६, २२७।

[3] वेबर, २. २८१–२८८।

[4] थिबो, ऐस्ट्रोनमी, ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक, ७।

[5] यह नक्षत्र ('ज्येष्ठ को मारने वाली') अशुभ माना गया है : द्र० तैब्रा०, १.५.२.८; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३६१ में इसे **वृश्चिक** राशि के तारों के समान बताते हैं ('एंटारिस' अथवा 'कोर स्कौर्पियानिस' जो सिग्मा टऊ σ, T स्कोर्पियोनिस से युक्त अथवा रहित है)। ह्विटनी और राथ ने गलत पाठ 'ज्यैष्ठघ्नी' दिया है।

[6] भाष्यकारों ने इसे **मूल** (जड़) से अभिन्न बताया है। ये **वृश्चिक** राशि की पूंछ के डंक का निर्माण करते हैं। ये λ (लम्ब्डा) और ν (नु) हैं; ह्विटनी, उपर्युक्त ४८।

[1] तु०—वेबर, २. २९८; एगलिंग, सेबुई०, ४३. ३८३ टि० १; द्र०—शामशास्त्री गवामयन, १२२ एवं आगे।

[2] हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरात्यूर, १०९।

तैत्तिरीय संहिता	मैत्रायणी संहिता	काठक संहिता
६. तिष्य	तिष्य	तिष्य
७. आश्रेषाः (स्त्रीलिङ्ग, बहुवचन)	आश्लेषाः (बहुवचन पद अश्लेषा)	आश्लेषाः (या अश्लेषाः)
८. मघाः (स्त्रीलिं०, बहुव०)	मघाः	मघाः
९. फल्गुनी (स्त्रीलिं०, द्विव०)	फल्गुनीः (बहुव०)	फल्गुनीः
१०. फल्गुनी (स्त्रीलिं०, द्विव०)	फल्गुनीः (बहुव०)	उत्तराः फल्गुनीः
११. हस्त	हस्त	हस्तौ (द्विव०)
१२. चित्रा	चित्रा	चित्रा
१३. स्वाती	निष्ट्य (नपुं०)	निष्ट्या
१४. विशाखे (स्त्रीलिं० द्विव०)	विशाख (नपुं०, एकव०)	विशाखा (स्त्रीलिं०, एकव०)
१५. अनुराधाः (बहुव०)	अनुराधा (पद अनुराधा)	अनुराधाः (पुं० बहुव०)
१६. रोहिणी	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
१७. विचृतौ	मूल (नपुं०)	मूल
१८. अषाढाः (स्त्रीलिं०, बहुव०)	अषाढाः	अषाढाः
१९. अषाढाः (स्त्रीलिं०, बहुव०)	अषाढाः	उत्तरा अषाढाः
२०.	अभिजित्	अभिजित्
२१. श्रोणा	श्रोण	अश्वत्थ
२२. श्रविष्ठाः (बहुव०)	श्रविष्ठाः	श्रविष्ठाः
२३. शतभिषज्	शतभिषज्	शतभिषज्
२४. प्रोष्ठपदाः (पुं०, बहुव०)	प्रोष्ठपदाः	प्रोष्ठपदाः
२५. प्रोष्ठपदाः (पुं०, बहुव०)	प्रोष्ठपदाः	उत्तरे प्रोष्ठपदाः
२६. रेवती	रेवती	रेवती
२७. अश्वयुजौ, (द्विव०)	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ
२८. अपभरणीः (स्त्रीलिं०, बहुव०)	भरणीः	अपभरणीः[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. १ में नक्षत्रों की एक सूची आई है, जो संहिता की सूचियों से मिलती-जुलती है। वह इस प्रकार हैं :—**कृत्तिकाः, रोहिणी, इन्वकाः, बाहू** (द्विवः), **तिष्य, आश्लेषाः, मघाः, पूर्वे फाल्गुनी, उत्तरे फल्गुनी, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनुराधाः, रोहिणी, मूलबर्हिणी, पूर्वा अषाढाः, श्रोणा, श्रविष्ठाः, शतभिषज, पूर्वे प्रोष्ठपदाः, उत्तरे प्रोष्ठपदाः, रेवती, अश्वयुजौ, अपभरणीः**। उसके एक परवर्ती काण्ड ३. १. ४. १ एवं आगे; ३. १. १-२ की सूची में २८ नक्षत्रों की गणना है, और १४ नक्षत्रों के बाद **पूर्णिमा** और २८ के बाद **अमावस्या** की गणना की गई है, जिससे चान्द्रमास की सौर मास (३० दिन) से समानता स्थापित की जा सके। इस दूसरी सूची में संहिता के समान ही नाम हैं; अपवाद ये हैं :—कृत्तिका के सात तारों के नाम हैं : **अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, चुपुणीका**; ये नाम तैत्तिरीय संहिता ४. ४. ५. १ एवं काठक संहिता ४०. ४ में भी आए हैं। इसके अतिरिक्त **मृगशीर्ष** और **इन्वका** भी उल्लिखित हैं : ३. १. ४. ३। इसके बाद **आर्द्रा, पुनर्वसू, तिष्य, आश्रेषाः, मघाः,** (इनके अतिरिक्त **अनघाः, अगदाः** और **अरुंधतीः** भी), **फल्गुन्यः** (अन्यत्र द्विवचन में **फल्गुन्यौ**, ३. १. ४. ९), **फल्गुन्यः, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनुराधाः, ज्येष्ठा, मूल, अषाढ़ाः, अभिजित्, श्रोणा, श्रविष्ठाः, शतभिषज्, प्रोष्ठपदाः, प्रोष्ठपदाः, रेवती, अश्वयुजौ, भरण्यः,** साथ ही **अपभरणीः** भी हैं : ३. १. ५. १४। **अभिजित्** उस ब्राह्मण के प्राचीन भाग (१. ५. २. ३) में आता है, जो संभवतः प्रक्षिप्त है। किंतु वेबर का यह कथन कि इस सूची में **अभिजित्** ठीक नहीं बैठता, क्यों कि इस सूची में २८ वाँ नक्षत्र ब्राह्मण को

[1] द्र० वेबर, नक्षत्र, २. ३००। इनके अनुकूल ही नक्षत्रों के लिङ्ग एवं वचन दिये गए हैं। किंतु कहीं-कहीं अन्य स्थलों के आधार पर भी इन्होंने विवरण दिये हैं, जैसे कासं० ८. १५ में 'अनुराधेषु' पुंल्लिङ्ग में है।

गिनाया गया है, निर्बल पड़ जाता है और वह इसलिए कि मैत्रायणी संहिता २. १३. २० में २८ नक्षत्रों की सूची मिलती है, जिसमें **अभिजित्** शरीक है और ब्राह्मण को अन्त में दूसरे नक्षत्र के रूप में जोड़ दिया गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. २–७[1] में नक्षत्रों को दो वर्गों में बाँटा गया है : **देव नक्षत्र** और **यम नक्षत्र**। एक से १४ तक के नक्षत्रों को **देव नक्षत्र** और १५ से २७ तक के नक्षत्रों को **यम नक्षत्र** कहा गया है; यहाँ भी अभिजित् को छोड़ दिया गया है। उस ब्राह्मण के तृतीय काण्ड की सूची से यह विभाजन मिल जाता है। ३. १. २; तु० कौब्रा., ४. १२ विनायक के टिप्पण के साथ, जहाँ शुक्ल पक्ष के दिनों और कृष्ण पक्ष के दिनों का नक्षत्रों की संख्या के साथ मेल विठाया गया है। वहाँ नक्षत्रों के प्रथम वर्ग को **दक्षिण** और दूसरे वर्ग को **उत्तर** कहा गया है; किंतु उसका कोई ठोस आधार नहीं बताया गया है; यह केवल याज्ञिक उपपत्ति के सिवाय और क्या हो सकता है ?

अथर्ववेद के परवर्ती काण्ड १९. ७. १ एवं अग्रिम में नक्षत्रों की सूची आती है, जिसमें **अभिजित्** का उल्लेख मिलता है। वहाँ संख्या २७ दी गई है (१९. ७. १ एवं आगे; १९. ८. २);[2] वहां ये नाम हैं:—**कृत्तिकाः, रोहिणी, मृगशिरस्, आर्द्रा, पुनर्वसू, पुष्य, आश्लेषाः, मघाः, पूर्वा फल्गुन्यौ** (पूर्वा फल्गुन्यौ अवश्य गलत है, द्वये, ऋचा ५ के अनुसार या पूर्वे पढ़ा जाना चाहिए)[3] **हस्त, चित्रा, स्वाति** (पुंल्लिङ्ग में; स्वाती ठीक है; पाण्डुलिपियों में स्वाति है; तु०–'नवस्रक्ति', ऐआ०, २. ३. ६ कीथ के नोट के साथ), **विशाखे, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वा अषाढ़ाः, उत्तरा आषाढ़ाः, अभिजित्, श्रवण, श्रविष्ठाः, शतभिषज्, द्वया प्रोष्ठपदा, रेवती, अश्वयुजौ, भरण्यः**।

नक्षत्रों का स्थान—बहुसंख्यक नक्षत्रों के नाम वैदिक साहित्य में निश्चित रूप से नहीं कहे गए हैं, किंतु परवर्ती ज्योतिर्विज्ञान में उन सभी के स्थानों का उल्लेख हैं; और उनके एतद्विषयक उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों से मेल खा जाते हैं; यद्यपि बेबर को इसके विषय में संदेह था। नीचे नक्षत्र-संबन्धी सभी निर्धारण ह्विटनी के 'सूर्य-सिद्धान्त' पर लिखे गए टिप्पण के आधार पर हैं—

१ **कृत्तिकाः**—निश्चित रूप से ये **ईटा तउरी** (η Tauri) आदि, प्लाइएड्स (Pleiades) हैं। इस नक्षत्र को बनाने वाले सात तारकों (जिनके नाम ऊपर दिये जा चुके हैं) में से तीन नाम **अभ्रयन्ती, मेघयन्ती** और **वर्षयन्ती** वर्षा-कालिक प्लाइएड्स के सूचक हैं (याजुष संहिताओं के आधार पर; तैसं० ४. ४. ५. १; कासं० ४०. ४; तैब्रा० ३. १. ४. १)। कृत्तिका शब्द संभवतः कृत् 'कातना' धातु से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है 'बुना हुआ'।

२ **रोहिणी**—'लाल वर्ण की'। एक विशेष लाल तारे का नाम रोहिणी है, जिसे अल्फा तउरी (α Tauri) या अल्देबारन (Aldebaran) कहते हैं; और जो हायेडीस (Hyades) तारक-मण्डल अल्फा, थीटा, गामा, डेल्टा ओर एप्सिलोन तउरी ($\alpha, \theta, \gamma, \delta, \varepsilon$ Tauri) का द्योतक है, (वृषराशि में आने वाले रोहिणी नक्षत्र के तारों के ये नाम हैं)। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३; तु०–शब्रा०, २. १. २. ९[1] में प्रजापति के आख्यान से इसकी पहचान सुनिश्चित हो जाती है। वहाँ आता है कि प्रजापति अपनी दुहिता के पीछे कामासक्त होकर दौड़ते हैं और तब **मृगव्याध** (Sirius) उन्हें **इषु त्रिकाण्डा** (मृगशिरा की पेटी = the belt of Orion) से बींध देता है। प्रजापति यहाँ स्पष्टतः मृगशिरस् (orion) हैं। ओरायन के शिरोभाग में मृगशिरस् नक्षत्रों के एक छोटे से गुच्छे का नाम है।

३ **मृगशीर्ष या मृगशिरस्**—इसे **इन्वका** और **इन्वगा** भी कहा गया है। ये हैं धूमिल तारे लम्वडा, फि[1], फि[2], ओरियोनिस (λ, Φ^1, Φ^2 Orionis)। इन्हें अथर्ववेद के शान्तिकल्प[2] में धूमिल वर्ण के होने के कारण 'अन्धकाः' कहा गया है।

४. **आर्द्रा**—'गीला'। आर्द्रा यह एक चमकीला तारा अल्फा ओरियोनिस (α Orionis) है; किंतु शांखायन-गृह्य-सूत्र १. २६ और नक्षत्र-कल्प १० में बहुवचन में **आर्द्राः** आता है, जब कि तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. १ में द्विवचन में **बाहू** आता है; इससे जान पड़ता है कि यह दो या दो से अधिक तारों का गुच्छा रहा होगा; और यह ध्यान देने की बात है कि समकक्ष चीनी सिएउ में सात चमकदार तारों का उल्लेख है, जो मृगशीर्ष (orion) के कंधे, पेटी और घुटनों के समान हैं।

५. **पुनर्वसू**—'वे दो जो फिर धन देते हैं'। पुनर्वसू में मिथुन राशि के दो तारों का उल्लेख है। ये अल्फा और बेटा गेमिनोरुम (α, β geminorum) हैं, जो कैस्टर (castor) और पोलुक्स (Pollux) के सिर पर हैं। इस

---

[1] तु०–तिलक, ओरायन, ४१ एवं अग्रिम।

[2] तु०–लानमान, ह्विटनी के ट्रांसलेशन ९०६, ९०७ में।

[3] द्र०–लानमान, ह्विटनी के ट्रांसलेशन ९०८ में; उत्तरे फल्गुन्यौ को छोड़ दिया गया है।

[1] तिलक, ओरायन, ९८ एवं आगे।

[2] ह्विटनी, उपर्युक्त, ४०१; तु०–तिलक, ओरायन, १०२ एवं आगे।

नाम का अश्विनों के उपकारी चरित्र से संबन्ध है, जो कि डायोस्क्यूरी (Dioscuri) का समकक्ष है।

६. **तिष्य या पुष्य**—इसमें कर्कराशि के धूमिल तारों का उल्लेख है, जो गामा, डेल्टा और थेटा कैंक्री (γ, δ, θ cancri) हैं। एकवचन का प्रयोग अजीब सा है, क्योंकि इससे एक तारा अभिप्रेत प्रतीत होता है; और निश्चय ही इस गुच्छे में कोई तारा चमकदार नहीं है।[1]

७. **आश्रेषाः या आश्लेषाः**—ये कहीं-कहीं अश्रेषाः और अश्लेषाः इस रूप में आते हैं। ये हैं डेल्टा, एप्सिलोन, एटा, रो, सिग्मा, और संभवतः क्सि हाइड्री (δ, ε, η, ρ, σ और संभवतः ξ Hydrae)। शब्द का अर्थ है 'आलिंगन करने वाला', जो इस नक्षत्र के तारों की स्थिति को देखते हुए ठीक बैठता है :

८. **मघा**:—'धन'। ये दांती (Sickle) या अल्फा, एटा, गामा, ज़ेटा, मु, एप्सिलोन लिओनिस (α, η, γ, ζ, μ, ε Leonis) हैं। सिंहराशि के अन्तर्गत **मघा** नक्षत्र के तारों के ये आधुनिक नाम हैं। इसका पाठान्तर **अनघाः** है, जो इस नक्षत्र के शुभ स्वभाव का द्योतक है।

९–१०. **फल्गुनी, फल्गुन्यौ, फल्गू** (कौ. ब्रा०, ५. १) **फल्गुनीः, फल्गुन्यः**—निःसंदेह ये दो नक्षत्र हैं जो **'पूर्वे'** और **'उत्तरे'** के रूप में विभक्त हैं। पहले में डेल्टा और थेटा लिओनिस (δ, θ Leonis) और दूसरे में बेटा और ९३ लिओनिस (β, 93 Leonis) हैं। वेबर के मत में इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद १०. ८५. १३ के पाठ **अर्जुनी** के अर्थ के समान 'शुभ्रवर्ण' नक्षत्र है।

११. **हस्त**—'हाथ'। इस नक्षत्र में पाँच चमकते तारे कार्वुस (Corvus) के डेल्टा, गामा, एप्सिलोन, अल्फा और बेटा (δ, γ, Σ, α, β) हैं। पांच संख्या की ध्वनि इस शब्द से स्वतः निकलती है। गेल्डनर[2] के अनुसार ऋग्वेद १. १०५. १० के 'पाँच वृषभ' ये ही पाँच तारे हैं।

१२. **चित्रा**—'चमकदार'। यह अल्फा वर्जिनिस (α Virginis) नाम का बहुत ही सुन्दर नक्षत्र है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १. २. ४-६ में **इन्द्र** के आख्यान में इसका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण २. १. २. १३-१७ के 'दिव्यौ श्वानौ' के प्रसङ्ग में भी इसका उल्लेख है।

१३. **स्वाती या निष्ट्या**—बाद में यह स्पष्टतः एक चमकीला तारा आर्कत्यूरस (Arcturus) या अल्फा बूटिस (α Bootis) है। शान्तिकल्प ३ के अनुसार इसकी स्थिति उत्तर में निश्चित हो जाती है, क्योंकि इसे वहाँ नित्य उत्तर की ओर गतिशील (नित्यम् उत्तरमार्गम्) कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. २[1] में ऐसे नक्षत्रमय प्रजापति का उल्लेख है, जिसका शीर्ष 'चित्रा' या अल्फा वर्जिनिस (α Virginis) है, हाथ 'हस्त' या कोर्वुस (corvus) है, 'विशाखे' या अल्फा और बेटा लिब्रा (α, β Librae) जंघाएँ हैं, 'अनुराधाएं' या बेटा, डेल्टा और पि स्कार्पिओनिस (β, δ, π Scorpionis) खड़े होने का स्थान है, और 'निष्ट्या' हृदय है। किंतु निष्ट्या या आर्क्‌त्यूरस (Arcturus) के ३०° बाहर होने से यह आकार बनता नहीं। दूसरी ओर अरब और चीन की परंपरा में निष्ट्या (Arcturus) की जगह इओटा, कप्पा और लम्बडा वर्जिनिस तथा कप्पा वर्जिनिस (i, k, λ Virginis and k Virginis) का उल्लेख है, जो प्रजापति के उक्त आकार को ठीक बना देते हैं। किंतु वेबर[2] के उक्त कथन में कुछ युक्ति होने पर भी ह्विटनी को इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है कि **निष्ट्या** से यहाँ **कन्या** (Virgo) राशि का ही एक तारा लिया जाना चाहिए; क्योंकि निष्ट्या शब्द से तो, जैसा कि इसके अर्थ ('फेंका हुआ') से व्यक्त होता है, इतना ही पता चलता है कि यह तारा प्रसङ्गागत अन्य तारों से दूरी पर था।

१४. **विशाखे**—तुला राशि के दो तारों अल्फा और बीटा लिब्रा (α, β Librae) से विशाखे नक्षत्र बनता है। बाद में अमरकोश में इसे 'राधा' कहा गया है। यह रोचक है कि अथर्ववेद १९. ७ में 'राधो विशाखे' आया है, जिसका अर्थ है कि 'विशाखे धन है'। किंतु राधा नाम संभवतः आगे के नक्षत्र अनुराधा के नाम के आधार पर बनाया गया है, जो नाम गलती से इस अर्थ में पड़ा है कि 'जो नक्षत्र राधा के बाद में आता हो'।

१५. **अनुराधाः या अनुराधा**—'शुभ'। इसमें वृश्चिक राशि के तारे बीटा, डेल्टा, पि और संभवतः रो स्कार्पिओनिस (β, δ, π और संभवतः ρ Scorpioni's) हैं।

१६. **रोहिणी, ज्येष्ठघ्नी या ज्येष्ठा**—रोहिणी=लाल; ज्येष्ठघ्नी = ज्येष्ठ को मारने वाली; ज्येष्ठ=जेठी। इसमें वृश्चिक राशि के तारे सिग्मा, अल्फा और टौ स्कार्पिओनिस (σ, α, T Scorpionis) हैं; जिनमें मध्य का तारा 'एंटारिस' या 'कार स्कार्पिओनिस' (Antares या Cor Scorpionis) अधिक चमकीला और लाल है।

[1] द्र०—ह्विटनी, उपर्युक्त, ४०३ टि० १।
[2] वैस्तू०, ३. १७७।

[1] तु०—तिलक, ओरायन २०४।
[2] नक्षत्र, २. ३०७, ३०८।
[3] तु०—लानमान, ह्विटनी के ट्रां.अ.वे०, ९०८ में; तु०—थिबो, ज. ए. सो. बें०, ६३. १५६.

१७. **विचृतौ=मुक्त करने वाले, मूल=जड़ और मूलर्बाहणी=उखाड़ने वाली**—मूलतः इसमें वृश्चिक की पूंछ के किनारे के तारे लम्बडा और उप्सिलोन (λ, υ) हैं, किंतु संभवतः एप्सिलोन (ε) से उप्सिलोन (υ) तक के नव या ग्यारह तारे भी इसी में आ जाते हैं।

१८,१९. **अषाढ़ाः (अविजित), पूर्वाः और उत्तर**—वास्तव में ये दो तारा-मण्डल हैं, जिनमें से पहले से धनु राशि के तारे गामा, डेल्टा, एप्सिलोन और एटा (γ, δ, ε, η Sagittarii) अथवा केवल दो डेल्टा और एप्सिलोन (δ, ε) हैं; और दूसरे में उसी राशि के थेटा, सिग्मा, टौ और ज़ेटा (θ, σ, ⊤, ζ Sagittarii) अथवा केवल दो सिग्मा और ज़ेटा (σ, ζ) हैं। हो सकता है कि मूलतः एक वर्ग बनाने वाले केवल चार तारे सिग्मा और ज़ेटा (σ, ζ) एवं डेल्टा और एप्सिलोन (δ, ε) ही इनसे अभिप्रेत रहे हों[1]।

२०. **अभिजित्**—अभिजित् प्रकाशमान तारा अल्फा लीरे (α Lyrae) है, जिसके साथ एप्सिलोन और ज़ेटा भी हैं। इसके ६०° उत्तरी अक्षांश पर स्थित बताये जाने के कारण इसका इसके समानान्तर अरब और चीन के नक्षत्रों से मेल नहीं बैठता। इस तथ्य के आधार पर ओल्डेनबर्ग[2] का कहना है कि इसका नाम बाद में जोड़ा गया है; किंतु मैत्रायणी संहिता २. १३. २० में इसका उल्लेख मिल जाने के कारण उनका यह मत चिन्त्य है (साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि इसका उल्लेख तै. सं. और कासं. में नहीं है)। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. २. ३ में उसे **अषाढ़ाः** के ऊपर और **श्रोणा** के नीचे बताया गया है; और इसका संकेत वेबर के अनुसार आकाश में उसकी स्थिति की ओर है; और इससे उनके मत में यह निष्कर्ष निकलता है कि उसकी वैदिककालीन स्थिति अरब मनाज़िल और चीनी सिएऊ के ठीक समानान्तर थी—अर्थात् अल्फा और बेटा कैप्रीकोर्नी (α, β Capricorni)। किंतु ह्विटनी के अनुसार 'ऊपर' और 'नीचे' इन शब्दों का तात्पर्य यहाँ नक्षत्रों की सूची में ऊपर और नीचे अभिजित् की स्थिति से है, जो **अषाढ़ा** के बाद और **श्रोणा** के पहले है[3]।

२१. **श्रोणा=लंगड़ा या श्रवण=कान**—यह चमकीला तारा अल्फा ऐक्वीली (α Aquilae) है, जिसके नीचे बीटा (β) और ऊपर गामा (γ) हैं। वेबर का यह कथन चिन्त्य है कि यह दो कानों के मध्यवर्ती शीर्ष को उद्दिष्ट करता है[1]। मनाज़िल और सिएऊ के साथ इसका मेल बिल्कुल नहीं बैठता; और यह स्पष्टतया भारतीय आविष्कार है।

२२. **श्रविष्ठाः अत्यन्त प्रसिद्ध या धनिष्ठाः अत्यन्त धनी**—यह हीरे के आकार का तारकमण्डल है, जिसमें हैं अल्फा बीटा, डेल्टा, गामा और संभवतः जेटा भी डोल्फिन में (α, β, δ, γ और संभवतः ζ in the Dolphin)। पूर्वोल्लिखित नक्षत्र के समान यह भी मनाज़िल और सिएऊ के साथ ठीक नहीं बैठता।

शतभिषज् या शतभिष—'सौ चिकित्सकों वाला'। संभवतः यह लम्बडा ऐक्वैरी (λ Aquarri=कुंभ राशि का तारक) है, जो अन्य अनेक तारों से घिरा हुआ है, जिनकी संख्या सौ मान ली गई है। मैत्रायणी संहिता २. १३. २० में संभवतः शतभिष नाम है (तु०—फान श्रोडर का नोट)। शान्तिकल्प ५ और नक्षत्रकल्प २ में शतभिषा है। नक्षत्रकल्प १ में शतभिष (पुंलिङ्ग) है।

२४, २५. **प्रोष्ठपदाः (स्त्रीलिङ्ग, बहुव०) या भद्रपदाः**—प्रोष्ठपदाः=पलंग या स्टूल के पावे अथवा बाद में भद्रपदाः=शुभ पैर। ये दो नक्षत्र एक वर्ग बनाते हैं। पहले (पूर्व) में अल्फा और बीटा पेगासी (α, β Pegasi) और दूसरे (उत्तर) में गामा पेगासी (γ Pegasi) और अल्फा ऐंड्रोमीडा (α Andromedae) नामक तारे हैं।

२६. **रेवती**—'धन वाली'। इसमें **मीन** राशि के कई तारे (बाद में ३२ तारे) हैं, जिनमें से ज़ेटा मीन (ζ Piscium) सर्वाधिक दक्षिण में है और वह ५७० ई० में विषुवद् वृत्त के सर्वाधिक निकट क्रान्तिवृत्त से कटता था।

२७. **अश्वयुजौ**—'दो अश्वों को जोतने वाली'। इसमें मेषराशि के दो तारे बौटा और जेटा एरिएरिस (β, ζ Arietis) हैं। अश्विन्यौ : शां.गृ.सू., १. ५६; नक्षत्रकल्प ९. ३० और अश्विनीः नक्षत्रकल्प, ४. ४५ और शान्तिकल्प ५. ११ बाद के नाम हैं।

२८. **अपभरणीः, भरणीः या भरण्यः**—='भरण करनेवाली'; यह मेष राशि में उत्तर के एक त्रिभुज का नाम है, जो मस्का (Musca) अथवा ३५, ३९ और ४१ एरिएटिस (Arietis) के नाम से ख्यात है।

नक्षत्र और मास—ब्राह्मणों में नक्षत्रों के नाम निश्चित रूप से तिथियों के लिए आये हैं। यह दो प्रकार से किया गया है। नाम यदि स्त्रीलिङ्ग में न हुआ तो इसे स्त्रीलिङ्ग

[1] तु०—थिबो, ज. ए. सो. बें०, ६३. १५६।
[2] नाख़्रिश्तन देर कोइनिग्लिश्शे गेज़लशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन त्सु गोत्तिङ्गन, १९०९.५५१,५५२।
[3] ज. अ. ओ. सो०, ८. ३९३।

[1] उपर्युक्त, २. ३८२; द्र०—ह्विटनी, ४०४।

में बनाकर पूर्णमास के साथ जोड़ दिया जाता था; जैसे, **'तिष्या-पूर्णमास'** अर्थात् तिष्य नक्षत्र में पूर्ण चन्द्रमा : तैसं. २. २. १०. १; तु०—७. ४. ८. १, २; पं. वि. ब्रा. ५. ९. १। कभी-कभी यह व्युत्पत्तिजन्य विशेषण में बदल दिया जाता था और पूर्णमासी या अमावस्या के साथ जोड़ दिया जाता था; जैसे, **'फाल्गुनी पौर्णमासी'** अर्थात् फल्गुनी नक्षत्र में पूर्ण चन्द्रमा : शब्रा०, २. ६. ३. ११ एवं आगे; ६. २. २. १८; १३. ४. १. ४; कौब्रा० १.३; ४. ४; ५. १[1]। जैसा कि सूत्रों में मिलता है, कभी-कभी केवल नक्षत्र-नाम.-जन्य विशेषण ही पूर्णमासी के द्योतन के लिए आता था। मास का नाम भी नक्षत्र के आधार पर पड़ा है, किंतु ब्राह्मणों में केवल इनका उल्लेख है :—**फाल्गुन** : पं.वि.ब्रा०, ५. ९. ८, **चैत्र** : कौ. ब्रा०, १९. ३, **वैशाख** : शब्रा०, ११. १. ७, **तैष्य** : कौब्रा०, १९. २, ३, **माघ** : कौ.ब्रा०, १९. २, ३; श.ब्रा०, १३. ८. १. ४; परवर्ती सूची के लिए द्र०—वेबर, नक्षत्र, ३२७, ३२८। बाद में सूची इस प्रकार पूरी हो जाती है : **फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्यैष्ठ, आषाढ़, श्रावण, प्रोष्ठपद, आश्वयुज, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, तैष्य, माघ**। सूक्ष्म विचार से ये चान्द्रमास ठहरते हैं; किंतु चान्द्र वर्ष का उपयोग अत्यन्त सीमित है; हम देख चुके हैं कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के समय में ही चान्द्र मासों को ३० दिन के बारह सौर मासों के बराबर बनाने का प्रयास किया गया था। द्र०—**मास**।

नक्षत्र और काल-गणना—(१) महीनों के नाम से उस समय का पता चलाने का प्रयत्न किया गया है जबकि इनका व्यवस्थित प्रयोग आरम्भ हुआ था। सर विलियम जोन्स[2] ने ऐसी संभावना की ओर संकेत किया था; और बेंटली ने यह मानकर कि श्रावण सर्वदा ग्रीष्म संक्रान्ति में आता था, यह निष्कर्ष निकाला है कि मासों से तिथि-गणना १८८१ ई० पू० से पहले की नहीं है। वेबर[3] का विचार है कि इस आधार पर काल-निर्णय किया जा सकता है। किंतु ह्विटनी[4] ने यह दिखा दिया है कि ऐसा करना संभव नहीं है; और इस बात में थिबो उनसे सहमत हैं[5]। बारह संख्या महीनों के लिये पुरोहितों की इस इच्छा से निश्चित हुई थी कि किसी तरह चान्द्र मास और सौरमास में समन्वय स्थापित हो जाय। किंतु २७ नक्षत्रों में से केवल १२ को पूर्णिमा के लिए चुनना काल-गणना के लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि पूर्णिमा किसी समय भी केवल उन्हीं नक्षत्रों में नहीं पड़ी थी, अपितु उन २७ में से हर एक में हर युग में नियमित अन्तर के बाद ही होती थी।

(२) नक्षत्रों की सभी सूचियाँ **कृत्तिका** से प्रारम्भ होती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके लिए कोई उचित कारण रहा होगा। अब नक्षत्रों की बाद की सूची **अश्विनी** से आरम्भ होती है; और यह सुधार इसलिए किया गया था, कि इसे अपनाने के समय वसन्त-संक्रान्ति (जिसे अब मेष-संक्रान्ति कहते हैं) रेवती से सूर्य के अश्विनी में आने पर होने लगी थी। ऐसा लगभग छठी शताब्दी ई० से हो रहा है।[1] इस लिए वेबर ने यह स्वीकार किया था कि **कृत्तिका** नक्षत्र को भी इसी दृष्टि से स्वीकार किया गया था; और वह तिथि, जब कि वह नक्षत्र वसन्त-संक्रान्ति के साथ पड़ा था, ईसा से तीसरी सहस्राब्दी पूर्व पड़ती थी[2]। इस मत की सबसे बड़ी कमी इसकी इस मान्यता में है कि उस समय नक्षत्रों से सूर्य का संबन्ध समझा जाता था, चन्द्र का नहीं। थिबो[3] एवं ओल्डेनबर्ग[4] दोनों ने संक्रान्ति के **कृत्तिकाओं** के साथ संबन्ध का खण्डन किया है। याकोबी ने माना है कि ऋग्वेद ७. १०३ मण्डूक-सूक्त और १०. ८५ विवाह-सूक्त में वर्षा के आरम्भ और उत्तरायण के साथ ही नववर्ष का प्रारम्भ और पुरातन वर्ष की समाप्ति होती थी; इसके साथ ही उन्होंने यह भी माना है कि यह नववर्ष तब होता था जब कि उत्तरायण फल्गुनी नक्षत्र में होता था[5]। उन्होंने तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. २. ८ में

---

[1] द्र०—कालैण्ड, ऊबर देस रितुआल सूत्र देस बौधायन, ३६, ३७ और द्र०—**मास**।

[2] एशियाटिक रिसर्चेज, २. २९६।

[3] उपर्युक्त, २. ३४७, ३४८; इस्तू०, ९. ४५५; १०. २३०, २३१।

[4] ज.अ.ओ.सो०, ६. ४१३; ८. ८५ एवं आगे।

[5] ऐस्ट्रोनमी ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक, १६।

---

[1] तु०—कोलब्रुक, एसेज़, २. २६४; वेबर, इस्तू०, १०. २३४।

[2] द्र०—वेबर, नक्षत्र, २. ३६२—३६४; इस्तू., १०. २३४; इंदि० लित, २ टि. २ इत्यादि; ब्यूहलर, इंडियन ऐंटीक्वेरी, २३. २४३ टि. २०; तिलक, ओरायन, ४० एवं अग्रिम।

[3] इंडि. ऐंटी., २४. ९६।

[4] त्सादामौगे०, ४८. ६३१; ४९. ४७३; ५०. ४५१, ४५२; नाख्रिख्तन देर कोइनिग्लिशे गेज़लशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन त्सु गोत्तिङ्गन, १९०९. ५६४; कीथ, जराएसो०, १९०९. ११०३।

[5] द्र०—फेस्टग्रुस आन राथ, ६८ एवं आगे=इंडियन ऐंटीक्वैरी, २३. २५४ एवं आगे; कीथ, जराएसो०, १९१०. ४६३।

मिलने वाले देवनक्षत्र और यम-नक्षत्र के विभेद की ओर भी संकेत किया है; और इसमें उन्होंने सूर्य और नक्षत्रों के संबन्ध को देखा है। किंतु यह मत संतोष-प्रद नहीं है; यह परिणाम तभी निकाला जा सकता है जब कि हम ऋग्वेद ७. १०३. ९ के 'द्वादश' का अनुवाद 'बारहवाँ मास' यह करें, न कि 'बारह भागों वाला' अर्थात् 'वर्ष' जो कि सर्वसंमत व्याख्या है। साथ ही सूर्य से नक्षत्रों का संबन्ध मानने पर नक्षत्रों के विभाजन की भी संतोष-प्रद व्याख्या नहीं हो पाती। किंतु यदि कृत्तिका नक्षत्र के अपनाने को, इस आधार पर कि यह वसन्त-संक्रान्ति के आधार पर पड़ा था, मान भी लिया जाय, तो भी ह्विटनी[१] और थिबो[२] के अनुसार यह असावधानी से ज्योतिष की दी हुई तिथि का परिवर्तन-मात्र है, जो कि शीत-संक्रान्ति को माघ में रखता है।

(३) माघ की शीत-संक्रान्ति का समर्थन ब्राह्मणों से होता है; क्योंकि कौषीतकि ब्राह्मण १९. ३ में स्पष्टतः इसे माघ की अमावास्या में माना गया है (माघस्यामावास्यायाम्)[३]। इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि हम भाष्यकारों के साथ इसे तैष की पूर्णिमा के बाद के दिन से आरम्भ होने वाले महीने के बीच की अमावास्या में मानें अथवा जैसा कि अधिक संभव है, महीने के आरंभ को और माघ की पूर्णिमा से पहले आने वाली अमावास्या मानें।[४] उक्त तथ्यों से तिथि के निर्धारण में सहायता मिलती है:—यदि किसी युग में रेवती के अन्त में वसन्त-संपात पड़ता था, तो अयन-चलन (विषुव-पूर्वायण) के आधार पर यह हिसाब लगाया जा सकता है कि उस समय वसंत-संपात समय के किस बिंदु पर था, जब कि उसके समानान्तर शीत-संपात माघ में पड़ता था, जब कि क्रान्तीय चक्र को श्रविष्ठाओं के आरंभ में अयनान्त उन्मण्डल काटता था; और यह होगा भरणी के तृतीय चरण में श्रविष्ठाओं से ६$\frac{३}{४}$° नाक्षत्र-अवधि आगे। और इसके एवं अश्विनी के आरंभ के बीच का अन्तर होगा १$\frac{३}{४}$ नाक्षत्र-अवधि का, जो २३$\frac{१}{३}$ के बराबर होगा (क्योंकि २७ नक्षत्रों के ३६०° होते हैं)। जोन्स[१] ने बाराहमिहिर के समय ४९९ ई० को आरंभिक विंदु मानकर वसंत-संपात का समय १८८१ ई० पूर्व निश्चित किया है, जब कि माघ के शीत-संपात के समानान्तर यह पड़ता था— अर्थात् १°=७२ वर्ष विषुव-पूर्वायण के आधार पर। प्राट्ट[२] भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं; उन्होंने अयनचलन (विषुव-पूर्वायण) के इसी क्रम को स्वीकार करते हुए मघा के संधि-स्थलस्थ तारक अल्फालियोनिस या रेगुलस (α Leonis या Regulus) की 'सिद्धान्त' ग्रन्थों में निश्चित स्थिति को अपनी गणना का आधार बनाया है।[३] डेविस[४] और कोलब्रुक[५] एक भिन्न समय ईसा से पूर्व १३९१ पर पहुंचे हैं। इन लोगों ने चित्रा के संधिस्थलस्थ तारक को गणना का आधार बनाया है; किंतु उसकी स्थिति अनिश्चित है; और विभिन्न ग्रन्थों में उस तारक के स्थान के संबन्ध में ३° तक का अन्तर पड़ता है; किंतु यद्यपि १२ वीं शती ई० पूर्व को ज्योतिष के निरीक्षण का समय माना गया है;[६] तथापि इसका महत्त्व अत्यन्त संदिग्ध है। जैसा कि ह्विटनी ने भी संकेत किया है, यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन

---

[१] ओ.ऐं.लिं० एसेज, २. २८३।

[२] इं.ऐंटी०, २४. ९७; तु०—कीथ, ज.रा.ए.सो०, १९१०. ४६४ टि० ४।

[३] इस पर सर्वप्रथम वेबर ने ध्यान दिया था; द्र०—नक्षत्र, २. ३४५ एवं आगे; उन्होंने इससे ज्योतिष के तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। वैसा ही बौधायन श्रौत-सूत्र में है, जैसा कि सामशास्त्री ने उद्धृत किया है; द्र०—गवामयन, १३७ 'माघे मासे धनिष्ठाभिर् उत्तरेणैति भानुमान्, अर्धाश्लेषस्य श्रावणस्य दक्षिणेनोपनिवर्तते।' अर्थात् माघ मास में सूर्य धनिष्ठा नक्षत्र में उत्तरायणगत होता है; श्रावण में और आश्लेषा नक्षत्र के मध्य में वह दक्षिण की ओर लौटता है। भाव स्पष्ट है, यद्यपि पाठ अशुद्ध है। कैलेंड की पाण्डुलिपि में वह पाठ नहीं है, अन्यथा वे ऊबर देस रितुअल सूत्र देस बौधायन, ३६, ३७ में अवश्य उल्लेख करते। अतः इसकी तिथि और महत्त्व दोनों अनिश्चित हैं।

[४] द्र०—विनायक का कौब्रा०, १९. ३ पर भाष्य; आनर्तीय का शांश्रौसू०, १३. १९. १ पर भाष्य; इनके मन में यह बात दृढ़ है कि मासान्त पूर्णिमा या अमावास्या को होता है। किंतु कोई कारण नहीं है कि वैदिक काल में अमावास्या से महीने का प्रारंभ न माना जाय। इससे कौब्रा० के उक्त स्थल की ठीक व्याख्या हो जायगी।

[१] एशियाटिक रिसर्चेज, २. ३९३।

[२] ज. ए. सो. बें., ३१. ४९।

[३] तु०—ह्विटनी, ओ. ऐं. लि. एसेज़, २. ३७३।

[४] एशियाटिक रिसर्चेज़, २. २६८; ५. २८८।

[५] एसेज़, १. १०९, ११०; द्र०—सर टी० कोल्ब्रुक, जराएसो०, २. ३८१, ३८२।

[६] द्र०—लास्सन, इंआ०, १२. ६०६, ६०७, ९७६; तु०—थिबो, एस्ट्रोनमी, ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक, १७, १८; तिलक, ओरायन, ३८, ३९।

काल में भी परवर्ती काल के समान सभी नक्षत्र १३⅓° समानान्तर थे। वे समान विभाग के रूप में नहीं स्वीकार किए गए थे, अपितु उन तारकों के समूह के रूप में लिए गये थे, जिनमें से चन्द्र जाता था और बाद में उन्हें एकान्ततः समान विभाग वाले बना देने का फल यह हुआ कि बाद के नक्षत्र-समूहों के प्रमुख तारे मण्डल से दूर जा पड़े।[1] संभवतः हम यह भी नहीं कह सकते कि जेटा मीन (ζ Piscium) तारा पहले रेवती की पूर्वी सीमा पर था; संभवतः यह उस मण्डल में रहा ही न हो, क्योंकि रेवती के समकक्ष अरब और चीन के नक्षत्र-मण्डल से वह कहीं दूर पड़ता है। इसके साथ ही, और आरंभ-बिंदु की अनिश्चितता के साथ ५८२ ई०, ५६० ई०, ४९१ ई० ये विभिन्न आरंभ-बिन्दु माने गये हैं—यह भी स्मरणीय है कि केवल निरीक्षण से ही हम संपातों की स्थिति का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकते। साथ ही वैदिक काल के भारतीय ज्योतिषियों को हम इस विषय में एकान्ततः निर्भ्रान्त नहीं मान सकते, क्योंकि उन्होंने वर्ष के दिनों की संख्या भी पूरी तरह से निश्चित नहीं की है; 'ज्योतिष' तक में ३६६ दिनों के अतिरिक्त उसका और सूक्ष्म निर्धारण नहीं किया है, यहां तक कि 'सूर्य-सिद्धान्त' को भी अयन चलन (विषुव-पूर्वायण) का ज्ञान नहीं है।[2] अतः इस विषय में गलतियों के लिए एक हजार वर्ष की छूट दी जा सकती है।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण के उक्त संकेत से इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि यह ब्राह्मण किसी ऐसे निरीक्षण को लेखबद्ध कर रहा है, जो ईसा से कुछ शती

[1] द्र०—ह्विटनी, उपर्युक्त, २. ३७५।

[2] ह्विटनी का नोट, सूर्य-सिद्धान्त, ३. १२ पर; उपर्युक्त २. ३६९ टि० १; ३७४ टि० १; तु०—तिलक, ओरायन, १८।

[3] ह्विटनी, ३८४; थिबो, इं. ऐंटी०, २४. ९८; ऐस्ट्रीनामी, ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथेमेटिक, १८; द्र०—वेवर, इं० लिटरेचर, २ टि० २; ह्विटनी, जराएसो०, १. ३१३ एवं आगे; कोलब्रुक, एसेज़, १२. १२० एवं अग्रिम; मैक्समूलर, ऋग्वेद, ४². ३० एवं अग्रिम; कुछ लोकप्रिय ग्रन्थों, चिप्स, १, ११३ में इन्होंने इसके विपरीत ११८१ ई० पू० या ११८६ ई० पू० को स्वीकार किया है, जिसे इन ग्रंथों का प्रभाव माना जा सकता है—मेन द्वारा प्राट के गणन का दुहराना; सामशास्त्री का गवामयन, १२२ एवं अग्रिम; किंतु मैकडानल और कीथ के अनुसार यह गलत समझना है; द्र०—कीथ, जराएसो०, १९१०, ४६६ टि० ५।

पहले किया गया था; और यह निष्कर्ष ब्राह्मणों की संभावित तिथि: ८००—६०० ई० पू० के साथ ठीक बैठ जाता है।[1]

(४) तिथि-संबन्धी एक अन्य युक्ति इस बात में ढूंढ़ी गई है कि वर्ष का आरम्भ **फाल्गुन** से होता था इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं, जिनमें प्रमुख यह कि **फाल्गुनी पूर्णिमा** को वर्ष का मुख बार-बार कहा गया है: तैसं० ७. ४. ८. १, २; पंविब्रा०, ५. ९. ९; तु०—कौब्रा०, ४. ४; ५. १; तैब्रा०, १. १. २. ८; शब्रा०, ६. २. २. १८; आश्वौसू०, ५. ३. १६; तैब्रा० और कौब्रा० के अनुसार आरम्भ नक्षत्रों के मध्य में संगम-स्थान पर होता है। याकोबी इसका कारण इस बात को बताते हैं कि वर्ष का आरम्भ शीत-संक्रान्ति से होता था; और यह **फाल्गुन** के साथ पड़ा होगा ईसा से ४००० वर्ष पहले[2]। इसके विपरीत ओल्डेनबर्ग[3] और

[1] तु०—मैंकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १२. २०२; कीथ, ऐ० आ०, २० एवं अग्रिम; किंतु कुछ लोगों ने ब्राह्मणों को अधिक प्राचीन माना है—द्र०—थिबो, ऐस्ट्रोनमी इत्यादि, १८; ब्युहलर, त्सादामौगे०, ६५. ५४४; तु० ब्युहलर, सेबुई० २. ४० एवं आगे; इंण्डि० ऐंटी., २३. २७४; फान श्रोदर, इं. लि. उन्द कु०, ४५ एवं अग्रिम; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ३; हिल्लेब्रांड्ट, रि०लि०, ३१। ये लोग आपस्तम्ब-सूत्रों को चौथी या पाँचवी शती ई० पू० में मानते हैं, जिससे ब्राह्मणों को और अधिक प्राचीन मानना आवश्यक हो जाता है। किंतु द्र०—एगलिंग, सेबुई०, १२. ४०; इन्होंने आपस्तम्ब को तीसरी शती ई० पू० में माना है। वैदिक काल को अधिक प्राचीन मानना मैकडानल और कीथ के अनुसार बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि आर्ष-काव्यों में भी माघ-संक्रान्ति का उल्लेख है: महाभारत, १३. १६८; ६. २८; (१. ७१. ३४); श्रवण से नक्षत्रों को प्रारंभ किया गया है और मार्गशीर्ष को प्रथम मास माना गया है; द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, २४. २१ एवं आगे; तु०—तिलक, ओरायन, ३७, २१६।

[2] द्र०—इं. ऐंटी०, २३. १५६ एवं अग्रिम; त्सादामौगे०, ४९. २२३ एवं अग्रिम; ५०. ७२—८१; द्र०—तिलक, ओरायन, ५३ एवं अग्रिम; १९८ एवं अग्रिम।

[3] त्सादामौगे०, ४८. ६३० एवं अग्रिम; ४९. ४७५, ४७६; ५०. ४५३—४५७; तु०—ह्विटनी, जअओसो०।

थिबो[1] का कहना है कि फाल्गुन को वर्ष का मुख कहने का कारण उसका वसन्त का प्रथम मास होना है। इस तथ्य का समर्थन वसन्त के आरम्भ और फाल्गुन के साथ-साथ होने से हो जाता है[2] : जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि कौषीतकि ब्राह्मण १९. २. ३ में माघ की अमावस्या को शीत-संक्रान्ति में बताया गया है; और इससे फाल्गुन की पूर्णिमा पड़ेगी शीत-संक्रान्ति से १½ महीने बाद अथवा फरवरी के पहले सप्ताह में, जो तिथि ८०० ई० पूर्व में असंभव नहीं है, और जो रोमन पञ्चाङ्ग की ७ फरवरी की तिथि के समानान्तर आती है। यह तथ्य ठीक बैठता है वर्ष के चार-चार मास के तीन विभागों वाले विभाजन के साथ; क्योंकि वर्षा ऋतु जून ७–१० से अक्टूबर ७–१० तक चलती है; और यह निश्चित है कि वर्ष के विभाजन का दूसरा भाग वर्षा के आरम्भ के साथ शुरू होता था (द्र०—चातुर्मास्य)। दूसरी ओर तिलक, ओरायन, ५३ एवं आगे; १९८ एवं आगे का मत है कि तैत्तिरीय संहिता के समय में, अर्थात् २३२५ ई० पूर्व में शीत-संक्रान्ति माघी पूर्णिमा के साथ पड़ती थी; और उससे पहले फाल्गुनी और चैत्री पूर्णिमा के साथ पड़ती रही थी अर्थात् ४००० से २५०० ई० पू० और ६००० से ४००० ई० पू० में।

(५) तैत्तिरीय संहिता ७. ४. ८. १ और पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९ के संदर्भ में, जहाँ फाल्गुनी पूर्णिमा को वर्ष का प्रारम्भ माना गया है, वहीं उसके विकल्प में चैत्री पूर्णिमा का उल्लेख है[3]। संभवतः परवर्ती मास को इसलिए चुना गया था कि आरम्भिक दिन ठीक वसन्त में पड़े[4] ; और यह, जैसा कि याकोबी ने माना है, उस युग का अवशेष नहीं था जब कि शीत-संक्रान्ति चैत्र के समानान्तर पड़ती थी। एक और विकल्प है एकाष्टका, जिसे भाष्यकारों ने माघी पूर्णिमा के बाद आठवाँ दिव

[1] इं. ऐंटी०, २४. ८६ एवं आगे।

[2] द्र०—वेबर, नक्षत्र, २. ३२९ एवं आगे; तु०—शब्रा०, १. ६. ३. ३६; कौब्रा० ५. १; काश्रौसू०; १. २. १३ में श्रुति. वाक्य; बौघसू०, २. ४. २३; और विशेषतः शब्रा०, १३. ४. १. २, ४; इसीलिए कासं० ८. १ और मैसं०, १. ६. ९ में फाल्गुन को ऋतुओं का मुख कहा गया है।

[3] द्र०—वेबर, उपर्युक्त, २. ३४१–३४४; थिबो, इं० ऐंटी०, २४. ८५ एवं आगे; तिलक के ओरायन ४३ एवं आगे के विचारों का यहाँ विवेचन है।

[4] द्र०—थिबो, इं० ऐंटी०, २४. ९३; दूसरी ओर तिलक, ओरायन, १९८ एवं आगे।

माना है, जो कि पुराने वर्ष के अन्तिम मास का अन्तिम चरण है, जिसे वर्ष के अन्त का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। एक चौथा विकल्प यह हो सकता है कि यह चैत्र-पूर्णिमा से पहले का चौथा दिन है, जैसा कि आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत आलेखन का मत है; न कि माघ का, जैसा कि आश्मरथ्य, लौगाक्षि और तिलक ने माना है[1]।

(६) गृह्य-सूत्रों के अनुसार कुछ लोग मार्गशीर्ष से वर्ष का प्रारम्भ मानते थे, जैसा कि इसके दूसरे नाम आग्रहायण से ध्वनित होता है[2]। तिलक और याकोबी का मत है कि यह मार्गशीर्ष में होने वाली शारद संक्रान्ति का द्योतक है, जो कि फाल्गुनी में होने वाली शीत-संक्रान्ति के समानान्तर पड़ती थी[3]। किंतु, जैसा कि थिबो ने दिखा दिया है (उपर्युक्त, ९४, ९५) इसे कुछ लोगों ने ऐसे वर्ष के आरम्भ-रूप में मान लिया था, जिसका आरम्भ शरद् के साथ माना जाता था, जैसे कि कुछ वसन्त का आरम्भ फाल्गुन के साथ न मानकर चैत्र से मानते थे[4]।

(७) याकोबी ने और उनके समर्थक ब्यूहलर[5] ने गृह्य-सूत्रों में वेदाध्ययन के आरम्भ के आधार पर, जो वर्षा (=बौद्ध वस्सा) से प्रारम्भ होता था, ग्रीष्म-संक्रान्ति का उल्लेख किया है। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कुछ ग्रन्थों में विद्यारम्भ का समय भाद्रपद को बताया गया है, तो इसके निर्धारण का आधार यह था कि किसी समय प्रोष्ठपदाः (भद्रपदाः का पुराना नाम) ग्रीष्म-संक्रान्ति के समानान्तर रही होंगी, और यह समय तब रहा होगा जब कि शीत-संक्रान्ति फाल्गुन में पड़ती थी[6]। किंतु ह्विटनी ने इस निष्कर्ष की असारता सिद्ध

[1] द्र०—थिबो, उपर्युक्त, ९४; तिलक, ५१ एवं आगे; तु०—काश्रौसू०, १३. १. ८–१०; वेबर, २. ३४३ टि.; २. ३४४।

[2] द्र०—थिबो, उपर्युक्त, ९४, ९५; तु०—वेबर, २. ३३२, ३३४।

[3] द्र०—ओरायन, ६२ एवं आगे; यह अमरकोष, १. २-३ में आग्रहायणी और मृगशिरस् के वाचक होने के कथन पर आधृत है; कुछ पुराकथाओं का भी योग है; द्र०—अध्याय ५–७; २२१ एवं आगे, जहाँ इन्होंने आग्रहायण की मृगशिरस् से बराबरी की है।

[4] द्र०—थिबो, उपर्युक्त, ९६; तु०—वेबर, उपर्युक्त, २. ३३४।

[5] इऐंटी० १३. २४२ एवं अग्रिम।

[6] जअओसो०, १६. ८४ एवं अग्रिम।

कर दी है—और यह कहना असंगत है कि वर्षा और विद्यारम्भ में किसी भी प्रकार का संबन्ध रहा था—हो सकता है कि श्रावण को इसलिए अपना लिया गया हो कि इसका आधार श्रवण (=कान) था—और पूर्वायणों को ध्यान में रखते हुए हमें यह मान लेना होगा कि भाद्रपद को वर्षारम्भ के साथ इसकी परंपरागत समानान्तरता के कारण अपना लिया गया था, इसके बाद जब कि उसकी यह समानान्तरता समाप्त हो चुकी थी।

यहाँ निम्नलिखित बातों की ओर भी ध्यान देना उचित होगा :—(१) याकोबी ने विवाह में दिखाए जानेवाले तारे 'ध्रुव' के अर्थ को ध्यान में रखकर वेद के काल पर विचार किया है। यह शब्द गृह्य-सूत्रों से पहले नहीं मिलता, और यह भी अभी संदिग्ध ही है कि यह प्रथा कितनी पुरानी थी। 'ध्रुव' का अर्थ स्थिर है; और निश्चय ही सूत्रग्रन्थों में इसका आशय स्थिर या ध्रुव तारा रहा होगा; और उनके अनुसार ऐसा तारा ईसा से ३००० वर्ष पहले मिलता है। ह्विटनी, ओल्डेनबर्ग और कीथ ने इस मत को नहीं माना है। उनका कहना है कि लोक-प्रथाओं को अधिक महत्त्व देना अनुचित है; और रही विवाहावसर पर ध्रुव तारा दिखाने की बात; वह तो किसी भी बड़े तारे की ओर इशारा करके पूरी की जा सकती है[१]। (२) शतपथ ब्राह्मण २. १. २. ३ में कहा गया है कि कृत्तिकाएँ पूर्वी दिशा से नहीं हटतीं, जब कि दूसरे नक्षत्र हट जाते हैं। इससे भी याकोबी ने शतपथीय निरीक्षण के लिए तीसरी सहस्राब्दी का समय निकाला है[२]। किंतु इस निरीक्षण से इतने प्राचीन समय पर पहुँचना दुःसाहस है; और तिथि-निर्धारण के क्षेत्र में इसकी अविश्वसनीयता इतने ही से प्रकट हो जाती है कि बौधायन श्रौत-सूत्र १८. ५ में भी एक ऐसा ही निरीक्षण आता है जिसके साथ एक और निरीक्षण मिलता है, जो बार्थ के अनुसार छठी शताब्दी ई० में ही सत्य ठहरता है, क्योंकि वहाँ **विषुवबिन्दु** को **चित्रा** और **स्वाती** के बीच बताया गया है[३]; जब कि दोनों ही प्राचीन काल में विषुवत् रेखा से बहुत ही उत्तर की ओर थे। माध्यंदिन-शाखीय शतपथ ब्राह्मण के उसी संदर्भ २. १. २. २ में कहा गया है कि किसी भी नक्षत्र के तारों की अपेक्षा कृत्तिकाओं की संख्या अधिक है; क्योंकि अन्य नक्षत्रों में एक, दो, तीन, या चार तारे हैं अथवा जिनमें काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण के अनुसार चार होते हैं[१]। इसे भी बहुत महत्त्व देना अनुचित है; क्योंकि हस्त में बाद में पाँच तारे मिलते हैं क्योंकि हाथ की अंगुलियाँ पाँच हैं[२]। संभवतः वह संख्या ऋग्वेद १. १०५. १० में भी संकेतित है[३]। (३) नक्षत्रों के नामों को व्यञ्जक मानकर उनसे उनकी स्थिति पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। बेंटली[४] के अनुसार १४२६ ई० पूर्व में विषुवत् रेखा को अयनकालीन ध्रुव-वृत्त विभाजित करता था, इसीलिए **विशाखा** नाम उस नक्षत्र का पड़ा है। तिलक[५] ने इस मत का खण्डन किया है। ज्येष्ठघ्नी='जेठ को मारने वाली' नाम का कारण यह बताया गया है कि वह पुराने वर्ष का अन्त करती है। तिलक[६] का सुझाव है कि मूला नाम इसलिए पड़ा था कि अयन-संक्रान्ति के समय यह नये वर्ष का आरम्भ करती थी, जब कि वसन्त-संपात मृगशिरस् के पास होता था। किंतु ह्विटनी (सूर्यसिद्धान्त १९८) के अनुसार यह सबसे अधिक दक्षिण में थी; और इसलिए नक्षत्रों का एक प्रकार से आधार थी।

नक्षत्रों का आरम्भ—जैसा कि हम देख चुके हैं, भारत में नक्षत्रों के आरम्भ को पक्की तरह बताने वाला कोई साक्ष्य नहीं है। ऋग्वेद के प्राचीन भागों में उनका उल्लेख केवल तारों के रूप में आया है; बाद में, संहिता के सर्वथा परवर्ती भागों में तीन के नाम आए हैं; और उसके बाद अथर्ववेद और याजुष संहिताओं में नक्षत्रों की पूरी सूची आ जाती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक भारतीयों को ज्योतिष के अन्य पहलुओं का ज्ञान भी अपेक्षाकृत कम था (द्र०—**ग्रह**); अतः उनके द्वारा २७ नक्षत्रों का आविष्कार एक आश्चर्य की बात है। दूसरी ओर इस प्रकार की प्रक्रिया कोई कठिन बात नहीं है; क्योंकि एक तारे को या एक तारा-समूह को चुन लेना आसान है, जिनमें कि चन्द्रमा आया हुआ हो। अतः पहले ही से यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वैदिक भारतीय अपने लिए एक **चान्द्र राशि-चक्र** का आविष्कार करने में समर्थ रहे होंगे[७]।

---

[७४] द्र०—कीथ, जराएसो०, १९०९. ११०२; १९१०. ४६५; याकोबी, उक्त जर्नल, १९०९. ७२६।

[७५] द्र०—जराएसो० १९१०. ४६३, ४६४.

[७६] द्र०—कालेंड, ऊबर देस रितुअल सूत्र देस बौधायन, ३७–३९।

[१] द्र०—एगलिंग, सेबुई०, १२. २८२ टि. २।

[२] तु०—वेबर, नक्षत्र, ३६८, ३८१।

[३] तु०—गेल्डनर, वै.स्टू०, ३. १७७।

[४] हिस्टोरिकल रिव्यू, २।

[५] ओरायन, ५७ एवं अग्रिम। [६] वही, ९०।

[७] द्र०—मैक्समूलर, ऋग्वेद, ४. ४४ एवं आगे; थिबो, एस्ट्रोनामी, ऐस्ट्रोलोगी उण्ड मैथेमेटिक, १४, १५; ह्विटनी, ओ० ऐं० लि० एसेज., २. ४१८।

किंतु प्रश्न जटिल हो जाता है, जब हम देखते हैं कि अरब और चीन में २८ नक्षत्रों का **मनाज़िल** और **सिएऊ** नामक वर्गीकरण मिलता है। अरब में **मनाज़िल** का प्रयोग प्रचलित है और प्रभावपूर्व है। उससे पञ्चाङ्ग की व्यवस्था होती है, और तारों की स्थिति चान्द्र नक्षत्र-राशि के लिए अपेक्षित स्थिति के साथ बिल्कुल ठीक बैठती है। हो सकता है कि भारतीयों ने इस व्यवस्था को अरब से लिया हो; किंतु यह तो एक संभावना-मात्र है; क्योंकि **मनाज़िल** की सत्ता के साक्ष्य नक्षत्रों की सत्ता के साक्ष्य से बहुत बाद के हैं, जब कि ओल्ड टेस्टामेंट[१] का मज्जरोथ या मज्जलोथ चान्द्र नक्षत्रों का बोधक हो सकता है। बर्गेस का मत है कि अरब ने नक्षत्रों की गणना भारत से सीखी थी[२]। किंतु मैकडानल और कीथ ने सेडिलाट के आधार पर इसका खण्डन किया है[३]।

प्रसिद्ध चीनी विद्वान् बायर ने १८३९ से १८६१ ई० तक प्रकाशित अनेक लेखों[४] में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भारतीय नक्षत्र चीनी **सिएऊ** से लिए गये हैं। वे **सिएऊ** को मौलिक-रूपेण चान्द्र नहीं मानते। उनके मत में वे विषुवरेखीय तारे थे; और उनका उपयोग, जैसा कि आजकल के ज्योतिष में, एक मान-दण्ड के रूप में होता था, जिससे कि उनके पड़ोस में दीख पड़ने वाले तारों का निश्चय किया जाता था। वे २४ थे और उन्हें २३५७ ई० पूर्व में अपनाया गया था। ११०० ई० पू० के आस-पास उस काल के संपातों और संक्रान्तियों को व्यक्त करने के लिये इनकी तालिका में चार और जोड़ दिए गये थे। उनका कहना है कि तारों की सूची **माओ** =कृत्तिका से आरम्भ होती थी, जो कि २३५७ ई० पू० में वसन्त-संपात में स्थित था। वेबर[१] ने इस मत का खण्डन किया है; और चीनी **सिएऊ** के साक्ष्य को तीसरी शती ई० पू० से पहले का नहीं माना है, यद्यपि एतद्विषयक साक्ष्य के समय का निर्णय वेबर ने ठीक नहीं किया है; फिर भी उनका यह कथन ठीक है कि चीन की **सिएऊ**-परंपरा बाद की है।[२] ह्विटनी ने वेबर के कथन का समर्थन किया है और उन्होंने बायर के इस कथन को गलत बताया है कि **सिएउ** चान्द्र नक्षत्रों की परंपरा नहीं है।[३] उनके इस मत को, नक्षत्रों के चीन से लिए जाने के समर्थक लियोपोल्ड डि सौसुरे ने भी स्वीकार किया है।[४] भारतीय नक्षत्रों के चीन से लिए जाने के उनके कथन का ओल्डेनबर्ग ने खण्डन किया है।[५] उन्होंने यह भी दिखाया है कि नक्षत्र-गणना **माओ**=कृत्तिका से नहीं प्रारंभ होती।[६]

अब केवल एक ही संभावना रह जाती है और वह है यह कि **नक्षत्र, मनाज़िल,** और **सिएऊ** सभी का एक सामान्य स्रोत बेबिलोनिया रहा हो। होमेल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि बेबिलोनिया में २४ चान्द्र नक्षत्रों की सत्ता थी;[७] जिनमें पहले २४ नक्षत्रों का उल्लेख था; और वहाँ गणना कृत्तिका (Pleiades) से प्रारंभ होती थी; किंतु थिबो के अनुसंधान इस बात के पक्ष में नहीं हैं।[८] दूसरी ओर वेबर, ह्विटनी, त्सिमर और ओल्डेनबर्ग, बेबिलोनिया में ही नक्षत्रों का स्रोत मानने के पक्ष में हैं;[९] और मैकडानल एवं कीथ भी इस संभावना को

---

[१] दो राजा, २३. ५; जाब, ३८. ३।

[२] द्र०—वेबर, नक्षत्र, १. ३१७, ३१८; ह्विटनी, उपर्युक्त, ३५९।

[३] द्र०—जअओसो०; ८. ३०९—३३४; वेबर का भी यही मत ह्विटनी, ४१३ के अनुसार हैं; किंतु वेबर ने इसे अस्वीकार किया है; द्र०—इस्टू०, ९. ४२५, ४२६; १०. २४६, २४७।

[४] तु०—सेडिलाट, मेतेरियो पूर सर्विर आ ल् हिस्त्वार कम्पैरे देस सिइंसेज़, मैथेमेटिक पर ले ग्रेक्स ए ल् ओरियेंतौ, पेरिस, १८४५—१८४९।

[५] जो बाद में इन ग्रन्थों में संगृहीत किया गया, रिशेर्श स्युर ल ऐंसियेन ऐस्त्रोनामी शिनुआज़' और 'एत्यूदेस स्युर ल् एस्त्रोनामी इंदियन्ने ए ल् ऐस्त्रोनामी शिनुआज़'।

---

[१] नक्षत्र, १. २८४ एवं अग्रिम।

[२] द्र०—चवन्नेस, ओल्डेनबर्ग द्वारा उद्धृत नाख़०,गे०देर वि० त्सु गार्त्तिगन, १९०९. ५६६, ५६७।

[३] द्र०—जअओसो०, ८. १ एवं आगे; ओ०ऐं०लिं० एसेज़, २. ३८५ एवं आगे। वेबर से उनके मतभेद के संबन्ध में द्र०—इस्टू०, ९. ४२४ एवं आगे; १०. २१३ एवं आगे; ह्विटनी, जअओसो०, ८. ३४८ एवं आगे।

[४] ट ऊङ्ग पाओ, १९०९. १२१ एवं आगे।

[५] द्र० नाख़रिश्तन०, १९०९. ५४४, ५७२।

[६] वही, ५४८ टि० ९।

[७] त्सादामौगे०, ४५. ५९२ एवं आगे।

[८] द्र०—जएसोबें०, ६३. १४४. १६३; तु०—ऐस्ट्रोनामी०, १५; ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, ५७२।

[९] द्र०—वेबर, नक्षत्र, १. ३१६ एवं अग्रिम; इस्टू०, १०. २४६; नक्षत्र, २. ३६२; ह्विटनी, उपर्युक्त, २. ४१८, ४२०; त्सिमर, आ०ले०, ३५६, ३५७ ये नक्षत्रों को दृढ़ विश्वास के साथ सेमेटिक मूल का मानते हैं। ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, ५७२।

मानने के पक्ष में हैं; क्योंकि वैदिक साहित्य में बेबिलोनियन प्रभाव के अन्य चिह्न भी मिलते हैं; जैसे जलप्लावन की लोक-कथा, संभवतः आदित्य और मना शब्द।[1]

[1] वेबर, नक्षत्र, २. ३६२, ४०० के मत से ज्योतिष, ८ के आधार पर बेबिलोनिया से तुलना की जा सकती है। यहाँ बड़े और छोटे दिन के अन्तर को ६ मुहूर्तों का कहा गया है। इससे सबसे बड़ा दिन १४ घंटे २४ मिनट का होता है और वह बेबिलोनिया के १४ घंटे २५ मिनट के दिन के समान है। चीन में भी १४ घंटे २४ मिनट के सबसे बड़े दिन का उल्लेख है, किंतु ह्विटनी, ओरियंटल ऐंड लिंग्विस्टिक एसेज, २१७, ४१८ के अनुसार इस पर विशेष जोर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि माप लगभग समीप है और चीन तथा बेबिलोनिया का अक्षांश भी लगभग एक ही है। जल-प्लावन के कथानक के लिए देखिए:—त्सिमर, उपर्युक्त; वेबर, इस्टू०, १. १६० के उस मत का विपर्यास जिसमें कहा गया है कि कथानक प्राचीन आर्य लोककथा है, जो हिमालय से संबद्ध है। तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स्, १२. १९०, २२. ३२३, टि० ६०; लास्सन, इंदिश्शे आल्तरथुम्स्कुन्द, १२, ६३८; और तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, १८५ एवं अग्रिम; त्सादामौगे०, ५०. ४३ एवं अग्रिम; इनका मत मैकडानल, वैदिक माइथोलाजी, १४४ में अमान्य; ब्लूमफील्ड, रिलिजन आफ दि वेद, १३३; त्सिमर, आ०ले०, ३६३, ३६४ का मत संदेहास्पद है कि ऋग्वेद १. १२३. ८ में दिन-रात्रि का ३० विभागों में विभाजन बेबिलोनिया के उसी समय के ६० में विभाजन पर आधृत है। तु०—विंसेंट स्मिथ, इंडि० ऐंटी०, ३४. २३० इन्होंने अनिश्चयात्मक निष्कर्ष दिया है कि भारत ने लोहे का प्रयोग बेबिलोनिया से सीखा था।

नक्षत्रों के संबन्ध में सामग्री का संकलन:— वेबर का दूसरा लेख, दी वैदिश्शन नाखरिश्तन फान देन नक्षत्र, १८६१, इसमें मै०सं०, और बौ०श्रौ० सू० का तथ्य नहीं है। पहले लेख में नक्षत्रों के आरंभ होने पर विचार किया गया है; द्र०—इस्टू०, ९. ४२४ एवं अग्रिम; १०. २१३ एवं अग्रिम; ह्विटनी का कार्य वैज्ञानिक निर्णयों से संबद्ध है; इन्होंने कोल्ब्रुक के नक्षत्रों के अन्वेषण के दोष का भी सुधार किया है: द्र०—सूर्यसिद्धान्त; जअओसो०, आरंभ के संबन्ध में भी कुछ विचार है: उक्त जर्न०, ८, ओरि० ऐंड लिंग्विस्टिक एसेज, २. २४१—४२१; याकोबी के और तिलक के ओरायन के तिथि-निर्णय के विपरीत भी उन्होंने मत दिये हैं: उक्त जर्न०, १६. ८२ एवं आगे; द्र०—याकोबी, फेस्टग्रुस आन रॉथ ६८-७४; अनुवाद: इंडि० ऐंटी०, २३; तु० उनका लेख: नाखरिश्तन देर को० गेज० देर विस्स० त्सु गोतिङ्गन, १८९४, ११० एवं आगे; त्सादामौगे०, १९०९. ७२१—७२७; तिलक ओरायन; ओल्डेनबर्ग द्वारा याकोबी के मतों का खण्डन: त्सादामौगे०, ४८, ६२९ एवं अग्रिम; ५०. ४५० एवं अग्रिम; जराएसो०, १९०९, १०९० एवं आगे; थिबो द्वारा याकोबी के मतों का खण्डन: इंडियन ऐंटीक्वैरी, २४. ८५ एवं आगे; द्र०—ऐस्ट्रोलागी, ऐस्ट्रोनामी उण्ड माथामातिक, १७-१९; जराएसोबें० ६३-१४४, एवं अग्रिम। सौसुरे, टऊङ्ग पाओ १९०९, १२१ एवं आगे; २५५ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, नाखरिश्तन देर को० गे० देर वि. त्सु गोतिङ्गन, १९०९,५४४ एवं आगे। आर्ष-काव्य में उल्लिखित नक्षत्रों के संबन्ध में द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, २४ २९-३६; द्र०-लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १८३ एवं अग्रिम।

विवरण: 'न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' तैब्रा० २. ७. १८. ३; 'ते ह देवा ऊचुः। यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' शब्रा० १. २. २. १९; यो ह वा इह यजते। अमुं स लोकं नक्षते। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' तैब्रा० १. ५. २. ५; 'तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। यन्न क्षियन्ति' गो० ३. १. ८; 'नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि' शब्रा० ६. ५. ४. ८; 'देवगृहा वै नक्षत्राणि' तैब्रा० १. ५. २. ६; 'यानि वा पृथिव्याश्चित्राणि तानि नक्षत्राणि' तैब्रा० १. ५. २. ६; 'यथैवासौ सूर्य एवं (नक्षत्रं), तेषामेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त' शब्रा० २. १. २. १८; 'सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि' तां० २३. २३. ३; 'तानि वा एतानि सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि सप्तविंशतिः सप्तविंशतिर्होपनक्षत्राण्येकैकं नक्षत्रमनूपतिष्ठन्ते' शब्रा० १०. ५. ४. ५; ब्राह्मणो वा अष्टाविंशो नक्षत्राणाम्' तैब्रा० १. ५. ३. ४; 'यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ता यावन्तो लोमगर्तास्तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्ताः' शब्रा० १०. ४. ४. २; 'कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्। तानि देवनक्षत्राणि' तैब्रा० १. ५. २. ७; 'यानि देवनक्षत्राणि तानि दक्षिणेन परियन्ति' तैब्रा०

१. ५. २. ७; 'एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः' शब्रा० २. १. २. २; 'अनूराधाः प्रथमम्। अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि' तैब्रा० १. ५. २. ७; 'तस्मात् सोमो राजा सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति' षब्रा० ३. १२; 'नक्षत्राणि' संवत्सरस्य प्रतिष्ठा' तैब्रा० ३. ११. १. १३; 'नक्षत्राणां वा एषा दिग् यदुदीची' षब्रा० ३. ११।

नक्षत्र-दर्श—नक्षत्र को देखने वाला, ज्योतिषी। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में नक्षत्रदर्श का भी नाम है: वासं०, ३०. १०; तैब्रा० ३. ४. ४. १। शतपथ ब्राह्मण २. १. २. १९[1] में अग्नि-चयन-विशेष के लिये नक्षत्र-विशेष को चुनने की बात कही गई है।

नक्षत्र-विद्या—नक्षत्रों की विद्या या गणित-ज्योतिष। छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में अन्य विद्याओं के साथ नक्षत्र-विद्या की भी गणना की गई है।

नख—नख शब्द या तो मनुष्य के नाखून के अर्थ में में आया है: ऋ० १. १६२. ९; १०. १६३. ५; अवे०, २. ३३. ६ आदि; अथवा वन्य पशु सिंह आदि के पंजे के अर्थ में आया है: ऋ० ४. ३. ३; तु०—१०. २८. १०। नाखून बनवाना वैदिक आर्यों के प्रसाधन का एक अङ्ग था, विशेषतः शुद्धि के लिए: छाउ०, ६. १. ६; तैसं०, २. ५. १. ७; मैसं०, ३. ६. २ आदि; शब्रा०, २. १. ३. ४।

नग—न चलने वाला, पर्वत। अथर्ववेद के परवर्ती काण्ड १९. ८. १ में नग शब्द पर्वत के अर्थ में आया है। इसके बाद इस अर्थ में यह शब्द फिर सूत्र-काल से पहले नहीं आता।

नगर—प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में **नगरिन्** इस विशेषण के रूप में इस शब्द की सत्ता है; किंतु तैत्तिरीय आरण्यक १. १. ११. १८; १. ३१. ४ में नगर शब्द शहर के अर्थ में आया है।

नगरिन् जानश्रुतेय-जनश्रुति का वंशज। ऐब्रा० ५. ३० में एक पुरोहित के रूप में इनका उल्लेख है। जैउब्रा० ३. ४०. २ में **नगरिन् जानश्रुतेय काण्डिवय** के रूप में इनका उल्लेख है।

नग्नजित्—ऐब्रा० ७. ३४ में **गन्धार** के राजा **नग्नजित्** के **पर्वत** और **नारद** द्वारा अभिषेक का उल्लेख है।

[1] तु०—काण्वपाठ, एगलिंग, सेबुई० १२. २८८, टि०, ३ में।

शब्रा० ८. १. ४. १० में इसी राजा का उल्लेख उनके पुत्र **स्वर्जित्** के साथ यज्ञ-कल्प के संबन्ध में आया है। तु०—वेबर, इन्दीन लितरात्यर, १३२, १३४, म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स १२, ५१५।

नग्ना—द्र०—**धर्म**।

नघ-मार और नघा-रिष—द्र०—१. **कुष्ठ**।

नचिकेतस्—तैब्रा० ३. ११. ८ के सुप्रसिद्ध आख्यान में **नचिकेतस्** का उल्लेख आया है, जहां उसे **गोतम** और **वाजश्रवस्** का पुत्र बताया गया है। कठोपनिषद् १. १ में **नचिकेता** ही प्रमुख नायक है। उसकी ऐतिहासिक सत्ता संदिग्ध है। उपनिषद् में उसे **आरुणि औद्दालकि** या **वाजश्रवस्** का पुत्र कहा गया है, जो चिन्त्य है। विवरण: गेल्डनर, वैस्टू०, ३. १५४ टि०—१; वेबर, इं० लित०, १५७; मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ १६८।

१. **नड**—नरसल, बाँस या बेंत। ऋग्वेद ८. १. ३३ में नड को झीलों में उत्पन्न बताया गया है। अथर्ववेद ४. १९. १ में उसे "वार्षिक" या वर्षा में उत्पन्न माना गया है। नड को चीरकर चटाई बनाने के काम में लाते थे, और इस काम को स्त्रियाँ करती थीं: अवे० ६. १३८. ५; ६. १३७. २; १२. २. १, १९, ५०, ५४; कासं० २५. ७; शब्रा०, १. १. ४. १९; तैआ०, ६. ७. १०। विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ७१।

२. **नड नैषध**—शब्रा० २. २. २. १. २ में एक मानवीय राजा **नड नैषध** का उल्लेख है; इनकी विजयों के बल पर यमराज से इनकी तुलना की गई है। दक्षिण की यज्ञाग्नि का इन्हें ज्ञान था, अतः ये दक्षिण के राजा प्रतीत होते हैं, जैसे कि यमराज का वास दक्षिण में माना गया है। तु०—'अथैष एव नडो नैषिधो (-ष-) नाम यदन्वाहार्यपचनः' शब्रा० २. ३. २. २।

विवरण: वेबर, इस्टू०, १. २२५-२२७; एगलिंग, सेबुई०, १२. ३३८ टि० ४ और ५; प्रकाशित पाठ में गलती से "नैषिध" छपा है।

नड्वला—नडों का विस्तर। वासं० ३०. १६ और तैब्रा० ३. ४. १२. १ में **नड्वला** शब्द आया है।

नद—ऋग्वेद १. ३२. ८; १. १७९. ४; २. ३४. ३; ८. ६९. २; १०. ११. २; १०. १०५. ४; और निरुक्त, ५. २ में नद शब्द आया है, किंतु यहाँ इसका अर्थ संदिग्ध है। पिशल[1] के अनुसार यह नड है

[1] त्साडामौगे०, ३५. ७१७ एवं आगे; वैस्टू०, १. १८३ एवं आगे।

और नरसल से बनी नौका के लिए आया है : ऋ० १. ३२. ८।[1] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने इसे नरकट, बेंत या बाँस के कोड़े के अर्थ में लिया है, जिसकी आर से घोड़ों को हाँका जाता था : ऋ० २. ३४. ३।[2] अन्य स्थलों पर उन्होंने आलंकारिक रूप से इसे शिश्न के अर्थ में लिया है : ऋ० १. १७९. ४, ८. ६९. २। राथ ने सभी सदर्भों में सामान्यतया या आलंकारिक रूप से वृष यह अर्थ लिया है।[3] ऋग्वेद १०. १०५. ४ में इन्द्र के अश्व के प्रसंग में नद शब्द (√नद्) 'बोलने वाले' अश्व के अर्थ में प्रतीत होता है। ऋ० १०. ११. २ में भी यह अर्थ हो सकता है; किंतु यहां नदी अर्थ भी ठीक बैठ जाता है। 'नदस्य कर्णैः' ऋ० २. ३४. ३ का अर्थ संभवतः 'अश्व के कानों से' है : अर्थात् 'अश्व द्वारा सारथि का आदेश सुनने के लिए उठे कर्ण' यह भाव है; यहाँ सारथि मरुद्-गण हैं, जो तेजी से (तुर्वयन्त आशुभिः) अपने अश्वों से जाते हैं।

नदी—नदी शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में आम है : ऋ० १. १५८. ५; २. ३५. ३; ३. ३३. ४; ५. ४६. ६ आदि; अवे०, ३. १३. १; १४. १. ४३। नदियों के उथले भाग=गाघ का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० ७. ६०. ७; उनके दूसरे किनारे का वर्णन आता है : शब्रा०, ११. १. ६. ६। उनमें अश्वों के स्नान का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० ८. २. २। नदियों का पर्वतों से निकट का संबन्ध भी उल्लिखित है : ऋ० ५. ५५. ७; १०. ६४. ८। एक बार नदी-पति शब्द समुद्र के अर्थ में आया है : शब्रा०, ५. ३. ४. १०।

[1] यहाँ कालेंड और हेनरी, ल् अग्निष्टोम, ३१२ टि० के अनुसार 'नक्तम्' पढ़ा जाना चाहिए, द्र०—वाकर-नागल, आल्ति०ग्रा०, १. १७३।

[2] मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३०१ द्वारा स्वीकृत; किंतु इन्होंने 'आशुभिः' का अर्थ तेज या नुकीला नहीं माना है। इन्होंने १०. ११. २ में भी यही अर्थ माना है, किंतु १०. १०५. ४ में 'अश्व' अर्थ को माना है।

[3] द्र०—वोबू०; ऋ० ८. ८९. ५ में यह अर्थ आदेशात्मक लगता है; १. १७९. ४ में यह संभव है; जहाँ वृषभ एक व्यक्ति को जताता हो। ऋ० १०. ११. २ और ऋ० १. ३२. ८ में भी वृषभ अर्थ संभव है, किंतु 'नड' अर्थ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। तु० ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ३२, १७८, २८१।

नदीपति—शब्रा०, ५. ३. ४. १० में नदीपति शब्द समुद्र के विशेषण के रूप में आया है। वैदिक आर्य नदियों के समुद्र में गिरने के स्थान से और समद्र से परिचित जान पड़ते हैं। द्र०—समुद्र।

नना—जैसे पिता के लिए तत का सामान्य प्रयोग वैदिक साहित्य में है, वैसे ही माता के लिए नना शब्द का भी प्रयोग है। ऋग्वेद ९. ११२. ३ में कवि के माता-पिता के कार्यों का वर्णन मिलता है। तु०—निरु० ६. ६; द्र०—उपलप्रक्षिणी।

ननान्द्ट—ननान्दृ शब्द केवल एक बार ऋ० १०. ८५. ४६ में आया है। सायण के अनुसार यह 'पति की बहन' के अर्थ में प्रयुक्त है, जिस पर पत्नी के शासन करने का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २२ से यह व्याख्या ठीक प्रतीत होती है, क्योंकि वहाँ भी पति की अविवाहिता बहन को ननान्दृ कहा गया है। विवरण : दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्शाफ्तसनामन, ५१६।

नपात्—वैदिक साहित्य में नपात् शब्द वंशज के व्यापक अर्थ में तथा पुत्र एवं पौत्र के सामान्य अर्थ में आया है; पुत्र के अर्थ में : ऋ० १०. १०. १; पौत्र के अर्थ में : ऋ० ६. २०. ११; वंशज के अर्थ में : ऋ० ६. ५०. १५; ७. १८. २२; ८. ६५. १२; ८. १०२. ७; वासं०, २२. २; तु०—अपांनपात् अर्थात् जलों का पुत्र। ब्राह्मणों में यह शब्द पुत्र के अर्थ में नहीं आता, वहाँ पौत्र या प्रपौत्र के अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है; पौत्र के अर्थ में : ऐब्रा०, ३. ४८ 'पुत्रनप्तारः'; प्रपौत्र के अर्थ में : ऐब्रा० ७. १०. ३; 'पुत्रपुत्रान्, पौत्रान्, नप्तॄन्' आपश्रौसू०, १०. ११. ५। पौत्र शब्द अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आया है : अवे०, ९. ५. ३; ११. ७. १६; ऐब्रा०, ७. १०. ३; तैब्रा० २. १. ८. १३; प्रपौत्र के अर्थ में प्र-णपात् शब्द ऋग्वेद ८. १७. ३ में नपात् के साथ आया है। नप्ती शब्द स्त्रीलिङ्ग में दुहिता को जताता है और संहिताओं में ही आता है : ऋ० ३. ३१. १; निरुक्त, ३. ४; ८. २. ४२; तु०—१. ५०. ९; ९. ९. १; ९. १४. ५; ९. ६९. ३; अवे०, १. २८. ४; २. १४. १; ७. ८२. ६। इस शब्द के प्रारम्भिक प्रयोग के संबन्ध में वैदिक साहित्य से प्रकाश नहीं पड़ता।[1]

नप्त्य—अथर्ववेद १. २८. ४ में सायण के अनुसार नप्त्य शब्द पौत्र की संतति के लिए आया है।

[1] विवरण : दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्द्श्शाफ्तसनामन, ४०३–४०५; लानमान, फेस्टग्रुस आन बोहटलिङ्गक, ७७।

नप्त्री—सामवेद के आरण्यगान ५. १३ में नपात् के स्त्रीलिङ्ग में नप्त्री शब्द का प्रयोग मिलता है।

नमस्, नमस्य—तु०—'एतौ एव वार्षिकौ (मासौ) अमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च' शब्रा० ४. ३. १. १६ द्र०—**मास**।

नभसस्पति—'आयुर्वै नभसस्पतिः' गो० उ० ४. ९; 'अग्निर्वै नभसस्पतिः' गो० उ० ४. ९।

नभाक—**नभाक** एक ऋषि हैं; इनका उल्लेख ऋग्वेद ८. ४०. ४, ५ और ऐब्रा० ६. २४ में मिलता है। अनुक्रमणी में **नाभाक** को ८. ३९–४२ का ऋषि कहा गया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०७।

नभ्य—नभ्य अथवा रथ की **नाभि** का उल्लेख अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है: अवे०, ६. ७०. २; १२. १. १२; ऐब्रा०, ४. १५; शब्रा०, ३. ५. ३. २०; कौब्रा०, ९. ४; बृउ०, १. ३. २३ आदि द्र०—**नाभि**।

नमस—नमस्कार। ऋग्वेद काल से ही संमानपूर्वक नमस्कार करने के लिए नमस् शब्द का प्रयोग आम रहा है। यह नमस्क्रिया विशेषतः देवों के लिए विहित है: ऋ० ३. १४. ५; ६. १. ६; ६. १६. ४६; १०. ७९. २; अवे० १. २५. १ आदि। रुद्राध्याय=वासं० १६ में नमस् शब्द की अनेक आवृत्तियां हैं। "नमस्ते" (तुम्हें नमस्कार) शब्द भी ऋग्वेद-काल में ही अपना स्थान बना चुका था: ऋ० २. २८. ८; ३. ३३. ८; अवे०, १. १३. ३; १. २५. ४; १२. १. २६ आदि।

नमी साप्य—ऋग्वेद में एक व्यक्ति का नाम **नमी साप्य** है: ऋ० ६. २०. ६; १०. ४८. ९; तु०—**नमी**, ऋ०, १. ५३. ७। वेबर[१] के अनुसार वे एक पुरोहित हैं, किंतु इन्हें राजा मानना प्रसङ्ग के अधिक अनुकूल है। पंविब्रा० २५. १०. १७ में **नमी साप्य** नामक **वैदेह राजा** का उल्लेख भी मिलता है। ऋ० १. ५३. ७ में **नमुचि** के साथ उनके संघर्ष का जिक्र है।

नमुचि—इन्द्र के शत्रु एक दास या असुर का नाम है: ऋग्वेद १. ५३. ७; २. १४. ५; ५. ३०. ७, ८; ७. १९. ५; ८. १४. १३; १०. ७३. ७; १०. १३१ ४; वासं० १०. १४; १९. ३४; २०. ५९; शब्रा० तु०—'अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजयः स्पृधः' (ऋ० ८. १४. १३) इति पाप्मा वै नमुचिः' शब्रा० १२. ७. ३. ४; इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसं सोमस्य भक्षं सुरयासुरो नमुचिरहरत् सो (इन्द्रः) श्विनौ च सरस्वतीं चोपाधावच्छेपानोऽस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं हनानि न दण्डेन धन्वना न पृथेन मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेणाथ म इदमहार्षीदिदं म आजिहीर्षथेति। ते (अश्विनौ सरस्वती च) अब्रुवन्। अस्तु नोऽत्राप्यथाहरामेति सह न एतदथाहरतेत्यब्रवीदिति। तावश्विनौ च सरस्वती च। अपां फेनं वज्रमसिञ्चन्न शुष्को नार्द्र इति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायां रात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत्' शब्रा० १२. ७. ३. १–३; (नमुचिः) 'तस्य (इन्द्रस्य) एतयैव सुरयेन्द्रियं वीर्यं सोमपीथमन्नाद्यमहरत् स ह न्यर्णः शिश्ये' शब्रा० १२. ७. १. १०; (नमुचिरुवाच) न मा शुष्केण नार्द्रेण हनः। न दिवा न नक्तमिति। स एतमपां फेनमसिञ्चत् न वा एष शुष्को नार्द्रो व्युष्टासीत्। अनुदितः सूर्यः। न वा एतद्दिवा न नक्तम्। तस्य (नमुचेः) एतस्मिल्लोके अपां फेनेन शिर उदवर्तयत्' तैब्रा० १. ७. १. ६–७; 'नमुचिर्ह वै नामासुर आस। तमिन्द्रो नि विव्याध तस्य पदा शिरोऽभि तष्टौ स यदभिष्ठित उदबाधत स उच्छ्वङ्कुस्तस्य पदा शिरः प्र चिच्छेद ततो रक्षः समभवत्' शब्रा० ५. ४. १. ९।

नर, नृ—ऋग्वेद में मनुष्य-वाचक नृ शब्द ही अधिक आया है: १. २५. ५; १. १६७. २०; १. १७८. ३; २. ३४. ६; ३. १६. ४ आदि; जब कि परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नर शब्द आम बन गया है: अवे०, ३. ९. २; ९. १. ३; १४. २. ९; ऐब्रा०, ३. ३४; ६. २७. ३२; तैसं०, ७. १. १२, १; शब्रा०, ९. ३. १. ३; निरुक्त, ५. १ आदि।

नर शब्द नृ के 'नरम्' आदि रूपों के आधार पर बना है, किंतु यह भी भारेनियन काल का है; द्र०—ब्रुगमान, ग्रुंड्रिस, २. १०६; तु०—मैकडानल, वैग्रा०, ३१८ ए. ५।

नरक—'मनो नरको वाङ नरकः प्राणो नरकश्चक्षुर्नरकः श्रोत्रं नरकस्त्वङ नरको हस्तौ नरको गुदं नरकः शिश्नं नरकः पादौ नरकः' जैउब्रा० ४. २६. १; 'दश पुरुषे स्वर्गनरकाणि तान्येनं स्वर्गं गतानि स्वर्गं गमयन्ति नरकं गतानि नरकं गमयन्ति' जैउब्रा० ४. २५. ६।

नराची—अथर्ववेद ५. ३१. ४ में नराची शब्द संभवतः किसी विषैले पौधे का वाचक है। तु०—वेबर, इस्टू०, १८. २८६।

---

[१] इस्टू०, १. २३१, २३२. विवरण: लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४९; मैकडानल, वैमा०, पृ० १६१; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ४९, साप्य के स्थान पर साय्य हो सकता है, किंतु सायण ने साप्य ही पढ़ा है; द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे० ५५. ३२८।

नराशंस—नर जिसकी आशंसा करें। वैदिक साहित्य में नराशंस प्रार्थनीय देवों के लिए अनेक बार आया है: ऋ० ३. २९. ११; १०. १८२. २; १०. ७०. २; १०. ६४. ३; २. ३८. १०; ९. ८६. ४२; १. १३. ३; १. १८. ९; ५. ५. २; वासं० २०. ५७; २१. ५५; २७. १३; २८. २; २८. ४२; तैसं०, १. ७. ४. १; शब्रा०, १. ५. १. २०; १. ८. २. ११। तु०—'प्रजा वै नरो वाक् शंसः' ऐब्रा० २. ४. ६. २७. ३२; 'प्रजा वै नरस्ता अन्तरिक्षमनु वावद्यमानाः प्रजाश्चरन्ति यद् वै वदति शंसतीति वै तदाहुस्तस्मादन्तरिक्षं नराशंसः' शब्रा० १. ८. २. १२।

नराशंस पङ्क्ति—'द्विनराशंसं प्रातःसवनं द्विनराशंसं माध्यंदिनं सवनं सकृन्नराशंसं तृतीयसवनमेष वै यज्ञो नराशंसपङ्क्तिः' ऐब्रा० २. २४।

नर्य—मानवीय। ऋग्वेद १. ५४. ६; १. ११२. ९ में सायण ने नर्य शब्द को किसी व्यक्ति का नाम माना है। द्र० नार्य।

नलद—नलद या नर्द एक पौधा है, जिसका उल्लेख अथर्ववेद ६. १०२. ३ में आया है। ऐआ० ३. २. ४ और शांआ० ११. ४ में इससे बने हार का उल्लेख है। सूत्रों में भी यह शब्द आया है। स्त्रीलिङ्ग में नलदी शब्द किसी अप्सरा के नाम के रूप में आया है: अवे० ४. ३७. ३। विवरण: त्सिमर, आ०ले०, ६८, ६९; ग्रोहमान, इस्टू०, ९. ४२०; कालेंड, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबररितुआल १७७ टि० ४।

नवक—जैब्रा० २. २३३, जअओसो०, १८. ३८ में विभिन्दुकीयों के सत्र में एक पत्नी-भक्त व्यक्ति का नाम नवक है।

नवग्व—ऋग्वेद में नवग्व एक अङ्गिरस्तम के रूप में आते हैं: ऋ० ४. ५१. ४; ९. १०८. ४; अङ्गिरस्तमः १०. ६२. ६। स्पष्टतः ये उन नवग्वों के समान हैं, जो पुराकथाओं में आङ्गिरसों के साथ उल्लिखित हैं: ऋ. १. ६२. ४; ३. ३९. ५; ५. २९. १२; ५. ४५. ७, ११; ६. २२. २; १०. १४. ६; १०. ६१. १०; १०. १०८. ८; अवे०, १४. १. ५६; १८. ३. २० आदि। कभी-कभी दशग्वों के साथ इनका उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ६२. ४; ४. ५१. ४; ५. २९. १२; १०. ६२. ६ आदि।

विवरण: लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६५; मैकडानल, वैमा० १४४ बी, १७०।

नवनीत—मक्खन। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नवनीत शब्द आम है: तैसं०, २. ३. १०. १; ४. १. १. ५; कासं०, ११. ७; मैसं० २. ३. ४ आदि; शब्रा०, ३. १. ३. ७, ८; ५. ३. २. ६; जैउब्रा०, ३. ५. ३ ऐब्रा० १. ३ के अनुसार यह गर्भ के लेप के लिए उपयुक्त है, जब कि देवों के लिये आज्य, मनुष्यों के लिए सुगन्धित घृत और पितरों के लिए आयुत उपयुक्त है। तैसं०, २. ३. १०. १ में इसका घृत या सर्पिस् से विपर्यास दिखाया गया है।

नववास्त्व—नववास्त्व शब्द ऋग्वेद में तीन जगह आया है। ऋग्वेद १. ३६. १८ में नववास्त्व अग्नि के कृपापात्र कोई व्यक्ति हैं; ऋग्वेद ६. २०. ११ में उशनस् के पुत्र और इन्द्र के प्रिय व्यक्ति हैं; किंतु ऋग्वेद १०. ४९. ६ में वे इन्द्र द्वारा पराजित व्यक्ति हैं।

विवरण: बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. २२३; ग्रिफिथ, हिम्स आ०दि० ऋ० १. ५८१; पिशल, वैस्टू०, २. १२८, १२९; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १४७; ऊबर दी नोएस्तन आर्बाइतन आउफ देम गेबीते देर ऋग्वेद फोर्शुङ्ग, १६०; पेरी, जअओसो०, ११. २०२; मैकडानल, वैमा०, पृ० १५८।

नवाह—'नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा' षब्रा० ३. १२।

नवेदस् वैदिक साहित्य में नवेदस् शब्द प्राज्ञ या मेधावी के अर्थ में आया है: ऋ० १. ३४. १; १. ७९. १; ४. २३. ४; १. १६५. १३; ५. १२. ३; ५. ५५. ८; १०. ३१. ८ आदि। निघण्टु ३. १५ में मेधावी के पर्यायों में इसे भी गिनाया है।

नशोनशी—पैप्पलाद-शाखीय अथर्ववेद १०. ४. १७ में एक प्रकार के सर्प का नाम नशोनशी है। शौनक शाखा में दशोनसि पाठ है। द्र०—दशोनसि।

नह्—नह् को राथ[1] और ग्रासमान[2] ने नद्भ्यः (ऋ० १०. ६०. ६) का प्रातिपादिक माना है, और इसका अर्थ 'बन्धन' किया है। किंतु ज़ीग[3] ने इसका अर्थ "बहन का लड़का" किया है। किंतु संभवतः इस चतुर्थ्यन्त शब्द से "पौत्रों के लिये" यह अर्थ अभिप्रेत हो[4]।

नहन—अथर्ववेद ९. ३. ४, ५ में नहन शब्द बन्धन अर्थ में आया है; तु० ऋ० १. ६७. ३।

नहुस्—नहुस् शब्द ऋग्वेद में अनेक बार आया है, किंतु इसका अर्थ संदिग्ध है। लुडविग[5] ने नहुस् को

---

[1] वोबू०। [2] अ वॉर्टरबूख।

[3] दी ज़ा० ऋ०, १२९।

[4] द्र०—मैकडानल, वैग्रा०, पृ० ५६, ३ बी।

[5] ट्रां० ऋ०, ३. २०६।

एक जाति या जन माना है, जो **सिन्धु** : ऋ० १. ३१. ११; ६. २२. १०; ६. ४६. ७; १०. ८०. ६ या **सरस्वती** : ऋ० ७. ९५. २; तु० ९. ८८. २; ९, ९१. २ के तट पर रहते थे; ये लोग घोड़ों के धनी थे : ऋ० ८. ६. २४; **भरतों** और **शिम्युओं** के मित्र थे : ऋ० १. १००. १८; ७. १८. ५; **कक्षीवानों** और **वार्षगिरों** से संबद्ध थे : ऋ. ९. १००. १६, १७ और इनके राजा थे **मशर्शरि** और **आयवस** : ऋ० १. १२२. १५; तु०—"नहुषो विशः", ऋ० ७. ६. ५; १०. ४९. ८; १०. ९९. ७ आदि। दूसरी ओर राथ[1] का मत है कि यह 'पड़ौसी' का बोधक है, जो प्रजा=विश् के सदस्य का विपर्यास् है; इसका समर्थन "नहुषो नहुस्तरः" ऋ० १०. ४९. ८; तु० ८. ८. ३ इससे होता है, जिसका अर्थ है : पड़ोसी से भी अधिक निकट। ऋग्वेद १. ३१. ११; ५. १२. ६ में नहुष का भी वही अर्थ है जो नहुस् का; किंतु ऋ० ८. ४६. २७ में यह एक व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है। संभवतः **मनु** के समान **नहुष** भी एक व्यक्ति रहे हों[2]।

१. नाक—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में नाक शब्द आकाश या व्योम के अर्थ में आया है : ऋ० १. ६०. १०; १. १२५. ५; ३. २. १२; ४. १३. ५; ७. ८६. १; ७. ९९. २; ८. १०३. २; ९. ७३. ४ आदि; अवे० ७. १८. १; १८. २. ४७; १३. १. ७; वासं०, १५. १०; पंविब्रा० १८. ७. १०; शब्रा०, ८. ५. ३. ४ आदि। इसे कहीं-कहीं "**उत्तमः**" अवे०, ४. १४. ६; ११. १. ४; वासं०, ९. १०; १२. ६३ और "**तृतीयः**" अवे०, ६. १२२. ४; ९. ५. १, ४; १८. ४. ३ बताया गया है, जो तीन प्रकार के लोकों—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और **दिव्**—के आधार पर है। नाक को ज्योतिर्मय लोक के ऊपर तृतीय पृष्ठ पर कहा गया है : वासं०, १५. ५०। अन्यत्र **पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव्, रोचन**=प्रकाशमय लोक, **नाक, स्वर्** और ज्योतिर्लोकों की गणना है : अवे० ४. १४. ३; वासं०, १७. ६७; ऋग्वेद १०. १२१. ५ में **पृथिवी** और **दिव्** एवं **स्वर्** और **नाक** का उल्लेख है। ब्राह्मणों में नाक को न+अक अर्थात् दुःख-रहित माना गया है; वहाँ जाने वाले दुःख नहीं पाते : निरुक्त, २. १४; छाउ०, २. १०. ५। तु०—'नहि तत्र गताय कस्मै चनाकं भवति' शब्रा० ८. ४. १. २४; 'न ह वै तत्र जग्मुषे किंचनाकम्' तां० २१. ८. ४. 'संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशति-रर्धमासा द्वादश मासास्तद यत्तमाह नाक इति नहि तत्र गताय कस्मै चनाकं भवति' शब्रा० ८. ४. १. २४।

विवरण : मैकडानल, वैमा०, पृ० ९; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ५०, ५६, ५७।

२. नाक—जैब्रा० ३. १३. ५ में एक आचार्य का नाम **नाक** है। संभवतः वे **नाक मौद्गल्य**="मुद्गल के वंशज" से अभिन्न हैं, जिनका उल्लेख शब्रा० १२. ५. २. १, बृउ० ६. ४. ४ और तैउ० १. ९. १ में आया है।

नाक्र—याजुष संहिताओं में अश्वमेघ की बलियों की सूची में किसी जलीय जन्तु का नाम नाक्र आया है : तैसं०, ५. ५. १३. १; मैसं०, ३. १४. २; वासं०, २४. ३५। संभवतः घड़ियाल इसका अर्थ है, जिसका बाद में नक्र नाम आता है।

विवरण : त्सिमर, आ० ले०, ९६ महीधर : वासं० २४. ३५ के भाष्य के आधार पर; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, ३. २१, टि० ४।

नाग—शब्रा० ११. २. ७. १२ में **महानाग** का उल्लेख है, जिसे बड़ा सर्प या बड़ा हाथी माना जा सकता है। बृउ० १. ३. २४ और ऐब्रा० ८. २२ के उद्धरणों में नाग शब्द हाथी के लिए आया है। सूत्रों में देवशास्त्रीय नाग का उल्लेख है : आ० गृ० सू०, ३. ४. १।

विवरण : विन्तरनित्स, सर्पबलि, ४३; मैकडानल, वैमा०, पृ० १५३।

नाग्नजित—**नग्नजित्** का वंशज। शब्रा० ८. १. ४. १० में **स्वर्जित** का पैतृक नाम **नाग्नजित** है।

नाचिकेत—**नचिकेतस्** से संबद्ध। कठ उपनिषद् ३. १६ में नचिकेता से संबद्ध उपाख्यान को **नाचिकेत** कहा गया है। उसी उपनिषद् १. १८; २. १० में और तैउ० १. २२. ११; १. २६. ३ में एक अग्नि-चयन का नाम भी नाचिकेत है।

विवरण : वेबर, वैस्तु०, ३. ३८६; भारतीय कोश-कारों ने **नाचिकेत** और **नाचिकेतु** शब्दों को अग्नि का पर्यायवाची माना है।

[1] वोबू।

[2] द्र०—ओल्डेनबर्ग, सेबुई० ४६. २८; बेर्गेन्य, रिलि-लिजियों वैदिक, २. ३२४; किंतु यदि नहुस् किसी पूर्व-पुरुष का नाम है तो वंश-निर्माता के रूप में सभी जनों द्वारा उन्हें स्वीकृत नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी स्थल पर सभी व्यक्तियों के लिये इनका उल्लेख नहीं मिलता। द्र०—गेल्ड-नर, ऋग्वेद ग्लासर, ९२; उन्होंने नहुस् को जन और नहुष को एक राजा माना है। द्र०—त्सिमर, आ० ले०, १२८; इन्होंने प्रश्न अनिर्णीत छोड़ दिया है। तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. १६५ टि० ७, १७९ एवं आगे; ३०७ एवं आगे।

नाडपित्—शब्रा० १३. ५. ४. १३ में नाडपित् शब्द भरत के जन्म-स्थान का नाम है। इस शब्द को नाडपिती के रूप में ग्रहण कर उससे भरत की माता को लिया जा सकता है।[1] किंतु ऐसा होना संदिग्ध है।[2]

१–नाडी—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में नाडी शब्द रक्तवाहिनी शिराओं का वाचक ह : अ० ६. १३८. ४; १०. ७. १५, १६; का.सं०, १२. १०; शब्रा०, १०. ४. ५. २; बृउ०, २. १. २१; ४. २. ३ आदि; छाउ०, ८. ६. १; कौउ०, ४. १९। यहाँ 'नड' या 'नरकट' इस स्वारसिक अर्थ को विस्तृत करके यह अर्थ लिया गया प्रतीत होता है।

२–नाडी—ऋग्वेद १०. १३५. ७ में और कासं०, २३. ४; २४. ५ में नाडी शब्द नड या नरकट से बने किसी वाद्य-यन्त्र को जताता है। काठक संहिता के दूसरे स्थल में इसका प्रयोग तूणव के साथ आया है।

विवरण : हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३२९।

३–नाडी—याजुष संहिताओं में नाडी शब्द रथ-चक्र के बाक्स को जताता है : तैसं०, ३. ४. ८. ३; कासं०, ३७. १२।

नाडीका—अथर्ववेद ५. १८. ८ में एक बार आये इस शब्द का अर्थ वायु-नलिका है। बाँस से बने बाण के अग्र-भाग को भी यह जताता है।

विवरण : वेबर, इस्टू०, १८. २२९; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २५१; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, ४३२।

नाथ—वैदिक साहित्य में नाथ शब्द नपुंसक लिङ्ग में केवल 'रक्षण' के अर्थ में आता है : अवे०, ४. २०. ९; ९. २. १७; १८. १. १३; तैब्रा०, १. ६. ४. १; अवे० १३. २. ३७ नाथकाम; ११. १, १५ नाथविद्; पंविंब्रा०, १४. ११. २३ में 'नाथ-बिन्दु'='रक्षा प्राप्त करने वाला' एक साम का नाम है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में नाथ शब्द पुल्लिङ्ग है और 'रक्षक' के अर्थ में आत. है।

नानद—साम-विशेष। 'सोऽभिहतो (वृत्र इन्द्रेण) व्यनदत् तन्नानदसामाभवत्। तन्नानदस्य नानदत्वम्' ऐब्रा० ४. २।

नापित—शब्रा० ३. १. २. २; काश्रौसू०, ७. २. ८, १३; आगृसू०, १. १७ आदि में बाल बनाने वाले नापित या नाई का उल्लेख मिलता है; किंतु इसके लिये अधिक प्राचीन शब्द वप्तृ है : ऋ० १०. १४२. ४। जहाँ √वप् धातु 'बाल बनाना' का प्रयोग है : ऋ० १०. १४२. ४; तु०–१. ६५. ४; अवे० ६. ६८; ५. २. १७ आदि। मृत व्यक्ति के, अन्तिम संस्कार से पहले, बाल बनाये जाते थे : अवे०, ५. १९. ४।

विवरण : त्सिमर, आ०ले०, २६१; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. २६५।

नाभाक—नभाक का वंशज। ऋग्वेद ८. ४१. २; निरुक्त १०. ५ में एक ऋषि का नाम नाभाक है। अनु-क्रमणी में ऋ०, ८. ३९-४१ और संभवत: ४२ भी उनके बनाये बताये गए हैं। लुड्विग[1] के अनुसार वे आङ्गिरस थे : (ऋ० ८. ४०. १२), काण्व नहीं।

नाभानेदिष्ठ मानव—वंश में निकटतम, मनु का वंशज। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नाभानेदिष्ठ का उल्लेख है : तैसं०, ३. १. ९. ४–६; ऐब्रा०, ५. १४।[2] जब उनके पिता मनु ने अपने पुत्रों में संपत्ति बाँट दी, या पुत्रों ने स्वत: बाँट ली, और नाभानेदिष्ठ को भाग नहीं मिला, तब उन्होंने अपने पिता की सलाह से अङ्गिरसों को प्रसन्न करके गौएं प्राप्त कीं। शांश्रौसूत्र १६. ११. २८–३० में अन्य ऋषियों के साथ इनका भी उल्लेख है, जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये सूक्त बनाये थे। इनके सूक्त १०. ६२ का भी उल्लेख है। नाभानेदिष्ठ के सूक्त का ब्राह्मणों में बार-बार उल्लेख है; किंतु उनके कर्तृत्व के अतिरिक्त और कोई तथ्य उनके विषय में नहीं उद्दिष्ट है; कौब्रा०, २८. ४ में अङ्गिरसों से उनका संबन्ध-मात्र बताया गया है; देखो ऐब्रा०, ६. ३०. ३१; पंविं-ब्रा० २०. ९. ४। ऋग्वेद १०. ६१. १८ में उन्हे एक कवि बताया गया है, किंतु उक्त संदर्भ अत्यन्त दुरूह है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से नाभानेदिष्ट का संबन्ध नबान-ज़्दिष्ट से है, जो अवेस्ता में आता है, जिसमें पओइर्योट्क-एश के फ्रावषी और नबानज़्दिष्ठ के फ्रावषी का जिक्र आता है। लासन के मत में इस कथानक में आर्य-ईरानी फूट के संकेत छिपे हैं;[3] किंतु राथ[4] इसे असंगत बताते हैं और नाभानेदिष्ट का अर्थ केवल 'जन्म में निकटतम' यह करते हैं। वेबर[5], भी इन शब्दों में आदान-प्रदान नहीं

---

[1] द्र०–वेबर, एपिश्शस इम वैदिश्शन रितुआल, ६ टि० ३।

[2] तु०–लियोमान, त्सादामौगे०, ४८. ८१।

---

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १०७।

[2] तु०–म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, १९१ एवं आगे।

[3] द्र०–इं० आल्तरथुम्स कुन्द, १. ५२० और परि-शिष्ट का ७७।

[4] त्सादामौगे० ६. २४३ एवं आगे।

[5] एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल ४०–५०। द्र०–दाय।

मानते; उनका कहना है कि अवेस्ता में इसका मौलिक अर्थ 'संबन्ध में निकटतम' बचा रह गया है, जब कि वेद में यह एक व्यक्ति-वाचक नाम बन गया है।

१–नाभि—नाभि शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'नाफ' जिसके आधार पर आलंकारिक रूप से यह संबन्ध या संबन्धी का द्योतक बन जाता है : ऋ० १. १०५. ९; १. १६४. ३३; २. ३. ९; २. ४०. ४; अवे०, १२. १. ४०. वासं०, १०. ८; ११. १२; २०. १ आदि। अधिक सूक्ष्मतया यह संबन्ध का व्यापक है : ऋ० १. १६३. १२; ६. ४७. २८; वासं०, १३. ४२, ४०, ५० आदि। द्र० 'एतद्वै पशोर्मेध्यतरं यदुपरिनाभि पुरीषसंहिततरं यदवाङ्नाभेः' शब्रा०, ६. ७. १. १०; 'यद् वै प्राणस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वैः प्राणैरुच्चरत्यथ यन्मर्त्यं पराक् तन्नाभिमत्येति' शब्रा० ६. ७. १. ११।

२–नाभि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ की नाभि=पहिये के मध्य का उल्लेख है : ऋ० ५. ४३. ८; ६. ३९. ४; ८. ४१. ६; अवे०, ३. ३०. ६; १०. ८. ३४; ११. ७. ४; कासं०, ११. ४; बृउ०, २५. ११; छाउ०, ७. १५. १; ऐआ०, ३. २. ४; कौउ०, ३. ८। द्र०–**रथ, नभ्य**।

नामधेय—नाम के ही अर्थ में नामधेय शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है : ऋ० १०. ७१. १; अवे०, ७. १०९. ६; तैसं०, २. ४. ९. ३; ३. ३. ४. १; शब्रा० १३. १. ६. १; बृउ०, २. ३. ११; ६. ४. २५; छाउ० ६. १. ४; ऐउ०, ५. २ आदि। द्र०–**नामन्**।

नामन्—नाम शब्द ऋग्वेद-काल से ही प्रयोग में आता रहा है। गृह्यसूत्रों में बच्चों के नामकरण के लिए अनेक सुझाव दिये गए हैं[1]; किंतु अधिक महत्त्वपूर्ण बात गुह्य और सामान्य नामों के भेद की है, यद्यपि गुह्य-नाम के नियम सर्वत्र नहीं पाये जाते। गुह्य-नाम का उल्लेख ऋग्वेद १०. ५५. २; १०. ७१. १ में, जिसकी व्याख्या ऐआ० १. ३. ३ में है, भी माना जा सकता है। ब्राह्मणों में उसका जिक्र है : शब्रा०, ६. १. ३. ९; जन्म के समय बच्चे का नाम : बृउ०, ६. ४. २५; शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र का एक नाम **अर्जुन** इसी आधार पर दिया गया है : २. १. २. ११; ५. ४. ३. ७; वेबर, उक्त, २. ३१७ टि० ३। नक्षत्रों के नाम के आधार पर किसी व्यक्ति का गुह्य या सामान्य नाम रखने के नियम का विशेष

[1] द्र०–वेबर, नक्षत्र, २. ३१६. एवं आगे; हिल्ले-ब्रांड्ट, रितुअल लितरात्यूर, ४६, ४७; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, १५२।

पालन नहीं दिखाई पड़ता[1]। शतपथ ब्राह्मण में सफलता-प्राप्ति के लिए दूसरा नाम धारण करने का भी उल्लेख है : ३. ६. २. २४; ५. ३. ३. १४; ९. ४. ३. ३; इसके अनुसार व्यक्ति द्वारा संपन्न किये गए भोज के आधार पर नाम रखना चाहिए; तु०–कासं०, २६. ४; तैब्रा०, २. ७. १७; विशेषता के आधार पर भी दूसरा नाम धारण किया जाता था : शब्रा०, २. ४. ४. ४; तु०–६. १. ३. ९। तु०–'तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात् पाप्मानमेवास्य तदपहन्त्यपि द्वितीयमभिपूर्वमेवास्य तत् पाप्मानमपहन्ति' शब्रा० ६. १. ३. ९।

ब्राह्मणों में दो नामों का वहाँ प्रयोग है, जहाँ पैतृक नाम या मातृक नाम दिये गए हैं : जैसे **कक्षीवन्त् औशिज** : पंविब्रा० १४. ११. १७ में यदि दासी **उशिज्** की कथा सही हो; या **बृहदुक्थ वाम्नेय**=**वाम्नी** का पुत्र या वंशज : पंविब्रा०, १४. ९. ३८। ये संबन्ध एक पीढ़ी के न होकर दूर के भी हो सकते हैं[2]। तीन नाम बहुत कम आए हैं, जैसे **कौशाम्ब स्वायव लातव्य** : पंविब्रा०, ८. ६. ८; **स्वायु** का वंशज और **लातव्य** वंश का अर्थात् **लतु** का वंशज अथवा **दवतरस् श्यावसायन काश्यप** : जैउब्रा०, ३. ४०. २ में। यहां पैतृक नाम और गोत्र नाम दोनों पाए जाते हैं। कुछ स्थलों पर नामों का संबन्ध संभवतः स्थानों से भी है, जैसे **कौशाम्बेय** और **गाङ्ग्य**। कभी-कभी केवल पैतृक नाम आता है, जैसे **भार्गव**, **मौद्गल्य** आदि; और कभी-कभी दो पैतृक नाम आते हैं। कभी-कभी सामान्य नाम भी पैतृक नाम के अर्थ में आते हैं, जैसे **त्रसदस्यु** : शब्रा०, ६. १. २. १३[3]। कुछ स्थलों पर पत्नी का नाम पति के नाम के आधार पर बनाया गया है, जैसे **उशीनराणी, पुरुकुत्सानी, मुद्गलानी**[4]।

नाम्ब—शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ३. ८ में एक प्रकार के अन्न का नाम नाम्ब है। तैसं० १. ८. १०. १ और कासं०, १५. १५ में इसके लिए **आम्ब** शब्द आया है। देखो सूर्यकान्त, अम्बष्ठ, अम्बष्ठा एण्ड आम्बष्ठ, बी० सी० ला० वाल्यूम।

नाय—ऋग्वेद ६. २४. १०; ६. ४६. ११ में बोबू० के अनुसार एक व्यक्ति का नाम **नाय** है। सायण ने

[1] वेबर, नक्षत्र, २. ३१८, ३१९; द्र०–**आषाढ़; रौहिण, रौहिणायन**।

[2] द्र०–पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, १४; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५५ टि० २।

[3] हापकिन्स, रिलिजन आफ इण्डिया, २०१, टि० २।

[4] तु०–मैकडानल, वैग्रा०, पृ० १३५। तु०–वेबर, नक्षत्र, २. ३१६–३२०।

इसे नेता के अर्थ में लिया है; पिशल[1] ने इसे कर्म-वाच्य में क्रिया माना है[2]।

नारद—एक देवशास्त्रीय ऋषि नारद का उल्लेख अथर्ववेद में कई बार आया है : ५. १९. ९; १२. ४. १६, २४, ४१। ऐतरेय ब्राह्मण में **पर्वत** के साथ उन्हें **हरिश्चन्द्र** का पुरोहित (७. १३; तु०–शांश्रौसू०, १५. १७), **सोमक साहदेव्य** का गुरु (७. ३४) और **आम्बष्ठ्य** तथा **युधांश्रौष्टि** का अभिषेक-कर्ता (८. २१) बताया गया है। मैत्रायणी संहिता १. ५. ८ में वे एक आचार्य हैं; षड्विंश ब्राह्मण ३. ९ की वंश-सूची में उन्हें **बृहस्पति** का शिष्य कहा गया है। छाउ० ७. १. १ में उनका उल्लेख **सनत्कुमार** के साथ हुआ है। तु०–वेबर, इस्टू०, १. २०४ टि०।

नारसिंह—परवर्ती साहित्य में **नृसिंह** अवतार के रूप में सुप्रसिद्ध आख्यान का स्रोत तैत्तिरीय आरण्यक १०. १. ७ में मिलता है। वहाँ **नारसिंह** के रूप में **नृसिंह** की विशेषताओं से युक्त व्यक्तित्व स्पष्ट है—'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि। तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात् ॥'

१–नारायण—'पुरुष' या परम पुरुष के लिए **नारायण** शब्द का प्रयोग ऋग्वेद काल से ही पाया जाता है : ऋ० १०९०; शब्रा० १२. ३. ४. १; १३. ६१. १; काश्रौसू०, १०. १३. ४; २४. ७. ३६ आदि।

२–नारायण—तैत्तिरीय आरण्यक का दशवां प्रपाठक **नारायणोपनिषद्** या **महानारायणोपनिषद्** के नाम से भी प्रसिद्ध है।

नाराशंसी—मनुष्यों से संबद्ध पद्य। ऋग्वेद १०. ८५. ६ में नाराशंसी शब्द का प्रयोग मिलता है। परवर्ती साहित्य में प्रायः इसे **गाथा** से अलग गिनाया गया है: अवे०, १५. ६. ४; तैसं०, ७. ५. ११. २; ऐब्रा०, ६. ३२; कौब्रा०, ३०. ५; कासं० ५. ५. २; तैआ० २. १० आदि; वेबर, इस्टू०, ५. ७८; तु०–शब्रा०, ११ ५. ६. ८।[3] कासं०, १४. ५ में दोनों का भेद बताते हुए कहा गया है कि दोनों मिथ्या हैं (=अनृत);[4] दोनों में अधिक भेद नहीं था, क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३. २. ६ में 'मनुष्यों से संबद्ध नाराशंसी गाथा' का उल्लेख है। ऐसे छन्दों का रूप क्या था यह शांश्रौसू० १६. ११. १ से जाना जा सकता है, जहाँ पुरुषमेध के प्रसङ्ग में **नाराशंसी** की गणना है।[1] उन्हें आर्ष-काव्य का स्रोत मानना न्याय्य प्रतीत होता है।[2] ऐब्रा०, ६. ३२; कौब्रा०, ३०. ५३ आदि में अथर्ववेद के तीन छन्दों (२०. १२७. १-३; शांश्रौसू०, १२. १४. १३) का नाम **नाराशंसी** है।[3] किंतु संभवतः ओल्डेनबर्ग[4] का यह मत ठीक है कि यह नियमित अर्थ ऋग्वेद १०. ८५. ६ में नहीं है। तैसं० ७. ५. ११. २ में भी यह नियमित भाव नहीं है; बृहद्देवता ३. १५४ में **नाराशंसी** को सामान्य अर्थ में ही लिया गया है। तु० 'यद् ब्रह्मणः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्' तैब्रा० १. ३. २. ६।

नारी - ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्त्री के अर्थ में नारी शब्द आम है : ऋ० ७. २०. ५; ७. ५५. ८; ८. ७७. ८; १०. १८. ७; १०. ८६. १०, ११; अवे०, १४. २. १३; वासं०, २३. ३६; ऐब्रा०, ३. ३४। ऋ०, १. ७३. ३. "पति-जुष्टा" अर्थात् "पति की प्रिय"; ७. २०. ५; १०. १८. ७ "अविधवाः सुपत्नीः" आदि में नारी शब्द विशेषतः पत्नी के भाव को जताता है, जहाँ वह दाम्पत्य संबन्ध के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट है; परवर्ती साहित्य में यह भाव सामान्य नहीं है, किंतु कहीं-कहीं पाया जाता है : गौधसू०, ९. २८। डेल्ब्रुक का मत है कि यह शब्द दाम्पत्य-संबन्ध को नहीं संकेतित करता, अपितु "नारी" काम-वासना की दृष्टि से पुरुष की पूरिका के रूप में आख्यात है[5]।

नार्भर—ऋग्वेद २. १३. ८ में **नार्भर** शब्द आया है। लुड्विग, ने इस नाम के राजा को **ऊर्जयन्ती** किले का अधिपति माना है[6]। किंतु राथ[7] ने इसे एक दैत्य माना है।

नार्मिणी—ऋग्वेद १. १४९. ३ में पुर् या किले का विशेषण **नार्मिणी** आया है; या तो यह उस पुर् का नाम

[1] वैस्टू०, १. ४१।

[2] अन्य व्याख्याओं के लिए द्र०–ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १२३, ३७०।

[3] एगलिङ्ग, सेबुई०, ४४. ९८ टि० ३।

[4] द्र० वेबर, इं० स्ट्राइ०, १. ९८।

[1] तु० वेबर, एपिश्शेस०, १० एवं अग्रिम।

[2] द्र० हापकिन्स, जअओसो०, १५. २६४ टि०; ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, १००; तु० ह्विम्स आ० दि अ०वे०, ६८८, ६८९।

[3] तु०–शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, १५५।

[4] त्सादामौगे०, ४२. २३८।
विवरण : वेबर, एपिश्शेस०, ४ एवं अग्रिम।

[5] विवरण : दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्दशाफ्तस-नामन ४१७, ४२९।

[6] ट्रां० ऋ०, ३. १५२।

[7] वोबू०।

है, या "नर्मिन् या नर्मिण् नामक किसी राजा के पुर्" के अर्थ में आया है। लुड्विग[1], ने इसे पुर् का नाम माना है। राथ ने एतन्नामक राजा के पुर् के अर्थ में इसे लिया है[2]।

संभवतः न+अर्मिणी इन दो शब्दों से यह बना हो; द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १४८; सेबुई०, ४६. ११७।

नार्मेधस सामविशेष। 'नृमेधसमाङ्गिरसं सत्रमासीनं श्वभिरभ्याह्वयन् सोऽग्निमुपाधावत् पाहि नो अग्न एकयेति तं वैश्वानरः पर्युदतिष्ठत् ततो वै स प्रत्यतिष्ठत् ततो गातुमविन्दत' तां० ८. ८. २२।

नार्य—नर्य का वंशज। ऋग्वेद ८. २४. २९ में एक उदार दाता का नाम है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६१, १६२।

नार्षद्—नृषद् का वंशज। **कण्व**; कण्व-वंशीय एक व्यक्ति का पैतृक नाम **नार्षद** है; इनका उल्लेख अथर्ववेद ४. १९. २ में और ऋग्वेद १०. ३१. ११ में आता है, जहाँ संभवतः १. ११७. ८ में उसी व्यक्ति को उद्दिष्ट किया गया है, जो **अश्विनों** का कृपा-पात्र और सभवतः **रुशती** का पति है। किंतु ऋग्वेद १०. ६१ १३ में **नार्षद** एक दैत्य का नाम है, यद्यपि यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

विवरण : लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०८, १५०, ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, ३९७।

नाव-प्रभ्रंशन— नाव या पोत का फिसलना। ह्विटनी और राथ ने अथर्ववेद १९. ३९. ८ में 'नाव प्रभ्रंशन' पाठ लिया है (नावप्रभ्रंशन सुधारा हुआ पाठ है, संहिता की पांडुलिपियों में नावप्रभ्रंशन और नावः० पाठ है)। कुछ लोगों ने इसे शतपथ ब्राह्मण १. ८. १. ६ के **मनोरवसर्पण** से संबद्ध किया है, जहाँ **मनु** का पोत जल-प्लावन के समय जाकर लगा हुआ था[3] किंतु ब्लूमफील्ड[4] और ह्विटनी[5] के अनुसार यह व्याख्या असंभव है। मैकडानल ने इस मत को स्वीकार किया है[6]। पदपाठ और भाष्य में "न+अवप्रभ्रंशन" के रूप में पाठ ग्रहण किया गया है, और अन्यत्र कहीं भी नाव या पोत के प्रसङ्ग में यह नहीं आया है; नौ-शब्द समास में नाव के रूप में प्रारंभ में नहीं आया है। अव+भ्रंश् का प्रयोग जो नीचे उतरने के अर्थ में है, नाव के लिए उपयुक्त नहीं बैठता।

नावा - पोत। केवल ऋग्वेद १. ९७. ८ में यह शब्द आया है। द्र०—**नौ**।

नावाज—शतपथ ब्राह्मण २. ३. ५ में **नावाज** शब्द नाविक के अर्थ में आया है।

नाव्या—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार **नाव्या** शब्द नाव चलाने योग्य नदियों के अर्थ में आया है: ऋ० १. ३३. ११; १. ८०. ८; १. १२१. १३; अवे०, ८. ५. ९; कासं०, २३. ६; शब्रा०, १०. ५. ४. १४ इत्यादि।

नासत्य—असत्य-रहित। **अश्विनों** के लिए नासत्य विशेषण आम है। द्र०—**अश्विनौ**।

नाहुष—वोबू० के अनुसार **नहुष्** के समान नाहुष शब्द भी ऋग्वेद १. १००. १६, ५. ७३. ३; ६. २२. १०; ८. ६. २४ में 'पड़ोस' के अर्थ में आया है; और ऋ० ८. ९५. २ में यह 'पड़ोसी' के अर्थ में आया है। यदि **नहुष्** को व्यक्ति-वाचक नाम माना जाय तो **नाहुष** का अर्थ भी 'नहुष् जन से संबद्ध' और विशेषतः 'नहुषों का राजा' होगा।

निःशस्—ऋग्वेद १०. १६४. ३ में सायण के अनुसार निःशस् शब्द निर्गताभिलाष के अर्थ में है।

निकोथक भायजात्य—**भयजात** का वंशज। वंश-ब्राह्मण[1] में **प्रतिथि** के शिष्य का यह नाम है।

निखर्व, निखर्वक, निखर्वाद—द्र०—**दशन्**।

नि-गद पार्णवल्कि—**पर्णवल्क** का वंशज। वंश-ब्राह्मण (इस्टू०, ४. ३७२) में **गिरिशर्मन्** के शिष्य का यह नाम है। तु०—'ऊर्ग् वै रसो निगदः' कौब्रा० १२. १ तु०—मैक्समूलर, ऐंशियण्ट सं० लिट०, ४४३।

निगुत्— ऋग्वेद ९. ८७. ५३, ५४; १०. १२८. ६ में सायण के अनुसार **निगुत्** शब्द शत्रु के अर्थ में आया है; लुड्विग[2] इसे अनार्य शत्रु मानते हैं।

निगुस्थ—शांखायन श्रौत सूत्र १६. २९. ६ में **काशी**, **विदेह** और **कोसल** के जनों को निगुस्थ कहा गया है। इसका ठीक अर्थ अज्ञात है।

---

[1] ट्रां० ऋ० ३. २०४।

[2] वोबू०।

[3] द्र०—वेबर, इंस्त्राइ०, १. ११; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १९८; एगलिंग, सेबुई०, १२. २१८ टि०; त्सिमर, आ०, ले० ३०।

[4] हिम्स० आ० दि अवे०, ६७९।

[5] ट्रां० अवे०, ९६१।

[6] जराएसो०, १९०७, ११०७।

---

[1] इस्टू०, ४. ३. ७३। तु०—मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४४।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १६४।

१. **नि-तत्नी**—नीचे की ओर फैलने वाली। अथर्ववेद में एक पौधे का नाम नितत्नी है, जिसे केशों के संरक्षण एवं वर्धन के लिए उपयोग में लाया जाता था : अवे०, ६. १३६; संभवतः १३७ में भी उसी पौधे का उल्लेख है।

विवरण : कौसू०, ३१. २८, के अनुवाद में कालेंड का नोट; ब्लूमफील्ड, अवे०, ६१; हिम्स आ० दि अवे०, ५३६, ५३७, ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३८३।

२. **नि-तत्नी**—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १. ४. १ में उल्लिखित कृत्तिकाओं में से एक कृत्तिका का नाम नितत्नी है। द्र०—**नक्षत्र**।

नि-तान मारुत—कासं० २५. १० में एक व्यक्ति का नाम **नितान मारुत** आया है।

नि-दाघ—ग्रीष्म। शब्रा० 'निदाघे वा नि नोऽग्रं धीयाता इति' १२. ८. १. ४ में निदाघ एक ऋतु का नाम है। द्रष्टव्य **नैदाघ**।

१. **नि-दान**—बृहद्देवता ५. २३, मैकडानल-संस्करण में **निदान** एक सूत्र का नाम है, जिसमें **भाल्लवि** ब्राह्मण का एक उद्धरण है, किंतु प्राप्त **निदान-सूत्र** में वह उद्धरण नहीं मिलता।

द्र०—जीग, दी० जा० ऋ०, ६५; विवरण : वेबर, इस्तू०, १. ४४; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ११. १ इत्यादि।

२. **नि-दान**—कुछ स्थलों पर निदान शब्द ऋग्वेद-काल से ही आदिकारण तथा विनियोग के अर्थ में आया है। ऋग्वेद १०. १३०. ३ 'कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानम्' में यही अर्थ है। द्र०—ऋ० १०. ११४. २ "तासां नि चिक्युः कवयो निदानम्"; तैब्रा० २. २. ११. ६; तैसं० ६. ५. ११. २; कासं० २०. ९; शांब्रा० २२. १, २३. १ आदि।

नि-दिध्यासन—बार-बार ध्यान करना; ध्यान की इच्छा। सर्वप्रथम बृउ० २. ४. ४; २. ४. ५; ४. ५. ५; ४. ५. ६ में "निदिध्यासा" व और "निदिध्यासितव्यः" पदों का प्रयोग आया है। कहा गया है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" श्रवण, उसके बाद मनन और फिर निदिध्यासन या बार-बार ध्यान करना यह आत्म-ज्ञान का साधन कहा गया है। परवर्ती काल में निदिध्यासन शब्द वेदान्त-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द बन गया है।

नि-धन काम—सामविशेष। 'अथैतन्निधनकामं सर्वेषां कामानामवरुद्ध्यै' तां० १२. ९. १२।

नि-धन—सामविशेष, तां० ५. २. ५; 'अस्तमितः आदित्य एव निधनम्' जैउब्रा० १. १२. ४; 'चन्द्रमा नक्षत्राणि पितर एतन्निधनम्' जैउब्रा० १. १९. २; 'प्रजापतिरेव निधनम्' जैउब्रा० १. ५८. ९;=हेमन्त, षब्रा० ३. १;=श्रोत्र, जैउब्रा० १. १३. ५;=दिश्, जैउब्रा० १. ३६. ६;=मज्जा, जैउब्रा० १. ३६. ६;= वीर्य, तां० ७. ३. १३।

निनित्सु-निन्दा का इच्छुक। ऋग्वेद ७. २५. २; ८. ५७. १९ में यह शब्द आया है।

नि-धा—जाल। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में निधा शब्द आया है : ऋ० ९. ८३. ४; १०. ७३. ११; तु० 'पाशा वै निधा' ऐब्रा० ३. १९; निरुक्त, ४. २।

नि-धि—निधि शब्द का मौलिक अर्थ है "रखने का स्थान" या "संग्रह-स्थान," ऋ० १. १८३. ४; ५. ४३. ८; ६७. ७; ७. ६९. ३ आदि। बाद में इसका अर्थ कोष या खजाना हो जाता है : ऋ० २. २४. ६; ८. २९. ६. १०. ६८. ६; अवे०, १०. ७. २३ आदि। छाउ० ७. १. २, ४; ७. ७. १ में नि-धि शब्द किसी विद्या का नाम प्रतीत होता है[1]।

कोशार्थक निधि के लिए तु०—जाली, रेल्त उन्द ज्ञित्ते' १०३, १०४।

नि-नर्द—'बलं निनर्दः' गो.उ० ६. १२।

नि-नाह्य—शब्रा० ३. ९. २. ८ में जल के घड़े को निनाह्य कहा गया है। भाष्यकार के अनुसार इस नामकरण का आधार है उसका जमीन में रखा जाना; व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ है "नीचे बाँधना या स्थिर करना।" एगलिङ्ग[2] का मत है कि भूमि खोद कर उसमें किसी रखे गये घट का नाम निनाह्य है, जो संभवतः जल को ठंडा रखने के लिये बनाया जाता था।

निन्दिताश्व—निन्दित घोड़ों वाला। ऋग्वेद ८. १. ३० में एक आश्रयदाता का नाम निन्दिताश्व है। इस नाम से ईरान का कुछ संबन्ध हो सकता है; किंतु ऐसा मानना अनिवार्य नहीं है।[3] सायण ने इसका अर्थ किया

---

[1] राथ और बोहटलिङ्गक ने "देवो निधिः" को संबद्ध माना है, किंतु सायण ने दोनों को अलग-अलग रखा है। उन्होंने निधि का अर्थ "महाकालादि निधि-शास्त्र" किया है; संभवतः "ऐतिहासिक काल के लेखे-जोखे" से तात्पर्य हो।

[2] सेबुई०, २६. २२३ टि० ४।

[3] विवरण : हापकिन्स, जअओसो०, लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५९।

है 'शत्रु के अश्वों को नीचा दिखाने वाला' जो संभवतः किसी का उप-नाम हो सकता है।

नि-पाद—ऋग्वेद ५. ८३. ७ में निचली भूमि या उपत्यका के अर्थ में निपाद शब्द आया है, जो उद्वत् या पर्वत का विपरीत है। तु०—नि-वत्।

नि-पुर्—वासं० २. ३० में असुरों के परापुर् और निपुर् धारण करने का उल्लेख मिलता है। महीधर-भाष्य के अनुसार इनका अर्थ क्रमशः स्थूल-देह और सूक्ष्म-देह है। तु०—अवे०, १८. २. २८।

नि-मेष—पलक झपकने का समय। समय का एक विभाग निमेष है। वासं० ३२. २ में कहा गया है कि सभी निमेष विद्योतमान पुरुष से उत्पन्न हुए हैं—'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि'। द्र०—वासं०, २३. ८; तैब्रा०, २. १. ५. ९; तैसं०, ७. ५. २५. १ आदि। तु०—अहन्।

नि-म्रुच—सूर्यास्त। समय के एक भाग के रूप में अनेक बार ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में निम्रुच् शब्द आया है: ऋ० १. १५१. ५; १. १६१. १०; ८. २७. १९; १०. १५१. ५; अवे०, १३. ३. २१; तैसं०, १. ५. १०. २; कासं०, ३७. १०; तैआ०, २. ५. २ आदि।

नि-युत—नियुत शब्द एक लाख को जताता है। द्र०—वशान्। तु० 'पशवो वै नियुतः' तां० ४. ६. ११; शब्रा० ४. ४. १. १७; 'उदानो वै नियुतः' शब्रा० ६. २. २. ६।

निरष्ट—बधिया किया हुआ। संहिताओं एवं ब्राह्मणों में निरष्ट वृषों एवं अश्वों का उल्लेख है: तैसं० १. ८. ९. १; १. ८. १७. १; कासं०, १५. ४. ९; शब्रा०, १३. ४. २. ५ आदि।

निराज—द्र०—उदाज।

निराल—अथर्ववेद ६. १६. ३ में निराल शब्द सायण के अनुसार किसी रोग का नाम है। पद-पाठ के आधार पर ब्लूमफील्ड ने निर् (=निर्गत) ओर आल ('हे आल या हे तृण) यह छेद किया है।[१] ह्विटनी[२] ने पहले 'आल' को क्रिया माना था, किंतु बाद में उन्होंने 'निराल' को अनिश्चितार्थक माना है।

निरुक्त—व्याख्या। छाउ० ८. ३. ३ में शब्द या वाक्य की व्याख्या के अर्थ में निरुक्त शब्द आया है, किंतु परवर्ती उपनिषदों से पहले यह शब्द किसी ग्रन्थ का बोधक बन कर नहीं आया है। यास्क का निरुक्त बौद्ध धर्म के प्रारम्भ से पीछे का नहीं है। तु०—निर्वचन। तु० 'एतद्वै गायत्रस्य क्रूरं यन्निरुक्तम्' (गानम्) तां० ७. १. ८; कौब्रा० ११. १; 'निरुक्ता हि वाङ्ग निरुक्तो हि मन्त्रः' शब्रा० ५. ४. ४. १३।

विवरण: वेबर, इस्टू०, १. १३. १७; ३. २६० एवं आगे; इंलि०, २५. २६, ४१, ४२ मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २६९, २७०; कीथ, ऐआ०, २४, २५; राथ, निरुक्त, १५ एवं आगे।

निर्ऋति—वैदिक साहित्य में निर्ऋति शब्द दुर्भाग्य के अर्थ में आम है: ऋ० १. २४. ९; १. १६४. ३२; ७. १०४. ९; ८. २४. २४; १०. १८. १०; १०. १६१. २; शब्रा०, ७. २. १. ९; तैसं०, ५. २. ४. ३; ६. २. ६. ४ आदि। तु० 'इयं (पृथिवी) वै निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति' शब्रा० ७. २. १. ११, तैब्रा० १. ६. १. १; 'पाप्मा वै निर्ऋतिः' शब्रा० ७. २. १. १; 'निर्ऋतेर्वा एतङ मुखं यद् वयांसि यच्छकुनयः' ऐब्रा० २. १५; 'या वा अपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता' शब्रा० ५. ३. १. १३।

निर्णिज्—निघण्टु ३. ७ में निर्णिक् को रूप के पर्यायों में गिनाया गया है। ऊपरी परिधान इस अर्थ में भी यह मिलता है: ऋ० १. २५. १३; १. ११३. १४; १. १६२. २; ५. ६२. ४; ७. ६४. १; ८. १९. २३; ९. १४. ५; ९. ८६. २६; ९. ८२. २; ९. ९९. १; ९. ७०. ७; १०. २७. २४।

निर्यास—वृक्षों से निकलने वाला गोंद। तैसं० २. १. ५. ४ में इसे खाद्य कहा गया है, और यह लाल रंग का होता है।

निर्वचन—तैआ० १. ६. ३ और निरुक्त २. १ में यह शब्द व्याख्या, विशेषतः व्युत्पत्ति के अर्थ में आया है। तु०—निरुक्त। द्र० 'अनिर्वचन', निरुक्त ७. २४।

नि-वत्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में निवत् शब्द पहाड़की तलैटी के अर्थ में आया है: ऋ० १. १६१. ११; ३. २. १०; ७. ५०. ४; १०. १२७. २; १०. १४२. ४; अवे० ६. २२. ३; तैसं०, ३. २. ४. ४ आदि।

निवान्यवत्सा, निवान्या—शब्रा० १२. ५. १. ४ में उस गौ को निवान्यवत्सा या निवान्या कहा गया है, जिसके बछड़े के मर जाने पर उसके स्थान पर दूसरा बछड़ा सामने खड़ा किया जाता है। समस्त पद के स्थान पर निवान्या भी शब्रा०, २. ६. १. ६ में आता है। उसी प्रकार के शब्द हैं:—अभिवान्यवत्सा: ऐब्रा०, ८. २; अभिवान्या: तैब्रा०, १. ६. ८. ४; वान्या: तैआ० २. ६.

---

[१] हिम्स आ० दि अवे०, ४६६।
[२] ट्रां० अ०वे० २९२।

१६. २; और अपिवान्यवत्सा : कौसू०, ८२. २२। तु—लानमान, ह्विटनी के ट्रां० अवे०, ८८० में।

नि-विद्—यज्ञ के अवसर पर आदरपूर्वक देवता को न्यौतने के लिए प्रयुक्त छोटे मन्त्र को निविद् कहते हैं। ब्राह्मणों में बार-बार आया है कि शस्त्रों में निविद् होते हैं: ऐब्रा०, २. ३३., ३४; ३. १०, ११; ६. ३३, ३५; कौब्रा० १४. १; शब्रा०, ३. ९. ३. २८; १३. ५. १. ९ आदि, ऐआ० १. ५. २; शांआ०, १. ३ आदि। ऋग्वेद के खिलों में कुछ निविद् पाए जाते हैं[1] किंतु यह संदिग्ध है कि एक पाद के रूप में निविद्-मन्त्र ऋग्वेद-काल में ज्ञात थे अथवा नहीं; यद्यपि वहाँ भी वे पाए जाते हैं: ऋ० १. ८९. ४। निविद् शब्द भी वहां पाया जाता है: १. ८९. ३; १. ९६ २; १. १७५. ६; २. ३६. ६; ४. १८. ७; ६. ६७. १०; किंतु उस अर्थ में नहीं, जिसमें कि वह ब्राह्मणों में आता है[2]। अन्य संहिताओं में निविद् शब्द पारिभाषिक अर्थ में आया है: अवे०, ५. २६. ४, ११. ७. १९. वासं०, १९. २५ आदि। तु०—'निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्' तैब्रा० २. २. ८. ५; 'तं (यज्ञं) वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयन् यद् वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्' ऐब्रा० ३. ९; 'अन्नं निविद:' कौब्रा० १५. ३, ४; =प्राण:, कौब्रा० १५. ३, ४; 'सौर्या वा एता देवता यन्निविद:' ऐब्रा० ३. ११; = आदित्य:, जैउब्रा० ३. ४. २; 'अथ वै निविदसावेव योऽसौ (सूर्य:) तपत्येष हीदं सर्वं निवेदयन्नेति' कौब्रा० १४. १; = चक्षु:, जैउब्रा० ३.४. ३; 'गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविद:' ऐब्रा० ३. १०; =क्षत्रम्, ऐब्रा० २. ३३।

विवरण: हिल्लेब्रांड्ट, रितु० लित०, १०२; ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३८७ टि० २; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. २४१।

[1] द्र०—शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, १३७—१४३।

[2] निविद् मन्त्रों की प्राचीनता के संबन्ध में द्र०—हाग, ऐब्रा०, १. २६ एवं आगे; तिलक, ओरायन, २०६; शेफ्तलोवित्स, उक्त, ३; इस मत के विरुद्ध द्र०—वेबर, इस्तू०, ९. २६५, ३५५; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २४२ एवं आगे; गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन्, १९०७, २३२, २३३; ऋग्वेद में निविद्-मन्त्रों के संबन्ध में द्र०—वेत्सनबर्गर बाइत्रागे, ९. १९२; ओल्डेनबर्ग, सेबुई०, ४६. ११९. १२२; इन्होंने ऋ० १. ८९. २ में निविद् को पारिभाषिक शब्द माना है।

निविद्-धान—निविद्-युक्त। कई बार ब्राह्मणों में सूक्त को निविद्-धान कहा गया है: ऐब्रा०, ३. १७; कौब्रा०, २१. ६; २४. ४; शब्रा०, १३. ५. १. १२; ऐआ०, १. २. २; १. ५. ३।

निवेशन—ऋग्वेद एवं सूत्रों में निवेशन शब्द रहने के स्थान को जताता है, किंतु बाद में यह गृह के विपरीत पशुओं के घेर को सूचित करता है: ऋ० ४. १९. ९. ७. १९. ५; आगृसू०, ४. ६ आदि।

निषङ्गथि या निषङ्गधि—याजुष-संहिताओं में ये शब्द आए हैं। यदि निषङ्गधि रूप ठीक है तो इसका अर्थ है 'तलवार की म्यान' (निषङ्ग), जैसा कि वोबू० ने माना है: किंतु पहला रूप ही ठीक प्रतीत होता है, और यह **निषङ्गिन्** का पर्याय है।

निषङ्गथि: कासं०, १७. ११; मैसं०, २. ९. २; निषङ्गधि: वासं०, १६. १०।

निषङ्गिन्—ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो में निषङ्गिन् शब्द आया है: ३. ३०. १५; ५. ५७. २; १०. १०३. ३। ऋ० ५. ५७. २ में 'सुधन्वान: इषुमन्त:' (धनुर्बाणधारी) के साथ यह शब्द आया है; अत: इसका अर्थ 'तरकस धारण करने वाला' होना चाहिये। वासं० १६. २० में भाष्यकार महीधर ने इसका अर्थ 'तलवार धारण करने वाला' किया है; तु०—काश्रौसू०, २०. २. ११ भाष्य। यह अर्थ वहाँ एवं सामवेद २. ११९९; कासं०, १७. १२; ३७. ११; मैसं० २. ९. ३; तैसं०, ४. ५. ३. १; शब्रा०, १३. ४. २. ५ में ठीक बैठता है। किंतु 'तरकसधारी' अर्थ भी ठीक बैठता है, क्योंकि प्रमुख वैदिक शस्त्र तलवार न होकर बाण था।

विवरण: हापकिन्स, जअओसो०, १३. २७४।

नि-षाद—निषाद का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलता है: तैसं०, ४. ५. ४. २; कासं०, १७. १३; मैसं०, २. ९. ५; वासं०, १६. २७; ऐब्रा०, ८. ११; पंविब्रा०, १६. ६. ८ आदि। यह शब्द किसी विशेष वर्ण को नहीं, अपितु उन आदिवासियों को जताता है, जो आर्यों के शासन में वैसे नहीं थे, जैसे कि शूद्र लोग। औपमन्यव (यास्क, निरुक्त, ३, ८२ में) के अनुसार **पञ्च-जनों** में चार वर्ण और निषाद ये पाँच आते हैं। महीधर के अनुसार वासं० १६. २७; तु० ३०. ८ में निषाद भिल्ल या भील हैं। लाट्यायन श्रौत-सूत्र ८. २. ८ में निषादों के एक ग्राम का उल्लेख मिलता है। एक निषाद-स्थपति का उल्लेख काश्रौसू० १. १. १२[1] में आता है, जहां भाष्य-

[1] वेबर, इस्तू०, १०. १३।

कार ने एक ब्राह्मण के संदर्भ को भी उद्धृत किया है। वेबर[1] के अनुसार निषाद यहाँ के आदि-वासी हैं (नि+सद् अर्थात् 'नीचे बसे हुए')। इसका समर्थन विश्वजित् यज्ञ से होता है, जिसमें एक आर्य किसी निषाद से अस्थायी निवास के लिए स्थान माँगता है, जिससे वह उन्हें आर्य-प्रभाव में ला सके; द्र०—कौब्रा० २५. १५; लाश्रौसू० ८. २. ८; पंविब्रा०, १६. ६. ८ आदि। किंतु यह नाम आर्य-सभ्यता के बाहर के सभी आदिवासियों का हो सकता है। फान श्रोदर[2] के विचार में निषाद **न्यसियनों** से अभिन्न हैं, जिन्होंने ग्रीक विवरण के अनुसार सिकन्दर के पास उस समय दूत भेजा था, जब वह **अश्वकों** के क्षेत्र में था; किंतु यह तादात्म्य चिन्त्य है। महाभारत ३. १०. ५३८ के अनुसार निषाद लोग **विनशन (सरस्वती** के लोपस्थान) के पास थे।

तु०—त्सिमर, आ०ले०, ३९. ११९; परवर्ती काल में मनु १०. ८ के अनुसार ब्राह्मण और शूद्रों से उत्पन्न संतान को **निषाद** कहा गया है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता १४. १० के अनुसार मध्यदेश के दक्षिण-पूर्व में निषादों का राष्ट्र था; फिक, दी सोश्याल ग्लीदरुङ्ग, १२. १६०, २०६ एवं आगे; उन्हें बृहत्संहिता में वन्य शिकारी और मछुआ कहा गया है। तु०—म्यूर संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. ३०१, ३०३, ३६६ टि०, १६४, ४०३, ४८१।

नि-षेध—साम-विशेष। 'उत्सेधनिषेधौ ब्रह्मसामनी भवतः। उत्सेधेनैवास्मैं पशूनुत्सिध्य निषेधेन परिगृह्णति' तां० १९. ७. ४।

निष्क—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में निष्क शब्द आम है: ऋ० २. ३३. १०; ८. ४७. १५; अवे० ५. १४. ३; ७. ९९. १; २०. १३१. ८; ५. १३. २; जैउब्रा०, १. ३६. ७, ८; शब्रा०, १३. ४. १. ७, ११ इत्यादि। यह सोने का होता था और गले में पहरा जाता था, जैसा कि **निष्क-ग्रीव**: ऐब्रा०, ८. २२ और **निष्क-कण्ठ**: ऋ० ५. १९. ३; अवे०, ५. १७. १४ से ज्ञात होता है। पंविब्रा० १७. १. १४ में व्रात्य द्वारा पहने गए चाँदी के निष्क का उल्लेख है; तु०—अवे०, १५. ३। ऋग्वेद-काल से ही विनिमय के साधन के रूप में निष्क का उल्लेख मिलता है। एक ऋषि ने एक हजार निष्कों और एक हजार घोड़ों को प्राप्त करने का वर्णन किया है; निश्चय ही उसने ये निष्क अलंकार के रूप में धारण करने के लिये नहीं लिए होंगे; द्र०—ऋ० १. १२६. २। बाद में तो इस रूप में निष्कों का उपयोग स्पष्ट है: अवे०, २०. १२७. ३; लाश्रौसू०, ९. ९. २०; शब्रा० ११. ४. १. ८; गोब्रा०, १. ३. ६।[1] तु०—कृष्णल।

निष्काम—सर्वप्रथम बृउ० ४. ४. ६ और मैत्रायण्युपनिषद् ६. ३० में निष्काम शब्द आसक्ति-रहित इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती काल में, विशेषतः गीता में निष्काम कर्मयोग का विशेष विश्लेषण है; किंतु बृहदारण्यक उपनिषद् में ही यह दर्शन पूर्ण-रूपेण विकसित हो चुका था। वहाँ सकाम कर्म के पुनरागमन फल का निर्देश करते हुए कहा गया है—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'। अर्थात् जो कामनारहित, पूर्ण काम और आत्म-काम होता है, वह जीवनकाल में ही ब्राह्मत्व प्राप्त कर लेता है।

निष्किरीय—पंविब्रा० १२. ५. १४ में पुरोहितों की एक शाखा **निष्किरीय** है; इनके सत्र का वहाँ उल्लेख है। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स० १५. ५८।

निष्ट्य—=निस्+त्य। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बाहरी या अपरिचित व्यक्ति को निष्ट्य कहा गया है: ऋ० ६. ७५. १९; ८. १. १३; १०. १३३. ५; अवे०, ३. ३. ६; वासं०, ५. २३; शब्रा०, १. ६. ४. १७ आदि। इसी कारण **स्वाती नक्षत्र** को निष्ट्य कहा गया है: तैब्रा०, १. ५. २. २, ३; २. १. १. १३; क्योंकि वह क्रान्ति-कक्ष से बहुत दूर है।

विवरण: मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. २१५।

निष्ट्या—नक्षत्र। 'या कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति तां निष्ट्यायां दद्यात् प्रियैव भवति। नैव तु (पितुर्गृहं) पुनरागच्छति' तैब्रा० १. ५. २. ३।

निह्नव—साम-विशेष। 'ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्। स वसिष्ठोऽकामयत कथमिन्द्रं प्रत्यक्षं पश्येयमिति स इमन्निहवमपश्यत् ततो वै स इन्द्रं प्रत्यक्षमपश्यत्' तां० १५. ५. २४।

निहाका ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय संहिता में निहाका शब्द किसी प्रकार के तूफान या बवंडर को जताता है। तु—ऋ० १०. ९७. १३; तैसं०, ७. ५. ११. १।

---

[1] इस्तू०, ९. ३४०; तु०—१०. १३, १६।

[2] इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, ३६६।

[1] सिक्के की मान्यता: एगलिंग, सेबुई० ४४. ५०. ५१; गेल्डनर, वैस्तू०, २. १८५। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ५१. २५९, २६३; गेल्डनर, उपर्युक्त, २६८ टि०—२; त्सादामौगे०, ४०. १२७।

नीक्षण—द्र०—नेक्षण।

नीच्य—नीचे रहने वाला, खादर में रहने वाला। पश्चिम के कुछ खादरों का नाम नीच्य है। ऐब्रा० ८. १४, में मध्यदेश के निवासियों से नीच्यों को भिन्न बताया गया है। निःसंदेह वहां तात्पर्य सिन्धु-घाटी और पंजाब के निवासियों से है।

१. **नीड, नीळ**—स्थान या निवास-स्थान के लिए आया है=नि+सद्+अ: ऋ० ४. १. ११, १२; १०. ५. २; १०. ५. ६; परवर्ती काल में नीड शब्द पक्षियों के घोंसले का वाचक बन गया है।

२. **नीड, नीळ**—कुछ स्थलों पर नीड शब्द रथ या बहल के उपवेश या बैठने के स्थान को जताता है: ऋ० १. २४. ९; शब्रा०, १. १. २. ९; ३. ३. ४. १; ३. ६. ३. १८; काश्रौसू०, १८. ५. १८ आदि।

नीथ—ले जाने वाला (नपुं० लिं०)। यह शब्द गाने की तान को, और बाद में सूक्त को जताता है: ऋ० ४. ३. १६; ७. २६. २; १०. ९९. ३; ऐब्रा०, २. ३८; **नीथाविद्** या जरितृ: ऋ० ३. १२. ५। स्त्रीलिंग में नीथा शब्द युक्ति या उपाय के अर्थ में आया है: ऋ० १. १०४. ५; तु०—**शतनीथ**, १. १००. १२; १. १७९. ३; १०. ६७. ७; **सहस्र-नीथ**, ३. ६०. ७; ९. ८५. ४; ९. ९६. १८ कवि की कला के लिए प्रयुक्त "पदवीः कवीनाम्"।

विवरण: म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२, २४१।

नी-नाह—अथर्ववेद १९. ५७. ४ में आने वाला यह शब्द करधनी या वैसे ही अन्दर बांधे जाने वाले किसी पदार्थ को जताता है; यह नह् बांधना धातु से व्युत्पन्न है।

नीपातिथि—ऋग्वेद में एक व्यक्ति का नाम नीपातिथि है: ८. ४९. ९ में युद्धकर्ता, ८. ५१. १ में यज्ञकर्ता। अनुक्रमणी में ऋ० ८. ३४ को उनका बनाया बताया गया है। पंविब्रा० १४. १०. ४ में उनके एक साम का उल्लेख है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४०; हापकिन्स, जअओसो०, १७. ९०।

नीलग्रीव—नीली ग्रीवा वाला। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में नीलग्रीव शब्द रुद्र के लिए अनेक बार आया है। द्र०—वासं०, १६. ७; १६. २८; १६. ५६; १६. ५७ आदि।

नीलंगु—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी कीट का नाम नीलंगु है: तैसं०, ५. ५. ११. १; मैसं०, ३. १४. ११ (नीलांगु); वासं०, २४. ३०। विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ९९।

नील-शीर्ष्णी—नीले सिर वाला। तैसं० ५. ५. १५. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी अज्ञात पशु का नाम नीलशीर्ष्णी है। विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ९९।

नीलाकलसाला—द्र०—नीलागलसाला।

नीलागलसाला—नीलागलसाला या पैप्पलाद शाखा के अनुसार नीलाकलसाला शब्द अथर्ववेद ६. १६. ३ में भाष्यकार के अनुसार किसी अन्न-कीट (कणसुआ?) का वाचक है।

द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २९२, २९३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ४६६।

नीवार—तिन्नी का चावल। याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में नीवार शब्द आम है: कासं०, १२. ४; मैसं०, ३. ४. १०; वासं०, १८. १२; शब्रा०, ५. १. ४. १४; ५. ३. ३. ५; तैब्रा०, १. ३. ६. ७ इत्यादि। तु०—'स (बृहस्पतिः) नीवारान् निरवृणीत। तन्नीवाराणां नीवारत्वम्' तैब्रा० १. ३. ६. ७; 'एतद्वै देवानां परममन्नं यन्नीवाराः' तैब्रा० १. ३. ६. ८; 'एते ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नीवाराः' शब्रा० ५. १. ४. १४।

विवरण: त्सिमर, आ०, ले०, २४०।

नीवि—नीवि एक निचले वस्त्र का नाम है=न्यौली? इसे पुरुष और स्त्रियाँ दोनों पहनते थे। इसका उल्लेख अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में मिलता है: अवे०, ८. २. १६; १४. २. ५०; तु०—**नीवि-भार्य** अर्थात् "नीवि में रखा जाने लायक" ८. २. ६०; तैसं०, ६. १. १. ३; वासं०, ४. १०; शब्रा०, १. ३. ३. ६; ३. २. १. १५ इत्यादि।

विवरण: त्सिमर, आ० ले०, २६२; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ३३१।

नीहार—कुहरा। नीहार का उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है: ऋ० १०. ८२. ७; तैसं०, ७. ५. ११. १; कासं०, २८. ४; वासं०, २२. २६; २५. ९; अवे०, ६. ११३. २; तैआ०, १. १०. ७; ६. ४. १; छाउ०, ३०. ९. २ आदि।

नृ—द्र०—नर।

नृति—अथर्ववेद ६. १८. ३ में चमड़े के बैग को नृति कहा गया है। यद्यपि पैप्पलाद शाखा में भी यही पाठ है, किंतु हम राथ[1] और ह्विटनी[2] के साथ इसके स्थान

[1] वोबू०।

[2] ट्रां० अवे०, २९४।

पर दृति पढ़ सकते हैं[1]। लुड्विग[2], ने इसे नृत्य के अर्थ में लिया है, किंतु इस संदर्भ में नृत्य ठीक नहीं बैठता है।

नृतू—ऋग्वेद १. ९२. ४ में यह शब्द नर्तकी को जताता प्रतीत होता है; वहाँ उषा-देवी को इस रूप में दिखाया गया है। दूसरे स्थल १०. १८. ३; तु०—१०. २९. २ में हास के साथ नृति का दाह-संस्कार के प्रसङ्ग में उल्लेख आता है। यह स्पष्ट है कि यहाँ कोई उल्लास-पूर्ण समारोह अभिप्रेत है। किंतु इसे नृत्य केअ र्थ में नहीं लिया जा सकता। नृत्य का उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मिलता है: ऋ० १. १०. १; १. ९२. ४ इत्यादि। जैमिनीय ब्राह्मण (१. ४२)[3] में नृत्तगीत को छठे लोकका विषय कहा गया है। द्र०—शैलूष, हस्रा, हसना।

नृत्त-गीत—द्र०—नृतू।

नृत्य—कौषीतकि ब्राह्मण २९. ८ में कला या शिल्प के तीन प्रकार कहे गए हैं—नृत्य, गीत और वादित। द्र०—नृतू।

नृपति—मनुष्यों का स्वामी। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में राजा या क्षत्रिय के लिए नृपति शब्द आम है: ऋ० २. १. १, ७; ४. २०. १; ७. ६९. १; १०. ४४. २, ३; अवे०, ५. १८. १, १५; तैआ०, ६. ३. ३; १०. ७७ आदि।

नृमणा—'प्रजापतिर्वै नृमणा'। शब्रा० ६. ७. ४. ३।

नृमेध, नृमेधस्—ऋग्वेद १०. ८०. ३ में अग्नि के एक कृपापात्र का यह नाम है; नृमेध: ऋ० १०. ८०. ३; १०. १३२. ७; तैसं०, २. ५. ८. ३; नृमेधस्: पंविब्रा०, ८. ८. २१ एवं आगे। ऋग्वेद के १०. १३२ में सुमेध के साथ इनका उल्लेख है। ग्रिफिथ ने इस संदर्भ को कठिन बताया है।[4] तैसं० २. ५. ८. ३ में उन्हें परुच्छेप का असफल विरोधी कहा गया है। पंविब्रा० ८. ८. २१ के अनुसार वे एक साम-द्रष्टा आङ्गिरस ऋषि थे।

नृषद्—मनुष्यों में बैठने वाला। ऋग्वेद १०. ३१. ११ में नृषद्, कण्व के पिता का नाम है। तु० नार्षद।

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, ५. २३५; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे० ४६८।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. ५१४।

[3] द्र०—वेबर, इंलि०, १९६ एवं अग्रिम।

[4] जअओसो०, १५. २३५।

[5] हिम्स आ० दि ऋ०, २. ५७८ टि०।

विवरण: हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १६०; हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स०, १५. ६१।

द्र० 'प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्नि-स्तमेतदाह' शब्रा० ६. ७. ३. ११; 'एष (सूर्यः) वै नृषत्' ऐब्रा० ४. २०।

नेक्षण—अथर्ववेद ९. ६. १७ में नेक्षण शब्द समुद्र-गत भूमि को जताता है; तु०—कौसू०, २. ११; ८७. १२।[1] ऋग्वेद १. १६२. १३ में इसी अर्थ में नीक्षण शब्द आया है। ओल्डेनबर्ग[2] का मत है कि यह शब्द (नि+√ईक्ष) 'भोजन देखने' के अर्थ में आया है, जहाँ यह देखना है कि 'भोजन पका है या नहीं'।

नेतृ, नेत्री—ले जाने वाला, नायक। ऋग्वेद काल से ही नेतृ शब्द का प्रयोग आम रहा है। ऋग्वेद ३. ६. ५ में चर्षणियों के नेता का कथन है; अन्यत्र जलों, मतियों और यज्ञ प्रभृति के नेता का उल्लेख है: ऋ० २. १२. ७; ७. ५. २; २. ५. २; ७. ४०. ४; ९. १०३. ४; शब्रा०, ४. ६. ८. १ आदि। स्त्रीलिङ्ग में नेत्री शब्द भी आया है। ऋग्वेद १. ९२. ७ में सूनृतों की नेत्री का उल्लेख है। तु०—ऋ०, १. ११३. ४; ४. ५६. २; ७. ७६. ६, ७; तैसं०, ४. ३. ११. ५ आदि।

नेम-धिति—ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में नेम-धिति शब्द सप्तमी विभक्ति ('नेमधिता') में आया है। निघण्टु २. १७ में 'नेमधिता' शब्द संग्राम के पर्यायों में गिनाया गया है। सभी स्थलों पर यह अर्थ ठीक जान पड़ता है: ऋ० ६. ३३. ४; ७. २७. १; १०. ९३. १२; १. ७२. ४ आदि।

नेमि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ की नेमि का उल्लेख आम है: ऋ० १. ३२. १५; १. १४१. ९; २. ५. ३; ५. १३. ६; ७. ३२. २०; ८. ४६. २३; ८. ७५. ५ आदि; शब्रा०, १. ४. २. १५; बृउ०, २. ५. १५ आदि। इसे पक्की लकड़ी से बनाया जाता था: ऋ० ७. ३२. २०; और ठीक आकार में लाने के लिये झुकाया जाता था: ऋ० ८. ७५. ५। तु०—त्सिमर, आ०लें०, २४८।

नेष्टृ—सोम-य ज्ञके प्रधान ऋत्विजों में एक नेष्टृ है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में मिलता है: ऋ० १. १५. ३; २. ५. ५ आदि; तैसं०, १. ८. १८. १; ६. ५. ८. ५, ६; ऐब्रा०, ६. ३. १० आदि; शब्रा०, ३. ८. २. १ आदि; पंविब्रा०, २५. १५ आदि; तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. २५०, २६१, ५२७। द्र०—ऋत्विज्।

[1] ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५४०।

[2] ऋ० नोटन, १. १५५।

नैचा-शाख—ऋग्वेद ७. ५३. ४ में सायण के अनुसार नैचाशाख शब्द 'नीची शाखा वाला' इस अर्थ में आया है; किंतु अन्यत्र उन्होंने इसे एक स्थान का नाम माना है[१]; द्र०—वोबू०। पहला अर्थ ग्रासमान और लुड्विग ने अपने अनुवादों में दिया है; त्सिमर[२] और हिल्लेब्रांड्ट[३] ने इसे नीची शाखा वाला सोम का पौधा माना है। तु०—कीकट और प्रमगन्द।

नैचुदार—पंविब्रा० २१. ४. १३ में नैचुदार को नीचीवार की लकड़ी से बने हुए के अर्थ में लिया गया है। यह कौन सा वृक्ष था यह बताना कठिन है। तु०—अनुपदसूत्र, ६. ४।

नैतंधव—पंविब्रा० तथा अन्य सूत्रों में सरस्वती-तट पर के एक स्थान का नाम नैतंधव आया है: पंविब्रा० २५. १३. १; लाश्रौसू०, १०. १९. १३; शांश्रौसू०, १३. २९. ३१; काश्रौसू०, २४. ६. २३।

नैदाघ—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नैदाघ ग्रीष्म-ऋतु के लिए आया है: अवे०, ९. ५. ३१; तैब्रा०, १. ८. ४. २; शब्रा०, १. ४. १. १६ इत्यादि; नैदाघीय: पंविब्रा०, २३. १६. ८ आदि।

नैदान—निरुक्त ६. ९; ७.१२में वैदिक व्याख्याकारों के एक वर्ग का नाम नैदान है। राथ ने नैदानों को व्युत्पत्तिवादी माना है[४]। जीग[५] के अनुसार वे ऐतिहासिक हैं। इस शब्द का अर्थ है "निदान या मूल रूप से संबन्ध रखने वाला"।

नैध्रुवि—निध्रुव का वंशज। बृउ० ६. ४. ३३ माध्यंदिन=६. ५. ३ काण्व में काश्यप का पैतृक नाम नैध्रुवि आया है।

नैमिशि—जैब्रा० १. ३६. ३[६] में शितिबाहु ऐषकृत की उपाधि नैमिशि है। संभवतः यह इस बात का सूचक है कि शितिबाहु का संबन्ध नैमिश वन से था।

नैमिशीय या नैमिषीय—नैमिश वन में रहने वालों के नाम है: नैमिशीयः-पंविब्रा० २५. ६४; जैब्रा०, १. ३६३[१]; नैमिषीयः कौब्रा०, २६. ५; २८. ४; छाउ०, १. २. १३; नैमिष्य: कासं०, १०. ६ इस्तू०, ३. ४६९; मूर्धन्य ष् स्वीकृत जान पड़ता है। काठक संहिता और ब्राह्मणों के उक्त स्थलों पर उन्हें पवित्र वंश का बताया गया है। इसी लिए महाभारत को नैमिष वन में ऋषियों को सुनाया गया गया था[२]।

नैरुक्त—निरुक्त १. १२; ६. ११; ११. १९, २९, ३१; १२. १०; १३. ९ में व्युत्पत्ति=निरुक्ति जानने वालों को नैरुक्त कहा गया है। यास्क का निरुक्त इस शाखा का प्रधान ग्रन्थ है, और वह प्रारम्भिक निरुक्त (निघण्टु, वैदिक शब्दों का संग्रह) की व्याख्या है।

विवरण: वेबर, इंलि०, २६. ८५; इस्तू०, २. २९ टि०; जीग, दी ज़ा ऋ०, १०. १३, म्यूर; संस्कृत-टैक्स्ट्स, २२, १६५ एवं आगे।

नैषाद—निषाद-वंशीय। कौब्रा० २५. १५ और वासं० ३०. ८ में नैषाद का उल्लेख है।

नैषिध—शतपथ ब्राह्मण २. ३. २. १, २ में नड नामक किसी दक्षिणी राजा की उपाधि नैषिध है। इस शब्द का परवर्ती रूप नैषध है। वोबू० के अनुसार इसका मूल रूप नैःषिध था।

नोधस्—एक कवि का नाम नोधस् है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आया है: ऋ० १. ६१. १४; १. ६२. १३; १. ६४. १; १. १२४. ४ निरुक्त, ४. १६ के आधार पर। ऋग्वेद १. ५८ से ६४ तक के सूक्तों का ऋषि भी उन्हें बताया गया है; द्र०—अनुक्रमणी। ऐब्रा०, ६. १८ पंविब्रा० ७. १०. १०; २१. ९. १२; तु०—ऐब्रा०, ४. २७; ८. १२. १७; अवे०, १५. २. ४; १५. ४. ४ में उन्हें काक्षीवत या 'कक्षीवन्त्' का वंशज बताया गया है। लुड्विग[३], ने उन्हें पुरुकुत्स का समकालीन माना है। वे एक गोतम थे: ऋ० १. ६२. १३।[४]

नौ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में नौ शब्द नाव या पोत के अर्थ में आम है: ऋ० १. १३१. २, २. २९. ४; ८. ४२. ३; ८. ८३. ३ आदि; अवे० २. ३६. ५; ५. १९. ८;

---

[१] द्र०—वोबू०।

[२] आ० ले०, ३१।

[३] वैमि० १. १४–१८; २. २४१–२४५।

[४] वोबू०, किंतु तु०—निरुक्त, एर्लाटरुंगन, २२०, २२१; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, २२. १७६।

[५] दी० सू० ऋ०, २९।

[६] जअओसो०, २६. १९२।

[१] जअओसो०, २६. १९२।

[२] तु०—द्र०—वेबर, इंलि०, ३४, ३५, ५४, ६८, ७०, १८५।

[३] ट्रां० ऋ०, ३. ११०।

[४] मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. १२५; ऋ० १. १२४. ४ के अर्थ के संबन्ध में विभिन्न मतों के लिए द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १३७; तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. २३।

तैसं० ५. ३. १०. १; वासं०, १०. १९; ऐब्रा०, ४. १३; ६. ६. २१; शब्रा० १. ८. १. ४; ४. २. ५. १० आदि। पोत नदियों को पार करने के लिए प्रयुक्त नौकाएं ही हैं; किंतु इसमें संदेह नहीं कि पंजाब की बड़ी नदियों और साथ ही गङ्गा तथा यमुना जैसी चौड़ी नदियों को पार करने के लिये बड़ी नौकाओं का उपयोग होता था। नौका लकड़ी को खोद कर बनाई जाती थी: ऋ० १०. १५५. ३। यह निश्चय करना संभव नहीं है कि ऋग्वेद के समय में समुद्री मार्ग से पोतों द्वारा व्यापार होता था या नहीं क्योंकि अरित्र के अतिरिक्त उसके अन्य अवयवों का वहाँ उल्लेख नहीं मिलता। किंतु नदियों को पार करने के अतिरिक्त व्यापार के लिये भी नौकाओं के उपयोग के लिए कुछ सूत्र मिलते हैं। अथर्ववेद ५. १९. ८ में कहा गया है कि ब्राह्मणों का अपमान करने वाले राज्य का विनाश वैसे ही हो जाता है, जैसे पोत में छिद्र हो जाने पर उसके सभी आरोही डूब जाते हैं।[1] यद्यपि यहाँ की भाषा से छोटी नौका का अर्थ भी निकल सकता है, तथापि वहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं प्रतीत होता। साथ ही ऋग्वेद १. ५६. २; ४. ५५. ६ में ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है, जो धन लाने की इच्छा से =सनिष्यवः दूर समुद्र में जाते थे। त्सिमर[2] का यह मत चिन्त्य है कि यहाँ समुद्र से सहायक नदियों समेत सिन्धु नदी अभिप्रेत है। ऋग्वेद १. ११६. ३ में कहा गया है कि शतारित्र पोत पर सवार होकर अश्विनों ने भुज्यु को समुद्र के मध्य में बचाया था। समुद्र-यात्रा में प्रयुक्त बड़े जल-यानों के अस्तित्व को अस्वीकार करना आसान नहीं है। बौधायन-धर्म-सूत्र १. २. ४; २. २. २ में समुद्री गमनागमन का उल्लेख है, किंतु यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं है।

नौधस—साम-विशेष। 'देवा वै ब्रह्म व्यभजन्त। तान्नोधाः काक्षीवत आगच्छत्। तेऽब्रुवन् ऋषिर्न आगंस्तस्मै ब्रह्म ददामेति तस्मा एतत् साम प्रायच्छन् यन्नोधसे प्रायच्छंस्तस्मान्नौधसम्' तां० ७. १०. १०; 'ब्रह्म वै नौधसम्' तां० ७. १०. १०।

न्यग्-रोध—नीचे की ओर उगने वाला। न्यग्रोध वटवृक्ष या बरगद का नाम है, जिसकी दाढ़ियां नीचे की ओर बढ़कर पृथ्वी में धंस जाती हैं; और मूल बना लेती हैं। यद्यपि ऋग्वेद में इस वृक्ष का नाम नहीं आया है, तथापि उस काल में यह ज्ञात था, ऐसा माना जा सकता है। पिशल[1] ने ऋग्वेद १. २४. ७ के आधार पर ऐसा कहा है; और वहाँ "स्तूप" शब्द को वृक्ष के तने के ऊपर घेरने वाली विशेष शाखाओं के लिए प्रयुक्त माना है। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख आम है: अवे०, ४. ३७. ४; ५. ५. ५; ऐब्रा०, ७. ३०, ३१; शब्रा०, ५. ३. ५. १३; १३. २. ७. ३; छाउ०, ६. १२. १ आदि। इसकी लकड़ी से चमस बनाए जाते थे: तैसं०, ७. ४. १२. १; वासं०, २३. १३। आजकल की न्याई इसका वैदिक ग्राम में भी अपना विशेष स्थान था। अश्वत्थ का भी ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। तु०—'ते यन्न्यञ्चोऽरोहंस्तस्मान्न्यङ्ङ रोहति न्यग्रोहो न्यग्रोहो वै नाम तं न्यग्रोहं सन्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते' ऐब्रा० ७. ३०; 'न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति' शब्रा० १३. २. ७. ३; 'अधि देवा यज्ञेनेष्ट्वा स्वर्गं लोकमायंस्तत्रैतांश्चमसान् न्युब्जंस्ते न्यग्रोधा अभवन् न्युब्जा इति हाप्येनानेतर्ह्याचक्षते कुरुक्षेत्रे ते ह प्रथमजा न्यग्रोधानां तेभ्यो हान्येऽधि जाताः' ऐब्रा० ७. ३०; 'अस्थिम्य एवास्य स्वधान्नवत् स न्यग्रोधोऽभवत्' शब्रा० १२. ७. १. ९; 'तेषां चमसानां रसोऽवाङैत् ते (न्यग्रोधस्य) ऽवरोधा अभवन्नथ य ऊर्ध्वस्तानि फलानि' ऐब्रा० ७. ३१; 'परोक्षमिव ह वा एष सोमो राजा यन् न्यग्रोधः' ऐब्रा० ७. ३१; 'क्षत्रं वा एतद् वनस्पतीनां यन् न्यग्रोधः' ऐब्रा० ७. ३१।

न्यङ्क—द्विवचन में यह शब्द अङ्क के समानान्तर रथ के भाग-विशेष को जताता है। पंविब्रा० १७. ५; लाश्रौसू० में न्यङ्कु का द्विवचन न्यङ्कू आया है। द्र०—तैसं०, १. ७. ७. २; तैब्रा०, १. ३. ५. ४; २. ७. ८. १।

न्यङ्कु—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक न्यङ्कु भी है। हो सकता है यह किसी मृग का नाम हो, किंतु तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार ने इसे ऋक्ष माना है। द्र०—तैसं०, ५. ५. १७. १; मैसं०, ३. १४. ९; वासं०, २४. २७; २४. ३२ तु०—त्सिमर, आ०, ले०, ८३; 'न्यङ्कुसारिणी' शब्द ऋग्वेद प्रातिशाख्य, १६. ३१. ५ और निदान-सूत्र, १. २ में आया है, जहां मृग अर्थ अपेक्षित है।

न्यर्बुद—द्र० वज्रन्। तु०—'यो वै वाचो भूमा तन् न्यर्बुदम्' तैब्रा० ३. ८. १६. ३।

न्यर्बुदि—अथर्ववेद के अर्बुदि-देवत्य-सूक्त ११. ९ में अर्बुदि के साथ न्यर्बुदि नाम भी देवता के रूप में आया

---

[1] तु०—हापकिन्स, अजफि०, १९. १३९; इसी प्रकार संभवतः ऋ० १. ३२. ८ के 'नळं न भिन्नम्' में किसी नाव के भ्रष्ट होने का उल्लेख प्रतीत होता है; किंतु यह चिन्त्य है। तु०—नड।

[2] आ०ले०, २२, २३।

विवरण: त्सिमर, आ०ले०, २५५. २५७।

[1] वैस्तू०, १. १. ११३, ११४। विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ५८।

है। कहा गया है "अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः" : अवे०, ११. ९. ४; तु०—११. ९. ६, १२, १९; ११. १०. २०, २१।

न्यस्तिका—अथर्ववेद ६. १३९. १ में न्यस्तिका एक पौधे का नाम है। भाष्यकार ने इसे शङ्खपुष्पी माना है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३८५; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५३९, ५४०।

न्याय—तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों में न्याय शब्द का प्रयोग मिलता है, जो प्रायः धर्म के अर्थ में आया है : तैसं०, २. २. ८. २; ऐब्रा०, ६. ३२; ३. ४५; ७. १७; शांब्रा०, ४. ८ तु०—ऋ० प्रा०, १. १३ जहां इसका अर्थ भिन्न है।

विवरण : सूर्यकान्त, अथर्व-प्रातिशाख्य में न्याय शब्द पर नोट।

न्यूङ्ख—'अन्नं न्यूङ्खः' कौब्रा० २२. ६. ८; 'अन्नं वै न्यूङ्खः' ऐब्रा० ५. ३।

न्योचनी—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त १०. ८५. ६ में न्योचनी शब्द किसी आभूषण के अर्थ में आया है, जिसे स्त्रियां पहनती थीं। सायण ने इसे दासी के अर्थ में लिया है।

प

पक्ति—संहिताओं में पक्ति शब्द किसी पके अन्न को संभवतः एक विशेष प्रकार की रोटी को जताता है : ऋ० ४. २४. ५, ७; ४. २५. ६, ७; ६. २९. ४; वासं०, २१. ५. ९ आदि। भोजन पकाने वाले का नाम पक्तृ आया है : अवे०, १०. ९. ७, ११, २५; ११. १. १७, १२. ३. १७; शब्रा०, ३. ३. ४. १७; १०. ४. २. १९।

पक्थ—ऋग्वेद ७. १८. ७ में एक जन का नाम पक्थ है; प्रतीत होता है कि पक्थ लोग दाशराज्ञ युद्ध में तृत्सु-भरतों के विरोधी थे।[1] त्सिमर[2] ने उन्हें हेरोडोटस ७. ६५ के आधार पर उत्तर-पश्चिम की एक जाति माना है, जिसे आजकल पूर्वी अफगानिस्तान के पक्थून से मिलाया जा सकता है। यह संभव है, क्योंकि भरत लोग मध्य देश के थे। ऋग्वेद ८. २२. १०; ८. ४९. १०; १०. ६१. १ में किसी पक्थ को अश्विनों का कृपा-पात्र कहा गया है। दूसरे स्थल पर उनका संबन्ध पूरुओं के राजा त्रसदस्यु से बताया गया है, जिनकी सहायता में उन्होंने सुदास् के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। तीसरे स्थल पर उन्हें तूर्वयाण के रूप में बताया गया है, और च्यवान का विरोधी दिखाया गया है।[1]

पक्व—पका हुआ। ऋग्वेद ६. ६३. ९, अवे०, १२. ३. ५५ और शब्रा० १. ५. १. २६; २. ६. १. ७ आदि में पके हुए भोजन को पक्व कहा गया है। कुछ स्थलों पर पके दूध का भी यही नाम है : ऋ० १. ६२. ९; १. १८०. ३; २. ४०. २; ३. ३०. १४; ६. ४४. २४ आदि। शब्रा० ६. १. २. २२; ७. २. १. ७ में पकी हुई ईंटों का भी यह नाम आया है।

पक्ष—अथर्ववेद ९. ३. ४ में पक्ष शब्द गृह के पाखे के लिए आया है : या तो यह पार्श्व के खंभों का नाम है, जैसा कि राथ[2] त्सिमर[3] और ग्रिल[4] ने माना है, या ह्विटनी[5] और ब्लूमफील्ड[6] के अनुसार यह पार्श्व के अर्थ में आया है। अथर्ववेद ३. ७. ३ में छदिस् या छत को चतुष्पक्ष कहा गया है; इससे दूसरे अर्थ का ही समर्थन होता है। तैब्रा० १. ५. १२. ५ में रथ के दोनों पार्श्वों को पक्ष कहा गया है। मासार्धवाचक पक्ष के लिए देखिए मास।

पक्षस्—अवे० ८. ८. २२ और कौब्रा० ८. ७ में रथ के पार्श्वों को पक्षस् कहा गया है।[7] कासं० ३०. ५ और तैब्रा० १. २. ३. १ में शाला या घर के पक्षस् का उल्लेख है। वासं० १९. ५ में यह शब्द द्वार के पक्ष या पार्श्व को जताता है। कौब्रा० २. ९ में सेनार्ध को तथा पंविंब्रा० २३. ६. ६ में मासार्ध को पक्षस् कहा गया है। तु०—पक्ष।

पक्षिन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पंख वाले जीवों को पक्षिन् कहा गया है : ऋ० १. ४८. ५; १. १८२. ५; १०. १२७. ५ इत्यादि; अवे०, ४. ३४. ४; ११. ५. २१; १२. १. ५१; १३. २. ३३; कासं० ३४. ८; ऐब्रा० ४. २३; बृउ०, २. ५. १८ आदि।

पङ्क्ति—मूलतः पाँच का वर्ग। ऋग्वेद के समय से ही पाँत के अर्थ में पंक्ति शब्द आता रहा है : ऋ० १०.

---

[1] राथ, त्सुर लितरात्यूर उन्द गेशिश्त देस वेद, ९५ का मत है कि ये तृत्सुओं के सहयोगी थे, किंतु यह गलत है; तु०—हापकिन्स जअओसो०, १५. २६०।
[2] आ०ले०, ४३०, ४३१।

[1] पिशल, वैस्तू०, १. ७१-७७।
[2] वोबू०।
[3] आ०ले०, १५३।
[4] हुंडेर्त लीडर[2], १८८।
[5] ट्रां० अवे० ५२६।
[6] हिम्स आ० अ०वे०, ५९७।
विवरण : वेबर, इस्तू०, १७. २१०।
[7] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५०६; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० अवे०, ११७।

११७. ८। तैआ० १०. ३८. ३९ में पूर्वजों की पङ्क्ति को विशेष आचरण द्वारा पवित्र करने का उल्लेख है।

तु० 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' ऐब्रा० ५. १८, १९. २१; 'पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः' तैब्रा० २. ७; १०. २; 'चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः' कौब्रा० १७. ३; 'पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी' गोउ० २. ९; 'पक्षौ पङ्क्तयः' शब्रा० १२. २. ४. ६; 'श्रोत्रं पङ्क्तिः' शब्रा० १०. ३. १. १; 'पङ्क्तिरूर्ध्वा (दिक्)' शब्रा० ८. ३. १. १२; 'पाङ्क्तं ह्यन्नम्' तांब्रा० ५. २. ७; ऐब्रा० ६. २०; गोउ० ६. २; 'प्रतिष्ठा वै पङ्क्तिः' कौब्रा० ११. ३; 'पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पञ्चधा विहितो लोमानि त्वङ्‌ मांसमस्थि मज्जा' ऐब्रा० २. १४; 'पाङ्क्तः पशुः' शब्रा० १. ५. २. १६; 'पाङ्क्ताः पशवः' ऐब्रा० ३. २३; 'पाङ्क्तो यज्ञः' शब्रा० १. ५. २. १६।

पचत—पक्ति के समान यह शब्द भी ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पके हुए भोजन के अर्थ में आया है: ऋ० १. ६१. ७; १०. ११. ६. ८; वासं०, २१. ६०; २३. १३; कौब्रा०, ८. २१ आदि।

पचन—ऋग्वेद और शब्रा० में पचन शब्द भोजन पकाने वाले पात्र का बोधक है: ऋ० १. १६२. ६; शब्रा० ६. ५. ४३. ३, ४; १४. १. २. २१।

पचनी—पकाने वाली। ऋग्वेद १. १६२. १३ में मांस्पचनी उखा=अर्थात् मांस पकाने वाली स्थाली या बटलोही का उल्लेख है।

पज्र—पज्र एक वंश का नाम है, जिसमें कक्षीवन्त् (=पज्रिय) उत्पन्न हुए थे। इसका उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आया है: १. ११७. १०; १. १२२. ७, ८; १. १२६. ४, ५। पिशल[1] के अनुसार उनके लिये प्रयुक्त विशेषण **पृक्ष-याम**: ऋ० १. १२७. ८ का अर्थ है 'वर्चस्पूर्ण यज्ञ-कार्य संपादन करने वाला'।[2] इसी गुण के कारण उन्होंने श्रुतरथ की उदारता से लाभ उठाया था। ऋ० ८. ४. १७; ८. ६. ४७ में राथ[3] ने **सामन्** नामक पज्र का उल्लेख माना है। यह अनिश्चित है, किंतु फिर भी किसी पज्र का उल्लेख प्रतीत होता है। ऋ० १. १९०. ५ में व्यक्तिवाचक नाम होना संदिग्ध है। शाट्यायन (सायण द्वारा ऋ० १. ५१. ४ के भाष्य में उद्धृत) में पज्रों को अङ्गिरस्-वंश का कहा गया है।

पज्रा—ऋग्वेद ९. ८२. १४ में पज्रा शब्द आता है।

[1] वैस्टू०, १. ९७, ९८।

[2] वोबू० में इसे व्यक्तिवाचक नाम माना गया है।

[3] वोबू०।

लुड्‌विग[1] ने इसे पज्र—नामक व्यक्ति की पत्नी का नाम माना है; किंतु राथ[2], ने इसे सोम का विशेषण माना है।

पज्रिय—पज्र का वंशज। ऋग्वेद १. ११६. ७ में कक्षीवन्त् का यह पैतृक नाम है।

पञ्च-जनाः—वैदिक साहित्य में पञ्च-जनों या पांच जातियों का उल्लेख अनेक बार आया है: ऐब्रा०, ३. ३१. ४. २७; तैसं०, १. ६. १. २; कासं०, ५. ६; ३२. ६; बृउ०, ४. २. ९; 'पञ्च-मानुषाः': ऋ० ८. ९. २; पञ्च-मानवाः अवे०, ३. २१. ५; ३. २४. ३; १२. १. १५; जनाः, ऋ० ३. ३७. ९; ३. ५९. ८; ६. १४. ४; ८. ३२. २२; ९. ६५. २३; ९. ९२. ३; १०. ४५. ६; 'कृष्टयः' २. २. १०; ३. ५३. १६; ४. ३८. १०; १०. ६०. ४; १०. ११९. ६; अवे०, ३. २४. ३; क्षितयः: ऋ० १. ७. ९; १. १७६. ३; ५. ३५. २; ६. ४६. ७; ७. ७५. ४; ७. ७९. १; 'चर्षणयः': ऋ० ५. ८६. २; ७. १५. २; ९. १०९. १।[3] कौन लोग इन पञ्च-जनों में थे, यह निश्चित नहीं है। ऐब्रा० ३. ३१ के अनुसार ये पाँच हैं: देव, मनुष्य, गंधर्व-अप्सरस्, सर्प और पितर। औपमन्यव (निरुक्त, ३. ८) ने चार वर्णों के साथ निषाद को मिलाकर पञ्च-जनों को उद्दिष्ट माना है; सायण ऋ० १. ७. ९ का भी यही मत है। यास्क, निरुक्त, ३. ८ के अनुसार ये पाँच है: गंधर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस। किंतु इनमें से एक भी व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती। राथ और गेल्डनर का विचार है कि पृथ्वी के सभी मनुष्य उद्दिष्ट हैं, आर्यों को मध्य में मानकर चारों दिशाओं के चार जनों को मिलाकर पञ्च-जन बनते हैं।[4] त्सिमर ने भी इस मत का विरोध करते हुए कहा है कि सभी जातियों का अर्थ किसी भी जगह अपेक्षित नहीं है;

[1] ट्रां० ऋ० ३. ११०।

[2] वोबू०।

[3] द्र०—लुड्‌विग, ट्रां० ऋ० ३. २०४; उन्होंने मण्डल के पञ्च-जनों का उल्लेख माना है। मण्डल दो और चार में एक; पांच, छः, सात, आठ, में दो; और तीन, नव में तीन, तथा दश में चार बार।

[4] द्र०—राथ, वोबू० में 'कृष्टि' शब्द; निरुक्त इर्लाउटरुङ्गन, २८; उनके मत के समर्थन में अथर्ववेद ३. २४. ३ के 'पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः' को उद्धृत किया जा सकता है। द्र०—गेल्डनर, सीबेंत्सिग-लाइडर, १८; ऋग्वेद-ग्लासर, १०३ जहाँ इन्होंने इस शब्द को पांच जनों के अतिरिक्त मनुष्य जाति के अर्थ में भी लिया है।

क्योंकि आर्यों और दासों का प्रायः विशेष वर्गीकरण है, तथा 'जनासः' और 'मानवाः' शब्दों का दासों के लिये प्रयोग कभी भी नहीं माना जा सकता; तु०—ऋ० २. १२; ८. ९. २; १. ५२. ९; ८. ७०. ११; १०. २८. ८; सोम को **पञ्च-जनों** के मध्य में ही कहा गया है : ऋ० ९. ६५. २३; **पञ्च-जनों** को **सरस्वती** के तट पर कहा गया है। ऋ० ६. ६१. १२ में **पञ्चजाता** आया है; तु०—१०. ५३. ४; इन्द्र को भी पाञ्चजन्य या पञ्चजनों से संबद्ध कहा गया है : ऋ० ५. ३२. ११; अग्नि पाँच जनों का है : ऋ० ९. ६६. २०; अत्रि भी उसी प्रकार उल्लिखित हैं : ऋ०, १. ११७. ३। इन सब कारणों से त्सिमर ने उक्त मत का निरास किया है[१]। निष्कर्ष-स्वरूप उन्होंने पांच आर्य-जातियों का ही उल्लेख माना है और अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पूरु लोगों को इनमें गिनाया है, जिनका उल्लेख एक साथ एक या संभवतः दो सूक्तों में आया है; ऋ० १. १०८. ८; ७. १८ में यदु के स्थान पर यक्षु आया है; एक अन्य सूक्त में उनमें से चार का उल्लेख है : ऋ० ८. १०. ५। किंतु वे यह स्वीकार करते हैं कि यह नाम बाद में रखा गया होगा। हापकिन्स[२] ने इस मत को नहीं माना है। उनका कहना है कि तुर्वश नामक एक यदुओं का राजा था, वह कोई जन नहीं था; किंतु यह मत चिन्त्य है।

शब्रा०, १३. ५. ४. १४ तथा ऐब्रा०, ८. २३ में पञ्चजनों को **भरतों** का विरोधी कहा गया है; और शब्रा० १३. ५. ४. २३ में पांच के स्थान पर **सातजनों** का उल्लेख है[३]।

तु०—'देवमनुष्याणां गंधर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां चैतेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थम् (यद्वैश्वदेवम्)' ऐब्रा० ३. ३१; 'विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना' इति। ये देवा असुरेभ्यः पूर्वे पञ्च जना आसन् य एवासावादित्ये पुरुषो यश्चन्द्रमसि यो विद्युति योऽप्सु योऽयमक्षन्नन्तरेष एव ते। तदेषा (अदितिः) एव' जैउ० १. ४१. ७।

पञ्च-दश—स्तोम। तु०—'क्षत्रं वा एतदहरभिनिर्वदति यत् पञ्चदशम्' तांब्रा० ११. ११. ८; 'क्षत्रं पञ्चदशः' ऐब्रा०, ८. ४; 'तान् (पशून्) इन्द्रः पञ्चदशेन स्तोमेन नाप्नोत्' तैब्रा०, २. ७. १४. २; 'ओजो वीर्यं पञ्चदशः' तांब्रा०, ११. ६. ११; 'वीर्यं पञ्चदशः' ऐब्रा० ८. ४; 'पञ्चदशो वै वज्रः' कौब्रा० ७. २; 'वज्रो वै पञ्चदशः' तांब्रा० १६. २. ५; 'चन्द्रमा वै पञ्चदशः' एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते पञ्चदश्यामापूर्यते' तैब्रा० १. ५. १०. ५; 'अर्धमासः पञ्चदशः' तांब्रा० ६. २. २।

पञ्च-दशी महीने का पन्द्रहवाँ दिन। तैब्रा० १. ५. १०. ५ में स्पष्टतः पञ्चदशी का उल्लेख है।

पञ्च-नद—पांच नदियों वाला। अर्थकाव्य-काल के पूर्व पंजाब के लिए **पञ्चनद** शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। पंजाब को ऋग्वेद-काल में आर्यों के निवास-स्थान बताने वाले मत[१] का आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर समर्थन नहीं होता। हापकिन्स[२], पिशल[३], और गेल्डनर[४] ने भिन्न-भिन्न आधारों पर यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद का अधिक भाग मध्यदेश में बना था, जो निश्चय ही परवर्ती वैदिक साहित्य का निर्माण-स्थल है। हिल्लेब्रांड्ट[५] का कहना है कि ऋग्वेद के कुछ अंश अराखोसिया में, कुछ पंजाब में और कुछ मध्यदेश में बने थे। द्र०—कुरु, तृत्सु।

पञ्च-बिल—'तद्यत् पञ्च हवींषि भवन्ति तेषां पञ्च बिलानि तस्माच्चरुः पञ्चबिलो नाम' शब्रा० ५. ५. १. १।

पञ्चविंश—स्तोम। 'एतेन वै गौराङ्गिरसः सर्वं पाप्मानमतरत्। सर्वं पाप्मानं तरत्येतेन स्तोमेन तुष्टुवानः, तांब्रा० १६. ७. ७।

पञ्चविंश ब्राह्मण—द्र०—ताण्ड्य।

पञ्च-होता—'तस्मै (ब्रह्मणे) पञ्चमं हूतः प्रत्यशृणोत्। स पञ्चहूतो ह वै नामैषः। तं वा एतं पञ्चहूतं सन्तं पञ्चहोतेत्याचक्षते परोक्षप्रिया इव हि देवाः' तैब्रा० २. ३. ११. ३—४; 'संवत्सरो वै पञ्चहोता' तैब्रा० २. २. ३. ६; 'अग्निः पञ्चहोता' तैब्रा० २. ३. १. १।

पञ्चाल—पञ्चाल नाम बाद में ऋग्वेद के क्रिवि लोगों के लिए आया है : शब्रा० १३. ५. ४. ७। इनका उल्लेख प्रायः कुरुओं के साथ ही आया है। ऐब्रा० 'तस्मा-

---

[१] द्र०—आ० ले०, ११९—१२३; मैकडानल ने उनके मत को माना है, द्र०—संस्कृत-लिटरेचर, १५४; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. १७९।

[२] जअओसो०, १५. २६०।

[३] वेबर ने पञ्चजनों को पञ्चालों में मिलाने की चेष्टा की है, सात जनों का उल्लेख होने पर वे कुरु-पञ्चालों का नाम लेते हैं।

[१] उदाहरणार्थ, त्सिमर, आ० ले०, ३२ एवं अग्रिम।

[२] जअओसो०, १९. १९, २८; तु०—मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १४५, ४४१।

[३] वैस्तू०, २. २१८।

[४] वैस्तू०, ३. १५२।

[५] वैदिश्शे मिथो०, १. ९८. एवं आगे; किंतु द्र०—दिवोदास; द्र०—वेबर, इस्तू०, १. १८९।

दस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरु-पञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते राजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ८. १४ में कुरु-पञ्चाल के राजाओं का उल्लेख है। कासं० ३०. २ में **पञ्चाल** लोग **केशिन् दाल्भ्य** की प्रजा प्रतीत होते हैं। उपनिषदों एवं परवर्ती साहित्य में पञ्चालों के दार्शनिक एवं भाषा-संबन्धी विवादों में भाग लेने का उल्लेख है: बृउ०, ६. १. १ माध्यंदिन=६. २. १ काण्व; छाउ०, ५. ३. १; ऋ० २. १२. ४४; निदान-सूत्र १. ६; शांश्रौसू०, १२. १३. ६ आदि। संहितोपनिषद् ब्राह्मण (२) में **प्राच्य पञ्चालों** का उल्लेख है[१]।

पञ्चालों में **क्रिवियों** के अतिरिक्त अन्य जाति के लोग भी थे। यह शब्द पञ्च-जनों को उद्दिष्ट करता प्रतीत होता है। यह सुझाव भी दिया गया है कि **पञ्चाल** और **पञ्चजन** अभिन्न हैं[२]; किंतु यह चिन्त्य है। वैदिक साहित्य में **उत्तर-पञ्चाल** और **दक्षिण-पञ्चाल** ऐसा आर्ष-काव्य-कालीन विभाजन नहीं है। शब्रा० 'क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते' १३. ५. ४. ७ में उनके नगर **परिचक्रा** का उल्लेख है। अन्य नगरों **काम्पील** और **कौशाम्बी** का उल्लेख भी मिलता है; द्र०—**कौशाम्बेय**। उनके राजा एवं प्रधानों (कुरु-पञ्चाल के राजा एवं प्रधानों से भिन्न) के कुछ नाम हैं:—**क्रैव्य, दुर्मुख, प्रवाहण जैवली** और **शोन**।

पञ्चाल-चण्ड—ऐआ० ३. १. ६ और शांआ० ७. १८ में यह एक आचार्य का नाम है।

विवरण: वेबर, इस्टू०, १. ३९१; इंलि०, ५०, ३१५, ३२६।

पञ्चावि—पाँच अवि-समय (प्रत्येक ६ महीने) का अर्थात् तीस महीने की उम्र का। वासं० १८. २६; २१. १४; २४. १२; २८. २६। (तु०—त्र्यवि) में तीस मास की उम्र वाले को **पञ्चावि** कहा गया है।

पञ्चौदन अवे० ४. १४. ७; ९. ५. ८ में पाँच प्रकार के मिश्रित चावलों से पकाये गए भात को पञ्चौदन कहा गया है। अवे० ९. ५. ३७ में पाँच पात्रों में चावल पकाने का जिक्र भी है।

पटल—ऐब्रा० १. २१. २२ के समय से पटल शब्द किसी गन्थ के एक खण्ड का वाचक बनकर आता रहा है; यह भाव सूत्रों एवं परवर्ती साहित्य में आता है: शांश्रौसू०, ११. ९. २०; १३. २१. २; आश्रौसू०, ४. ६. ७।

पटूर, पटौर—अवे० ११. ९. १४ में पटूर शब्द आया है, जिसका पाठान्तर पटौर है। ह्विटनी ने 'पटौर' का अर्थ जाँघ किया है।

पठर्वन्—ऋग्वेद १. ११२. ७ में सायण के अनुसार **पठर्वन्** एक व्यक्ति का नाम है। लुड्विग[१] ने **पठरू** के रूप में इसे एक किले का नाम माना है, जो वर्षा हो जाने के कारण आग में जलने से बच गया था।

पड्-गृभि—पैर से पकड़ने वाला अथवा रस्सी से पकड़ने वाला। ऋग्वेद १०. ४९. ५ में एक व्यक्ति या दैत्य का नाम पड्गृभि है।[२] **पड्वीश** देखिये। तु०—मैकडानल, वैग्रा०, पृ० ३४ ऊपर; पिशल, वैस्टू० १. २३६।

पड्-बीश—पैर का बन्धन। अश्व के पड्वीश या पाद-बंधन का ऋग्वेद के १. १६२. १४, १६=तैसं०, ४. ६. ९. १, २; वासं०, २५. ३८, ३९ में बृउ० ६. २. १३ माध्यंदिन, छाउ० ५. १. १२ और शांआ० ९. ७;[१] में उल्लेख है। अन्यत्र इस शब्द का उपयोग रूपक के लिये आया है: ऋ०, १०. ९७. १६; अवे०, ८. १. ४; १२. ५. १५; १६. ८. २७; तैब्रा०, १. ६. १०. ३; मन्त्रब्रा०, १. ३. १०। राथ[३], के अनुसार यह शब्द 'पैर बाँधने' के अर्थ में आता है।[४] पिशल[५] ने इस मत का खण्डन किया है, क्योंकि उपनिषदों में सिन्धु के अश्वों के पद-बन्धन वाले खूंटों के उखाड़ने का उल्लेख है। उन्होंने उस अर्थ के स्थान पर 'लंगड़ाने' का अर्थ प्रस्तुत किया है, जो ठीक हो सकता है: पड् को उन्होंने पश् 'बन्धन' से व्युत्पन्न माना है; तु०—मैकडानल, वैदिक ग्रामर, पृ० ३४ ऊपर; किंतु पड् शब्द मिथ्या-सादृश्य के आधार पर बना हो सकता है; और 'पाद-बन्धक' अर्थ से लंगड़ाने का भाव निकल सकता है।

पण और प्रतिपण—अथर्ववेद के ३. १५. ४, ६ में ये दोनों शब्द क्रय और विक्रय के लिये आये हैं; द्र०—पैप्पलाद पाठ[६]। √पण् धातु, जिससे यह शब्द बना है, परवर्ती साहित्य में आम है: वासं०, ८. ५५; शब्रा, ३. ३.

[१] विवरण: इस्टू०, १. १८९ टि०; ८, ९२ टि० १।

[२] द्र०—वेबर, इस्टू०, १. २०२; गेल्डनर, वैस्टू०, ३. १०८ टि० १; तु० वेबर, उपर्युक्त १. १९१ एवं आगे; इंडियन लिटरेचर, १०. ९०, ११४, ११५, १२५, १३५, १३६।

[१] ट्रां० ऋ०, ३. २०४. ग्रिफिथ, हिम्स ऑ० दि ऋ०, १. १४७, १४८।

[२] द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६५।

[३] कीथ, शांआ०, ५७ टि० ३।

[४] बोबू०; पड्=पद् और बीश=वीश् वासं० में=लैटिन 'विसिरे' अर्थात् 'बांधना'।

[५] वैस्टू०, १. २२३–२३६।

[६] द्र—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ११२।

३. १ एवं आगे; तु०—तैसं०, ६. १. १०. १। शब्रा०. ३. ३. २. १९ में **पणन** शब्द यातायात के अर्थ में आया हे।

पणि—ऋग्वेद में पणि शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए आया है, जो धनी होने पर भी दान नहीं देता, देवों को हवि नहीं देता, पुरोहितों को दक्षिणा नहीं देता और इसीलिए ऋषियों की दृष्टि में अवाञ्छनीय है: ऋ० १. ३३. ३; १. ८३. २; १. १५१. ९; १. १८०. ७; ४. २८. ७; ५. ३४. ५–७; ५. ६१. ८; ६. १३. ३; ६. ५. ३. ३; ८. ६४. २; ८. ९७. २; १०. ६०. ६; अवे०, ५. ११. ७; २०. १२८ ४; वासं०, ३५. १। इसीलिए देवों से प्रार्थना की गई है कि वे पणियों पर आक्रमण करें; पणियों के पराजित होने और मारे जाने का भी उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ८३. ४; १. १८४. २; ३. ५८. २; ५. ३४. ७; ५. ६१. ८; ६. १३. ३; ६. २०. ४; ६. ३३. २; ८. ६४. ११। **सू-रि** यजमान के विपरीत पणि को कृपण कहा गया है: ऋ० १. १२४. १०; ४. ५१. ३; ८. ४५. १४. संदिग्ध भाव; तु०—१. ९३. ४; ५. ६१. १ पणि को भेड़िया कहा गया गया है: ऋ० ६. ५१. १४, जो शत्रुता का प्रतीक है। कुछ स्थलों पर पणियों को देवशास्त्रीय रूप में पेश किया गया है, जहां उन्हें गौओं को चुराने वाला और जलों को रोकने वाला बताया गया है, और जहाँ **इन्द्र** की दूती के रूप में **सरमा** नामक शुनी के जाने का उल्लेख है: ऋ० १. ३२. ११; २. २४.६; ४. ५८. ४; ६. ४४. २२; ७. ९.२; १०. ६७. ६; १०. ९२. ३; अवे०, ४. २३. ५; १९. ४६. २; शब्रा०, १३. ८. २. ३[1]। पणियों में **बृबु** का स्थान ऊँचा था। ऋग्वेद ८. ६६. १० में उन्हें **बेकनाट**(=कुसीदक या सूदखोर ?) कहा गया है; ऋग्वेद ७. ६. २ में उन्हें **दस्यु, मृध्रवाच्**=शत्रुतापूर्ण वाणी वाला और **ग्रथिन्** (?) कहा गया है। हिल्लेब्राण्ड्ट[2] के अनुसार ग्रथिन् का अर्थ है अस्पष्ट वाणी बोलने वाला, और मृध्रवाच् का अर्थ है "शत्रु की वाणी बोलने वाला" द्र०—शब्रा०, ३. २. १. २३[3]। ऋ० ५. ३४. ५-७; अवे०, ५. ६१. ६ में उन्हें **दास** कहा गया है; एक जगह पणि को **वैर** के प्रसङ्ग रखा गया है, जहाँ जीवन की दृष्टि से तो वह एक आदमी के समान है, किंतु अन्य दृष्टियों से उससे नीचा है: ऋ० ५. ६१. ८[1]।

यह कहना कठिन है कि पणि कौन थे। राथ[2] का मत है कि √पण् धातु से व्युत्पन्न होने से पणि उसे कहते हैं, जो बिना कुछ बदले में लिए कुछ भी न दे, अर्थात् कंजूस व्यापारी; पणि दान नहीं देते थे, उपासना भी नहीं करते थे; अतः उन्हें ऐसा कहा गया है; तु०—यास्क, निरुक्त, २. १७; ६. २६। त्सिमर और लुड्विग ने इस मत को स्वीकार किया है[3]। लुड्विग का विचार है कि पणियों से संबद्ध युद्ध के अनेक उल्लेखों की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है:—पणि आदिवासी व्यापारी थे, जो कारवां बनाकर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे; तथा आवश्यकतानुसार धन-जन की रक्षा के लिए वे उन आक्रमणों के लिए भी तैयार रहते थे, जिन्हें आर्य लोग अपनी दृष्टि से न्यायपूर्ण समझते थे। उन्होंने पणियों को **दस्यु** और **दास** कहे जाने के संदर्भों से अपने कथन का समर्थन किया है। पणियों के **अदेवपूजक** एवं ऋषियों की दृष्टि में हेय होने के अतिरिक्त अन्य किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वे आदिवासी हो सकते हैं, शत्रु आर्य हो सकते हैं, अथवा दैत्य हो सकते हैं। हिल्लेब्राण्ड्ट[4] ने उन्हें एक असली जाति माना है। वे स्ट्रेबो द्वारा उल्लिखित **पार्नियन** हो सकते हैं, और **दहेई** (**दास**) से संबद्ध माने जा सकते हैं। ऋ० के एक स्थल ६. ६१. १-३ में उन्होंने पणियों को **पारावतों** से संबद्ध होने के कथन के आधार पर टालेमी ६. २०. ३ के **परावताइ** से मिलाया है; **बृसयों** को उन्होंने एरियन ३. ८. ४ के **बरोसनतों** से मिलाया है; उन्होंने **दिवोदास** और पणियों के युद्ध के अनेक वर्णनों से यह निष्कर्ष भी निकाला है कि **दिवोदास** अराखोसिया की **हरक्वैती** (**सरस्वती**) के तट पर थे और पर्नियन, दहेई प्रभृति अनेक ईरानी जातियों से लड़े थे। पणियों का उल्लेख षष्ठ मण्डल में बारह बार, दूसरे

---

[1] तु०—मैकडानल, वैमा०, पृ० १५७, ऋ० १०. १०८।

[2] वैमि०, १. ८९।

[3] म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, २२. ११४; डेविड्सन, त्सादामौगे०, ३७. २३; एगलिंग, सेबुई०, २६. ३१ टि० ३।

[1] राथ, त्सादामौगे०, ४१. ६७३; मैक्स मूलर, सेबुई०, ३२. ३६१; हिल्लेब्राण्ड्ट, १. ९२ टि० ३; ग्रीग, दी जा० ऋ०, ५८, ५९। ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. ३६४।

[2] वोबू०।

[3] त्सिमर, आ०, ले०, २५७; तु०—मैकडानल, उपर्युक्त; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १०३; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. २१३–२१५; तु०—बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. ३१९।

[4] वैमि०, १. ८३. एवं आगे, गोगेआ, १८९४, ६४८।

और आठवें में एक बार, पाँचवें और नवें में दो बार, चौथे और सातवें में तीन बार, आठवें में छः बार और दसवें में सरमा-सूक्त १०. १०८ के अतिरिक्त चार बार आया है। किंतु पाणियों और पानियनों की अभिन्नता दिखाना निरर्थक है, क्योंकि ग्रीक में भी√पण् धातु के समान धातु होने से उसकी अच्छी तरह व्याख्या हो जाती हैं, और दिवोदास को हरक्ष्वैती के तट पर मानना चिन्त्य है। द्र०—**दिवोदास और बेकनाट**।

पण्डित—विद्वान्। उपनिषत्काल के पहले पण्डित शब्द का प्रयोग नहीं मिलता: बृउ०, ३. ४. १; ६. ४. १६, १७; छाउ०, ६. १४. २; मुउ०, १. २. ८ आदि।

१. पतंग—उड़ने वाला। अवे०, ६. ५०. १ और उपनिषदों में उड़ने वाले फतिंगे को पतंग कहा गया है: बृउ०, ६. १. १९ माध्यंदिन=६. २. १४ काण्व; छाउ०, ६. ९. ३; ६. १०. २; ७. २. १; ७. ७. १; ७. ८. १; ७. १०. १; अद्भुत ब्राह्मण, ६. ५; इस्तू०, १. ४०। तु० 'पतन्निव ह्येष्वङ्गेष्वति रथमुदीक्षते' जैउब्रा० ३. ३५. २।

२. पतंग प्राजापत्य—प्रजापति का वंशज। अनुक्रमणी में इन्हें ऋग्वेद के १०. १७७. १ का ऋषि कहा गया है, जहाँ पतंग का अर्थ है सूर्य-पक्षी। जैउब्रा० ३. ३०. १। तु० कौब्रा०, २५. ८; शांश्रौसू०, ११. १४. २८ में भी इनका उल्लेख मिलता है।

पतंचल काप्य—ये एक ऋषि हैं, जिनका उल्लेख बृउ० में दो बार आया है: ३. ३. १; ३. ७. १। वेबर[1] के अनुसार इस नाम में सांख्य-योग के दो आचार्यों कपिल और पतंजलि के नामों का योग है; किंतु यह सुझाव चिन्त्य है। तु०—गार्बे, सांख्य-फिलॉसफी, २५. २६।

पतत्रिन्—ऐउ०, ३. ३, ३ में किसी उड़ने वाली प्राणी का नाम पतत्रिन् है: अथर्ववेद ८. ७. २४; १०. १०. १४; १४. २. ४४ में यह शब्द पक्षी के अर्थ में आया है।

पताका—झंडा। अद्भुत ब्राह्मण[2] से पहले पताका शब्द नहीं आता; वेद में इसके लिये ध्वज शब्द आया है।

पति, पत्नी—वोबू में एकत्र किए गये उद्धरणों के आधार पर ये शब्द पहले गृह के स्वामी और स्वामिनी के वाचक हैं। बाद में ये दोनों शब्द दाम्पत्य संबन्ध में बंधे पति और पत्नी के वाचक बन गये हैं।

[1] इस्तू०, १. ४३४, ४३५; इंलि० १२६, १३७, २२३, २३६, २३७।

[2] इस्तू०, १. ३९, ४१; 'पताक' शब्द।

बाल-विवाह—वैदिक युग में विवाह दो पूर्ण विकसित व्यक्तिओं का होता था, जैसा कि अनेक संदर्भों से ज्ञात होता है। कुछ लड़कियाँ अविवाहित ही पिता के घर में बूढ़ी=अमाजुर् हो जाती थीं: ऋ० १. ११७. ७; २. १७. ७; १०. ३९. ३; १०. ४०. ५; द्र० **घोषा**; अवे०, १. १४।[1] लड़कियाँ अपने आप को विवाह के आभूषणों से सजाती थीं: ऋ० १. १२३. ११; ७. २. ५; अवे०, २. ३६. १; १४. २०, ५९; एवं आगे। अथर्ववेद में पुरुष या स्त्री का प्रेम प्राप्त करने के लिए मन्त्र दिये गये हैं: अवे०, ३. १८=ऋ० १०. १४५; अवे०, ६. ८९; ६. १०२; ६. १३०; ६. १३१; ७. २६; ७. ३७; ७. ३८; युवती के प्रेम के लिए युवक द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र: ऋ० १. ११५. २; अवे०, २. ३०; ३. २५; ६. ८; ६. ९; ६. ८२; पारस्परिक आकर्षण के लिये मन्त्र: ऋ० १. १६७. ३; ९. ३२. ५; ९. ५६. ३; १०. ३४. ५; खोये प्रेम को प्राप्त करने के लिये मन्त्र: अवे०, ६. १८; ६. ४२; ६. ४३; ६. ९४; ६. १३९; ७. ४५; प्रेमोपहार के संबन्ध में द्र०—ऋ० १. ११७. १८। ऋग्वेद ७. ५५. ५, ८; एक ऐसा मन्त्र है, जिससे प्रेमी घर के अन्य सभी लोगों के सुला दिये जाने पर अपनी प्रेयसी से मिलता है; तु० ऋ० १. १३४. ३।[2] बाल-पत्नियों का उल्लेख सूत्र-काल में मिलता है, किंतु यह अनिश्चित है कि किस उम्र तक युवावस्था से पहले विवाह होता था।[3] विवाह के बाद पति पत्नी को अपने घर सहवास के लिये ले जाता है: ऋ० १०. ८५ विशेषतः ऋचा २९ एवं आगे।

विवाह की मर्यादा—यह निश्चय के साथ कहना कठिन है कि विवाह किस मर्यादा के अन्दर होता था। यम-यमी के वार्तालाप (ऋ० १०. १०) से पता चलता है कि भाई-बहन के परस्पर विवाह का निषेध था। वेबर, एवं कुछ अन्य लोगों का मत है कि बहुत प्राचीन काल में भाई-बहन का विवाह होता था।[4] किंतु यह मत चिन्त्य है। गोभिल

[1] ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑ० दि अवे०, २५३।

[2] औफ़ेल्ट, इस्तू०, ४. ३३७ एवं आगे; पिशल द्वारा भिन्न अर्थ, वैस्तू०, २. ५७ एवं आगे। अथर्ववेद ४. ५ से औफ़ेल्ट के मत का समर्थन होता है।

[3] तु०—जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ५९; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३४० एवं आगे; छाउ०, १. १०. १ में बाल-पत्नी की संभावना है। द्र०—भण्डारकर, त्सादामौगे०. ४७. १४३–१५६; जाली, वही, ४६, ४१३–४२६; ४७, ६१०–६१५।

[4] प्रोसीडिंग्स आ० दि बर्लिन एकडेमी, १८९५, ८२२; तु० इस्तू०, ५. ४२७; १०. ७६ टि०; पिशल,

गृह्य-सूत्र ३. ४. ५ और धर्मसूत्रों (आप०ध०सू०, २. ५. १५. १६ इत्यादि; तु०—मानव धर्मशास्त्र, ३. ५; याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र, १. ५२, ५३.) में गोत्र में तथा माता-पिता की छः पीढ़ियों के अन्दर विवाह करने का निषेध है; किंतु शतपथ ब्राह्मण १. ८. ३. ६ में तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह की अनुमति है; हरिस्वामिन् के भाष्य के अनुसार प्रथम की स्वीकृति **काण्वों** ने दी थी और द्वितीय की **सौराष्ट्रों** ने, जब कि **दाक्षिणात्यों** में मामा की लड़की से या पितृ-श्वसा के लड़के से विवाह की स्वीकृति थी; किंतु अनुमानतः मातृश्वसा की लड़की से या पितृव्य के लड़के से नहीं। गोत्र में विवाह का निषेध संभवतः उस समय नहीं था।[1] किंतु फिर भी विवाह प्रायः गोत्र के बाहर होते थे।[2] जातीय समानता भी विवाह के लिये आवश्यक नहीं थी; क्योंकि धर्मसूत्रों में अनुलोम अन्तर्जातीय विवाह के जिक्र आते हैं: गौधसू०, ४. १६; बौधसू०, १. १६. २-५; वसिधसू०, १. २४; १. २५; पारगृसू०, १. ४ आदि।[3] ब्राह्मण आदि वर्ण अपने से भिन्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे; किंतु बाद में शूद्रा से विवाह का सर्वथा निषेध कर दिया गया था। आर्षकाव्य में अन्तर्जातीय विवाहों का उल्लेख है; बृहद्देवता में भी उन्हें नियमित माना गया है[4]।

यह उचित समझा जाता था कि छोटे भाई-बहन बड़े भाई-बहनों से पहले विवाह न करें। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में इसके विपरीत आचरण करने वालों का जिक्र आता है, और उन्हें पतित कहा गया है। इसके लिए शब्द **परिविविदान** (मैसं०, ४. १. ९; वासं०, ३०. ९; आपधसू०, २. ५. १२. २२ "**पर्याहित**" शब्द)[1] और संभवतः **अग्रेदधुस्** (मै०सं०, ४. १. ९) [1अ]आते हैं, जो उस व्यक्ति को बताते हैं, जो बड़े भाई से पहले विवाह करता है। इसके विपरीत दो विशेष शब्द **परिवित्त** मैसं०, ४. १. ९; अवे०, ६. ११२. ३; तैब्रा० ३. २. ८. ११; आपश्रौसू०, ९. १२. ११; आपधसू०, २. ५. १२. २२ (यहां "**परिविन्न**" भी है, संभवतः दोनों समानार्थक हैं) और **अग्रेदिधिषु** (कासं०, उपर्युक्त, यहाँ **अग्रेदिधिषु** है; कपिसं० में **अग्रेदधिषु** है; तैब्रा०, ३. २. ८. ११ में **अग्रदिधिषु**; और धर्मसूत्रों में **अग्रेदिधिषु** है) आए हैं, जो बड़ी बहन के अविवाहित रहने पर छोटी बहन से विवाह करने वाले व्यक्ति को उदिष्ट करते हैं। **दिधिषूपति** उस व्यक्ति को कहा गया है, जो उस बड़ी बहन से विवाह करता है, जिसकी छोटी बहन का विवाह पहले हो चुका हो (कासं० में **दिधिषूपति**; कपिसं० में **दधिषूपति** और इसी प्रकार धर्मसूत्रों में; वासं० ३०. ९ में अशुद्ध पाठ **एदिधिषुः पतिः** है)। उक्त स्थलों पर यह नियम कड़ाई के साथ नहीं लिखा गया है कि जन्म के क्रम का सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। किंतु इन शब्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि उक्त क्रम कभी-कभी तोड़ भी दिया जाता था।

विधवाओं का पुर्नविवाह—स्पष्टतः विधवा-विवाह की स्वीकृति थी। प्रारम्भ में मृत व्यक्ति के भाई या किसी निकट संबन्धी से यह विवाह संतानोपत्ति के लिए किया जाता था। ऋग्वेद के दाह-संस्कार-संबन्धी सूक्त १०. १८. ८ में इस प्रथा का उल्लेख है; उस ऋचा की विकल्पात्मक व्याख्या भी है, जिसमें उसका संबन्ध पुरुष-मेध से जोड़ा गया है और उसे हिल्लेब्राण्ड्ट[2] एवं डेल्ब्रुक[3] ने स्वीकार भी किया है। किंतु वह संभव नहीं है; सूत्रों से भी पहले मत का ही समर्थन होता है: आगृसू०, ४. २. १८[4]। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल १०.

हर्मेस, १८, ४६५—४६८; मैक्समूलर, साइंस आफ लैंगुएज, २. ५०७; हेरोडोटस, ३. १९; क्रावली के 'मिस्टिक रोज' में ऐसे विवाहों के प्रारम्भिक प्रचलन के मत के विरुद्ध सबल प्रमाण दिये गये हैं।

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, १०. ७५, ७६; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ३८७; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ३९२; गाइगर, ओस्टिरानिशे कुल्तूर, २४६; त्सादामौगें०, ४३, ३०८—३१२; जाली, रेख्त उन्द जित्ते, ६२, ६३; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३४५ एवं आगे।

[2] तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ५१. २७९।

[3] रिजली, पीपुल्स आफ इण्डिया, १५६ एवं आगे; तु०—**वर्ण**।

[4] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. २४५ एवं आगे; बृहद्देवता, ५. ७९; द्र०—**वर्ण**।

[1] डेल्ब्रुक, ५७९, ५८० में काठक तथा कपिष्ठल-संहिताओं का उद्धरण।

[1अ] डेल्ब्रुक, ५८१; किंतु यहाँ गलत पाठ प्रतीत होता है क्योंकि इसके बाद **परिविविदान** आता है; काठक और कपिष्ठल संहिताओं में '**अग्रेदिधिषौ**' और '**अग्रेदधिषौ**' शब्द हैं।

[2] त्सादामौगें०, ४०. ७०८।

[3] दी इंडोजर्मानिश्शन फेरवान्द्स्शाफ्त्सनामन, ५३३; तु०—लानमान, संस्कृत रीडर, ३८५।

[4] तु०—लानमान, ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ८४८, ८४९; राथ, सीबेंत्सिग लीडर, १५१ टि०; त्सिमर, आ० ले०, ३२९।

४०. २ में भी विधवा-विवाह का उल्लेख है, जहाँ पति के भाई या देवर से इस प्रकार के विवाह का निर्देश है; इस प्रथा को बाद में भारतीयों ने नियोग नाम दिया है; तु०—यास्क, निरुक्त, ३. १५ राथ के नोट के साथ[1]। संभवतः यह प्रथा वहीं तक सीमित थी, जहाँ पुत्र-रहित स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी। यह प्रथा दृढ़तापूर्वक विधवा-विवाह को नहीं निर्दिष्ट करती; क्योंकि देवर इस जिम्मेदारी के पहले ही विवाहित हो सकता था। अथर्ववेद ९. ५. २७, २८ में एक मन्त्र परलोक में स्त्री और उसके द्वितीय पति के पुनर्योग के लिए है। यद्यपि डेल्ब्रुक[2] के मत से यह ठीक हो सकता है कि प्रथम पति के जीवन-काल में ही उसके नपुंसक या पतित होने पर उक्त व्यवस्था की गई थी; तथापि परवर्ती सूत्रों में यह पुनर्विवाह प्रथम पति के मरने के बाद ही उद्दिष्ट है : वसिधसू०, १७. १९, २०, ७२–७४; बौधसू०, ४. १. १६; माधशा०, ९. १७५।[3] पिशल[4] ने ऋग्वेद६.४९.८. तु०—महाभारत, ३. ७०. २६ में यह संदर्भ ढूंढा है कि पति के लापता हो जाने पर स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी।

बहुपत्नी-प्रथा—वैदिक आर्य एक से अधिक स्त्रियाँ रख सकता था। ऋग्वेद के कई स्थलों से इसका समर्थन होता है : ऋ० १. ६२. ११; १. ७१. १; १. १०४. ३; १. १०५. ८; १. ११२. १९; १. १८६. ७; ६. ५३. ४; ७. १८. २; ७. २६. ३; १०. ४३. १; १०. १०१. ११; तु०—अवे०, ३. ४; तैसं०, ६. ५. १. ४ आदि।[5] मैसं० १. ५. ८ के अनुसार मनु की दस स्त्रियाँ थीं। शब्रा० ९. १. ४. ६ में एक विशेष आख्यान द्वारा बहुपत्नी-प्रथा का जिक्र किया गया है। इसके अतिरिक्त राजा की चार रानियों का उल्लेख मिलता है—**महिषी** : तैब्रा०, ३. ९. ४. ४; शब्रा०, ५. ३. १. ४; ६. ५. ३. १; ७. ५. १. १; १३. २. ६. ४; १३. ४. १. ८; १३. ५. २. २, ८, ९; पंविब्रा०, १९. १. ४; तु०—ऋ०, ५. २. २; ५. ३७. ३; अवे०, २. ३६. ३; तैसं०, १. ८. ९. १।[1] **परिवृक्ती** या **परिवृक्ता** : ऋ० १०. १०२. ११; अवे०, ७. ११३. २; २०. १२८. १०, ११; शब्रा०, १३. २. ६. ६; १३. ४. १. ८; १३. ५. २. ७; तैसं०, १. ८. ९. १; तैब्रा, १. ७. ३. ४; ३. ९. ४. ४; कासं०, १०. १०; १५. ४; शब्रा०, ५. ३. १. १३; **वावाता** : ऐब्रा०, ३. २२; तैब्रा०, १. ७. ३. ३; ३. ९. ४. ४; अवे०, २०. १२८. १०, ११; शब्रा०, १३. २. ६. ५; १३. ४. १. ८; १३. ५. २. ६।[2] और **पालागली** : तैब्रा० १. ७. ३. ३ एवं आगे; ३. ९. ४. ५; शब्रा०, १३. ४. १. ८; शांश्रौसू०, १६. ४. ४। शब्रा० ६. ५. ३. १ के अनुसार **महिषी** प्रधान रानी है, जिसका विवाह सबसे पहले होता था। **परिवृक्ती** अर्थात् त्यक्ता की व्याख्या करते हुए वेबर, इस्तू, १०. १६ और पिशल, वैस्तू०, २. १९९ (तु०—गेल्डनर, वही २. ३८) ने उसे पुत्र-रहित स्त्री बताया है। **वावाता** राजा की प्रिय पत्नी थी, और **पालागली** को वेबर ने राजकीय अधिकारियों में से अन्तिम की पुत्री माना है। ये नाम रोचक हैं किंतु साथ ही दुर्बोध हैं, किंतु ऐसे साक्ष्य भी हैं जो यह बताते हैं कि प्रथम विवाहिता को ही पत्नीत्व का पूर्ण अधिकार है। डेल्ब्रुक के अनुसार इसका प्रमुख प्रमाण है—यज्ञों में पत्नी का एकवचन में उल्लेख।[3] कुछ अपवाद भी हैं, याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ : बृउ०, ३. १ और तु०—तैब्रा०, १. ३. १०. ३; किंतु प्रायः वे पुराकथात्मक हैं; उदाहरणार्थ तैसं०, २. ५. ६. ४; मैसं०, ३. ३. १। त्सिमर[4] का मत है कि ऋग्वेद के समय में ही बहुपत्नी की प्रथा समाप्त हो चली थी और एक-पत्नीत्व का विकास प्रारम्भ हो गया था; फिर भी वेबर[5] का विचार है कि बहुपत्नीत्व की प्रथा बाद की है (किंतु उनके 'सपत्नी' से 'सपत्न' के व्युत्पन्न न मानने के मत का समर्थन नहीं किया

---

[1] गेल्डनर, ऋग्वेद, कोमेण्टार, १६०; वेबर, इस्तू०, ५. ३४३ टि०; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३५५ टि०, ३६७; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ७१; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४५९; फान श्रोदर, इन्दीन्स लित० उन्द कुल्तूर, ४२९; बाद में यह प्रथा मिट गई।

[2] दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्स्शाफ्त्सनामन ५५३–५५५; तु०—जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ५९; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३७१ टि०।

[3] तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स १२. २८१; ५. ३०६।

[4] वैस्तू०, १. २७।

[5] द्र०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४५५ एवं आगे; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ३८७; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ६४; फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर ४३०, ४३१; डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५३९, ५४०; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३५३; ब्लूमफील्ड, त्सादामोगे०, ४८, ५६१।

[1] वेबर, इस्तू०, ५. २२०।

[2] तु०—वेबर, इस्तू०, ५. ३०८ टि०; ब्लूमफील्ड, त्सादामोगे० ४८. ५३३, ५३४।

[3] इंन्दो०, ५३९; तु०—त्सिमर, आ०ले०, ३२५।

[4] आ०ले०, ३२३।

[5] इस्तू०, ५. २२२।

जा सकता); यह मत आधुनिक नृतत्त्व-शास्त्र के आधार पर ठीक कहा जा सकता है।[1]

बहुपतित्व—दूसरी ओर बहुपतित्व की प्रथा को वैदिक नहीं कहा जा सकता।[2] कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहाँ पर इसका स्पष्ट कथन हो। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद १०. ८५. ३७, ३८ और अथर्ववेद १४. १. ४४, ५२, ६१; १४. २. १४, २७ में एक स्त्री के प्रसङ्ग में बहुवचन में पति शब्द का प्रयोग है। ऐसे स्थलों की व्याख्या दुर्बोध है; किंतु यदि वेबर[3] के उस मत को न भी माना जाय कि यहाँ बहुवचन संमान-प्रदर्शन के लिए है, तो भी डेल्ब्रुक[4] के अनुसार यह कहा जा सकता है कि यहाँ देवशास्त्रीय प्रसङ्ग है। अन्य स्थलों पर बहुवचन जातिवाचक है : शब्रा०, २. ६. २. १४; तु०—बहुवचन में 'श्वशुराः'; कासं० १२. १२। नियोग का बहुपतित्व से कोई संबन्ध नहीं है। इस विषय में देखो 'तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः' ऐब्रा० ३. २३; गोउ० ३. २०।

दाम्पत्य संबन्ध—बहुपतित्व मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारत में दाम्पत्य-संबन्ध शिथिल था जैसा कि वेबर ने कहा है[5]। जहाँ तक पत्नी की पति-भक्ति का प्रश्न है, यह संबन्ध अत्यन्त पवित्र था। फिर भी पति से यह आशा की जाती थी कि वह चरित्र की दृष्टि से पत्नी के प्रति विश्वसनीय बना रहे। कुछ स्थलों पर दूसरे की स्त्री से यौन-सम्पर्क करने पर प्रायश्चित के लिए याज्ञिक विधानों का उल्लेख मिलता है : तैसं०, ५. ६. ८. ३; मैसं०, ३. ४. ७। इससे यह प्रकट होता है कि पति का व्यभिचार कुछ सीमा तक क्षम्य था। किंतु स्त्री शब्द व्यापक अर्थ में है, जिससे लड़की, दासी, पत्नी सभी का बोध होता है; अतः दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करने पर ही वे प्रायश्चित्त थे अथवा किसी भी अवस्था में वे प्रायश्चित्त अनुष्ठेय थे, यह कहना कठिन है; रोचक यज्ञ वरुण-प्रघास में यजमान की पत्नी से उसके प्रेमियों के संबन्ध में पूछा जाता था : मैसं०, १. १०. ११; शब्रा०, २. ५. २. २०; तैब्रा० १. ६. ५. २; डेल्ब्रुक ने इसे पत्नी की अशुद्धि के निवारणार्थ प्रायश्चित्त माना है; प्रत्येक यजमान द्वारा अपनी पत्नी से वैसे प्रश्न पूछे जाने की प्रथा नहीं थी[1]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण १. २. १. २१ में याज्ञवल्क्य के इस कथन का कि "कोई यह ध्यान नहीं देता कि पत्नी "परःपुंसा"= अपवित्र है या नहीं" दूसरा उपयुक्त अर्थ यह है कि कोई यह ध्यान नहीं देता कि पत्नी पुरुषों से दूर है या नहीं; क्योंकि उस यज्ञ के प्रसङ्ग में देवों की पत्नियों को उनसे दूर कहा गया है[2]। अनन्याश्रयता का भी जिक्र आता है : ऋ० १. १२४. ७; ४. ३. ३; १०. ७१. ४ आदि। अतः यह माना जाता है कि इस विषय में उच्च नैतिक आदर्श था। किंतु अन्य भारत-जर्मन परंपराओं के अनुसार पकड़े जाने पर व्यभिचारी के वध का यहां उल्लेख नहीं है, यद्यपि परवर्ती सूत्रों में इसके कुछ चिह्न अवश्य हैं[3]। किंतु सामान्य यौन-नैतिकता को अत्यन्त उच्चस्तर पर नहीं माना जा सकता।

मर्यादा-हीनता—ऋग्वेद में कुछ अवैध प्रेम-संबन्धों का जिक्र है : १. १३४; ३. ५३. ८; ८. १७. ७; **महानग्नी** : अवे०, १४. १. ३६; २०. १३६. ५; ऐब्रा०, १. २७; तु०—अवे०, ५. ७. ८; **पुंश्चली** : अवे०, १५. २; वासं०, ३०. २२; **पुंश्चलू** : तैब्रा०, ३. ४. १५. १; वहां ऐसी अवैध संतानों के त्याग का भी उल्लेख है : ऋ० २. २९. १ "रहसूः[4]"; विशेषतः इन्द्र द्वारा रक्षित "**परावृक्त**" या "**परावृज्**" का उल्लेख किया जा सकता है : ऋ० २. १३. १२; २. १५. ७; ४. १९. ९; ४. ३०. १६[5],

[1] उदाहरणार्थ द्र०—वेस्टरमार्क, ओरिजिन ऐंड डेवलेपमेंट आफ मैरेज; क्राउले, मिस्टिक रोज।

[2] मेयर, इंदिश्शेस एरब्रेख्त, वीन, १८७३; इन्होंने इसका अस्तित्व माना है; किंतु द्र०—वेबर, इस्टू०, ५. १९१; २०७; १०. ८३, ८४; जाली रेख्त उन्द ज़ित्ते, ४८; हापकिन्स, जअओसो०, १३, ३५४ एवं आगे; फान श्रोडर, इन्दीन्स लित० ४३१ टि०-२; त्सादामौगे०, ४४, ३४०-३४२; डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५४१—५४५।

[3] इस्टू०, ५. १९१; त्सिमर, आ०, ले०, ३२६।

[4] उक्त, ५४३।

[5] इस्टू०, १०. ८३; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ५. ५७३; और तु०—धर्म।

[1] द्र०—दी इन्दो०, ५५०।

[2] तु०—एर्गलिग, सेबुई०, १२. ७६. टि० २; बोहटलिङ्ग्क, डिक्शनरी में "परःपुंसा" शब्द : डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५५१ इनका मत है कि दीक्षा या प्रवर में कहीं भी वैदिक भारतीयों के वंश के संबन्ध में संदेह नहीं किया गया है।

[3] द्र०—लीस्ट, आल्तरिश्शेस जुस जेन्टियुम, २७६ एवं अग्रिम; तु—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज ३८८, ३८९; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३६६. ३६७।

[4] तु०—मैक्समूलर, ऐंशि०सं०, लिट०, २६; त्सिमर, आ०ले०, ३३३. ३३४।

[5] त्सिमर, उपर्युक्त, ३३५ परित्यक्त बालक दीमकों का भोजन हो रहा था।

वासं० ३०. ६ में **कुमारी-पुत्र** का उल्लेख है। ऐसा ही एक व्यक्ति उपनिषद्-काल में उल्लिखित है; **(सत्यकाम जाबाल)**, जिसका मातृक नाम जाबाल दिया गया है। संभवतः मातृक नाम इसी कारण व्यक्तियों को दिये गए हैं; तु०—पाणिनि, ४. १. ११६; किंतु कीथ का कहना है कि यह प्रथा बहुपत्नीत्व के कारण है[1]। वासं० २३. ३०, ३१; तैसं०, ७. ४. १९. २, ३ में शूद्र और आर्य स्त्री-पुरुषों के अवैध मिलन का उल्लेख है; पुरुषमेध की बलियों की सूची (वासं०, ३०. १५; ३०. १२) में **अतित्वरि**=वेश्या **अतिष्कद्वरी**=भ्रूण गिराने वाली और काम को समर्पित **रजयित्री**=कपड़े रंगने वाली का उल्लेख है: तु—तैब्रा०, ३. ४. ११. १ में **अपस्कद्वरी**, ३. ४. ७. १ पिशल और गेल्डनर ने अन्य स्थल पर ऋग्वेद में मर्यादा-हीनता या भ्रष्टाचार के संकेत देखे हैं।[2] विशेषतः उन्होंने उषा देवी के वर्णनों में उसे इसी रूप में माना है, जो सर्वथा अनुचित है। फिर भी ऋग्वेद के एक स्थल १. ९२. ४ पर उल्लिखित **नृतू**=नर्तकी एक वेश्या है; जहाँ स्त्रियों के **'समन'**=मिलन-स्थान में जाने का उल्लेख है. वहाँ भी संभवतः वेश्याएं ही अभिप्रेत हैं: ऋ० ४. ५८. ८; ६. ७५. ४; १०. १६८. २; संभवतः **'ग्ना'** भी: १. १२४. ८; १. १२६. ५। कुछ गंभीर अनैतिकता का भी ऋग्वेद में उल्लेख है: १०. १६२. ५, भाई-बहन। प्रजापति की पुराकथा में पिता-पुत्री के संबन्ध को गर्हित कहा गया है: ऋ० १०. ६१. ५-७; पंविंब्रा० ८. २. १०; ऐब्रा०, ३. ३३; शब्रा०, १. ७. ४. १; विशेषतः अवे० ८. ६. ७ में में इसका उल्लेख है। जिन लड़कियों के पिता या भाई न हों उनके अनैतिक हो जाने की संभावना बनी रहती थी: ऋ० १. १२४. ७; तु०—**पुत्रिका**।

विवाह के प्रकार—जिस वैदिक समाज का चित्रण हमारे सामने है, उसमें पुरुषों और स्त्रियों दोनों को पर्याप्त स्वतंत्रता थी कि वे अपने मन से अपने जीवन-साथी का वरण करें। कहीं भी ऐसा पता नहीं चलता कि माता-पिता परिपक्व अवस्था के पुत्र या पुत्री के विवाह को नियन्त्रित करते हों।[3] अलबत्ता माता-पिता उचित संबन्ध खोज सकते थे; तु०—बृदे०, ५. ४९ एवं आगे।[4] कभी-कभी विवाह मध्यस्थ द्वारा कराया जाता था, और वर को कुछ शर्तें माननी पड़ती थीं: ऋ० १०. ७८. ४; १०. ८५. १५, २३।[1] लड़की बेचने की प्रथा अज्ञात नहीं थी: मैसं०, १. १०. ११.; तैसं०, २. ३. ४. १; तैब्रा०, २. ३. ४. १; तैब्रा०, १. १. २. ४; कासं०, ३६. ५।[2] किंतु इस प्रथा को गर्ह्य समझा जाता था, और उस स्थिति में जामाता कभी-कभी कृपण होते थे: ऋ० १. १०९. २ में इन्द्र एवं अग्नि देवों को **विजामाता** से अधिक उदार बताया गया है; विजामाता संभवतः ऋ० ८. २. २० का **'अश्रीर जामाता'** है; तु०—यास्क, निरु०, ६. ९।[3] दूसरी ओर बड़े दहेज भी दिये जाते थे, विशेषतः जब कन्याएँ दूषित शरीर वाली होती थीं; तु०—ऋ०, ६. २८. ५; १०. २७. १२; अवे०, ५. १७. १२; संभवतः ऋ० १. १०९. २ में कन्या का भाई उसके लिये पति प्राप्त करने के लिये बहुत सा धन प्रदान करता है।[4] कभी-कभी विवाह जबर्दस्ती कन्या को पकड़ ले जाकर भी होते थे, किंतु प्रायः ऐसा वीरता के चरित में ही आता है, जैसे कि **विमद** ने **पुरुमित्र** की कन्या को उनकी अनुमति के बिना, किंतु, संभवतः कन्या की अनुमति से ब्याह लिया था; तु०—ऋ०, १. ११२. १९; १. ११६. १; १. ११७. २०; १०. ३९. ७; १०. ६५. १२। सायण का यह मत ठीक जान पड़ता है कि **कमद्यू पुरुमित्र** की लड़की थी, यद्यपि त्सिमर इस संबन्ध में संदेह में हैं। परवर्ती सूत्रों एवं आर्षकाव्यों में अनेक प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, इन सभी को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है:—(१) **प्राजापत्य** या परस्पर अनुमति से होने वाला, (२) लड़की के मूल्य

[1] द्र०—कीथ, ऐआ०, पृ० २२४ टि० २।

[2] द्र०—वैस्तू०, १. २५, १९६, २७५, २९९, ३०९; २. १२०, १५४, १७९ इत्यादि; जाली, रेख़्त उन्द ज़ित्ते, ४८।

[3] तु०—डेल्ब्रुक, उपर्युक्त, ५७४; त्सिमर, आ०ले०, ३०९, ३१५; केगी, देर ऋग्वेद, १५।

[4] त्रीग, दी जा० ऋ० ५१ एवं आगे।

[1] तु०—त्सिमर, आ०ले०, ३१०।

[2] द्र०—माधशा०, ३. ५३; ८. २०४; ९. ९८; मेगस्थनीज, मैकक्रिंडल का अनुवाद, पृ० ७०; वेबर, इस्टू०, ५. ४०७; हापकिन्स जअओसो०, १३. ३४५ एवं आगे; श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटी०, ३८१; पिशल, वैस्तू०, २. ७८ एवं अग्रिम; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, ३. ८६ टि०; जाली, रेख़्त उन्द ज़ित्ते, ५३।

[3] ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १५. २५५।

[4] तु०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३४५; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४५९; केगी, देर ऋग्वेद, टि०, १५२; त्सिमर, उपर्युक्त, ३१० टि०; यह संदिग्ध है कि ऋ० १०. ८५. ६ में अनुदेयी शब्द का अर्थ दहेज है या कुछ और। द्र०—ह्विटनी, ट्रां०, अवे०, ७४१।

के रूप में धन देकर किया जाने वाला, जैसे आसुर, आर्ष, ब्राह्म और दैव, (३) लड़की को छीनकर या चुरा कर किया जाने वाला विवाह, जैसे क्षात्र, या राक्षस। इन सभी के संकेत वैदिक साहित्य में मिलते हैं[1]। उदाहरणार्थ **च्यवन** की कथा: जैब्रा०, ३. ११२ और **श्यावाश्व** की कथा: बृ० दे०, ५. ४९ एवं अग्रिम में पहले की सेवा या अन्य कारण के आधार पर कन्या प्रदान करने का उल्लेख है।

विवाह-समारोह—सामान्यतः विवाह के समारोह वैसे ही होते थे जैसे आर्य-जर्मन परंपरा में; कुछ अनार्य-परंपराओं के भी तत्त्व उनमें प्रतीत होते हैं; विशेषतः उनमें सम्बन्ध की सफलता एवं दृढ़ता की कामना रहती थी: ऋ० १०. ८५; अवे०, १४. १ और २; परवर्ती पद्धति गृह्यसूत्रों में है[2]। समारोह वधू के घर पर होता था, जहाँ वर और उसके घर के लोग एवं मित्र आते थे, तथा वधू के परिवार वालों और मित्रों से मिलते थे: ऋ० १०. १७. १; ४. ५८. ९; अवे०, ६. ६०; १४. २. ५९। अतिथियों के स्वागत-सत्कार के लिए गौ या गौएँ मारी जाती थीं: ऋ० १०. १८. १३। वर वधू को एक पत्थर पर बिठाकर उसका हाथ पकड़ता था, और उसे गार्हपत्य अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा कराता था; तु०—ऋ० १०. ८५. ३६, ३८; अवे०, १४. १. ४७. ४८; सूत्रों के अनुसार वधू को पत्थर पर बिठाने के समय वर विशेष मन्त्र उच्चारण करता है, जिसका भाव है:—मैं वह (पुरुष) हूँ, तुम वह (स्त्री) हो, मैं साम हूँ, तुम ऋचा हो, मैं स्वर्ग हूँ, तुम पृथिवी हो; यहाँ हम मिलेंगे और पुत्र उत्पन्न करेंगे। इस मन्त्र के लिए द्र०—अवे०, १४. २. ७१; कासं०, ३५. १८; ऐब्रा०, ८. २७; बृ० उ०, ६. ४. १९ माध्यंदिन; आगृसू०, १. ७. ३; शांगृसू०, १. १३. ४; पारगृसू० १. ६. ३ आदि। यही विवाह की प्रमुख प्रक्रिया है और इसीलिए पति को **"हस्तग्राभ"**=हाथ पकड़ने वाला कहा गया है: ऋ० १०. १८. ८; तु०—अवे०, १४. १. ५१। विवाह की विधि पूर्ण हो जाने पर (अवे०, १४. २. ५९ एवं आगे) पति पत्नी को रथ पर बिठाकर समारोहपूर्वक अपने घर ले जाता था: ऋ० १०. ५, ७, ८; १०, २४, २५, २६, २७, ४२ एवं आगे; अवे०, १४. १. ६०। उसके बाद सहवास होता था (वधू के वस्त्र की पवित्रता के लिए द्र०—१०. ८५. २८–३०, ३५)।

पत्नी की संपत्ति और स्थिति—विवाह के उपरान्त पति और पत्नी के वैधानिक संबन्ध की दृष्टि में हमें बहुत कम ज्ञात है। अनुमानतः पत्नी के साथ में दहेज आदि में प्राप्त धन का, एवं पत्नी यदि कुछ उपार्जित करती थी तो उसका भी अधिकारी पति होता था; क्योंकि आर्षकाव्य-काल तक भी स्त्री-धन का बहुत ही निम्न स्तर पर उल्लेख है। किंतु पति के अधीन पत्नी दासी के समान थी, यह नहीं माना जा सकता। परिवार का आदर्श बहुत ऊँचा था, और इसमें संदेह नहीं कि उसे कभी-कभी पूरा भी किया जाता था: ऋ० ८. ३१. ५–९; १०. ३४. ११; १०. ८५. १८, १९, ४२ एवं आगे; अवे०, ३. ३०; ४. २. ३२। इसके अतिरिक्त विवाह के बाद ही पत्नी को परिवार में बहुत संमान-पूर्ण स्थान दिया जाता था; वह अपने पति के घर की स्वामिनी है, और पति के माता-पिता, भाई एवं बहनों पर उसका अधिकार है: ऋ० १०. ८५. ४६; बहनों के संबन्ध में तु०—ऐब्रा०, ३. ३७। अवे०, १४. २. ६० के अनुसार वधू को श्वशुर के लिए **शंभू** और श्वश्रू के लिये **स्योना** बनना चाहिये। निःसंदेह यह ऐसे परिवार का उल्लेख है, जिसमें बड़े लड़कों के विवाह के उपरान्त उसकी पत्नी को ये अधिकार दिये जाते थे, जब कि अन्य भाई एवं बहनें अविवाहित रहती थीं; तु०—१. ७०. ५ जहाँ वृद्ध पिता का धन लड़के आपस में बांट लेते हैं; तु० कौब्रा०, ४. १५। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि पिता का अधिकार खत्म हो जाता था; अन्यत्र उनके आदर का विधान है, और सामर्थ्य रहने तक पिता ही घर का स्वामी बना रहता था: अवे०, ८. ६. २४; मैसं०, २. ४. २; कासं०, १२. १२; इस्टू०, ५. २६०; तैब्रा०, २. ४. ६. १२; ऐब्रा०, ३, २२।[1] पुत्र यदि अपना घर अलग भी बना लेता था, तो भी माता-पिता का संमान वैसा ही बना रहता था: अवे०, ८. ६. २४।

पति के यज्ञादि में भी पत्नी भाग लेती थी, इस दृष्टि से **पत्नी** शब्द ब्राह्मणों में उसके लिये सर्वथा उपयुक्त है, जहाँ **जाया** शब्द सहवास के संबन्ध का द्योतक है, यज्ञादि में भाग लेने का नहीं: शब्रा०, १. ९. २. १४; पाणिनि,

[1] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३६१, ३६२; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ५० एवं आगे; पिशल, वैस्टू०, १. २९; श्राडर, प्रिहि० ऐं०, ३८३।

[2] द्र०—वेबर और हास, इस्टू०, ५. १७७–४११; द्र०—लीस्ट, आल्तरिश्शेस जुस जेन्टियुम, १४४ एवं आगे; फान श्रोडर, दी होखत्साइतन० १८९२; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ७. ३९ एवं अग्रिम; लानमान, संस्कृत-रीडर, २८९ एवं अग्रिम।

[1] डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५१४, ५१५।

४. १. ३३ ।[1] बाद में यज्ञ में भाग लेने का अधिकार क्षीण होता गया; शब्रा०, १. १. ४. १३ में पत्नी के स्थान पर यज्ञविशेष में ब्राह्मण द्वारा हवि देने का विधान है, जब कि प्राचीन काल में पत्नी स्वतः आहुति देती थी : ऋ०, १. १२२. ३; ३. ५३. ४–६; ८. ३१. ५ एवं आगे; १०. ८६. १० आदि । उसी ब्राह्मण के १. ३. १. ९. १२, १३ ४३ [2]अ. में पत्नी के संमान के घट जाने का उल्लेख है; जो संभवतः यज्ञ की श्रेष्ठता के विकास के साथ हुआ है । मैसं०, ३. ६. ३ में द्यूत और मदिरा के साथ स्त्री को तीन प्रधान दोषों के अन्तर्गत गिनाया गया है; उसे असत्यवादिनी और निर्ऋति से ग्रस्त (मैसं०, १. १०. ११) भी कहा गया है । तैसं० ६. ५. ८. २ (तु०—शब्रा०, १. ३. १. ९) में एक बुरे आदमी से भी स्त्री को हीन कहा गया है । कासं०, ३१. १ (तु०—ऐब्रा०, ३. २२) में एक आक्षेप-पूर्ण कथन है कि स्त्री की शक्ति रात्रि में अपने पति को चाटूक्तियाँ सुना कर वस्तुएँ प्राप्त करने में निहित है । दूसरी ओर स्त्रियों का संमान-पूर्ण उल्लेख भी है; वह पुरुष की अर्धाङ्गिनी है : शब्रा०, ५. २. १. १० और उसे पूर्ण बनाती है : बृउ०, १. ४. १७ । ऋग्वेद में भी स्त्रियों के गुणों के उल्लेख के साथ-साथ उनके ऊपर आक्षेप भी किये गए हैं । ऋ०, ८. ३३. १७ में इन्द्र को स्त्री के समान अल्प-बुद्धि वाला कहा गया है; १०. ९५. १५ में पुरूरवा के प्रसङ्ग में उसे सालावृकी कहा गया है । ऋ० ५. ६१. ६–८ में उनकी रक्षा की गई है, किंतु केवल बुरे लोगों, पणियों आदि से ।[3] किंतु ब्राह्मणकाल में नारी के महत्त्व में क्रमशः ह्रास होने का उल्लेख है, जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण है पति के बाद पत्नी के भोजन करने का विधान : शब्रा०, १. ९. २. १२; १०. ५. २. ९; तु०—वाघसू०, १२. १३; बौघसू०, १. १. २. २[4]। कर्कशा स्त्रियों का भी उल्लेख है, ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर न देने वाली=अप्रतिवादिनी स्त्री की प्रशंसा की गई है : ऐब्रा०, ३. २४. ७; तु०—गोब्रा०, २. ३. २२[5]। स्त्रियाँ राजनीति में भाग नहीं लेती थीं । मैसं ४. ७. ४ (तु०—अवे०, ७. ३८. ४) में स्पष्टतः कहा गया है कि पुरुष सभाओं में जाते हैं, स्त्रियाँ नहीं । शिक्षा के विकास के साथ-साथ स्त्रियाँ तत्कालीन विषयों में अभिरुचि रखती थीं और विचार-विमर्श में भाग लेती थीं, जैसा कि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों के जिक्र से ज्ञात होता है; उनमें से एक दार्शनिक विचारों में अभिरुचि रखने वाली थी : बृउ०, ३. ४. १; ४. ५. १; उपनिषदों में अन्य स्त्री-आचार्याओं का भी उल्लेख है, किंतु यह निश्चित नहीं कि वे विवाहित थीं या अविवाहित । तु०—गंधर्व-गृहीता : ऐब्रा० ५. २९; कौब्रा० २. ९; बृउ०, ३. ३. १; ३. ७. १; द्र०—आगृसू० ४. १० ।

किंतु स्त्रियों के विवाह का मुख्य प्रयोजन था संतान पैदा करना, जिसका उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है : ऋ०, १. ९१. २०; १. ९२. १३; ३. १. २३; १०. ८५. २५, ४१, ४२, ४५; अवे०, ३. २३. २; ५. २५. ११; ६. ११. २ आदि । ऐसे समाज में पुत्र की इच्छा स्वाभाविक थी, जिसमें पिता के दाह-संस्कार आदि के लिए तथा वंश की परंपरा को चालू रखने के लिए पुत्र होना आवश्यक था । दत्तक पुत्र भी लिया जा सकता था, किंतु इस प्रथा को ऋग्वेद में असंतोषप्रद कहा गया है : ऋ० ८. ४. ७, ८; तु०—निरुक्त, ३. २ । ऊपर इसी संबन्ध में नियोग की प्रथा का भी उल्लेख किया जा चुका है : ऋ० १०. १८. ८; १०. ४०. २ । पुत्र-हीनता=अवीरता और संपत्ति-हीनता=अमति को समान स्तर पर रखा गया है; और अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह इनसे बचावे : ऋ० ३. १६. ५ । लड़की की उत्पत्ति विशेष स्वागत की नहीं समझी जाती थी; अथर्ववेद ६. ११. ३; तु०—८. ६. २५ में पुत्र की ही उत्पत्ति हो तथा कन्या संतति न हो इसके लिए मन्त्र दिये गए हैं । ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५[1] में एक प्राचीन मन्त्र उद्धृत किया गया है, जिसमें कन्या की उत्पत्ति को दुःख-प्रद कहा गया है, जब कि पुत्र को परम व्योम के प्रकाश के समान 'ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्' कहा गया है । किंतु इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि वैदिक भारतीय स्त्री-संततिको त्याग देते थे । तैसं०, ६. ५. १०. ३; मैसं०, ४. ६. ४; ४. ७. ९; कासं०, २७. ९; निरुक्त, ३. ४; शांश्रौसू०, १५. १७. १२ के आधार पर त्सिमर[2] और डेल्ब्रुक[3] ने

[1] डेल्ब्रुक, उपर्युक्त, ५१०, ५१२ ।
[2] तु०—लेबी, ला० डाक्ट्रिन द्यु सैक्रिफीस, १५७, १५८ ।
[3] तु०—केगी, देर ऋग्वेद, टि० ३५१ ।
[4] वेबर, इस्टू०, ५. ३३० टि०; हाप्किन्स, जअओसो०, १३. ३६५ टि० ।
[5] ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १९. १४ टि० २ ।

[1] तु०—मैक्समूलर, ऐंशि० सं० लिट०, ४०९ ।
[2] आले०, ३१९; तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३१४ टि० ।
[3] दी इन्दो०, ५७५; वेबर, इस्टू०, ५. ५४, २१०; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ६. १४२; केगी, देर ऋग्वेद, टि० ४९; श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटी०, ३८९, ३९० ।

ऐसा उल्लेख किया है, किंतु बोहटलिङ्ग्क ने इनके मत का खण्डन किया है[1]।

बाल-जीवन—निःसंदेह बालकों के पालन का भार माता पर होता था, किंतु बाल-जीवन के संबन्ध में हमें विशेष विवरण नहीं मिलते; परवर्ती साहित्य में तो अनेक संस्कारों का उल्लेख है[2]। गर्भ-काल अनेक स्थलों पर दस महीने=चान्द्र-मास का कहा गया है: ऋ० ५. ७८. ९; १०. १८४. ३; अवे०, १. ११. ६; २. ३३. २; ऐब्रा०, ७. १३. ९; शब्रा० ४. ५. २. ४; छाउ०, ५. ९. १[3]। जन्म के बाद बच्चे को दूध या घी दिया जाता था फिर स्तन-पान कराया जाता था: बृउ०, १. ३. ४ माध्यंदिन=१. ५. २ काण्व; तु०—६. ४. २४ एवं अग्रिम; शब्रा०, २. ५. १. ६। स्तनपान छोड़ देने के बाद बालक **अतिस्तन** कहाता था: कौब्रा० १३. २। बच्चे को नहलाया जाता था: पंविब्रा०, १४. ७. २; सामवेद के २. ५२५=ऋ० ९. ९६. १७। प्रथम दस दिनों को भय के दिन माना जाता था: ऐब्रा० ७. १४; पंविब्रा०, २२. १४. ३। दाँत निकलना भी एक गंभीर अवसर था: अवे०, ६. १४०। बच्चे के बोली सीखने का भी उल्लेख है, जो तैत्तिरीय संहिता ६. १. ६. ७ (तु०—शब्रा०, ७. ४. २. ३८; ११. १. ६. ३, ५) में एक वर्ष की आयु में संभव कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक १. ३. ३ में कहा गया है कि बच्चे के प्रथम शब्द **तत** या **तात** होते हैं, जो 'दद' के समान हैं।[4] इससे संभवतः पिता को प्रधानता देने की अनावश्यक चेष्टा की गई है। अथर्ववेद ६. ६८; तु०—२. १३; कौसू०, ५३. ५४; शब्रा० ११. ४. १. ६ में लड़के के प्रथम श्मश्रु-कर्तन का उल्लेख है। नामकरण भी एक महत्त्वपूर्ण समारोह था; तु०—ऐआ०, १. ३. ३;[5] शब्रा०, ६. १. ३. ९। द्र०—**नामन्**।

[1] द्र०—त्सादामौगे०, ४४. ४९४–४९६; तु०—पिशल; वैस्तू०, २. ४८; इन्होंने ऋ० ४. १८. ५ की तुलना की है।

[2] डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५७३ एवं आगे; वेबर ने "नक्षत्र" २. ३१४ टि० में गर्भाधान विषय का उल्लेख किया है; जुड़वे बच्चे पसन्द नहीं किये जाते थे: ऐब्रा० ७. ९, आदि।

[3] वेबर, नक्षत्र, २. ३१४ टि०। अवे०, १. ११ इत्यादि में जन्म से संबद्ध अनेक मन्त्र हैं। **अवतोका** और **अवसू** जैसे दुर्जन्मों का भी उल्लेख है: वासं०, ३०. १५; अवे०, ८. ६. ९ इत्यादि।

[4] द्र०—डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ४४९, ५९६।

[5] कीथ के नोट के साथ।

सती—पति के मर जाने पर कभी-कभी विधवा पत्नी भी उसके शव के साथ स्वयं जल जाती थी, या जला दी जाती थी।[1] अथर्ववेद १८. ३. १ में इस प्रथा का उल्लेख है। दूसरी ओर ऋग्वेद में इसका कोई चिह्न नहीं मिलता; प्रत्युत इसके विरुद्ध मृत व्यक्ति की पत्नी के उसके भाई के साथ विवाह करने का उल्लेख है: ऋ० १०. १८. ७. ८। अतः सती की प्रथा को वैदिक युग में अपेक्षाकृत विलम्ब से उत्पन्न हुई माना जा सकता है। सभी समय यह प्रथा क्षत्रियों या वीरों में ही प्रचलित रही जान पड़ती है, जैसा कि भारत-जर्मन समानान्तर प्रथाओं से ज्ञात होता है।[2] दूसरे वर्गों में स्त्रियों का जीवित रहना आवश्यक था; विधवा-विवाह के समर्थन या खण्डन के संदर्भों से विधवा-विवाह का अस्तित्व प्रमाणित होता है; तु०—ऋ० १. १२४. ७ के गर्ताहृ्क की निरुक्त ३. ५ में व्याख्या।[3]

पत्ति—अथर्ववेद ७. ६२. १ में रथी के विरोध में पत्ति शब्द पैदल सेना को उद्दिष्ट करता है। वहाँ कहा गया है कि रथी पैदल को जीत लेता है। वासं० के रुद्राध्याय

[1] तु०—श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटी०, ३९१; फान श्रोडर, इन्दीन्स लि०, ४१; जाली, रेख्त उन्द ज़ित्ते, ६७-६९; वेबर, प्रोसीडिंग्स०, १८९६, २५४ एवं आगे; राथ, त्सादामौगे०, ८. ४६८; विल्सन, जराएसो०, १६. ३०२; त्सिमर, आ०ले०, ३२९; गेल्डनर ऋग्वेद कोमेंटर, १५४।

[2] तु०—हेरोडोटस, ५. ५; ४. ७१; प्रोकोपियस, डि बेलो गोथिको, २. १४; इनमें थैसियन, सीथियन और हेरुली लोगों का निर्देश है। इसी प्रकार जर्मनी में ब्रिनहिल्ड और नन्न उदाहरण हैं; तु० वीनहोल्ड, आल्तनोर्दिश्शे ले०, ४७६ एवं अग्रिम; किंतु इस प्रथा को बहुत अधिक व्यापक नहीं कह सकते, जैसा कि त्सिमर, आ०ले०, ३. ३१ ने माना है। प्राचीन काल में राजा की सभी पत्नियों को जलाना एक विनाश-पूर्ण कार्य था, कभी-कभी प्रधान पत्नी को किसी आधार पर छोड़ दिया जाता था। ऋग्वेद में पत्नी को जलने से बचाने का आभास है, द्र०—मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १२६; एक अच्छी पत्नी का पुरस्कार यही था कि वह पति-लोक को प्राप्त करे: अवे०, १४. १. ६४; १८. ३. १; ऋ०, १०. ८५. ४३; पाणिनि ३. २. ८ पर वार्त्तिक २ के एक भाष्यकार के अनुसार सुरा-पान करने वाली ब्राह्मण-स्त्री मरने के बाद पति-लोक को नहीं प्राप्त कर सकती थी।

[3] गेल्डनर, ऋ० कोमेंटर, २२।

१६. १९ में रुद्र को पैदलों का स्वामी (पत्तीनां पतिः) कहा गया है।

पत्नी—द्र०—**पति**। अथर्ववेद ९. ३. ७ में 'पत्नीनां सदन' या गृह के अन्तःपुर का उल्लेख है। ब्राह्मण-कल्प विधान के पत्नी-शाल के आधार पर यह शब्द प्रतीत होता है : वासं०, १९. १८; शब्रा०, ४. ६. ९. ८; १०. २. ३. १; ऐब्रा०, ५. २२. शाला; कौब्रा० १९. ६. इत्यादि।

पथिन् सौभर—सोभरि का वंशज। बृउ० की प्रथम दो वंशसूचियों में अयास्य आङ्गिरस के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है : बृ०उ० २. ५. २२ माध्यंदिन=२. ६. ३ काण्व; ४. ५. २८ माध्यं०=४. ६. ३ काण्व।

पथि-कृत्—पथ बनाने वाला। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द अनेक बार आया है, जो प्राचीन काल में रास्तों की कठिनता को सूचित करता है : ऋ० २. २३. ६; ६. २१. १२; ९. १०६. ५; १०. १४. १५; १०. १११. ३ आदि; अवे०, १८. २. ५३; १८. ३. २५ आदि। यह शब्द विशेष रूप से अग्नि के लिए आया है, जिससे ज्ञात होता है कि अग्नि द्वारा वनों के जल जाने से आगे बढ़ने के लिए मार्ग मिल जाता था : तैसं०, २. २. १. १; शब्रा०, ११. १. ५. ५; १२. ४. ४. १; कौब्रा०, ४. ३. इत्यादि। पूषा देवता को भी पथि-कृत् और समूहों का रक्षक कहा गया है : शांश्रौसू०, ३. ४. ९; १६. १. १७; शां० १६. १. १८ में पथि-कृत् का अर्थ अधिपति किया गया है, किंतु पहला अर्थ अधिक व्यञ्जक है। पथि-कृत् ऋषियों की तुलना रोमन पांटिफिसेज से की जा सकती है। ऋ० १०. १४. १५ में स्वर्ग-लोक का पथ बनाने का उल्लेख है।

पथ्या स्वस्ति—'वाग् वै पथ्या स्वस्तिः' कौब्रा० ७. ६; 'सा (पथ्या स्वस्तिः) उदीचीं दिशं प्राजानात्' कौब्रा० ७. ६; 'उदीचीमेव दिशं पथ्यया स्वस्त्या प्राजानंस्तस्मा-दत्रोत्तरा हि वाग् वदति कुरुपञ्चालत्रा' शब्रा० ३. २. ३. १५।

पद्—अथर्ववेद १९. ६. २ और शब्रा० ११. ३. २. ३ में पद् शब्द चतुर्थांश को जताता है। पशुओं के चार पदों में से एक पद् के आधार पर यह प्रयोग चला है। तु०—**पाद**।

पद—किसी ऋचा या श्लोक के एक चरण के लिए पद शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के समय से ही आम है : ऋ० १. १६४. २४, ४५; अवे०, ९. १०. १९; वासं०, १९. २५; ऐब्रा०, १. ६; १०. १७ इत्यादि; कौब्रा०, २२. १. ५। ब्राह्मणों में यह शब्द वर्ण के विपरीत प्रातिपदिक का वाचक है : कौब्रा०, २६. ५ जहाँ अर्धर्च, पाद, पद और वर्ण का उल्लेख है। द्र०—शब्रा०, १०. २. ६. १३; ११. ५. ६. ९ इत्यादि। तु०—**वर्ण**।

पद-निधन—साम। 'इमं वाव देवा लोकं पदनिधने-नाभ्यजयन्' तांब्रा० १०. १२. ३।

पद-पाठ—संहिता के पदों को अलग-अलग करके पढ़ने को पदपाठ कहा गया है। यह शब्द सर्वप्रथम वाप्रा० १. १५६; ४. १७९ में आया है। निरुक्त १. १७ में पद-विभाग का उल्लेख है।

पद-वी—कुछ स्थलों पर पदवी शब्द पद-धारक या पथ-प्रदर्शक के अर्थ में आया है : ऋ० ३. ५. १ "पदवीः कवीनाम्"; ९. ९६. ६, १८; ७. ३६. २; ३. ३१. ८; १. ७२. २; अवे०, १२. ५. ५८।

पद-संहिता—वाप्रा० २. ६०; ४. १६५ में "पद-संहिता" शब्द पदपाठ के संबन्ध में आया है।

पदस्तोभ—सामविशेष। 'पदोरुत्तममपश्यत् तत् पद-स्तोभस्य पदस्तोभत्वम्' तांब्रा०, १३. ५. २४; 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत् तं षोडशभिर्भोगैः पर्यभुजत् स एनं पदस्तोभ-मपश्यत् तेनापावेष्टयत् अपवेष्टयन्निव गायेत् पाप्मनोऽपहत्यै' तांब्रा० १३. ५. २२।

पदि—ऋग्वेद १. १२५. २ में यह शब्द आया है; वोबू० के अनुसार वहाँ यह शब्द किसी जानवर के लिए आया है। यास्क, निरु०, ५. १८ ने इसे "गन्तु" या "घूमने फिरने वाला जन्तु" माना है, किंतु दुर्ग ने इसका अर्थ पक्षी माना है। वहाँ पदि को मुक्षीजा या जाल में पकड़ने का आशय है[1]।

पद्-घोष—पद-ध्वनि। अथर्ववेद ५. २१. ८ में कहा गया है कि जिन पद्-घोषों से इन्द्र क्रीडा करते हैं, उनसे हमारे शत्रु चेत जाँय।

१. **पद्म**—द्र०—**दशन्**।

२. **पद्म**—पद्म शब्द वैदिक साहित्य में बहुत कम आया है। षब्रा० ४. ७ और गोब्रा० १. ३. १६ में शुक्ल पद्म का उल्लेख है। द्र०—जैउब्रा०, १. २. ३. ४; १. ९. १. ३; तैआ०, १०. ११. २ आदि।

पयस्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पयस् शब्द दूध के अर्थ में आम है : ऋ० १. १६४. २८; २. १४. १०; ४. ३. ९; ५. ८५. २; १०. ३०. १३; १०. ६३. ३ इत्यादि; अवे०, ४. ११. ४; १२. १. १०; वासं०, ४. ३; तु०—**गो** और **क्षीर**। सामान्य अर्थ में यह पौधों या वृक्षों में पाये जाने वाले जीवन-रस या दूध को बताता है : अवे०, ३. ५. १; १०. १. १२; १३. १. ९; वासं०, १७. १; १८. ३६; सोम का पयस् : ऋ० ९. ९७. १४। शब्रा० ९. ५. १. १ में पयोव्रत या एक

[1] द्र—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १२९; त्सिमर, आ०, ले०, २४४।

समय केवल दूध पीकर रहने के व्रत का उल्लेख मिलता है; तु०—कौब्रा०, ८. ९।

पयस्या—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में दही का नाम पयस्या आया है, जो गरम या ठंडे दूध में जामन डाल कर जमाया जाता था: तैसं०, २. ३. १३. २; तैब्रा०, १. ५. ११. २; ऐब्रा०, २. २२. २४; शब्रा०, २. ४. ४. १०. २१; २. ५. १. १२; २. ५. २. ९ इत्यादि। तु०—एर्गलिंग, सेबुई० १२. ३८१ टि० २।

द्र०—'यदस्यात् (प्रजापतेः) तद्रेतः परापतदेषा सा पयस्या मैत्रावरुणी' शब्रा० ९. ५. १. ५६; 'मैत्रावरुणी पयस्या' शब्रा० २. ४. ४. १४; 'एतद्वै मित्रावरुणयोः स्वं हविर्यत् पयस्या' कौब्रा० १८. १२।

परःपुंसा—द्र०-**पति-पत्नी**, दाम्पत्य संबन्ध उपशीर्षक।

पर आट्णार—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के अनुसार एक प्राचीन राजा **पर आट्णार** थे, जिन्होंने एक विशेष यज्ञ करके अनेक पुत्र प्राप्त किये थे: तैसं०, ५. ६. ५. ३; कासं०, २२. ३; इस्टू०, ३. ४७३; पंविब्रा० २५. १६. ३; जैउब्रा०, २. ६. ११। शब्रा० १३. ५. ४. ४ में उन्हें **हैरण्यनाभ**=हिरण्यनाभ का वंशज कहा गया है। शांश्रौसू० १६. ९. ११ में उन्हें **पर आह्लार वैदेह** कहा गया है, जो कोसल और विदेह के निकट संबन्ध का द्योतक है। वहीं पर १६. ९. १३ में उद्धृत एक यज्ञ-गाथा में **हिरण्यनाभ कौसल्य** का **पर** से संबन्ध उल्लिखित है।

विवरण: वेबर, इस्टू०, १०. ७; एपिश्शेस ७; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६५ टि० ४।

परम-ज्या—सर्वोच्च शक्ति वाला। ऋग्वेद ८. १०. ३० में लुड्विग के अनुसार **यदुओं** में से किसी एक महापुरुष का नाम **परमज्या** है[1]। किंतु इसमें संदेह है कि क्या यह शब्द एक विशेषण के अतिरिक्त कुछ और हो सकता है।

परमं व्योम—'इमे वै लोकाः परमं व्योम' शब्रा०, ७. ५. २. ८१।

परम-पुरुष—'यो विद्युति स परमपुरुषः' जैउब्रा० १. २७. २।

परमा परावत्—'अनुष्टुब् वै परमा परावत्' ऐब्रा०, ३. १५।

१. **परमे-ष्ठिन्**—सामान्यतः परमपद पर अधिष्ठित व्यक्ति के विशेषण के रूप में परमेष्ठिन् शब्द आया है। इस प्रकार ऋत: तैब्रा०, १. ५. ५. १ और वाग्देवी: अवे०, १९. ९. ३ को भी परमेष्ठी के रूप में दिखाया गया है। द्र०—अवे०, १. ७. २; १३. १. १७।

२. **परमे-ष्ठिन्**—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में परमेष्ठी शब्द **प्रजापति** के लिए प्रायः व्यवहृत हुआ है: अवे०, ९. ३ ११; वासं०, १४. ३१; तैब्रा०, २. २. ९. १०; २. ७. ६. १; तैसं०, ४. ३. १०. ३; अवे०, ४. ११. ७; ९. ७. १; १०. ३. २४; १३. १. ६; शब्रा०, ६. २. ३. ५; ऐब्रा०, ८. १४ इत्यादि। तु०—'आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति' शब्रा०, ८. २. ३. १३; 'तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद् यद् दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजत्···। स आपोऽभवत्···। परस्माद् वा एतत् स्थानाद् वर्षति यद् दिवस्तस्मात् परमेष्ठी नाम' शब्रा०, ११. १. ६. १६; 'परमेष्ठी वा एष यदोदनः' तैब्रा०, १. ७. १०. ६।

परशु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में कुल्हाड़ी को परशु कहते हैं। इसका रूप कैसा था इस संबन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है: ऋ० १. १२७. ३. ७. १०४. २१; १०. २८. ८; १०. ५३. ९ इत्यादि; अवे०, ३. १९. ४; ७. २८. १; ११. ९. १; कासं० १२. १०; शब्रा०, ३. ६. ४. १०; ऐब्रा०, २. ३५; कौब्रा०, १०. १; कौउ०, २. ११, आदि। आग में लाल की हुई एक कुल्हाड़ी का उपयोग अग्नि-परीक्षा=**दिव्य** में होता था: छाउ०, ६. १६. १। द्र०—**पर्शु**।

परश्वन्—द्र०—**परस्वन्त्**।

परस्वन्त्—परस्वन्त् एक जंगली जानवर है; राथ[1] के मत से यह जंगली गधा है। इसका उल्लेख वृषाकपि सूक्त=ऋ० १०. ८६. १८ में, दो बार अथर्ववेद ६. ७२; २०. १३१. २२ में और याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची (मैसं०, ३. १४. १०; वासं०, २४. ८; तैसं०, ५. ५. २१. १ यहाँ भाष्यकार के मत से अर्थ 'जंगली भैंसा) में आया हैं; इन सभी स्थलों पर जंगली गधा यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। किंतु कौउ० १. २ में परश्वा(न्) का अर्थ दुर्बोध है; भाष्यकार ने वहाँ 'सर्प' लिया है। संभवतः यह परस्वन्त् शब्द से भिन्न है। ब्युह्लर ने इसे पाली के **पलासाद** (खड्ग, खड्गधेनु) से मिलाया है।[2]

विवरण: लुड्विग, ट्रां० ऋ०, २. ६३३; त्सिमर, आले०, ८६, ८७; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ३३५; गेल्डनर, ऋ० ग्लासर, १०५।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १५९। द्र०—ह्रापकिन्स, जअओसो०, १७. ३९।

[1] वोबू०।

[2] द्र०—त्सादामौगे०, ४८. ६३; कीथ, शांआ०, १७ टि० १; ऐआ०, ३७७ टि० १।

परस्पर—श्रेष्ठ पालक के अर्थ में परस्पर शब्द कुछ स्थलों में आया है : ऋ० २. ९. २, ६; ५. ६२. ६; ८. ९. ११; ८. ५०. १५; तैब्रा०, २. ८. १. ३ ।

परार्ध—द्र०—**दशन्** ।

परा-वसुः—'परावसुर्ह वै नामासुराणां होता' शब्रा०, १. ५. १. २३ ।

परा-वृज—ऋग्वेद के चार स्थलों १. ११२. ८; २. १३. १२; २. १५. ७; १०. ६१. ८ में यह शब्द किसी व्यक्ति का वाचक है, जो निराश्रय है; ऋ० १०. ६१. ८ में उसके दक्षिण की ओर जाने का उल्लेख है। सायण के अनुसार इसे व्यक्तिवाचक नाम मानना ठीक नहीं है; साथ ही ग्रासमान के अनुसार उसे अपाहिज कहना भी संभव नहीं है; (द्र० सायण भाष्य ऋ०, १. ११२. ८ पर)।[1] राथ[2] की व्याख्या के अनुसार 'निर्वासित' यह अर्थ ऋग्वेद १०. ६१. ८ में ठीक बैठता है, जहाँ उसके दक्षिण की ओर जाने का उल्लेख है। त्सिमर[3] ने इस स्थल पर राथ के मत को ठीक माना है; किंतु अन्य स्थलों पर उन्होंने उससे **कुमारी का पुत्र** यह अर्थ लिया है, जिसे त्याग दिया गया था और जिसे दीमकें खा रही थीं। यह ठीक हो सकता है, क्योंकि **परावृक्त** शब्द (ऋ० ४. ३०. १९; तु०—४. ३०. १६; ४. १९. ९) का भी वही भाव है; ओल्डेनबर्ग ने इसे स्वीकार किया है।[4]

विवरण : तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. २४८; श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटीक्विटीज़ ४०२।

पराशर—दश राजाओं पर **सुदास्** की विजय का उल्लेख करने वाले सूक्त ७. २८. २१ में **शतयातु** और **वसिष्ठ** के साथ पराशर का भी नाम आया है। निरुक्त ६. ३० के अनुसार वे **वसिष्ठ** के पुत्र थे; किंतु आर्ष-काव्य-परंपरा में उन्हें **शक्ति** का पुत्र और **वसिष्ठ** का पौत्र कहा गया है। गेल्डनर का विचार है कि पितृव्य **सतयातु** और पितामह **वसिष्ठ** के साथ ऋग्वेद में इनका उल्लेख है; इन तीनों ने एक साथ **इन्द्र** के पास पहुँचकर **सुदास्** को विजयी बनाने की प्रार्थना की थी।[5] अनुक्रमणी में उन्हें ऋग्वेद के १. ६५-७३ सूक्तों का रचयिता संभवतः गलती से कहा गया है।

परि-क्षित्—अथर्ववेद ३०. १२७. ७–१० में एक **कुरु-राजा** का नाम परिक्षित् है, जिनके शासन-काल में पर्याप्त समृद्धि और शान्ति थी। जिन छन्दों में उनका वर्णन है उन्हें **पारिक्षित्यः** कहा गया है; और ब्राह्मणों में **अग्नि** को परिक्षित् कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्यों के भीतर निवास करता है : ऐब्रा०, ६. ३२. १०; कौब्रा०, ३०. ५; गोब्रा०, २. ६. १२; शांश्रौसू०, १२. १७; इसीलिए राथ[1] और ब्लूमफील्ड[2] ने परिक्षित् को अथर्ववेद में राजा कतई नहीं माना है। यह ठीक हो सकता है; किंतु इसे निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।[3] त्सिमर[4] और ओल्डेनबर्ग[5] दोनों ने इन्हें असली राजा माना है; क्योंकि परवर्ती वैदिक साहित्य में राजा **जनमेजय** का पैतृक नाम **पारिक्षित** है। यदि यह ठीक है तो वे परवर्ती काल के रहे होंगे; क्योंकि अथर्ववेद का उक्त स्थल बाद का है; और अन्य किसी भी संहिता में उनका नाम नहीं आता। आर्ष-काव्य में उन्हें **प्रतिश्रवस्** का पितामह और **प्रतीप** का प्रपितामह कहा गया है; अतः त्सिमर ने इन दोनों की तुलना एक अन्य अथर्ववेदीय स्थल पर उल्लिखित **प्राति-सुत्वन्** और **प्रतीप** से की है; द्र०—अवे०, २०. १२९। किंतु **देवापि** और **शंतनु** को **प्रतीप** से संबद्ध नहीं कहा जा सकता; देवापि निश्चय ही एक ब्राह्मण हैं और **ऋष्टिषेण** के पुत्र हैं, और स्पष्टतः **शंतनु** से संबद्ध नहीं हैं। यास्क ने निरुक्त २. १० में दोनों को कुरु-वंशीय भाई-भाई माना है; किंतु यह मत चिन्त्य है। तु० 'अग्निर्हीमाः प्रजाः परिक्षेत्यग्नि हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति' ऐब्रा० ६. ३२; 'अग्निर्वै परिक्षित्' ऐब्रा० ६. ३२; 'संवत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीदं सर्वं परिक्षियतीति' गोउ० ६. १२।

परि-घ—छाउ० २. २४. ६, १०, १५ में एवं परवर्ती साहित्य में लोहे के घन को परि-घ कहा गया है।

परि-चक्रा—शब्रा०, १३. ५. ४. ७ में एक **पञ्चाल** नगर का नाम परिचक्रा है; वेबर[6] ने इसे **एकचक्रा** से अभिन्न

[1] ग्रासमान, ट्रां० ऋ०, १. २३; और तु०—बोटरबूख, वही शब्द; तु० मैकडानल, वैमा०, १५२।
[2] वोबू०।
[3] आ०ले०, १८५; ३३४, ३३५।
[4] ऋग्वेद-नोटन, १. २००।
[5] द्र०—वैस्टू०, २. १३२। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ११०, १११; वेबर, इस्टू०, ९. ३२४; काठक अनुक्रमणी, इस्टू०, ३. ४६० में पराशर एक शाखा का नाम है।

[1] वोबू०।
[2] हिम्स आ० दि अवे०, ६९०, ६९१; किंतु द्र०—अवे०, १०१ टि० ९।
[3] तु०—शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफेन देस वेद, १५६, १५७; वैतान-सूत्र ३४. ९; वेद में वर्णविन्यास। 'परिक्षित्' है 'परीक्षित्' नहीं।
[4] आ०ले०, १३१।
[5] त्साडामौगे०, ४२. २३७ बुद्ध, ३९६।
[6] आ०ले०, १३१। [7] इस्टू०, १. १९२।

माना है, जो काम्पील के पास था: महाभारत, १. ६०९४। एक भिन्न पाठ परिवक्रा भी मिलता है।[1]

परि-चर—शब्रा०, ४. ३. ५. ९ में सेवक के अर्थ में परिचर शब्द आया है; तु०—परिचरितृ, छाउ० ७. ८। कौब्रा० ६. ११ में 'परिचरण' का भी यही भाव है, जहाँ आलंकारिक भाषा में सामवेद और यजुर्वेद को ऋग्वेद का सहकारी बताया गया है।[2]

परि-चरा—'यजमानः परिचरा' तांब्रा०, ३. १. ३।

परि-चर्मण्य—कौब्रा० ६. १२ और शांआ० २. १ में चामकी बेड़ को परिचर्मण्य कहा गया है।

परि-तक्म्या—वोबृ० के अनुसार ऋग्वेद के कई स्थलों पर परितक्म्या शब्द रात्रि के अर्थ में आया है: ऋ० १. ११६. १५; ४. ४१. ६; ४. ४३. ३; ५. ३०. १३; ५. ३१. ११; ६. २४. ९; ८. ६९. ४। ज़ीग[3] के अनुसार ऋ० १. ११६. १५ में यह शब्द घुड़दौड़ या दौड़ के अर्थ में आया है; और इसका भाव कुछ-कुछ प्रपित्व के समान है; किंतु यह संदिग्ध है।[4]

परि-दा—शब्रा० २. ४. १. ११; ९. २. १. १७; ९. ४. २. १७; ९. ४. ४. ५; ९. ५. १. ५३ में परिदा शब्द का अर्थ है: 'अपने आप को किसी दूसरे की दया एवं संरक्षण में दे देने वाला'।

परि-धान—अवे० ८. २. १६ और बृउ० ६. १. १० में किसी पहनावे, विशेषतः निचले पहनावे का नाम परिधान है। शांआ० ११. ४ में पीत रेशमी वस्त्र का उल्लेख है।

परि-धानीया—'दिशः परिधानीया' जैउब्रा०, ३. ४. २; 'श्रोत्रं परिधानीया' जैउब्रा० ३. ४. ३; 'प्रतिष्ठा परिधानीया' कौब्रा० १५. ३।

परि-पद्—ऋग्वेद १०. २८. १० मे शेरों को पकड़ने वाले गड्ढे को परिपद् कहा गया प्रतीत होता है। ऋ० ८. २४. २४ में आलंकारिक प्रयोग है।

परि-पन्थिन्—मार्गावरोध करने वाला। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में डाकू का बोधक है: ऋ० १. ४२. ३; १. १०३. ६; १०. ८५. ३२; अवे०, १. २७. १; ३. १५. १; १२. १. ३२; वासं०, ४. ३४ इत्यादि। तु०—तस्कर, तायु, स्तेन।

[1] इसे भाष्यकार और एग्लिंग, सेबुई०, ४४. ३०७ ने ग्रहण किया है।

[2] द्र०—मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४५७।

[3] वी० जा०, १२८।

[4] तु०—गेल्डनर, वैस्तू०, १. ३६; ऋ० ग्लासर, १०६।

परि-पवन—निरुक्त ४. ९. १० में अन्न पछोड़ने के छाज आदि को परिपवन कहा गया है।

परि-प्लव—शब्रा० १३. ४. ३. २. १५ में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अवकाश के समय दुहराई जाने वाली कथाओं को परिप्लव कहा गया है। तु०—'देवचक्रं वा एतत् परिप्लवम्' कौब्रा० २०. १।

परि-भू—व्यापक या सब ओर से घेरने वाला, धारण करने वाला। वैदिक साहित्य में विश्वव्यापक तत्त्व के रूप में अग्नि या ब्रह्म को परिभू कहा गया है। अग्नि: ऋ० ५. १३. ६; १०. १२. २; १. १. ४; ३. ३. १०; १. ५२. १२; १. ९७. ६; २. २४. ११; १. १६४. ३६; १०. ९१. ८; अवे०, ३. २१. ४; ४. २५. १; १३. २. १०; तैब्रा०, १. १. ७. ३; तैसं०, ३. २. ३. १; ४. ४. ८. १; ब्रह्मन्: ईउ०, ८ "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"।

परि-मित्—घर बनाने के प्रसङ्ग में अवे०, ९. ३. २ में परिमित् शब्द संभवतः खम्भों पर रखी बल्लियों का बोधक है। तु०—गृह। द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, ५९६, त्सिमर, आ० ले०, १५८; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५२५।

परि-मोष—तैसं० २. ५. ५. १; ६. १. ११. ५ में परिमोष शब्द चोरी का वाचक है; शब्रा० ११. ६. ३. ११; १३. २. ४. २ में चोर को परिमोषिन् कहा गया है।

परि-मोषिन्—द्र०—परिमोष।

परि-रथ्य—अवे० ७. ८. २२ में परिरथ्य[1] शब्द एक बार आया है; ब्लूमफील्ड ने नीलकण्ठ (महाभारत ८ १४८७) के आधार पर इसका अर्थ सड़क किया है; किंतु रथ के एक भाग विशेष के अर्थ में भी यह शब्द माना गया है; ह्विटनी[2] और लुड्विग[3] ने इसे पहिए की पुट्ठी माना है।

परि-वक्रा—शब्रा०, १३. ५. ४. ७ में परिचक्रा के स्थान पर भाष्यकार ने परिवक्रा पाठ पढ़ा है; किंतु परिचक्रा का समर्थन आर्ष-काव्य के एकचक्रा शब्द से भी होता है। द्र०—परिचक्रा।

परि-वत्सर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में "पूर्ण-वर्ष" को परिवत्सर कहा गया है: ऋ० १०. ६२. २; तैब्रा०, १. ५. ५. ६; महाभारत, १. ३२०२ इत्यादि; इसी प्रकार परिवत्सरीण: ऋ० ७. १०३. ८; अवे०, ३ १०.

[1] हिम्स आ० दि अवे०, ५८७।

[2] ट्रां० अवे०, ५०६।

[3] ट्रां० ऋ० ३. ५२८।

३। बाद में यह वर्ष के अन्य पर्यायों के साथ आया है; पाँच वर्षों के चक्र में इसका द्वितीय स्थान है। द्र०—संवत्सर। तु०—'सूर्यः परिवत्सरः' तांब्रा०, १७. १३. १७; 'आदित्यः परिवत्सरः' तैब्रा० १. ४. १०. १; 'परिवत्सरो बलिवर्दः' तैब्रा० ३. ८. २०. ५।

परि-वाप—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में धान की खील को परिवाप कहा गया है: तैसं०, ३. १. १०. १; ६. ५. ११. ४; ७. २. १०. ४; कासं०, ३४. ११; वासं०, १९. २१; ऐब्रा०, २. २४; तैब्रा०, १. ५. ११. २ इत्यादि।

परि-वित्त—परिवित्त उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके छोटे भाई का उससे पहले विवाह हो जाय। याजुष संहिताओं में पापी व्यक्तियों की सूची (कासं०, ३१. ७; कपिसं०, ४७ ७; मैसं०, ४. १. ९; तैब्रा०, ३. २. ८. ११; वासं०, ३०. ९ में और अथर्ववेद ६. ११२. ३) में उसका उल्लेख है; किंतु अथर्ववेद में लुड्विग[1] ने अनावश्यक रूप से **परिवेत्ता** पढ़ कर अर्थ किया है, "भाई से पहले विवाह करने वाला छोटा भाई"। उस छोटे भाई का नाम **परिविविदान** है: कासं०, कपिसं०, मैत्रासं० के उक्त स्थल।

तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५८० एवं आगे; ब्लूमफील्ड, अजफि०, १७. ४३० एवं आगे; हिम्स आ० दि अवे०, ५२२ एवं आगे; त्सिमर, आ० ले०, ३१५। ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३६२।

परि-विविदान—वासं० ३०. ९ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में परिविविदान का उल्लेख मिलता है। महीधर-भाष्य के अनुसार इसका अर्थ है अग्रज से पूर्व विवाह करके वाला अनुज। तु०—कौसू०, ४६।

परि-वृक्ता, वरि-वृक्ती, परि-वित्ती—ये सभी शब्द राजा की चार प्रमुख रानियों में से एक को बताते हैं, जो परित्यक्ता-सी होती थी। द्र०—**पति**। तु० 'या वा अपुत्रा पत्नी सा परिवृत्ती (परिवृक्ती)' शब्रा० ५. ३. १. १३।

परि-वेष्टृ—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में परिचर को—विशेषतः भोजन पकाने वाले को—परिवेष्टा कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग में परिवेष्ट्री आता है: अवे०, ९. ६. ५१; तैसं० ६. ३. १. ३; मैसं०, १. २. १६; वासं०, ६. १३; ३०, १२, १३; तैब्रा०, ३. ४. ८. १; ऐब्रा०, ८. २१; शब्रा०, १३. ५. ४. ६; ३. ८. २. ३; ६. २. १३. ३ इत्यादि; परिवेष्ट्री: शब्रा०, ११. २. ७. ४; कौउ०, २. १; कीथ, शांआ०, २१ टि० २।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. ४७०।

परि-व्राजक—घूमने वाला। निरुक्त १. १४; २. ८ में भिक्षोपजीवी साधु को परिव्राजक कहा गया है।

परि-श्रित्—'परिश्रित एव श्रीस्तद्धि रात्रीणां रूपम्' शब्रा० १०. २. ६. १७; 'अस्थीन्येव श्रीस्तद्धि परिश्रितां रूपम्' शब्रा० १०. २. ६. १८; 'अस्थीनि वै परिश्रितः' शब्रा० ७. १. १. १५; 'लोमानि वै परिश्रितः' शब्रा० ९. १. १. १०; 'आपः परिश्रितः' शब्रा० ७. १. १. १३।

परि-षद्—चारों ओर बैठना। उपनिषदों में दार्शनिक विचारों के लिए होने वाली गोष्ठी को परिषद् कहा गया है: बृ०उ०, ६. १. १ माध्यंदिन=६. २. १ काण्व; दैवी परिषद्। जैब्रा०, २. ११. १३, १४; और गोगृसू० ३. २. ४० में आचार्य और उसकी परिषद् का उल्लेख है। परवर्ती साहित्य में यह शब्द धार्मिक विचारों की गोष्ठी, न्यायाधीश के सहायकों की गोष्ठी एवं राजा के मन्त्रियों के संमेलन को जताता है;[1] किंतु इनमें से किसी भी अर्थ में यह शब्द प्राचीन साहित्य में नहीं आता, यद्यपि ये संस्थाएं उस समय भी कम से कम आरंभिक अवस्था में अवश्य रही होंगी।

परि-षद्वन्—ऋग्वेद १०. ६१. १३ में 'परिषद्वानः' पद आया है; सायण ने परितः वर्तमान परिचारकों के अर्थ में इसे लिया है।

परि-ष्कन्द—सब ओर फुदकने वाला। अथर्ववेद के व्रात्य-सूक्त १४. २ में यह शब्द द्विवचन में उन दो व्यक्तियों को जताता है, जो रथ के साथ पैदल दौड़ते थे।

परिष्टुब्वेड—साम-विशेष। '(देवाः) अन्तरिक्षं परिष्टुब्वेडेन (अभ्यजयन्)' तांब्रा० १०. १२. ४।

परि-ष्यन्द—जिसके चारों ओर जल बहता हो। शब्रा०, ९. २. १. १९; १४. ३. १. १४ में परिष्यन्द शब्द नदी के बीच के बालू-द्वीप को जताता है।

परिष्वञ्जल्य—अवे० ९. ३. ५ में गृह-निर्माण के प्रसंग में परिष्वञ्जल्य शब्द बन्धन के अर्थ में आया है।

परि-सारक—ऐब्रा० (तस्माद्धाप्येतर्हि परिसारकमित्याचक्षते यदेनं सरस्वती समन्तं परिससार २.१९) की एक कथा के अनुसार एक स्थान या द्वीप का नाम परि-सारक है, जिसके चारों ओर सरस्वती बहती थी।

परि-स्रुत्—अथर्ववेद ३. १२. ७, २०. १२७. ९* में सुरा या सोम से भिन्न किसी मादक पेय का नाम

[1] तु०—जाली, रेख्त उन्द जित्ते, १३६, १३७; फौय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त, १६–१९; ३३–३७; ६६; ब्युहलर, त्सादामौगे०, ४८, ५५, ५६; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १२४।

* तु०—हापकिन्स, जराएसो०, १७. ६८।

परिस्रुत् है : 'नैष सोमो न सुरा यत् परिस्रुत्' शब्रा०, ५. १. २. १४; तु०—५. ५. ४. १०; ११.५.५.१३; 'शिश्ना-देवास्य रसोऽस्रुवत् सा परिस्रुदभवत्' १२.७.१.७; १२. ८.२.१५; १२.९.१.१। (महीधर) वासं०, २.३४. पर भाष्य) के अनुसार यह पुष्पों से निकलता था। त्सिमर[१] का मत है कि यह एक परिवारिक पेय था और इसका समर्थन अथर्ववेद के उपर्युक्त दोनों स्थलों से होता है, जहां इसे पारिवारिक पेय कहा गया है; द्र०—वासं०, १९.१५; २०.५९; २१.२९; मैसं०, ३.११.२। इसका स्पष्ट वर्णन काश्रौसू०, १४.१.१४; १५.१०. ११ में है[२]। हिल्लेब्रांड्ट का मत है कि यह सुरा जैसा ही होता था[३]।

परि-हस्त—अथर्ववेद ६.८१.१ में परिहस्त शब्द पुत्र-प्राप्ति के लिए हाथ में मणि बाँधने वाले पुरुष को जताता है।

परि-ह्वृति—ऋग्वेद ६.८२.७; ९.७९.२ में परिह्वृति शब्द को भाष्यकारों ने परिबाधा के अर्थ में लिया है।

१. **परी-णह्**—अथर्ववेद १९.४८.१ में सन्दूक या इसी प्रकार के किसी पदार्थ का नाम परीणह् है।

२. **परीणह्**—कुरुक्षेत्र के आसपास एक स्थान का नाम परीणह् है, जिसका उल्लेख पंविब्रा० २५.१३.१, तैआ० ५.१.१; लाश्रौसू०, १०.१९.१; काश्रौसू०, २४.६.२४; शांश्रौसू०, १३.२९.३२ में आया है।

परी-शास—अग्नि पर याज्ञिक पात्र बिठाने के काम में आने वाले संडासी जैसे किसी उपकरण को परीशास कहते हैं : शब्रा०, १४.१.३.१; १४.२.२.५४; १४. ३.१. इत्यादि। तु०—'इमे वै द्यावापृथिव्यौ परीशासौ' शब्रा० १४.२.१.१६।

परुच्छेप—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद २.१२७–१३९ के ऋषि परुच्छेप हैं; इनके मन्त्र-दर्शन का उल्लेख ऐब्रा० ५.१२, १३, कौब्रा० २३.४.५, और निरुक्त १०. ४२ में आया है। तैसं० २.५.८.३ में इनका **नृमेधस्** के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वर्णन है। तु०—लुड०, ट्रां० ऋ० ३. ११६; इनका मन्त्र-कर्तृत्व संदिग्ध है।

तु० 'असुरीन्द्रं प्रत्यक्रमत पर्वन् पर्वन् मुष्कान् कृत्वा तामिन्द्रः प्रतिजिगीषन् पर्वन् पर्वन् छेपांस्यकुरुत' कौब्रा० २३. ४; 'इन्द्र उ वै परुच्छेपः' कौब्रा० २३.४।

१ आ० ले०, २८१.२८२।

२ वेबर, इस्टू०, १०.३४९, ३५०।

३ वैमि०, १.२४.८।

परुष—अथर्ववेद ८.८.४ में परुष सरकण्डे के अर्थ में तथा शांश्रौसू०, १४.२२.२० में बाण के अर्थ में आया है।

परुष्णी—परुष्णी एक नदी का नाम है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०.७५.५ नदी-सूक्त में एवं **सुदास्** की विजय के निर्देशक ७.१८.८, ९ सूक्तों में आया है, जहाँ **सुदास्** के शत्रुओं के डूब मरने का उल्लेख है।[१]

इन स्थलों पर एवं ऋग्वेद ८.७४.१५ में यह आधुनिक रावी नदी का ही प्राचीन नाम है, जैसा कि यास्क ने निरुक्त ९.२६ में माना है। पिशल[२] के अनुसार ऋग्वेद ४.२२.२; ५.५२.९ में भी रावी ही अभिप्रेत है, जहाँ ऊर्णा को परुष्णी से संबद्ध कहा गया है और मैक्समूलर[३] ने इसे नदी के रूप में स्वीकार किया है; ओल्डेनबर्ग[४] ने भी ऐसा ही माना है; किंतु दोनों इसके ठीक अर्थ के संबन्ध में सहमत नहीं हैं। पिशल का मत है कि यह शब्द ऊर्णा के समूह=(परुस्) से व्युत्पन्न है, न कि यास्क, निरुक्त, ९.२६ के अनुसार नदी के मोड़ों के कारण और न राथ[५] के अनुसार वेतस् के प्राचुर्य के कारण ही यह नाम पड़ा है।

सुदास् की विजय का वर्णन करने वाले ७.१८ सूक्त में **यमुना** के साथ परुष्णी का नाम आने से हापकिन्स[६] ने अनुमान लगाया है कि **यमुना** वहाँ परुष्णी का ही दूसरा नाम है, जब कि गेल्डनर[७] का कहना है कि परुष्णी वहाँ **यमुना** की ही कोई सहायक नदी है। किंतु इनमें से कोई भी व्याख्या आवश्यक नहीं है। सूक्त एक संक्षिप्त विवरण है, और हम यहाँ **सुदास्** की दो विजयों को अभिप्रेत मान सकते हैं। अथर्ववेद ६.१२.३ में परुष्णी की व्याख्या संदिग्ध है।[८]

१ द्र०—त्सिमर, आ०ले०, ११; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५४; गेल्डनर, ऋ० कोमेंटर, १०३; हापकिन्स, इंडिया ओल्ड ऐंड न्यू, ५२ एवं आगे; जअओसो०, १५.२६१ एवं अग्रिम।

२ वैस्टू०, २.२०८–२१०।

३ सेबुई०, ३२.३१५.३२३।

४ ऋ० नोटन, १.३४८।

५ वोबु०।

६ इंडिया ओल्ड ऐंड न्यू, ५२।

७ ऋ० ग्लासर, १०६।

८ द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ४६२; ह्विटनी, ट्रां० आ० दि अवे०, २८९।

परुस्—आरम्भ में शरीर के अङ्ग का द्योतक परुस् शब्द आलंकारिक रूप से यज्ञ अथवा वर्ण के विभाग को जताता है : ऋ० १. १६२. १८; १०. ९७. १२; १०. १००. ५; अवे०, १. १२. ३; ऋ० १०. ५३. १; तैब्रा०, १. ६. ९. १; तैसं०, २. ५. ६. १ । तु०—पर्वन् ।

पर्जन्य—मेघ, वर्षा । पर्जन्य की भी ऋग्वेद में एक देवता के रूप में पूजा आई है । ऋग्वेद ५. ८३ में पर्जन्य का बहुत ही सजीव चित्रण किया गया है । कहा गया है कि जीरदानु वृष की न्याईं कनिक्रदन करते हुए वह ओषधियों को गर्भवती बनाता है : ऋ० ५. ८३. १ । जब यह स्तनन करता हुआ पापियों के नाश के लिए अपने महावध का प्रयोग करता है तब अनागा व्यक्ति भी कांप उठते हैं : ५ ८३. २ । जब पर्जन्य पृथ्वी में अपना रेतस् प्रविष्ट करता है, तब वायु निकलता है, बिजलियाँ कौंधती हैं, ओषधियाँ फूट पड़ती हैं और स्वर्लोक प्रपूरित हो जाता है : ऋ० ५. ८३. ४; जिसके व्रत में पृथिवी नम जाती है, पशु चलते-फिरते हैं, नाना प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वह पर्जन्य हमें सुख प्रदान करे : ऋ० ५. ८३. ५ । विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा० पृ० ८३—८५ । द्र०—ऋ० ५. ५३. ६; १. १६४. ५१; १. ३८. ९, १४; अवे०, १०. १०. ७; वासं०, १८. ५५; तैसं०, २. ७. १६. ४ इत्यादि । तु०—'पर्जन्यो वा उद्गाता' शब्रा० १२. १. १. ३; 'पर्जन्यः सदस्यः' गो० पू० १. १३; 'तान् (देवान्) आदित्यः पर्जन्यः पुरोबलाको भूत्वाऽभिप्रेत् तान् वृष्ट्याशन्या विद्युताहन्' षब्रा०, १. २; 'पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति' षब्रा० ६. १. ३. १५; 'पर्जन्यो वा अग्निः' शब्रा० १४. ९. १. १३ ।

१. **पर्ण**—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पर्ण शब्द पक्षी के पर का वाचक है : ऋ० १. ११६. १५; १. १८२. ७; १. १८३. १; ४. २७. ४ इत्यादि; अवे०, १०. १. २९; शब्रा०, १. ६. ३. ५ इत्यादि । बाण के पंखों के लिये भी यह शब्द ऋग्वेद-काल से ही आता रहा है : ऋ० १०. १८. १४; तु०—लानमान, संस्कृत-रीडर, ३८६; अवे०, ५. २५. १; कासं०, २५. १; ऐब्रा० १. २५; ३. २६ इत्यादि । वृक्ष के पत्ते के अर्थ में भी यह उतना ही प्राचीन है : ऋ० १०. ६८. १०; अवे०, ८. ७. १२; तैसं०, २. ५. १. ७; वासं०, १६. ४६ इत्यादि ।

२. **पर्ण**—पर्ण एक वृक्ष है, जिसे बाद में पलाश कहा गया है । ऋग्वेद १०. ९७. ५ में अश्वत्थ के साथ तथा अथर्ववेद ५. ५. ५ में अश्वत्थ तथा न्यग्रोध के साथ यह आया है । इसकी लकड़ी से बने मणि और याज्ञिक पात्र का उल्लेख आया है : अवे०, ३. ५. ४, ८; १८. ४. ५३ । इससे अन्य याज्ञिक पात्रों के बनाने का भी उल्लेख मिलता है : – जैसे जुहू : तैसं०, ३. ५. ७. २; तु०—मैसं०, ४. १. १; यूप : पंविब्रा०, २१. ४. १३; स्रुवा : कासं०, १५. २; तैत्तिरीय संहिता के उक्त स्थल में आया है कि सोम प्राप्त करने के समय गायत्री के गिरे हुए एक पर से इसकी उत्पत्ति हुई है[1] । अन्यत्र भी इस वृक्ष का उल्लेख है : शब्रा०, ३. ३. ४. १०; ६. ५. १. १; ११. १. ४. २; ११. १. ७. २८; पंविब्रा०, ९. ५. ४ । कभी-कभी इसके वल्कल = पर्ण-वल्क का भी उल्लेख आता है : तैसं०, २. ५. ३. ५ । तु० 'तस्य (सोमस्य) पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत् तत् पर्णस्य पर्णत्वम्' तैब्रा० १. १. ३. १०; ३. २. १. १; 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमच्छिद्यत । तत् पर्णोऽभवत् । तत् पर्णस्य पर्णत्वम्' तैब्रा० १. १. ३. १०; 'यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् तस्मात् पर्णो नाम' शब्रा० १. ७. १. १; 'गायत्रो वै पर्णः' तैब्रा० ३. २. १. १; 'सोमो वै पर्णः' शब्रा० ६. ५. १. १; 'ब्रह्म वै पर्णः' तैब्रा० १. ७. १. ९ ।

पर्णक—याजुष संहिताओं में पुरुषमेध की बलियों की सूची में एक व्यक्ति का नाम पर्णक प्रतीत होता है : वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १२. १ । महीधर, वासं०, ३०. १६ के अनुसार वह कोई भिल्ल या भील है; अन्यत्र वासं०, १६. २७ पर भाष्यकार ने इसका अर्थ किया है 'पर्ण को विषाक्त कर जल में रखने वाला और इस प्रकार मछली पकड़ने वाला'; किंतु यह अनुमान-मात्र है । वेबर ने इसका अर्थ किया है 'पंख धारण करने वाला जंगली'; यह अर्थ बुद्धिमत्तापूर्ण होने पर भी संदिग्ध है । तु०—त्सिमर आ०ले०, ११९ ।

पर्ण-मणि—अथर्ववेद ३. ५. १ में पलाशवृक्ष से बनाए कवच या मणि को पर्ण-मणि कहा गया है ।

पर्ण-धि—पर्णधि शब्द अथर्ववेद ४. ६. ५ में बाण के उस भाग का वाचक है जहाँ पर लगाये जाते हैं । द्र०—त्सिमर, आ०ले०, ३००; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ० वे०, ३७५; ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, १५४ ।

[1] विवरण : कुह्न, दी हेराबकुम्फ्त देस फ़ायर्स उन्द देस गोत्तरत्राङ्क्स १४८, १९२; ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १६, २०, २४; हिम्स आ० दि अ०वे०, ३३१, ३३२; ह्विटनी, ट्रां० आ० दि अ०वे०, ९१ । त्सिमर, आ०ले०, ५९; वेबर, इस्टू०, १७, १९४, १९५ ।

[2] द्र०—त्सादामौगें०, १८. २८१ ।

पर्णय—ऋग्वेद १. ५३. ८; १०. ४८. २ में पर्णय शब्द लुड्विग[1] के अनुसार किसी वीर पुरुष का अथवा दैत्य का नाम है,[2] जिसे इन्द्र ने जीता था।

पर्ण-शद—यजुर्वेद के शतरुद्रिय मन्त्रों में पर्णशद-रूपी रुद्र को नमस्कार किया गया है। भाष्यकारों के अनुसार यहाँ पर्णस्थ देव या शीर्ण-पर्णयुक्त प्रदेश के देव के रूप में रुद्र की आराधना की गई है। रुद्र के इन नानारूपों की व्याख्या से ज्ञात होता है कि तब सर्वव्यापक सत्ता में वैदिक आर्यों का विश्वास विकसित हो चुका था। तु०—वासं०, १६. ४६; तैसं०, ५. ९. १; तु० अवे०, २०. १३५. २।

पर्यङ्क—कौउ० १. ५ में ब्रह्मन् के पीढे को पर्यङ्क कहा गया है; संभवतः इसी को अन्यत्र आसन्दी नाम से पुकारा गया है : अवे०, १५. ३. ३; तु०—१४. २. ६५; ऐब्रा०, ८. ५. ६. १२। उपनिषद् में उद्दिष्ट पर्यङ्क सोने के लिए नहीं, अपितु बैठने के लिये आसन जान पड़ता है। तु०—वेबर, इस्टू०, १. ३९७, ४०१; त्सिमर, आ०ले०, १५५; लानमान, ह्विटनी के ट्रां० अ०वे०, ७६५, ७७६ में।

पर्याय—'यत् पर्यायैः पर्यायमनुदन्त तत् पर्यायाणां पर्यायत्वम्' ऐब्रा०, ४. ५; गोउ०, ५. १; तां.ब्रा०, ९. १. ३।

पर्यास—शब्रा०, ३. १. २. १८ में बुनने के बाने को पर्यास कहा गया है; वहीं अनुछाद या ताने का भी उल्लेख है। तु० 'प्रतिष्ठा वै पर्यासाः' कौब्रा० २५. १५।

१-पर्वत—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में पर्वत शब्द पहाड़ी या पहाड़ के अर्थ में आया है : ऋ० १. ३७. ७; ५. ५६. ४; अवे०, ४. ६. ८; ६. १२. ३; ६. १७. ३; ९. १. १८; २२. १. ११। ऋग्वेद-काल से ही नदियों के पर्वतों से निकल कर या पहाड़ों में से बहने का उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ३९. ५; १. ५२. २; १. १५५. १; १. १९१. ९; २. १२. २, ३; २. १७. ३ इत्यादि; अवे०, १. १४. १, ३. २१. १०; ४. ९. ८; ८. ७. १७; तैसं०, ३. ४. ५. १; वासं०, १७. १; १८. १३ इत्यादि; जलों के संबन्ध में उल्लेख : ऋ० २. ३४. २३; २. ३५. ८; ८. १८. १६; ८. ३१. १०; १०. ३५. २; १०. ३६. १ इत्यादि।[3] पर्वतों के पंख होने का उल्लेख संहिताओं में भी मिलता है : कासं०, ३६. ९; मैसं०, १. १०. १३; ऋ० ४. ५४. ५।[4] कौउ० २. १३ में उत्तरी और दक्षिणी पर्वतों का उल्लेख है, जो निश्चित रूप से हिमालय और विन्ध्य की पर्वत-मालाओं के बोधक हैं।[1] अवे० १९. ४४. ६ में पर्वत में खनिज धातुओं की सूचना है।

[1] ट्रां०ऋ०, ३. १४९।

[2] वोबू०।

[3] पिशल, वैस्टू०, १. ८०; २. ६६।

[4] पिशल, वैस्टू०, १. १७४।

२-पर्वत—ऋग्वेद ७. ८७. ८ में लुडविग[2] के अनुसार एक यज्ञ-कर्ता का यह नाम है, जिसकी उदारता की प्रशंसा की गई है। किंतु यह संभव है कि यहाँ पर्वत की अधिष्ठात्री देवी की प्रशंसा हो।[3]

३. पर्वत—ऐब्रा० ७. १३. ३४; ८. २१; आश्रौसू०, १५. १७. ४ में नारद के साथ कई बार पर्वत का उल्लेख मिलता है। अनुक्रमणी में उन्हें ऋग्वेद ८. १२; ९. १०४; ९. १०५ का ऋषि कहा गया है।

पर्वन्—बाँस या पौधों की पोरियों का वाचक है : अवे०, १२. ३. ३१; तैसं०, १. १. २. १; शब्रा०, ६. ३. १. ३१ और तु० ऋ०, १०. ६८. ९। सामान्य अर्थ है शरीर के अङ्ग : ऋ० १. ६१. १२; ४. १९. ९; ८. ४८. ५; १०. ८९. ८; अवे०, १. ११. १; १; १. १२. २; २. ९. १; ६. १४. १; ११. ८. १२; १२. ५. ७१; ऐब्रा०, ३. ३१; शब्रा०, १. ६. ३, २५ एवं अग्रिम ३. ४. ४. २; ६. १. २. ३१; १०. ४. ५. २; इत्यादि। यह समय-विशेष को भी जताता है; संभवतः दर्श-पूर्णमास के समय महीनों के विभाग को : ऋ० १. ९४. ४; वासं०, १३. ४३; शब्रा०, १. ६. ३. ३५; ६. २. २. ३४ इत्यादि; तु०—**मास**। सूत्रों में चातुर्मास्य के उत्सव-दिनों को भी पर्व कहा गया है : काश्रौसू०, ५. २. १३; २२. ७. १, १६, १७; २४. ४. ३०; शांश्रौसू०, १४. ५. ६; १४. १०. ४, १८; आश्रौसू० ९. २. ३; और कभी-कभी चन्द्रमा के परिवर्तन के समय को भी पर्वन् कहा गया है : काश्रौसू०, २४. ६. ४, २५, ३०; शांश्रौसू०, ३. २. १; ३. ३. १; लाश्रौसू०, ८. ८. ४६. इत्यादि। ऋ० ७. १०३. ५ में गेल्डनर[4] के अनुसार यह किसी सामवेदीय गान के टुकड़े का वाचक है।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३६४; इनके द्वारा उद्धृत टैसीटस, जर्मानिया, ११।

पर्शान—कोटर, खोखल। ऋग्वेद में कई बार इसका उल्लेख है : ७. १०४. ५; ८. ७. ३४; ८. ४५. ४१।

१. पर्शु—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में पर्शु शब्द पसली का वाचक है : अ० ९. ७. ६; १०. ९.

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, १. ४०७; कीथ, शांआ०, २८ टि० १।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १५९।

[3] वोबू०।

[4] ऋ० ग्लासर, १०७।

२०; ११. ३. १२; तैसं०, ७. ५. २५. १; कासं०, ३१. १; शब्रा०, १०. ६. ४. १; १२. ३. १. ६; षविंब्रा०, १. ३। तु०—तस्मादिमा उभयत्र पर्शवो बद्धाः कीकसासु च जत्रुषु च' शब्रा० ८. ६. २. १०; 'पर्शव उ ह वै वङ्क्रयः' कौब्रा० १०. ४; 'पर्शवो बृहत्यः' शब्रा० ८. ६. २. १०। तु०—शरीर।

२. पर्शु—कहीं-कहीं पर्शु शब्द हंसिया या दांती का वाचक है : अवे०, १२. ३. ३१; कौसू० १. २४, २५; ८. ११; ६१, ३८, ३९; संभवतः अवे०, ७ २८. १=तैसं०, ३. २. ४. १; तु० ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ४०७, ४०८। बृउ०, ६. ४. २६ जहाँ छन्द की शुद्धि के लिए "पर्शु" होना चाहिए। तु०—बोहटलिङ्ग्क, डिक्शनरी।

३. पर्शु—निरुक्त ४. ६. के अनुसार ऋग्वेद १. १०५. ८; १०. ३३. २ में कूप के पार्श्वों को पर्शु कहा गया है; किंतु "अस्थि" अर्थ उपयुक्त हो सकता है। द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋ० नो०, १. १००; गेल्डनर, ऋ० ग्लासर, १०७।

४. पर्शु—ऋग्वेद की एक दान-स्तुति ८. ६. ४६ में एक व्यक्ति का नाम पर्शु है। यह निश्चित नहीं कि वे तिरिन्दर हैं या उनसे भिन्न; किंतु शांश्रौसू० १६. ११. २० में तिरिन्दर पारशव्य को वत्स काण्व का आश्रयदाता बताया गया है। वृषाकपि-सूक्त १०. ८६. २३ में पर्शु मानवी का उल्लेख है, जो स्पष्टतः मनु की लड़की है; किंतु वह कौन है यह नहीं कहा जा सकता[1]। इन दो स्थलों के अतिरिक्त और कहीं भी ऋग्वेद में यह शब्द व्यक्ति-वाचक नहीं है।

फिर भी कुछ स्थलों पर लुड्विग[2] ने पर्शुओं को उद्दिष्ट माना है। ऋग्वेद १०. ३३. २ में उन्होंने पर्शुओं द्वारा कुरु-श्रवण की हार का वर्णन माना है।[3] दूसरे स्थल पर उन्होंने पृथुओं और पर्शुओं से पार्थियनों और पारनियों का उल्लेख माना है।[4] ऋ० ६. २७. ८ में आने वाले पार्थव को भी उन्होंने पार्थियन माना है। यही मत वेबर का भी है, जिन्होंने पारसियों से ऐतिहासिक संबन्ध माना है।[1] किंतु त्सिमर ने यह दिखाया है कि ऐसा निष्कर्ष न्याय्य नहीं है।[2] पर्शु लोग वीर योद्धा के रूप में पाणिनि को ज्ञात हैं : ५. ३. ११७; पारशव लोगों का मध्यदेश के दक्षिण-पश्चिम में एक जन था, और पेरिप्लस (१००, ३८) को उत्तर भारत के पर्थोइ लोगों का पता है। साररूप से केवल यही कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भारतीय और ईरानी आपस में संबद्ध थे।

पर्ष—बहुवचन में पर्ष शब्द खलिहान में गिराई गई अनाज की पूलियों का वाचक है : ऋ० १०. ४८. ७; निरुक्त, ३. १०; तु०—त्सिमर, आ०ले०, २३८; संभवतः १३. ४. २. ५ में इषु-र्पाणन् शब्द का अर्थ 'बाण के बंडलों वाला' है। तु०—खल।

पलद—अथर्ववेद ९. ३. ५. १७ में घर के प्रसङ्ग में पलद शब्द आता है। यह घर को छाने के फूस का वाचक है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, १५३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, १९४, १९५।

पलस्ति—'पलित', 'दीर्घायुम्'। ऋग्वेद ३. ५३. १६ में पलस्ति शब्द पके बालों वाले दीर्घजीवी जमदग्नि लोगों के लिए आया है। द्र०—पलित।

पलाल—अथर्ववेद ८. ९. २ में पलाल और अनुपलाल दैत्यों के नाम हैं। पलाल शब्द का अर्थ पुआल या पुराली है। कौसू०, ८०. २७ में इसी अर्थ में यह शब्द आता है। अथर्ववेद २. ८. ३ में भी पलाली शब्द जौ के लान के अर्थ में आया है।

पलाव—अथर्ववेद। १२. ३. १९, (पाठान्तर पलावा) और जैउब्रा० १. ५४ १ में पलाव शब्द भूसा का वाचक है।

पलाश—ब्राह्मणों में पलाश पर्ण के समान पत्ते का बोधक है : कौब्रा०, १०. २; शब्रा०, १. ५. ४. ५; ५. २. १. १७ इत्यादि; छाउ०, ४. १४. ३। यह पीपल का भी वोबू० में माना है, या 'बड़ी कुल्हाड़ी वाला' जैसा कि त्सिमर ने आ०ले० में माना है।

---

[1] पाणिनि ४. १. ११७ पर वार्तिक २ में जहाँ पर्शु को पर्शुओं की राजकुमारी के रूप में उद्दिष्ट किया गया है, इसी स्थल की ओर संकेत जान पड़ता है। तु०—गेल्डनर, वैस्तू०, २. ४२; ऋ०, ग्लासर, १०७; तैब्रा०, ३. २. २. २।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १९६ एवं अग्रिम।

[3] किंतु यहां अस्थि अर्थ ठीक है, द्र०—गेल्डनर, उपर्युक्त, २. १८४ टि०—३; बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. ३६२ टि०।

[4] ऋ० ७. ८३. १ 'पृथु-पर्शवः' का अर्थ या तो यह 'बड़ी अस्थिवाला' है या 'दृढ़' जैसा कि राथ ने

[1] द्र०—इस्तू०, ४. ३७९; इं०लिट०, ४; एपिश्शीस, ३६ एवं अग्रिम; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १०५; ब्रुमहोफर, ईरान उण्ड तूरान, १८८९; फान पोण्ट्स बिस त्सुम इन्दस, १८९० इत्यादि; हापकिंस, जअओसो०, १५. २६४ टि०।

[2] आले०, १३४ एवं अग्रिम; ४३३, ४३४, ४३५; इन्होंने लुड्विग के इस मत का खण्डन किया है कि पृथु और पर्शु एक ही शब्द के दो रूप हैं।

पर्याय है, जिसका प्रारम्भिक नाम पर्ण है : ऐब्रा०, २. १; शब्रा०, १. ३. ३. १९। तु०–'मांसेभ्य एवास्य (प्रजापतेः) पलाशः समभवत् तस्मात् स बहुरसलोहितरसः' शब्रा० १३. ४. ४. १०; 'सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत् पलाशः' ऐब्रा० २. १; 'ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशम्' शब्रा०, २. ६. २. ८; ब्रह्म वै पलाशः' शब्रा० १. ३. ३. १९; 'सोमो वै पलाशः' कौब्रा० २. २। तु०–त्सिमर, आ०, ले०, ५९।

पलित—पके बाल वाला। यह शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार आया है : ऋ० १. १४४. ४; १. १६४. १; ३. ५५. ९; १०. ४. ५. इत्यादि; वासं०, ३०. १५ इत्यादि। यह वृद्धावस्था की निशानी है। जमदग्नि के कुछ वंशजों के, जिन्हें जरा-रहित कहा गया है, बालों के न पकने का भी उल्लेख है : तैसं०, ७. १. ९. १; पंविब्रा०, २१. १०. ६[1]। दूसरी ओर वृद्ध **भरद्वाज** को विरल एवं पके बालों वाला कहा गया है : ऐब्रा०, ३. ४९। शब्रा०, ११. ४. १. ६, १४ में कहा गया है कि पहले सिर के बाल सफेद होते हैं; किंतु शब्रा०, ३. ८. २. २५ में बाहों के ऊपर के बाल पहले पकने का उल्लेख है।

२. पलित—अथर्ववेद १. २३. १. २ में **किलास** के साथ पलित शब्द आया है। ह्विटनी[2] के अनुसार **किलास** कुष्ठ के सफेद दाग को और पलित पीलेपन को जताता है।

पल्पूलन—अथर्ववेद १२. ४. ९; कौसू०, ११. १६ और तैसं० २. ५. ५. ६ में वस्त्र साफ करने के लिए रेह मिले जल को पल्पूलन कहा गया है। अथर्ववेद के उक्त स्थल पर तो इसका अर्थ मूत्र भी लग सकता है[3]। तैसं २. ५. ५. ६ और तैब्रा० १. ३. ५. २, ३ में क्रिया "पल्पूलय" आई है, जो रेह वाले जल से साफ करने को द्योतित करती है। सूत्रों में चर्म (कौसू० ६७) और वस्त्र (शांश्रौसू०, ३. ८. १२; तु०–बौघसू०, १. ६. १३. १५२) को इस प्रकार साफ करने का उल्लेख है।

पल्लिगुप्त लौहित्य—लौहित का वंशज। जैब्रा० ३. ४२. १ आचार्यो की वंश-सूची में **श्यामजयन्त लौहित्य** के शिष्य का नाम पल्लिगुप्त लौहित्य है। यह नाम बाद का है, क्योंकि प्राचीन साहित्य में पल्लि शब्द नहीं मिलता; और लौहित्य वंश का भी उल्लेख वेदोत्तरकालीन साहित्य में ही मिलता है।

पवन—पवित्र या शुद्ध करने वाला। अथर्ववेद ४. ३४. २; १८. ३. ११; निरुक्त, ६. ९ में अन्न को पछोड़ने के लिए प्रयुक्त चालनी या छाज का नाम पवन है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र ४. ५. ७ में मृत व्यक्ति की अस्थियों को पवन द्वारा साफ करने का उल्लेख है।

१–पवमान—शुद्ध होता हुआ। ऋग्वेद में बार-बार सोम को पवमान कहा गया है, क्योंकि चलनियों में से छन कर यह शुद्ध हो जाता है।

२-पवमान—कुछ स्थलों पर पवमान शब्द वायु के लिये आया है : तैसं०, ७. ५. २०. १; वासं०, ६. १७ आदि। तु० 'अयं वायुः पवमानः' शब्रा०, २. ५. १. ५; 'तस्मादुत्तरतः पश्चादयं (वायुः) भूयिष्ठं पवते सवितृ-प्रसूतो ह्येष एतत् पवते' ऐब्रा०, १. ७।

३–पवमान—कुछ स्थलों पर अग्नि के लिये भी पवमान शब्द आया है : तैब्रा०, १. १. ५. १०; तैब्रा०, २. २. ४. २; तु० 'यो वा अग्निः स पवमानः तदप्येतद् ऋषिणोक्तमग्निर्ऋषिः पवमान इति' ऐब्रा०, २. ३७; 'प्राणो वै पवमानः' शब्रा०, २. २. १. ६; 'सोमो वै पवमानः' शब्रा०, २. २. ३. २२।

४–पवमान—ज्योतिष्टोम यज्ञ के अवसर पर सामगान करने वालों के स्तोत्र-विशेष को पवमान कहा गया है। सवनों के अनुसार इसके तीन भेद किये गये हैं : **बहिष्पवमान, माध्यंदिन पवमान** और **तृतीय** या **आर्भव पवमान** : ऐब्रा०, ३. १४ पर सायण भाष्य; शब्रा०, १०. १. २. ७; १४. ४. १. ३; ऐब्रा०, २. ३७; ३. १४; ३. १७; ८. १; तैसं०, ३. २. १. १; शब्रा०, १३. २. ३. १ इत्यादि; पवमानोक्थ : ऐब्रा०, ३. १७; ८. १ इत्यादि।

पवस्त—अथर्ववेद ४. ७. ६ में स्पष्टतः आच्छादन या आच्छादन-वस्त्र के लिए पवस्त शब्द आया है।[1] सायण वहाँ कहते हैं : पवनायास्तैः संमार्जनीतृणैः।

पवि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ के पहिये के टायर को पवि कहा गया है : ऋ०, १. ३४. २; १. ८८. २; १. १३९. ३; १. १६६. १० इत्यादि; निरुक्त, ५. ५; सावे०, २. ७. १. ३ इत्यादि। इसे मजबूती से ठोकने की आवश्यकता पर बल दिया गया है : ऋ० ६. ५४. ३। अथर्ववेद ४. १२. ६ में **सुनाभि** और **सुचक्र** के

---

[1] तु०–हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५४; और ऋ० ३. ५३. १६ जहां परस्ति का अर्थ पलित प्रतीत होता है।

[2] ट्रां० अवे०।

[3] द्र०–ह्विटनी, अवे०, ६९५; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ७४, १७५।

[4] बोह्टलिङ्क, डिक्शनरी।

[1] तु०–ह्विटनी, ट्रां० अवे०, १५६।

साथ सुपवि विशेषण भी आया है। ये टायर निश्चय ही धातु के होते थे और आवश्यकता पड़ने पर अस्त्र के रूप में इनका उपयोग किया जा सकता था। अश्विनों और मरुतों के रथ में स्वर्ण की पवि : ऋ० १. ६४. ११; १. १८०. १; तेज होना ऋ० १. १६६. १०; शस्त्र के रूप में प्रयोग : ऋ०, ५. ३२. ९; तु०—६. ८. ५ और १०. १८०. २। वोबू० में वासं०, ४. ३० में इसे सोम पीसने वाले पत्थर में नीचे लगी धातु की रिम के रूप में माना गया है; किंतु यह चिंत्य है, क्योंकि कहीं भी पत्थर में धातु लगाने का उल्लेख नहीं मिलता; तु०—शब्रा०, ३. ९. ४. ५; महीधर ने वासं०, के उक्त स्थल पर पवि का अर्थ वज्र किया है।[1] हिल्लेब्रांड्ट[2] ने इसका अर्थ किया है, 'तेजधार' जो ठीक है, क्योंकि ऋग्वेद में पत्थरों को उनके ढुलकने वाले स्वभाव के कारण बिना अश्वों का, बिना पवियों का, और बिना रथ का कहा गया है : ऋ०, ५. ३१. ५।

निरुक्त १२. ३० ने पवि का अर्थ बाण किया है, किंतु यह निश्चित नहीं है। वोबू० में इस अर्थ के समर्थन में ऋग्वेद के ९. ५०. १; १०. १८०. २ को उद्धृत किया गया है; किंतु एक में गौण अर्थ, इन्द्र के वज्र के प्रसङ्ग में शस्त्र की 'तेज धार' यह अर्थ उपयुक्त है, अन्यत्र जहाँ 'बाणस्य पवि' का उल्लेख है, वहाँ 'बाँस' को पीसने वाले पत्थर माने जा सकते हैं, जब कि 'बाँस' सोम के डंठल का बोधक रहा होगा; तु०—ऋ० ४. २४. ९ 'बाणं दुहन्ति' अर्थात् 'बाण को दुहते हैं' हिल्लेब्रांड्ट[3] का मत है कि वहाँ एक प्रकार का सोम अभिप्रेत है। अथर्ववेद ८. ६. २१ में आनेवाले एक दैत्य के नाम **पवीनस्** से कोई सहायता अर्थ-निर्देशन में नहीं मिलती; क्योंकि वोबू० में 'शूलाग्र के समान नाक वाला' के स्थान पर ह्विटनी[4] ने इस शब्द का 'रिम के समान नाक वाला' यह अर्थ किया है, जो वक्र नाक को सूचित करता है। तु०—त्सिमर, आले०, २४८; गेल्डनर, वैस्टू०, २. १२ टि० १।

पवित्र—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सोम को छानने के लिए प्रयुक्त चालनी का नाम पवित्र आया है : ऋ० १. २८. ९; ३. ३६. ७; ८. ३३. १; ८. १०१. ९ इत्यादि; अवे०, ६. १२४. ३; ९. ६. १६; १२. १. ३०; १२. ३. ३, १४, २५. इत्यादि; सोम छानने का केवल यही साधन ऋग्वेद के समय में ज्ञात था।[5] यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि यह भेंड़ के ऊन से बनती थी; तु०—ये नाम **अण्व**, ऋ० ९. १६. २; **अण्वानि मेष्यः**, ९. ८६. ४७; ९. १०७. ११; **अवयः**, २. ३६. १; ९. ८६. ११; ९. ९१. २; **अव्यत्वच्** और **अव्ययत्वच्**, ९. ६९. ३; ९. ७०. ७; ९. ८. ५; रूप **अव्यय**, ९. १६. ६; **रोमन्**, **अव्यय रोमन्**, **वार**, या **अव्यय वार** इत्यादि; यह बुनी हुई होती थी, या किसी और तरह की यह कहना कठिन है : ऋ० ९. ३. २; ९. ६३. ४। तु०—'पवित्रं वै दर्भाः' शब्रा०, ३. १. ३. १८; 'पवित्रं वा आपः' शब्रा०, १. १. १. १; अग्निर्वाव पवित्रम्' तैब्रा०, ३. ३. ७. १०; 'प्राणापानौ पवित्रे' तैब्रा० ३. ३. ४. ४; 'प्राणोदानौ पवित्रे' शब्रा०, १. ८. १. ४४।

पवीर—निरुक्त १२. ३० के अनुसार पवीर का अर्थ भाला है। ऋ० १. १७४. ४ में पवीरव वज्र का विशेषण है। इससे व्युत्पन्न पवीरव और पवीर-वन्त् शब्द अथर्ववेद और याजुष संहिताओं में पाये जाते हैं, जो फाली लगे हल को जताते हैं : अवे०, ३. १७. ३; वासं०, १२. ७१; तैसं०, १०. २. ५. ६; मैसं०, २. ७. १२; कासं०, १६. ११। ऋग्वेद १०. ६०. ३ में यही शब्द एक व्यक्ति का विशेषण है; अर्थ होगा 'भाले से लैस'। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ११६।

पवीरु ऋग्वेद ८. ५१. ९; वासं०, ३३. ८२ में एक रुशम राजा या धनी पुरुष का नाम है।

पशु—पशु शब्द जानवर (मनुष्य समेत) का वाचक है। प्रायः पांच यज्ञिय पशुओं का उल्लेख आया है : **अश्व, गो, अवि, अज, पुरुष**; तैसं०, ४. २. १०. १–४; कासं० १६. १७; मैसं०, २. ७. १७; वासं०, १३, ४७–५१; तु०—अवे०, ११. २. ९; तैसं०, ४. ३. १०. १–३; ५. ५. १. १, २; ६. ५. १०. १; वासं०, १४. २८–३१ इत्यादि। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में सात घरेलू पशुओं का उल्लेख है : अवे०, ३. १०. ६; शब्रा०, २. ८. ४. १६; ९. ३. १, २०; १२ ८. ३. १३. यहाँ उन्हें "जागताः" कहा गया है, जो बारह का द्योतक है : पंविब्रा०, १०. २. ७। भाष्यकार ने अवे०, ३. १०. ६ पर उक्त पाँच के साथ उष्ट्र और गधे को माना है*; किंतु ह्विटनी के अनुसार सात एक रहस्यमय संख्या होने से उल्लिखित है; वस्तुतः सात पशुओं का उल्लेख

[1] इसी प्रकार एगलिंग, सेबुई०, २६. २३९, २४०।
[2] वैमि०, १. ४४।
[3] वैमि०, १. ४३, ४४।
[4] ट्रां० अवे०, ४७७।
[5] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैदिशे मि० १. २३९, २४०।

[1] आ०ले०, २७८ टि०।
* वोबू० में खच्चर और गधे का नाम सुझाय गया है; तु०—महाभारत, ६. १६५ एवं अग्रिम; त्सिमर, आ० ले०, ७६ के अनुसार अज, अवि, वृषभ, अश्व, श्वान्, गर्दभ और उष्ट्र—ये सात पशु हैं।

नहीं है। पशुओं को उभयादन्त् और अन्यतोदन्त् भी कहा गया है। तैसं०, ६. ४. ५. ७; मैसं०. ४. ५. ७ में परुष के स्थान पर पुरुष होना चाहिए। दो प्रकार के पशु कहे गये हैं :—हस्तादानाः=हाथ से ग्रहण करने वाले, जैसे, पुरुष, हाथी, बन्दर आदि; और मुखादानाः=मुख से पकड़ने वाले, जैसे गौ, अश्व आदि। एक अन्य विभाजन द्विपद् और चतुष्पद् के आधार पर आता है : ऋ० ३ ६२. १४; अवे०, ३. ३४. १ इत्यादि[1]। मनुष्य द्विपद् हैं : तैसं०, ४. २. १०. १, २; वासं०, १७. ४७, ४८; वह जानवरों में प्रथम हैं : शब्रा०, ६. २. १. १८; ७. ५. २. ६। जानवरों में केवल वही शतायु है : तैसं०, ३. २. ६. ३; शब्रा०, ७. २. ५. १७ वह पशुओं का राजा है : कासं०, २०. १०; शब्रा०, ४. ५. ५. ७[2] पशुओं के साथ उसकी वाणी का भी उल्लेख है : ऋ० ८. १००. १२। ऐआ० २. ३. २, (कीथ के नोट के साथ) में पौधों, पशुओं, और मनुष्यों का उल्लेख बुद्धि-विकास के क्रम से दिया गया है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशुओं का विभाजन ऋग्वेद १०. ९०. ८ में तीन वर्गों में किया गया है :—वायव्य, आरण्य और ग्राम्य। आरण्य एवं ग्राम्य पशुओं का अनेकशः उल्लेख मिलता है : अवे०, ३. ३१. ३; तु०—२. ३४. १[3]; ११.२. २४; मैसं०, २. २. ३; ३. ९. ७; कासं०, १३. १२; तैआ०, ३. २. २९. ३२; शब्रा०, २. ७. १. ८; २. ७. २. ८; तु०—११. ८. ३. २ जहाँ पशुओं को रात में बाँधने का उल्लेख है। याजुष संहिताओं में एक-शफ, क्षुद्र और आरण्य पशुओं का वर्गीकरण है : तैसं०, ४. ३. १०. २; वासं०, १४. ३०। अश्व और गर्दभ एकशफ=एक खुर वाले हैं; अज, अवि और वृषभ क्षुद्र हैं; एक-शफ और क्षुद्र पशुओं को ग्राम्य कहा गया है। यह विशेषता उभयादन्त् और अन्यतोदन्त् के सामानान्तर है; तु०—अवे०, ५. ३१. ३; तैसं०, २. २. ६. ३; २. १. १. ५; ५. १. १. ३; ५. १. २—६। त्सिमर[4] ने अथर्ववेद ११. २. २४, २५ तु०—१२. १. ४९, ५१ में आरण्य पशुओं के पाँच प्रकार के विभाजन का उल्लेख माना है : (१) भयंकर, वन में स्थित (मृगा भीमा वने हिताः), (२) पंख वाले हंस, सुपर्ण, शकुन; (३) जल और स्थल में रहने वाले—शिशुमार, अजगर; (४) मछलियाँ—पुरीकय, दूष, मत्स्य, (५) कृमि-कीट, जिन्हें 'राजसाः' कहा गया है। किंतु यह विभाजन आवश्यकता से अधिक प्रातिभ है; तथा ह्विटनी[1] और ब्लूमफील्ड[2] दोनों ने इसे छोड़ दिया है। तु०—'(अग्निः) एतान् पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गाम-विमजं यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' शब्रा० ६. २. १. २; (प्रजापतिः) तेषु (पशुषु) एतम् (अग्निम्) अपश्यत् तस्माद् वेवैते पशवः' शब्रा० ६. २. १. ४; 'अग्निर्वै पशूनामीष्टे' शब्रा० ४. ३. ४. ११; 'त एते सर्वे पशवो यदग्निः' शब्रा० ६. २. १. १२; 'आग्नेयो वाव सर्वः पशुः' ऐब्रा० २. ६; 'अग्निर्ह्येष यत् पशवः' शब्रा० ६. २. १. १२; ६. ३. २. ६; ६. ४. १. २; ६. ३. १. २२; 'अग्निर्हि देवानां पशुः' ऐब्रा० १. १५; 'योनिर्वै पशूनामाहवनीयः (अग्निः)' कौब्रा० १८. ६; 'रौद्रा वै पशवः' षब्रा० ६. ३. २. ७; 'रुद्रं हि नाति पशवः' शब्रा० ३. २. ४. २०; 'ते (पशवः) अब्रुवन् वायुर्वा अस्माकमीशे' जैउब्रा० १. ५२. ४; 'त्वष्टा वै पशूनामीष्टे' शब्रा० ३. ७. ३. ११; 'पशवो वै सविता' शब्रा० ३. २. ३. ११; 'दैव्या वा एता विशो यत् पशवः' शब्रा० ३. ७. ३. ९; 'सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः' शब्रा० ३. ८. ४. १६; 'अस्मै वै लोकाय ग्राम्याः पशवः आलभ्यन्ते। अमुष्मा आरण्याः' तैब्रा० ३. ९. ३. १; 'विश्वरूपं वै पशूनां रूपम्' तांब्रा० ५. ४. ६; 'सप्त ग्राम्याः पशवः' तांब्रा० २. ७. ८; शब्रा० ९. ३. १. २०; 'सप्त वै ग्राम्याः पशवः (अजाश्वो गौर्महिषी वराहो हस्त्यश्वतरी च) ऐब्रा० २. १७; 'एकरूपा आरण्याः पशवः (गोमायुर्गौर्मृगो गवय उष्ट्रः शरभो हस्ती मर्कट इति सप्तसंख्याका इति सायणः) तांब्रा० ६. ८. ८; 'अपशवो वा एते यदारण्याः' तैब्रा० ३. ९. २. ३; 'त्रयो ह त्वाव पशवोऽमेध्याः। दुर्वराह ऐडकः श्वा' शब्रा० १२. ४. १. ४; 'तस्मादश्वः पशूनां यशस्वितमः' शब्रा० १३. १. २. ८; 'पशवो वै घृतश्च्युतः' तांब्रा० ९. १. १७; 'पशवो वै हविष्मन्तः' शब्रा० १. ४. १. ९; 'हविर्हि पशवः' ऐब्रा० ५. ६; 'पशवः सोमो राजा' तैब्रा० १. ४. ७. ६; 'सोम एवैष प्रत्यक्षं यत् पशुः' कौब्रा० १२. ६; 'पशवो हि हरिश्रियः' तांब्रा० १३. २. २; शब्रा० १. ८. १. ३६;=यशः, शब्रा० १२. ८. ३. १;=शान्तिः, तांब्रा० ४. ५. १८;=वसुः, तांब्रा० ७. १०. १७;=रयिः, तांब्रा० १. ४. ४. ९; शब्रा० ३. ३.

[1] त्सिमर, आ० ले०, ७३ के अनुसार यह विभाजन भा-रोपीय काल का है, क्योंकि इंजुवेनिक गणना में डुपुर्सुस और पेटुर्पुर्सुस में विशेषता दिखाई गई है।

[2] तु०—वेबर, त्सादामौग०, १८. २७४।

[3] ह्विटनी ट्रां० अवे०, ७८।

[4] आ० ले०, ७७, ७८।

[1] ट्रां० अवे०, ६३३, ६३४।

[2] ह्विट्स आ० दि अवे०, ६३१।
विवरण : त्सिमर, आ० ले०, ७२—७७।

१. ८; =रायस्पोषः, शब्रा० ३. ४. १. १३; =पुष्टिः, शब्रा० ३. १. ४. ९; =पूषा, शब्रा० ३. १. ४. ९; १३. १. ८. ६; ऐब्रा० २. २४; =मरुतः, ऐब्रा० ३. १९; = वाजः, ऐब्रा० ५. ८; =वाजिनम्, तैब्रा० १. ६. ३. १०; अन्नम्, शब्रा० ६. २. १. १५; ६. ८. २. ७; ५. १. ३. ७; ३. २. १. १२; =धानाः, गोउ० ४. ६; =इडा, कौब्रा० ३. ७; =प्राणाः, शब्रा० ७. ५. २. ६=गृहाः, शब्रा० १. ८. २. १४; =उत्तरवेदिः, तैब्रा० १. ६. ४. ३; =चतुरुत्तराणि छन्दांसि, तांब्रा० ४. ४. ६; =आत्मा, कौब्रा० १२. ७; =यजमानः, तैब्रा० २. १. ५. २; =वज्रः, शब्रा० ६. ४. ४. ६; =ग्रावाणः, तांब्रा० ९. ९. १३; =उक्थानि, कौब्रा० २८. १०; =उक्थानि, =विश्वं ज्योतिः, तांब्रा० १७. १०. २; =उषाः, शब्रा० ७. १. १. ६; ५. २. १. १६; 'संज्ञानं ह्येतत् पशूनां यदूषाः' तैब्रा० १. १. ३. २; =स्तोमः, तांब्रा० ५. १०. ८; =स्वरः, गोउ० ३. २२; =बृहद्रथन्तरे, तांब्रा० ७. ७. १; =वामदेव्यं साम, तांब्रा० ४. ८. १५; =वामम्, ऐब्रा० ५. ६; =वैरूपं साम, तांब्रा० १४. ९. ८; =लोम साम, तांब्रा० १३. ११. ११; = रौरवं साम, तांब्रा० ७. ५. ८; =अन्नाद्यं यज्ञायज्ञीयं साम, तांब्रा० १५. ९. १२; =यण्वं साम, तांब्रा० १३. ३. ६; =श्रुद्ध्यं साम, तांब्रा० १५, ५. ३४; =सदोविशीयं ब्रह्मसाम, तांब्रा० १८. ४. ९; =सुरूपं साम, तांब्रा० १४. ११. ११; =कालेयं साम, तांब्रा० ११. ४. १०; =रयिष्ठं साम, तांब्रा० १४. ११. ३१; =शक्वर्यः, तांब्रा० १३. १. ३; =रेवत्यः, तांब्रा० १३. ७. ३; =यज्ञः, शब्रा० ३. १. ४. ९; =बर्हिः, ऐब्रा० २. ४; छन्दोमाः, ऐब्रा० ५. १६. १७, १८, १९; =छन्दांसि, शब्रा० ७. ५. २. ४२; = जगती, कौब्रा० १६. २; =बृहती, कौब्रा० १७. २; = उष्णिक्, तांब्रा० ८. १०. ४; =वालखिल्याः, तांब्रा० २०. ९. २; =अक्षरपङ्क्तयः, कौब्रा० १६. ८; =प्रगाथः ऐब्रा० ३. १९; =प्रयाजाः, कौब्रा० ३. ४; =परिमादः, शब्रा० १०. १. २. ८; =पुरीषम्, शब्रा० १. २. ५. १७; =वयांसि, शब्रा० ९. ३. ३. ७; =वपुः, ऐब्रा० ५. ६; 'एष वाव सुवीरो यस्य पशवः' तांब्रा० १३. १. ४; 'तस्माद् यस्य पशवो भवन्त्यपैव स पाप्मानं हते' शब्रा० ८. २. ३. १४; पशवो वै महस्तस्माद् यस्यैते बहवो भवन्ति भूयिष्ठमस्य कुले महीयन्ते' शब्रा० ११. ८. १. १; 'यो वै पशूनां भूमानं गच्छति स स्वाराज्यं गच्छति' तांब्रा० २४. ६. ३; 'कल्याणी (प्रजापतेस्तनूः) तत् पशवः' ऐब्रा० ५. २५; 'स प्रजापतिः प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत' शब्रा० ७. ५. २. ६; 'तस्मात् पशोर्जायमानाद् आपः पुरस्ताद् यन्ति' तैब्रा० २. २. ९. ३; 'हम्बो इति पशुकामस्य। बो इति हि पशवो वाश्यन्ते' तैउब्रा० ३. १३. २; 'रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वम्' शब्रा० ३. ७. ३. १३; 'पाङ्क्ताः पशवः' ऐब्रा० ३. २३; गायत्राः पशवः, तैब्रा०, ३. २. १. १; त्रैष्टुभाः पशवः' कौब्रा० ८. १. १०. २; बार्हताः पशवः, ऐब्रा० ४. ३; 'अष्टाशफाः पशवः' तांब्रा० १५. १. ८; तस्माद् द्व्योपशाः पशवः' तांब्रा० १३. ४. ३; षोडशकला वै पशवः' शब्रा० १२. ८. ३. १३; तस्मादुभयतःप्राणाः पशवः' तांब्रा० ७. ३. २८; त्रिरह्नः पशवः शेरते प्रातः संगवे सायम्' तैब्रा० १. ४. ९. २; 'चक्षुरेव पशूनामादत्त। तस्मादेते चाकश्यमाना इवैव न जानन्त्यथ यदैवोपजिघ्रन्त्यथ जानन्ति' शब्रा० ११. ८. ३. १०; वाचा पशून् दाधार। तस्माद् वाचा सिद्धा वाचाहूता आयन्ति तस्माद् नाम जानते' तांब्रा० १०. ३. १३; 'स्वादिष्ठा वै देवेषु पशव आसन् मदिष्ठा असुरेषु' तांब्रा० ८. ४. ६; 'तस्मादद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते' शब्रा० ७. ५. २. २; तस्मादुभये देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति' शब्रा० ६. ४. ४. २२; तद् यथा ह वा अस्मिल्लोके मनुष्याः पशूनश्नन्ति यथैभिर्भुञ्जत एवमेवामुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्त्येवमेभिर्भञ्जते' कौब्रा० ११. ३।

पशु-प—ऋग्वेद में पशु-पालक को पशु-प कहा गया है: १. ११४. ९; १. १४४. ६; ४. ६. ४; १०. १४२. २। आलंकारिक भाषा में पूषन् भी पशुप है: ऋ० ६. ५८. २; तु०—पूषन् और रेवती: तैब्रा०, ३. १. २. १२।

पशुपति—वैदिक काल से ही रुद्र के लिए पशुपति शब्द आया है: अवे०, २. ३४. १; ११. २. २; ११. ६. ९; वासं०, १६. २८; १६. ४०; २४. ३; ३९. ८। तु०—'ओषधयो वै पशुपतिस्तस्माद् यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति' शब्रा० ६. १. ३. १२; एतान्यष्टौ (रुद्रः, सर्वः=शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महान् देवः, ईशानः) अग्नि-रूपाणि। कुमारो नवमः' शब्रा० ६ १. ३. १८; 'अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति' शब्रा० १. ७. ३. ८; 'अग्निर्वै पशूनामीष्टे' शब्रा० ४. ३. ४. ११; देवं वा एतं (पशुपतिं) मृगयुरिति वदन्ति' तांब्रा० १४. ९. १२।

पशुबन्ध यज्ञ। 'स यत् पशुबन्धेन यजते। आत्मानमेवैतन्निष्क्रीणीते' शब्रा० ११. ७. १. ३।

१ **पष्ठ-वाह्**—याजुष-संहिताओं में भाष्यकारों के अनुसार चार वर्ष का पाठा बैल पष्ठवाह् है: तैसं०, ४ ३. ५. २; वासं०, १४. ९; १८. २७; २१. १७; २४. १३; २८. २९ इत्यादि। किंतु स्त्रीलिङ्ग में पष्ठौही शब्द

कई बार गौ के लिए आया है : तैसं०, ७. १. ६. ३; कासं०, ११. २; १२. ८; वासं०, १८. २७; तैब्रा०, १. ७. ३. ३; १. ८. ३. २; २. ७. २. २ इत्यादि। एक स्थल पर उसे **प्रथमगर्भा** कहा है : शब्रा०, ४. ६. १. ११; मैकडानल[1] ने इसकी पृष्ठवाह् (पीठ पर वहन करने वाला) इस रूप में व्याख्या की है।

२. **पष्ठ-वाह्**—पंविब्रा० १२. ५. ११ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम पष्ठवाह् है। तु०—हिल्लेब्रांण्ड्ट, वैमि०, २. १६०।

पष्ठौही—भाष्यकारों के अनुसार चार वर्ष की पाठी गौ पष्ठौही है : वासं०, १८. २७; तैब्रा०, १. ७. ३. ३; १. ८. ३. २; २. ७. २. २; तैसं०, ७. १. ६. ३; कासं०, ११. २; १२. ८; काश्रौसू०, ४. ५. २३ शब्रा०, ४. ६. १. ११ में 'प्रथमगर्भाः पष्ठौह्यः' आता है। द्र०—**पष्ठवाह् १**।

पसस्–'राष्ट्रं पसः' शब्रा०, १३. २. ९. ६; द्र०—**शरीर**।

पस्त्य-सद्—घर में बैठा हुआ। ऋग्वेद ६. ५१. ९ में यह शब्द सहवासी या सहचर के लिए आया है। तु०—राथ, वोबू०; पिशल, वैस्तू०, २. २११।

पस्त्या—(स्त्रीलि०, बहुव०)। पस्त्या शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है : ऋ० १. २५. १०; १. ४०. ७; १. १६४. ३०; ४. १. ११; ६. ४९. ९; ७. ९७. ५; ९. ६५. २३; १०. ६४. ६; इसके अतिरिक्त ४. ५५. ३; ८. २७. ५ में पस्त्या एक देवता है। राथ[2] ने इसे गृह या निवास-स्थान के अर्थ में लिया है; उन्होंने घर में रहने वाले परिवार का द्योतक भी इसे माना है[3]। दूसरी ओर पिशल[4] ने ऋग्वेद ६. ४९. ९; ७. ९७. ५ में जहाँ सायण के अनुसार गृहस्थ अर्थ है, इसे पस्त्य (नपु०लि०) माना है, जो **पस्त्यसद्** और **पस्त्यावन्त्** शब्दों में आता है, और जिसे निघण्टु ३. ४. (सायण द्वारा ऋ० १. १५१. २ में पस्त्या के लिए उद्धृत) ने निवास-स्थान के अर्थ में माना है द्र०—ऋ० १०. ९६. १०, ११; पहले में राथ ने सोम-पेषण के दो भागों के अर्थ में पस्त्योः लिया है[4]। अन्य स्थलों पर पस्त्या को उन्होंने नदियों या जलों के अर्थ में माना है, विशेषतः जहाँ सोम को पस्त्या में रहने वाला वताया गया है : ऋ० ९. ६५. २३; अन्यस्थल हैं—ऋ० १. २५. १०=तैसं०, १. ८. १६. १=मैसं०, १. ६. २; २. ६. १२; २. ७. १६; ४. ४. ६=वासं०, १०. २७; ऋ० १. ४०. ७; १. १६४. ३० (अग्नि का गृह); ४. १. ११; ९. ६५. २३; १०. ४६. ६; तैसं० १. ८. १२. १=मैसं०, २. ६. ८=वासं०, १०. ७। ऋग्वेद ३. २३. ४ में उन्होंने **कुरुक्षेत्र** को, उसकी कुछ नदियों **आपया, दृषद्वती**, और **सरस्वती** (द्र०—२ **पस्त्या**) के साथ उद्दिष्ट माना है। कुछ स्थलों पर उन्होंने पस्त्या को एक नदी का नाम माना है; जैसे पहले "सिन्धु" नदी का वाचक था, किंतु बाद में नदी का वाचक बन गया है : ऋ० ४.४. ५५. ३; ८. २७. ५; **पस्त्याव त्**, ऋ०, ९. ९७. १८। तु०—'विशो वै पस्त्याः' शब्रा० ५. ३. ५. १९।

१–पस्त्यावन्त्—पस्त्यावन्त् (पदपाठ में पस्त्यवन्त्) शब्द ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर आया है। उनमें से १. १५१. २; ९. ९७. १८ में एक संपन्न गृहस्थ का भाव प्रतीत होता है।[1] अन्य स्थलों पर घर यह अर्थ स्पष्ट है : ऋ० ३. ११. १६ गृह का बर्हिस्; ४. ५४. ५ 'क्षयान् पस्त्यावतः' अर्थात् 'दृढ़ आबाद घर'। तु०—पिशल, वैस्तू०, २. २१२।

२-पस्त्यावन्त्—**सुषोम, शर्यणावन्त्** और **आर्जीक** के समानान्तर अधिकरण कारक में पस्त्यावन्त् का उल्लेख आता है : ऋ० ८. ७. २९। निश्चय ही यह किसी स्थान का बोधक है, जैसा कि पिशल, वैस्तू०, २. ३०९ ने माना है कि यह नदियों के मध्य (मध्ये पस्त्यानाम्) स्थित एक प्रदेश है। ऋ० ९. ६५. २३ में इसे सोम का स्थान कहा गया है। पिशल[2] का मत है कि यह पटियाला है, यद्यपि वे नामों की समानता पर विशेष बल नहीं देते। पटियाला के उत्तर में पहाड़ियाँ हैं, जहां सोम उगता रहा होगा।

---

[1] वैग्रा०, ४८।

[2] द्र०—त्सिमर, आ०ले०, १४९; तु० वेबर, ऊबर देन राजसूय, ४३, टि०, ४. ६३।

[3] वैस्तू०, २. २११–२२२, गेल्डनर, ऋग्वेद, ग्लासर, १०७।

[4] किंतु पिशल, वैस्तू०, २. २११ के अनुसार सायण की व्याख्या 'द्यावापृथिवी' ठीक है; संभवतः समासों में पस्त्या न होकर पस्त्य शब्द ही हो : त्रिपस्त्य अग्नि, ऋ० ८. ३९. ८; वाजपस्त्य पूषन्, ऋ०, ६. ५८. २; वाजपस्त्य सोम, ऋ० ९. ९८. १२, वीरपस्त्य, ऋ० ५. ५०४।

[1] किंतु ऋ० ९. ९७. १८ में पिशल ने पस्त्या को नदी के अर्थ में माना है : बोहटलिङ्गक ने अपनी डिक्शनरी में इसका अर्थ किया है, अस्तबल में रखा हुआ।

[2] वैस्तू०, २. २१९।

राथ का मत है कि सोम के निचोड़ने के साथ इस शब्द का संबन्ध है।[1]

पांसु—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में पांसु शब्द प्रायः बहुवचन में धूलि या रेत का वाचक है : अवे०, ७. १०९. २; १२. १. २६; तैब्रा०, २. ६. १०. २; निरुक्त, १२. १९ इत्यादि। अद्भुत ब्राह्मण ६. ८[2] में उत्पातों में पांसु-वर्ष=धूल या बालू की वर्षा को भी गिनाया गया है, जो भारत में आम है। ऋग्वेद १. २२. १७ में विशेषण पांसुर आया है, जिसका भिन्न पाठ सामवेद १. ३. १, ३, ९ में **पांसुल** है; तु०—शब्रा०, ४. ५. १. ९।

पाक—ऋग्वेद १. ३१. १४ में इन्द्र द्वारा 'पाक' को शासित करने का उल्लेख है। पाक का अर्थ मोनियर विलियम्स ने एक असुर या अज्ञ किया है। इसी के आधार पर बाद में इन्द्र का नाम **पाक-शासन** आर्ष-काव्यों एवं पुराणों में आया है।

पाक-यज्ञ—'सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः।' गोप० ५. २३; 'पशव्यो हि पाकयज्ञः' शब्रा० २. ३. १. २१।

पाक-दूर्वा—ऋग्वेद १०. १६. १३ में **कियाम्बु** और **व्यल्कशा** के साथ **पाकदूर्वा** नामक पौधे का उल्लेख है; इन पौधों के मृतक के दाहस्थान में जमने की कामना की गई है।[3] तैआ० ६. ४. १. २ में इस ऋचा का पुनरुल्लेख है, जहाँ **कियाम्बु** का भिन्न पाठ **क्याम्बु** आया है। अथर्ववेद १८. ३. ६ में पाकदूर्वा के स्थान पर **शाण्डदूर्वा** आया है। संभवतः सायण के अनुसार यह 'परिपक्वदूर्वा' है। **शाण्ड-दूर्वा** की विभिन्न व्याख्याएँ की गई हैं : साण्डदूर्वा, 'अंडाकार जड़ों वाली दूब', या दीर्घ जड़ों वाली दूब, जिसे **बृहद्दूर्वा** भी कहा गया है।[4] दूसरी ओर तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्यकार ने इसे छोटी दूब माना है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ७०।

[1] वोबू०, मैक्समूलर, सेबुई०, ३२, २६०, ३९८, ३९९ इन्होंने पस्त्यावन्त् को एक स्थान का नाम माना है; किंतु उनका विचार है कि पस्त्या झोंपड़ी का विशेषण है; और अदिति का जहाँ यह विशेषण है (ऋ० ४. ४५. ३; ८. २७. ५) वहाँ यह उसे गृहपत्नी के रूप में बताता है।

[2] इस्टू० १. ४०; तु० वराहमिहिर, बृहत्संहिता, २२. ६।

[3] द्र०—ब्लूमफील्ड, अजफि०, ११. ३४२–३५० जअ-ओसो०, १५. ३९।

[4] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ८. ५०।

पाक-संस्था—काश्रौसू०, ३४, ९ में पाकयज्ञ को पाक-संस्था कहा गया है।

पाक-स्थामन् कौरयाण—ऋग्वेद ८. ३. २१, २४ में एक उदार दाता का नाम है। लुड्विग का सुझाव है कि उन्हें **अनुओं** का राजा माना जा सकता है; किंतु यह संदिग्ध है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६०।

पाकारु—वासं० २२. ९७ में **विशूचिका**, **अर्शस्** के साथ एक रोग का नाम पाकारु आया है। इस रोग के लक्षणों का पता नहीं है। इस शब्द की व्युत्पत्ति से बढ़े हुए या पके हुए घाव का अर्थ प्रतीत होता है।=पाक+अरुस्। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ३९३।

पाङ्क्त्र—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में पाङ्क्त्र शब्द आता है : मैसं०, ३. १४. ७. वासं०, २४. २६[1]। इसका अर्थ "खेत का चूहा" प्रतीत होता है।

पाञ्च-जन्य—पञ्चजनों या जातियों से संबद्ध। द्रष्टव्य **पञ्च-जनाः**।

पाञ्चाल—पञ्चाल के राजा को पाञ्चाल कहा गया है। ऐब्रा० ८. २३ में **दुर्मुख** की और शब्रा०, १३. ५. ४. ७ में **शोण** की यह उपाधि है। जैब्रा० ३. २९. १ में भी यह शब्द आया है। द्र०—**पाञ्चाल**।

तु०—काठक अनुक्रमणी, इस्टू०, ३. ४६० में।

पाञ्चि—पञ्चन् का वंशज। शब्रा० १. २. ५. ९ में पाञ्चि नामक एक आचार्य का उल्लेख है, जिनके मत को स्वीकार नहीं किया गया है।

१. पाजस्—पाजस् शब्द कुछ स्थलों पर तेजस् या प्रकाश के अर्थ में आया है : ऋ० ५. १. २; १. ११५. ५; २. २९. ३; ३. ६१. १५; ३. १४. १; ७. ३. ४; ९. ७६. १; सोम के लिए ९. ८८. ५ इत्यादि।

२. पाजस—पाजस् शब्द बल या अन्न के लिए ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार आया है : ऋ० ८. ४६. २५; १०. ८४. ३; ९. १०९. २१; १. १५१. १; ६. २१. ७; ४. ४८. ५; २. ३४. १३ इत्यादि। निघण्टु २. ९ में अन्न के पर्यायों में यह आता है।

पाटव—पटु का वंशज। शब्रा० १२. ८. १. १७; १२. ९. ३. १ में **चाक्र पाटव** का उल्लेख है।

पाटा—अथर्ववेद २. २७. ४ और कौसू० ३. ७. में पाटा शब्द का प्रयोग मिलता है। भाष्यकार ने इसे परवर्ती **पाठा** से मिलाया है, जो एक ओषधि है।

पाणि—द्र०—**शरीर**।

[1] द्र०—त्सिमर, आ० ले०, ८५।

पाणि-ग्रहण—विवाह के अर्थ में पाणिग्रहण शब्द सूत्रों में आता हैं: आगृसू०, १. ९; गोभिसू०, १. ९. २६; गृह्यसंग्रह २. ३५ इत्यादि ।

पाणि-घ्न—हथेली या ताली बजाने वाला। वासं०, ३०. २० में पुरुषमेघ की बलियों की सूची में इसका उल्लेख मिलता है । तु०—पाणिघमोऽध्वा ।

पाण्डूव—शब्रा०, ५. ३. ५. २१ में रंग-हीन ऊनी वस्त्र का नाम पाण्ड्व है ।

पातल्य—ऋग्वेद ३. ५३. १७ में यह रथ के किसी भाग के लिए आया है; किंतु वह कौन सा भाग है, यह अनिश्चित है । सायण ने इसे 'आवितथाणि' बताया है । क्या हम इसे 'पछल्ला' मान सकते हैं ?

पात्नीवत—'रेतो वै पात्नीवतः' गोउ० ४. ५; 'अग्निर्हि देवानां पात्नीवतो नेष्टर्त्विजाम्' कौब्रा० २८. ३ ।

पात्र—पीने का बर्तन (√पा 'पीना') प्रारम्भ में यह पीने के बर्तन का वाचक था, फिर सभी बर्तनों का बोधक बन गया । वैदिक साहित्य में इसी अर्थ में यह शब्द प्रायः पाया जाता है: ऋ० १. ८२. ४; १. ११०. ५; १. १६२. १३; अवे०, ४. १७. ४; ६. १४२. १; ९. ६. १७ इत्यादि । तु० 'द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाग्निहोत्रवर्णीं च सायं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृषदुपले तद् दश' शब्रा० १. १. १. २२ ।

पाथस—वैदिक साहित्य में पाथस् शब्द स्थान या लोक के अर्थ में आया है, किंतु कहीं-कहीं भाष्यकारों ने इसका अर्थ मार्ग भी लिया है: ऋ० १. ११३. ८; १. १६२. २; ७. ४७. ३; ७. ६३. ५; ७. ३४. १०; १. १५४. ५; ७. ५. ७; अवे०, २. ३४. २; वासं०, २. १७; २१. ४८; १३. ५३; २९. १०; तैसं०, ३. ३. ३. १ इत्यादि । निरुक्त ८. १७ में अन्न और उसी में अन्यत्र ६. ७ वायु के अर्थ में 'पाथस्' शब्द को लिया है ।

पाथ्य—ऋग्वेद में केवल एक बार आने वाला यह शब्द या तो एक विशेषण है—'स्वर्ग (पाथस्) में रहने वाला', अथवा सायण के अनुसार यह वृषन् का पैतृक नाम है: ऋ० ६. १६. १५; तु०—शब्रा०, ६. ४. २. ४; मैक्स मूलर, सेबुई०, ३२. १५३ ।

१–पाद—अथर्ववेद १४. १. ६० एवं परवर्ती ब्राह्मणों में पशु, पक्षी या अन्य जन्तु के पद के अर्थ में यह शब्द आया हैं: ऐब्रा०, ८. ५. १२; शब्रा०, १२. ८. ३. ६; कौउ०, १. ५ इत्यादि ।

२–पाद—यह शब्द शब्रा० ६. ५. ३. २; ७. २. १. ७; ८. ७. २. १७ और आश्वश्रौसूत्र ६. १० इत्यादि में लम्बाई का परिमाण है । कभी-कभी यह शब्द भार के परिमाण को भी सूचित करता है: निरुक्त, २. ७; बृउ०, ३. १. २ । अंश के भाव में यह शब्द चतुर्थांश को सूचित करता है, जो चतुष्पदों के एक पद से निष्पन्न है, जैसे कि शफ शब्द अष्टमांश के लिये आता है: ऋ० १०. ९०. ३, ४ ।

३–पाद—ब्राह्मणों में यह शब्द पद्य के एक चरण के लिए आया है । यह शब्द केवल चतुर्थांश को सूचित करता है, जो चतुष्पदों के एक पद की समानता पर निष्पन्न होता है: ऐब्रा०, ४. ४; कौब्रा०, २६. ५; निरुक्त, ७. ९; ११. ६; लाश्रौसू०, १. २. १; १०. ६. ९ इत्यादि ।

पान—पीना । पान शब्द पीने या पेय के अर्थ में शतपथ ब्राह्मण और उपनिषदों में आया है: शब्रा०, १३. ४. २. १७; बृउ०, ४. १. ४३; छाउ०, ८. २. ७ इत्यादि ।

पान्त—ऋग्वेद में अनेकशः यह शब्द पेय के लिये आया है: ऋ० १. १२२. १; १. १५५. १; ८. ९२. १; ९. ६५. २८; १०. ८८. १; द्र० **पान** । फिर भी गेल्डनर[1] ने एक स्थान पर इसे एक राजा का नाम माना है । तु०—निरुक्त ७. २५; राथ, वोबू; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. १२२. १२३ ।

पान्नेजन—शब्रा०, ३. ८. २. १; ३. ९. ३. २७; १३. ५. २. १ में पाद-प्रक्षालन के लिये प्रयुक्त एक पात्र का नाम पान्नेजन है ।

पाप—पाप शब्द वैदिक साहित्य में प्रायः पापी के अर्थ में आया है: ऋ० ४. ५. ५; ८. ५०. ११; १०. १०. १२; अवे०, १३. ४. ४२; १२. १. ४७ इत्यादि; किंतु कुछ स्थलों पर यह पाप के अर्थ में भी आया है: अवे०, १०. १. १०; १०. ३. ४ । अन्यत्र क्रियाविशेषण के रूप में **पापया** शब्द भी आया है: अवे०, ५. १७. ८; ७. ६५. २; ऋ० ८. १९. २६ इत्यादि । तु०—**अंहस्**, **एनस्** ।

पाप-यक्ष्म—द्र०—**यक्ष्म** ।

पाप-सम—बुरा वर्ष । तैसं० ३. ३. ८. ४ में 'पुण्य-सम' के विपरीत 'पाप-सम' शब्द का प्रयोग मिलता है । तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३४२ ।

पाप्मन्—पाप के ही अर्थ में कुछ स्थलों पर पाप्मन् शब्द आया है: अवे०, ५. १४. ६; ३. ३१. १; ऐब्रा०, १. १६ इत्यादि । तु०—'पाप्मा वा अशस्तिः' शब्रा० ६. ३. २. ७; 'पाप्मा वै सपत्नः' शब्रा० ८. ५. १. ६; 'पाप्मा वै वृत्रः' शब्रा० ११. १. ५. ७; 'पाप्मा वै मृधः' शब्रा०, ६. ३. ३. ८; अङ्ग 'अङ्गं वै पुरुषस्य पाप्मोपश्लिष्टः' तैब्रा०, ३. ८. १७. ४; 'श्रमो वै पाप्मा' शब्रा०, ६. ३. ३. ७;

[1] वैस्टू०, २. १३९; ऋग्वेद ग्लासर, १०८ ।

'दिवेव ह्यपहतपाप्मानः। तम इव ह्यनपहतपाप्मानः' ऐब्रा० ४. २५; 'स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवं सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते' शब्रा०, ४. ४. ५. २३; 'तद् यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्येत इषीका वा मुञ्जात्। ऐवं हैके ते सर्वस्मात् पाप्मनः संप्रमुच्यन्ते शाकलां जुह्वति' गोउ० ४. ६।

पामन्—अथर्ववेद में खुजली का नाम पामन् है। इससे व्युत्पन्न विशेषण पामन=‘पामन् से पीडित' परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में आता है। इसका उल्लेख ज्वर के साथ हुआ है, अतः संभवतः यह चर्मोद्भेदव्रण या खुजली है, जो ज्वर के बाद हो जाती है : अवे०, ५. २२. १२; तैसं०, ६. १. ३. ८; कासं०, २३. ४; शब्रा०, ३. २. १. ३१। तु०—छाउ०, ४. १. ८; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २६१; ग्रोहमान, इं० स्टू०, ९. ४०१ एवं आगे; त्सिमर, आ०ले०, ३८८; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, ४२१ टि०; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद ६३।

१-पायु—ऋग्वेद में अनेक बार यह शब्द रक्षक के अर्थ में आया है : ऋ० १. १४७. ३; २. १. ७; ४. ३. १२; ६. १५. ८; ८. १८. २; ८. ६०. १९; १०. १००. ९।

२-पायु—ऋग्वेद में एक भारद्वाज कवि का यह नाम है : ऋ० ६. ४७. २४।[1] बृहद्देवता ५. १२४ एवं आगे में उन्हें अभ्यावर्तिन् चायमान और प्रस्तोक साञ्जय के अस्त्रों को ऋ० ६. ७५, संग्राम-सूक्त द्वारा संस्कृत करने का महत्त्व दिया गया है।

पार—अपनी व्युत्पत्ति √पृ, "पार होना" के अनुसार यह शब्द नदी के दूसरे किनारे का बोधक है। यह "अन्त" का अर्थ भी देता है, जैसे "तमसः"=अन्धेरे का या अध्वनः=मार्ग का पार या अन्त। इन्हीं अर्थों में यह ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में आता है : ऋ० १. ९२. ६; ५. ५४. १०; १. १२१. १३ "नाव्यानाम्"=धाराओं का; ९. ९६. ११ "नदीनाम्"=नदियों का; १. १६६. २ समुद्रस्य=समुद्र का; १०. १५५. ३ "सिन्धोः"=सिन्धु का; तैसं०, ७. ५. १. २, ३; कासं०, ३३. ५; शब्रा०, ३. ६. २, ४ "सलिलस्य"=सलिल का; ऐब्रा०, ८. २१ "पारकाम"=पार जाने का इच्छुक इत्यादि।

पारमेष्ठ्य—तु०—'अथैनम् (इन्द्रं) ऊर्ध्वायां दिशि मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवाः अभ्यषिञ्चन् पारमेष्ठ्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठाय' ऐब्रा० ८. १४। द्र०—राज्य।

पारशव्य—परशु का वंशज। शांश्रौसू० १६. ११. २० में यह तिरिन्दिर का पैतृक नाम है। तु०—परशु।

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १२८।

१. पारावत—वासं० २४. २५ और मैसं० ३. १४. ६ में अश्वमेध की बलियों की सूची में पारावत का उल्लेख है। इसका पर्याय कपोत है।

२. पारावत—पारावत शब्द ऋग्वेद में कई बार आता है। राथ का मत है कि अधिकांश स्थलों पर इसका अर्थ "दूरागत" है : ऋ० ५. ५२. ११; ८. १००. ६; अवे०, २०. १३५, १४; पारावतघ्नी=सरस्वती, ऋ० ६. ६१. २[1]; किंतु दो स्थलों पर इसे वे यमुना-तट पर रहने वाली एक जाति का नाम मानते हैं : ऋ० ८. ३४. १८; पं० विं०, ब्रा०, ९. ४. ११[2]। यह निश्चित है कि पंचविंशब्राह्मण के अनुसार उस नदी-तट की एक जाति का नाम पारावत है; तु०—तुर्वश। हिल्लेब्रांड्ट इन सभी स्थलों पर एक जाति का नाम मानते हैं, जिसकी उन्होंने टालेमी के पख्वेटे से तुलना की है, जो गेड्रोसिया के उत्तरी किनारे पर बसे हुए थे, अथवा परोटै से, जो 'अरेइअ' में पाये जाते थे[3]। हिल्लेब्रांड्ट का सुझाव है कि हेरोड.ट्स ३. ९१ का "अपरुतइ" वही हो सकता है। उनका कहना है कि वे पार्वत्य थे; तु०—पर्वत। लुड्विग के भी वैसे ही विचार हैं[4]। गेल्डनर ने भी इन्हें जाति के अर्थ में ग्रहण किया है[5]। ऋग्वेद में पारावतों का उल्लेख सरस्वती के साथ हुआ है; और पंचविंशब्राह्मण में उनके यमुनातट पर बसने का उल्लेख है; अतः ये यमुना और सरस्वती के मध्य कहीं थे।

तु०—हापकिन्स, जअओसो०, १७. ९१; मैक्स म्युलर, सेबुई० ३२. ३१६।

पाराशरी कौण्डिनी-पुत्र—माध्यंदिन शाखा के बृउ० ६. ४. ३० के अन्तिम वंश में गार्गी-पुत्र के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।

पाराशरी-पुत्र—पराशरवंशीया का पुत्र। बृउ० के एक वंश में कात्यायनीपुत्र[6], औपस्वतीपुत्र, वात्सीपुत्र[7], वार्कारुणीपुत्र[8] और गार्गीपुत्र[9] के शिष्य के रूप में पाराशरीपुत्र का नाम आया है। निःसंदेह इन स्थलों पर एक से अधिक व्यक्तियों का उल्लेख है।

[1] द्र०—वोबू०।

[2] तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स, १५. ५३।

[3] वैमि०, १. ९७ एवं आगे; ब्रुनहोफर के "ईरान उन्द तूरान", ९९ के अनुकरण पर।

[4] द्र०—ट्रां० ऋ०, ३. १६२. १९७।

[5] ऋग्वेद, ग्लासर, १०९।

[6] बृउ०, काण्व शा०, ६. ५. १।

[7] वही, ६. ५. २। [8] वही, मा० शा०, ६. ४. ३१।

[9] वही, ६. ४. ३०।

पाराशर्य—पराशर का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों में **जातूकर्ण्य**[1] और **भारद्वाज**[2] के शिष्य पाराशर्य का उल्लेख है। **बैजवापायन** के शिष्य पराशर्य का भी उल्लेख मिलता है: बृउ० २. ६. २ काण्व। सामविधान ब्राह्मण[3] के अन्तिम वंश के अनुसार व्यास पाराशर्य **विष्वक्सेन** के शिष्य हैं। द्र०—**अषाढ़, जयन्त, विपश्चित्, सुदत्त**। तैआ० १. ९. २ में भी व्यास पाराशर्य का उल्लेख है।

पाराशर्यायण—बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों में पाराशर्य के शिष्य के रूप में इनका नाम आया है: २. ५. २१; ४. ५. २ माध्यंदिन=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व।

पारि-कुट—ऐब्रा० ८. २२. ७ में उदाहृत एक पद्य में यह दुर्बोध शब्द आया है, जिसका अर्थ संभवतः अनुचर है।

पारिक्षित—परिक्षित् का वंशज। ऐब्रा० ७. २७; ७. ३४; ८. ११ में और शब्रा०, १३. ५. ४. १ में **जनमेजय** का पैतृक नाम पारिक्षित मिलता है; तु०—गोब्रा०, १. २. ६; २. ६. १२। शब्रा० १३. ५. ४. ३ और शांश्रौसू० १६. ९. ७ में **पारिक्षितीय** लोगों को अश्वमेध-याजी बताया गया है। वहां उल्लिखित एक गाथा में उन्हें **पारिक्षित** कहा गया है। स्पष्टतः वे **जनमेजय** के भाई **उग्रसेन, भीमसेन** और **श्रुतसेन** हैं। बृउ०३. ३. १ में 'वे कहां गये' यह दार्शनिक विचार का विषय है। यह स्पष्ट है कि उक्त वंश उपनिषद्-काल से बहुत पहले का था; और यह भी स्पष्ट है कि बाद में इसके साथ परिकथा का समावेश हो गया है। इस परिकथा में कहा गया है कि इन लोगों ने अश्वमेध यज्ञ करके और ब्राह्मणों को बहुत सा दान देकर कलङ्क से छुटकारा पाया था। वेबर इसमें आर्षकाव्य-कथा का मूल मानते हैं, जिसका विकास महाभारत में हुआ है।[4] **पारिक्षितों** और **वामदेव** के घोड़ों से संबद्ध पुराकथा का वर्णन भी वेबर ने किया है।[5] अथर्ववेद के परिक्षित् से संबद्ध मन्त्रों को ब्राह्मणों में **पारिक्षित्यः** कहा गया है: अवे०, २०. १२७. ७-१०; शांश्रौसू०, १२. १७[6]; ऐब्रा०, ६. ३२. १०; कौब्रा०, ३०. ५; गोब्रा०, २. ६. १२।[1] वेबर, उपर्युक्त, १३६ टि०, १४४।

पारिक्षितीय—शब्रा० १३. ५. ४. ३ में **परिक्षित्** के वंशजों को पारिक्षितीय कहा गया है, जिनमें प्रमुख **जनमेजय** थे।

पारिजानत—द्र०; **अलम्म पारिजानत**।

पारि-प्लव—चक्र। अश्वमेध के समय कहे जाने वाले आख्यान का नाम प रिप्लव है, जो यज्ञावकाश के समय वर्ष भर बार-बार कहा जाता था। शब्रा०, १३. ४. ३. २, १५ में इसका उल्लेख है। सूत्रों में यह नाम कई बार आया है: आश्रौसू०, १०. ६; शांश्रौसू०, १६. १. २६; १६. २. ३६; लाश्रौसू०, ९. ९. ११।

पारी-णह्य—तैसं० ६. २. १. १. में घर के पात्रों का नाम पारीणह्य है, जहाँ यह कहा गया गया है कि पत्नी गृहस्वामिनी के रूप में इन सबकी रक्षा का भार संभालती है। बाद में यह शब्द मनुस्मृति ९. ११ में "पारिणाह्य" इस रूप में आया है।

पारुच्छेप—'रोहितं वै नामैतच्छन्दो यत् पारुच्छेपम्' गो० उ० ६. १०; 'एतेन ह वा इन्द्रः सप्त स्वर्गान् लोकानारोहत्' गोउ० ६. १०।

पारुष्ण—वासं० २४. २४ और मैसं० ३. १४. ४ में अश्वमेध की बलियों में उल्लिखित कोई पक्षि-विशेष पारुष्ण है।

पारोवर्य-विद्—निरुक्त १३. १२ में यह शब्द परंपरा के जानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पार्ण-वल्कि—वंश ब्राह्मण में **निगद** नामक व्यक्ति का यह पैतृक नाम है। द्र०—इस्तू०, ४. ३७२; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३।

१. **पार्थ**—ऋग्वेदानुक्रमणी ऋ० १०. ९३ में तान्व का पैतृक नाम पार्थ है।

२. **पार्थ**—**पृथि वैन्य** द्वारा दृष्ट १२ पवित्र मन्त्रों को, जिनका राजसूय यज्ञ में विनियोग होता है, पार्थ कहा गया है। तैब्रा०, १. ७. ७. ४ में आया है—'पृथिर्वैन्यः अभ्यषिच्यत। स राष्ट्रं नाभवत्। स एतानि पार्थान्यपश्यत्। तान्यजुहोत्'। द्र०—शब्रा०, ५. ३. ५. ४; ९. ३. ४. ६, ७; काश्रौसू०, १५, ५. ३; १८. ५. ३।

३. **पार्थ**—लाटचायन श्रौतसूत्र ४. ५, २०; ४. ७. १ में कुछ साम-मन्त्रों का नाम पार्थ आया है। तु०—'एतेन वै पृथी (शब्रा०, ५. ३. ५. ४ पृथुः) वैन्य उभयेषां पशूनामाधिपत्यमाशुतोभयेषां पशूनामाधिपत्यमश्नुते पार्थेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ५. २०।

---

[1] बृउ०, २. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व; २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यंदिन।

[2] २. ६. २; ४. ६. २, ३ काण्व; २. ५. २०; ४. ५. २६ माध्यंदिन।

[3] जैउब्रा०, ३. ४१. १।

[4] इंडियन लिटरेचर, १२५, १२६, १३५, १३६।

[5] वैदिश्शे बाइत्रागे १८९४।

[6] शेफ्तलोवित्स, डी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, १५६, १५७, ऐब्रा०, ६. ३२. १०।

---

[1] वेबर, उपर्युक्त, १३६ टि०; १४४।

पार्थव—पृथु का वंशज। यह शब्द एक बार ऋग्वेद ६. २७. ८ में आता है। वहाँ **पार्थवों** को उदार दाता कहा गया है। वह स्थल कुछ दुरूह है, क्योंकि उसमें **सृञ्जय दैववात** के **तुर्वशों** और **वृचीवन्तों** को पराजित करने का उल्लेख है: ऋ० ६. २७. ७; उसके बाद वाली ऋचा में **अभ्यावर्तिन् चायमान** द्वारा **गयक** को दिये गए बहुत से दानों का उल्लेख है। **अभ्यावर्तिन् चायमान** एक पार्थव हैं, जो सूक्त के प्रारम्भ में **वरशिख** के ऊपर विजयी बताये गए हैं। यह अनिश्चित है कि त्सिमर के कथनानुसार दोनों राजा **अभ्यावर्तिन् चायमान** और **सृञ्जय दैववात** अभिन्न हैं या नहीं[1]। ब्रुन्नहोफर का यह मत चिन्त्य है कि पार्थवों का **पार्थियनों** से कुछ संबन्ध था[2]। तु०—**पर्शु**।

पार्थश्रवस—पृथुश्रवस् का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में एक दैत्य का नाम पार्थश्रवस है: जैउब्रा०, ४. २६. १५; कौसू०, ९. १०, १७. २७ के द्वारा इस नाम के इस रूप की पुष्टि होती है।

पार्थुरश्म—साम-विशेष। 'क्षत्रं मह्यमित्यब्रवीत् (इन्द्रं) पृथुरश्मिस्तस्मा एतेन पार्थुरश्मेन क्षत्रं प्रायच्छत्। क्षत्रकाम एतेन स्तुवीत क्षत्रस्येवास्य प्रकाशो भवति' तांब्रा० १३. ४. १७।

पार्थ्य–पृथि का वंशज। ऋग्वेद १०. ९३. १५ में एक दाता का पैतृक नाम पार्थ्य है। आश्वलायन श्रौतसूत्र १२. १० में इस नाम का स्वरूप 'पार्थ', है; तु०—ऋग्वेदानुक्रमणी, ऋ० १०. ९३ पर।

पार्वति—पर्वत का वंशज। शब्रा० २. ४. ४. ६ और कौषीब्रा० ४. ४ में यह **दक्ष** का पैतृक नाम है।

पार्श्व—कुछ स्थलों पर पार्श्व शब्द उदर के दोनों पासों के अथवा पसलियों के अर्थ में आया है: ऋ० ४. १८. २; अवे०, २. ३३. ३; ४. १४. ७; १२. १. ३४; वासं०, २४. १; ३१. २२; तैसं०, ६. ३. ११. १ इत्यादि। द्र०—**शरीर**।

पार्श्वय—पार्श्व भाग के मांस को पार्श्य कहा गया है। द्र०—**शरीर**।

पार्षद—निरुक्त १. १७ में सर्व-प्रथम पाया जाने वाला यह शब्द वैयाकरणों की विधा-विशेष को सूचित करता है। तु०—मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर १२८ एवं आगे; इस्तू०, ३. २६९; ४. २१७।

पार्ष्णी—ऋग्वेद १. १६२. १७ में एवं अन्यत्र यह एडी का वाचक है।

पार्षद्-वाण—पर्षद्-वाण का वंशज। ऋग्वेद ८. ५१. २ में पार्षद्वाण को अद्भुत कार्य करने वाला व्यक्ति बताया गया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३९।

पार्ष्णि शैलन—जैउब्रा० २. ४. ८ में एक आचार्य का नाम पार्ष्णि शैलन है।

पार्ष्णि—अथर्ववेद २. ३३. ५ में एवं अन्यत्र एड़ी के लिये पार्ष्णि आया है। द्र०—**पार्ष्णी**।

पालागल—शब्रा०, प्रहेयो वै पालागलोऽध्वानं वै प्रहित एति' ५. ३. १. ११ में यह शब्द स्पष्टतः किसी दूत के लिये या गलत खबर ले जाने वाले के लिये आया है। एगलिंग ने इसका अनुवाद 'वार्ताहर' किया है: सेबुई० २६. ६४।

पालागली—राजा की चतुर्थ पत्नी का नाम पालागली है। इसका संमान अन्य पत्नियों से कम था: शब्रा० १३. ४. १. ८; १३. ५. २. ८ इत्यादि। द्र०—**पति**।

पावक—शोधक, चमकीला या शुद्ध के अर्थ में प्रारंभ में पावक शब्द अग्नि, सूर्य और अन्य देवताओं के लिये आया है: ऋ० १. १२. ९; १. ६०. ४; २. ३. १; ६. १०. ४; अवे०, ६. ४७. १; वासं०, १७. ४; ऋ० ६. ५१. ३; १. ५०. ६; ७. ५६. १२; ७. ५७. ५; ८. २०. १९; १०. ३६. ७ इत्यादि। कुछ स्थलों पर एक विशेष प्रकार के अग्नि को पावक कहा गया है: तैसं०, २, २. ४. १; तैब्रा०, १. १. ५. १०; काश्रौसू०, ४. १०. ९ इत्यादि।

बाद में उपनिषदों के समय से पावक शब्द अग्नि का पर्याय बन गया है: मु० उ० २. १. १।

पावमान—छानने के समय का सोमरस, या अग्नि से संबद्ध मन्त्र अथवा स्तोम पावमान कहाते हैं: तैसं०, २. ३. १०. २; अवे०, ११. ७. ६; पंविब्रा०, १५. ३. १६; १६. ५. १२; गोभिलश्राद्ध-कल्प, ३. २. ३९। साममन्त्र ३. २. १० **पावमान ऋषभ** है।

पावमानी—ऋग्वेद के नवम मण्डल के 'सोम-पवमान' से संबद्ध सभी ऋचाओं को पावमानी कहा गया है। यह नाम अथर्ववेद १९. ७१. १ में और संभवतः एक बार ऋग्वेद में भी आया है: ऋ० ९. ६७. ३१, ३२[1]। परवर्ती साहित्य में यह नाम आम है: ऐब्रा०, १. २०; २. ३७; कौब्रा०, १५. १; शब्रा०, १२. ८. १. १०; निरुक्त, ११. २; १२. ३१; ऐब्रा०, २. २. २; मैत्रागृसू०, २. १४।

पावीरवी—'वाग् वै सरस्वती पावीरवी' ऐब्रा०, ३. ३७।

[1] द्र०—आ० ले० १३३, १३४; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि० १. १०५।

[2] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १९६ एवं अग्रिम; हेरोडोटस, ३. ९३।

[1] द्र०—गोल्डनर, वैस्तू०, ३. ९९. टि० ३।

पाश—वैदिक साहित्य में पाश शब्द का प्रयोग बाँधने की रस्सी के अर्थ में हुआ है: ऋ०, १. २४. १३, १५; २. २७. १६; २. २९. ५; अवे०, २. १२. २; ९. ३. २; वासं०, ६. ८; ६. ४५ इत्यादि। पाश और ग्रन्थि= दोनों शब्द एक साथ अथर्ववेद ९. ३. २ में आये हैं। शब्रा० १. ८. १. ५ में मनु की नौका को पर्वत से बाँधने वाली रस्सी को पाश कहा गया है। यह वरुण के पाश को भी जताता है: ऋ० ६. ७४. ४; ७. ८८. ७; १०. ८५. २४; अवे०, ४. १६. ६; तैसं०, २. २. ५. १ इत्यादि। तु०—'वारुणो वै पाशः' तैब्रा० ३. ३. १०. १; 'नैर्ऋतो वै पाशः' शब्रा०, ७. २. १. १५।

पाशद्युम्न वायत—पाशद्युम्न वायत एक राजा का नाम है। ऋग्वेद के एक सूक्त ७. ३३. २ में वसिष्ठों ने उनकी अपेक्षा अपने को इन्द्र का अधिक प्रिय बताया है। वे वयत् के पुत्र हैं। सायण ने भी यही विचार प्रकट किया है। ऋग्वेद १. १२२. ४ के व्यत् से उनको मिलाया जा सकता है। लुड्विग[1] ने पाशद्युम्न वायत को पृथुओं और पर्शुओं का पुरोहित माना है, किंतु यह संदिग्ध है।

पाशिन्—ऋग्वेद और अथर्ववेद में शिकारी के लिए यह शब्द आता है: ऋ० २. ४५. १; ९. ७३. ४; अवे०, १७. १. ८। ऐब्रा०, ४. १० में इसी अर्थ में निर्ऋति शब्द आया है। बाद में यह वरुण का नाम पड़ गया है—'प्रचेता वरुणः पाशी'।

पाष्ठौह—सामविशेष। 'पष्ठवाड् वा एतेनाङ्गिरसश्चतुर्थस्याह्नो वाचं वदन्तीमुपाश्रृणोत् स हो वागिति निधनमुपैत् तदस्याम्युदितं तदहरवसत्' तांब्रा०, १२. ५. ११।

पाष्य—ऋग्वेद १. ५६. ६ में पाषाण-निर्मित के लिए पाष्य शब्द आया है, जहाँ सायण इसका अर्थ 'शिलया शक्त्या' यह करते हैं; ऋ० ९. १०१. २ द्विवचन में यह सोम-सवन में प्रयुक्त पाषाणों के लिये आया है।

पिक—अश्वमेध की बलियों की सूची में पिक का उल्लेख आया है: तैसं०, ५. ५. १५. १; मैसं०, ३. १४. २०; वासं०, २४. ३९; तु०—त्सिमर, आ०ले०, ९२; द्र०—अन्यवाप, कोक।

पिङ्गल—द्र०—१ वर्ण।

पिङ्गा—ऋग्वेद ८. ६९. ९ में पिङ्गा शब्द आया है। सायण और वोबृ० के अनुसार इसका अर्थ धनुर्ज्या है, किंतु हिल्लेब्रांड्ट का विचार है कि यहाँ कोई वाद्य-यन्त्र अभिप्रेत है।[2]

[1] ट्रां० ऋ० ३. १७३; द्र०—गेल्डनर, वैस्तू०, २. १३०, १३९।

[2] द्र० हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १४४ टि०।

पिजवन—निरुक्त २. २४ के अनुसार सुदास् के पिता का नाम पिजवन है। संभवतः ऋग्वेद ७. १८. १९ में सुदास् के लिये प्रयुक्त 'पैजवन' विशेषण के आधार पर यह अनुमान किया गया हो; तु०—ऐब्रा०, ८. २१। यह अनुमान ठीक हो सकता है।

पिञ्जूल—किसी घास, तृण, या दाभ की गुच्छी को पिञ्जूल कहा गया है। हिंदी में हम इसे 'पुञ्जी' कह सकते हैं। यह शब्द केवल ब्राह्मण-शैली में पाया जाता है: कासं०, २३. १; ऐब्रा०, १८. ८; मैसं०, ४. ८. ७ 'पिंजूल': पागृसू०, १. १५; 'पुञ्जील', तैसं०, ६. १. १. ७; ६. २. ४. ३; तैब्रा०, १. ७. ६. ४; २. ७. ९. ५।

पिठीनस्—ऋग्वेद ६. २६. ६ में एक व्यक्ति का नाम पिठीनस् है, जिसे इन्द्र का मित्र भी कहा गया है।[1]

पिण्ड—निरुक्त ३. ४ और लाट्यायन श्रौतसूत्र २. १०. ४ आदि में पितरों को दिये जाने वाले, विशेषतः अमावस्या के अवसर पर संध्या-काल में दिये जाने वाले आटे के पिण्ड का बोधक है।

पिता-पुत्र—अथर्ववेद ६. ११२. २; शब्रा०, १३. २. ४. ४ जैसे कुछ विरल स्थलों पर एक समस्त पद के रूप 'पिता-पुत्र' शब्द का प्रयोग आया है।

पिता-पुत्रीय—पिता और पुत्र से संबद्ध। संप्रदान में प्रयुक्त होनेवाला यह शब्द उस संस्कार को जताता है, जिसमें पिता अन्तिम अवस्था में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को अपने पुत्र में स्थापित करता है। कौषीतकि उपनिषद् २. १५ में इसका उल्लेख है। तु०—इस्तू०, १. ४०८।

पितामह—ततामह शब्द के साथ ही पितामह शब्द भी अथर्ववेद और परवर्ती काल से दादा के अर्थ में आता रहा है अवे०, ५. ५. १; ९. ५. ३०; ११. १. १९; १८. ४. ३५; तैसं०, १. ८. ५. १; ७. २. ७. ३; वासं०, १९. ३६; शब्रा०, ५. ५. ४। व्युत्पत्ति-लभ्य इसका अर्थ है 'पिता महान्'।[2] पितामह के पिता के लिये प्रपितामह और प्रततामह शब्दों का अवे०, १८. ७५ में प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्य में माता के पिता के लिए कोई शब्द नहीं आया है। बाद की भाषा में मातामह शब्द का प्रयोग 'पितामह' शब्द के अनुकरण पर चल पड़ा है।

ऋग्वेद ६. २०. ११ में 'महे पित्रे' का अर्थ डेल्ब्रुक[3]

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५६।

[2] डेल्ब्रुक, दी इंडोजर्मानिश्शन फेरवान्द्सशाफ्त्स नामन, ४७३, ४७४, ४८०।

[3] वही।

पितामह करते हैं, जो बाद में आने वाले नपातम् शब्द के साथ उचित भी प्रतीत होता है; किंतु इस सारी ऋचा का अर्थ अनिश्चित है।[1] राथ ने अपनी डिक्शनरी में डेल्ब्रुक के मत पर संदेह प्रकट किया है, और कहा है कि ऋग्वेद १. ७१. ५ में पितामह का भाव नहीं निकलता।

पितामह का परिवार में क्या स्थान था, इस संबन्ध में बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। निःसंदेह वे पिता-माता के समान आदर के पात्र थे,[2] जैसा कि आर्षकाव्य में आया है (महाभारत, २. १६३४)। पितामह एक संयुक्त परिवार में अध्यक्ष की भांति रहते थे, या पूरे परिवार को वस में न कर सकने पर अपने बड़े पुत्र या संमान करने वाले अन्य पुत्र के साथ रहते थे।

पितामही का उल्लेख विस्तृत वैदिक साहित्य में नहीं मिलता।

पितु—वैदिक साहित्य में यह शब्द आहार, पेय, या खाद्य के लिए प्रयुक्त हुआ है: ऋ०, १. ६१. ७; १. १३२. ६; १. १८७. १; ६. २०. ४ इत्यादि; अवे०, ४. ६. ३; तैसं०, ५. ७. २. ४; वासं०, २. २०; १२. ६५; ऐब्रा०, १. १३। तु० 'अन्नं वै पितु' शब्रा० १. ९. २. २०; ऐब्रा०, १. १३।

पितृ—पिता के अर्थ में ऋग्वेद-काल से ही यह शब्द आता रहा है; किंतु जनितृ की अपेक्षा बच्चे का पालक-पोषक इस अर्थ में ही इसका विशेष प्रयोग है, जो इसका व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी है: √पा-'रक्षा करना'। किंतु वोहटलिङ्गक और वोबू० में 'मातर्' की टिप्पणी में **पा** और **मा** को अधिक प्राचीन माना गया है, जो माता और पिता के लिए प्राचीन अनुकरणात्मक शब्द हैं, और जो बाद में मातृ और पितृ का रूप ले लेते हैं, यद्यपि ये शब्द भी भा-रोपीय काल के शब्द हैं। ऋग्वेद में हर ददान्य एवं दयालु व्यक्ति के लिये पिता शब्द का प्रयोग हुआ है: ऋ० ४. १७. १७; ८. ८६. ४। इसीलिए अग्नि को पिता कहा गया है: ऋ०, १०. ७. ३। इन्द्र को पिता से भी अधिक प्रिय बताया गया है: ऋ० ७. ३२. १९; ८. १. ६। ऋग्वेद ४. १७. १२ में देवों को **पिता-जनिता** कहा गया है। पिता पुत्र को भुजाओं में उठाता है: ऋ० ३८. १; वह उसे अपनी गोद में बिठाता है: ऋ०, ५.४३. ७; पुत्र उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिए उसका पल्ला पकड़कर खींचता है: ऋ० ३. ५३. २। बड़ा हो जाने पर पुत्र कष्ट के समय पिता की सहायता पर निर्भर होता है। ऋ० १०. ४८. १ में जन्तवः संभवतः पुत्र हैं; वह पिता का हर्ष से स्वागत करता है: ऋ० ७. १०३. ३; तु०—१. २४. १।

यह कहना कठिन है कि पुत्र पर पिता का कितना नियन्त्रण था; और यह नियन्त्रण किस आयु तक रहता था। ऋग्वेद २. २९. ५ में अक्ष-क्रीडा करने पर पुत्र को पिता द्वारा दण्डित किये जाने का उल्लेख है; पिता द्वारा ऋज्राश्व के अन्धा बना दिये जाने का भी उल्लेख है: ऋ० १. ११६. १६; १. ११७. १७। ऐब्रा०, ७. १२. १८ में पिता ने शुनःशेप को बेच दिया था, जिसके लिये तुलना करो: शब्रा०, ५. ३३. ३ की। त्सिमर[1] ने पैतृक नियन्त्रण की तुलना रोमन पितृ-अधिकार से की है, किंतु केवल ऋज्राश्व की अर्धपुराकल्पनात्मक कथा के आधार पर इसे उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैदिक काल में पिता का विवाह के संबन्ध में पुत्र पर कोई वैध नियन्त्रण नहीं था।[2] पिता का पुत्री के विवाह पर भी अधिक नियन्त्रण नहीं था।[3]

इसके लिये साक्ष्य नहीं मिलता कि बड़ा हो जाने पर पुत्र विवाह के बाद अपनी पत्नी के साथ पिता के घर पर रहता था, अथवा अपने लिये नया घर बना लेता था। संभवतः भिन्न-भिन्न प्रथाएँ थीं। इसके लिये भी कोई उल्लेख नहीं है कि वह विवाह के अवसर पर धरती को पाता था अथवा पिता की मृत्यु के बाद। किंतु पिता की वृद्धावस्था में उसके लड़के संभवतः संपत्ति को बाँट लेते थे: ऋ० १. ७०. १०; ऐब्रा०, ५. १४; जैब्रा०, ३. १५६; जअओसो० २६. ६१. ६२; अथवा पिता स्वयं इसे उनमें बाँट देता था: तैसं०, ३. १. ९. ४-६; तु०—कौउ०, २. १५ में पिता द्वारा पुत्र को हस्तान्तरण; जीवित अवस्था में वह पुत्र का

[1] द्र०—पिशल, वैस्टू०, २—१२८ टि० १।

[2] डेल्ब्रुक, दी इन्दोज०, ४७३, ४७४, ४८०।

[1] आ०ले०, ३१६।

[2] तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५७६; ५८२, इन्होंने महाभारत १२. व ६१०८ एवं अग्रिम को उद्धृत किया है, जहाँ पिता द्वारा पुत्र के विवाह के नियन्त्रण का उल्लेख है; साथ ही उन्होंने पुत्र द्वारा स्वतन्त्र विवाह करने को भी दिखाया है। अतः यदि पिता पुत्र की बाल्यावस्था में ही उसके विवाह के संबन्ध में कोई शर्त नहीं कर लेता था, तो पुत्र अपना विवाह करने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र होता था।

[3] द्र०—त्सिमर, आ०ले०, ३०९; उन्होंने ऐसा नियन्त्रण माना है, किंतु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता; केवल जैउब्रा०, ३. १२. २ से उनके मत का कुछ समर्थन होता है। तु०—केगी, देर ऋग्वेद, १५ और पंक्ति।

आश्रित रहता था। वृद्ध हो जाने पर पुत्र-वधू के नियन्त्रण में श्वशुर के रहने का भी उल्लेख है : ऋ० १०. ८५. ४६। कुछ दुरूह संदर्भ वृद्धावस्था में पिता को छोड़ देने के भी बताये गए हैं, किंतु वे वैदिक भारत पर सामान्यतः लागू नहीं हैं : ऋ० ८. ५१. २; अवे०, १८. २. ३४; प्रथम स्थल में परित्याग का भाव नहीं माना जा सकता और द्वितीय स्थल में शव के परित्याग का जिक्र है।[1]

सामान्यतः पुत्र का कर्तव्य था कि वह पिता की आज्ञा का पालन करे : ऋ० १. ६८. ५; परवर्ती सूत्रों में पुत्र द्वारा पिता के प्रति किये किये जाने वाले शिष्टाचार एवं उसके उच्छिष्ट भोजन का उल्लेख है : आपधसू०, १. १. ४. ११। दूसरी ओर पिता से यह आशा की जाती थी कि वह दयालु बना रहे। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२, शांश्रौसू० १५. १७ में शुनःशेप की कथा में पिता की हृदयहीनता की कटु आलोचना की गई है। उपनिषदों में पिता द्वारा पुत्र को दिये जाने वाले आध्यात्मिक उत्तराधिकार का उल्लेख मिलता है : कौउ०, २. १५; बृउ०, १. ५. २५ माध्यं=१. ५. १७ काण्व। पुत्र के वयस्क होने पर पिता द्वारा पुत्र का चुम्बन भी प्रेम-प्रदर्शन का चिह्न था[2]।

पुत्र न होने पर दत्तक पुत्र लिया जा सकता था। पुत्र होने पर भी कभी-कभी अच्छे गुण एवं स्वभाव वाले को दत्तक पुत्र बनाने का उल्लेख मिलता है, जैसे विश्वामित्र ने शुनःशेप को ले लिया था[3]। यह बताना दुष्कर है कि क्या एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के पुत्र को गोद ले सकता था; क्योंकि वेबर[4] के मत को मानकर विश्वामित्र को क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता, जिन्होंने ब्राह्मण के पुत्र को अपना दत्तक पुत्र बनाया था। किंतु दत्तक पुत्र लेने की प्रथा को आदर्श नहीं माना जाता था; वसिष्ठ के मण्डल में एक सूक्त ७. ४. ७, ८ में इसकी निन्दा की गई है; हो सकता है कि यह प्रसङ्गवशात् एक सामान्य कथन हो। लड़कियों का पिता भी, जिसे कोई पुत्र न हो, दत्तक गोद ले सकता था। ऋग्वेद ३. ३१. १ में इसका उल्लेख है, जैसा कि यास्क, निरुक्त, ३. ५ की व्याख्या से ज्ञात होता है[1]। साथ ही भ्रातृहीन लड़कियों के विवाह न होने का कारण यह भी था कि उनका पिता उन्हें "पुत्रिका" बना सकता था; अर्थात् उस लड़की से होने वाला लड़का, पति के वंश का न होकर लड़की के पिता के वंश का माना जाता था। तु०—भ्रातृ।

इसमें संदेह नहीं कि माता की अपेक्षा पिता का मान अधिक था : शब्रा०, २. ५. १. १८; शांगृसू०, १. ९; छाउ०, ७. १५. २। परिवार[2] को भूमि पर अधिकार रखने वाली सहकारी संस्था के रूप में नहीं माना जाता

[1] किंतु त्सिमर, आ०ले०, ३२६–३२८ का मत है कि यहाँ परित्याग का ही अर्थ अपेक्षित है; तु०—धर्म।

[2] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, २८, १२०–१३४; कीथ, शांआ०, २६ टि० ३।

[3] तु०—त्सिमर, आ०ले०, ३१८; मेयर, इन्दिश्शेस एरब्रेख्त, ७३; जाली, दी एदाप्सियों इन इन्दीन, व्युर्त्सबुर्ग, १९१०।

[4] एपिश्शेस इम् वैदिश्शन रितुआल ३३. ३४।

[1] तु०—वेबर, इस्तू०, ५. ३४३; गेल्डनर, वैस्तू०, ३. ३४; ओल्डेनबर्ग, ऋ० नो०, १. २३९-२४१।

[2] बादन पावल, जिसकी अनेक रचनाओं ने (इण्डियन विलेज कम्युनिटी १४९६, विलेज कम्युनिटीज़ इन इण्डिया, १८९९) इस बात का प्रतिवाद किया है कि प्राचीन भारत में ग्राम-बिरादरी का धरती पर कानूनी अधिकार था, इस बात को मानते हैं कि परिवार का धरती पर अधिकार था; और उनका कहना है पितृ-प्राधिकार बाद का विकास है, भारतीय नहीं है; दी विलेज कम्युनिटी इन इण्डिया पृ० १२८ एवं आगे। होपकिन्स (इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू पृ० २१८ एवं आगे) मानते हैं कि धरती पर व्यक्ति और संयुक्त परिवार का साथ-साथ अधिकार था। वे मानते हैं कि पुत्र को यह अधिकार था कि वह पिता को धरती बेचने से रोक दे, जो कि एक मात्र ग्राम-बिरादरी की अनुमति से बेची जा सकती थी, यदि वह संयुक्त परिवार की संपत्ति हुई तो (दे० जाली द्वारा उद्धृत पद्य : रेख्त उन्द जित्ते पृ० ९४) किंतु इस प्रसङ्ग में यह याद रखना उचित है कि, जैसा कि पोलक और मेतलैंड ने (हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश ला० २. ३३७–३५२) इंग्लिश ला के विषय में दिखाया है कि वहाँ पुत्रों के अधिकार को मान लेने पर भी संयुक्त परिवार का स्वामित्व नहीं सिद्ध होता—वैसे ही भारत में भी संयुक्त परिवार का अधिकार नहीं सिद्ध हो पाता। और जैसा कि जॉली ने बताया है भारत में पिता का ही शासन परिवार पर बना रहता था, भले ही उसके पुत्र बड़े क्यों न हो गये हों, बशर्ते कि वह स्वयं शरीरतः चुस्त एवं मुस्तैद बना रहा तो। प्राचीन इंग्लिश कानून में भी यही बात चालू थी, जैसी कि यह रोमन ला में तो पक्की तौर से चालू थी ही (देखो स्मिथ की डिक्शनरी आफ ऐण्टिक्विटीज २. ३५१)। ग्रीस में भी पिता

था; द्र० क्षेत्र। "पितरौ" का प्रयोग माता और पिता दोनों के लिए था : ऋ० १. २०. ४; १. १६०. ३; २. १७. ७; ७. ६७. १; कासं०, २३. १०; वासं०, १९. ११ इत्यादि। तु०—सोऽसुरान् सृष्ट्वा पितेवामन्यत। तदनु पितॄनसृजत। तत् पितॄणां पितृत्वम्' तैब्रा०, २. ३. ८. २; मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तम्' शब्रा०, १२. ९. २. २; 'रात्रिः पितरः' शब्रा०, २. १. ३. १; तत् तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति' शब्रा० १३. ८. ५. ७; 'तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः' शब्रा० २. ६. १. १९; अन्तर्हितो हि पितृलोको मनुष्यलोकात्' तैब्रा० १. ६. ८. ६; 'अध इव हि पितृलोकः' शब्रा १४. ६. १. १०; उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणां चैतस्यां ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्' शब्रा० १३. ८. १. ५; पितॄणां वा एषा दिग् यद् दक्षिणा' षब्रा०, ३. १; 'दक्षिणासंस्थो वै पितृयज्ञः' कौब्रा० ५. ७; 'स (सूर्यः) 'यत्रोदङ्ङावर्तते देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति' शब्रा० २. १. ३. ३; 'अथैनं (प्रजापतिं) पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तान् (प्रजापतिः) अब्रवीन् मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति' शब्रा० २. ४. २. २; 'तृतीये हि लोके पितरः' तांब्रा० ९. ८. ५; 'अन्तरिक्षं तृतीयं पितॄन् यज्ञोऽगात्' एब्रा० ७. ५; 'यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः' शब्रा० २. ६. १. ७; 'ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः' तैब्रा० १. ६. ९. ६; 'अर्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः' तैब्रा० १. ६. ८. ३; 'अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः' शब्रा २. ६. १. ७; 'ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः' तैब्रा० १. ६. ९. ६; 'मासा वै पितरो बर्हिषदः' तैब्रा० १. ६. ८. ३; 'तद्ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तः' शब्रा० २. ६. १. ७; 'इन्दव इव हि पितरः। मन इव' तांब्रा० ६. ९. १९–२०; 'पितृलोकः सोमः' कौब्रा० १६. ५; 'संवत्सरो वै सोमः पितृमान्' तैब्रा० १. ६. ८. २; 'ओषधिलोको वै पितरः' शब्रा० १३. ८. १. २०; 'षड् वा ऋतवः पितरः' शब्रा० ९. ४. ३. ८; 'ऋतवः पितरः' कौब्रा० ५. ७; शब्रा० २. ६. १. ३२; 'यद् ऋतवः पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञेनायजन्त तत् पितृयज्ञस्य पितृयज्ञत्वम्' तैब्रा० १. ४. १०. ८; 'शरद् धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः' शब्रा० २. १. ३. १; 'ऋतवः खलु वै देवाः पितरः। ऋतूनेव देवान् पितॄन् प्रीणति। तान् प्रीतान्। मनुष्याः पितरोऽनु प्रपिप्रते' तैब्रा० १. ३. १०. ५; 'क्षत्रं वै यमो विशः पितरः' शब्रा० ७. १. १. ४; 'पितृलोको यमः' कौब्रा० १६. ८; 'यः (अर्धमासः) अपक्षीयते स पितरः' शब्रा० २. १. ३. १; 'अपक्षयभाजो वै पितरः' कौब्रा० ५. ६; 'अपराह्णः पितर' शब्रा० २. १. ३. १; 'तस्मै (चन्द्रमसे) ह स्म पूर्वाह्णे देवा अशनमभिहरन्ति मध्यंदिने मनुष्या अपराह्णे पितरः' शब्रा० १. ६. ३. १२; 'अपराह्णभाजो वै पितरस् तस्मादपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति' गो० उ० १. २४; 'अन्नभाजो वै पितरः' कौब्रा० १६. ८; 'अनपहतपाप्मानः पितरः' शब्रा० २. १. ३. ४; 'पितृदेवत्यो वै कूपः खातः' शब्रा० ३. ६. ११३; 'पितृदेवत्या वै नीविः' शब्रा० २. ४. २. २४; 'अथ या रोहिणी श्येताक्षी (गौः) सा पितृदेवत्या यामिदं पितृभ्यो घ्नन्ति' शब्रा० ३. ३. १. १४; =प्रजापतिः, गोउ० ६. १५; =मनः, शब्रा० १४. ४. ३. १३; 'गृहाणां हि पितर ईशते' शब्रा० २. ४. २. २४; 'सर्वतः पितरः' शब्रा० २. ६. १. ११; 'पराञ्च उ वै पितरः' कौब्रा० ५. ६; 'ह्रीका हि पितरः' तैब्रा० १. ३. १०. ६; 'हरणभागा हि पितरः' तैब्रा० १. ३. १०. ७; 'देवा वा एते पितरः', कौब्रा० ५. ६; 'त्रया वै पितरः (सोमवन्तः, बर्हिषदः अग्निष्वात्ताः)' शब्रा० ५. ५. ४. २८; 'ऊमा वै पितरः प्रातःसवन ऊर्वा माध्यंदिने काव्यास्तृतीयसवने ऊमाः' शब्रा० १३. ८. १. ६; 'स्वधाकारो हि पितॄणाम्' तैब्रा० १. ६. ९. ५; 'कर्मणा पितृलोकः' (जय्यः) शब्रा० १४. ४. ३. २४।

पितृ-देव—पिता को देवता मानने वाला। तैआ०, ७. १० में पिता, माता और अतिथि को देवता के समान मानने का उपदेश दिया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में पितृदेवत्य शब्द आया है। अन्यत्र भी पितृदेवत्य का उल्लेख है : तैसं०, १. ६. ७. ३; ऐब्रा०, १. १४; तैब्रा०, १. ६. ८. ४; २. १. ३. ४; शब्रा०, २. ४. २. १२; ३. ३. १. ४ इत्यादि।

पितृ-याण—पितरों का मार्ग। देवयान के साथ पितृयाण का उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मिलता है : ऋ० १०. २. ७; तु०—१०. १८. १; १०. ९८. ११; अवे०, ८. १०. १९; १२. २. १० इत्यादि; वासं०, १९. ४५; छाउ०, ५. ३. २ इत्यादि। तिलक[1] का मत है कि देवयान का संबन्ध उत्तरायण से और पितृयाण का संबन्ध दक्षिणायन से है। उनके इस कथन का आधार शब्रा० २. १. ३. १–३ है, जिसमें वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा को देवों से संबद्ध कहा गया है, शेष को पितरों से; इस आधार पर

का अधिकार बना हुआ था और समान रूप से परिवार एवं संपत्ति पर उसका अखण्ड अधिकार रहता था; देखो गार्डनर और जेवों, ग्रीक ऐण्टिक्विटीज पृ० ४०४, ४०५, ५६३, ५६६।

[1] ओरायन, २२ एवं आगे।

उन्होंने वसन्त-संक्रान्ति से देवयान और शरत्-संक्रान्ति से पितृयाण का प्रारम्भ माना है। इन्हीं से वे तैब्रा० १. ५. २. ६ के देवनक्षत्र और यम-नक्षत्र का संबन्ध बताते हैं; किंतु ये निष्कर्ष संदिग्ध हैं। द्र०—नक्षत्र और सूर्य।

पितृ-हन्—पितृ-हन्ता। पैप्पलादशाखीय अथर्ववेद ९. ४. ३ में पितृहन् शब्द आया है। तु०—बोहर्टलिंग्क, डिक्शनरी।

पित्त—द्र०—शरीर।

पित्र्य—छाउ० ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १; में विद्याओं की सूची में पित्र्य का उल्लेख है। स्पष्टतः इसे पितृ-पूजा से संबद्ध विज्ञान कहा जा सकता है, जैसा कि भाष्यकार शंकर ने माना है। पित्र्य शब्द वहाँ राशि से पहले आया है। अतः वोबू० में पित्र्य-राशि को एक साथ रखा गया है, किंतु इसका ठीक अर्थ नहीं दिया गया है।

विवरण : वेबर, इस्टू०, १. २६७; लिटिल ग्रामेटिकल इंडेक्स, ९८।

पित्व[1] या **पिद्व**[2]—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों में से यह एक है। तैसं० ५. ५. १७. १ के भाष्यकार के मत से यह सिंह है; किंतु यह पेत्व हो सकता है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ७९; ब्लूमफील्ड, जअओसो०, २९. २९०।

पिनाक—पिनाक (=धनुष्) शब्द अथर्ववेद १.२७.२ में आया है। बाद में यह रुद्र के पिनाक के अर्थ में रूढ़ हो जाता है : तैसं०, १. ८. ६. २; वासं०, ३. ६१; १६. ५१ इत्यादि।

पिन्वन—शब्रा० में किसी यज्ञिय पात्र-विशेष का वाचक है : शब्रा०, १४. १. २. १७; १४. २. १. ११; १४. ३. १. २२।

पिपील, पिपीलिका—चींटी। ऋग्वेद १०. १६. ६ में पिपील को मृत शरीर का खाने वाला कहा गया है। ऋग्वेद ७. ५६. ७ और परवर्ती साहित्य में निःसंदेह पिपीलिका चींटी के अर्थ में आया है।

पिपीलिक-मध्या—अनुष्टुप्। 'इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानां परां परावतमगच्छत् स एतां (पिपीलिक-मध्याम्) अनुष्टुभं व्यौहत्' तांब्रा०, १५. ११. ९।

पिप्पका—तैसं० ५. ५. १९. १ और मैसं०, ३. १४. २१ में अश्वमेध की बलियों की सूची में पिप्पका किसी पक्षी का नाम है।

पिप्पल—ऋग्वेद के दो स्थलों पर यह शब्द पीपली के अर्थ में आया है : ऋ० १. १६४. २०=मुउ०, ३. १. १; श्वेउ०, ४. ६. २२; ५. ५४. १२ 'स्वर्ग का पिप्पल'। किंतु ऋग्वेद में यह शब्द पिप्पल या अश्वत्थ के वृक्ष के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है : इसका प्रयोग यहाँ नपुंसक लिङ्ग में मिलता है। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में पुल्लिङ्ग में यह शब्द अश्वत्थ वृक्ष का वाचक है। बृउ० ४. १. ४१ में पीपल की गुटिका अपेक्षित है; शब्रा०, ३. ७. १. १२ में भी यही अर्थ अपेक्षित है। अथर्ववेद ६. १०९. १, २ में पिप्पली शब्द का घावों की दवा के रूप में अरुंधती के समान प्रयोग उद्दिष्ट है।

विवरण : ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ६१; हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५१६; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३५९, ३६०; त्सिमर, आ०ले० ३८९; मैक्समूलर. सेबुई०, ३२, ३३१।

पिप्पलाद—पिप्पल खाने वाला। प्रश्न उपनिषद् १. १ में एक आचार्य का नाम पिप्पलाद है। बहुवचन में यह शब्द अथर्ववेद की एक शाखा को अभिव्यक्त करता है। इस अथर्ववेद की एक ही पाण्डुलिपि मिली थी, जो अब प्रकाशित हो चुकी है; किंतु अभी उड़िया लिपि में इसकी एक नवीन प्रति उड़ीसा में प्रोफेसर दुर्गामोहन भट्टाचार्य को प्राप्त हुई है, और शीघ्र ही इसके शुद्ध संस्करण के निकलने की आशा की जाती है। द्र०—वेबर, इस्टू०, ३. २७७; इन्दीन लितरात्यूर, १५३, १५९, १६०, १६४; गार्बे और ब्लूमफील्ड, पैप्पलाद-संहिता, बाल्टीमोर १९०१; ह्विटनी का अथर्ववेद का ट्रांसलेशन, जिसमें पैप्पलाद संहिता के पाठों का निर्देश है; बैरेट, जअओसो०, २६. १९७–२९५; ३०. १८७ एवं आगे; तु०—लानमान, ह्विटनी के अथर्ववेद ट्रांसलेशन, ७९ में और आगे।

पिप्पली—अथर्ववेद ६. १०९. २ में घाव भरने वाली ओषधि के रूप में अरुंधती के समान पिप्पली का उल्लेख है। द्र०—पिप्पल।

पिप्रु—ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम पिप्रु है, जिसे इन्द्र ने ऋजिश्वन् के लिए कई बार हराया था : १. १०१. १, २; ४. १६. १३; ५. २९. ११; ६. २०. ७; ८. ४९. १०; १०. ९९. ११; १०; १३८. ३। ऋग्वेद १. १०३. ८; २. १४. ५; ६. १८. ८ में इन्द्र द्वारा पिप्रु की अन्य साधारण पराजयों का उल्लेख है। पिप्रु को पुर् वाला : ऋ० १. ५१. ५; ६. २०. ७; दास : ऋ० ८. ३२. २ और असुर : ऋ० १०. १३८. ३ कहा गया है। उसे काले वर्ण के व्यक्तियों का सहायक बताया गया है : ऋ० १. १०१. १; ४. १६. १३। यह अनिश्चित है कि वह कोई असुर था, दैत्य था, अथवा मनुष्य था। राथ ने उसे दैत्य माना है[1]। लुड्विग[2],

[1] तैसं०, ५. ५. १७. १।
[2] मैसं०, ३. १४. १३; वासं०, २४. ३२।

[1] वोबू०। [2] ट्रां० ऋ०, ३. १४९।

ओल्डेनबर्ग[1] और हिल्लेब्रांड्ट[2] ने उसे मनुष्य माना है। शब्द का अर्थ प्रतिरोध करने वाला हो सकता है।

पिलिप्पिला—'श्रीर्वै पिलिप्पिला' तैब्रा० ३. ९. ५. ३।

पिश—ऋग्वेद १. ६४. ८ में इस शब्द का अर्थ सायण ने रुरु (मृग) किया है; तु०—अवे०, १९. ४९. ४[3]।

पिशंग—पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १५. ३ में नाग-यज्ञ के प्रसङ्ग में उल्लिखित दो उन्नेतृ पुरोहितों में से एक का नाम पिशंग है। द्र०—चक।

तु०—वेबर, इस्टू०, १. ३५।

पिशङ्गिला—'रात्रिर्वै पिशङ्गिला' तैब्रा० ३. ९. ५. ३; 'अहोरात्रे वै पिशङ्गिले' शब्रा० १३. ३. ६. १७।

पिशाच—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में "पिशाच" शब्द प्रेत के अर्थ में आया है: अवे०, २. १८. ४; ४. २०. ६, ९; ४. ३६. ४; ४. ३७. १०; ५. २९. ४, ५, १४; ६. ३२. २; ८. २. १२; १२. १. ५०। ऋग्वेद में भी एक बार १. १३३. ५ में पिशाची शब्द का प्रयोग मिलता है। तैसं० २. ४. १. १ और कासं० २७. १४ में पिशाचों का उल्लेख **राक्षसों** और **असुरों** के साथ आया है। इन्हें देवों, मनुष्यों और पितरों का विरोधी बताया गया है। अथर्ववेद ५. २५. ९ में उन्हें **क्रव्याद्** या मांस खाने वाला कहा गया है, जो पिशाच का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है[4]। संभवतः ग्रियर्सन[5] के अनुसार पिशाच मनुष्यों के शत्रु थे, जैसे कि उत्तर-पश्चिमी वन्य जाति के लोग, जो बाद में भी मनुष्य-मांस खाने वाले—कम से कम यज्ञिय विधान में मनुष्य-मांस खाने वाले कहे गये हैं। यह पूर्णतः ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि आरम्भिक रूप में उन्हें शवभोजी कहा गया है; जब जाति के रूप में उनका उल्लेख आता है तब उनके तिरस्कार के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। उत्तरवैदिक काल में **पिशाच-वेद** (गोब्रा०, १. १. १०) या **पिशाचविद्या** (आश्रौसू०, १०. ७. ६) का भी उल्लेख मिलता है।

पिशित—अथर्ववेद ५. १९. ५ और परवर्ती साहित्य में कच्चे मांस के अर्थ में पिशित शब्द आम है: ऐब्रा०, २. ११; कौसू०, १२. ८. ३५. १८; २९. १४ इत्यादि। तु०—**पिशाच**। अथर्ववेद ६. १२७. १ में इसका अर्थ एक छोटा टुकड़ा प्रतीत होता है, किंतु वीबू० में इसे पिष्ट के अर्थ में लिया गया है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५३१; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३७६।

पिशील—शब्रा० २. ५. ३. ६ में लकड़ी के किसी पात्र या तश्तरी का नाम पिशील है। लाट्यायन श्रौत-सूत्र ४. २. ४. ५ में पिशील-वीणा का उल्लेख है, जो एक ऐसे वाद्य-यन्त्र को जताता है, जिसके लकड़ी के ढांचे पर तार कसे जाते थे।

पिशुन—चुगलखोरों के लिए ऋग्वेद काल में भी पिशुन शब्द का प्रयोग आम रहा है। कहा गया है कि इन्द्र पिशुनों पर हथियार छोड़ते हैं: ऋ० ७. १०४. २०; वासं०, ३०. १३; छाउ०, ७. ६. १; तैब्रा०, ३. ४. ७. १।

पिष्ट—पीसा हुआ। आटे के अर्थ में यह शब्द ब्राह्मणों में आता है: ऐब्रा०, २. ९; शब्रा०, १. १. ४. ३; १. २. १. २; ६. ५. १. ६ इत्यादि। अथर्ववेद १२. २. ५३ में पिष्ट माषों का उल्लेख है।

पीठ—आसन, पीढ़ा। सूत्रों से पहले यह शब्द समास के बिना नहीं आता। वासं० ३०. २१ और तैब्रा०, ३. ४. १७. १ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में किसी पङ्गु के लिये पीठसर्पिन्=पीढ़े पर सरकने वाला विशेषण आया है।

पीतु-दारु—काठक संहिता २५. ६ एवं परवर्ती साहित्य शब्रा०, ३. ५. २. १५; १३. ४. ४. ५, १७; पंविब्रा०, २४. १३. ५ में यह शब्द देवदारु के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ लोगों ने इसे **खदिर** या **उदुम्बर** का पर्याय माना है: महीधर, वासं०, ५. १४ पर सायण, ऐब्रा०, १. २८ पर। तु०—'अथ (प्रजापतेः) यदापोमयं तेज आसीत्। यो गन्धः स सार्धं समवद्रुत्य चक्षुष्ट उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवत् पीतुदारुस्तस्मात् स सुरभिर्गन्धाद्धि समभवत् तस्मादु ज्वलन-स्तेजसो हि समभवत्' शब्रा०, १३. ४. ४. ७।

पीयूष—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पीयूष शब्द सद्यः-प्रसूता गौ के पहले-पहले दूध का वाचक है। ऋ० २. ३५. ५ में यह अग्नि की माताओं का सूचक है; कौसू०, १९. १५; अवे०, ८. ९. २४। धीरे-धीरे रूपक के आधार पर यह शब्द सोम-रस के लिए आने लगा: ऋ० २. १३. १; ३. ४८. २; ६. ४७. ४; १०. ९४. ८ इत्यादि। तु०—गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ११०।

पीला—अथर्ववेद ४. ३०. ३ में एक अप्सरा का यह नाम है। निःसंदेह यह किसी सुगंधि वाले पौधे का वाचक है, क्योंकि **नलदी** और **गुग्गुलु** ये दोनों (अप्सराओं के) नाम उसी ऋचा में हैं। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ६९; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २११।

[1] रिलिजन देस वेद, १५५।

[2] मैकडानल, वैमा०, पृ० १६१।

[3] त्सिमर, आ० ले०, ८३; मैक्सम्युलर, सेबुई० ३२. ११८; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ११०।

[4] तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, २६४ टि०।

[5] जराएसो०, १९०५, २८५—२८८; तु०—मैकडानल, वैमा०, पृ० १६४।

पीलु—अथर्ववेद २०. १३५. १२ में एक वृक्ष (करेय आर्बोरिया या सल्वेडोरा पर्सिका) का नाम है। कपोत इसके फल खाते हैं। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ६२; वेबर, ट्रांजेक्शन आफ दि बर्लिन एकेडमी, १८९५, ८६१।

पीलुमती—अथर्ववेद १८. २. ४८ में उदन्वती और प्रद्यौः नामक स्वर्गों के मध्य में स्थित स्वर्ग का नाम पीलुमती है। वस्तुतः इसका अर्थ है=पीलु से युक्त। तु०—दिव्।

पुंश्चली—पुरुषों के पीछे दौड़ने वाली, 'मर्दोमण्डी'। वासं० ३०. २२, अथर्ववेद १५. २. १ और परवर्ती साहित्य में छनाल स्त्री के लिए पुंश्चली शब्द का प्रयोग मिलता है: पंविब्रा०, ८. १. १०; कौब्रा०, २७. १; लाश्रौसू०, ४. ३. ९. ११। पुंश्चलू शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है: वासं०, ३०. ५, २०; तैब्रा०, ३. ४. १. १; ३. ४. १५. १, काश्रौसू०, १३. ३. ६।

पुंसवन—अथर्ववेद ६. ११. १ में पुंसवन-संस्कार का उल्लेख आया है, जिसका उद्देश्य बालक की (बालिका की नहा) उत्पत्ति है। द्र०—कौसू०[1], ३५. ८; आगृसू०, १. १३; शांगृसू०, १. २०; गोभिल गृसू०, २. ६. १ एवं आगे।

पुक्लक—द्र०—पौल्कस।

पुञ्जिक-स्थला—(अग्नेः) 'पुञ्जिकस्थला च ऋतुस्थला चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः सेना च तु ते समितिश्च' शब्रा० ८. ६. १. १६।

पुञ्जिष्ठ—वासं० १६. २७, तैसं० ४. ५. ४; मैसं० २. ९. ५ और कासं० १७. १३ में मत्स्यमारक=मछमार के लिये यह शब्द आता है; महीधर ने इसका अर्थ व्याध किया है: वासं०, १६. २७ पर द्र०—आश्रौसू०, १०. ७, पाणिनि, ८. ३. ९७।

पुञ्जील—तैसं० ४. १. १. ७; ४. २. ४. ३ और तैब्रा० १. ७. ६. ४; २. ७. ९ ५ में घास की पुंजी के लिये यह शब्द आया है, जो पुंजूल का पाठान्तर हो सकता है।

पुण्डरीक—ऋग्वेद १०. १४२. ८ और परवर्ती साहित्य तैब्रा०, १. ८. २. १; शब्रा०, ५. ५५. ६; बृउ०, २. ३. १०; ६. ३. १४; छाउ०, १. ६. ७; ऐआ०, ३. २–४ में कमल के अर्थ में पुण्डरीक शब्द का प्रयोग मिलता है। पंचविंश ब्राह्मण १८. ९. ६ में कमल को नक्षत्रों की ज्योति से उत्पन्न हुआ बताया गया है। अथर्ववेद १०. ८. ४३ और छाउ० ८. १. १ में कमल को हृदय का उपमान बनाया गया है। तैसं० १. ८. १८. १ और तैब्रा० १. ८. २. १ में पुण्डरि-स्रजा शब्द कमल की माला को जताता है। तु०—'अङ्गिरसः सुवर्गलोके यन्तः अप्सु दीक्षातपसी प्रावेशयन्। तत् पुण्डरीकमभवत्।' तैब्रा०, १. ८. २. १; 'यानि पुण्डरीकाणि तानि दिवो रूपम्। तानि नक्षत्राणां रूपम्' शब्रा० ५. ४. ५. १४।

पुण्ड्र—ऐब्रा० ७. १८ में एक अनार्य जाति का नाम पुण्ड्र है। सूत्रों में भी यह न म आया है। आर्षकाव्य-काल में उनका देश बंगाल और बिहार है: शांश्रौसू०, १५. २६; बौधसू०, १. २. १४। तु०—कालंड, त्सादामौगे०, ५६. ५३३, व्युहलर, सेबुई० १४. १४८; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९४ टि०; उनके परवर्ती स्थान के लिए द्र० पार्जिटर, जराएसो०, १९०८, ३३३ में मानचित्र।

पुण्य—शुभ या शोभन के अर्थ में पुण्य शब्द ऋग्वेद-काल से ही आता रहा है: ऋ० २. ४३. २। पुण्यलोक का भी उल्लेख मिलता है: अवे०, ९. ५. १६; १५. १३. १; वासं०, २०. २५ द्र०—अवे०, १२. ५. ६; ऐब्रा० २. ४०; शब्रा०, ८. ४. ४. ११; तैब्रा०, १. ५. २. १ इत्यादि।

पुत्र—बेटे के अर्थ में पुत्र और सूनु शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद-काल से ही आम रहा है: ऋ० २. २९. ५; ५. ४७. ६; ६. ९. १ इत्यादि; अवे०, २. ३०. २ इत्यादि। प्रारंभिक अर्थ स्पष्टतः "छोटा" या "समान" था[1]। पुत्रक शब्द का प्रयोग केवल पुत्र के लिए ही नहीं, अपितु विशेष प्रेम के साथ किसी भी छोटे व्यक्ति के लिये हुआ है: ऋ० ८. ६९. ८; ऐब्रा०, ५. १४; ६. ३३; शब्रा०, ११. ६. १. २; पंविब्रा०, १३. ३. २१ इत्यादि। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा बार-बार मुखरित हुई है: ऋ० १०. १८३. १; अवे०, ६. ८१. ३; ११. १. १; तैसं०, ६. ५. ६. १; ७. १. ८. १; तैब्रा०, १. १. ९. १। तु०—'पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्' गोपू० १. २; तस्मादुत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवति उप ह वा एनं पूर्ववयसे पुत्रा जीवन्ति' शब्रा० १२. २. ३. ४; 'उप ह वा एनं पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति उपोत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति' गोपू० ४. १७।

पुत्र-सेन—मैसं० ४. ६. ६. में एक व्यक्ति का नाम पुत्रसेन है।

[1] विवरण: ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ह्विटनी, ४६०; परवर्ती कल्पसूत्रों में एक विशेष पुंसवन संस्कार का उल्लेख है।

[2] हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरातूर ४१।

[1] विवरण: डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्द्स्-शाफ्त्सनामन ४५४।

पुत्रिका—परवर्ती साहित्य में पुत्रिका ऐसे व्यक्ति की लड़की को कहा गया है, जिसके कोई पुत्र न हो और जो विवाह के अवसर पर यह स्पष्ट कर दे कि इस लड़की का पुत्र उस व्यक्ति का दाह-कर्म करेगा और उसका ही माना जायगा : माधसू०, ११. १२७ एवं आगे; गौधसू०, २८. २०; वधसू०, १७. १७। निरुक्त में भी इसका उल्लेख है : ३. ५ के अन्त में ऋग्वेद १. १२४. ७ में में भी इसकी झलक मिलती है : तु०—३. ३१. १; किंतु ऋग्वेद के स्थल संदिग्धार्थक हैं, और इस परंपरा की उस समय संभावना कम है[1]।

पुनःस्तोमः—क्रतुः। 'यो बहु प्रतिगृह्य गरगीरिव मन्यते स एतेन (पुनःस्तोमेन) यजेत' तांब्रा०, १९. ४. २।

पुनर्जन्म—'ते य एवमेतद् विदुः। ये वैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः संभवन्ति ते संभवन्त एवामृतत्वमभिसंभवन्त्यथ य एवं न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः संभवन्ति त एतस्य (मृत्योः) एवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति' शब्रा०, १०. ४. ३. १०।

पुनर्दत्त—'फिर से दिया हुआ'। शांआ०, ८. ८. में एक आचार्य का नाम पुनर्दत्त है।

पुनर्भू—अथर्ववेद ९. ५. २८ में पुनर्भू शब्द उस स्त्री के लिए आया है, जो पुनर्विवाह करती है। एक ऐसे कल्प का भी उल्लेख है, जिसके द्वारा वह परलोक में अपने द्वितीय पति के साथ पुनर्योग प्राप्त करती है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५३७।

पुनर्वसु—फिर वसु लाने वाला; द्विवचन में पुनर्वसू। वैदिक नक्षत्रों में पञ्चम स्थान पुनर्वसु का है। ऋग्वेद १०. १९. १ में यही अर्थ राथ को अभिप्रेत है :[2] किंतु यह संदिग्ध है। फिर भी परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नक्षत्रों की सूची में पुनर्वसु पाया जाता है : अवे०, १९. ७. १; तैसं०, १. ५. १. ४; ४. ४. १०. १; तैब्रा०, १. १. २. ३; कौब्रा०, १. ३; कासं०, ८. १५; ३९. १३; शब्रा०, २. १. २. १० इत्यादि। तु०—वेबर, नक्षत्र, २. २८९, २९०; त्सिमर, आ०ले०, ३५५।

पुनश्चितिः—'तद्यच्चितं सन्तं पुनश्चिनोति तस्मात् पुनश्चितिः' शब्रा०, ८. ६. ३. १३।

[1] तु०—गेल्डनर, वैस्टू०, ३. ३४; ऋग्वेद कोमेंटार, ४८. ४९ ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. २३९ एवं आगे; राथ, निरुक्त, एर्लाउटरुङ्गन, २७; जाली, रेख़्त उन्द ज़ित्ते, ७२, ७३; बृहद्देवता, ४. ११०, १११; कीथ, जराएसो०, १९१०, ९२४, ९२५; जाली, दी एडाप्शन इन इन्दीन, ३२।

[2] वोब०।

पुरःसर—पुरः चालू। ऋग्वेद ७. ५५. ३ में यह भौंकने वाले कुत्ते का विशेषण है, जो रात्रि में चोरों पर भौंकता है।[1] जब कुत्ता भौंकता है तब वह सामने आता है, अतः उसका पुनःसर नाम हो सकता है। अथर्ववेद में यह अपामार्ग का नाम है : ४. १७. २; ६. १२९. ३; १०. १. ९।[2] हिन्दी में अपामार्ग को कुत्ता कहते हैं।

पुमान्—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में पुरुष के लिये पुमांस् शब्द आम है : ऋ० १. १२४. ७; १. १६२. २२; ३. २९ १३; ४. ३. १० इत्यादि; अवे०, ३. ६. १; ३. २३. ३; ४. ४. ४; ६. ११. २; वासं०, ८. ५. इत्यादि। इसका संबन्ध पति की भांति न तो विवाह से है, और न नृ या नर की भांति वीरता से है। यह वस्तुतः व्याकरण के पुंल्लिङ्ग का आधार है : निरुक्त, ३. ८; शब्रा०, १०. १. १. ८; १०. ५. १. ३; तु०—४. ५. २, १०; और 'पुंसा नक्षत्रेण' वह नक्षत्र जिसका नाम पुंल्लिङ्ग में हो : बृउ०, ६. ३. १। तु० 'वीर्यं पुमान्' शब्रा०, २. ५. २. ३६।

पुर्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पुर् शब्द किले आदि के अर्थ में आया है : ऋ० १. ५३. ७; १. ५८. ८; १. १३१. ४; १. १६६. ८; ३. १५. ४; ४. २७. १ इत्यादि; तैब्रा०, १. ७. ७. ५; ऐब्रा०, १. २३; २. ११; शब्रा०, ३. ४. ४. ३; ६. ३. ३. २५, ११. १. १. २, ३; छाउ०, ८. ५. ३ इत्यादि। ऐसे किले अवश्य ही विशाल रहे होंगे, क्योंकि उन्हें 'पृथ्वी' एवं 'उर्वी' विशेषण दिये गये हैं : १. १८९. २। कहीं-कहीं अश्ममय अर्थात् पत्थर से बने पुरों का उल्लेख है : ऋ० ४. ३०. २०; तु०—ऋ० २. ३५. ६। कहीं-कहीं आयसी या लोहे के बने पुरों का भी उल्लेख है, किंतु संभवतः यह रूपकात्मक है : ऋ० १. ५८. ८; २. २०. ८; ४. २७. १; ६. ३. ७; ६. १५. ४; ६. ९५. १; १०. १०१. ८।[3] गौओं से भरे किले (गोमती) का भी उल्लेख मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि पशुओं की रक्षा के लिए भी इनका उपयोग होता था : अवे०, ८. ६. २३। 'शारदी' पुरों के संबन्ध में कहा गया है कि वे दासों के थे; इससे ज्ञात होता है कि शरत्काल में उन्हें आर्यों के विरुद्ध दास ले लेते थे; अथवा नदियों की बाढ़ से बचने के लिये उनकी शरण ली जाती थी। शतभुजी या सौ दीवारों वाले पुरों का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० १. १६६. ८; ७. १५. १४।

[1] द्र०—पिशल, वैस्टू०, २. २६ टि०—१।

[2] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, १७९; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३९४; तु०—शब्रा०, ५. २. ४. २०।

[3] द्र०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, २२, ७८ एवं आगे।

मध्यकालीन किलों की भांति ये पुर् प्रतिदिन के उपयोग के लिये थे, ऐसा समझना ठीक नहीं है।[१] वे केवल आक्रमण के समय शरण लेने को होते थे; और कठोर मिट्टी के बने होते थे, जिन्हें परिखा से घेर दिया जाता था (तु०—देही)। पिशल और गेल्डनर का मत है कि लकड़ी की दीवारों और परिखाओं का प्रयोग होता था, जैसा कि मेगस्थनीज और पालि ग्रन्थों में वर्णित पाटलिपुत्र में परवर्ती काल में पाया जाता था।[२] यह संभव तो है, किंतु संदेह-रहित नहीं, क्योंकि नगर शब्द का प्रयोग बाद में मिलता है। कुछ भी हो, प्रारंभिक वैदिक काल में नागरिक जीवन विकसित नहीं हो पाया था; हापकिन्स के अनुसार आर्ष-काव्य में **नगर**, **ग्राम** और **घोष** शब्द मिलते हैं।[3] वैदिक साहित्य में ग्राम की सीमा से आगे सभ्यता का विकास हुआ कठिन प्रतीत होता है; केवल उत्तरकाल में कुछ मामूली से परिवर्तन हुए थे।

किलों के घेरने का उल्लेख संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलता है : तैसं०, ६. २. ३. १; ऐब्रा०, १. २३; शब्रा०, ३. ४. ४. ३–५; गोपथब्रा०, २. २. ७ इत्यादि। ऋग्वेद के अनुसार किलों को तोड़ने के लिये अग्नि का प्रयोग किया जाता था; क्योंकि अधिकांश किलों में घेरा काटों या किसी ऐसी ही चीजों का होता था : ऋ० ७. ५. ३; १०. १०१. ८; ८. ५३. ५।[४]

त्सिमर का कथन है कि न तो जर्मन और न स्लाव लोग ही नगरों में रहते थे; वे वैदिक आर्यों की भांति ग्रामों में ही रहते थे।[५] यह कथन विश्वसनीय प्रतीत होता है; किंतु ग्रीक लोगों के मध्यकालीन किलों के समान किले थे; वे एक आक्रामक जाति के थे। त्सिमर के अनुसार पुर् ग्राम की ही सीमा में होते थे, किंतु बाढ़ से बचने के लिए बनाये गए 'शारदी पुर्' के संबन्ध में उनका कथन संदिग्ध है; तु० ऋ० १. १३१. ४; १. १७४. २; ६. २०. १०। उन पुरों के संबन्ध में यह जोड़ना कि पुरु सिंधु के किसी एक किनारे पर थे, और यह अनुमान लगाना कि **पुरुकुत्स** ने आदिवासियों को किलों में घेर लिया था जिन्हें उन्होंने नदी की बाढ़ से रक्षा के लिये बनाया था, उचित नहीं प्रतीत होता। कठोपनिषद् ५. १ में एकादश-द्वार् एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् ३. १८ के नव-द्वार् पुर के उल्लेख से भी किसी नगर की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि ये शरीर के लिये रूपक हैं।[१] शब्रा०, ११. १. १. २, ३ से यह प्रमाणित होता है कि पुर् में केवल एक द्वार होता था। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ४१२; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४५१; वेबर, इस्तू०, १. २२९; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०३ और **महापुर**।

पुरं-दर—पुरों को नष्ट करने वाला। ऋग्वेद में एवं अन्यत्र **दस्युओं** या **दासों** के पुरों को नष्ट करने के कारण **इन्द्र** को पुरंदर कहा गया है : ऋ०, १. १०२. ७; २. २०. ७; ३. ५४. १५; ५. ३०. ११; अवे०, ८. ८. १; ८. ३. २ इत्यादि। ऋग्वेद १. १०९. ८; ६. १६. १४ में **अग्नि** को भी पुरंदर कहा गया है। द्र०—**पुर्**।

पुरं-धि—ऋग्वेद १. ११६. १३ में **अश्विनों** की कृपा-पात्र एक स्त्री का नाम पुरंधि है। अश्विनों ने उसे **हिरण्यहस्त** नामक एक पुत्र दिया था। तु०—'पुरंधिर्योषेति। योषित्येव रूपं दधाति तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका' शब्रा० १३. १. ९ ६। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३९८।

पुरय—ऋग्वेद की दान-स्तुति ६. ६३. ९ में एक दाता का नाम पुरय है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५८।

पुरश्चरण—'तद्वा एतदेव पुरश्चरणम्। य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा० ४. ६, ७. २१।

१. **पुराण**—इतिहास-पुराण इस द्वन्द्व-समास में पुराण का उल्लेख आम आया है : शब्रा०, ११. ५. ६. ८; छाउ०, ३. ४. १, २; ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १। कभी-कभी यह शब्द अकेले भी आता है, किंतु इतिहास शब्द भी उसके आसपास रहता है, और अर्थ वही होता है जो कि द्वन्द्व समास में : अवे०, १५. ६. ४; शब्रा०, १३. ४. ३. १३; बृउ०, २. ४. १०; ४. १. २; ४. ५. ११; तैआ०, २. ९; जैउब्रा०, १. ५३; पुराण-वेद : शांश्रौसू०, १६. २. २७; पुराणविद्या : आश्रौसू०, १०. ७ इत्यादि। सायण के अनुसार **पुराण** एक कथा है, और वह सृष्टि की आरम्भिक अवस्था का वर्णन करता है, किंतु यह मत चिन्त्य है। पुराण का अर्थ पुरातन काल की कथा है : द्र०—सायण भाष्य भूमिका, ऐतरेय ब्राह्मण पर; वोबू० में उसका उल्लेख है। द्रष्टव्य **इतिहास**।

---

१ वैस्तू०, १. २२. २३, जहाँ क्षिति ध्रुवा, १. ७३. ४ की तुलना की गई है।

२ स्ट्रैबो, ७०२; एरियन, इण्डिका, १०; महापरिनिब्बानसुत्त पृ० १२; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया २६२।

3 जअओसो०, १३. ७७; १७४ एवं आगे।

४ द्र०—त्सिमर, आले०, १४३, १४५; राथ, त्सादामौगे०, ४८. १०९।

५ आले०, १४२–१४८; टैसिटस, जर्मानिया १६; प्रोसोपियस, डि बेलों गोटिको, ३. १४।

१ द्र०—कीथ, ऐतरेय आरण्यक, १८५।

२. पुरा-ण—काठक संहिता ३९. ७ में एक ऋषि का नाम पुराण है।

पुरा-विद्—गोपथ ब्राह्मण १. ५. २४ में पुरावृत्तों के ज्ञाता को पुराविद् कहा गया है।

पुरीकय—अथर्ववेद ११. २. २५ में किसी जल-जन्तु का नाम पुरीकय है, जो मैसं० के पुलीकय का पाठान्तर है: ३. १४. २; पुलीका, ३. १४. ५ कुलीका का पाठान्तर है। वासं० २४. २१, ३५ में कुलीपय शब्द आया है; तैब्रा० ५. ५. १३. १ में इसके लिए कुलीकय शब्द है। तु०—त्सिमर, आले०, ९६; ब्लूमफील्ड, त्सादामौगे०, ४८. ५५७; हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६२१।

पुरीतत्—द्र०—शरीर।

१. पुरीष—कुछ स्थलों पर "सर्वकाम-पूरक" होने से उदक को पुरीष कहा गया है: ऋ० १. १६३. १; ४. २१. ३; ६. ४९. ६.; १०. २७. २१, २३; ५. ४५. ६ इत्यादि। तु०—'अन्नं पुरीषम्' शब्रा० ८. १. ४. ५; ८. ५. ४. ४; 'मांसं पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १९; ८. ६. २. १४; 'स एष प्राण एव यत् पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ३. ६; 'पुरीषं वा इयं (पृथिवी)' शब्रा० १२. ५. २. ५; 'ऐन्द्रं हि पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ३. ७; 'अथ यत् पुरीषं स इन्द्रः' शब्रा० १०. ४. १. ७; 'दक्षिणाः पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १५; 'देवाः पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १७; 'नक्षत्राणि पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १४; 'वयांसि पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १३; 'प्रजा पुरीषम्' शब्रा० ८. ७. ४. १६; 'प्रजा पशवः पुरीषम्' तैब्रा० ३. २. ८. ९; 'गोष्ठः पुरीषम्' तांब्रा० १३. ४. १३; 'पुरीतत् पुरीषम्' शब्रा० ८. ५. ४. ६।

२. पुरीष—कुछ स्थलों पर पुरीष शब्द पूरक के अर्थ में आया है: वासं०, ५. १३; १२. ४६; १३. ३१; १३. ५३; १४. ४; ३८. २१। कुछ स्थलों पर यह आर्द्र-भूमि को जताता है: तैसं०, २. ६. ४. ३; ५. ३. ५. २; शब्रा०, १. २. ५. १७; २. १. २. ७ इत्यादि।

३. पुरीष—गोमय, मल, या विष्ठा के अर्थ में भी अनेक बार पुरीष शब्द आता है: शब्रा०, ६. ७. १. १०; ७. १. २. १५; काश्रौसू०, ९. ६. २२; कौसू०, ४८ इत्यादि।

पुरीषिणी—ऋग्वेद ५. ५३. ९ में एक नदी का नाम या सरयु का विशेषण पुरीषिणी है। इसका अर्थ "अधिक जलवाली", या "पुरीष वहन करने वाली" है। द्र०—राथ, वोबू०; त्सिमर, आले०, १७; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर १११।

पुरीष्य—'पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति' शब्रा० २. १. १. ७।

पुरु-कुत्स—पुरुकुत्स एक राजा का नाम है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में कई बार हुआ है। ऋ० १. ६३. ७ में उन्हें सुदास् का समकालीन कहा गया है, किंतु यह निश्चित नहीं है कि वे सुदास् के शत्रु थे, अथवा केवल समकालीन-मात्र। लुड्विग ने इन्हें शत्रु माना है[1]; किंतु हिल्लेब्रांड्ट ने केवल समकालीन माना है[2]। ऋ० १. ११२. ७, १४; १. १७४. २. में उन्हें दैवी सहायता से विजयी बताया गया है। ऋग्वेद ६. २०. १० में उन्हें पुरुओं का राजा और दासों को जीतने वाला कहा गया है; तु०-१. ६३. ७[3]। उनके पुत्र का नाम था त्रसदस्यु: ऋ० ४. ४२. ८, ९ जिन्हें पौरुकुत्स्य: ऋ० ५. ३३. ८; ८. १९. ३६ और पौरुकुत्सि: ऋ० ७. १९. ३ भी कहा गया है। ऋग्वेद के जिस सूक्त में पुरुकुत्स के पुत्र की उत्पत्ति बताई गई है, उससे विभिन्न निष्कर्ष निकाले गए हैं: ऋ० ४. ४२. ८, ९ पर सायण भाष्य।[4] सामान्यतः उल्लेख इस प्रकार है कि पुरुकुत्स के पतन पर उनकी पत्नी ने राज्य की रक्षा के लिये एक पुत्र प्राप्त किया। यह कथन अश्वमेघ के प्रसङ्ग में है और इसका इतना ही अर्थ है कि त्रसदस्यु अश्व-वीर्य से उत्पन्न है, जैसा कि अश्वमेघ में राजाओं की पत्नियों के अश्व-वीर्य धारण करने के संस्कार पर होता है; दौर्गह= दुर्गह अश्व इस नाम का आधार यही है।[5] शब्रा० १३. ५. ४. ५ में दौर्गह की व्याख्या से भी उक्त कथन का समर्थन होता है। क्योंकि पुरुकुत्स को सुदास् का समकालीन माना गया है, अतः दाशराज्ञ युद्ध में उनके पराभूत होने पर पुरुकुत्सानी ने त्रसदस्यु को वंश-रक्षा के लिए उत्पन्न किया होगा; ऋ० ७. १८; तु०—७. ८ में पुरुओं की एक पराजय का जिक्र। शब्रा० १३. ५. ४. ५ में पुरुकुत्स को ऐक्ष्वाक बताया गया है। तु०—इक्ष्वाकु।

पुरुकुत्सानी—ऋग्वेद ४. ४२. ९ में पुरुकुत्स की पत्नी का नाम पुरुकुत्सानी है। उनके पुत्र का नाम त्रसदस्यु है।

---

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १७४; यहाँ सुदास् को सुदासम् के रूप में ग्रहण किया गया है, जो विश्वसनीय हो सकता है।

[2] वैमि० १. ११५; तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २०४, २०५, २१९।

[3] ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ५५. ३३०।

[4] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स १२. २६६. २६७।

[5] द्र०—जीग, दी ऩा० ऋ०, ९६. १०२। तु०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०३।

पुरु-णीथ शातवनेय—शातवत्ति का वंशज। ऋग्वेद १. ५९. ७ में एक यज्ञकर्ता या पुरोहित का नाम पुरुणीथ शातवनेय है; इन्हें भारद्वाज कहा गया है। ऋग्वेद ७. ९. ६ में उन्हीं को गायक कहा गया है; किंतु यह संदिग्ध है। राथ ने अपनी डिक्शनरी में दोनों ही स्थलों पर गान अर्थ लिया है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६०; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. ६०।

पुरु-द्म—अथर्ववेद ७. ७३. १ में बहुवचन में पुरुदम का उल्लेख है; लुड्विग ने गायकों के व्यक्तिवाचक नामों की संभावना अभिव्यक्त की है।[1] किंतु राथ और ह्विटनी ने केवल विशेषण माना है, जिसका अर्थ होगा 'बहुत घरों वाले'।[2]

पुरु-दस्म—'बहुदान इति हैतद् यदाह पुरुदस्म इति' शब्रा० ४. ५. २. १२।

पुरु-पन्था—ऋग्वेद ६. ६३. १० में उदारतापूर्वक दान देने वाले भारद्वाज व्यक्ति का नाम पुरुपन्था है।

पुरु-माय्य—ऋग्वेद ८. ६८. १० में इन्द्र के किसी कृपापात्र का नाम पुरुमाय्य है। यह संभव है कि वे उसी सूक्त में उल्लिखित अतिथिग्व, ऋक्ष और अश्वमेध के पिता या उनसे संबद्ध रहे हों। तु०—लुड्विग ट्रां० ऋ०, ३. १६३।

पुरु-मित्र—ऋग्वेद १. ११७. २०; १०. ३९. ७ में पुरुमित्र एक ऐसी लड़की के पिता हैं, जिसने पिता की इच्छा के विपरीत विमद से विवाह किया था।

पुरु-मीळ्ह—ऋग्वेद १. १५१. २; १. १८३. ५ में एक प्राचीन ऋषि के रूप में पुरुमीळ्ह का उल्लेख है। अथर्ववेद ४. २९. ४; १८. ३. १५ में भी वैसा ही है। ऋग्वेद ५. ६१. ९ में भी संभवतः उन्हीं का उल्लेख है। इसका बृहद्देवता ५. ४९, सर्वानुक्रमणी के षड्गुरुशिष्य के भाष्य[3] और सायण के ऋग्वेद-भाष्य से समर्थन होता है। तरन्त और वे विददश्व के पुत्र तथा श्यावाश्व के आश्रयदाता थे। ओल्डेनबर्ग इसे ठीक नहीं मानते; उनका मत है कि पुरुमीळ्ह को वैददश्वि कहना गलत व्याख्या करना है; यहाँ केवल पुरुमीळ्ह के उदारदातृत्व की तुलना की गई है[4]।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. २५।
[2] द्र०—वोबू०; ट्रां० अवे०, ४३७।
[3] मैकडानल का संस्करण, पृ० ११८।
[4] द्र०—वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शेन रितुआल, २७ टि०, ३। ग्रीग, दी जा० ऋ०, ६२ टि० २।
[5] ऋग्वेद-नोटन, १. ३५३, ३५४; तु०—मैक्सम्युलर, सेबुई०, ३२. ३५९; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ३५४. टि० १।

पंचविंश ब्राह्मण १३. ७. १२ में पाए जाने वाले एक अन्य आख्यान में, जो ऋग्वेद ९. ५८. ३ पर आधृत है, पुरुमीळ्ह और तरन्त को ध्वस्र और पुरुषन्ति से दान लेने वाला विददश्व का पुत्र कहा गया है। इस आख्यान की, जो शाट्यायनक (सायण द्वारा ऋ० भाष्य में उद्धृत) में भी आता है, ग्रीगने अच्छी व्याख्या की है। उनका मत है कि दोनों ही राजा थे; अतः उन्हें नियमतः भेंट लेने की आवश्यकता नहीं थी, जब तक कि वे ऋषि नहीं बन गये थे[1]। ओल्डेनबर्ग का कथन है कि इस आख्यान की सत्यता संदिग्ध है[2]।

पुरुष या पूरुष—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में मनुष्य के लिए सामान्य नाम पुरुष या पूरुष है: ऋ० ७. १०४. १५; १०. ९७. ४, ५, ८; १०. १६५. ३; अवे०, ३. २१. १. ५. २१. ४; ८. २. २५; ८. ७. २; १२. ३. ५१; १२. ४. २५; १३. ४. ४२; तैसं०, २. १. १. ५; २. २. २. ८; ५. २. ५. १. इत्यादि। मनुष्य कितने भागों का है, इस संबन्ध में वैदिक ग्रन्थों में विभिन्न मत हैं: वह पाँच भागों का है: अवे०, १२. ३. १०; पंविब्रा०, १४. ५. २६; ऐब्रा०, २. १४; ६. २९; वह छः भागों का है: शांश्रौसू०, १६. ४. १६; वह पाँच या बीस भागों का है: पंविब्रा०, २३. १४. ५; वह २१ भागों का है: तैसं०, ५. १. ८. १; शब्रा०, १३. ५. १. ६; ऐब्रा०, १. १८; ऐआ०, १. २. ४ इत्यादि; वह चौबीस भागों का है: शब्रा०, ६. २. १. २३; वह २५ भागों का है: शांश्रौसू०, १६. १२. १०; शांआ०, १. १; ऐआ०, १. २. ४। ये सभी संख्याएं मनमानी हैं। मनुष्य को पशुओं में प्रथम माना गया है: शब्रा०, ६. २. १. १८; ७. ५. २. १७; वह पशुओं का स्वामी है: कासं०, २०. १०; किंतु वह पशु भी है: द्र०—पशु। कात्यायन श्रौतसूत्र १६. ८. २१, २५ में मनुष्य की ऊँचाई चार अरत्नि बताई गई है; जिनमें प्रत्येक अरत्नि दो पदों की है, प्रत्येक पद १२ अंगुलियों का है। स्वतः पुरुष लम्बाई का एक मान-दण्ड भी है: शब्रा०, १. २. ५. १४; १३. ८. १. १९; तैसं०, ५. २. ५. १।

पुरुष शब्द का प्रयोग इन अर्थों में भी हुआ है; मनुष्य की आयु, पीढ़ी: तैसं०, २. १. ५. ५; ५. ४. १०. ४;

[1] दी जा ऋ०, ६३।
[2] द्र०—त्सादामौगे०, ४२. २३२ टि०—१; ऋग्वेद-नोटन, १. ३५४ में उन्होंने दिखलाया है कि आख्यान को अनुक्रमणी में नहीं ग्रहण किया गया; वहाँ ऋषि की सूची में अवत्सार नाम दिया गया है, तरन्त और पुरुमीळ्ह का नहीं।

शब्रा०, १. ८. ३. ६; द्विपुरुष=दो पीढ़ियां : ऐब्रा०, ८. ७ इत्यादि। आँख की कनीनिका : शब्रा०, १०. ५. २. ७, ८; १२. ९. १. १२; बृउ०, २. ३९; वैयाकरण की भाषा में क्रिया का पुरुष : निरुक्त ७. १. २। तु० 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूषु पुरिशयः' शब्रा० १६. ५. ५. १८; 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः' शब्रा०, १३. ६. २. १; 'प्राण एष स पुरि शेते तं पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते' गोपू०, १. ३९; 'स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान्पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः' शब्रा०, १४. ४. २. २; 'अथ यः पुरुषः स प्राणस्तत् साम तद् ब्रह्म तदमृतम्' जैउब्रा०, १. २५. १०; 'पुरुषो वा अक्षितिः' शब्रा०, १४. ४. ३. ७; 'पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा' शब्रा०, ७. ५. २. १७; 'प्राजापत्यो वै पुरुषः' तैब्रा०, २. २. ५. ३; 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' शब्रा०, ४. ३. ४. ३; 'पुरुषः प्रजापतिः' श०, ६. २. १. २३; ७. ४. १. १५; 'सौम्यो वै देवतया पुरुषः' तैब्रा०, १. ७. ८. ३; 'पुरुषं प्रथममालभते। पुरुषो हि प्रथमः पशूनाम्' शब्रा०, ६. २. १. १८; 'पशवः पुरुषः' तैब्रा०, ३. ३. ८. २; 'पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः' शब्रा०, १. ३. २. १; 'पुरुषो यज्ञः' शब्रा०, ३. १. ४. २३; कौब्रा०, १७. ७; 'पुरुषो वै यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिर्वर्षाणि तत् प्रातः सेवनम्। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशतं वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनम्। अथ यान्यष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणि तत् तृतीयसवनम्। स (महिदास ऐतरेयः षोडशशतं (२४+४४+४८=११६) वर्षाणि जिजीव' जैउब्रा०, ४. २. १–११; 'पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदं सर्वं मितम्' शब्रा०, १०. १. १. २; 'पुरुषसंमितो यज्ञः' शब्रा, ३. १. ४. २३; 'अपां गर्भः पुरुषः स यज्ञः' गोपू०, १. ३९; 'पुरुष उद्गीथः' जैउब्रा०, १. ३३. ९; 'पुरुषोऽग्निः' शब्रा०, १०. ४. १. ६; १४. ९. १. १५; 'पुरुषो वै समुद्रः' जैउब्रा०, ३. ३५. ५; 'पुरुषो वाव संवत्सरः' गोपू०' ५. ३. ५; शब्रा०, १२. २. ४. १; 'पुरुष एव सविता' जैउब्रा०, ४. २७. १७; 'पुरुषो वाव होता' गोउ०, ६. ६; 'पुरुष एव षष्ठमहः' कौब्रा०, ३३. ४; 'अथैष एव पुरुषो योऽयं चक्षुषि' जैउब्रा०, १. २७. २; 'षोडशकलो वै पुरुषः' तैब्रा०, १. ७. ५. ५; 'सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदशो ग्रीवाः षोडश्यः शिरः सप्तदशम्' शब्रा०, ६. २. २. ९; 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' शब्रा०, १४. ७. १. १७; 'काममय एवायं पुरुषः इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' शब्रा० १४. ७. २. ७; 'अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात् प्रैत्येवंक्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसंभवति' शब्रा०, १०. ६. ३. १; 'व्याममात्रो वै पुरुष' : शब्रा०, ७. १. १. ३७; 'द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषः' ऐब्रा०, २. १८; गोपू०, ४. २४; तैब्रा०, ३. ९. १२. ३; 'द्विपाद् वै पुरुषः' ऐब्रा०, ४. ३; 'पुरुषो वै ककुप्' तांब्रा०, ८. १०. ६; 'वैराजो वै पुरुषः' तांब्रा०, २. ७. ८; 'गायत्रो वै पुरुषः' ऐब्रा०, ४. ३; 'औष्णिहो वै पुरुषः' ऐब्रा०, ४. ३; 'पाङ्क्तः पुरुषः' कौब्रा०, १३. २; 'पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पञ्चधा विहितो लोमानि त्वगस्थि मज्जा मस्तिष्कम्' गोउ०, ६. ६. ८; शब्रा०, १०. २. ३. ५; तैब्रा०, १. ५. ९. ७; 'षड्विधो वै पुरुषः षडङ्गः' ऐब्रा०, २. ३९; 'सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि' शब्रा०, ६. १. १. ६; 'अवछितो ह वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद् वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद् वासो बिभर्त्येतां ह्यस्मिंस्त्वचमदधुस्तस्माद्ध सुवासा एव बुभूषेत् स्वया त्वचा समृध्या इति तस्मादप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति' शब्रा०, ३. १. २. १६; 'विदलसंहित इव वै पुरुषस्तद्धापि स्यूमेव मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते' ऐब्रा०, ४. २२; 'विंशो वै पुरुषो दश हि हस्त्या अङ्गुल्यो दश पाद्याः' तांब्रा०, २३. १४. ५; 'चतुर्विंशो वै पुरुषो दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि' शब्रा०, ६. २. १. २३; 'एतावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया' तांब्रा०, ३. ४. ५; 'शतायुर्वै पुरुषः' कौब्रा०, ११. ७; 'शतायुर्वै पुरुषः शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रियः उप य एकशततमः स आत्मा' कौब्रा०, १८. १०; 'शतायुर्वै पुरुषः शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रिय उप यैकशततमी (ऋक्) स यजमानलोकः' कौब्रा०, २५. ७; तैब्रा०, १. ७. ६. ४; ऐब्रा०, २. १७; शब्रा०, ४. ३. ४. ३; ५. ४. १. १३; 'अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति' शब्रा०, १. ९. ३. १९।

पुरुष-मृग—वन्य मानव पशु। अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में तैसं०, ५. ५. १५. १; मैसं, ३. १४. १६; वासं०, २४. ३५ में यह शब्द आता है। त्सिमर के अनुसार वानर अभिप्रेत है, जो ठीक प्रतीत होता है।[1] उनके अनुसार केवल पुरुष शब्द भी अथर्ववेद में ६. ३८. ४ में वानर या उसकी आवाज (=मायु) के लिये प्रयुक्त हुआ है। किंतु यह आवश्यक नहीं है; ब्लूमफील्ड ने इसे स्वीकार नहीं किया है।[2] ह्विटनी भी मायु को मनुष्य की आवाज नहीं मानते।[3]

[1] आ०ले०, ८५।

[2] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ११७।

[3] ट्रां० अ०वे०, ३०९।

१. **पुरुष-मेध**—पुरुषमेध एक यज्ञ है, जिसका उल्लेख आम मिलता है। इस यज्ञ की बलियों में सभी प्रकार के पुरुषों की गणना है। किंतु पशुओं की भांति उन्हें मारा नहीं जाता था, अपितु यज्ञ की समाप्ति पर छोड़ दिया जाता था। तु०–'तस्य (पुरुषस्य वायोः) यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधस् तदस्यैतदन्नं मेधस् तस्मात् पुरुषमेधोऽथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषानालभते तस्माद्वेव पुरुषमेधः' शब्रा० १३. ६. २. १; 'इमे वै लोकाः पुरुषमेधः' शब्रा० १३. ६. १. ९; 'सर्वं पुरुषमेधः' शब्रा० १३. ६. १. ६; 'पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत् सोऽश्वं प्राविशत्' ऐब्रा० २. ८; 'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत, अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् तमाहरत् तेनायजत तेनेष्ट्वात्यतिष्ठित् सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद' शब्रा० १३. ६. १. १।

२. **पुरुष-मेध**—महीधर के अनुसार वासं० २०. ३० के रचयिता ऋषि का नाम **पुरुषमेध** है।

पुरुष-हस्तिन्—पुरुष के हाथ वाला। अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में यजुर्वेद संहिता में वानर के अर्थ में यह शब्द आया है : वासं०, २४. २९; मैसं०, ३. १४. ८।

पुरुषन्ति—ऋग्वेद १. ११२. २३; ९. ५८. ३ में इन्हें अश्विनों का कृपापात्र कहा गया है, और दूसरे संदर्भ में इन्हें वैदिक गायकों को दान देने वाला बताया गया है। दोनों स्थानों पर यह नाम **ध्वसन्ति** या **ध्वस्र** के साथ आया है। ये नाम जिस रूप में आये हैं, उससे तो इनके पुरुष होने का आभास मिलता है, किंतु साथ ही व्याकरण की दृष्टि से ये नाम स्त्रीलिङ्ग के भी हो सकते हैं। यदि पञ्चविंश ब्राह्मण के साक्ष्य को निर्णायक माना जाय तो यह मानना होगा कि यहां सती का अर्थ अभिप्रेत है। पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ७. १२ में पाठ **"ध्वस्रेपुरुषन्ती"**= ध्वस्रा और पुरुषन्ती है। राथ का मत है कि **ध्वस्रे** यहां गलत पाठ है, जो ऋग्वेद के "ध्वस्रयोः" इस द्विवचन के अनुकरण पर है, जो पुंल्लिग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में हो सकता है। सायण ने सर्वत्र पुंल्लिङ्ग लिया है : ऋ० ९. ५८. ३; और १. ११२. २३ पर सायण द्वारा उद्धृत शाट्यायनक। द्रष्टव्य **तरन्त** और **पुरुमीळ्ह**। तु०–वेबर, एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल २७ टि० १, ग्रीग, दी ज़ा० ऋ०, ६२, ६३; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२, २३२ टि० १।

पुरु-हन्मन्—ऋग्वेद ८. ७०. २ में एक ऋषि का नाम है। ऋग्वेदानुक्रणी के अनुसार वे आङ्गिरस थे, किंतु पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ९. २९ के अनुसार वे **वैखानस** थे।

तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०७।

पुरू-रवस्—ऋग्वेद १०. ९५ में एक नायक का नाम पुरूरवा है, जिनका संवाद अप्सरा **उर्वशी** के साथ दिया गया है। शब्रा० ११. ५. १. १ में भी उनका नाम आया है, जहाँ ऋग्वेद के संवाद को एक कथा के रूप में जोड़ा गया है; तु०–शब्रा०, ३. ४. १. २२; कासं०, ८. १०; निरुक्त, १०. ४६। परवर्ती साहित्य में वे एक राजा के रूप में आते हैं[१]। संभवतः ऋग्वेद १. ३१. ४ में भी उनका नाम आता है। यह कहना कठिन है कि वे केवल पौराणिक व्यक्ति हैं, अथवा वास्तविक। उनका ऐल विशेषण='इडा या याज्ञिक देवता का वंशज' उनके पौराणिक होने की संभावना को पुष्ट करता है : शब्रा०, ११. ५. १. १।

पुरूरु—ऋग्वेद ५. ७. १ में एक कवि का नाम पुरूरु है, जिसे लुड्विग[२] आत्रेय बताते हैं। किंतु एक ही बार पाया जाने वाला **"पुरूरुणा"** शब्द "दूर एवं विस्तृत" अर्थ में अव्यय भी हो सकता है।

पुरू-वसु—अधिक धन वाला। लुड्विग के अनुसार ऋग्वेद ५. ३६. ३ में एक आत्रेय कवि का नाम पुरूवसु है[३]। किंतु यह चिन्त्य है।

पुरो-गव—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त १०. ८५, ८ में विवाह का प्रस्ताव करने के लिए **पुरोगन्ता** को पुरोगव कहा गया है। **पुरोगन्ता** के अर्थ में अन्यत्र भी अनेक बार यह शब्द आया है : ऋ० १०. १३७. ७; अवे०, १२. १. ४०; १८. ४. ४४ इत्यादि।

पुरो-डाश—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में याज्ञिक पदार्थ-विशेष को पुरोडाश कहा गया है : ऋ० ३. २८. २;

---

१ द्र०–गेल्डनर, वैस्तू०, १. २८३ एवं आगे। तु०–वेबर, इस्तू०, १. १९६; मैक्समूलर, चिप्स, ४². १०९ एवं आगे; कुह्न, दी हेराबकुम्फ्त देस फायर्स ८५ एवं आगे; राथ, नि० एर्लाटरुङ्गन, १५३; ओल्डेनबर्ग, सेबुई० ४६, २८, ३२३।

२ ट्रां० ऋ०, ३. १२६ में। तु०–ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २१५ टि० १; ऋग्वेद नोटन, १. ३६०।

३ द्र०–ट्रां० ऋ०, ३. १२६।

४ तु०–ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे; ४२. २१५ टि०–१; ऋग्वेद नोटन १. ३३३।

३. ४१. ३; ३. ५२. २; ४. २४. ५; ६. २३. ७; ८. ३१. २ इत्यादि; अवे०, ९. ६. १२; १०. ९. २५; १२. ४. ३५; १८. ४. २; तैसं०, २. ३. २. ८; ७. १. ९. १; वासं०, १९. ८५; २८. २३ इत्यादि। तु०—'सः (कूर्मरूपेणाच्छन्नः पुरोडाशः) वा एभ्यः (मनुष्येभ्यः) तत्पुरोदशयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत् तस्मात् पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति' शब्रा० १. ६. २. ५; 'पुरो वा एतान् देवा अक्रत यत् पुरोडाशस्तत् पुरोडाशानां पुरोडाशत्वम्' ऐब्रा० २. २. ३; 'यजमानो वै पुरोडाशः' तैब्रा० ३. २. ८. ९; 'आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः' कौब्रा० १३. ५–६; 'पशोर्वै प्रतिमा पुरोडाशः' तैब्रा० ३. २. ८. ८; 'पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत् पुरोडाशः' शब्रा० १. २. ३. ५; 'स वा एष पशुरेवालभ्यते यत् पुरोडाशस्तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि ये तुषाः सा त्वग् ये फलीकरणास्तदसृग् यत् पिष्टं किक्कसास्तन्मांसं यत् किंचित् कं सारं तदस्थि सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते' ऐब्रा० २. ९; 'पशवो वै पुरोडाशाः' तांब्रा० २१. १०. १०; 'मेघो वा एष पशूनां यत् पुरोडाशः' कौब्रा० १०. ५; 'ततिर्वै यज्ञस्य पुरोडाशः' कौब्रा० १०. ५; 'शिरो ह वा एतद् यज्ञस्य यत् पुरोडाशः' शब्रा० १. २. १. २; 'मस्तिष्को वै पुरोडाशः' तैब्रा० ३. २. ८. ७; 'आग्नेयः पुरोडाशो भवति' शब्रा० २. ४. ४. १२।

पुरो-धा—पुरोहित या कुलविप्र के लिए अथर्ववेद में एवं तत्पश्चात् यह शब्द मिलता है; इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक पुरोहित का पद सामान्यतः स्वीकृत हो चुका था। द्र०—अवे०, ५. २४. १; तैसं०, २. १. २. ९; ७. ४. १. १; तैब्रा०, २. ७. १. २; पंविब्रा०, १३. ३, १, २; १३. ९. २७; १५. ४. ७; ऐबा०, ७. ३१; ८. २४, २७; शब्रा०, ४. १. ४. ५।

पुरोऽनुवाक्या—प्रस्तावना-मन्त्र। किसी देवता को होम में भाग लेने के लिये आमन्त्रित करने के मन्त्र को पुरोऽनुवाक्या कहते हैं। इसके बाद **याज्या-मन्त्र** पढ़ा जाता था, जिसके साथ वास्तविक बलि दी जाती थी।[1] ओल्डेनबर्ग के अनुसार ऐसे संबोधन ऋग्वेद में भी विरल हैं।[2] परवर्ती काल में ये नियमित होते गए, और इनका नाम भी संहिताओं एवं ब्राह्मणों में प्रयुक्त होने लगा : तैसं०, १. ६. १०. ४, २. २. ९२; वासं०, २०. १२ इत्यादि ऐब्रा०, १. ४. १७, २. १३. २६; तैब्रा०, १. ३. १. ३; शब्रा०, २. ५. २. २१ इत्यादि। तु० 'प्राण एव पुरोऽनुवाक्या' शब्रा०, १४. ६. १. १२; 'पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयति' शब्रा०, १४. ६. १. ९।

पुरो-रुच्—कुछ निविद्-मन्त्रों का शास्त्रीय नाम पुरोरुच् है। ये प्रार्थना सूक्त के पहले आज्य और प्रउग समारोहों के अवसर पर प्रातःसवन में प्रयुक्त होते थे। यह शब्द परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आता है : तैसं०, ६. ५. १०. १३; ७. २. ७. ४; ऐब्रा०, २. ३९; ४. ५; कौब्रा०, १४. १. ४. ५; शब्रा०, ४. १. ३. १५; ४. २. १. ८; ५. ४. ४. २० इत्यादि।[1] तु० 'तं (यज्ञं) पुरोरुग्भिः प्रारोचयन् यत् पुरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत्पुरोरुचां पुरोरुक्तम्' ऐब्रा०, ३. ९; 'अथ वै पुरोरुगसावेव योऽसौ (सूर्यः) तपत्येष हि पुरस्ताद् रोचते' कौब्रा०, १४. ४; 'अथ वै पुरोरुगात्मैव' कौब्रा०, १४. ४; 'अथवा पुरोरुक् प्राण एव' कौब्रा०, १४. ४; 'वीर्यं वै पुरोरुक्' शब्रा०, ४. ४. २. ११; 'पुरोरुग् वै वाक्' कौब्रा०, १४. ५।

पुरो-वात—पूर्वी हवा। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में यह शब्द आम है : तैसं०, १. ६. १. ३; २. ४. ७. १; ४. ३. ३. १; ४. ४. ६. १; मैसं०, ३. १. ५; शब्रा०, १. ५. २. १८; छाउ०, २. ३. १ इत्यादि। गेल्डनर[2] के अनुसार यह वर्षा के साथ बहने वाली हवा की ओर संकेत करता है।

पुरो-हित—पुरः=आगे, हित=रक्खा हुआ=नियुक्त। ऋग्वेद एवं बाद में यह ब्राह्मण के लिए आया है : ऋ० १. १. १; १. ४४. १०, १२; २. २४. ९; ३. २. ८; ३. ३. २; ५. ११. २; ६. ७०. ४ इत्यादि; अवे०, ८. ५. ५; वासं०, ९. २३; ११. ८१; ३१. २०; ऐब्रा०, ८. २४ इत्यादि; निरुक्त २. १२; ७. १५। पुरोहित के काम पुराहिति : ऋ० ७. ६०. १२; ७. ८३. ४ और **पुरोधा** कहा गया है। यह स्पष्ट है कि पुरोहित किसी राजा या संपन्न व्यक्ति का कुल-विप्र होता था। उसके सर्वथा निरिक्त पद का आभास इस बात से मिलता है कि वैदिक साहित्य में केवल एक पुरोहित को रखने का उल्लेख है; किंतु गेल्डनर[3] के मत में एकाधिक पुरोहित संभव थे। इन्होंने सायण के ऋग्वेदभाष्य १०. ५७. १ का हवाला दिया है, जिसमें शाट्यायनक से **गौपायनों** और राजा **असमाति** की कथा दी गई है। उन्होंने **वसिष्ठ** और **विश्वा-**

[1] द्र०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३८७।
[2] द्र०—त्सादामौगे०, ४२. २४३ एवं आगे; फिर बेर्गेन्य, रिशेर्शे स्यूर ल् हिस्त्वार द ला लितुर्जी वैदिक।

[1] तु०—हिल्लेब्राण्ट, रितुआल लितरात्यूर, १०२।
[2] द्र०—वैस्टू०, ३१. १२० टि०—२।
[3] वैस्टू०, २. १४४।

मित्र के एक साथ सुदास् के पुरोहित होने का भी जिक्र किया है; किंतु दोनों का एक ही समय पुरोहित होना असंभव है, विशेषतः जब हम हार्पकिंस[1] की इस बात पर ध्यान देते हैं कि विश्वामित्र दाशराज्ञ युद्ध में विरोधी दस राजाओं के साथ थे, जिन्होंने सुदास् पर असफल आक्रमण किया था : ऋ० ७. १८। दूसरा कथानक, जिसे ओल्डेनबर्ग[2] ने दर्शाया है, कल्पनात्मक है, विशेषतः जब सभी अन्य स्थलों पर पुरोहित के लिए एकवचन का प्रयोग हुआ है। यज्ञ में केवल एक ब्रह्मन् ऋत्विज् होता था, अतः पुरोहित ब्रह्मन् के रूप में कार्य करता था। कुछ पुरोहित ये थे : वसिष्ठ या विश्वामित्र भरतों के राजा तृत्सुवंशीय सुदास् के : ऋ० ३. ३३. ५३; ७. १८. ५३ और कुरुश्रवण के पुरोहित थे। ऋ० १०. ३३ और देवापि शंतनु के पुरोहित : ऋ० १०. ९८ थे। पुरोहित राजा के धार्मिक कृत्यों में उसका प्रतिरूप होता था। ऐब्रा०, ८. २४ में विधान है कि याज्ञिक कार्यों के संपादन के लिये राजा को एक पुरोहित अवश्य रखना चाहिये, अन्यथा देवता उसके हवन को स्वीकार न करेंगे। पुरोहित अपनी प्रार्थनाओं द्वारा युद्ध-क्षेत्र में राजा की विजय और सुरक्षा को पक्का करता है; वह अन्नोत्पादन के लिए वर्षा कराता है। द्र०—अवे०, ३. १९; ऋ० ७. १८. १५; आगृसू०, ३. १२. १९, २०; तु० पूरु ऋ० १०. ९८। पुरोहित समिद्ध अग्नि है, जो राज्य की रक्षा करता है : ऐब्रा०, ८. २४. २५; दिवोदास् विपत्ति में भरद्वाज से सहायता पाते हैं : पंविब्रा० १५. ३. ७। राजा त्र्यरुण त्रैधातव ऐक्ष्वाकु रथ से एक ब्राह्मण बालक के दब जाने पर अपने पुरोहित वृशजान को कड़वी सुनाते हैं : पंविब्रा०, १३. ३. १२।[3] राजा और पुरोहित के निकट संबन्ध का पता कुत्स औरव के कथानक से मिलता है, जिन्होंने अपने पुरोहित उपगु सौश्रवस को अपने शत्रु इन्द्र को बलि देने के विश्वासघात के कारण मार डाला था : पंविब्रा०, १४. ६. ८। राजा और पुरोहित के विवाद भी मिलते हैं, जैसे जनमेजय और कश्यपों के; विश्वतन्त्र और श्यापर्णों के : ऐब्रा०, ७. २७. ३५; तथा असमाति और गौपायनों के; द्र०—शाट्यायनक, सायण द्वारा ऋ० १०. ५७. १ के भाष्य में उद्धृत; तु०—जैब्रा०, ३. १६७।[4] कभी-कभी कई राजाओं का एक ही पुरोहित होता था; उदाहरणार्थ, देवभाग श्रौतर्ष कुरुओं और सृञ्जयों के पुरोहित थे : शब्रा०, २. ४. ४. ५;

[1] जअओसो०, १५. २६० एवं आगे।

[2] रिलिजन देस वेद, ३७५ टि०—३।

[3] द्र०—ग्रीग, दी, जा. ऋ०, ६४ एवं आगे।

[4] जअओसो०, १८. ४१।

(सायण के मत से ऋ० १. ८१. ३ के आधार पर राहूगण गोतम पुरोहित थे, किंतु यह ठीक नहीं)[1]। जल जातूकर्ण्य काशी, विदेह और कोसल के राजाओं के पुरोहित थे : शांश्रौसू०, १६. २९. ५।

पुरोहित का पद किसी वंश के लिए पारंपरिक होता था, इसका साक्ष्य नहीं मिलता; किंतु ऐसा होना संभव है[2]। कुछ भी हो, राजा कुरुश्रवण और उसके पुत्र उपमश्रवस् के पुरोहित के संदर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अमूमन पुत्र पिता के समय के पुरोहित को ही नियुक्त करता था : ऋ० १०. ३३।

त्सिमर[3] का विचार है कि राजा स्वयं पुरोहित का कार्य करता था, जैसा कि विश्वतन्त्र के कथानक से पता चलता है, जिन्होंने श्यापर्णों की सहायता लिए बिना ही यज्ञ संपन्न किया था : ऐब्रा०, ७. २७[4]। उनका यह भी मत है कि पुरोहित के लिए कुल-विप्र होना अनिवार्य नहीं था, जैसा कि देवापि और शंतनु के प्रसङ्ग से प्रमाणित होता है। उनके ये विचार चिन्त्य, है क्योंकि ऐसा नहीं कहा गया है कि विश्वतन्त्र ने पुरोहितों के विना यज्ञ किया था; और देवापि को निरुक्त २. १० से पहले कहीं भी राजा नहीं बताया गया है; फिर यह भी तो आवश्यक नहीं है कि यास्क का इस विषय में मत ठीक ही हैं।

गेल्डनर[5] के अनुसार पुरोहित प्रारम्भ से ही ब्रह्मन् ऋत्विज् का काम करता था और वह यज्ञ का प्रधान संरक्षक होता था[6]। इस कथन की सिद्धि के लिए वे वसिष्ठ के पुरोहित (ऋ० १०. १५०. ५) और ब्रह्मन् (ऋ० ८. ३३. ११) दोनों होने के उल्लेख को प्रस्तुत करते हैं; किंतु यहां ब्रह्मन् केवल ब्राह्मण के अर्थ में है। शुनःशेप के यज्ञ के समय वे ब्रह्मन् थे : ऐब्रा०, ७. १६. १; शांश्रौसू०, १५. २१. ४; जब कि वे सुदास् के पुरोहित थे : शांश्रौसू०, १६. ११. १४। बृहस्पति को देवों का पुरोहित : ऋ० २. २४. ९; ऐब्रा०, ३. १७. २; तैब्रा०, २. ७. १. २; शब्रा०, ५. ३. १. २; शांश्रौसू०, १४. २३. १; और ब्रह्मन् कहा गया है : ऋ० १०. १४१.

[1] द्र०—गेल्डनर, वैस्तू०, ३. १५२; वेबर, इस्तू०, २. ९ टि०।

[2] द्र०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३७५।

[3] आले० १९५, १९६।

[4] म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४३६–४४०।

[5] वैस्तू०, २. १४४; ३. १५५।

[6] तु०—पिशल, गोगेआ०, १८९४, ४२०; हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरात्यूर, १३।

३; कौब्रा०, ६. १३; शब्रा०, १. ७. ४. २१; शांश्रौसू०, ४. ६. ९। वसिष्ठ लोग भी पुरोहित होने के साथ यज्ञ के समय ब्रह्मन् होते थे : तैसं०, ३. ५. २. १; पंविब्रा०, १५. ५. २४, तु०—गोब्रा०, २. २. १३। अतः यह स्पष्ट है कि पुरोहित कभी-कभी ब्रह्मन् भी होते थे। इससे यह स्वाभाविक जान पड़ता है, जैसा कि बाद में हुआ भी था, कि ब्रह्मन् का महत्व यज्ञ के अवसर पर सर्वाधिक होता था[1]। किंतु प्रारम्भिक यज्ञों में भी ब्रह्मन् का इतना ही महत्त्व था, इस बात के विषय में संदेह है। ओल्डेनबर्ग[2] का यह विचार ठीक प्रतीत होता है कि जब कभी भी पुरोहित यज्ञ में भाग लेता था तब वह होतृ का कार्य करता था। अतः देवापि का होतृ होना ही संभव है : ऋ० १०. ९८; तु०—पंविब्रा०, १४. ६. ८; आगृसू०, १. १२. ७। अग्नि को भी पुरोहित : ऋ० १ १. १; ३. ३. २; ३. ११. १; ५; ११. २; ८. २७ १; १०. १. ६ और होतृ : ऋ० १. १. १; ३. ३. २; ३. १. १; ५. ११. २ कहा गया है। आप्रीसूक्तों में दोनों दैवी होतृ-ऋत्विजों को पुरोहित भी कहा गया है : ऋ० १०. ६६. १३; १०. ७०. ७। निःसंदेह बाद में जब पुरोहित का कार्य कुल-विप्र के रूप में सीमित न रहा तब जादू-टोटके जानने के कारण वह ब्रह्मन् बन गया, जो अपने यातु-प्रयोग से यज्ञ की त्रुटियों को दूर कर देता था; तु०—ऐब्रा०, ७. २६।

इसमें कुछ संदेह है कि पौरोहित्य के प्रारम्भिक विकास में भी क्या पुरोहित ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। ऐतिहासिक काल में वह राजा की असली शक्ति का प्रतिनिधान करता है। उसके सार्वजनिक कार्यों पर—जैसे कि न्याय एवं अन्य राज-व्यवहार—पड़नेवाले महान् प्रभाव की बात भी सोची जा सकती है; किंतु यह संभव नहीं, जैसा कि राथ[3] और त्सिमर[4] का मत है कि पुरोहित ने वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया था। ऋग्वेद में विप्र-वर्ग की सत्ता विद्यमान है; द्र०—वर्ण।

तु०—'न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत' ऐब्रा० ८. २४; 'आदित्यो वाव पुरोहितः' ऐब्रा० ८. २७; 'वायुर्वाव पुरोहितः' ऐब्रा० ८. २७; 'अग्निर्वाव पुरोहितः' ऐब्रा० ८. २७; 'अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चमेनिर्यत् पुरोहितः' ऐब्रा०, ८. २५; 'अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चमेनिर्यत् पुरोहितस्तस्य वाच्यैवैका मेनिर्भवति पादयोरेका त्वच्येका हृदय एकोपस्थ एका ताभिर्ज्वलन्तीभिर्दीप्यमानाभिरुपोदेति राजानम्' ऐब्रा० ८. २४; 'अर्धात्मो ह वा एष क्षत्रियस्य यत् पुरोहितः' ऐब्रा० ७. २६।

पुलस्ति या पुलस्तिन् — याजुष-संहिताओं में "कपर्दिन्" का प्रतीपी पुलस्ति (तैसं० ४. ५. ९. १; वासं०, १६. ४३) या पुलस्तिन् शब्द कासं०, १७. १५ में 'मामूली जूड़े में बाल बांधने वाला' इस अर्थ में आता है। तु०—त्सिमर, आले०, २६५।

पुलिन्द—विजातीय पुलिन्दों का उल्लेख अन्ध्रों के साथ शुनःशेप की कथा के प्रसङ्ग में ऐब्रा० ७. १८ में आया है; किंतु शांश्रौसू० १५ २६ में इनका उल्लेख नहीं है। फिर इनका नाम अन्ध्रों के साथ अशोक के समय में मिलता है[1]।

पुलोकय—द्र०—पुरीकय।

पुलीका—मैसं० ३. १४. ५. में पुलीका शब्द किसी पक्षि-विशेष का बोधक है। वासं० २४. २४ में यह शब्द कुलीका के रूप में आया है।

पुलुष प्राचीन-योग्य—प्राचीनयोग का वंशज पुलुष। जैउब्रा० ३. ४०. २ में दृति एन्द्रोत शौनक के शिष्य और एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है। इन्होंने पुलुषि सत्ययज्ञ को शिक्षा दी थी।

पुष्कर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में नीलकमल का वाचक है : ऋ० ६. १६. १३; ७. ३३. ११; अवे०, ११. ३. ८; १२. १. २४; तैसं०, ५. १. ४. १; ५. २. ६. ५; वासं०, ११. २९; तैब्रा०, १. २. १. ४; शब्रा०, ४. ५. १. १६; मैसं०, ३. १. ५। अथर्ववेद १२. १. २४ में इसकी मधुर गन्ध का उल्लेख है। ये झीलों में उगते थे; अतः उन्हें पुष्करिणी कहा गया है : ऋ० ५. ७८. ७; १०. १०७. १०; अवे० ४. ३४. ५; ५. १६. १७; बृउ०, ४. ३. ११ इत्यादि। पुष्कर का प्रयोग आरम्भ से ही प्रसाधन के लिए होता था, इसका संकेत अश्विनों के पुष्करस्रज् नाम से मिलता है : ऋ० १०. १८४. २; अवे०, ३. २२. ४; शब्रा०, ४. १. ५. १६ इत्यादि।

आकार-साम्य के कारण स्रुवा के प्याले वाले भाग को पुष्कर कहा गया है। संभवतः यह ऋग्वेद ८. ७२.

---

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५८, ६२, ६५, ६८ एवं आगे।

[2] रिलिजिन देस वेद, ३८०, ३८१।

[3] त्सुर लितरात्यूर उन्द गेशिश्ते देर वेद, ११७ एवं आगे।

[4] आले०, १९५। तु०—मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर ४८५; ह्याग, ब्रह्म उन्द दी ब्राह्मनन, ९ एवं आगे।

[1] द्र०—विंसेंट स्मिथ, त्सादामौगे०, ५६. ६५२।

११ में भी, और ऐब्रा० ७. ५ में निश्चित है। इसके अतिरिक्त निरुक्त ५. १४ के अनुसार पुष्कर का एक अर्थ जल है, जो शब्रा० ६. ४. २. २ में आता है। तु०—त्सिमर, आले०, ७१। तु०—'इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्रवीद् बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपां रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात् पूष्करं पूष्करं ह वै तत् पुष्कर मित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ७. ४. १. १३; 'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे' गोपू० १. १६; 'आपो वै पुष्करम्' शब्रा० ६. ४. २. २।

पुष्कर-पर्ण—'आपः पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ६. ४. १. ९; ६. ४. २. २; 'द्यौः पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ६. ४. १. ९; 'इयं (पृथिवी) वै पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ७. ४. १. १२; 'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ७. ४. १. १२; 'वाक् पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ६. ४. १. ७; 'योनिर्वै पुष्करपर्णम्' शब्रा०, ६. ४. १. ७।

पुष्कर-साद - कमल पर बैठने वाला। याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक जीव-विशेष का नाम पुष्करसाद है: तैसं०, ५. ५. १४. १; मैसं०, ३. १४. १२; वासं०, २४. ३१। यह सर्प नहीं है।[1] राथ इसे पक्षी समझते हैं।[2] तैत्तिरीय-संहिता के भाष्यकार ने इसे भ्रमर माना है।

पुष्करसादि—द्र०—**पौष्करसादि**।

पुष्करिणी—पुष्कर-युक्त जलाशय के अर्थ में पुष्करिणी शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम रहा है: ऋ० ५. ७८. ७; १०. १०७. १०; अवे०, ४. ३४. ५; ५. १७. १६; शब्रा०, १४. ७. १. ११; कौसू०, १०६ इत्यादि।

पुष्टि-गु—ऋग्वेद ८. ५१. १ के एक वालखिल्य सूक्त में एक ऋषि का नाम पुष्टिगु है। तु०—लुड्विग. ट्रां० ऋ०, ३. १४०, १४१।

पुष्प—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में फूल के अर्थ में यह शब्द आम रहा है: अवे०, ८. ७. १२; तु०—१०, ८. ३४; वासं०, २२. २८; पंविब्रा०, ८. ४. १; १५. ३. २३; तैसं०, ५. ४. ४. २; छाउ०, ३. १. २; बृउ०, ६. ४. १ इत्यादि।

पुष्य—अथर्ववेद १९. ७. २ में पुष्य एक नक्षत्र का नाम है, जिसे अन्यत्र **तिष्य** कहा गया है। तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३७१; तिष्य के संबन्ध में द्र०—जराएसो०, १९११. ५१४, ५१८; ७४९-८००)।

पूत-क्रता—ऋग्वेद के वालखिल्य-सूक्त ८. ६४. ४ में एक स्त्री का नाम पूतक्रता है; संभवतः यह **पूतक्रतु** की स्त्री है; किंतु यह संदिग्ध है, क्योंकि शुद्ध रूप **पूतक्रतायी** प्रतीत होता है; तु० पाणिनि, ४. १. ३६; शेफ्तलोवित्स ने उस सूक्त में यही नाम पढ़ा है: दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, ४१, ४२।

पूत-क्रतु—पवित्र अन्तरानुभूति या शक्ति वाला। ऋ०, ८. ६८. १७ में एक आश्रयदाता, स्पष्टतः **अश्वमेध** के पुत्र का नाम पूतक्रतु है।

विवरण: लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३; शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, ४१ में ऋग्वेद ८. ५६. २ के **पूतक्रता** को **पूतक्रतु** के रूप में पढ़ते हैं, किंतु यह चिन्त्य है। द्रष्टव्य, ओल्डेनबर्ग, गोगेआ०, १९०७, २३७, २३८; वेबर, ऐपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, ३९ टि०—४।

पूति-रज्जु—अथर्ववेद ८. ८. २ में राथ[1] के अनुसार किसी पौधे का नाम है। कौशिक सूत्र १६. १० में इसे **पूतरज्जु**=पवित्र रस्सी कहा गया है, किंतु लुड्विग[2] इससे यहाँ सर्प लेते हैं। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५०३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ०दि अथर्ववेद, ५८३।

पूतीक—एक पौधे का नाम है, जिसे बहुधा सोम का प्रतिनिधि माना गया है: कासं०, ३४, ३;[3] शब्रा०, १४. १. २. १२; तु० ४. ५. १०. ४; पंविब्रा०, ८. ४. १; ९. ५. ३ इत्यादि। तैसं०, ३. ५. ३. ५ में **पर्णवल्क** के विकल्प के रूप में दूध जमाने का इसे साधन बताया गया है। इसे प्रायः गिलाण्डिना बोण्ड्यू (Guilandina Bondue) कहा गया है, किंतु हिल्लेब्रांड्ट[4] इसे बैसेला कार्डीफोलिया (Basella Cordifolia) बताते हैं। तु० 'गायत्री सोममहरत् तस्या अनुविसृज्य सोममरक्षिः पर्णमच्छिनत् तस्य योंऽशुः परापतत् स पूतीकोऽभवत् तस्मिन् देवा ऊतिमविन्दन् ऊतीको वा एष यत् पूतीकानभिषुण्वन्त्यूतिमेवास्मै विन्दन्ति' तांब्रा०, ९. ५. ४; 'तस्य (सोमस्य) ये ह्रियमाणस्यांशवः परापतंस्ते पूतीका अभवन्' तां० ८. ४. १; 'यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि' तां० ९. ५. ३। तु०—राथ, त्सादामौगे०, ३५. ६८९; त्सिमर, आ०ले०, ६३. २७६।

पूतु-द्रु—अथर्ववेद और याजुष संहिताओं में देवदारु का दूसरा नाम पूतु-द्रु है: अवे०, ८. २. २८; तैसं०, ६. २. ८. ४; मैसं०, ३. ८. ५। कौशिक सूत्र ८. १५; ५८.

---

[1] जैसा कि त्सिमर ने कहा है: आ०ले०, ९५।
[2] वोबू०।

[1] वोबू०।
[2] ट्रां० ऋ०, ३. ५२७।
[3] वोबू० में 'पूतिक' शब्द है।
[4] वैमि०, १. २४ टि०, ३ में।

१५ में पूतु-दारु शब्द का प्रयोग मिलता है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ५९।

पूरु—ऋग्वेद में जन और उनके राजा का नाम पूरु है। ऋ० १. १०३. ८ में उनका उल्लेख यदु, अनु, द्रुह्यु और तुर्वशों के साथ हुआ है। सुदास् की विजय के प्रसङ्ग में ऋ० ७. १८. १३ में उन्हें तृत्सुओं का शत्रु बताया गया है; तु०—तुर्वश। हापकिन्स[1] और गेल्डनर[2] का विचार है कि इस ऋचा में 'जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्' शब्दों से पूरु-राज का तथा विश्वामित्र का उल्लेख है, जिन्होंने सुदास् की पराजय के लिए असफल प्रार्थना की थी। हापकिन्स ने 'विदथे मृध्रवाचम् का अर्थ' 'सभा में असत्य बोलने वाला' किया है, किंतु गेल्डनर का कहना है कि जब राजा युद्ध कर रहा था, तब पुरोहित ने सभा में उसकी विजय के लिये प्रार्थना की थी। ऋ० ७. ८. ४ में यह कथन है कि भरतों का अग्नि पूरुओं पर विजयी हुआ। संभवतः यहाँ भी उसी पराजय का उल्लेख है। दूसरी ओर आदिवासियों पर पूरुओं की विजय का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है: ऋ० १. ५९. ६; १. १३१. ४; १. १७४. २; ४. २१. १०; ४. ३८. १; ६. २०. १०; ७. ५. ३; ७. १९. ३। पूरुओं के प्रमुखराजा पुरुकुत्स और उनके पुत्र त्रसदस्यु हैं, जिनकी आदिवासियों पर विजय का संकेत उनके नाम में है। एक उत्तरवर्ती राजा तृक्षि त्रासदस्यव हैं।

ऋग्वेद में पूरुओं को सरस्वती के तट पर माना गया है: ७. ९६. २। संभवतः ऋग्वेद ८. ६४. १०, ११ में उन्हें शर्यणावन्त् पर माना गया है। त्सिमर[3] का विचार है कि वहाँ पर तात्पर्य सिन्धु से है। किंतु लुड्विग[4] और हिल्लेब्राण्ड्ट[5] के अनुसार कुरुक्षेत्र में पूर्वी सरस्वती से तात्पर्य है। इस मत से वैदिक परंपरा में पूरुओं का नाम एकाएक लुप्त हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि पूरु लोग कुरुओं में घुलमिल गये, जैसे कि तुर्वश और क्रिवि लोग पञ्चालों में मिल गए थे[6]। ऋग्वेद १०. ३३. ४ में कुरुश्रवण का पैतृक नाम त्रासदस्यव इस बात को सूचित करता है कि पूरुओं और कुरुओं में वैवाहिक संबन्ध स्थापित हो गये थे।

[1] जअओसो०, १५. २६३।
[2] वैस्तू०, २. १३५।
[3] आ०ले०, १२४।
[4] ट्रां० ऋ०, ३. १७५।
[5] वैमि०, १. ५०, ११५; ३. ३७४।
[6] द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०४; तु०—लुड्विग, उपर्युक्त, ३. २०५।

हिल्लेब्राण्ड्ट ने यह मानकर कि पूरु लोग परवर्ती काल में पूर्वी देश में सरस्वती के किनारे रहते थे, यह कहा है कि शुरू-शुरू में वे दिवोदास के साथ सिन्धु के पश्चिम में बसते थे।[1] यह कथन दिवोदास् के सुदूर पश्चिम में होने के मत से मिलता है। इस मत की इस तथ्य से पुष्टि होती है कि परवर्ती काल में सिकन्दर के आक्रमण के समय सरस्वती और पश्चिम के मध्य हिडेस्पेस पर पौरव नाम का राजा राज करता था। इस विषय में यह माना जा सकता है कि हिडेस्पेस या तो पूरुओं का आरंभिक निवास है, जहाँ कुछ पूरु बच गए थे, जब कि उनकी बहुसंख्या पूरब की ओर बढ़ गई थी, अथवा इसमें किसी परवर्ती पौरव राजा के झंडे तले पौरवों का पूरब से पश्चिम की ओर विजय का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद के कुछ अन्य स्थलों पर जन के रूप में पूरु अभिप्रेत मालूम पड़ते हैं: १. ३६. १; १. ६३. ७; १. १३०. ७; १. १२९. ५; ४. ३९. २; ५. १७. १; ६. ४६. ८; १०. ४. १; १०. ४८. ५। निरुक्त ८. २३, निघण्टु २. ३ में पूरु का अर्थ 'मनुष्य' भी दिया गया है, किंतु किसी भी स्थल पर यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। पूरु का अर्थ परंपरागत वैदिक साहित्य में इतना छिप गया है कि शब्रा०, ६. ८. १. १४ में ऋग्वेद ७. ८. ४ की व्याख्या में पूरु को असुर-राक्षस बताया गया है। आर्ष-काव्य-काल में फिर पूरु को ययाति और शर्मिष्ठा का पुत्र बताया गया है।[2]

विवरण: हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. १५०; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३९८।

पूरुष—कुछ स्थलों पर पूरुष का अर्थ सेवक ठीक लगता है: ऋ० ६. ३९. ५; १०. ९७. ४; अवे०, ४. ९. ७; १०. १. १७; शब्रा०, ६. ३. १. २२ इत्यादि।[3] द्र०—पुरुष।

पूर्ण-मास—यह शब्द पूर्णिमा और उस दिन के उत्सव को अभिव्यक्त करता है: तैसं०, १. ६. ७. २; २. २. १०. २; २. ५. ४. १; ३. ४. ४. १; ७. ४. ८. १; तैब्रा०, १. २. १. १४; ३. ५. ७. १३; शब्रा०, ११. २. ४. ८। द्र०—मास।

पूर्त[1] या पूर्ति[2]—ये शब्द पुरोहित को दी जानेवाली दक्षिणा के बोधक हैं: ऋ० ६. १६. १८; ८. ४६. २१; अवे०, ६. १२३. ५; ९. ५. १३; ९. ६. ३१; वासं०,

[1] वैमि०, १. ११४ एवं अग्रिम।
[2] द्र०—पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, २६ इत्यादि।
[3] तु०—पिशल, वैस्तू०, १. ४३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ३८३।

१८. ६४; ऐब्रा०, ७. २१. २४ इत्यादि। २–ऋ० ६. १३. ६; १०. १०७. ३; तैसं०, १. २. ३. २; २. ४. ७. १ इत्यादि। द्र०–दक्षिणा।

पूर्-पति—पुर् या किले का स्वामी। ऋग्वेद में केवल एक बार १. १७३. १० में यह शब्द आता है, जहाँ इसका अर्थ अनिश्चित है। इसका अर्थ ग्रामणी जैसा कोई पदाधिकारी हो सकता है। पुर् तब अधिकृत निवास-स्थान के अर्थ में आता होगा। हो सकता है कि पूर्पति आक्रमण के समय बनाए गए पुर् के अधिपति का वाचक हो। तु०–सायणभाष्य; लुग्विग, ट्रां० ऋ० ३. २०४।

पूर्व-चित्ति—वासं० १५. १९ में एक अप्सरा का नाम है।

पूर्व-ज—पुरखाओं के अर्थ में पूर्वज शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम रहा है: ऋ०–८. ६. ११; १०. १४. १५; वासं०, १६. ३२ इत्यादि। किंतु प्रारम्भ में पहले उत्पन्न उसी पीढ़ी के लोगों को भी पूर्वज कहा जाता था। तैसं०, ३. ५. ३. १ में भ्रातृव्य के लिए यह शब्द आया है।

पूर्व-पक्ष—मास के पूर्वार्घ का वाचक है। द्र०–मास। तु० 'संज्ञानं विज्ञानं दर्शादृष्टेति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि' तैब्रा०, ३. १०. १०. २।

पूर्व-वयस—जीवन का प्रथम भाग। ब्राह्मणों में यह शब्द यौवन के अर्थ में आया है: पंविब्रा०, १९. ४. ३; शब्रा०, १२. २. ३. ४; १२. ९. १. ८; तैब्रा०, ३. ८. १३. ३; तु०–ऐआ०, ५. ३. ३।

पूर्व-वह—अश्व के अर्थ में आया है: तैब्रा०, १. १. ५. ६; शब्रा०, २. १. ४. १७; कासं०, १२. ३। यह या तो सबसे आगे चलने वाले अश्व का वाचक है, अथवा रथ में सर्वप्रथम जुड़ने वाले अश्व का वाचक है, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार ने कहा है। तु० 'न्याहवनीयो गार्हपत्यमकामयत। निगार्हपत्य आहवनीयम्। तौ विभाजं नाशक्नोत्। सोऽश्वः पूर्ववाड् भूत्वा प्राञ्चं पूर्वमुदवहत्। तत् पूर्ववाहः पूर्ववाट्त्वम्' तैब्रा०, १. १. ५. ६। तु०–वोबू।

पूर्वाह्न—दिन का प्रथम भाग। ऋग्वेद-काल से ही यह शब्द मध्याह्न से पूर्व के दिन का वाचक रहा है: ऋ० १०. ३४. ११; ऐब्रा०, ७. २०; शब्रा०, १. ६. ३. १२; ३. ४. ४. २; छाउ०, ५. ११. ७; निरुक्त, ८. ९ इत्यादि।

पूल्य या पूल्प—अथर्ववेद १४. २. ६३ में यह शब्द भुने हुए अन्न का वाचक है। द्र०–ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ७६५। तु०–लाजा।

पूषन्—ऋग्वेद के एक प्रमुख देवता पूषन् हैं। वे पोषण से संबद्ध हैं। वे सभी जीवों को देखने वाले हैं: ऋ० ३. ६२. ९। उनके रथ को अज खींचते हैं: ऋ० १. ३८. ४, ६. ५५. ३, ४। शब्रा०, १. ७. ४. ७ के अनुसार वे अदन्त हैं। वे सभी मार्गों के ज्ञाता हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे मार्ग की कठिनाइयों को दूर करें: ऋ० १. ४२. १–३। उनका सूर्य से निकट संबन्ध है। विवरण: मैकडानल, वैमा०, पृ० ३५–३७। तु० 'अन्नं वै पूषा' कौब्रा०, १२. ८;=पशवः, ऐब्रा०, २. २४; शब्रा०, ५. २. ५. ८; १३. १. ८. ६; ३. १. ४. ९; 'पौष्णाः पशवः' शब्रा०, ५. २. ५. ६; 'पूष्णो रेवती (नक्षत्रम्) गावः परस्ताद् वत्साः अवस्तात्' तैब्रा०, १. ५. १. ५; 'पूषा विशां विट्पतिः' तैब्रा०, २. ५. ७. ४; 'प्रजननं वै पूषाः' शब्रा०, ५. २. ५. ८; 'पूषा वै पथीनामधिपतिः' शब्रा०, १३. ४. १. १४; 'पूषा भगं भगपतिः' शब्रा०, ११. ४. ३. १५; 'पथ्या पूष्णः पत्नी' गोउ०, २. ९; 'योषा वै सरस्वती वृषा पूषा' शब्रा०, २. ५. १. ११; 'पूषा वै देवानां भागदुघः' शब्रा०, ५. ३. १. ९; 'तस्य दन्तान् परोवाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भभाग इति' कौब्रा०, ६. १३; 'तस्माद् यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथा दन्तकायैवम्' शब्रा०, १. ७. ४. ७; 'स हि पौष्णो यच्छ्यामः (गौः)' शब्रा०, ५. २. ५. ८।

पृक्ष—तेज या तीव्र। ऋग्वेद २. १३. ८ में किसी व्यक्ति का नाम है। तु०–पिशल, वैस्टू०, १. ९०।

पृक्ष-याम—ऋग्वेद १. १२२. ७ में बहुवचन में आया है। राथ[1] का मत है कि इसका अर्थ तेज घोड़े से यात्रा करना है, और यह शब्द यहाँ किसी व्यक्ति का वाचक है। पिशल[2], १. ९७. ९८ की धारणा है कि यह शब्द पज्रों का विशेषण है और इसका अर्थ है 'अच्छा यज्ञ करने वाला'।

पृड—द्र०–मृड।

पृत्, पृतना, पृतनाज्य—ये शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में युद्ध या रथ की दौड़ को सूचित करते हैं; पृत्: ऋ० २. २७. १५; २. २६. १; ३. ४९. ३; ६. २०. १ सर्वत्र अधिकरण कारक में, १. १२९. ४ में पृत्सुषु में विभक्ति का द्वित्व; पृतना: ऋ० १. ८५. ८; १. ९१. २१; १. ११९. १०; १. १५२. ७; २. ४०. ५; ३. २४. १; ६. ४१. ५; १०. २९. ८; वासं०, ११. ७६; कौब्रा०, १५. ३; तैब्रा०, ३. १. १. ६; ३. १. २. ६ इत्यादि। कुछ स्थलों पर पृतना का अर्थ सेना है: ऋ० ७. २९. ३; ८. ३६. १; ८. ३७. २; अवे०, ६. ९७. १; ८. ५. ८; नि० ९. २४; संभवतः तैब्रा०, २. ४. ७.

५। आर्षकाव्य में यह शब्द मनुष्यों, हाथियों, रथों और अश्वों के निश्चित समूह का वाचक है: महाभारत, १. २९१। पृतनाज्य शब्द का अर्थ केवल युद्ध है: ऋ० ३. ८. १०; ३. ३७. ७; ७. ९९. ४; ८. १२. २५; ९. १०२. ९; तैसं०, ३. ४. ४. १।

पृथ –तैब्रा०, १. ६. ४. २, ३ में पृथ=हथेली को लम्बाई की माप का एक मानदण्ड माना गया है। तु०–काश्रौसू०, ६. १. २८; आश्रौसू०, २. २. ७; ८. ५. १०।

पृथवान—ऋग्वेद १०. ९३. १४ में एक व्यक्ति का संभवतः दुःशीम का नाम है, किंतु यह अनिश्चित है। तु०–पृथि। तु०–आ०ले०, ४३३।

पृथि[1], **पृथी**[2], **या पृथु**[3]—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में एक अर्धपौराणिक ऋषि का नाम है। इन्हें कृषि का अन्वेषक और दोनों लोकों का, पशुओं और मनुष्यों का अधिपति बताया गया है: अवे०, ८. १०. २४; पंविब्रा०, १३. ५. १९; तु०–तैब्रा०, २. ७. ५. १। उन्हें कुछ स्थलों पर **वैन्य**=वेन का पुत्र कहा गया है। वे एक सांस्कृतिक नेता माने जा सकते हैं। कासं०, ३७. ४; तैब्रा०, १. ७. ४. ४ में उन्हें सर्व-प्रथम अभिषिक्त राजा कहा गया है। तु०–**पार्थिव**। तु० 'पृथुर्हं वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे' श० ५. ३. ५. ४; 'एतेन (पार्थेन साम्ना) वै पृथी वैन्य उभयेषां पशूनामाधिपत्यमाश्नुत' तां. १३. ५. २०; 'तद्ध पृथुर्वैन्यो दिव्यान् व्रात्यान् पप्रच्छ' जैउ० १. १०. ९।

१—ऋ० १. ११२. १५; तैब्रा०, १. ७. ४. ४; २. ७. ५. १।

२—८. ९. १०; अवे०, ८. १०. २४; पंविब्रा०, १३. ५. १९; तैब्रा०, २. ७. ५. १; शब्रा०, ५. ३. ५. ४; कासं० ३७. ४।

३—जैब्रा०, १. १८६; जैउब्रा०, १. १०. ९; १. ३४. ६; १. ४५. १।

तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ९६६; वेबर, इस्टू०, १. २२१, २२२; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५० टि०, २; त्सिमर, आ०ले०, १३४; एगलिंग, सेबुई०, २६. ८१।

पृथिवी—विस्तृत आकारवाली। ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में भूमि के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग आम है: ऋ० ७. ७. २, ५; ७. ९९. ३; ५. ८५. १, ५; ८. ८९. ५ इत्यादि; अवे०, १२. १. १ एवं आगे; वासं०, ११. ५३ इत्यादि। पृथिवी का देवता के रूप में अकेले और 'द्यावा-पृथिवी' इस रूप में उल्लेख आम है: ऋ० ४. ३. ५; ४. ५१. ११; ५. ४९. ५; ५. ८४. १ एवं आगे; ६. ५०. १३, १४; ७. ३४. २३; वासं०, १२. १०३ इत्यादि।[1] कहीं-कहीं तीन पृथिवियों का उल्लेख है, जिनमें हमारी पृथिवी को सर्वोच्च बताया गया है: ऋ० १. ३४. ८; ४ ५३. ५; ७. १०४. ११; अवे०, ४. २०. २; वासं०, ५. ९ इत्यादि; अवे०, ६. २१. १; १९. २७. ३; १९. ३२. ४; १९. ५३. ५; शब्रा०, ३. ५. १. ३१; ५. १. ५. २१। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २० में पृथिवी को सागर से वेष्टित बताया गया है। निरुक्त में तीन पृथिवियों में से प्रत्येक को विश्व के तीन विभागों में माना है; द्र०–दिव्, निरुक्त ९. ३१; ११. ३६; १२. ३०; निघण्टु, ५. ३. ५. ६।[2] शब्रा०, १४. १. २. १० में पृथिवी को सत् से सर्व-प्रथम उत्पन्न हुई बताया गया है। पृथिवी के वित्त का भी उल्लेख मिला है: ११. ५. ६. ३। शांआ०, १३. ९ में पृथिवी को **वसुमती** कहा गया है। ऋग्वेद में भी यह शब्द आता है: ऋ० ६. १२. ५; १०. १८७. २, जहाँ 'पृथिवी' रूप मिलता है, जो 'पृथु' शब्द से बना है। तु० 'स (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' तैब्रा०, १. १. ३. ६–७; 'इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः' शब्रा०, १४. १. २. ११; 'अश्वा ह वा इयं (पृथिवी) भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः' शब्रा०, १४. १. ३. २५; 'इयं (पृथिवी) यमी' शब्रा०, ७. २. १. १०; 'यमो ह वा अस्याः अवसानस्येष्टे' शब्रा०, ७. १. १. ३; 'आग्नेयी पृथिवी' तां० १५. ४. ८; 'पृथिव्यग्नेः पत्नी' गोउ० २. ९; 'सेयं देवानां पत्नी' शब्रा०, १. ३. १. १५, १७; 'इयं पृथिवी ह्यग्निः' शब्रा०, ६. १. १. १४; ७. ३. १. २२; 'अयं वा अग्निर्लोकः' शब्रा०, १. ९. २. १३; 'आग्नेयोऽयं पृथिवीलोकः' जैउ०, १. ३७. २; 'अग्निगर्भा पृथिवी' शब्रा०, १४. ९. ४. २१; 'इयं वै पृथिव्यदितिः' शब्रा०, २. २. १. १९; 'इयं वा अदितिर्मही' शब्रा०, ६. ५. १. १०; 'इयं वै माता' तैब्रा०, ३. ८. ९. १; 'तन्माता पृथिवी तद् द्यौः' तैब्रा० २. ७. १६. ३; 'धेनुरिव वा इयं (पृथिवी) मनुष्येभ्यः सर्वान्कामान् दुहे माता धेनुर्मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति' शब्रा०, २. ३. १. २१; 'इयं वै विश्वायुः' तैब्रा०, ३. २. ३. ७; 'इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी' तैब्रा०, १. ७. ६. ७; 'इयं वै पृश्निः' तैब्रा०, १. ४. १. ५; 'इयं वै वशा पृश्निः' शब्रा०, १. ८. ३. १५; 'इयं वै वशा पृश्नि-

[1] द्र०–मैकडानल, वैमा०, पृ० २०. २१, १२३, १२६।

[2] तु०–ब्रूस, जराएसो०, १९. ३२१ एवं आगे।

र्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः' शब्रा०, ५. १. ३. ३; 'इयं वा अग्निहोत्री (गौः)' तैब्रा०, १. ४. ३. १; 'इयं वा अविरियं हीमाः सर्वाः प्रजा भवति' शब्रा०, ६. १. २. ३३; 'इयं वै पृथिवी देवी देवयजनी' शब्रा०, ३. २. २. २०; 'भूरिति वा अयं (पृथिवी) लोकः' शब्रा०, ८. ७. ४. ५; 'स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि' तैब्रा०, २. २. ४. २; 'स (प्रजापतिः) भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त । सेयं पृथिव्यभवत् । तस्य यो रसः प्राणेदत् ,सोऽग्निरभवत् रसस्य रसः' जैउ०, १. १. ३; 'इयं वै निर्ऋतिः' शब्रा०, ५. २. ३. ३; 'इयं कद्रूः' शब्रा०, ३. ६. २. २; 'इयं वै सार्पराज्ञीयं हि सर्पतो राज्ञी' कौब्रा०, २७. ४; ऐब्रा०, ५. २३; 'देवा वै सर्पाः । तेषामियं राज्ञी' तैब्रा०, २. २. ६. २; 'इयं वै सरघा' तैब्रा०, ३. १०. १०. १; 'अयं वै (पृथिवी) लोको मित्रोऽसौ (द्युलोकः) वरुणः' शब्रा०, १२. ९. २. १२; 'इयं वै वरिष्ठा संवत्' शब्रा०, ६. ३. २. २; 'अयं वै लोको भद्रः' ऐब्रा०, १. १३; 'इयं वै सत्या चर्षणीधृदनर्वा' ऐब्रा०, ३. ३८; 'अयं वै (पृथिवी) लोको विशालं छन्दः' शब्रा०, ८. ५. २. ६; 'अयं वै लोको रथंतरं छन्दः' शब्रा०, ८. ५. २. ५; 'इयं वै पृथिवी रथंतरम्' ऐब्रा०, ८. १; 'इयं वै विराट्' शब्रा०, ७. ४. २. २३; 'इयं वै धाता' तैब्रा०, ३. ८. २३. ३; 'इयं वै सविता' शब्रा०, १३. १. ४. २; 'इयं वै माहिनम्' ऐ०, ३. ३८; 'इयं वै वैश्वानरः' शब्रा०, १०. ६. १. ४; 'पृथिवी वेदिः' ऐब्रा०, ५. २८; 'एतावती वै पृथिवी यावती वेदिः' तैब्रा०, ३. २. ९. १२; 'वेदिर्वै परो अन्तः पृथिव्याः' तैब्रा०, ३. ९. ५. ५; 'इयं वै श्रीः' ऐब्रा०, ८. ५; 'इयं वै वल्मीकवपा' शब्रा०, ६. ३. ३. ५; 'इयं हि याज्या' शब्रा०, १. ४. २. १९; 'इयं वै वाक्' शब्रा०, ४. ६. ९. १६; 'इयं वै गायत्री' तांब्रा०, ७. ३. ११; शब्रा०, ४. ३. ४. ९; 'इयं वा अनुष्टुप्' शब्रा०, १. ३. २. १६; 'इयं वा अनुमतिः' शब्रा०, ५. २. ३. ४; 'इयं वा उत्तान आङ्गीरसः' तैब्रा०, २. ३. २. ५; 'इयं वा अषाढा' शब्रा०, ६. ५. ३. १; 'इयं वै पूषा' तै. ब्रा०, १. ७. २. ५; 'इयं वा उपयाम इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्यः' शब्रा०, ४. १. २. ८; 'इयं ह वा उपांशुः' शब्रा०, ४. १. २. २७; 'इयमेव स्तोत्रियः' जैउ०, ३. ४. २; 'इयं वै देवरथः' तांब्रा०, ७. ७. १४; 'इयं वै ज्योतिः' तांब्रा०, १६. १. ७; 'अयं वै (पृथिवी-) लोको भर्गः' शब्रा०, १२. ३. ४. ७; 'अयं वै (पृथिवी–) लोको गृहपतिः' शब्रा०, १२. १. १. १; 'अयं वै (भू–) लोको गार्हपत्यः' शब्रा०, ७. १. १. ६; 'इयं वै पूर्णाहुतिः' तैब्रा०, ३. ८. १०. ५; 'इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा' शब्रा०, १. ९. १. २९; 'अग्निना पृथिव्योषधिभिस्तेनायं (पृथिवी–) लोकस्त्रिवृत्' तांब्रा०, १०. १. १; 'इयं वै प्रतिष्ठा जनूरासां प्रजानाम्' शब्रा०, ३. ९. ३. २; 'पृथिवी मे शरीरे श्रिता' तैब्रा०, ३. १०. ८. ७; 'पृथिवी वा अन्नानां शमयित्री' कौब्रा०, ६. १४; 'अयं वै लोको दक्षिणं हविर्धानम्' कौब्रा०, ९. ४; 'अयं वै (पृथिवी-) लोकः प्रातःसवनम्' शब्रा०, १२. ८. २. ८; 'अयमेव (भू–) लोकः प्रथमा चितिः' शब्रा०, ८. ७. ४. १२; 'अयस्मयी पृथिवी' गोउ०, २. ७; 'इयं वै रजता' तैब्रा०, १. ८. ९. १; 'पृथिवी होता चतुर्होनृणाम्' तैब्रा०, ३. १२. ५. १; 'दधि हैवास्य (भू-) लोकस्य रूपम्' शब्रा०, ७. ५. १. ३; 'परिमण्डल उ वा अयं पृथिवीलोकः' शब्रा०, ७. १. १. ३७; 'अथ यत् कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत्' शब्रा०, ६. १. १. ११; 'समुद्रो हीमामभितः पिन्वते' शब्रा०, ७. ४. १. ९; 'पृथिव्यप्सु (प्रतिष्ठिता)' ऐ०, ३. ६; 'पृथिव्यप्सु श्रिता । अग्नेः प्रतिष्ठा' तैब्रा०, ३. ११. १. ६; 'असुराणां वा इयमग्र आसीत्' तैब्रा०, ३. २. ९. ६; 'तिस्रो वा इमाः पृथिव्य इयमहैका द्वे अस्याः परे' शब्रा०, ५. १. ५. २१ ।

पृथु—द्र०—पृथि । लुड्विग ने पृथु-जनों को एक आदिवासी जाति माना है, जो ऋग्वेद ७. ८३. १ के अनुसार पर्शुओं के साथ तृत्सु भरतों के शत्रु थे । किंतु यह चिन्त्य है । द्र०—पर्शु ।

विवरण : लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १९६ एवं आगे; तिसमर, आ०ले०, १३४ एवं आगे; ४३३, ४३४; गेल्डनर, वैस्टू०, २. १८४ टि०—३; बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. ३६२ टि० ।

पृथुकाः—'रुद्राणां वा एतद्रूपम् । यत्पृथुकाः' तैब्रा०, ३. ८. १४. ३ ।

१–पृथु-श्रवस्—विस्तृत यश वाला । ऋग्वेद १. ११६. २१; ८. ४६. २१ में वश के साथ पृथुश्रवस् का उल्लेख मिलता है । दूसरे स्थल पर **पृथुश्रवस् कानीत** की वश अश्व्य के प्रति उदारता का उल्लेख है । शांश्रौसू०, १६. ११. १३ में इस कथा का उल्लेख है । तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६२ ।

२–पृथु-श्रवाय्यम्—'श्रोत्रं वै पृथुश्रवाय्यम् । श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति' शब्रा०, १. ४. ३. ४ ।

पृथु-श्रवस् दौरेश्रवस—दूरेश्रवस् का वंशज पृथुश्रवस् । पंविब्रा०, २५. १५. ३ के नागोत्सव में उद्गाता के रूप में इनका उल्लेख है । तु०—वेबर, इस्टू०, १. ३५ ।

पृदाकु—अथर्ववेद में एक सर्प का नाम पृदाकु है : अवे०, १. २७, १; ३. २७. ३; ६. ३८. १; ७. ५६. १; १०. ४. ११ एवं आगे । १२. ३. ५७ । याजुषसंहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में भी यह

आता है : तैसं०, ५. ५. १०. १; मैसं०, ३. १४. १४; वासं०, २४. ३३। अथर्ववेद १. २७. १ के अनुसार इसका चमड़ा कीमती होता था। वासं०, ६. १२ एवं शांआ०, १२. २७ में भी यह आता है। द्र०—त्सिमर, आले०, ९४।

पृदाकु-सानु—पृदाकु की सानु वाला। ऋग्वेद ८. १७. १५ में एक यज्ञ के आविष्कर्ता का नाम **पृदाकुसानु** है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६१; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. १४१।

१-पृश्नि—चितकबरी। पृश्नि शब्द कुछ स्थलों पर धेनुओं के लिए आया है : ऋ० १. १६०. ३; वासं०, २. १६; अवे०, ७. १०४. १; काश्रौसू०, १४. २. ११; तु०—ऋ० १. १६४. ४३; अवे०, ५. १७. ७ इत्यादि।

२-पृश्नि—निघण्टु १. ४ और निरुक्त २. १४ के अनुसार पृश्नि शब्द द्युलोक और आदित्य का नाम है : ऋ० २. २. ४; २. ३४. २; ६. ४८. २२; ७. ५६. ४; ६. ६. ४; ४. ३. १०; ६. ६६. १, ३; १. ८४. ११ इत्यादि। तु० 'अन्नं वै देवाः पृश्नीति वदन्ति' तां०, १२. १०. २४; श०, ८. ७. ३. २१; 'इयं (पृथिवी) वै पृश्निः' तैब्रा०, १. ४. १. ५।

३-पृश्नि—कुछ स्थलों पर मरुतों की माता के रूप में पृश्नि का उल्लेख है : ऋ० १. २३. १०; १. १६८. ९; ७. ३५. १३।

१-पृश्नि-गु—ऋग्वेद १. ११२. ७ में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम पृश्नि-गु है। **पुरुकुत्स** और **शुचन्ति** के साथ इनका उल्लेख है। संभवतः यह **पुरुकुत्स** का विशेषण हो। तु०—गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, ११४।

२-पृश्नि-गु—ऋग्वेद ७. १८. १० में बहुवचन में प्रयुक्त पृश्निगु को गेल्डनर ने एक जाति के अर्थ में लिया है : द्र०—ऋग्वेद ग्लासर, ११४।

पृश्नि-पर्णी—चितकबरे पत्ते वाली। अथर्ववेद २. २५. १ में एक लता का नाम पृश्निपर्णी है। इसका उपयोग एक ओषधि के रूप में विफलता के प्रतिकार के लिए कण्वों के विरुद्ध किया गया है।[1] शब्रा०, १३. ८. १. १० में भी इसका उल्लेख है, जहां इसे **चित्रपर्णी** ओषधि के रूप में लिया गया है। वोबू० में इसे हर्मियोनिटिस कार्डिफोलिया (Hermionitis cordifolia) कहा गया है। किंतु बाद में राथ ने इसे 'लक्ष्मणा' नामक ओषधि माना है, जो वन्ध्यात्व को दूर करती है।[1] काश्रौसू०, २५. ७. १७ के भाष्यकार के आधार पर इसे ग्लिसीन डेबिलिस (Glycine debilis) से मिलाया जा सकता है। तु०—वेबर, इस्तू०, १३. १८७; त्सिमर, आ०ले०, ६९; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३०२।

पृषत—याजुष-संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पशु का नाम पृषत है : तैसं०, ५. ५. १७. १; मैसं०, ३. १४. ९. २१; वासं०, २४. २७, ४०; निरुक्त २. २। यह चकत्तेदार हरिण हो सकता है। द्र०—त्सिमर, आले०, ८३।

पृषती—वैदिक साहित्य में कुछ स्थलों पर पृषती शब्द चितकबरी गौ के अर्थ में आया है : ऋ०, ८. ६४. १० जहाँ हरिण या अश्व अर्थ अनपेक्षित है, क्योंकि दान गौओं का ही होता था; कासं०, १२. २; शब्रा०, ५. ५. २. ९;[2] वासं०, २४. २ अनिश्चित; शांश्रौसू०, १५. १४. २३ इत्यादि। कहीं-कहीं यह शब्द मरुतों के गण के लिए भी आया है, जहाँ अर्थ संदिग्ध है; और भाष्यकारों ने उन स्थानों पर अर्थ पृषद्वर्ण हरिण या अश्व किया है : ऋ० १. ३७. २; १. ३९. ६; १. ६४. ८; १. ८५. ४, ५; २. ३४. ३; २. ३६. २; ३. २६. ४; ५. ५५. ६; ५. ५८. ६; ५. ६०. २; १. १६२. २१। महीधर ने वासं०, २. १६ के भाष्य में पृषती का अर्थ **पृषदश्वा** किया है; राथ ने अपनी डिक्शनरी में इसे मान लिया है। मरुतों को प्रायः पृषदश्व कहा गया है : ऋ० १. ८७. ४; १. ८९. ७; १. १८६. ८; २. ३४. ४; ३. २६. ६; ५. ४२. १५; ८. ४०. ३; इसका अर्थ पृषद्वर्णाश्वा अधिक उपयुक्त होगा, पृषती नामक अश्वी नहीं : ऋ० १. ८७. ४ पर सायण भाष्य; किंतु जहाँ पृषती अश्वाओं का मरुतों द्वारा रथ में जोड़ने का जिक्र है, वहाँ वह अर्थ ठीक है : ऋ० ५. ५५. ६।[3] परवर्ती साहित्य में, जिसका ग्रासमान ने अनुकरण किया है (डिक्शनरी) इसका अर्थ पृषद्वर्ण हरिणी है। औफ्रेक्ट ने राथ के मत को माना है[4]; मैक्समूलर ने भाष्यकारों के मत को ग्रहण किया है[5]; और म्यूर ने इस प्रश्न को वैसे ही छोड़ दिया है।[6]

---

[1] द्र०—लानमान, ह्विटनी के अथर्ववेद-ट्रान्सलेशन में, ६५; बेर्गेन्य, रिलिजियों वैदिक, २. ४६५; हिल्लेब्राण्ट, वैमि०, १. २०७।

[1] द्र०—ह्विटनी, ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद।

[2] द्र०—एगलिंग, सेबुई०, ४१. १२५।

[3] द्र०—पिशल, वैस्तू०, १. २२६।

[4] द्र०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. १५२।

[5] द्र०—सेबुई०, ३२. ७०, १८४।

[6] द्र०—संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. १५१. १५२। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ८३।

पृषदाज्य—ऋग्वेद १०. ९०. ८ में एवं अन्यत्र पृषदाज्य शब्द घी-मिले दूध के अर्थ में आया है : तैसं०, ३. २. ६. २; ६. ३. ९. ६; ६. ३. ११. ४; शब्रा०, २. ५. २. ४१; २. ५. ४. २; ३. ८. ४. ८ इत्यादि।[1] तु०—'अन्नं हि पृषदाज्यम्' श०, ३. ८. ४. ८; 'प्राणो हि पृषदाज्यम्' श०, ३. ८. ४. ८; 'पयः पृषदाज्यम्' श०, ३. ८. ४. ८; 'पशवो वै पृषदाज्यम्' तैब्रा०, १. ६. ३. २।

पृषध्र—ऋग्वेद के वालखिल्य-सूक्त ८. ५२. २ में एक व्यक्ति का नाम पृषध्र है। शांश्रौसू०, १६. ११. २५. २७ में भी **प्रस्कण्व** के आश्रयदाता के रूप में इनका उल्लेख है, जहाँ उन्हें **पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्** या **मातरिश्व** कहा गया है। ऋग्वेद ८. ५५. ५६ में जो **प्रस्कण्व** द्वारा **पृषध्र** की प्रशंसा में प्रणीत हैं, **पृषध्र** के प्रणेतृत्व का संकेत नहीं है, किंतु ऋग्वेदानुक्रमणी में ऋ० ८. ५६ का ऋषि पृषध्र को माना गया है। दूसरी ओर ऋग्वेद ८. ५२. २ में पृषध्र के साथ **मेध्य** और **मातरिश्वन्** भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। तु०—वेबर, एपिश्शेस इम वैदिशन रितुआल, ३९।

पृषातक—**पृषदाज्य** की भांति पृषातक भी गव्य पदार्थों का मिश्रण है। परवर्ती गृह्य-संग्रह २. ५९ के अनुसार **दधि, मधु** और **आज्य** के मिश्रण को पृषातक कहते हैं। अथर्ववेद २०. १३४. २ और मानव-गृह्य-सूत्र २. ३ में इसका उल्लेख है। तु०—ब्लूमफील्ड, त्सादामौगे०, ३५. ५८०।

पृष्टि—द्र०—**शरीर**।

पृष्ट्या—अथर्ववेद ६. १०२. २ में वडवा का नाम है। द्र०—बोहटलिङ्ग्क, डिक्शनरी; वोबू० में **'पृष्ठ्या'** पाठ है; ग्रिल, हुंडेर्त लीडर, १६०; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५१३।

पृष्ट्यामय—अथर्ववेद १९. ३४. १० में पासे या पीठ की पीडा को पृष्ट्यामय कहा गया है। प्रतीत होता है कि वहाँ इसे ज्वर का सहवर्ती माना गया है। द्र०—**तक्मन्**। ऋग्वेद १. १०५. १८ में भी यही अर्थ प्रतीत होता है। द्र०—त्सिमर, आ०ले०, ६५, ३९१।

पृष्ठ—तु०—'पृष्ठैर्वै देवाः स्वर्गं लोकमस्पृशन्' कौब्रा०, २४. ८; 'पृष्ठानि वा असृज्यन्त तैर्देवाः स्वर्गं लोकमायन्' तां०, ७. ७. १७; 'स्वर्गो लोकः पृष्ठानि' तां०, १६. १५. ६; 'तदाहुर्नानालोकानि पृष्ठानि' तां०, १६. ५. ९; 'एतानि खलु वै सामानि यत् पृष्ठानि' तैब्रा०, १. ८. ८. ३; 'सर्वाणि ह पृष्ठानि इन्द्रस्य निष्केवल्यानि' तां० ७. ८. ५; 'पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि' तां०, ७. ९. १; 'आत्मा वै पृष्ठानि' कौब्रा०, २५. १२; 'ऋतवो वै पृष्ठानि' श०, १३. ३. २. १; 'अन्नं पशवः पृष्ठानि' तां०, १६. १५. ८; 'वीर्यं वै पृष्ठानि' तां०, ४. ८. ७; 'तेजो ब्रह्मवर्चसं पृष्ठानि' तां०, १६. १५. ७; 'श्रीर्वै पृष्ठानि' ऐब्रा०, ६. ५। द्र०—**शरीर**।

पेत्व—अथर्ववेद ४. ४. ८; ५. १९. २ में पेत्व शब्द आया है। प्रथम स्थल में उसकी वाज=शक्ति का उल्लेख है। त्सिमर के अनुसार पेत्व का अर्थ शक्ति या तीव्रता है, यद्यपि इसका स्वारसिक भाव है 'पौरुष शक्ति'; क्योंकि यहाँ प्रसङ्ग प्रजनन-शक्ति का है।[1] दूसरे स्थल पर पेत्व का अर्थ अश्व को जीतने वाला दिखाया गया है; द्र०—**उभयादन्त्**। इसकी तुलना ऋग्वेद ७. १८. ७; से की जा सकती है, जहाँ पेत्व एक सिंहनी को जीतता है।[2] याजुष संहिताओं में अश्वमेघ की बलियों की सूची में एवं अन्यत्र यह शब्द आया है : तैसं०, ५. ५. २२. १; ६. २. ८. ४; वासं०, २९. ५८–५९; तैब्रा०, १. २. ५. ३ इत्यादि। इसका अर्थ मेष या छिन्नमुष्क (गलितरेतस्को मेषः) मेष प्रतीत होता है। दूसरा अर्थ तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार के अनुसार है जो ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि अथर्ववेद के पहले स्थलों पर इसका अर्थ 'शक्तियुत' भी किया गया है; फलतः इसका उचित अर्थ यहाँ पर मेष ही है। ओल्डेनबर्ग ने इसका अर्थ अज किया है, किंतु इसका उन्होंने कोई आधार नहीं दिया है।[3] इसका संबन्ध **पित्व** या **पिद्व** से है या नहीं, यह बताना दुष्कर है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २५३ ने यहाँ पर अज अर्थ ही माना है; ब्लूमफील्ड ने हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४३४ में मेष और अज दोनों अर्थ किये हैं।

पेदु—ऋग्वेद १. ११७. ९; १. ११८. ९; १. ११९. १०; ७. ७१; ५; १०. ३९. १० में **अश्विनों** के एक कृपापात्र का नाम पेद्व है। **अश्विनों** ने उसके बुरे घोड़े के बदले पैद्व नामक घोड़ा दिया था : ऋ० ९. ८८. ४; अवे० १०. ४. ५। यह घोड़ा सूर्य के अश्व का प्रतिनिधि हो सकता है। द्र०—मैकडानल, वैमा०, ५२. १४९।

पेरुक—ऋग्वेद की एक दुरूह ऋचा ६. ६३. ९ में कवि के आश्रयदाता का नाम पेरुक आया है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १५८।

---

[1] द्र०—एग्गेलिंग, सेबुई०, १२. ४०४ टि०–१।

[1] द्र०—आ०ले०, २२९, २३०।

[2] द्र०—हॉपकिन्स, जअओसो०, १५. २६४, जहाँ उन्होंने सिह्यम् पाठ को पुल्लिंग में लिया है, और **दाशराज्ञ युद्ध** में पराजित एक व्यक्ति या जाति का नाम माना है; किंतु पेत्व से पराजित सिंहनी अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[3] द्र०—जर्नल, उपर्युक्त; इण्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५८।

पेशस्—ऋग्वेद २. ३. ६; ४. ३६. ७; ७. ३४. ११; ७. ४२. १ में एवं वासं०, १९. ८२, ८९; २०. ४० और ऐब्रा०, ३. १९ में बेल-बूटे निकले परिधान का, जिसे नर्तकियाँ पहनती थीं, पेशस् नाम है। मेगस्थनीज और एरियन ने इस परिधान के प्रति भारतीयों की विशेष रुचि का वर्णन किया है।[1] ऋग्वेद १०. १०५ में एक वस्त्र को पेशन कहा गया है; राथ ने अपने शब्दकोश में इसकी तुलना एक रोमन वस्त्र से की है। पुरुषमेध की बलियों की सूची में पेशस्-कारों का नाम आया है; अतः प्रतीत होता है कि ऐसे वस्त्रों का बनाना नारियों की रोजी थी : द्र०—वासं०, ३०. ९; तैब्रा०, ३. ४. ५. १। तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार ने पेशस्कारी का अर्थ 'स्वर्णकार की पत्नी' दिया है; तैब्रा०, ३. ३. ५. ५ में 'सुवर्णं हिरण्यं पेशलम्' आया है, जहाँ पेशल का अर्थ चित्र-खचित स्वर्ण हो सकता है; किंतु 'पेशस्-कारी' का अर्थ 'स्वर्णकार की स्त्री' ठीक नहीं मालूम पड़ता। द्र०—बृउ०, ४. ४. ५।[2] पिशल का मत है कि पेशस् का अर्थ यह सब कुछ न होकर केवल 'रंग' या 'रूप' है।[3]

पेशितृ—वासं०, ३०. १२ एवं तैब्रा०, ३. ४. ८. १ में पुरुषमेध की बलियों की सूची में पेशितृ भी है। इसका ठीक भाव अज्ञात है। वोबू० और वेबर,[4] ने इसका अर्थ तक्षक किया है, किंतु सायण ने इसका अर्थ किया है : 'ऐसा व्यक्ति जो शत्रुता को दबा देता है, जो पुनः जागृत हो सकती है' : तैब्रा०, ३. ४. ८. १ पर सायण-भाष्य।

पैङ्ग - अनुपद-सूत्र २. ४; ३. १२; ४. ५ में पैङ्गों के शाखा-ग्रन्थ का नाम पैङ्ग्य आया है।

पैङ्ग-राज—याजुष-संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक नाम पैङ्गराज है। इसका अर्थ पक्षि-विशेष है : तैसं०, ५. ५. १३. १; मैसं०, ३. १४. १६; वासं०, २४. ३४। द्र०—त्सिमर, आले०, ९९।

पैङ्गिन् निदान-सूत्र ४. ७ और अनुपद सूत्र १. ८; २. २, ४, १०; ४. ७; ११. ८ में पैङ्ग्य के अनुयायियों को पैङ्गिन् कहा गया है।

पैङ्गी-पुत्र—पैङ्ग्वंशीया का पुत्र; बृउ०, ६. ४. ३० माध्यंदिन में शौनकीपुत्र के शिष्य एक आचार्य का नाम पैङ्गीपुत्र है।

पैङ्ग्य—पिङ्ग का वंशज। पैङ्ग्य एक आचार्य का नाम है : कौब्रा० में अनेक बार ८. ९; १६. ९; २६. ३, ४, १४; २८. ७. ९; कौउ०, २. २ एक प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। उसी ब्राह्मण के ३. १; १९. ९; २४. ४ में उनके सिद्धान्त को भी पैङ्ग्य कहा गया है; तु०—शांश्रौसू०, ४. २. ११; ११. ११. ५; ११. १४. ९; १५. ३. १; १७. ७. १, ३; ऐ. ब्रा०, ७. ११; पैङ्गी संपदः कौब्रा०, ७. ११। शतपथ ब्राह्मण में भी इस आचार्य का उल्लेख है : १२. २. २. ४; १२. २. ४. ८। इसी ब्राह्मण के ११. ७. २. ८, १६ में मधुक पैङ्ग्य का भी उल्लेख है। यह कहना दुष्कर है कि पैङ्ग्य एक था या अनेक थे। निदान सूत्र ४. ७ और अनुपद सूत्र १. ८; २. २, ४. १०; ६. ७; ११. ८ में पैङ्ग्य के अनुयायियों को पैङ्गिन् कहा गया है। अनुपद-सूत्र २. ४; ३. १२; ४. ५ में उनके पाठ्य-ग्रन्थ को पैङ्ग्य कहा गया है; आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र ५. १५. ८; ५. २९. ४ में पैङ्गायनि ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट है कि कौषीतकि लोगों के साथ पैङ्ग्य ऋग्वेदीय शाखा के आचार्य थे। आत्रेयी शाखा की अनुक्रमणी के अनुसार यास्क का पैतृक नाम पैङ्गि है। द्र०—वेबर, इस्टू०, १. ४४, ४५, ४०४ एवं आगे; २. २९५; इन्दीन लितरात्यूर, ४१, ४६, ४७, ५६, ८१, ९०, १३० इत्यादि।

पैजवन—पिजवन का वंशज। पैजवन सुदास् का पैतृक नाम है : ऋ० ८. १८. २२, २५; नि० २. २४. २५; ऐब्रा०, ७. ३४; शांश्रौसू०, १६. ११. १४। ऐसा हो सकता है कि पिजवन दिवोदास् और सुदास् के बीच में उसी वंश-परंपरा में रहे हों, क्योंकि दोनों राजाओं के भिन्न-भिन्न पुरोहितों का उल्लेख मिलता है; प्रथम के पुरोहित थे भरद्वाज और दूसरे के थे वसिष्ठ और विश्वामित्र।[1] यह स्वारसिक प्रतीत होता है कि दोनों में काल का अन्तर रहा हो, और पिता-पुत्र का संबन्ध न रहा हो। गेल्डनर ने दिवोदास् और पिजवन को अभिन्न माना है।[2]

पैद्व—द्र०—पेदु।

पोतृ—याज्ञिक प्रक्रिया में एक ऋत्विज् का नाम पोतृ है। ऋग्वेद एवं ब्राह्मणों में पोतृ का उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ९४. ६; २. ५. २; ४. ९. ३; ७. १६. ५; ९. ६७. २२। किंतु, जैसा कि ओल्डेनबर्ग का मत है, परवर्ती साहित्य में पोतृ का महत्त्व नगण्य है; केवल उसका नामोल्लेख है।[3] इसकी व्युत्पत्ति ($\sqrt{}$पू, 'पवित्र करना') पर ध्यान देते हुए कहा जा सकता है कि पोतृ का कार्य सोम को छानना होता था; और सोम

---

[1] द्र०—स्ट्रैबो, पृ०, ५०९, इण्डिका, ५, ९।

[2] त्सिमर, आले०, २६१।

[3] द्र०—वैस्टू०, २. ११२-१२५।

[4] इस्टू०, १. ७५. टि० ५।

[1] द्र०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. १०४ एवं आगे।

[2] ऋग्वेद ग्लासर, ११५।

[3] रिलिजन देस वेद, ३८३, ३९१, ३९५।

पवमान की स्तुति में सूक्त गाना होता था। पोत्र शब्द से पोतृ के पद और उसके पात्र का अर्थ भी सूचित हो जाता है : ऋ० २. २. २; १. ७६. ४; १. १५. २; २. ३६. २; २. ३७. २, ४।

पोष—पुष्टि के अर्थ में पोष शब्द वैदिक साहित्य में आम है : ऋ० १. १. ३; १. १४२. १०; ५. ५. ९; ८. २३. २१; ९. ६६. २१; तु०—१. ९२. २; ९. ६५. १७; ऐब्रा०, ४. २७ इत्यादि।

पौंश्चलेय—तैब्रा०, ३. ८. ४. २ में पुंश्चली=वेश्या के पुत्र को पौंश्चलेय कहा गया है।

पौंसायन—शब्रा०, १२. ९. ३. १ में **दुष्टरीतु** का नाम पौंसायन है।

पौञ्जिष्ठ—अथर्ववेद १०. ४. ९ में पौञ्जिष्ठ शब्द आता है; वासं०, ३०. ८ और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुञ्जि शब्द मत्स्यमारक के अर्थ में आया है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में सायण ने इसे केवर्त का पर्यायवाची माना है। संभवतः यह जाति-नाम है। **पौञ्जिष्ठ** और **कैवर्त** जैसी जातियों को उत्सवों में न्यौता जाता था।

पौण्डरीक—पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १८. ७ में **क्षेमधृत्वन्** का पैतृक नाम पौण्डरीक है।

पौत-क्रत—**पूतक्रता** का वंशज। ऋग्वेद ८. ५६. २ में **दस्यवे वृक** नामक व्यक्ति का पैतृक नाम पौतक्रत है। शेफ्तलोवित्स का सुझाव है कि काश्मीर पाण्डुलिपि के अनुसार यहाँ पर **पूतक्रतु** पाठ होना चाहिए; क्योंकि उसी सूक्त में **पूतक्रतु** की पत्नी **पूतक्रतायी** का जिक्र है; पूतक्रतायी मनावी के स्थान पर मनायी (मैसं० १. ८) जैसा रूप है।[१] किंतु अपत्यार्थ में यह शब्द ठीक बैठ जाता है। ओल्डेनबर्ग ने भी इसे माना है।

पौतिमाषी-पुत्र—पूतिमाषवंशीया का पुत्र। काण्वशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों के वंश की अन्तिम सूची ६. ५. १ में एक आचार्य का मातृसंबद्ध नाम है।

पौति-माष्य—पूतिमाष का वंशज। काण्वशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों के वंश की प्रथम दो सूचियों में **गौपवन** के वंशज किसी आचार्य का पैतृक नाम पौतिमाष्य है। बृउ०, २. ६. १; ४. ६. १।

पौतिमाष्यायण—पौतिमाष्य का वंशज। माध्यंदिनशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों के वंश की प्रथम दो सूचियों (२. ५. २०; ४. ५. २६) में **रैभ्य** को आचार्य **कौण्डिनायन** के साथ पढ़ाने वाले एक अन्य आचार्य का पैतृक नाम पौतिमाष्यायण है।

पौत्र—अथर्ववेद एवं परवर्ती काल में पुत्र के पुत्र को पौत्र कहा गया है : अवे०, ९. ५. ३०; ११. ७. १६; १८. ४३. ९; ऐब्रा०, ७. १०; तैब्रा०, २. १. ८. ३ इत्यादि। जब पौत्र के साथ **नप्तृ** शब्द का प्रयोग मिलता है, तब नप्तृ का अर्थ प्रपौत्र होता है : लाश्रौसू०, १. ३. १८; आश्रौसू०, १०, ११. ५; ऐब्रा०, ७. १०. ३। तु०—डेलब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेर्वान्द्श्शाफ्त्सनामन।

पौत्रायण जानश्रुति—छाउ०, ४. १. १; ४. २. १ में एक व्यक्ति का नाम है।

पौर—**पूरु** का वंशज। ऋग्वेद ८. ३. १२ में **इन्द्र** से सहायता पाने वाले किसी पूरु राजा का नाम पौर है। सिकन्दर के विरोधी **पौरस्** को इसी पौर वंश का प्रतिनिधि माना जा सकता है। ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद ५. ७४. ४ में यही माना है। द्र०-ऋग्वेद-नोटन, १. ३६२; द्र०-ग्रासमान, वोर्टेरबूख़, 'पौर' शब्द।

पौरुकुत्स[१] **पौरुकुत्सि**[२] **पौरुकुत्स्य**[३]—**पुरुकुत्स** के पुत्र **त्रसदस्यु** के पैतृक नाम हैं।

पौरुमद्ग—साम-विशेष। 'देवाश्च वासुराश्चास्पर्धन्त ते देवा असुराणां पौरुमद्गेन पुरोऽमज्जयन् यत् पुरोऽमज्जयन् तस्मात् पौरुमद्गम्' तां० १२. ३. १४; 'अहर्वा एतदव्लीयमानं तद्रक्षांस्यसचन्त तस्माद् देवाः पौरुमद्गेन रक्षांस्यपाघ्नन् अप पाप्मानं हते पौरुमद्गेन तुष्टुवानः' तां० १२. ३. १३।

पौरुशिष्टि—पुरुशिष्ट का वंशज। तैउ०, १. ९. १; तैआ०, ७. ८. १ में **तपोनित्य** का पैतृक नाम पौरुशिष्टि है।

पौरुहन्मन—'पुरुहन्मा वा एतेन वैखानसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः' तां० १४. ९. २९।

पौर्णमास—हविः। 'वार्त्रघ्नं वै पौर्णमास हविः'। इन्द्रो ह्येतेन वृत्रमहन्' शब्रा० १. ६. ४. १२; 'तथै वैतद् यजमानः पौर्णमासेनैव वृत्रं पाप्मानं हत्वापहतपाप्मैतत् कर्मारभते' श० ६. २. २. १९; 'अग्नीषोमीयं हि पौर्णमासं हविर्भवति' श० १. ८. ३. २; 'प्रतिष्ठा वै पौर्णमासम्' कौ. ब्रा०, ५. ८; 'पौर्णमासः सरस्वान्' गोउ०, १. १२।

---

[१] द्र०—दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, ४१, ४२; पाणिनि, ४. १. ३६, ३८।
[२] गोगेआ०, १९०७, २३७।

[१] कासं०, २२. ३; पंविब्रा०, २५. १६. ३।
[२] ऋ० ७. १९. ३।
[३] ऋ० ५. ३३. ८; ८. १९. ३६; तैसं०, ५. ६. ५. ३।

पौर्णमासी—पूर्ण चन्द्रमा वाली रात्रि या तिथि का नाम अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आया है, जहाँ इसे पवित्र माना गया है। गोभिल ने इसे चन्द्र और सूर्य की अधिकतम दूरी=विकर्ष माना है। वहाँ पौर्णमासी तीन प्रकार की है: **संध्याकालीन, सूर्यास्तोपरान्तकालीन, मध्य-रात्रि-कालीन**। प्रथम दो ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लिखित **पूर्वा** और **उत्तरा** पौर्णमासी को उद्दिष्ट करती हैं। 'तु० असौ वै चन्द्रः पशुस्तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते' 'श० ६. २. २. १७; 'ब्रह्म वै पौर्णमासी क्षत्रममावास्या' कौ० ४. ८; 'कामो वै पौर्णमासी' तैब्रा०, ३. १. ४. १५। द्र०—अवे०, ७. ८०; तैसं०, १. ६. ९. १; २. २. २. १; ३. ४. ९. ६; ऐब्रा०, ७. ११; शब्रा०, १. २. २. ४ इत्यादि; गोभिल० १. ५. ७; ऐब्रा०, ७. ११; कौब्रा०, ३. १; तु०—वेबर, ज्योतिष ५१; ओल्डेनबर्ग, सेबुई०, ३०. २६।

पौलुषि—पुलुष का वंशज। शब्रा०, १०. ६. १. १ और छाउ०, ५. ११. १ में **शतयज्ञ** का पैतृक नाम पौलुषि है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३९. १ में **पौलुषित** रूप अशुद्ध है।

पौल्कस—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों मे से एक का नाम पौल्कस है: वासं०, ३०. १७; तैब्रा०, ३. ४. १४. १। बृउ०, ४. ३. २२ में भी पौल्कस एक नीच जाति के रूप में **चाण्डाल** के साथ आया है। मैसं०, १. ६. ११ में **पुल्कस** का, (जिससे पौल्कस व्युत्पन्न हैं) रूप **पुक्लक** या **पुल्कक** आया है; तु०—**कौलाल पौञ्जिष्ठ**। स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार **निषाद** या **शूद्र** द्वारा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र को पौल्कस कहा गया है।[1] किंतु संभव है पौल्कस नाम की कोई आदिम जाति रही हो, जो वन्य पशुओं के आखेट पर जीती हो, जैसा कि फिक ने कहा है, अथवा नाचरंग वाली जाति रही हो।[2]

पौष्करसादि—पुष्करसादि का वंशज। शांखायन आरण्यक और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में एक आचार्य का नाम पौष्करसादि है। आपस्तम्ब—धर्म-सूत्र में एवं अन्यत्र भी एक पुष्करसादि का उल्लेख मिलता है: शांआ०, ७. १७; तु०—कीथ, जराएसो०, १९०८, ३७१; तैब्रा०, २. १. २, ५; पाणिनि ८. ४. ४८; वार्त्तिक ३; कीलहार्न, इंडियन ऐंटीक्वैरी, १६. १०३; पिशल, वही, ३४. २६; आपधसूत्र, १. ६. १९. ७; १०. ३८. १।

पौष्कल—साम-विशेष। 'अथैतत् पौष्कलमेनेन वै प्रजापतिः पुष्कलान् पशूनसृजत तेषु रूपमदधाद् यदेतत्। साम भवति पशुष्वेव रूपं दधाति' तांब्रा० ८. ५. ६।

पौष्पिण्ड्य—सामविधान ब्राह्मण के अन्त में आचार्यों के वंश की सूची में **जैमिनि** के शिष्य एक आचार्य का नाम पौष्पिण्ड्य है। द्र०—वेबर, इस्टू०, ४. ३७७।

प्युक्षण—शतपथ ब्राह्मण ५. ३. १. ११ में धनुष् रखने के खोल का नाम प्युक्षण है।

प्रउग—प्रउग स्पष्टतः प्र-उग है, जिसे हिन्दी में 'ऊँटना' कहते हैं, जिसपर जुआ बाँधा जाता है। याजुष संहिताओं और शतपथ ब्राह्मण में यह **कस्तम्भी** से पीछे बताया गया है। =उक्थ। तु०—'ता अमुतोऽर्वाच्यो देवतास्तृतीयसवनात् प्रातःसवनमभि प्रायुञ्जत तद् यदभिप्रायुञ्जत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम्' कौब्रा०, १४. ५; 'प्राणानां वा एतदुक्थं यत् प्रउगम्' ऐब्रा०, ३. ३; 'प्राणाः प्रउगम्' कौब्रा०, १४. ४; 'तस्माद् बह्व्यो देवताः प्रउगे शस्यन्ते' कौब्रा०, १४. ४। द्र०—तैसं०, ५. ४. ११. १, २; कासं०, २१. ४; शब्रा०, १. १. २. ९; ३, ५. ३. ४ इत्यादि; तु०—त्सिमर, आ० ले०, २४८; एगलिंग, सेबुई०, १२. १४ टि०—१।

प्रकङ्कत—ऋग्वेद १. १९१-७ में किसी विषैले कीड़े का नाम है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, ९८।

प्र-करितृ—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों में एक प्रकरितृ है। इसका ठीक अर्थ अज्ञात है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के सायण-भाष्य में इसे विभेदक (प्रिय व्यक्तियों में भेद डालने वाला) बताया गया है; किंतु इसका अर्थ 'सींचने वाला' ठीक मालूम पड़ता है। द्र०—वासं०, ३०. १२; तैब्रा०, ३. ४. ८. १; तु०—एगलिंग, सेबुई०, ४४. ३१५ टि०; वेबर, इस्टू०, १. ७९. टि०—६।

प्र-कश—अथर्ववेद ९. १. २१ में कोड़े के चमड़े का वाचक है।

प्र-क्रम—शतपथ ब्राह्मण १०. २. ३. १ में प्रक्रम दूरी का माप है; किंतु कितनी दूरी का यह अनिश्चित है।

प्रक्ष—तैसं०, ६. ३. १०. २ में प्लक्ष के स्थान पर प्रक्ष आया है, जो पिलखन का नाम है। यह परिवर्तन व्युत्पत्ति की दृष्टि से किया गया है। औफ्रेख्ट[1] के अनुसार वही शब्द सामवेद १. १४४; २, ४६५ में आया है।

---

[1] तु०—वोबू०, 'पुक्कश' शब्द; त्सिमर, आ०ले०, २१७; पौल्कस को एक मिश्रित जाति कहा गया है।

[2] द्र०—दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग, २०६; तु०—एगलिंग, सेबुई०, ४४. ४१६ टि०—६।

[1] ऋग्वेद, २. ४६ टि०।

ऐआ०, ५. २. २[1] में भी वही पाठ आया है। ओल्डेनबर्ग[2] ने इस शब्द के ठीक होने पर संदेह किया है। द्र०—त्सिमर, आले०, ५९।

प्र-गाथ—ऐआ०, २. २. २ में ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ऋषियों को प्रगाथ कहा गया है, क्योंकि उन्होंने प्रगाथ (बृहती या ककुभ् तथा उसके बाद सतोबृहती छन्दों) की रचना की है। तु० 'पशवो वै प्रगाथः' कौब्रा०, १५. ४. 'अन्तरिक्षं प्रगाथः' जैउ०, ३. ४. २; 'मनः प्रगाथः' जैउ०, ३. ४. ३।

प्र-घात—याजुष संहिताओं और शतपथ ब्राह्मण में प्रघात शब्द किसी वस्त्र की कन्नी को जताता है, जिस पर नीवि के झालर छुटे रहते हैं : तैसं०, ६. १. १. ३; कासं०, २३. १; किंतु मैसं०, ३. ६. २. ३ में नहीं; शब्रा०, ३. १. २. १८। द्र०—एगलिंग, सेबुई०, २६. १०. टि० १।

प्र-चय—स्वरों का एक भेद प्रचय है; द्र०—तैप्रा०, २. ६. ७, ९; ऋप्रा०, ३. ११. १३, १७ इत्यादि।

प्र-चलाका—तैसं०, ७. ५. ११. १ और कासं०, अश्वमेध, ५. २ में धड़ाके की वर्षा को प्रचलाका कहा गया है।

प्र-चेतस्—प्रकृष्ट चित्त वाला। वैदिक साहित्य में अग्नि एवं आदित्यों को प्रचेतस् कहा गया है : ऋ० २. ३२. २; ३. २५. १; १०. ७९. ४; ७. ४. ४; ८. ७३. २; तैसं०, ३. ५. ५. ३; ऋ० १. ४१. १; ८. ४७. ४; ८. ५६. १७; १०. ८५. १७; १. २४. १४; वासं०, ५. ११; ऋ० ८. ७. ११; अवे०, ६. ५३. १ इत्यादि।

प्र-जनन—'संवत्सरो वै प्रजननम्' गोपू०, २. १५; 'अग्निः प्रजननम्' गोपू०, २. १५।

१—प्र-जा—अपत्य या पुत्रादि के अर्थ में प्रजा शब्द आम है : ऋ० २. ३३. १; २. ३. ९; १. १७९. ६; ५. ४. १०; ७. ३५. १०; ७. ३६. ९; १०. १८. १; १०. ९५. १८; अवे०, २. ७. ४; १४. २. १४ इत्यादि। तु० 'यज्ञाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते' शब्रा०, ४. ४. २. ९; 'प्रजा वै तोकम्' शब्रा ७. ५. २. ३९; 'प्रजा वै सूनुः' शब्रा० ७. १. १. २७; 'प्रजा वै तन्तुः' ऐब्रा ३. ११. ३८; 'प्रजा वो अप्तुरित्याहुः' गोउ०, ५. ९; 'प्रजा वै विश्वज्योतिः' शब्रा०, ६. ५. ३. ५; 'प्रजा वा अरीः' शब्रा० ३. ९. ४. २१; 'प्रजा वा इषः' शब्रा०, १. ७. ३. १४; 'प्रजा वै भूतानि' शब्रा० २. ४. २. १; 'प्रजा वै बर्हिः' कौब्रा०, ५. ७; 'प्रजा शस्त्रम्' शब्रा०, ५. २. २. २०; 'प्रजा पशवः सूक्तम्' कौब्रा०, १४. ४; 'प्रजा वा उक्थानि' तैब्रा०, १. ८. ७. २; 'तस्मात् प्रजा दशमासो गर्भं भूत्वैकादशमनु प्रजायन्ते तस्माद् द्वादशं नाभ्यतिहरन्ति द्वादशेन हि परिगृहीताः' तांब्रा० ६. १. ३।

२—प्र-जा—विश् या राजाश्रित जनों के लिए भी प्रजा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद काल से ही आ रहा है : ऋ० ४. ५३. ४; ५. ८३. १०; १०. १३. ४; १०. ५४. १; अवे०, ५. २४. १३; ऐब्रा०, ७. २०; तैसं०, ३. १. १. १; शब्रा०, २. ४. ३. २ इत्यादि। तु० 'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः। आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च' शब्रा० ३. ५. १. १३; आयस्यो वै प्रजाः' शब्रा० १३. ३. ४. ५; 'आद्याहीमाः प्रजा विशः' शब्रा० ४. २. १. १७।

१. प्रजा-पति—कुछ स्थलों पर प्रजापति शब्द प्रजापालक सविता, अग्नि आदि देवों के लिए आया है : ऋ० ४. ५५. २, ९. ५. ९; अवे०, १०. १. २१; ऋ० १०. ८५. ४३ इत्यादि।

२. प्रजा-पति—सृष्टिकर्ता या ब्रह्मा के अर्थ में भी प्रजापति शब्द का प्रयोग आम रहा है : अवे०, ३. १०. १३; ४. ३५. १; ८. १. १७; ९. १ २४. १०. ७. ७; वासं०, ८. ३६; शब्रा०, १. ४. २. १; तैब्रा०, २. २. १०. १, इत्यादि।

तु०—'तद् यदब्रवीत् (ब्रह्मा) प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम्' गोपू० १. ४; 'एष वै प्रजापतिः यदग्निः' तैब्रा० १. १. ५. ५; शब्रा० २. ३. ३. १८; २. ५. १. ८; 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात् ताः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतास्ता वैश्वदेव्य इष्टकाः' शब्रा० ८. २. २. ६; 'यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः' तैब्रा० १. २. २. ५; 'एष प्रजापतिर्यद् धृदयम्' शब्रा० १४. ८. ४. १; 'यः प्रजापतिस्तन्मनः' जैउ० १, ३३. २; कौब्रा० १०. १; शब्रा० ८. ५. २. २; ऐब्रा० ५.२५;= वाक्, शब्रा० ५. १. ५. ६; १. ६. ३. ७; तैब्रा० १. ३. ४. ५; 'वाग् वा अस्य प्रजापतेः स्वो महिमा' शब्रा० २. २. ४. ४; 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् तस्य वागेव स्वमासीद् वाग् द्वितीया स ऐक्षतेमामेव वाचं विसृजा इयं वा इदं सर्वं विभवन्त्येष्यतीति स वाचं व्यसृजत्' कासं० १५. ५; 'प्रजापतिर्वा इदमासीत् तस्य वाग् द्वितीयासीत् तां मिथुनं समभवत् सा गर्भमधत्त सास्मादपाक्रामत् सेमाः प्रजा असृजत सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्' तांब्रा० २०. १४. २; 'प्रजापतिर्वै वाक्पतिः' शब्रा० ३. १. ३. २२; 'तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे त्वगिति द्वेऽसृगिति द्वे मेद इति द्वे मांसमिति द्वे स्नावेति द्वे अस्थीति द्वे मज्जेति द्वे ताः षोडश कला अथ य एतदन्तरे प्राणः संचरति स एष सप्तदशः प्रजापतिः' शब्रा० १०. ४. १. १७; 'षोडशकलः प्रजापतिः'

---

[1] कीथ के नोट के साथ।

[2] ऋ० नोटेन, १. ३४४।

शब्रा० ७. २. २. १७; 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः' शब्रा० १४. ४. ३. २२; 'द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः' शब्रा० १. ३. ५. १०; 'सप्तदशो वै प्रजापतिः द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्त-शिशिरयोः समासेन तावान् संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः' ऐब्रा० १. १; 'संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः। तस्याहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि मासि वै संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते चतुर्विंशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासास्त्रय ऋतवस्ताः शतविधाः संवत्सर एवैकशततमी विधा' शब्रा० १०. २. ६. १; (प्रजापतिः) 'प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यस्रंसत' शब्रा० ६. १. २. १२; प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य परमेष्ठी शिर आदायोत्क्रम्यातिष्ठत्' शब्रा० ८. ७. ३. १५; 'तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद् दर्शपूर्णमासौ' शब्रा० ११. १. ६. १६; 'स (संवत्सर) एव प्रजापतिः तस्य मासा एव सहदीक्षिणः' तांब्रा० १०. ३. ६; 'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः' शब्रा० ४. ३. ४. ३; 'प्रजापतिरश्वमेधः' शब्रा० १३. २. २. १३; एष ह प्रजानां प्रजापतिर्यद् विश्वजित्' गोपू० ५. १०; 'यो ह्येव सविता स प्रजापतिः' शब्रा० १२. ३. ५. १; 'प्राणो हि प्रजापतिः प्रजापतिं ह्येवेदं सर्वमनु प्रजायते' शब्रा० ४. ५. ५. १३; 'अथ य एतदन्तरेण प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः' शब्रा० १०. ४. १. १७; =अन्नम् शब्रा० ५. १. ३. ७; =वायुः, ऐब्रा० ४. २६; 'अर्धं ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापतिः' शब्रा० ६. २. २. ११; 'रूपमेव तत् प्रजापतिर्हिरण्यमन्तत आत्मनोऽकुरुत तस्मादाहुर्हिरण्मयः प्रजापतिरिति' शब्रा० १०. १. ४. ९; =ब्रह्मा, गोउ० ५. ८; =चन्द्रमाः, शब्रा० ६. १. ३. ३६; =सोमः, शब्रा० ५. १. ५. २६; 'स वै दक्षो नाम,' शब्रा० २. ४. ४. २; =महान् देवः, शब्रा० ६. १. ३. १६; 'अश्वा ह वा इयं (पृथिवी) भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः' शब्रा० १४. १. ३. २५; प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत' शब्रा० ६. ६. १. १९; =वसिष्ठः, कौब्रा० २५. २; 'स (प्रजापतिः) वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्' तैब्रा० १. १. ३. ६; =विश्वकर्मा, शब्रा० ७. ४. २. ५; =व्योम, शब्रा० ८. ४. १. ११; =सुपर्णो गरुत्मान्, शब्रा० १०. २. २. ४; =मूर्धा, शब्रा० ८. २. ३. १०; =ओदनः, शब्रा० १३. ३. ६. ७; =सक्तवः, तैब्रा० ३. ८. १४. ५; =स्वरः, षब्रा० ३. ७; =वामदेव्यम्, शब्रा० १३. ३. ३. ४; =हिंकारः, तांब्रा० ६. ८. ५; =सर्वाणि छन्दांसि, शब्रा० ६. २. १. ३०=पाङ्क्तः, शब्रा० १०. ४. २. २३; =आनुष्टुभः, तैब्रा० ३. ३. २. १; =प्रातरनुवाकः, कौब्रा० ११. ७; 'अथास्य (प्रजापतेः) इन्द्र ओज आदायोदङुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत्' शब्रा० ७. ४. १. ३९; =प्राजापत्योऽश्वः, शब्रा० १३. १. १. १; 'प्रजापतिः श्रोत्रादवि निरमिमीत' शब्रा० ७. ५. २. ६; 'योऽयं चक्षुषि पुरुषः स प्रजापतिः' जैउ० १. ४३. १०; =उद्गाता, शब्रा० ४. ३. २. ३; =उद्गीथः, तैब्रा० ३. ८. २२. ३; =अथर्वा, गोपू० १. ४; 'एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यद् राजन्यस् तस्मादेकः सन् बहूनामीष्टे' शब्रा० ५. १. ५. १४; 'घृतं च वै मधु च प्रजापतिरासीत्' तैब्रा० ३. ३. ४. १; =आत्मा, शब्रा० ४. ६. १. १; =पुरुषः, शब्रा० ७. ४. १. १५; =पितरः, गोउ० ६. १५; 'अंशुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिः' शब्रा० ४. १. १. २; =प्रजननम्, शब्रा० ५. १. ३. १०; 'स प्रजापतिरब्रवीदथ कोऽहमिति यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत् ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्' ऐब्रा० ३. ३१; =भरतः, शब्रा० ५. ८. १. १४; =बृहदुक्षः, शब्रा० ४. ४. १. १४; =विप्रः, शब्रा० ६. ३. १. १६; =धाता, शब्रा० ९. ५. १. ३८; =चतुर्होता, तैब्रा०, २. २. ३. ५; =दशहोता, तैब्रा०, २. २. १. १; =द्रोणकलशः, शब्रा० ४. ३. १. ६; =निधनम्, जैउ०, १. ५८. ९; =क्षत्रम्, शब्रा० ८. २. ३. ११; =चित्पतिः शब्रा० ३. १. ३. २२; =इमे लोकाः, शब्रा० ७. ५. १. २७; =द्यावापृथिवी, शब्रा० ५. १. ५. २६; 'यान् वैतान् सप्त पुरुषान् एकं पुरुषमकुर्वन् स प्रजापतिरभवत्' शब्रा० १०. २. २. १; 'एको वै प्रजापतिः' तब्रा० १६. १६. ४; 'स (प्रजापतिः) तूष्णीं मनसाध्यायत् तस्य यन्मनस्यासीत् तद् बृहत्समभवत् स आदीधीत गर्भो वै मेऽयमन्तर्हितस्तं वाचा प्रजनया इति। स वाचं व्यसृजत' तांब्रा० ७. ६. १-३; 'स आस्येनैव देवानसृजत तस्मै ससृजानाय दिवेवास।···अथ योऽयमवाङ् प्राणः तेनासुरानसृजत··· तस्मै ससृजानाय तम इवास' शब्रा० ११. १. ६. ७-८; =सर्वा देवताः, तैब्रा०, ३. ३. ७. ३; 'स एव (प्रजापतिः) पिता पुत्रः। यदेषोऽग्निमसृजत तेनैषोऽग्नेः पिता यदेतमग्निः समदधात् तेनैतस्याग्निः पिता यदेष देवानसृजत तेनैष देवानां पिता यदेतं देवाः समदधुस्तेनैतस्य देवाः पितरः' शब्रा० ६. १. २. २६; 'स (प्रजापतिः) अग्निमब्रवीत् त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि' जैउ०, १. ५१. ५; 'रूपं वै प्रजापतिः···नाम वै प्रजापतिः' शब्रा० ५. १. १. ४; 'उभयम्वेतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्या यजुष्कृतायै करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति' शब्रा० ६. ५. ३. ७; 'अथ यत् परं भाः (सूर्यस्य) प्रजापतिर्वा सः' शब्रा० १. ९. ३. १०; 'प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशो देवतानाम्' तांब्रा० १७. १. ३; =स्वाराज्यम्, तांब्रा० १९. १३. ३; =अन्तः, शब्रा० ५. १. ३. १३; 'प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः' तैब्रा०, ३. ३. ९. ११; 'प्रजापतिर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च' शब्रा० ५. १.

२. १०; 'स सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने स मृत्योर्बिभयांचकार' शब्रा० १०. ४. २. २; 'तदम्यमृशदस्त्वित्यस्तु भूयोऽस्तु इत्येव तदब्रवीत्। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत। त्रय्येव विद्या' शब्रा० ६. १. १. १०; 'प्रजापतिः पशूनसृजत। तेऽस्मात् सृष्टा अपाक्रामंस्तानेतेन (श्यैतेन) साम्नाभिव्याहरत् तेऽस्मा अतिष्ठन्त' तांब्रा० ७. १०. १३; 'स (प्रजापती रुद्रेण) विद्धः ऊर्ध्व उदपतत् तमेनं मृग: (मृगशीर्ष-नक्षत्रं) इत्याचक्षते' ऐब्रा०, ३. ३३; प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये' ऐब्रा०, ३. ३३; 'प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरं तस्य रेतः परापतत् तदस्यां न्यषिच्यत तदश्रीणादिदं मे मादुषदिति तत् सदकरोत् पशूनेव' तांब्रा०, ८. २. १०; 'सा (सीता सावित्री) ह पितरं प्रजापतिमुपससार। तं होवाच। नमस्ते अस्तु भगवः' तैब्रा० २. ३. १०. १; 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्' ऐब्रा०, ४. ७; 'तान् (अग्निवाय्वादित्यचन्द्रमसः) दीक्षितांस्तेपानानुषाः प्राजापत्याऽप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात् प्रत्युदैत् तस्यामेषां मनः समपतत् ते रेतोऽसिञ्चन्त ते प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् रेतो वा असिचामहा इदं नो मामुया भूदिति' कौब्रा०, ६. १।

प्रजावन्त् प्राजापत्य—प्रजापति का वंशज। ऐब्रा० १. २१ के अनुसार ऋग्वेद-सूक्त १०, १८३ के रचयिता ऋषि का यह नाम है।

प्र-णपात्—ऋग्वेद ८. १७. १३ में प्रपौत्र को प्र-णपात् कहा गया है।

प्र-णीता—जल। 'यदापस्तस्मादापः प्रणीतास्तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वम्' शब्रा० १२. ९. ३. ८।

प्र-णेजन—शतपथ ब्राह्मण १. २. २. १८ में सफाई के लिए प्रयुक्त जल को प्र-णेजन कहा गया है।

प्र-ततामह—अथर्ववेद १८. ४. ७५ में प्रपितामह को प्रततामह कहा गया है।

प्र-तर्दन—कासं०, २१. १० में एक राजा का नाम प्रतर्दन है। इनके पुरोहित का नाम **भरद्वाज** है। कौब्रा०, २६. ५ में कहा गया है कि वे नैमिषारण्य में ऋषियों के सत्र में गये थे और इन्होंने यज्ञ में होने वाली त्रुटि को दूर करने का उपाय पूछा था; इसका ब्रह्मन् पुरोहित **अलीकयु वाचस्पत्य** ठीक उत्तर नहीं दे पाये थे। कौउ०, ३. १ में कहा गया है कि **प्रतर्दन दैवोदासि** इन्द्र के लोक को गए थे; क्योंकि उनकी मृत्यु युद्ध में हुई थी। इस पैतृक नाम से उनका संबन्ध **दिवोदास्** से जान पड़ता है, जो **सुदास्** के पिता या पूर्वज थे, और उनके पुरोहित **भरद्वाज** थे, इससे भी यह संबन्ध समर्थित होता है, क्योंकि **भरद्वाज-वंश** के ऋषियों के वे प्रमुख आश्रयदवाता थे; उनके नाम से तृत्सुओं का भी संबन्ध जान पड़ता है; दोनों में तर्द् धातु है; द्र०—**प्रतृद्**। किंतु वैदिक साहित्य में उन्हें **काशी** का राजा नहीं कहा गया है जैसा कि आर्षकाव्य में।[1] गेल्डनर ने उन्हें **दिवोदास** का पुत्र माना है: किंतु यह चिन्त्य है। तु०—**प्रातर्दनि**।

प्रति-गर—'गृणाति ह वा एतद्धोता यच्छंसति। तस्मा एतद् गृणते प्रत्यवाध्वर्युरागृणाति तस्मात् प्रतिगरो नाम' शब्रा० ४. ३. २. १; 'मदो वै प्रतिगरः' शब्रा० ४. ३. २. ५।

प्र-तिथि देव-तरथ—वंशब्राह्मण में **देवतरस् शावसायन** के शिष्य एक आचार्य का नाम प्रतिथि देवतरथ है; द्र०—इस्टू०, ४. ३७३, ३८५; मैक्समूलर, ऐंशि० संस्कृत लिटरेचर, ४४४।

प्रति-दीवन्—ऋग्वेद १०. ३८. ६ और अथर्ववेद ७. १०९. ४ में द्यूत-क्रीड़ा में प्रतिपक्षी को प्रतिदीवन् कहा गया है।

प्रति-दुह्—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में धारोष्ण गो-दुग्ध को प्रति-दुह् कहा गया है: अवे०, ९. ४. ४; तैसं०, २. ५. ३. ३; कासं०, ३७. ६ इत्यादि; पंविब्रा०, ९. ५. ५; १८. ४. २; शब्रा०, ३. ३. ३. २; तैब्रा०, २. ७. ६. २ इत्यादि।

प्रति-धा—ऋग्वेद ८. ७७. ४; निरुक्त, ५. ११. में प्रति-धा एक घूंट या 'साँस' को जताता है, जहाँ कहा गया है कि इन्द्र ने सोम के तीन तालाबों=सरांसि को एक प्रति-धा में पी लिया।

प्रति-धि—ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त १०. ८५. ८ में प्रतिधि उस रथ का एक भाग है, जिसमें बिठाकर वधू को वर के घर ले जाया जाता था। राथ[2] का कहना है कि यह एक टेढ़ी लकड़ी का टुकड़ा है, जिसे पोल या बाँस के साथ बाँधा जाता था।

प्रति-पण—अथर्ववेद ३. १५. ४ में प्रतिपण वस्तु-विनिमय वाचक है। तु०—**पण**।

प्रति-प्रश्न—शब्रा०, १. ५. ४. ११; ४. १. ३. १४ में संदेहों को दूर करने वाले **प्रजापति** को प्रति-प्रश्न कहा गया है। इसका अर्थ न्याय करने वाला हो सकता है; द्र०—**मध्यम-शी, धर्म**।

विवरण: एगलिंग, सेबुई०, १२. १३१; २६. २६७; इन्होंने अर्थ किया है कि 'प्रजापति के पास पूछने गये', किंतु किस प्रकार यह अर्थ संभव हुआ यह उल्लेख नहीं है।

[1] द्र०—पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, ३८६।
[2] वैस्टू०, २. १३८।
[3] वोबू०।

प्रति-प्रस्थातृ—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में अध्वर्यु के सहायक एक ऋत्विज् को प्रति-प्रस्थातृ कहा गया है : तैसं०, ६. ५. ३. ४; ऐब्रा०, १. २९; ७. १; शब्रा०, ३. ५. २. २; ३. ३. १३. २२ इत्यादि। ऋग्वेद में उसका उल्लेख नहीं है, किंतु, २. १६. ५ में दो अध्वर्युओं का उल्लेख है।[1] इन्हीं को बाद में अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थातृ कहा गया प्रतीत होता है। फिर भी ओल्डेनबर्ग[2] ने सुझाव दिया है कि वहाँ अध्वर्यु और अग्नीध अभिप्रेत हैं; इस अनुमान के लिए आधार हैं : ऋ० १०. ४१. ३; शांश्रौसू०, १. ६. ३ में एक मन्त्र।

प्रति-प्राश— द्र०—प्राश्।

प्रति-बोध अथर्ववेद ५. ३०. १०; ८. १. १३ में बोध के साथ प्रतिबोध का उल्लेख है। यह एक व्यक्ति का नाम है। द्र०—बोध। किंतु ह्विटनी ने इसे 'जागृत व्यक्ति' इस अर्थ में लिया है : ट्रां० अवे०, ४७४।

प्रतिबोधी-पुत्र—प्रातिबोधी-पुत्र के स्थान में यह गलत पाठ है : इस्तू०, १. ३९१; कीथ, ऐआ०, २४४, ३१०।

प्रति-मा—कुछ स्थलों पर प्रतिरूप या मूर्ति के अर्थ में प्रतिमा शब्द आया है : अवे०, ९. ४. २; वासं०, १३. ४१; १५. ६५। तु० 'असौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्ष-लोके प्रतिमित इव' शब्रा०, ८. ३. ३. ५।

प्रति-मित्—अथर्ववेद ९. ३. १ में गृह के प्रसङ्ग में प्रतिमित् का उल्लेख आया है। किसी प्रकार की टेक अभिप्रेत है; संभवतः उपमितों को थामने वाली टेक अभिप्रेत हो। तु०—त्सिमर, आले०, १५३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ५९६।

प्रति-राध—'प्रतिराधेन वै देवा असुरान् प्रतिराध्याथैनानत्यायन्' ऐब्रा०, ६. ३३; 'ता वै प्रतिराधैः प्रत्याघ्नुवन् तस्मात् प्रतिराधास्तत् प्रतिराधानां प्रतिराधत्वम्' गोउ०, ६. १३।

प्रतिरूप-चर्या—शब्रा०, ११. ५. ७. १ में ब्राह्मणों के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए प्रतिरूपचर्या या जाति के प्रति किये जाने वाले कर्तव्य का उल्लेख आया है।

प्रति-रूप—'य आदित्ये (पुरुषः) स प्रतिरूपः। प्रत्यङ् ह्येष सर्वाणि रूपाणि' जैउ०, १. २. ७. ५।

प्रति-वेश—पड़ोसी। ऋग्वेद-काल से ही प्रतिवेशी शब्द (कभी-कभी आलंकारिक रूप में) आता रहा है : ऋ० १०. ६६. १३; तैसं०, २. ६. ९७; वासं०, ११–७५; कासं०, ३६. ९; शब्रा०, ४. १. ५. २; तैउ०, १. ४. ३।

प्रति-वेश्य—शांआ०, १५. १ में आचार्यों की वंश-सूची में बृहद्दिव के शिष्य एक आचार्य का नाम प्रतिवेश्य है। तु०—प्रातिवेश्य।

प्रति-श्रुत्का—प्रतिध्वनि। प्रतिश्रुत्का का उल्लेख याजुष-संहिताओं और कौषीतकि उपनिषद् में मिलता है : तैसं०, ५. ५. १४. १; मैसं०, ३. १४. १३; कासं०, अश्वमेध, ७. ४; वासं०, २४. ३२; ३०. १९; कौउ०, ४. १३।

प्रति-ष्ठा—अथर्ववेद ६. ३२. ३. ८. ८. २१; शां० आ०, १२. १४ में प्रतिष्ठा शब्द आया है। त्सिमर[1] के अनुसार कि यह कानून का कोई पारिभाषिक शब्द है : संभवतः "धर्म-स्थान" या "न्याय-स्थान" अभिप्रेत है; किंतु राथ[2] के अनुसार इसका अर्थ गृह है और यह ठीक हो सकता है; "तु०—प्रतिष्ठा-काम", तैसं०, २. १. ३. ४; पंविब्रा०, २३. १८. १ इत्यादि। तु. 'इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा' शब्रा. १. ९. १. २९; 'गृहा वै प्रतिष्ठा' शब्रा. १. ९. ३. १८. 'याश्चतस्रः प्रतिष्ठा इमा एव ताश्चतस्रो दिशः' जैउ. १. २१. २; 'चक्षुर्वै प्रतिष्ठा', शब्रा. १४. ९. २. ३; 'प्रतिष्ठा वा अवसानम्' कौब्रा. ११. ५; 'प्रतिष्ठा चरित्रम्' शब्रा. ८. ३. १. १०; 'प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः'—संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रय-स्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः षड् ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशस् तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा' शब्रा. ८. ४. १. २२.

प्रति-सर—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में रक्षाकवच या मणि के लिए प्रतिसर शब्द आया है : अवे०, २. ११. २; ४. ४०. १; ८. ५. १, ४; शब्रा०, ५. २. ४. २०; शांआ० १२. ३० इत्यादि। राथ[3] ने "प्रतिसृ" से प्रति-वर्तन" के अर्थ का द्योतक होने से इसे कवच या मणि का वाचक माना है[4]। किंतु यह संदिग्ध है। संभवतः इसका अर्थ 'आक्रमण करने वाला" रहा हो[5]। तु०—पुनःसर। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६३; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ३४५; वेबर, इस्तू० १३-१६३।

प्रति-हर्तृ—सोलह ऋत्विजों में से एक प्रतिहर्ता है, जो उद्गातृ का सहायक है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों

---

[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, टि० ३८४ टि०—२।

[2] तु०—ह्रिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, ९७।

[3] उपर्युक्त, ३९० टि० २।

---

[1] आले०, १८१.

[2] वोबू०।

[3] वोबू०।

[4] तु०—एगलिंग, सेबुई० ४१. ५३ टि०—२.

[5] तु०—ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १३, १३३; हिम्स आ०दि अ० वे०, ५७६।

में इसका उल्लेख है, किंतु ऋग्वेद में नहीं : तैसं०, ३. ३. ३. १; तैब्रा०, १. ८. २. ३; ऐब्रा०, ७. १; शब्रा०, ४. ३. ४. २२; १२. १. १. ८; पंविब्रा०, २५. १५. ३; छाउ० १. १०. ११; १. ११. ८; तु०—लुड्विग, ट्रां०, ऋ०, ३. २२७।

प्रति-हार—साम मन्त्र की कुछ मात्राओं को प्रतिहार कहा गया है। किसी मन्त्र के चौथे पद के आरम्भ से मन्त्रोच्चारण में **प्रतिहर्ता** भाग लेता है। इसी का पारिभाषिक नाम प्रतिहार है[1]। छान्दोग्योपनिषद् में **प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव,** और **निधन** इन पांच प्रकारों की अनेक रूप में कल्पना की गई है : छाउ०, २. २. १–२१; तु०—१. १०. ११; द्र०—ऐब्रा०, ५. २३; आश्रौसू०, ५. १०; लाश्रौसू०, ६. १०. २२–२९; ६. ११. १–३; ६. १२. १। तु० 'अश्विनौ प्रतिहारः' जैउ० १. ५८. ९. 'चन्द्रमा : प्रतिहारः' जैउ० १. ३६. ९; 'शरत् प्रतिहारः' षब्रा० ३. १; 'अपराह्णः प्रतिहारः' जैउ० १. १२. ४; 'अस्थि प्रतिहारः' जैउ० १. ३६. ६; 'दिशोऽवान्तरदिश आकाश एव प्रतिहारः' जैउ० १. १९. २; साम; पराचीभिर्वा अन्याभिरिडाभी रेतो दधदेत्यथैतत् प्रतीचीनेडं काशीतं प्रजात्यै' तांब्रा० १५. ५. १६.

प्रती-दर्श श्वैक्न—शब्रा० २. ४. ४. ३ में दाक्षायण आहुति से यज्ञ करने वाले **प्रतीदर्श श्वैक्न** का उल्लेख है, जिन्होंने **सुप्लन् साञ्जंय** को शिक्षा दी थी, जो बाद में **सहदेव साञ्जंय** हो गए थे। एक अन्य स्थल पर शब्रा० १२. ८. २. ३ में उन्हें **प्रतीदर्श ऐभावत** कहा गया है; और फिर उनका संबन्ध **सुप्लन् साञ्जंय** से जोड़ा गया है। एगलिंग[2] के अनुसार वे **श्विक्नों** के राजा थे, और वे **इभावन्त्** के वंशज थे। जैउब्रा० ४. ८. ७ में भी एक **प्रतीदर्श** का उल्लेख है।

प्रतीप प्राति-सत्वन या प्राति-सुत्वन—अथर्ववेद में एवं अन्यत्र यह एक व्यक्ति का नाम है : अवे०, २०. १२९. २ **प्रातिसत्वनः** खिल, ५. १५. १; ऐब्रा०, ६. ३३. २[3]। त्सिमर[4] ने कहा है कि **परिक्षित्** अथर्ववेद २०. १२७ के अनुसार एक कुरु-राजा थे और आर्ष-काव्य-वंशावलि के अनुसार **प्रतिश्रवस्** उनके पौत्र थे; जिसके साथ कि प्रतिश्रुत्वन् के प्राकृत-रूप प्रातिसुत्वन की तुलना की जा सकती है—इसका पौत्र था **प्रतीप**। यह तादात्म्य निश्चित नहीं है; और यदि यह कहा जाय कि आर्षकाव्य ने अपनी वंशावलि अथर्ववेद से ली है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि उसने अपनी वंशावलि स्वतन्त्र स्रोत से ली है। बोहटलिङ्गक ने 'प्रातिसत्वनम्' का अर्थ 'सत्वन के विरुद्ध जानेवाला' यह माना है जो ठीक हो सकता है।

प्रती-बोध—अथर्ववेद ५. ३०. १०, ८. १. १३ में **बोध** के साथ प्रतीबोध का उल्लेख है; यह एक देवशास्त्रीय प्रतिभान्वित ऋषि प्रतीत होते हैं। द्र०—मागृसू०, २. १५. १।

प्रती-हार—अथर्ववेद ११. ७. १२ और शांब्रा० १७. ६ में **प्रतिहार** के लिए प्रतीहार शब्द आया है। द्र०—**प्रतिहार**।

प्र-तूर्त—'यर्ह्य क्षप्रं तत्तूर्तमथ यत् क्षिप्रात् क्षेपीयस्तत् प्रतूर्तम्' शब्रा० ६. ३. २. २।

प्रतूर्तिरष्टादशः—'संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद् यत्तमाह प्रतूर्तिरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति' शब्रा० ८. ४. १. १३।

प्र-तृण्ण—संहिता-पाठ के लिए ऐआ० ३. १. ३, ५ और शांआ० ७. १०, १२ में प्रतृण्ण शब्द आया है। तु०—**स्वर**।

प्र-तृद्—ऋग्वेद ७. ३३. १४ में बहुवचन में प्रतृद् शब्द **तृत्सुओं** के स्थान पर हो सकता है। तृत्सु राजा **दिवोदास** के वंशज के नाम प्रतर्दन से **तृत्सु** और **प्रतृद्** की अभिन्नता समर्थित होती है; तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३, १५९; गेल्डनर, वैस्तू०, २. १३८।

प्र-तोद—अथर्ववेद १५. २. १ और पंविब्रा० १७. १. १४ में आने वाला प्रतोद शब्द व्रात्य=अब्राह्मण आर्य या आदिवासी की पैनी का वाचक है; तु०—शांआ०, १२. ८ काश्रौसू०, २२. ४. १०; लाश्रौसू०, ८. ६. ७; शांश्रौसू०, १४. ७२. ३; इसका अर्थ "माला" नहीं है; किंतु द्र०—वेबर, इं० लित०, ६७। बाद में सामान्यतः यह शब्द यष्टि के अर्थ में आया है।

प्रत्यक्ष-दर्शन—स्वतः अपनी आंखों से देखना। स्वप्न के विपरीत प्रत्यक्ष दर्शन है; ऋग्वेद-आरण्यकों के कुछ भाग प्रत्यक्ष-दर्शन पर आधृत हैं : ऐआ०, ३. २. ४; शांआ०, ८. ७।

प्रत्याश्रावित—'अपानः प्रत्याश्रावितम्' तैब्रा० २. १. ५. ९।

प्रत्येनस्—बृउ० ४. ३. ४३, ४४ माध्यंदिन=४. ३. ३७, ३८ काण्व में **उग्र** और **सूत-ग्रामणी** के साथ प्रत्येनस् का उल्लेख है, जो निश्चय ही कोई पुलिस-अधि-

[1] सेबुई० ४४. २३९ टि. २।

[2] तु०—शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देसे ऋ०, १६१; शांश्रौसू० १२. १८. १।

[3] आले०, १३१।

[4] डिक्शनरी।

कारी रहा होगा। इसका अर्थ है, राजा का "सेवक" न कि मैजिस्ट्रेट, जैसा कि मैक्समूलर ने बताया है[1]। कासं० ८. ४ और शांश्रौसू० ४. १६. १६, १७ में राथ[2] के अनुसार मृत व्यक्ति का उत्तराधिकारी प्रत्येनस् है, जो ऋण आदि के लिए उसका उत्तरदायी होता था।

प्रथमा चितिः—'यैवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ प्राणस्तत् प्रथमा चितिः' शब्रा० ८. ७. ४. १९।

प्र-दर—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भूमि की दरार को प्रदर कहा गया है: तैसं०, ३. ४. ८. ५; ५. २. ४. ३; वासं०, २५. ७; ऐब्रा०, ६. ३५. १; तैब्रा०, १. ५. १०. ७; शब्रा०, ११. २. ३. ८; १३. ८. ३. १० इत्यादि। तु०–'प्रह्लादो वै कायाधवः। विरोचनं स्वं पुत्रमुदास्यत्। स प्रदरोऽभवत्। तस्मात् प्रदरादुदकं नाचामेत्' तैब्रा० १. ५. १०७।

प्र-दिव्—अथर्ववेद १८. २. १८ में सर्वोच्च स्वर्ग को, जिसमें पितर लोग रहते हैं, प्र-दिव् कहा गया है। कौषीतकि ब्राह्मण २०. १ में सात स्वर्गों की सूची में पञ्च प्रदिव् है।

प्र-दिश्—दिश् के समान यह किसी दिशा का या वृत्त के बिन्दुओं का सूचक है। चार, पाँच, छः या सात बिन्दुओं का उल्लेख आया है; अथवा सामान्य रूप से 'सर्व' बिन्दु यह कहा गया है; **चार**:—ऋ० १. १६४. ४२; ७. ३५. ८; १०. १९. ८; अवे०, १. ११. २; २. १०. ३; **पाँच**: ऋ० ९. ८६. २९; अवे०, १. ३०. ४; ३. ४. २; ३. ३०. ९; **छः** 'अवे०, ४. ११. १; ४. २०. २; १०. ७. ३५; **सात**:—वासं०, १८. ३२; **सर्व**:—ऋ० ६. ७५. २; १०. १२१. ४। कुछ स्थलों पर अन्तर्वर्ती दिशाओं के लिए यह शब्द आया है, जिनके लिए अन्य शब्द **अवान्तर दिश्** है: अवे०, ५. २८. २; ९. २. २१; १९. २० इत्यादि।

प्र-धन—प्रधन का अर्थ प्रतिद्वन्दिता है, चाहे यह युद्ध में हो, चाहे रथकी दौड़ में: ऋ०, १. ११६. २; १. १५४. ३; १. १६९. २; १०. १०२. ५ इत्यादि।

प्र-धि—चक्र की नेमि या पुट्ठी को प्रधि कहते हैं। ऋग्वेद २. ३९. ४ और अथर्ववेद ६. ७०. ३ में नभ्य के साथ प्रधि और उपधि का उल्लेख है; उपधि सामूहिक अरे होंगे या पुट्ठी का कोई भीतरी अवयव होगा जिसमें कि अरे लगाये जाते थे। ऋग्वेद के प्रहेलिका-सूक्त १. १६४. ४८ में ३ नाभियों के साथ १२ प्रधियों का उल्लेख है; वहीं एक चक्र और ३६० अरों का उल्लेख है; संभवतः यहाँ वर्ष, उसकी ३ मौसम, १२ महीने और ३६० दिन अभिप्रेत हों। अन्यत्र भी नाभि और प्रधि का उल्लेख आता है: तैसं०, ७. ४. ११. २; ऐब्रा०, ४. १५; बृउ०, १. ५. २३। प्रधि का अकेले भी उल्लेख मिलता है: ऋ० ४. ३०. १५; १०. १०२. ७ इत्यादि; अवे०, १८. २. १४ में ऋ० १०. १५४. १ के प्रधावति के स्थान पर प्रधावधि पाठ आया है।[1]

प्र-ध्वंसन—दे०–प्राध्वंसन।

प्र-पण—अथर्ववेद १२. १५. ४, ५ में प्रतिपण के साथ प्र-पण शब्द विनिमय का वाचक है।

प्र-पथ—ऋग्वेद १०. १७. ४, ६; १०. ६३. १६ और ऐब्रा०, ७. १५ में लम्बे रास्ते को प्र-पथ कहा गया है। विल्सन[2] ने ऋ० १. १६६. ९ में पथिकों का विश्राम स्थान इससे अभिप्रेत माना है, जहाँ वे भोजन आदि खाते थे। त्सिमर[3] ने इसे असंगत बताकर 'प्रमथेषु' के स्थान पर 'प्रपदेषु' को शुद्ध पाठ माना है।[4] कासं०, ३७. १४[5] में चौड़ी सड़क को प्रपथ कहा गया है।

प्र-पथिन्—ऋग्वेद ८. १. ३० में एक आश्रयदाता, संभवतः एक यादव का नाम प्रपथिन् है। द्र०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, १५९; हापकिन्स जअओसो०, १७. ९०।

प्र-पद—पैर के पञ्जे का नाम प्रपद है। द्र०–शरीर।

प्र-पा—ऋग्वेद के एक मन्त्र १०, ४. १ में प्रपा शब्द झरने के अर्थ में आया है। अथर्ववेद २, ३०. ६ में यह "पान" के अर्थ में आया है; तु०–तैब्रा०, ३. १०. १. २।

प्र-पितामह—पितामह के पिता के अर्थ में प्रतितामह शब्द परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आया है: तैसं०, १. ८. ५. १; वासं०, १९. ३६; अवे०, १८. ४. ३५; शब्रा०, २. ४. २. १६; १२. ८. १. ७।

प्र-पित्व—ऋग्वेद में प्रपित्व शब्द समय के एक विभाग के अर्थ में आया है। ऋ० ८. १. २९ में समय का विभाग इस प्रकार है—**सूर्योदय**=सूर उदिते, **दोपहर**=मध्यंदिने दिवः और **प्रपित्व** रात्रि की सीमा पर (अपिशर्वरे)। ऋ० ७. ४१. ४ में भी दिन के अन्तिम भाग

[1] द्र–बोहटलिङ्गक्, डिक्शनरी।

[2] इस्टू०, ३. ४६३। [3] वोबू०।

[1] लानमान ने अवे०, ६. ७. ३ में भी वही अशुद्धि आई है, द्र०–ह्विटनी, ट्रां० अवे०, भूमिका पृ०, ९२; अवे०, ६. ७०. ३ में टि०-२। तु०–त्सिमर, आले०, २४८।

[2] ट्रां० ऋ०, २. १५१। [3] आ०, २३१।

[4] तु०–राथ, वोबू०; त्सादामौगे०, ४८, १०८; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १६६; बोहटलिंगक् की डिक्शनरी में राथ का मत अमान्य है।

[5] इस्टू०, ३. ४६६।

यह अर्थ अपेक्षित है, जब कि वहीं "अभिपित्व" दिन के 'अन्त' को जताता है : ऋ० ४. १६. १२। गेल्डनर[1] के अनुसार दौड़ में "निर्णायक घड़ी" को प्रपित्व कहा जाता था; बाद में इसका प्रयोग "दिन के अन्त" के अर्थ में होने लगा।

राथ, वोबू० और त्सिमर, आले०, ३६२. ने इसे प्रातःकाल माना है, किंतु बोहटलिङ्क्ग् ने अपनी डिक्शनरी में दिनान्त या संन्ध्या यह अर्थ लिया है; द्र०—ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १६. २४ एवं आगे, ओल्डेनबर्ग, सेबुई०, ४६. १८३ एवं आगे द्र०—अहन्।

प्र-प्रोथ—पंविब्रा० ८. ४. १ में सोम के स्थान पर काम में आ सकने वाले एक पौधे का नाम प्रप्रोथ है।

प्र-फर्वी—संहिताओं में प्रफर्वी शब्द विलासिनी पीवर स्त्री के अर्थ में आया है : ऋ० १०. ८५. २२; अवे०, ५. २२. ७; तैसं०, ४. २. ५. ६; मैसं०, २. ७. १२; कासं०, १६. १२; वासं, १२. ७१।

प्र-बुध्—ऋग्वेद ८. २७. १९ में सप्तमी विभक्ति में "निम्रुचि"=सूर्यास्त के समय के साथ "प्रबुधि" आया है, जो सूर्योदय का बोधक है।

प्रमंहिष्ठीय—साम-विशेष। 'प्रमंहिष्ठीयेन वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रावर्तयत् तमस्तृणुत' तांब्रा० १२. ६. ६।

प्र-मगन्द्—ऋग्वेद ३. ५३, १४ में कीकटों के एक राजा का नाम प्रमगन्द है, जहाँ उन्हें नैचाशाख, अर्थात् निम्न शाखा या वंश का कहा गया है। दूसरी ओर यास्क, निरुक्त, ६. ३२ ने उन्हें सूद-खोर या कुसीदक के पुत्र के अर्थ में माना है, जो चिन्त्य है। हिल्लेब्राण्ड्ट[2] ने नैचाशाख को प्रमगन्द का विशेषण न मानकर, सोम का विशेषण माना है; क्योंकि उसे "नीचाशाख"=नीचे की ओर शाखाओं वाला बताया गया है; उनके मत में इस संदर्भ का इशारा कीकटों के विपरीत किसी आक्रमण की ओर है, जो कीकट कि दुग्ध या घृत के कर्मकाण्ड में आस्था नहीं रखते थे; उनकी गौ और सोम से संपन्न भूमि को छीनने के लिए यह आक्रमण किया गया था। बोहटलिङ्क्ग्[3] ने इस चिन्त्य मत का खण्डन किया है। नैचाशाख किसी स्थान का नाम हो सकता है : सायण-ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका। प्रमगन्द शब्द अनार्य दीख पड़ता है।

प्र-मन्द—द्र०—प्रमन्दनी।

[1] वैस्टू०, २. १७४ एवं आगे।
[2] वैमि०, १. १४–१६; २४२–२४५।
[3] प्रोसी० आ० दि सेक्सन एकेडेमी, १२. १८९१। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३१; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ६. १५२; गेल्डनर, ऋ० कोमेण्टार, ५८।

प्र-मन्दनी—अथर्ववेद ४. ३७. ३ में एक अप्सरा का नाम प्रमन्दनी है। हो सकता है कि प्रारम्भ में यह शब्द किसी भीनी-भीनी गन्ध वाली लता या ओषधि का बोधक रहा हो। यही अर्थ "प्रमन्द" का कौशिक-सूत्र ८. १७; २५. ११; ३२. २९, निष्प्रमन्द, ३६. १५ में प्रतीत होता है। तु०—त्सिमर, आले० ६९; कालण्ड, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबर-रितुआल, १५. टि० ११।

प्र-मर—ऋग्वेद १०. २७. २० में लुड्विग[1] के अनुसार प्रमर किसी व्यक्ति का नाम है।

१–प्र-मा—अथर्ववेद १०. ७. ३२ में प्रमा शब्द आधार-स्थान के अर्थ में आया है : 'यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्'।

२–प्र-मा—उव्वट और महीधर के अनुसार वासं०, १४. १८ में प्रमा शब्द अन्तरिक्ष के लिए, मा पृथ्वी के लिए और प्रतिमा द्युलोक के लिए आया है। ऋग्वेद १०. १३०. ३ में यह शब्द नाप या प्रमाण के अर्थ में आया है; तु०—वासं०, १५. ६५। तु० 'अन्तरिक्षलोको वै प्रमान्तरिक्षलोको ह्यस्मात् लोकात् प्रमित इव' शब्रा०, ८. ३. ३. ५।

प्र-मोत—अथर्ववेद ९. ८. ४ में वोबू० के अनुसार एक रोग का नाम प्रमोत है। त्सिमर[2] इसे 'बधिर' के अर्थ में एक विशेषण मानते हैं। कुछ झिझक के साथ ह्विटनी[3] और ब्लूमफील्ड[4] ने इसे स्वीकार किया है।

प्र-म्लोचन्ती–(आदित्यस्य) 'प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरहोरात्रे तु ते ते हि प्र चम्लोचतोऽनु च म्लोचतः' शब्रा०, ८. ६. १. १८।

प्रयस्—निघण्टु २. ७ में प्रयस् अन्न के पर्यायों में आया है। इस अर्थ के साथ-साथ वोबू० और मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी में प्रमोद के अर्थ में भी इसे लिया गया है : ऋ० १. ३१. ७; ३. ११. ७; ५. ६६. १; ९. ६६. २३; १. ४५. ८; १. ८६. ७; १. ११८. ४; १, १३५. ४ इत्यादि।

प्र-याज—प्रारंभिक होम को प्रयाज और उसके बाद के होम को अनुयाज कहा गया है : ऋ० १०. ५१. ८; वासं०, १९. १९; ऐब्रा०, १. ८; १. ११; तैसं०, १. ५. २. ३; २. ६. १. ६; शब्रा०, ३. १. ३. ६ इत्यादि। तु० 'ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्त एतत् प्रयाजान् ददृशुस्तैरयजन्त तैर्ऋतून् संवत्सरं प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्स-

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १६५।
[2] आ०ले०, ३७८ टि०।
[3] ट्रां० अवे०, ५५०।
[4] हिम्स आ० दि अवे०, ६०१।

रान्त्सपत्नान् अन्तरायंस्तस्तमात् प्रजयाः, प्रजया ह वै नामैतत् प्रयाजा इति' शब्रा०, १. ५. ३. ३; 'ऋतवो वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च प्रयाजा भवन्ति पञ्च ह्यृतवः' शब्रा०, १. ५. ३. १; 'य इमे शीर्षन् प्राणास्ते प्रयाजाः' ऐब्रा०, १. १७; 'पशवो वै प्रयाजाः' कौब्रा०, ३. ४।

प्र-युत—द्र०—दशन्।

प्र-योग—याजुष-संहिताओं में एक ऋषि का नाम है: तैसं०, ५. १. १०. १; कासं०, १९. १०; इस्टू०, ३. ४७८।

प्र-योग्य—छाउ०, ८. १२. ३ में गाड़ी खींचने वाले पशु का बोधक है।

प्रय्यमेध—द्र०—प्रैयमेध।

प्र-लय—षब्रा०, ४. ६ में आये प्रलय शब्द को मोनियर विलियम्स ने महाविनाश के अर्थ में माना है। किंतु संभवतः लीन होने के सामान्य अर्थ में ही यह शब्द वैदिक साहित्य में आया है: ऐब्रा०, २. १४; शब्रा०, १४. २. २. ५४; ऐब्रा०, ५. २८।

प्र-लाप—वार्तालाप। अथर्ववेद ११. ८. २५ और ऐब्रा०, ६. ३३; कौब्रा०, ३०. ५; शांश्रौसू०, १२. १७. ६ इत्यादि में प्रलाप शब्द आया है। अथर्ववेद के कुछ सूक्त-विशेषों का नाम ऐतश-प्रलाप=ऐतश का वार्तालाप है। किंतु उस ग्रन्थ में इस नाम का उल्लेख नहीं है। द्र०—ब्लूमफील्ड, अवे०, पृ० ९८; १०१ टि० १२; शेफ्त्लोवित्स०, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, १५९ एवं अग्रिम; मैकडानल, बृहद्देवता, २. ३२३।

प्र-वचन—मौखिक उपदेश। शतपथ ब्राह्मण और परवर्ती साहित्य में प्रवचन आम है: शब्रा०, ११. ५. ७. १; तैउ०, १. १. ३. ९; काउ०, २. २३; मुउ०, ३. २. ३ इत्यादि।

प्रवण—यह शब्द वैदिक साहित्य में निम्न के अर्थ में आया है: ऋ० १. ५२. ५; १. ५७. १; ६. ४६. १४; ८. ९२. ११; १. ११९. ३; ९. ६९. ७; १०. ४३. ३; कासं०, ३६. २४ इत्यादि √प्रु+अन, बहने वाला?

प्रवत्—ऊंचाई; निवत्=उपत्यका के साथ प्रवत् ऋग्वेद ७. ५०. ४ में आया है; अन्यत्र अकेले भी यह अनेक बार आया है: ऋ०—२. १३. २; ४. १७. ७; ४. २२. ४; ६. १७. १२; ७. ३२. २७; १०. १४. १; १०. ५७. १२; १०. ७५. ४; अवे०, १. १३. २; १. २६. ३; १०. २; १२. १. २; १८. ४. ७।

१—प्र-वर—यज्ञ के प्रारम्भ में कार्य-संपादन के लिए अग्नि के आह्वान को प्रवर कहते हैं। किंतु अग्नि के आह्वान में पुरोहित के पूर्वजों का नामोल्लेख होता था, अतः प्रवर का अर्थ हुआ "आहूत पूर्वज"; द्र०—ऐब्रा०, ७. २५; वेबर, इस्टू०, १०. ७८; "आहूत पूर्वज" के अर्थ में तैसं०, २. ५. १. ९; शब्रा०, १. ५. १. १, २०; ३. ७. ४. ९; ऐब्रा०, ७. ३१ इत्यादि।

२—प्र-वर, प्र-वार—बृउ० ६. १. १० माध्यं० में प्रवर शब्द ओढ़ने के वस्त्र या ऊनी कपड़े के अर्थ में आया है। सायण ने भाष्य में "प्रवार" पाठ लिया है, जो बृहदारण्यक उपनिषद् की काण्व शाखा ६. २. ७ में मिलता है।

प्र-वर्ग—ऋग्वेद ७. १०३. ८ के सायण-भाष्य में प्रवर्ग मिट्टी के उस पात्र को कहा गया है, जिसका प्रवर्ग्य के संपादन में उपयोग होता था और जिसे अन्यत्र महावीर, एवं धर्म कहा गया है। मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी के अनुसार प्रवर्ग के स्थान पर वहाँ गलत पाठ प्रवार्य आया है। द्र०—प्रवर्ग्य।

प्र-वर्ग्य—सोम-यज्ञ से पहले किया जाने वाला एक यज्ञ प्रवर्ग्य है, जिसमें ताजा गरमागरम दूध "महावीर" या "धर्म" नाम के पात्र में अथवा तपे घी में डाला जाता था: ऐब्रा०, १. १८; शब्रा०, ३. ४. ४. १; ७. ३. २. १; १०. २. ५. ३; तैआ०, ५. ६. १ सायण भाष्य के साथ; शांब्रा०, ८. ७; आश्रौसू०, ४. ६; १२. ४; काश्रौसू०, ८. ३. १९; २६. २. १, २; शांश्रौसू०, ५. १२. १ इत्यादि। तु०—'अथ यत् प्रावृज्यत तस्मात् प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. १. १. १०; 'तस्य (मखस्य विष्णोः) धनुरार्त्निरूर्ध्वा पतित्वा शिरोऽच्छिनत् स प्रवर्ग्योऽभवत्, तांब्रा० ७. ५. ६; 'इमे वै लोकाः प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. ३. २. २३; 'अग्निर्वायुरादित्यस्तदेते प्रवर्ग्याः' शब्रा० ९. २. १. २१; १४. ३. २. २४; 'एष (आदित्य) उ प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. १. १. २७; १०. २. ५. ४; 'एष (वायुः) उ प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. २. १. ९; 'संवत्सरो वै प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. ३. २. २२; 'अग्निहोत्रं वै प्रवर्ग्य, शब्रा० १४. ३. २. २६; 'यजमानो वै प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. ३. २. २५; 'शिरः प्रवर्ग्यः' शब्रा० ३४. ४. १; 'सम्राट् प्रवर्ग्यः' शब्रा० १४. १. ३. १२।

प्र-वर्त—अथर्ववेद १५. २. १ में व्रात्य के वर्णन में प्रवर्त शब्द आया है। वोबू० में इसे वलयाकार आभूषण माना गया है। तैत्तिरीय संहिता[1] के भाष्य के अनुसार यह कान का बूंदा है। सूत्रों में भी इसे कर्णाभरण कहा गया है: आपश्रौसू०, १९. २३. ११; १९. २४. १०; बौश्रौसू०, १३. ३१।

[1] विब्लि० इंडिका २. ४५३।

प्र-वल्हिका—प्रहेलिका या पहेली। ऐब्रा०, ६. ३३ और कौब्रा०, ३०. ७ में अथर्ववेद के कुछ छन्दों=२०. १३३; शांश्रौसू०, १२. २२; खिल, ५. १६ को प्रवल्हिका कहा गया है। तु० 'तद्यथाभिर्वै देवा असुराणां रसान् प्रववृहुस्तस्मात् प्रवल्हिकाः। तत् प्रवल्हिकानां प्रवल्हिकात्वम्' गोउ०, ६. १३। द्र०—ब्लूमफील्ड, अवे०, ९८-१००।

प्र-वात—हवादार जगह। ऋ० १०. ३४. १ में द्यूत-क्रीड़ा में प्रयुक्त अक्षों, या पासों के वृक्ष विभीदक=बहेड़ा के उगने के स्थान को प्रवात कहा गया है; तु०—निरुक्त ९. ८।[1] तैसं०, ६. ४. ७. २ में नष्ट होने वाले पदार्थों को ऐसे स्थान में फेंकने का उल्लेख है।

प्र-वार—द्र०—२. प्रवर।

प्र-वास —विदेश-वास। ऋग्वेद ८. २९. ८ में प्रवास का उल्लेख है। सूत्रों में प्रवास से लौटे व्यक्तियों के लिये कुछ समारोहों का उल्लेख है : आगृसू०, १. १५; शांगृसू०, २. १७ इत्यादि।

प्र-वाहण जैवलि या जैवल—जीवल का वंशज। उद्दालक के समकालीन एक राजा का यह नाम है। उपनिषदों में इनके दार्शनिक विचार-विमर्शों में भाग लेने का उल्लेख आता है : बृउ०, ६. १. १, ७ मा० ६. २. १, ४ काण्व; छाउ०, १. ८. १; ५. ३. १; संभवतः ये जैउब्रा०, १. ३८. ४ के जैबलि है।

प्र-वीता—निहितरेतस्का या गर्भिणी के अर्थ में कुछ स्थलों पर प्रवीता शब्द आया है : ऋ०, ३. २९. ३; ३. ५५. ५; वासं०, ३४. १४; कासं०, ३३. १; ३३. ८; तु०—अवे०, १२. ४. ३७ इत्यादि।

प्र-व्रज्या—मैउ० ६. २८ में प्र-व्रज्या शब्द आया है। उपनिषदों के समय में चारों आश्रमों की कल्पना साकार हो चुकी था। प्रव्रजन के अनेक उल्लेख उनमें पाए जाते हैं। प्रव्रज्या का सामान्य अर्थ है "जाना, दूर जाना" जिससे पारिभाषिक अर्थ निकलता है "घर छोड़कर तत्त्वदर्शन के लिए जाना :" द्र०—बृउ०, ४. ४. २२; ४. ५. २; छाउ०, ८. ८. ३; ८. ९. ९. २; ८. ११. २; कौउ० ४. १८। मैत्रायणी उपनिषद् के समय तक प्रव्रजन की परंपरा पक चुकी थी, और संभवतः फिर घटने भी लगी थी; क्योंकि वहाँ (मैउ० ७. ८) प्रव्रजितों की गणना उन पतितों में की गई है, जिनके साथ न रहने का उपदेश दिया गया है।

प्र-शंसा—शब्रा० ११. ५. ७. १; १४. ४. ३. ७ के समय प्रशंसा शब्द का संज्ञा के रूप में व्यवहार मिलता है, किंतु "प्र-शंस्" क्रिया का ऋग्वेद-काल से ही प्रयोग मिलता है : ऋ० १. २१. २; १. ८४. १९; अवे०, २०. १३५. १३ इत्यादि। द्र०—प्रशस्ति।

प्र-शस्—ऐब्रा० २. ६. ५ में काटने के किसी साधन या कुल्हाड़ी को प्रशस् कहा गया है। तू०—दुर्ग, निरुक्त-भाष्य, ५. ११।

१. प्र-शस्ति—प्रशंसा के अर्थ में प्रशस्ति शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है : ऋ० १. ७४. ६; ७. २२. ३; ९. १०. ३; २. ११. १२; २. ४१. १६; ५. १६. १; तु०; १. ७०. ९ इत्यादि।

२. प्र-शस्ति—भाष्यकारों ने सर्वत्र प्रशस्ति का अर्थ प्रशंसा या स्तोत्र लिया है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद ५. ९. ६ में कहा गया है कि हे इन्द्र! आपके रक्षण (ऊति) और मित्र की प्रशस्ति=प्रशंसा में हम दुरितों को पार करें; तु०—ऋ० ५. ५७. ७; ६. ४५. ३; ८. १२. १५।

प्र-शासन—ऋग्वेद काल से ही प्र-शासन शब्द राजकीय शासन के अर्थ में आता रहा है : ऋ० १. ११२. ३; ८. ६१. १; शब्रा०, १४. ६. ८. ९; छाउ०, ५. ३. ७ इत्यादि।

प्र-शास्तृ—वैदिक यज्ञ के एक ऋत्विज् का नाम प्रशास्तृ है। छोटे यज्ञों में उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, किंतु बड़े यज्ञों, पशु-यज्ञ या सोम-यज्ञ में उसकी जरूरत पड़ती थी। पशु-यज्ञ में होतृ-ऋत्विज् का केवल वही एक सहायक था; और सोम-यज्ञ में वह प्रमुख सहायक था, जिसका कार्य स्तुतियों का पाठ करना होता था। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में उसका उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ९४. ६; २. ५. ४; **प्रशास्त्र** या "**प्रशास्तृ** का सोम-प्याला" :—२. ३६. ६; **प्रशास्त्र** या "**प्रशास्तृ** का पद" :—२. १. २-१०. ९१. १०; प्रशास्तृ के अन्य संकेत :—वासं०, १०. २१; ऐब्रा०, ५. ३४; शब्रा०, ४. ६. ६. ६; ११. ५. ५. ९ इत्यादि। ऋग्वेद में उसे **उपवक्तृ** भी कहा गया है; संभवतः इसका कारण है **प्रैष** द्वारा अन्य ऋत्विजों को निर्देशन देने का उसका कार्य : ऋ० ४. ९. ५; ६. ७१. ५; ९. ९५ ५[1]। उसका एक नाम **मैत्रावरुण** भी था, क्योंकि वह प्रायः मित्र और वरुण की स्तुतियाँ करता था। ऋग्वेद २. ३६. ६ में इस संबन्ध को देखा जा सकता है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार आप्री-सूक्तों के दो दैवी होतृ हैं; जो होतृ और प्रशास्तृ के स्वर्गीय प्रतीक हैं[2]।

---

[1] गेल्डनर, (ऋ० ग्लासर, ११९) का विचार है कि आँधी से गिरी गुठलियां यहाँ उद्दिष्ट हैं।

[1] लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २२६ के अनुसार **उपवक्तृ** प्राचीन **अच्छावाक** के समकक्ष है।

[2] द्र०—रिलिजन देस वेद, ३९१; लुड्विग (उपर्युक्त,

प्र-शास्त्र—ऋग्वेद २. १. २=१०. ९१. १० में प्रशास्तृ ऋत्विज् के पद को प्रशास्त्र एवं ऋग्वेद ९४. ६, २. ५. ४ में प्रशास्त्र का अर्थ प्रशास्तृ का सोम-पात्र हैं।

प्रश्न—पूछने के अर्थ में प्रश्न शब्द आम है। "प्रश्नम् एति" यह जहाँ आता है, वहाँ अर्थ है "वह विवादास्पद विषय में निर्णय पूछता है :" तैसं०, २. ५. ८. ५; २. ५. ११. ९; तैब्रा०, २. १. ६. २; ऐब्रा०, ३. २८; शनैः शनैः ऐब्रा० ५. १४ में प्रश्न का अर्थ हो जाता है निर्णय। याजुष-संहिताओं में पुरुषमेघ की बलियों की सूची में प्रश्निन्, अभि-प्रश्निन् और प्रश्न-विवाक का उल्लेख मिलता है : वासं०, ३०. १०; तैब्रा०, ३. ४. ६. १; यह संभव है कि यहाँ वादी, प्रतिवादी और न्यायाधीश= मध्यमशी अभिप्रेत हों।

प्रश्न-विवाक, प्रश्निन्—यजुर्वेद में पुरुषमेघ की बलियों की सूची में वासं०, ३०. १०; तैब्रा०, ३. ४. ६. १ में प्रश्निन्, अभिप्रश्निन् और प्रश्न-विवाक का उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः वादी, प्रतिवादी और न्यायाधीश के वाचक हो सकते हैं। द्र०—प्रश्न।

प्रष्टि—पृष्ट्या के समान प्रष्टि भी एक पार्श्ववर्ती अश्व को जताता है,[1] जो संभवतः जुए में जुड़े अश्वों के बीच का न होकर आगे जुड़ा हुआ तीसरा घोड़ा हो सकता है। ऋग्वेद के स्थलों से, जहाँ मरुतों के अश्वों के ले जाने का उल्लेख है, इसका समर्थन होता है : ऋ० १. ३९. ६; ८. २७. ८; किंतु १. १००. १७ में प्रष्टिभिः शब्द से संभवतः ऋज्राश्व के सहयोगी उद्दिष्ट हैं; तु०—लाश्रौसू०, ३. १२. १४; किंतु लुड्विग के मत से यहां विजय में सहायक बने अश्व उद्दिष्ट हैं। अथर्ववेद १०. ८. ८ में, जहाँ पञ्चवाही =पाँच से खींचे जाने वाले आया है, वहीं प्रष्टियों का भी उल्लेख है; किंतु उससे क्या अभिप्रेत है, यह नहीं बताया जा सकता।[2] प्रष्टि शब्द अन्यत्र भी आया है : ऐब्रा०, ८. २२; तैब्रा०, ३. ८. २१. ३; शब्रा०, १३. ३. ३. ९ इत्यादि। तैब्रा०, १. ५. १२. ५ में धुर्यौ और 'प्रष्ट्यौ' दोनों का एक साथ उल्लेख है; स्पष्टतः पोल या बम में लगे दो अश्वों और उनके पार्श्व में जोड़े गये एक-एक अश्व को जताया गया प्रतीत होता है। प्रष्टिमन्तः ऋ०, ६. २७. २४, प्रष्टिवाहन : शब्रा०, ५. २. ४. ९ और प्रष्टिवाहिन् : तैब्रा०, १. ३. ६. ४; १. ७. १. ५; १. ७. ९. १; पंविब्रा०, १६. १३. १२ (जहाँ प्रस्थिवाहिन् और प्रष्टिवाहिन् उलझे हुए हैं) ये सभी विशेषण रथ के हैं, और युग्य अश्वों के अतिरिक्त पार्श्ववर्ती अश्व या अश्वों से सजे रथ के वाचक हैं। तु०—रथ। ब्लूमफील्ड[1] ने प्रष्टि को प्र-√अस, 'आगे होना' इस प्रकार तोड़ा है, आगे रहने वाला अश्व। तु०—उपस्ति। यह शब्द कभी-कभी पर्शु से संबद्ध माना गया है।[2] गेल्डनर ने ऋ० ग्लासर, ११९ में दिया अपना यह मत बदल दिया है कि प्रष्टि मध्य का अश्व है; द्र० ऋ० कोमेंटार, ९७; तु०—त्सिमर, आ०ले०, २५०; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. १०२।

१—प्र-सव—कुछ स्थलों पर प्रसव शब्द अनुज्ञा और कुछ में प्रेरणा के अर्थ में आया है। अनुज्ञा : ऋ० १. १०२. ९; ३. ३३. २, ४, ११; ३. ३६. ६; प्रेरणा : ऋ० १. १५९. ३; ३. ३३. ६; ५. ८१. ५; ६. ७१. २; पंविब्रा०, २४. १५. २; अवे०, ५. २४. १; तैसं०, ३. ४. ५. १; ऐब्रा०, १. १६; ७. १६ इत्यादि।

२—प्र-सव—कुछ स्थलों पर प्रसव शब्द सोम-सवन के अर्थ में आया है : ऋ० ९. ५०. २; शांश्रौसू०, १३. १९. ५; काश्रौसू०, ७. १. ३१; ७. ३. १३; लाश्रौसू०, ४. ८. ७; १०. १. ३।

३—प्र-सव—वासं०, २२. ३२ में एवं अन्यत्र यह शब्द जन्म के अर्थ में आता है। द्र०—प्रसू २।

१—प्र-सिति—वासं०, २. १९ और तैसं०, ३. ७. १३. ४ में किसी दैवी अस्त्र को प्रसिति कहा गया है, किंतु मानवीय युद्धों में इसका प्रयोग नहीं होता था।

२—प्र-सिति—ऋग्वेद २. २५. ३; ७. ३. ४ में प्रसिति शब्द अग्नि-ज्वाला का बोधक है।

३—प्र-सिति—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार प्रसिति शब्द बन्धन के अर्थ में आया है : ऋ० ४. ४. १; ४. २२. ७; १०. ४०. १०; ५. ८७. ६; वासं०, १. २० इत्यादि।

१—प्र-सू—उत्पन्न करने वाली, माता। वैदिक साहित्य में कुछ स्थलों पर प्रसू शब्द माता के लिए आया है : खिलसू०, २. १०. ५; अवे०, ३. २३. ४; वासं०, १८. ७।

जलों से सृष्टि होने की कल्पना के आधार पर जलों को एवं अन्नादि की उत्पादिका होने से ओषधियों को भी प्रसू कहा गया है : ऋ० १०. १३८. २; १. ९५. १०; ७. ९. ३; ८. ६. २०; ३. ५. ८; ७. ३५. ७; तैब्रा०, १. ३. ६. २; शब्रा०, २. ५. १. १८ इत्यादि।

---

३. २२७) ने प्रशास्तृ को प्रस्तोतृ से अभिन्न माना है; किंतु यह चिन्त्य है; तु०—ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, ३८३, ३९०, ३९१, वेबर, इस्टू०, १०. १४१ एवं आगे।

[1] वोबू०। [2] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५९७।

[1] जअओसो०, २९. ७८ एवं आगे।

[2] वाकरनागल, आल्ति० ग्रा० १. २३०. २३५; मैकडानल, वै० ग्रा०, पृ० ४३।

२-प्र-सू—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यज्ञ में प्रयुक्त पौधों एव घासों के नये अङ्कुरों को प्रसू कहा गया है : ऋ० १. ९५. १०; ३. ५. ८; ७. ९. ३; ७. ३५. ७; ८. ६. २०; कासं०, ३६. २; तैब्रा०, १. ६. ३. २; शब्रा०, २. ५. १. १८।

प्र-सृत—शब्रा०, ४. ५. १०. ७; १३. ४. १. ५; शांश्रौसू०, १६. १. ७ में माप-विशेष का नाम प्रसृत है। प्रारम्भ में प्रसृत=फैला हुआ यह अर्थ था। हाथ, विलस्त ?

प्र-स्कण्व—प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है; अनुक्रमणी के अनुसार वे ऋग्वेद के १. ४४-५०; ८. ४९; ९. ९५ सूक्तों के रचयिता हैं। उन सूक्तों में कई बार उनका नाम भी आया है : ऋ० १ ४४. ६; १. ४५. ३; ८. ४. ३. ९; ८. ५१. २; ८, ५४. ८; तु०—निरुक्त, ३. १७। शांश्रौसू० १६. ११. २६ का यह कथन गलत है कि उन्होंने **पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्** से धन प्राप्त किया था। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०४ एवं आगे।

प्र-स्तर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में याज्ञिक आसन के लिए बिछाए गए दाभ को प्रस्तर कहा गया है : ऋ० १०. १४. ४; अवे०, १६. २–६; तैसं० १. ७. ७; ४; वासं०, २. १८; १८. ६३; ऐब्रा०, १. २६; २. ३; तु. 'अयं वै स्तुपः ('ऊर्ध्वबद्धकेशसंघातात्मकः') प्रस्तरः' शब्रा. १. ३. ३. ७. 'यज्ञो वै प्रस्तरः' शब्रा. ३. ४. ३. १९; 'यजमानो वै प्रस्तरः' ऐब्रा. २. ३; 'क्षत्रं वै प्रस्तरः' शब्रा. १. ३. ४. १०।

प्र-स्ताव—सामगान के पांच प्रकारों में से पहला प्रस्ताव है। द्र०—**प्रतिहार**। पंविब्रा० १२–१०७ में प्रस्ताव को साम का मुख बताया गया है :—'मुखं साम्नः प्रस्तावः'। तु. 'अग्निर्वायुरसावादित्य एष प्रस्तावः' जैउ० १. १९. २; 'अर्धोदितः (आदित्यः) प्रस्तावः' जैउ. १. १२. ४; 'अग्निः प्रस्तावः' जैउ. १. ३३. ५; 'ग्रीष्मः प्रस्तावः' षब्रा. ३. १; 'अर्धमासाः प्रस्तावः' षब्रा० ३. १; 'त्वक् प्रस्तावः' जैउ. १. ३६. ६; (चक्षुषः) 'कृष्णं प्रस्तावः' जैउ. १. ३४. १; 'मण्डलं प्रस्तावः' जैउ. १. ३३. ९.

प्र-स्तोक—ऋग्वेद ६. ४७. २२ में एक उदार दाता का नाम प्रस्तोक है। लुड्विग,[1] ने उन्हें **दिवोदास अतिथिग्व** और **अश्वत्थ** या **अश्वथ** का तदात्म माना है। शांश्रौसू० १६. ११. ११ के अनुसार **भरद्वाज** ने **प्रस्तोक साञ्जय**=सृञ्जय के वंशज से इनाम पाये थे।[2]

[1] द्र०—वेबर, एपिश्शेस, ३९।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १५८।

[3] तु०—वेबर, एपिश्शेस० ३०. ३१; मैकडानल, बृ० दे०, २ १९८ एवं अग्रिम।

प्र-स्तोतृ—उद्गातृ के सहायक ऋत्विज् का नाम प्रस्तोतृ है, जो साम-मन्त्र के प्रस्ताव का पाठ करता है : पंविब्रा०, १२. १०. ७; ऐब्रा०, ३. २३; शब्रा०, ८. ७. ५. ६; छाउ०, १. १०. ९; २. २. १ इत्यादि। ऋग्वेद में उसका उल्लेख न होना चांस की बात है; क्योंकि ऋ० ८. ८१. ५ "प्र स्तोषत्[1]" द्वारा उसे जताया गया है; और परवर्ती साहित्य में उसका उल्लेख आम है : तैसं०, ३. ३. २. १; ६. ६. ३. १; तैब्रा०, १. ८. २. ३; ऐब्रा०, ५. ३४; ७. १; शब्रा०, ४. २. ५. ३; ५. ५. ५. २२; १२. १. १. ६ इत्यादि; छाउ०, १. १०. ८ इत्यादि। लुड्विग[2] का यह मत कि **प्रशास्तृ** का ही प्राचीन नाम प्रस्तोतृ है, चिन्त्य है।

प्र-स्रवण—द्र०—**प्लक्ष**।

प्र-हा—ऋग्वेद १०. ४२. ९, अथर्ववेद ४. ३८. ३ और पंविब्रा०, १६. १४, २; २०. ११. ४ में अक्ष-क्रीडा में "जीतने वाले प्रक्षेप" को प्रहा कहा गया है; बाद में कोई भी प्राप्ति या लाभ अभिप्रेत है; तु०—त्सिमर, आले०. २४१; **प्रहावन्त्**=अर्थात् "लाभ प्राप्त करने वाला", ऋ०, ४. २० ८; द्र०—वोबू०।

प्राकार—शांश्रौसू० १६. १८. १४ में दीवारों से घिरी ऊँची जगह को, जो दर्शकों के बैठने के लिए होती थी, प्राकार कहा गया है।

प्राकाश—ब्राह्मणों में दर्पण का नाम प्राकाश आया है : तैब्रा०, १. ८. २. ३; पंविब्रा०, १८. ९. १०; शब्रा०, ५. ४. ५. २२ इत्यादि। गेल्डनर[3] के अनुसार मैसं० ४. ४. ८ में **प्रावेप** का वही अर्थ है।

प्रा-गहि—कौब्रा० २१. ४ में लिंडनर के संस्करण के अनुसार एक आचार्य का नाम प्रागहि है। तु०—**प्रावहि**।

प्राची दिक्—'तस्मादेतस्यां प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते सम्राडित्ये-नानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा० ८. १४; 'प्राचीमेव दिशं अग्निना प्राजानन्' शब्रा० ३. २. ३. १६।

प्राचीन-तान—तैसं० ६. १. १. ४ में ताने को प्राचीनतान कहा गया है। तु०—**प्राचीनातान**।

प्राचीन-योगी-पुत्र—प्राचीनयोग महिला का पुत्र। माध्यंदिन-शाखीय बृउ० ६. ४. ३२ में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में **सांजीवीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम **प्राचीन-योगी-पुत्र** है।

[1] द्र०—ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, ३९३ टि०—३।

[2] ट्रां० ऋ० ३. २२७।

[3] ऋ० ग्लासर, १२०।

प्राचीन-योग्य—प्राचीनयोग का वंशज। बृउ० २. ६. २ काण्व में आचार्यों की प्रथम वंश-सूची में **पाराशर्य** के शिष्य एक आचार्य का नाम प्राचीनयोग्य है। एक प्राचीनयोग्य का उल्लेख छाउ० ५. १३. १ और तैउ० १. ६. २ में आया है। वही पैतृक नाम शतपथ ब्राह्मण में कई लोगों का है; **सत्ययज्ञ पौलुषि** का : १०. ६. १. ५; **शौचेय** का : ११. ५. ३. १, ८; तु०–गोब्रा०, १. ३. ११[1]। जैउब्रा० १. ३९. १ में भी वही पैतृक नाम है। प्राचीनयोग संभवतः गलत लेख के कारण है। द्र०–**पुलुष, सत्ययज्ञ, सोमशुष्म**।

प्राचीन-वंश—"पूर्व की ओर छत को थामने वाली बल्ली वाला।" विशेषण के रूप में यह शब्द शतपथ ब्राह्मण और याजुष संहिताओं में आम है : शब्रा०, ३. १. १. ६, ७; ३ ६. १. २३; ४. ६. ८. २०; कासं० २२. १३; तैसं०, ६. १. १. ३[2]। प्रकरण मध्य की बल्ली का है, जो पश्चिम के बांस के ऊपर से पूर्व के बांस पर रखी जाती थी। उपर्युक्त उल्लेख मैकडानल और कीथ के 'वैदिक इण्डेक्स' से है। वस्तुतः प्राचीन-वंश या प्राग्वंश यज्ञशाला के एक कक्ष विशेष का नाम है, जिसमें आधार-भूत बाँस पूर्व की ओर होते थे। इस कक्ष में यजमान के परिवार के व्यक्ति और उसके संबंधी बैठते थे।

प्राचीन-शाल औपमन्यव—उपमन्यु का वंशज। छाउ० ५. ११. १ (द्र०–**महाशाला**) में एक गृहस्थ अध्यात्म-तत्त्व-वेत्ता का नाम प्राचीनशाल औपमन्यव है। जैउब्रा० ३. ७. २; ३. १०. २ में एक **उद्गातृ पुरोहित** का नाम **प्राचीनशालि** है; उसी उपनिषद् के ३. १०. १ में **प्राचीनशालों** का उल्लेख है।

प्राचीनातान—ब्राह्मणों में कपड़े के ताने का नाम है : ऐब्रा०, ८. १२. ३; ८. १७. २; कौउ०, १. ५; तु०–कीथ, शांआ०, २०. टि०, २। द्र०–**प्राचीनतान**।

प्राचीनावीत—तैसं० २. ५. ११. १ में उपवीत को दक्षिण कन्धे के ऊपर से बाएं हाथ के नीचे धारण करने को प्राचीनावीत कहा गया है; प्राचीनावीत को धारण करने वाला **प्राचीनावीती** कहाता है : तैब्रा०, १. ४. ६. ६; शब्रा०, २. ४. २. २; ९; २. ६. १. ८; १२. ५. १. ६; **प्राचीनोपवीत** : अवे०, ९. १. २४। तिलक[3] के मत में यज्ञोपवीत नहीं, अपितु इस प्रकार वस्त्र धारण किये जाते थे।

१ वेबर, इस्तू०, १. ६१; २. २१३; ३. २७४।

२ तु०–एगलिंग, सेबुई०, २६. ३ टि०–२।

३ ओरायन, १४६; तैआ०, २. १ के आधार पर।

प्राच्य—बहुवचन में प्राच्य शब्द पूर्व के निवासियों का बोधक है। ऐब्रा०, ८. १४ में जनों की सूची में उनका उल्लेख है। संभवतः **काशी, कोसल, विदेह** और **मगध** के लोगों को प्राच्य कहा गया है, जैसा कि ओल्डेनबर्ग[1] का मत है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि प्राच्य लोग अग्नि को शर्व कहते हैं; उन्होंने उनके समाधि-गृह बनाने के ढंग का तिरस्कार किया है : शब्रा०, १३. ८. १. ५; १३. ८. २. १; तु०–९. ५. १. ६४ भी।[2] पंविब्रा०, १७. १ के **विरथ**=खराब रथ को लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ६. ९ में प्राच्य रथ कहा गया है। षविब्रा० २ में **प्राच्य पाञ्चालों** का उल्लेख है।[3]

प्राच्य पाञ्चाल—द्र०–**पञ्चाल**।

प्राजापत्य—प्रजापति का वंशज। यह पैतृक नाम देवशास्त्रीय व्यक्तियों का है, जैसे तैआ०, १०. ९ में **आरुणि सुपर्णेय**=सुपर्णा के वंशज का और ऐब्रा०, १. २१ में **प्रजावन्त्** का।

प्राण—श्वास के अर्थ में प्राण शब्द का वैदिक साहित्य में व्यापक महत्त्व है; ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार यह शब्द आया है; आरण्यकों और उपनिषदों में यह एकता का प्रतीक है : ऋ० १. ६६. १, १०. ५९. ६; १०. ९०. १३ इत्यादि।[4] सीमित अर्थ में प्राण पाँच श्वासों (=प्राणों) में से एक का नाम है। ये पाँच प्राण हैं : **प्राण, अपान, व्यान, उदान** और **समान**; द्र०–**उदान**। किंतु कभी-कभी दो ही गिनाये जाते हैं, **प्राण** और **अपान** : ऋ० २. २८. ३; ५. ४. ७ पैप्पलाद शाखा; ७. ५३. ४; ७. ५३. ३ में **अपान** और **प्राण**; तैसं०, ३. ४. १. ४ इत्यादि; **प्राण** और **व्यान** : अवे०, ५. ४. ७; ६. ४१. २ इत्यादि; **प्राण** और **उदान** : अवे०, १३. २. ४६; मैसं०, ४. ५. ६. ९; वासं०, २२. २३; ऐब्रा०, २. २९; कौब्रा०, ६. १०; शांआ०, ८. ८; तैउ०, २. २. इत्यादि। कभी-कभी तीन का उल्लेख मिलता है : जैसे **प्राण, अपान** और **व्यान** : अवे०, १३. २. ४६; मैसं०, ४. ५. ६. ९, वासं०, २२. २३; ऐब्रा०, २. २९; कौब्रा०, ६. १०; शांआ०, ८.

१ बुद्ध, ३९३, ४ टि०।

२ इससे वेबर के इन्दीन लितरात्यूर, १३२, १३३ के इस मत का खण्डन होता है कि शब्रा० पूर्वीय प्रदेश में बना था; बाद में वे मानने लगे थे कि वह भी अन्य ब्राह्मणों के समान मध्यदेश में बना था; द्र०–कुरु।

३ तु०–वेबर, इंदीन लितरात्यूर, ३४ टि० २५।

४ डायसन, फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स, ८९ एवं अग्रिम।

८; तैउ०, २. २; **प्राण, उदान और व्यान** : द्र०—**उदान**; या **प्रान, उदान, और समान**; द्र०—**उदान**। कभी-कभी चार का उल्लेख एक साथ मिलता है; **प्राण, अपान, व्यान और समान** : अवे०, १०. २. १३ या **प्राण, अपान, उदान और व्यान** : बृउ०, ३. ४. १। जब पाँचों का उल्लेख होता है तब इनका ठीक अर्थ करना कठिन हो जाता है।[1]

व्यापक अर्थ में प्राण शब्द इन्द्रियों और सायण (ऐब्रा० १. ३. ७ भाष्य) के अनुसार शीर्ष-रन्ध्रों का भी बोधक है।[2] ये **शीर्षरन्ध्र** शब्रा०, १४. १. ३. ३२; १४. १. ४. १ के अनुसार छः हैं; संभवतः **नासिका, कर्ण** और **नेत्र** के छिद्र अभिप्रेत हों; किंतु प्रायः उन्हें सात कहा गया है, जिनमें **मुख** भी आ जाता है : अवे०, २. १२. ७; ऐब्रा०, १. १७; ३. ३; शब्रा०, ३. १. ३. २१; ६. ४. २. ५; १३. १. ७. २; जैउब्रा०, २. ५. ९. १०; २. ५. ६. ८ इत्यादि। कभी-कभी ९ छिद्र कहे गये हैं, जहाँ सात शीर्षण्य छिद्रों के अतिरिक्त २ निम्न छिद्रों को समझा गया है : तैसं०, ३. ५. १०. २; तैब्रा०, ३. १. ७. ४; शब्रा०, १. ५. २. ५; पंविब्रा०, २२. १२. ५; ऐआ०, १. ४. १; शांआ०, २. २; अवे०, ५. २८. १; १०. ८. ४३ 'नवद्वारम्' इत्यादि; जैउब्रा०, २. ५. ९. १०; २. ५. ६. ८। शब्रा०, ११. ६. ३. १७ और जैउब्रा०, में दश प्राणों का उल्लेख है; शतपथ ब्राह्मण के उक्त स्थल पर **ग्यारहवें** प्राण के रूप में **आत्मा** का उल्लेख है। काउ०, ५. १ में **ग्यारह प्राणों** का उल्लेख है; जब कि काठक संहिता में **बारह** का उल्लेख है, जहाँ दोनों स्तनों की भी गणना की गई है। सात से अधिक संख्याओं में से कौन से अङ्ग उद्दिष्ट हैं यह कहना दुष्कर है।[3] मैसं०, ४. ६. १; कासं०, ९. १६ के अनुसार **दसवाँ** प्राण नाभि है; जब **ग्यारह** का उल्लेख होता है तब संभवतः एक **ब्रह्मरन्ध्र** उनमें संमिलित हो जाता है : ऐउ०, १. ३। अथर्ववेद १०. ८. ९ और बृउ०, २. २. ३, ४ के अनुसार **सातवें** और **आठवें** प्राण को वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय कहा गया है। किंतु ये दोनों एक हैं। अतः स्तन या पायु एवं उपस्थ इन्द्रिय अभिप्रेत हो सकती हैं : कासं०, ३३. ३; जैउब्रा०, २. ५. ९. १०; २. ५. ६. ८।

[1] तु०—डायसन, फिलासफी आफ दि उपनिषद्स, २७३ एवं अग्रिम।

[2] द्र०—कोल्ब्रुक, मिस्सेलेनियस एसेज, १. ३३९, ३५५ बोबू०।

[3] तु०—डायसन, उपर्युक्त, २६९; कीथ, ऐआ०, १८५, १८७।

प्राण शब्द का अर्थ कभी-कभी श्वास लेना मात्र है, जो अपान का विपर्यास है : अवे०, ५. ४. ७ पैप्पलाद;[1] किंतु इसका ठीक अर्थ है बाहर को श्वास लेना या निकालना; वोबू० के अनुसार अन्दर की ओर साँस लेना नहीं है, जिसमें इसका विपर्यास 'अपान' से दिखाया गया है, और जिसमें उनका ध्यान अप उपसर्ग की ओर गया है। प्राण का उक्त अर्थ कुछ भाष्यकारों ने भी दिया है।[2] कुछ वैदिक ग्रन्थों से भी यह समर्थित है : शब्रा०, २. २. २. १५; काश्रौसू० ४. ८. २९; बृउ०, ३. २. २; जैउब्रा० १. ६०. ५;२.१.१६.१९; ऐआ०, ५. १. ४।[3] बोहटलिङ्गक् ने भी बाद में प्राण का अर्थ बाहर को साँस लेना ही माना है। तु० 'यद् वै प्राणेनान्नमात्मन् प्रणयते तत् प्राणस्य प्राणत्वम्' शब्रा० १. ४. १. ५; 'उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्रणयति तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते' ऐब्रा० ५. ३१; =आदित्यः, जैउब्रा० ४. २२. ९; =अर्कः, शब्रा० १०. ४. १. २३; =सविता, ऐब्रा० ३. १९; =सोमः, शब्रा० ७. ३. १. २; =चन्द्रसाः, जैउब्रा० ४. २२. ११; =अग्निः, शब्रा० ६. ३. १. २१; =अमृतम्, शब्रा० ९. १. २. ३२; =जातवेदाः, ऐब्रा० २. ३९; =वायुः, कौब्रा० ८. ४; 'सोऽयं (वायुः) पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राण उदानो व्यान इति' शब्रा० ३. १. २. २०; =वातः, शब्रा० १. १. २. १४; =मातरिश्वा, ऐब्रा० २. ३८; =वनस्पतिः, कौब्रा० १२. ७; 'यः प्राणः स वरुणः' गो. उ. ४. ११; 'कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' शब्रा० ११. ६. ३. ७. 'प्राणा वै रुद्राः। प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति' जैउब्रा० ४. २. ६; =वसवः, तैब्रा० ३. २. ३. ३; =मित्रः, शब्रा० ६. ५. १. ५; 'प्राणो वै हरिः स हि हरति' कौब्रा० १७. १; 'प्राणा वै साध्या देवाः। त एतं (प्रजापतिं) अग्र एवमसाधयन्' शब्रा० १०. २. २. ३;—'देवा द्रविणोदाः' शब्रा० ६. ७. २. ३; 'प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति' शब्रा० ७. १. १. २४; =धियः, शब्रा० ६. ३. १. १३; 'प्राणा वै देवा वयोनाधाः। प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्' शब्रा० ८. २. २. ८; 'प्राणा वै देवा अपाव्याः' तैब्रा० ३. ८. १७. ५; =विश्वे देवाः' शब्रा० १४. २. २. ३७; =ऋषयः, ऐब्रा० २. २७; =वसिष्ठ ऋषिः, शब्रा० ८. १. १. ६; =वालखिल्याः'

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ५५२।

[2] द्र०—रुद्रदत्त, आपश्रौसू०, १३. ८. ८; १४. ११. १ पर; सायण, शब्रा०, १. १. ३. २; तैब्रा०, २. ५. ६. ४ पर; शंकर, छाउ०, १. ३. २ पर; आनर्तीय, शांश्रौसू०, ६. ८. १, २ पर।

[3] द्र०—कालंड, त्सादामौगे०, ५५, २६१–२६५; ५६, ५५६–५६८ और द्र०—**अपान**।

[4] त्सादामौगे०, ५५. ५१८।

कौब्रा० ३०.८; 'वालमात्रादु हेमे प्राणा असंभिन्नास्ते यद् वालमात्रादसंभिन्नास्तस्माद् वालखिल्याः' शब्रा० ८. ३. ४. १; 'प्राणो वा ऋक् प्राणेन ह्यर्चति' शब्रा०७. ५. २. १२; 'प्राण एव यजुः' शब्रा०१०.३.५.४; 'प्राणा वै गयाः' शब्रा० १४.८. १५.७; =रश्मयः, तैब्रा० ३.२.५.२; =सुरभयः, तैब्रा० ३. ९.७.५; =वयः, ऐब्रा० १.२८; =होता, ऐब्रा० ६.८.१४; 'प्राणा एव सप्तमी चितिः' शब्रा० ८.७.४.२१; 'प्राणो महाव्रतम्' शब्रा० १०. १. २. ३; =महिषाः, शब्रा० ६. ७. ४. ५; =महः, शब्रा०१२.३.४.१०; —संवत्सरः, तांब्रा० ५.१०. ३; 'प्राणा वै सीताः' शब्रा०७. २.३.३; 'एष (स्योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषो मृत्युनामा सः) उ एव प्राणः । एष हीमाः सर्वाः प्रजाः प्रणयति तस्यैते प्राणाः स्वाः स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा अपियन्ति तस्मात् स्वाप्ययः स्वाप्ययो ह वै तं स्वप्न इत्याचक्षते परोऽक्षम्' शब्रा० १०.५.२.१४. 'सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न' शब्रा० ३. २. २. २३; 'तदाहुः कोऽस्वप्तुमर्हति यद् वाव प्राणो जागार तदेव जागरितमिति' तांब्रा०१०.४.४; =इष्टका, शब्रा० ८.७.२.११; 'प्राणा वै स्वाशिरः' तांब्रा० १४. ११. ९; 'प्राणा वै वामम्' शब्रा० ७. ४. २. ३५; 'प्राणो वा अस्य (यजमानस्य) सा रम्या तनूः' शब्रा० ७. ४. १. १६; 'प्राणो वै युवा सुवासाः' ऐब्रा०२.२; 'योऽयमनिरुक्तः प्राणः स सुरूपकृत्नुः' कौब्रा०१६. ४; 'प्राणो वै सुसंदृक्' तैब्रा० १. ६. ९. ९; 'प्राणो वै सूददोहाः' शब्रा० ७.१.१.२६; 'प्राणः स्रुवः' शब्रा० ६.३.१.८; 'प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यम्' शब्रा०६.७.१.२०; 'प्राणा वै शाकलाः' शब्रा० १४. २. २. ५१; =मधु, शब्रा० १४.१.३.३०; 'प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि' शब्रा० १४. ८. १३. ३; 'प्राणा वै दशवीराः' श.ब्रा० १२. ८. १. २२; =दिवः' शब्रा० ६. ७. ४. ३; =ग्रहाः, शब्रा० ४.२.४.१३ =ज्योतिः, शब्रा० ८.३.२.१४; =हिरण्यम्, शब्रा० ७.५.२.८; =रुक् । प्राणेन हि रोचते' शब्रा० ७.५.२.१२; =कः, जैउ०४. २३. ४; =प्रजापतिः, शब्रा० ४.५.५.१३. 'अथ यएतदन्तरेण प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः' शब्रा० १०. ४. १. १७; 'प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति' शब्रा०७.५. १. ७; 'प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः' शब्रा० १४.८.१४.४; 'प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्वं पाति' ऐब्रा० २. ४; =पिता, ऐब्रा०२. ३८; =असुः, शब्रा० ६. ६. २. ६; =अङ्गिराः, शब्रा०६.५.२.३; =इन्द्रियाणि, तांब्रा० २. १४. २; 'प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं यस्मिन् वा अङ्गे प्राणो भवति तत् सं चाञ्चति प्र च सारयति' शब्रा० ८.१.४. १०; अर्णवः' शब्रा० ७.५.२.२१; =अन्नम्, शब्रा० ४.३.४. २५; =भक्षः, शब्रा०४. २. १. २९; 'प्राण एष स पुरि शेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते' गो.पू०, १. ३९; =पतंगः, कौब्रा० ८.४; 'प्राणो वै प्रतिरवाः' शब्रा०१४. २. २. ३४; 'एष वशी दीप्त्यग्र उद्गीथो यत् प्राणः' जैउब्रा० २. ४. १; =उद्गाता, कौब्रा०१७. ७; =सामवेदः, शब्रा० १४.४.३.१२; 'प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि' शब्रा० १४.८.१४.३; =वामदेव्यम्, शब्रा०९. १. २. ३८; =हिंकारः, शब्रा० ४. २. २. ११; 'प्राणो हि वै हिंकारस्तस्मात् अपिगृह्य नासिके न हिंकर्तुं शक्नोति' शब्रा० १.४.१.२; =स्वरः, तांब्रा० ७. १.१०; 'प्राणाः स्वर सामानः' तांब्रा०, २४. १४. ४; =स्तवः, कौब्रा०, ८. ३; =स्तोमाः, शब्रा०, ८. ४. १. ३; =वषट्कारः, शब्रा०, ४. २. १. २९; =द्युलोकः, शब्रा०, १४. ४. ३. ११; 'एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्धैवाह भरतवदिति' शब्रा०, १. ५. १. ८; =ब्रह्म, तैब्रा०, ३. २. ८. ८; =सम्राट् । 'परमं ब्रह्म' शब्रा०, १४. ६. १०. ३; =बृहत्, तांब्रा०, ७. ६. १४; =बृहस्पतिः, शब्रा० १४. ४. १. २२; =ब्रह्मणस्पतिः । 'वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ह ब्रह्मणस्पतिः' शब्रा०, १४. ४. १. २३; =वाचस्पतिः, शब्रा०, ४. १. १. ९; 'सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, १२. ८. २. २५; 'तस्याः (वाचः) प्राण एव रसः' जैउ०, १. १. ७; 'यावद् वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद् वाचा वदति' शब्रा०, ५. ३. ५. १६; =आपः, तैब्रा० ३. २. ५. २; 'सा ह वागुवाच । (हे प्राणाः) यद् वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति' शब्रा०, १४. ९. २. १४; 'तयोः (सदसतोः) यत् सत् तत् साम तन् मनः स प्राणः' जैउब्रा०, १. ५३. २; 'मनसि वै सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, ७. ५. २. ६; 'प्राणा वै भुजः', शब्रा०, ७. ५. १. २१; 'प्राणो वै धाय्या' कौब्रा०, १५. ४; =विशः, जैउ०, ४. २२. ११; =धुरः, तांब्रा०, १४. ९. १८; 'प्राणा वा अवकाशाः' कौब्रा०, ८. ६; =दीक्षा, तैब्रा०, ३. ८. १०. २; =ककुप्छन्दः, शब्रा०, ८. ५. २. ४; =उष्णिक्ककुभौ' तांब्रा०, ८. ५. ५; =गायत्री, शब्रा०, ६. ४. २. ५; प्राणा वै पवित्राणि, शब्रा०, १४. ३. १. २१; =ग्रावाणः, शब्रा०, १४. २. २. ३३; 'स एषोऽश्माऽऽखणं यत् प्राणः । स यथा अश्मानमाखणमृत्वा लोष्ठो विध्वंसत एवमेव स विध्वंसते य एवं विद्वांसमुपवदति' जैउ०, १. ६०. ७–८; 'प्रयाजाः प्राञ्चो हूयन्ते तद् धि प्राणरूपम्' शब्रा०, ११. २. ७. २७; =प्रयाजानुयाजाः, शब्रा०, १४. २. २. ५१; =प्रायणीयः यागः, ऐब्रा०, १. ७; =सर्वं ऋत्विजः, ऐब्रा०, ६. १४; =पशवः, तब्रा०, ३. २. ८. ९; =मनुष्याः, शब्रा०, १४. ४. ३. १३; =पवमानः, शब्रा०, २. २. १. ६; =माध्यंदिनः पवमानः, शब्रा०, १४. ३. १. २९; =

यशोवीर्यम्, शब्रा०, १०. ६. ५. ६; =यशः, शब्रा०, १४. ५. २. ५; 'अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः' शब्रा०, ६. १. १. ४; 'प्राणा वै द्विदेवत्याः' ऐब्रा०, २. २८; 'अथवा उपांशुः प्राण एव' कौब्रा०, १२. ४; 'उपांश्वायतनो वै प्राणः' शब्रा०, १०. ३. ५. १५; 'प्राणा वै त्रिवृत्' तांब्रा० २. १५. ३; 'त्रय इमे पुरुषे प्राणाः' शब्रा०, १. ३. ५. १३; 'त्रयो वै प्राणाः । प्राण उदानो व्यानः' शब्रा०, ६. ४. २. ५; 'पञ्चधा विहितो वायं शीर्षन् प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम्' शब्रा०, ९. २. २. ५; 'षड् वा इमे शीर्षन् प्राणाः' शब्रा०, १२. ९. १. ९; 'सप्त शिरसि प्राणाः' तांब्रा० २. १४. २; 'अष्टौ प्राणाः' शब्रा०, ९. २. २. ६; 'नव प्राणाः' शब्रा०, ६. ३१. २१; 'नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ' शब्रा०, ६. ४. २. ५; 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' तैब्रा०, १. ३. ७. ४; 'दश प्राणाः' शब्रा०, ६. ३. १. २१; 'दश वा इमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, ३. ८. १. ३; 'द्वादशेमे पुरुषे प्राणाः' गोपू०, ५. ५; 'त्रयोदशेमे पुरुषे प्राणाः' गोपू०, ५. ५; 'एतावन्तः (त्रीणि च शतानि षष्टिश्च) एव पुरुषस्य प्राणाः' गोपू०, ५. ५; 'को हि तद् वेद यावन्त इमेन्तरात्मन् प्राणा.' शब्रा०, ७. २. २. २०; 'सर्वे प्राणाः प्राणोदानयोरेव प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, १२. ९. १. १०; 'न वा अस्थिषु प्राणोऽस्ति' शब्रा०, ७. १. १. १५; 'प्राणो हृदये(श्रितः), तैब्रा०, ३. १०. ८. ५; 'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः' शब्रा०, ७. ३. १. २; 'बर्हिर्हि प्राणः' तांब्रा०, ७. ६. १४; =समिधः, ऐब्रा०, २. ४; 'प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धः', शब्रा०, १. ५. ४. १; 'यदु वै प्राणोऽङ्गं नाभिप्राप्नोति शुष्यति वा वैतन् म्लायति वा' शब्रा०, ८. ७. २. १४; 'यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति। नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव (प्राणाः) समवनीयन्ते' शब्रा०, १४. ६. २. १२; 'लेशासु हीमे प्राणाः' शब्रा०, ७. २. २. १८; 'शिरो वै प्राणानां योनिः' शब्रा०, ७. ५. १. २२; 'प्राणो हि रेतसां विकर्ता' शब्रा०, १३. ३. ८. १; 'प्राणो रेतः' ऐब्रा०, २. ३८; 'अध्रुवं वै तद् यत् प्राणः' शब्रा०, १०. २. ६. १९ ।

प्राण-भृत्—जीव या मनुष्य : बृउ०, १. ५. २२; ३. १. १२; शब्रा०, ११. २. ६. २ । प्राणिन् का भी वही भाव है : ऐब्रा०, ७. १३; शब्रा०, ७. ४. २. २; १०. ४. २. २; छाउ०, २. ११. २; ऐउ०, ३. ३. ३; निरुक्त, ६. ३६ ।

प्रा-णाह—अथर्ववेद ९. ३. ४ में प्राणाह शब्द से मोनियर विलियम्स ने सीमेंट लिया है । मैकडानल और कीथ के वैदिक इण्डेक्स ने इसे 'बन्धन' के अर्थ में लिया है। द्र०—गृह ।

प्रातःसवन—प्रातःकालीन सोम-सवन । इसमें इन दश यज्ञिक विधियों का प्रयोग होता था : **प्रातरनुवाक, अभिषव** (उपांशु और अन्तर्यामग्रह), **बहिष्पवमानस्तोत्र, सवनीयाः पशवः, धिष्ण्योपापस्थान, सवनीयाः पुरोडाशाः, द्विदेवत्यग्रहाः द्विदेवत्यभक्ष, ऋतुयाजाः, आज्य शस्त्र, प्रउग शस्त्र** । द्र०—अवे०, ६. ४७. १; ९. १. ११; वासं०, १९. २६; ऐब्रा०, ३. ४४; ७. ३४; ८. १; तैब्रा०, २. ७. १. ३; शब्रा०, २. ४. ४. १२; १२. ३. ४. ३; छाउ०, ३. १६. १; काश्रौसू०, १२. ५. २; २२. ९. ९; २५. १४. २०; आश्रौसू०, ५. १ इत्यादि । तु०—'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त । वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यंदिनं सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्' शब्रा०, १४. १. १. १५; 'गायत्रं हि प्रातःसवनम्' गोउ०, ३. १६; 'तस्य (पुरुषस्य) य ऊर्ध्वाः प्राणास्तत् प्रातःसवनम्' कौब्रा०, २५. १२; 'एकच्छन्दः प्रातःसवनम्' षब्रा०, १. ३ ।

प्रातर्—सुबह, तड़का । ऋ० १. १२५. १; २. १८. १; ३. ४१. २; ५२. १; ४. ३५. ७; ५. ७६. ३ इत्यादि; अ० वै०, ४. ११. १२; ६. १२८. २; ७. १०१. १; ११. २. १६; कासं०, ३२. ७; ऐब्रा०, २. ३१; ३. २२.; ३. २४; ४. २०; शब्रा०, ११. ५. १२; छाउ०, ५. ११. ७ इत्यादि । द्र०—अहन् ।

प्रातरनुवाक—प्रातःकालीन सोम-सवन में प्रयुक्त स्तुति : तैब्रा०, १. ५. ९. ७; २. २. ३. ६; ऐब्रा०, २. १८; ४. १०; ५. ३३; शब्रा०, ३. ९. ३. ७; ४. ३. ४. २१; ११. ५. ५. ९; छाउ०, २. २४. ३; ४. १६. २ । तु०—'प्रातर्वै स (प्रजापतिः) तं देवेभ्योऽदन्वब्रवीद् यत् प्रातरन्वब्रवीत् तत् प्रातरनुवाकस्य प्रातरनुवाकत्वम्' ऐब्रा०, २. १५; 'प्रजापतिर्वै प्रातरनुवाकः' कौब्रा०, ११. ७; 'वाक् प्रातरनुवाकः' कौब्रा०, ११. ८ ।

प्रातरह्न कौहल—वंशब्राह्मण में केतु वाज्य के शिष्य एक आचार्य का नाम प्रातरह्न कौहल है; द्र०-इस्टू०, ४. ३७२; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३ । द्र०—कौहड ।

प्रातराश—प्रातर्भोजन : गोगृसू०, १. ३. १९, शांश्रौसू०, २. १२; कौसू०, ७२. ७३, १४१ ।

प्रा-तर्दनि—प्रतर्दन का वंशज । ऋग्वेद ४. २७. ८ में एक राजा का नाम प्रातर्दनि है । द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५७. १५९ ।

प्रातर्दोह—द्र०—दोह ।

प्रातर्यावाणः—'एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ' ऐब्रा० २. १५ ।

प्रातिपीय—शब्रा०, १२. ९. ३. ३ में बल्हिक का पैतृक नाम है ।

प्राति-वेश्य—शांआ०, १५. १ में आचार्यों की वंश-सूची में **प्रतिवेश्य** के शिष्य एक आचार्य का नाम प्राति-वेश्य है।

प्राति-सुत्वन्—द्र०-**प्रतीप**।

प्रतिबोधी-पुत्र—प्रतिबोध-वंशीया का पुत्र। ऐआ०, ३. १. ५ और शांआ०, ७. १३ में एक आचार्य का नाम प्रतिबोधी-पुत्र है।

प्रा-तृद—प्रतृद का वंशज। जैउब्रा०, ३. ३१. ४ में भाल्ल नामक एक आचार्य का पैतृक नाम प्रातृद है। बृ० उ०, ४. १३. २ में एक अन्य आचार्यका भी यही नाम है।

प्रा-देश—ब्राह्मणों में लम्बाई के एक माप को प्रादेश =बालिश्त कहा गया है। संभवतः प्रदेश से या प्रदेशिनी अंगुलि से, यह शब्द बना है : आश्रौसू०, १. ७; शांश्रौसू०, १. १०. १; २. ९. १४। द्र०-ऐब्रा०, ८. ५; शब्रा०, ३. ५. ४. ५; छाउ०, ५. १८. १ इत्यादि।

प्रा-ध्वंसन—प्रध्वंसन का वंशज। बृउ०, २. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यंदिन=२. ६. ३; ४. ४. ५ काण्व में मृत्यु का पैतृक नाम प्राध्वंसन है। वे वहाँ **प्रध्वंसन** के शिष्य बताये गए हैं।

प्रायश्चित्त या प्रायश्चित्ति—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में पश्चात्ताप एवं पाप-निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त शब्द आम है : शब्रा०, १२. ४. १. ६; कौब्रा०, ५. ९; ६. १२; **प्रायश्चित्ति** : तैसं०, २. १. ४. १; ३. १. ३. २; ५. १. ९. ३; ५. ३. १२. १; अवे०, १४. १. ३०; वासं०, ३९. १२; ऐब्रा०, ३. ११. ४६; ५. २७; ७. २; शब्रा०, १. १. ४. ९; ४. ५. ७. १; ११. ४. ३. ८ इत्यादि। सभी प्रकार के सामाजिक या नैतिक प्रायश्चित्तों की एक सूची सामविधान-ब्राह्मण में आई है।[1]

१-प्रायणीय—याग-विशेष। 'स्वर्गं वा एतेन लोकमुप प्रयन्ति यत् प्रायणीयस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्' ऐब्रा०, १. ७; 'आदित्य एव प्रायणीयो भवति' शब्रा०, ३. २. ३. ६; 'अथ यत् प्रायणीयेन यजन्ते अदितिमेव देवतां यजन्ते' शब्रा०, १२. १. ३. २; 'प्राणो वै प्रायणीयः' ऐब्रा०, १. ७।

२-प्रायणीय—अहः। 'प्रायणीयेन वा अह्ना देवाः स्वर्गं लोकं प्रायन् यत् प्रायंस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्' तांब्रा०, ४. २. २; यदमुत्र राजानं क्रेष्यन् उपप्रैष्यन् यजते। तस्मात् प्रायणीयं नाम' शब्रा०, ४. ५. १. २; 'प्राणापानावेव यत् प्रायणीयोदयनीये' कौब्रा०, ७. ५।

प्रावरेय—**प्रवर** का वंशज। कासं०, १३. १२ में गर्गों का पैतृक नाम प्रावरेय है।[2]

[1] द्र०-कोनो का अनुवाद, पृ० ४३ एवं आगे।

[2] द्र०-इस्तू०, ३. ४७४।

प्रा-वहि—कौब्रा०, २६. ४ में एक आचार्य का नाम प्रावहि है; लिण्डनर के संस्करण में **प्रागहि** पाठ है।

प्रा-वाहणि—प्रवाहण का वंशज। तैसं०, ७. १. १०. २ में बबर नामक एक व्यक्ति का पैतृक नाम प्रवा-हणि है।

प्रावित्र—'यज्ञो वै प्रावित्रम्' शब्रा०, १. ५. २. १।

प्रावृ-ष्—ऋग्वेद ७. १०३. ३, ९ एवं अवे०, १२. १. ४६; कासं०, ३६. २; शब्रा०, ५. ५. २. ३; ७. २. ४. २६ आदि में **वर्षा ऋतु** का नाम प्रावृष् है। तु०-'प्रावृषि सर्वा वाचो वदन्ति' तैब्रा०, १. ८. ४. २।

प्रावेप—द्रष्टव्य **प्राकाश**।

प्राश्—अथर्ववेद २. २७. १. ७ में यह शब्द वाद-विवाद करने वाले व्यक्ति या वाद-विवाद को बताता है, जब कि **प्रतिप्राश** : २. २७. १।[1] वादविवाद में **प्रतिपक्षी** के लिए आया है।

प्राश्नी-पुत्र आसुरिवासिन्—प्राश्नी का पुत्र। बृउ० की अन्तिम वंश-सूची ६. ४. ३३ मा०=६. ५. ३ काण्व में **असुरायण** के शिष्य एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है।

प्रा-श्रवण—द्र०-**प्रा-स्रवण**।

प्रा-सच—तैसं०, ७. ५. ११. १[2] में मेघ-वर्षण के लिए आया है। तैब्रा०, १२. ७. ४[3] में **प्रा-सच्यः आपः** वर्षा से झरने वाले जलों का जिक्र आता है।

प्रा-सहा—'सेना वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम' ऐब्रा०, ३. २२; 'सेना ह नाम पृथिवी धनं-जया विश्वव्यचा अदितिः सूर्यत्वक् इन्द्राणी देवी प्रासहा ददाना' तैब्रा०, २. ४. २. ७।

प्रा-साद—अद्भुत ब्राह्मण[4] से पहले महल के अर्थ में यह शब्द नहीं आता। तु०-**प्राकार**।

प्रा-स्रवण—**प्लक्ष प्रास्रवण** के एक भाग के लिये यह शब्द आया है। कौब्रा०, १३. ३[5] में **अवत्सार**=(प्रस्रवण का पुत्र) के पैतृक नाम के रूप में भी यह आया है।

प्रियंगु—तैसं०, २. २. ११. ४; कासं०, १०. ११; मैसं०, २. १. ८; वासं०, १८. १२ एवं तैब्रा०, ३. ८. १४. ६; ऐब्रा०, ८. १६; बृउ०, ६. ३. २२ मा०=६. ३. १३ का०, में यह शब्द एक प्रकार के बीज (Panic

[1] ब्लूमफील्ड, अजफि०, ७. ४७९ एवं आगे; अवे०, ७५; हिम्स आ० दि अवे०, ३०५, ३०६।

[2] भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ है 'घनीभूत', शीतीभूत।

[3] इस्तू०, १. ४०।

[4] वहाँ एक और पाठ **प्राश्रवण** भी है।

sead, 'Panicum italicum) चौंटली (?) के लिए आया है। तु०—त्सिमर, आ०ले०, २४१ :

प्रिय-मेध—ऋग्वेद १. १३९. ९; ८. ५. २५; **प्रियमेधवत्**, १. ४५. ३; **प्रियमेधस्तुत** ८. ६. ४५ में एक ऋषि का नाम प्रियमेध है, जहाँ उनके वंश के **प्रियमेधों** का उल्लेख है : १. ४५. ४; ८. २. ३७; ८. ३. १६; ८. ४. २०; ८. ८. १८; ८. ६९. ८; ८. ८७. ३; १०. ७३. ११। संभवतः कोई भी सूक्त प्रियमेधों की अपनी रचना नहीं है।[1] द्रष्टव्य **प्रैयमेध**।

प्रिय-रथ—ऋग्वेद १. १२२. ७[2] में **पज्रों** के एक आश्रयदाता का नाम है।

प्रिय-व्रत सोमापि[3] या सौभापि—ऐब्रा० ७. ३४ और शांआ० १५. १ में एक आचार्य का नाम है, जहाँ उन्हें **सोमप** का शिष्य बताया गया है। शब्रा० १०. ३. ५. १४ में भी **प्रियव्रत** नाम पाया जाता है, जहाँ इस नाम के एक **रौहिणायन** को एक आचार्य के रूप में रखा गया है। द्र०—वेबर, इस्टू०, ८. २३६ टि०।

प्रूड—तैसं० ३. ४. १. ४ में प्रूड स्वर्ण तोलने का कोई माप है; वहाँ **अष्टाप्रूड** हिरण्य का उल्लेख है।

प्रेङ्ख—झूला। कासं० ३४. ५ ऐआ० १. २. ३. ४; ५. १. ३; पंविब्रा ५. ५. ७ और शांआ०, २. १७ में **महाव्रत यज्ञ** के वर्णन में प्रेङ्ख शब्द आया है। जहाँ तक प्राप्त सूचनाओं से निर्णय होता है, शांश्रौसू०, १७. १. ११, ७. २ आदि से पता चलता है कि प्रेङ्ख आजकल जैसा ही झूला होता था। द्र०—**प्लेङ्ख**।

प्रेत—गत। इस शब्द का प्रयोग शब्रा० १०. ५. २. १३; बृउ०, ५. ११. १ में दिवंगत मनुष्य के लिए आया है; भूत-प्रेत या पिशाच के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बाद का है।

प्रेति—'अन्नं प्रेति': शब्रा० ८. ५. ३. ३।

प्रेदि—द्रष्टव्य—**प्रोति**।

प्रैष—'यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् तं प्रैषैः प्रैषमैच्छन् तत् प्रैषाणां प्रैषत्वम्' ऐब्रा० ३. ९; 'तं देवाः प्रैषैः प्रैषं (प्रकृष्टं सोमस्यान्वेषणम्) ऐच्छन्। तत् प्रैषाणां प्रैषत्वम्' शब्रा० २. २. ८. ५; 'बार्हता वै प्रैषाः' शब्रा० १२. ८. २. १४।

प्रैष्य—संदेश लेकर भेजा जाने वाला। ऐब्रा० ७. २९; द्र०—कौब्रा० १७. १ में यह शब्द चेट या नौकर के लिए आया है, जो **शूद्र** होता था। अथर्ववेद ५. २२. २४ में प्रैष्य विशेषण बनकर आता है।

प्रैयमेध—प्रियमेध का वंशज। ऐब्रा० ८. २२ में आत्रेय **उदमय** का यज्ञ कराने वाले पुरोहितों का पैतृक नाम प्रैयमेध है। कासं०, ६. १; मैसं०, १. ८. ७ में इन पुरोहितों को यज्ञप्रक्रिया का पण्डित बताया गया है[1]। तैब्रा० २. १. ९. १ में तीन **प्रैयमेधों** का उल्लेख है। गोब्रा० १. ३. १५ में उन्हें **भरद्वाज** कहा गया है। **प्रय्यमेध** एवं **प्रैय्यमेध** ये पाठ भी मिलते हैं। फीस पृ० १५०

प्रैष—कर्मकाण्ड से संबद्ध प्रैष शब्द अवे०, ५. २६. ४; ११. ७. १८; १६. ७. २; तैसं०, ७. ३. ११. २; वासं०, १९. १९; ऐब्रा०, २. १३; ३. ९; ५. ९; शब्रा० ४. १. ३. १५; १३. ५. २. २३; कौब्रा०, २८. १ आदि में निर्देश या निमन्त्रण के अर्थ में आता है।

प्रोक्षणी—'आपः प्रोक्षण्यः' ऐब्रा०, ५. २८।

प्रोति कौशाम्बेय कुसुरु-बिन्दि—कुसुरबिन्द का वंशज। शब्रा०, १२. २. २. १३ (समानान्तर स्थल गोब्रा०, १. २. २४ में **प्रेदि कौशाम्बेय कौसुरविन्द**) में **उद्दालक** के शिष्य एवं समकालीन **प्रोति कौशाम्बेय कुसुरुबिन्दि** का उल्लेख है; किंतु तैसं०, ७. २. २. १ में कुसुरुबिन्द को **औद्दालकि**=उद्दालक का वंशज बताया गया है। इन बातों से निष्कर्ष निकलता है कि इन पैतृक नामों एवं इन व्यक्तियों की समकालीनता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। तु०—ब्लूमफील्ड, अवे०, पृ० ११५।

प्रोष्ठ—एक बेंच के अर्थ में ऋग्वेद ७. ५५. ८ में प्रोष्ठ शब्द का प्रयोग **प्रोष्ठ-शय**=प्रोष्ठ पर शयन करने वाला इस रूप में आया है। तैब्रा०, २. ७. १७. १ में यह शब्द बिना समास के अकेले भी आया है। पहले संदर्भ में इसे **तल्प** और **वह्य** से भिन्न बताया गया है; किंतु वह भेद क्या था यह बताना दुष्कर है। तु०—त्सिमर, आले०, १५४।

प्रोष्ठ-पद, प्रोष्ठ-पदा—बेंच का पावा। एक नक्षत्र-द्वन्द्व का नाम है। द्र०—**नक्षत्र**।

तु० (देवाः) 'प्रोष्ठपदेषूदयच्छन्त' तैब्रा०, १. ५. २. ९; 'अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदा' : तैब्रा०, १. ५. १. ५।

प्रोष्ठ-पद—द्र०—**मास**।

प्रोष्ठ-पाद वारक्य—जैउब्रा० ३. ४१. १ के एक वंश में **कंस वारकि** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।

प्रोष्ठ-शया—द्र०—**प्रोष्ठ**।

१. **प्लक्ष**—पिलखन? यह एक भव्य वृक्ष है, जिस पर छोटे श्वेत फल लगते हैं। इसका उल्लेख अथर्ववेद ५.

---

[1] ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २१७।

[2] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५०।

[1] इस्टू०, ३. ४७४; लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रि-

५. ५ और तैसं० ७. ४. १२. १; तु–३. ४. ८. ४; मैसं०, ३. १०. २ में न्यग्रोध और पर्ण के साथ हुआ है। बाद में (६. ३. १०. २) इस नाम को व्युत्पत्तिगम्य बनाने के निमित्त इसे प्रक्ष में बदल दिया गया है। ऐब्रा०, ७. ३२; ८. १६; तैब्रा०, ३. ८. १९. २; शब्रा०, ३. ८. ३. १०, १२ आदि में भी इसका उल्लेख मिलता है। द्र०–त्सिमर, आले०, ५८।

२. प्लक्ष दय्यांपाति—द्यांपति का वंशज। तैब्रा० ३. १०. ९. ३, ५ के अनुसार ये अत्यंहस आरुणि के समकालीन थे।

३. प्लक्ष प्रास्रवण--एक स्थान का नाम है, जहाँ से ४४ दिन के रास्ते पर वह जगह आती थी, जहाँ सरस्वती नदी गुम हो जाती थी; इसका उल्लेख पंविब्रा० २५. १०. १६; २२; काश्रौसू०, २४. ६. ७; लाश्रौसू०, १०. १७. १२, १४ और जैउब्रा० ४. २६. १२ में मिलता है। जैउब्रा० में कहा गया है कि पृथ्वी का केन्द्र यहाँ से एक प्रादेश की दूरी पर उत्तर में है। आश्रौसू०, १२ ६. १; शांश्रौसू०, १३. २९. २४ में इस स्थान को प्लाक्ष प्रास्रवण कहा गया है, और यह सरस्वती के उद्गम को सूचित करता है, न कि उसके गुम होने की जगह को। द्र०–हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ३१. टि०, २।

प्लति—एक व्यक्ति का नाम है, जो ऋग्वेद १०. ६३. १७; १०. ६४. १७ के ऋषि का पिता है। द्र०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३३।

१. प्लव—तैसं०, ५. ५. २०. १; मैसं०, ३. १४. १५; वासं०, २४. ३४ में अश्वमेध यज्ञ की बलियों की सूची में एक जलचर पक्षी का नाम प्लव है; संभवतः जल-कुक्कुट अभिप्रेत है। द्र०–त्सिमर, आले०, ९३।

२. प्लव—तरणः। ऋग्वेद १. १८२. ५ एवं अवे०, १२. २. ४८; तैसं०, ५. ३. १०. २; ८. ३. ५. २; पंविब्रा०, ११. १०, १७ आदि में नौका के अर्थ में आया है।

प्लाक्षि—प्लक्ष का वंशज। तैआ०, १. ७. २ एवं तैप्रा०, १. ५. ९; २. २. ६ में एक व्यक्ति का नाम प्लाक्षि है। उसी प्रातिशाख्य में प्लाक्षायण=प्लाक्ष के वंशज का भी उल्लेख है: १. ९; २. २. ६। तु०–वेबर, इस्टू०, १. ३५।

प्लात—प्लति का वंशज। ऐब्रा०, ५. २ में गय का पैतृक नाम है।

प्लायोगि–प्लयोग का वंशज। ऋग्वेद ८. १. ३३ में आसङ्ग का पैतृक नाम है। शांश्रौसू०, १६. ११. १७ के अनुसार आसङ्ग एक स्त्री थी, जो बाद में पुरुष बन गई थी। ऋग्वेद ८. १. ३४[1] पर सायणने इसका वर्णन किया है। किंतु यह एक गलती है, जो एक दूसरे मन्त्र में शश्वती नारी का अर्थ उसकी पत्नी शश्वती[2] करने के कारण हो गई है; उसका असली अर्थ 'प्रत्येक स्त्री' होना चाहिए।

प्लाशि—वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में प्लाशि शब्द शिश्न या शिश्न-मूल के अर्थ में आया है। द्र० शरीर। मोनियर विलियम्स ने इसे आंतों के अर्थ में लिया है: ऋ० १०. १६३. ३; अवे०, ९. ७. १२; वासं०, २५. ८; अवे०, १०. ९. १७; वासं०, १९. ८७; शब्रा०, १२. ९. १. ३।

प्लाशुक—शीघ्र बढनेवाला। शब्रा०, ५. ३. ३. २ और कात्यायन श्रौतसूत्र में व्रीहि के लिए प्लाशुक शब्द आया है।

प्लीहन्–द्र०–शरीर।

प्लीहा-कर्ण—मैसं०, ३. १३. ५; (तु०–४. २०. ९), वासं०, २४. २४ में पशुओं के विशेषण के रूप में यह शब्द आया है। संभवतः यह उनके कान पर दागे गए प्लीहाकार चिह्न को जताता हो; महीधर ने वासं०, २४. २४ के भाष्य में इससे कान में या पर प्लीहन् रोग वाला यह अर्थ लिया है।

प्लुषि—ऋग्वेद १. १९१. १ में किसी जहरीले कीड़े का नाम है। मैसं०, ३. १४. ८ और वासं०, २४. २९ में अश्वमेध की बलियों की सूची में तथा बृउ०, १. ३. २४ में भी यह आया है। चींटी की जात का कोई कीड़ा हो सकता है। द्र०–त्सिमर, आ०ले०, ९८।

प्लेङ्ख=प्रेङ्ख; तैसं० ७. ५. ८. ५ और तैब्रा० १. २. ६. ६ में आता है। द्र०–प्रेङ्ख।

प्सरस्—प्सरस् शब्द रूप के अर्थ में आया है: निघण्टु ३. ७; ऋ० १. ४१. ७; ९. २. २; ९. ९६. ३; ९. ७४. ३; ९. ९७. २७; तु–ऋ० १. ७५. १; ९. १०४. ५; ९. १०५. ५।

फ

फण—कौउ० १. ४ की कुछ पाण्डुलिपियों में फण शब्द आता है, जिसका अर्थ अलंकार किया गया है; किंतु यह फल के स्थान पर अशुद्ध पाठ है; फलहस्ताः इस समास इसका अर्थ है: हाथ में फल धारण करने वाले। द्र०–वेबर, इस्टू०, १. ३९८; कीथ, शांआ०, १९. टि० १।

---

[1] तु०–हापकिन्स, रिलिजन्स आफ इंडिया, १५०।

[2] ग्रिफिथ (हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. १०७) ने भी वही अर्थ किया है; किंतु द्रष्टव्य ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ३५४।

फर्वर—ऋग्वेद १०. १०६. २ में केवल एक बार आने वाले इस शब्द का अर्थ संदिग्ध है। यह कुसुमित क्षेत्र[1] को सूचित कर सकता है। सायण[2] ने इसका अर्थ भरने वाला और ग्रासमान ने बोने वाला[3] किया है। द्र०—प्रफर्वी।

फल—फल : ऋ० ३. ४५. ४; १०. १४६. ५ एवं अवे०, ६. १२४. २; तैसं०, ७. ३. १४. १; वासं०, १०. १३; शब्रा०, १३. ४. ४. ८; बृउ०, ६. ४. १ आदि में आम है। द्रष्टव्य फण।

फलक—पट्टा। गाड़ी या रथ बनाने के प्रसङ्ग में : पंविब्रा०, १७. १. १४[4] में अथवा सोमसवन के प्रसङ्ग : ऐब्रा०, ७. ३० 'अधिषवणे फल के' में यह शब्द 'फट्टा' के अर्थ में आया है : शब्रा०, ३. ३. ४. ९; १३. ४. ३. १; ऐआ० १. २. ३ में भी इसका यही अर्थ है।

फलवती—फलयुक्त। षविंब्रा०, १. ५. २ में एक पौधे का नाम है जिसे भाष्यकार ने प्रियंगु बताया है। द्र० वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता।

फल्गु—द्रष्टव्य नक्षत्र।

फल्गुनी—तु०—नक्षत्र-विशेष। 'अर्जुन्यो वै नामैतास्ता एतत् परोक्षमाचक्षते फल्गुन्य इति' शब्रा०, २. १. २. ११; 'अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रं यत् पूर्वे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ४; 'भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ४; 'एता वा इन्द्रनक्षत्रं यत् फल्गुन्यः' शब्रा०, २. १. २. ११; 'मुखमुत्तरे फल्गू पुच्छं पूर्वे' कौ०, ५. १; 'एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य यदुत्तरे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ९; 'एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत् फाल्गुनी पौर्णमासी योत्तरैषोत्तमा या पूर्वा मुखत एव संवत्सरमारभते' शब्रा०, ६. २. २. १८; 'मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी' कौब्रा०, ४. ४। द्र० नक्षत्र।

फाण्ट—दही को मथते-मथते निकले हुए मक्खन के पहले फूल को शब्रा०, ३. १. ३. ८ में फाण्ट कहा गया है। तु०—'फाण्टं मनुष्याणाम्' शब्रा०, ३. १. ३. ८। द्र० एग्लिंग, सेबुई०, २६. १४ टि० १।

फाल—फाली। इसका उल्लेख ऋग्वेद ४. ५७. ८; १०. ११७. ७; कासं०, १९. १; तु०—सुफाल, अवे०, ३. १७. ५; मैसं०, २. ७. १२; फाल-कृष्ट, आरण्य का विलोमः कासं०, १२. ७; कौब्रा०, २५. १५ आदि में आया है।

फाल्गुन—द्र०—(१) मास। (२) हैमन्त तृण। तु० 'इन्द्रो वृत्रमहन्। तस्य वल्कः परापतत्। तानि फाल्गुनान्यभवन्' तैब्रा०, १. ४. ७. ६; 'द्वयानि वै फाल्गुनानि। लोहितपुष्पाणि चारुपुष्पाणि च स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणुयादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि' शब्रा०, ४. ५. १०. २।

फेन—झाग। ऋ० १. १०४. ३; ३. ५३. २२; ८. १४. १३; १०. ६१. ८; अवे०, १. ८. १; तैब्रा०, १. ७. १. ७; शब्रा०, ६. १. १. १३ इत्यादि।

ब

बक दाल्भ्य—दल्भ का वंशज बक। जैउब्रा० में आजकेशियों के लिये इन्द्र को आकृष्ट करने वाले (१. ९. २) और कुरुपञ्चाल (४. ७. २) के रूप में उद्दिष्ट बक दाल्भ्य नामक व्यक्ति का उल्लेख है।

बकुर—ऋग्वेद १. ११७. २१ में आता है कि दस्युओं के विरुद्ध आर्यों के लिए अश्विनों ने अपने बकुर जलाकर प्रकाश किया। निरुक्त ६. २५; निघण्टु, ४. ३ के अनुसार वज्र अभिप्रेत है; किंतु राथ[1] के अनुसार यह कोई वाद्य-यन्त्र है। द्र०—त्सिमर, आ०ले०, २९०; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ४६६। द्रष्टव्य बाकुर।

बज—अथर्ववेद ८. ६. ३, ६, ७, २४ में यह एक पौधे का नाम है, जिसका रोग के एक दैत्य के विरुद्ध प्रयोग होता था। एक प्रकार की सरसों अभिप्रेत हो सकती है। द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ४९४।

बदर—कासं०, १२. १०; मैसं०, ३. ११. २; वासं०, १९. २२, ९०; २१. ३०; तैब्रा०, १. ८. ५. १; शब्रा०, ५. ५. ४. १०; १२. ७. १. ३; २. ९; ९. १. ८; जैब्रा०, २. १५६. ५ आदि में कर्कन्धु और कुवल की भांति एक फलदार वृक्ष बदर=बेर का उल्लेख आता है।

बद्ध—द्र०; दशन्।

बद्वन्—पंविब्रा० १. १. ४ (तु०—लाश्रौसू०, १. १. २३) में यह शब्द सेतु के अर्थ में आया है। मामूली सड़क की अपेक्षा यह अधिक मजबूत होता है।

बन्धन—अथर्ववेद ३. ६. ७. ६. १४. २ शब्रा०, १३. १. ६. २; तैब्रा०, ३. ८. ९. ४; छाउ०, ६. ८.

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, १७. २६०।

[2] ऋ० १०. १०६. २ पर उनका भाष्य; उन्होंने उसी सूक्त में आने वाले "पर्फरत्" को 'भरना' अर्थ वाली धातु से निष्पन्न माना है।

[3] वोबू०।

[4] द्र०—इस्टू०, १. ३३. ४४।

[1] वोबू०।

२; नि० १२. ३८ इत्यादि में नौका या घोड़े आदि को बांधने की रस्सी का या जंजीर का बोधक है।

बन्धु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में संबन्ध को व्यक्त करता है: ऋ० ५. ७३. ४; ७. ७२. २; ८. ७३. १२ इत्यादि; अवे०, ५. ११. १०. ११; वासं०, ४. २२; १०. ६. इत्यादि; ऋ० १. १६४. ३३; ७. ६७. ९; अवे०, १०. १०. २३; तैब्रा०, ३. ७. ५. ५; इत्यादि; **बन्धुमन्त्**, 'संबन्ध वाला': ऋ० ८. २१. ४; तैसं०, १. ५. १. ४ इत्यादि।

बबर प्रावाहणि—प्रवाहण का वंशज बबर। तैसं० ७. १. १०. २ में यह एक व्यक्ति का नाम है, जो वाग्मी बनना चाहता था, और जिसने पञ्चरात्र यज्ञ करके उत्कृष्ट वक्तृत्व शक्ति प्राप्त की थी। द्र०—गेल्डनर, वैस्टू०, २. १४८।

१. **बभ्रु**—ऋग्वेद ५. ३०. ११, १४ में यह एक ऋषि का नाम है, जिन्होंने ऋणंचय से दान प्राप्त किया था। इन्हीं बभ्रु को ऋग्वेद ८. २२. १० में अश्विनों का शरणागत बताया गया है। किंतु इस बात में संदेह है कि क्या अथर्ववेद ४. २९. २[1] में भी यह व्यक्तिवाचक नाम है।

२. **बभ्रु कौम्भ्य**—कुम्भ का वंशज बभ्रु। पंविब्रा० १५. ३. १३ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का यह नाम है।

३. **बभ्रु दैवावृध**—ऐब्रा० ७. ३४ में पर्वत और नारद के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख आया है।

बम्ब आजद्विष—अजद्विष् का वंशज बम्ब। जैउब्रा० ३. ७. २ में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। **बिम्ब** दूसरा पाठ है।

बम्बा-विश्ववयसौ—ये दोनों नाम समास में आते हैं। ये तैसं०, ६. ६. ८. ४; वासं०, २९. ७ (जहां पाठ बम्बा है)[2] के अनुसार एक यज्ञ के अन्वेषक दो ऋषि हैं।

[1] वोबू० ने इसे व्यक्तिवाचक शब्द के रूप में लिया है। लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १२६; किंतु ह्विटनी ट्रां० अवे०, १९९ में इसे व्यक्तिवाचक शब्द नहीं मानते। द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २१४।

[2] किंतु बर्लिन की पाण्डुलिपि में पाठ **बम्भार** है। वोबू० में **बम्बा** पाठ लिया गया है, किंतु **बम्ब** पाठ भी संभव है, क्योंकि आकार द्वन्द्व-समास-जन्य हो सकता है। मैसं०, ४. ७. ३ में **बम्ब** है।

बम्भारि—सात सोमरक्षक देवों: स्वान, भ्राज, अंघारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कुशानु में से एक का नाम बम्भारि है; द्र०—वासं०, ४. २७; ५. ३२; पंविब्रा०, १. ४. ७।

बरासी—कासं० १५. ४ और पंविब्रा० १८. ९. १६ (जहाँ पर भाष्यकार ने इसे बल्कल से बना हुआ बताया है) २१. ३. ४ में एक प्रकार की माला के लिए आया है।

बरु—ऋग्वेद १०. ९६ के रचयिता का नाम ऐब्रा०, ६. २५; कौब्रा०, २५. ८ के अनुसार बरु है।

बर्कु वार्ष्ण—वृषन् का वंशज बर्कु। शब्रा०, १. १. १. १०; बृउ०, ४. १. ८ माध्यंदिन=४. १. ४ काण्व में एक आचार्य का नाम है।

बर्हिस्—घास। ऋग्वेद १. ६३ ७; १. १०८. ४; ३. ४. ४; तैसं०, ३. १४. ३. १४; वासं०, २. १; १८. १ इत्यादि में न्यौते गये देवताओं के बैठने के लिए बिछाई जाती है। तु०—'प्रजा वै बर्हिः' कौब्रा० ५. ७; 'पशवो वै बर्हिः' ऐब्रा० २. ४; =ओषधयः, ऐब्रा० ५. २८; =अयं लोकः, शब्रा० १. ४. १. २४; 'शरद्वै बर्हिरिति हि शरद् बर्हिर्या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति ता वर्षा वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे तस्माच्छरद् वर्हिः' शब्रा० १. ५. ३. १२; 'क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः' शब्रा० १. ३. ४. १०।

बलक्ष—श्वेत के अर्थ में आया है: तैसं०, २. १. २. २; ५. ६. १२. १; तैब्रा०, ३. ८. २३. ३; कासं०, १२. १३; २७. २; पंविब्रा०, १७. १. १४; लाश्रौसू०, ८. ६. १५, १६; काश्रौसू, २२. ४. १७ इत्यादि।

बल—द्र०—**स्वर**।

बलाका—बक। तैसं०, ५. ५. १६. १; मैसं०, ३. १४. ३, १४; वासं०, २४. २२. २३ में अश्वमेध की बलियों की सूची में यह शब्द आया है। तु०—त्सिमर, आले०, ९२।

बलाका कौशिक—शब्रा० १४. ७. ३. २७ में काषायण के शिष्य बलाका कौशिक का नाम आया है। द्र०—भारद्वाज।

बलाय—वासं०, २४. ३८; मैसं०, ३. १४. १९ में अश्वमेध की सूची में एक अज्ञात पशु का नाम बलाय है।

बलास—अथर्ववेद ४. ९. ८; ५. २२. ११; ६. १४. १; ६. १२७. १; ९. ८. ८; १९. ३४. १० एवं वासं०, १२. ९७ में एक रोग का नाम बलास आया है।

महीधर[1] और सायण (अवे०, १९. ३४. १० पर भाष्य) ने इसका अर्थ क्षय या शोष किया है। त्सिमर[2] इसका समर्थन करते हैं, क्योंकि इसे यक्ष्म का एक भेद अवे०, ९. ८. १० में कहा गया है और अस्थियों एवं जोड़ों के गलने का उल्लेख (=अस्थिस्रंस परुःस्रंस) अवे०, ६. १४. १ में आया है। इसका निदान प्रेम, निग्रह और हृदय (अवे० ९. ८. ८) को बताया गया है, जो वैद्यक[3] में मिलता है। क्षय-दैत्य के साथ होने से यह तक्मन् (अवे०, ४. ९. ८; १९. ३४. १०) का साथी है। फिर भी ग्रोहमान[4] इसे व्रण या शोथ बताते हैं। ब्लूमफील्ड[5] को भी इस विषय में संदेह बना रहा है। लुड्विग[6] ने इसका अनुवाद जलोदर किया है।

इस रोग की ओषधि त्रिककुद् (अवे०, ४. ९. ८) से प्राप्त होने वाला अञ्जस् और जंगिड (अवे०, १९. ३४. १०) पौधा है।

बलि—ऋग्वेद[7] एवं परवर्ती काल[8] में राजा या देवता को समर्पित की जाने वाली भेंट को बलि कहा गया है; त्सिमर[9] के अनुसार दोनों ही को बलियां स्वेच्छा से दी जाती थीं। उन्होंने टैसीटस्[10] में जर्मनों की प्रथा का यहाँ जिक्र किया है, जिसमें कबीलों के राजा को प्रजा भेंट दिया करती थी, नियमित कर नहीं। किंतु इस मान्यता के लिए आधार की अपेक्षा है। निःसंदेह प्रारम्भिक काल में राजा के प्राधिकार का स्रोत कबीलों की स्वयं-सेवा और अपनी मरजी से भेंट चढ़ाना था[1]। किंतु वैदिक जातियों पर, जो कि विजयी आक्रान्ता थीं, यह बात नहीं लागू होती; अलबत्ता, देवताओं को बलियाँ वे अपनी इच्छा से दिया करते थे। त्सिमर ने यह स्वीकार किया है कि शत्रु लोग राजा को भेंट न देकर कर दिया करते थे। द्र०—राजन्।

बल्कस—शब्रा० १२. ८. १. १६; १२. ९. १. २ में यह शब्द पकती चीज के ऊपरी झाग को जताता है। संभवतः यह गर्म करते समय रस के ऊपर की मल्ही को[3] या वनस्पतियों के झाग[4] को जताता है।

बल्बज—यह एक प्रकार की घास (Eleusine indica) है। अथर्ववेद १४. २. २२, २३ में इसका उल्लेख आया है और तैसं०, २. २. ८. २; कासं०, १०. १०; मैसं०, २. २. ५ में इसे पशुओं के गोबर से उत्पन्न बताया गया है। कासं० १०. १० में उल्लेख आता है कि इसे यज्ञभूमि में बिछाने और इसका ईन्धन बनाने के काम में लाया जाता था। ऋग्वेद ८. ५५. ३ की दान-स्तुति में इससे बनने वाले पदार्थ, टोकरी आदि का उल्लेख है। द्र०—वोबू०; त्सिमर, आले०, ६९, ७०।

बल्बूथ—ऋग्वेद ८. ४६. ३२ में तरुक्ष और पृथुश्रवस् के साथ कवियों को दान देने वाले बल्बूथ का उल्लेख आता है। उन्हें एक दास बताया गया है। किंतु राथ[5] ने इसका अर्थ "सौ दास देने वाला" किया है। त्सिमर[6] के अनुसार उनकी माता आदिवासी रही होंगी और हो सकता है कि वे खुद आदिवासी रहे हों[7]। यदि ऐसी बात थी तो आर्यों और दासों में मैत्री-संबन्ध बन जाया करता था।

१. बल्हिक—अथर्ववेद ५. २२. ५, ७, ९ में यह एक जाति का नाम है, जहाँ ज्वर=तक्मन् को मूजवन्तों, महावृषों एवं बल्हिकों के यहाँ चला जाने के

---

[1] वासं०, पर भाष्य।
[2] आले०, ३८५. ३८७।
[3] वाइज, हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन, ३२१. ३२२।
[4] इस्टू०, ९. ३९६ एवं आगे।
[5] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४५०।
[6] ट्रां० ऋ०, ३. ५६०।
[7] देव को ऋ०, १. ७०. ९; ५. १. १०; ८. १००. ९; राजा को, समस्त पद बलि-कृत् "भेंट चढ़ाते हुए", ७. ६. ५; १०. १७३. ६।
[8] रूपक के रूप में, अवे०, ६. ११७. १; तैब्रा०, १. २. ३. २; का कासं०, २९ ७; तैउ० १. ५. ३ इत्यादि; बलिकृत् : अवे०, ११. ४. १९; बलिहा : अवे०, ११. १. २०; बलिनि : अवे०, ३. ४. ३; तैब्रा०, २. ७. १८, ३; ३. १२. २. ७; शब्रा०, १. ३. २. १५; १. ५. ३. १८; १. ६. ३. १७; ११. २. ६. १४; पंविंब्रा०, १५. ७. ४; ऐब्रा०, ७. २९; बलिकृत्, कासं० २९. ९; तैसं०, १. ६. २. १।
[9] आले०, १६६, १६७।
[10] जर्मानिया, १५।

---

[1] बाद में भी उदारता का उल्लेख मिलता है। द्रष्टव्य—फ्लीट, जराएसो०, १९०९, ७६०, ७६२।
[2] द्र०—ऋ० ७. ६. ५; ७. १८. १९।
[3] वोबू०।
[4] एगलिंग, सेबुई० ४४. २३९ टि०—१।
[5] वोबू०; द्र०—दास।
[6] आले०, ११७।
[7] वेबर, एपिश्शस इम वैदिश्शन रितुआल, ३०; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. १९६।

लिये कहा गया है। **मूजवन्त्** तो उत्तरी सीमा की ओर है। ब्लूमफील्ड[1] का सुझाव है कि **बल्हिक** शब्द पर श्लेष हो सकता है, और इसका संबन्ध बहिस्=बाहर के साथ ढूंढ़ा जा सकता है। कुछ भी हो, **बल्हिकों** को उत्तर की ओर ही रखा जा सकता है। राथ[2] और वेबर[3] का यह मत, जिसे त्सिमर[4] ने भी एक बार मान लिया था, कि यह एक ईरानी जाति=बल्ख है, चिन्त्य है। त्सिमर[5] ने बताया है कि यहाँ ईरानी प्रभाव मानने की आवश्यकता नहीं है। द्र०–**पर्शु**।

२. **बल्हिक प्रातिपीय**—शब्रा०[6] १२. ९. ३. ३ में एक कुरु-राजा **बल्हिक प्रातिपीय** हैं, जिन्होंने **दुष्टरीतु पौंसायन** को **सृञ्जयों** पर अपना साम्राज्य स्थापित करने से रोकना चाहा था; किंतु इसमें वे असफल रहे थे; क्योंकि **रेवोत्तर पाटव चाक्र स्थपति** ने यह काम पूरा कर दिया था। **प्रातिपीय** विशेषण रोचक है; यदि इससे उसका संबन्ध **प्रतीप** के साथ (जोकि आर्षकाव्य में उसका पिता है) जुड़ता है तब यह रूप ध्यान देने योग्य है और त्सिमर ने इसे **प्रातीपीय** में बदल दिया है। आर्ष-काव्य एवं पुराणों में इसका रूप **बाह्लीक** है और यह **देवापि** एवं **शंतनु** का भाई है और **प्रतीप** का पुत्र है। इन नामों से किसी प्रकार की वंशावलि तैयार करना अनुचित होगा; क्योंकि असलियत यह है कि **देवापि ऋष्टिषेण** का पुत्र था और **शंतनु** एक कुरु-राजा, जिसके पिता का नाम पता नहीं है, किंतु जो **प्रतीप** का पुत्र नहीं था, जो कि वैदिक युग में एक बाद का नाम है, और जो **परिक्षित्** से बाद में आया है, क्योंकि वह **परिक्षित्** का पोता है। हो सकता है कि **बल्हिक, प्रतीप** का वंशज हो। बल्हिक उसका नाम क्यों पड़ा था यह अनिश्चित है।

बष्किह–वासं० २४. १६ में चिर-प्रसूत (=बष्किह) अजों का उल्लेख है।

१. **बस्त**—ऋग्वेद १. १६१. १३[1] तैसं०, २. ३. ७. ४; ५. ३. १. ५; ५. ७. १०. १; कासं०, १४. ९; तैब्रा०, १. ३. ७. ७; बृउ०, १. ४. ९ माध्यंदिन=१. ४. ४ काण्व अवे०, ८. ६. १२; ११. ९. २२ में अज या बकरे के लिए यह आया है।

२. **बस्त रामकायन**—मैसं० ४. २. १० में एक आचार्य का यह नाम है। पैतृक नाम का रूप कहीं-कहीं समकायन आया है।

बहिष्पवमान—एक स्तोम या स्तोत्र का नाम बहिष्पवमान है, जो प्रायः तीन तृचों का होता है, और प्रातः-सवन के अवसर पर वेदि के बाहर जाकर गाया जाता था। द्र०–स्तोत्र, ऐब्रा०, ३. १. १४; शब्रा०, ४. २. ५. ११. २१; १०. १. २. ७; स्तोमः–ऐब्रा०, २. २२; तैब्रा०, १. ५. ९. ७; शांश्रौसू०, ९. २१. १; १४. ३१. २; तैब्रा०, २. २. ८. ३; ३. ८. २२. १; तैसं०, ३. १. १०. ३; ६. ३. १. १; ६. ४. ९. २; शब्रा०, १२. ३. ४. ३; कासं०, २७. ४; छाउ०, १. १२. ४; आश्रौसू०, १. ४; काश्रौसू०, २०. ५. २; लाश्रौसू०, २. १. ९; २. २. १; ९. ९. १९; बहिष्पवमानीः–पंविब्रा०, ६. ८. ५. १७. १८; ११. २. १।

बहिःसद्—एक प्रकार का द्यूत खेलने वाला। द्र०–**अक्ष**।

बहु-वचन शब्रा० १३. ५. १. १८ और निरुक्त ५. २३; ११. १६; १२. ७ में यह व्याकरण का एक पारिभाषिक शब्द है। निरुक्त २. २४, २७; ११. १६ में "द्विवत्" और "बहुवत्" द्विवचन और बहुवचन के लिये आये हैं।

बह्वृच—यह शब्द ऋग्वेद के अनुयायी को सूचित करता है। इसका उल्लेख ऐब्रा०, २. ३६; ५. २; ६. १८, कौब्रा०, ६. ११; १६. ९, शब्रा० १०. ५. २. २०; ११. ५. १. १० और पञ्चविंश० ५. ६. ६ में और ऐआ०, ३. २. ३ एवं शांआ० ८. ४ में आया है।

बाकुर—ऋग्वेद ९. १. ८ में यह शब्द **दृति** का विशेषण बनकर आया है। समस्त होने पर ये दोनों शब्द एक प्रकार के वायु-यन्त्र को सूचित करते हैं। तु०–**बकुर**।

बाडेयी-पुत्र—माध्यंदिन शाखा के बृउ० ६. ४. ३०

---

[1] हिम्सआफदि अवे०, ४४६।

[2] त्सूर लितरात्यूर, ४१।

[3] इस्टू०, १. १०५; प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेदमी, १८९२, ९८५–९९५।

[4] आले०, १३०।

[5] उपर्युक्त, ४३१–४३२। तु०–ह्विटनी. ट्रां० अवे०, २६०; हापकिन्स, ग्रेट एपिक आफ इं० ३७३।

[6] आले०, ४३२।

[7] द्र०–म्यूर, संस्कृत टक्स्ट्स, १२, २७३ एवं आगे; जीग, दी जा० ऋ०, १३१. १३६।

[8] पार्जिटर, जराएसो०, १९१०, ५२।

[1] यह स्थल दुरूह है, द्र०–तिलक, ओरायन, १६६ एवं आगे। तु०–हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, ३. १४५. टि०–२।

में आचार्यों की सूची में इन्हें **मौषिकीपुत्र** का शिष्य बताया गया है।

बाण—ऋग्वेद ६. ७५. १७ में एवं अवे०, ३. २३. २; ६. १०५. २ इत्यादि में यह शब्द शर के अर्थ में आया है।

बाण-वन्त्—बृउ० ३. ८. २ में यह बाण के ही अर्थ में आया है। इसका सामान्य अर्थ तूणीर या निषङ्ग है;="बाण धारण करने वाला"। इसका यह अर्थ वासं० १६. १० में और शब्रा० ५. ३. १. ११ में आया है।

बादरायण—बदर का वंशज। सामविधान-ब्राह्मण[1] में पाए जाने वाले आचार्यों के एक वंश में इनका उल्लेख है। तु०—'विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय व्यासः पाराशर्यो जैमिनये जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय पौष्पिड्यः पाराशर्यायणाय पाराशर्यायणो बादरायणाय बादरायणस्ताण्डिशाट्यायनिभ्यां ताण्डिशाट्यायनिनौ बहुभ्यः' साविब्रा० ३. ९. ६।

बाध्योग—बध्योग का वंशज। माध्यंदिन-शाखीय बृउ० की अन्तिम वंश-सूची ६. ४. ३३ में **असित वार्षगण** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

बाध्व—ऐआ० ३. २. ३ में एक आचार्य का यह नाम है। शांआ० ८. ३ में पाठ **वात्स्य** है[2]।

बाभ्रव—बभ्रु का वंशज। बृउ० २. ५. २२; ४. ५. २८ मा०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व में **वत्स-नपात्** का यह पैतृक नाम है। **कापिलेयों** और **बाभ्रव्यों** को **शुनःशेप** (ऐब्रा०, ७. १७; शांखायन शाखा में यह शब्द नहीं है) का वंशज बताया गया है, जहां **शुनःशेप** का दूसरा नाम **देवरात विश्वामित्र** है। बभ्रु के एक साम का उल्लेख पंचविंश-ब्राह्मण १५. ३. १२ में आता है।

बाभ्रव्य—बभ्रु का वंशज। ऐब्रा० ७. १ में **गिरिज** का और जैउब्रा० ३. ४१. १, ४. १७. १ में **शंख** का पैतृक नाम बाभ्रव्य है।

बार्हत्-सामा—'**बृहत्सामन्** की पुत्री' के नाम के रूप में आया है। अथर्ववेद ५. २५. ९[3] में यह गर्भ-धारण के प्रसङ्ग में आता है।

बार्हदुक्थम्—साम। 'बृहदुक्थो वा एतेन वाम्नेयोऽग्रस्य पुरोधामागच्छदन्नं वै ब्राह्मणः पुरोधान्नाद्यस्यावरुध्यै' तांब्रा० १४. ९. ३८।

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, ४. ३७७; वाद्रि : कात्श्रौसू०, ४. ३. १८; वैस्टू०, १. ३४. टि०।

[2] द्र०—कीथ, ऐआ०, २४९, टि०–१।

[3] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २६७।

बार्हद्गिर—साम। 'ब्रह्मवर्चसं मह्यमित्यब्रवीत् (इन्द्रं) बृहद्गिरिस्तस्मा एतेन बार्हद्गिरेण ब्रह्मवर्चसं प्रायच्छद् ब्रह्मवर्चसकाम एतेन स्तुवीत ब्रह्मवर्चसी भवति' तांब्रा० १३. ४. १७।

बार्हस्पत्य—बृहस्पति का वंशज। देव-शास्त्रीय **शंयु** (तैसं०, २. ६. १०. १; ५. २. ६. ४; शब्रा०, १. ९. १. २४; निरुक्त, ४. २१ इत्यादि) का यह पैतृक नाम है।

बाल—उपनिषदों (छाउ०, ५. १. ११; ५. २४. ५; कउ० २.६) में यह बच्चे के लिए आया है। परवर्ती परिभाषा (वोबू०) के अनुसार बाल्यावस्था १६ वर्ष की आयु तक मानी गई है।

बालन्दन—यह **मालन्दन** का दूसरा पाठ है, जो **वत्सप्री** का पैतृक नाम ह। तु०—वेबर, इस्टू०, ३. ४५९, ४७८।

बालाकि, बालाक्य—द्रष्टव्य **दृप्त बालाकि** और **काश्यपी बालाक्या+माठरी-पुत्र**।

बालेय—बलि का वंशज। बौश्रौसू०, २०. २५ में **गंधर्वायण** का यह पैतृक नाम है।

बाष्कल—ऋग्वेद की एक शाखा बाष्कल है। शाकल शाखा से उसमें थोड़ा ही अन्तर है। इसकी संहिता अब अप्राप्य है। बाष्कल-मन्त्रोपनिषद् भी केवल पारसी-लैटिन अनुवादों के आधार पर ज्ञात थी, किंतु अब वह वैदिक संशोधन मण्डल, पूना के तत्त्वावधान में दक्षिण से प्राप्त पाण्डुलिपि के आधार पर प्रकाशित हुई है : अष्टादशोपनिषदः, पृ० ३५८–३५३। आश्वलायन-गृह्य-सूत्र ३. ४. ४ और शांखायन-गृह्य-सूत्र ४. १० में आचार्य का नाम बाष्कल है।

बाष्किह—बष्किह का वंशज। पञ्चविंशब्राह्मण १७. १२. ६ में यह **शुनस्कर्ण** का पैतृक नाम है। बौधायन-श्रौतसूत्र २१. १७[2] के अनुसार वे **शिबि** के वंशज हैं।

बाह्लीक—शब्रा०, १. ७. ३. ८ में प्राच्यों के प्रतीक बाह्लीकों का उल्लेख मिलता है, जो पंजाब[1] के पश्चिम में थे। उनके संबन्ध में यह कथन है कि वे अग्नि को भव इस

[1] द्र०—कालण्ड, ऊबर दास रितुआल सूत्र देस बौधायन, २८।

[2] तु०—महाभारत, ८. २०३० एवं आगे; जहाँ बाह्लीकों को पंजाब और सिन्ध का निवासी बताया गया है। इससे शतपथ ब्राह्मण के कथन का मेल बैठ जाता ह, जो **सरस्वती** के पूर्वी भाग को मध्य मानता है।

नाम से पुकारते थे। द्र०—वेबर, इस्तू०, १. १८९; २. ३७; एगलिंग, सेबुई०, १२. २०१ टि०—२।

१—बाहु—हाथ। लम्बाई के माप के लिए यह शब्द तैसं०, ६. २. ११. १ और अनेकशः सूत्रों में आता है।

२—बाहु—द्र०—नक्षत्र।

बाहु-वृक्त—यह एक व्यक्ति का नाम है, जो एक ऋषि हैं; और ऋग्वेद ५. ४४. १२ के अनुसार उन्होंने शत्रुओं को युद्ध में जीता था। अनुक्रमणी के अनुसार ऋ० ५. ७१—७२ उनके बनाए हुए हैं। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३८. १३९।

बिदलकारी—बाँस चीरने वाली। वासं०, ३०. ८ और तैब्रा०, ३. ४. ५. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में यह शब्द आता है। एगलिंग ने इसका अनुवाद किया है, टोकरी बनाने वाली। सेबुई०, ४४. ४, ४।

बिम्ब—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ५. ६ में बिम्ब एक पौधे कुनरू (Momordica monadelpha) का नाम है।

बिल = विल—ऋग्वेद-काल से ही यह शब्द विवर, भूविवर आदि के अर्थ में आया है: ऋ० १. ११. ५; तैसं०, २. १. ५. १; निरुक्त २. १७ इत्यादि।

बिल्व—बिल्व या बेल के वृक्ष एवं फल का उल्लेख वैदिक काल से आ रहा है। अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों में उसके बहुमूल्य फल को इस नाम से बताया गया है: अवे०, २०. १३६. १३; ऐब्रा०, २. १; तु०—मैसं०, ३. ९. ३। तैसं० २. १. ८. १—२; (तु० शब्रा०, १. ३. ३. २०) के अनुसार कुछ यज्ञों का यूप बिल्व-काष्ठ का बनाया जाता था। शांखायन आरण्यक १२. २० में बेल से बने एक अलंकार (इरामणि बैल्व) की प्रशंसा की गई है। आजकल इस वृक्ष को बेल कहा जाता है, और इसकी पत्तियां शिवाराधन में प्रयुक्त होती हैं। तु०—'अथ (प्रजापतेः) यत् कुंतापमासीत्। यो मज्जा स सार्धं समवद्रुत्य श्रोत्रत उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवत् बिल्वस्तस्मात्तस्यान्तरतः सर्वमेव फलमाद्यं भवति तस्मादु हारिद्र इव भाति' शब्रा० १३. ४. ४. ८; 'बिल्वं ज्योतिरिति वा आचक्षते' ऐब्रा० २. १।

बिस—अथर्ववेद के समय से ही बिस या भिस के खाने का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक में भी मिलता है; तु०—अवे०, ४. ३४. ५; ऐब्रा०, ५. ३०; ऐआ० ३. २. ४; शांआ०, ११. ४। द्र०—त्सिमर, आले०, ७०।

बीज—बीज ओरने का उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में आम हुआ है: ऋ० १०. ९४. १३; १०. १०१. ३; १०. ८५. ३७; ५. ५३. १३; अवे०, १०. ६. २३; शब्रा०, ७. २. २. ४ इत्यादि। रूपक के रूप में यह प्राणियों के वर्ग के लिए भी उपनिषदों में प्रयुक्त हुआ है। छाउ० ६. ३. १ में **उद्भिज्ज, जीवज,** और **अण्डज** इन तीन का तथा ऐतरेय उपनिषद् ३. ३ में इनके साथ **स्वेदज** का भी उल्लेख हुआ है। तु०—**कृषि**। द्र०—कीथ, ऐतरेय आरण्यक, २३५।

बुडिल आश्वतराश्वि या आश्वतर आश्वि— ब्राह्मण-साहित्य में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख कई बार आया है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के अनुसार वे **विदेह** के राजा **जनक** के समकालीन थे; और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **केकय**-राज **अश्वपति** के समकालीन थे। ऐतरेय ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख आया है। तु०—छाउ०, ५. ११. १; ६. १६. १; बृउ०, ५. १५. ११ माध्यं०=५. १४. ८ काण्व; शब्रा०, १०. ६. १. १, तु०—४. ६. १. ९; ऐब्रा०, ६. ३०।

बुध-सौमायन—सोम का वंशज बुध। पंचविंशब्राह्मण (महीं दीक्षां सौमायनो बुधो यदुदयच्छदनन्दत् सर्वमाप्नोन्मन्मासे मेदोधा इति' २४. १८. ६) में एक आचार्य का नाम बुधसौमायन है। तु०—हापकिन्स, ट्रां० आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ५५ टि०—२।

बुध्न=काश्मीरी बुन्न, सतह, मूल आधार या पेंदी के अर्थ में बुध्न शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है: १. ९५. ९; ४. १९. ४; ७. ३४. १६; १०. ७७. ४; अवे०, २. १४. ४; तैसं०, २. ३. ४; शब्रा०, ३. ८. २. १३ इत्यादि।

बुन्द—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर यह शब्द बाण के अर्थ में आया है: ऋ० ८. ४५. ४; ८. ७७. ६; ११; तु०—निरुक्त, ६. ३२।

बृबु—ऋग्वेद ६. ४५. ३१, ३३ में इन्हें बहुत ही उदार दाता=सहस्रदातमः एवं पणियों का चौधरी कहा गया है। शांखायन श्रौत सूत्र १६. ११. ११ के अनुसार भरद्वाज ने बृबु **तक्षन्** और **प्रस्तोक साञ्जय** से दान प्राप्त किया था। यह बात मानव-धर्म-सूत्र १०. १०. ७ में भी उद्दिष्ट है, जहाँ तक्षन् का अर्थ बढ़ई किया गया है। स्पष्टतः बृबु एक **पणि** था, यद्यपि ऋग्वेद के प्रसक्त शब्दों का अर्थ पणियों को दूर खदेड़ने वाला भी लिया जा सकता है। यदि बृबु को एक **पणि** ही मानना है तो यहाँ पणि का अर्थ एक अच्छा व्यापारी मानना होगा, और इस प्रकार

बृबु एक व्यापारियों का राजा हो सकता है।[१] वेबर के अनुसार यह शब्द बेबीलन के साथ संबन्ध को सूचित करता है; किंतु यह चिन्त्य है।[२] बेबीलन से संबन्ध बैठाने के लिए जिस बावेरु जातक पर विशेष बल दिया गया है, वह अनिश्चित काल का है; अतः वह काल के विषय में प्रमाण नहीं हो सकता।[3] हिल्लेब्राण्ड्ट ने बृबु के संबन्ध में कोई मत नहीं दिया है।[४] ब्रुन्नहोफर ने तक्षन् शब्द को तस्काई जाति से मिलाने का प्रयास किया है;[५] किंतु यह लचर है, क्योंकि तक्षन् बृबु के विशेषण के रूप में नहीं आया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २७५ बृहद्देवता, ५. १०८, १०९, मैकडानल के नोट के साथ; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३११६।

बृसय—ऋग्वेद में यह शब्द एक बार १. ९३. ४ में **पणियों** के साथ और दूसरी बार ६. ६१. ३ में **पारावतों** तथा **पणियों** के साथ आया है। वोबू० के अनुसार यह एक दैत्य का वाचक है; तु०—सायणभाष्य; किंतु दूसरे स्थल पर यह आभिचारिक का बोधक है[६]। हिल्लेब्राण्ड्ट के अनुसार बृसय एक जाति है, जो अराखोसिया या द्रंगियाना में **पारावतों** और **पणियों** के साथ रहती थी। उन्होंनें डरायस के समय के बर्सएण्टेस सत्रप से बृसय की तुलना भी की है;[७] किंतु यह चिन्त्य है।

बृसी—ऐतरेय आरण्यक और सूत्रों में घास के आसन के अर्थ में यह शब्द आया है। अशुद्ध रूप वृशी या वृषी भी कभी-कभी पाए जाते हैं। तु०—ऐआ०, १. २. ४; ५. १. ३; ३. २ कीथ के नोट के साथ; शांश्रौसू०, १७. ४. ७; १७. ६. ६; काश्रौसू०, १३. २. १।

बृहच्छन्दस्—शाला के विशेषण के रूप में यह शब्द अथर्ववेद ३.१२. ३ में आया है। यह स्पष्टतः बृहद्-छदिस् के स्थान के स्थान पर अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है। यह बड़ी छान वाले घर का बोधक है। द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, १०५; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३४५।

बृहती—बृहती का प्रारम्भिक अर्थ है बड़ी, महती। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में ३६ मात्राओं का एक छन्द बृहती है। आरम्भ में उसमें ८+८+१२+८ मात्राएँ होती थीं, किंतु बाद में ३६ मात्रा वाले छन्द का नाम बृहती पड़ गया। तु०—'स्वाराज्यं छन्दसां बृहती' तांब्रा० २४. ६. ३; 'श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहती' ऐब्रा० १. ५; 'बृहत्या वा असावादित्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति' गोउ० ५. ७;=स्वर्गो लोकः, शब्रा० १०. ५. ४. ६;=संवत्सरः, शब्रा० ६. ४. २. १०;=वाक्, शब्रा० १४. ४१. २२;=मनः, शब्रा० १०. ३. १. १; प्राणाः, ऐब्रा० ३. १४;=व्यानः, तांब्रा० ७. ३. ८;=आत्मा, ऐब्रा० ६. २८;=पर्शवः, शब्रा० ८. ६. २. १०। द्र०—ऋ० प्रा० १६–१ : १८. ११; ऋ० १० १३०. ४; अवे०, ८. ९. ४; १९. २१. १; तु०—तैसं०, ५. ३. २. ४; शब्रा०, ३. ५. १. ९ इत्यादि।

उरो-बृहती, पुरस्ताद्-बृहती प्रभृति भेदों एवं अन्य विवरण के लिए द्र०—युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० १४० एवं आगे।

१. **बृहत्साम**—बृहती छन्द पर बने हुए या गाये जाने वाले साम का उल्लेख बृहत्सामन् के रूप में अनेक बार आया है। साम : 'बृहन्मर्या इदं स ज्योगन्तरभूदिति तद् बृहतेः बृहत्त्वम्' तांब्रा० ७. ६. ५; (त्वामिद्धि हवामहे इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम बृहत्) 'भारद्वाजं वै बृहत्' ऐब्रा० ८. ३; 'बृहता वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् तस्य तेजः परापतत् तत् सौभरमभवत्' तांब्रा० ८. ८. ९; 'यद् बृहत्तद्रैवतम्' ऐब्रा० ४. १३; 'यद् बृहत्तद्वैराजम्' ऐब्रा० ४. १३. 'यथा वै पुत्रो जेष्ठ एवं बृहत्प्रजापतेः' तांब्रा० ७. ६. ६;='असौ द्युलोकः' ऐब्रा० ८. २;=स्वर्गो लोकः, तांब्रा० १६. ५. १५;=आदित्यः, ऐब्रा० ५. ३०;=प्राणः, तांब्रा० ७. ६. १४;=मनः, तांब्रा० ७. ६. १७; 'ऐरं वै बृहत्' तांब्रा० ७. ६. १७; 'त्रैष्टुभं वै बृहत्' तांब्रा० ५.१ १४।

द्र०—वासं०, १०. ११; ११. ८; १२. ४; अवे०, ४. ३४. १; ८. ९. ३, ४; १०. १३. १६; १३. ३. ११, १२; ऐब्रा०, ४. २८; ८. १; शब्रा०, १. ७. २. १७;

---

[१] तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. १६६ टि०।

[२] द्र०—एपिग्शेस इम वेदिशन रितुआल, २८ 'एवं आगे; प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडेमी, १८९८. ५६३ टि०–१; इस्तू०, १७. १९८।

[3] तु०—ब्युहलर, इस्तू०, ३. ७९ एवं आगे; वेबर, इंडियन लिटरेचर, ३; रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, २०१ एवं आगे।

[४] वै० मि०, १. ९३, १०४. १०७।

[५] ईरान उण्ड तूरान, १२७।

[६] तु०—बोह्टलिङ्ग्क की डिक्शनरी, ग्रासमान के अनुकरण पर।

[७] द्र०—वैमि०, १. १. ९७. १०४; एरियन, इण्डिका, ८. ४; २१. १; २५. ८।

९. १. २. ३७; १०. ३. २. ४; शांश्रौसू०, ७. २०. २; छाउ०, २. १४. १, २ इत्यादि।

बृहत्सामन्—अथर्ववेद ५. १९. २ में क्षत्रियों से अपकृत एक **आङ्गीरस** के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।

बृहदुक्थ—ऋग्वेद के दुरूह सूक्त ५. १९. ३ में एक पुरोहित के रूप में इनका उल्लेख मिलता है; दशम मण्डल के १०. ५४. ६; १०. ५६. ७ में वे निश्चित रूप से एक ऋषि हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३ में **दुर्मुख पाञ्चाल** के अभिषेक-कर्ता के रूप में भी इनका उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण १३. २. २. १४ में उन्हें **वामदेव** का पुत्र कहा गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ९. ३७, ३८ में वे **वाम्नि** के वंशज **वाम्नेय** के रूप में अभिहित हैं। हापकिन्स का यह सुझाव कि वहाँ वे **वामदेव्य** के रूप में आए होंगे, संभव हो सकता है।[१]

बृहद्-गिरि—पञ्चविंश ब्राह्मण ८. १. ४ में उन तीन यतियों में से एक बृहद्-गिरि हैं, जिन्होंनें **इन्द्र** के वध से अपने को बचाया था। उसी ब्राह्मण के १३. ४. १५–१७ में उनके एक साम का उल्लेख है।

बृहद्-दिव—ऋग्वेद १०. १२०. ८. ९ में उसके रचयिता के रूप में अपने को **अथर्वन्** कहने वाले बृहद्दिव का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण ४. १४ में भी इनका उल्लेख है। शांखायन आरण्यक १५. १ में आचार्यों की सूची में इन्हें **सुमन्यु** का शिष्य बताया गया है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३३; मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ १४१।

बृहद्-रथ—ऋग्वेद १. १६. १८; १०. ४९. ६ में **नाववास्त्व** के साथ यह शब्द आया है, जहाँ यह उसका विशेषण है। द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४७–४८।

बृहद्-वयः—'अश्वो वै बृहद्वयः' तैब्रा० ३. ८. ५. ३।

बृहद्-वसु—वंश-ब्राह्मण में एक आचार्य का नाम है। द्र०—इस्टू०, ४. ३७४।

बृहस्पति—(अ) प्रार्थना का स्वामी। वैदिक साहित्य में एक देव का नाम है। थिबो का यह कहना कि यह बृहस्पति ग्रह का नाम है, चिन्त्य है[२]। ओल्डेनबर्ग ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है[३]। तु०—'वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः' शब्रा० १४. ४. १. २२; 'ये (प्रजापतेः रेतःपिण्डा दग्धाः सन्तः)ऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्' ऐब्रा० ३. ३४; 'अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वातः) पवते' शब्रा० १४. २. २. १०;=प्राणः, शब्रा० १४. ४. १. २२;=अपानः, जैउब्रा० २. २. ५;=चक्षुः, गोउब्रा० ४. ११; 'द्युम्नं हि बृहस्पतिः' शब्रा० ३. १. ४. १९; 'बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म' गोउब्रा० १. ३. ४;=ब्रह्म, ऐब्रा० १. १३; 'बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा' शब्रा० १. ७. ४. २१;='देवानामुद्गाता' तांब्रा० ६. ५. ५; 'एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्' शब्रा० ५. ५. १. १२; 'बृहस्पतेर्मध्यंदिनः' तैब्रा० १. ५. ३. २।

(ब) एक प्रमुख वैदिक देव बृहस्पति हैं। ये प्रार्थना या उपासना के स्वामी हैं। वे देवों के पुरोहित हैं। वे प्रज्ञा के देवता हैं: ऋ० १. १९०; २. २३; ५. ५०; ७. ९७ इत्यादि; विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ—१०१ एवं आगे।

बृहस्पति-गुप्त शायस्थि—वंश-ब्राह्मण में **भवत्रात शायस्थि** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख है। द्र—इस्टू०, ४. ३७२।

बृहस्पति-सव—तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७. १. २ के अनुसार बृहस्पति-सव एक यज्ञ है, जिसे करके एक ब्राह्मण ने पौरोहित्य प्राप्त किया था: कासं०, ३७. ७; पंविब्रा०, १७. ११. ४; २५. १. १, ७। आश्वलायन श्रौतसूत्र ९. ९. ५ के अनुसार जब राजा राजसूय यज्ञ करता है, तब वाजपेय के बाद इस यज्ञ को पुरोहित करता है। शतपथ ब्राह्मण ५. २. १. १९ में इसे वाजपेय से अभिन्न बताया गया है। किंतु यह अभिन्नता प्रारम्भिक नहीं कही जा सकती। द्र०—एगलिंग, सेबुई०, ४१. २४, २५; वेबर, इस्टू०, १०. १०७, १०८।

बृहस्पति-स्तोम—पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १. १ में बृहस्पति-स्तोम एक **एकाह** यज्ञ है। इस यज्ञ के करने से **बृहस्पति** देवों के पुरोधा बने थे; अतः पौरोहित्य चाहने वालों को यह यज्ञ करना चाहिए।

बेकनाट—ऋग्वेद ८. ६६. १० में एक बार यह शब्द आया है, जहाँ कहा गया है कि **इन्द्र** ने बेकनाटों और **पणियों** पर विजय प्राप्त की। इस शब्द का अर्थ—जैसा कि यास्क ने भी किया है—कुसीदक प्रतीत होता है: निरुक्त ६. २६। यह शब्द विदेशी हो सकता है, किंतु इसके उद्गम के संबन्ध में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

---

[१] द्र०—ट्रांजेक्शन्स आफ दि कनेक्टिक्युट एकेडेमी आफ आर्ट्स् ऐंड साइंसेज, १५. ५५ टि०—२; पंविब्रा०, १३. ९. २७ समानान्तर है १४. ९. ३८ के; राथ, बोबू०, ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२, २१४; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १२६।

[२] द्र०—ऐस्ट्रोनमी ऐस्ट्रोलजी उण्ड मैथमेटिक, ६।

[३] नाखरिश्तन देर कोइनिग्लिशन गेजलशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन त्सु गोत्तिङ्गन, १९०९, ५६८ टि०—३; ह्विटनी, जअओसो०, १९११, ५१४–५१८; कीथ, वही, ७९४, ८००।

यह आदिवासियों का शब्द भी हो सकता है, और बैबिलोनियन भी[१]। हिल्लेब्राण्ड्ट का विचार है कि ब्रुन्नहोफर का यह कहना कि बेकनाट बिकनिर (Bikanir) से अभिन्न है,[२] ठीक है।

बेकुरा—पञ्चविंश ब्राह्मण १. ३. १; ६. ७. ६ में बेकुरा शब्द का अर्थ 'ध्वनि' है। निघण्टु १. ११ में भी यही अर्थ दिया गया है। संभवतः बकुर वाद्य-यन्त्र के समान ही यह रहा हो। तैत्तिरीय संहिता ३. ४. ७. १ और काठक संहिता १८. १४ में बेकुरि और बेकुरि अप्सराओं के नाम हैं। इन शब्दों का अर्थ संभवतः 'स्वरमय' है। वाजसनेयि संहिता १८. ४२ एवं शतपथ ब्राह्मण ९. ४. १. ९ में 'भकुरि' और 'भाकुरि' रूप पाये जाते हैं।

बैजवाप—बीजवाप का वंशज। माध्यंदिन-शाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों २. ५. २०; ४. ५. २६ में एक आचार्य का नाम बैजवाप है।

बैजवापायन—बैजवाप का वंशज। माध्यंदिन-शाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों=२. ५. २०; ४. ५. २६ में एक आचार्य का नाम बैजवापायन है। इसका एक पाठ वैजवापायन भी है।

बैजवापि—बीजवाप का वंशज। मैत्रायणी-संहिता १. ४. ७ में एक आचार्य का नाम है।

बैन्द—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों में से एक का का नाम बैन्द है। महीधर के अनुसार यह शब्द निषाद का वाचक है, किंतु सायण के अनुसार मछली पकड़ने वाले का बोधक है। तु०—वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १२. १।

बोध—मन्त्र-पाठ २. १६. १४ में एक ऋषि का नाम बोध है।[३] अथर्ववेद ५. ३०. १०; ८. १. १३ में प्रतिबोध के साथ यह नाम आया है; ह्विटनी के अनुसार दूसरे स्थल पर इसका अर्थ 'जागरण-शील' है।[४]

बौधायन—बुध या बौध का वंशज। बौधायन एक आचार्य का नाम है, जिनका उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र ४. ११ में हुआ है। यह सूत्र इन्हीं के नाम पर है।[५] कालण्ड ने इसका संपादन किया है।[६] हुल्त्श ने बौधायन धर्म-सूत्र

[१] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १७. ४४।

[२] द्र०—वैमि०, ३. २६८. टि०—१; तु०—त्सिमर, आ०ले०, २५९।

[३] तु०—वितरनित्स, मन्त्रपाठ, ४५।

[४] द्र०—ट्रां० अ०वे०, ४७४।

[५] द्र०—ऊबर दास रितुएल्ले सूत्र देस बौधायन, १९०३।

[६] द्र०—बिब्लिओथिका इण्डिका, १९०४ इत्यादि।

का संपादन किया है।[१] ब्युह्लर ने इसका इंग्लिश में अनुवाद किया है।[२] अपनी भूमिका (पृ० २९) में उन्होंने बौधायन के काल के संबन्ध में विचार किया है।

बौधीपुत्र—बोध-वंशीया का वंशज। माध्यंदिन-शाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३१ के अन्तिम वंश में एक आचार्य का नाम बौधीपुत्र है।

ब्रध्नस्य विष्टपम्—'अदो वै ब्रध्नस्य विष्टपं यत्रासौ सूर्यस्तपति' कौब्रा०, १७. ३; 'स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपम्' ऐब्रा०, ४. ४; 'संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुर्स्त्रिशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः सप्ततंवोर्ध अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपम्'···शब्रा०, ८. ४. १. २३।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्मचारी की जीवनचर्या को सूचित करता है: ऋ० १०. १०९. ५; अवे०, ६. १०८. २; ६. १३३. ३; ११. ५. १; शब्रा०, ११. ३. ३. १ इत्यादि। परिभाषिक अर्थ ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में उभर आया है। ब्रह्मचर्य-जीवन निःसंदेह बहुत पहले ही विकसित होकर कालक्रमात् प्रथाओं द्वारा नियमित बन गया था। परवर्ती वैदिक साहित्य में इस पर विस्तृत चर्चा हुई है; यह वैदिक समाज का आवश्यक अङ्ग था।

अथर्ववेद ११. ५ में ब्रह्मचारी की प्रशंसा है, और इसमें ब्रह्मचर्य की सभी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।[३] बालक को आचार्य नवजीवन में उपनीत करता है; उसे मृगचर्म धारण कराता है, और जटा बढ़ाने का आदेश देता है। तब ब्रह्मचारी समिधाएँ एकत्र करता है, भिक्षाटन करता है; अध्ययन एवं तप करता है: अवे०, ११. ५. ३; (कौसू०, ५५. १८ के अनुसार यह उपनयन-कल्प में विनियुक्त) अवे०, ११. ५. ६; ११. ५. ४, ६; ११. ५. ९। परवर्ती साहित्य में भी ये विशेषताएं पाई जाती हैं। विद्यार्थी आचार्य के आश्रम में रहता है; उसे आचार्य-कुल-वासी एवं अन्तेवासी बताया गया है: छाउ०, २. २३. २; अवे०, ७. १९७. ७; ऐब्रा०, ५. १४; शब्रा० ११. ३. ३. ७; तैब्रा०, ३. ७. ६. ३; छाउ०, ३. ११. ५; ४. १०. १; बृउ०, ६. ३. १५; माध्यं०=६. ३. ७ काण्व; तैउ०, १. ३. ३; १. ११. १। वह भिक्षा माँगता

[१] लाइपत्सिग, १८८४ इत्यादि।

[२] सेबुई०, १४।

[३] तु०—गोपब्रा०, १. २. १—८ जिसमें ब्रह्मचारी के संबन्ध में स्वतन्त्र मत है; ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ११०; शब्रा०, ११. ३. ३. १ एवं आगे; तैसं०, ६. ३. १०. ५।

है, याज्ञिक अग्नि की रक्षा करता है, और आश्रम की देखभाल करता है : छाउ०, ४. ३. ५; तु०—अवे०, ६. १३३. ३; शब्रा०, ११. ३. ३. ५; छाउ०, ४. १०. २; शब्रा०, ११. ३. ३. ४; ३. ६. २. १५। आश्वलायन-गृह्यसूत्र १. २२. १, २ में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों को इस प्रकार गिनाया गया है; 'तुम ब्रह्मचारी हो, जलपान करो, कर्तव्य-पालन करो, दिन में न सोओ, गुरु के आज्ञाकारी बनकर वेद पढ़ो (=ब्रह्मचार्यसि, अपोऽशान, कर्म कुरु, दिवा मा स्वाप्सीः, आचार्याधीनो वेदमधीष्व)। गुरु के धन को चुगाना, एवं उसकी रक्षा करना एक विशेष नियम है; शिष्य उपले पाथता था और समिधाएं एकत्र कर आचार्य के यहाँ ले जाता था : ऐआ०, ३. १. ६; शाआ०, ७. १९; छाउ०, ४. ५. ५; गुरु की आज्ञा को पालने के विषय में द्र०—शब्रा०, ११. ३. ३. ६। ब्रह्मचर्य-जीवन की अवधि बहुत लम्बी बढ़ाई जा सकती थी; सामान्यतः यह अवधि १२ वर्ष की कही गई है : छाउ०, ४. १०; ६. १. २। किंतु ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख मिलता है : छाउ०, ८. ७. ३, १५। ब्रह्मचर्यारम्भ की आयु भिन्न-भिन्न बताई गई हैं।[१] श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ करके बारह वर्ष तक अध्ययन किया : छाउ०, ६. १. २।

गृह्य-सूत्रों में उल्लेख है कि तीनों आर्य-वर्णों को ब्रह्मचर्य रखना पड़ता था। किंतु क्या यह पुरोहितों का विधान-मात्र था, अथवा असलियत भी यह बताना दुष्कर है। निःसंदेह क्षत्रिय और वैश्य एक निश्चित समय तक अध्ययन करते थे, जैसे कि आजकल सभी बर्मी बच्चे मठों में कुछ समय तक शिक्षा ग्रहण करते हैं। अथर्ववेद १५. ५. १७ में यह कथन मिलता है कि राजा ब्रह्मचर्य से अपने राष्ट्र की रक्षा करता है, किंतु इसका दूसरा अर्थ भी संभव है और यह काठक संहिता ९. १६ से समर्थित होता है, जहाँ एक ऐसे यज्ञका उल्लेख है, जो ऐसे व्यक्ति के लिए है, जिसने ब्राह्मण न होने पर भी वेद को पढ़ लिया है, किंतु ख्याति नहीं प्राप्त की है। उपनिषदों में भी जनक जैसे राजाओं का उल्लेख है, जो वेद और उपनिषदों का अध्ययन करते थे : बृउ०, ४. २. १। साधारणतया एक क्षत्रिय युद्ध की कलाओं को सीखता था।[२] ब्रह्मचारी का एक कर्तव्य था इन्द्रिय-संयम; किंतु कुछ स्थलों (तैआ०, १०. ६५; छाउ०, ५. १०. ९) पर विद्यार्थी और गुरु-पत्नी के सहवास की भी संभावना उभरी है, जिसके लिए कोई गहरा प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है। निःसंदेह कहीं-कहीं यज्ञ में इन्द्रिय-संयम के भङ्ग की आवश्यकता का उल्लेख आता है, जो उत्पादन-शक्ति को प्राप्त करने के लिए एक यातु-प्रयोग हो सकता है : कासं०, ३४. ५; तैसं०, ७. ५. ९. ४।[१]

कभी-कभी एक बूढ़ा भी शिष्य बन जाया करता था, जैसा कि आरुणि की कथा से ज्ञात होता है : बृउ०, ६. १. ६ माध्यं०=६. २. ४ काण्व। द्र०—फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर; रेख्त उन्द जित्ते०, १५०; वेबर, उपर्युक्त, १०. १२१, एवं आगे; डायसन, फिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स ३७०, ३७१; द्रष्टव्य—**ब्राह्मण**।

ब्रह्मचारी—द्र०—**ब्रह्मचर्य**। तु०—'अथ हैतद्देवानां परिषूतं यद् ब्रह्मचारी' गोब्रा० १. २. ७; 'स (ब्रह्मचारी) एव विद्वान् यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत तां भिक्षेतेत्याहुस्त-ल्लोक्यमिति स (ब्रह्मचारी) यद्यन्यां भिक्षितव्यां न विन्देदपि स्वामेवाचार्यजायां भिक्षेताथो स्वां मातरं नैनं सप्तमी रात्रिः अभिक्षितातीयात्तमेवं विद्वांसमेवं चरन्तं सर्वे वेदा आविशन्ति यथा ह वा अग्निः समिद्धो रोचत एवं ह वै स स्नात्वा रोचते य एवं विद्वान् ब्रह्मचर्यं चरति' शब्रा० ११. ३. ३. ७; 'सप्तमीं नातिनयेत् सप्तमीमतिनयन्न ब्रह्मचारी भवति समिद्भैक्षे सप्तरात्रमतिचरितवान् ब्रह्मचारी पुनरुपनेयो भवति' गोब्रा० १. २. ६; 'तदाहुः। न ब्रह्मचारी सन् मध्वश्नीयादोषधीनां वा एष परमो रसो यन्मधु नेदन्नाद्यस्यान्तं गच्छानीत्यथ ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो ब्रह्मचारी सन् मध्वश्नंस्त्रय्यै वा एतद्विद्यायै शिष्टं यन्मधु यथाह वा ऋचं वा यजुर्वा साम वाभिव्याहरेत् तादृक् तद् य एवं विद्वान् ब्रह्मचारी सन् मध्वश्नाति तस्मादु काममेवाश्नीयात्' शब्रा० ११. ५. ४. १४; 'पञ्च ह वा एते ब्रह्मचारिण्यग्नयो धीयन्ते द्वौ पृथग्घस्तयोर्मुखे हृदय उपस्थ एव पञ्चमः' गोब्रा० १. २. ४।

ब्रह्म-ज्य और ब्रह्म-ज्येय—ब्राह्मण को बाधा और "ब्राह्मण को बाधा पहुंचाना"। अथर्ववेद में प्रयुक्त ये शब्द एक भयंकर अपराध के सूचक हैं, जो करने वाले को विनष्ट कर देता है। द्र०—**ब्राह्मण**। तु०—अवे०, ५. १९. ७. १२. ५, १५ एवं आगे; १३. ३. १; १२. ४. ११; तु०—तैब्रा०, ३. ७. ९. २।

ब्रह्मणस्पति—ब्रह्मन् या प्रार्थना का पति। निघण्टु ५. ४ और निरुक्त १०. १२ के अनुसार ब्रह्मणस्पति ब्रह्म

[१] द्र०—वेबर, इस्टू०, १०. २१; सूत्रों में ब्राह्मण के लिए आयु है ८–१६; क्षत्रिय के लिए ११–२२; वैश्य के लिए १२–२४; ब्राह्मण की अपेक्षा इन दोनों की दशा भिन्न थी।

[२] तु०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. १०६-११३।

[१] वेबर, इस्टू०, १०. १२५ टि० १; कीथ, शाआ०, ७. ९; २०२, २०३।

के पाता या पालयिता का नाम है। बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति है। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा० तु०—ऋ० २. २३. १; २. २४. २; २. २५. १; ७. ४१. १; ७. ४४. १; ७. ९७. ३; १०. ५३. ९; १०. १७३. ३; वासं०, १४. २८; १७. ५२; अवे०, ६. ४. १; ६. ७४. १; शब्रा०, तु०—ऋ० २. २४. १२ इत्यादि।

देखो 'एष (प्राणः) उ एव ब्रह्मणस्पतिः। वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ह ब्रह्मणस्पतिः' शब्रा० १४. ४. १. २३; 'एष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा० १४. १. २. १५।

ब्रह्मणो वत्सः—'अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः' जैउब्रा० २. १३. १।

ब्रह्मदत्त चैकितानेय—चैकितानेय=चेकितान का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् १. ३. २६ में एक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है। जैमिनीय उपनिषद् १. ३८. १. ५९. १ में भी **कुरुराज अभिप्रतारिन्** के आश्रय में इनका उल्लेख मिलता है।

१. **ब्रह्मन्**—क्षत्र और विश् के विपरीत पुरोहित वर्ग को यह शब्द सूचित करता है। यह शब्द अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में बहुधा आता है। इस वर्ग के विषय में विवरण के लिए द्रष्टव्य **ब्राह्मण**। तु०—अवे०, २. १५. ४; ९. ७. ९; १२. ५. ८; १५. १०. ३, ४; तैब्रा०, ३. ३. १. १; वासं०, ६. ३; ७. २१; द्र०—**वर्ण** और **क्षत्र**।

२. **ब्रह्मन्**—यह शब्द ऋग्वेद में आता है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इसे देवताओं की प्रशंसा करने वाला बताया गया है: ऋ० १. ८०. १; १. १६४. ३४; २. २. ६; ६. ४५. ७; ७. ३३. ११; ८. १६. ७; १०. ७१. ११; १०. ७७. १; १०. ८५. ३, १६, ३४; १०. १०७. ६; १०. १७७. ७; १०. १२५. ५[1]। अन्य स्थानों पर इसका पुरोहित अर्थ पर्याप्त है: ऋ० १. १०. १; १. ३३. ९; १. १०१. ५; १. १०८. ७; १. १५८. ६; २. ३९. १; ४. ५०. ८, ९; ४. ५८. २; ५. २९. ३; ५. ३१. ४; ५. ३२. १२; ५. ४०. ८; ७. ७. ५; ७. ४२. १; ८. ७. २०; ८. १७. २; ८. ३१. १; ८. ३२. १६; ८. ३३. १९; ८. ४५ ३९; ८. ६४. ७; ८. ७७. ५; ८. ९२. ३०; ८. ९६. ५; ९. ९६. ६; ९. ११२. १; ९. ११३. ६; १०. २८. ११; १०. ७१. ११; १०. ८५. २९; १०. १४१. ३[2]। अनेक स्थलों पर

[1] म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. २४४–२४६।
[2] म्यूर, उपर्युक्त, १२. २४६–२५१।

पौरोहित्य के धन्धे की ओर संकेत स्पष्ट है: ऋ० १. १०८. ७; १. ४. ५०; १. ८. ९; ८. ७. २०; ८. ४५. ३९; ८. ६४. ७; ८. ९२. ३०; ९. ११२. १; १०. ८५. २९; १०. १४१. ३[1]। सभी स्थलों पर पौरोहित्य करने वाले पारिभाषिक व्यक्ति की ओर संकेत स्पष्ट है[2]। इसमें संदेह है कि ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर ब्रह्मा का अर्थ यज्ञ का सर्वेक्षक ब्रह्मा है या नहीं। उस अर्थ में यह शब्द मिलता तो अवश्य है; म्यूर[3] और राथ[4] ने इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग स्वीकार किया है। गेल्डनर उस अर्थ को कुछ अधिक स्थलों पर ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं, और इस बात पर बल देते हैं कि **पुरोहित** अपने संकीर्ण अर्थ में एक ब्रह्मन् होता था[5]। उनका कहना है कि अधीक्षक **पुरोहित** का भाव प्राचीन है, जो ऋग्वेद १. १५८. ६; ४. ९. ४; ४. ५०. ७, ८; ७. ७. ५; ७. ३३. ११; १०. १४१. ३ आदि में पाया जाता है। दूसरी ओर ओल्डेनबर्ग की धारणा है कि अधिकांश स्थलों पर केवल **पुरोहित** इस अर्थ में ब्रह्मन् शब्द आया है; और वह पुरोहित जो यज्ञ कराने वाले **ऋत्विजों** की श्रेणी में नहीं आता था, और जो, जबकि वह यज्ञ कराता था **होतृ** कहाता था, वही बाद में ब्रह्मन् बना था[6]। इनका विचार है कि ऋग्वेद में ब्रह्मन् पुरोहित ब्राह्मणाच्छंसिन् होता था; उन्होंने बहुत से स्थलों (ऋ० ४. ५०. ७, ८) पर केवल पुरोहित इतना ही अर्थ लिया है[7]। उन्होंने यह भी कहा है कि यह पुरोहित होने से ब्रह्मन् तब बना था जब कि सूक्तों का महत्त्व घटती पर था और जब अधिक महत्त्व यज्ञ के अधीक्षक को दिया जाने लगा था, जो अपनी यातु-विद्या से यज्ञ की त्रुटियों को दूर कर देता था[8]। बाद के साहित्य में इस शब्द के दोनों अर्थ सामान्य

[1] म्यूर, उपर्युक्त, १२. २५८।
[2] त्सिमर, आले०, १९० एवं आगे।
[3] उपर्युक्त, १२. २५१ में ऋ० २. १. २; ९. ९६. १०; ४. ९. ४. १०. ५२. २ का उल्लेख करते हुए।
[4] वोबू० में ऋ० २. १. २; ९. ९६. ६; १०. ७१. ११; १०. १०७. ६ का उल्लेख करते हुए।
[5] द्र०—वैस्टू०, २. १४५. एवं आगे; ३. १५५।
[6] द्र०—रिलिजन देस वेद, ३९६, ३९७।
[7] तु०—वेबर, इस्टू०, १०. ३७६, ३७७।
[8] तु०—पिशल, गोत्तिङ्गिश्शे गेलेहेर्ते आन्साइगन, १९४. ४२०; हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, १३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६८; अथर्ववेद ३२; द्र०—**पुरोहित**।

बन गये हैं। **पुरोहित के रूप में** : अवे०, २. ७. २; ४. ३५. १, २; ५. ८. ५; ५. १७. ८; ५. १८. ७; ५. १९. ८; ६. १२२. ५; ८. ९. ३; १०१. ३; १०. ४. ३०. ३३; १०. ७. २४; ११. १. २५; १२. १. ३८; १९. ३२. ८; तैसं०, ४. १. ७. १; वासं०, २६. २; ऐब्रा०, ५. ३. इत्यादि; **अधीक्षक पुरोहित के रूप में** : अवे०, १८. ४. १५; २०. २. ३; तैसं०, १. ८. १. ९; २. ३. ११. ४; ३. ५. २. १; कासं०, ३७. १७ द्र०—वेबर, इस्टू०, १०. ३४. ३५, ११४, १३५–१३८, ३२७, ३३०, ३३७। तु०—'वाग्घि ब्रह्म' ऐब्रा० २. १५; 'ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम' तैब्रा० ३. ९. ५. ५; =सत्यम्, शब्रा० १४. ८. ५. १; =ऋतम्, शब्रा० ४. १. ४. १०; =मनः, गोपू० २. १०; 'हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म' शब्रा० १४. ६. १०. १८; =चक्षुः, शब्रा० १४. ६. १०. ८; =गायत्री, तांब्रा० ११. ११. ९; =प्रणवः, कौब्रा० ११. ४; =ऋक्, कौब्रा० ७. १०; =मन्त्रः, ७. १. १. ५; =वेदः, जैउब्रा० ४. २५. ३; 'सप्ताक्षरं वै ब्रह्मर्गित्येकाक्षरं यजुरिति द्वे सामेति द्वे अथ यदतोऽन्यद् ब्रह्मैव तत्, द्व्यक्षरं वै ब्रह्म तदेतत्सर्वं सप्ताक्षरं ब्रह्म' शब्रा० १०. २. ४. ६; =प्रजापतिः, शब्रा० १३. ६. २. ८; =बृहस्पतिः, कौब्रा० ७. १०. १२; 'ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम्' तैब्रा० ३. १२. ९. ३; 'ब्रह्म वै ब्राह्मणं पुष्करे ससृजे' गोपू० १. १६; =चन्द्रमाः. ऐब्रा० २. ४१; =आदित्यः, जैउब्रा० ३. ४. ९; =अग्निः, शब्रा० १. ३. ३. १९; 'अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः', जैउब्रा० २. १३. १; 'मुखं ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म' शब्रा० ६. १. १. १०; =यज्ञः, ऐब्रा० ७. २२; =वाजपेयः, तैब्रा० १. ३. २. ४; =वायुः, ऐब्रा० ८. २८; =प्राणः, जैउब्रा० १. ३३. २; =प्राणापानौ, गोपू० २. १०; =वसन्तः, शब्रा० २. १. ३. ५; =रथंतरम्, ऐब्रा० ८. १. २; =विद्युत् शब्रा० १४. ८. ७. १; =मित्र, शब्रा० ४. १. ४. १०; =पर्णः, तैब्रा० १. ७. १. ९; =पलाशः शब्रा० १. ३. ३. १९; =अमृतम्, गोपू० ३. ४; =अभयम्, शब्रा० १४. ७. २. ३१; 'ब्रह्म वै भूतानां ज्येष्ठं तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम्' तैब्रा० २. ८. ८. १०; 'ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठम्' शब्रा० ८. ४. १. ३; 'षोडशकलं वै ब्रह्म' जैउब्रा० ३. ३८. ८; 'सच्चासच्चाऽसच्च वाक् च मनश्च वाक् च चक्षुश्च श्रोत्रं च श्रोत्रं च चक्षुश्च श्रद्धा च तपश्च तपश्च श्रद्धा च तानि षोडश षोडशकलं ब्रह्म' जैउब्रा० ४. २५. १–२२; 'द्वे वै ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' शब्रा० १४. ५. ३. २; 'इदमेव मूर्तं (ब्रह्मणो रूपं) यदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः' शब्रा० १४. ५. ३. ६; 'यथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च' शब्रा० १४. ५. ३. ४; 'ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धे' शब्रा० ८. ४. १. ३; 'ब्रह्म तपसि (प्रतिष्ठितम्)' ऐब्रा० ३. ६; 'स होवाच गार्ग्यः यश्चायमात्मनि (शरीरे) पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति' शब्रा० १४. ५. १. १३; 'अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च' शब्रा० ६. ६. ३. १५; 'ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्' तांब्रा० ११. १. २; 'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म' शब्रा० १४. ४. २. २३; 'ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्' तैब्रा० २. ८. ८. ९; 'अभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः' शब्रा० ४. १. ४. १; 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः' तैब्रा० ३. ९. १४. २; 'ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः' तैब्रा० ३. ९. १४. ३; 'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यदहः' शब्रा० १३. १. ५. ४।

२. **ब्रह्मन्**—प्रारम्भ में प्रार्थना, एक पुरोहित, ब्राह्मण, एवं प्रजापति का द्योतक ब्रह्मन् शब्द उपनिषत्-काल में परमतत्त्व या आत्मन् का बोधक बन गया है : केउ०, ४. १; कउ० ३. २; मुउ०, ३. २. ९; बृउ०, ३. ९. २८ इत्यादि।

ब्रह्मन् मौद्गल्य—ऐतरेय ब्राह्मण में ब्रह्मन् मौदगल्य लाङ्गलायन नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है। तु०—लाङ्गलायन।

ब्रह्म-पुत्र—कुछ स्थलों पर पुरोहित के पुत्र के लिए ब्रह्मपुत्र शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ० २. ४३. २; शब्रा०, ११. ४. १. २, ९। तु०—वेबर, इस्टू०, १०. ४३. ६९; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. २५२।

ब्रह्म-पुरोहित—काठक संहिता १९. १०; २७. ४ और शतपथ ब्राह्मण १२. ८. ३. २९ में यह शब्द आता है। वोबू० में इसका अर्थ दिया गया है : 'पौरोहित्य को पुरोहित के रूप में धारण करने वाला', किंतु यह अर्थ संदिग्ध है। संभावना इस अर्थ की भी है : 'ब्रह्मन् को पुरोहित के रूप में रखने वाला'; किंतु जहाँ यह क्षत्र का विशेषण बनकर आता है वहाँ इसका अर्थ है : 'अपने से उच्च पौरोहित्य को धारण करने वाला'।[1]

ब्रह्म-पूर्व्यम्—'प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यम्' शब्रा०, ६. ३. १. १७।

ब्रह्म-बन्धु—यह शब्द ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ और छान्दोग्य उपनिषद् ६. १. १ में अयोग्य पुरोहित के अर्थ में आया है। द्र०—लाश्रौसू०, ७. ६. २८; कात्याश्रौसू०, २२. ४. २२; शांश्रौसू०, १६. २९. ९; वेबर, इस्टू०, १०. ९९. १००। तु०—राजन्य-बन्धु।

[1] द्र०—वेबर, इस्टू०, १०. ३०।

ब्रह्म-यज्ञ—'स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः' शब्रा०, ११. ५. ६. २; 'तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनम्' शब्रा०, ११. ५. ६. ३।

ब्रह्मर्षि-देश—द्र०—**मध्यदेश**।

ब्रह्म-वद्य—द्र०—**ब्रह्मोद्य**।

ब्रह्म-वर्चस—ब्रह्मतेजस। ब्राह्मणों का परम लक्ष्य स्वाध्याय द्वारा ब्रह्मवर्चस प्राप्त करना होता था। इसका अनेकशः उल्लेख मिलता है: अवे०, १९. ७१. १; तैब्रा०, १. ७. ८. ७; २. १. ३. २; २. ७. १. १; वासं०, २०. ३. इत्यादि।

ब्रह्म-वादिन्—ब्रह्म या वेद की व्याख्या करने वाला। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में यह शब्द अध्यात्मवादी के अर्थ में आया है: अवे०, ११. ३. २६; १५. १. ८; तैसं०, १. ७. १. ४; २. ६. २, ३; २. ६. ३. १; ५. २. ७. १; ५. ५. ३. २; ६. १. ४. ५; तैब्रा०, १. ३. १०. ६; पंविब्रा०, ४. ३. १३; ६. ४. १५; तैआ०, १. २२. ९; ५. २. २; ५. ४. ६; छाउ०, २. २४. १ इत्यादि। ब्रह्मवादिन्=रहस्य को जानने वाला भी उसी अर्थ में है: अवे०, १०. ७. २४, २७; १०. ८. ४३; १९. ४३. १; तैब्रा०, १. ४. ८. ६; तैउ०, २. १; बृउ०, ३. ७. ४; ४. ४. ११, १२ इत्यादि।

ब्रह्म-विद्या—परमतत्त्व का ज्ञान। छान्दोग्य उपनिषद् में एक विद्या के रूप में इसकी गणना की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसका उल्लेख है। छाउ०, ७. १. २, ४; ७. २. १; बृउ०, १. ४. २०।

ब्रह्म-वृद्धि—वंश-ब्राह्मण में **मित्रवर्चस्** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। द्र०—इस्तू०, ४. ३७२. ३८२।

ब्रह्मवेद—'ब्रह्मवेद एव सर्वम्' गोब्रा०, १. ५. १५।

ब्रह्म-सामन्—एक साम का नाम ब्रह्मसामन् है, जो प्रधान ऋत्विज् या ब्राह्मणाच्छंसिन् द्वारा पठित पाठ पर ढलता था: ऐब्रा०, ४. १९; तैब्रा०, १. २. ४. ३; १. ४. ६. ३; १. ८. २. ५; तैसं०, ५. ४. १२. २; ७. ४. १०. २; शब्रा०, ४. ६. ६. ५; १३. ३. ३. ५; पंविब्रा०, ८. १. ३; ८. २. १ इत्यादि।

ब्रह्म-हत्या—याजुष-संहिताओं एवं ब्राह्मणों में ब्राह्मण की हत्या को घोर अपराध बताया गया है; और हत्यारे को ब्रह्महन् कहा गया है: तैसं०, २. ५. १. २; २. ५. ५. ३; २. ५. १२. १; वासं०, ३१. १३; शब्रा०, १३. ३. १. १; १३. ३. ५. ३; १३. ५. ४. १; तैआ०, १०. ३८; नि०, ६. २७; तैसं०, २. ५. १. २; ६. ५. १०. ३; कासं०, ३१. ७; कपिसं०, ४७. ७; तैब्रा०, ३. २. ८. १२; शब्रा०, १३. ३. ५. ४। तु०—**धर्म**।

ब्रह्मावर्त—द्र०—**मध्यदेश**।

ब्रह्मोद्य—ब्राह्मणों में यह शब्द आध्यात्मिक पहेली के अर्थ में आया है। अश्वमेध और दाशरात्र यज्ञों के एक अङ्ग के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। कौषीतकि ब्राह्मण में यह शब्द **ब्रह्मवद्य** बनकर आया है, और तैत्तिरीय संहिता का **ब्रह्मवाद्य** शब्द भी इसी अर्थ में आया है: शब्रा०, ४. ६. ९. २०; ११. ४. १. २; ११. ५. ३. १; ११. ६. २. ५; १३. २. ६. ९; १३. ५. २. ११; बृउ०, ३. ८. १; ऐब्रा०, ५, २५; कौब्रा०, २७. ४; तैसं०, २. ५. ८. ३।

द्र०—ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १५. १७२; रिलिजिन आफ दि वेद, २१६, एवं आगे; वेबर, इस्तू०, १०. ११८. ११९; लुड्विग, ट्रा० ३. ३९०. एवं आगे; एगलिंग, सेबुई० २६. ४५२, ४५३।

ब्रह्मोपनिषद्—"ब्रह्म का रहस्य-ज्ञान"। छान्दोग्य उपनिषद् २. ११. ३ में कहा गया है कि जो ब्रह्मोपनिषद् को जानता है, उसके लिए न तो सूर्योदय होता है, न सूर्यास्त; उसके लिए सब कुछ दिन ही होता है।

ब्रह्मौदन—ब्राह्मणों, विशेषतः प्रमुख ऋत्विज् के लिए तैयार किये गए भात को ब्रह्मौदन कहा गया है, जो यज्ञ के अवसर पर बांटा जाता था:

अवे०, ४. ३५. ७; ११. १. १, ३, २०, २३; तैब्रा०, १. १. ९. १; ३. ९. १८. १; तैसं०, ३. ४. ८. ७; शब्रा०, १३. १. १. १, ४ इत्यादि।

ब्राह्मण—ब्रह्मन् (पुरोहित) का वंशज। ऋग्वेद में यह शब्द बहुत ही कम, केवल अन्तिम भागों में ही आया है: ऋ० १. १६४. ४५; ६. ७५. १०; ७. १०३. १, ७, ८; १०. १६. ६; १०. ७१. ८, ९; १०. ८८. १९; १०. ९०. १२; १०. ९७. २२; १०. १०९. ४।[1] अथर्ववेद एवं परवर्ती काल में पुरोहित के लिये यह शब्द आम है: अवे०, २. ६. ३; ४. ६. १; ५. १७. ९; ५. १८. १; ५. १९. २; ११. १. २८; १९. २४. ६; १९. ३५. २; तैसं०, १. ६. ७. २; २. १. २. ८; वासं०, ७. ४६ इत्यादि। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त १०. ९० में चतुर्वर्णों में यह नाम आया है।

---

[1] द्र०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. २५१–२५७; राथ, निरुक्त इर्लाटरुङ्गन, १२६; वोबू०, में ऋ० ८. ५८. १ का भी उल्लेख है। लुड्विग ट्रा०ऋ० ३. २२०–२२६।

यह निश्चित-सा है कि ऋग्वेद में ब्राह्मण, **योद्धाओं और कृषि करने वालों** से एक अलग वर्ग है।[1] सभी ग्रन्थों में उसे क्षत्रियों से श्रेष्ठ बताया गया है : मैसं०, ४. ३. ८; कासं०, २९. १०; वासं०, २१. २१; शब्रा०, ५. ४. ४. १५; १३. १. ९. १; १३. ३. ७. ८; ऐब्रा०, ७. १५; ८. ९; पंविब्रा०, २. ८. २; ११. ११. ११. ९; १५. ६. ३; तु० **ब्रह्मपुरोहित**।[2] वह अपनी मन्त्र-शक्ति एवं याज्ञिक कृतियों से मनुष्यों, योद्धाओं एवं क्षत्रियों के विभिन्न वर्गों को हानि पहुंचा सकता है : मैसं०, २. १. ७; ३. ३. १०; तैसं०, २. २. ११. २; मैसं०, ३. ३. १०। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि ब्राह्मण **राजसूय** के अवसर पर राजा को नमस्कार करता है, तो भी इस असाधारण विधान की ऐसी व्याख्या की गई है जिससे ब्राह्मण का महत्त्व अप्रभावित बना रहता है : बृउ०, १. ४. २३ माध्यं०, १. ४. ११ काण्व; तु०—कासं०, २८. ५; शब्रा०, १. २. ३. २; ५. ४. २. ७; किंतु द्र०—वासं०, १०. १८; शब्रा०, ५. ४. २. ३ जहाँ सोम को ब्राह्मणों का राजा माना गया है। किंतु साथ ही इस बात को साफ तौर से स्वीकार किया गया है कि पूर्ण समृद्धि के लिए **क्षत्रिय** और **ब्राह्मण** की एकता आवश्यक है : द्र० तैसं०, ५. १. १०. ३; कासं०, १९. १०; २७. ४; २९. १०; मैसं०, २. २. ३; २. ७. ७; ३. १. ९; ३. २. ३; वासं०, २०. २५; पंविब्रा०, १९. १७. ४; शब्रा०, ४. १. ४. ६; ५. ४. ४. १५; ऐब्रा०, ८. १०, १७, २४, २५; तु०—**पुरोहित**। ऐसा कहा गया है कि **क्षत्रिय राजा** और **सामन्त** ब्राह्मण को हानि तो पहुंचा सकते हैं, किंतु ऐसा करने पर उनका शीघ्र ही विनाश हो जाता है : मैसं०, १. ८. ७; पंविब्रा०, १८. १०. ८; अवे०, ५. १७. १९; तैब्रा०, १. ७. २. ६; शब्रा०, १३. १. ५. ४।

जैसे स्वर्ग में देवता हैं, वैसे ही पृथ्वी पर ब्राह्मण देवता हैं : अवे०, ५. ३. २; ६. १३. १; ६. ४४. २; १९. ६२. १; तु०—१९. ३२. ८; और ५. ११. ११; तैसं०, १. ७. ३. १; २. ५. ९. ६; कासं०, ८. १३; मैसं०, १. ४. ६; शब्रा०, २. २. २. ६; २. ४. ३. १४; ३. १. १. ११; ४. ३. ४. ४ :[3] किंतु ऋग्वेद में ऐसा कोई उल्लेख नहीं आता; तु०—ऋ० १. १३९. ७ और ९. ९९. ६।[1] जहाँ इस बात का उल्लेख मानना कठिन है।

ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९. २, (तु०—**वर्ण**) में ब्राह्मण को दान लेने वाला=आदायी और दान पीने वाला=आपायी कहा गया है। दो अन्य विशेषण **आवसायी** और **यथाकाम-प्रयाप्य** हैं, जो अत्यन्त दुर्बोध हैं। पहले का अर्थ हो सकता है "सर्वत्र रहने वाला"[2] अथवा "भोजन ढूंढने वाला[3]"; दूसरे का अर्थ किया गया है : "स्वेच्छया विचरण करने वाला"; किंतु यह राजा के उस अधिकार को उद्दिष्ट करता है, जो ब्राह्मण को रहने के लिए स्थान प्रदान करता है।

शतपथ ब्राह्मण ११. ५. ७. १ में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार गिनाये गए हैं :—(१) अर्चा (संमान), (२) दान, (३) अज्येयता (=अबाध्यता), (४) अवध्यता। साथ ही उसके कर्तव्य भी गिनाए गए हैं :—(५) ब्राह्मण्य (वंश-शुद्धि), (६) प्रतिरूप-चर्या (स्वजातीय कर्तव्यों का निर्वाह), (७) लोकपक्ति (लोक को विद्या द्वारा संस्कृत बनाना)[4]।

(१) **ब्राह्मण का संमान**—वैदिक साहित्य में ब्राह्मण के संमान के लिए निर्देश आम हैं : कासं०, २५. ३; तैब्रा०, १. १. १०. ६; शब्रा, २. ४. १. १०; २. ३. ४. ६ इत्यादि। उसे भगवान् कहा गया है : शब्रा०, १४. ६. १. २; जहाँ कहीं भी वह जाता है, उसे अच्छा भोजन एवं सुख-सुविधा दी जाती है : कासं०, १९. १२। निःसंदेह उसकी पवित्रता उसके ब्राह्मणत्व के विषय में किसी टीका-टिप्पणी से उसे बचाती है, जैसा कि पञ्चविंशब्राह्मण ६. ५. ८; कासं०, २७. २ में उल्लेख मिलता है।

(२) **ब्राह्मण को दान**—दान-स्तुति के सूक्त ऋग्वेद की विशेषता हैं; और ब्राह्मणों की दक्षिणा-लोलुपता प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्य में ही यह स्वीकार किया गया है कि **नाराशंसी** प्रायः झूठी होती थीं और उनका उद्देश्य दाताओं को प्रसन्न करना होता था : कासं०, १४. ५; तैब्रा० १३. २. ६. ७ फिर भी यह एक नियम था कि ब्राह्मण उस वस्तु को कदापि ग्रहण न करे, जिसे किसी ने अस्वीकार कर दिया हो; इससे इस बात का पता चलता है कि वे अपनी वृत्ति को सस्ता करने के खतरे से सावधान रहते

---

[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २३५; गेल्डनर, वैस्टू०, २. १४६ टि०—१; द्र०—**वर्ण**।

[2] वेबर, इस्टू०, १०. २७. एवं आगे।

[3] द्र—वेबर, उपर्युक्त, १०. ३५. ३६; फान श्रोदर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, १४६, १४७।

[1] द्र०—राथ, बोबू० "देव" शब्द; त्सिमर ने आले० २०६ में ऋ० १. १२८. ८ को उद्धृत किया है, किंतु वह भी अनिश्चित है।

[2] वेबर, इस्टू०, ९. ३२६।

[3] द्र०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ४३९।

[4] द्र०—वेबर, उपर्युक्त, १०. ४१ एवं आगे।

थे : शब्रा०, ३. ५. १. २५; तु०—बृउ० ३. १५. ८; शब्रा०, १३. ४. ३. १४। दान लेने का अधिकार एकमात्र ब्राह्मणों का था; और इसीलिए पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ७. १२. में यह व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी कि कैसे तरन्त और पुरुमीळ्ह ऋग्वेद के एक सूक्त ९. ५८. ३ की रचना करके दान लेने में समर्थ हुए थे। पुरोहितों को दिये जाने वाले उपहारों के वर्णन की अतिशयोक्ति से हमें अङ्कों के एक रोचक समूह (दशन्) की प्राप्ति हुई है। कुछ स्थलों (तैसं० २. ३. १२. १, २; कासं०, १२. २६) पर कुछ दानों—जैसे अश्व या अवि—के न देने का विधान है, किंतु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विधानों का पालन नहीं किया जाता था।

(३) **ब्राह्मणों की अज्येयता**—ब्राह्मण लोग **राज्य-शक्ति** के साधारण प्रयोग से अपने को मुक्त समझते थे। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. २९; १३. ६. २. १८; १३. ७. १. १३ में आता है कि जब राजा अपनी सारी भूमि को दान में दे देता है, तब भी ब्राह्मण की संपत्ति उसमें नहीं आई समझनी चाहिए। राजा सबकी निन्दा कर सकता है, किंतु ब्राह्मण की नहीं : शब्रा०, ५. ४. २. ३। राजा अपढ़ पुरोहित के अतिरिक्त और किसी ब्राह्मण को हानि पहुँचा कर सुरक्षित नहीं रह सकता : शब्रा०, १३. ४. २. १७। किसी भी वैधानिक विवाद में एक साक्षी को **अब्राह्मण** के विरुद्ध ब्राह्मण के पक्ष में बोलना चाहिए : तैसं०, २. ५. ११. ९। ब्राह्मण का समुचित पेय **सोम** है : शब्रा०, १२. ७. २. २; ऐब्रा०, ७. २९; तु०—कासं०, ११. ५; वासं०, ९. ४०; १०. १८ इत्यादि। **सुरा या परिस्रुत्** नहीं : शब्रा०, १२. ८. १. ५; १२. ९. १. १। उसके लिए कुछ मांस अग्राह्य हैं : शब्रा०, १. २. ३. ९; ७. ५. २. ३७; ऐब्रा०, २. ८। दूसरी ओर यज्ञाव-शिष्ट सभी पदार्थों को केवल वही खा सकता है, क्योंकि देवों द्वारा मुक्त भोजन को खाने की पवित्रता केवल उसी में है : शब्रा०, २. ३. १. ३९; २. ५. ३. १६; द्र०—पंविब्रा०, १०. ४. ५; १७. १. ९; ऐब्रा०, ४. ११। वह वैद्य नहीं बन सकता : शब्रा०, ४. १. ५. ८. १४; फिर भी जहाँ वैद्य के रूप में अश्विनों को अपवित्र माना गया है : ८. २. १. ३; १२. ७. १. ११; वहां वह वैद्य के पास रहकर उसकी सहायता करता है : तैसं०, ६. ४. ९. ३; (विपर्यास : ऋ० १०. ९७. २२ जहाँ इस पेशे में कोई अवगुण नहीं बताया गया है)। उसकी पत्नी और उसकी गौ दोनों पवित्र हैं : अवे०, ५. १७; ५. १८।

(४) **ब्राह्मणों की वध वशा**—तैत्तिरीय संहिता २. ६. १०. २ के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने पर शत (?) का दण्ड भुगतना पड़ता था; उसे चोट मारने पर एक सहस्र का; किंतु उसका रक्त लेने पर दण्ड आत्मिक होता था। शतपथ ब्राह्मण १३. ३. ५. ३ के अनुसार असली हत्या ब्रह्म-हत्या है। काठक संहिता ३१. ७; कपिसं०, ४७. ७; तैब्रा०, ३. २. ८. १२ में ब्राह्मण की हत्या भ्रूण-हत्या को छोड़कर और सभी हत्याओं से बढ़कर पाप मानी गई है। अज्ञात-लिङ्ग भ्रूण की हत्या ब्रह्म-हत्या के समान है : तैसं०, ६. ५. १०. २; कासं०, २७. ९[1]। ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त केवल अश्वमेध यज्ञ है : शब्रा०, १३. ३. १. १; १३. ५. ४. १ एवं आगे; किंतु तैत्तिरीय आरण्यक १०. ३८ के अनुसार कुछ अन्य यज्ञों से भी यह हो सकता है। यज्ञार्थ ब्राह्मण-वध का उल्लेख परवर्ती सूक्तों में मिलता है : शांश्रौसू०, १६. १०. १०; १६. १२. १६—२०[2]। **शुनःशेप** के रोचक कथानक में भी इसका संकेत है : ऐब्रा०, ७. १५; शांश्रौसू०, १५. २०। पुरोहित को अपने स्वामी से विश्वासघात करने पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता था : पंविब्रा०, १४. १६. ८।

(५) **जन्म की पवित्रता**—ऋषि के वंशज (आर्षेय) होने पर जब बल दिया जाता है, तब वंश की पवित्रता का महत्त्व भासित हो जाता है। तैसं०, ६. ६. १. ४; वासं०, ७. ४६; तैब्रा०, १. ४. ४. २; शब्रा०, ४. ३. ४. १९; १२. ४. ४. ६। किंतु दूसरी ओर विपरीत सिद्धान्त के चिह्न भी मौजूद हैं, जहाँ किसी वंश में उत्पत्ति को नहीं, अपितु ज्ञान को ऋषित्व का सच्चा लक्षण कहा गया है। इस कथन के समर्थन में **सत्यकाम जाबाल** के शिष्य-रूप में स्वीकार किये जाने को रखा जा सकता है, जिसके वंश का पता नहीं था; उसकी माता दासी थी, और उसका कई व्यक्तियों से संबन्ध रहा था : तैसं०, ६. ६. १. ४; कासं०, ३०. १; मैसं०, ४. ८. १; छाउ०, ६. ४. ४। शतपथ ब्राह्मण में शिष्य को ग्रहण करने के लिए केवल उसका नाम पर्याप्त बताया गया है : शब्रा०, ११. ५. ४. १; तु०—काश्रौसू०, १. ६. ४ पर भाष्य; जो भी स्तोमभागों='वसिष्ठों की विशेषता' को पढ़ता है, वही वसिष्ठ है[3]। इसी प्रकार ऋग्वेद-ब्राह्मणों में **कवष** को उसे दासी पुत्र कह कर ताना मारा गया है : ऐब्रा०, २. १९; कौब्रा०, १२. ३[4]। **वत्स** ने अपने आप

---

[1] वेबर, इस्टू०, ९. ८१; १४०. ६६।

[2] वेबर, त्सादामौगे०, १८. २६८, २६९।

[3] तु०—वेबर, इस्टू०, १०. ७३।

[4] वेबर, उपर्युक्त, २. ३११।

को उसी प्रकार के आक्षेप से मुक्त करने के लिए अग्नि-परीक्षा दी थी : पंविब्रा०, १४. ६. ६। साथ ही एक छोटा सा यज्ञ-संस्कार उत्पत्ति-संबन्धी संदेहों को दूर करने के लिए पर्याप्त होता था : तैसं०, ६. २. ६. ४; कासं०, २५. २; पंविब्रा०, २३. ४. २। इन परिस्थितियों में इस बात में संदेह है कि क्या उन प्रवर-सूचियों को महत्त्व दिया जाय, जिनमें पुरोहित के पूर्वजों का उल्लेख होतृ और अध्वर्यु ऋत्विज् किया करते थे[१]। फिर भी यज्ञ के कई भागों में दो या अधिक वंश-परंपराओं का ज्ञान आवश्यक होता था : तैसं०, २. १. ५, ५; कासं०, १३. ५। एक प्रकार के यज्ञोत्सव में दश सोमप पूर्वजों का उल्लेख आवश्यक माना गया है, किंतु केवल मुख्यार्थ-विधान भी क्षम्य है : शब्रा०, ५. ४. ५. ४।[२] विविध शाखाओं–जैसे वसिष्ठों और विश्वामित्रों-के यज्ञ-विधानों में अन्तर है।

(६) **ब्राह्मण का आचरण**—ब्राह्मण को अपनी सर्वोच्चता का एक मान वनाए रखना चाहिए।[3] उसे सबके प्रति दयालु और नम्र होना चाहिये; यज्ञ करना और दान लेना चाहिए : शब्रा०, २. ३. २. १२; २. ३. ४. ६; १३. १. ५. ६। ब्राह्मणकी भाषा की पवित्रता पर अधिक बल दिया गया है : शब्रा०, ३. २. १. २४; तु०—४. १. ३. १७; नि०, १३. ९; कासं०, १४. ५; ३७. २; वासं०, २३. ६२। **विश्वन्तर** ने **श्यापर्णों** की अपूता वाक् को क्षमा कर दिया था, और उन्हें अपने परिचर-वर्ग से पृथक् नहीं किया था : ऐब्रा०, ७. २७।[४] ब्राह्मणों को ज्ञान और भिक्षु-जीवन की उत्कृष्ट लालसा रहती थी : बृउ०, ३. ८. ८; ५. १. १; ३. ४. १; ४. ४. २६। वे झूठे ब्राह्मण हैं, जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते : बृउ०, ६. ४. ४; तु०—**ब्रह्मबन्धु**। साथ ही कर्तव्य-पालन न करने का प्रायश्चित्त मामूली रखा गया है : तैआ०, २. १८।

(७) **ब्राह्मणों का अध्ययन**—ब्राह्मण का उद्देश्य पवित्र ज्ञान में प्रमुखता (ब्रह्मवर्चस्) प्राप्त करना रहता था, जैसा कि वैदिक साहित्य में जगह-जगह कहा गया है : तैसं०, ४. १. ७. १; ७. ५. १८. १; कासं०, अश्वमेध, ५. १४; वासं०, २२. २२; २७. २; तैब्रा०, ३. ८. १३. १; ऐब्रा०, ४. ११. ६–९; शब्रा०, १३. २. ६. १०; १०. ३. ५. १६; ११. ४. ४. १; पंविब्रा०, ६. ३. ५। यह विशेषता ब्राह्मण तक ही सीमित नहीं है; राजा भी इसे प्राप्त कर सकता हैं, किंतु यह क्षत्रिय के लिये विशेष उपयोगी नहीं है : शब्रा०, २. १. ३. ६; १३. १. ५. ३; १३. २. ६. ९। अनेक याज्ञिक कृत्यों को ब्रह्मवर्चस् देने वाले कहा गया है : कासं०, ३७. ७; तैब्रा, २. ७. १. १; पंविब्रा०, २३. ७. ३ इत्यादि। किंतु अधिक बल पावन साहित्य के अध्ययन पर दिया गया है; ऐसे स्वाध्याय की बार-बार महत्ता बताई गई है : शब्रा०, १. ७. २. ३; ११. ३. ३. ३–६, ११. ५. ७. १०।

अध्ययन का विशेष नाम स्वाध्याय है। शतपथ ब्राह्मण में उसके महत्त्व पर बहुत कुछ कहा गया है : शब्रा०, ११. ५. ६. ३, ९; ११. ५. ७. १; तैआ०, २. १३। कहा गया है कि विद्वान् श्रोत्रिय का आनन्द सर्वश्रेष्ठ आनन्द है : बृउ०, ४. ३. ३५–३९; तैआ०, ९. ८। **नाक मौद्गल्य** का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन वास्तविक तप है : तैआ०, ७. ८. १०। त्रयी विद्या का स्वाध्याय यहाँ विशेषतः अभीष्ट है। ऋक्, यजुष् और सामन् के ज्ञान को त्रयी विद्या कहा गया है। इनके जानने वाले को **त्रिशुक्रिय** या **त्रिशुक्र** अर्थात् **त्रिपवित्र** कहा गया है : शब्रा०, १. १. ४. २, ३; २. ६. २–७; ४. ६. ७. १, २; ५. ५. ५. ९; ६. ३. १. १०, ११, २०; १०. ५. २. १, २; ११. ५. ४. १८; १२. ३. ३. २ इत्यादि; कासं०, ३७. ७; तैब्रा०, २. ७. १. २। शतपथ ब्राह्मण ११. ५. ७. ५–८, तैत्तिरीय आरण्यक २. ९. १० और छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में अध्ययन के और विषय भी गिनाए गए हैं। (द्रष्टव्य—**इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी, ब्रह्मोद्य, अनुशासन, अनुव्याख्यान, अन्वाख्यान, कल्प, २. ब्राह्मण, विद्या, क्षत्र-विद्या, देवजनविद्या, नक्षत्रविद्या, भूतविद्या, सर्पविद्या, अथर्वांगिरसः, दैव, निधि, पित्र्य, राशि सूत्र** इत्यादि।

तैत्तिरीय आरण्यक २. ११, १२–१५ और सूत्रों में स्वाध्याय के उपयुक्त प्रदेश एवं समय का निर्देश मिलता है। यदि ग्राम में स्वाध्याय करना हो तो मौन होकर करना चाहिए, और यदि बाहर करना हो तो उच्चारण के साथ।

उन व्यक्तियों से भी अध्ययन करने की आशा की गई है, जो साधारणतः आचार्य नहीं हैं, जैसे चरक लोग, जिनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण ४, २. ४. १ में सूचना के माध्यम के रूप में किया गया है। इस प्रसङ्ग में राजाओं से अध्ययन करने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख भी किया जा सकता है, किंतु उनका एकान्त महत्त्व संदिग्ध है; क्योंकि ब्राह्मण लोग अपने आश्रयदाताओं को पावन ज्ञान-विज्ञान

[१] द्र०—वेबर, उपर्युक्त, ९. ३२१; १०. ७८–८१; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत-लिटरेचर, ३८० एवं आगे। [२] वेबर, उपर्युक्त, १०. ८५–८८।

[३] द्र०—वेबर, उपर्युक्त, १०. ८८, ९६; मैक्समूलर, एंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४०७ एवं आगे।

[४] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ४३८।

में अभिरुचि रखने वाला दिखाने के लिए भी ऐसा कह सकते हैं। इसलिए इन स्थलों पर क्षत्रियों की ओर से स्वतन्त्र अध्ययन की बात सोचना आवश्यक नहीं है; तु०—**क्षत्रिय** और **वर्ण**। **याज्ञवल्क्य** ने **जनक** से शिक्षा ग्रहण की थी, उद्दालक **आरुणि** एवं अन्य दो ब्राह्मणों ने **प्रवाहण जैवलि** से, दृप्तिबालाकि **गार्ग्य** ने **अजातशत्रु** से; **अरुण** के नेतृत्व में पांच ब्राह्मणों ने **अश्वपति कैकेय** से शिक्षा ग्रहण की थी : शब्रा०, ११. ६. २. ५; बृउ०, ६. १. ११; छाउ०, ५. ३. १ और १. ८. १;[1] बृउ०, २. १. १; कौउ०, ४. १; शब्रा०, १०. ६. १. २। कुछ विज्ञप्तियों से ज्ञान के वास्तविक शिक्षकों की सूचना मिलती है। प्रव्रजनशील विद्वान् सारे देश में फिरते रहते थे, और उन विवादों एवं विमर्शों में भाग लेते थे, जिनके लिए पुरस्कार निर्धारित रहते थे : बृउ०, ३. ३. १; ३. ७. १; शब्रा०, ११. ४. १. १; **जनक** जैसे राजा विद्वान् ब्राह्मणों को दान देते थे; **अजातशत्रु** उनकी उदारता से जलते थे और उनका अनुकरण करते थे : शब्रा०, ११. ६. ३. १; बृउ०, ६. १. १९; ६. १. २०, २९। विद्वानों में विदुषी महिलाओं का भी उल्लेख मिलता है : ऐब्रा०, ५. २९; कौब्रा०, २. ९; बृउ०, ३. ३. १; ३. ७. १; आगृसू०, ३. ४. ४; शांगृसू०, ४. १०।

एक विशेष प्रकार का विमर्श **ब्रह्मोद्य** कहाता था, जिसके लिए अश्वमेध में विशेष अवसर मिलता था : शब्रा०, १३. ५. २. ११। दशरात्र में भी उसका प्रसङ्ग आता था : शब्रा०, ४. ६. ९. २०। अध्ययन का पुरस्कार था कवि या विप्र की उपाधि प्राप्त करना : तैसं०, २. ५. ९. १; तैब्रा०, ३. ५. ३. १; शब्रा०, १. ४. २. ७; ३. ५. ३. १२; तु०—बृउ०, ६. ४. २९।

(८) **ब्राह्मणों के कार्य**—ब्राह्मण को केवल अपना ही निर्माण नहीं करना होता था, अपितु उसे अध्यापक, ऋत्विज् या पुरोहित के रूप में अपनी विद्याओं से समाज को भी लाभान्वित करना होता था।

अध्यापक के रूप में ब्राह्मण अपने पुत्र को भी विद्या और याज्ञिक ज्ञान में शिक्षित करता था : शब्रा०, १. ६. २. ४। वैदिक ग्रन्थों में इसके उदाहरण अनेक हैं : **आरुणि** और **श्वतकेतु** : बृउ०, ६. १. १ माध्यं०, ६. २. १ काण्व, या पौराणिक **वरुण** और **भृगु** : शब्रा०, ११. ६. १. १। इस तथ्य का सामवेद के वंश-ब्राह्मण तथा शांखायन आरण्यक १५. १ में आने वाली आचार्यों की वंश-सूची से समर्थन होता है। दूसरी ओर इन वंश-सूचियों और शतपथ ब्राह्मण की वंश-सूचियों से यह झलकता है कि पिता अपने पुत्र को किसी गुरु के यहाँ भेजकर पढ़ाना ही अच्छा समझता था। गुरु और शिष्य के संबन्ध का वर्णन **ब्रह्मचर्य** के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। एक अध्यापक कई विद्यार्थियों को पढ़ा सकता था : तैआ०, ७. ३। उसका कर्तव्य था कि वह उन्हें मन से पढ़ाए : तैआ०, ७. ४।[1] वह अपने पास संवत्सर तक रहने वाले विद्यार्थी को सब कुछ समझा देने के लिए बाध्य होता था : शब्रा०, १४. १. १. २६, २७; तु०—ऐआ०, ५. ३. ३। संवत्सर वाले संदर्भ से यह भी सूचित होता है कि एक विद्यार्थी को अपना गुरु बदलने का अधिकार रहता था। फिर भी विद्या के कुछ ऐसे पठनीय विषय हैं, जिन्हें गुप्त रखने एवं योग्य अधिकारी को ही बताने का निर्देश मिलता है; **वशिष्ठ** और **स्तोमभाग**; पंविब्रा०, १५. ५. २४; तैब्रा०, ३. ५. २. १; कासं०, ३७. १७; **प्रवाहण जैवलि** और **ब्रह्मज्ञान** : बृउ०, ६. १. ११; छाउ०, ५. ३।[2] अध्यापन के लिए उपयुक्त समय एवं शैली का उल्लेख सूत्रों में मिलता है, पुराने साहित्य में नहीं; तु०—ऋ० प्रा०, १५. १।

पुरोहित के रूप में एक ब्राह्मण बृहद् यज्ञों में भाग लेता था। छोटे गृह्य अनुष्ठान उसकी सहायता के बिना भी संपन्न कर लिये जाते थे; किंतु बड़े श्रौतयज्ञों में उसकी सहायता आवश्यक होती थी। ऋत्विजों की संख्या के संबन्ध में विभिन्न मत हैं। कल्प-सूत्रों के अनुसार सबसे बड़े यज्ञ में **सोलह ऋत्विज्** होने चाहियें (द्र०—**ऋत्विज्**)। किंतु अन्य यज्ञ **चार, पाँच, छः, सात**, एवं **दश** ब्राह्मणों की सहायता से किये जा सकते थे।[3] इन **सोलह** के अतिरिक्त

[1] तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ४३६, ५१४–५१६।

[1] इस्तू०, २. २११।

[2] तु०—वेबर, इस्तू०, १०. १२८; बोह्टलिङ्ग्क, ट्रांसलेशन आफ् दि बृउ०, ३. ८. ९।

[3] **चार ऋत्विज्** : तैब्रा०, २. ३. ६. १–४; पंविब्रा०, २५. ४. २ **अध्वर्यु, होतृ, अग्नीध्** और **उपवक्तृ**, द्र०—वेबर, उपर्युक्त, १०. १३९ टि०–४। **पाँच ऋत्विज्** : उपर्युक्त चार के साथ एक **अध्वर्यु** और : कासं०, ९. १३; पंविब्रा०, २५. ४. २; **छः ऋत्विज्**; अध्वर्यु, होतृ, ब्रह्मन्, प्रतिप्रस्थातृ, मैत्रावरुण, आग्नीध्र; **सात ऋत्विज्**; उपर्युक्त पाँच ऋत्विजों के साथ अभिगरी अर्थात् अभिगर और अपगर : कासं०, ९. १३; तैब्रा० २. २. २. ५; तैआ० ३. ५; पंविब्रा०, २५. ४. २; **दश ऋत्विज्**; उपर्युक्त चार के साथ अन्य छः जिनका उल्लेख नहीं है : कासं०, ९. ८. १३–१६; तैब्रा०, २. २. ४. १; २. ३. ६. ४; तैआ०, ३. १; ऐब्रा०, ५. २५; पंविब्रा०, २५. ४. २।

कौशिकियों के अनुसार एक सत्रहवें 'सदस्य' का भी उल्लेख है; क्योंकि वह सदस् (आसन) पर बैठ कर यज्ञ के कार्यों को देखता रहता है : शब्रा०, १०. ४. २. १९, कीथ, ऐआ० ३७। पंचविंश ब्राह्मण २५. १४. ३ के एक सर्प-सूत्र में सोलह के अतिरिक्त तीन और ऋत्विजों का उल्लेख है, जिनमें एक अतिरिक्त **उन्नेतृ**, एक **अभिगर** और एक **अपगर** होता था। परवर्ती यज्ञ-कल्प के अनुसार ब्रह्मन् सर्वोपरि था, किंतु यह आरंभिक व्यवस्था नहीं है; द्र०—**ब्रह्मन्**।

यदि यज्ञ उचित रूप से संपन्न हो जाता था, तो वह सर्वप्रथम यजमान को लाभ पहुंचाता था; किंतु पुरोहित दक्षिणा लेने के साथ-साथ यज्ञ से प्राप्त होने वाले लाभ का भी भागी होता था : शब्रा०, १. ६. १. २०; १. ९. १. १२; २. २. २. ७; ३. ४. २. १५; ४. २. ५. ९, १०; ८. ५. ८; ९. ५. २. १६; १२. ८. १. १७। यजमान और पुरोहितों के विवाद भी होते थे, जैसे **विश्वन्तर** और **श्यापर्णों** का : ऐब्रा०, ७. २७ एवं आगे; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ३४६ एवं आगे; **जनमेजय** और **असितमृगों** का : ऐब्रा०, ७. २७; **ऐषावीरों** को अनभिलषित पुरोहित कहा गया है; तु०—शब्रा०, ११. २. ७. ३२ किंतु वेबर ने **ऐषावीर** को व्यक्तिवाचक शब्द नहीं माना है, वे इसे "अवमान्य" के अर्थ में ग्रहण करते हैं[१]। एगलिंग ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[२]। **विश्वामित्र** ने **सुदास्** के पुरोहित—पद को अलंकृत किया था, किंतु **वसिष्ठ** के लिए उन्होंने इस स्थान को छोड़ दिया था।

पुरोहित का ओहदा अन्य ब्राह्मणों से बढ़कर होता था; क्योंकि वह अपने राजा के बड़े यज्ञ में भाग लेने के अतिरिक्त उसके गृह्य पूजनादि में भी सहायक बनता था। इसीलिए उसका धार्मिक कृत्यों में राजा के ऊपर प्रभाव रहता था। विप्रों की गृह्य एवं धार्मिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति भी पुरोहित में निहित रहती थी।

वैदिक साहित्य में उस प्रथा का उल्लेख नहीं है, जिसके अनुसार जीवन का एक भाग ब्रह्मचारी के रूप में एवं दूसरा गृहस्थ के रूप में बिताने के बाद एक व्यक्ति के लिये साधु का जीवन बिताना वाञ्छनीय होता था (बाद में इसके दो भाग वानप्रस्थ और संन्यास बन गए थे)[३]। **याज्ञवल्क्य** की कथा यह प्रकट करती है कि सर्वोच्च की अधीति के लिए जीवन के भोगों एवं स्त्री तक को त्याग

[१] इस्टू०, १०. १५३ टि०—१।
[२] सेबुई०; ४४. ४५ टि०—२।
[३] द्र०—डायसन, फिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स, ३७२ एवं आगे।

करके साधना करनी पड़ती है : बृउ०, ३. ४. १; ४. ५. १; द्र०—३. ५. १। बौद्ध काल में वही अवस्था ब्राह्मणेतरों के लिए भी आवश्यक बन गई है[१]। इस विषय में बौद्ध-ग्रन्थों का कुछ सीमा तक ग्रीक साहित्य से समर्थन होता है[२]। आर्षकाव्य-काल में यही प्रथा राजाओं के सार्वजनिक जीवन के अवकाश ग्रहण करने पर पाई जाती है[३]।

ग्रीक साक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग अनेक धन्धे करते थे[४]। बौद्ध ग्रन्थों से इस बात का समर्थन होता है[५]। यह कहना कठिन है कि वैदिक युग में इसे कहाँ तक चालू माना जा सकता है। ड्रुइड्स के निकट के सादृश्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण लोग ज्यौतिष के साथ-साथ सभी विद्या-संबन्धी कार्यों में लगे रहते थे[६]। वैदिक ग्रन्थों में इस कथन का समर्थन भी मिलता है; उदाहरणार्थ, एक ऋग्वेदीय ऋषि कहता है कि मैं कवि हूँ, मेरे पिता **भिषज्** हैं और मेरी माता **उपलप्रक्षिणी** हैं : ऋ० ९. ११२। इससे प्रकट होता है कि एक ब्राह्मण के वैद्य होने पर भी उसकी पत्नी साधारण गृहकार्यों में संलग्न रहती थी। इसी प्रकार संभवतः एक पुरोहित, राजा को प्रार्थना द्वारा सहायता पहुँचाता था, जैसे **विश्वामित्र** और तदनन्तर **वसिष्ठ** : ऋ० ३. ३३. ५३; ७. १८। किंतु इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरोहित परस्पर लड़ते थे। उनके कृषक या व्यापारी होने का साक्ष्य नहीं मिलता; किंतु वे पशुपालन अवश्य करते थे। ब्रह्मचारी का कर्तव्य गुरु के पशुओं की रक्षा करना था : छाउ०, ४. ४. ५; ऐआ०, ३. १ ६; फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वे समय पड़ने पर कृषि एवं वाणिज्य भी कर लिया करते थे, जैसा कि वे बाद में निश्चित रूप से करने लगे थे। किंतु यह स्मरणीय है कि बौद्ध काल की अपेक्षा वैदिक युग के

[१] द्र०—फिक, दी सोशियाल ग्लीडरुङ्ग, ४०, एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ७२ एवं आगे।
[२] एरियन, इण्डिका, १२. ८. ९; स्ट्रैबो, १५. १. ४९, ६०।
[३] हापकिन्स, जअओसो०, १३. १७९ एवं आगे।
[४] द्र०—फिक, उपर्युक्त।
[५] रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट, इण्डिया, ५७।
[६] द्र०—सीजर, बेल्युम गैलिक्युम, ६. १४; ड्रुइड्स लड़ते नहीं थे; बहुत वर्षों तक पढ़ते थे; यज्ञ और विद्या के संबन्ध में रहस्यात्मक नियमों का पालन करते थे; लिखने का प्रयोग नहीं करते थे; और परलोक-गमन में विश्वास रखते थे। तु०—वेबर, इस्टू०, ५. १९।

ब्राह्मणों में रक्त की शुद्धि अधिक थी और जीवन का दबाव कम था। बौद्ध काल में तो यज्ञ का संमान ही उठ चला था।

ब्राह्मणों के ज्योतिष्-संबन्धी कार्यों का समर्थन तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. ३. ३ के उस कथन से होता है, जिसमें ब्रह्मन् को २८ वाँ नक्षत्र बताया गया है।[1] यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण लोग अवगुणों के होने पर भी वैदिक जीवन के बौद्धिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। क्षत्रियों ने उस क्षेत्र में जो कुछ कार्य किया, वह उनका गौण प्रयास था। यह अनुमान स्वाभाविक है कि ब्राह्मण लोग गीत बनाते थे, जिन्हें आर्ष-काव्य की पूर्व रूप-रेखा कहा जा सकता है। यद्यपि ये अब प्राप्य नहीं हैं, तथापि इनमें से कुछ गाथाएं दाताओं की प्रशंसा के रूप में ब्राह्मणों में कहीं-कहीं आ गई हैं। शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १४–१७ की एक पौराणिक कथा में यह दिखलाया गया है कि सभ्यता का प्रसार ब्राह्मणों द्वारा ही हुआ है। कोसल और विदेह निःसंदेह पवित्र ब्राह्मणों के प्रभाव से ही जन-संपन्न एवं सभ्य बनाए गए थे। इस बात में संदेह करने की आवश्यकता नहीं है कि अब्राह्मण आदिवासियों ने भी बौद्धिक एवं भौतिक सभ्यता प्राप्त की थी; द्र०—व्रात्य; किंतु उनकी वह उपलब्धि ब्राह्मणों से ऊन थी, ऐसा मानना तर्क-संगत है; क्योंकि हिन्दुत्व का इतिहास ब्राह्मणों की, शस्त्र से नहीं, अपितु ज्ञान से की गई आर्य और अनार्य जातियों पर विजय का इतिहास है।

तु० 'ब्राह्मणों वै सर्वा देवताः' तैब्रा०, १. ४. ४. २; 'एते वे देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः' गोब्रा०, २. १. ६; 'एवा वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः' ऐब्रा०, ७. १९; 'अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः' ऐब्रा०, १. १; 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः' तैब्रा०, १. २. ६; 'आग्नेयो ब्राह्मणः' तांब्रा० १५. ४. ८; तैब्रा०, २. २. ३. १; 'एष वा अग्निर्वैश्वानरः, यद् ब्राह्मणः' तैब्रा०, ३. ७. ३. २; 'एष ह वै सांतपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणो यस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनय—नाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सांतमनः' गोपू०, २. २३; 'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत' कौब्रा०, ३. २; 'ब्रह्मणो वा एतद् रूपं यद् ब्राह्मणः' शब्रा०, १३. १. ५. २; 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः' तैब्रा०, ३. १. १४. २; शब्रा०, ५. १. ५. २; 'एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा इति···तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः सोमराजा हि भवति' शब्रा०, ५. ४. २. ३; 'सोमो वै ब्राह्मणः' तांब्रा०, २३. १६. ५; 'अशिव इव वा एष भक्षो यत् सुरा ब्राह्मणस्य' शब्रा०, १२. ८. १. ५; 'स (क्षत्रियः) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति' ऐब्रा०, ७. २३; 'तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते' शब्रा०, ३. २. १. ४०; 'य उ वै कश्च यजते ब्राह्मणीभूयैव यजते' शब्रा० १३. ४. १. ३; 'यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः' शब्रा०, ५. ६. ६. ५; 'तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनूयन्ति' शब्रा०, ६. ४. ४. १३; 'तस्मान्न कदाचन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यं च शूद्रं च पश्चादन्वितः' शब्रा०, ६. ४. ४. १३; 'यो वै राजा ब्राह्मणा दबलीयान् अमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति' शब्रा०, ५. ४. ४. १५; 'यज्ञ उवाच ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनु तृप्येयमिति' शब्रा०, १. ७. ३. २८; 'तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव दैवं दद्यान्न पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञ आशिषः सर्गंगमा भवन्ति' गोपू०, २. २३; 'सर्वस्यैष न वेद यो ब्राह्मणः सन्नश्वमेधस्य न वेद। सोऽब्राह्मणः' शब्रा०, १३. ४. २. १७; 'ब्राह्मणो वा अष्टाविंशो नक्षत्राणाम्' तैब्रा०, १. ५. ३. ४; 'गायत्रो वै ब्राह्मणः' ऐब्रा०, १. २८; 'तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः' तांब्रा०, ६. १. ६; 'ब्राह्मणो मनुष्याणां (मुखम्)' तांब्रा०, ६. १. ६; 'ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता' शब्रा०, १. १. ४. ६; वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः' तैब्रा०, १. १. २. ६; 'सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः' तैब्रा०, ३. १२. १. २; 'ब्राह्मणेषु ह पशवोऽभविष्यन्' शब्रा०, ४. ४. १. १८।

२. ब्राह्मण—धार्मिक व्याख्या। वैदिक ग्रन्थ-विशेषों का यह नाम है। इस रूप में इनका उल्लेख निरुक्त २. १६; १३. ७ एवं तैत्तिरीय आरण्यक २. १० में और बाद में सूत्रों में आता है, जहाँ ब्राह्मणों के नाम

[1] तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३०६, ३११; इस्तू०, १०. ४०। तु०—वेबर, इस्तू०, ९. २५७, २७७, २७८; और ऐब्रा०, ३. ४४; प्रायः सब कुछ जो ब्राह्मणों के संबन्ध में कहा जा सकता है, वेबर की इस्तू०, १०. ४०–१५८ में कथित है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २२०–२२६; फिक, दी सोशयाल ग्लीडरुङ्ग (केवल बौद्ध-काल के लिए प्रमाण अनिश्चित और बहुत बाद का है); हापकिन्स, जअओसो०, १३. ८२, १८२ इत्यादि। (आर्षकाव्य में ब्राह्मणों के वर्णन के संबन्ध में); दी म्युचुअल रिलेशन आफ दि फोर कास्ट्स एकार्डिंग टू दी मानव धर्मशास्त्र (धर्म-संबन्धी दृष्टिकोण के लिए); म्यूर ने (संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, २४८ एवं आगे) ऋग्वेद में पौरोहित्य के संबन्ध में विचार किया है; त्सिमर ने (आ०ले०, १९७–२१२) तथ्यों का उत्तम सारांश दिया है।

आते हैं। तु०—ऐब्रा०, १. २५. १५; ३. ४५. ८; ६. २५. १; तैसं०, ३. १. ९. ५; ३. ५. २. १; शब्रा०, ३. २. ४. १; कौब्रा०, और शांआ० १ और २।

३. **ब्राह्मण**—राथ ने वोबू० में इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद १. १५. ५; २. ६६. ५ में एवं अथर्ववेद २०. २. ३ में "ब्रह्मन् का सोम का प्याला" यह किया है। द्र०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स १२, २५३. टि०—२६।

ब्राह्मणाच्छंसिन्—ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मन् के पश्चात् उच्चारण करने वाला। ब्राह्मणों में यह एक ऋत्विज् का नाम है: ऐब्रा०, ६. ४. २; ६. ३. ४; ६. १०. १; ६. १८. ५; ७. १. २; कौब्रा०, २८. ३; तैब्रा०, १. ७. ६. १; शब्रा०, ४. २. ३. १३ इत्यादि। ऋत्विजों के पारिभाषिक वर्गीकरण में इसे ब्रह्मन् के साथ रखा गया है[1]; यह होत्रक या होता का सहायक होता था: आश्वश्रौसू०, ५. १०. १०[2]। ओल्डेनबर्ग के अनुसार ऋग्वेद में उसे ब्रह्मन् कहा गया है[3]। गेल्डनर ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है, वे ब्रह्मन् को केवल अधीक्षक ऋत्विज् या ऋत्विज् मात्र मानते हैं[4]। तु०—'ऐन्द्राबार्हस्पत्यं ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थं भवति' गोउब्रा०, ५. १४; 'आत्मा वै ब्राह्मणाच्छंसी' कौब्रा० २४. १।

ब्लेष्क—काठक संहिता २३. ६; ३७. १३, १४ में यह शब्द गले में बांध कर फांसी लगाने वाली रस्सी या पाश का वाचक है। मैत्रायणी संहिता ३. ६. १० में इसे ब्लेष्क पढ़ा गया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र १०. १९. १ में मेष्क आता है।

भ

भंसस्—द्र०—शरीर।

भक्ष—'प्राणो वै भक्षः' शब्रा० ४. २. १. २९।

१. **भग**—ऋग्वेद २. ३४. ८ में हिल्लेब्राण्ड्ट[5] के अनुसार रथ के किसी भाग का यह नाम है।

२. **भग**—आदित्यों में से एक देवता भग हैं। इनका अनेक बार ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में उल्लेख मिलता है। द्र० ऋ० २. २७. १; ७. ४१. २; अवे०, ६. ४. २; पंविब्रा०, १२. १२. ४; ऋ० ५. ४६. ६; ५. ४९. १; ७. १५. ११ इत्यादि; विशेष विवरण: मैकडानल, वैमा०

[1] वेबर, इस्टू०, १०. १४४।

[2] वेबर, उपर्युक्त, ३७४–३७६।

[3] रिलिजन देस वेद, ३९६।

[4] द्र०—वैस्टू०, २. १४५ एवं आगे; तु०—पुरोहित।

[5] वैदिश्शे मिथो०, ३. ९५।

३. **भग**—'यज्ञो भगः' शब्रा. ६. ३. १. १९; 'तस्य (भगस्य) चक्षुः परापतत् तस्मादाहुरन्धो भग इति' गोब्रा० २. १. २; 'तस्य (भगस्य) अक्षिणी निर्जघान तस्मादाहुरन्धो भग इति' कौब्रा०, ६. १३; 'भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ४।

भगिनी—भाग्यशालिनी=बहिन। भाई के संबन्ध से बहन को भगिनी कहा गया है: निरुक्त, ३. ६।

भगीरथ ऐक्ष्वाक—इक्ष्वाकु का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. ६. १, २ में एक राजा का यह नाम है। उन्हें कुरु-पञ्चालों का मित्र बताया गया है; इससे प्राचीन काल में इक्ष्वाकुओं का संबन्ध कुरु-पञ्चालों से प्रतीत होता है, न कि बौद्ध काल की भांति पूर्वीय जनों से।

भङ्ग—भङ्ग या भांग का उल्लेख अथर्ववेद ११. ६. १५ (संभवतः शाँ०आ० १२. १४) में मिलता है। मादक अर्थ में यह ऋग्वेद ९. ६१. १३ में सोम का विशेषण है; बाद में यह भांग का वाचक बन जाता है। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टीक्विटीज, २९९; त्सिमर, आले०, ६८; ग्रियर्सन, इंडियन ऐंटीक्वैरी, २३. २६०।

भङ्गश्रवस्—काठक संहिता ३८. १२ में एक व्यक्ति का नाम है। उसके समानान्तर तैत्तिरीय आरण्यक में भङ्ग्यश्रवस् नाम आता है।

भङ्गाश्विन—बौधायन श्रौत-सूत्र २०. १२ में ऋतुपर्ण के पिता का नाम भङ्गाश्विन है। महाभारत ३. २७. ४५ में उन्हें भांगासुरि कहा गया है। आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र २१. २०[1] में भङ्गाश्विनी के रूप में 'ऋतुपर्ण-कयोवधी' का उल्लेख है।

भङ्ग्यश्रवस्—तैत्तिरीय आरण्यक ६. ५. २ में एक व्यक्ति का नाम भङ्ग्यश्रवस् है। द्र०—वेबर, इस्टू०, १. ७८; तु० भङ्गश्रवस्।

भजेरथ—ऋग्वेद १०. ६. २ में भजेरथ शब्द आया है; लुड्विग[2] के अनुसार यह किसी स्थान का नाम है। ग्रिफिथ[3] को संदेह है कि यह स्थान का नाम है अथवा किसी व्यक्ति का। राथ[4] के अनुसार यह अशुद्ध पाठ है[5]।

भद्र—साम-विशेष। तु० 'गोतमस्य भद्रं भवति' तांब्रा०, १३. १२. ६; 'एतेन वै गोतमो जेमानं महिमान-

[1] द्र.—कालण्ड, त्सादामोगे० ५७. ७४५.

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १३८, १६५।

[3] हिम्स आ० दि ऋ०, २. ४६३।

[4] वोबू०।

[5] ग्रासमान, बोर्टेबूख का मत है कि 'भजे' और 'रथस्य सत्पतिम्' अलग-अलग पढ़ा जाना चाहिए।

मगच्छत् तस्माद् ये च पराञ्चो गोतमाद् ये चार्वाञ्चस्त उभये गोतम ऋषयो ब्रुवते तांब्रा०, १३. १२. ८।

भद्रपदा—द्र०—नक्षत्र।

भद्रसेन आजातशत्रव—अजातशत्रु का वंशज। यह एक राजा का नाम है, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण ५. ५. ५. १४ के अनुसार **उद्दालक** ने मन्त्र-मुग्ध कर दिया था।

भद्रा—तु० 'भद्रा तत्सोमः' ऐब्रा०, ५. २५।

भयद आसमात्य—असमाति का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. ८. ७ एक राजा का नाम भयद आसमात्य है; **अर्तल**[१] के अनुसार 'अभयद' नाम है; किंतु उनका यह कहना चिन्त्य है, क्योंकि पुराणों में भी भयद नाम आया है।

भयमान सायण के अनुसार ऋग्वेद १. १००. १७ में एक व्यक्ति का नाम भयमान ह; अनुक्रमणी के अनुसार वे ही उस सूक्त के ऋषि हैं; किंतु यह व्याख्या संदिग्ध है। तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स १[२]. २६६।

भर—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर भर शब्द घुड़दौड़ के पुरस्कार के अर्थ में आया है: ऋ० ५. २९. ८, ९. १६. ५. इत्यादि। तु०—**अजि**।

भरणी—द्र०—नक्षत्र।

भरत—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण जन का नाम भरत है। ऋग्वेद के तृतीय और सप्तम मण्डल में भरतों का नाम **सुदास्** और **तृत्सुओं** के प्रसङ्ग में आया है, जब कि सप्तम मण्डल में **दिवोदास** के प्रसङ्ग में: ऋ० ३. ५३. ९, १२, २४; ३. ३३. ११, १२. [तु०—भरतर्षभ **विश्वामित्र**: ऐब्रा०, ८. १७. ७]; ६. ८. ४; ६. ३३. ६ यहाँ **भरतों** की हार और **वसिष्ठ** द्वारा उसके प्रतिकार का उल्लेख है, जैसा कि पहले नहीं माना जाता था।[3] **भरतों** की **तृत्सुओं** के हाथों हार: ऋ० ६. १६. ४. ५; तु०—६. ४. १९। ऋ०. ७. ८. ४ में **भरतों** को **तृत्सुओं** के समान **पुरुओं** का शत्रु बताया गया है। किंतु लुड्विग[४] के अनुसार **भरतों** और **तृत्सुओं** की अभिन्नता मानने में हमें कुछ संदेह है। ओल्डेनबर्ग[५] ने **भरतों** के पुरोहित **वसिष्ठों** को तृत्सुवंशीय माना है। गेल्डनर[६] का मत है कि **तृत्सु** को **भरतों** के वंश का माना जा सकता है, जो अधिक संभव प्रतीत होता है। त्सिमर[१] ने **भरतों** और **तृत्सुओं** को शत्रु माना है; किंतु यह असंभव है। भौगोलिक दृष्टि से भी यह संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि त्सिमर के अनुसार **तृत्सु** लोग **परुष्णी** (रावी) के पूर्व की ओर रहते थे[२] अतः **भरतों** को पश्चिम से आना चाहिए; किंतु ऋग्वेद में दो **भरत** राजाओं के **सरस्वती, आपया,** और **दृषद्वती** के तट पर (अर्थात् मध्यदेश में) होने का उल्लेख है: ऋ० ३. २३. ४; ३. २३. २ में **देवश्रवस्** और देवतात भरत कहे कए हैं[3]। हिल्लेब्राण्ड्ट ने **भरतों** और **तृत्सुओं** के दो जनों का मिश्रण माना है[४]। किंतु इसका किसी भी साक्ष्य से समर्थन नहीं होता; केवल **दिवोदास** के भरद्वाजों से संबन्ध और उसके वंशज **सुदास्** के **वसिष्ठ** एवं **विश्वामित्र्** से संबन्ध की समस्या को सुलझाने के लिए वह अनुमान किया गया है।

परवर्ती साहित्य में **भरत** लोग अधिक प्रसिद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४ में **भरत दौषन्ति** के **अश्वमेध** यज्ञ करने का उल्लेख है, वहीं **शतानीक सात्राजित** नामक एक अन्य भरत-वंशीय राजा के अश्वमेध का भी उल्लेख आया है। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ८. २१ में **भरत दौःषन्ति** के **दीर्घतमस् मामतेय** द्वारा और **शतानीक** के **सोम शुष्मन् वाजरत्नायन** द्वारा अभिषिक्त होने का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ११, २१ के आधार पर उनकी भौगोलिक स्थिति का निर्णय किया जा सकता है, जहां उनको **काशी** और **कोसल** के लोगों पर की गई विजय का उल्लेख है, तथा उनके **यमुना** और **गङ्गा** के तट पर किये गए यज्ञों का कथन है। इसके अतिरिक्त प्रजा में राजा की घोषणा के उल्लेखों में **कुरवः पञ्चालाः, कुरुपञ्चालाः** और **भरताः** ये पाठान्तर हैं। तैसं०, १. ८. १०. २; तैब्रा १. ७. ४. २ इनमें "भरताः" वासं० काण्व शाखा ११. ३. ३; ११. ६. ३ में "कुरवः पञ्चालाः" आपश्रौसू०, १८. १२. ७ में '**भरताः कुरवः कुरु—पञ्चालाः**

---

१ जअओसो०, १६. २४७।

२ तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ३५४; त्सिमर, आ० ले० १. २७।

३ ट्रां० ऋ०, ३. १७२ एवं आगे।

४ त्सादामौगे०, ४२. २०७; किंतु 'बुद्ध' ४०५ एवं अग्रिम में लुड्विग का मत इन्हें मान्य है।

५ वेस्तू०, २. १३६ एवं आगे।

१ आ०ले०, १२७; ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १६. ४१, ४२।

२ अ—आ०ले०, १२४।

३ द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४१० टि०; इन्होंने महाभारत ३. ६०. ६५ के आधार पर **कौशिकी** को **सरस्वती** की सहायक नदी माना है; कौशिक वंश या विश्वामित्र के वंश का भरतों से संबन्ध निर्विवाद है।

४ वैमि०, १. १११।

भरताः" तु० कासं०, १५. ७; मैसं०, २. ६. ७[१]। महाभारत में **कुरु-वंश** को **भरत-वंश** बताया गया है[२]। अतः ओल्डेनबर्ग का यह मत ठीक प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल में **भरत लोग कुरु-पञ्चाल** जनों में मिल रहे थे[३]।

भरतों के यज्ञों का उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३. १३; १५. ५. २४; (संभवतः १८. १०. ८)[४] ऐतरेय ब्राह्मण २. २५; ३. २८, शतपथ ब्राह्मण ५. ४. ४. १ और तैत्तिरीय आरण्यक १. २७. २ में मिलता है। ऋग्वेद में भी **भरतों** के अग्नि का उल्लेख है: ऋ० २. ७. १. ५; ४. २५. ४; ६. १६. १९; तैसं, २. ५. ९. १; शब्रा०, १. ४. २. २। आप्री सूक्तों=ऋ० १. २२. १०; १. १४२. ९; १. १८८. ८; २. १. ११; २. ३. ८; ३. ४. ८ इत्यादि में एक देवी **भारती** का उल्लेख है जो भरतों की रक्षिका दैवी शक्ति है। उसका **सरस्वती** के साथ संवन्ध भरतों के सरस्वती से संवन्ध को जताता है: ऋ० ३. २३. ४। शतपथ ब्राह्मण १. ४. २. २ में **अग्नि** को "ब्राह्मण भरत" या भरतों का पुरोहित कहा गया है तथा उसे मनु के रूप में और भरत के रूप में आने को कहा गया है: १. ५. १. ७।

एक दो स्थलों पर **सुदास्** या **दिवोदास** का **पुरुकुत्स** और **त्रसदस्यु** से मित्रता का संबन्ध भी उल्लिखित है: ऋ० १. ११२. १४; ७. १९. ८। संभवतः ओल्डेनबर्ग[५] के अनुसार यह **भरतों** के **पूरुओं** और **कुरुओं** में मिलने को जताता है। ऋग्वेद ५. ५४. १४ में एक **भरत** का उल्लेख आता है। ऐब्रा०, ८. १४ की भौगोलिक सूची में **भरतों** का नाम नहीं है। मानव धर्मशास्त्र और बौद्ध ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि भरत एक जन का नाम न होकर बाद में एक राजकीय वंश का नाम रह गया था। तु०—लामा, त्सादा मौगे०, ४८. ८० एवं अग्रिम; फान ब्राडके, वही, ४९८-५०३; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स,[६] ३३८. ३४० इत्यादि।

तु. 'प्रजापतिर्वै भरतः। स हीदं सर्वं बिभर्ति' शब्रा. ६. ८. १. १४; 'अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति' कौब्रा. ३. २; 'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुः' शब्रा०, १. ४. २. २; 'एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद् वेवाह भरतवदिति' शब्रा०, १. ५. १. ८=प्राणः, ऐब्रा. २. २४; 'तस्मादु भरतो दौष्यन्तिः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वैरु च मेध्यैरीजे' ऐब्रा. ८. २३; 'अष्टा सप्ततिं भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु। गङ्गायां वृत्रघ्नेऽबध्नात् पञ्चपञ्चाशतं हयान्। ऐब्रा०, ८. २३; शब्रा०, १३. ४. ११; 'शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे परः सहस्रा निन्द्रायाश्वान् मेध्यान् य आहरद् विजित्य पृथिवीं सर्वामिति' शब्रा० १३. ५. ४ १३; 'शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्। आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सत्वतामिव। शब्रा०, १३. ५. ४. २१ 'ततो वै वसिष्ठपुरोहिता भरताः प्राजायन्त' तांब्रा०, १५. ५. २४; 'तस्माद्धाप्येतर्हि भरताः सत्वनां वित्तिं प्रयन्ति तुरीये हैव संग्रहीतारो वदन्ते' ऐब्रा०, २. २५ 'तस्माद्धेदं भरतानां पशवः सायंगोष्ठाः सन्तो मध्यं दिवे संगविनोमायन्ति' ऐब्रा०, १३. १८।

भरद्वाज—ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के यंमानित रचयिता का नाम भरद्वाज है; तु० आगृसू०, ३. ४. २; शांगृसू०, ४. १०; बृदे०, ५. १०२, जहां उन्हें **बृहस्पति** का पुत्र और **अङ्गिरस्** का पौत्र कहा गया है। तु०—ऋ० ६. २. १०; ६. ११. ३ इत्यादि। भरद्वाज एवं भरद्वाजों का नाम इस मण्डल में कवियों के रूप में अनेक बार आया है; **भरद्वाज**: ऋ० ६. १५. ३; ६. १३. ५, ३३; ६. १७. ४; ६. ३१. ४; ६. ४८. ७, १३; ६. ६३. १०; ६. ६५. ६; द्र०—ऋ० १. ११२. १३; १. ११६. १८; १०. १५०. ५; १०. १८१. २; **भरद्वाजा** ऋ० ६. १०. ६; ६. १६. ३३; ६. १७. १४; ६. २३. १०; ६. २५. ९; ६. ३५. ४; ६. ४७. २५; ६. ५०. १५; द्र० ऋ०, १. ५९. ७ भी। सूक्तों में आये उनके उल्लेखों के आधार पर किसी भी सूक्त का समकालीन **भरद्वाज** को नहीं कहा जा सकता।[१] पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ३. ७ के अनुसार वे **दिवोदास** के पुरोहित थे। राथ[२] ने दोनों को अभिन्न माना है, किंतु यह चिन्त्य है: ऋ०, १. ११६. १८; ६. १६. ५; ६. ३१. ४। काठक संहिता २१. १० के आधार पर भी **भरद्वाज** का उस वंश से संबन्ध सूचित होता है, जहां **भरद्वाज** द्वारा **प्रतर्दन** को दिये गए राज्य का उल्लेख है। यह आवश्यक नहीं कि दोनों स्थलों पर एक ही भरद्वाज का उल्लेख माना जाय, तथा **प्रतर्दन** को **दिवोदास**

---

[१] वेबर, इं० लिट०, ११४ टि०; फान श्रोडर, इंदिश्श लित० उन्द कुल्तूर, ४६५।

[२] द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०९।

[३] उपर्युक्त, ४०८, ४०९ टि०; तु०—शब्रा०, १३. ५. ४ जहां **कुरु** राजा **जनमेजय**, और **भरत** राजाओं का उल्लेख है, कोई विभेद नहीं है और उनके राज्यों का उल्लेख नहीं है।

[४] द्र०—वेबर, इस्टू., १० २८ टि० २.

[५] बुद्ध, ४१०।

[१] द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २१०. २१२।

[२] वोबू०।

का पुत्र ही माना जाय; किंतु बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में भरद्वाज का उल्लेख उनके समय पर ध्यान दिये बिना ही अन्य ऋषियों के साथ कर दिया गया है।

भरद्वाज के सूक्तों में **बृबु, बृसय,** और **पारावतों** का उल्लेख है: ऋ० ६. ६१. १–३। हिल्लेब्राण्ड्ट[1] ने यह भी दिखाया है कि वे **सृञ्जयों** से संबद्ध थे। विशेषतः शांखायन श्रौतसूत्र १६. ११. ११ में **प्रस्तोक सांर्जय** और बृबु से भरद्वाज के दान लेने का उल्लेख है। इन सभी संदर्भों को देखते हुए **दिवोदास** तथा इन सभी लोगों को अ राखोसिया या द्रंगियाना में मानना संदिग्ध बन जाता है।

परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भरद्वाज का उल्लेख एक रचयिता के रूप में आया है: अवे०, २. १२. २; ४. २९. ५; १८. ३. १६; १९. ४८. ६; कासं०, १६. १९; २०. ९; मैसं०, २. ७. १९; ४. ८. ४; वासं०, १३. ५५ इत्यादि; ऐब्रा०, ६. १८; ८. ३; तैब्रा०, ३. १०. ११. १३; ऐआ०, १. २. २; १. ४. २; २. २. २, ४ इत्यादि; कौब्रा०, १५. १; २९. ३; ३०. ९। तु० 'मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिर्भात सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान् मनो भरद्वाज ऋषिः' शब्रा०, ८. १. १. ९; 'भरद्वाजो वै त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। अनन्ता वै वेदाः' तैब्रा०, ३. १०. ११. ३।

भरन्त् पञ्चविंश ब्राह्मण १८. १०. ८ में वहुवचन में भरन्त् शब्द सायण और वोबू० के अनुसार एक योद्धा जाति को जताता है, किंतु यह अनिश्चित है। वेबर[2] का मत है कि यह **भरतों** का विशेषण है। सायण के अनुसार भरताम् का अर्थ है 'भरणं कुर्वतां क्षत्रियाणाम्'।

भरूजी—राथ[3] के अनुसार अथर्ववेद २. २४. ८ में एक जहरीले जानवर का नाम भरूजी है।

भर्गस्—तेजस् या किरण के अर्थ में भर्ग शब्द अनेक बार आया है। प्रमुख गायत्री मन्त्र ३. ६२. १० में भी सविता के वरेण्य तेजस् या किरण को प्रज्ञा की प्रेरणा के लिए धारण करने की अभिलाषा व्यक्त की गई है— 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्'। द्र०—ऋ० १. १४१. १; १०. ६१. १४; अवे०, १९. ३७. १; शांश्रौसू०, १८. २०. ८; आगृसू०, १. २३. १५; शब्रा०, १२. ३. ४. ६; काश्रौसू०, १३. १. १२; मैत्रायण्युपनिषद्, ६. ३५. इत्यादि। तु० 'अयं वै लोको भर्गः' शब्रा०, १२. ३. ४. ७; 'पृथिव्येव भर्गः' गोब्रा०, १. ५. १५; =ऋग्वेदः, शब्रा०, १२. ३. ४. ९; =होता गोब्रा०, १. ५. १५; =अग्निः, शब्रा०, १२. ३. ४. ८. =वसवः, गोब्रा०, १. ५. १५; =वाक्, गोब्रा० १. ५. १५; =वसन्तः, गोब्रा०, १. ५. १५; =गायत्री, गोब्रा०, १. ५. १५; =प्राची, गोब्रा० १. ५. १५; आदित्यः, जउ० ४. २८. २; =चन्द्रमाः, जैउब्रा०, ४. २८. २; 'वीर्यं वै भर्ग एष विष्णुर्यज्ञः' शब्रा०, ५. ४. ५. १; 'त्रिवृदेव भर्गः' गोब्रा०, १. ५. १५।

[1] वैमि०, १. १०४।

[2] इस्टू०, १०. २८. टि०—२।

[3] वोबू०।

भर्तृ—भर्ता के अतिरिक्त "सहायता देने वाले" या "मालिक" के अर्थ में भी भर्तृ शब्द प्राचीन काल से आ रहा है: अवे., ११. ७. १५; १८. २. ३०; शब्रा०, २. ३. ४. ७; ४. ६. ७. २१ इत्यादि। किंतु इन सब स्थलों पर पतित्व का ही भाव नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद ५. ५८. ७ में पति अर्थ स्वाभाविक है, यद्यपि डेल्ब्रुक[1] ने वहाँ भी "पिता" यही अर्थ माना है; क्योंकि माता को भी कहीं-कहीं भर्त्री कहा गया है: अवे०, ५. ५. २. तैब्रा. ३. १. १. ४.। सतपथ ब्राह्मण २. ३. ४. ७ में "पति" अर्थ संभव है।

भलानस्—बहुवचनान्त भलानस् शब्द ऋग्वेद ७. १८. ७. में इन पाँच जातियों में से एक को जताता है: **पक्थ, भलानस्, अलिन, विषाणिन्** और **शिव**। **दाशराज्ञ** युद्ध के प्रसङ्ग में इन्हें **सुदास्** के शत्रुओं की ओर का कहा गया है; राथ और त्सिमर ने उन्हें **सुदास्** के शत्रुओं का विरोधी माना था।[2] त्सिमर[3] ने उन्हें पूर्वी काबुलिस्तान का माना है।[4]

भव—शर्व; अग्नि। तु० 'पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति' शब्रा०, ६. १. ३. १५; 'अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति" शब्रा० १. ७. ३. ८; "एतान्यष्टौ (रुद्रः, सर्वः, पशुपतिः, उग्रः अशनिः, भवः, महान् देवः, ईशानः) अग्निरूपाणि। कुमारो नवमः" शब्रा० ६. १. ३. १. ९.

भवत्रात शायस्थि—वंश-ब्राह्मण में एक आचार्य का नाम भवत्रात शायस्थि है। द्र. इस्टू०, ४. ३७२; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३.

[1] दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्तशाफ्त्सनामन, ४१५ टि०—१।

[2] त्सूर लितरात्यूर ९५; आ० ले०, १२६।

[3] आ० ले०, ४३१।

[4] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७३; २०७।

भविष्यत्—'असौ द्युलोकः भविष्यत्' तैब्रा०, ३. ८. १, ८. ६,

भसद्—भसद् शब्द कुछ स्थलों पर स्त्री की जननेन्द्रिय के लिए आया है : ऋ० १०. ८६. ७; अवे०, ४. १४. ८; ९. ४. १३; ९. ७. ८; १०. ९. २१; वासं०, २०. ९; २५. ८। किंतु वाजसनेयि संहिता २५. ८ में महीधर ने इसका अर्थ 'लिङ्गाग्र' लिया है। अथर्ववेद २. ३३. ५ में भसद्य शब्द श्रोणि-संबन्धी के लिये आया है। तु०—शरीर।

भस्त्रा—शतपथ ब्राह्मण १. १. २. ७; १. ६. ३. १६ में भस्त्रा शब्द धौकनी के लिए आया है।

भाकुरि—द्र०—बेकुरा।

भाग—अंश या भाग्य के अर्थ में भाग शब्द ऋग्वेद काल से ही आ रहा है : ऋ० १. १२३. ३; १. १३५ २; १. १५६. ५; १. १८३. ४; २. ३६. ४; अवे०, ५ १९. १३; शब्रा०, १. ६. ११; १. ७. ४. १८ इत्यादि।

भाग-दुघ—भाग दुहनेवाला, 'विभक्त करने वाला'। याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में राजा के **रत्नियों** में से एक भाग-दुघ है : तैसं०, १. ८. ९. २; कासं०, १५. ४; मैसं०, २. ६. ५; ४. ३. ८; वासं०, ३०. १३; तैब्रा०, १. ७. ३. ५; ३. ४. ८. १; शब्रा०, १. १. २. १७; ५. ३. १. ९। उसके कर्तव्य क्या थे यह निश्चित नहीं है। कुछ स्थलों (तैसं०, और तैब्रा०, उक्त : शब्रा०, ५. ३. १. ९) पर सायण ने उसे कर वसूलने वाला माना है; और शब्रा०, १. १. २. १७ में चित्रकार या शिल्पकार माना है।

भाग-वित्ति—भगवित्त का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३. १०, १८ माध्यंदिन में चूड का या बृउ०, ६. ३. ९ काण्व में चूल का पैतृक नाम भागवित्ति है।

भाडितायन—भडित का वंशज। वंश ब्राह्मण में **शाकदास** का पैतृक नाम भाडितायन है। द्र०—इस्टू०, ४. ३७३।

भाद्रपद—द्र०—**मास**। **नक्षत्र**।

भानु—वैदिक साहित्य में भानु शब्द किरणों के अर्थ में आम है; बाद में यह सूर्य का वाचक बन गया है : ऋ०, १. २७. १२; १. ९२. १; २. २. ८; २. ८. ४; ३. २१. ४; ५. ३७. १; १०. ७५. ३; अवे०, १८. ३. २९; १९. ७. २; वासं०, ११. ५४; १२. ३२ इत्यादि।

भानुमन्त् औपमन्यव—उपमन्यु का वंशज। वंश-ब्राह्मण में **आनन्दज** के शिष्य एक आचार्य का नाम भानुमन्त् औपमन्यव है; इस्टू०, ४. ३७२।

भान्तः पञ्चदशः—'वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदशोऽथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद् यत् तमाह भान्त इति भाति हि चन्द्रमाः' शब्रा०, ८. ४. १. १०।

भायजात्य—भयजात का वंशज। वंश ब्राह्मण[१] में **निकोथक** का पैतृक नाम भायजात्य है।

भार—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' शब्रा० १३. २. ९. ३; 'राष्ट्रं वै भारः' तैब्रा० ३. ९. ७. १.

भारत—भारत शब्द का उल्लेख ऋग्वेद काल से ही पाया जाता है। कुछ स्थलों पर यह शब्द अग्नि-विशेष का पर्याय भले ही हो (ऋ० ४. २५. ४; ६. १६. १९ इत्यादि) किंतु ऋग्वेद ३. ५३. १२ में स्पष्टतः यह जन का नाम है—"विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।" "भारतवर्ष देश" इस नाम का मूल स्रोत यहीं माना जा सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक १. २७. २ में भी स्पष्टतः भारत के जनों का संबोधन है—"उत्तिष्ठत जाग्रत अग्निमिच्छध्वं भारताः"। तु०—**भरत**। द्र० 'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत' कौब्रा० ३. २; शब्रा० १. ४. २. २.

भारती—एक देवपत्नी **वाक्** या **सरस्वती** के नाम के लिए भी भारती शब्द ऋग्वेद काल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है : ऋ० १. २२. १०; १. १८८. ८; ३. ६२. ३ इत्यादि।

भारद्वाज—भरद्वाज का वंशज। अनेक आचार्यों का पैतृक नाम भारद्वाज है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की वंश-सूचियों में भारद्वाजों को इन लोगों का शिष्य कहा गया है :—**भारद्वाज** का : २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यं=२. ६. २ काण्व; **पाराशर्य** का : २. ६. २ काण्व; **बलाका कौशिक** का : ४. ५. २७ माध्यं०, **आत्रेय** का : २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यं०, २. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व; **आसुरायण** का : २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यं०; और **बैजवापायन** का : २. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यं०। ऋग्वेद ५. ६. १. २ में एक भारद्वाज का उल्लेख है। वंश ब्राह्मण (इं० स्टू०, ४. ३७३) में **सूष वाह्नेय** को भारद्वाज बताया गया है।

भारद्वाजायन—भरद्वाज का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १०. १२. १ में एक आचार्य का यह पैतृक नाम है द्र०—निदानसूत्र, ९. ९,। तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०. १५. ६१. टि०—२।

भारद्वाजी-पुत्र—भरद्वाज-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् में उन अनेक आचार्यों का यह पैतृक नाम

[१] इस्टू०, ४. ३७३; मैक्समूलर, ऐंशि० सं० लिट०, ४४४।

है, जो इनके शिष्य हैं:—**पाराशरीपुत्रः** ६. ४. ३१ माध्यं०; ६. ५. २ काण्व; **पैङ्गीपुत्र** : ६. ४. ३ माध्यं०; और **वात्सीपुत्र** : ६. ४. २ माध्यं०।

भार्गव—भृगु का वंशज। **च्यवन** (शब्रा० ४. १. ५. १; ऐब्रा०, ८. २१), और **गृत्समद** (कौब्रा०, २२. ४ पाठान्तर बाभ्रव) के साथ अनेक आचार्यों का यह पैतृक नाम है। अन्य भार्गव भी, जिनका सामान्य नाम नहीं दिया गया है, उल्लिखित हैं: तैसं०, १. ८. १८. १; शांआ०, ७. १५; ऐब्रा०, ८. २. १. ५; प्र०उ०, १. १ वैदर्भि; पंविब्रा०, १२. २. २३; १२. ९. १९; ३९ इत्यादि। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ३५।

भार्गायण—भर्ग का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २८ में **सुत्वन्** का पैतृक नाम भार्गायण है।

भाम्यश्व—भृम्यश्व का वंशज। निरुक्त ९. २३ और बृहद्देवता ६. ४६; ८. १२ में **मुद्गल** का पैतृक नाम भार्म्यश्व है।

भार्या—परवर्ती साहित्य में पत्नी के अर्थ में आने वाला भार्या शब्द संहिताओं में इस अर्थ में नहीं पाया जाता। वोबू० के अनुसार इस अर्थ में सर्वप्रथम यह शब्द ऐतरेय ब्राह्मण ७. ८. ९ में आया है; किंतु डेल्ब्रुक[1] के अनुसार वहाँ भरणीय किसी पारिवारिक सदस्य का भाव है। किंतु शतपथ ब्राह्मण (बृ०उ०, ३. ४. १; ४. ५. १) में स्पष्टतः **याज्ञवल्क्य** की दो भार्याओं का उल्लेख है।

भालन्दन—भलन्दन का वंशज। कुछ स्थलों पर **वत्सप्री** का पैतृक नाम भालन्दन आया है: तैसं०, ५. २. १. ६; कास०, १९. ११; पंविब्रा०, १२. ११. २५)[2]।

भालुकी-पुत्र—भालुकी का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में **क्रौञ्चिकीपुत्र** (६. ५. २ काण्व०) या **प्राचीनयोगीपुत्र** (६. ४. ३२ माध्य०) के शिष्य एक आचार्य का नाम भालुकीपुत्र है।

भाल्ल—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३१. ४ में **प्रातृद्** पैतृक नाम वाले एक व्यक्ति का अन्य पैतृक नाम भाल्ल है।

भाल्लवि—पञ्चविंश ब्राह्मण २. २. ४ में प्रमाण के रूप में वेद की एक शाखा भाल्लवि का उल्लेख है।

भाल्लविन्—भल्लविन् का शिष्य। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ४. ७ ("भाल्लबिन") के अनुसार एक शाखा का नाम भाल्लविन् है।[3]

[1] दी इन्दो० ४१५, ऐब्रा०, १. २९. २०; तु० ऐब्रा. १. २९. ३०।

[2] हापकिन्स; ट्रांजैक्शन्स १५. ५९।

[3] तु०—वेबर, इस्तू०, १. ४४.; २. १००; ३९०; निदानसूत्र, ५. १, अनुपदसूत्र, २. १; ७. १२; बृ०दे०, ५. २३, १५९।

भाल्लवेय—भाल्लवि का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ६. १. १ और छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११. १ में **इन्द्रद्युम्न** का पैतृक नाम भाल्लवेय है। संभवतः उसी व्यक्ति को उस ब्राह्मण में अन्यत्र भी प्रामाणिक अधिकारी के रूप में दिखाया गया है: १. ७. ३. १९; २. १. ४. ६; १३. ४. २. ३; १३. ५. ३. ४।

भावयव्य—द्र०—**भाव्य**।

भाव्य—ऋग्वेद १. १२६. १; निरुक्त, ९. १०, में एक आश्रयदाता का नाम भाव्य है। शांखायन श्रौतसूत्र १६. ११. ५. (तु०—बृ०दे० ३. १४०) में "भावयव्य" शब्द है, जो **स्वनय** का पैतृक नाम है, जो **कक्षीवन्त्** के आश्रयदाता कहे गए हैं। ऋग्वेद १. १२६. ३ में **कक्षीवन्त्** और **स्वनय** का एक साथ उल्लेख मिलता है; जहाँ भाव्य को **सिन्धु**-तट पर रहने वाला कहा गया है। राथ[1] का यह मन्तव्य ठीक नहीं, कि भाव्य का अर्थ संमाननीय है। लुड्विग[2] का विचार है कि स्वनय **नहुषों** से संबद्ध थे। तु०—वेबर, दी एपिश्शेस० २२; ओल्डेनबर्ग, ऋ०—नोटेन, १. १२।

भाषा—निरुक्त १. ४, ५ (तु०—२. २ और पाणिनि ३. २. १०८; ६. १. १८१) के अनुसार वैदिक भाषा के अतिरिक्त बोलचाल के लिए प्रयुक्त भाषा को भाषा इस नाम से पुकारा गया है। तु०—फ्रैंक, बेत्सनबर्गर्स बाइत्रागे, १७. ५४ एवं आगे; वाकरनागल, आल्टिं० ग्रा०, १. ४४; कीथ, ऐआ०, १७९, १८०।

१. **भास**—अद्भुत ब्राह्मण ६. ८ और आर्षकाव्य के अनुसार एक शिकारी पक्षी का नाम भास है। द्र०—वेबर, इस्तू०, १. ४०।

२. **भास**—सामविशेष। तु० 'स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाविध्यत् स न व्यरोचत् तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन् स व्यरोचत यद् वै तद् भा अभवत् तद् भासस्य भासत्वम्' तांब्रा० १४. ११. १४.।

भिक्षा—भीख। शतपथ ब्राह्मण ११. ३. ३. ७ के अनुसार ब्रह्मचारी का एक कर्तव्य भिक्षाटन था; तु०—आगृसू०, १. ९ इत्यादि; बृउ०, ३. ४. १; ४. ४. २६। अथर्ववेद ११. ५. ९ में सामान्य भीख को इस शब्द से उद्दिष्ट किया गया है। वोबू० के अनुसार छान्दोग्य उपनिषद् ८, ८. ५ में भी यही भाव है; किंतु वहाँ पाठ आमिक्षा है; भाष्यकार ने अर्थ किया है गन्धमाल्यान्नादि।

भिक्षु—भीख माँगने वाला। वैदिक साहित्य में यह शब्द नहीं आता। ब्रह्मचारी की भिक्षा उस प्रथा से भिन्न

[1] वोबू०।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १५१।

है, जिसमें चतुर्थ आश्रम में भिक्षा-वृत्ति पर जीवन-निर्वाह का उल्लेख आता है। द्र०–१-ब्राह्मण।

भित्ति—शतपथ ब्राह्मण ३. ५. ६. ९ में बेंत या बाँस से बनी चटाई को भित्ति कहा गया है। तु०–शांश्रौ-सूत्र ८. ३. २४।

१-भिषज्—वैद्य। ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में भिषज् का आम उल्लेख है: ऋ० २. ३३. ४; ६. ५०. ७; ९. ११२. १; **भेषज**: २. ३३. ७; १०. १३७. ६; १. २३. १९, २०; २. २३. २, ४; ६. ७४. ३; ७. ४६. ३ इत्यादि। **भिषज्**: अवे०, ५. २९. १; ६. २४. २; तैसं०, ६. ४. ९. २; वासं०, १६. ५; १९. १२; १९. ८८; ३०. १० इत्यादि; **भेषज**: अवे०, ६. १०९. ३; वासं०, १६. ४५. इत्यादि; तु०–अवे०, ५. २९. १; ६. २१. २; ११. १. ९ इत्यादि। प्राचीन साहित्य में **अश्विनों** (ऋ० १. ११६. १६; १. १५७. ६; ८. १८. ८; ८. ८६. १; १०. ३९. ३, ५; अवे०, ७. ५३. १; ऐब्रा०, १. १८), **वरुण** (ऋ० १. २४. ९) और **रुद्र** (ऋ० २. ३३. ४) को भिषज् कहा गया है। धर्म-ग्रन्थों में वैद्य के पेशे की निन्दा की गई है: आपधसूत्र, १. ६. १८. २०; १९. १५; गौधसूत्र, १७. १७; वसिधसूत्र १४. २. १९; विष्णु० ५१. १०; ८२. ९।[1] निन्दा की यह भावना याजुष संहिताओं के समय से पाई जाती है, जहाँ भिषज् के रूप में **अश्विनों** का स्थान हीन होता है; क्योंकि वे अपने पेशे के कारण सभी प्रकार के मनुष्यों के संपर्क में आते हैं और वर्ण-व्यवस्था के अनुसार यह ठीक नहीं है: तैसं०, ६. ४. ९. ३; तु०–मैसं०, ४. ६. २; शब्रा०, ४. १. ५. १४।[2] ऋग्वेद १०. ९७ में एक भिषज् अपनी ओषधियों एवं उनकी रोगोन्मूलन शक्ति का वर्णन करता है। **अश्विनों** द्वारा अनेक आश्चर्यजनक उपचारों के किए जाने का वर्णन है; उन्होंने लंगड़े को ठीक किया था: ऋ० १. ११२. ८; १०. ३९. ३ इत्यादि; अन्धे को आँख दी थी: ऋ०, १. ११६. १७ **ऋज्राश्व**; **विश्पला** को लोहे की टांग चढ़ाई थी: ऋ० १. ११६. १५; बूढ़े **च्यवन** को छैला जवान बनाया था: ऋ० १. ११६. १३। त्सिमर[3] ने वैदिक भारतीयों में शल्य-चिकित्सा के ज्ञान की संभावना मानी है, किंतु संभवतः यह ठीक नहीं है; उन लोगों ने घावों एवं चोटों की चिकित्सा का प्रयत्न तो किया था, परन्तु उनकी चिकित्सा प्रारम्भिक अवस्था में ही थी; तु०–ऋ० ९. ११२. १। अथर्ववेद में चिकित्सा-संबन्धी उल्लेखों में मन्त्रों और जलीय चिकित्सा (**जलाष**) के साथ ओषधियों का उल्लेख है; ये ओषधियां भारत-योरपीय हैं और अधिक वैज्ञानिक महत्त्व की नहीं दीख पड़तीं; तु०–पंविब्रा०, १२. ९. १०; १६. १०. १०; २३. १६. ७; कासं०, ११. ५; तु०–२. **भिषज्**। इनमें अथर्ववेद के मन्त्रों या सूक्तों को भेषज कहा गया है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का उल्लेख मार्के का है; द्र०–**शरीर**: किंतु यह ज्ञान यज्ञ के समय पशुओं को काटने की क्रिया के आधार पर प्राप्त किया गया ज्ञान है। ऋग्वेद ९. ११२ से पता चलता है कि भिषज् का एक अपना पेशा था; (ऋ० ९. ११२. ३ में भिषज् के शुल्क का उल्लेख है; तु०–१०. ९७. ४. ८ भी)। इसका समर्थन याजुष संहिताओं में प्राप्त पुरुषमेध की बलियों की सूची से हो जाता है: वासं०, ३०. १०; तैब्रा०, ३. ४. ४. १। ब्लूमफील्ड[1] के अनुसार अथर्ववेद ५. ३०. ५ में एक भिषज् अपनी ओषधियों के व्यवसाय एवं गुण पर विश्वास न कर घरेलू चिकित्सा में मन देता है, किंतु यह ठीक नहीं है।[2] तु०–त्सिमर, आले०, ३९७. ३९९; ब्लूमफील्ड, उक्त, अवे०, ५९. एवं आगे; श्राडर, प्रिहिस्टो०ऐंटी०, ४२० एवं आगे; जाली, मेडिसिन, १६. १७; वितरनित्स, नेचर, १८९८; २३३–२३५; कालंड, आल्टि० त्साउबररितुआल।

२. भिषज् आथर्वण—काठक संहिता १६. ३ में एक पुराकथात्मक भिषज् का यह नाम है। तु०–ब्लूमफील्ड हिम्स० आ० दि अ०वे०, २१; जअओसो०, १७. १८१।

भीम वैदर्भ—विदर्भ का राजा। ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४ के अनुसार उन्होंने सोम-रस के स्थान पर प्रयुक्त किये जा सकने वाले अन्य पदार्थ के संबन्ध में **पर्वत** और **नारद** से शिक्षा प्राप्त की थी।

भीमसेन—शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ३ में **जनमेजय** के एक भाई का नाम भीमसेन है। इन सभी को **परिक्षितीय** कहा गया है। तु०–शांश्रौतसूत्र १६. ९. ३।

१. भुज्यु—वोबू० के अनुसार ऋग्वेद के ४. २७. ४; १०. ९५. ८ में और वाजसनेयि संहिता ८. ४२ में भुज्यु का अर्थ है, 'जोड़ने वाला'। किंतु यह चिन्त्य है[3]। तु० 'यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति' शब्रा०, ९. ४. १. ११।

२. भुज्यु—**तुग्र** के पुत्र भुज्यु का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आया है। **अश्विनों** ने इन्हें डूबने से बचाया था:

[1] ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ५०।
[2] ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ३९, ४०।
[3] आले०, ३९८।

[1] हिम्स आ० दि अवे०, ४५६।
[2] तु०–ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २७७।
[3] तु०–गेल्डनर ऋ० ग्लासर, १२६।

ऋ० १. ११२. ६, २०; १. ११६. ३; १. ११७. १४; १. ११९. ४; ६. ६२. ६; ७. ६८. ७; १०. ४०. ७; १०. ६५. १२; १०. १४३. ५। ब्युहलर[1] के अनुसार भारत महासागर में यात्रा के समय भुज्यु का पोत टूटने पर अश्विनों द्वारा की गई सहायता का उल्लेख है। तु०-समुद्र। तु०-बौनक, कुत्सा० ३५. ओल्डेनबर्ग, रिलिजन देस वेद, २१४; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, ३. १६ टि०; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. २४४, २४५; मैक्डानल, वैमा०, पृष्ठ ५२।

भुज्यु लाह्यायनि—लह्यायन का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३. १ में याज्ञवल्क्य के समकालीन एक आचार्य का नाम भुज्यु लाह्यायनि है।

भुरण्यु—भर्ता। तु० 'भुरण्युरिति भर्तेत्येतत्' शब्रा० ८. ३. ३. २०; 'भुरण्युमिति भर्तारमित्येतत्' शब्रा० ७. ५. २. १९.

भुरिज्—केवल द्विवचन में प्रयुक्त। भुरिज् शब्द का अर्थ अनिश्चित है। राथ[1] के अनुसार ऋ० ८. ४. १६; अवे०, २०. १२७. ४ में इसका अर्थ कैंची है और अन्यत्र "दो भुजाओं वाला कोई औजार" जिससे पकड़ कर रथकार लकड़ी को बैठाता था: ऋ० ४. २. १४; ९. ७१. ५। तु० क्षुर। तु०-पिशल, वैस्तू०, १. २३९, २४३; गोगृसू०, ३. ४. ३१; त्सिमर, आ०ले०, २५२, २५५।

भुवन—लोक के अर्थ में भुवन शब्द ऋग्वेद काल से ही आ रहा है: ऋ० १. १५४. २, ४; १. १५७. ५; १. १६४. २१; २. ३. १; ४. ५३. २; ६. ३६. ४; १०. १७. १; १०. ११४. ४; १०. १२०. १; १०. १२५. ७; अ०वे०, २. २. १; १२. १. ३१; १३. ३. १४; वा०सं०, ९. ५; १३. १८; ३२. ५ इत्यादि।

भुवन—'यज्ञो वै भुवनम्' तैब्रा० ३. ३. ७. ५.

भुवन-पति—'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः' शब्रा. १. ३. ३. १७

भुवस्—"भूर्, भुवस्, स्वर्, महस्" ये व्याहृतियाँ हैं, जो गायत्री मन्त्र में प्रयुक्त होती हैं। भूर् से भूलोक, भुवस् से अन्तरिक्ष लोक, स्वर् से द्युलोक और महस् से प्रकाश लोक को उद्दिष्ट माना जाता है: वासं०, ३. ५; ३. ३७; ७. २९; ऐब्रा०, ८. १३; शब्रा०, २. १. ४. ११; २. ४. १. १; ८. ७. ४. ५; ११. १. ६. ३; ११. ५. ८. ४, ६; १४. ९. ३. ७; तैउ०, १. ५. १। तु० 'अग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदं सर्वं भवति' शब्रा० ८. १. १. ४; 'भुव इत्यन्तरिक्षलोकः' शब्रा०, ८. ७. ४. ५; 'स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षमसृजत। चातुर्मास्यानि सामानि' तैब्रा० २. २. ४. २. ३; 'भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत्। सोऽन्तरिक्षलोकोऽभवत्' षब्रा० १. ५; '(प्रजापतिः) भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स वायुभवत्, रसस्य रसः' जैउब्रा० १. १. ४; भुव इति क्षत्रम्' (अजनयत्) शब्रा० २. १. ४. १२; 'भुव इति प्रजाम् (अजनयत्)' शब्रा० २. १. ४. १३.

भुवस्पति—'भुवनानां ह्येष सोमः पतिः' शब्रा० ३. ३. ४. १४

भूत-विद्या—छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २, ४; ७. २. १; ७. ७. १ में विद्याओं की सूची में एक भूतविद्या भी है। इसमें मनुष्यों को परेशान करने वाले भूतों और उनसे रक्षा के साधनों का वर्णन होना चाहिए। तु०-लिटिल, ग्रामेटिकल इंडेक्स, ११५।

भूः—'भूर्हीयं (पृथिवी)' शब्रा० ७. ४. २. ७;' स (प्रजापतिः) भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त। सेयं पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् सोऽग्निरभवद् रसस्य रसः' जैउब्रा० १. १. ३; 'भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयं (पृथिवी)' लोकोऽभवत्' षब्रा० १. ४; 'स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्। अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि' तैब्रा० २. २. ४. २; 'भूरिति वै प्रजापतिर्ब्रह्मासृजत्' शब्रा० २. १. ४. १२; 'भूरिति वै प्रजापतिरात्मानमजनयत' शब्रा० २. १. ४. १३;

भूत—'प्रजापतिर्वै भूतः' तैब्रा० २. १. ९. ३; 'अयं वै (पृथिवी) लोको भूतम्' तैब्रा० ३. ८. १८. ५; 'परिमितं वै भूतमपरिमितं भव्यम्' ऐब्रा० ४. ६; 'तद् यानि भूतानि ऋतवस्ते' शब्रा०, ६. १. ३. ८.

भूतवान्—'तेषां (देवानां) या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवो (रुद्रः) भवत् तदस्यै तद् भूतवन्नाम, भवति वै स योऽस्यैतदेवं नाम वेद' ऐब्रा० ३. ३३।

भूत-वीर—भूत-वीर उन पुरोहितों के वंश का ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ के अनुसार नाम है, जिन्हें रखकर जनमेजय ने कश्यपों को निकाला था। बाद में कश्यपों के वंश के असितमृगों ने जनमेजय को प्रसन्न कर लिया था। तु०-राथ, त्सूर०, ११८; एगलिंग, सेबुई० ४३. ३४४ टि०-१; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ४३७ एवं आगे।

भूतांश—ऋग्वेद १०. १०६. ११ में कश्यप-वंशीय एक कवि का नाम भूतांश है। द्र०- निरुक्त, १२. ४१; बृ०दे० ८. १८. १९; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३३।

भूतानां पतिः—'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः' शब्रा०, १. ३. ३. १७; 'भूतानां पतिर्गृहपतिरासीदुषाः पत्नी' शब्रा०, ६. १. ३. ७; 'यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः' शब्रा०, ६. १. ३. ८।

[1] इन्डियन पैलियोग्रफी, १७।

भूति—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में संपत्ति के लिए भूति शब्द आम है : ऋ० ८. ५९. ७; तु०—१. १६१. १; अवे०, ९. ६. ४५; १०. ३. १७; १०. ६. ९; ११. ७. २२; ११. ८. २१; तैसं०, २. १. १. १; २. १. ३. ५ इत्यादि; भूतिकाम : तैसं०, २. १. १. १; २. २. ३. ३; ५. १. ९. १।

भूतेछदः—ऋचः। 'तद्यदेतान् (असुरान्) इमे देवाः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽच्छादयंस्तस्माद् भूतेछदस्तद् भूतेछदां भूतेछदत्वम्' गोब्रा०, २. ६. १४; 'तेषां वै देवा असुराणां भूतेछद्भिरेव भूतं छादयित्वाथैनानत्यायन्' ऐब्रा०, ६. ३६।

भूमन्, भूमा—छान्दोग्योपनिषद् ७. २३. १ में कहा गया है कि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' अर्थात् जो संपूर्ण है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। तु०-ऋ० १०. ९८. ११२; १०. १४९. ३; ३. २४. ७; ऐब्रा०, १. ५ इत्यादि। द्र० 'श्रीर्वै भूमा' शब्रा०, ३. १. १. १२; 'पुष्टिर्वै भूमा' तैब्रा०, ३. ९. ८. ३; 'भूमा वै सहस्रम्' शब्रा०, ३. ३. ३. ८।

भूमि या भूमी—ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में ये शब्द पृथ्वी के पर्याय हैं : ऋ० १. ६४. ५; १. १६१. १४; २. १४. ७ इत्यादि; तु०—१०. १८. १०; अवे०, ६. २. १; ११. ७. १४; २. ९. ४; ६. ८. २ इत्यादि। देवों द्वारा आर्यों को प्रदत्त भूमि का : ऋ० ४. २६. २; तु०—६. ४७. २० और भूमि के विभाजन का भी उल्लेख मिलता है : तु० 'अभूदिव वा इदमिति तद् भूमेर्भूमित्वम्' तांब्रा०, २०. १४. २; 'अभूद् वा इयं प्रतिष्ठेति तद् भूमिरभवत्' शब्रा०, ६. १. १. १५; 'इयं (पृथिवी) वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति' शब्रा०, ७. २. १. ११; शब्रा०, १३. ५. ४. २४; १३. ६. २. १८।

भूमि-दुन्दुभि—चर्म से ढंके हुए पृथ्वी में बने गड्ढे को भूमि-दुन्दुभि कहा गया है, जिसका उपयोग महाव्रत के अवसर पर होता था : तैसं०, ७. ५. ९. ३; कासं०, ३४. ५; पंविब्रा०, ५. ५. १९; ऐआ०, ५. १. ५।[1]

भूमि-पाश—पृथिवी पर जाल। भूमिपाश किसी लता-विशेष का नाम है : शब्रा०, १३. ८. १. १६; तु०—एर्गालिंग, सेबुई० ४४, ४२७ टि०—१।

भूर—द्र०—भुवस्।

भृगवाण—ऋग्वेद १. १२० ५ में घोष नामक एक व्यक्ति का ही नाम भृगवाण भी प्रतीत होता है।[2] लुड्विग,[3] के अनुसार उनका नाम घोष था। अन्यत्र यह

[1] तु०—कीथ, ऐआ०, २७७ टि०—१४।

[2] द्र०—पिशल, वैस्टू० १. ४; २. ९२.

[3] ऊबर मेथोडे बाई इंटरप्रेटेशन, ४।

अग्नि का विशेषण है, जो भृगुओं द्वारा अग्नि की उपासना का व्यापक है।

भृगु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में भृगु एक पुराकथात्मक व्यक्ति हैं; वे वरुण के पुत्र कहे गए हैं : शब्रा०, ११. ६. १. १; तैआ०, ९. १; तु०-पंविब्रा०, १८. ९. २; निरुक्त, २. १७ उनका पैतृक नाम वारुणि भी कई स्थलों पर आया है : ऐब्रा०, ३. ३४; तु०—तैब्रा०, १. ८. २. ५ बहुवचन में भृगुओं को अनेक बार अग्नि-पूजक कहा गया है : ऋ० १. ५८. ६; १. १२७. ७; १. १४३. ४; २. ४. २; ३. २. ४; ४. ७. १ इत्यादि; ऋ० ४. १६. २०; १०. ३९. १४.[2] । प्रायः वे बहुवचन में ही आते हैं। ऋ० ३. ५. १० और प्राचीन ऋषियों और पूर्वजों को जताते हैं; केवल ऋ० १. ६० १ में एक वचन में भृगु का उल्लेख आया है, किंतु ऋग्वेद के तीन स्थलों पर उन्हें ऐतिहासिक वंश वाले के रूप में दिखाया गया है : ऋ० ७. १८. ६; ८ ३. ९; ८. ६. १८; राथ के अनुसार ८. १०२. ४ भी; और्वभृगुवत् : तु०—ऐब्रा०, ६. ३३ जहां कौब्रा०, ३०. ५ के 'भृगु' के स्थान पर और्व है। यह स्पष्ट नहीं कि ये पुरोहित थे, अथवा योद्धा। दाशराज्ञ युद्ध में संभवतः द्रुह्युओं के साथ भृगु लोग उनके पुरोहित के रूप में उद्दिष्ट हैं, किंतु यह निश्चित नहीं है : ऋ० ८. ३. ९; ८. ६. १८; ८. १०. २, ४; ७. १८. ६।[3]

परवर्ती साहित्य में वस्तुतः भृगुओं के वंश का उल्लेख है। कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५ के अनुसार उनकी एक उपशाखा ऐतशायनों की है। भृगुओं को अनेक यज्ञों के प्रसङ्ग में पुरोहित बताया गया है, जैसे अग्नि-स्थापन के प्रसङ्ग में : तैसं०, ४. ६. ५. २; ५. ६. ८. ६; अवे०, ४. १४. ५; मैसं०, १. ४. १ और वाजपेय-क्रतु के प्रसङ्ग में : तैसं०, १. ८. १८; तैब्रा०, १. ८. २. ५; पंविब्रा०, १८. ९. २। अनेक स्थलों पर अङ्गिरसों के साथ उनका उल्लेख है : तैसं०, १. १. ७. २; मैसं०, १. १. ८; वासं०, १. १८; तैब्रा०, १. १. ४. ८; ३. २. ७. ६; शब्रा०, १. २. १. १३ इत्यादि; तु०—ऋ० ८. ३५. ३; ८. ४३. १३; १०. १४. ६।[4] दोनों वंशों के संबन्ध इतने निकट के हैं कि

[1] तु०--मैकडानल, वैमा०, ५१।

[2] वोबू० के अनुसार ऋभुओं के स्थान पर भृगुओं को इन दो स्थलों पर गलती से लिया गया है।

[3] तु०—हापकिन्स जअओसो०, १५. २६२ टि०; ऋ० १०. १०१. १२ का उद्धरण।

[4] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, २७ टि०, २; इसीलिए, अथर्ववेद का 'भृग्वङ्गिरस' २ यह नाम है : ब्लूमफील्ड, अवे०, ९. १०. १०७ एवं आगे।

च्यवन को शतपथ ब्राह्मण ४. १. ५. १ में **भार्गव** का **आङ्गिरस** बताया गया है। अथर्ववेद ५. १९. १ में भृगु यह नाम ब्राह्मणों पर आक्रमण करने वालों पर पड़नेवाली मुसीबतों का निदर्शक बन कर उभरा है: **सृञ्जय वैतहव्यों** ने भृगुओं पर आक्रमण किया था और वे नष्ट हो गये थे। ऐतरेय ब्राह्मण २. २० में भी भृगु की इस विशेषता का वर्णन है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४२–४४ और तैतिरीय उपनिषद् ३. १ में **भृगु वारुणि** एक ब्रह्मचारी विद्यार्थी के रूप में आते हैं। तु० 'ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो (अद्भ्यः) यद्रेत आसीत् तद्भृज्यत यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत् तद् भृगोर्भृगुत्वम्' गोब्रा० १. १. ३; 'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः' गोब्रा०, १. २. ८; 'वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत् स त्रेधापतद् तद् भृगुस्तृतीयमभवच्छ्रायन्तीयं (साम) तृतीयमपस्तृतीयं प्राविशत्' तांब्रा०, १८. ९. १; 'तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत् तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणिः' ऐब्रा०, ३. ३४; 'अथाङ्गारैरभ्यूहति। भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् इत्येतद् वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम्' शब्रा०, १. २. १. १३; 'एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः' गोब्रा०, १. ३. ४।

तु०–हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६९–१७३; लुड्विग, ट्रां०, ऋ०, ३. १४०; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स १[२]. ४४३ एवं आगे।

भृङ्गा—अश्वमेध की बलियों की सूची में भ्रमर का नाम भृङ्गा है: अवे०, ९. २. २२; मैसं०, ३. १४. ८; वासं०, २४. २९। तु०–त्सिमर, आले०, ९६।

भृम्यश्व—निरुक्त, ९. २४ में **मुद्गल** के पिता का नाम भृम्यश्व है।

भेकुरि—द्र०–**बेकुरा**।

१–भेद—**सुदास्** और **तृत्सु-भरतों** के एक शत्रु का नाम भेद है, जिसे **सुदास्** ने यमुना के तट पर हराया था; यह युद्ध दाशराज्ञ युद्ध के बाद का प्रतीत होता है: ऋ० ७. १८. १८, १९; ७. ३३. ३; ७. ८३. ४। यदि वे राजा थे तो उनके नेतृत्व में **अज**, **शिग्रु** और **यक्षु** लोग संगठित हुए थे; किंतु राथ[१] के अनुसार भेद भी एक जन का नाम है। हापकिन्स[२] का यह कहना कि **यमुना** वहाँ **परुष्णी** ही का नाम है, असंगत प्रतीत होता है; भेद को

[१] वोबू० १२।

[२] इण्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५२।

दश राजाओं के अन्तर्गत मानना भी आवश्यक नहीं है।[१] तु०–**तुर्वश**।

२–भेद—अथर्ववेद १२. ४. ४९, ५० में भेद एक ऐसे व्यक्ति का नाम है, जो **इन्द्र** को एक वशा (गौ) न देने के कारण विपत्ति-ग्रस्त हुआ था। राथ[२] ने उसे प्रथम **भेद** से भिन्न माना है, किंतु यह निश्चित नहीं है। संभवतः उपासक न होने और अनार्य जातियों (**अज**, **शिग्रु**) के नेता होने के कारण यह भेद वही हों।

तु०–मैकडानल, वैमा०, १५३, तु०–**अज**।

१. भेषज—ओषधि। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में भेषज का उल्लेख आम है; कभी-कभी आलंकारिक रूप से भी इसका जिक्र किया गया है: ऋ० १. ८९. ४; २. ३३. २ इत्यादि; अवे०, ५, २९. १; ६. २१. २ इत्यादि; शब्रा०, १३. ३. १. १; १३. ३. ५. ४; ऐब्रा०, ३. ४१। पौधों (ऋ० १०. ९७), जलों (ऋ० १. २३. १९, २०; १. ३४. ६; तैसं०, ६. ४. ९. २; कौब्रा०, १६. ७. इत्यादि)[३] और मन्त्रों को भेषज कहा गया है। अनेक अथर्ववेदीय मन्त्र सहानुभूति-पूर्ण यातु हैं। उदाहरणार्थ १. २२ में पाण्डु-रोग को पीले पक्षियों में स्थानान्तरित करने का उल्लेख आता है।[४] अन्यत्र मण्डूक के माध्यम से ज्वर की उष्णता के हटाने का उल्लेख है; क्योंकि मण्डूक को जल के साथ रहने से ज्वर की तपिश को भी हटाने में समर्थ माना गया है: अवे०, ८. ११६;[५] तु०–ऋ०, १०. १६. १४; अवे०, १८. ३. ६०। द्र०–**भिषज्**।

२. भेषज—अथर्ववेद एवं सूत्रों में अथर्ववेद के कुछ आरोग्य-संबन्धी सूक्तों को भेषज माना गया है: अवे०, ११. ६. १४; आश्रौसू०, १०. ७. २; शांश्रौसू०, १६. २. १०; पंविब्रा०, १२. ९. १०।[६]

[१] हापकिन्स, जअओसो., १५. २६० एवं आगे। तु०–ग्रिफिथ, हिम्स आ० दि ऋ०, २. २० टि०; त्सिमर, आ० ले०, १२६; म्यूर संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[२], ३१९, ३२७।

[२] वोबू०।

[३] त्सिमर, आले०, ३३९ के अनुसार स्नान से लाभ का उल्लेख।

[४] तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, २६४ एवं आगे।

[५] ब्लूमफील्ड, उक्त, ५६५ एवं आगे।

[६] ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अ०वे०, ३१. ६२८।

भैमसेन—भीमसेन का वंशज। मैत्रायणी संहिता ४. ६. ६ में यह एक व्यक्ति का नाम है।

भैमसेनि—भीमसेन का वंशज। काठक संहिता ७. ८ में **दिवोदास** का यह पैतृक नाम है।

भैषज्य—निरुक्त १०. ७. २५ और शतपथ ब्राह्मण १२. ७. १. १२ में भेषज के समान यह भी ओषधि का नाम है।

भोग—सर्प के मण्डल को ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में भोग कहा गया है: ऋ०–५. २९. ६; ६. ७५. १४; अवे०, ११. ९. ५; तैसं०, २. १. ४. ५, ६, ५. ४. ५. ४; कासं०, १३. ४. २१. ८ इत्यादि।

१. भोज—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर भोज शब्द उदार दाता के अर्थ में आया है: ऋ०–२. १४. १०; २. १७. ८; १०. ४२. ३; ३. ५३. ७; ४. ४५. ७; ४. ५१. ३; ५. ५३. १६; ७. १८. २१; ८. ३. २४; ८. २५. २१; ८. ५९. १३; १०. १०७. ८; १०. ११७. ३; १०. १५१. ३ इत्यादि।

२. भोज—ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२; ८. १४; ८. १७ में कुछ राजाओं की उपाधि भोज है।

भौज्य—भोज-उपाधि-धारी किसी राजा के पद का नाम भौज्य है: ऐब्रा०, ७. ३२; ८. ६; ८. १२; ८. १४; ८. १६।

भौमक—अद्भुत ब्राह्मण, इस्तू०, १. ४० में किसी जानवर का नाम भौमक है।

भौमी—तैत्तिरीय संहिता ५. ५. १८. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक जानवर का नाम भौमी है। तु०–त्सिमर आले०, ९९।

भौवन—भुवन का वंशज। पुराकथात्मक **विश्वकर्मन्** का पैतृक नाम भौवन है: शब्रा०, १३. ७. १. १५; ऐब्रा० ८. २१; ८. १०; निरुक्त, १०. २६।

भौवायन—भुव का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण २०. १३. ४ में **कपिवन** का यह पैतृक नाम है। याजुष संहिताओं में भी यह शब्द आता है: कासं०, ३२. २; मैसं०, १. ४. ५; वासं०, १३. ५४। तु०–हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५५, ६९।

भ्रातृ—ऋग्वेद-काल से ही भाई के लिए भ्रातृ शब्द आम रहता आया है: ऋ० १. १६४. १; ४. ३. १३; ५. ३४. ४ इत्यादि; अवे०, १. १४. २; २. १३. ५; तैसं०, ६. २. ८. ४ इत्यादि; **भ्रातृवस्**: ऋ० ८. २०. २२; ८. ८३. ८; १०. १०८. १०। निकट के संबन्धी या मित्र के लिए भी यह शब्द आया है।[1] किंतु ऋग्वेद में प्रायः देवों के आपसी संबन्ध या उपासक से उनके संबन्ध को यह शब्द उद्दिष्ट करता है: ऋ० १. १६१. १; १. १७०. २; ३. ५३. ५; ४. १. २; ६. ५१. ५; ८. ४३. १६; तु०–अवे०, ४. ४. ५; ५. २२. १२। अतः प्राचीन साहित्य में यह शब्द प्रायः अपने सामान्य अर्थ में ही माना जा सकता है। भ्रातृ शब्द की √भृ धातु से व्युत्पत्ति संभवतः ठीक है; क्योंकि वह अपनी बहन का भरण-पोषण करता है। वैदिक साहित्य में इसीलिए पिता के न रहने पर भाई-द्वारा बहन की देख-रेख करने का उल्लेख आता है; फिर भ्रातृहीन लड़कियों को तो भारी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता था: ऋ० १. १२४. ७; ४. ५. ५; अवे०, १. १७. १।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में प्राथमिकता की दृष्टि से क्रमशः पिता, माता, भाई और बहन का उल्लेख है: छाउ०, ७. १५. २। कहीं-कहीं भाइयों के झगड़े का भी उल्लेख आता है: तु०–अवे०, ३. ३०. २; शब्रा०, ४. १. ५. ३।[2]

[1] वोबू०, डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्-शाफ्त्सनामन, ४६२।

भ्रातृव्य—अथर्ववेद ५. २२. १२, और संभवतः १०. ३. ९ में भाई बहन के साथ भ्रातृव्य का भी उल्लेख आता है। इसका भाव है 'पिता के भाई का लड़का' या 'चचेरा भाई';[3] अथर्ववेद के अन्य अनेक स्थलों पर भ्रातृव्य को शत्रु या प्रतिद्वन्दी के रूप में लिया गया है: २. १८. १; ८. १०. १८, ३३; १०. ९. १। इसी अर्थ में यह अनेक बार परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आया है: तैसं०, ३. ५. ९. २; कासं०, १०. ७; २७. ८; वासं०, १. १७; ऐब्रा०, ३. ७; शब्रा०, १. १. १. २१; पंविब्रा०, १२. १३. २; तु०–ऋ० ८. २१. १३। संयुक्त परिवार में ऐसा होना संभव था। प्रारम्भिक अर्थ भाई का पुत्र या बहन का पुत्र प्रतीत होता है, किंतु यह अर्थ यहाँ कहीं भी अपेक्षित नहीं है।[4] काठक संहिता २७. ८ में भ्रातृव्य से झूठ बोलने की छूट है; अन्यत्र उसे द्विषन् और पाप्मन् भी कहा गया है। अथर्ववेद २. १८. १; १०. ९. १ इत्यादि; तु०–तैसं०, १. ३. २. १ इत्यादि) में भ्रातृव्य को नष्ट करने के लिए अनेक मन्त्र हैं।

तु०–डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्शाफ्त्स-नामन, ५०१, ५०६, ५०७; वोबू०, वेबर, इस्तू०, १७. ३०७।

[1] त्सिमर, आले०, ३२८; तु०–**अयोगू**।

[2] जअओसो०, ११, १४५, ब्लूमफील्ड, अवे०, ७२।

[3] ह्विटनी ने अथर्ववेद १०. ६. १, १५. १. ८ के अनुवाद में 'चचेरा भाई' यह अर्थ किया है।

[4] तु०–ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २. २८. १ टि०।

भ्रूण-हन् और भ्रूण-हत्या—गर्भस्थ शिशु के मारने वाले को भ्रूण-हन् और उस क्रिया को भ्रूण-हत्या कहा गया है। परवर्ती संहिताओं में इसे सबसे बड़ा पाप कहा गया है; और इससे छुटकारा कठिन बताया गया है : मैसं०, ४. १. ९; कासं०, ३१. ७; कपिसं०, ४. ७;[१] अवे०, ६. ११२. ३; ६. ११३ २। तैसं०, ६. ५. १०. ३ और तैब्रा०, ३. २. ८. ११ में ब्रह्मन् है, किंतु द्र० वही १२। अनेक स्थलों पर भ्रूण-हत्या की निन्दा की गई है। तैब्रा०, ३. ९. १५. ३; तैआ०, २. ८. २; १०. १. १५; बृउ०, ४. ३. २२; तैब्रा०, ३. ८. २०. १; तैआ०, २. ७. ३; २. ८. ३; कौउ०, ३. १, शांश्रौसू०, १६. १८, १९; निरुक्त, ६. २७; 'भ्रूण', ऋ० १०. १५५. २। इससे इस अनुमान का खण्डन हो जाता है कि लड़की उत्पन्न होने पर उसे पिता की इच्छा के अनुसार मार डाला जाता था। (द्र०—पति)।

विवरण : तु०—वेबर, इस्टू०, ९. ४८१; १०. ६६; ब्लूमफील्ड, अजफि०, १७. ४३०; हिम्स०, ५२१. ५२२।

म

मकक—अथर्ववेद ८. ६. १२ में किसी पशु का नाम मकक है; संभवतः 'मिमियाने वाला' इस अर्थ में यह एक विशेषण रहा हो।

मकर—मगरमच्छ? याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में मकर का नाम आया है : तैसं०, ५. ५. १३. १; मैसं०, ३. १. ४. १६; वासं०, २४. ३५; तु०—त्सिमर, आले०, ९७।

मक्ष—'मक्खी'। ४. ४५. ४; ७. ३२. २ और अथर्ववेद ९. १. १७ में मक्ष का उल्लेख है, जहाँ इसे मिठाई आदि पर बैठनेवाला कहा गया है। द्र० त्सिमर, आले०, ९७। तु०—**अद्मसद्**।

मक्षा, मक्षिका—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मक्खी और भौंरा इन दोनों के अर्थ में ये शब्द आते हैं। मक्खी के अर्थ में : 'मक्षिका' : ऋ० १. १६२. ९; अवे०, ११. १. २; ११. ९. १०; बृउ०, ३. ३. २; भौंरे के अर्थ में 'मक्षा' : ऋ० १०. ४०. ६; मक्षिका : ऋ० १. ११९. ९; प्रउ०, २. ४ में 'मधुकर-राजन्'। तु०—त्सिमर, आले०, ९७; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. ४२० टि०—१।

१. मख—ऋग्वेद के दो स्थलों पर मख एक व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है, किंतु वह कौन था यह नहीं कहा जा सकता : ऋ० ९. १०१. १३ में मख का विरोधी भृगुः १०; १७१. २।[२] संभवतः कोई असुर उद्दिष्ट हो। वासं०, ११. ५७; ३७. ७; तैसं०, १. १. ८. १; ३. २. ४. १ में 'मख के शिरस्' का उल्लेख है; यह कथन ब्राह्मणों के समय में दुरूह बन गया है : शब्रा०, १४. १. २. २७।[१] तु० 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्र-प्रतिषेध-सामर्थ्यात्, छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः। मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति' गोब्रा०, २. २. ५; 'स उ एव मखः स विष्णुः' शब्रा०, १४. १. १. १३; 'एष वै मखो य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा०, १४. १. ३. ५।

२. मख—स्फूर्तिमय या उल्लासमय के अर्थ में मख शब्द कुछ स्थलों पर **इन्द्र, मरुत्, सविता, पूषा**, आदि देवों के लिये आया है : ऋ० ३. ३४. २; १. ६. ८; ६. ७१. १; १. १३८. १; १. ६४. ११; ६. ६६. ९; १. ११९. ३; ९. २०. ७; १०. ११. ६; ८. ४६. २५; शब्रा०, १४. १. १. १; पंविब्रा०, ७. ५. ६ इत्यादि।

३. मख—कुछ स्थलों पर मख शब्द भोज के अर्थ में आया है : ऋ० १. १३४. १; ८. ७. २७; शांगृसू०, १. २४ इत्यादि।

४. मख—मख शब्द कुछ स्थलों पर यज्ञ के अर्थ में आया है। शतपथ ब्राह्मण ६. ५. २. १ में कहा गया है कि 'यज्ञो वै मखः', अर्थात् यज्ञ ही मख है। तु०—शब्रा०, १४. १. २. ९; पंविब्रा०, ७. ५. ६; तैसं०, ३. २. ४. १; निघण्टु, ३. १७ इत्यादि।

मगध—मगध जन को वैदिक साहित्य में बहुत कम संमान प्राप्त हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद में मगध शब्द नहीं आया है (द्र०—**कीकट**), तथापि अथर्ववेद ५. २२. १४ में यह आया है, जहाँ यह प्रार्थना की गई है कि ज्वर उत्तर में **गंधारियों** और **मूजवन्तों** में तथा पूर्व में **अङ्गों** और **मगधों** में चला जाय। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में **मागध** को **अति-क्रुष्ट** (घोर ध्वनि) को अर्पित किया गया है : वासं०, ३०. ५; ३०. २२; तैब्रा०, ३. ४. १. १। अथर्ववेद १५. २. १, ४ में **व्रात्य** के प्रसङ्ग में **मागध** को **व्रात्य** से संबद्ध कहा गया है। सूत्रों में व्रात्य को संस्कार-युक्त होने के बाद मगधदेशीय **ब्रह्मबन्धु** (हीन ब्राह्मण) के रूप में ही माना गया है : लाश्रौसू०, ८. ६. २८; काश्रौसू०, २२. ४. २२; तु०—सायण, पंविब्रा०, १७. १. १६, १७ पर भाष्य; किंतु पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १. १६ में ऐसा भाव नहीं है। दूसरी ओर, यह भी उल्लेख आया है कि वहाँ विद्वान् ब्राह्मण रहते थे; कौषीतकि आरण्यक ७. १३. में **मध्यम, प्रातीबोधपुत्र** को मगधवासी

[१] डेल्ब्रुक, दी इन्दो०, ५७९, ५८०।
[२] मैकडानल, वैमा०, ५१।

[१] विवरण।

कहा गया है। ओल्डेनबर्ग[1] ने इसे अस्वाभाविक माना है, जो उचित प्रतीत होता है।

सूत्रों और संभवतः ऐतरेय आरण्यक २. १. १ में भी मगधों का उल्लेख एक जन के रूप में आया है : बौधसू०, १. २. १३; बौश्रौसू०, २०. १३; आपश्रौसू०, २२. ६. १८; हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र, १७. ६।[2] अतः त्सिमर[3], का यह कहना ठीक नहीं कि यजुर्वेद और अथर्ववेद के उक्त स्थलों पर मागध का अर्थ मगध का व्यक्ति न होकर वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न संतान है; उनके इस कथन का आधार है : मनु०–१०. ११, गौधसू०, ४. १७; सायण का तैब्रा० पर और महीधर का वासं० पर भाष्य। परवर्ती साहित्य में मागध के बन्दी के अर्थ में प्रयोग का कारण यह हो सकता है कि वे इस प्रदेश में रहते थे और दूर के पश्चिमी प्रदेशों में जाते रहते थे। परवर्ती साहित्य के अनुसार इन मागध लोगों का पहले के वर्णों से वैवाहिक संबन्ध स्थापित करने का प्रयास उल्लिखित है।

मगधों के प्रति निरादर की भावना संभवतः ऋग्वेद-काल से ही चली आ रही थी; क्योंकि वहाँ **कीकटों** को (जो संभवतः मगध के ही थे) निरादर की दृष्टि से देखा गया है। ओल्डेनबर्ग[4] के अनुसार इसका कारण है मगधों का ब्राह्मण-धर्म में परिपक्व न होना। शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १० एवं अग्रिम से इसका समर्थन होता है, जहाँ **कोसल** और **विदेह** के लोगों को ब्राह्मण-धर्म में पूर्णतः निष्ठावान् नहीं माना गया है; और मगधों को उनसे भी कम।[5] यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ **विदेहवासी** को मगधवासी के समान मिश्रवर्ण का कहा गया है, वहाँ **कौसल्य** को वैसा नहीं बताया गया है।[6] वेबर का मत है कि संभवतः आदिवासियों के रक्त-मिश्रण से और वहाँ बौद्ध-धर्म के उदय होने से भी उन्हें हेय माना गया हो, किंतु बौद्ध-धर्म की बात अथर्ववेद और यजुर्वेद के स्थलों पर नहीं जोड़ी जा सकती; और रही आदिवासियों के मिश्रित रक्त की बात, उसे ओल्डेनबर्ग के उक्त सिद्धान्त के साथ ही माना जा सकता है। पार्जिटर[1] का मत है कि आर्य आक्रामकों ने समुद्री मार्ग से पूर्व से होकर मगधों पर आधिपत्य जमाया था, यद्यपि वैदिक साहित्य में इसका कोई प्रमाण तो नहीं मिलता; किंतु इसके विपरीत मगधों पर आर्यों का प्रभाव कम था। भारत में विभिन्न जातियों का समन्वय होने से किसी भी निष्कर्ष पर इस प्रकार अनुमानों द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता।

[1] बुद्ध, ४०० टि० वेबर, इं०लि०, ११२ टि०।

[2] द्र०–कालण्ड, त्सादामौगे ५६–५३३; द्र०–कीथ, ऐआ०, २०० : शांआ०, ४६ टि० ४।

[3] आले०, ३५; तु०–वोबू०।

[4] बुद्ध, ४०० टि०।

[5] तु०–ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९८, ३९९; वेबर, इस्टू०, १. १७० एवं अग्रिम।

[6] इस्टू०, १. ५२, ५३, १८५; १०. ९९; इंडि० लिट०, ७९ टि० १; १११, ११२।

मगुन्दी—मगुन्दी कोई कष्टप्रद पदार्थ है। अथर्ववेद २. १४. २ में 'मगुन्दी की लड़कियों' को गोष्ठों, सवारियों एवं घर से बाहर करने का उल्लेख है। इस शब्द का अर्थ संदिग्ध है। तु०–ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ५८।

मघ—ऋग्वेद में मघ शब्द औदार्य का बोधक है : ऋ० १. ११. ३; १. १०४. ५; ३. १३. ३; ३. १९. १; ४. १७८; ५. ३०.१२; ५. ३२. १२ इत्यादि; निरुक्त ५. १६; मघवन् शब्द औदार्य के साथ वैदिक पुरोहितों को दान देनेवाले को सूचित करता है : ऋ० १. ३१. १२; २. ६. ४; २. २७. १७; ५. ३९. ४; ५. ४२. ८; ६. २७. ८; 'मघत्ति' या 'दान देना', ऋ० ४. ३७. ८; ५. ७९. ५; ८. २४. १० इत्यादि, 'मघदेय' या 'दान देना' ऋ०, ७. ६७. ९; १०. १५६. २; 'मघवत्व' या 'उदारता', ऋ०, ६. ३.२७। यह नहीं कहा जा सकता कि क्या मघवानों का कोई वर्ग था। (तु०–**सभा**)। द्र०–**मघवन्** भी।

मघवन्—वैदिक साहित्य में मघवा शब्द धनवान् दानी के अर्थ में आया है। स्त्रीलिङ्ग में **मघोनी** शब्द भी आया है। ये शब्द मनुष्यों और देवों दोनों के विशेषण हैं : ऋ० ४. १६. १; अवे०, ६. ५८. १; ऋ० ५. ३९. ४; ५. ४२. ८; ६. २७. ८; ६. ६८. २; ७. ३२. ७; ८. १. ३० इत्यादि। **इन्द्र** के लिए भी मघवा शब्द अनेक बार आया है : ऋ० ३. ३०. ३; ४. १६. १; ४. ३१. ७; ४. ४२. ५; ७. २६. १; तैसं०, ४. ४. ८. १ इत्यादि। परवर्ती संस्कृत साहित्य में यह शब्द इन्द्र का पर्याय बन गया है। द्र०–**मघ**। तु० 'स उ एव मखसः विष्णुः। तत् इन्द्रो मखवानभवन्मखवान् ह वै तं मघवा-नित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० १४. १. १. १३।

मघाः—द्र०–**नक्षत्र**। **अघा**। तु०–'पितॄणां मघाः' तैब्रा०, १. ५. १. २।

मङ्गल—बौधायन श्रौतसूत्र २६. २ में एक आचार्य का यह नाम है।

मंगीर—सूत्रों में गौ के प्रसङ्ग में मंगीर शब्द आया

[1] जराएसो०, १९०८, ८५१–८५३। तु०–रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, ६, २४, २६०. २६७।

है : वैतान सूत्र, ३४. ९, माश्रौसू०, ७. २. ७ 'मन्दीर', काश्रौसू०, १३. ३. २१; 'मांदिर', आपश्रौसू०, २१. २०. ३। इसका अर्थ संदिग्ध है[१] उसी श्लोक में **गङ्गा** और **यमुना** नदियों का उल्लेख है। शब्द का ठीक रूप भी संदिग्ध है। १—द्र०—गार्बे, ट्रां० आ० दि वैतान सूत्र, ९७; कालण्ड, दास वैतान सूत्र, १०२।

मज्जन्, मज्जा—तु० 'हरिद्र इव हि मज्जा' शब्रा० १३. ४. ४. ८; 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि च पुरुषस्य मज्जानः' शब्रा० १०. ५. ४. १२; 'मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम्' शब्रा० १०. २. ६. १८.। द्र०—**शरीर**।

मञ्जिष्ठा—ऐतरेय आरण्यक ३. २. ४ और शांखायन आरण्यक ८. ७. में एक पौधे का (मंजीठ) नाम मञ्जिष्ठा है।

मटची—छान्दोग्य उपनिषद् १. १०. १ में **कुरुओं** के मटचीहत होने का उल्लेख है। शंकराचार्य ने मटची को अशनि माना है; भाष्यकार आनन्द-तीर्थ ने इसे पाषाण-वृष्टि माना है, जो ठीक प्रतीत होता है। शब्द कल्पद्रुम में मटची को छोटी लाल चिड़िया के रूप में लिया है। जैकब के अनुसार (ज रा ए सो०, १९११, ५१०) शलभ या फतिंगा अभिप्रेत है।

मणि—मणि एक ऐसा आभूषण है, जो रक्षा-कवच के रूप में अनेक प्रकार की बुराइयों एवं भयों से बचने के लिए धारण किया जाता था: ऋ० १. ३३. ८; अवे०, १. २९. १; २. ४. १, २; ८. ५. १ एवं अग्रिम; १०. ६. २४; १२. १. ४४, तैसं०, ७. ३. ४. १, कासं०, ३५. १५, ऐब्रा०, ४. ६; निरुक्त, ७. २३ पर दुर्ग-भाष्य।[१] यह स्पष्ट नहीं है कि क्या इससे मुक्ता या रत्न अभिप्रेत है।[२] मणि को तागे द्वारा लटकाया जाता था: पंविब्रा०, २५. १६. ६; जैउब्रा०, १. १८. ८; तु०— ३. ४. १३; जैब्रा०, २. २४८; शब्रा०, १२. ३. ४. २। मणि को गले में पहना जाता था; ऋग्वेद १. १२२. १४ में मणि-ग्रीव शब्द आया है। शांखायन आरण्यक १२. १८ एवं अग्रिम में बिल्व के मणि एवं अन्य अनेक मणियों का उल्लेख है: शांआ० १२. ८। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में मणिकार का भी उल्लेख आया है: वासं०, २०. ७; तैब्रा०, ३. ४. ३. १। तु०—श्राडर, प्रिहिस्टो० ऐंटी०, ३३७; त्सिमर, आले०, २५३, वेबर, ओमिना उण्ड पोर्टेंटा, ३१७, ३७४; इस्तू०, २. २ टि० ४; ५. ३८६; १८. ३७; प्रोसी० आ० दि बर्लिन एकेडमी, १८९१. ७९६; वेबर ने मणि का स्रोत बेबिलोनिया को माना है। किंतु यह चिन्त्य है; द्र०—**मना**।

[१] वोबू०।

[२] द्र०—वोबू०, त्सिमर, आले०, ५३, तु०—ऋ० १. ३३, ८ में 'हिरण्यमणि' अवे०, १२. १. ४० में 'मणिर्हिरण्यम्।

मणिक—अद्‌भुत ब्राह्मण में पानी के बड़े मटके मणिक कहा गया है: आगृसू०, २. ९. ३; ४. ६. ४; गोगृसू०, १. १. २६; ३. ९. ६, ७ इत्यादि; शांगृसू०, २. १४।

विवरण: वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता ३१६।

मण्ड—द्विवचन, नपुंसक लिङ्ग में मण्ड शब्द नौमण्ड या नौका की पतवारों को उद्दिष्ट करता है: शब्रा०, २. ३. ३. १५; तु०—एगलिंग, सेबुई०, १२. ३४५ टि० ३; इन्होंने भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ 'पार्श्व' किया है; द्र० कालंड, ऊवर दास रितुअल सूत्र देस बौधायन, ६०।

मण्डूक—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मेंढक के लिए मण्डूक शब्द आया है: ऋ० ८. १०३. १; १०, १६६. ५; अवे०, ७. ११२. २; तैसं०, ५. ४. ४. ३; ५. ७. ११. १; कासं०, १३. १; २१. ७; मैसं०, ३. १४. २; वासं०, २४. ३६; पंविब्रा०, १२. ४. १६; शब्रा०, ११. १. २. २० एवं अग्रिम; निरुक्त ९. ५। स्त्रीलिङ्ग में मण्डूकी शब्द भी आया है: ऋ० १०. १६. १४; अवे०, १८. ३. ६०; वासं०, १७. ६; तैसं०, ४. ६. १. २; कासं०, १७. १७; मैसं०, २. १०. १; तैआ०, ६. ४. १। वर्षा-काल के आरम्भ में होनेवाली मेढकों की ध्वनि की तुलना ब्राह्मणों की ध्वनि से की गई है; और इससे ऋग्वेद का एक मण्डूक-सूक्त बनता है: ऋ० ७. १०३; तु०— अवे०, ४. १५. १२।[१] मैक्समूलर[२] का मत है कि यह सूक्त ब्राह्मणों का उपहास करता है। गेल्डनर[३] इससे सहमत होते हुए कहते हैं कि **वसिष्ठ** लोगों द्वारा यह **विश्वामित्र** लोगों की निन्दा के लिए प्रयुक्त है। इसके अन्तिम मन्त्र को गेल्डनर **विश्वामित्र** के सूक्त ३. ५३. ७ से लिया हुआ मानते हैं। पानी से संबन्ध के कारण मण्डूक को शीतल करने वाला बताया गया है; इसीलिए एक संस्कार के प्रसङ्ग में मण्डूक को बुलाया जाता है कि वह भूमि को ठंडा करे: ऋ० १०. १६. १४।[४] इसी प्रकार अथर्ववेद ७. ११६[५] में ज्वर की उष्णता को शान्त करने के लिए

[१] पिशल, वैस्तू०, २. २२३ भू-विवरों या इरिण में से मण्डूकों की ध्वनि।

[२] ऐंशि० सं०, लिट०, ४९४, ४९५।

[३] ऋ० कोमेंटार, ११७।

[४] ब्लूमफील्ड, अजफि०, ११. ३४२–३५०; लानमान, ह्विटनी के ट्रां० अवे०, ८५० में।

[५] ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०, ५६५।

मण्डूक का आह्वान किया गया है। तु० 'एतद् वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता आपः समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन्' शब्रा०, ९. १. २. २१; 'तस्मान्मण्डूकः पशूनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः' शब्रा०, ९. १. २. २४।

मतस्ना—पित्ताधार या वृक्या : अवे०, २. ३३. ३। द्र०—**शरीर**।

मतिः—'वाग् वै मतिर्वाचाहीदं सर्वं मनुते' शब्रा०, ८. १. २. ७।

मत्य—बेलन या थपका, जिससे भूमि को कूटा या दबाया जाता था। सायण ने तैत्तिरीय संहिता ६. ६. ७. ४ के भाष्य में इसे खाद के अर्थ में लिया है। देखो कासं०, १९. ४; पंविब्रा०, २. ९. २; तु०—**सुमतित्सरु**।

१. **मत्स्य**—ऋग्वेद १०. ६८. ८ में एवं अन्यत्र मत्स्य या मछली का उल्लेख मिलता है : अवे०, ११. २. २५; मैसं०, ३. ९. १४. २; वासं०, २४. २१, ३४; तैसं०, २. ६. ६. १; शब्रा०, १. ८. १. १; छाउ०, १. ४. ३; कौउ०, १. २; महामत्स्य : बृउ०, ४. ३. १८। शब्रा०, १३. ४. ३. १२ में एक **मत्स्य सांमद** को मत्स्यों का राजा कहा गया है। तु०—आश्रौसू० १०. ७. ८; शांश्रौसू०, १६. २. २३।

२. **मत्स्य**—ऋग्वेद ७. १८. ६ में **सुदास्** के शत्रुओं में **मत्स्य** नामक एक जन का भी उल्लेख माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ९ में अश्वमेध करने वालों में **मत्स्य-राज ध्वसन् द्वैतवन्** का भी उल्लेख आया है। कौषीतकि उपनिषद् ४. १ में **वंशों** के साथ तथा गोपथ ब्राह्मण १. २. ९ में **शल्वों** के साथ मत्स्यों का उल्लेख एक जन के रूप में आता है। मनु २. १९; ७. १९३ में **मत्स्यों, पञ्चालों** और **शूरसेनों** को **ब्रह्मर्षि-देश** का कहा गया है। संभवतः मत्स्य लोग आर्ष-काव्य-काल में **अलवर, भरतपुर, जयपुर** के आसपास रहते थे। तु० 'मत्स्यः सांमदो राजेत्याह तस्योदके चरा विशस्त इम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति' शब्रा०, १३. ४. ३. १२।

१. **मद**—अधिकतर स्थलों पर मद शब्द हर्ष के अर्थ में आया है : ऋ० १. ४. २; १. ८१. १; २. १५. १; ४. ३४. ४; ५. ४३. ५ इत्यादि। द्र० 'यो वा ऋचि मदो यः सामन् रसो वै सः' शब्रा०, ४. ३. २. ५।

२. **मद**—कुछ स्थलों पर मद्य के अर्थ में भी यह शब्द आया है : ऋ० १. २०. ५; १. ८०. २; २. १६. ६; ४. १७. ६; ४. २६. ६ इत्यादि।

मदावती—नशीली। अथर्ववेद में एक पौधे का नाम है : ६. १६. २; तु०—४. ७. ४; तु०—ह्विटनी, ट्रां०, अवे०, २९२; ब्लूमफील्ड, हिम्स० आ० दि अवे०, ४६६; त्सिमर, आले०, १२७।

मदुघ—मधु का पौदा। अथर्ववेद १. ३४. ४; ६. १०२. ३ में एक मधुर पौधे का नाम है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'मधु देने वाला'; भाष्यकार ने इसे 'मधु-दुघ' कहा है। कुछ पाण्डुलिपियों में मधुघ आया है। तु०—मैकडानल वैग्रा०, ६४. १ ए०।

मद्गु—'डूबने वाला (√मज्ज्)। यजुर्वेद में अश्वमेघ की बलियों की सूची में एवं अन्यत्र किसी जलीय पक्षी के लिये आया है। तैसं०, ५. ५. २०. १; मैसं०, ३. १४. ३; वासं०, २४. २२, ३४; छाउ०, ४. ८. १, २।

मद्य—शराब; छान्दोग्योपनिषद् ५. ११ में मद्य पीने वाले का उल्लेख है।

मद्र—बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३. १; ३. ७. १ में मद्र एक जन का नाम है। **काव्य पतंचल**' मद्रों में रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. ३ में **उत्तर मद्रों** को हिमालय के पास रहनेवाला (परेण हिमवन्तम्) कहा गया है। ये **उत्तर कुरुओं** के पड़ोसी थे, जैसा कि त्सिमर[1] ने माना है। संभवतः ये कश्मीर में रहते थे। संभवतः मद्र लोग उक्त उपनिषद् के काल में **कुरुक्षेत्र** के पास थे। तु०—'तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरभद्रा इति वै राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते विराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा०, ८. १४।

मद्रगार शौङ्गायनि—शुङ्ग का वंशज। वंश ब्राह्मण में **काम्बोज औपमन्यव** के गुरु का यह नाम है।[1] त्सिमर[2] के अनुसार मद्रों और कम्बोजों में संबन्ध था।

१. **मधु**—ऋग्वेद में मधु शब्द किसी भी मधुर खाद्य या पेय के लिए आया है : सोम : ऋ० १. ११७. ६; २. १९. २; २. ३४. ५; २. ३६. ४; ३. ४२. ३; ४. १८. १३; दुग्ध : ऋ० १. ११७. ६; १. १६९. ४; १. १७७. ३; ३. ८. १; ७. २४. २; वासं०, ६. २ इत्यादि। और शहद : ऋ० ८. ४. ८; 'सारघ' या 'मधुमक्खी से निकला' मधु : ४. ४५. ४; ७. ३२. २; ८. २४. २०; अवे०, ९. १. १७. १९; तैसं०, ७. ५. १०. १; मैसं०, ४. ९. ७; ऐब्रा०, ७. १५; ८. ५, २०; शब्रा०, १. ६. २. १, २; ११. ५. ४. १८; बृउ०, २. ५. १; छाउ०, ६. ९. १ इत्यादि। मधु के प्रयोग का वर्जन भी है स्त्रियों के लिए :

[1] इस्टू०, ४. ३७२।

[2] आले०, १०२।

जैउब्रा०, १. ५५. २; ब्रह्मचारियों के लिए : शब्रा०, ११. ५. ४. १८ । तु० 'प्राणो वै मधु' शब्रा०, १४. १. ३. ३०; 'रसो वै मधु' शब्रा०, ६. ४. ३. २; 'ओषधीनां वा एष परमो रसो यन्मधु' शब्रा०, ११. ५. ४. १८; 'रसो वा एष ओषधिवनस्पतिषु यन्मधु' ऐब्रा०, ८. २०; 'तस्मादुत स्त्रियो मधु नाश्नन्ति पुत्राणामिदं व्रतं चराम इति वदन्तीः' जैउब्रा०, १. ५५. २; 'यथा ह वा ऋचं वा यजुर्वा साम वाभिव्याहरेत् तादृक् तद् य एवं विद्वान् ब्रह्मचारी सन् मध्वश्नाति' शब्रा०, ११. ५. ४. १८; 'एतद्वै प्रत्यक्षात् सोमरूपं यन्मधु' शब्रा०, १२. ८. २. १५; 'अन्नं वै मधु' तांब्रा०, ११. १०. ३; 'परमं वा एतदन्नाद्यं यन्मधु' तांब्रा०, १३. ११. १७; 'सर्वं वा इदं मधु यदिदं किं च' शब्रा०, ३. ७. १. ११ ।

२ मधु—द्र०—**मास** । तु० 'एतौ (मधुश्च माधवश्च) एव वासन्तिकौ (मासौ) स यद् वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च' शब्रा०, ४. ३. १. १४ ।

मधुप पैङ्ग्य—पिङ्ग का वंशज । शतपथ ब्राह्मण ११. ७. २. ८; बृउ०, ६. ३. १७, १८ माध्यं०=६. ३. ८. काण्व और कौषीतकि ब्राह्मण १६. ९ में एक आचार्य का नाम है ।

मधु-कशा या मधोः कशा—ऋग्वेद में **अश्विनों** का यह नाम है; वे मधु की कशा से यजमानों को मधु प्रदान करते हैं : ऋ० १. २२. ३; १. १५७. ४; अवे०, १०. ७. १९; पंविब्रा० २१. १०. १२; अवे०, ९. १. ५ । राथ[1] के अनुसार दुग्ध-कशा के आधार पर यह शब्द बना है ।

मधु-कृत्—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मधु-मक्खी का यह नाम है : तैसं०, १. ५. ६. ५; ४. २. ९. ६ इत्यादि; तैब्रा०, ३. १०. १०. १; शब्रा०, १. ६. २. १. २; छाउ०, ३. १. २; ६. ९. १ इत्यादि । तु० 'या एताः पूर्वपक्षापरपक्षयो रात्रयस्ता मधुकृतः' तैब्रा०, ३. १०. १०. १ ।

मधु-छन्दस्—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम दस सूक्तों के रचयिता मधुछन्दस् को कौषीतकि ब्राह्मण २८. २ और ऐतरेय आरण्यक १. १. ३ में एक ऋषि कहा गया है । ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७. ७; ७. १८. १; (तु०—शां-श्रौसू०, १५. २६. १ एवं अग्रिम) में **विश्वामित्र** के ५१ वें पुत्र का यह नाम है । शतपथ ब्राह्मण १३. ५. १. ८ में उनके प्रउग (प्रातःसवन के सूक्त) का उल्लेख है ।

मधु-दैव्य—'एतद् वै मधु दैव्यं यदाज्यम्' ऐब्रा०, २. २ ।

मधु-पर्क—'एष ह्यारण्यानां रसः' कौब्रा०, ४ १२ ।

[1] वीबू० ।

मधु-ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण में एक रहस्य-सिद्धान्त का नाम मधु-ब्राह्मण आया है : शब्रा०, ४. १. ५. १८; १४. १. ४. १३; बृउ०, २. ५. १६; वेबर, इस्तू०, १. २९० ।

मधु-वृष—(पूर्वपक्षापरपक्षयोः) 'यान्यहानि ते मधु-वृषाः' तैब्रा०, ३. १०. १०. १ ।

मधु-सारघ—'यज्ञो ह वै मधुसारघम्' शब्रा०, ३. ११. ३. १३ ।

मध्य-देश—मानव धर्मशास्त्र २. २१ के अनुसार **हिमालय** और **विन्ध्य** के बीच तथा **विनशन** (सरस्वती के लोपस्थान) और **प्रयाग** के बीच का प्रदेश मध्यदेश कहाता है । उसी ग्रन्थ २. १९ के अनुसार **ब्रह्मर्षिदेश कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल** और **शूरसेनक** जनपदों में है । **ब्रह्मावर्त सरस्वती** और **दृषद्वती** के मध्य में है : २. १७. १९ । बौधायन धर्म-सूत्र १. २. ९; वसिष्ठ धर्मसूत्र १. ८ के अनुसार **आर्यावर्त हिमालय** और **पारियात्र** (पारिपात्र) पर्वतों के मध्य तथा **विनशन** और **कालकवन** (संभवतः हरद्वार के पास कनखल) के मध्य में है । वहाँ दूसरों के मत का भी उल्लेख है, जिनके अनुसार आर्यावर्त केवल **गङ्गा** और **यमुना** के मध्य में था : बौधसू०, १. २. १०; वसि० १. १२, जब कि भाल्लविन् ने इसे सीमा की नदी (संभवतः **सरस्वती** या **सिन्धु**) और सूर्योदय के स्थान के मध्य में माना है : बौधसू०, १. २. ११, १२; वसि०, १. १४. १५; बृ० ५. २३ मैकडानल के नोट के साथ । मानव धर्मशास्त्र २. २२ और वसिष्ठ धर्मसूत्र १. ९ के अनुसार **हिमालय** और **विन्ध्य** के मध्यवर्ती प्रदेश को **आर्यावर्त** कहा गया है; कौषीतकि उपनिषद् २. १३ (तु०—शांआ० २८ टि० १) में भी यही आर्य-जगत् की सीमा है । मध्यदेश शब्द वैदिक नहीं है; किंतु ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. २ में 'मध्यमा प्रतिष्ठा दिश्' का उल्लेख है, जिसमें **कुरु, पञ्चाल, वश** और **उशीनर** लोग रहते थे । **वश** और **उशीनर** का नाम व्यवहारतः लुप्त हो जाता है; और मध्यदेश **कुरु-पञ्चालों** का क्षेत्र बन जाता है, जहां परवर्ती संहिताओं एवं अन्य वैदिक साहित्य की रचना हुई है । इसकी पूर्वी सीमा पर **कोसल विदेह** के लोग थे । शतपथ ब्राह्मण ९. ३. १. ८ और ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४. ३ में पश्चिमी लोगों को बहुत महत्त्व नहीं दिया गया है । शतपथ ब्राह्मण १. ४. १ के अनुसार **कुरु-पञ्चालों** ने **कोसल** और **विदेह** के लोगों को ब्राह्मण-संस्कृति में दीक्षित किया था ।

मध्यं-दिन—मध्याह्न । ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द अनेक बार आया है : ऋ० ४. २८. ३; ८. १. २९;

८. १३. १३; ८. २७. १९; १०. १५१. ५ इत्यादि; अवे०, ९. ६. ४६; तैसं०, ६. २. ५. ६; पंविब्रा०, १५. ९. १६; तैब्रा०, १. ५. ३. २; शब्रा०, २. २. ३. ९; छाउ०, २. ९. ६; २. १४. १। कभी-कभी यह शब्द मध्यंदिन-सवन के लिए आया है : ऐब्रा०, ३. १०. २, ५; कौब्रा०, २९. ८। तु० 'आत्मा मध्यंदिनः' कौब्रा०, २५. १२; 'आत्मा यजमानस्य मध्यंदिनः' ऐब्रा०, ३. १८; 'मध्यंदिने मनुष्याः (वृत्रायाशनमभिहरन्ति)' शब्रा०, १. ६. ३. १२।

मध्यम-वह्—ऋग्वेद २. २९. ४ में यह रथ का विशेषण है। ठीक अर्थ अज्ञात है। राथ[१] के अनुसार केवल एक अश्व द्वारा, जो दो यष्टियों के मध्य में होता है, खींचे जाने वाले रथ को यह शब्द उद्दिष्ट करता है। सायण के अनुसार मध्यम गति से चलने वाले रथ का यह नाम है। इसका अर्थ केवल मध्य में या अर्धमार्ग में चलने वाला भी संभव है। तु०—**पूर्ववह्**।

मध्यम-शी—ऋग्वेद १०. ९७. १२=अवे०, ४. ९. ४=१२. ८६ में मध्यम-शी शब्द आया है। त्सिमर[१] ने इसे न्यायाधीश के अर्थ में लिया है; और राथ[२] के अर्थ को भी इसी रूप में माना है, किंतु लानमान[३] के अनुसार राथ का अर्थ रोग-निवारण है, किंतु यह ठीक नहीं है।[४] ह्विटनी ने इसे मध्यस्थ जन या प्रमुख के अर्थ में माना है; क्योंकि उसके चारों ओर उसके अनुयायी बैठते थे। गेल्डनर का कहना है कि दो युद्धकर्ता राजाओं के बीच तटस्थ रहने वाले राजा को मध्यम-शी कहा गया है।[५]

मध्यम-स्थ, मध्यमे-ष्ठ—परवर्ती संहिताओं में ये शब्द किसी प्रधान को उद्दिष्ट करते हैं, जो अपने अनुयायियों के मध्य में रहता है। द्र०—वासं०, २७. ५; अवे०, ३. ८. २; तैसं०, ४. ४. ५. १। तु०—**मध्यम-शी**।

मध्यमा चिति—'अन्तरिक्षं वै मध्यमा चितिः' शब्रा० ८. ७. २. १८; 'उदरं मध्यमा चितिः' शब्रा०, ८. ७. २. १८।

मध्या-वर्ष—वर्षा के मध्य में। कौषीतकि ब्राह्मण १. २ और शांश्रौसू०, ३. ५. ५, ७ इत्यादि में यह समय का एक विशेष विभाग है।

मनस्—मन। तु० 'मनो वै बृहत्' तांब्रा०, ७. ६. १७; 'मनो बृहत्' ऐब्रा०, ४. २८; 'मनो बृहती' शब्रा०, १०. ३. १. १; 'मनो ब्रह्म' गोब्रा०, १. २. १०; 'मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म' शब्रा०, १४. ६. १०. १५; 'मन एव ब्रह्मा' गोब्रा०, १. २. १०; 'मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा' शब्रा० १४. ६. १.७; 'तस्य मन एव ब्रह्मा' कौब्रा०, १७. ७; 'मनो होता' तैब्रा०, २. १. ५. ९; 'मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणः' ऐब्रा०, २. ५. २६; 'मनो वै पाथ्यो वृषा' शब्रा०, ६. ४. २. ४; 'मनो वै परिपतिः' गोब्रा०, २. २. ३; 'अपूर्वा (प्रजापतेस्तनूविशेषः) तन्मनः' ऐब्रा०, ५. २५; 'मन इव हि प्रजापतिः' तैब्रा०, २. २. १. २; 'यः प्रजापतिस्तन्मनः' जैउब्रा०, १. ३३. २; 'प्रजापतिर्वै मनः' कौब्रा०, १०. १; 'मन एव सर्वम्' गोब्रा०, १. ५. १५; 'मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः' शब्रा०, ८. १. १. ९; 'मनोऽन्तरिक्षलोकः' शब्रा०, १४. ४. ३. ११; 'मनः पितरः' शब्रा०, १४. ४. ३. १३; 'मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ' शब्रा०, ८. १. १. ७; 'न वै वातात् किंचनाशीयोऽस्ति न मनसः किंचनाशीयोस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति' शब्रा०, ५. १. ४. ८; मन एवाग्निः' शब्रा०, १०. १. २. ३; 'मनो ह वा अस्य सविता' शब्रा०, ४. ४. १. ७; 'मनो वै सविता' शब्रा०, ६. ३. १. १३; 'मनः सावित्रम्' कौब्रा०, १६. ४; 'यन्मनः स इन्द्रः' गोब्रा०, २. ४. ११; 'मनः प्रगाथः' जैउब्रा०, ३. ४. ३; 'मन एव वत्सः' शब्रा०, ११. ३. १. १; 'मनो ह वा अंशुः' शब्रा०, ११. ५. ९. २; 'मनो वा ऋतम्' जैउब्रा०, ३. ३६. ५; 'मनो वै सरस्वान्' शब्रा०, ७. ५. १. ३१; 'स एष हृदः कामानां पूर्णो यन्मनः' जैउब्रा०, १. ५८. ३; 'मनो वै समुद्रः' शब्रा०, ७. ५. २. ५२; 'मनो वै समुद्रश्छन्दः' शब्रा०, ८. ५. २. ४; 'वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः' तांब्रा०, ६. ४. ७; 'तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्' जैउब्रा०, १. ५८. ३; 'मनो वै ग्रावस्तोत्रीया' ऐब्रा०, ६. २; 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' शब्रा०, १४. ४. ३. ९; 'नेव हि सन्मनो नेवासत्' शब्रा०, १०. ५. ३. २; 'अनिरुक्तं हि मनोऽनिरुक्तं ह्येतत् यत् तूष्णीम्' शब्रा०, १. ४. ४. ५; अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्' शब्रा०, १. ४. ४. ७; 'मनो वा एतद् यदपरिमितम्' कौब्रा०, २६. ३; 'अनन्तं वै मनः' शब्रा०, १४. ६. १. ११; 'मनो देवः' गोब्रा०, १. २. १०; 'वृषा हि मनः' शब्रा०, १. ४. ४. ३; 'वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्' ऐब्रा०, ५. २३; 'वागिति मनः' जैउब्रा०, ४. २२. ११; 'वाक् च वै मनश्च हविर्धाने' कौब्रा०, ९. ३; 'मनो हि पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति' तांब्रा०, ११. १. ३; 'वाग्

---

[१] वोबू०।

[१] आ०ले०, १८०; द्र०—**धर्म**।

[२] वोबू०।

[३] ह्विटनी, ट्रां० अवे०, १५९।

[४] द्र०—राथ, ग्रीवन्तिसग लीडर, १७४।

[५] ऋ० ग्लासर, १३१; कोमेंटार, १९६।

वै मनसो ह्रसीयसी' शब्रा०, १. ४. ४. ७; 'वाचो मनो देवता मनसः पशवः' जैउब्रा०, १. ५९. १४; 'इयं (पृथिवी) वै वाक् अदो (अन्तरिक्षं) मनः' ऐब्रा०, ५. ३३; 'न ह्ययुक्तेन मनसा किं चन संप्रति शक्नोति कर्तुम्' शब्रा०, ६. ३. १. १४; 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येवापीयति मनसा शृणोति' शब्रा०, १४. ४. ३. ८; 'अर्धभाग् वै मनः प्राणानाम्' षब्रा०, १. ५; मनसि वै सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, ७. ५. २. ६; 'मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः' शब्रा०, १४. ३. २. ३; 'मनो यजमानस्य (रूपम्), शब्रा०, १२. ८. २. ४; 'मनसा वा इदं सर्वमाप्तम्' शब्रा०, १. ७. ४. २२; 'मनो हृदये (श्रितम्)' तैब्रा०, ३. १०. ८. ६; 'कस्मिन् नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति' शब्रा०, १४. ६. ९. २५; 'मनसि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः' शब्रा०, ६. ७. १. २१; 'वागेवर्चश्च सामानि च मन एव यजूंषि' शब्रा०, ४. ६. ७. ५; 'अथ यन्मनो यजुष्टत्' जैउब्रा०, १. २५. ९; 'मनो वै यजुः' शब्रा०, ७. ३. १. ४०; 'मनो यजुर्वेदः' शब्रा०, १४. ४. ३. १२; 'मनो वाव साम्नः श्रीः' जैउब्रा०, १. ३९. २; 'चन्द्रमा मे मनसि स्थितः' तैब्रा०, ३. १०. ८. ५; 'यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः' शब्रा०, १०. ३. ३. ७; 'मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते' शब्रा०, १. ४. ३. ६; 'अथ यत् कृष्णं तदपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषः' जैउब्रा०, १. २५. ९।

मनस—ऋग्वेद ५. ४४. १० में सायण के अनुसार किसी ऋषि का नाम मनस है। तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३९।

मना—ऋग्वेद ८. ७८. २ में दानों की सूची में मना का उल्लेख है, जिसे स्वर्णिम बताया गया है (सचा मना हिरण्यया)। यह कोई आभूषण या माप है, जिसे ग्रीक 'मन' और लैटिन 'मिना' से मिलाया जा सकता है। ये तीनों शब्द सेमिटिक मूल के माने गए हैं। भारत में बेबिलन से इसके पहुँचने का निर्देश किया गया है;[1] और यह परिप्लावन की कथा एवं नक्षत्र के कुछ बेबिलोनियन तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए एक साक्ष्य-मात्र है। वैदिक साहित्य में मना शब्द उस इच्छार्थक मनन का वाचक हो सकता है, जो अनेक स्थलों पर आया है: ऋ० १. १७३. २; ४. ३३. २; १०. ६. ३; वासं०, ४. १९ इत्यादि। अतः इसका अर्थ 'इष्ट पदार्थ' हो सकता है। बोह्टलिङ्क की डिक्शनरी में इसके अर्थ केवल 'कामना', 'इच्छा और ईर्ष्या' आए हैं।

मनावी—मनु की पत्नी। शतपथ ब्राह्मण १. १. ४. १६ और काठक संहिता ३०. १ में मनावी का उल्लेख है। द्र०—**मनु**।

मनु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मनु पुराकथात्मक व्यक्ति बन गए हैं: ऋ० १. ८०, १६; २. ३३. १३; ८. ६३. १; १०. १००. ५ इत्यादि; अवे०, १४. २. ४१; तैसं०, १. ५. १. ३; ७. ५. १५. ३; २. ५. ९. १; २. ६. ७. १; ३. ३. २. १; ५. ४. १०. ५; ६. ६. ६. १; कासं०, ८. १५; शब्रा०, १. १. ४. १४; जैउब्रा०, ३. १५. २ इत्यादि।[1] वे प्रथम पुरुष हैं, जाति के जन्मदाता और उसके रक्षक हैं। मनु और उनके कनिष्ठ पुत्र **नाभानेदिष्ट** के नाम के साथ उत्तराधिकार की एक कथा संलग्न है। (तैसं०, ३. १. ९. ४; ऐब्रा०, ५. १४. १, २)। जलप्लावन की वैदिक कथा के वे ही नायक हैं: शब्रा०, १. ८. १. १; कासं०, ११. २। मनु को विवस्वन्त् (ऋ० ८. ५२. १) या वैवस्वत, 'विवस्वन्त् का पुत्र' कहा गया है: अवे०, ८. १०. २४; शब्रा०, १३. ४. ३. ३; आश्रौसू०, १०. ७; निरुक्त, १२. १०। उन्हें **सार्वाण** (अर्थात् सरण्यू की छाया सवर्णा का अपत्य), तथा **सांवरणि** (संवरण का अपत्य) भी कहा गया है: ऋ० ८. ५१. १; अन्य संदर्भ के लिए द्र०—उपर्युक्त संदर्भ। वैवस्वत नाम निःसंदेह पुराकथात्मक है। सार्वाण को लुड्विग[2], ने तुर्वशों का राजा माना है; किंतु यह चिन्त्य है। तु०— प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत' शब्रा०, ६. ६. १. १९; 'अश्वा ह वा इयं (पृथिवी) भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः' शब्रा०, १४. १. ३. २५; 'ये विद्वांसस्ते मनवः' शब्रा०, ८. ६. ३. १८; 'आयुर्वै मनुः' कौब्रा०, २६. १७; 'य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति' तैब्रा०, २. ३. ८. ३; 'मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः' शब्रा०, १३. ४. ३. ३; 'मनुर्यज्ञ इत्यु वा आहुः' शब्रा०, १. ५. १. ७; 'मनुर्ह वा अग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते' शब्रा०, १. ५. १. ७; 'तस्य (मनोः) अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवादा बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मापारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति' शब्रा०, १. ८. १. १–२; 'मनुर्वै यत् किं चावदत् तद् भेषजं भेषजतायै' तांब्रा०, २३. १६. ७।

---

[1] त्सिमर, आले०, ५०, ५१; वेबर, इस्टू०, ५. ३८६; १७, २०२, २०३; वाकरनागल, आल्ति० ग्रा०, १. २२; हापकिन्स, जअओसो०, १६. २७८।

[1] द्र०—मैकडानल, वैमा०, ५०।

[2] ट्रां० ऋ०, ३. १६६।

मनुष्य—'स (प्रजापतिः) पितॄन्त्सृष्ट्वा मनस्यैत्। तदनु मनुष्यानसृजत्। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। य एवं वेद मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति' तैब्रा०, २. ३. ८. ३; 'उभयं वैतत् प्रजापतिर्यच्च देवा यच्च मनुष्याः' शब्रा०, ६. ८. १. ४; उभये ह वा इदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च' शब्रा०, २. ३. ४. ४; 'देवानां वै विधामनु मनुष्याः' शब्रा०, ६. ७. ४. ९; 'मनुष्याननु पशवः देवाननु वयांस्योषधयो वनस्पतयः' शब्रा०, १. ५. २. ४; 'द्राघीयो हि देवायुष्यं ह्रसीयो मनुष्यायुषम्' शब्रा०, ७. ३. १. १०; 'उभये देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति' शब्रा०, ६. ४. ४. २२; 'एतद् वै देवानां परममन्नं यत् सोमः। एतन्मनुष्याणां यत् सुरा' तैब्रा०, १. ३. ३. ३; 'सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः' शब्रा०, १. १. १. ४; 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः' ऐब्रा० १. ६; 'मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इत्यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति तानुपदिशत्यृचो वेदः' शब्रा०, १३. ४. ३. ३; 'द्विरह्नो मनुष्येभ्य उपह्रियते प्रातश्च सायं च' तैब्रा०, १. ४. ९. २; 'अथैनं (प्रजापतिं) मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तान् (प्रजापतिः) अब्रवीत् सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति' शब्रा०, २. ४. २. ३; 'नैव देवाः (प्रजापतेराज्ञाम्) अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद् यो मनुष्याणां मेद्यत्यशुभे मेद्यति विहूर्छति हि न ह्ययनाय च न भवत्यनृतं हि कृत्वा मेद्यति तस्मादु सायं प्रातराश्येव स्यात् स यो हैवं विद्वान् सायं प्रातराशी भवति सर्वं हैवायुरेति' शब्रा०, २. ४. २. ६; 'रयिरिति मनुष्याः (उपासते), शब्रा०, १०. ५. २. २०; 'तस्मै (वृत्राय) ह स्म पूर्वाह्णे देवा अशनमभिहरन्ति मध्यंदिने मनुष्या अपराह्णे पितरः' शब्रा०, १. ६. ३. १२; 'मनुष्याणां वा एषा दिग् यत् प्रतीची' षब्रा०, ३. १; 'प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः' शब्रा०, ७. ४. २. ४०; 'उदीची हि मनुष्याणां दिक्' शब्रा०, १. २. ५. १७; 'अथ योत्तरा (आहुतिः) ते मनुष्याः' शब्रा०, २. ३. २. १६।

मनुष्य-राज्, मनुष्य-राजन्—परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में राजा का यह नाम है: वासं०, २४. ३०; ऐब्रा०, १. १५. ६; कासं०, २४. ७; पंविब्रा०, १८. १०. ५; ऐब्रा०. ८. २६. ४।

मनोर् अवसर्पण—शतपथ ब्राह्मण १. ८. १. ८ में उस पर्वतीय स्थान का नाम **मनोर् अवसर्पण** है, जहां पर मनु की नौका थमी थी। आर्ष काव्य में इसका नाम **नौ-बन्धन** है; अथर्ववेद १९. ३९. ८ के नाव-प्रभंशन को इससे नहीं मिलाया जा सकता।[1]

मनुष्य-लोकः—'सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' शब्रा०, १४. ४. ३. २४।

मनुष्य-विश्, मनुष्य-विश, मनुष्य-विश्य—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मनुष्य या मनुष्-जाति के ये नाम हैं: तैसं०, ५. ४. ७. ७; ६. १. ५. ३; कासं०, ११. ६; २३. ८; ऐब्रा०, १. ९. १।

मनुष्य-सव - 'य इष्ट्या सूयते स मनुष्यसवः' तैब्रा०, २. ७. ५. १।

मनोता—'तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि वाग् वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि गौर्हि देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि अग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतानि अग्निः सर्वा मनोता अग्नौ मनोताः संगच्छन्ते' ऐब्रा०, २. १०; 'वाग् वै देवानां मनोता' कौब्रा०, १०. ६; 'गौर्वै देवानां मनोता' कौब्रा०, १०. ६।

मन्त्र—√मन् 'चिन्तन करना' से निष्पन्न। ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में सूक्त या ऋचा को मन्त्र कहा गया है, क्योंकि वह कवि के मनन का परिणाम था: ऋ० १. ३१. १३; १. ४०. ५; १. ६७. ४; १. ७४. १; १. १५२. २; २. ३५. २ इत्यादि; अवे०, १५. २. १; १९. ५४. ३; तैसं०, १. ४. ४. १; १. ५. ५. १)। ब्राह्मणों में ऋचाओं के अतिरिक्त यज्ञ-संबन्धी गद्य के यजुषों को भी मन्त्र कहा गया है; इनमें से अधिकांश बहुत प्राचीन हैं: ऐब्रा०, ५. १४, २३; ६. १; कौब्रा०, २६. ३. ५; शब्रा०, १. ४. ४. ६; ११. २. १. ६; निरुक्त, ७. १; छाउ०, ७. १. ३। तु० 'ब्रह्म वै मन्त्रः' शब्रा०, ७. १. १. ५; 'वाग् वै मन्त्रः' शब्रा०, ६. ४. १. ७।

विवरण: ब्लूमफील्ड, वेदिक कंकार्डेंस, भूमिका का पृष्ठ—८।

मन्त्र-कृत्—मन्त्र बनाने वाला कवि: ऋ०, ९. ११४. २; ऐब्रा०, ६. १. १; पंविब्रा०, १३. ३. २४; तैआ०, ४. १। तु० 'एष वाव पिता यो मन्त्रकृत्' तांब्रा०, १. ३. ३. २४।

मन्थ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में एक पेय को—जिसमें कई पदार्थ मथ दिये जाते थे, मन्थ कहा गया है: ऋ० १०. ८६. १५; अवे०, २. २९. ६; ५. २९. ७; १०. ६. २; १८. ४. ४२; २०. १२७. ९; तैसं०, १. ८. ५. १। विशेषतः सत्तू (सक्तु) को दूध में मिलाया

[1] द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ९६१; मैकडानल, जरा-एसो०, १९०७, ११०७; पहले के मत के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा०, १३९; ह्विटनी, इस्टु०, १. १६२; त्सिमर, आले०, ३०, ब्लूमफील्ड, हिम्स० ६७६।

जाता था : शब्रा०, ४. २. १. २; सुश्रुत १. २३३. १२। सभी प्रकार के मन्थों का उल्लेख शांखायन आरण्यक १२. ८ में आया है।

मन्था—ऋग्वेद १. २८. ४ में मथानी के लिए मन्था शब्द आया है। तैत्तिरीय संहिता २. २. १०. २ में √मन्थ् धातु मथने के अर्थ में प्रयुक्त है; द्र०—शब्रा०, ५. ३. २. ६; छाउ०, ६. ६. १।

मन्थावल—ऐतरेय ब्राह्मण ३. २६. ३ में एक जानवर का नाम मन्थावल है। वोबृ० के अनुसार यह सर्प है। सायण के अनुसार यह ऐसा जानवर है जो वृक्ष की शाखा के आधार पर लटक कर सिर नीचे करता है, चमगीदड़ ? तु० **मान्थाल, मान्थीलव**।

मन्थिन्—मन्थ-संयुक्त; **सक्तु** आदि के साथ मथ कर मिलाये गए दूध को मन्थिन् कहा गया है : ऋ० ३. ३२. २; ९. ४६. ४; तैसं०, ३. १. ६. ३; ६. ४. १०. १; ७. २. ७. ३; वासं०, ७. १८; ८. ५७; १३. ५७; १८. १९; ऐब्रा०, ३. १. ६ इत्यादि। तु० 'अत्रव शुक्र आद्यो मन्थी' शब्रा०, ४. २. १. ३; 'आद्यो वै मन्थी' शब्रा०, ५. ४. ४. २१; 'चन्द्रमा एव मन्थी' शब्रा०, ४. २. १. १।

मन्दीर—एक ऐसे व्यक्ति का नाम मन्दीर है, जिसके पशुओं ने गङ्गा का पानी कभी नहीं पिया था : काश्रौसू०, १३. ३. २१। तु०—**मंगीर**।

१ मन्धातृ—ऋग्वेद १. ११२. १३; ८. ३९. ८; ८. ४०. १२; १०. २. २ में मन्धातृ शब्द आया है : राथ[१] ने सभी स्थलों पर 'पवित्र मनुष्य' यह अर्थ किया है। १०. ८. ८ में तो यह अग्नि का विशेषण है; किंतु ८. ४०. १२ म जहाँ अङ्गिरस्वत् के साथ मन्धातृवत् शब्द आया है, वहाँ 'मन्धातृ' को निःसंदेह व्यक्तिवाचक होना चाहिए; संभवतः वही भाव ८. ३९. ८ में भी है। ऋ० १. ११२. १३ में संभवतः एक दूसरे मन्धातृ का उल्लेख आया है, जो **अश्विनों** के कृपा-पात्र एक राजा थे। लुड्विग,[२] और ग्रिफिथ[३] ने राजर्षि के रूप में दोनों व्यक्तियों को एक माना है।

२ मन्धातृ यौवनाश्व—युवनाश्व का वंशज। गोपथ-ब्राह्मण १. २. १० में एक सम्राट् का यह नाम है। इन्हें **कबन्ध आथर्वण** के पुत्र **विचारिन्** ने शिक्षा दी थी।

मन्मन्—कुछ स्थलों में मन्मन् शब्द विचार के अर्थ में आया है : ऋ० १०. १२. ८; १. १५१. ६ इत्यादि।

[१] वोबृ०।

[२] ट्रां० ऋ०, ३. १०७।

[३] हिम्स आ० दि ऋ०, १. १४७।

बाद में यह स्तोत्र के अर्थ में आया है : ऋ० ८. ४४. २; ६. ३८. ४; ६. ५६; २. ४. ८; ८. ४१. २ इत्यादि।

मन्या—गले की घाटी। अथर्ववेद ६. २५. १ में एक रोग के विरुद्ध मन्या का उल्लेख है। ब्लूमफील्ड ने इस रोग को गले का शोथ माना है।[१] 'मैनस्कन्दर' शब्द को उन्होंने 'मन्या' और 'स्कन्या' शब्दों के योग से बना माना है।[२]

१ मन्यु—मन की अवस्था-विशेष। कुछ स्थलों पर मन या मन की अवस्था के अर्थ में यह शब्द आया है : ऋ० ७. ६१. १; ८. ६७. ६; ६. १६. ४३; ८. ७१. ३; ८. ७३. ४; १. १०१. २; तैसं०, २. १. ३. २; २. २. ८. ३। बाद में उत्साह, स्फूर्ति आदि से आगे बढ़कर यह क्रोध का द्योतक बन गया है : ऋ० ७. ३६. ४; ४. ३१. ६; ४. ७. २; ६. ४६. ४ इत्यादि।

२ मन्यु—निघण्टु ५. ४ और निरुक्त १०. २९ में मन्यु के देवी के रूप में मूर्त होने का उल्लेख है। मूर्त मन्यु ऋग्वेद काल से ही पाया जाता है। ऋ० १०. ८३. ४; शब्रा०, ९. १. १. ६, १४; तैआ०, १०. ३१; गोभिल, १. ४. १७ इत्यादि। तु० 'पशूनां वा एष मन्युः। यद्वराहः' तैब्रा०, १. ७. ९. ४।

ममता—सायण के अनुसार ऋग्वेद ६. १०. २ में ममता **उचथ्य** की पत्नी और **दीर्घतमस्** की माता का नाम है। सभवतः यह 'ममत्व' के अर्थ में ही हो, जैसा कि बाद के साहित्य में आता है। ओल्डेनबर्ग[१] ने ऋग्वेद ६. ५०. १५ में ममत (पुं०) को एक **भरद्वाज** का वाचक माना है।

मय—वासं०, २२. १९ में मय अश्व का नाम है।

मयन्द—'यद् वा अनिरुक्तं तन्मयन्बम्' शब्रा०, ८. २. ३. ११।

मयस्—निघण्टु ३. ६ में मयस् शब्द सुख के पर्यायों के अन्तर्गत है। इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद-काल से ही आता रहा है : ऋ० १. १७५. ६; १. ३१. ७; १. ९३. १; १. ८९. ३; १. ११४. २; १. १८६. ५; ५. ४६. ४; ८. १८. ७; १०. ६४. १; ३. १. ३; वासं०, ७. ४७ इत्यादि।

मयु—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में मयु का उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार ने इसे

[१] प्रो० आ० दि अ० ओ० सो०, अक्टूबर, १८८७, १९; अजफि०, ११. ३२७; हिम्स०, ४७५।

[२] तु०—वाइज़, सिस्टेम आफ हिन्दू मेडिसिन, ३१६।

[१] त्सादामौगे०, ४२. २१२।

किंपुरुष (लंगूर) या आरण्य मयूर माना है: तैसं०, ५. ५. १२, १; वासं०, २४. ३१। वासं०, ८. ४७ से लंगूर का अर्थ समर्थित होता है, जहाँ मयु को मनुष्य का स्थानापन्न कहा गया है। अन्यत्र भी यह अर्थ ठीक बैठ जाता है: शब्रा०, ७. ५. २. २२; तु०—त्सिमर, आ०ले०, ८५; वेबर, इस्टू०, ९. २४६।

मयूख—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में खूंटी, विशेषतः ताने की खूंटी को मयूख कहा गया है: ऋ० ७. ९९. ३; तैसं०, २. ३. १. ५; कासं०, ११. ६; ऐब्रा०, ५. १५. ९ इत्यादि; ताने की खूंटी: ऋ० १०. १३०. २; अवे०, १०. ७. ४२; कासं०, २६. ६; तैब्रा०, २. ५. ५. ३।

मयूर—ऋग्वेद में इन्द्र के अश्वों को मोर के समान रोयेंवाला (मयूर-रोमन्: ऋ०, ३. ४५. १) और मोर के समान पूंछ वाला (मयूर-शेप्य: ऋ० ८. १. २५) कहा गया है। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में भी मयूर आया है: मैसं०, ३. १४. ४; वासं०, २४. २३; २४. २७. ऋग्वेद और अथर्ववेद में मयूरी का उल्लेख है, जहां विष के प्रतिकूल उसके प्रभाव का कथन है: ऋ० १. १९१. १४; अवे०, ७. ५६. ७। (तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९०)।

मरीचि—बहुवचन में मरीचि शब्द को वायु को प्रपूरित करने वाले ज्योतिष्कणों के अर्थ में वेबर[१] ने लिया है; यह अर्थ प्राचीन साहित्य में ठीक बैठता है: ऋ० १०. ५७. १२; १०. १७७. १; अवे०, ४. ५८. ५; ५. २७. १०; ६. ११३. २; तैसं०, ६. ४. ५. ५; तैब्रा० २. २. ९. २; किंतु उपनिषदों में यह शब्द किरणों के अर्थ में आया है: प्रउ०, ४. २; तु० तैउ०, १. १. २; १. २. १; मैउ०, ६. ३१। ऐतरेय उपनिषद् १. २ में पहला अर्थ ही ठीक है।

मरु—बहुवचन में मरवः शब्द तैत्तिरीय आरण्यक ५. १. १ में आया है: इसे **कुरुक्षेत्र** का उत्कर (यज्ञवेदि के बासी सामान फेंकने का स्थान) कहा गया है। यह मरुस्थल के अर्थ में है; इसे **कुरुक्षेत्र** का उत्कर इसीलिए कहा गया है; क्योंकि **कुरुक्षेत्र** का इस वीरान स्थान से वैसा ही संबन्ध था, जैसा यज्ञ-वेदि का उत्कर से होता है। तु०—एगलिंग, सेबुई०, १२. २५, ५४; त्सिमर, आ० ले०, ४८।

मरुत्—ऋग्वेद में वायु एवं आंधी के देवों के रूप में मरुतों का अनेकशः वर्णन आया है। मरुतों की माता पृश्नि है: ऋ० १. २३. १०; वे देवों की **विश्** हैं: तैसं०, २. २. ५. ७। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैक्डानल. वैमा०।

[१] इस्टू० ९. ९; वोबू।

तु० 'मरुतो रश्मयः' तांब्रा० १४. १२. ९; युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति 'युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाह' शब्रा० ५. १. ४. ९; 'गणशो हि मरुतः' तांब्रा० १९. १४. २; 'मरुतो गणानां पतयः' तैब्रा० ३. ११. ४. २; 'सप्त हि मारुतो गणः' शब्रा० २. ५. १. १३; सप्त वै मारुतो गणः' शब्रा० ५. ४. ३. १७; 'मारुतः सप्तकपालः (पुरोडाशः)' तांब्रा० २१. १०. २३; 'मरुतो हि देवानां भूयिष्ठाः' तांब्रा०, १४. १२. ९; तैब्रा० २. ७. १०. १; 'मरुतो ह देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः' कौब्रा० ७. ८; 'मरुतो वै देवानां विशः' ऐब्रा० १. ९; 'अहुतादो वै देवानां मरुतो विट्' शब्रा० ४. ५. २. १६; 'विड् वै मरुतः' तैब्रा० १. ८. ३. ७; 'मारुतो हि वैश्यः' तैब्रा० २. ७. २. २; 'कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः' तैब्रा० २. ४. ८. ७; 'पशवो वै मरुतः' ऐब्रा० ३. १९; 'अन्नं वै मरुतः' तैब्रा० १. ७. ३. ५. 'प्राणा वै मारुताः' शब्रा० ९. ३. १. ७; 'मारुता वै ग्रावाणः' तांब्रा० ९. ९. १४; 'मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम्' तैब्रा० १. ४. ६. २; 'अप्सु वै मरुतः शिताः' कौब्रा० ५. ४; 'आपो वै मरुतः' ऐब्रा० ६. ३०; 'मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिदन् साशनिरभवत्' तैब्रा० १. १. ३. १२; 'मरुतो वै वर्षस्येशते' शब्रा० ९. १. २. ५; 'इन्द्रस्य वै मरुतः' कौब्रा० ५. ४. ५; 'अथैनम् (इन्द्रम्) ऊर्ध्वायां दिशि मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवा अभ्यषिञ्चन् पारमेष्ठ्याय माहाराज्याधिपत्याय' ऐब्रा० ८. १४; 'मारुत्यो वत्सतर्यः' तांब्रा० २१. १४. १२; 'इन्द्रस्य वै मरुतः क्रीडिनः' कौब्रा० ५. ५; 'मरुतो वै सांतपना मध्यंदिने वृत्रं संतेपुः स संतप्तोऽनन्नेव प्राणान् परिदीर्णः शिश्ये' शब्रा० २. ५. ३. ३;

मरुत्त आविक्षित कामप्रि—अविक्षित् का वंशज, कामप्र का वंशज। यह एक राजा है; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. १२; के अनुसार **संवर्त** ने इसका अभिषेक किया था। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ६; में उसे **आयोगव** भी कहा गया है। तु०-शांश्रौसू०, १६. ९. १४. १६; मैउ०, १. ४;

मरुत्वतीय—'पवमानोक्थं वा एतद् यन्मरुत्वतीयम्' ऐब्रा० ८. १;

मरुत्स्तोम—'अथैष मरुत्स्तोमः एतेन वै मरुतोऽपरिमितां पुष्टिमपुष्यन्नपरिमितां पुष्टिं पुष्यन्ति य एवं वेद' तांब्रा० १९. १४. १.

मरुद्-वृधा—ऋग्वेद के नदी-सूक्त १०. ७५. ५ में **असिक्नी** और **वितस्ता** के साथ मरुद्-वृधा का भी उल्लेख है; इसका शाब्दिक अर्थ है "मरुतों से बढ़ने वाली या वर्षा

में बढ़ने वाली"; देखो पाणिनि, ६. २. १०६ पर वार्त्तिक २। राथ[1] का मत है कि उक्त दो नदियों के मिश्रित जल को **परुष्णी** में इनके गिरने के स्थान तक मरुद्-वृधा कहा गया है; त्सिमर[2] ने भी यही माना है। किंतु लुड्विग[3] का कहना है कि उन दो नदियों के **परुष्णी** से संगम-स्थल का नाम मरुद्-वृधा है।

१. मर्क—ऋग्वेद १०. २७. २० में मर्क शब्द आया है ('सूरो मर्कः') सायण ने इसका अर्थ "पवित्र करने वाला" किया है (√मृज् शुद्धौ); किंतु राथ ने इसका अर्थ सूर्य किया है (√मृच्) वोबू०।

लुड्विग ने भी सूर्य-ग्रहण के अर्थ में लिया है। प्रो० आ० दि बोहेमियन एकेडेमी, १८८५; किंतु ह्विटनी ने इसका खण्डन किया है : जअओसो०, १३. ६१, द्र०-**सूर्य**।

२. मर्क—तैत्तिरीय संहिता में एवं अन्यत्र **शण्ड** के साथ मर्क को असुरों का पुरोहित बताया गया है, जब कि **बृहस्पति** देवों के पुरोहित कहे गए हैं : तैसं०, ६. ४. १०. १; मैसं०, ४. ६. ३; तैब्रा०, १. १. १. ५; शब्रा० ४. २. १. ४। अन्यत्र भी मर्क का उल्लेख आता है : वासं०, ७. १६; ७. १७ संभवतः यह शब्द ईरानी हो[4]। हिल्लेब्राण्ड्ट[5] ने इसे गृध्र के अर्थ में लिया है : ऋ० ५. ७७. १; तैआ०, ४. २९; मैसं०, ४. ९. १९।

मर्कट—बन्दर। याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में मर्कट का उल्लेख आया है : तैसं०, ५. ५. ११. १; मैसं०, ३. १४. ११; वासं०, २४. ३०। उन्हीं संहिताओं में इसे हाथी और मनुष्य के समान हाथ से वस्तु ग्रहण करने वाला कहा गया है; जबकि अन्य पशु मुख से वस्तु ग्रहण करने वाले बताये गए हैं : तैसं०, ६. ४. ५. ७; मैसं०, ४. ५. ७। अन्यत्र भी इसका उल्लेख आया है : ऐआ०, ३. २. ४; जैब्रा०, १. १८४; तैआ०, ३. ११. ३२ इत्यादि। तु०-**पुरुष-हस्तिन्**, **मयु**। तु०-त्सिमर, आले०, ८५।

मर्डितृ—सुख देने वाले के अर्थ में मर्डिता शब्द देवों का विशेषण बनकर आया है : ऋ० १. ८४. १९; ८. ५५. १२; ४. १७. १७; ४. १८. १३; ८. ६९. १; १०. ३४. ३; १०. ६४. २; १०. ११७. २ इत्यादि।

[1] त्सूर०, १३८। [2] आले०, ११, १२।

[3] ट्रांऋ०, ३. २००

[4] द्र०-हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि० ३. ४४२; हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ४९. टि०-१।

[5] उक्त १. १२३। तु०-एगलिङ्ग, सेबुई० २६. २९७ एवं आगे।

मर्त्य—मरण-धर्मा, मनुष्य। मनुष्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद-काल से ही पाया जाता है : ऋ० १. १९. २; २. ७. २; ४. १. १; ४. २२. ९; वासं०, ३. ४८ इत्यादि।

आरम्भ में देवता भी मर्त्य थे : 'मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः' शब्रा०, ११. १. २. १२; तु०-२. २. २. ८। "प्रजापति का अर्ध भाग मर्त्य और अर्धभाग अमर्त्य था :' प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्' शब्रा०, १०. १. ३. २; तु०-१०. १. ४. १ इत्यादि। तु०-'अनात्मा हि मर्त्यः' शब्रा० २. २. २. ८।

मर्मन्—जीव-स्थान के अर्थ में मर्म शब्द का प्रयोग ऋग्वेद-काल से ही मिलता है : ऋ० १. ६१. ६; ३. ३२. ४; ५. ३२. ५; ६. ७५. १८; ८. ८९. ७; १०. ८७. १५; कासं०, ३६. ८; निरुक्त, ९. २८ इत्यादि।

१. मर्य—ऋग्वेद में मनुष्य, विशेषतः युवती के सहचर को मर्य कहा गया है : ऋ० ३. ३१. ७; ३. ३३. १०; ४. २०. ५; ९. ९६. २० इत्यादि; **मर्य-श्री** : २. १०. ५; तु०-निरुक्त, ३. १५; ४. २।

२. मर्य—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर अश्व को मर्य कहा गया है : ७. ५६. १६; ८. ४३. २५। ऋग्वेद ९. ९७. १८[1], में इसे पस्त्या-वन्त् (घुड़साल वाला) कहा गया है; अर्थात् यह बहुत देख भाल से रखा जाने वाला पशु है। अश्व का मर्य नाम संभवतः मनुष्य के साथ तुलना पर आधृत हो।

मर्य-क—ऋग्वेद ५. २. ५ में केवल एक बार आने वाला यह शब्द संभवतः गौओं से अलग किए गए वृषभ को जताता है। तु०-ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटेन, १. ३१३।

मर्यादा—सीमा : **कोशलों** और **विदेहों** के बीच की मर्यादा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १७; (तु०-१३. ८. ४. १२) में मिलता है। प्रायः यह शब्द आलंकारिक रूप से प्रयुक्त है : ऋ० ४. ५. १३, १०. ५. ६; अवे०, ६. १८. २; अथर्ववेद के अनुवाद (पृ० २९२) में ह्विटनी ने इसे मर्याद या 'पुत्र-प्रद' अर्थ में लिया है।

मल—ऋग्वेद १०. १३६. २ में मुनियों के परिधान को मल कहा गया है। वोबू० में इसे चर्म-परिधान कहा गया है। (√म्ला से निष्पन्न); किंतु त्सिमर[2] ने इसे मैले के अर्थ में लिया है, जो अथर्ववेद ६. ११५. ३; ७. ८९. ३; १०. ५. २४ इत्यादि के मैल या धूल अर्थ से मिलता है।

[1] तु०-वोबू०।

[2] आ०ले०, २६२।

मल-ग—अथर्ववेद १२. ३. २१ में धोबी का नाम मल-ग है; किंतु इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है।

मलिम्लु—यजुर्वेद में यह डाकू के लिये आया है; महीधर के अनुसार यह सेंध मारने वाला चोर है : तैसं०, ६. ३. २. ६; वासं०, ११. ७८; ११. ७९; अवे०, १९. ४९. १०। द्र०—**तायु, तस्कर, स्तेन,** और **देव-मलिम्लुच्।**

मलि-म्लुच्—काठक संहिता ३०. १०; ३२. १४ में यह मल-मास का बोधक है। द्र०—**मास।**

१. **मशक**—मच्छर है। अथर्ववेद ७. ३६. ३ में इसे तेज काटने वाला (तृप्रदंशिन्) और विषैली नोक वाला कहा गया है। हाथियों को इसके दंश का शिकार कहा गया है : अवे०, ४. ३६. ९। अन्यत्र भी इसका उल्लेख आता है : अवे०, ११. ३. ५; मैसं०, ३. १४. ८; वासं०, २४. २९; २५. ३; बृउ०, १. ३. २४ माध्यं०=१. ३. २२ काण्व; छाउ०, ६. ९. ३; ६. १०. २ तु०—**दंश।** तु०—त्सिमर, आले०, ९७।

२. **मशक गार्ग्य**—गर्ग का वंशज। वंश ब्राह्मण[1] में **स्थिरक गार्ग्य** के शिष्य का यह नाम है। सूत्रों में भी इनका नाम आता है; और वे एक विस्तृत कल्पसूत्र के रचयिता कहे गए हैं : लाश्रौसू०, ७. ९. १४; अनुपद सू०, ९. ९[2]।

मशशरि—ऋग्वेद १. १२२. १५ में लुड्विग[3] के अनुसार, नहुषों के एक राजा का नाम मशशरि है।

मष्णार—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ३ में कुरु-राजा की विजय का एक स्थान मष्णार है। तु०—भागवत पुराण, ५. १३. २६।

मसूय—तैत्तिरीय ब्राह्मण ५. ८. १४. ६ में आये मसूय को भाष्यकार ने उत्तरी भारत का एक अन्न माना है। मसूय=मसूर ?

मसूर—वाजसनेयि संहिता १८. १२ और बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३. २२ माध्यं=६. ३. १३ काण्व में एक दाल का नाम मसूर है।

मसूस्य—धान्य-विशेष। 'सर्वासां वा एतद् देवतानां रूपं यन्मसूस्यानि' तैब्रा० ३. ८. १४. ६।

मस्तक—द्र०—**शरीर।**

मस्तिष्क—दिमाग के अर्थ में अथर्ववेद २. ३३. १ में आया है। द्र०—**शरीर।**

[1] इस्तू०, ४. ३७३, ३८२।

[2] तु०—वेबर, इंदि० लिट०, ७५, ७६, ८३, ८४।

[3] ट्रां० ऋ०, ३. २०६।

मस्तु—यायुष संहिताओं में अम्ल दधि को मस्तु कहा गया है : तैसं०, ६. १. १. ४; कासं०, ३६. १; शब्रा०, १. ८. १. ७; ३. ३. २।

महर्त्विज्—ब्राह्मणों में चार प्रमुख ऋत्विजों, अर्थात् अध्वर्यु, ब्रह्मन्, होतृ और उद्गातृ को महर्त्विज् कहा गया है : शब्रा०, १३. १. १. ४; शाश्रौसू०, १६. १७ इत्यादि। तु० 'अश्वस्य वा आलब्धस्य महिमोदक्रामत्। स महर्त्विजः प्राविशत्। तन्महर्त्विजां महर्त्विक्त्वम्' तैब्रा० ३. ८. २. ४.

महर्षभ—बड़ा वृषभ। अथर्ववेद ४. १५. १ में महर्षभ का उल्लेख आता है।

महर्षि—महान् ऋषि। तैत्तिरीय आरण्यक १. ९. ६ में महर्षि का उल्लेख है। तु०—**महा-ब्राह्मण।**

महस्—भूर् भुवस्, स्वर् के साथ चौथी व्याहृति महस् भी तैत्तिरीय उपनिषद् १. ५. १ में गिनाई गई है। द्र०—**भुवस्।** तु० 'पशवो वै महस्तस्माद्यस्यैते बहवो भवन्ति भूयिष्ठमस्य कुले महीयन्ते' शब्रा० ११. ८. १. ३; 'यज्ञो वै देवानां महः' शब्रा० १. ९. १. ११; 'यजुर्वेदो महः' शब्रा० १२. ३. ४. ९; 'अन्तरिक्षलोको महः' शब्रा० १२. ३. ४. ७; 'वायुर्महः' शब्रा० १२. ३. ४. ८; 'प्राणो महः' शब्रा० १२. ३. ४. १०; 'प्रतीच्येव महः' गोब्रा० १. ५. १५; 'सुवर्गो वै लोको महः' तैब्रा ३. ८. १८. ५; 'रुद्रा एव महः' गोब्रा० १. ५. १५; 'ग्रीष्म एव महः' गोब्रा० १. ५. १५; 'त्रिष्टुबेव महः' गोब्रा० १. ५. १५;

महा-कुल—बड़े वंश का। ऋग्वेद में एक चमस या प्याले को महा-कुल कहा गया है : ऋ० १. १६१. १। इस आलंकारिक भाषा से इतना संकेत मिलता है कि ऋग्वेद के समय में भी कुछ कुलों को ऊँचा समझा जाता था।

महा-कौषीतक—महान् कौषीतक (ब्राह्मण): ऋग्वेद के गृह्य-सूत्रों में एक ग्रन्थ का यह नाम है। आगृसू०, ३. ४. ४; शांगृसू०, ४. १०; ६. १ में महाकौषीतक आचार्य का उल्लेख आया है।

महाज—बड़ा बकरा। शतपथ ब्राह्मण ३. ४. १. २ में महाज का उल्लेख है।

महादमत्र औदवाहि—शांखायन गृह्यसूत्र ४. १०. ३. में ऋषियों की सूची में महादमत्र औदवाहि का उल्लेख आता है। **औदवाहि** शब्द बृहदारण्यक उपनिषद् में भी आता है। द्र०—**औदवाहि।** किंतु दोनों को एक मानने का कोई आधार नहीं दीखता।

महा-दिवाकीर्त्य—सामविशेष। 'एतद्वै प्रत्यक्षं साम यद् महादिवाकीर्त्यम्' कौब्रा० २५. ४।

महा-देव—आरम्भ में महादेव शब्द किसी भी बड़े देवता का विशेषण था : अवे०, ५. २१. ११; ९. ७. ७;

१२. ५. १९; १३. ४. ४; तैसं०, १. ४. ३६. १; कासं०, ३९; किंतु बाद में यह **रुद्र** या **शिव** का नाम पड़ गया है : पंविब्रा० ६. ९. ७, १८; तैआ०, १०. १. २०, अवे-परिशिष्ट ४२. २, आगृसू०, ४. ८. ९, १९; शांश्रौसू०, ४. २०. १ इत्यादि। तु०–'एतान्यष्टौ (रुद्रः, सर्व=शर्वः, पशुपतिः, उग्रः अशनिः, भवः, महान् देवः, ईशानः) अग्निरूपाणि। कुमारो नवमः' शब्रा० ६. १. ३. १८; 'स एषोऽष्टनामाष्टधा विहितो महान् देवः' कौब्रा० ६. ९; (प्रजापतिः) 'तमब्रवीन् महान् देवोऽसीति। तद् यदस्य तन्नामाकरोत् चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः प्रजापतिर्वै महान् देवः' शब्रा० ६. १. ३. १६. 'एष ह वै महान् देवो यद् यज्ञः' गौब्रा० १. २. १६।

महा-धन—ऋग्वेद में बड़े पुरस्कार को महा-धन कहा गया है : ऋ० १. ७. ५; १. ४०. ८; १. ११२. १७; ६. ५९. ७।

महा-नग्न—द्र०–**महानग्नी**।

महा-नग्नी—अथर्ववेद १४. १. ३६; २०. १३६. ५; ऐब्रा०, १. २७. १ में महानग्नी वेश्या का पर्याय है। संभवतः पुँल्लिग का महा-नग्न (आचरण-भ्रष्ट) शब्द महानग्नी के आधार पर बना हो; जैसे सपत्नी के आधार पर सपत्न।

महा-नाग—बड़ा सर्प। शतपथ ब्राह्मण ११. २. ७. १२ में महा-नाग का उल्लेख है, जो संभवतः देवशास्त्रीय है।

महा-नाम्नी—महानाम्नी नामकी ऋचाएँ। तु०–'इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं निरमिमीत तस्मान् महानाम्न्यः' ऐब्रा० ५. ७; 'महानाम्नीभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन्' कौब्रा०, २३. २; 'वज्रो वै महानाम्न्यः' षब्रा० ३. ११।

महा-निरष्ट—बड़ा बधिया बैल। याजुष संहिताओं में **सूत** के घर **राजसूय** यज्ञ के प्रसङ्ग में महा-निरष्ट को दक्षिणा बताया गया है : तैसं०, १. ८. ९. १; कासं०, १५. ४. ९; मैसं०, २. ६. ५।

महा-पथ—दो ग्रामों के बीच के बड़े गोहर को ब्राह्मणों में महा-पथ कहा गया है : ऐब्रा०, ४. १७. ८; छाउ०, ८. ६. २।

महा-पुर—याजुष-संहिताओं और ब्राह्मणों में बड़े पुर या दुर्ग को महापुर कहा गया है : तैसं०, ६. २. ३. १; कासं०, २४. १०; मैसं०, ३. ८. १; ऐब्रा०, १. २३. २; गोब्रा०, २. ७. २।

महा-पैङ्गय—एक वैदिक शाखा-ग्रन्थ का नाम गृह्य-सूत्रों में महा-पैङ्गय आया है : आगृसू०, ३. ४. ४; शांगृसू०, ४. १० तु०–**पैङ्गय**।

महा-बृहती—बृहती छन्द का एक भेद महा-बृहती है : ऋ० प्रा०, १६. ४७; १८. ७ द्र०–**बृहती**।

महा-ब्राह्मण—बड़ा ब्राह्मण। महत्त्वशाली ब्राह्मण को बृहदारण्यक उपनिषद् २. १. १९, २२ में महा-ब्राह्मण कहा गया है। तु०–**महर्षि**।

महाभिषेक—बड़ा अभिषेक। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. ४; ८. १९. ८ में बड़े राजाओं के अभिषेक को महाभिषेक कहा गया है, जो राजसूय के समकक्ष है। बड़े राजाओं की सूची में वहाँ इनका उल्लेख है :—**जनमेजय पारिक्षित**, इनके मित्र **तुर कावषेय**; **शार्यात मानव** और **च्यवन भार्गव**; **शतानीक सात्राजित** और **सोमशुष्म**; **अम्बरीष**, **पर्वत** और **नारद**; **युधांश्रौष्टि औग्रसेन्य** और **पर्वत** तथा **नारद**; **विश्वकर्मन् भौवन** और **काश्यप**; **सुदास् पैजवन** और **वसिष्ठ**; **मरुत्त आविक्षित** और **संवर्त**; **अङ्ग वैरोचन** और **उदमय आत्रेय**; **भरत दौःषन्ति** और **दीर्घतमस् मामतेय**; **दुर्मुख पाञ्चाल** और **बृहदुक्थ**; **अत्यराति जानंतपि** और **वासिष्ठ सातहव्य**।

महा-भूत—निरुक्त १४. ५. १० और ऐतरेय उपनिषद् २. २. ३ में पञ्चभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को महा-भूत कहा गया है।

महा-मत्स्य—बड़ी मछली। बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३. १८ में महा-मत्स्य का उल्लेख है।

महा-मेरु—बड़ा मेरु। तैत्तिरीय आरण्यक १. ७. १, ३ में एक पर्वत का नाम महा-मेरु है।

महा-यज्ञ—'पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति' शब्रा०, ११. ५. ६. १।

महा-रथ—बड़े रथ वाला, अर्थात् महारथी योद्धा। याजुष संहिताओं में राष्ट्र में महारथ योद्धा के उत्पन्न होने की प्रार्थना की गई है : तैसं०, ७. ५. १८. १; वासं०, २२. २२।

महा-राज—बड़ा राजा। ब्राह्मणों में महाराज का उल्लेख आम है : ऐब्रा०, ७. ३४. ९; कौब्रा० ५. ५; शब्रा०, १. ६. ४. २१; २. ५. ४. ९; बृउ०, २. १. १९; मैउ०, २. १ इत्यादि।

महा-रात्र—बढ़ी हुई रात्रि। कौषीतकि ब्राह्मण २. ९. ११. ९ और शांश्रौसू०, ६. २. १; १७. ७. १ आदि में अर्धरात्रि के बाद और सूर्योदय के पहले के समय को महा-रात्र कहा गया है।

महार्णव—बड़ा समुद्र। मैत्रायणी उपनिषद् १. ४ में महार्णवों के सूखने को महान् आश्चर्यों में गिनाया गया है। तु०–**समुद्र**।

महा-वीर—बड़ा वीर। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मिट्टी से बने एक ऐसे पात्र को महावीर कहा गया है, जो आग पर रख कर, विशेषतः प्रवर्ग्य यज्ञ के समय, पकाने के काम में आता था : वासं०, १९. १४; शब्रा०, १४. १. २. ९, १७; १४. ३. १. १३; १४. ३. ४. १६, १४. २. २. १३, ४०; पंविब्रा०, ९. १०. १, कौब्रा०, ८. ३. ७ इत्यादि। तु० 'ते देवा अब्रुवन्। महान् बत नो वीरोऽपादिति तस्मान् महावीरः' (विष्णुः) शब्रा० १४. १. १. ११; 'स एष महावीरो मध्यंदिनोत्सर्गः' कौब्रा० ८. ७; 'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यन्महावीरः' कौब्रा ८. ३; 'असौ वै महावीरो योऽसौ सूर्यः तपति' कौब्रा० ८. ३. ७।

महा-वृक्ष—बड़ा पेड़। पञ्चविंश ब्राह्मण ७. ६. १५; १४. १. १२ एवं सूत्रों में महा-वृक्ष का उल्लेख आता है।

महा-वृष—अथर्ववेद ५. २२. ४, ५, ८ में **मूजवन्त** के साथ **महा-वृष** ऐसे स्थान का नाम है, जहां ज्वर को भाग जाने के लिए कहा गया है। यह अनुमान है कि महा-वृष लोग उत्तरी थे, यद्यपि ब्लूमफील्ड[1] का यह मत है कि ज्वर-सहन की सामर्थ्य रखने वाले बली पुरुष यहां लक्षित है, कोई जनपद नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् ४. २. ५ में कहा गया है कि **रैक्व-पर्ण** स्थान महा-वृष प्रदेश में है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. २ में महावृषों के राजा **हृत्स्वाशय** का उल्लेख आता है। बौधायन श्रौत सूत्र २. ५ में भी महा-वृषों का उल्लेख है।

महा-वैश्वामित्र—साम-विशेष। तु० 'पाप्मानं हत्वा यदमहीयन्त तन्महावैश्वामित्रस्य महावैश्वामित्रत्वम्' तांब्रा० १३. ६. १२.

महावैष्टम्भ—साम-विशेष। तु० 'महावैष्टम्भं ब्रह्मसाम भवत्यन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै' तांब्रा० १४. २. १९.

महाव्याहृतियां—तु० 'स तान् पञ्च वेदान् (सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति) अभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यः संततप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः पञ्चमहाव्याहृतीर्निरमिमीत वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तदिति' गोब्रा० १. १. १०।

महा-व्रत—महाव्रत एक साम या स्तोत्र है, जो सोमयज्ञ में सबके बाद एवं गवामयन के पहले गाया जाता है। उस दिन के यज्ञ को भी महाव्रत कहा गया है। भाष्यकार के अनुसार स्तोत्र के बाद आने वाले शस्त्र का भी यह नाम है। तु० 'महन् मर्या व्रतं यदिममधिन्वीदिति तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्' तांब्रा० ४. १० १; 'तं देवा भूतानां रसं तेजः संभृत्य तेनैनम् (प्रजापतिं) अभिषज्यन् महानववर्तीति। तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्' तैब्रा० १. २. ६. १; 'महतो व्रतमिति। तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्' तैब्रा० १. २. ६. १; 'प्रजापतिर्वाव महांस्तस्यैतद् व्रतमन्नमेव'' तांब्रा० ४. १०. २; 'अथ यन् महाव्रतमुपयन्ति। प्रजापतिमेव देवतां यजन्ते' शब्रा० १२. १. ३. २१; 'एष (अग्निः) एव महांस्तस्यैतदन्नं व्रतं तन्महाव्रतं सामतः' शब्रा० १०. ४. १. ४; 'प्राण एव महांस्तस्यान्नमेव व्रतं तन्महाव्रतं सामतः' शब्रा० १०. ४. १. २३. 'प्राणो महाव्रतम्' शब्रा० १०. १. २. ३; 'अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकः' शब्रा० १०. ५. २. १; 'अन्तरिक्षं महाव्रतम्' शब्रा० १०. १. २. २; 'अन्तो महाव्रतम्' तांब्रा० ५. ६. १२. द्र०—अवे०, ११. ७. ६; ऐब्रा०, ४. १५; ५. २८; तैब्रा०, १. २. ३. ४; १. २. ६. १; तैसं०, ७. ३. ३. २; शब्रा०, ४. ६. ३. ३; ९. ५. २. १२; १०. १. १. ५; पंविब्रा०, ५. १. १; ५. २. १; आश्रौसू०, ७, २. १०; ७. ८. १३ इत्यादि।

१. महा-शाल—शाब्दिक अर्थ है 'बड़ी शाला वाला। बड़े गृहपति के अर्थ में छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११. १ में महाशाल शब्द का प्रयोग मिलता है; **अश्वपति** से शिक्षित ब्राह्मणों को इस शब्द से लक्षित किया गया है। तु०—**महा-ब्राह्मण**।

२. महा-शाल जाबाल—शतपथ ब्राह्मण में दो बार महाशाल जाबाल का उल्लेख आया है। शब्रा० १०. ३. ३. १ में उन्हें **धीर शातपर्णेय** को शिक्षा देने वाला तथा १०. ६. १. १. में **अश्वपति** से शिक्षित कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के समानान्तर स्थल ५. ११. १ में **प्राचीनशाल औपमन्यव** का उल्लेख आता है। इसे व्यक्तिवाचक नाम समझना चाहिए; केवल विशेषण (१—**महा-शाल**) नहीं, जैसा कि वोबू० में माना है। मुउ०, १. १. ३ में **शौनक** का नाम।

महा-सुपर्ण—शतपथ ब्राह्मण १२. २. ३. ७ में महा-सुपर्ण बड़े पक्षी या गृध्र का पर्याय है।

महा-सुहय—बड़ा अच्छा घोड़ा। बृहदारण्यक उपनिषद् में सैन्धव अश्वों को महा-सुहय कहा गया है, जो पद-बन्धन के खूंटों (पड्बीस-शङ्कु) को उखाड़ फेंकते थे : बृउ०, ६. २. १६; तु०—शांआ०, ९. ७; छाउ०, ५. १. १२.।

महा-सूक्त—ऐतरेय आरण्यक २. २. २ और आगृसू०, ३. ४. २; शांगृसू०, ४. १० में ऋग्वेद के दशम मण्डल के बड़े सूक्तों (=१०, १—१२८) के ऋषियों को महा-सूक्त कहा गया है। तु०—क्षुद्र-सूक्त।

१. महा-हविष्—साकमेध यज्ञ की प्रमुख हवि को महा-हविष् कहा गया है : शब्रा०, २. ५. ३. २०; ११.

---

[1] एगलिंग, सेबुई०, २६. ११ अंसल का अर्थ 'अंस याकंधे का' भी संभव है।

५. २. ९; काश्रौसू०, ५. २. ८; ५. ७. ५; ५. ११. २८ इत्यादि । तु–'महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नुः' शब्रा० २. ५. ४. १;

२. महा-हविष्—मैत्रायणी संहिता १. ९. १; तैत्तिरीय आरण्यक ३. ५. १ और शांखायन श्रौतसूत्र १०. १८. ५ में एक होतृ का यह नाम है। तु० 'महाहविर्होता सप्तहोतृणाम्' तैब्रा० ३. १२. ५. २.

महाहन्—बढ़ा हुआ दिन। कौषीतकि ब्राह्मण २. ९ में अपराह्ण को महाहन् कहा गया है; तु०–**महा-रात्र**।

महिदास ऐतरेय—इतर या इतरा का वंशज। एक ऋषि का यह नाम है; ये ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक के आधार बताये गए हैं। ऐतरेय आरण्यक २. १. ८; २. ३. ७ में इनका नाम आया है, किंतु रचयिता के रूप में नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् ३. १६. ७ और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. २. ११ में उनके ११६ वर्ष जीने का का उल्लेख आता हैं। तु०–कीथ, ऐआ०, १६-१७।

महिमन्—ऋग्वेद-काल से महिमा शब्द माहात्म्य के अर्थ में आता रहा है : ऋ० १. ६१. ८; १. १६४. ५०; १. १६७. ७; २. २. ३५. ९; ४. १६. ५; ६. २७. ३; वासं०, ८. ३०; अवे०, ३. १०. ४ इत्यादि।

महिष—शक्तिशाली वन्य पशु। ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में भैंसे के लिए इस शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ० ८. ५८. १५; ९. ९२. ६; ९. ९६. ६; १०. १२३. ४; ५. २९. ७; ६. ६७. ११; ८. १२. ८; ८. ६६. १०; ९. ८७. ७; १०. २८. १०; १०. १८९. २; वासं०, २४. २८ इत्यादि। महिषी का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलता है : कासं०, २५. ६; मैसं०, ३. ८. ५; पंविब्रा० ५. ७. ११। तु०–'अग्निर्वै महिषः। स हीदं जातो महान्त्समैष्णात्' शब्रा० ७. ३. १. २३; 'अग्निर्वै महिषः' शब्रा० ७. ३. १. ३४; 'प्राणा वै महिषाः' शब्रा० ६. ७. ४. ५; 'ऋत्विजो वै महिषाः' शब्रा० १२. ८. १. २।

१. महिषी—द्र०–**महिष**।

२. महिषी—शक्तिशालिनी। राजा की चार रानियों (द्र० **पति**) में से पहली को महिषी कहा गया है। संभवतः ऋग्वेद ५. २. २; ५. ३७. ३ में भी यही भाव हो। तु० तैसं०, १. ८. ९. १; कासं०, १५. ४; मैसं० २. ६. ५; पंविब्रा०, १९. १. ४; शब्रा०, ६. ५. ३. १; ७. ५. १. ६ इत्यादि। तु० 'यैव प्रथमा वित्ता (भार्या) सा महिषी' शब्रा० ६. ५. ३. १; 'महिषी हीयं पृथिवी' शब्रा० ६. ५. ३. १; 'महिषी हि वाक्' शब्रा० ६. ५. ३. ४. 'महिषी धाय्या' कौब्रा० १९. ४; 'भूरिति महिषी' तैब्रा० ३. ९. ४. ५.

महैतरेय—ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों के अनुसार वैदिक ग्रन्थ का नाम महैतरेय है : आगृसू०, ३. ४. ४, एक आचार्यः शांगृसू०, ४. १०. ६. १; तु०–कीथ, ऐआ०, २९।

महोक्ष—बड़ा वृषभ। शतपथ ब्राह्मण ३. ४. १. २ में महोक्ष का उल्लेख आता है।

मांस—मांस-भक्षण वैदिक काल में आम था; वहाँ अहिंसा अथवा पशुओं के प्रति दया का भाव कम पाया जाता है। यज्ञों में देवों को मांस की बलि दी जाती थी; अग्नि 'गो-भक्षक' : ऋ० ८. ४३. ११=अवे०, ३. २१. ६=तैसं०, १. २. १४. ७। अतिथि के लिए महोक्ष या महाज के मारने का विधान मिलता है : शब्रा०, ३. ४. १. २; तु० शांगृसू०, २. १५. २। **अतिथिग्व** का भी अर्थ "अतिथि के लिए गौ मारने वाला" किया गया है। (द्र०–**दिवोदास अतिथिग्व**)। प्रमुख ऋषि **याज्ञवल्क्य** गौ या वृषभ का अंसल (दृढ़ या मृदु) मांस खाते थे : शब्रा०, ३. १. २. २१; तु०–काश्रौसू०, २. २३. २५)[१]।

एक यज्ञकर्ता **अगस्त्य** ने एक सौ वृषभों की बलि दी थी : तैब्रा०, २. ७. ११. १; पंविब्रा०, २१. १४. ५। विवाह-समारोहों में भोजन के लिए वृषभों का वध होता था : ऋ० १०. ८५. १३[१]।

मांस-भक्षण के विरोध की भावना उठी नहीं प्रतीत होती है। कभी-कभी व्रत के समय मांस-भक्षण का निषेध भी था : काश्रौसू०, २. १. ८; (तु० शब्रा०, १४. १. २९); अथर्ववेद ६. ७०. १ में सुरापान के साथ मांस-भक्षण को भी गर्हित बताया गया है। ऋग्वेद १०. ८५. १३ में अघा में गौओं के वध का उल्लेख है, जो **मघा** का पाठान्तर है; तु०–अवे०, १४. १. १३। ब्राह्मणों में यह भी कहा गाय है कि जो मांस-भक्षण करता है, परलोक में उसका भी मांस खाया जाता है : शब्रा०, ११. ६. १. १ में **भृगुवारुणि** की कथा; जैब्रा०, १. ४२–४४, ऐआ०, २. १. २; इससे ज्ञात होता है कि मांस-भक्षण के विरोध के सिद्धान्त का बीज ब्राह्मण-काल में बोया जा चुका था, जिसे जीव-अस्तित्व की एकता के सिद्धान्त पर आधृत माना जा सकता है। किंतु अहिंसा का सिद्धान्त ब्राह्मण-काल के बाद का है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर आधृत है।[२]

किंतु दूसरी ओर ऋग्वेद-काल से ही गौ को अघ्न्या (=न मारने योग्य) बताया गया है : ऋ०, ८. १०१. १५, १६; वासं०, ४. १९, २०; अवे० १०. १०; १२. ४.

---

[१] तु०–वितरनित्स, दास आल्तिन्दि० होंखरसाइत० ३३।

[२] तु० डायसन; फिलासोफी आ० दि उपनिषद्स ३१७ एवं आगे; कीथ जराएसो०, १९०९, ५६५।

५। अघ्न्या शब्द ऋग्वेद में १६ बार और अघ्न्य ३ बार आया है[१]। किंतु इन स्थलों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मांस-भक्षण को बुरा समझा जाता था। गौ को पृथ्वी और अदिति के रूप में उद्दिष्ट करने तथा इसके अन्य उपयोगों के होने के कारण भी इसका महत्त्व था, किंतु गौ को पवित्र मानने की भावना आर्य-ईरानी काल की है[२]। अन्त्य-संस्कार के प्रसङ्ग में गो-वध आवश्यक जान पड़ता है, जहाँ उसके मांस से शव को ढकने का उल्लेख आता है : ऋ० १०. १६. ७।

वैदिक भारतीय जिन पशुओं की विशेषतः यज्ञ में बलि देते थे, उन्हीं को उनकी मांस-प्राप्ति का स्रोत कह सकते हैं : जैसे, मेष, अज और वृषभ। अश्वमेध एक विरल यज्ञ था और संभवतः अश्व-मांस का सामान्यतः भक्षण नहीं किया जाता था; किंतु अन्य देशों की तुलना के आधार पर यह माना जा सकता है कि कभी-कभी अश्व-मांस भी खाया जाता था। संभवतः अश्वमेध यज्ञ का लक्ष्य था अश्व के तेजस् को देवों और मनुष्यों में भर देना, जैसा कि ओल्डेनबर्ग का मत है[३]। तु० एत दुह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' शब्रा० ११. ७. १. ३; 'अन्नमु पशोर्मांसम्' शब्रा० ७. ५. २. ४२; 'मांसं वै पुरीषम्' शब्रा० ८. ६. २. १४; 'मांसं सादनम्' शब्रा० ८. १. ४. ५; 'मांसीयन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयः' शब्रा० ११. ७. १. २; 'मांसीयन्ति वा आहिताग्नेरग्नयः' गोब्रा० २. २. १;

मांसौदन—चावल के साथ पकाए गए मांस के भोजन को शतपथ ब्राह्मण ११. ५. ७. ५; बृउ०, ६. ४. १८; शांआ०, १२. ८. में मांसौदन कहा गया है।

मा—'अयं वै (पृथिवी-) लोको मायं हि लोको मित-इव' शब्रा० ८. ३. ३. ५.।

माः—'चन्द्रमा वै मा मासः' जैउब्रा० ३. १२. ६।

माक्षव्य—भक्षु का वंशज। ऐतरेय आरण्यक ३. १. १ में एक आचार्य का पैतृक नाम माक्षव्य है। द्र०—ऋ० प्रा०, भूमिका।

मागध—द्र०—**मगध**।

मागध-देशीय—मगध जनपद का। सूत्रों में मगध के एक ब्राह्मण को मागधदेशीय कहा गया है : काश्रौसू०, २२. ४. २२; लाश्रौसू०, ८. ६. २८।

माघ—तु 'माघे वा मा नोऽघं भूयादिति' शब्रा० १३. ८. १. ४. द्र०—**मास**। **नक्षत्र**।

माचल—जैमिनीय ब्राह्मण २. ४. ४० में एक **वैदर्भ** इवा को माचल कहा गया है।

माठरी—बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३१ माध्यंदिन में एक आचार्य के नाम **"काश्यपी-बालाक्या-माठरीपुत्र"** का एक अंश माठरी है।

माण्टि—बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यं०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व में **गौतम** के शिष्य एक आचार्य का नाम माण्टि है।

माण्डवी—मण्ड की वंशजा। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३० माध्यं० में एक आचार्य के नाम **"वात्सी-माण्डवी-पुत्र"** का एक अंश माण्डवी है।

माण्डव्य—मण्ड का वंशज। एक आचार्य का नाम माण्डव्य है : शब्रा०, १०. ६. ५. ९; शांआ० ७. २; आगृसू०, ३. ४. ४; शांगृसू० ४. १०; ६. १। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५. ४ काण्व में उन्हें **कौत्स** का शिष्य बताया गया है।

माण्डूकायनि—माण्डूक का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ६. ५. ९ में एक आचार्य का नाम माण्डूकायनि है।

माण्डूकायनी-पुत्र—मण्डूक-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३२ माध्यं०=६. ५. २ काण्व में **माण्डूकीपुत्र** के शिष्य का यह नाम है।

माण्डूकी-पुत्र—मण्डूक-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३२ माध्यं=६. ५. २ काण्व में **शाण्डिलीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

माण्डूकेय—मण्डूक का वंशज। ऋग्वेद के आरण्यकों में इन आचार्यों का यह पैतृक नाम है : **शूरवीर** का : ऐआ०, ३. १. १; शांआ०, ७. २, ८, ९, १०; **ह्रस्व** का : शांआ०, ७. १२; ८. ११; **दीर्घ** का : शांआ०, ७. २; **मध्यम प्रातीबोधी-पुत्र** का : शांआ०, ७. १३। माण्डूकेयों की शाखा का भी आरण्यकों में उल्लेख आता है : ऐआ०, ३. १. १; शांआ० ७. २। ऋग्वेद का कुछ पाठ माण्डूकेयों की शाखा से संबद्ध था। तु०—"माण्डूकेयीय अध्याय" : ऐआ० ३. २. ६; शांआ०, ८. ११।

१. **मातरि-श्वन्**—ऋग्वेद के एक बालखिल्य-सूक्त ८. ५२. २ में मातरि-श्वन् का उल्लेख एक यज्ञ रूप में **मेध्य** और **पृषध्र** के साथ हुआ है। संभवतः ऋ० १०. ४८. २; १०. १०५. ६ में भी उन्हीं का उल्लेख आया है। शांखायन श्रौतसूत्र १६. ११. २६ में **पृषध्रमेध्य मातरिश्वन्** (या **मातरिश्व**) नामक एक आश्रयदाता का उल्लेख आता है; ऋग्वेद के उक्त पाठ को गलत ढंग से यहां लिया गया है। तु०—

[१] मैकडानल, वैमा० १५१; बोबू० में अघ्न्या का अर्थ 'जीतने में कठिन' किया गया है, किंतु 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट,' जैसे उल्लेखों के आधार पर उसका प्रथम अर्थ ही ठीक है।

[२] द्र०—मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, ६८।

[३] रिलि० देस वेद, ३५६ टि०—४।

'प्राणो मातरिश्वा' ऐब्रा० २. ३८; 'अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयं पवते' शब्रा० ६. ४. ३. ४; 'अन्तरिक्षं वै मातरिश्वनो धर्मः' तैब्रा० ३. २. ३. २।

२. मातरि-श्वन्—ऋग्वेद में अरणियों में या वायु में प्रवृद्ध होने के कारण अग्नि को मातरि-श्वन् कहा गया है : ऋ० ३. २९. ११; ३. २६. २; १०. ८८. १९ इत्यादि। **विवस्वान्** का एक दूत भी, जो **भृगुओं** के लिए अग्नि को लाता है, मातरिश्वा कहलाया है : ऋ० १. ९३. ६; १. ३१. ३; १. ६०. १; १. १४३. २ इत्यादि। वायु को अन्तरिक्ष (मातृ) में श्वास लेने से मातरिश्वा कहा गया है : अवे० ८. १. ५; १०. ७. २; वासं०, ११. ३९ इत्यादि।

मातुर्भ्रात्र—मैत्रायणी संहिता १. ६. १२ में मामा के लिए मातुर्भ्रात्र शब्द आया है; सूत्रों में इस अर्थ के द्योतन के लिए मातुल शब्द का प्रयोग मिलता है। वैदिक साहित्य में बस यहीं मामा का उल्लेख आता है। इसमें वैदिक समाज के पितृ-सत्तात्मक होने का संकेत मिलता है।

मातुल—मामा। केवल सूत्रों एवं परवर्ती साहित्य में मातुल शब्द आया है : आगृसू०, १. २४. ४ इत्यादि। यह शब्द=मातृल=मातृर ?

मातृ—माता के लिए वैदिक काल से ही मातृ शब्द आम रहा है, ध्वनि-अनुकरण के आधार पर ("मा" से) बना प्रतीत होता है : ऋ० १. २४. १; ७. १०१. ३; वासं०, १३. २१; ऐब्रा० २. ६ इत्यादि। इसी प्रकार के शब्द "अम्बा" और "नना" है : वासं० २३. १८; तैसं०, ७. ४. १९. १; मैसं० ३. १२. २०; तैब्रा०, ३. ९. ६. ३; कौउ० १. ३; नना: ऋ० ९. ११२. ३।

पति-पत्नी-संबन्ध और माता-पुत्र-संबन्ध पर **पति** शीर्षक के नीचे विचार किया गया है। सूत्रों में माता के संमाननीय स्थान और यज्ञिय महत्त्व का उल्लेख मिलता है[1]। अपने बच्चों के भाग्य-निर्माण के संबन्ध में माता पूर्णतः अभिरुचि दिखाती है, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण ७: १८ में **शुनःशेप** के आख्यान से प्रतीत होता है, जिन्हें **विश्वामित्र** ने अपना दत्तक पुत्र बनाया था।

गृह में पिता के बाद सर्वाधिक संमान माता का होता था (द्र—**पितृ**)। माता-पिता के लिए 'मातरा, "पितरा" 'मातापितरः' और "पितरा" इन शब्दों का प्रयोग मिलता है : ऋ० ३. ३३. ३; ७. २. ५; "मातरा-पितरा" : ऋ० ४. ६. ७; वासं०, ९. १९; "मातापितरः" तैसं०, १. ३. १०; ६. ३. ११. ३।

[1]—द्र० डेल्ब्रुक, दी इन्दो० ४६०, ४७६, ४७७।

मातृ-वध—कौषीतकि उपनिषद् ३. १ के अनुसार मातृ-वध अत्यन्त दारुण पाप है, और सत्य-ज्ञान होने पर ही उसका प्रायश्चित्त संभव है।

मातृ-हन्—पाणिनि ३. २. ८८ के भाष्य (काशिका वृत्ति) में एक वैदिक उद्धरण आता है "मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्, "अर्थात् मातृ-घातक सातवें नरक में जाए"।

१. मात्स्य—मत्स्यों का राजा। द्र०—**मत्स्य**।

२. मात्स्य—तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. २. १ में यज्ञ-कार्य में निपुण पुरोहित मात्स्य का उल्लेख आता है। संभवतः अथर्ववेद १९. ३९. ९ में भी उन्हीं का उल्लेख है। वे **यज्ञेषु** और **शतद्युम्न** के पुरोहित थे।

माधव—मधु का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १०, १७ में **विदेघ** (संभवतः **विदेह** के राजा) का पैतृक नाम माधव है।

माधव—द्र०—**मास**।

माधुकि—मधुक का वंशज। शतपथ ब्राह्मण २. १. ४. २४ में एक आचार्य का यह नाम है; इनके मत को स्वीकार नहीं किया गया है।

माधुच्छन्दस—साम-विशेष। 'इदं ह्यन्वोजसेति माधुच्छन्दसं प्रजापतेर्वा एषा तनूरयातयाम्नी प्रयुज्यते' तांब्रा० ९. २. १७।

माध्यंदिन सवन—'रुद्राणां माध्यंदिनं सवनम्' कौब्रा० १६. १; 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवःप्रा तः-सवनं रुद्रा माध्यंदिनं सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्' शब्रा० १४. १. १. १५; 'मरुत्वद्धि माध्यंदिनं सवनम्' तांब्रा० ९. ७. २; 'इन्द्रस्य माध्यंदिनं सवनम्' कौब्रा० १४. ५; 'ऐन्द्रं वा माध्यंदिनं सवनम्' जैउब्रा० १. ३७. ३; 'एतद् वा इन्द्रस्य निष्केवल्यं सवनं यन् माध्यंदिनं सवनं तेन वृत्रम-जिघांसत् तेन व्यजिगीषत' शब्रा० ४. ३. ३. ६; 'त्रैष्टुभं वै माध्यंदिनं सवनम्' ऐब्रा० ६. ११; 'अन्तरिक्षलोको माध्यंदिनं सवनम्' गोब्रा० २. ४. ४; 'क्षत्रं माध्यंदिनं सवनम्' कौब्रा० १६. ४; 'स्वर्गो वै लोको माध्यंदिनं सवनम्' गोब्रा० २. ३. १७; 'एतद् वै यज्ञस्य स्वर्ग्यं यन्माध्यंदिनं सवनम्' तांब्रा० ७. ४. १; 'मध्ये सन्तं (सूर्य-मीप्सन्ति) माध्यंदिनेन सवनेन' कौब्रा० १८. ९; 'वाजवन् माध्यंदिनं सवनम्' तांब्रा० १८. ६. ७; 'बार्हतं हि माध्यं-दिनं सवनम्' तांब्रा० ९. ७. ७।

माध्यंदिनायन—मध्यंदिन का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ६. २ काण्व) में एक आचार्य का यह पैतृक नाम है।

माध्यम—मध्य से संबन्ध। कौषीतकि ब्राह्मण १२. ३ और ऐतरेय आरण्यक २. २. २ में ऋग्वेद के मध्य के

मण्डलों (२. ७) के रचयिताओं को जताने के लिए माध्यम शब्द आया है। तु०—वेबर, इस्तू०, १. ११५; ३८९; आगृसू०, ३. ४. २; शांगृसू०, ४. १० इत्यादि।

१. **मान**—भार-मापक, जो कृष्णल या रत्तिका (रत्ती) के बराबर है, जो गुंजा की गुठली होती है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में समस्त पदों में यह शब्द आया है : तैसं०, ३. २. ६. ३; ६. ४. १०. २; तैब्रा०, १. ३. ७. ७; १. ७. ६. २; शब्रा०, ५. ४. ३. २४; ५. ५. ५. १६ इत्यादि।

२ **मान**—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर मान नामक व्यक्ति का उल्लेख आया है। ऋ० १. १८९. ८ में उनके पुत्र का उल्लेख है; वहां उन्हें **अगस्त्य** समझा जा सकता है, ऋ० ७. ३३. १३ में भी 'मान के रूप में **अगस्त्य** को उद्दिष्ट माना जा सकता है। ऋ० १. ११७. ११ में 'सूनवे मानेन' आया है; जीग[1] ने उसे **"मानस्य सूनुना"** करके पढ़ा है; उसे **"सूनोर् मान"** के रूप में वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने लिया है और उसे या तो **अगस्त्य** का पूर्ण नाम **सूनोर्मा** ('पुत्र का गर्व' वंश की दृष्टि से) माना है, या मान के सूनु **(अगस्त्य)** के अर्थ में लिया है, जिनकी **विश्पला** में अभिरुचि वहाँ लक्षित है।

मान के वंशजों को कुछ स्थलों पर गायकों के रूप में बताया गया है : ऋ० १. १६९. ८; १. १७१. ५; १. १८२. ८; १. १८४. ५।

१ **मानव**—मनु का वंशज। **नाभानेदिष्ठ** और **शार्यात** का पैतृक नाम मानव है। ऐब्रा०, ५. १४. २; ४, ३२. ७; तु०—शब्रा०, ४. १. ५. २।

२ **मानव**—साम-विशेष। 'एतेन वै मनुः प्रजापतिं भूमानमगच्छत् प्रजायते बहुर्भवति मानवेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ३. १५।

मानवी—मनु की वंशजा। शतपथ ब्राह्मण १. ८. १. २६; तैसं०, २. ६. ७. ३ में **इडा** का और ऋग्वेद १०. ८६. २३ में **पर्शु** नामक स्त्री का पैतृक नाम मानवी है।

मानु-तन्तव्य—मनुतन्तु का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३०. १५ में **ऐकदशाक्ष** का पैतृक नाम मानुतन्तव्य है। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ३. २ में दो सौमाप मानुतन्तव्य (सौमापौ मानुतन्तव्यौ) नामक व्यक्तियों का उल्लेख आता है।

मानुष—'यदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मा दुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मानुषं सन्मानुषमित्याचक्षते' ऐब्रा० ३. ३३।

[1] दीजा० ऋ०, १०७।

मान्थाल—तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५. ८. ४ में **मान्थालव** या **मान्थीलव** (द्र०—अवे) का एक नाम मान्थाल भी है।

मान्थालव, मान्थीलव—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में मान्थालव या मान्थीलव का उल्लेख है : मैसं०, ३. १४. १९ पाठान्तर मातालव भी : वासं०, २४. २८; तैसं०, ५. ५. १८. १। महीधर वासं०, २४. ३८ के अनुसार यह मूषक है। सायण (तैसं० का भाष्य) के अनुसार यह जल-कुक्कुट है; यदि सायण का मन्थावल पाठ ठीक माना जाय तो यह चमगीदड़ है।

मान्दार्य मान्य—मान का वंशज। ऋग्वेद १. १६५. १५=१. १६६. १५=१. १६७. ११=१. १६८. १० में एक ऋषि का यह नाम है। संभवतः **अगस्त्य** ही उद्दिष्ट हों।

मान्य—मान का वंशज। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर मान्दार्य का यह पैतृक नाम है (द्र० मान्दार्य); अन्यत्र अकेले मान्य का ही उल्लेख है : ऋ० १. १६५. १४; १. १७७. ५; १. १८४. ४। संभवतः **अगस्त्य** उद्दिष्ट हैं।

मान्यमान—**देवक** के साथ मान्यमान का उल्लेख ऋग्वेद ८. १८. २० में मिलता है। संभवतः यह "मान्य-मान्य या गर्वयुक्त के वंशज" के अर्थ में आया है। सायण ने इसे व्यक्तिवाचक शब्द माना है। राथ[1] ने **देवक** और मान्यमान का अर्थ 'देवों एवं गर्व-युक्त की भांति' माना है।

मामतेय—ममता का वंशज। ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में यह **दीर्घतमस्** का मातृक नाम है : ऋ० १. १४७. ३; १. १५२. ६; १. १५८. ६; ऐब्रा०, ८. २३. १; शांआ०, २. १७; ममता" के लिए द्र०—बृदे०, ३. ५६; ४. ११।

मायव—मयु या मायु का वंशज। ऋग्वेद (१०. ९३. १५ में यह एक आश्रयदाता संभवतः **राम**[2] का पैतृक नाम है।

माया—निघण्टु ३. ९ ने माया को प्रज्ञा के पर्यायों में पढ़ा है; द्र०—नि० ७. २७; १२. १७। यह शाठ्य-युक्त बुद्धि या असुर-विद्या के अर्थ में भी ऋग्वेद-काल से ही आता रहा है : ऋ० १. ११. ७; १. ३२. ४; १०. ५३. ९; अवे०, १२. १. ८; शब्रा०, २. ४. २. ५ इत्यादि।

मायु—ऋग्वेद में गौ, मेष और अज की ध्वनि को तथा अथर्ववेद में बन्दर की आवाज को मायु कहा गया है। (ऋ० १. १६४. २८; गो-ध्वनि : ७. १०३. २ वही; १०. ९५. ३; निरुक्त, २. ९; अवे०, ६. ३८. ४; १९. ४९. ४)।

[1] वोबू०।

[2] द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० २. १६६.

मारुत—मरुत् का वंशज। **द्युतान** और **नितान** का यह पैतृक नाम है।

मारुताश्व—मरुताश्व का वंशज। ऋग्वेद ५. ३३. ९ में लुड्विग[1] के अनुसार एक आश्रयदाता (संभवतः **च्यवतान**) का पैतृक नाम मारुताश्व है। किंतु वायु-वेग घोड़े वाले" के अर्थ में इसे विशेषण भी माना जा सकता है।

मार्गवेय—ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७. ३, ४ में **राम** का पैतृक या मातृक नाम मार्गवेय है, **श्यापर्ण** के रूप में उल्लिखित हैं।

मार्ग-शीर्ष. द्र०—**मास**।

मार्गार—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों में मार्गार का उल्लेख आता है: वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १२. १। संभवतः **मृकारि** से पैतृक नाम के रूप में यह शिकारी या मछुए को जताता है।

मार्गीयव- साम-विशेष। 'देवं वा एतं (पशुपतिं) मृगयुरिति वदन्त्येतेन (मार्गीयवेण) वै स उभयेषां पशूनामाधिपत्यमाश्नुतोभयेषां पशूनामाधिपत्यमाप्नुते मार्गीयवेण तुष्टुवानः' तांब्रा० १४. ९. १२.

१. मार्ताण्ड—अदिति के आठ पुत्रों में एक मार्तण्ड या मार्ताण्ड भी हैं। कहा गया है कि सात पुत्रों के साथ अदिति स्वर्ग को चली गई और उसने मार्ताण्ड को फेंक दिया: ऋ० १०. ७२. ८, ९ तु० '(अदितिः) अविकृतं हाष्टमं (पुत्रं) जनयांचकार मार्तण्डं संदेघो हैवास यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्यङ्‌ पुरुषसंमित इत्यु हैक आहुः' शब्रा० ३. १. ३. ३; द्र०—मैसं०, ४. ६. ९; पंविब्रा०, २४. १२. ६; तैआ० १. १३. ३ इत्यादि।

२. मार्ताण्ड—ऋग्वेद २. ३८. ८ में मार्ताण्ड शब्द पक्षी के लिए आया है। मृत या उद्भिन्न अण्ड से उत्पन्न होने के कारण पक्षी को मार्ताण्ड कहा गया है। इस अर्थ में यह शब्द केवल एक ही बार प्रयुक्त हुआ है।

१. माल्य—माला। उपनिषदों में माल्य का उल्लेख आया है: छाउ० ८. २. ६; कौउ०, १. ४. इत्यादि।

२. माल्य—माल का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ४. ११. में **आर्य** का यह पैतृक नाम है।

माष—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में उड़द के लिये माष शब्द आया है: अवे०, ६. १४०. २; १२ २. ५३; तैसं०, ५. १. ८. १; ७. २. १०. २; कासं०, १२. ७; ३२. ७; ३७. १; मैसं०, ४. ३. २; वासं०, १८. १२; शब्रा०, १. १. १. १०; बृउ०, ६. ३. २२ माध्यं०=६. ३. १३ काण्व। आज भी यह उत्तर भारत में आम है। अथर्ववेद १२. २. ५३; १२. २. ४ में माष को पीसने का उल्लेख आता है। ये दाने हेमन्त में पकते थे: तैसं०, ७. २. १०. २। यज्ञ के प्रसङ्ग में कहा गया है कि २१ "माष" में मनुष्य का सिर खरीदा जाता है: तैसं०, ५. १. ८. १; कासं०, २०. ८; किंतु यह पता नहीं कि यहाँ धातु-मापक माष (माशे) को उद्दिष्ट किया गया है या कुछ और को। यजुर्वेद में माष के संबन्ध में अन्य उल्लेख भी आते हैं: कासं०, ३२. ७; मैसं०, १. ४. १०।

मास्—मास शब्द ऋग्वेद (१०. १२. ७; सूर्य-मासा, ८. ९४. २; १०. ६४. ३; १०. ६८. १०. ९२. १२; १०. ९३. ५) में चन्द्रमा एवं अन्यत्र मास या महीने के अर्थ में आया है: ऋ० १. २५. ८; ४. १८. ४; ५. ४५. ७; ११; ९१. २ इत्यादि; अवे०, ८. १०. १९; तैसं०, ५. ५. २. २; पंविब्रा०, ४. ४. १; तैब्रा०, १. ४. ९. १ इत्यादि।

मास—महीने के अर्थ में मास शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेकशः आया है। मास के प्रमुख दिन **अमावास्या** (=गृह में बसना) और **पौर्णमासी** (=पूर्ण-चन्द्रमा वाला) हैं। अथर्ववेद ७. ७०. ७. ८० में क्रमशः इन दिनों का वर्णन है। तु०—तैसं०, ३. ५. १. १; तैब्रा०, ३. ७. ५. १३ इत्यादि। चन्द्र-कलाओं का मूर्त्त-विधान इन चार शब्दों में पाया जाता है: (१) **सिनीवाली** या अमावस्या के पहले का दिन: तैसं० १. ८. ८. १; ३. ४. ९. १; ऋ० २. ३२. ६; अवे०, २. २६. २; ६. ११. ३; वासं०, ११. ५५, ५६; ३४. १०; कासं०, १२. ८; पंविब्रा०, ५. ६; (२) **कुहू** या गुङ्गू अर्थात् अमावस्या: अवे०, ७. ४७. तैसं०, १. ८. ८. १; ३. ४. ९. १; कासं०, १२. ८ इत्यादि; (३) **अनुमति** या पूर्णिमा के पहले का दिन: ऋ० २. ३२. ८, सायण ने इसे कुहू माना है; और (४) **राका** अर्थात् पूर्णिमा का दिन: तैसं०, १. ८. ८. १; ३. ४. ९. १; कासं०, १२. ८; वासं०, २९. ६०; ३४. ८, ९; पंविब्रा०, ५. ६। अमावस्या और पूर्णिमा के महत्त्व को दर्श-पूर्णिमासी (उक्त दिनों के यज्ञिय उत्सव) के प्रसङ्ग में देखा जा सकता है।

एक विशेष दिन **एकाष्टका** (=पूर्णिमा के बाद ८ वां दिन) महत्त्वपूर्ण था। पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ३. ११ (तु० शब्रा०, ६. २. २. २३; अवे०, १५. १६. २) के अनुसार ऐसी १२ एकाष्टकाएं होती थीं, किंतु उनमें से एक एकाष्टका को यजुर्वेद में एवं अन्यत्र अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है: तैसं०, ७. ४. ८. १; पंविब्रा०, ५. ९. १; तु०—तैसं०, ३. ३. ८. ४; ४. ३. ११. ३; ५. ७. २. २;

[1] द्रं० ऋ०, ३. १५५।

अवे०, ३. १०; ८. ९. १०; कासं०, ३९. १०; मैसं०, २. १३. २१ इत्यादि; द्र०—काश्रौसू० १३. १. २ भाष्य के साथ, पंविंब्रा सायण भाष्य के साथ[1]। प्रायः सभी भाष्यकारों के अनुसार **एकाष्टका** माघ की पूर्णिमा के ८ वें दिन पड़ती थी। यह पुराने वर्ष के अन्त को या नये वर्ष के प्रारम्भ को उद्दिष्ट करती थी। यद्यपि कौषीतकि ब्राह्मण १९. २३ में शीत संक्रान्ति को माघ की अमावस्या के समय माना गया है, तथापि परवर्ती समय संभवतः माघ पूर्णिमा से पहले की अमावस्या है; पूर्णिमा के बाद की अमावस्या नहीं; किंतु संभव यह भी है कि नव वर्ष के प्रारम्भ के बाद की **एकाष्टका** महत्त्वपूर्ण बताई गई हो; द्र०—विनायक भाष्य, कौब्रा०, १९. २३ पर; आनर्तीय, शांश्रौसू०, १३. १९. १ पर।

यह निश्चित नहीं है कि मास की गणना **अमावस्या** के अगले दिन से अमावस्या तक होती थी, अथवा **पूर्णिमा** के अगले दिन से पूर्णिमा तक होती थी। बाद में **पूर्णिमान्त** के आधार पर उत्तर भारत में तथा **अमान्त** के आधार पर दक्षिण भारत में गणना होने लगी थी। याकोबी का मत है कि फाल्गुन की **पूर्णिमा से** नववर्ष का प्रारम्भ होता था, और पूर्णचन्द्रमा के नक्षत्र में जाने से मास को जाना जाता था[2]। ओल्डेनबर्ग[3] का मत है कि मास **अमान्त** होता था, जैसा कि ग्रीक, रोमन, यहूदी वर्षों का प्रारम्भ अमावस्या से होता है। वैदिक मास दो पक्षों में अर्थात् **पूर्व** (शुक्ल) और **अपर** (कृष्ण) में विभक्त हैं। थिबो[4] का कहना है कि पूर्णिमान्त मास मानना अनावश्यक है, यद्यपि इसे संभव कह सकते हैं। वेबर[5] का कहना है कि भाष्यकार ने कौषीतकि ब्राह्मण १९. २३ में ऐसा ही माना है। किंतु उक्त स्थल पर जोर देना एवं मास को **अमान्त** ही मानना गलती है; हाँ यह संभावना हो सकती है कि मास अमावस्या से प्रारम्भ होता था और पूर्णिमा मास के मध्य में पड़ती थी, अन्त में नहीं।

मास ३० दिनों का होता था : इसके साक्ष्य वे उल्लेख हैं, जिनमें वर्ष को १२ महीनों और ३६० दिनों का बताया गया है : ऋ० १. १६४. ११, १४, ४८; १०. १८९. ३; १०. १९०. २; अवे०, ४. ३५. ४; १०. ७. ६; १०. ८. २३; १३. ३. ८. इत्यादि। ब्राह्मणों ने इसे ही नियमित मास कहा है; और इसे ही वैदिक भारतीयों का परिचित मास कहा जा सकता है : मैसं०, १. १० ८; ऐब्रा०, ४. १२. कासं०, ३६. २. ३; कौब्रा०, ३. २; ऐआ०, ३. २. १; बौश्रौसू०, २६. १०; बृउ०, १. ५. २२; द्र०—**नक्षत्र**, २. २८८ थिबो, ऐस्ट्रोनमी०, इत्यादि ८. २। दूसरे किसी मास का ब्राह्मण साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता; अलबत्ता सूत्रों के समय में विभिन्न दिनों वाले मास का उल्लेख आता है। सामवेद सूत्रों के अनुसार :—(१) वर्ष ३२४ दिनों का होता है, अर्थात् २७ दिनों के १२ मास; (२) वर्ष ३५१ दिनों का होता है, अर्थात् २७ दिनों के १२ मासों के साथ एक और मास २७ ही दिनों का; (३) वर्ष ३५४ दिनों का होता है, अर्थात् ३० दिनों के ६ मास और २९ दिनों के ६ मास, अर्थात् सौर मास (४) वर्ष ३६० दिनों का होता है, अर्थात् सामान्य सावन वर्ष; (५) वर्ष ३७८ दिनों का होता है, जिसे थिबो (उक्त ८-९) ने तीसरा वर्ष माना है, जिसमें ३६० दिनों के अतिरिक्त १८ दिन और होते थे, जिससे सावन वर्ष और सौर वर्ष में समन्वय स्थापित किया जा सके; द्र०—लाश्रौसू०, ४. १ एवं आगे; निदानसूत्र, ५. ११. १२[1]; किंतु इनमें भी ३६६ दिनों के वर्ष का उल्लेख नहीं है, जिसका प्रथम उल्लेख ज्योतिष (श्लोक २८) और गर्ग (ज्योतिष, १० के भाष्य में उद्धृत) में पाया जाता है।

वैदिक वर्ष ३५४ दिनों का होता था, इसे पक्के तौर पर नहीं माना जा सकता; किंतु त्सिमर[2] के अनुसार यह संभव है; क्योंकि गर्भ-काल कहीं-कहीं एक वर्ष का बताया गया है : दशमास, ऋ० ५. ७८. ७-९; १०. १८४. ३; अवे०, १. ११. ६; ३. २३. २; ५. २५. १३; कासं०, २८. ६; शब्रा०, ४. ५. २. ४, ५; ९. ५. १. ६३ 'केवल छः मास या अधिक का ही शिशु जी सकता है'। एक वर्ष के गर्भ-काल का उल्लेख :—पंविंब्रा०, १०. १. ९; कासं०, २३. ८; शब्रा०, ६. १. ३. ८; ११. ५. ४. ६-११; ऐब्रा०, ४. २२। किंतु संभवतः वेबर[3] का यह मत ठीक हो कि मास यहां २७ दिनों के हैं, अन्यथा एक वर्ष का गर्भ-काल बहुत ही लम्बा हो जायगा। किंतु दस मास का उल्लेख ठीक है; दशवें मास में गर्भस्थ शिशु के जन्म लेने से ३० दिन के मासों को उद्दिष्ट माना जा सकता है।

---

[1] वेबर, नक्षत्र, २. ३४१, ३४२; इस्तू०, १७. २१९ एवं अग्रिम।

[2] त्सादामोगे० ४९. २२९ टि०—१; ५०. ८१; तु०—हापकिन्स, जअओसो०, २४. २०।

[3] जअओसो०, ४८, ६३३ टि०—१; ४९ ४७६, ४७७।

[4] इण्डियन ऐण्टीक्वैरी, २४. ८७. ऐस्ट्रोलजी ऐस्ट्रोनमी उण्ड माथामाटीक, १२।

[5] नक्षत्र, २. ३४५, ३४६, ३५३, ३५४।

---

[1] वेबर, नक्षत्र, २. २८१—२८८।

[2] आले०, ३६५, ३६६।

[3] नक्षत्र, २. ३१३ टि०—१।

किंतु ३० दिन के १२ महीनों का वर्ष अवैज्ञानिक है; अतः त्सिमर[1] के अनुसार ५ वर्षों के चक्र या युग में एक **मलमास** होता था। यह परंपरा ज्योतिष में वस्तुतः उद्दिष्ट है, यह २९$\frac{16}{31}$ दिनों के ६२ महीनों का होता था (सब मिलाकर १८३० दिन होते हैं; इनमें से आदि और अन्त के दो महीनों को **मलमास** माना गया है; या ३० दिनों के ६१ मास, या ३०$\frac{1}{2}$ दिनों के ६० महीने कहे गए हैं। इन से ३६६ दिनों का **सौर-वर्ष** बन जाता है। यह एक आदर्श है; वर्ष इस प्रथा में बहुत लम्बा हो जाता है (युग में चार दिन अधिक होते हैं; वास्तविक वर्ष ३६५ दिन, ५ घंटे, ४८ मिनट और ४६ सेकण्ड का होता है[2])। त्सिमर द्वारा ऋग्वेद १. १६४. १४; ३. ५५. १८ में युग का उल्लेख मानना समर्थित नहीं होता; वे स्थल दुरूह हैं और उनमें दश अर्ध-वर्ष के आधार पर पांच वर्ष का युग मानना दुःसाहस होगा। पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १३. १७ में युग का उल्लेख एक भाष्य के आधार पर है; और उसे उस ग्रन्थ का संदर्भ नहीं माना जा सकता।[3] पाँच वर्ष के युग का मल-मास के सिद्धान्त की सिद्धि के लिए उपयोग ज्योतिष में ही आता है।

किंतु साथ ही ३६० दिनों के वर्ष को वास्तविक वर्ष के समकक्ष बनाने की कोशिश प्रारम्भ-काल से ही की जा रही थी। लाश्रौसू०, ४. ८. में तो नहीं, किंतु निदान सूत्र, ५. १२. २. ५ में तो सूर्य द्वारा एक नक्षत्र के १३$\frac{1}{9}$ दिन में पार करने का उल्लेख आता है, जब कि लोगों ने प्रति तीसरे वर्ष १२ दिन में पार करने का कथन प्रक्षिप्त कर दिया, जिससे कि वर्ष को नियमित किया जा सके। किंतु वैदिक साहित्य में ऋग्वेद काल से आगे की ओर बढ़ते हुए कठिन विषय का हल क्रमशः ढूंढा गया है: ऋ०, १. १२५. ८; तु०—१. १६५. १५ भी; शब्रा०, ४. ३. १. ५; ६. २. २. २९; १२. २. १. ८; ऐब्रा०, १. १२; कासं०, ३४. १३; पंविब्रा०, १०. ३. २; १८. २. ३; तैआ०, ५. ४. २९; वेबर, नक्षत्र, २. ३३६ टि०—१। यह दूरी कभी कभी ३० दिन की (अवे०, १३. ३. ८), कभी ३५ दिन की (शब्रा०, १०. ५. ५. ५) या ३६ दिन की (शब्रा०, ११. १. १४३; ११. ३. ३. १८) बताई गई है। अन्तिम संख्या संभवतः ६ वर्षों के अधिक मास को उद्दिष्ट करती है (६×६=३६, या याज्ञिक दृष्टि से ३५); किंतु इसके लिए हमारे पास ठोस साक्ष्य नहीं हैं। अनेक स्थलों पर १२ या १३ मासों का उल्लेख आता है: तैसं०, ५. ६. ७. १; कासं०, २१. ५; २४. ९; मैसं०, १. १०. ८; कौब्रा०,५. ८; कौउ०, १. ६; शब्रा०, २. २. ३ २७; ३. ६. ४. २४; ५. ४. ५. २; ७. २. ३. ९ इत्यादि; जैउब्रा०, १. १०. ६।

यह एक रोचक तथ्य है कि मासों के नाम प्राचीन नहीं हैं। यजुर्वेद में अग्नि-चयन के प्रसङ्ग में उन्हें ठीक-ठीक गिनाया गया है: तैसं०, ४. ४. ११. १; कासं०, १७. १०; ३५. ९; मैसं०, २. ८. १२; वासं०, १३. २५; १४. ६, १५, १६, २७; १५. ५७। सूची इस प्रकार है:— (१) **मधु**, (२) **माधव** (वासन्तिकौ ऋतू); (३) **शुक्र**, (४) **शुचि** (ग्रीष्मौ ऋतू); (५) **नभ** (या नभस् मैसं०, कासं०, और वासं०, में) (६), **नभस्य** (वार्षिकौ ऋतू); (७) **इष**, (८) **ऊर्ज** (शारदौ ऋतू); (९) **सह** (या सहस्: मैसं०, कासं०, वासं० में); (१०) **सहस्य** (हैमन्तिकौ ऋतू); (११) **तप** (या तपस्, मैसं०, कासं०, और वासं० में), **तपस्य** (शैशिरौ ऋतू)।

इसी प्रकार सोम-याग के प्रसङ्ग में भी सूची मिलती है: तैसं०, १. ४. १४. १ मैसं०, १. ३. १६; ४. ६. ७; कासं०, ४. ७; वासं०, ७. ३०। अश्वमेध के प्रसङ्ग में भी यह सूची है: मैसं०, ३. १२. १३; वासं०, २२. ३१। ये सभी सूचियाँ आवश्यक बातों में समान हैं। अन्य काल्पनिक नाम भी आते हैं, किंतु वे प्रचलित नहीं हो पाये: तैसं०, १. ७. ९. १; ४. ७. ११. २ वासं०, ९. २०; १८. २८; २२. ३२; कासं० ३५. १०; वेबर, नक्षत्र, २. ३४९, ३५०। यह कहना कठिन है कि ऊपर की सूची केवल पौरोहित्यिक कल्पना थी अथवा उसका लोक में भी चलन था। वेबर का कहना है कि मधु और माधव वसन्त के लिए बाद में आए हैं; तथा तैत्तिरीय आरण्यक ४. ७. २; ५. ६. १६ में ये वस्तुतः मासों के नाम हैं; कम से कम ये दो तो वास्तविक नाम हुए। किंतु अन्य नामों का सामान्य प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। (**नभस्** जैसे कुछ उल्लेख सीमित रूप में मिलते हैं, जैसे **नभस्** का उल्लेख मल्लिनाथ की मेघदूत, १. ४ की टीका में)।

कुछ सूचियों में मल-मास का भी उल्लेख आता है। वाजसनेयि संहिता ७. ३०; २२. २९ में **अंहसस्पति** आता है, अन्यत्र **संसर्प** नाम आया है: तैसं०, १. ४. १४ १; मैसं०, १३. १२. १३.। काठक संहिता ३८. ४ में इसे **मलिम्लुच्** कहा गया है; यह नाम अन्यत्र भी काल्पनिक नामों या "संसर्प" के साथ आया है: कासं०, ३५. १०;

[1] आले०, ३६९, ३७०।

[2] तु०—थिबो, उपर्युक्त, २४, २५।

[3] तु०—थिबो, उपर्युक्त, ७, ८; वेबर, इं० स्ट्राइ० १. ९१।

वासं०, २२. ३०। अथर्ववेद ५. ६. ४ में इसे **सनिस्रस्** (फिसलने वाला) कहा गया है, जो उसकी अनिश्चित अवस्थिति के कारण है।

मासों के नामकरण का दूसरा आधार है नक्षत्रों के नाम पर उनका नामकरण। ब्राह्मणों में इस प्रथा का केवल बीज मिलता है, जो बाद में आर्षकाव्य एवं परवर्ती साहित्य में उभर आता है। ज्योतिष (श्लोक ६ यजुस्-संस्करण=५ श्लोक संस्करण) में कहा गया है कि **माघ** और **तप** अभिन्न हैं। इससे **मधु** चैत्र में पड़ता है, अतः चित्रा नक्षत्र की पूर्णिमा में ही वर्षारम्भ मानना ठीक होगा, न कि फाल्गुनी पूर्णिमा में। शतपथ ब्राह्मण के (८. ४. २. १२; ८. ४. ३. १८. २; तु०—वासं०, १४. २६. ३१; तैसं०, ४. ३. १०. ३) **याव** और **अयावः** (५. ३. ४. ५) में **शुक्ल पक्ष** और **कृष्ण पक्ष** को क्रमशः **यव** और **अयव** कहा गया है; मास के शुक्लपक्ष से प्रारम्भ होने का भी इससे अनुमान किया जा सकता है। संभवत √यु "दूर करना" "दुरात्माओं को दूर करना" से ये शब्द व्युत्पन्न हैं[1]। पर्वन् (पोर=समय का विभाग) शब्द भी पक्ष को उद्दिष्ट करता है, जो संभवतः ऋग्वेद में आया है: ऋ०, १. ९४. ४; बृउ०, १. ११; तु०—शब्रा०, १. ६. ३. ३; ६. २. २. २४; वासं०, १३. ४३[2]। क्रमशः इन्हें **पूर्व पक्षः** तैसं०, ३. ४. ९. ६; ऐब्रा०, ४. २५. ३; शब्रा०, ६. ७. ४. ७; ८. ४. २ ११; निरुक्त, ५. ११; ११. ५, ६ और **अपर पक्षः** शब्रा०, ६. ७. ४. ७; ८. ४. २. ११; ११. १. ५. ३; बृउ०, ३. १. ५; निरुक्त, ५. ११. ६ भी कहा गया है। इनमें से किसी को भी अर्ध-मास कहा जा सकता है: शब्रा०, ५. ४. ५. २१; बृउ०, १. १. १; ३. ८. ९ इत्यादि; तैसं०, ७. १. १५. १; तैसं०, ३. १२. ७. वासं०, २२. २८।

मासर—याजुष-संहिताओं में एक पेय पदार्थ का नाम मासर आया है: मैसं०, ३. ११. २, ९; वासं०, १९. १४, ८२; २०. ६८; तैब्रा०, २. ६. ११. ४ इत्यादि; कात्यायन श्रौत-सूत्र १९. १. २०, २१; महीधर भाष्य, वासं०, १९. १. १४ में इसके बनाने का ढंग बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह चावल, **श्यामाक**, घास और भुने हुए जौं से बनता था।

माहकि—महक का वंशज। वंश ब्राह्मण (इस्टू०, ४. ३८२) में एक आचार्य का यह नाम है।

माहा-चमस्य—महाचमस का वंशज। एक आचार्य का यह पैतृक नाम है। तैत्तिरीय उपनिषद् १. ५. १ के अनुसार इन्होंने भूर्, भुवस्, स्वर् इन तीन व्याहृतियों के साथ चौथी व्याहृति महस् को जोड़ा था।

माहा-रजन—वासन्ती रंग में रंगा। बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३. १० में यह एक परिधान का विशेषण है।

माहा-राज्य—महाराज का पद। ऐतरेय ब्राह्मण ८. ६. ५; ८. १२. ४; ८. १५. ३ में माहाराज्य का उल्लेख आया है।

माहित्थि—महित्थ का वंशज। एक आचार्य का यह पैतृक नाम है, जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण ६. २. २. १०; ८. ६. १. १६; ९. ५. १. ५७; १०. ६. ५. ९ में आया है। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५. ४ काण्व में उन्हें **वाम-कक्षायण** का शिष्य कहा गया है।

माहिन—'इयं (पृथिवी) वै माहिनम्' ऐब्रा० ३. ३८।

१. मित्र—साथी के अर्थ में मित्र शब्द का प्रयोग आम रहा है: पुं० में ऋ०, १. ५८. १; १. ६७. १; १. ७५. ४; १. १५६. १. १७०. ५; २. ४. १, ३; नपुं० लिं० में साथी के अर्थ में यह शब्द ऋ० में नहीं आया है। पुं० में अवे०, ५. १९. १५; ११. ९. २; कासं०, २७. ४; तैआ० १०. ८०; नपुं० लिं० में: तैसं०, ६. ४. ८. १; तैब्रा०, १. ७. ८. ७; ऐब्रा०, ६. २०. १७; ८. २७. २; शब्रा०, ४. १. ४. ८; ५. ३. ५. १३; ११. ४. ३. २० इत्यादि। पत्नी को मनुष्य का मित्र बताया गया है: तैसं०, ६. २. ९. २; मित्र के महत्त्व का भी उल्लेख मिलता है: शब्रा०, १. ५. ३. १७। मित्र के साथ कपट की निन्दा की गई है; तु०—तैब्रा०, १. ७. १. ७।

२. मित्र—एक वैदिक देवता हैं; इनका उल्लेख प्रायः वरुण के साथ आता है। केवल मित्र देवता से संबन्ध रखने वाला तो एक ही सूक्त ऋ० ३. ५९ है। वे मनुष्यों को उद्यमशील बनाते हैं। वे सविता से अभिन्न हैं। अवेस्ता के मिथ्र से उनकी अभिन्नता मानी जा सकती है, जो सूर्य के प्रतीक हैं। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा०। तु०—'सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्' शब्रा० ५. ३. २. ७; 'ब्रह्मैव मित्रः' शब्रा० ४. १. ४. १; 'ब्रह्म हि मित्रः' शब्रा० ४. १. ४. १०; 'मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः' शब्रा० ११. ४. ३. ११; 'अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति मित्रः' शब्रा० २. ३. २. १२; 'तं यद् घोरसंस्पर्शं सन्त (अग्नि) मित्रकृत्येवोपासते तदस्य मैत्रं रूपम्' ऐब्रा० ३. ४; 'प्राणो वै मित्रः' शब्रा० ६. ५. १. ५; 'ते हेमे लोका मित्रगुप्तास्तस्मादेषां लोकानां न किंचन गीयते' शब्रा० ६. ५. ४. १४; 'अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते' शब्रा० ६. ५. ४. १४; 'अहर्मित्रः' तांब्रा० २५. १०. १०; 'मैत्रं वा अहः'

[1] एगलिंग, सेबुई०, ४३. ६९ टि०।

[2] वोवू०।

तैब्रा० १. ७. १०. १; 'वरुण्या वा एता ओषधयो याः कृष्टे जायन्तेऽथैते मैत्रा यन्नाम्बा:' शब्रा० ५. ३. ३. ८; 'वरुण्या वा एषा (शाखा) या परशुवृक्णाथैषा मैत्री या स्वयं प्रशीर्णा' शब्रा० ५. ३. २. ५; 'वरुण्यो वा एष योऽग्निना श्रृतोऽथैष मैत्रो य ऊष्मणा श्रृत:' शब्रा० ५. ३. २. ८; 'मैत्रो दक्षिण: । वरुण: सव्य:' तैब्रा० १. ७. १०. १; 'तद् यदेवात्र पयस्तन्मित्रस्य, सोम एव वरुणस्य' शब्रा० ४. १. ४. ९; 'य (अर्धमास:) आपूर्यते स मित्र:' तांब्रा० २५. १०. १०; 'मैत्रो नवकपाल : (पुरोडाश:)' तांब्रा० २१. १०.२३ ।

मित्र-भू काश्यप—कश्यप का वंशज । वंश ब्राह्मण[1] में **विभण्डक काश्यप** के शिष्य एक आचार्य का नाम है ।

मित्र-भूति लौहित्य—लोहित का वंशज । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४२. १ में **कृष्णदत्त लौहित्य** के शिष्य एक आचार्य का नाम है ।

मित्र-वर्चस् स्थैरकायरा—स्थिर का वंशज । वंश ब्राह्मण[2] में **सुप्रतीक आलुण्डक** के शिष्य एक आचार्य का नाम है ।

मित्रा-वरुणौ—'प्राणापानौ मित्रावरुणौ' तांब्रा० ६. १०. ५; 'प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुण:' शब्रा० ८.४. २. ६; 'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' शब्रा० १. ८. ३. १२; 'अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ' तांब्रा० २५. १०. १०; 'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण:' ऐब्रा० ४. १०; 'अर्धमासौ (शुक्लकृष्णपक्षौ) वै मित्रावरुणौ' तांब्रा० २५. १०. १०; 'अथैतावेवार्धमासौ मित्रावरुणौ य एवापूर्यते सवरुणो योऽपक्षीयते स मित्र:' शब्रा० २. ४. ४. १८; 'बाहू वै मित्रावरुणौ' शब्रा० ५. ४. १. १५; 'अयं वै (पृथिवी-) लोको मित्रोऽसौ (द्युलोक:) वरुण:' शब्रा० १२. ९. २. १२; 'द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयो: प्रियं धाम' तांब्रा० १४. २. ४; 'गोसंस्तवौ वै मित्रावरुणौ' कौब्रा० १८. १३; 'एतद् वै मित्रावरुणयो: स्वं हविर्यत् पयस्या' कौब्रा० १८. १२; 'यदा न कश्च न रस: पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत् तस्मादेषा न प्रजायते' शब्रा० ४. ५. १. ९ ।

मित्रातिथि—ऋग्वेद १०. ३३. ७ में मित्रातिथि को **कुरुश्रवण** का पिता और **उपमश्रवस्** का पितामह बताया गया है । ये सभी राजा थे ।

मिन्दा—तैत्तिरीय संहिता ३. २. ५. ४ में शारीरिक दोष-विशेष को मिन्दा कहा है, और उसे दूर करने का श्रेय अग्नि को दिया गया है ।

[1] इस्टू०, ४. ३७४ ।
[2] इस्टू०, ४. ३७२ ।

मियेध—मेघ या यज्ञ के अर्थ में मियेध शब्द ऋग्वेद में आया है : ऋ० १. १७७. ४; ३. १९. १, ५; ३. ३२. १२; ७. १. १७; १०. ७०. २ ।

मिह्—कुहरा और वर्षा के अर्थ में मिह् शब्द अनेक बार ऋग्वेद में आया है : ऋ० २. ३०. ३; १. १४१. १३; १. ७९. २; ८. ७. ४; १०. ३१. ९; १०. ७३. ५; १. ३२. १३; १. ३. ७; २. ३१. २० इत्यादि ।

मीमांसा—विवेचन के अर्थ में मीमांसा शब्द ब्राह्मणों में आया है : शब्रा०, १. ३. ५. १२; ४. १. १. १६; ४. २. १. ७; ४. ५. ३. ८; तैब्रा०, ३. २. ४. ६; तैआ०, १. १२. ५; तैउ०, २. ८ इत्यादि ।

मुक्षीजा—ऋग्वेद १. १२५. २; निरुक्त, ५. १९ में जाल के अर्थ में मुक्षीजा का प्रयोग माना जा सकता है ।

१. मुञ्ज—मुंज बहुत बढ़ने वाली और १० फीट तक जाने वाली होती है । ऋग्वेद में अन्य घासों के साथ जानवरों के छिपने के स्थान के प्रसङ्ग में मुंज का भी उल्लेख आता है : ऋ० १. १९१ ३ । ऋ० १. १६१. ८ इसे पवित्र करने वाली कहा गया है; यह सोम को छानने के काम में आती थी ('मुञ्जनेजन' सायण के अनुसार 'अपगत तृण') । अन्यत्र भी इसका उल्लेख मिलता है : अवे०, १. २. ४; तैसं०, ५. १. ९. ५; ५. १. १०. ५ इत्यादि; कौब्रा०, १८. ७; शब्रा०, ४. ३. ३. १६; ६. ६. १.२३; ६. ६. २. १५ इत्यादि[1] । शतपथ ब्राह्मण ६. ३. १. २६ में इसे सुषिर या पोपला कहा गया है; यह आसन्दी बनाने में भी प्रयुक्त होती थी : शब्रा०, १२. ८. ३. ६ । तु०—'अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् स मुञ्जं प्राविशत् तस्मात् स मुषिर: 'शब्रा० ६. ३१. २६; 'सैषा योनिरग्नेर्यं मुञ्ज:' शब्रा० ६. ३. १. २६; 'यज्ञिया हि मुञ्जा:' शब्रा० १२. ८. ३. ६ ।

२. मुञ्ज सामश्रवस—सामश्रवस् का वंशज । संभवत: एक राजा का नाम है : जैउब्रा०, ३. ५. २; षविंब्रा० ४. १ ।

मुण्डिम औदन्य या औदन्यव—शतपथ ब्राह्मण १३. ३. ५. ४ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९. १५. ३ में एक व्यक्ति का नाम है ।

मुद्ग—मूंग । वाजसनेयि संहिता १८. १२ में वनस्पतियों की सूची में मुद्ग का भी उल्लेख है । शांखायन आरण्यक १२. ८. एवं अन्य सूत्रों में मुद्गौदन का उल्लेख आता है । तु०—**मुद्गल** ।

मुद्गल और मुद्गलानी—ऋग्वेद १०. १०२ में मुद्गल और मुद्गलानी का उल्लेख आया है । एक रथ की

[1] वोबू० ।

दौड़ में बेढब कठिनाइयों के होते हुए भी मुद्गल ने अपनी पत्नी की सहायता से विजय पाई थी। व्याख्याकारों के इस विषय में विभिन्न मत हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार मुद्गल के बैलों के चोरी जाने और एक बूढ़े बैल के चोरों का पीछा करने तथा द्रु-घण से उन्हें मारने का कथन इस स्थल पर है[1]। यास्क, निरुक्त, ९. २३. २४ के अनुसार मुद्गल ने दो बैलों के स्थान पर एक ही बैल से और द्रु-घण से रेस जीती थी। राथ[2] के अनुसार भारतीय परंपरा का अर्थ अनुमान पर आधृत है; ओल्डेनबर्ग[3] भी यही मानते हैं। ब्लूमफील्ड[4] ने इसे दैवी घटना माना है, मानवीय नहीं। बाद में मुद्गल एक देव-शास्त्रीय ऋषि बन गए हैं : अवे० ४. २९. ६; आश्रौसू०, १२. १२; बृदे०, ६. ४६; ८. १२, ९०।

मुद्गौदन—द्र०—**ओदन, मुद्ग**।

मुनि—ऋग्वेद १०. १३६. ३, ४, ५ में एक मुनि को देवेषित, शक्ति-संपन्न, एवं यातु जानने वाला बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३. ३ में **ऐतश** मुनि को उनके पुत्र ने विच्छृंखल बताया है, जो ऐतश-प्रलापों की निरर्थकता के कारण हो सकता है। ऋग्वेद ८. १७. १४ (तु०—७. ५६. ८) में **इन्द्र** को मुनियों का मित्र बताया गया है; अथर्ववेद ७. ७४. १; तु०; शब्रा०, ९. ५. २. १५ (द्र०—**मुनि-मरण**) में **देवमुनि** का उल्लेख है।

उपनिषदों में मुनि एक विशेष संयत व्यक्ति है; वह यज्ञ, तप, उपवास और श्रद्धा से संपन्न है : बृउ०, ३. ४. १; ४. ४. २५; तैआ०, २. २०। वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख विरल है, किंतु इसका कारण यह नहीं कि उस समय मुनि नहीं थे; वे थे, अपने ध्यान में मग्न थे; पुरोहितों के भौतिक जगत् से परे वे अपने चिन्तन में लीन रहते थे और पुत्रोत्पादन या दक्षिणा-ग्रहण के कार्यों से भी दूर रहते थे : बृउ०, ३. ४. १।

मुनि-मरण—पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ४. ७ के अनुसार **वैखानसों** के वध-स्थान का नाम मुनि-मरण है।

मुमुक्षु—मोक्ष या मुक्ति की इच्छा रखने वाला। वैदिक साहित्य में दो बार यह शब्द आया है : ऋ० १. १४०. ४; श्वेउ०, ६. १८।

मुलालिन्, मुलाली (स्त्रीलिङ्ग)—अथर्ववेद ४. ३४. ५ (तु० कौसू०, ६६. १०) के अनुसार कमल का कोई खाद्य भाग मुलालिन् या मुलाली है।

मुषीवन्—ऋग्वेद १. ४२. ४३ में डाकू का वाचक है।

मुष्कर—अथर्ववेद ६. १४. २ में किसी छोटे कीड़े के लिये आया है। ब्लूमफील्ड के अनुसार पैप्पलाद शाखा का "पुष्कर" पाठ ही ठीक है। तु०—'प्रजनने वै मुष्करः' शब्रा० ५. १. ३. १०।

मुष्टि—'राष्ट्रं मुष्टिः' शब्रा० १३. २. ९. ७।

मुष्टि-हन्, मुष्टि-हत्या—'हाथ की मुट्ठी से लड़ने वाला' और 'हाथ की लड़ाई'। ऋग्वेद में पैदल योद्धा को मुष्टि-हन् कहा गया है : ऋ० ५. ५८. ४; ६. २६. २; ८. २०. २०; अवे०, ५. २२. ४; मुष्टि-हत्या : ऋ० १. ८. २। अथर्ववेद ७. ६२. १ में पत्ति को इस अर्थ में लिया गया है। ग्रीक एवं अन्य आर्य जातियों के समान आर्य रथों से लड़ते थे, और दूसरे लोग पैदल। तु० ऋ० १. १००. १०।

मुष्णन्त्—द्र०—**तस्कर**।

मुसल—परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में मुसल या मूसल का उल्लेख आम है : अवे०, १०. ९. २६; ११. ३. ३; १२. ३. १३; तैसं०, १. ६. ८. २ इत्यादि; शांआ०, १२. ८; शब्रा०, १२. ५. २. ७; जैब्रा०, १. ४२. ४४।

मुहुक—ऋग्वेद ४. १६. १७; ४. २७. १२ में मुहुक शब्द क्षण या मूहूर्त्त के लिए आया है, किंतु भाष्यकारों ने युद्ध या "मुहुर्मुहुः" (बार-बार) यह अर्थ लिया है[1]। क्षण या मुहूर्त यह अर्थ उन संदर्भों में ठीक जान पड़ता है।

मुहूर्त—मुहूर्त दिन के ३० वें भाग या ४८ मिनट के समय को कहते हैं : तैब्रा०, ३. १०. १. १; ३. १०. ९. ७; ३. १२. ९. ६; शब्रा०, १०. ४. २. १८; २५, २७; १०. ४. ३. २०; १२. ३. २. ५; १०. ४. ४. ४ इत्यादि। ऋग्वेद में केवल "क्षण" के अर्थ में यह शब्द आया है : ऋ० ३. ३३. ५; ३. ५३. ८।

तु० 'स (प्रजापतिः) पञ्चादशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्ता लोकंपृणा पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहु त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ताः' शब्रा० १०. ४. २. १८; 'अथ यत् क्षुद्राः सन्त इमांल्लोकानापूरयन्ति तस्मात् (मुहूर्ताः)' शब्रा० १०. ४. २. १८; 'चित्रः केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशस्तानुमन्तेति ऐत अनुवाका मुहूर्तानां नामधेयानि' तैब्रा० ३. १०. १० ३;

मूक—गूंगा। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मूक शब्द मिलता है : वासं०, ३०. १९; शब्रा०, १. ४. ३. १५; ११. ५. ४. १३, कौउ०, ३. ३ इत्यादि।

[1] मैकडानल, सर्वानुक्रमणी, पृष्ठ १५८।

[2] निरुक्त, एर्लाउटरुङ्गन, १२५।

[3] त्सादामौगे०, ३९. ७८।

[4] वही, ४८. ५१७।

[1] द्र०—वोबू०, मोनियर विलियम्स की डि०।

मूचीप या मूवीप—ऐतरेय ब्राह्मण के **मूतिब** (=एक वन्य जाति) के स्थान पर शांखायन श्रौत सूत्र १५. २६. ६ में मूचीप या मूवीप पाठ आया है।

मूजवन्त्—**महावृषों, गंधारियों** और **वल्हिकों** के साथ **मूजवन्तों** का उल्लेख आया है। अथर्ववेद ५. २२. ५, ७, ८, १४; तु० बौश्रौसू०, २. ५ में ज्वर को इन्हीं लोगों के पास चले जाने का आदेश दिया गया है। यजुर्वेद में भी मूजवन्तों को दूर देश का बताया गया है : तैसं०, १. ८. ६. २; कासं०, ९. ७; ३६. १४; मैसं०, १. ४. १०. २०; वासं०, ३. ६१; शब्रा०, २. ६. २. १७। ऋग्वेद १०. ३४. १ में सोम को **मौजवत** कहा गया है, अतः मूजवन्त् वह स्थान रहा होगा जहाँ से सोम को लाया जाता था। यास्क, निरुक्त, ९. ८ के अनुसार सोम को मूजवन्त् पर्वत से लाया जाता था। भारतीय भाष्यकारों ने मूजवन्त् को पर्वत माना है। इसी पर्वत के नाम के आधार पर इस जन का यह नाम पड़ा प्रतीत होता है। यास्क ने मूजवन्त् को मुञ्जवन्त् पर्वत माना है, जो महाभारत १०. ७८५; १४. १८० में भी उद्दिष्ट है, और **हिमालय** की एक पर्वत-श्रेणी है।

मूत—बुनी हुई टोकरी का नाम मूत है : कासं०, ३६. १४; तैब्रा०, १. ६. १०. ५; लाश्रौसू०, ८. ३. ८। मूतक छोटी टोकरी है : शब्रा०, २. ६. २. १७।

मूतिब—ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८. २ में एक बर्बर जाति का नाम मूतिब है; यह **विश्वामित्र** की बहिष्कृत संतति से बनी थी। शांखायन श्रौतसूत्र १५. २६. ६ में पाठ **मूचीप या मूवीप** है।

मूत्र—मूत्र एवं मूत्ररोगोन्मूलन का उल्लेख अथर्ववेद १. ३. ६ के समय से ही मिलता है। मूत्र-पुरीष के विसर्जन के संबन्ध में निषेधादि के नियम भी तैत्तिरीय आरण्यक १. २६. ७ एवं सूत्रों में पाए जाते हैं। द्र०—अवे०, ६. ४४. ३; ९. ८. १०; वासं०, १९. ७६; १९. ८४; २२. ८; आश्रौसू०, ५. ११. ३; शब्रा०, १२. ७. १. ८; छाउ०, ६. ५. २; काश्रौसू०, २५. ११. १६ इत्यादि।

मूर-देव—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यातु-धानों के लिए मूर-देव शब्द आया है। भाष्यकारों ने मूर-देव की मारण-क्रीड या मरण-क्रीड के रूप में व्याख्या की है। आधुनिक डिक्शनरियों में "मूल-देव" के रूप में भी इस शब्द को पढ़ा गया है : ऋ० ७. १०४. २४; १०. ८७. २. १४; अवे०, १०. ५. ४९।

मूर्धन्—मूर्धा शब्द शीर्ष के अर्थ में वैदिक साहित्य में अनेक बार आया है : ऋ० ४. २. ६; १. १६४. २८; तैसं०, १. १. २. २; शब्रा०, ४. ४. ३. ४, छाउ०, १. १०. ९ इत्यादि। तु०—'प्रजापतिं वै मूर्धा' शब्रा० ८. २. ३. १०; 'एष वै मूर्धा य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा० १३. ४. १. १३।

मूल, मूल-बर्हणी—द्र०—**नक्षत्र**।

मूष्, मूषिका—चूहा या मूषक : ऋ० १. १०५. ८=१०. ३३. ३; निरुक्त, ४. ५; मैसं०, ३. १४. १७; वासं०, २४. ३६।

१. मृग—वन्य पशु : ऋ० १. १७३. २; १. १९१. ४; ८. १. २०; ८. ५. ३६; १०. १४६. ६ इत्यादि; अवे०, ४. ३. ६; १०. १. २६; १२. १. ४८; १९. ३८. २; पंविब्रा०, ६. ७. १०; २४. ११. २; ऐब्रा०, ३. ३१. २; ८. २३. ३ इत्यादि। कभी-कभी इसे भीम बताया गया है : ऋ० १. १५४. २; १. १९०. ३; २. ३३. ११; २. ३४. १; १०. १८०. २ इत्यादि। कहीं-कहीं इसे महिष (=शक्तिशाली) कहा गया है, जो बाद में भैंसे का नाम पड़ गया है : ऋ० ८. ६३. १५; ९. ९२. ६; १०. १२३. ४। विशेष रूप से यह हरिण का वाचक है : ऋ० १. ३८. ५; १. १०५. ७; ६. ७५. ११; ९. ३२. ४; अवे०, ५. २१. ४; तैसं०, ६. ३. १. ७; तैब्रा०, ३. २. ५. ६; शब्रा०, ११. ८. ४. इत्यादि। कुछ स्थलों (ऋ० १. १८२. ७; १०. १३६. ६; संभवतः १. १४५. ५; ७. ८७. ६) पर राथ[१] ने पक्षी अर्थ लिया है। द्र०—**मृग-हस्तिन्, पुरुष-हस्तिन्**।

२. मृग—ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३. ५ में सायण-भाष्य के अनुसार **मृगशिरस्** नक्षत्र के लिये आया है। यहाँ मृग के शिरस् के ही तारों को नहीं (जिससे एतन्नामक नक्षत्र बनता है) अपितु संपूर्ण मृग के तारों को संकेतित समझना चाहिए। तिलक ने मृग की पेटी के तारों (दो तारे घुटने में, एक वाम स्कन्ध में) को मृगशिरस् नक्षत्र माना है[२]। किंतु वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने इसे चिन्त्य बताया है।

मृग-तीर्थ—जानवरों का पथ। श्रौतसूत्रों में उस पथ को मृग-तीर्थ कहा गया है, जिससे पुरोहित या ऋत्विज् सवनोपरान्त जाते थे : आश्रौसू०, ५. ११. २; लाश्रौसू०, २. ६. १५।

३. मृग-हस्तिन्—हाथ वाला पशु। ऋग्वेद १. ६४. ७; ४. १६. १४ में मृग-हस्तिन् का उल्लेख आता है। राथ[३] ने इसे हाथी माना है। बाद में हाथी के लिये केवल हस्तिन् शब्द चलन में आ गया। ऋग्वेद ८. ३३. ८; १०. ४०. ८ में हाथी को "मृग-वारण" (वन्य भयंकर पशु)

---

[१] बोबू०।
[२] ओरायन, पृष्ठ ९९।
[३] बोबू०, निरुक्त, एर्लाटरुङ्गन ७९।

भी कहा गया है; बाद में केवल वारण भी हस्तिन् का वाचक बन गया है। पिशल[1] का कहना है कि ऋग्वेद ८. २. ६; १०. ४०. ८ के आधार पर यह माना जा सकता है कि हाथियों को पकड़ने के लिए पालतू हथिनी का उपयोग किया जाता था, किंतु यह संदिग्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ३ में हाथी को काला, सफेद दांत वाला, और हिरण्य-भूषित बताया गया है।

मृगय—इन्द्र द्वारा मृगय के पराजित होने का ऋग्वेद में उल्लेख आता है: ४. १६. १३; ८. ३. १९; १०. ४९. ५। लुडविग[2] के अनुसार वह मानवीय शत्रु है, किंतु संभवतः वह कोई असुर है, जैसा कि मृग निर्विवाद रूप से है: ऋ० १. ८०. ७; ५. २९. ४ इत्यादि।

मृग-यु—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में एकाध-बार मृगयु या शिकारी का उल्लेख आया है: अवे०, १०. १. २६; वासं०, १६. २७; ३०. ७; तु०-'मृगण्यु', ऋ०, १०. ४०. ४; द्र०—तैब्रा०, १. ५. १. १; ३. ४. ३. १; पंविब्रा०, १४. ९. १२ इत्यादि। वाजसनेयि संहिता ३० और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. में शिकार से जीविका चलाने वाले अनेक-विध लोगों का उल्लेख पुरुषमेध की बलियों की सूची में आता है: जैसे, **मार्गार**, **कैवर्त** या **केवर्त**, **पौञ्जिष्ठ**, **दाश**, **मैनाल** और संभवतः **बैन्द** तथा **आन्द** =मछुआ: वासं०, ३०. १६; तैसं०, ३. ४. १२. १। प्राचीनतम वैदिक काल में भी आखेट को जीविका का प्रमुख साधन नहीं कहा जा सकता; तब तो पशु-पालन एवं कृषि जीविका के प्रमुख साधन थे। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि आखेट नहीं किया जाता था; भोजन, क्रीडा, एवं पशु-रक्षा के निमित्त वन्य पशुओं का आखेट आम था। आखेट के संबन्ध में ऋग्वेद से हमें पर्याप्त सूचना मिलती है। बाणों से आखेट किया जाता था: ऋ० २. ४२. २, किंतु प्रायः अन्य प्राचीन जातियों की भाँति यहाँ भी जालों और गड्ढों द्वारा शिकार किया जाता था; **पाश**: ऋ० ३. ४५. १, **निधान**: ऋ० ९. ८३. ४; १०. ७३. ११ और **जाल**: अवे०, १०. १. ३० के उपयोग का प्रमाण मिलता है। इन साधनों से पक्षियों को पकड़ा जाता था। व्याध को निधा-पति (=जाल का स्वामी ऋ० ९. ८३ ४) कहा गया है। जालों को खूंटियों के सहारे लगाया जाता था, जैसा कि आज भी किया जाता है: अवे०, ८. ८. ५। जाल के लिए एक अन्य नाम मुक्षीजा है।

गड्ढे प्रायः हरिणों=**ऋश्य** को पकड़ने के लिए बनाए जाते थे; और इसीलिए **ऋश्य-द** कहलाते थे: ऋ० १०. ३९. ८। संभवतः हाथी पालतू हथिनियों की सहायता से पकड़े जाते थे, जैसे कि ग्रीस में (द्र०—**मृग-हस्तिन्**)। वराह को पीछा करके मारा जाता था। इस काम में कुत्तों का भी संभवतः उपयोग किया जाता था: ऋ० १०. ८६. ४। महिष को पकड़ने का भी उल्लेख आता है: ऋ० १०. ५. ६; किंतु प्रसक्त स्थल दुरूह है; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पकड़ने का साधन क्या था। सिंह को गड्ढे में गिराकर पकड़ा जाता था: ऋ० १०. २८. १०; अथवा शिकारियों द्वारा घेर कर उसे मार दिया जाता था: ऋ० ५. १५. ३। ऋ०, ५. ७४. ४ में निभृत स्थान में (संभवतः गड्ढे के उपयोग द्वारा) सिंह के पकड़ने का उल्लेख है।

मछली मारने के साधनों का ज्ञान कम है। उनके मारने वालों के अनेक नाम यजुर्वेद में एवं अन्यत्र आए हैं। सायण (तैब्रा०, ३. ४. १२. १ पर भाष्य) के अनुसार तालाब में जाल डालकर मछली पकड़ने वाले को **धैवर** कहा गया है। **दाश** और **शौष्कल** कंटिया (बडिश) डालकर मछली मारते थे। **बैन्द**, **केवर्त** और **मैनाल** जाल से मछली पकड़ते थे; **मार्गार** हाथ से ही मछलियों को धर लेता था। **आन्द** खूंटों के सहारे या बांध बनाकर मछली मारता था। **पर्णक** विषाक्त पत्ते को जल में डालकर मछलियाँ मारता था। किंतु इन व्याख्याओं को सर्वथा सही नहीं माना जा सकता।

मृग-व्याध—शिकारी। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३. ५ में प्रजापति की दुहिता के आख्यान में मृग-व्याध एक तारे का नाम है। प्रजापति (मृग-शिरस्) अपनी दुहिता (रोहिणी) का पीछा करते हैं, और बाण वाले लुब्धक तारक द्वारा मारे जाते हैं। प्रजापति के इस आख्यान को आकाशीय तत्त्वों पर घटाना बाद की सूझ है, जो उस कथानक के बाण चलाने वाले का सादृश्य मृगशिरस् में पा लेने पर की गई है।

मृग-शिरस्, मृग-शीर्ष—तु० 'एतद् वै प्रजापतेः शिरो यन् मृगशीर्षम्' शब्रा० ३. १. ३. ८; 'स (प्रजापती-रुद्रेण) विद्ध ऊर्ध्व उदपप्तत् तमेतं मृग(—नक्षत्रम्) इत्या-चक्षते' ऐब्रा० ३. ३३; द्र०—**नक्षत्र** और **मृग**।

मृगाखर—वन्य पशुओं का निवास-स्थान: तैसं०, ७. ५. २१. १; तैब्रा०, ३. ९. १७. ३।

मृगार—अनुक्रमणी में अथर्ववेद ४. ३३. २९ के रचयिता ऋषि का नाम मृगार आया है। मृगार-सूक्त का कौशिक सूत्र २७ में उल्लेख आता है।

मृड—यजुर्वेद के कुछ समस्त पदों में मृड शब्द हिरण्य के एक माप के अर्थ में आया है। यह संदिग्ध है कि क्या यह पाठ व्याकरण-ग्रन्थों के पृड से अभिन्न है: कासं०,

[1] वैस्टू०, २. १२१; १२३; ३१७–३१९।
[2] ट्रां० ऋ० ३. १६६।

११. १; १३. १०; तैसं०, ३. ४. १. ४; तु०—पाणिनि, ३. १. १२३. और उस पर वार्त्तिक ।

मृत्तिका—मिट्टी । मृत्तिका का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आम है : वासं०, १८. १३; ऐब्रा०, ३. ३४. २; छाउ०, ६. १. ४; तैआ०, १०. १. ८, ९ । तु०—**मृद्** ।

मृत्पच—मैत्रायणी उपनिषद् २. ६; ३. ३ में कुम्भकार को मृत्पच कहा गया है । तु०—**मृद्** ।

मृत्यु—मरण । मृत्यु को ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अनेक बार एक भयानक तत्त्व के रूप में दिखाया गया है : ऋ० ७. ५९. १२; १०. १३. ४; १०. १८. १, २; १०. ४८. ५; १०. ६०. ५; तु०—ऋ० ८. १२. २२; १०. ९५. १८; द्र०—तैसं०, १. ५. ९. ४; तैब्रा०, १. ५. ९. ६; ऐब्रा०, ३. ८. २; ३. १४. १-३; शब्रा०, १०. ६. ५. १; अवे०, ८. २. २; ८. ८. १०, १६; १७. १. ३०; तैब्रा०, ३. १०. ८. २; काउ०, १. १८ इत्यादि । एक सौ एक प्रकार की मृत्युओं का उल्लेख आता है । स्वाभाविक मृत्यु वृद्धावस्था के कारण होती है : अवे०, २. १३. २; २. २८. २; अन्य सौ मृत्युओं से बचना चाहिये : अवे०, १. ३०. ३; २. २८. १; ३. ११. ५; ८. २. २७; ११. ६. १६. इत्यादि । वृद्धावस्था से पहले मरना निश्चित आयु से पहले मर जाना है : ऋ० ८. ६७. २०; अवे०, ५. ३०. १७; १०. २. ३०; १३. ३. ५६; शब्रा०, २. १. ४. १ । जीवन की निश्चित आयु वैदिक साहित्य में सर्वत्र १०० वर्ष मानी गई है : ऋ० १. ६४. १४; १. ८९. ९; २. ३३. २ इत्यादि । दूसरी ओर शक्ति क्षीण हो जाने पर वृद्धावस्था में होने वाली दुर्गतियों का भी उल्लेख आया है : ऋ० १. ७१. १०; १. १७९. १ । **अश्विनों** का एक प्रमुख चमत्कार था **च्यवन** को उनका पूर्व यौवन प्राप्त करा देना, और दूसरा था **कलि** को पुनर्यौवन प्रदान करना : ऋ० १०. ३९. ८ । अथर्ववेद में अनेक आयुष्य-सूक्त आते हैं ।[1]

अन्त्य संस्कार की दो प्रथाएँ थीं : गाड़ना और जलाना (द्र०—**अनग्नि-दग्ध**) । प्राचीन वैदिक काल में दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं;[2] जैसे कि ग्रीस में[3] । किंतु गाड़ने की प्रथा सर्व-संमत नहीं थी । दोनों ही प्रकार के मृतकों की अस्थियों के ऊपर एक छत्री बनाई जाती थी । शतपथ ब्राह्मण १३. ८. २. १ में इसके निर्माण-प्रकार के विभिन्न मतों का उल्लेख है । उत्तरी देशों में मृतक को जलते पोत द्वारा समुद्र में ले जाने की प्रथा का चिह्न बहुत कम या नहीं के बराबर मिलता है[1] । पोत वाला संदर्भ (ऋ० १०. ६२. १०, १०. १३५. ४, अवे०, ७. ६. ३) देवशास्त्रीय भयों से संबद्ध है; अन्त्य संस्कार से संबद्ध नहीं[2] ।

वैदिक भारतीय की दृष्टि में मरणोपरान्त पुनर्जीवन का प्रारम्भ होता है । मृतक दूसरे लोक में सर्वाङ्ग और सर्व-तनु होकर ही जाता है, और वहाँ उसी आनन्द को भोगता है, जिसे यहाँ भोग चुका होता है : अवे०, ५. ६. ११; १८. ४. ६४; शब्रा०, ५. ६. १. १; ११. १. ८. ६; १२. ८. ३. ३१; तु०—तैसं०, ५. ३. ५. २; ५. ३. ६. ३; ५. ६. ६. ३; तैब्रा०, २. ८. २०. ५; ३. १०. ११. १ । ऋग्वेद में भी बुरा करने वाले की बुरी गति होने का उल्लेख आया है : २. २९. ६; ३. २६. ८; ४. ५. ५; ४. २५. ६; ७. १०४. ३, ११, १७; १०. १५२. ४; किंतु विशेषतः अथर्ववेद और ब्राह्मणों में स्वर्ग एवं नरक के सिद्धान्त का विस्तृत कथन आता है : अवे०, २. १४. ३; ५. १९. ३; ५. ३०. ११; ८. २. २४; १२. ४. ३६; १८. ३. ३; तु०—५. १९; वासं०, ३०. ५; द्र०—शब्रा०, ११. ६. १. १; ६. २. २. २७; १०. ६. ३. १; कौब्रा०, १२. ३ इत्यादि । तु०—'स समुद्रादमुच्यत स मुच्युरभवत् तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः' गोब्रा. १. १. ७; 'एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः, एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोत्यथ म्रियन्ते' शब्रा० १०. ४. ३. १; 'एष एव मृत्युः । य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा० २. ३. ३. ७; 'स एष एव मृत्युः । य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः' शब्रा०. १०. ५. २. ३; 'स एष एव मृत्युः य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य हैतस्य हृदये पादावतिहतौ तौ हैतदाच्छिद्योत्क्रामति स यदोत्क्रामत्यथ हैतत् पुरुषो म्रियते' शब्रा० १०. ५. २. १३; 'अग्निर्वै मृत्युः' कौब्रा० १३. ३; 'अथैत एव मृत्यवो यदग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः । ते ह पुरुषं जायमानमेव मृत्युपाशैरभिदधति' जैउब्रा० ४. ९. १–२; 'मृत्युस्तदभवद् धाता शमितोग्रो विशां पतिः' तैब्रा० ३. १२. ९. ६; 'एको वा अमुष्मिंल्लोके मृत्युः । अशनया मृत्युरेव' तैब्रा० ३. ९. १५. १–२; 'अमृत्युर्वा अन्यो भ्रूणहत्याया इत्याहुः । भ्रूणहत्या वाव मृत्युरिति' तैब्रा० ३. ९. १५. २; 'मृत्युर्वै तमः' शब्रा० १४. ४. १. ३२.

---

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ६२ एवं आगे ।

[2] द्र०—हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, १६, १५२ ।

[3] द्र०—लैङ्ग, होमर एण्ड हिज एज, ८२ एवं अग्रिम ।

[1] तु०—त्सिमर, आले०, ४१० ।

[2] तु०—वेबर, प्रोसी० आ० दि बर्लिन एके०, १८९५, ८५६ ।

मृत्युं-जय—ऋग्वेद के ७. ५९. १२ को मृत्युंजय-मन्त्र या महा-मृत्युंजय मन्त्र कहा जाता है। इसका विधान सर्वप्रथम ऋ० विधान (२. १४८, १४९ संपा० जगदीश शास्त्री) में पाया जाता है। आज भी इस मन्त्र का (त्र्यम्बकं यजामहे·········) आदि में विनियोग किया जाता है।

मृद्—मिट्टी। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में मृद् का उल्लेख आम है: तैसं०, ५. ७. ९. २; वासं०, ११. ५५; शब्रा०, ६. १. १. १३; ६. १. २. ३४; ६. १. ३. ३; ६. ३. १. २२, ३२; ६. ३. ३. १; मैउ०, ६. २७ इत्यादि; तु०—मृत्तिका। ब्राह्मणों में मिट्टी के लौंदे (शब्रा०, ६. ४. २. १; ६. ५. २. १; १४. २. १. ८, छाउ०, ६. १. ४) और मैत्रायणी उपनिषद् २. ६; ३. ३ में मृत्यच या कुम्भकार का उल्लेख मिलता है। मिट्टी के बर्तन या मृत्पात्र कासं०, ३१. २ और मृन्मय पात्र तैब्रा०, १. ४. १. ३, ४ इत्यादि में आये हैं। कब्र को मिट्टी का घर बताया गया है: ऋ० ८. ८९. १ "मृन्मय गृह"।

मृध्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शत्रु के अर्थ में "मृध्" का चलन आम है: ऋ० १. १३१. ६; १. १३८. २; १. १८२. ४; २. २२. ३; २. २३. १३; २. २८. ७; ३. ४७. २; ५. ३०. ७; अवे०, ५. २०. १२; ६. २. २; ८. ५. ८; १३. १. ५, २७; १८. २. ५९; तैसं०, २. २. ७. ४; २. ५. ३. १; वासं०, ५. ३७; ११. १०. ७२ इत्यादि।

मृध्र-वाच्—द्र०—दस्यु और दास।

मेक्षण—ब्राह्मणों में लकड़ी के चम्मच को मेक्षण कहा गया है, जिससे चरु को चलाया जाता था: तैब्रा०, १. ३. १०. ४; ३. ७. ४–९; शब्रा०, २. ४. २. १३ इत्यादि।

मेखला—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में कर्धनी को मेखला कहा गया है: अवे०, ६. १३३. १; तैसं०, १. ३. ३. ५; ६. २. २. ७; कासं०, २३. ४; २४. ९; मैसं० ३. ६. ७ इत्यादि; शब्रा०, ३. २. १. १०; ४. ४. ५. २; ६. २. २. ३९ इत्यादि। ब्रह्मचारी मेखला धारण करता था: आगृसू०, १. १९. १२ इत्यादि।

मेघ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बादल को मेघ कहा गया है: ऋ० १. १८१. ८; अवे०, ४. १५. ७; शब्रा०, ३. २. २. ५; १२. ३. २. ६; "मेघा-मेघ," ऐआ०, ३. २. ४; शांआ०, ७. ३; ८. ७, √मेघय् तैसं०, ४. ४. ५. १; मेघयन्ती एक कृत्तिका: तैब्रा०, ३. १. ४. १; द्र०—वेबर, नक्षत्र, २. ३०१, २६८।

मेघयन्ती—द्र०—नक्षत्र।

मेथि—अथर्ववेद में यूप को मेथि कहा गया है: ८. ५. २०। विवाह-संस्कार में प्रयुक्त "मेथि" को राथ[1] ने रथ की यष्टि को सहारा देने वाली यष्टि के रूप में माना है: अवे०, १४. १. १०; तु०—तैसं०, ६. २. ९. ४; कासं०, २५. ८; ऐब्रा०, १. २९. २२; शब्रा०, ३. ५. ३. २१। पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ९. १७, तु०—जैब्रा०, १. १९. १ में मेथि (मेथी) को यज्ञ के अवसर पर गौ को बाँधने के लिए प्रयुक्त यूप के रूप में लिया गया है। ऋग्वेद ८. ५३. ५ में मेथि शब्द संभवतः दुर्ग या किले के स्तम्भों को जताता है। इस शब्द के पाठान्तर मेघि और मेथी भी पाए जाते हैं।

मेदस्—द्र०—शरीर।

१. मेध—मेध शब्द मूलतः मेदस् ('मेदो वै मेघः' शब्रा० ३. ८. ४. ६) का ही वाचक था; यज्ञों में उसकी हवि दिये जाने से उसके अर्थ में विकास हुआ और बाद में वह "पवित्र", "यज्ञ" का वाचक बन गया। मेदस् के अर्थ में उसका प्रयोग ऋग्वेद एवं ब्राह्मणों में पाया जाता है: ऋ० १. १६२. १०; शब्रा०, ४. ५. २. ६; ऋ० १. ७७. ३; १. ३. ९; ८. ६. ४४ इत्यादि; किंतु भाष्यकारों ने प्रायः यज्ञ यही अर्थ लिया है। शतपथ ब्राह्मण ३. ८. ४. ५ में स्पष्ट कहा गया है कि मेद ही मेघ है (मेदो वै मेघस्तदेनं मेद उपनयति)। किंतु यज्ञ में हिंसा की प्रवृत्ति के ह्रास के साथ-साथ मेध शब्द अधिक सात्त्विक बनता गया, और निघण्टु ३. १७ में इसका पाठ यज्ञ के पर्यायों में ही किया गया। तु०—'पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत् सोऽश्वं प्राविशत्···तेऽश्वमालभन्त···ते गामालभन्ते स (मेधो देवैः) अनुगतो व्रीहिरभवत्' ऐब्रा० २. ८; '(देवाः) तं (मेधं) खनन्त इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमा व्रीहियवौ' शब्रा० १. २. ३. ७; 'पशुर्वै मेधः' ऐब्रा० २. ६; 'मेधो वा आज्यम्' तैब्रा० ३. ९. १२. १।

२. मेध—ऋग्वेद के वालखिल्य-सूक्त ८. ५०. १० (तु०—८. ४९. १०) में मेध को वोबृ० में एक यज्ञ-कर्ता का नाम माना है।

मेधा—बुद्धि, धारणा। मेधा की प्राप्ति के लिए वैदिक साहित्य में अनेक मन्त्रों द्वारा प्रार्थनाएं की गई हैं: वासं०, ३२. १३–१६; ऋ० १. १६५. १४; ७. १०४, ६; ५. ४२. १३; ९. १०७. २५; अवे०, ५. ११. ४; ६. १०८. १ इत्यादि।

मेधातिथि, मेध्यातिथि—यज्ञ के अवसर पर अतिथि-सत्कार करने वाला। ये नाम किसी कण्व-वंशीय ऋषि

[1] वोबृ०।

के हैं। अनुक्रमणी के अनुसार वे कई वैदिक सूक्तों (१. १२. २३; ८. १. ३; ८. २२–२३; ९. ४१–४३) के रचयिता हैं। ऋग्वेद में भी उनका उल्लेख है : ऋ० ८. ८. २०; १. ३६. १०, ११, १७; ८. १. ३०; ८. २. ४०; ८. ३३. ४; ८. ४९. ९; ८. ५१. १; ९. ४३. ३। ऋग्वेद ८. २. ४० (तु०–१. ५१. १) के अनुसार इन्द्र उनके समक्ष एक मेष के रूप में प्रकट हुए थे। इस पुरा-कथा को सोम-सवन के समय इन्द्र के लिए "मेधातिथि का मेष" कह कर जीवित रखा गया है : जैब्रा०, २. ७९, पंविब्रा०, १. १; शब्रा०, २. ३. ४. १८; तैआ०, १. १२. ३; द्र०–शाट्यायनक, सायण द्वारा ऋग्वेद भाष्य, १. ५१. १; ८. २. ४० में उद्धृत। वे **वत्स** के प्रतिद्वन्द्वी भी प्रतीत होते हैं। इन्होंने **वत्स** को नीच-वंश का कहा था, किंतु **वत्स** ने अग्नि-परीक्षा (=दिव्य) द्वारा उनके इस कथन को गलत प्रमाणित कर दिया था : पंविब्रा०, १४. ६. ६। अथर्ववेद ४. २९. ६ में एवं अन्यत्र एक ऋषि के रूप में उनका उल्लेख आता है; जैब्रा०, ३. २३३ में **विभिन्दुकीयों** के सत्र में वे गृहपति थे : पंविब्रा०, १५. १०. १. कौब्रा०, २८. २। तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०२, १०५; मैकडानल, वैमा०, १४६।

मेधिर—मेधाविन् के लिये मेधिर शब्द अनेक स्थलों पर आया है : ऋ० १. २५. २०, १. ३१. २; १. १०५. १४; १. १४२. ११; ३. १. ३; ३. २१. ४; ८. २९. २; ८. ४३. १९. इत्यादि।

मेध्य—एक प्राचीन यज्ञकर्ता का नाम मेध्य है : ऋ०, ८. ५२. २। शांखायन श्रौत सूत्र १६. ११. २६ में गलती से **प्रस्कण्व कण्व** के आश्रयदाता के नाम **पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्** के एक अंश के रूप में मेध्य का उल्लेख है। तु०–वेबर, एपिश्शेस०, ३९; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३।

मेध्यातिथि—द्र०–**मेधातिथि**।

मेनका—द्र०–**२ मेना**। '(वायोः) मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी' शब्रा० ८. ६. १. १७. 'वृषणश्वस्य ह मेनस्य मेनका नाम दुहिता स तां हेन्द्रश्चकमे' शब्रा० १. १.।

१. मेना—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर मेना शब्द स्त्री के लिए आया है : ऋ० १. ६२. ७; १. ९५. ६; २. ३९. २। घोड़ी या गौ के लिए भी यह शब्द आया है : ऋ० १. १२१. २ घोड़ी; १०. १११. ३ गौ।

२. मेना, मेनका—ऋग्वेद एवं ब्राह्मणों में मेना या मेनका को **वृषणश्व** की पुत्री या पत्नी के रूप में दिखाया गया है। पुराकथा इस संबन्ध में अज्ञात है। तु०–**मैनाक** या **मैनाग**।

द्रष्टव्य : ऋ० १. ५१. १३; प्र०–शाट्यायनक, सायण-भाष्य में; पंविब्रा०, १. १; शब्रा०, ३. ३. ४. १८; तैआ०, १. १२. ३; लाश्रौसू०, १. ३. १७।

मेरु—द्र०–**महा-मेरु**।

मेष—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मेंढ़े को मेष कहा गया है : ऋ० १. ४३. ६; १. ११६. १६; ८. २. ४०; १०. २७. १७; अवे०, ६. ४९. २; वासं० ३. ५९; १९. ९०; २४. ३०; तैसं०, ७. ४. १२. १; पंविब्रा०, १. १; शब्रा०, ३. ३. ४. १०। भेड़ को मेषी कहा गया है : ऋ. १. ४३. ६; वासं०, ३. ५९; २४. १; तैब्रा, १. ६. ४. ४ इत्यादि। ये दोनों शब्द ऊन के अर्थ में भी आए हैं : ऋ० ८. ८६. ११; ९. ८. ५; ९. ८६. ४७; ९. १०७. ११, विशेषतः सोम छानने वाले ऊन के अर्थ में। वाजसनेयि संहिता २४. ३० में आरण्य मेष का उल्लेख है।

मेहत्नू—ऋग्वेद के नदी-सूक्त १०. ७५. ६ में एक नदी का नाम मेहत्नू है। यह **सिन्धु** की कोई सहायक नदी होगी, जो **क्रुमु** (कुरम) और **गोमती** (गोमल) से पहले सिन्धु में पड़ती रही होगी; संभवतः यह **क्रुमु** की ही सहायक नदी रही हो।

मैत्रायणीय ब्राह्मण—यह एक ग्रन्थ का नाम है, जिसका उल्लेख बौधायन श्रौत सूत्र ३२. ८ में आया है। तु०–कालण्ड, ऊबर दास रितुआल सूत्र देस बौधायन, ४१।

मैत्रा-वरुण—'प्रणेता वा एष होत्रकाणां यन्मैत्रावरुणः' ऐब्रा० ६. ६; 'यज्ञो वै मैत्रावरुणः' कौब्रा० १३. २; 'मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणः' ऐब्रा० २. ५. २६. 'चक्षुश्च मनश्च मैत्रावरुणः' ऐब्रा० २. २६ द्र०–**ऋत्विज**।

मैत्रेय—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २८. १८ में **कौषारव** का पैतृक नाम (मित्रयु का वंशज, पाणिनि, ६. ४. १७४; ७. ३. २) या मातृक नाम (मित्रा का वंशज, छा०उ०, १. १२. १) मैत्रेय है। अन्यत्र यह **ग्लाव** का नाम है : छाउ०, १. १२. १; गोब्रा०, १. १. ३१; तु०–ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ११०)।

मैत्रेयी—बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४. १; ४. ५. २ में **याज्ञवल्क्य** की दो पत्नियों में से एक का नाम मैत्रेयी है।

मैधातिथ—सामविशेष। 'एतेन वै मेधातिथिः काण्वो विभिन्दुकाद् द्व्यूध्नीर्गा उदसृजत पशूनामवरुद्ध्यै मैधातिथं क्रियते' तांब्रा० १५. १०. ११.

मैनाक—मेनका का वंशज। तैत्तिरीय आरण्यक १. ३१. २ के अनुसार एक पर्वत का नाम मैनाक है, जो

हिमालय की ही एक श्रेणी है[१]। एक पाठान्तर मैनाग भी है।

मैनाल—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों में मैनाल का उल्लेख आता है : वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १२. १। "मीन" से व्युत्पन्न होने से इसे मछुए के अर्थ में लिया जा सकता है : भाष्यकारों (सायण और महीधर) ने इसे इसी अर्थ में लिया है।

मोक्ष—मोक्ष शब्द उपनिषदों के समय से मुक्ति के अर्थ में आम रहा है : श्वेउ० ६. १४; मैउ०, ६. २०. ३४।

मोह—मूढ़ता या अज्ञान के अर्थ में मोह शब्द उपनिषदों के समय से प्रयोग में आ रहा है : ई० उ० ७; बृउ०, २, ४. १३; ३. ५. १; ४. ५. १४; कौउ०, ३. ३; तु०—अवे०, ८. ८. ९ इत्यादि। मोहोन्मूलन के बाद ही ज्ञान-प्राप्ति होने का उपनिषदों का सिद्धान्त है।

मौजवत—द्र०—**मूजवन्त्**।

मौद्गल्य—मुद्गल का वंशज। अनेक व्यक्तियों का यह पैतृक नाम है :—**नाक** का : शब्रा०, १२. ५. २. १; बृउ०, ६. ४. ४; तैउ०, १. ९. १; **शतबलाक्ष** का : निरुक्त, ११. ६; और **लाङ्गलायन** का : ऐब्रा०, ५. ३. ८)। गोपथ ब्राह्मण १. १. ३१ में इस नाम के एक ब्रह्मचारी का **ग्लावमैत्रेय** से वाद-विवाद उल्लिखित है।

मौन—मुनि का वंशज। कौषीतकि ब्राह्मण २३. ५ में **अणीचिन्** का पैतृक नाम मौन है।

मौनेय—मुनि का भाव या पद। ऋग्वेद २०. १३६. ३ में ऋषि अनुभूति के आवेश में कहता है; "मुनिभाव से उन्मत्त होकर हम वायु में स्थित हो गए हैं; ओ मर्त्यो तुम हमारा शरीर-मात्र देखते हो"। स्पष्टतः यहाँ मौनेय से मुनि की सूक्ष्म अनुभूति उद्दिष्ट है।

मौषिकी-पुत्र—मषिक-वंशीया का पुत्र। **हारिकर्णी-पुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम है : बृउ०, ६. ४. ३० माध्यंदिन।

म्लेच्छ—शतपथ ब्राह्मण ३. २. १. २४ के अनुसार बर्बर भाषा बोलने वाले को म्लेच्छ कहा गया है। ब्राह्मण के लिए म्लेच्छ-भाषा बोलने का वहां (शब्रा०, ३. २, १. २३) उदाहरण आया है : 'हेऽलवो' अर्थात् 'हेऽरयः' (सायण के अनुसार)। यदि यह व्याख्या ठीक है तो काण्व शाखा में पाठ भिन्न है[२]। फिर अन्यजातीय व्यक्ति का उल्लेख न होकर यहां प्राकृत बोलने वाले आर्यों का ही उल्लेख हो सकता है। तु० 'तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः। तत्रैतामपि वाचमूदुः उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वाक्' शब्रा० ३. २. १. २३-२४ :

१ द्र—वेबर, इस्टू०, १. ७८; इंडि० लिट०, ९३।

२ द्र०—एग्लिंग, सेबुई०, २६. ३१ टि०—३।

य

यकन्—अथर्ववेद २. ३३. ३ में यकन् यकृत् के लिए आया है। तु० 'यकृत् सविता' शब्रा० १२. ९. १. १५। द्र०—**शरीर**।

१. यक्ष—वैदिक साहित्य में यक्ष शब्द अमानवीय व्यक्तियों अथवा सूक्ष्म तत्त्वों के लिए आया है : ऋ० ७. ६१. ५; अवे०, १०. २. ३२; १०. ८. ४३; वासं०, ३४. २; तैब्रा०, ३. १२. ३. १; केनउ०, १५; कौसू०, ९५ इत्यादि। द्र० 'यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्' मंपा० १. ७. १४।

२. यक्ष—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यक्ष शब्द अनेक स्थलों पर आया है; भाष्यकारों के अनुसार लुड्विग ने इसका अर्थ 'भोज' या 'पवित्र प्रयोग' किया है, किंतु यह अर्थ संदिग्ध है : ऋ० १. १९०. ४; ४. ३. १३; ५. ७०. ४; ७. ५६. १६; ७. ६१. ५; १०. ८८. १३; अवे०, ८. ९. २५; १०. २. ३२; १०. ७. ३८; १०. ८. ४३; ११. २. २४; तु०—लुड्विग्, ट्रां०ऋ० ३, २६२; द्र० वोबू०; वैस्टू०, ३. १२६—१४३।

यक्षु—यक्षु शब्द एक बार एकवचन में और एक बार बहुवचन में ऋग्वेद ७. १८. ६. १९ में आया है, जिसमें **सुदास्** के साथ दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है। यक्षु कौन थे और उन्होंने युद्ध में क्या भाग लिया था यह अनिश्चित है। जहां तक वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, त्सिमर के अनुसार उन्होंने दो संघर्षों में भाग लिया था : एक तो **परुष्णी** (=रावी) के तट पर; दूसरा **यमुना** के तट पर[१]। अजों और **शिग्रुओं** के साथ भेद के नेतृत्व में वे लड़े थे। फिर भी प्रथम स्थल पर कम से कम यह संभव है कि यक्षु के स्थान पर यदु पढ़ा जाय, या किसी तरह यक्षु को किसी अनार्य या महत्त्वहीन आदि—जाति का प्रतिनिधि मान लिया जाय; जैसे कि उनके साथी **अज** और **शिग्रु** थे, जैसा कि हापकिन्स का प्रसिद्ध **यदुओं** के विषय में सुझाव है।[२]

यक्ष्म—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में सामान्यतया रोग-मात्र को यक्ष्म कहा गया है; संभवतः शरीर के क्षय को : ऋ० १. १२२. ९; १०, ८५. ३१; १०. ९७. ११, १२; १०. १३७. ४; १०. १६३. १—६; अवे०, २. १०. ५, ६; ३. ३१. १; ५. ४. ९; ५, ३०. ६; ८. ७. २; ९. ८. ३, ७, १०; १२. २; १, २; १२. ४. ८; १९. ३६, १;

१ द्र०—आ० ले०, १२६, १२७।

२ ज० अ० ओ० सो० १५. २५९. एवं आगे।

१९. ३८. १ : वाजसनेयि संहिता १२. ९७ में सौ प्रकार के यक्ष्मों का उल्लेख आता है। काठक संहिता १७. ११ में अयक्ष्म शब्द रोग-मुक्त के लिए आया है। याजुष संहिताओं में यक्ष्म के कारण दिये गए हैं, जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है : **राज-यक्ष्म, पाप-यक्ष्म** और **जायेन्य** या संभवतः **उपदंश** : तैसं०, २. ३. ५. २; २. ५. ६. ५; कासं०, ११. ३; मैसं०, २. २. ७; शब्रा०, ४. १, ३. ९। इनमें से दूसरे का अन्यत्र उल्लेख नहीं है, और इसकी कठिनता से ही परिभाषा की जा सकती है; क्योंकि इसका अर्थ केवल 'गंभीर या घातक रोग' इतना भी हो सकता है। तु०–**अज्ञात-यक्ष्म**।

विवरण : त्सिमर, आले०, ३७५ एवं आगे; ग्रोहमान, इस्टू०, ९, ४०; ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, ६०; जाली, मेडिसिन, ८९।

यजत—ऋग्वेद ५. ४४. १०. ११ में यह शब्द एक ऋषि या यज्ञ-कर्ता के नाम के रूप में आया है। तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋग्वेद, १३८।

यजमान—यज्ञ करने वाला। ऋग्वेद-काल से ही यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला और पुरोहितों द्वारा उसे संपन्न कराने वाला व्यक्ति यजमान कहाता आया है। पुरोहित या ऋत्विज् यजमान की समृद्धि के लिए यज्ञ करते थे और उससे दक्षिणा प्राप्त करते थे : ऋ० १. २४. ११; ४. १७. १६; ऐब्रा०, २. ३; शब्रा०, १. ६. १. २०; छाउ०, १. ११. १; आगृसू०, १. ११. ९; काश्रौसू०, १. १०. १२; ३. १. ६ इत्यादि। तु० 'यद् यजते तद् यजमानः' शब्रा० ३. २. १. १७; 'एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते' ऐब्रा० २. १८; 'यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिः' शब्रा० १. ६. १. २०; 'इन्द्रो वै यजमानः' शब्रा० २. १. २. ११; 'यजमानोऽग्निः' शब्रा० ६. ३. ३. २१; 'आहवनीयभाग् यजमानः' कौब्रा० ३. ९; 'मनो यजमानस्य रूपम्' शब्रा० १२. ८. २. ४; 'यजमानो वै सुम्नयुः' शब्रा १. ४. १. २१; 'यजमानः पशुः' तैब्रा० २. १. ५. २; 'यजमानो वै यूपः' ऐब्रा० २. ३; 'यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः' शब्रा० ३. ७. १. ११; 'यजमानदेवत्यो वै यूपः' तैब्रा० ३. ९. ५. २; 'यजमानो वै प्रस्तरः' ऐब्रा० २. ३; 'यजमानो यज्ञः' शब्रा० १३. २. २. १; 'यजमानो वै यज्ञः' ऐब्रा० १. २८; 'संवत्सरो यजमानः' शब्रा० ११. २. ७. ३२; यजमानो हि सूक्तम्' ऐब्रा० ६. ९; 'यजमानः स्रुचः' तैब्रा० ३. ३. ६. ३; 'यजमानदेवत्या वपा' तैब्रा ३. ९. १०. १; 'यजमानच्छन्दसं पंक्तिः' कौब्रा० १७. २; 'यजमानच्छन्दसं द्विपदा (ऋक्)' कौब्रा० १७. २।

यजुर्वेद—यजुषों (याज्ञिक मन्त्रों) का वेद। यह शब्द अनेक बार ब्राह्मणों और उपनिषदों में आया है : तैब्रा०, ३. १२. ९. १; ऐब्रा०, ५. ३२. १; शब्रा०, ११. ५. ८. ३; १२. ३. ४. ९; ऐआ०, ३. २. ३. ५; शांआ०, ८. ३. ८; बृउ०, १. ५. ५; २. ४. १०; ४. १. २; ४. ५. ११; छाउ०, १. ३. ७; ३. २. १. २; ३. १५. ७; ७. १. २. ४; ७. २. १; ७. ७१. आश्रौसू०, १६. २–६ इत्यादि :

यजुष्—वैदिक साहित्य में यजुष् शब्द ऋच् और सामन् से पृथक् आया है। यजुष् यज्ञ-संबन्धी मन्त्र है, जो गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है। द्र०–ऋ० १०. ९०. ९; अवे०, ५. २६. १; ९. ६. २; तैसं०, ५. ५. ३. १; ५. ९. ४; वासं०, १. ३०; ४. १; १९. २८; ऐब्रा०, १. २९. २१; ८. १३. २; शब्रा०, १. २. १. ७; ६. ५. १. २; ६. ५. ३. ४। बृउ०, ६. ४. ३३ में कहा गया है कि शुक्ल यजुष् का प्रकाशन **वाजसनेय याज्ञवल्क्य** द्वारा हुआ है; अतः इसका नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा। 'वासं० में मन्त्र भाग के अलग हो जाने से इसका नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा'। इस सिद्धान्त को वेबर ने (इं० लितरात्यूर, १०३. १०४ में), एगलिंग ने (सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, १२. २७ में) तथा अन्य लोगों ने भी माना है। तैआ०, ५. १० में "शुक्र यजूंषि" संभवतः उस ग्रन्थ के चतुर्थ-पञ्चम प्रपाठक को द्योतित करता है। तु०–वितरनित्स, गेइंलि०, १. १४९ टि०। तु०–'यजो ह वै नामैतद् यद् यजुरिति' शब्रा० ४. ६. ७. १३; 'एष (वायुः) हि यन्नेवेदं सर्वं जनयत्येतं यन्तमिदमनुप्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षमेतं ह्याकाशमनु जवते तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च जूश्च तस्माद् यजुः' शब्रा० १०. ३. ५. २; 'यजुरित्येष (पुरुषः) हीदं सर्वं युनक्ति' शब्रा० १०. ५. २. २०; 'प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते' शब्रा० १४. ८. १४. २; 'प्राण एव यजुः' शब्रा० १०. ३. ५. ४; 'व्यृद्धमु वा एतद् यज्ञस्य। यदयजुष्केण क्रियते' शब्रा० १३. १. २. १; '(प्रजापतिः) यजुर्भ्योऽधि विष्णुम् (असृजत)' तैब्रा० २. ३. २. ४; 'यजूंषि विष्णुः' शब्रा० ४. ६. ७. ३; 'अन्नमेव यजुः' शब्रा० १०. ३. ५. ६; (सूर्यः) 'यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः' तैब्रा० ३. १२. ९. १; (आदित्यस्थः) 'पुरुषो यजूंषि' शब्रा० १०. ५. १. ५; 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' शब्रा० १४. ९. ४. ३३; 'आदित्यानीमानि यजूंषीत्याहुः' शब्रा० ४. ४. ५. १९; 'अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः'

शब्रा० १०. ५. २. १; 'अथ यन्मनो यजुष्टत्' जैउब्रा० १. २५. ९; 'मनो यजुर्वेदः' शब्रा० १४. ४. ३. १२; 'वागेवर्चश्च सामानि च। मन एव यजूंषि' शब्रा० ४. ६. ७. ५; (प्रजापतिः) 'भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स वायुरभवत् रसस्य रसः' जैउब्रा० १. १. ४; 'भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत् सोऽन्तरिक्षलोकोऽभवत्' षब्रा० १. ५; 'यजुषां वायुर्दैवनं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्' गोब्रा० १. १. २९; 'वायोर्यजुर्वेदः' (अजायत) शब्रा० ११. ५. ८. ३; 'अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम्' गोब्रा० १. २. २५; 'अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः' षब्रा० १. ५; 'अन्तरिक्षं यजुषा (जयति)' शब्रा० ४. ६. ७. २; 'यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्' तैब्रा० ३. १२. ९. २; 'दक्षिणाम् (दिशम्) अददुर्यजुषामपाराम्' तैब्रा० ३. १२. ९. १; 'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्' तैब्रा० ३. १२. ९. १; 'यजुर्वेदो महः' शब्रा० १२. ३. ४. ९; 'तस्माद् यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि' शब्रा० ४. ६. ७. १७; 'मज्जा यजुः' शब्रा० ८. १. ४. ५; 'अथ यत् कृष्णं तदपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषः' जैउब्रा० १. २५. ९; 'तस्य (यमस्य) पितरो विश···यजूंषि वेदः'···यजुषामनुवाकं व्याचक्षाण इवानुद्रवेत्' शब्रा० १३. ४. ३. ६।

यज्ञ—वैदिक धर्म की विशेषता यज्ञ है। ऋग्वेद-काल में यज्ञ शब्द यजन, पूजन या उपासना के सामान्य अर्थ में भी आया है, किंतु बाद में अग्नि में आहुति देने के साथ अनेक प्रकार की क्रियाओं से युक्त अनुष्ठान को ही यज्ञ समझा जाता रहा है। अशेष ब्राह्मण-ग्रन्थ इन्हीं यज्ञ-प्रपञ्चों से भरे पड़े हैं। यज्ञ-संस्था का इतना अधिक विस्तृत प्रचार अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। यज्ञों में प्रमुख हैं:—**अश्व-मेध, राज-सूय, पुरुष-मेध, दर्श-पूर्णमास, अग्नि-ष्टोम** आदि। ये यज्ञ तीन प्रकार के माने जाते हैं:—(१) पाक-यज्ञ, जिनमें औपासन होम, **वैश्वदेव, अष्टका** प्रभृति आते हैं, (२) हविर्यज्ञ, जिनमें **अग्नि-होत्र, दर्श-पूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य,** आदि हैं; और (३) सोम-यज्ञ जिनमें **अग्नि-ष्टोम, वाज-पेय, अति-रात्र** आदि संमिलित हैं। इन यज्ञों के लिए वेदि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख है। अग्नि के तीन मुख्य रूप माने गये हैं:—**गार्हपत्य, आहवनीय** और **दक्षिणाग्नि। शस्त्र, स्तोम, अनुवाक्या, अनुयाज्या** प्रभृति अनेक पारिभाषिक शब्द यज्ञ से संबद्ध हैं। **चमस, द्रोण, उपयाम** प्रभृति अनेक यज्ञिय पात्र होते थे। वस्तुतः यज्ञ का विवरण संहिताओं से, विशेषतः याजुष संहिताओं से आरम्भ होकर ब्राह्मणों एवं परवर्ती सूत्रों में इतना अधिक बढ़ गया है कि उसे अनन्त कहा जा सकता है। फिर भी यज्ञ के विषय में कुछ कह देना उचित प्रतीत होता है।

यज्ञ का स्वरूप—श्रुति में वैदिक कर्मों को पाँच भागों में बाँटा गया है: "स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः" (ऐ०ब्रा०)। स्मृति में औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासि श्राद्ध, श्रवणा, शूलगव ये सात पाकयज्ञ-संस्थाएँ हैं; अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ-पशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ आदि सात हविर्यज्ञ संस्थाएँ हैं; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम ये सात सोम संस्थाएँ हैं (गौ० ध० ८. १८)। इन श्रौत एवं स्मार्त संस्थाओं को मिलाकर इक्कीस बनजाते हैं: 'स एवं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत् गोब्रा० १. १. १२। इनमें स्मृति में कही गई सात पाकयज्ञसंस्थाओं का निरूपण स्मृति एवं गृह्यों में किया गया है, उनके स्वरूप का संक्षेप में यहाँ निरूपण किया जाता है: स्मार्त संस्थाओं का अनुष्ठान स्मार्त अग्नि वाले व्यक्ति को ही अपनी अग्नि में करना चाहिये।

स्मार्त अग्नि के आधान का काल—"आवसथ्याधानं दारकाले दायाद्यकाल एकेषाम्" पागृसू० १।२।१-२ तथा भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा" गौधसू० ५. ७ आदि वचनों के अनुसार स्मार्त अग्नि अथवा गृह्यशालाग्नि की स्थापना विवाह संस्कार के अनन्तर अथवा दाय, अर्थात् भाइयों के साथ संपत्ति-विभाजन के बाद करनी चाहिए। वैवाहिक चतुर्थी होम के अनन्तर "आवसथ्याधानं दारकाले": पागृसू० १.२.१ इस विधि से संपादित अग्नि स्मार्ताग्नि कहाती है। गृह्य, आवसथ्य, शालाग्नि और औपासन (आश्वलायनों के मत में) ये पर्याय हैं: यही दो अवसर अग्न्याधान के हैं। यदि इन दो अवसरों में से किसी एक अवसर पर भी अग्नि का आधान करने से चूक जाय, तो जितना समय इस प्रत्यवाय का बीता हो उतने समय का प्राजापत्य प्रायश्चित्त करके अग्नि का आधान करना विहित है। पिता के अगृहीताग्नि होने पर पुत्र का स्मार्त अग्नि के ग्रहण में अधिकार होता ही है। इस प्रकार आहित की गई अग्नि में औपासन होम आदि सात पाकयज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये।

स्मार्त अग्नि में कर्तव्य कर्म! यद्यपि:

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।
दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैताग्निकाग्निषु॥

(यास्मृति १. ९७)

अर्थात् गृहस्थ को प्रतिदिन स्मार्त कर्म विवाहाग्नि में करने चाहिये एवं श्रौतकर्म दायकाल के समय स्थापित

अग्नि में या वैतानिक अग्नियों में करने चाहिए इत्यादि याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों के आधार पर शान्तिक एवं पौष्टिक कर्म भी गृह्य अग्नि में करने चाहियें (ऐसा देवयाज्ञिक का० श्र० १. १. २० ने कहा है) तथापि शिष्ट लोग सीमन्तादि कर्म लौकिकाग्नि में करते हैं; पाक-यज्ञ, जो आत्म-संस्कार हैं, उन्हें वे गृह्य अग्नि में संपन्न करते हैं, और पुत्र-संस्कारक शान्तिक क्षौर पौष्टिकादि को लौकिकादि में ही करते हैं।

पाक-यज्ञों में प्रथम औपासन होम—सायं एवं प्रातः दधि, चावल या अक्षत[१] इन द्रव्यों से हाथ द्वारा किया गया होम औपासन होम कहाता है। सायं अग्नि प्रधान देवता होता है, प्रजापति स्विष्टकृत्-स्थानीय अङ्ग देवता होता है: शब्रा० २।३।१।२३। प्रातः सूर्य प्रधान देवता होता है, और प्रजापति अङ्ग देवता। इस होम को सायं प्रारम्भ करना चाहिए; सायंकाल प्रारम्भ होकर प्रातः समाप्त होने वाला यह एक कर्म होता है। फलतः संकल्प में 'सायं प्रातः होम करता हूँ' ऐसा कहा जाता है। दो समयों में किये जाने वाले इन दोनों होमों के एक ही होने से दोनों का मिलकर एक ही फल होता है। फलतः दोनों समयों पर द्रव्य एवं कर्ता एक ही होने आवश्यक हैं। एक समय में करके फिर किसी दूसरे समय पर करने से भी इसके फल की प्राप्ति नहीं होती। यह होम सपत्नीक को जीवन भर करना चाहिए; न करने पर प्रत्यवाय हो जाता है।

वैश्वदेवकर्म—पाकयज्ञों में दूसरा वैश्वदेव है। विश्व अर्थात् सभी देवताओं की इसमें पूजा होती है। इसीका दूसरा नाम है पञ्च महायज्ञ: देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ और ब्रह्म-यज्ञ।[२] ये भी गृहस्थों के नित्यकर्म हैं।

पार्वण—पार्वण अमावस्या को किया जाने वाला कर्म है। यह भी नित्य होता है।

अष्टका-श्राद्ध—अष्टकाश्राद्ध भी हेमन्त और शिशिर की चारों कृष्णपक्षीय अष्टमियों पर अपूप, गोमांस, एवं शाक से इन्द्र, विश्वदेव प्रजापति तथा पितरों के लिए किया जाने वाला कर्म है। इसका "अप्यनडुहो यवसमाहरेत्, अपि वा कक्षमुपोषेत् न त्वेवानाष्टकः स्यात्: आश्वगृसू० २. ४. ११ के अनुसार अग्नि में अवश्य किये जाने का बोध होने पर भी, उसमें गोमांस का विधान होने से, और गौ का मारना निषिद्ध होने से और उसके प्रतिनिधि-भूत अन्य द्रव्यों का विधान न होने से कात्यायनों में इसका लोप हो गया है। दूसरी शाखाओं में, जिनमें मांस का विधान नहीं है, इसका अनुष्ठान नित्य होता है।

मासिश्राद्ध—मासिश्राद्ध महीने-महीने किया जाने वाला कर्म है।

श्रवणा-कर्म—श्रवणा कर्म श्रावण की पौर्णमासी से आरम्भ करके मार्गशीर्ष की पौर्णमासी तक प्रतिदिन संध्या को सर्पों के लिये किया गया बलिकर्म है, जो 'अथातः श्रवणाकर्म' : पा०गृ० २।१४ आदि वचनों द्वारा विहित है।

शूलगव—शूलगव भी "अथ शूलगवः" : पा० गृ० ३. ८ आदि वचनों द्वारा विहित, गो-द्रव्य से किया जाने वाला एक विशेष कर्म है। इसका भी अनुष्ठान कम ही होता है। दूसरी शाखाओं में "ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा" : आपगृसू० ९. १३ के अनुसार स्थालीपाक का विधान होने से अनुष्ठान होता है। यह एक बार होता है।

श्रौताधान-काल एवं उसका अधिकारी—श्रौत सात हविर्यज्ञ-संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं में तथा सोमसंस्थाओं में श्रौताग्नि को ग्रहण करने वाला सपत्नीक व्यक्ति ही अधिकारी होता है। अग्नि का ग्रहण आधान द्वारा होता है। "वसन्त में ब्राह्मण अग्नियों का आधान करे, ग्रीष्म में राजन्य और वर्षा में वैश्य[१]" आदि वाक्यों के अनुसार तीन वर्णों के लिये 'अमावस्या को अग्नि का आधान करना चाहिये[२]' आदि वाक्यों द्वारा विहित कर्म है। इसमें गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और सभ्याग्नि इन चारों अग्नियों का स्थापन होता है। इसी आधान से श्रौत अग्नियों की सिद्धि होती है। "जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" अर्थात् पुत्रवान् तथा कृष्ण केशों वाला व्यक्ति अग्नि का आधान करे, इत्यादि श्रुति के वचनानुसार पच्चीसवें वर्ष से लेकर चालीसवें वर्ष से पहले तक सपत्नीक पुरुष को यह अनुष्ठान करना चाहिये और उसके बाद जीवन-पर्यन्त धारण करना चाहिए। यदि किसी कारणवश मध्य में विच्छेद हो जाय तो पुनराधान विधि द्वारा पुनः अग्नियों का आधान करके दर्शपौर्णमास आदि का अनुष्ठान करना चाहिये।

अग्निहोत्र में द्रव्य एवं देवता—इस प्रकार आधान-सिद्ध वैतानिक अग्नियों में अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। अग्निहोत्र अग्नि को उद्दिष्ट करके सायं एवं प्रातःकाल किया जाने वाला एक विशेष कर्म है। इसमें दूध आदि अनेक द्रव्यों का विधान किया गया है;

---

[१] "दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा" (पागृसू० १।८।३)

[२] "देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञः" : शब्रा० ११. ५. ५. १.

[१] "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यो, वर्षासु वैश्यः" : शब्रा० २. १. ३. ५।

[२] "अमावस्यायामग्न्याधेयम्" : कात्श्रौसू० ४. ७. १

इन सब में भी पय को मुख्य माना गया है; यवागू, तण्डुल, दधि, घृत आदि काम्य द्रव्य कहाते हैं।

यहाँ भी सायंकाल अग्नि मुख्य देवता होता है, और प्रजापति स्विष्टकृत् स्थान का अङ्ग देवता होता है; प्रातः सूर्य मुख्य देवता होता है और प्रजापति अङ्ग देवता। अतएव अग्निदेवतोद्देश्यक प्रवृत्ति के कारण इस कर्म का नाम अग्निहोत्र पड़ा है। इसी श्रौत कर्म का अग्निहोत्र नाम है, न कि स्मार्त औपासन होम का।

अग्निहोत्र का बड़ा महत्त्व है। इसे न करने से प्रत्यवाय होता है और जन्म व्यर्थ हो जाता है। बाद के दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का यथोक्त अनुष्ठान सुकर न होने पर भी अग्निहोत्र का अनुष्ठान तो घोर विपत्ति में फँस जाने पर भी मनुष्य को अवश्य करना चाहिये।

यह कर्म, जहाँ तक संभव हो, यजमान को स्वयं करना चाहिये। ऐसा करने में समर्थ न होने पर इसे ऋत्विज् से भी कराया जा सकता है।

दर्श-पूर्णमासयाग—दर्श तथा पूर्णमास नाम के दो याग-विशेष क्रमशः अमावस्या और पूर्णिमा को करने चाहियें अमा एवं पूर्णिमा के दिन अनुष्ठान होने से ही इनका नाम दर्श-पूर्णमास पड़ा है। यद्यपि 'दर्शपूर्णमासौ' ऐसा द्विवचनान्त रूप ही सर्वत्र पाया जाता है, तथापि पौर्णमासी को अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाशयाग, अग्नि एवं सोम के लिए आज्यद्रव्यक उपांशुयाग; और अग्नि तथा सोम के लिए एकादश-कपाल पुरोडाश याग, ये तीन याग होते हैं। अमावस्या को पहला अग्नि के लिए पुरोडाशयाग, ~~दूसरा इन्द्रदेवता के लिए पुरोडाशयाग,~~ दूसरा इन्द्रदेवता के लिए दधिद्रव्यक याग, और तीसरा इन्द्रदेवता के लिए पयोद्रव्यक याग, ये तीन याग होते हैं; दोनों मिलकर छः याग बनते हैं। एक-एक समय पर किये जाने वाले तीन यज्ञों को एक समुदाय मान लेने पर दो समुदायों के रूप में "दर्श-पूर्णमासौ" इस द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग किया जाता है। ये छहों याग सांनाय्य-याजी के होते हैं। इनमें पूर्वोक्त दधि और पय के यागों के लिए ही सान्नाय्य पद का प्रयोग किया गया है। सान्नाय्य याग में सोमयाग करने वाला ही अधिकारी होता है; अर्थात् आधान के अनन्तर जिसने सोम द्वारा यज्ञ किया है सान्नाय्य याग उसीका नित्य होता है। दूसरों के लिए "कामादितरः" (काश्रौसू० ४. १. २७) के अनुसार यह ऐच्छिक होता है। इस प्रकार जिसने सोमयाग नहीं किया है और जिसे सान्नाय्य याग करने की इच्छा भी नहीं है उसे पौर्णमासी को वे ही याग करने होते हैं। किंतु अमावस्या को आग्नेय के साथ वैष्णव अथवा अग्नीषोमीय आज्य-हविष्क याग, तथा ऐन्द्राग्न द्वादश-कपाल पुरोडाशयाग माध्यंदिनीय एवं शाङ्खायन शाखा वालों का होता है। दूसरों के तो अमावस्या को अग्नि के लिए तथा इन्द्र–अग्नि के लिए ये दो ही याग होते हैं। यद्यपि इस संबन्ध में पौर्णमासी तथा अमावस्या इन तिथियों का ही निर्देश आता है, तथापि पौर्णमासी एवं अमावस्या को अग्नि का आधान एवं प्रसक्त नियमों का अनुष्ठान किया जाता है और याग तो प्रतिपदा के दिन ही संपन्न होता है। फलतः यह कर्म दो दिनों का होता है। दर्श में तो नित्य दो दिनों का ही अनुष्ठान होता है। हाँ, पौर्णमासयाग में सद्यः करने में विकल्प है। पौर्णमासी को आधान करके एवं नियमों का अनुष्ठान करके प्रतिपदा को यज्ञ करना चाहिए, अथवा प्रतिपद् को ही संपूर्ण याग का अनुष्ठान एवं नियमों का पालन कर लेना चाहिये। दो अवसरों पर किये जाने वाले ये छः कर्म एक ही फल को देने वाले हैं, अतः इन्हें एक ही कर्म कहा जाता है।

आधान के बाद पहले पौणमास का अनुष्ठान, और तब दर्शेष्टि का अनुष्ठान पौर्णमास से आरम्भ होता है; फलतः आधान के बाद दर्श के होने पर भी उसमें याग नहीं होता; अपितु अगली पूर्णिमा को प्रारम्भ करके, पौर्णमास का अनुष्ठान करके, फिर दर्श का अनुष्ठान करना होता है। इस कर्म के लिए सपत्नीक यजमान के साथ-साथ चार ऋत्विज् अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा अग्नीध् रहते हैं।

दर्श-पूर्णमास सभी इष्टियों की प्रकृति—ये छः याग सभी इष्टियों की प्रकृति होते हैं, जैसा कि "दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः" आपश्रौसू० २४. ३. ३२ और "इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात्" जै० ८. १. ११ ने कहा है। श्रुति में तत्तत् फल और तत्तत् निमित्त को उद्दिष्ट करके "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः" अर्थात् संतान की इच्छा रखने वाले को इन्द्र और अग्नि के लिए ग्यारह कपाल का निर्वपन करना चाहिए (तैसं० २. २. १) तथा "यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत्सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्" अर्थात् जिस आहिताग्नि व्यक्ति के गृहों को अग्नि जला दे, वह अग्नि अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वपन करे (तैसं० २. २. २) इत्यादि वचनों के अनुसार सहस्र से भी अधिक इष्टियाँ कही गई हैं, उनकी संनिधि में उन-उनके लिये अपेक्षित अङ्गों का प्रदर्शन नहीं किया गया है; तथापि पूर्वनिरूपित दर्शपूर्णमास नामक छः यागों में अतिदेश सभी अङ्ग-कलापों का कर देने के कारण वहीं से उन-उन विकृतियों में अङ्गों का अतिदेश कर लेना चाहिये। अतएव सभी अपेक्षित अङ्गों के उपदेश से दर्श-

पूर्णमास यागों को प्रकृति कहते हैं, एवं दूसरी इष्टियों को विकृति। जहाँ सभी अङ्गों का उल्लेख हो वह प्रकृति होती है और जहाँ दूसरी जगह से अङ्ग प्राप्ति की जाती हो वह विकृति होती है।

दर्शपूर्णमास याग के पदार्थ—दर्श-पूर्णमास में बहुत से पदार्थों का अनुष्ठान होता है। उन सबका निरूपण विस्तार-साध्य है, फलतः कुछ प्रमुख पदार्थों का ही निरूपण किया जाता है। पौर्णमासी में सबसे पहले अग्नि का उद्धरण[१], अग्नि का अन्वाधान[२], ब्रह्मा का वरण, प्रणीता का प्रणयन[३], परिस्तरण[४], पात्रों का रखना, शूर्पाग्निहोत्र-हवणियों का तापन, अग्निहोत्र-हवणी में[५] शकट से या इडा-पात्री[६] से हवि का ग्रहण आदि; फिर पवित्र-करणादि[७]; पात्र, हविः-प्रोक्षण, हवि के तण्डुलादि का फलीकरण,[८] उसका पेषण, कपालोपधान[९], उपसर्जनियों का तथा हवि का रखना[१], जल द्वारा अङ्गुलि का प्रक्षालन एवं निनयन, वेदि बनाना इत्यादि; स्तम्बयजुः का हरण,[२], स्रुव, जुहू,[३], उपभृद्[४], ध्रुव आदि का[५] मार्जन, पत्नीसंनहन[६], इध्म, वेदि, और बर्हिष् का प्रोक्षण[७], प्रस्तर-ग्रहण[८], वेदि का स्तरण, परिधि-परिधान[९] दो इध्मों का आधान, विधृतियों का स्थापन[१०], जुहू आदि का वेदि पर स्थापन. पन्द्रह सामिधेनियों का अनुवचन[११], अग्नि-संमार्ग, दो आधार[१२], होता का वरण आदि, पाँच प्रयाज[१३], दो

[१] प्रणयन के लिए गार्हपत्य से आहवनीय और दक्षिणाग्नि को अलग करना अग्न्युद्धरण कहाता है।

[२] गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नियों में "ममाग्ने वर्चः" इससे छः समिधों का आधान-रूप कर्म अग्न्यन्वाधान कहलाता है।

[३] चमस में लिया गया जल प्रणीता होता है; उसका प्रणयन, अर्थात् अपने स्थान पर स्थापन प्रणीता-प्रणयन होता है।

[४] अग्नियों के चारों ओर कुशों को बिछाना परिस्तरण कहाता है।

[५] जिससे अग्निहोत्र किया जाता है, वह अग्निहोत्र-हवणी होती है।

[६] बरने की लकड़ी की बनाई एक अरत्नि लम्बी, दो अंगुल गहरी, किनारों पर दो अंगुल परिधिवाली, बीच में संकुचित, चार अङ्गुल के हत्थे वाली पात्री को, उसमें इडा को रखने के कारण इडा-पात्री कहते हैं।

[७] "अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च। प्रादेश-मात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित्" (छन्दोगप० २. १०) अर्थात् अनन्तगर्भवाला, नोक वाला, कुश का बना हुआ, दो दल-युक्त, प्रादेश (एक बित्ते) का पवित्र होता है।

[८] तण्डुलों को छाना अथवा शुद्ध करना फलीकरण कहाता है।

[९] कपालों को कहे गये क्रम में रखना कपालोपधान होता है। कपाल पुरोडाश-पाक के लिये मिट्टी के बने बरतन होते हैं।

[१] पिष्ट को सानने के निमित्त गरम किया गया जल उपसर्जनी होता है।

[२] दर्शपूर्णमास के प्रारम्भ में याजुष मन्त्रों को पढ़कर काटा गया दर्भ स्तम्बयजुष् होता है।

[३] पलास की लकड़ी की बनाई गई, बाहु के बराबर लम्बी, हंस के जैसी मुँह वाली स्रुक् को जुहू कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति हू से होती है, अर्थात् जिसके द्वारा हवन किया जाय (हूयते ऽनयेति)

[४] अश्वत्थ काठ की बनी यह जुहू के समान होती है। 'उप समीपे भ्रियते ध्रियते' अर्थात् निकट में रखी जाती है, इस व्युत्पत्ति से अध्वर्यु द्वारा होम के लिये दाहिने हाथ में ली हुई जुहू के समीप रहने से इसे उपभृत कहते हैं।

[५] विकङ्कत काठ की बनी, जुहू के समान आकार की, याग की समाप्ति तक वेदि पर रहने वाली ध्रुवा होती है। बराबर बनी रहने से यह ध्रुवा कहाती है।

[६] मूँज से पत्नी के बन्धन के लिए बनाई गई विशेष प्रकार की रस्सी को 'पत्नी-संनहन' कहते हैं।

[७] पलास आदि वृक्ष की हाथ भर की अठारह समिधों को इध्म कहते हैं।

[८] प्रस्तर कुश की मुष्टि को कहते हैं।

[९] आहवनीय के चारों ओर रखे जाने के कारण पलास आदि की बाहुमात्र समिधों को 'परिधयः' कहते हैं।

[१०] जिन कुशों पर प्रस्तर आदि को विशेष रूप से रखा जाता है, उन्हें विधृती कुश कहते हैं।

[११] जिन ऋचाओं से अग्नि को भली प्रकार जलाया जाता है (सम्यगिध्यते) उन्हें सामिधेनी कहते हैं वे "प्र वो वाजा अभिद्यवः" (तैब्रा० ३. ५. २. १) से प्रारम्भ करके ग्यारह हैं; उनके पाठ को सामि-धेन्यनुवचन कहते हैं (शत० १. ३. २. १३)।

[१२] अग्नि के किसी एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक मन्त्र के साथ आज्य-धारा का आहरण अथवा डालना आधार कहाता है।

[१३] जिनसे देवता प्रकृष्ट रूप से पूजे जाते हैं (प्रकर्षेण इज्यन्ते) उन्हें 'प्रयाजाः' कहते हैं।

आज्य-भाग[१], प्रधान-याग[२], स्विष्टकृत्[३], प्राशित्रावदान[४], इडावदान आदि, भागप्राशन आदि, अन्वाहार्य दक्षिणा[५], तीन अनुयाज[६], व्यूहन[७], सूक्त-वाक[८], शंयु-वाक[९], पत्नी-संयाज[१०] दक्षिणाग्नि-होम, बर्हि-होम, प्रणीता-विमोक आदि, विष्णु-क्रम आदि[११], याजमान, व्रत-विसर्ग और ब्राह्मण-तर्पण।

ये दर्श और पूर्णमास जीवनभर करने चाहियें। ऐसा संभव न हो तो तीसवर्ष तक करके छोड़ देने चाहियें। दाक्षायण-यज्ञ, जो कि विकृति-भूत दर्श पूर्णमास का ही गौण नाम है, करने वालों को पन्द्रह वर्ष तक दाक्षायण-यज्ञ करना चाहिये। तत्त्वार्थ यह है कि जहाँ दर्श पूर्णमास में प्रतिपदा के दिन एक-एक याग होता है, वहाँ दाक्षायण-यज्ञ में अमावस्या और प्रतिपदा को दो-दो याग होते हैं, एवं पूर्णिमा और प्रतिपदा के दिन दो-दो याग होते हैं; फलतः दर्श पूर्णमास याग में जहाँ संपत्ति तीस वर्ष में होती है वहाँ दाक्षायणयाग में संपत्ति पन्द्रह वर्ष में ही हो जाती है। फलतः दर्शपूर्णमास करने वाला दाक्षायण को नहीं करता और दाक्षायण करने वाला दर्शपूर्णमास को नहीं करता—क्योंकि असल में तो दोनों एक ही हैं। एक के कर लेने पर दूसरा स्वयंसिद्ध हो जाता है; देखो कात्यायन श्रौत सूत्र ४. ४. ३।

चातुर्मास्य याग—तब चातुर्मास्य आते हैं। चार महीनों में किये जाने के कारण इन कर्मों का नाम चातुर्मास्य पड़ा है। इनमें चार पर्व होते हैं: वैश्वदेव,[१] वरुण-प्रघास,[२] साकमेध[३] और शुनासीरीय[४]। इनमें पहले पर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा को करना चाहिए, उसके बाद चार महीने बीतने पर आषाढ़ी पूर्णिमा को दूसरा पर्व, उसके बाद कार्त्तिकी को तीसरा पर्व होता है, उसके बाद चार महीने बीतने पर फाल्गुनशुक्ला प्रतिपदा को चौथा पर्व होता है। इसी प्रकार पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए।

पहला वैश्वदेव पर्व—पहले पर्वपर आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र अष्टाकपाल अथवा द्वादशकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु, पूषा के लिये पैष्टचरु, केवल मरुतों के लिए या स्वतवद्-गुण मरुतों के लिए सप्तकपाल पुरोडाश, विश्वदेव के लिए पयस्या[५], द्यावापृथिवी के लिए एककपाल, ये आठ हवि होती हैं। ये याग दर्शपूर्णमास-प्रकृतिक हैं। प्रयाज और अनुयाज में "नव प्रयाजं नवानुयाजम्" (५. २. ७) सूत्रानुसार नौ प्रयाज एवं नौ अनुयाज होते हैं। तीन समिष्ट यजुष् होते हैं (५. २. ९)

---

१ आज्य है भाग जिनका उन अग्नि और सोम को आज्य-भाग कहते हैं; (आज्यं भागो ययोस्तौ आज्यभागौ); उनसे संबद्ध होम भी आज्यभाग कहाते हैं।

२ फल के उद्देश्य से विहित देवता होता है; और उसके लिये किया गया याग प्रधान-याग।

३ प्रधानयाग को जो भली प्रकार इष्ट करता है (सुष्ठु इष्टं करोति) वह स्विष्टकृत् कहलाता है।

४ प्राशित्र ब्रह्मा का भाग होता है; उसके अवदान अर्थात् भाग का ग्रहण प्राशित्रावदान होता है।

५ जिससे यज्ञ-संबन्धी दोष-समूह का परिहार होता है (अन्वाहरति यज्ञसंबन्धिदोषजातं परिहरति अनेन) वह अन्वाहार्य नाम का ऋत्विजों के भोजन के लिए बनाया गया ओदन होता है।

६ प्रधानयाग के अनन्तर, जिन्हें पढ़कर ब्रह्मा यजन करता है (अनु पश्चात् प्रधानयागानन्तरमिज्यते) इस व्युत्पत्ति से वे याज्यामन्त्र अनुयाज कहलाते हैं।

७ जुहू को पूर्व में और उपभृत् को पश्चिम में हटाने को व्यूहन कहते हैं।

८ "इदं द्यावापृथिवी" (का० हौ० प० १. १३) इस अनुवाक से प्रतिपाद्य मन्त्र-विशेष को सूक्तवाक कहते हैं।

९ "तंच्छं योरावृणीमहे" (का० हौ० प० १. ९) इस मन्त्र में शंयुनामक बृहस्पति-पुत्र की स्तुति होने से, शंयुपद के आने से, इसे शंयु-वाक कहते हैं।

१० पत्नी देवता वाले दर्शपूर्णमासयाग के अङ्गभूत चार विशिष्ट यागों को पत्नी-संयाज कहते हैं।

११ विष्णुपाद के समान पृथ्वी पर अपने पैरों का रखना 'विष्णु-क्रम' कहाता है।

---

१ जिस पर्व को सभी देवताओं ने देखा वह वैश्वदेव पर्व कहाता है।

२ जिन विशिष्ट हवियों में प्रकृष्ट घास (एक भक्ष्य-विशेष) होता है, उन्हें प्रघास कहते है। वरुण को उद्दिष्ट करके जो प्रघास होते हैं वे वरुण-प्रघासाः कहलाते हैं।

३ इन विशिष्ट हवियों से देवता एक साथ बढ़ते हैं (साकमेधन्ते), अतः इन्हें साकमेधाः कहते हैं।

४ शुन वायु को कहते हैं, सीर आदित्य को: इन दोनों देवताओं के लिये शुनासीर पर्व होता है।

५ गौ के दूध को गरम करके, उसी गरम दूध में यदि दधि डाल दिया जाय तो वह दो प्रकार का बन जाता है, द्रवीभूत और घनीभूत: उसमें जो द्रवीभूत अंश होता है वह पयस्या, आमिक्षा इत्यादि पदों से व्यवहृत होता है, और घनीभूत अंश वाजिन कहाता है।

अर्थात् यहाँ मन्त्रत्रय से आहुति दी जाती है। वाजिदेवता के लिये वाजिन-याग होता है, यही विशेषता है। इसी वैश्वदेव पर्व के धर्म बाद के दो पर्वों में भी होते हैं।

उसमें भी जो वैश्वदेव आमिक्षा-याग है वह दूसरे आमिक्षायागों की प्रकृति होती है। इसी प्रकार द्यावापृथिवी के लिए अभिप्रेत एक-कपाल भी सभी एक-कपालों की प्रकृति होती है, ऐसा आपस्तम्ब (२४. १) और कर्काचार्य का मत है (४. ६. ४)। जैमिनिशाखा वालों का भी ऐसा ही अभिप्राय है (जै० ७. १. २३)। कर्काचार्य आमिक्षायाग को दाक्षायण के अन्तर्गत होने वाले आमिक्षा-याग की विकृति मानते हैं। इसमें ऋत्विज् दर्शपूर्णमास के समान ही रहते हैं।

वरुण-प्रघास नामका दूसरा पर्व वरुण-प्रघास आषाढ़ी को करने चाहियें। वैश्वदेव में जो हवियाँ होती है, उनमें प्रारम्भ की पाँच हवियाँ इसमें भी करनी होती हैं। उसके बाद चार और होती हैं : इन्द्र और अग्नि का द्वादश-कपाल, वरुण के लिए आमिक्षा, मरुत् के लिए आमिक्षा और क के लिए एक-कपाल[१]।

इसमें दो वेदियाँ होती हैं :, दक्षिणावेदि और उत्तरा वेदि। ऋत्विज् वैश्वदेवपर्व के समान ही होते हैं। एक प्रतिप्रस्थाता अधिक होता है। वही दक्षिणवेदि पर किये जाने वाले कर्मों का अनुष्ठाता होता है। इसी प्रकार आग्नेय आदि आठ हवियाँ अङ्गों सहित उत्तर वेदि पर अध्वर्यु द्वारा की जाती हैं। मारुती आमिक्षा को प्रतिप्रस्थाता दक्षिण विहार में करता है। जिन-जिन अङ्गों का अनुष्ठान अध्वर्यु उत्तरवेदि पर करता है, उन सबका अनुष्ठान प्रतिप्रस्थाता दक्षिणवेदि पर करता है। प्रणीता, पत्नीसंनहनाऽग्निमन्थनाऽऽश्रुत-प्रत्याश्रुत-प्रैष - यजमानवाचन- होतृषदन-वरण-प्राशित्राऽऽङ्गुलिपर्वाञ्जनाऽवान्तरेडाभागा-ऽपरा-ण्यवभृथान्न प्रति प्रस्थाता" (काश्रौ०५.४.३३) इस सूत्र के अनुसार ये काम प्रतिप्रस्थाता को नहीं करने होते हैं। इस पर्व में और साकमेध पर्व में उत्तरवेदि तथा अग्निप्रणयन ये दो अधिक रहते हैं।

इसी प्रकार करम्भ-पात्र का निर्माण[२] और उसका होम इस पर्व में अधिक होता है। इसमें एक दिन पहले चतुर्दशी को यव के चूर्ण से अध्वर्यु चार वर्तुल पात्र बनावे; पूर्णिमा के दिन अध्वर्यु मेष, तथा प्रतिप्रस्थाता मेषी बनावे। पत्नी उन्हें सूप में लेकर अपने सिर पर रखकर दक्षिण अग्नि में उनका होम करे। इसी समय प्रतिप्रस्थाता के लिए मेषी-होम होता है; मेष-होम अध्वर्यु के लिए उत्तर-वेदि पर होता है।

इस अवसर पर कुछ विशेष बातें श्रुति से सिद्ध हैं (शब्रा० २. ५. २. २०, तैब्रा० १. ६. ५.) करम्भपात्र का होम करने के लिए आती हुई पत्नी को देखकर प्रतिप्रस्थाता पूछता है : 'किसके साथ रहती हो' विवाहित पति के अतिरिक्त यदि तुम्हारे कोई यार (प्रेमी) हों तो उनके नाम खोल दो'। साध्वी स्त्रियों में भी कुछ मानसिक दोष हो सकते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर ही ऐसा प्रश्न किया जाता है, न कि वास्तविक जार को लक्ष्य करके। इस पर्व पर अवभृथ में भी एक विशेषता होती है। इसमें सौमिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है (काश्रौसू० ४. ३. ५) किंतु चुप-चाप; गमन मन्त्रादि नहीं होते (शब्रा० २. ५. २. ४५)। इसी प्रकार वरुण के लिए आमिक्षानिष्काष के साथ छः या दश आहुतियाँ वाला अवभृथकर्म करके (काश्रौ० १०. ८. २९. ३१) पति-पत्नी तीर्थ में स्नान करें। इस पर्व की दक्षिणा होती है : धेनु, अश्व, छः या बारह बैल।

साकमेध नाम का तीसरा पर्व—कार्तिकी को साकमेध नामक पर्व का अनुष्ठान होता है। उसके पहले दिन प्रातःकाल अनीकवती इष्टि उद्धरणादि कर्म से लेकर अपवर्गान्त की जाती है।

उसमें अग्नि अनीकवान् देवता होता है, अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य होता है, और अन्वाहार्य दक्षिणा। मध्याह्न में सांतपनेष्टि होती है; उसमें सांतपन मरुत् देवता होते हैं, चरु द्रव्य होता है और अन्वाहार्य दक्षिणा। सायंकाल गृहमेधीयेष्टि होती है। इसमें गृहमेधी मरुत् देवता होते हैं; दूध में पका हुआ चरु द्रव्य होता है और ऋषभ दक्षिणा। गृहमेधीय अशेष पायस का उपनीत यजमान एवं दूसरे ब्राह्मण भक्षण कर सकते हैं : (काश्रौसू० ५।६।३०)। इसमें प्रयाज और अनुयाजों का अनुष्ठान नहीं होता, किंतु आज्यभाग आदि ही अङ्ग होते हैं। इसमें सायं प्रातः अग्निहोत्र होम यवागू से किया जाता है। उसके बाद दूसरे दिन पूर्णिमा को उद्धरण आदि अपवर्गान्त कर्म वाला प्रातर्दर्विहोम होता है। इसमें सभी क्रियाएँ मौन रहकर की जाती हैं। ऋषभ दक्षिणा होती है।

उसके बाद क्रीडनीया इष्टि होती है। मरुत् उसके देवता होते हैं। द्रव्य पुरोडाश होता है। अन्वाहार्य दक्षिणा होती है। उसके बाद अदिति इष्टि होती है, जिसका देवता अदिति और द्रव्य चरु होता है। दक्षिणा अन्वाहार्य होती है।

वेदि पर होता है।

[१] क शब्द अकारान्त ब्रह्मवाची है। काय ब्रह्म-देवता के लिए एककपाल श्रपित-पुरोडाश द्रव्य वाला याग है।

[२] दीपपात्र के, अर्थात् दिए के समान, जौ के आटे से बनाए गए पात्रों को करम्भ-पात्र कहते हैं।

तदुपरान्त महाहवि नाम की इष्टि उत्तरवेदि पर की जाती है। इसमें वैश्वदेव में जो हवियाँ हैं उनमें से प्रथम पाँच होती हैं, और दूसरी हवियाँ होती हैं: इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादश-कपाल, महेन्द्र के लिए चरु, विश्व-कर्मन् के लिए एक-कपाल। दक्षिणा ऋषभ होती है।

उसके बाद पितृयज्ञ (पित्र्येष्टि) होता है। इसके लिए दक्षिण दिशा में दक्षिणा-मुख विहार बनाया जाता है। उसके बीच में दक्षिणाग्नि का खर बनाकर उसमें दक्षिणाग्नि स्थापित की जाती है। उसमें सभी होम होते हैं। पितर् सोमवन्त् या सोम पितृमान्, बर्हिषद् पितर् या अग्नि-ष्वात्त पितर् देवता होते हैं। षट्कपाल पुरोडाश, धानाः और मन्थ क्रमानुसार द्रव्य होते हैं। भुने हुए यवों को धानाः कहते हैं। ऐसी गौ के दूध में, जिसका अपना बछड़ा मर चुका है तथा जो दूसरी गौ के बछड़े को चाटकर दुही जाती है, सक्तु डालकर जो द्रव्य तैयार होता है वह मन्थ कहलाता है। इसमें चार प्रयाज और दो अनुयाज होते हैं; अन्वाहार्य दक्षिणा होती है।

तदुपरान्त त्र्यम्बका इष्टि होती है। इसमें रुद्र (त्र्यम्बक) देवता होता है, चार एक-कपाल पुरोडाश द्रव्य, और एक ही अध्वर्यु ऋत्विक् होता है। सभी कार्य मौन रहकर एवं उत्तर की ओर मुख करके संपन्न किये जाते हैं। ऋषभ दक्षिणा होती है। दक्षिणाग्नि की जलती हुई लकड़ी लेकर, चौराहे पर जाकर, पाँच भू-संस्कारों को करके, उसे वहीं रखकर, वहाँ जुहू के स्थान पर पलाश के पत्ते से तीन पुरोडाशों में से अंश ले-लेकर होम किया जाता है। चौथे को चूहे के बिल पर डाल देते हैं। उस अग्नि की यजमान सपरिवार प्रदक्षिणा करके, बचे हुए पुरोडाश को दोनों हाथों से ऊपर फेंके और उछाले। गिरते समय उसको एक हाथ से लेकर बराबर बाँटकर, रस्सी का फंदा बनाकर, बाँस के डंडे में बाँधकर, वीवध की तरह बनाकर उत्तर दिशा में स्थाणु, वृक्ष, बाँस या चीटियों के बिलपर रख दे।

शुनासीरीय-नामक चौथा पर्व—तदुपरान्त शुना-सीरीय नामका चौथा पर्व होता है। इसमें पौर्णमास के धर्म होते हैं। इसमें भी पाँच हवियाँ वैश्वदेव में कहे अनुसार ही होती हैं। उनके अतिरिक्त शुना-सीरों के लिए द्वादश-कपाल, वायु के लिए पय अथवा यवागू, सूर्य के लिए एक-कपाल; दक्षिणा छः बैलों से युक्त हल की या दो बड़े बैलों की होती है। सौर की श्वेत अश्व या गौ दक्षिणा होती है।

चातुर्मास्य याग में दो पक्ष—इसमें दो पक्ष होते हैं—उत्सर्ग-पक्ष और यावज्जीव-पक्ष। एक बार चातुर्मास्य याग करके जो व्यक्ति पशु या सोमयाग करता है, उसे पुनः चातुर्मास्य नहीं करना होता, यह उत्सर्गपक्ष है। यदि चातु-र्मास्य यज्ञ ही जीवन भर प्रतिवर्ष किया जाय तो उसे यावज्जीव-पक्ष कहते हैं। उत्सर्ग-पक्ष में साकमेध पर्व के अनन्तर फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को शुनासीरीय करके पूर्णिमा को वैश्वदेव पर्व किया जाता है। उसके बाद पूर्वोक्त ढंग से वरुण-प्रघास आदि होते हैं। इसी प्रकार यावज्जीव-पक्ष होता है।

चातुर्मास्यों की त्रिविधता—चातुर्मास्य तीन प्रकार के होते हैं: ऐष्टिक, पाशुक, और सौमिक। इनमें, जो पहले कहे जा चुके हैं, वे ऐष्टिक हैं। वे भी तीन प्रकार के होते हैं: सांवत्सरिक, पञ्चाहिक और ऐकाहिक। सांवत्सरिकों का निरूपण पहले किया जा चुका है। जो पाँच दिनों में संपन्न किये जाते हैं, वे पञ्चाहिक कहाते हैं। उनमें देवता आदि सब कुछ पहले जैसे ही होते हैं। जब उन (चातुर्मास्यों) का एक दिन में ही अनुष्ठान किया जाता है, तब ऐकाहिक बन जाता है। उसमें भी उतने ही देवता होते हैं एवं उतनी ही हवियाँ रहती हैं। किंतु सभी पर्वों के एक काल में किये जाने से उनके संभव अङ्गों का तन्त्र द्वारा अनुष्ठान होता है और असंभवों की तो आवृत्ति ही होती है। उसमें वरुण-प्रघासिक ही महत्त्व के कारण तन्त्र होता है। यही जब पशुओं सहित होता है तब पाशुक कहाता है। उसमें पशु-तन्त्र ही प्रधान होता है। अतएव ग्यारह प्रयाज और ग्यारह अनुयाज होते हैं। पहले पर्व में वैश्वदेव पशु, दूसरे में वारुण, तीसरे में माहेन्द्र, और चौथे में शुनासीरीय। इन पशुओं का ऐष्टिक हवियों के साथ समान तन्त्र से अनुष्ठान होता है यह पहला पक्ष है। जब उस-उस पर्व के आरम्भ में पृथक् तन्त्र से अनुष्ठान करके तदुपरान्त ऐष्टिकों का अनुष्ठान किया जाता है तब दूसरा पक्ष होता है; पर्व के अन्त में पृथक् तन्त्र से अनुष्ठान तीसरा पक्ष है। सौमिक में तो वैश्वदेव पर्व के स्थान पर अग्निष्टोम-संस्था वाला दिन होता है। वरुण-प्रघास के स्थान पर अग्निष्टोम-संस्थ अथवा उक्थ्य-संस्थ प्रथम दिन होता है, दूसरा दिन उक्थ्य-संस्थ होता है। साकमेध पर्व के स्थान पर प्रथम दिन अग्नि-ष्टोम-संस्थ या षोडशि-संस्थ होता है, दूसरा उक्थ्य-संस्थ, तीसरा दिन अतिरात्र-संस्थ होता है। शुनासीरीय के स्थान पर ज्योतिष्टोम होता है। सात दिनों में क्रमशः वैश्वदेव, वारुण, मारुत, आग्नेय, ऐन्द्राग्न, ऐकादशिन, वायव्य ये पशु होते हैं। अवभृथ प्रति पर्व होता है।

निरूढ-पशुबन्ध—तब निरूढ-पशुबन्ध आता है। यह भी हर वर्ष प्रत्येक वर्षा में करना होता है। इसका भी उदगयनारम्भ तथा दक्षिणायनारम्भ में अनुष्ठान यह विकल्प

बताया गया है। इसमें द्रव्य बकरा होता है, वह भी साक्षात् नहीं, किंतु उसके वपा[1], हृदय, जिह्वा, वक्ष, वाम बाहु की कंधे से नीचे को पहली नडक नाम की अस्थि, दोनों पुट्ठे, यकृद्, दोनों वृक्क, गुदा का मध्य भाग, दाहिनी ओर की श्रोणि (ये जौहव होते हैं); बाँया हाथ, वाम श्रोणि, गुद-तृतीय (ये औपभृत होते हैं)। इसमें इन्द्र और अग्नि, सूर्य या प्रजापति विकल्प से देवता होते हैं। मैत्रावरुण के साथ छः पहले बताये गये ऋत्विज् होते हैं। यद्यपि सभी सूत्र-कारों ने यही धर्म बताये हैं, तथापि श्रुति के अनुसार यह याग ज्योतिष्टोमाङ्गभूत अग्निषोमीयपशुयाग-प्रकृतिक याग है। यूप पशु को बाँधने के लिये गाड़ा गया खूंटा होता है, जो खदिर तथा बिल्व आदि की लकड़ी का होता है। वह तीन अरत्नि या चार अरत्नि का, बिना वल्कल का, और अष्ट-कोण होता है। ऋत्विजों के अलावा और कोई व्यक्ति पशु को मारकर[2], उसकी वपा को निकाल कर, उसकी सारी की आहुति करके, उसके बाद हृदय आदि अंगों को लेकर शामित्र नामक अग्नि में उनका श्रपण करते समय जिस देवता के लिये पशु-याग किया जाता हो उस देवता के लिये पुरोडाश बनाकर, उससे उसी देवता के लिये याग करने पर, पकाई गई हवि को लेकर उसे स्वधिति से जुहू में डालकर आठों हृदय आदि अङ्गों को उसी देवता के लिये हवन करके फिर तीन अङ्गों से स्विष्टकृत् हवन करके, अनुयाज आदि का अनुष्ठान करे। इसमें ग्यारह प्रयाज और उतने ही अनुयाज होते हैं। इष्टियों में हवि रखने के बाद प्रयाज किये जाते हैं। पशु-याग में यूप के निकट जब पशु होता है उसी समय दश प्रयाज किये जाते हैं। ग्यारहवां प्रयाज संज्ञपन के बाद होता है। इसमें दक्षिणा गौ आदि पशु की होती है।

यह अग्नि और सोम की प्रकृति वाला होता है। यही अग्निषोमीय पशुयाग सब काम्याओं को एवं सवनीयों का प्रकृति होता है। सोमयाग में जिस दिन सोमरस निकालकर उसे ग्रह चमस आदि पात्रों में लेकर उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसी दिन अनुष्ठेय होने से विहित पशु सवनीय होता है। वह ज्योतिष्टोम में अग्निष्टोम संस्था में एक, उक्थ्य संस्था में दो, षोडशिन् में तीन, अतिरात्र में चार और वाजपेय में पाँच होते हैं। सत्र आदि में इससे भी अधिक बढ़ जाते हैं।

[1] पशु के आमाशय के ऊपर आमाशय को घेरे रहने वाले अत्यन्त पतले, श्वेतवस्त्र के समान अङ्गविशेष को वपा कहते हैं।

[2] यज्ञ के पशु को बिना शस्त्र से मारे; मुख को बाँधकर, साँस रोककर मारना पशु-संज्ञपन कहलाता है।

आग्रयण इष्टि—तब आग्रयण इष्टि होती है। पहले, अर्थात् नये अन्न की उत्पत्ति के अनन्तर जिसका अयन अर्थात् आचरण किया जाता है, वह आग्रयण कहाता है (अग्रे नवान्नोत्पत्त्यनन्तरमयनमाचरणं यस्य तदाग्रयणम्)। यह शरद् और वसन्त में की जाती है। इसमें द्रव्य पुरोडाश और चरु होता है। इन्द्र और अग्नि के लिये पुरोडाश, दूसरा द्यावा-पृथिवी के लिये। विश्वदेव के लिये चरु होता है, जो यव का होता है। इसका दूध में श्रपण होता है। नवीन व्रीहि और यव प्रधान द्रव्य होते हैं। इसमें दक्षिणा टूटने के बाद बनवाया रथ होता है; अथवा क्षौम, मधुपर्क, एवं वस्त्र की होती है। यह इष्टि नित्य होती है। इस इष्टि को करके आहिताग्नि को नया अन्न ग्रहण करना चाहिये। जिस व्यक्ति ने अग्नि का आधान नहीं किया है उस औपासनिक को भी यह कर्म गृह्य में कही गई रीति से करना चाहिये। व्रीहि का आग्रयण करके यव के आग्रयण पर्यन्त सभी यज्ञ व्रीहि से करने चाहियें। इसी प्रकार यव का आग्रयण करके व्रीहि के आग्रयण पर्यन्त यव से ही सभी याग करने चाहियें। नवान्ना इष्टि इसी का दूसरा नाम है।

सौत्रामणी—सौत्रामणी नाम का पशु-याग होता है: 'सुत्राम्ण इयं सौत्रामणी'। वह स्वतन्त्र और अङ्गभूत दो प्रकार का होता है। चयन के बाद उसके अङ्ग के रूप में अनुष्ठित की जाने वाली सौत्रामणी अङ्गभूता होती है। स्वतन्त्र रूप से विहित प्रधानभूता सौत्रामणी होती है। वह नित्या, काम्या, और नैमित्तिकी इन तीन प्रकार की होती है: उसमें फल को उद्देश न करके की गई नित्या होती है; वही जब ऋद्धिफल के उद्देश्य से की जाती है तब काम्या बन जाती है; सोम-वमन आदि के अनन्तर अनुष्ठित होने पर वह नैमित्तिकी कहलाती है। स्वतन्त्र सौत्रामणी में ब्राह्मण का ही अधिकार होता है। अङ्गभूता में क्षत्रिय और वैश्य भी अधिकारी होते हैं। उसमें तीन पशु होते हैं: अज, मेष और वृषभ। देवता क्रमशः अश्विनौ, सरस्वती और इन्द्र रहते हैं। इन्हीं पशु-समुदायों की सौत्रामणी संज्ञा है। एक शाखा में इन्द्र के स्थान पर इन्द्र सुत्रामा देवता होता है। इन्हीं तीन पशुओं वाली सौत्रामणी को आपस्तम्ब नित्या बताते हैं: प्र० १९। कौकिल सौत्रामणी नाम की पाँच पशुओं वाली एक दूसरी सौत्रामणी भी बताई गई है: उसमें प्रथम पशु इन्द्र के लिए और अन्तिम वयोधस् के लिए होता है। उसी कौकिल सौत्रामणी को कतिपय आचार्यों ने मुख्यरूप से स्वीकार किया है। आपस्तम्ब की सौत्रामणी तीन पशुओं वाली और नित्या होती है; कात्यायनों की पाँच पशुओं वाली और नित्या होती है। उसमें पहले

आदित्य के लिए चरु, तब इन्द्र के लिये पशु होता है; अथवा इन दोनों का इससे विपरीत ढंग से अनुष्ठान होता है। यह यज्ञ चार दिनों में संपन्न होता है। इसमें अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, अग्नीध्, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण ये छः ऋत्विज् होते हैं। इसमें तीन पयोग्रह एवं तीन सुराग्रह होते हैं। ग्रहों के देवता होते हैं: अश्विनौ, सरस्वती और इन्द्र सुत्रामा। इसमें होम के लिए सुरा भी तैयार रखनी चाहिये।

पहले दिन द्वादशी को प्रातःकाल अग्निहोत्र करके अदिति देवता का चरु होता है। उसका इन्द्र के लिये पशु के साथ विकल्प होता है: ऐन्द्र पशु का अनुष्ठान करके चरु का अनुष्ठान किया जाय; अथवा चरु का अनुष्ठान करके ऐन्द्र पशु का। इस चरु का अन्त में भी अनुष्ठान होता है। तीन पशुओं के स्थान से दक्षिण की ओर ऐन्द्र पशु का अनुष्ठान होता है।

सौत्रामणी का अनुष्ठान "पयोग्रहा वा स्युः" (आप० श्रौ० १९.२.२३) इस आपस्तम्ब के वचन के अनुसार सुराग्रह का विकल्प करके पयोग्रहों का विधान होने से उन्हीं के द्वारा किया जाता है। आपस्तम्ब के अनुयायी इसी प्रकार का अनुष्ठान करते हैं। सौत्रामणी के अङ्गभूत पशु-पुरोडाश-याग में दूसरे यागों के पशु-पुरोडाश-याग की तरह पशुयागीय देवता नहीं होते, अपितु इन्द्र, वरुण और सविता होते हैं। इस पाँच पशुओं वाली सौत्रामणी को आपस्तम्ब ने कौकिली नाम दिया है: प्र० १९। एक दूसरी चरण सौत्रामणी होती है; वह राजसूय का अङ्गभूत होती है। उसमें तीन पशु (का०श्रौ०१५. १०) होते हैं; अन्य सब बातें समान होती हैं।

सोमयाग-निरूपण—अग्निष्टोम इस अनुष्ठान में दो कल्प होते हैं। जब कोई अधिकृत व्यक्ति सोम-यज्ञ करना चाहे तब वसन्त में अग्नियों का आधान करके उनमें सोमयज्ञ करके दर्शपूर्णमास आदि का अनुष्ठान करे, ऐसा एक मत है। आधान के बाद दर्शपूर्णमास इत्यादि करके बाद में सोम द्वारा यज्ञ करे, ऐसा दूसरा मत है। इसमें द्रव्य सोम-रस होता है। इसमें सोम को खरीद कर, उसका रस निकालकर उस रस से होम किया जाता है; इसी से इसका सोमयाग यह नाम पड़ा है।

आजकल सोम न मिल सकने के कारण सोम की जगह पूतीक नाम की लता के रस से याग किया जाता है। यद्यपि यह याग एक दिन में किया जा सकता है तथापि अपने अङ्गों सहित यह पाँच दिन में पूरा होता है। इसमें सोलह ऋत्विज् रहते हैं; ये चार गणों में विभक्त होते हैं: अध्वर्यु-गण, ब्रह्म-गण, होतृ-गण और उद्गातृ-गण। प्रत्येक गण के चार-चार ऋत्विज् मिलाकर सोलह बन जाते हैं:

१	३
अध्वर्युगण	**होतृगण**
१. अध्वर्यु	१. होता
२. प्रतिप्रस्थाता	२. मैत्रावरुण (प्रशास्ता)
३. नेष्टा	३. अच्छावाक
४. उन्नेता	४. ग्रावस्तुत्
२	**४**
ब्रह्मगण	**उद्गातृगण**
१. ब्रह्मा	१. उद्गाता
२. ब्राह्मणाच्छंसी	२. प्रस्तोता
३. आग्नीध्र	३. प्रतिहर्ता
४. पोता	४. सुब्रह्मण्य

जिस क्रम से लिखा गया है संख्याक्रम भी वही होता है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ। जैसे कि अध्वर्युगण में अध्वर्यु प्रथम और प्रतिप्रस्थाता द्वितीय होता है इत्यादि। उसी प्रकार दक्षिणा का भी क्रम चला करता है। जितनी गोरूप दक्षिणा देने को कही गई होती है, उसके चार बराबर भाग करके प्रत्येक गण को एक-एक भाग दे दिया जाता है। एक-एक भाग में दी जाने वाली दक्षिणा भी विषम रूप में बांटकर दी जाती है: यथा अध्वर्यु जितनी गौएँ पावे उसका आधा प्रतिप्रस्थाता को, अध्वर्यु के भाग का तृतीयांश नेष्टा को, और चतुर्थांश उन्नेता को मिलता है। अतएव इन्हें अर्धिन्, तृतीयिन् और पादिन् भी कहते हैं। ऐसा ही दूसरे गणों में भी समझिये।

"यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः" (आपश्रौसू० २४. १-१-२) इस प्रकार आचार्यों ने जो यज्ञ का तीन वेदों द्वारा संपादन बताया है, वह इसी सोमयाग के लिये कहा गया है, न कि इसके पूर्व किये जाने वाले अग्निहोत्र, पशु, दर्शपूर्णमास आदि के लिए। अग्निहोत्र केवल यजुर्वेद द्वारा होता है; दर्शपूर्णमासादि इष्टियाँ कुछ तो ऋग्वेद और यजुर्वेद द्वारा की जाती हैं और कुछ केवल यजुर्वेद द्वारा। पशुयाग संपूर्ण ऋग्वेद और यजुर्वेद द्वारा किया जाता है। सोमयाग ही से तीनों वेदों का संबन्ध रहता है; अतएव इसमें तीनों वेदों से संबद्ध ऋत्विजों का, उस-उस वेद से संबद्ध कर्म को करने के लिए वरण किया जाता है। अध्वर्यु-गण यजुर्वेद से संबद्ध होता है, होतृ-गण बह्वृच्-संबन्धी अनुष्ठान के लिये होता है, और उद्गातृ-गण सामवेद के अनुष्ठानों के लिए रहता है। इन तीन गणों द्वारा किये गये कर्मों का निरीक्षण करने के लिये ब्रह्मगण होता है; यही चारों गणों का उपयोग है। विशेष बातों का निरूपण प्रसङ्गानुसार किया जायगा। यह सोमयाग अग्निष्टोम-संस्था होने से अग्निष्टोम भी कहाता है; अग्निष्टोम सामवेद के गीतों का नाम

है। सामवेद में "यज्ञायज्ञा वो अग्नय" इस ऋचा में गीत के रूप में विहित साम अग्निष्टोम कहाता है। संस्था शब्द समाप्तिवाची है। यही इस यज्ञ का अन्तिम सामन् होता है; अतः इस सामन् से समाप्ति होने के कारण यह यज्ञ अग्निष्टोम-संस्थ होने के कारण अग्निष्टोम कहाता है। श्रुति में भी बहुधा देखा जाता है कि सोमयाग की जिस सामन् से समाप्ति होती है, उसी नाम से उस याग का व्यवहार होता है : यथा—उक्थ्य, षोडशी इत्यादि। अतः अग्निष्टोम सामन् से समाप्त होने के कारण इसका अग्निष्टोम नाम उचित ही है। यह ज्योतिष्टोम की पहली संस्था है।

ज्योतिष्टोम की चार संस्थाएं हैं : अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। अग्निष्टोम सामन् से समाप्त होने वाले यज्ञ का नाम अग्निष्टोम है[१]। अग्निष्टोम साम के बाद, जहाँ उक्थ्य नामक साम द्वारा स्तुति की जाती है, और उसके बाद कोई दूसरा साम नहीं आता, वह उक्थ्य संस्था वाला ज्योतिष्टोम[२] होता है। उक्थ्य स्तोत्र के बाद जहाँ षोडशी नाम का स्तोत्र होता है वह षोडशी संस्था वाला ज्योतिष्टोम होता है[३]। षोडशी स्तोत्र के बाद जहाँ अतिरात्र नाम के सामों का गायन किया जाता है, वह अतिरात्रसंस्था वाला ज्योतिष्टोम होता है। इस प्रकार इस चार संख्या वाले विशिष्ट यज्ञ का नाम अग्निष्टोम है। त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश इन चार स्तोमों[१] को

१ यज्ञायज्ञिय-नामक अग्निष्टोम साम से जहाँ यज्ञ की समाप्ति होती है उसे अग्निष्टोम कहते हैं। उसी अग्निष्टोम में राजन्य का षोडशिन् लेना चाहिये। अग्निमारुत के बाद जब षोडशिग्रह का स्तुतिशस्त्र होता है तब उसे अत्यग्निष्टोम कहते हैं।

२ जिससे सोम उठाया जाता है उसे उक्थ्य कहते हैं (उत्थाप्यते सोमोऽनेन)। अग्निष्टोम के बारह स्तोत्रों के बाद उक्थ्य नाम के तीन स्तोत्र जिस यज्ञ में होते हैं उसे उक्थ्य कहते हैं। इससे उक्थ्य में पन्द्रह स्तोत्र और इतने ही शस्त्र हो जाते हैं।

३ जिस यज्ञ में सोलह शस्त्र होते हैं उसे षोडशी कहते हैं। यह स्वतन्त्र यज्ञ नहीं है; अतः अग्निष्टोम आदि की तरह इसका अलग से अनुष्ठान नहीं किया जाता। किंतु पृष्ठ्यषडह के चौथे दिन होता है। "षोडशी नामका यज्ञ नहीं है, ये जो षोडश स्तोत्र होते हैं इन्हीं के कारण षोडशी कहा जाता है" (न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति, यद्वाव षोडशं शस्त्रं षोडशं स्तोत्रं तेन षोडशी, तै० सं० ६. ६. ११. १)। अग्निष्टोमसंस्था वाला ज्योतिष्टोम बारह शस्त्रों से युक्त होता है "द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि (तांब्रा० ६. ३. ३)। उससे युक्त उक्थ्यसंस्थ में तीन स्तोत्र अधिक होते हैं। अतः उक्थ्य में पन्द्रह स्तोत्र बन जाते हैं। उससे युक्त षोडशिसंस्थ एक स्तोत्र से अधिक पड़ता है। उससे स्तोत्रों के बीच इस स्तोत्र का प्रयोग सोलह संख्या को पूर्ण करता है। इसी प्रकार षोडशी ग्रह और षोडशिशस्त्र भी हैं। ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र ये तीनों साथ किये जाते हैं ("एतत्त्रयं सह क्रियते ग्रहः स्तोत्रं शस्त्रम्" शतपथ ब्रा० ८. १. ३. ४) षोडशिशस्त्र ऋ० १।१८।१-२० इत्यादि हैं (आश्व० श्रौ० 'असावि सोम इन्द्रते' ६. २. १२)।

१ तिस्रो वृतः त्रिरूपावयवा यस्य स्तोमस्य स त्रिवृत् (तैब्रा० १. ५१०, वासं० १०. १०) "उपास्मै दविद्युतत्या पवमानस्य ते" (उ० आ० १०. १. १-३) इन तीन तृचात्मक सूक्तों में आने वाली नवीं ऋचा का तीन पर्यायों में गान करना चाहिए। उसमें प्रथम पर्याय में तीनों सूक्तों में पहले की तीन ऋचाओं का गान करना चाहिए। दूसरे पर्याय में बीच की तीन ऋचाओं का और तीसरे पर्याय में अन्तिम तीन ऋचाओं का गान करना चाहिए। इस गान का त्रिवृत्स्तोमस्तोत्र नाम है। एक तृच की तीन ऋचाएँ ब्राह्मणोक्त आवृत्तिविशेष द्वारा जिस स्तोम में पन्द्रह बन जाती हैं वह पञ्चदश स्तोम होता है। इस तृचरूपी एक सूक्त की तीन बार आवृत्ति करनी चाहिये। उसमें—पहली आवृत्ति में पहली ऋचा का तीन बार गान होना चाहिये दूसरी दो ऋचाओं का एक-एक बार। दूसरी आवृत्ति में बीच की ऋचा का तीन बार और अन्य दो ऋचाओं का एक-एक बार गान होता है। तीसरी आवृत्ति में अन्तिम ऋचा का तीन बार और अन्य दो ऋचाओं का एक-एक बार गान होता है, इस प्रकार पञ्चदश स्तोम बन जाता है (ताण्ड्य ब्रा० २. ४. १)। एक तृच की तीन ऋचाओं की ब्राह्मणोक्त आवृत्तिविशेष द्वारा इक्कीस संख्या जिस स्तोत्र में होती है वह एकविंशस्तोम होता है। तृच रूपी एक सूक्त की तीन बार आवृत्ति करनी चाहिये। उसमें पहले पर्याय में तृच की अन्तिम ऋचा का एक बार और दूसरी दो ऋचाओं का तीन-तीन बार पाठ होता है। दूसरे पर्याय में प्रथम ऋचा

ज्योतिः नाम से पुकारते हैं; जिसके स्तोम ज्योतिः होते हैं वह **ज्योतिष्टोम** है (ज्योतींषि स्तोमाः यस्य स ज्योतिष्टोमः); त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश ये ही ज्योतिः होते हैं, जो इसके स्तोम हैं (तंब्रा० १.५.११)। इन्हीं चार संस्थाओं की कहीं आवापोद्वाप द्वारा दूसरी तीन संस्थाएँ और हो जाती हैं—अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, और अप्तोर्याम। अग्निष्टोम स्तोत्र के बाद उक्थ्य करके, जहाँ षोडशी की जाती है, वह **अत्यग्निष्टोम** नाम का यज्ञ होता है।

ये ही सात संस्थाएँ स्मृति में नित्य कही गई हैं। उसमें अग्निष्टोम संस्था वाले ज्योतिष्टोम में बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र रहते हैं। एक बहिष्पवमान स्तोत्र[1], चार आज्य नाम के स्तोत्र[2], चार पृष्ठ्य नाम के स्तोत्र[3], एक माध्यंदिन पवमान नाम का[1], एक आर्भव पवमान[2] और एक अग्निष्टोम स्तोत्र[3]। अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम सभी सोम-यागों में जितने स्तोत्र होते हैं, उतने ही शस्त्र होते हैं। स्तोत्र और शस्त्रों का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। सभी जगह "ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति" (तैसं० ३.१.२) इस श्रुति के अनुसार जिस देवता के लिए ग्रह या चमस लिया जाता है, उसी देवता का स्तोत्र उस ग्रह या चमस के ग्रहण के अनन्तर उद्गाता आदि तीन ऋत्विजों द्वारा पढ़ा जाता है। उसका प्रकार यह है:—सामवेद में एक ऋचा में एक-एक साम उत्पन्न होता है। यज्ञकाल में उस साम का तीन ऋचाओं में गान विहित है; एक साम, जिस तृच् में उद्गीत होता है वह स्तोत्रीय कहाता है। पहली ऋचा को योनि कहते हैं, उसके बाद की दो ऋचाओं को उत्तरा कहते हैं। "यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति"

का एक बार और अन्य दो का तीन-तीन बार पाठ होता है। तीसरे पर्याय में बीच की ऋचा का एक बार और अन्य दो का तीन-तीन बार पाठ होता है, इस प्रकार एकविंशस्तोम बन जाता है (तांब्रा० २.१४.१)। विशेष प्रकार के स्तोत्र को स्तोम कहते हैं। साम द्वारा की जाने वाली स्तुति स्तोम कहलाती है। त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चत्वारिंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंश इन शब्दों वाली साम की आवृत्ति के भेद से निष्पन्न स्तोम होते हैं। त्रिवृत्स्तोम में साम की आवृत्ति न होने पर भी ऋचाओं के नौ होने से संख्या का साम्य रहता है: सायण० तै० सं० १.३.१।

[1] सामगान करने वालों के उत्तरार्चिक में तृचात्मक सूक्त दिये गये हैं: साम० उ० १.१.१-९; उसमें "उपास्मै" यह आदि का सूक्त है। 'दविद्युतत्या' दूसरा, 'पवमानस्य ते' तीसरा। ज्योतिष्टोम के प्रातः सवन में उन तीन सूक्तों में गायत्र साम का गान करना चाहिए। इन तीन सूक्तों के गायन से संपन्न होने वाले स्तोत्र को बहिष्पवमान कहते हैं। इसकी ऋचाएं पवमान के लिये होने से बाहर से संबद्ध होती हैं, इसलिए इसे बहिष्पवमान कहते हैं।

[2] 'आ समन्ताज्जयन्त्येभिरित्याज्यानि': ऐब्रा० २.५.४, तांब्रा० ७.२; जिनके द्वारा चारों ओर से विजय प्राप्त करते हैं। उत्तरार्चिक में बहिष्पवमान के तीन सूक्तों के बाद, जो चार सूक्त गिनाये गये हैं, उन्हीं को प्रातःसवन में गायत्र साम के साथ गान किये जाने पर चार आज्य स्तोत्र कहा जाता है: तांब्रा० २.४.६।

[3] बृहत्, रथंतर, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत ये छः साम पृष्ठ कहे जाते हैं: तांब्रा० ७.६.७, तै० ब्रा० १.२.२.३। पृष्ठों का समूह पृष्ठ्य होता है: पा० वा० ४.२.४२। जिस सामषट्क के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है उसे पृष्ठ्य कहते हैं ('स्पृशति प्राप्नोति स्वर्गं लोकमनेन सामषट्केन इति पृष्ठ्यः) "स्वर्गं लोकमस्पृशंस्तस्मात्पृष्ठ्याः" शब्रा० १२.२.२.११। रथंतर आदि छः स्तोत्रों को पृष्ठ्य स्तोत्र कहते हैं।

[1] उत्तरार्चिक में आज्यस्तोत्रों के बाद, जो तीन स्तोत्र हैं, उन्हीं का माध्यंदिन सवन में गायत्र, आमहीयव, रौरव, यौधाजय, उशन साम द्वारा गायन किये जाने पर पाँच माध्यंदिन सवन के स्तोत्र बन जाते हैं। इसमें बताये गये चार सूक्तों में रथंतर, वामदेव्य, नौधस, कालेय सामों द्वारा संपादित चार पृष्ठ-स्तोत्र माध्यंदिन सवन के होते हैं: तांब्रा० ७.३.५।

[2] तीसरे सवन में गाये जाने वाले गायत्र, संहित, शफ, पौष्कल, श्यावाश्य, गन्धीगव सामों द्वारा संपन्न आर्भव पवमान स्तोत्र होते हैं, जो ऋभु नाम के देवों द्वारा दृष्ट हैं; एवं संख्या में छः हैं: तांब्रा० ८.४.५।

[3] जिस साम के द्वारा अग्निष्टोम संस्था की समाप्ति होती है, वह अग्निष्टोम (साम) स्तोत्र होता है। अग्निष्टोम में शस्त्र, १२, अत्यग्निष्टोम में तेरह, उक्थ्य में १५, षोडशी में सोलह, वाजपेय में १७, अतिरात्र में पच्चीस, अप्तोर्याम में तैंतीस।

वहीं गान में त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोत्र तीन ऋचाओं पर बना लेने चाहियें। पहली ऋचा में उस साम को तीन बार पढ़कर दूसरी और तीसरी को एक-एक बार पढ़े। यह पहला पर्याय है। इस पर्याय में कुल मिलाकर पाँच संख्या हुई। दूसरे पर्याय में पहली ऋचा को एक बार और दूसरी को तीन बार पढ़कर तीसरी को एक बार पढ़ा जाता है। इसमें भी पाँच संख्या होती है। तीसरे पर्याय में पहली और दूसरी ऋचा को एक-एक बार पढ़कर तीसरी को तीन बार पढ़ा जाता है; इसमें भी पाँच संख्या होती है। सब मिलाकर पन्द्रह हुए। यही **पञ्चदश स्तोम** है। इसी तरह **सप्तदश** इत्यादि में भी कर लेना चाहिये। उसमें भी प्रत्येक साम को पाँच भागों में बाँटा जाता है—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन। उसमें सभी सामों का गायन करने वाले तीन ऋत्विज् होते हैं: प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता। पहला भाग प्रस्ताव नामक प्रस्तोता द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। दूसरे उद्गीथ नाम के भाग को उद्गाता गाता है। तीसरे प्रतिहार नामक भाग का प्रतिहर्ता गायन करता है। चौथे और पाँचवें भाग का गायन सभी मिलकर करते हैं। इसी प्रकार सभी जगह स्तोत्र किया जाता है। स्तोत्र समाप्त हो जाने पर जिस देवता का स्तोत्र होता है उस देवता के शस्त्र का होता शंसन करता है। "स्तुतमनुशंसति" तांब्रा० ९. ८. १०, "स्तोत्रमग्रे शस्त्रात्": आश्वश्रौसू० ९. ५० "स्तुवतेऽथ शंसति": शब्रा० ८१ ३३ ये इस विषय में वचन हैं। कहीं मैत्रावरुण और अच्छावाक के भी शस्त्र विहित हैं।

अतः जितने ग्रह होते हैं, उतने ही स्तोत्र और उतने ही शस्त्र होते हैं। प्रातः सवन में बहिष्पवमान और चार आज्य ये पाँच स्तोत्र होते हैं। माध्यंदिन सवन में चार पृष्ठ और एक माध्यंदिन पवमान ये पाँच होते हैं। तृतीय सवन में आर्भव पवमान और अग्निष्टोम ये दो होते हैं। इतर छः सस्थाओं की अग्निष्टोम ही संस्था है। सोमयाग तो एकाह से लेकर हजार वर्ष तक के बताये गये हैं। एकाह नाम के एक दिन में किये जाते हैं[1]। दो दिनों में किया जाने वाला याग द्विरात्र होता है। इस प्रकार पहले दिन अभिषव—आदि होमान्त जो अनुष्ठित हो चुके हैं उन्हीं का दूसरे दिन भी, जहां विशेष विधि के साथ अनुष्ठान होता है, वह द्विरात्र कहाता है। यह केवल प्रधान में होता है। उपसद्, दीक्षा आदि अङ्गों का अनुष्ठान समयानुसार यथा-विधि दो, तीन, चार, पाँच आदि दिनों में होता है। ऐसा ही त्रिरात्र आदि यागों में भी समझना चाहिये। इस रीति से द्विरात्र से लेकर एकादशरात्र तक के यागों को **अहीन** कहा जाता है। त्रयोदश रात्र से लेकर

[1] एकाह याग कात्यायन श्रौतसूत्र के वाइसवें अध्याय में दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—ज्योतिः १, उक्थसंस्थ गौ० २ एवं आयुः ३, अग्निष्टोम-संस्थ अभिजित् ४ एवं विश्वजित् ५, अग्निष्टोम-संस्थ सर्वजित् ६, ज्योतिः साहस्र ७, एवं ज्योतिःसाहस्र ८, विश्व ज्योतिः साहस्र ९, त्रिरात्रसंमित साहस्र १०। साद्यस्क्र नाम के छः एकाह ११–१६ (उनमें तीन के अनुक्रीः, विश्वजिच्छिल्प, (अभिचार करनेवाले के लिए) श्येन नाम हैं, दूसरे तीन का साद्यस्क्र ही नाम है), चार व्रात्यस्तोम (द्वितीय उक्थ्यसंस्थ एवं अन्य तीन अग्निष्टोम-संस्थ) १७, २०, अग्निष्टुत् २१, (इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत्)। त्रिवृत् नाम के अग्निष्टोम-संस्थ चार एकाह हैं: ईप्सुयज्ञ २२, बृहस्पतिसव २३, इषुः २४, एवं सर्वस्वार २५। ऋत्विगपोहनीय नामके तीन एकाह, २६-२८ हैं: सर्वस्तोम, छान्दोमिक (=द्वितीय एवं तृतीय), और चार वाचस्तोम २९-३२। ऐष्टिक, पाशक और सौमिक चातुर्मास्य ३३-३६। अग्न्याध्येय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, दाक्षायण, आग्रयण, पशुबन्ध छः सौमिक ३७-४२। शप्तदश नामक पाँच एकाह ४३-४८, जिनमें पहला अपहव्य, दूसरा ऋतपेय, दूणास, वैश्यस्तोम, तीव्रसुत्। इसके बाद द्वन्द्वयज्ञ: इनमें एक का अनुष्ठान करने के बाद दूसरे का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। इनमें राट्-विराट् एक द्वन्द्व ४९, औपशद-पुनस्तोम यह दूसरा है ५०, चतुष्टोम यह तीसरा है, ५१, उद्भित्-बलभित् चौथा ५२, दो अपचिति ५३, दो अग्निस्तोम ५४, ऋषभ मरुत्सोम छठा ५५, ऐन्द्रकुलाय द्वियज्ञ सातवाँ ५६, ऐन्द्रस्तोम और ऐन्द्राग्न्य स्तोम आठवाँ ५७। दो घन-विघन ५८, संदंश वज्र दसवां ५९। आश्वलायन श्रौतसूत्र में अन्य भी एकाह कहे गये हैं; वे हैं: विष्णुवत्सोम १, धृति २, उशनसस्तोम ३, (पुनः स्तोम) भूमिस्तोम ४, वनस्पतिस्तोम ५, भूस्तोम ६, सद्यस्क्रिया ७, अनुक्रिया ८, परिक्रिया ९, एकत्रिक १०, त्र्येकः ११, गोतमस्तोम १२, अजिर १३, इन्द्रस्तुत् १४, तीव्रस्तोम १५, क्रान्ति १६, अतिमूर्ति १७, (बहुसुवर्ण) सूर्यस्तुत् १८, विश्वदेवस्तुत् १९, पञ्चशारदीय २०, विवध २१, गोसव २२, शद २३, उपशद २४, वाजपेय एकाह या सप्तदश अपवर्ग २५। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में अन्य भी बताए गये हैं, जिन्हें उसी ग्रन्थ में देख लेना चाहिए।

सहस्र संवत्सर तक के यागों को सत्र कहते हैं। इनमें भी त्रयोदश रात्र से शतरात्र तक के यज्ञों को रात्रिसत्र[1], और उसके बाद वालों को केवल सत्र[2] कहते हैं। द्वादशाह तो सत्र एवं अहीन दोनों रूपों वाला होता है। सत्रों और अहीनों की प्रकृति यही है। उसमें सत्रात्मक सत्रों की और अहीनात्मक अहीनों की प्रकृति होता है।

यह सोमयाग सभी सोमयागों की प्रकृति है। अतएव इस सोमयाग को पूर्णरूप से समझ लेने पर इसके ऊपर के सभी याग स्पष्ट हो जाते हैं। फलतः ऊपर के यज्ञों को जानने की इच्छा वाले के लिए तथा सोमयाग के स्वरूप को जानने की इच्छा रखने वाले दूसरे लोगों के लिये भी इसका जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये यद्यपि इसके स्वरूप का पूर्णतः निरूपण करने की और अधिक गुंजाइश है, तथापि विस्तार-भय से उसके सभी पदार्थों का निरूपण हम यहाँ नहीं करेंगे। उनके लिये सूत्रों के एतत्संबद्ध प्रकरणों को देख लेना उचित होगा। यहाँ कुछ मुख्य पदार्थों का ही सहज बोध कराने के लिये संग्रह किया जा रहा है। वे इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम वसन्त में किसी भी अच्छे दिन आभ्युदयिक करके प्रारम्भ होता है। प्रायः शुक्लपक्ष की एकादशी को प्रारम्भ कर पूर्णिमा को समाप्त करने का रिवाज है। आभ्युदयिक के अनन्तर ऋत्विजों का वरण होता है। सबसे पहले सोमप्रवाक नामक ऋत्विज् का वरण करना चाहिये। वरण किया गया सोमप्रवाक अध्वर्यु आदि के घर जाकर उनसे कहता है : अमुक शर्मा का यज्ञ होगा, उसमें आप ऋत्विज् का कार्य करें। अध्वर्यु आदि के 'आधान इत्यादि के समय कौन ऋत्विज् थे ? वे कहाँ गये ? इस समय हमें क्यों ढूंढ़ रहे हो ? क्या यजमान अच्छी दक्षिणा देगा ? इत्यादि प्रश्नों के पूछने पर उन्हें यथावत् उत्तर देकर वह उनके साथ यजमान के घर आवे। उनके आ जाने पर उनका वरण करे। वरण किये गये ऋत्विजों को मधुपर्क दिया जाता है। इतना घर में करके, अग्नियों का समारोपण करे, और जहाँ सोमयज्ञ करना हो उस स्थान को जावे। वहाँ जाकर शाला बनाकर, वितान तानकर, अरणियों का मन्थन करे और उनसे निकली हुई अग्नियों की उस-उस कुण्ड में स्थापना करे। अपराह्ण में दम्पति अभीष्ट भोजन करें, अथवा न करें। इसी दिन पति-पत्नी का भोजन होता है, उसके बाद चार दिनों तक इन्हें उपवास रखना होता है। अवभृथ के बाद ही फिर ये दोनों अभीष्ट भोजन करते हैं। बीच में तो केवल व्रत का ही भोजन होता है। तब यजमान का वपन होता है। फिर स्नान, और तब दीक्षणीया इष्टि होती है : इसमें अग्नि और विष्णु के लिए एकादश-कपाल पुरोडाश द्रव्य होता है; अग्नि और विष्णु देवता होते हैं। इष्टि के अनन्तर दंपति का सिर से पैर तक नवनीत से लेपन होता है; फिर वे मुष्टि बाँधते हैं। मुष्टि-बन्धन के समय दोनों हाथों की सभी अँगुलियाँ बाँधकर अँगूठे और प्रदर्शिनी अँगुलियाँ खोल दी जाती हैं। दूसरी अँगुलियाँ (वस्त्र आदि से) बँधी ही रहती हैं। माध्यंदिन सवन तक उन्हें नहीं खोलना चाहिये। मुष्टि बाँधकर ही पति-पत्नी को कार्यों का संपादन करना चाहिये। तब औदग्रभण होम होते हैं और

---

[1] उनमें आङ्गिरस १, चैत्रथ २, कापिवन ३, ये तीन द्विरात्र (द्व्यहाः)। गर्ग वैद २, छन्दोम ३, अन्तर्वसु ४, पराक्रम ५ ये पाँच त्रिरात्र (त्र्यहाः) हैं। अत्रिचतुर्वीर १, जामदग्न्य २, वसिष्ठसंसर्प ३, विश्वामित्र ४, ये चार चतूरात्र (चतुरहाः) हैं। देवपञ्चाह १, पञ्चशारदीय २, व्रतवान् ३, ये तीन पञ्चरात्र (पञ्चाहाः) हैं। ऋतुषडह १, पृष्ठ्यावलम्ब २, त्रिकद्रुक ३, ये तीन षड्रात्र (षडहाः) हैं। जनकसप्तरात्र एक सप्ताह होता है। अष्टरात्र एक अष्टाह होता है। नवरात्र एक नवाह १। त्रिककुप् १, कौसुरुविन्द २, पृष्टोम ३, छन्दोमदशाह ४, ये चार दशरात्र हैं। पौण्डरीक एक एकादशरात्र होता है।

द्वादशरात्र और उसके बाद त्रयोदशरात्र नाम के दो सत्र हैं। चतुर्दशरात्र तीन हैं। पञ्चदशरात्र चार हैं। षोडशरात्र, सप्तदशरात्र, अष्टादशरात्र, एकोनविंशतिरात्र, विंशतिरात्र इनमें प्रत्येक एक-एक होता है। द्वाविंशरात्र, त्रयोविंशरात्र, चतुर्विंशरात्र दो होते हैं, पञ्चविंशतिरात्र, षड्विंशतिरात्र, सप्तविंशतिरात्र, अष्टाविंशतिरात्र, एकोनविंशतिरात्र, त्रिंशद्रात्र, एकत्रिंशद्रात्र, द्वात्रिंशद्रात्र, तीन त्रयस्त्रिंशद्रात्र, चतुस्त्रिंशद्रात्र, पञ्चत्रिंशद्रात्र, षट्त्रिंशद्रात्र दो, सप्तत्रिंशद्रात्र, अष्टात्रिंशद्रात्र, एकोनचत्वारिंशद्रात्र, चत्वारिंशद्रात्र, एकान्नपञ्चाशद्रात्र सात, एकषष्टिरात्र, शतरात्र ये रात्रिसत्र हैं।

[2] आदित्यों का अयन, अङ्गिरसों का अयन, दृति और वातवत् का अयन, कौण्डपायिनों का अयन, सर्पसत्र, तापश्चित, महातापश्चित, क्षुल्लकतापश्चित, सहस्रसाव्य, प्रजापतिसत्र, शाक्त्यों का अयन, साध्यों का अयन, विश्वसृजों का अयन, सारस्वतसत्र, दार्षद्वतसत्र एवं तुरायण। इसी प्रकार अन्य सत्रों को भी दूसरे सूत्रों से समझ लेना चाहिए।

फिर कृष्ण मृगचर्म पर दीक्षा आदि होती है। काले मृगचर्म पर बैठकर, मेखला बाँधकर, सिर को उष्णीष से ढक ले। पत्नी के लिए कृष्णमृग-चर्म नहीं होता। मेखला और योक्त्र को एक दूसरे के साथ बाँध दिया जाता है, पत्नी के सिर पर जाली या उष्णीष बाँधा जाता है। खुजलाने के लिए कृष्ण मृग का सींग पहने हुए अधोवस्त्र के किनारे बाँध रखना चाहिये; खुजली होने पर उसी से खुजलाना चाहिये। तब यजमान दण्ड ग्रहण करता है। संध्या को 'यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया' ऐसा प्रतिप्रस्थाता जोर से कहे। क्षत्रिय और वैश्य यजमानों के लिए भी ब्राह्मण ही कहा जाता है। इस अवसर से लेकर अवभृथ तक दन्त-धावन, स्नान, अग्निहोत्र होम, दर्शपूर्णमास इत्यादि, वैश्व-देव के लिए पाक, स्मार्त उपासना, अनुष्ठान, दान (१२. १०.१४ आपश्रौसू०) शूद्र के साथ भाषण, प्रत्युत्थान, अभिवादन एवं जल-प्रवेश नहीं करना चाहिये।

तब प्रवर्ग्य के लिए **महावीर-संभरण** होता है।[१] आगे प्रवर्ग्य नाम का होम बताया जायगा, उसके लिए जो पात्र होता है उसे **महावीर** कहते हैं। उसी का निर्माण इस समय किया जाता है। वह पात्र ओखली के आकार का लगभग एक हाथ ऊँचा, नौ अंगुल के ऊपर बीच में एक विशेष प्रकार की मेखला से युक्त, गर्त के समान, दधि आदि रखने के योग्य होता है। केवल मिट्टी से, चींटी के बिल से उठाई गई मिट्टी से, पूतिकाओं से, बकरी के दूध से, और गवेधुकाओं से मिलाकर महावीर को बनाया जाता है। तब यूपच्छेदन के लिये वन को प्रस्थान किया जाता है, और यूप का निर्माण किया जाता है। सूर्यास्त होने पर व्रत-भक्षण होता है। व्रत शब्द से दूध आदि अभिप्रेत हैं—ब्राह्मण को दुग्धपान, राजन्य को यवागू, वैश्य को आमिक्षा का व्रत-भक्षण करना चाहिये। भक्षण का प्रकार है: पहले दिन व्रत के लिये दूध दुहने के लिए एक गौ को शाला के निकट लाकर उसके एक ही स्तन को दुहना चाहिये। उससे जितना दूध निकले उसके दो भाग करके गार्हपत्य अग्नि में यजमान के लिए और दक्षिणाग्नि में पत्नी के लिये श्रपण करके उन्हें दे दे और वे दोनों उसे पी लें। दूसरे और तीसरे दिनों के मध्याह्न और रात को दो दिन व्रत-प्राशन होता है: उसमें दूसरे दिन दो स्तनों से दुहे गये दूध का व्रत होता है, तीसरे दिन तीन स्तनों से दुहे गये दूध का और चौथे तथा पाँचवें दिन केवल हवि के अवशिष्ट अंश का भक्ष किया जाता है: काश्रौसू० ८. ७. २२। दूध आदि का व्रत नहीं होता। तब पृथ्वी पर दक्षिण से अग्नि की ओर मुँह करके सो जाय। ये कर्म पहले दिन के होते हैं।

दूसरे दिन **प्रायणीया** इष्टि[१] होती है। इसमें पाँच देवता होते हैं:—अदिति, पथ्या स्वस्ति, अग्नि, सोम और सविता। अदिति के लिए चरु एवं शेष देवताओं के लिए आज्य द्रव्य होता है। इष्टि के अन्त में लेपयुक्त चरुस्थाली और मेक्षण को उदयनीय के लिए रख देना चाहिये। तब सोम का क्रय होता है। किसी कौत्सगोत्रीया ब्राह्मण द्वारा या शूद्र द्वारा सोम को मँगाकर उसे खरीदे। सोम का क्रय एक से अधिक द्रव्यों द्वारा होता है: काश्रौसू० ७. ८. १४-१५।

खरीदे गये सोम को अध्वर्यु शकट पर रखकर उसमें दो बैलों को जोतकर उस शकट को शाला में ले आवे और सोम को उदुम्बर की आसन्दी पर रखकर शाला में स्थापित करे। तब आतिथ्य इष्टि होती है: विष्णु इसका देवता होता है और नवकपालपुरोडाश द्रव्य होता है। यह इष्टि खण्ड होती है। इसके बाद से लेकर मदन्ती नाम के तपाये गये जलों से सभी जल के कार्य यजमान दंपति करते हैं। ठंढे जल का स्पर्श नहीं किया जाता। तभी ऋत्विज् और यजमान तानूनप्त नाम के आज्य का स्पर्श करते हैं; यह स्पर्श अवभृथ तक परस्पर सांमनस्य बनाये रखने के लिये शपथ के रूप में होता है।[१] तब प्रवर्ग्य का अनुष्ठान होता है। प्रवर्ग्य का अग्निष्टोम के प्रथम प्रयोग में विकल्प होता है। प्रवर्ग्य नामक कर्म को पत्नी को नहीं देखना चाहिये। इसमें गार्हपत्य और आहवनीय के उत्तर की ओर दो खर, हाथ के बराबर, अङ्गुल के बराबर ऊँचे और दक्षिण की ओर तीसरा उसी के बराबर बालू से बनाकर सम्राडासन्दी और आहवनीय को पूर्व की ओर रखकर वहाँ दो महावीर पात्रों को रखे।

---

१ गरम किए गये घी में दूध डालने से 'धर्म' नामका खाद्यविशेष बनता है। इसी दूध के डालने को प्रवृञ्जन कहते हैं। इस प्रकार का प्रवर्ग्य ही प्रवर्ग्य होता है। धर्म पकाने के लिए मिट्टी का बनाया गया उलूखल के आकार का पात्र महावीर कहलाता है। गौण वृत्ति से धर्म, प्रवर्ग्य, महावीर ये तीनों पद समानार्थ ही समझने चाहियें: शतपथ ब्राह्मण १४. १. १०-११।

१ जिसके द्वारा स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया जाता है वह प्रायणीय है (प्रयन्ति स्वर्गमनया सा प्राय-णीया) इसी इष्टि से सोमयाग आरम्भ होता है: काश्रौसू० ७. ५. १३ आपश्रौसू० ४. २. १८, ४. ३. १। जिस दिन सोम का क्रय किया जाता है उसी दिन प्रायणीया इष्टि की जाती है: तैसं० ६. १. ५. १ शब्रा० ३. २. ३. २, निरुक्त १३. १. ७।

तब मूंज के बनाये इण्डुओं को जला कर उन्हें दोनों खरों में रखकर, उसमें आज्य से भरा महावीर पात्र रखकर होता के मन्त्रों के पढ़ते रहने पर प्रत्येक प्रणव पर स्रुवा से आज्य को डाले। तब रौहिण पुरोडाशों को घुमाया जाता है। उसमें पहले दाहिने पुरोडाश का हवन करके, गौ को दुहकर परीशासों द्वारा महावीर को लाकर, उसमें बकरी का दूध डालकर, दूध के बैठ जाने पर उसमें गौ का दूध डाल दे; इसे **घर्म** कहते हैं। तब उत्तर के रौहिण का हवन करे। इसी प्रकार अपराह्ण में भी प्रवर्ग्य का अनुष्ठान होता है। उसके बाद उपसद् इष्टि होती है: उसमें आज्य द्रव्य होता है; अग्नि, सोम और विष्णु देवता होते हैं। तब स्रुवा द्वारा प्रातःकाल उपसद् होम होता है। इसी प्रकार सायंकाल भी; इस तरह प्रत्येक दिन दो उपसद् हो जाते हैं। दूसरे, तीसरे, और चौथे इन तीनों दिनों में उपसद् किया जाता है, और प्रवर्ग्य भी होता है। सब मिलाकर ज्योतिष्टोम में छः उपसद् होते हैं। इतने काम दूसरे दिन होते हैं।

तीसरे दिन—प्रातःकाल प्रवर्ग्य उपसद् का हवन करके, सौमिकी महावेदि का निर्माण करके, अपराह्ण के दोनों प्रवर्ग्य उपसदों को करे; यह तीसरे दिन का कर्म होता है।

चौथे दिन—अग्नि और सोम के लिए **पशु-याग** होता है। इसी पशु के साथ दौर्ब्राह्मण्य की निवृत्ति के लिये पशु-याग भी उसी तन्त्र से इसी समय करना चाहिए। जिसके पिता और पितामह सोमपीथी न होवें उसे दुर्ब्राह्मण कहते हैं। उस दोष के निवारण के लिये जिसका अनुष्ठान करते हैं, वही दौर्ब्राह्मण्य-निवृत्त्यर्थ पशु-याग है। तब देवता के लिए पशु पुरोडाश और पशु के अन्य अङ्गों का यथावत् अनुष्ठान करके उसकी वपा के मार्जन के अन्त में वसतीवरी के ग्रहण के लिए बाहर जाकर, जहाँ पानी रिसता है, उन वसतीवरी जलों को पात्र में लेना चाहिये। सांझ पड़ने से पहले-पहले सोम निचोड़ने के समय रस को बढ़ाने के लिये जो जल प्रयोग में आता है उसे **'वसतीवरी'** कहते हैं। उसे लेकर जिस मार्ग से उसका लाना बताया गया है उसी मार्ग से उसे लाकर अग्नीध्र के लिए रख देना चाहिये। इतने कर्म चौथे दिन किये जाते हैं।

पाँचवे दिन के कर्म—इसी दिन को **सुत्या-दिवस** कहते हैं।[1] इसी दिन सोमाभिषव, ग्रह-ग्रहण और उसके होम आदि का अनुष्ठान होता है। यही प्रधान दिन होता है। चौथे दिन के बाद की रात को ही सौत्यकर्म करने के लिये यजमान के आदमियों को चाहिये कि वे ऋत्विजों को जगा देवें। ऋत्विज् उठकर, स्नान करके, आज्यासादनान्त करके, सोम को दो भागों में बाँटकर, उसे ग्रावों पर डालें।

तब **प्रातरनुवाक**[1] के शस्त्र का होता पाठ करे। यह पक्षियों की चहचहाहट के सुनाई पड़ने से पहले ही आरम्भ कर देना चाहिये। उसी समय जागते ही अध्वर्यु होता के समीप आ बैठे। तब प्रातःसवन के पुरोडाशों का अग्नीत् के लिये निर्वाप होता है। इसमें पाँच हवियाँ होती हैं, और पाँच देवता होते हैं: इन्द्र के लिये एकादश-कपाल, हरिवत् इन्द्र के लिए धानाः, पूषवत् इन्द्र के लिए करम्भ, सरस्वतिमत् इन्द्र के लिए दधि, और मित्रवरुणवत् इन्द्र के लिये पयस्या। इस प्रकार पुरोडाश आदि निर्वापों का तथा पयस्या का, प्रातरनुवाक शस्त्र के समय ही अग्नीत् संपादन करे, फिर उन्नेता इन्द्र और वायु इत्यादि के लिये अभिप्रेत पात्रों को रखे। इस प्रकार कहे-अनुसार पात्रों के रखे जाने पर चार ऋत्विज् सोम को पीसने के लिये दो अभिषणव-फलकों के चारों ओर बैठें। वहाँ बैठने वाले अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, यजमान और ब्रह्मा होते हैं; उत्तर में अध्वर्यु, यजमान, दक्षिण में ब्रह्मा, प्रतिप्रस्थाता, उन्नेता और नेष्टा बैठते हैं।

तब अध्वर्यु अधिषवण-फलक पर उपांशुसवन नामक (बीच में रखे हुए) पाषाण को रखकर उसके ऊपर सोम को नापे। उसमें प्रातःसवन के लिये पर्याप्त आधे से अधिक सोम को नाप लेना चाहिये। यह **अभिषव** दो प्रकार का होता है: क्षुल्लकाभिषव और महाभिषव। पहले महाभिषव होता है, फिर क्षुल्लकाभिषव। क्षुल्लकाभिषव के लिये पहले नापे हुए सोम में से थोड़े टुकड़े लेकर होता के चमस में रखे हुए निग्राभ्या नामक जल में से थोड़ा लेकर उसे दूसरे पात्र में अलग करके यत्नपूर्वक रख ले।

महाभिषव—इसे अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता करते हैं। वे नापे गये सोम को चार भागों में बाँटकर उपस पर चोट मारते हैं। यह मारना अपरिमित है। इस प्रकार जब तक रस निकल आवे तब तक निग्राभ्या नामक जल के उसपर छींटे मारते रहें; और तब रस को निकाल लें—यही महाभिषव कहाता है।

क्षुल्लकाभिषव—इसे **उपांश्वभिषव** भी कहते हैं। इसमें केवल एक अध्वर्यु कर्ता होता है। इसमें पहले निकाली गई

[1] जिस क्रिया में सोम का अभिषव होता है उसे सुत्या कहते हैं।

[1] रात में सोते हुए पक्षी उषःकाल उठकर बोलते हैं, उनके बोलने के पहले ही प्रातःकाल में होता द्वारा पढ़े जाने वाले ऋक्समूह को प्रातरनुवाक कहते हैं: काश्रौसू० ९. १. १०, आश्वश्रौसू० ४. १३१–६, तैसं० ६. ४. ३. १, शब्रा० ४. १२. ३. १४–१५, ऐब्रा० २. २. ५।

बूंदों को और दूसरे पात्र में रखी हुई निग्राम्या को होता के चमस में रखकर सोम के ऊपर सेचन करके आठ बार चोट मारी जाती है। अभिषव के अन्तमें प्रतिप्रस्थाता उपांशुग्रह पात्र को अपने हाथ में ले ले[१]। अध्वर्यु मुष्टि से निकाले गये सोम को दबाकर उपांशुग्रह को पकड़े। पकड़ने के समय पहले ली गई बूंदों के बीच से दो-दो बूंद ग्रह के ऊपर छोड़े। पुनः पहले की तरह करे, इस प्रकार तीन बार अभिषव किया जाता है। इसमें ग्यारह बार प्रहार करके पहले की तरह प्रतिप्रस्थाता द्वारा पात्र को हाथ में लेने पर अध्वर्यु उसके द्वारा दो अंशुओं के उसके ऊपर धारण करने पर उसको ले लेवे। इसी प्रकार तीसरी बार भी बारह बार प्रहार करके पहले की तरह ग्रहण करे। अंगुलियों के बीच में रखे हुए छः अंशुओं को सोम में डाल देवे। तब प्रतिप्रस्थाता के हाथ से ग्रह लेकर अध्वर्यु दशापवित्र से पोंछ कर, उसे पृथ्वी पर रखे बिना, हाथ में ग्रह लिये हुए ही, हविर्धान से निकल कर उपांशुग्रह को शेष छोड़ते हुए, हवन करे। हवन करके अंशुपात्र को रख दे, उसके निकट उपांशुसवन को भी रखे : यह शुष्काभिषव है।

इसी समय ऋत्विजों तथा यजमान का संध्यावन्दन होता है। तब सूर्योदय के बाद अन्तर्याम नामक ग्रह का ग्रहण, होम तथा आसादन उपांशुग्रह के समान ही होता है। तब धाराग्रहों का ग्रहण होता है। वे छः होते हैं : इनमें पहला ऐन्द्रवायव होता है। ग्रहण दो बार किया जाता है। पहले वायु के लिए ग्रहण करके, धारा से विच्छेद करके, पुनः वही इन्द्र और वायु के लिए ग्रहण होता है। इस प्रकार ग्रहण करके खर में रख देवे। तब मैत्रावरुण नामक ग्रह का ग्रहण होता है; तदुपरान्त शुक्र का और उसके बाद मन्थिन् का ग्रहण होता है। उसके बाद आग्रयण का दो धाराओं से ग्रहण होता है। आग्रयण-स्थाली में ग्रहण के समय जो सोम होता है, उसकी एक धारा होता के चमस में और एक धारा सोम में होती है। इस प्रकार दो धाराओं से ग्रहण होता है। उसके बाद उक्थ्य का ग्रहण होता है, तब ध्रुवग्रहण; और तदुपरान्त वैश्वानर–ग्रह का विकल्प से ग्रहण होता है।

इस प्रकार ग्रहों के ग्रहण करने पर, और उनके अपने-अपने स्थान पर रख दिये जाने पर, अध्वर्यु आदि परस्पर कटि देश में समन्वारब्ध, झुक कर हविर्धान से निकलते हैं। फिर वे ही छः विप्रुड् होम करके बहिष्पवमान स्तोत्र के लिये चात्वाल देश की ओर प्रस्थान करें और वहाँ जाकर बैठ जावें।

बैठने का ढंग यह है :—उत्तर की ओर मुख करके प्रस्तोता, दक्षिण की ओर मुख करके प्रतिहर्ता और पश्चिम की ओर मुख करके अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता बैठें। उनके इस प्रकार बैठ जाने पर पवमान स्तोत्र आरम्भ करने के लिए अध्वर्यु प्रस्तोता नामक ऋत्विज् को तृण या कुश की मुष्टि देवे। वे स्तोत्र पढ़ें। इस स्तोत्र को "उपास्मै गायता नरः" इत्यादि नौ ऋचाओं से बनाना चाहिए। नौ ऋचाओं का बिना आवृत्ति किये ही पाठ होता है; दूसरे स्तोत्रों की तरह आवृत्ति करके गान नहीं किया जाता। गान में प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता तीनों का संबन्ध होता है। ऐसा ही सबमें समझना चाहिए। उनके स्तोत्र करते रहने पर उन्नेता आधवनीय में रखे हुए सोम को छिड़के। स्तोत्र के अन्त में सवन की जाने वाली हवि को अलंकृत करने के लिये अथवा सवन किये जाने वाले पशु के लिए अध्वर्यु अग्नीत् और प्रतिप्रस्थाता को भेजता है। तब अग्नीध्र आग्नीध्रीय से अंगारों को निकालकर धिष्ण्यों पर रखे। इसके बाद आश्विनग्रह होता है; तदनन्तर ग्रहों का अवेक्षण होता है।

[१] ज्योतिष्टोम में उपांशु, अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव, ऋतुग्रह, ऐन्द्राग्न, और वैश्वदेव ये प्रातः सवन के तेरह ग्रह होते हैं। माध्यंदिन सवन में—शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य, तीन मरूत्वतीय, माहेन्द्र और दधिग्रह ये नौ ग्रह होते हैं। तृतीयसवन में—आदित्य, सावित्र, वैश्वदेव, पात्नीवत, हारियोजन ये पाँच ग्रह होते हैं। जिसमें ग्रहण किया जाता है (यत्र गृह्यते इति) इस व्युत्पत्ति से सोमरस को, और जिसमें ग्रहण किया जाता है (गृह्यतेऽस्मिन् इति) इस व्युत्पत्ति से सोम रखे जाने वाले पात्र को ग्रह कहते हैं। इनमें उपांशु अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थी, उक्थ्य, आदित्य ये नौ ही ग्रह उलूखल हैं। आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव, आदित्य ये चार मिट्टी की बनी हुई स्थालियां स्थालीग्रह हैं। ऋतुग्रह दो ही हैं, बारह नहीं; बारह बार इनका ग्रहण होने से द्वादश ग्रह कहा जाता है। ऐन्द्राग्न-वैश्वदेव-मरुत्वतीय-माहेन्द्र ग्रहों का ऋतुपात्र से ही ग्रहण होता है। दधिग्रह का अग्निहोत्र-हवणी से ग्रहण होता है। सावित्र, वैश्वदेव, पात्नीवत ग्रहों का उपांशु और अन्तर्याम में से किसी एक के द्वारा, हारियोजन का द्रोणकलश से ग्रहण और होम होता है। अतः नौ उलूखल, चार स्थाली, दो स्रुक् के मुख की आकृति वाले, दोनों ओर मुख वाले ऋतुग्रह, ये सब मिलकर पन्द्रह पात्र हो जाते हैं।

सवनीय पशु—इसमें दो पक्ष हैं : **स्तोमायन** और **पश्वेकादशिनी**। चार सोमसंस्थाएं होती हैं यह पहले कहा जा चुका है। उनमें अग्निष्टोम संस्था में अग्नि के लिए सवनीय एक ही पशु होता है। उक्थ्यसंस्था में अग्नि के लिये और इन्द्र तथा अग्नि के लिए दो पशु होते हैं। षोडशी में पूर्वोक्त दो पशुओं के साथ इन्द्र के लिए वृष्णि तीसरा पशु होता है। अतिरात्र संस्था में सरस्वती के लिए मेषी चौथा पशु होता है। इन्हीं पशुओं को कात्यायन ने **स्तोमायन** कहा है। इसके साथ पश्वेकादशिनी का विकल्प होता है। पश्वेकादशिनी में अग्नि, सरस्वती, सोमा, पूषा, बृहस्पति, विश्वदेव, इन्द्र और वरुण के लिए ये ग्यारह पशु होते हैं। इनके बांधने के लिए एक यूप या यूपैकादशिनी होती है। एक यूप होने पर उस यूप में अग्नि के लिए पशु को बाँधकर उसके गले में दूसरे को, फिर उसके गले में तीसरे पशुको बाँधकर इस प्रकार सबका गलबन्धन कर देना चाहिये। यूपैकादशिनी होने पर अलग-अलग यूप में एक-एक पशु को बाँधना चाहिये। ग्यारह यूपों को गाड़ने के लिए वेदि भी बढ़ा देनी चाहिये।

इस प्रकार सवनीय पशु का वपामार्जनपर्यन्त कर चुकने पर धिष्ण्य आदि का उपस्थान किया जाता है। इसी को **सपर्ण** कहते हैं उसके पहले श्रपण किये गये पुरोडाश आदि प्रातःसवनीय हवियों का प्रचार होता है। उसके बाद ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन इन तीन द्विदेवत्य ग्रहों का प्रचार होता है। इन तीनों के हवन कर चुकने पर उन्नेता नौ चमसों को उठावे[१]। तब शुक्र एवं मन्थि-ग्रहों का प्रचार होता है। शुक्र ग्रह का अध्वर्यु एवं मन्थि ग्रह का प्रतिप्रस्थाता हवन करता है। वे दोनों उस-उस ग्रह को एक हाथ से लेकर, यूप के निकट जाकर, खड़े हुए अपनी अरत्नी का संधान करें। तब होम के लिए उन दोनों के प्रवृत्त हो जाने पर अध्वर्यु नौ चमसों को लेकर उन दोनों के साथ हवन करते हैं; तब वे प्राङमुख बैठे रहते हैं। इसी प्रकार शुक्र और मन्थि-ग्रहों में भी चमसों का एक साथ हवन होता है। उसमें ब्रह्मा, होता, उद्गाता, यजमान के चमसों का वषट्कार में होम होता है। बचे हुओं के चमसों में पहले वषट्कार का होम होता है। वे पाँचों चमसाध्वर्यु अपने हाथ में रखे हुए चमसों को पहले वषट्कार में एक बार हवन करके पुनः उन्नयन के लिये द्रोण-कलश के निकट चमसों को रख देवें। फिर प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अग्नीत् के पाँचों चमसों का अध्वर्यु ही हवन करे।

द्विदेवत्य भक्ष—कात्यायन के अनुयायियों का पहला भक्ष होम करने वाले का, तब वषट् करने वाले का रहता है। इस कारण अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता का सर्वत्र होम एवं अभिषव करने के कारण एक साथ भक्ष होता है। तब वषट्कर्ता भक्षण करता है। तब समाख्या के लिये भक्ष होता है। उद्गाता के चमस में तो उद्गाता के लिये ही भक्ष होता है, दूसरे के लिये नहीं। सभी जगह जिस-जिस ऋत्विज् आदि का जिस-जिस चमस या ग्रह से संबन्ध होता है, उसकी उपहव नाम की अनुज्ञा लेकर ही उस-उस ग्रह-चमसादि का भक्षण किया जाता है। भक्षण का प्रकार यह है—इन्द्र और वायु के लिये होता द्वारा समर्पित भक्ष को अध्वर्यु लेकर एक बार शेष छोड़ते हुए, थोड़ा खाकर, जल छूकर, होता के चमस में बचे हुए ग्रह को रखकर, ग्रह को होता को दे देवे। होता उस ग्रह को लेकर अध्वर्यु को बुलाकर भक्षण करे। पुनः अध्वर्यु का एक बार भक्षण होता है। इसी प्रकार मैत्रावरुण और आश्विन ग्रहों को भी अध्वर्यु और होता भक्षण कर लेते हैं। यहीं पर पुरोडाश आदि के हवि के शिष्ट अंश का भक्षण होता है।

चमस-भक्ष—तब होता के चमस में, जिसमें शुक्र-मन्थिग्रह का शेष रखा हुआ है, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता, होमाभिषव के लिए एक बार भक्षण करते हैं। होता तो वषट्कार के लिये दो भक्षण करता है। इसी प्रकार ब्रह्मा और यजमान के चमसों का भी। प्रशास्ता आदि का पाँच चमसों में तो प्रशास्ता आदि के लिये वषट्कार कर्ता होने के कारण और अनुवषट्कार में उनका होम न होने से उनका भक्षण एक बार ही होता है।

भक्षण का प्रकार यह है : अध्वर्यु होता के चमस का, होता और प्रतिप्रस्थाता को बुलाकर पहले भक्षण करे। तब प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु और होता को बुलाकर उसी का एक बार भक्षण करे। फिर होता, अध्वर्यु और प्रति-प्रस्थाता को बुलाकर उसी का दो बार भक्षण करे। तदुपरान्त होता ब्रह्मा के चमस में, ब्रह्माका स्पर्श करके दो बार भक्षण करे और ब्रह्मा होता को बुलाकर उसी चमस का दो बार भक्षण करे। इसी प्रकार यजमान, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, होता, नेष्टा, अग्नीत् के चमसों का, उस-उस चमस वाले को बुलाकर भक्षण करे। यहाँ यजमान-चमस में दो बार भक्षण होता है, दूसरों में एक-एक बार। चमस वाले तो अपने-अपने चमस को होता और अध्वर्यु

[१] होतृचमस, पोतृचमस, नेष्टृचमस, ब्रह्मचमस, ब्रह्मणाच्छंसिचमस, आग्नीध्रचमस, मैत्रावरुणचमस, अच्छावाकचमस, यजमानचमस ये नौ हैं; उद्गाता प्रतिहर्ता और प्रस्तोता का एक, ये दस चमस हुए। इनमें अच्छावाकचमस का उन्नयन आगे होगा।

को बुलाकर एक-एक बार भक्षण करते हैं। सभी जगह कुछ शेष छोड़ कर भक्षण किया जाता है। अन्त में फिर होता, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता को बुलाकर, समाख्या के लिए एक बार भक्षण करता है। इसी भक्ष को **महाभक्ष** कहते हैं।

जिन-जिन चमसों में पुनः उन्नयन किया गया रहता है, उन-उनमें उस-उस निमित्त के लिए भक्षण करना चाहिये। इसी को 'पुनरभ्युन्नीतभक्ष' कहते हैं। इसमें अध्वर्यु पाँचों चमसों में होताओं को और उस-उस चमस वाले को बुला कर एक बार भक्षण करता है। उस-उस चमसवाले, होता और अध्वर्यु को बुलाकर दो वषट्कारों के लिए दो भक्षण करते हैं। इसी भक्षण से समाख्या नामक भक्षण भी प्रसंगात् सिद्ध हो जाता है। यहाँ भी पहले की तरह भक्षण सशेष होता है। भक्षण के अनन्तर चमसों को फिर से भरकर उन्हें दक्षिण हविर्धान के नीचे रख दिया जाता है; इन्हीं का नाम **'नाराशंस'** है। सभी जगह भक्षण के अनन्तर सभी भक्षण करने वाले मन्त्र से गात्र का आलम्भन करें। तब अच्छावाक के चमस का उन्नयन, होम, उपह्वान, भक्षण इत्यादि सभी पहले की तरह किये जाते हैं। इसके बाद **ऋतु-ग्रह** आते हैं।

ऋतु देवताओं वाले ग्रहों को **ऋतु-ग्रह** कहते हैं। इनमें वसन्त आदि छः ऋतुएँ और उस-उस ऋतु के अन्तर्गत चैत्र आदि महीने देवता होते हैं। फलतः यद्यपि दो ही पात्र होते हैं, उनमें से एक अध्वर्यु के हाथ में और दूसरा प्रतिप्रस्थाता के हाथ में, फिर भी अध्वर्यु द्वारा छः बार और प्रतिप्रस्थाता द्वारा छः बार इस प्रकार बारह बार ग्रहण किये जाने से **द्वादश-ग्रह** नाम पड़ जाता है। यहाँ तेरहवाँ **ऋतु-ग्रह** भी विकल्प से किया जाता है। उसमें पहले के दोनों ग्रह एक साथ ग्रहण किये जाते हैं; और इसी प्रकार अन्तिम दोनों ग्रह भी। बीच में जो आठ ग्रह रह जाते हैं, उन्हें व्यत्यास से लिया जाता है अर्थात् जब अध्वर्यु ग्रहण करके हवन करता है तब प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करे। जब प्रतिप्रस्थाता अपना लेकर होम करने लगता है, तभी अध्वर्यु ग्रह को ग्रहण करता है। जब अध्वर्यु अपने ग्रह को लेकर मण्डप से बाहर जाता ह, तब अध्वर्यु हवन करके भीतर आता ह। जब प्रतिप्रस्थाता ग्रह को लेकर मण्डप से बाहर जाता ह तब अध्वर्यु भीतर आता है। इन दोनों का मिलन द्वार पर होता है। यहाँ द्वादश ग्रह बिना शेष छोड़े हवन किये जाते हैं; दूसरे दो ग्रहों का शेष छोड़कर हवन होता है, यह एक पक्ष है। सभी ग्रहों का शेष छोड़कर हवन होता है, यह दूसरा पक्ष है। उनका हवन हो जाने पर दोनों पात्रों में से एक में शेष भागों को रखकर रिक्त पात्र में प्रतिप्रस्थाता ऐन्द्राग्न ग्रह का ग्रहण करता है। ग्रहण करके, बैठकर, ऋतुग्रह के भक्षण के लिये पात्र ग्रहण करके अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों सदस् में बैठते हैं। दश ग्रहों के संपूर्ण हवन कर देने वाले पक्ष में अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और होता क्रमशः अपने आप को छोड़कर अन्य दोनों को बुलाकर एक-एक बार भक्षण करते हैं। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता शेष छोड़कर भक्षण करें। होता सर्व-भक्षण करता है।

तब पहले ग्रहण किये गये इन्द्र और अग्नि के चमस का, पहले प्राप्त किये गये नाराशंसचमसों के साथ भक्षान्त कर्म कर लेने पर वैश्वदेव ग्रह को ग्रहण करके, अग्नीध्र द्वारा सवनीय हवियों के निरुप्त हो जाने पर, वैश्वदेव स्तोत्र पढ़ा जाता है। उनके स्तोत्र और शस्त्रों के समाप्त हो जाने पर चमस को कंपाने के साथ वैश्वदेव ग्रह के हवन हो जाने पर, उसके साथ चमसों का सर्व भक्षण करे। ग्रहों के एवं दश चमसों के भक्षण हो चुकने पर उन्हें धोकर अपने-अपने स्थान पर रख दे। तब उक्थ्य को तीन भागों में बाँटकर ग्रहण करे। इनमें एक भाग प्रशास्ता का, दूसरा ब्राह्मणच्छंसिन् का, और तीसरा अच्छावाक का होता है। उस-उस उक्थ्य को लेकर, बैठकर, उस-उससे संबद्ध शस्त्रों के समय, दसों चमसों को अपने-अपने स्थान पर रखे हुओं को ही उठावे।

उन उक्थ्य चमसों के हुत हो जाने पर उस-उस ग्रह एवं चमस-संबद्ध सबको बुलाकर उस-उसके लिए पहले की तरह ही बिना शेष छोड़े एक बार, दो बार इत्यादि उस-उसके भाग के अनुसार भक्षण करें। इस प्रकार ग्रह-चमसों का अनुष्ठान हो चुकने पर 'प्रशास्तः प्रसुहि' अध्वर्यु के ऐसा कह देने पर सभा के बीच से निकल जांय। इतना करके प्रातः सवन के कर्म समाप्त होते हैं।

माध्यंदिन सवन—इसके प्रारम्भ में लोकद्वारि साम का गान हो जाने पर यजमान-सहित ऋत्विज् प्रातः सवन के समान समर्पण करें। तब अध्वर्यु और यजमान के सभा का अभिमर्शन इत्यादि कर लेने पर माध्यंदिन सवन के लिये प्रातःसवन के समान ही सोम को पीसते हैं। सोम पिस जाने के बाद अध्वर्यु ग्रहों को लेवे। उसमें शुक्र, मन्थ, आग्रयण, मरुत्वतीय और उक्थ्य इन पाँच का पहले ग्रहण होता है। तब होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रस्तोता और सुन्वन्त् प्रातःसवन के समान ही सब कुछ करके, सबके सभा में बैठ जाने पर अध्वर्यु माध्यंदिन पवमान का उपक्रम करे। तब यदि सोम प्रवर्ग्य-सहित हो तब दधि-घर्म-भक्षण पर्यन्त कर्म कर लेने के अनन्तर, सवनीय-पशु- पुरोडाश का तन्त्र करे। उसमें

भी, कहे गये ढंग से, अध्वर्यु, होता ब्रह्मा, अग्नीध्र, यजमान और मैत्रावरुण इन छः द्वारा पशु-पुरोडाश-इडा का भक्षण कर चुकने पर सवनीय हवियों का निर्वपणादि अग्नीध्र को प्रातःसवन के समान ही, पयस्या को छोड़कर करना चाहिये। तदुपरान्त सभी हवियों का प्रातः सवन के समान ही होमान्त कर्म किया जाता है। तब इडा को लेकर, होता को शुक्र और मन्थि ग्रहों का होमादि भक्षणान्त कर्म चमस-सहित करना चाहिये। उसमें सब कुछ प्रातःसवन के समान ही होता है। शेष छोड़ कर भक्षण किये चमसों को प्रातः सवन के समान ही अपने-अपने स्थान पर रखकर सवनीय हवियों का ऋत्विज् भक्षण करें। तब ऋत्विजों को देने के लिए विहित दक्षिणा का दान होता है। उसके विभाजन का प्रकार पहले बताया जा चुका है। उसके अतिरिक्त सूत्र में में कहे गये वस्त्र आदि भी देने चाहियें। तब मरुत्वतीय-ग्रह को लेकर, कहे-अनुसार हवन करके भक्षण किये बिना, प्रतिप्रस्थाता के हाथ में पात्र देकर, पुनः ऋतुपात्र द्वारा महामरुत्वतीय ग्रह को लेकर, बैठकर, पहले हवन किये गये मरुत्वतीय का अध्वर्यु और होता भक्षण करें। तब होता द्वारा मरुत्वतीयशस्त्र का प्रारम्भ किये जाने पर, उसके सामने बैठा हुआ अध्वर्यु प्रतिगर करे। शस्त्र के अन्त में प्रतिप्रस्थाता तीसरे कुण्ठमरुत्वतीय ग्रह को ग्रहण करके अध्वर्यु के साथ होम के स्थान को जावे, और जब वह महामरुत्वतीय होम को करता हो तब, उसके बाद, कुण्ठ-मरुत्वतीय का हवन करे। तब सबका भक्षण होता है। कुण्ठमरुत्वतीय में प्रतिप्रस्थाता का ही भक्षण होता है। तब नाराशंसचमस का भक्षण होता है। फिर माहेन्द्र ग्रह को लेकर, बैठकर, पृष्ठस्तोत्र का उपकरण होता है। तब पहले पीस कर निचोड़े गये सोम का सवन होता है। यह सोम के सूखा होने से, एवं निग्राभ्या जल के उसपर न छिड़के जाने से शुष्काभिषव कहाता है। इस प्रकार अभिषवण करके उद्गाता आदि द्वारा पृष्ठ की स्तुति किये जाने के समय, आधवनीय कलश में अभिषुत शुष्क सोम को रख दे। तब तृतीय सवन की हवियों का अग्नीत् निर्वाप करता है। इसमें वरुण के लिए एककपाल तथा सोम के लिए चरु ये दो अधिक होते हैं। अन्य सभी कुछ प्रातःसवन के समान होता है। पृष्ठ और स्तोत्र के समाप्त हो जाने पर, होता के उसी शस्त्र के शंसन कर लेने पर, पहले प्राप्त किये गये माहेन्द्र ग्रह को लेकर, हवन करके, तब नाराशंस चमसों के साथ भक्षण होता है। ग्रह में अध्वर्यु का एक बार सशेष भक्षण होता है; होता का दो बार बिना शेष छोड़े भक्षण होता है। तब चमसियों का चमस-भक्षण होता है।

भक्षण करके, ग्रहों एवं चमसों को धोकर रख देने पर, प्रातःसवन के समान ही उक्थ्य ग्रहों का प्रचार होता है। तब प्रशास्ता द्वारा प्रसुत सारे ऋत्विज् सभा से बाहर निकल जाते हैं। यह **प्रसूतान्त** माध्यंदिन सवन का कर्म है।

तृतीय सवन—इसमें पहले आदित्यग्रह होता है। उसे लेकर, आदित्यस्थाली से उसे ढककर, होमस्थान पर जाकर, उस स्थाली को सशेष हवन करके, शेष प्रतिप्रस्थाता को दे देवे। तब यजमान को लोकद्वारिसाम का गान करना चाहिये। इसमें सवनादिभूत सर्पण एवं सभा का अभिमर्शन पहले की तरह करना चाहिये। तब आग्रयण का एवं उक्थ्य का ग्रहण होता है। तब आर्भवपवमान के उपा-करण के लिये सभा से निकल जाँय। आर्भवपवमान कर लेने पर सवनीय हवियों एवं पशु के अङ्गों का प्रचार होता है। तब चमसों का उन्नयनादि भक्षणार्थ कर्म होता है। तब ऋत्विज् लोग पिण्डपितृयज्ञ की तरह यजमान के पितरों को पिण्ड देवें। तब सावित्र-ग्रह का ग्रहण होता है। बाद में अध्वर्यु सशेष एक बार, होता दो बार, और चमस वाले सर्व भक्षण करें।

तव **सौम्यचरु** का अनुष्ठान होता है। तब प्रतिप्रस्थाता पात्नीवत ग्रह का अनुष्ठान करता है। तब अग्निष्टोम नामक यज्ञायज्ञिय स्तोत्र का आरम्भ होता है। उसके बाद पत्नीसंयाजादि पाशुक कर्म होते हैं। तृतीय सवन इतना ही है।

अवभृथ—इसमें सोमलिप्त पात्रों को, जहाँ अवभृथेष्टि करनी होती है, वहाँ जाकर जल में डाल दिया जाता है। यात्रा के आरम्भ में, मध्यमार्ग में, एवं जल पर पहुँच जाने पर सामगान किया जाता है। तब यजमान सहित ऋत्विज् स्नान करके देवयजन पर पहुँच कर उदयनीय इष्टि को करते हैं। तब मित्रावरुण देवता वाला पशुयाग किया जाता है। उसके बाद उदवसानीय इष्टि होती है। बाद में सायं-काल अग्निहोत्रादि नित्यकर्म किये जाते हैं, और सहस्र ब्राह्मणों को जिमाने का संकल्प भरा जाता है।

द्वादशाह-यज्ञ—द्वादशाह[1] दो प्रकार का है: **सत्र-रूप** और **अहीन रूप**[2]। सत्रात्मक को केवल ब्राह्मण ही

[1] सत्र या अहीन में अह, और रात्रि शब्द आया है; यह अहोरात्र (दिनरात) समुदायवाचक है। इससे द्वादशरात्र और द्वादशाह दोनों समानार्थक हैं।

[2] ब्राह्मण द्वारा किया जाने वाला, बिना दक्षिणा का, दोनों ओर अतिरात्र संस्थावाला, सोमयाग सत्र कहलाता है। तीन वर्णों के अधिकार वाला,

करता है। उसमें भी आहिताग्नि एवं अनुष्ठिताग्निष्टोम-संस्थ सत्रह से चौबीस तक व्यक्ति अधिकारी होते हैं। इसमें सब यजमान ही होते हैं; और सबको सत्र का फल मिलता है; फलतः इसमें दक्षिणा नहीं होती। सबके यजमान होने पर भी सप्तदशपक्ष में एक गृहपति होता है, दूसरे ब्रह्मा आदि का कार्य करते हैं। गृहपति यजमान का कार्य करता है। चतुर्विंशतिपक्ष में सोलह व्यक्ति ऋत्विजों का कार्य करते हैं, शेष गृहपति का कार्य करते हैं। सभी सत्र में प्रयुक्त होने वाले अपने-अपने द्रव्य के समान भाग को एक जगह निकालकर यज्ञ करते हैं[१]। दीक्षा आदि यजमान के कर्म सभी के होते हैं।

अहीन नामक **द्वादशाह** में एक, दो, या बहुत से यजमान रहते हैं। इसमें अग्निष्टोम के समान अध्वर्यु आदि ऋत्विज् ही कार्य करते हैं। अतएव इनकी दक्षिणा होती है। दक्षिणा एक हजार और इससे भी अधिक गौओं की होती है। फल यजमानों को ही मिलता है।

गवामयन सत्र—गौओं द्वारा अनुष्ठित होने से गवामयन होता है: तैसं० ७. ४. ८; ऐब्रा० ४. ३. ३; तांब्रा० ४. ११। इसका आरम्भ माघकृष्णा अष्टमी, माघ शुक्ला एकादशी, फाल्गुन की पौर्णमासी, अथवा चैत्र की पौर्णमासी को होता है। आरम्भ के दिन से लेकर बारह दीक्षा और बारह उपसद् के होते हैं। इस प्रकार चौबीस दिन होते हैं। आरम्भ के दिन ही इष्टका पशु एवं उखा का संभरण होता है। तब अन्तिम उपसद् के दिन अग्नि और सोम के लिए पशु का अनुष्ठान करके उसी दिन सुत्या का आरम्भ करना चाहिये। इसमें सुत्या तीन सौ इकसठ दिनों की होती है: तांब्रा० १२. ३. ३. ११। महाव्रत में अतिग्राह्य नाम के तीन ग्रहों का ग्रहण होता है। इसमें मार्जालीय के दक्षिण की ओर वेदि से बाहर, घेरे के बीच अनियत जाति के स्त्री और पुरुर मैथुन करते हैं। तीन अनूबन्ध्या होती हैं। सपत्नीक यजमानों का शिखा-सहित वपन होता है। तब अग्नियों को बाँटकर सभी दीक्षित पृथक्-पृथक् पृष्ठशमनीय नामक अग्निष्टोम को करते हैं। शेष द्वादशाह के समान होता हैं।

इसमें अस्सी के बाद सुत्या होती हैं, यह पूर्वपक्ष है। इसी प्रकार उत्तर पक्ष होता है: ऐब्रा० १. २. ३. १–३। दोनों पक्षों के मध्य में विषुवान् नाम का दिन होता है। इस प्रकार एक संवत्सर में साध्य होने से संवत्सर-रात्र भी इसका नाम है। इस प्रकार दीक्षा और उपसद् के चौबीस दिनों के साथ तीन सौ पच्चासी दिन में यह सत्र किया जाता है। प्रतिदिन तीन सवन, ग्रह चमस आदि, एवं स्तोत्रशस्त्र आदि यथा-प्रकृति चलते हैं। जो विशेष बातें होती हैं, उनका निरूपण किया जा रहा है: इसमें दिनों का क्रम इस प्रकार होता है: अग्नि और सोम के पशु अनुष्ठान के अनन्तर प्रायणीय यह पहला दिन अतिरात्र-संस्थावाला होता है: तांब्रा० ४.१.४। तब चतुर्विंश अग्निटोमसंस्थ अथवा उक्थ्यसंस्थ दूसरा दिन होता है। उस दिन जितने स्तोत्र होते हैं, उन सभी में चतुर्विंश स्तोम होते हैं; अतः इस दिन को चतुर्विंश कहते हैं: ऐब्रा० ४. २. ६। ये दो दिन पहले महीने में नहीं गिने जाते, किंतु छठे महीने में गिने जाते हैं। अनुष्ठान का क्रम यही है। तब चार अभिप्लव षडह होते हैं[१]। तब त्रिवृत् आदि छः स्तोमों से साध्य एक पृष्ठ्य षडह होता है[२]। इस प्रकार पाँच षडहों से एक तीस दिन का सवन का मास होता है। इसी प्रकार उन्हीं षडहों की आवृत्ति से दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवा मास बन जाता है। छठे महीने में पहले तीन अभिप्लव षडह होते हैं, एक पृष्ठ्य षडह होता है। सब मिलाकर चौबीस दिन होते हैं। तब अभिजित्-नामक अग्निष्टोमसंस्थ का दिन होता है। तब स्वरसाम-नामक तीन दिन होते हैं[३]; वे अग्निष्टोम-संस्थ अथवा उक्थ्यसंस्थ होते हैं; इस प्रकार अट्ठाइस दिन बनते हैं। पहले के दो दिनों को मिलाकर तीस दिन का एक मास बनता है। ये छः महीने पूर्वपक्ष होता है। तब विषुवान् नाम का अग्निष्टोमसंस्थ दिन होता है। यह **गवामयन** का मध्य है। इस दिन की न तो मास में और न संवत्सर में ही गणना होती है। उसके बाद उत्तरपक्ष का आरम्भ होता है। उसमें जिस क्रम से पहले पक्ष में दिनों का विभाजन था, उसके विपरीत ढंग से उत्तरपक्ष में होता है। प्रकार यह है—पहले प्रतिलोम तीन स्वरसाम, तब विश्वजित्-नामक अग्निष्टोम, तब प्रतिलोम

दक्षिणासहित, अन्त में अतिरात्रसंस्थावाला, एक, दो, तीन, चार यजमानों द्वारा किया जाने वाला सोमयाग अहीन कहलाता है।

१ इसमें पात्र साधारण बनाने चाहियें।

१ पहला अग्निष्टोम, तब चार उक्थ्य, पुनः छठा अग्निष्टोम, इस प्रकार से छः दिनों के समूह का अभिप्लव नाम है: तैसं० पर सायण ७.४.११.१७; ऐब्रा० ४. ३१।

२ त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश ये छः स्तोम पहले दिन से लेकर छः दिनों में क्रमशः किये जाने चाहियें।

३ "यज्ञायज्ञा" (४. ८. १) की योनि में उत्पन्न स्वर नाम के चार साम जिसमें होते हैं, उसे स्वरसाम कहते हैं।

करके त्रयस्त्रिंशदारम्भण पृष्ठ्य षडह[४], तब तीन अभिप्लव षडह, सब मिलकर अट्ठाइस दिन बनते हैं। सत्र के अन्त के दो दिनों में किये जाने वाले महाव्रत और उदयनीय की गणना इस मास में होती है: सब मिलाकर एक मास हुआ। दूसरे महीने में प्रतिलोम रूप से पहला त्रयस्त्रिंशदारम्भण एक पृष्ठ्य षडह। तब चार अभिप्लव षडह। सब मिलाकर दूसरा मास होता है। इसी प्रकार तीसरा, चौथा और पाँचवा मास बनता है। छठे महीने पहले तीन अभिप्लव षडह, तब गोष्टोम-नामक उक्थ्यसंस्थाक दिन होता है। तब आयुष्टोम नाम का उक्थ्यसंस्थाक दिन होता है। तब द्वादशाहिक (१२.३.१, २१-२२) होता है। प्रथम और उत्तम दिन वर्जित दशरात्र इस प्रकार मिलाकर छठा महीना होता है। इसके बाद **महाव्रत** का दिन[१], और उदयनीय-नामक सत्र का अन्तिम दिन होता है: ऐब्रा० ४. २. ८, आपश्रौसू० २१. १५ १–२ तांब्रा० ४. १. १ भाष्य। इन दो दिनों की पहले महीने में गणना नहीं की गई हैं; यह **गवामयनसत्र** है।

वाजपेय-यज्ञ—वाजपेय को ब्राह्मण और क्षत्रिय ही करते हैं, वैश्य नहीं। इसे छोड़कर सप्तसंस्थान्तर्गत वाजपेय में तो वैश्य भी अधिकारी है। इसका समय शरद् ऋतु है। इससे पहले और बाद में **बृहस्पति-सव** होता है; इस प्रकार आश्विनी अमा को वाजपेय सुत्या का अनुष्ठान करने पर भाद्रपदी को दो बृहस्पति-सव करने होते हैं। यह एक पक्ष है। बृहस्पति-सवके स्थान पर अग्निष्टोम-संस्थाक ज्योतिष्टोम होता है, यह दूसरा पक्ष है। अथवा वाजपेय के बारह शुक्लपक्षों में बारह यागों का अनुष्ठान होता है; उनमें अयुग्म छः शुक्लपक्षों में अग्निष्टोम संस्था वाला ज्योतिष्टोम होता है; युग्म छः शुक्लपक्षों में पृष्ठ्य षडहसंबन्धी दिन क्रम से रथंतर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत नाम के छः सामों के स्तोत्र एक-एक दिन होते हैं। त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश स्तोम एक-एक दिन क्रम से होते हैं। वाजपेय के अनन्तर युग्म शुक्लपक्षों में ज्योतिष्टोम ही होता है; अयुग्म छः शुक्लपक्षों में पहले के अनुष्ठान के विपरीत पृष्ठ्यस्तोत्रों का अनुष्ठान यह तीसरा पक्ष होता है। अथवा वाजपेय के आगे पौषी से लेकर भाद्रपद तक नौ शुक्लपक्षों में राजसूय के पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टिद्विरात्र, क्षत्रधृति, त्रिष्टोम, ज्योतिष्टोमों का क्रमशः अनुष्ठान होता है। ऊपर उन्हीं का विपरीत ढंग से अनुष्ठान होता है यह चौथा पक्ष है। इनके पशु आदि एवं ग्रह-ग्रहण आदि सभी कुछ कात्यायन श्रौतसूत्र के उस उस प्रकरण में देख लेने चाहियें।

कार्तिकी, या आश्वयुजी की अमावस्या को राजसूय की सुत्या करनी चाहिये। कार्तिक की अमावस्या को सुत्या करने के पक्ष में आश्विन शुक्ला दशमी को मातृपूजा आदि होती है। उस के बाद सात दीक्षा के दिन होते हैं। कार्तिक कृष्णा द्वादशी को प्रायणीया इष्टि होती है। उसी दिन सोम का एवं सुराद्रव्य का क्रय होता है। उसके बाद तीन दिन सायं प्रातः प्रवर्ग्य उपसद् होते हैं। चतुर्दशी को अग्नीषोमीय पशु एवं सत्रह अरत्नि का एक यूप आता है। उसको सत्रह वस्त्रों से ढकते हैं। पूर्णिमा को पात्रयोजन में षोडशिपात्र अधिक होता है। सुराग्रह के लिए सत्रह पात्र होते हैं। बाईस सवनीय पशु होते हैं। उनमें पहला आग्नेय, दूसरा ऐन्द्राग्न, तीसरा ऐन्द्र, चौथा सरस्वती के लिए मेषी, पाँचवी वशा गौ, उसके स्थान पर अजा। उसके बाद सत्रह प्राजापत्य पशु होते हैं, जो श्याम वर्ण के, बिना सींग के, और प्रजनन में समर्थ नर होते हैं। आग्नेय आदि पाँच पशुओं की वपा का पृथक्-पृथक् होम देवताओं के भेद से होता है। सत्रह प्राजापत्यों का एक बार ही वपाहोम होता है। सवनीय हवि के निर्वाप के समय धाना आदि के साथ पाँच हवियों के साथ सत्रह शराव बार्हस्पत्य चरु का भी निर्वाप करना चाहिये: दक्षिणा देने के बाद मरुत्वतीय होम के अनन्तर माहेन्द्र ग्रह के पूर्व आग्नीध्रीय के समीप अध्वर्यु रथ के ऊपर दूसरा रथ रखकर मन्त्र से उसे उतार कर उसके धुरे को पकड़ कर, वेदि के निकट लाकर, उसमें चार घोड़े जोतकर, सोलह रथों में चार-चार घोड़े जोते। तब आग्नीध्र के पीछे दो खम्भे आगे पीछे गाड़कर, उनके ऊपर सत्रह शङ्कु वाले एक काष्ठ को अग्रमुख रखकर उन शङ्कुओं पर सत्रह दुन्दुभियों को क्रम से रखे। तब सबको डंडे से बजावे। तब एक क्षत्रिय उत्तर दिशा में सत्रह तीर छोड़े: पहला बाण जितनी दूरी पर गिरे, वहाँ खड़ा होकर दूसरा बाण छोड़े। इस प्रकार सत्रह बाण छोड़े। सत्रहवें बाण के गिरने के स्थान पर सीमा के रूप में एक उदुम्बर की शाखा को गाड़ दे। तब यजमान रथ पर चढ़े, और दूसरे भी अपने-अपने रथों पर चढ़ें। तब पहले गाड़ी गई उदुम्बर की शाखा को लक्ष्य करके सभी अपने-अपने रथ को दौड़ावें। **आजि-धावन** इसे ही कहते हैं। उनके जाने के समय ब्रह्मा रथ-चक्र के ऊपर बैठकर साम का गायन करे। उसमें जिस ढंग से यजमान आगे-आगे चले वैसे ही आगे बढ़ना चाहिये। तब सभी उस उदुम्बर की शाखा की प्रदक्षिणा करके देवयजन की ओर आ आवें।

४ यहाँ कहे गये छः स्तोमों का उलटे रूप में त्रयस्त्रिंश से अनष्ठान होता है।

सबके आ जाने पर ब्रह्मा रथ के चाक से उतर जाय; तब दुन्दुभियों को उतरवा दे। तब यजमान अपने रथ को अध्वर्यु को देकर बचे हुओं में जो-जो जिस-जिसका रथ हो, उसे उस-उसको दे देवे।

तब मधुग्रह और सौर ग्रहों का प्रचार होता है। तब यजमान और पत्नी पहले बनाई गई, यूप के ऊपर रखी हुई काष्ठ-निर्मित, इक्कीस सीढ़ियों वाली सीढ़ी पर चढ़ें। तब यजमान के पुत्र-पौत्रादि खारी मिट्टी के बने सत्रह मृत्तिकापुटों को यजमान की ओर फेंकें। **स्वर्गारोहण** यही कहाता है।

तब किसी एक अन्न को छोड़कर सभी ग्राम्य एवं आरण्य अन्नों का होम सात मन्त्रों से सात बार किया जाता है। होम से बचे हुए अन्न से आसन्दी पर बैठे यजमान का अभिषेक होता है। तब आज्य आहुतियाँ दी जाती हैं। फिर वशा-प्रचार आदि होता है। इसमें उदयनीय के स्थान पर त्रैधातवीया होती है। **वाजपेय** यही है।

राजसूय यज्ञ— इसमें केवल अभिषिक्त क्षत्रिय ही अधिकारी होता है; ब्राह्मण एवं वैश्य नहीं। इसमें अनुमति आदि इष्टियाँ होती हैं; मल्ह आदि पशु, और पवित्र आदि सोम-याग होते हैं। वे सभी प्रधान होते हैं; इनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता। फाल्गुनशुक्ला प्रतिपदा को इसका आरम्भ होता है। इसमें पहले पवित्र नामक चार दीक्षा वाला, तीन उपसद् वाला और एक सुत्या वाला, सहस्रगो-दक्षिण अग्निष्टोम-संस्थ सोम-याग होता है। यह याग आठ दिन में होता है और फाल्गुनशुक्ला अष्टमी को समाप्त होता है। क्योंकि इसे राजा करता है और वह सोम भक्षण नहीं कर सकता इस लिये न्यग्रोध के फल सहित अंकुर लाकर उसका सोम-क्रयण आदि संस्कार करके, दधि के साथ मिलाकर, चमस के उन्नयन के समय, यजमान के चमस में उसी रस को ले लेवे। होम के समय उसी का हवन करके उसका भक्षण करे। दूसरे चमसों में सोम-रस का ग्रहण, उसी का होम और भक्षण होता है।

दशमी को अनुमती के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है। एकादशी को अग्नि और विष्णु के लिये एकादशकपाल पुरोडाश, द्वादशी को अग्निषोमीय एकादशकपाल, त्रयोदशी को ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल, चतुर्दशी को यवाग्रयण और व्रीह्याग्रयण ये पाँच इष्टियाँ होती हैं। तब फाल्गुनी पूर्णिमा को राजसूय के अन्तर्गत चातुर्मास्य का प्रयोग होता है; पहले पूर्णिमा को वैश्वदेव पर्व होता है; आषाढी में वरुण-प्रघास और कार्त्तिकी में साकमेध। तब चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से लेकर चैत्र की अमावस्या तक प्रतिदिन पौर्णमासेष्टि प्रकृतिवत् होती है। फिर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से चैत्रशुक्ला पौर्णमासी तक प्रति दिन दर्शेष्टि पिण्डपितृयज्ञ को छोड़कर होती है। प्रतिपदा को तो राजसूय इष्टि के अनन्तर नित्य दर्शपूर्णमासेष्टि, और नित्य पिण्डपितृयज्ञ होता है। तब वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ महीनों में इसी प्रकार कृष्णपक्ष में पौर्णमासेष्टि और शुक्लपक्षों में दर्शेष्टि होती है। तब प्रतिपदा को नित्येष्टि भी करनी चाहिये। हर बरस चातुर्मास्य का अनुष्ठान करने वाले यजमान को उस उस पर्व के समय उन-उन नित्य पर्वों को पहले करके ही राजसूय के पर्वों का अनुष्ठान करना चाहिए।

आषाढी पूर्णिमा को **वरुण-प्रघास** होते हैं। उस समय से लेकर कार्त्तिकी तक प्रतिदिन पहले की तरह दर्श पूर्णमास इष्टियां होती हैं। उसके बाद कार्त्तिकी को साकमेध होते हैं। उनके दो दिन के होने के कारण चतुर्दशी को राजसूयिक दर्श समाप्त करके अनीकवती आदि का अनुष्ठान किया जाता है। पूर्णिमा को त्रैयम्बकान्त करके दर्शेष्टि आरम्भ होती है। तब मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से फाल्गुन की अमावस्या तक दर्श पौर्णमास इष्टियों का अनुष्ठान प्रतिदिन पूर्ववत् चलता है।

फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को **शुनासीरीय** राजसूयिक होता है। उसी दिन **पञ्चवातीय** नामक होम होता है और **इन्द्रतुरीया** नाम की इष्टि होती है। इसमें अग्नि के लिए अष्टाकपाल, वरुण के लिए यवमय चरु, रुद्र के लिये गावेधुक चरु होता है, वहिनी का दधि ऐन्द्र ये चार हवियाँ होती हैं। जो गौ शकट में जोती जाती है, वह वहिनी कहाती है। उसी दिन अपामार्ग-होम होता है।

तब फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को **त्रिषंयुक्त,** अर्थात् त्रिहविष्क तीन कर्मों में पहली इष्टि त्रिषंयुक्ता होती है। उसमें आग्नावैष्णव एकादशकपाल पहली हवि, ऐन्द्रावैष्णव चरु दूसरी हवि, और वैष्णव चरु तीसरी हवि होती है।

तब द्वितीया को द्वितीय **त्रिषंयुक्त,** इष्टि होती है। इसमें आग्नापौष्ण एकादश-कपाल पहली ऐन्द्रापौष्ण दूसरी के और पौष्ण तीसरी होती है। तब उसी दिन बारह रत्नहवि नाम की इष्टियों को प्रारम्भ करे। चतुर्थी से लेकर फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा तक एक-एक दिन राजा के सबन्धियों को एक-एक पुरुष के घर एक-एक इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिये : सेनानी के घर पहली इष्टि होती है; इसमें अनीकवत् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश होता है। पुरोहित के घर दूसरी इष्टि होती है, इसमें बृहस्पति के लिए चरु रहता है। यजमान के घर में तीसरी इष्टि होती है, इसमें इन्द्र के लिए चरु होता है। महिषी के घर चौथी इष्टि होती है, इसमें अदिति के लिए चरु होता है। सूत के घर पाँचवी इष्टि होती

है, इसमें वरुण के लिए यवों का चरु होता है। ग्रामनेता या सरपंच के घर छठी इष्टि होती है, इसमें मरुत् के लिए सप्तकपाल होता है। क्षत्ता या दूत के घर सातवीं इष्टि होती है, इसमें सवितृ के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश होता है। रथ-योजयिता के घर नवीं इष्टि होती है, इसमें अश्विन् के लिए द्विकपाल रहता है। परिवेष्टा के घर दसवीं होती है, इसमें पूषन् के लिए चरु होता है। द्यूतपति या हालिक के घर से लाये गए आरण्यगोधूमों से यजमान के घर रौद्र चरु होता है; यह ग्यारहवीं इष्टि है। पतिपुत्रहीन किसी स्त्री के घर बारहवीं इष्टि होती है; इसमें निर्ऋति देवता के लिए नख से छाये गये कृष्ण-व्रीहियों का चरु होता है।

तब उसी दिन सोम और रुद्र के लिए चरु और मित्र तथा बृहस्पति के लिए चरु होता है। चैत्र कृष्णपक्ष में कोई कर्म नहीं होता। चैत्रशुक्ला प्रतिपदा को अभिषेचनीय और दशपेय नाम के **सोम-यागों** का एक साथ आरम्भ करने का संकल्प किया जाता है (सोमयाग आठ हैं: पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टिद्विरात्र, क्षत्रस्यधृति, त्रिष्टोम और अग्निष्टोम)। आरम्भ में पवित्र नामका सोमयाग किया जाता हैं; बचे हुए बाद में किये जाते हैं।

इसके साथ ही सोम का क्रयण होता है और सोम के साथ न्यग्रोध अंकुरों के भी दो देवयजन होते हैं। यह अभिषेचनीय सामान्यतः पाँच दिन में किया जाता है। इस में विशेष बात है : अग्नीषोमीय पशु के साथ देवसू हवियाँ। वे हैं दो पुरोडाश, और छः चरु; इस प्रकार आठ हैं। इसमें उखाड़े गए व्रीहि से होने वाला सत्य प्रसव-सवितृ देवता के लिए अष्टाकपाल, जल्दी पके श्यामाकचरु सोम वनस्पति के लिए, व्रीहियों से बनने वाला गृहपति अग्नि के लिये अष्टाकपाल, बृहस्पति बाच् के लिए नैवार चरु; ज्येष्ठ रुद्र के लिये सांठी का चरु, पशुपति इन्द्र के लिये गवेधुकाचरु, सत्य मित्र के लिये स्वयं उत्पन्न हुए धानों का चरु, धर्मपति वरुण के लिये लिये यव का चरु होता है। अनन्तर राजा के अभिषेक के लिये सत्रह प्रकार के जल लाये जाते हैं; तब उक्थ्यसंस्थअभिषेचनीय क्रतु द्वारा राजा का अभिषेक होता है। तब शुनःशेप-संबन्धी गाथा गाई जाती है। इसके बाद वाजपेय यज्ञ के समान ही **रथावरोहण** आदि होता है। तब उदुम्बर की आसन्दी पर जूए के लिये बैठे हुए यजमान को अक्ष दिया जाता है। तब जूआ होता है। जूआ खेलने वाले यजमान (राजा), राजभ्राता, सूत, ग्रामणी, और ग्रामणी के भाई ये पांच होते हैं। कतिपय अनुष्ठानों के अनन्तर दस **संसृपा** हवियां होती हैं। उन्हें षष्ठी से आरम्भ करके छः दिनों में छः, और द्वादशी को शेष चार इस प्रकार किया जाता है। द्वादशी को ही दशपेय के दूसरे दिन से आरम्भ कर चैत्री तक **सुत्या** होती है (पहले दिन का कर्म दीक्षा आदि अभिषेचनीय में किया जा चुकता है)। इसमें विशेषता यह है—

यजमान के चमस में न्यग्रोधाङ्गुरों का रस और दूसरी जगह सोम रहता है। एक-एक चमस का दस-दस ब्राह्मण भक्षण करते हैं। उनमें एक-एक ऋत्विक् होता है और शेष नौ साधारण व्यक्ति। यजमान के चमस में भी ब्राह्मण ही भक्षयिता होते हैं; उसके बाद वैशाख में कोई कर्म नहीं होता। वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को **पञ्चबिल** नाम का पञ्चहविष्क कर्म होता है; उसमें पाँच हवियां होती हैं। उसके बाद बारह **प्रयुग्घवि** इष्टियां होती हैं। वे एक मास का अन्तर देकर की जाती हैं, यह एक पक्ष है। अथवा पहली इष्टि का अनुष्ठान करके, शम्या को फेंके; जहाँ वह गिरे उसी स्थान पर उसी दिन दूसरी इष्टि करे। इसी प्रकार बारहों एक ही दिन हो जाती हैं, यह दूसरा पक्ष है। अथवा वैशाख पूर्णिमा को ही समानतन्त्र से प्रातः काल छः और अपराह्ण में छः इष्टियाँ होती हैं, यह तीसरा पक्ष है। दोनो पक्षों में ये इष्टियां एक ही दिन में की जाती हैं। तब वैशाख की अमावस्या को दो **पशु-बन्ध** होते हैं। ज्येष्ठ-शुक्ला एकादशी से आरम्भ कर के पाँच दिनों में अतिरात्र-संस्थ **केश-वपनीय** नामक सोमयाग का अनुष्ठान होता है। उसके बाद आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा को **व्युष्टि** द्विरात्र का संकल्प होता है; उसके अहीन होने से सोलह दिन दीक्षा के, बारह उपसद् के, और दो सुत्या के इस प्रकार एक मास में यह याग समाप्त होता है। तब श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को **'क्षत्र-धृति'** आरम्भ होता है; वह भी पहले की तरह एक मास चलता है। कार्त्तिकी को राजसूय की अङ्गभूता, तीन पशुओं वाली **सौत्रामणी** होती है। इस प्रकार राजसूय यज्ञ समाप्त होता है। इस राजसूय में यजमान की पत्नी चण्डातक वस्त्र पहनती है। "अर्धोरुकं विलासिन्या वासश्चण्डातकं विदुः" अमर २।६।११९। इसमें कुल मिलाकर ४३९ इष्टियां, दो पशुयाग, आठ सोमयाग, सात दर्विहोम, ये सब मिलाकर **राजसूय** कहे जाते हैं। ये ही इसमें प्रधान याग होते हैं। इसके अतिरिक्त उस-उस सोम की अङ्गभूत इष्टियां, पशु और सौत्रामणी का अनुष्ठान करना चाहिये। इसका समय इक्कीस मास का होता है। प्रयुग्घवि के मासों का अनुष्ठान करने के पक्ष में तैंतीस मास बनते हैं।

सोमयाग का अङ्गभूत अग्निचयन—ईंटों से बनाया गया स्थान-विशेष **चयन** कहाता है। केवल सोमयाग की जो उत्तरवेदि है, उसे बढ़ाकर, वहीं ईंटों से चयन बनाकर, उसके ऊपर आहवनीय रखकर उसी में होम किया जाता

है। अग्नि का आधार होने से इस थड़े का नाम अग्निचयन पड़ा है। कुछ लोग इसके लिए केवल अग्निपद ही को बरतते हैं। यद्यपि यह सोमयाग का अङ्ग है, फिर भी ज्योतिष्टोम के प्रथम प्रयोग में नहीं होता। द्वितीयादि प्रयोगों में तो होता ही है। सोमयाग होने से इसका समय वसन्त है। इसमें पहले दिन इष्टका-निर्माण के अङ्गभूत पशु का अनुष्ठान होता है। इसमें पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अजा ये पाँच पशु होते हैं; यह प्राथमिक पक्ष है। केवल प्राजापत्य पशु का अनुष्ठान करना चाहिये, यह दूसरा पक्ष है। वायु के लिए अनुष्ठान तीसरा पक्ष है। सभी अवस्थाओं में याग के उपयोग से बचे हुए पशु के शरीर को खड़े जल में फेंककर, वहीं से उखा और ईंट के लिए मिट्टी तथा जल लेना चाहिये। जिस पर्व में इष्टका पशु किया जाता है उसके बाद की अष्टमी को उखा का संभरण करना चाहिये। आगे संवत्सर आदि के समयों पर यजमान का अग्निधारण बताया जायगा, उसका आधारभूत पात्र-विशेष उखा कहाता है। उसके लिए पात्र बनाने योग्य मिट्टी का पिण्डा लेकर उसमें चींटी के बिल की मिट्टी, बकरे के बाल, लोह और पत्थर के चूर्ण, शर्करा, पर्णकषाय मिलावे; पकाये जल से इन्हें मिलाकर उस पर बालू डालकर, (ऊपर से तिरछा, तथा एक पशु के पक्ष में एक हाथ ऊँचा, पाँच पशुओं के पक्ष में ऊपर से एक हाथ के बराबर तथा तिरछे भी एक हाथ के बराबर चार अस्रामुख वाली बनाकर उसके बाहर की ओर, ऊपर तीसरे भाग में चारों ओर एक बत्ती तिरछी लगाकर, प्रत्येक दिशा में एक-एक या दो-दो बत्तियाँ, ऊपर की वर्तिका को छूती हुई बनाकर, प्रत्येक बत्ती के आगे स्तन-चिह्न बनाकर) उन्हें अग्नि में जलावे। उसके साथ बारह अङ्गुल बड़ी, तीन स्थानों पर अङ्गुलि के आकार के चिह्न से युक्त, अषाढा नाम की एक इष्टका को महिषी, तथा विश्व-ज्योतिः नाम की तीन इष्टकाओं को यजमान पकावे। इस प्रकार **उखा-संभरण** होता है।

तब चयन के लिए इष्टकाएं बनाई जाती हैं। वे चौदह प्रकार की होती हैं—पद्या, अर्धपद्या, पादोनपद्या, जङ्घामात्री, अध्यर्धा, अर्धोत्सेधा पद्या, अर्धोत्सेधा अर्धपद्या, पादभागा, त्रिग्राहिणी, अर्धपादभागा, बृहती, वक्रा, अर्धबृहती, चतुर्भागा। इनमें बारह अङ्गुल चारों ओर से पद्या होती है, बारह अङ्गुल लम्बी, छः अङ्गुल चौड़ी अर्धपद्या, चारों ओर से बारह अंगुल की, किंतु एक कोने में टूटी हुई पादोनपद्या; अट्ठारह अंगुल चारों ओर से जङ्घामात्री; अठारह अंगुल लम्बी और बारह अंगुल चौड़ी अध्यर्धा; बारह अंगुल लम्बी-चौड़ी और तीन या दो अंगुल ऊँची अर्धोत्सेधा अर्धपद्या; छः अंगल लम्बी-चौड़ी पादभाग; चौबीस अंगुल लम्बी और बारह अंगुल चौड़ी त्रिग्राहिणी; छः अंगुल लम्बी, तीन अंगुल चौड़ी अर्धपादभागा; चौबीस अंगुल लम्बी चौड़ी बृहती; चौबीस अंगुल लम्बी और बारह अंगुल चौड़ी अर्धबृहती; तीन अंगुल लम्बी-चौड़ी चतुर्भागा। सभी छः अंगुल या चार अंगुल ऊँची होती हैं। अर्धोत्सेधपद्या और अर्धपद्या दो या तीन अंगुल ऊँची होती हैं।

सभी इष्टिकाओं पर अंगुलि या काष्ठ आदि से तीन-तीन चिह्न बना देने चाहियें। वे चिह्न टेढ़े, सीधे और तिरछे होते हैं और वैसी-वैसी इष्टकाओं पर बनाये जाते हैं। उनमें वक्रचिह्न ‿ ‿ ‿ इस प्रकार के होते हैं, ऋजु | | | इस प्रकार के और तिरछे — — — इस प्रकार के होते हैं।

इष्टकाओं की संख्या—इसमें ग्यारह हजार एक सौ सत्तर (१११७०) इष्टकाएं होती हैं। इनमें दस हजार आठ सौ (१०८००) लोकम्पृणा। तीन सौ सत्तर (३७०) यजुष्मती। (शतपथ में दर्भस्तम्ब, दूर्वेष्टका, स्वयमातृण्णा, कूर्मोलूखला आदि पच्चीस इष्टिकाएँ इनके बीच अधिक होती हैं, इस प्रकार तीन सौ पचानवे यजुष्मती कही गई हैं। ये पच्चीस इष्टिकाएँ और तीन नैर्ऋति उक्त संख्या से अधिक होती हैं)। इन कही गई इष्टकाओं में नौ हजार दो सौ बासठ (९२६२) पाद-भाग होती हैं, इनमें वक्रचिह्नों वाली पादभाग १७३२, ऋजु चिह्न वाली ७५३०, अर्धपादभाग छः सौ अठहत्तर (६७८)। उनमें वक्रचिह्नवाली अर्धपादभाग २६२, ऋजुचिह्नवाली अर्धपादभाग ४१६, चतुर्भाग बारह। इनमें वक्र चिह्न वाली चार ऋजु-चिह्न-वाली आठ पद्या इष्टकाएँ सात सौ तिहत्तर (७७३) होती हैं। इनमें पूर्णोत्सेध पद्या ७५९, अर्धोत्सेधा पद्या १८। अर्धपद्या अट्ठासी। उनमें अर्धोत्सेधा बारह। चार तिरछे चिह्नों वाली। आठ ऋजु चिह्न वाली, तिरछे चिह्न वाली सत्ताईस (२७)। इनमें चार अर्धोत्सेधा, तेईस पूर्णोत्सेधा। शेष ऋजु चिह्न वाली। वक्र चिह्न वाली अर्धपद्य में पूर्णोत्सेधा दो होती हैं। जङ्घामात्री ५०, त्रिग्राहिणी ७०, वक्र ८, अध्यर्धा १११, बृहती ६ या ७, अर्धबृहती ४, पादोन २।

इष्टकाओं की यह संख्या उपधान के समय की है। निष्पादन के समय सभी इष्टका कही संख्या से कहीं अधिक बनानी चाहियें, जिससे टूटने आदि से उनकी संख्या में कमी न आ जाय।

इनमें बारह प्रकार की इष्टकाएँ पाँच चितियों में रखी जाती हैं; चतुर्भाग वक्रों को होतृधिष्ण्य और गार्हपत्य पर क्रमशः रखा जाता है। इनमें कुछ मन्त्र के साथ रखी

जाती हैं, कुछ चुप-चाप। जो मन्त्रों से रखी जाती है उन्हें यजुष्मती कहते हैं: जो चुपचाप रखी जाती हैं उन्हें लोकम्पृणा कहते हैं। इष्टकाओं को जिस प्रमाण से बनाया जाता है, सूख जाने पर उसका बत्तीसवाँ भाग कम हो जाता है। अतः जहाँ-जहाँ जो-जो प्रमाण बताया गया है, उससे बत्तीसवाँ भाग बढ़ाकर इष्टका बनानी चाहिये। तब पहली चिति में ऐसी इष्टिकाएँ २००६, उनमें यजुष्मती ७७, शेष लोकम्पृणा १९२९। दूसरी चिति में सभी इष्टकाएँ १९९१, उनमें यजुष्मती ४१, लोकम्पृणा शेष १९५०। तीसरी चिति में २०२० इष्टकाएँ होती हैं, उनमें यजुष्मती ७०, शेष लोकम्पृणा १९५०। चौथी चिति में १९९७ इष्टकाएँ होती हैं, उनमें यजुष्मती ४७, शेष लोकम्पृणा १३५०। पाँचवीं चिति में ३०५३ इष्टकाएँ, उनमें यजुष्मती १३४, शेष लोकम्पृणा २९२२, यह संख्या रहती है। सब मिलाकर यजुष्मती ३६०, लोकम्पृणा १०७०९, दोनों मिलाकर ११९७०।

तब यजमान सोने का वर्तुलाकर आभरण कण्ठ में धारण करे। तब शिक्य में रखी अग्नि को कण्ठ पर रख कर, उतारकर, आसन्दी में रख दे। इस प्रकार संवत्सर तक उखारण, विष्णु-क्रम, वनीवाहन, एवं वात्सप्रोपस्थान करने चाहियें। इसमें षण्मासदीक्षापक्ष, और एक दीक्षापक्ष होता है। एक दीक्षापक्ष में उसी रात को विष्णुक्रम आदि वेदिमान और अग्निक्षेत्रमान करने चाहियें, और वेदि चयनयाग चिति के अनुसार बढ़ा देनी चाहिये; वह चालीस पैरे की होती है: का०श्रौसू० १७.३. १४। उसमें अग्निक्षेत्र का निर्माण करना चाहिये; वह साढ़े सात पुरुष (विंशति शतांगुल) के नाप का होता है। उसके बीच दो पुरुषों के बराबर लंबा, दो पुरुषों के बराबर चौड़ा स्थान बनाकर उससे लगे हुए दक्षिण, पश्चिम, उत्तर भागों में एक-एक पुरुष के बराबर दक्षिण उत्तर किनारों पर एक अरत्नि और एक-एक पुरुष के बराबर लम्बा, पश्चिम की ओर ४४ बालिस्त लम्बा, ये स्थान बनाने चाहियें। ये स्थान प्राङ्मुख बनाने चाहियें। उनकी क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पक्ष संज्ञाएँ हैं। पश्चिम ओर के भाग को पुच्छ कहते हैं। मध्यम को आत्मा कहते हैं। इस स्थान को बनाकर, इसे रस्सी से घेरकर, इसके चारों ओर गड्ढा बनाकर वहाँ दो सौ एकसठ या तीन सौ या चौरानवे पाषाणों या इष्टकाओं को निरन्तर एक साथ लगाकर गाड़ता जाय। तब स्थण्डिल के वायव्यकोण पर तीन पाषाण जंघा, नाभि एवं आस्यदघ्न क्रमशः गाड़ने चाहियें। इसी चयन की पचानवे बार तक आवृत्ति करके भी अनुष्ठान सूत्रकार ने बताया है। उसमें पहली आवृत्ति में अग्निक्षेत्र का प्रमाण कहा गया है। दूसरी आवृत्ति में प्रत्येक चयन में एक-एक पुरुष का प्रमाण बढ़ाकर अग्निक्षेत्र को पचानबे चयन तक नापे। उसके अनुसार इष्टकाएँ भी परिणाम में बढ़ाते जाना चाहिये, किंतु संख्या में नहीं। सभी जगह पहली चिति में जितनी इष्टका होती हैं उतनी ही इष्टकाओं से पच्चानवी चिति भी बननी चाहिये। इस आवृत्ति में क्रम का नियम नहीं है,, स्वेच्छा से जिस चिति को करना चाहे कर ले।

तब पहले गार्हपत्य अग्नि के लिए थड़ा बनाना चाहिये। वह एक चिति या तीन चितियों वाला होता है। उसका विस्तार चार अरत्नि के बराबर मण्डलाकार होता है। एक-एक चिति में इक्कीस इष्टकाएँ रहती हैं। उनमें अर्धबृहती चार, पद्या सात, दो अर्धपद्या, आठ वक्रा। इनका प्रमाण पहले कहा जा चुका है। **उपधान** का प्रकार पद्धतियों से समझ लेना होगा।

इस स्थण्डिल के चारों ओर तीन अंगुल विस्तार वाले पाषाण चिति को थामने के लिये गाड़ने चाहियें। इस प्रकार बनाये गये गार्हपत्यस्थण्डिल को चात्वाल से लाई मिट्टी से लीपकर, उसके ऊपर उख्य अग्नि की स्थापना करे।

तब नैर्ऋत्य दिशा में दूर जाकर कृष्णवर्ण की पकी हुई निर्ऋति नाम की तीन इष्टकाएँ गर्त आदि में रखकर वहीं शिक्य, रुक्म, पाश और आसन्दी आदि फेंककर लौट आवे।

तब शाला में आकर हविष्कृदाह्वानान्त प्रायणीया इष्टि को करके छः, बारह, या चौबीस बैलों वाला हल तैयार करके उससे अग्निक्षेत्र की भूमि को जोते। (यहाँ हल चलाने में दोष नहीं होता)। इसके बाद प्रायणीय को संपूर्ण करके आतिथ्या इष्टि का अनुष्ठान करके, उसके बाद प्रवर्ग्य और उपसद् को करे।

अग्निक्षेत्र पर अश्व को चढ़ाकर हटा लेवे। तब अग्निक्षेत्र में कुशस्तम्ब रखकर, उस पर कमलपत्र रखकर, उसके ऊपर उख्यधारण के समय यजमान द्वारा धारण किये गये रुक्म को रखकर, उसके ऊपर सोने की बनी हुई पुरुषाकार प्रतिमा पूर्व की ओर सिर करके रखकर, उसके ऊपर 'स्वयमातृण्णा' को रख देवे।

स्वयमातृण्णा पकते समय अपने आप बने हुए छेदों वाली इष्टका को कहते हैं। उसके पूर्वभाग में दूर्वामयी इष्टका को रक्खे। इस प्रकार जिस क्रम से यजुष्मती इष्टका का उपधान सूत्रों में विहित है, उसी क्रम से उन्हें रखकर बचे हुए स्थलपर लोकम्पृणाओं को रखे।

इस प्रकार चिति के आत्म-नामक मध्ययाग को बनाकर दक्षिणपक्ष को, फिर उत्तरपक्ष को, और फिर पुच्छ को तैयार करे। इस रीति से उसी दिन पहली और

दूसरी चिति को रखकर उसके बाद अपराह्ण को प्रवर्ग्य और उपसद् करने चाहियें। उसके बाद के दिन प्रातः प्रवर्ग्य उपसद् के अनन्तर तीनों चितियों का उपधान करना चाहिये। तीसरे दिन पुरीषनिवाप आदि होता है। यह एकाहपक्ष में होता है। षडुपसत्क यज्ञ में प्रतिदिन एक-एक चिति होती है; छठे दिन पुरीषनिवाप होता है। इस प्रकार निर्मित हुए स्थण्डिल को सोने के हजार खण्डों से पोछें।

तब **शतरुद्रिय** होम होता है। उसके पहले जो परिक्षित् नाम के पाषाण गाड़े गये होते हैं, उन्हें आहवनीय के स्थान पर करके, वैसे ही अग्नि का अन्वाधान आदि करके जूहू के स्थान पर अर्कपत्र से "नमस्ते रुद्र मन्यवे" (१६-१-२६) इन छब्बीस मन्त्रों से बकरी के दूध से अथवा आरण्य गोधूम से उत्तर मुख बैठकर हवन करे। यह होम अखण्डधारा से करना चाहिये। आदि से लेकर तृतीय अनुवाक पर्यन्त जानुमात्र परिश्रित् में हवन करे; उसके अन्त में एक स्वाहाकार होता है। तब चौथे पाँचवे अनुवाकों (१६-२७-३६) द्वारा नाभिमात्र परिश्रित् में हवन करे, उसके अन्त में स्वाहाकार होता है। तब मुखमात्री परिश्रित् में 'नमोऽस्तु' (१६-३७-६३) इससे हवन करे; और अन्त में स्वाहाकार होता है। तब 'नमोऽस्तु' इन तीन मन्त्रों से (१६।६४-६६) मुख, नाभि और जानुमात्री परिश्रितों में पहले किये गये के विपरीत ढंग से होम करे। तब सायंकाल प्रवर्ग्य और उपसद् करने चाहियें। तृतीयसवन में प्रातः सायं प्रवर्ग्य और उपसद् करे; तब तीसरे दिन प्रातः सायं प्रवर्ग्य उपसद् करके प्रवर्ग्य को समाप्त करके, आहवनीय से अग्नि लेकर स्थडिलदेश में रखी हुई स्वयमातृण्णा के ऊपर हवन करके वहाँ अग्नि की स्थापना करे। उसके बाद वैश्वानर द्वादशकपाल, और मारुत सप्तकपाल, हवि का निर्वपन करे। उदुम्बर की स्रुचा में आज्य लेकर 'वाजश्च मे' इन आठ अनुवाकों से संतत आज्यधारा द्वारा हवन करे। पहले की तरह यहाँ भी धारा का विच्छेद नहीं होना चाहिये। तब राजसूय के छः पार्थ होमों का, वाजपेय के वाजप्रसवीय होमों का और आग्निक वाजप्रसवियों का हवन करे। तब यजमान का अभिषेक होता है। पुनः पार्थहोम, राष्ट्रभृत् होम, वातहोम और नवाहुतियाँ होती हैं। तब होत्रीय आदि सात का चयन होता है। इसमें आग्नीध्रीय होत्रीय-नेष्ट्रीय, अच्छावाकीयों में आठ-आठ इष्टकाएँ, होत्रीय में इक्कीस, ब्राह्मणाच्छंसीय में ग्यारह, मार्जालीय में छः, इतनी इष्टकाएँ होती हैं। परिश्रित् की संख्या उन-उन इष्टकाओं की संख्या के अनुसार ही होती है। तब अग्नी-षोमीय पशु होता हैं। इसमें राजसूय के अन्तर्गत अभिषेचनीय नामक सोमयाग के धर्म होते हैं। पशुपुरोडाश के अनन्तर आठ देवसू-हवियों का निर्वाप होता है; तब सुत्या होती है। अवभृथ के अन्त में उदयनीया इष्टि होती है। तब मैत्रावरुणी वशा अनूबन्ध्या होती है। इसमें विशेषता है: पशुपुरोडाश के निर्वाप के अनन्तर पाँच देविका हवियों का निर्वाप और प्रचार; यह **चयन** कहाता है।

अश्वमेध यज्ञ—अश्वमेध नाम का सोम-याग होता है। सोमयाग होने पर भी अश्व के सवनीय पशु होने के कारण इसका अश्वमेध नाम पड़ गया हैं। इसमें अभिषिक्त एवं सार्वभौम राजा ही अधिकारी होता है। फाल्गुनशुक्ला अष्टमी या नवमी को अथवा ग्रीष्म में इन्हीं तिथियों में इसका आरम्भ होता है।

आरम्भ के दिन वरण के अनन्तर, पहला **ब्रह्मौदन पाक** होता है। पाक का चार बड़े ऋत्विजों को दान होता है और वे उसका भक्षण करते हैं। उनमें प्रत्येक को एक-एक सहस्र गौएं और चार-चार (सोने के सिक्के) दिये जाते हैं।

तब यजमान की **चार पत्नियाँ** आभूषणों से अलंकृत होकर प्रत्येक सौ-सौ अनुचरियों के साथ राजा के आगे आती हैं; इनमें पहली महिषी होती है, दूसरी परिणीता प्रिय स्त्री होती है, तीसरी अवल्लभा, और चौथी परिणीता दूत-पुत्री। महिषी की अनुचरियाँ राजपुत्रियाँ, दूसरी की केवल क्षत्रिय-पुत्रियाँ, तीसरी की सईसों एवं ग्रामनेताओं की लड़कियाँ, और चौथी की क्षत्ताओं एवं सारथियों की पुत्रियाँ होती हैं।

उनके साथ यजमान सायंकाल के समय अग्निहोत्र करके, रात्रि को उत्तर की ओर सिर करके सोई हुई वल्लभा (वावाता) पत्नी की जाँघों के बीच उत्तर की ओर सिर करके ब्रह्मचर्य की रक्षा करता हुआ सोता है। दूसरी पत्नियाँ चारों ओर सोती हैं। उठने पर अग्निहोत्र हवन करके पूर्णाहुति होती है; तब पथिकृत् इष्टि होती है। इसमें अग्नि पथिकृत् के लिए अष्टाकपाल होता है।

तब दर्भ की रस्सी को घी से पोतकर अश्व को बाँधने के लिये ब्रह्मा से अनुमति लेवे; ब्रह्मा के कह देने पर अश्व को बाँध देवे।

अश्व के लक्षण—अश्व आगे कृष्णवर्ण का, पीछे शुक्ल वर्ण का, माथे पर शकटाकार त्रिपुण्ड्र वाला, अद्वितीय, एक हजार गौओं के मूल्य वाला, दक्षिणधुर्य-सम होना चाहिये। इस अश्व को खड़े जल के बीच ले जाकर न्हिलावे। उसके बाद शूद्र द्वारा वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुए पुरुष से चार आँखों वाले कुत्ते को (दोनों आँखों के ऊपर आँख के समान चिह्न से युक्त कुत्ते को चार आँखों वाला कहा जाता है)

मुसल से मरवाकर, बेंत की बनी चटाई पर अश्व के नीचे से जल में बहा दे। तब लौटकर होम करे।

उसके बाद तीन भिन्न तन्त्र वाले द्वादशकपाल पुरोडाश होते हैं। इन्हीं तीनों को **सावित्र्य** इष्टियाँ कहते हैं। इन इष्टियों के प्रयाजों का अनुष्ठान हो चुकने पर ऋत्विक् के अलावा कोई और ब्राह्मण यजमान के दान और यज्ञ आदि का स्वयं बनाई हुई तीन गाथाओं से वीणा पर गान करे।

तब अध्वर्यु और यजमान सौ वृद्ध घोड़ों के साथ, याज्ञिक अश्व को ईशान कोण की ओर छोड़ें। भ्रमणार्थ निकले हुए घोड़े के पीछे युद्ध के लिए धनुष् वाण आदि से सज्जित चार सौ रक्षक रहें। उनमें सौ राजपुत्र, सौ क्षत्रिय जाति के, सौ सूतपुत्र, और सौ क्षत्ता लोग रहते हैं। उनका कर्तव्य होता है कि वे इस प्रकार छोड़े गये घोड़े को घोड़ी एवं प्रस्नेय जल के संपर्क से बचावें। इस प्रकार एक वर्ष तक निर्बाध घूमकर घोड़े को वापस लौट आना चाहिए, उससे पहले नहीं। तब **पारिप्लव** शस्त्र का शंसन, **प्रक्रम**-संज्ञक ४९ होम तथा **धृति-होम** करने चाहिये। धृतिहोम के समय एक राजन्य यजमान की विजय का अपनी बनाई तीन गाथाओं में वीणा पर गान करे। यहाँ तक पहले दिन के कर्म हैं।

इसी प्रकार एक वर्ष तक वावाता के साथ शयन, तीन सावित्र्य इष्टियों का अनुष्ठान, गान, पारिप्लव-आख्यान, प्रक्रम-होम और धृति-होम चलते हैं। इसमें अर्धमास, मास, त्रैमास और षण्मास का विकल्प रहता है।

तब चैत्र की पूर्णिमा को **उखा-संभरण** और **इष्टका-पशु** होता है। उसी दिन **दीक्षणीया** इष्टि आरम्भ करके छः दिनों में प्रतिदिन एक-एक इष्टि को करके वैशाखकृष्णा षष्ठी को सातवीं इष्टि समाप्त कर दे। उसके बाद उसी दिन **दीक्षा** आरम्भ करके बारह दिनों में वैशाखशुक्ला तृतीया तक बारह **सुत्या** के दिन पूरे करे। उसके बाद तृतीया को **सोम** का क्रय होता हैं। उस दिन से लेकर चतुर्दशी तक उपसद् के बारह दिन होते हैं। चतुर्दशी को ही अग्नि और सोम के लिये **पशु-याग** होता है। इसमें विभिन्न जाति के इक्कीस यूप प्रत्येक इक्कीस अरत्नि के होते हैं : एक रज्जुदाल का, दो पीतदारु के, छः बिल्व के, छः खदिर के, और छः पलाश के।

आहवनीय के आगे रज्जुदाल का यूप मध्य में होता है; उसके दोनों ओर पीतदारु के दो यूप होते हैं। इसी प्रकार बचे हुए बिल्व, खदिर और पलाश के यूपों को क्रमशः इधर-उधर गाड़ देना चाहिये। अग्निषोमीय पशु भी इक्कीस होते हैं।

पशुओं का बाँधना दक्षिण से आरम्भ करके उत्तर की ओर को होता है। पशुओं के अनेक होने पर भी पशु-पुरोडाश एक ही होता है।

इसके बाद इस दिन पहली सुत्या होती है; वह अग्निष्टोम संस्थावाली होती है। उसमें सवनीय पशु दो एकादशिनी होते हैं।

उन्हें यूपों में बाँधने का क्रम यह है—बीच में दो रज्जुदाल के यूपों के साथ दो आग्नेय पशुओं को बाँधकर शेष में क्रमशः दक्षिण से उत्तर की ओर व्यत्यास से बाँधे। दक्षिण और उत्तर की ओर दो-दो इस रूप में बाँधे।

दक्षिण में विशेष बात होती है; पहले विजय के समय जो धन पूर्व दिशा से प्राप्त किया गया होता है उसके तीन भाग करके एक भाग होता को दे दे। दक्षिण दिशा से प्राप्त धन का तीसरा भाग ब्रह्मा को, पश्चिम दिशा से प्राप्त धन का तीसरा भाग अध्वर्यु को और उत्तर दिशा से प्राप्त धन का तीसरा भाग उद्गाता को दे देवे। बचे हुए दो-दो भागों को इसके बाद के दो सुत्या दिनों में इसी क्रम से देवे। अन्य सब बातें प्रकृतिवत् होती हैं।

तब सूर्यास्त हो जाने पर रात को आज्य, सक्तु, धाना और लाजा में एक-एक द्रव्य को लेकर क्रमशः प्रत्येक पहर पर 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि बारह मन्त्रों से रात्रि भर हवन करे : यजु० सं० २२.२३–२४।

उसके बाद दूसरा दिन **उक्थ्य** संस्था वाला होता है। उसमें सोने और चाँदी के बने दो पात्रों का ग्रहण होता है। वहिष्पवमान के लिये प्रसर्पण अश्व को छूकर करना चाहिये। उपाकरण के समय एकादशिनी के उपाकरण के अनन्तर अश्व का उपाकरण होता है। तब इक्कीस यूपों में दो एकादशिनियों को पहले की तरह बाँधकर अश्व, तूपर और गोमृग को अग्नि के पास के रज्जुदाल-निर्मित यूप में बाँधे। तूपर बिना सींग के छाग को कहते हैं; गोमृग गवय होता है। तब अश्व के ललाट आदि अङ्गों में बारह पशु बाँधे जाते हैं, जिन्हें **पर्यङ्ग्य** कहते है।

घोड़े के संपूर्ण शरीर को रस्सी से घेरकर उन-उन स्थानों से गई हुई रस्सी में पशुओं को बाँधें। उसका क्रम यह है—अग्नि के लिये काली गर्दनवाला बकरा ललाट में, ठुड्डी के नीचे सरस्वती के लिये मेषी, अश्विन के लिये दो पशु पुट्ठों में, सोम और पूषा के लिये श्याम पशु नाभि में, दोनों पार्श्वों में सूर्य के लिए श्वेत और यम के लिये कृष्ण पशु, पीछे के दोनों पैरों में त्वष्टृ देवता के लिये बालों वाले दो बकरे, वायु, इन्द्र और विष्णु के लिये पूंछ में श्वेत, बेहद्, वामन पशु। ये पशु अश्व तूपर और गोमृग के साथ पन्द्रह हुए; पहले के दो आग्नेय पशुओं के साथ बीच के यूप पर सत्रह पशु हुए। दूसरे बीस यूपों पर रोहित आदि पन्द्रह-पन्द्रह पशु बाँधने चाहिये। इस प्रकार एकादशिनी के २२, अश्वादि सौर्यान्त ३२७, कपिञ्जल आदि २६० : सब मिला कर ६०९ पशु बनते हैं।

वन्य पशु यूपों के बीच में बाँधने चाहियें। वे जैसे-जैसे पिंजड़े, घोसलें या जल में रहते हैं उस-उस प्रकार से रखने चाहियें। इनका यूपों में बाँधना संभव नहीं है।

यूप में बाँधे गये पशुओं को मारकर उनकी वपा आदि अङ्गों का हवन होता है। कपिंजल आदि वन्य पशुओं का आलंभ क्रमसे उस-उस देवता के लिये करके उन्हें पंजर आदि से छोड़ दिया जाता है। उसके बाद अश्व को मारकर उसकी **परिपशव्य** आहुतियां देकर तीन बार परिक्रमा होती है। तब राजा की महिषी मृत अश्व के पास सोती है और इन दोनों पर कपड़ा डाल दिया जाता है; और तब महिषी अश्व के शिश्न को अपनी योनि में डालती है। इसी समय अध्वर्यु का कुमारी आदि के साथ वाद-प्रतिवाद चलता है। फिर ब्रह्मा और महिषी का संवाद होता है। फिर होता और परिवृक्ता का, फिर प्रतिहार और पालागली का क्रमशः संवाद होता है। तब पत्नियों द्वारा महिषी के उठाये जाने पर महिषी आदि पत्नियाँ अश्व के शरीर में एक सौ एक सीसे, ताम्र, और सोने की बनी सुइयाँ चुभाती हैं, और इस प्रकार उसकी चमड़ी को चलनी बना देती हैं।

तब वपा के लिये अश्व के शरीर को फाड़ा जाता है। अश्व में वपा न होने से उसके स्थान पर उसके मेद को निकालकर कार्ष्मर्य के दो शूलों द्वारा श्रपण करके होम होता है।

तब **ब्रह्मोद्य-वदन** होता है। इसमें अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, प्रतिप्रस्थांता और यजमान प्रश्न-प्रतिप्रश्न करते हैं। तब एकादशिनियों की वपा का होम होता है। फिर वनस्पति-याज के अनन्तर, शूल पर अश्व-शेष के सारे के सारे को लेकर होम होता है। उसके बाद आज्य से **शाद** आदि देवताओं के लिये अश्व के दाँत आदि अङ्गों का होम होता है। तब **पत्नी-संयाजान्त** करके उसी समय उस दिन के कर्म को समाप्त कर दे।

प्रातःकाल **अतिरात्र संस्था** वाला तीसरा दिन होता है। इसमें पोडशिग्रहण आदि सभी कार्य होते हैं; क्योंकि यह अतिरात्र संस्था का दिन होता है।

इसके बाद **अवभृथ** होता है। इक्कीस अनूबन्ध्या पशु होते हैं : सात मित्रा-वरुण के लिए, सात विश्वदेवों के लिए, और सात बृहस्पति के लिए। एक-एक यूप पर एक-एक पशु बाँधा जाता है। तीन पशुपुरोडाश होते हैं। उदवसानीय के अन्त में पालागली की अनुचरियां अध्वर्यु को दान में दे दी जाती हैं; महिषी की अनुचरियां ब्रह्मा को, वावाता की अनुचरियां उद्गाता को और परिवृक्ता की अनुचरियां होता को। अश्वमेध समाप्त हो जाने पर बारह दिन तक प्रतिदिन एक-एक आग्नेय पुरोडाश या **ब्रह्मौदन** होता है। उसके बाद अगले वर्ष प्रत्येक ऋतु में छः-छः पशुओं का तन्त्र से आलम्भन करना चाहिये। वसन्त में छः आग्नेय, ग्रीष्म में ऐन्द्र, वर्षा में पर्जन्य या मारुत, शरद् में मैत्रावरुण, हेमन्त में ऐन्द्रावैष्णव, और शिशिर में ऐन्द्राबार्हस्पत्य पशुओं का आलम्भन होता है।

पुरुषमेध याग—पुरुषमेघ ब्राह्मण और राजन्य द्वारा किया जाने वाला, तेईस दीक्षा के, बारह उपसद् के, पाँच सुत्या के कुल चालीस दिनों में किया जाने वाला याग है। चैत्रशुक्ला दशमी को इसका आरम्भ होता है। इसमें ग्यारह यूप होते हैं। अग्नीषोमीय ग्यारह पशु होते हैं। सबका एक पुरोडाश होता है।

सुत्या में पहले और पाँचवे दिन अग्निष्टोमसंस्थ, दूसरे और चौथे दिन उक्थ्यसंस्थ, और तीसरे दिन अतिरात्रसंस्थ होते हैं। सुत्या के दिनों में प्रतिदिन एकादशिन पशु होते हैं। ब्राह्मण द्वारा किये जाने वाले पुरुषमेध में सर्वस्व दक्षिणा होती है, क्षत्रिय द्वारा किये जाने वाले पुरुषमेध में अश्वमेध के समान दक्षिणा होती है; तीसरे अतिरात्रसंस्थ दिन प्रत्येक यूप पर एक-एक एकादशिन बाँधकर, बीच के यूप पर ब्राह्मण आदि अड़तालीस पुरुषों को बाँधे, दूसरे यूपों मे ग्यारह-ग्यारह पुरुषों को बाँधे (३२-५-२२)। इसमें दूसरे यूप में सैंतीस पुरुष बाँधे जाते हैं। कुल मिलाकर १८४ पषु बाँधे जाते हैं। इस प्रकार बन्धन के अनन्तर **पुरुष-सूक्त** का पाठ करके सबको बैठावे; फिर **पर्यग्निकृत** सभी पुरुषों को छोड़ दे।

जिस-जिस देवता को उद्दिष्ट करके जो-जो पुरुष बाँधा गया रहता है, उस-उस देवता के लिए एक-एक आज्याहुति का हवन करे।

तब अग्नि अर्थात् ऊष्मा को आस्य में रखकर, सूर्य का उपस्थान करके, पीछे न देखता हुआ, वन में जाकर वानप्रस्थ हो जावे; और जीवित रहने तक गांव में लौटकर न आवे। यदि ऐसा पुरुष फिर गाँव में आना चाहे, तब अग्नियों की स्थापना करके घर में ही रहे और जीवन भर अग्निहोत्र आदि करे।

सर्वमेध याग—इसमें बारह दीक्षा के, बारह उपसद् के, और दस सुत्या के दिन होते हैं। यह याग चौंतीस दिन का होता है। इसमें पहले दिन अग्निष्टोमसंस्थ अग्निष्टुत् नामक, इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत् और वैश्वदेवस्तुत् क्रमशः ये तीन उक्थ्यसंस्थ होते हैं २-४। तब पाँचवें दिन महाव्रत; छठे वाजपेय, सातवें अप्तोर्याम ७वां, तब त्रिणवस्तोम उक्थ्यसंस्थ ८वां, तब त्रयस्त्रिंश स्तोम उक्थ्य-संस्थ ९वां; तब विश्वजित्सर्वपृष्ठ अतिरात्र १० वां। चैत्रशुक्ला

षष्ठी को **इष्टका-पशु** और **उखा-संभरण** होता है। इसमें उत्तम अर्थात् एक सौ एक अग्नियाँ होती हैं। सत्रह अरत्नि का एक यूप होता है। इसमें दसों दिन **स्तोमायन** और सवनीय पशु होते हैं। पुरुषमेध जैसी दक्षिणा होती है।

पितृमेध याग—इसमें तीनों वर्ण अधिकारी होते हैं। इसमें एक ही ऋत्विक् अध्वर्यु होता है। इसमें मरे हुए पिता आदि की अस्थियों को वन में ले जाकर, उन अस्थियों से (जिस अङ्ग की जो अस्थि हो उससे उस)अङ्ग को बनाकर, पुरुष के आकार का ढांचा बनाकर, उसे शेवल और कुश आदि से ढककर, गाँव में आकर, स्नान करके घर में आवे; ये ही विधियाँ **पितृमेध** में होती हैं।

एकाह याग—अब तक याजुष याग कहे गये हैं। अब एक दिन में की जाने वाली सुत्या वाले, एक या अनेक दीक्षा के दिन वाले, या तीन उपसद् वाले, अथवा १२ उपसद् वाले सामवेद-विहित सोमयाग को एकाह कहते हैं। इन एकाहों की कात्यायन श्रौत सूत्र के बाइसवें अध्याय में **भू** से लेकर **वज्र** तक सतहत्तर संख्या बताई गई है।

यद्यपि ये शतपथ ब्राह्मण में नहीं बताये गये हैं, तथापि ताण्ड्य आदि छन्दोग ब्राह्मणों में विस्तार के साथ आये हैं; कात्यायन ने उन्हें वहीं से लिया है। इसमें एक ही यजमान होता है। सोलह ऋत्विज् होते हैं। ये अग्निष्टोम-संस्थ **सोम-याग** होते हैं। इस यज्ञ के अग्निष्टोमसंस्थ होने से सवनीय पशु अग्नि के लिए एक, उक्थ्यसंस्थ होने से अग्नि और इन्द्र के लिए दो, षोडशिसंस्थ होने पर आग्नेय, ऐन्द्राग्न और ऐन्द्र ये तीन, अतिरात्र-संस्थ होने पर पहले के तीन पशुओं के साथ सरस्वती के लिये मेषी चौथी होती है। उनमें भी पहला भू नाम का एकाह अग्निष्टोम-संस्था वाला १, दूसरा ज्योतिर्नामक अग्निष्टोम-संस्थ, तीसरा गौ उक्थ्यसंस्था वाला ३, चौथा आयुः उक्थ्यसंस्था वाला ४, पाँचवाँ अभिजित् ५, छठा विश्वजित् ६, ये अग्निष्टोम होते हैं। इनका पृथक् अनुष्ठान या एक साथ ही अनुष्ठान होता है; ये दो पक्ष हैं। विश्वजित् में सर्ववेदस दक्षिणा होती है अथवा सहस्रदक्षिणा। तब सर्वजित् अग्निष्टोम-संस्थ संवत्सरदीक्षा वाला, महाव्रत स्तोत्रयुक्त, तीन उपसद् वाला, ७; तब ज्योतिः ८, विश्वज्योतिः ९, सर्वज्योतिः १०, त्रिरात्र-संमित ११, ये चार एकाह होते हैं। इनमें तीसरा उक्थ्यसंस्था का, और अन्य अग्निष्टोमसंस्था वाले होते हैं।

तब छः एकाह १२-१७ अग्निष्टोमसंस्थ और साद्यस्क नामके होते हैं। सद्यः दीक्षा दिवस को ही क्रय से लेकर अभिषव तक कर्म जिनमें होते हैं, उन्हें साद्यस्क कहते हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय का कोई विशेष नाम नहीं है। दूसरे चार क्रमशः **अनुक्री, विश्वजिच्छिल्प, श्येन** और **एकत्रित** नाम के होते हैं। इनमें सवनीय पशु के आलम्भन के समय ही अग्नीषोमीय सवनीय तीन अनूबन्ध्याओं का आलम्भन होता है। सोम के क्रयण की साधनभूत गौ के स्थान पर त्रिवत्स साण्ड होता है। सरस्वती भूमि इसमें वेदि होती है। खलेवाली पशु को बांधने के लिये यूप का काम देती है[१]।

श्येन याग में विशेषता यह होती है—यूप तल्वल वृक्ष का बना होता है; विभीदक वृक्ष का काष्ठ ईन्धन होता है; कुश के स्थान पर शर, शववाहन के उपयुक्त दो काष्ठ अधिषवण-फलक होते हैं; आज्य अनुपतप्त गौ का नवनीत होता है, हविर्धान-शकटों के स्थान पर रथ होते हैं।

प्रचरण के समय ऋत्विज् लोहितवासस्, **लोहितोष्णीष**, एवं निवीती, धनुष् लिये हुए, और भस्त्रा वाले होते हैं। दक्षिणा के लिये बताई गई गौ काणत्व आदि दोषों से युक्त होती है। दान के समय कांटे चुभा कर उसे लहूलुहान कर दिया जाता है।

तब चार अग्निष्टोम-संस्थ व्रात्यस्तोम-नामक एकाह होते हैं। ये गण-याग होते हैं। जिनके पूर्वजों का उपनयन संस्कार नहीं हुआ होता, एवं जो पतितसावित्रीक होते हैं, वे व्रात्य कहाते हैं। यदि वे उपनयन कराना चाहें तो व्रात्यस्तोम करके उपनयन संस्कार के योग्य बन जाते हैं। यहाँ "येषां पितामतादि;" आपस्तम्ब के इस सूत्र के अनुसार अपने से तीन पीढ़ी पहले तक पूर्वजों के संस्कार न किये रहने पर भी यह प्रायश्चित्त पर्याप्त होता है, उससे अधिक पूर्वजों के लिये नहीं, ऐसा कुछ लोगों का मत है। पारस्कर द्वारा अवधि न बताई जाने के कारण तीन पीढ़ियों से अधिक की भी व्रात्यस्तोम से शुद्धि हो जाती है, ऐसा अन्य लोगों का विचार है। **व्रात्य-स्तोम** चार प्रकार के होते हैं। इनमें प्रथम-तृतीय और चतुर्थ अग्निष्टोम संस्था होते हैं और द्वितीय उक्थ्य-संस्थ। व्रात्यों में पूर्व अग्नि का अभाव होने से लौकिक अग्नियों में ही उनका अनुष्ठान होता है, यह कात्यायन का मत है। छन्दोगसूत्र में इसके लिये आधान का आदेश है। व्रात्य चार प्रकार के होते हैं:—**हीन, निन्दित, कनिष्ठ,** और **ज्येष्ठ**। इन में आचार-हीनों का प्रथम में अधिकार होता है, निन्दितों का दूसरे में, कनिष्ठ का तीसरे में, और ज्येष्ठ का चौथे में। निषिद्ध आचरण आदि से जो भ्रष्ट होजाते हैं वे निन्दित कहलाते हैं; जाति से

१ पैर में लान से नाज निकालने के लिये बीच में एक शंकु गाड़कर उसमें एक रज्जु बाँधकर उसमें बैलों को घुमाते हैं; बैलों की दांय चलाने के लिये गाड़ा गया शंकु खलेवाली कहाता है।

छेके गये कनिष्ठ होते हैं; प्रजननशक्ति-रहित बूढ़े ज्येष्ठ कहलाते हैं।

तब अग्निष्टुत् अग्निष्टोम-संस्थ २२, और तब त्रिवृत्स्तोमक चार अग्निष्टोम-संस्थ एकाह ऋतु; वे हैं : **ईप्सु-यज्ञ, बृहस्पति-सव, इषु, सर्व-स्वार**; इनमें सर्वस्वार में विशेषता यह होती है—इसे मरण की इच्छा रखने वाला ही करता है। इसमें तृतीयसवन में आर्भवपवमान की स्तुति किये जाने के समय, औदुम्बरी के दक्षिण की ओर सिर करके यजमान मरण के उद्देश्य से सो जावे; उसके बाद वह मर जाता है। तभी वह इस कर्म की महिमा से अपने ईप्सित फल मरण को प्राप्त कर लेता है, किंतु कभी कभी जीवित भी रह जाता है। यदि मर जाता है तो उसका दैहिक कर्म किया जाता है, यदि जीवित रहता है तो भोजन को त्यागकर मरने की इच्छा से कुछ सूत्रों में 'ब्राह्मणो ! मेरे यज्ञ को समाप्त करो' ऐसा कहकर वह आहवनीय में प्रवेश करता है।

उसके बाद **ऋत्विगपोहनीय**-नामक तीन एकाह होते हैं—उनमें पहला सर्वस्तोम नाम का अग्निष्टोम-संस्थ होता है, दूसरा-तीसरा उक्थ्य-संस्थ होते हैं, क्रमशः ये चतुश्चत्वारिंशस्तोम और अष्टाचत्वारिंशस्तोम वाले होते हैं।

तब **वाचस्तोम**—नामक चार एकाह अग्निष्टोम-संस्थ होते हैं। इसमें "सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि वाऽत्र स्तोमे पारिप्लवं शंसन्ति' इस वचन से बह्वृचों, और सामगों द्वारा सभी ऋचाओं, एवं सभी सामों का शंसन और स्तवन किया जाता है।

पृष्ठचस्तोम-नामक एकाह छः अग्निष्टोम-संस्थ होते हैं। इनमें क्रमशः त्रिवृत् से लेकर त्रयस्त्रिंश तक स्तोम एक-एक एकाह में करने चाहियें।

तब **सौमिक** चातुर्मास्य होते हैं ५०; उनमें वैश्वदेव के स्थान पर पहला पृष्ठ्य दिन होता है; इसमें यूप नहीं होता, परिधि में ही पशु-नियोजन होता है। इसी प्रकार पशु-नियोजन में समर्थ मध्यम परिधि स्थूल बनानी चाहिये। दूसरा द्विदिव नाम का द्व्यह वरुणप्रघास के स्थान पर होता है। तीसरे साकमेध के स्थान पर त्र्यह पार्ष्ठिक होते हैं; उनमें तीसरा दिन अतिरात्रसंस्था वाला होता है। शुनासीरीय के स्थान पर ज्योतिष्टोम एकाह होता है।

इसके बाद **प्रतिकर्म**सोम-संज्ञक ऋतु होते हैं। वे हैं : अग्न्याधेय-सोम, पुनराधेय-सोम, अग्निहोत्र-सोम, दर्शपूर्णमास-सोम, दाक्षायण-सोम, आग्रयण-सोम।

तब **सप्तदश**-नामक पांच अहीन होते हैं : ये अग्निष्टोम-संस्थ होते हैं; ये हैं: उपहव्य, ऋतपेय, बहुसुवर्ण, वैश्यस्तोम और तीव्रसुत्।

इसके बाद **द्वन्द्व-सोम** होते हैं—उन दोनों में एक का अनुष्ठान करके दूसरे का भी अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। उनमें राट्विराट् पहला द्वन्द्व होता है; औपशद पुनस्तोम यह दूसरा द्वन्द्व है, दो चतुष्टोम तीसरा द्वन्द्व, उद्भिद्-बलभिद् चौथा द्वन्द्व; दो अपचिती पाचवाँ; दो अग्निस्तोम छठा द्वन्द्व, पक्षी और ज्योतिः नाम के ऋषभ-गोसव यह सातवाँ द्वन्द्व होता है।

तब **मरुत्स्तोम** अग्निष्टोम-संस्थ गणयज्ञ होता है। उसके बाद **ऐन्द्राग्न** कुलाय अग्निष्टोम-संस्थ होता है। इन्द्र स्तोम उक्थ्य-संस्थ होता है। तब इन्द्राग्नि-स्तोम अग्निष्टोम-संस्थ होता है। तब दो विघन अग्निष्टोम-संस्थ द्वन्द्व-सोम होते हैं, फिर संदंश-वज्र दो अग्निष्टोम-संस्थ द्वन्द्व-सोम होते हैं। इनमें जो गण-यज्ञ होते हैं उन्हें छोड़कर अन्यत्र एक ही यजमान होता है। गण-यज्ञ में गण का ही अधिकार होता है। ये एकाह हैं।

अहीन याग—अहीन शब्द अनेक दिनों में सिद्ध होने वाले यज्ञ का वाचक है। अहीन द्व्यह से लेकर द्वादशाह तक कहे गये हैं। उनके आगे सहस्रवर्ष तक सत्र होते हैं। अहीनों में दो सुत्यावाले, द्व्यह तीन, त्रिसुत्याक पाँच, चतुःसुत्याक चार, पञ्चसुत्याक तीन, षट्सुत्याक तीन, सप्तसुत्याक सात, अष्टसुत्याक एक, नवसुत्याक दो, दश-सुत्यावाले चार, एकादश सुत्यावाला एक, पौण्डरीक इस प्रकार सब मिलकर तैंतीस अहीन होते हैं। द्वादशाह नामक अहीन द्वादशसुत्या वाला अनेक प्रकार का होता है। इन सबमें द्वादश उपसद् होती हैं; और ये मास तक चलते हैं। इनमें सोलह दीक्षा, बारह उपसद्, एक सुत्या इस प्रकार द्व्यह अहीन एक महीने में निष्पन्न होता है। इसी प्रकार दूसरी जगह जैसे-जैसे सुत्या के दिन बढ़ते हैं—वैसे-वैसे दीक्षा के दिन कम होते जाते हैं; जैसे कि तीन सुत्या के दिन होने पर पन्द्रह दीक्षा के दिन होते हैं, जब चार सुत्या के तो चौदह दीक्षा के होते हैं, इत्यादि। उसमें भी द्वादशाह, जामदग्न्य, चतूरात्र महीने तक नहीं चलते; द्वादशाह में बारह दीक्षा के, बारह उपसद् के, बारह सुत्या के इस प्रकार छत्तीस दिन होते हैं।

प्रारम्भ के त्रयोदश अतिरात्रसंस्था के अहीन तत्तत् फल को उद्दिष्ट करके कात्यायन सूत्रकार ने कहे हैं। इनमें प्रारम्भ के चार में षोडशिग्रह नहीं होता; दूसरों में होता है। उनके नवसप्तदश, विषुवान्, गौ, आयु ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, अप्तोर्याम, अभिजित्, सर्वस्तोम ये नाम हैं।

तब तीन द्व्यह, आङ्गिरस, चैत्ररथ, कापिवन नाम के होते हैं; इनमें षोडश दीक्षा, बारह उपसद्, दो सुत्या होती हैं। इनमें आङ्गिरस अग्निष्टोम-संस्थ और दूसरे दो अतिरात्र-संस्थ होते हैं।

उसके बाद पाँच त्र्यह होते हैं :—गर्ग, बैद, छन्दोम, अन्तर्वसु, पराक नाम के : तीन सुत्या, पन्द्रह दीक्षा, बारह उपसद् वाले। उनमें पहला अग्निष्टोम-संस्थ, दूसरा उदय-संस्थ, तीसरा अतिरात्र-संस्थ, चौथे और पाँचवें की संस्था गर्गत्रिरात्रवत् होती है।

चार चतुरह चार सुत्या वाले, अत्रि-चतुर्वीर, जामदग्न्य, वसिष्ठ-संसर्प, विश्वामित्र नाम के; चौदह दीक्षा वाले, बारह उपसद् वाले होते हैं।

तब तीन पञ्चाह होते हैं : पाँच सुत्या वाले; बारह उपसद् वाले, तेरह दीक्षा वाले। ये हैं—देवपञ्चाह, पञ्च-शारदीय, और व्रतवान्।

तब तीन षडह यज्ञ होते हैं; इनमें बारह दीक्षा के, बारह उपसद् के और छः सुत्या के दिन होते हैं। इनमें प्रथम द्वितीय का ऋतु-प्रथम और पृष्ठचवलम्ब नाम है। तीसरे का कोई विशेष नाम नहीं है। पहले में पञ्चाह पार्ष्ठिक होते हैं, छठा विश्वजिदतिरात्र होता है। प्रतिदिन ऐन्द्राग्न सवनीय पशु होता है अथवा स्तोमायन होता है।

तब सात सप्ताह अहीन होते हैं; इनमें बारह उपसद् के, ग्यारह दीक्षा के, सात सुत्या के दिन होते हैं। उनमें क्रमशः ज्योति, गौ, आयु, अभिजित्, विश्वजित्, सर्वजित्, सर्वस्तोम ये सात दिन होते हैं। इनमें ज्योति, अभिजित् विश्वजित् अग्निष्टोम-संस्थ होते हैं। गौ, आयु दोनों उक्थ्य-संस्थ होते हैं, सर्वजित् समहाव्रत है, सर्वस्तोम अतिरात्र होता है।

अष्टाह एक एकाह होता है, बारह उपसद् के, आठ सुत्या के, और दस दीक्षा के दिन होते हैं। इनमें पृष्ठच षडह, तब महाव्रत होता है, तब अतिरात्र।

तब नवाह दो एकाह होते हैं : बारह उपसद्, दस सुत्या, आठ दीक्षा के दिन होते हैं। इनमें पृष्ठच, षडह तब तीन त्रिकद्रुक। दूसरे नवरात्र में पहले तीन त्रि-कद्रुक, तब पार्ष्ठिक पञ्चाह, फिर अतिरात्र।

चार दशरात्र एकाह होते हैं : बारह उपसद्, दस सुत्या, आठ दीक्षा के दिन होते हैं। चारों को क्रमशः त्रिककुप्, कौसुरुविन्द, पूर्वदशरात्र, छन्दोम-दशाह कहते हैं। पहले में प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्त, नवम दिन अग्निष्टोम-संस्था वाले होते हैं, दसवाँ अतिरात्र होता है, और शेष उक्थ्यसंस्थ।

दूसरे दशरात्र में—पहले से तीन अग्निष्टोमसंस्थ, तब छः उक्थ्य-संस्थ, और दसवाँ अतिरात्र होता है।

तीसरे दशरात्र में—पहला, तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ, नवम दिन अग्निष्टोम-संस्थ, दसवां दिन अतिरात्र-संस्थ, और शेष दिन उक्थ्य-संस्थ।

चौथे दशरात्र में—प्रथम पृष्ठचलम्ब, तब पाँच दिन पृष्ठच, चार दशरात्र, और दसवाँ अतिरात्र होता है। एकादशरात्र एक अहीन होता है, जिसमें बारह उपसद् के। ग्यारह सुत्या के, सात दीक्षा के दिन होते हैं और अयुत दक्षिणा होती है।

सत्र—सत्र का लक्षण पहले कहा जा चुका है। द्व्यह से लेकर एकादशरात्र तक के याग अहीन कहलाते हैं, द्वादशरात्र अहीनात्मक और सत्रात्मक दोनों होता है, यह पहले कहा जा चुका है। द्वादशाह भी बताया जा चुका है। यहाँ त्रयोदशरात्र से लेकर रात्रिसत्र बताये जायेंगे।

सभी रात्रिसत्रों में बारह दीक्षा के, बारह उपसद् के दिन होते हैं। सुत्या त्रयोदशरात्रिसत्र में तेरह, चतुर्दशरात्र में चौदह, पञ्चदशरात्र में पन्द्रह, इस प्रकार एक-एक बढ़ाकर चत्वारिंशद्रात्रि तक के सत्रों में चौबीस सुत्या के दिन हो जाते हैं। इससे त्रयोदश रात्र सैंतीस दिन में होने वाला, चतुर्दशरात्र अड़तिस दिन का, इस प्रकार चत्वारिंश-द्रात्रसत्र तक एक-एक दिन की वृद्धि समझनी चाहिये। तब एकोनपञ्चाशद्रात्र सात सत्र होते हैं, तब शतरात्र नामक एक सत्र; इस प्रकार ये सैंतीस संख्या वाले **रात्रिसत्र** होते हैं।

त्रयोदशरात्र नामक तीन सत्र होते हैं। पहले त्रयोदश-रात्र में प्रायणीय अतिरात्र १, पृष्ठ्य षडह २–७, तब सर्वस्तोम अतिरात्र, ८, तब चार छन्दोम ९–१२, तब उदयनीय अतिरात्र १३, इस प्रकार दिनों का विभाजन होता है।

दूसरे त्रयोदशरात्र में—प्रायणीय अतिरात्र १, पृष्ठ्य षडह २–७, चार छन्दोम ८–११, महाव्रत १२, उदयनीय अतिरात्र यह क्रम होता है।

तीसरे त्रयोदशरात्र में—प्रायणीय अतिरात्र १, चतुर्वि-शमहः २, अभिजित् ३, तीन स्वरसाम ४–६, विषुवान् ७, तीन स्वरसाम ८–१०, विश्वजित् ११, महाव्रत १२, उद-यनीय अतिरात्र १३।

तब चतुर्दशरात्र-नामक तीन सत्र होते हैं। उनमें आदि में प्रायणीय अतिरात्र १, दो पृष्ठ्य षडह २–१३, उदयनीय अतिरात्र १४।

दूसरे चतुर्दशरात्र में—प्रायणीय अतिरात्र १, ज्योति २, आयु ३, गौ ४, पृष्ठ्य षडह ५–१०, गौः ११, आयु १२, ज्योति १३, उदयनीय अतिरात्र १४।

तीसरे चतुर्दशरात्र में—प्रायणीय १, गौ २, आयु ३, पृष्ठ्य षडह ४–९, चार छन्दोम १०–१३, उदयनीय १४।

तब पञ्चदशरात्र नाम के चार सत्र होते हैं। पहले में प्रायणीय १, पृष्ठ्य २–७, महाव्रत ८, पृष्ठ्य ९–१४, उदयनीय १५।

दूसरे में—प्रायणीय १, अग्निष्टुत् २, ज्योति, गौ, आयुः ३–५, पृष्ठ्य ६–११, आयु, गौ, ज्योतिः १२–१४, उदयनीय १५ यह क्रम है।

तीसरे में—प्रायणीय अग्निष्टुत् १, ज्योतिः, आयुः, गौः २–४, पृष्ठ्य ५–१०, चार छन्दोम १२–१४, उदयनीय १५ यह क्रम है।

चौथे पञ्चदश रात्र में क्रम है : प्रायणीय अतिरात्र १, शेष तीसरे के समान २–१५।

षोडशरात्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, आयुः, गौ २–४, पृष्ठच ५–१०, चार छन्दोम ११–१४, महाव्रत १५, उदयनीय १६।

अष्टादशरात्र में–प्रायणीय, १, अभिप्लव २–७, पृष्ठच १८–१३, चार छन्दोम १४–१७, उदयनीय १८।

एकोनविंशतिरात्र में—प्रायणीय १, अभिप्लव षडह २–७, शेष पहले की तरह।

विंशतिरात्र में—प्रायणीय १, अभिप्लव षडह २–७, अभिजित् ८, विश्वजित् ९, पृष्ठच षडह १०–१५, चार छन्दोम १६–१९, उदयनीय २० इस प्रकार २० दिन होते हैं।

एकविंशतिरात्र नाम के दो सत्र होते हैं। उनमें पहले में—अषोडशिक प्रायणीय अतिरात्र १, दो अभिप्लव षडह ९–२०, उदयनीय २१।

दूसरे में—प्रायणीय १, पृष्ठ्य २–७, तीन स्वरसाम ८–१०, विषुवान् ११, तीन स्वरसाम १२–१४, पृष्ठच १५–२०, उदयनीय २१।

द्वाविंशतिरात्र सत्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, गौ, आयुः २–४, अभिप्लव ५–१०, पृष्ठच ११–१६, चार छन्दोम होते हैं। १७–२० महाव्रत २१, उदयनीय २२।

त्रयोविंशतिरात्र सत्र में—प्रायणीय १, अभिप्लव का पञ्चाह २–६, अभिप्लव ७–१२, पृष्ठच १३–१८, छन्दोम १९–२२, उदयनीय २३।

पहले चतुर्विंशतिरात्र सत्र में—प्रायणीय १, दो अभिप्लव २–१३, पृष्ठच १४–१९, छन्दोम २०–२३, उदयनीय २४ ये दिन रहते हैं।

दूसरे चतुर्विंशतिरात्र में—प्रायणीय, १, पृष्ठचस्तोम षडह (२–७), अनिरुक्त अग्निष्टोम ८, पृष्ठचषडह के तीन पहले के प्रतिलोम दिन ९–११ (६, ५, ४)। वे ही अनुलोम १२–२४ (४, ५, ६) अनिरुक्त अग्निष्टोम १५, पृष्ठयस्तोम षडह (१६–२१) अग्निष्टोम के दो अनिरुक्त २२–२३, उदयनीय २४।

पञ्चविंशतिरात्र में—प्रायणीय १, दो अभिप्लव २-१३, पृष्ठच १३–१९, छन्दोम २०–२३, महाव्रत २४, उदयनीय २५।

षड्विंशतिरात्र में—प्रायणीय १, गो-आयुषी २–३, दो अभिप्लव ४–१५, पृष्ठच १६–२१, छन्दोम २२–२५, उदयनीय २६।

सप्तविंशतिरात्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, गौ, आयुः, २–४, दो अभिप्लव ५–१६, पृष्ठच १७–२२, छन्दोम २३–२६, उदयनीय २७।

अष्टाविंशतिरात्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, गौ, आयुः २–४, दो अभिप्लव ५–१६, पृष्ठच १७–२, छन्दोम २३–२६, महाव्रत २७, उदयनीय २८।

एकोनत्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, अभिप्लव के पाँच् दिन २–६, दो अभिप्लव ७–१८, पृष्ठच १९–२४, छन्दोम २५–२८, उदयनीय २९।

त्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, तीन अभिप्लव २–१९, पृष्ठच २०–२५, छन्दोम २६–२९, उदयनीय ३०।

एकत्रिंशद्रात्र में—छन्दोम के बाद महाव्रत अधिक होते हैं; अन्य सब पहले की तरह।

द्वात्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, गो-आयुषी २–३, तीन अभिप्लव ४–२१, पृष्ठच २२–२७, छन्दोम २८–३१, उदयनीय ३२।

तब त्रयस्त्रिंशद्रात्र तीन सत्र होते हैं। पहले में—प्रायणीय १, तीन अभिप्लव के पञ्चाह २–१६, विश्वजिदतिरात्र १७, तब चौथा पञ्चाह १८–२२, पृष्ठच २३–२८, छन्दोम २९–३२, उदयनीय ३३।

दूसरे में—प्रायणीय १, अभिप्लव २–७, अतिरात्र ८, अभिप्लव ९–१४, अतिरात्र १५, अभिप्लव १६–२१, पृष्ठच २२–२७, छन्दोम २८–३१, महाव्रत ३२, उदयनीय ३३।

तीसरे में—प्रायणीय १, तीन अभिप्लव पञ्चाह २–१६, विश्वजिदतिरात्र १७, तीन पञ्चाह १८–३२, उदयनीय ३३।

चतुस्त्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, गौ, आयुः २–४, तीन अभिप्लव ५–२३, पृष्ठच २३–२८, छन्दोम २९–३२, महाव्रत ३३, उदयनीय ३४।

पञ्चत्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, अभिप्लव के पञ्चाह २–६, तीन अभिप्लव ७–२४, पृष्ठच २५–३०, छन्दोम ३१–३४, उदयनीय ३५।

षट्त्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, चार अभिप्लव २–२५, पृष्ठच २६–३१, छन्दोम ३२–३५, उदयनीय ३६।

सप्तत्रिंशद्रात्र में–प्रायणीय १, चार अभिप्लव २–२५, पृष्ठच २६–३१, छन्दोम ३२–३५, महाव्रत ३६, उदयनीय ३७।

अष्टत्रिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, गो-आयुषी २–३, चार अभिप्लव ४–२७, पृष्ठ्य २८–३३, छन्दोम ३४–३७, उदयनीय ३८।

एकोनचत्वारिंशद्रात्र में—प्रायणीय १, ज्योतिः, गौ, आयुः २–४, चार अभिप्लव ५–२८, पृष्ठ्य, २९–३४, छन्दोम ३५–३८, उदयनीय ३९।

चत्वारिंशद्रात्र में—छन्दोम के बाद महाव्रत अधिक होता है। अन्य सब पहले के समान होता है।

एकान्नपञ्चाशद्रात्र नाम के सात सत्र होते हैं। पहले में—प्रायणीय १, कौसुरुविन्द नाम के दिन २–४, अतिरात्रि ५, नव उक्थ्य ६–१४, एक षोडशी १५, अतिरात्र १६, बारह उक्थ्य १७–२८, अतिरात्र २९, पृष्ठ्य ३०–३५, अतिरात्र ३६, बारह उक्थ्य ३७–४८, उदयनीय ४९।

दूसरे में—प्रायणीय १, दो अभिप्लव २–१३, गो, आयुषी १४–१५, दो अभिप्लव १६–२७, अभिजित् और विश्वजित् २८–२९, अभिप्लव ३०–३५, सर्वस्तोम ३६, नवसप्तदश ३७, पृष्ठ्य ३८–४२, छन्दोम ४४–४७, महाव्रत ४८, उदयनीय ४९।

तीसरे में—प्रायणीय १, चार अभिप्लव २–२५, सर्वस्तोम २६, दो अभिप्लव २७–३८, पृष्ठ्य ३९–४४, छन्दोम ४५–४८, उदयनीय ४९।

चौथे में—प्रायणीय १, चतुर्विंशमहः २, तीन अभिप्लव ३–२०, नवरात्र २१–२९; अभिप्लव ३०–३५, आयु ३६, गौः ३७, दशरात्र ३८–४७, महाव्रत ४८, उदयनीय ४९।

पाँचवे में—प्रायणीय १, चार नवरात्र २–३७, दशरात्र ३८–४७, महाव्रत ४८, उदयनीय ४९।

छठे और सातवें में—प्रायणीय १, चार अभिप्लव २–२५, महाव्रत २६, दो अभिप्लव २७–३८, दशरात्र ३९–४८, उदयनीय ४९।

शतरात्र सत्र में—प्रायणीय १, त्रिकद्रुक २–४, चौदह अभिप्लव ५–८८, दशरात्र ७९–९८, महाव्रत ९९, उदयनीय १००।

तब एक वर्ष में होने वाला **आदित्यानामयन** नाम का सत्र होता है। इसमें प्रायणीय १, चतुर्विंशमहः २, दो अभिप्लव ३–१४, पृष्ठ्य १५–२०, दो अभिप्लव ३१–३२, इस प्रकार पहला मास होता है। इसी प्रकार दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ मास होते हैं। छठे में तीन अभिप्लव १८, पृष्ठ्य १९–२४, वृहस्पतिसव २५, स्वरसामनाम के तीन दिन २६–२८।

तब **अङ्गिरसामयन** नामका सत्र संवत्सर में होता है। वह **गवामयन** की तरह होता है। उसके बाद **कुण्डपायिनामयन** नाम का संवत्सर में होने वाला सत्र होता है। इसमें एक महीने दीक्षा, एक मास अग्निहोत्र, एक मास दर्शपूर्णमास, तब एक मास तक वैश्वदेव पर्व, तब एक मास तक वरुणप्रघास, तब महीने तक साकमेध, तब एक मास शुनासीरीय। इस प्रकार छः महीने बीत जाने पर बाद के छः महीने तक **दृतिवातवतोरयन** का पहले पक्ष से अनुष्ठान करना होता है। इसमें होता, उद्गाता, मैत्रावरुण, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता पाँच ऋत्विज् होते हैं, अन्य नहीं। तब होता आध्वर्यव, पोत्रीय होत्र करता है। इसी प्रकार उद्गाता, नेष्टा, अच्छावाक के लिए, मैत्रावरुण, ब्रह्मत्वप्रतिहर्ता के लिए, प्रस्तोता ब्राह्मणाच्छंसिन् ग्रावस्तोत्रीय के लिये, प्रतिप्रस्थाता आग्नीध्र और उन्नेता के लिए करे। उसके बाद **सर्प-सत्र** संवत्सर में होता है।

तब **तापश्चित** नाम का सत्र तीन वर्ष में होता है। संवत्सर की दीक्षा होती है, संवत्सर का उपसद्, संवत्सर की सुत्या होती हैं। इसमें सभी गवामयन की तरह होता है।

तब **महा-तापश्चित** पांच वर्ष में होता है। तीन वर्ष तक उपसद्, शेष तापश्चित के समान होता है।

तब **क्षुल्लक-तापश्चित** सत्र होता है। चार-चार महीने दीक्षा, उपसद् और सुत्या होते हैं।

तब **अग्निसत्र** नाम का सहस्रसुत्या वाला होता है। उसमें-प्रायणीय, १, त्रिकद्रुक २–४, चतुःषष्ठशत अभिप्लव ५–९८८, पृष्ठ्य ९८९–९९४, छन्दोम ९९५–९९८, महाव्रत ९९९, उदयनीय १००० यह क्रम रहता है।

त्रिसंवत्सर नामका सत्र होता है। इसमें साठ दीक्षा, संवत्सर उपसद् और त्रिसंवत्सर सुत्या होते हैं।

तब चार महासत्र होते हैं—उनमें **प्रजापति** सत्र पहला होता है। उसमें बारह वर्ष की सुत्या, उपसद् और दीक्षा होती है।

शाक्त्यानामयन नाम का सत्र दूसरा होता है। उसमें छत्तीस वर्ष की सुत्या होती है। **साध्यानामयन** नाम का तीसरा सत्र होता है: सौ वर्ष की सुत्या। उसके बाद **विश्वसृजामयन** नाम का सत्र चौथा होता है: उसमें सहस्र सुत्या होती हैं।

तब **सारस्वतसत्र**, अथवा यात्सत्र नाम से प्रसिद्ध तीन सत्र होते हैं। इनकी दीक्षाएँ सरस्वती के समुद्र में मिलने के स्थान प्रभासक्षेत्र में होती हैं। इनमें चौथे सारस्वतसत्र की दार्षद्वत संज्ञा भी है।

उसके बाद **तुरायण** नाम का सत्र होता है।

ब्राह्मणों में यज्ञ-निरूपण के लिये तुलना करो :—
'स (सोमः) तायमानो जायते स यन् जायते तस्माद् यज्ञो

यज्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः' शब्रा० ३. ९. ४. २३; 'प्राणः (यज्ञस्य) सोमः' कौब्रा० ९. ६; 'अध्वरो वै यज्ञः' शब्रा० १. २. ४. ५; 'यज्ञो वै मखः' शब्रा० ६. ५. २. १; 'यज्ञो वै स्वाहाकारः' शब्रा० ३. १. ३. २७; 'यज्ञो वै भुज्युः। यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि युनक्ति' शब्रा० ९. ४. १.११; 'गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह' शब्रा० १. ९. २. २८; 'यज्ञो वा ऋतस्य योनिः' शब्रा० १. ३. ४. १६; 'यज्ञो वै मधुसारघम्' शब्रा० ३. ४. ३. १३; 'यज्ञो वै देवानां महः' शब्रा० १. ९. १. ११; 'एष ह वै महान् देवो यद् यज्ञः' गोब्रा० १. २. १६; 'यज्ञो वा अर्यमा' तैब्रा० २. ३. ५. ४; 'यज्ञो वै वसुः' शब्रा० १. ७. १. ९; यज्ञो वै विदद्वसुः' तांब्रा० ११. ४. ५; 'सं यद् वसुरित्याह यज्ञं हि संयन्तीदं वस्विति' शब्रा० ८. ६. १.१९; 'यज्ञो वै स्वः। अहर्देवाः सूर्यः' शब्रा० १. १. २. २१; 'यज्ञो वै विट्' शब्रा० १४. ३. १. ९; यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि' शब्रा० ८. ७. ३. २१; 'ब्रह्म यज्ञः' शब्रा० ३. १. ४. १५; सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' शब्रा० १. १.४. ३; 'यज्ञः प्रजापतिः' शब्रा० ११. ६. ३. ९; कौब्रा० १०. १; ऐब्रा० २. १६; तैब्रा० ३. २. ३. १; 'इन्द्रो यज्ञस्यात्मा' शब्रा० ९. ५. १. ३३; 'इन्द्रो यज्ञस्य देवता' ऐब्रा० ५. ३४; गोब्रा० २. ३. २३; 'विष्णुर्यज्ञः' गोब्रा० २. १. १२; 'यो वै विष्णुः स यज्ञः' शब्रा० ५. २. ३. ६; 'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः' शब्रा० १४. १. १. ६; 'विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय (हविः) गृह्णाति' शब्रा० ३. ४. १. १४; 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यंदिनं सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्' शब्रा० १४. १. १. १५; 'तद् यदेतेन (यज्ञेन विष्णुना) इमां सर्वां (पृथिवीं) समविदन्त तस्माद् वेदिर्नाम' शब्रा० १. २. ५. ६; 'यज्ञो वै देवेभ्योऽपाक्रामत् स सुपर्णरूपं कृत्वाऽचरत् तं देवा एतैः (सौपर्णैः) सामभिरारभन्त' तांब्रा० १४. ३. १०; 'यज्ञमुखं वा उपांशुः' शब्रा० ५. २. ४ १७; 'सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद् यज्ञः' शब्रा० १४. ३. २. १; 'यज्ञ उ देवानामन्नम्' शब्रा० ८. १. २. १०; 'स हैष यज्ञ उवाच। नग्नताया वै बिभेमीति का ते नग्नतेत्यभित एव मा परिस्तृणीयुरिति तस्मादेतदग्निमभित: परिस्तृणन्ति तृष्णाया वै बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृप्येयमिति तस्मात् संस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद् यज्ञमेवैतत् तर्पयति' शब्रा० १. ७. ३. २८; 'त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनाः' शब्रा० २.३. ४.१७? 'ते वै पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद्भूत्वा कल्पेतामाहावश्च हिंकारश्च प्रस्तावश्च प्रथमा च ऋगुद्गीथश्च मध्यमा च प्रतिहारश्चोत्तमा च निधनं च वषट्कारश्च ते यत् पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद्भूत्वाकल्पेतां तस्मादाहुः पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पशवः इति' ऐब्रा० ३. २३; 'एष वै यज्ञो यदग्निः' शब्रा० २.१.४. १९.; तांब्रा० ११. ५.२; 'अग्निर्वै यज्ञमुखम्' तैब्रा० १. ६. १. ८; 'वाग् घि यज्ञः' शब्रा० १. ५.२.७; ऐब्रा० ५. २४; 'वाग् यज्ञस्य (रूपम्)' शब्रा० १२. ८. २.४; 'अयं वै यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते' ऐब्रा० ५. ३३; शब्रा० ३. १. ३. २६; 'संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः' शब्रा० २. २. २. ४; 'संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति' शब्रा० ३. १. ४.५; 'यज्ञ एव सविता' गोब्रा० १. १. ३३; शब्रा० १४. १. १. ६; 'यजमानो वै यज्ञः' ऐब्रा० १. २८; 'आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः' शब्रा० ९. ५. २. १६; 'आत्मा वै यज्ञः' शब्रा० ६. २. १. ७; 'पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने मुखमाहवनीय उदरं सदोऽन्नमुक्थानि बाहू मार्जालीयश्चाग्नीध्रीयश्च या इमा अन्तर्देवतास्ते अन्तः सदसं घिष्ण्या प्रतिष्ठा गार्हपत्यव्रतश्रवणाविति' कौब्रा० १७. ७; 'पुरुषो वै यज्ञः' शब्रा० १. ६. २. ९; 'पशवो यज्ञः' शब्रा० ३. २. ३. ११; 'यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः' तैब्रा० ३. ९. ५. ५; 'यज्ञो वै भुवनम्' तैब्रा० ३. ३. ७. ५; 'आपो वै यज्ञः' ऐब्रा० २. २०; 'परोक्षं यज्ञः' शब्रा० ३. १. ३. २५; 'तन्न सर्व इवाभिप्रपद्येत ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः' शब्रा० ३. १. १. ९; 'अयज्ञो वा एषः। योऽपत्नीकः' तैब्रा० २. २. २. ६; 'जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत् पत्नी' शब्रा० १. ३. १. १२; 'अथ त्रीणि वै यज्ञस्येन्द्रियाणि। अध्वर्युर्होता ब्रह्म' तैब्रा० १. ८. ६. ६; 'मनोर्यज्ञ इत्यु वा आहुः' शब्रा० १. ५. १. ७; 'मनुर्ह वा अग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते' शब्रा० १. ५. १. ७; 'रेतो वा अत्र यज्ञः' शब्रा० ७. ३. २. ९; 'शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्। बाहू प्रायणीयोदयनीयौ' शब्रा० ३. २. ३. २०; 'एतद् यज्ञस्य शिरो यन्मन्त्रवान् ब्रह्मौदनः' गोब्रा० १. २. १६; 'चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ' शब्रा० ११. ७. ४. २; 'एतद् वै प्रत्यक्षाद् यज्ञरूपं यद् घृतम्' शब्रा० १२. ८. २. १५; 'विराड् वै यज्ञः' शब्रा० १.१.१. २२; 'यदु ह किं च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत् कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैव तत् कुर्वते' शब्रा० ८. ४. ३. २; 'नासामा यज्ञोऽस्ति' शब्रा० १. ४. १. १; 'यद् वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवम्' शब्रा० ११. २. ३. ९; 'यद् वै यज्ञस्य दुरिष्टं तद् वरुणो गृह्णाति' तांब्रा० १३. २. ४; 'अक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपि दधाति' तांब्रा ८. ६. १३; 'व्यृद्धं वैतद् यज्ञस्य यन्मानुषम्' शब्रा० १. ४. १. ३५; 'स एवं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत्' गोब्रा० १. १.१२; 'सप्त

सुत्याः सप्त च यत्पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः' गोब्रा० ५. २५; 'अथातो यज्ञक्रमा अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद् दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणमाग्रयणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमोऽग्निष्टोमाद् राजसूयो राजसूयाद् वाजपेयो वाजपेयादश्वमेधो ऽश्वमेधात् पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधात् दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्यो ऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः' गोब्रा १. ५. ७; 'अग्निष्टोम उक्थ्यो ऽग्निर्ऋतुः प्रजापतिः संवत्सर इति। एतेऽनुवाका यज्ञक्रतूनां चर्तूनां च संवत्सरस्य च नामधेयानि' तैब्रा० ३. १०. १०. ४; 'यज्ञो विकङ्कतः' शब्रा० १४. १. २. ५; 'यदि पालाशान् (परिधीन्) न विन्देदथो अपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथो अपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान् न विन्देदथो अपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथो औदुम्बराः एते हि वृक्षा यज्ञियाः' शब्रा० १३. ३. २०; 'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्माद् ऋतुसंधिषु प्रयुज्यन्त ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते' गोब्रा० १. १. १९; कौब्रा० ५. १; 'स्वर्गो वै लोको यज्ञः' कौब्रा० १४. १; 'यज्ञेन वै तद् देवा यज्ञमयजन्त यदग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्' ऐब्रा० १. १६; 'एष वै यजमानस्यामुष्मिंल्लोक आत्मा भवति यद् यज्ञः स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके संभवति य एवं विद्वान् निष्क्रीत्या यजते' शब्रा० ११. १. ८. ६; विस्तार : विद्याधर की काश्रौ सूत्र पर भूमिका।

यज्ञ-गाथा—किसी यज्ञ के किसी सिद्धान्त विशेष से युक्त किसी पद्य (गाथा) को अथवा महाभारत के अनुसार यज्ञ के संबन्ध में गाए गए गीत ('गाथा यज्ञ-गीता') को यज्ञ-गाथा कहा गया है : ऐब्रा०, ३. ४३. ५; आश्रौसूत्र, २. १२. ६; शांश्रौसूत्र, १६. ८. २६; १६. ९. ६; महाभारत, १२. ७९१, २३१६।

यज्ञ-वचस् राजस्तम्बायन—राजस्तम्ब का वंशज यज्ञ-वचस्। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **तुर कावषेय** के शिष्य एक आचार्य का नाम यज्ञवचस् राजस्तम्बायन है। मैत्रायणी संहिता में भी इनका नाम आया है : शब्रा०, १०. ४. २. १; १०. ६. ५. ९; बृउ०, ६. ५. ४ काण्व; मैसं०, ३. १०. ३; ५. ८. २।

यज्ञ-सेन—याजुष संहिताओं के अनुसार **चैत्र** या **चैत्रायण** के साथ एक आचार्य का पैतृक नाम यज्ञसेन है। **चैत्रायण** : तैसं०,५. ३. ८. १, **चैत्र** : कासं०,२१. ४।

यज्ञायज्ञीय—साम-विशेष। 'योनिर्वै यज्ञायज्ञीयमेतस्माद् वै योनेः प्रजापतिर्यज्ञमसृजत यद् यज्ञमसृजत तस्माद् यज्ञायज्ञीयम्' तांब्रा० ८. ६. ३; 'चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञीयं यो हि कश्च यज्ञः संतिष्ठते एतमेव तस्याहुतीनां रसोऽप्येति तद् यदेतं यज्ञो यज्ञोऽप्येति तस्माच्चन्द्रमा यज्ञायज्ञीयम्' शब्रा० ९. १. २. ३ 'वाचो रसो यज्ञायज्ञीयम्' तैब्रा० १८. ५. २१; 'कथमिव यज्ञायज्ञीयं गेयमित्याहुर्यथानड्वान् प्रस्नावयमाण इत्थमिव चेत्यमिव चेति' तांब्रा० ८. ७. ४।

यज्ञेषु—तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक व्यक्ति का नाम यज्ञेषु है। उनके पुरोहित **मत्स्य** ने, जो यज्ञ के उचित समय को जानते थे, उन्हें संपन्न बनाया था : तैब्रा०, १. ५. २. १; तु०—वेबर, नक्षत्र, २. २०६।

यज्ञोपवीत—यज्ञोपवीत शब्द यज्ञ के अवसर पर वामस्कन्ध के ऊपर से ब्रह्मसूत्र धारण करने को जताता है। सबसे पहले इसका उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में आता है : तैब्रा०, ३. १०. ९. १२; तु०—तैसं०, २. ५. ११. १; शब्रा०, २. ४. २. १; २. ६. १. १२ और **प्राचीनावीत**। तिलक का कहना है कि प्रारम्भिक काल में धागा नहीं धारण किया जाता था; अपितु **वासस्** या **अजिन** धारण किया जाता था। यह मत संभव है[१]।

यति—यति एक प्राचीन वर्ग का नाम है, जिसे ऋग्वेद के कई स्थलों पर **भृगुओं** के साथ संबद्ध बताया गया है, और जहाँ वे वास्तविक व्यक्ति प्रतीत होते हैं : ऋ० ८. ३. ९; ८. ६. १८[२]। ऋ० १०. ७२. ७ में वे पौराणिक प्रतीत होते हैं। याजुष संहिताओं में एवं अन्यत्र यतियों के वर्ग का उल्लेख आता है, जिसे **इन्द्र** ने **सालावृकों** को समर्पित कर दिया था। इसका अर्थ अनिश्चित है। सामवेद के एक साम में यति को **भृगु** के साथ संबद्ध बताया गया है।

द्रष्टव्य : तैसं०, २. ४. ९. २; ६. २. ७. ५; कासं०, ८. ५; ११. १०; २५. ६; ३६. ७; पंविब्रा०, ८. १. ४; १३. ४. १६; ऐब्रा०, ७. २८. १; कौउ०, १. ३ इत्यादि; म्यूर, संस्कृतटैक्स्ट्स, १२. ४३७ एवं आगे; सामवेद, २. ३०४; अवे०, २. ५. ३; तु०—म्यूर, उपर्युक्त ५. ४९

[१] ओरायन, १४५ एवं आगे; तैआ० २. १ का उद्धरण तथा मीमांसकों के मत (जैमिनीय न्यायमाला ३. ४. १) का उद्धरण दिया गया है। यह मत ठीक है, किंतु मृगशिरा की कक्षा के साथ इसका संबन्ध बताना मैकडानल और कीथ की दृष्टि में अग्राह्य है। तु०—एगलिंग, सेबुई० १२. ३६१. ४२४।

[२] वेबर, इस्टू०, ३. ४६५ टि०।

टि०–९२; ह्विटनी, ट्रांअवे०, ४४; आश्रौसूत्र, ६. ३. १; तु०–मैकडानल, वैमा०, पृ०–१४६।

यदु—यदु एक जाति और उसके राजा का नाम है। ऋग्वेद में उनका अनेकशः उल्लेख साधारणतया **तुर्वशों** के साथ हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने **सुदास्** के विरुद्ध दाशराज्ञ युद्ध में भाग लिया था। जब **अनु** और **द्रुह्यु** राजा मारे गए, तब **यदु** और **तुर्वश** राजा भाग गए। यह अनेक स्थलों की स्वाभाविक व्याख्या है; यद्यपि इसमें **सरयु** के पार एक आक्रमण की एवं दो राजाओं **अर्ण** और **चित्ररथ** के पराजय की संभावना है। हांपकिन्स का यह मत कि **तुर्वश** यदु-राजा था चिन्त्य है। द्र० ऋ० १. ३६. १८; १. ३४. ६; १. ७४. ९; ४. ३०. १७; ५. ३१. ८; ६. ४५. १; ८. ४. ७; ८. ७. १८; ८. ९. १४; ८. १०. ५; ८. ४५. २७; ९. ६१. २; १०. ४९. ८; १. १०८. ८; द्र०–हापकिन्स, जअओसो०, १५. २५८ एवं आगे; ऋ० ७. १८. ६; तु०–**यक्षु**; ऋ० ४. ३०. १८; तु०–त्सिमर, आले०, १२२; लुड्विग, ट्रांऋ०, ३. २०५; ५. १४२; वेबर, एपिश्शेस०, ३७।

यद्वाहिष्ठीय—साम-विशेष। 'ब्रह्मयशसं वा एतानि सामान्यृचा श्रोत्रीयाणि ब्रह्मयशसी भवति यद्वाहिष्ठीयेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १५. ५. २६।

यन्तृ—ऋग्वेद एवं सूत्रों में यन्तृ शब्द घोड़े या रथ के यन्ता के लिए आया है: ऋ० १. १६२. १९; १०. २२. ५; काश्रौसूत्र, १५. ६. २९ इत्यादि। तु० 'अपानो वै यन्ताऽपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ भवति' ऐब्रा० २. ४०; 'वायुर्वै यन्ता वायुना हीदं यतमन्तरिक्षे न समृच्छति' ऐब्रा०, २. ४१।

१–यम—यह शब्द 'जुड़वां' के अर्थ में आया है। जुड़वां बच्चों के जन्म का वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है: ऋ०, १. ६६. ४; १. १६४. १५; २. ३९. २; ३. ३९. ३; ५. ५७. ४; ६. ५९. २; १०. १३. २; १०. ११७. ९; पंविब्रा०, १६. ४. १० इत्यादि। भिन्न लिङ्ग के जुड़वां बच्चों को 'यमौ मिथुनौ' (कासं०, १३. ४) कहा गया है। नीग्रो एवं अन्य जातियों में व्याप्त इस विश्वास के भी चिह्न मिलते हैं कि जुड़वां बच्चे अपशकुन के द्योतक होते हैं: अवे०, ३. २८; ऐब्रा०, ७. ९. ८; काश्रौसूत्र, २५. ४. ३५; शांश्रौसूत्र, ३. ४. १४ इत्यादि; तु०–**यम-सू**। किंतु इसके विपरीत इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि जुड़वां बच्चे शुभ शकुन हैं: तैसं०, ७. १. १. ३; पंविब्रा०, २४. १२. ३; शब्रा०, ५. ३. १. ८ और ऋ० ३. ३९. ३।

द्रष्टव्य: वेबर, इस्टू०, १७. २७८–३००, नक्षत्र २. ३१४ टि०।

२–यम—यम वैदिक काल से ही मृत्यु के देवता माने गये हैं: ऋ० १. १६५. ४। अथर्ववेद १८. ३. १३ में कहा गया है कि मर्त्यों में सबसे पहले मरने वाले यम थे, जो उस लोक में गये; उस यम राजा को हम हवि प्रदान करते हैं। ऋग्वेद १०. १० में यम और उनकी बहन यमी का संवाद आया हैं, जिसमें भाई-बहन के विवाह को अनुचित ठहराया गया है। विशेष विवरण के लिए देखें मैकडानल, वैमा०। द्रष्टव्य: ऋ० १. ३५. ६; १०. १४. १; १०. १५. ८; १०. १८. १३; १०. ५७. ७; १०. ६०. १०; १०. १३५. १; १०. १६५. ४; अवे०, ४. ३३४. ३, ४; ऋ० १. ८३. ५; ऐब्रा०, ८. ७; शब्रा०, २. ३. २. १; तैसं०, ५. १. ८. २।

तु० 'एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येनेदं सर्वं यतम्' शब्रा० १४. १. ३. ४; 'अग्निर्वाव यमः' गोब्रा २. ४. ८; 'अग्निर्वै यम इयं (पृथिवी) यम्याभ्यां हीदं सर्वं यतम्' शब्रा० ७. २. १. १०; 'अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते' शब्रा० १४. २. २. ११. 'यमः पन्था' तैब्रा० २. ५. ७. ३; 'क्षत्रं वै यमो विशः पितरः' शब्रा० ७. १. १. ४; 'पितृलोको यमः' कौब्रा० १६. ९; 'अनूराधाः प्रथमम् अपभरणीरुत्तमं तानि यमनक्षत्राणि' तैब्रा० १. ५. २. ७; शब्रा० ७. २. १. १०;।

यम नक्षत्र—द्र०–**नक्षत्र**।

यम-सू—जुड़वां बच्चे उत्पन्न करने वाली। यजुर्वेद में यम-सू को पुरुषमेध की बलियों की सूची में गिनाया गया है: वासं०, ३०. १५; तैब्रा०, ३. ४. ११. १।

यमी—द्र०–**यम**। 'इयं (पृथिवी) यमी' शब्रा० ७. २. १. १०.

यमुना—जुड़वां। यह एक नदी का नाम है। गङ्गा के समानान्तर बहने से इसका यह नाम पड़ा है। ऋग्वेद में यह नाम तीन बार आया है: ऋ० ५. ५२. १७; ७. १८. १९; १०. ७५. ५। इसके बाद यह नाम प्रायः आता रहा है। ऋग्वेद ७. १८. १९ (द्र०–**भरत** और **कुरु**) के अनुसार **तृत्सुओं** एवं **सुदास्** ने यमुना के तट पर शत्रुओं को हराया था। कोई कारण नहीं कि हापकिन्स[1] का यह मत माना जाय कि यमुना यहां **परुष्णी** (=रावी) का दूसरा नाम है। अथर्ववेद ४.९. १०; में **त्रैककुद अञ्जन** के साथ **यामुन अञ्जन** का भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में **बार्हतों** को यमुना के तट पर विजयी होने का यश दिया गया है: ऐब्रा० ८. २३; शब्रा०, १३. ५. ४. ११। अन्य ब्राह्मणों में भी इस नदी का उल्लेख आता है: पंविब्रा०, ९. ४. ११; तु०–

[1] इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५२।

पारावत : २५. १०. २४; २५. १३. ४; शांश्रौसू०, १३. २९. २५, ३३; काश्रौसूत्र, २४. ६. १०, ३९; लाश्रौसूत्र, १२. ६. २८ इत्यादि। मन्त्र पाठ २. ११. १२ में **साल्वों** को यमुना के तट पर रहने वाला बताया गया है। तु० त्सिमर, आले०, ५; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ३२३।

ययाति—ऋग्वेद १. ३१. १७; १०. ६३. १ में दो बार ययाति का नाम आया है; एक स्थल पर उन्हें यज्ञ-कर्ता कहा गया है और दूसरे स्थान पर **नाहुष** (=**नहुष** का वंशज)। **नहुष** स्पष्टतः एक राजा थे। **पुरु** के साथ उनके संबन्ध का पता नहीं चलता, जैसा कि आर्षकाव्य[1] में कहा गया है।

१ यव—ऋग्वेद में यह शब्द किसी भी अन्न के लिए प्रयुक्त हुआ है, केवल जौ के लिए नहीं (१. २३. १५; १. ६६. ३; १. ११७. २१; १. १३५. ८; १. १७६. २; २. ५. ६; २. १४. ११; ५. ८५. ३; ७. ३. ४; ८. २. ३; ८. २२. ६; ८. ६३. ९; ८. ७८. १० इत्यादि) जौ के अर्थ में यह शब्द अथर्ववेद में एवं उसके अनन्तर आता है : अवे०, २. ८. ३; ६. ३०. १; ६. ५०. १, २; ६. ९१. १; ६. १४१. २; ६. १४२. १, २; ८. ७. २०; ९. १. २२; ९. ६. १४; १२. १. ४२; तैसं०, ६. २. १०. ३; ६. ४. १०. १५; ७. २. १०. २; कासं०, २५. १०; २६. ५; मैसं०, ४. ३. २; वासं०, ५. २६; १८. १२; २३. ३०; तैब्रा०, १. ८. ४. १; शब्रा० १. १. ४. २०; २. ५. १. १; ३. ६. १. ९, १०; ४. २. १. ११; १२. ७. २. ९; छाउ०, ३. १४. ३ इत्यादि; कौब्रा०, ४. १२। वसन्त के बाद : (कौब्रा०, ४. १३) ग्रीष्म में : (तैसं०, ७. २. १०. २) जौ कटते और गाहे जाते हैं। [1]ऋग्वेद-काल में यव की कृषि होती थी, यह निश्चित तो नहीं, किंतु संभव प्रतीत होता है। ऋ० १. ११७. २१. में यव बोने का उल्लेख मिलता है; १. ३५. ८ में उसके पकने का; १. १७६. २ में कर्षण का; और २. ५. ६ में अन्न के वर्षा में उपयोग का।

तु० 'ततो देवेभ्यः सर्वा एवौषधय ईयुर्यवा हैवेभ्यो नेयुः। तद्वै देवा अस्पृण्वतात एतैः सर्वाः सपत्नाना-मोषधीरयुवत। यदयुवत तस्माद् यवा नाम' शब्रा० ३. ६. १. ८९; 'वरुण्यो यवः' शब्रा० ४. २. १. ११; 'तस्य सोमस्य अश्रु प्रास्कन्दत् ततो यवः समभवत्' शब्रा० ४. २. १. ११; 'स यः सर्वासामोषधीनां रस आसीत्तं यवेष्ववदधुस्तस्माद् यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोद-माना वर्धन्ते' शब्रा० ३. ६. १. १०; 'विड् वै यवः' शब्रा० १३. २. ९. ८; 'राष्ट्रं यवः' तैब्रा० ३. ९. ७. २; 'अथ ये फेनास्ते यवाः' शब्रा० १२. ७. १. ४;

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४७; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स १२. २३२।

[1] हापकिन्स, जअओसो०, १७. ८६ टि०।

२ - यव द्रष्टव्य—**मास**

यवस—ऋग्वेद (१. ३८. ५; ९१. १३; ३. ४५. ३; ४. ४१. १०; ४. ४२. ५; ८. १८. १०; ८. ८७ २; ८ ९ ३ २; ८. १०२ १ इत्यादि), एवं परवर्ती साहित्य (वासं०, २१. ४३ इत्यादि) में यवस एक घास का नाम है, जिसे पशु खाते हैं और जो वन्य अग्नि से जल जाती है।

तु० अग्नि **यवसाद** : ऋ० १. ९४. ११ में। तु०—त्सिमर, आले०, ४७; मैक्स मूलर, सेबुई० ३२. ८७;

यवागू—यव से बनी लप्सी : तैसं०, ६. २. ५. २; कासं०, ११. २; तैआ०, २. ८. ८; कौब्रा०, ४. १३; इत्यादि। तैसं० ५. ४. ३. में जर्तिल और गवीधुक के यवागू का उल्लेख आता है।

यवाशिर्—ऋग्वेद १. १८७. ९; २. २२. १; ३. ४२. ७; ८. ९४. ४ में सोम के एक विशेषण के रूप में यह शब्द आया है, जिसका अर्थ है अन्न-मिश्रित। तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, १. २२७; त्सिमर, आले०, २७९.

यविष्ठ—'एतद्धास्य (अग्नेः) प्रियं धाम यद् यविष्ठ इति यद् वै जात इदं सर्वमयुवत तस्माद् यविष्ठः' शब्रा० ७. ५. २. ३८;

यव्य—शतपथ ब्राह्मण १. ७. २. ४६; में मास को यव्य कहा गया है। शब्दिक अर्थ है 'प्रथमार्ध को धारण करने वाला'। द्र०—**२ यव**।

यव्यावती—ऋग्वेद ६. २७. ६, एवं पञ्चविंश-ब्राह्मण २५. ७. २ में एक नदी का नाम है। हिल्लेब्राण्ड्ट का विचार है कि यह ईरान की नदी द्ज़ोब (Diob=Zhobe) है, जो इरियाब (Iriab=Habib) के निकट बहती है; किंतु इसे स्वीकार करने के लिए आधार नहीं है। द्र० वैमि० २. २६८. टि०—१। तु०—त्सिमर, आले०, १८. १९; लुडविग, ट्रां० ऋ०, ३. २०४; केगी, ऋग्वेद, टि०; ३३८; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद—नोटेन, १. १६८. टि० १

यशस्—कीर्त्ति के अर्थ में यशस् शब्द अनेक बार आया है। यश की कामना उत्कट रूप में पाई जाती है। यश की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं : ऋ ४. ३२. १३; अवे०, ११. ५. २५; १२.५. ८; १९. ३७. १; १९. ५८. ३; वासं०, १८. ८; २०. ३; ३२.३ शब्रा०, ११. ६. २. २; १३. १. २. ८; ४. १. १६; १. २५. १५; १. १. ३; तैसं० २. ३. ३. १; ऐब्रा०, १. ५; काश्रौसूत्र, ४. ४. १ इत्यादि। तु० 'सामवेद एव यशः' गोब्रा० १.

५. १५; शब्रा० १२. ३. ४. ९; 'उद्गातैव यशः' गोब्रा० १. ५. १५; 'आदित्यो यशः' शब्रा० १२. ३. ४. ८; गोब्रा० १. ५. १५; 'चक्षुर्यशः' शब्रा० १२. ३. ४. १०; 'प्राणा वै यशः' शब्रा० १४. ५. २. ५; 'द्यौर्यशः' शब्रा० १२. ३. ४. ७; 'वर्षा एव यशः' गोब्रा० १. ५. १५; 'जगत्येव यशः' गोब्रा १. ५. १५; 'पशवो यशः' शब्रा० १२. ८. ३. १; 'सोमो वै यशः' तैब्रा० २. २. ८. ८; 'यशो हि सुरा' शब्रा० १२. ७. ३. १४; 'यशो वै हिरण्यम्' ऐब्रा० ७. १८.

यशस्विन् जयन्त लौहित्य—लौहित्य-लोहित का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४२. १ में **कृष्णरात त्रिवेद लौहित्य** के शिष्य के रूप में इनका नाम एक वंश-सूची में आया है।

यष्टि—शब्रा० २. ६. २. १७ (वेणु-यष्टि) बृउ०, ६. ४. ७; कौउ०, ४. १९ इत्यादि में दण्ड के अर्थ में यह शब्द आया है।

यस्क—यस्क एक व्यक्ति का नाम है। काठक संहिता १३. १२; में **गिरिक्षित्** के वंशजों (=गैरिक्षितों) के रूप में यस्कों का उल्लेख आया है। तु०—**यास्क**। द्र० वेबर, इस्टू०. ३. ४७५ एवं आगे; इन्दीन्स लितरात्यूर, ४१।

याज्ञ-तुर—यज्ञ-तुर का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १२. ८. ३. ७; १३. ५. ४. १५ में और शांश्रौसूत्र, १६. ९. ८. १० में २ **ऋषभ** का पैतृक नाम है।

याज्ञवल्क्य—यज्ञवल्क्य का वंशज। शतपथ ब्राह्मण[1] में यज्ञ-विधि के प्रसङ्ग में प्रमाण के रूप में इनका उल्लेख अनेक बार आया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३. १. २ एवं आगे; ३. २. १० एवं आगे; ३. ३. १; ३. ४. १; ३. ५. १; ३. ६. १; ३. ७. १; इत्यादि) में इन्हें दर्शन के विषय में प्रमाण माना गया है; किंतु ओल्डेनबर्ग[2] का कहना है कि इस संबन्ध में याज्ञवल्क्य के उल्लेख को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये। उन्हें **उद्दालक आरुणि** (६. ४. ३३ मा० ६. ५. ४. काण्व) का शिष्य बताया गया है, जिनका उन्होंने एक विवाद (३. ७. १) में विरोध किया था। उनकी दो पत्नियों (**मैत्रेयी** और **कात्यायनी**) का बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४. १ में उल्लेख आता है। उसमें **शुक्ल-यजुर्वेद** (शुक्लानि यजूंषि) को याज्ञवल्क्य वाजसनेय का बताया (६. ४. ३३ मा०=६. ५. ४. काण्व) गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि शतपथ ब्राह्मण और शांखायन आरण्यक ९. ७; १३.१ को छोड़ कर अन्य वैदिक साहित्य में याज्ञवल्क्य का उल्लेख नहीं मिलता। शांखायन आरण्यक के दोनों स्थलों पर शतपथ ब्राह्मण का अनुकरण[1] है। ओल्डेनबर्ग[2] एवं अन्य लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि याज्ञवल्क्य **विदेह** के थे, किंतु **जनक** के उनका आश्रयदाता होने की पुराकथा के अतिरिक्त उनका **कुरुपञ्चाल** के **उद्दालक** से संबन्ध होना इसे संदिग्ध बना देता है।

याज्ञसेन—यज्ञ-सेन का वंशज। कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४ में **शिखण्डिन्** का पैतृक नाम याज्ञसेन है।

याज्या—ऋच्, श्लोक। यह शब्द उन उच्चारित शब्दों को प्रकट करता है, जिन्हें यज्ञ में आहुति देते समय याज्ञिक मन्त्र को संस्कृत करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। इसका उल्लेख परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में मिलता है: तैसं० १. ५. २. १; १. ६. १०. ५; वासं०, १९. २०; २०. १२ इत्यादि; ऐब्रा०, १. ४. ८; १. ११. १०; २. १३. २; २. २६. ३, ५, ६; २. ४०. ८; ३२. १; शब्रा० ३. ४. ४. २; ३. ४. ७. २; ३. ४. ७. ११ इत्यादि। तु०-'इयं (पृथिवी) हि याज्या' शब्रा० १. ४. २. १९; १. ७. २. ११; 'वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति' ऐब्रा० २. ४. १; 'अन्नं वै याज्या' गोब्रा० २. ३. २२; 'अपानो याज्या' शब्रा० १४. ६. १. १२; 'प्रत्तिर्वै याज्या पुण्यैव लक्ष्मीः' ऐब्रा० २. ४०।

यातु—जादू या अभिचार के अर्थ में यातु शब्द कुछ बार आया है: ऋ० ५. १२. २; ८. ४९. २०; अवे०,

---

[1] १. १. १. ९; १. ३. १. २१. २६; १. ९. ३ १६; २. ३. १. २१; २. ४. ३ २; २. ५. १. २ (जहाँ उन्होंने ऋग्वेद के विपरीत मत दिया है। ३. १. १. ४; ३. १. २. २१; ३. १. ३. १०; ३. ८. २. २४; (चरक आचार्य द्वारा अभिशप्त); ४. २. १. ७; ४. ६. ६. १०; ४. ६. ८. ७ इत्यादि; ५-९ काण्डों में इनका उल्लेख नहीं है। यहाँ तुर कावषेय और शाण्डिल्य प्रमाण माने गए हैं। किंतु १०-१४ में फिर याज्ञवल्क्य का यश लौट आता है; उदाहरणार्थ, ११. ३. १. २; ११. ४. २. १७; ११. ४. ३. २०; ११. ६. २. १; ११. ६. ३. १; १२. ४. १. १०, इत्यादि।

[2] बुद्ध, ५. ३४. टि० १।

[1] वेबर, १३२ टि० कीथ, ज० रा० ए० सो०, १९०८. ३७४।

[2] बुद्ध, ५. ३४. टि०-१। तु०-वेबर, इं० लि०, १२० एवं आगे; इस्टू०, १. १७३; १३. २६५-२६९; एगलिंग, सेबुई० १२. ३० एवं आगे; फान श्रोदर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर १८८

२. २४. १; शब्रा०, १०. ५. २. २० इत्यादि। कुछ स्थलों पर यह दानवों एवं राक्षसों को भी जताता है : ऋ०७.२१; ५. ७. १०४. २१; अवे०, ४. ९. ९; ५. २९. ८ इत्यादि। द्र०—**उलूक-यातु** और **यातु-धान**। तु०—'(योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः) एतेन हीदं सर्वं यतम्' शब्रा० १०. ५. २. २०।

यातु-धान—ऋग्वेद १. ३५. १०; १०. ८७. २, ३, ७, १०. १२०. ४ में एवं परवर्ती साहित्य अवे०, १. ७. १; ४. ३. ४; ६. १३. ३; ६. ३२. २; ७. ७०. २; १९. ४६. २; कासं०, ३७. १४; वासं०, १३. ७; शब्रा०, ७. ४. १. २९ इत्यादि में यातु-धान शब्द अभिचारकर्ता, मायाकार, या जादू करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद ७. १०४. १५ में अभिचार का अर्थ समर्थनीय नहीं है। स्त्रीलिङ्ग में यातु-धानी का उल्लेख भी ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य (१. १९१. ८; १०. ११८. ८; अवे०, १. २८. २४; २. १४. ३; ४. ९. ९; ४. १८. १७; १९. ३७. ८ इत्यादि) में आता है।

यातु-विद्—बहुवचन में यह शब्द शतपथ ब्राह्मण १०. ५. २. २० में अभिचार जानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, २२; अवे०, १. ८. ९, २३।

याद्व—यदु का वंशज। ऋग्वेद ७. १९. ८ में एक स्थल पर **यदु** राजा के लिए यह शब्द आया है। याद्व उत्सवों पर दोनों हाथों से धन उलीचने के लिये प्रख्यात थे : ऋ० ८. ४६[1]। ऋ० ८. १. ३१ में **यदुओं** या **याद्वों** के एक पशु का उल्लेख आता है।

यान—ऋग्वेद ४. ४३. ६ में एवं परवर्ती साहित्य शब्रा०, ५. ५. ३. ७, षड्विंश ब्राह्मण, ६. ३. १०; छाउ०, ८. १२. ३ इत्यादि में सवारी के लिए यान शब्द आया है।

याम—अथर्ववेद ६. २१. २ में बहुवचन में प्रयुक्त यह शब्द राथ[2] के अनुसार ग्रहों को जताता है, जिनमें से होकर सूर्य (=भग) भ्रमण करता है। किंतु ब्लूमफील्ड[3] और ह्विटनी[4] दोनों इसे बाद में प्रयुक्त प्रहर या रात्रि-प्रहर के अर्थ में लेते हैं।

यामन्—ऋग्वेद ४. २४. २; ७. ६६. ५; ७. ८५. १; ९. ६४. १०; १०. ७८. ६; १०. ८० ५ में यह शब्द युद्ध-कालीन प्रस्थान या प्रयाण के अर्थ में आया है।

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां०ऋ०, ५. १४२। तु०वेबर, इं० लि०, ३; एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, ३७।
[2] वोबू०, तच्छब्दान्तर्गत, १८।
[3] हिम्स आफ दि अथर्ववेद ३०।
[4] ट्रां० अ०, ३९६।

यायावर[1]—याजुष संहिताओं में चलते फिरते व्यक्तियों के लिए यह शब्द आया है : तैसं, ५. २. १. ७; कासं०, १९. १२।

याव—द्र०—**मास**।

याविहोत्र—'यवाश्च हि वा अथवा यवेतीवाथ येनैतेषां होता भवति तद् याविहोत्रमित्याचक्षते' शब्रा० १. ७. २. २६.

यास्क—यस्क का अपत्य। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों (२. ५. २१; ४. ५. २७ मा०=२.६.३; ४.६.३ काण्व)[2] में **आसुरायण** के समकालीन एवं **भारद्वाज** के गुरु यास्क का उल्लेख आता है। क्या निरुक्तकार **यास्क** (ऋ० प्रा०, १७. २५)[3] ये ही थे?

यु—शतपथ ब्राह्मण ३. ७. ४. १० में यु शब्द द्विवचन में जोते जाने वाले पशुओं को जताता है।

युक्त—शतपथ ब्राह्मण ४. ७. ४. ८; १२. ४. १. २ में बैलों की जोड़ी के अर्थ में 'युक्त' शब्द आया है। तु०—**१. युग**।

युक्ताश्व—युक्ताश्व एक व्यक्ति का नाम है, जिसे पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ८. ८ में एक साम का द्रष्टा बताया गया है। ऐसा कहा गया है कि उन्होंने यमों[4] (जुड़वों) का एक युग्मक प्रकाशित किया था; किंतु हापकिन्स[5] का मत है कि वहां प्रसङ्ग बच्चों के विनिमय का है।

१. युग—ऋग्वेद १. ११५. २, १. १८४. ३, २. ३९. ४, ३. ५३. १७, ८. ८०. ७, १०. ६०. ८, १०१. ३ इत्यादि में एवं परवर्ती साहित्य अवे०, ४. १. ४० : शब्रा०, ३. ५. १. २४, ३४, तैब्रा०, १. ५. १. ३ इत्यादि में युग शब्द 'जुआ' इस अर्थ में आया है।

२. युग—ऋग्वेद[6] में यह शब्द प्रायः वंश-परंपरा

[1] शब्दिक अर्थ है 'इधर-उधर घूमने वाला'।
[2] तु०—वेबर, इं० लि०, १२८।
[3] वेबर, उपर्युक्त, २५, २६ इत्यादि; इस्टू०, १. १७. १०३; ३. ३९६; ८. २४३ इत्यादि; इं० लि०, ४१. टि० ३०।
[4] तु०—वेबर, नक्षत्र, २. ३१४ टि०, इनका मत सायण के अनुसार है। तु०—**यम**।
[5] ट्रांजैक्शन्स आफ दि कनेक्टिकट एकेडेमी आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज, १५. ६१. ६२। तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६०।
[6] 'युगे-युगे' (प्रत्येक युग में), १. १३९. ८; ३. २६. २; ६. ८. ५; ६. १५. ८; ६. ३६. ५; ९. ९४. १२; "उत्तरा युगानि" (भविष्य के युग), ३. ३३. ८; १०. १०. १०; 'पूर्वाणि युगानि', ७.

या पीढ़ी का अर्थ देता है, किंतु **दीर्घतमस्** के लिए प्रयुक्त[1] 'दशमे युगे' का अर्थ जीवन का दशम वर्ष-दशक किया जा सकता है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में वर्ष-पञ्चक के चक्र का उल्लेख नहीं आता। (द्र०—**संवत्सर**)। पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ३. १७ का जो उद्धरण वोबू०, त्सिमर[2] एवं अन्य विद्वानों ने दिया है वह उस पर एक आधुनिक भाष्य के आधार पर है।

वैदिक साहित्य के प्राचीन अंशों में वर्ष-चक्र का कोई उल्लेख नहीं झलकता, जैसा कि परवर्ती काल में प्रायः मिलता है। अथर्ववेद ८. २. २१ में क्रम से १०० वर्ष, अयुत (दश हजार) वर्ष, और तब दो, तीन, चार युगों का उल्लेख आया है; इससे यह अनुमान निकल सकता है कि युग अयुत से बड़ा होता है, किंतु यह निश्चित नहीं है। त्सिमर[3] ने ऋग्वेद ८. १०१. ४ अवे०, १०. ८. ३ के उद्धरण को किया है, किंतु वहाँ प्रसङ्ग चाहे जो हो[4], किंतु चतुर्युगों का नहीं है; तु०—**त्रि-युग**[5]। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२. ९. २[6] में बहुत ही लम्बे काल का—एक लाख वर्षों का—उल्लेख आया है।

वैदिक साहित्य में चार युगों—**कलि, द्वापर, त्रेता** और **कृत** का विवरण नहीं मिलता, यद्यपि ये शब्द अक्ष-क्रीडा के प्रसङ्ग में अक्ष-प्रक्षेपों के नाम के रूप में आये हैं। द्र०-**अक्ष**। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५. ४[7] में इनका उल्लेख आया है, यद्यपि इनमें युगों का अर्थ स्पष्ट नहीं निकलता। हाग[1] का विचार है कि वहाँ **अक्ष** अपेक्षित हैं; यह मत उतना ही संभव है जितना कि वेबर[2], राथ[3], विल्सन[4], मैक्समूलर[5], और म्यूर[6] द्वारा स्वीकृत मत। राथ का कहना है कि प्रसक्त पद्य प्रक्षिप्त है, किंतु इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह पद्य ऐतरेय ब्राह्मण के बाद के अंश में आता है। पश्चात्कालीन षड्विंश ब्राह्मण ५. ६. में चार युगों—**पुष्य, द्वापर, खार्वा** और **कृत** का उल्लेख आया है। गोपथ ब्राह्मण १. १. २८[7] में **द्वापर** का उल्लेख है। तिलक[8] ने ध्रुव-क्षेत्रिय आर्य-निवास के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए **दीर्घतमस्** (=सूर्य) के आख्यान के अन्तर्गत १० महीने के ग्रीष्म के रूप में "युग" को माना है, जिसके बाद महीने की रात्रि होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १४ में उन्होंने चार युगों को आर्यों के जीवन की चार अवस्थाओं के रूप में माना है; किंतु यह चिन्त्य है।

युद्ध—ऋग्वेद १०. ५४. २ में एवं परवर्ती साहित्य (तैब्रा०, १. ५. ९. १; ऐब्रा०, ३. ३९. १, २; ६. ३६. २; शब्रा०, १३. १. ५. ६; कौउ०, ३. १ इत्यादि) में

---

७०. ४; 'उत्तरे युगे', १०. ७२. १ इत्यादि; मनुष्यों का युग (पीढ़ी), १. ९२. ११; १. १०३. ४; १. ११५. २; १. १४२. २; १. १४४. ४ इत्यादि; द्र०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ४५, ४६।

[1] १. १५८. ६; विल्सन (ट्रांस०, २. १०४ टि०) का सुझाव है कि युग का अर्थ यहाँ वर्ष-पञ्चक है, किंतु वर्ष-दशक अधिक संभव है, क्योंकि **दीर्घतमस्** को वृद्ध (जुजुर्वा) कहा गया है।

[2] आले०, ३६८। [3] उपर्युक्त, ३७१।

[4] तु०—ऐआ०, २. १. १, कीथ के नोट के साथ; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद २. २५३।

[5] तु०—ऋ० १०. ७२. २ में 'देवानां पूर्व्ये युगे' (देवों के प्रारभिक युग में)।

[6] तु०—म्यूर, १२. ४२. टि०—६६।

[7] उद्योग की प्रशंसा में। "सोया हुआ **कलि** है, अंगड़ाई लेता हुआ **द्वापर** है, उठता हुआ **त्रेता** है, और चलता हुआ **कृत** है" : कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

---

[1] ऐब्रा०, २. ४६४; वेबर द्वारा आलोचना : इस्टू०, ९. ३१९,

[2] इस्टू०, १. १८६, ९. ३१५ एवं आगे।

[3] इस्टू०, १. ४६०।

[4] जराएसो०, १८५१. ९९।

[5] ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर ४१३।

[6] संस्कृत टैक्स्ट्स १. ४८. टि०—८६।

[7] इं० लि०, १५१. टि०—१६६; विंडिश्श, बुद्ध उन्द मार, १५१।

[8] दि आर्क्टिक होम इन दि वेदाज़, १७२—१८७; तु०—त्सिमर, आले०, ३६७—३७१; वेबर, इंदिश्शे स्त्राइफन, १. ९१; सामशास्त्री ने युगों का एक सर्वथा भिन्न सिद्धान्त दिया है, गवामयन, १४१ एवं अग्रिम; किंतु उनका कहना चिन्त्य है। वेबर ने एक बार (इं० लि० ११३ टि०—१२७) ऋ० (३. ५५. १८) में पञ्चवार्षिक युग का आभास पाया है, किंतु वह स्थल पाँच या छः ऋतुओं को दिखाता है (द्र०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. ३८२ टि०), जब कि १. २५. ८ में केवल अर्ध-मास का उल्लेख आया है। वेबर ने (उपर्युक्त, ७०. २४७) कहा है कि युग चन्द्रमा के दर्शन के आधार पर बने थे; किंतु राथ ने इसे अस्वीकार कर दिया है।

लड़ाई के अर्थ में यह शब्द आया है। प्राचीन साहित्य (ऋ० १ ५३. ७; १. ५९. १; ५. २५. ६; ६. ४६. ११ इत्यादि; अवे०, १. २४. १; ४. २४. ७; ६. ६६. १; ६. १०३. ३ इत्यादि; शब्रा०, ५. २. १६ इत्यादि) में इसके लिये युध् शब्द अधिक प्रचलित है।

युधांश्रौष्टि औग्रसैन्य—औग्रसैन्य=उग्रसेन का वंशज। ऐतेरय ब्राह्मण ८. २१. ७ में इस नाम के एक राजा का उल्लेख आता है, जिनका अभिषेक **पर्वत** और **नारद** ने किया था। तु०—वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल ८।

युधाजित्—'इन्द्रो वै युधाजित्' तांब्रा० ७. ५ १४.

युध्यामधि—यह एक राजा का नाम है जिसे **सुदास्** ने हराया था। **सुदास्** की विजय का वर्णन ऋ० ७. १८. २४ में आया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७३।

युवति—ऋग्वेद (१. ११८. ५; २. ३५. ४; ३. ५४. १४; ४. १८. ८; ५. २ १, २; ९. ८६. १६; १०. ३०. ५) एवं परवर्ती साहित्य (अवे०, १४. २. ६१; तैब्रा०, ३. १. १. ९; ३. १. २. ४; शब्रा०, १३. १. ९. ६; १३. ४. ३८ इत्यादि में युवती स्त्री के लिए यह शब्द सामान्य है।

युवा सुवासाः—'प्राणो वै युवा सुवासाः' ऐब्रा० २. २.

यूथ—ऋग्वेद (१. १०. २; १. ८१. ७; ३. ५५. १७; ४. २. १८; ४. ३८. ५; ५. ४१. १९; ९. ७१. ९ इत्यादि; तु०—**यूथ्य** : ८. ५६. ४; ९. १५. ४; १०. २३. ४.) एवं परवर्ती साहित्य (अवे०, ५. २९. ३; तैसं०, ५. ७. २. १. इत्यादि) में गौओं के धन के लिए यूथ शब्द का प्रयोग हुआ है।

यूप—ऋग्वेद (२. ५. ७ **शुनःशेप** का) एवं बाद के साहित्य (अवे०, ९. ६. २२; १२. १. ३८; १३. १. ४७; तैसं०, ६. ३. ४. १; ७. २. १. ३; वासं०, १९. १७; पंविब्रा०, ९. १०. २ इत्यादि) में यज्ञ-पशुओं के बांधने के खूंटे को यूप कहा गया है। यह घर के द्वार को अटकाने के अड़सल्ले को भी जताता है; दुर्यं : ऋ० १. ५१. १४)। तु० '(देवाः)' तं वै (यज्ञं) यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्' ऐब्रा० २. १; 'यदनेन (यज्ञम्) अगोपयंस्तस्माद्यूपो नाम' शब्रा० १. ६. २. १; 'पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति' शब्रा० ३. ७. २. ४; 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति' शब्रा० ५. २. १. ५; 'सप्तदशारत्निर्यूपो भवति' तैब्रा० १. ३. ७. २; 'खादिरो यूपो भवति' शब्रा० ३. ६. २. १२; 'असौ वा अस्य (अग्निहोत्रस्य कर्तुः) आदित्यो यूपः' ऐब्रा० ५. २८; 'आदित्यो यूपः' तैब्रा० २. १. ५. २; 'वज्रो यूपः' शब्रा० ३. ६. ४. १९; 'एष वै यजमानो यद् यूपः' तैब्रा० १. ३. ७. ३; 'यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः' शब्रा० ३. ७. १. ११;

यूष—वैदिक साहित्य में यूष शब्द पक्व रस या क्वाथ के अर्थ में आया है: शांश्रौसू०, ४. १८. १३; गोगृसू०, ४. १. ७; कौसू०, ६४।

यूषन्—ऋग्वेद १. १६२. १३ में, तैसं०, ६. ३. ११. १; ४; एवं वासं०, २५. ९ में अश्वमेध के वर्णन में अश्व के मांस से बनने वाले सूप को यूषन् कहा गया है, जो खाने के काम में आता था। इसे रखने के लिए **पात्र** और **आसेचन** का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ११. १, ४ में इसके लिए दूसरा शब्द **यूस्** है, जो लैटिन जुस के समकक्ष है। तु०—त्सिमर, आ०ले० २७१; श्राडॅर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज ३१६।

यूस—द्र०—यूषन्।

येवाष—अथर्ववेद ५. २३. ७, ८ में एक विनाशक जन्तु के लिये आया है। काठक संहिता ३०. १.[१] में इसका रूप यवास है। तु०—**वृष**। १—इंस्टू०, ३. ४६२। वही रूप कुमुदादि और प्रेक्षादि गणों में पाया जाता है: पाणिनि, ४. २. ८०; तु०—मैसं०, ४. ८. १, जहां यवाष पढ़ना चाहिए। तु०—त्सिमर, आ० ले० ९८; वोबू०।

योक्त्र—ऋग्वेद (३. ३३. १३; ५. ३३. २) एवं बाद के साहित्य (अवे०, ३. ३०. ६; ७. ७८. १; तैसं०, १. ६. ४. ३; तैब्रा०, ३. ३३. ३; शब्रा० १. ३. १. १३; ६. ४. ३. ७ इत्यादि) में रथ या गाड़ी के जोत का वाचक है।

योग—अथर्ववेद (६. ९१. १ छः या आठ के योग; कासं०, १५. २ इत्यादि तु०—**सीर**) एवं बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३. ११ रथ-योगाः="रथ के अश्व") में बैलों या घोड़ों की जोड़ी का वाचक है।

योजन—ऋग्वेद (१. १२३. ८; २. १६. ३; १०. ७८. ७; १०. ८६. २० इत्यादि) एवं बाद के साहित्य (अवे०, ४, २६. १; मैसं०, २. ९. ९; ३. ८. ४; तैब्रा०, २. ४. २. ७ इत्यादि)[१] में विशिष्ट दूरी[२] के लिये आया है; किंतु उनमें इस नाप की व्याख्या नहीं की गई है। बाद में इसे ४ क्रोश, या लगभग ९ मील (८ मील ?) का बताया गया है। तिलक ने ऋग्वेद (१. १२. ३. ८; तु०—६. ५९. ६; तैसं०, ४. ३. ११.

[१] तु०—त्सिमर, आले०, ३६३; इन्होंने ऋग्वेद १. १२३. ८ में योजन को समय का मापक, मुहूर्त के बराबर माना है, किंतु यह चिन्त्य है।

[२] आर्क्‌टिक होम इन दि वेदाज, १०३-१०७।

१) में उषा के २० योजन के उल्लेख के आधार पर ध्रुव-क्षेत्रीय उषा का निरूपण माना है।

योद्धा—ऋग्वेद १. ३२. ६ में युद्ध करने वाले व्यक्ति का वाचक है। तु०—योध।

योध—ऋग्वेद १. १४३. ५; ३. ३९. ४; ६. २५. ५; १०. ७८. ३ में लड़ने वाले योद्धा और सैनिक के लिये यह शब्द आया है।

योनि—तु०—'योनिरुलूखलं···शिश्नं मुसलम्' शब्रा० ७. ५. १. ३८; 'योनिर्वा उखा' शब्रा० ७. ५. २२; 'योनिर्वा उत्तरवेदिः' शब्रा० ७. ३. १. २८; 'योनिर्वै गार्हपत्या चितिः' शब्रा० ७. १. १. ८; 'योनिरेव वरुणः' शब्रा० १२. ९. १. १७; 'योनिर्मुञ्जाः' शब्रा० ६. ६. २. १५; 'परिमण्डला हि योनिः' शब्रा० ७. १. १. ३७; 'अन्धमिव वै तमो योनिः' जैउब्रा० ३. ९. २ 'मांसेन वा उदरं च योनिश्च संहिते' शब्रा० ८. ६. २. १४; 'संवत्सरो वाव योनिश्चतुर्विंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासास्तद् यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिः' शब्रा० ८. ४. १. १८। द्र०—**शरीर**।

योषन्, योषणा, योषा, योषित्—ये सभी शब्द युवती स्त्री के वाचक हैं: **योषन्**: ऋ० ४. ५. ५; **योषणा**: ३. ५२. ३; ३. ५६. ५; ३. ६२. ८; ७. ९५. ३ इत्यादि; **योषा**: १. ४८. ५; १. ९२. ११; ३. ३३. १०; ३. ३८. ८ इत्यादि; अवे०, १२. ३. २९; १४. १. ५६ इत्यादि; **योषित्**: ऋ० ९. २८. ४; अवे०, ६. १०१. १ इत्यादि)[1]।

इस प्रकार ये शब्द ब्राह्मणों में **"वृषन्"** के विपरीत स्त्रीलिङ्ग के रूप में आते हैं: शब्रा०, १. २. ५. १५ **योषा**; और प्रायः ब्राह्मणों में; किंतु ये पत्नी (अवे०, १२. ३. २९ **योषा**) पुत्री (इसी प्रकार योषा ऋ० १. ११७. २० में)[2] या केवल लड़की (शब्रा०, १. ८. १. ७) के अर्थ में भी आये हैं। द्र०—**स्त्री**। तु०—'योषा इयं वाग् यदेनं न युवति' शब्रा० ३. २. १. २२; 'योषा हि वाक्' शब्रा० १. ४. ४. ४; 'योषा हि वेदिः' शब्रा० १. ३. ३. ८; 'योषा वै वेदिर्वृषाग्निः' शब्रा० १. २. ५. १५; 'योषा वा अग्निः' शब्रा० १४. ९. १. १६; 'योषा हि स्रुक्' शब्रा० १. ४. ४. ४; 'योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः' शब्रा० १. ३. १. ९; 'न वै योषा कंचन हिनस्ति' शब्रा० ६. ३. १. ३९; 'तस्मात् पुमान् दक्षिणतो योषामुपशेते' जैउब्रा० १. ५३. ३; शब्रा० ६. ३. १. ३०; 'अरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते' शब्रा० ६. ३. १. ३०; 'पश्चाद् वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्यां रेतः सिञ्चति' शब्रा० २. ४. ४. २. ३; 'तस्माद् यदा योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते' शब्रा० ७. १. १. ४४; 'पुरंध्रिर्योषा इति। योषित्येव रूपं दधाति तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका' शब्रा० १३. १. ९. ६; 'एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति' शब्रा० १. २. ५. १६; 'पश्चाद् वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति' शब्रा० ३. ५. १. ११; 'योषा वै सिनीवाली। एतदु वै योषायै समृद्धं रूपं यत् सुकपर्दा सुकुरीरा स्वोपशा' शब्रा० ६. ५. १. १०।

यौक्ताश्व—सामविशेष। 'युक्ताश्वो वा आङ्गिरसः शिशू जातौ विपर्यहरत् तस्मान् मन्त्रोऽपाक्रामत् स तपोऽतप्यत। स एतद् यौक्ताश्वमपश्यत्। तं मन्त्र उपावर्तत। तद्वाव स तर्ह्यकामयत। कामसनि साम यौक्ताश्वं काममेवैतेनावरुन्धे' तांब्रा० ११. ८. ८।

यौगंधरि—युगंधर का वंशज। मन्त्रपाठ २. ११. १२ में यह साल्वों के एक राजा का नाम है।

यौध—लाटचायन श्रौत सूत्र ८. ५. १ में व्रात्यों के योद्धाओं को यौध कहा गया है।

यौधाजय—साम-विशेष। 'युधा मर्या अजैष्मेति तस्माद् यौधाजयम्' तांब्रा० ७. ५. १५; 'इन्द्रो वै युधाजित् तस्यैतद् यौधाजयीयम्' तांब्रा० ७. ५. १४; 'वज्रो वै यौधाजयीयम्' तांब्रा० ७. ५. १२।

यौवन—अथर्ववेद १८. ४. ५० में युवावस्था के लिये यौवन शब्द आया है, जहाँ इसे वृद्धावस्था के विपरीत दिखाया गया है।

र

रंहस्—ऋग्वेद १. ११८. १ में रंहस् शब्द वेग के अर्थ में आया है। यहां **अश्विनों** के रथ का विशेषण है वात-रंहस्, अर्थात् वायु के समान वेगवान्; रंहमान: ऋ० ९. ११०. ३; वासं०, २२. १८ में और रंहि: ऋ० ९. ८६. ४७; अवे०, १८. २. ९ में पाया जाता है।

रक्षस—प्राचीन वैदिक साहित्य में रक्षस् शब्द दानवों के लिए आया है; यहां–वहाँ यह पशुओं का भी बोधक है। यह कोई जाति नहीं है। द्रष्टव्य: ऋ०—१. २१. ५; ३. ३०. १५–१७; ७. १०४. १–२; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, २२. ३८९ एवं आगे; तु०—ग्रियर्सन, त्सादामौगे० ६६. ६८; उसी प्रकार **पिशाच** भी वैदिक साहित्य में जाति नहीं है। तु० 'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति तद् यदरक्षंस्तस्माद् रक्षांसि' शब्रा० १. १. १. १६; 'देवान् ह वा अग्नी आधास्यमानान्। तानसुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जनिष्यते नाग्नी आधास्यध्व इति तद्

[1] तु०—डेल्ब्रुक, दी इंडोजर्मानिश्शन फेरवान्दस्शाफ्टसनामन ४१८।

[2] तु०—त्सिमर, आले०, ३१०।

यदरक्षंस्तस्माद् रक्षांसि' शब्रा० २. १. ४. १५; 'एतद् वै देवा अबिभयुर्यद् वै नो यज्ञं दक्षिणतो रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्युरिति' शब्रा० ७. ४. १. ३७; 'दक्षिणतो वै देवानां यज्ञं रक्षांस्यजिघांसन्' गोब्रा० २. १. १८; 'तुषैर्वै फलीकरणैर्देवा हविर्यज्ञेभ्यो रक्षांसि निरभजन् अस्ना महायज्ञात् स यदस्ना रक्षः संसृजतादित्याह रक्षांस्येव तत् स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते' ऐब्रा० २. ७; 'ततो देवाः सर्वं यज्ञं संवृज्याथ यत् पापिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत् तेनैनान् निरभजन् अस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात् सुनिर्भक्ता आसन्' शब्रा० १. ९. २. ३५.; 'असृग्भाजनानि ह वै रक्षांसि' कौब्रा० १०. ४; 'रक्षांसि योषितमनुसचन्ते तदुत रक्षांस्येव रेत आदधति' शब्रा० ३. २. १. ४०; 'अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति' शब्रा० ३. १. ३. १३; 'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता' शब्रा० १. २. १. ६, ९; 'अग्नेर्वा एतद् रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै' शब्रा० १४. १. ३. २९; 'सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता' शब्रा० १. ३. ४. ८; 'देवा ह वा एतं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं ददृशुर्यत् कार्ष्मर्यम्' शब्रा० ३. ४. १. १६; 'अपामार्गैर्वै देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षांस्यपामृजत' शब्रा० ५. २. ४. १४; ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता' शब्रा० ४. ४. ५, ६; 'साम हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता' शब्रा० ४. ४. ५. ६; 'अङ्गिरसः स्वर्गं लोकं यतो रक्षांस्यन्वसचन्त तान्येतेन हरिवर्णोऽपाहन्त यदेनत् साम भवति रक्षसामपहत्यै' तांब्रा० ८. ९. ५; 'स यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्' ऐब्रा० २. ७; 'आपो वै रक्षोघ्नीः' तैब्रा० ३. २. ३. १२; 'कुबेरो वैश्रवणो राजेत्याह तस्य रक्षांसि विशस्तानीमान्यासत इति सेलगाः पापकृत उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति देवजनविद्या वेदः सोऽयमिति देवजनविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण इवानुवेदत्' शब्रा० १३. ४. ३. १०;

रक्षितृ—रक्षक। ऋग्वेद (१. ८९. १, ५; २. ३९. ६; **सोम** का रक्षक: ४. ७. ७; **यम** के श्वानों का रक्षक: १०. १४. ११. इत्यादि) एवं परवर्ती साहित्य (अवे०, ३. २७. १; १२. ३. ५५; १९. १५. ३; शब्रा०, १३. ४. २. ५ इत्यादि) में यह शब्द प्रायः आया है।

रघट्—अथर्ववेद ८. ७. २४ में एक बार बहुवचन में यह शब्द आया है, जहाँ पैप्पलाद शाखा में "वघटः" पाठ है। राथ[1] ने अनुमान लगाया है कि रघवः (=शीघ्रगामी) पाठ ठीक है। ब्लूमफील्ड[2] ने अपने अनुवाद में इसका अर्थ श्येन किया है, और टिप्पणी में

[1] वोबू०।

[2] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५८० :

राथ के मत को संभव बताया है। लुड्विग[1] का सुझाव है कि इसका अर्थ भ्रमर है। संभवतः किसी प्रकार का पक्षी अभिप्रेत हो[2]।

रजत—यह हिरण्य के साथ (तैसं०, १. ५. १. २; कासं०, १०. ४; शब्रा०, १२. ४. ४. ७; १२. १३. ४. १०; १४. १. ३. ४ इत्यादि) चाँदी के आभूषणों, **रुक्म**: (शब्रा०, १२. ८. ३. ११) **पात्र** (तैब्रा०, २. २. ९. ७; ३. ९. ६. ५) और **निष्कों** (सिक्कों, पंविब्रा०, १७. १. १४) का वाचक है। यह केवल चाँदी के लिये भी आया है: अवे०, ५. २८. १; १३. ४. ५१; ऐब्रा०, ७. १२. २; छाउ०, ४. १७. ७; जैउब्रा०, ३. १७. ३; षविंब्रा०, ६. ६। तु०—'एतद् (रजतं) रात्रिरूपम्' ऐब्रा० ७. १२; 'अथ यदस्तमेति (आदित्यः) एतामेव तद् रजतां कुशीमनु संविशति' तैब्रा० १. ५. १०. ७; 'रजतैव हीयं पृथिवी' शब्रा० १४. १. ३. १४; 'अवान्तरदिशो रजताः' शब्रा० १३. २. १०. ३; तु०—श्रोडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज़, १८०; त्सिमर, आले०, ५६; मैक्डानल, संस्कृत लिटरेचर, १५१, १५२; विंसेंट स्मिथ, इण्डियन ऐंटीक्वैरी ३४. २३०।

रजत-नाभि काबेरक—अथर्ववेद ८. १०. २८ में कुबेर के पुत्र का नाम रजतनाभि काबेरक आया है। तु०—**काबेरक, कुबेर**।

रजन कोणेय या कौणेय—याजुष संहिताओं में यह एक आचार्य का नाम है: तैसं०, २. ३. ८. १; कासं०, २७. २. इस्तू०, २. ४७४। काठक संहिता ११. १ में कहा गया है कि **क्रतुजित् जानकि** ने उनकी नेत्र-ज्योति की प्राप्ति के लिए सफलतापूर्वक यज्ञ किया था[3]। पञ्चविंश-ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख आया है: १३. ४. ११[4]। वहीं उनके पुत्र **उग्रदेव राजनि** का नाम भी आया है, जो कुष्ठी थे। **रजनी** का उपयोग कुष्ठ के लिए बताया गया है[5]।

रजनी—अथर्ववेद १. २३. १. में रजनी एक पौधे का नाम है। संभवतः उसकी रंगने की शक्ति के कारण इसका यह नाम पड़ा तो। इसकी ठीक पहचान कठिन है। तु०—राथ, ह्विटनी के अथर्ववेद के अनुवाद में; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अ०वे०, २६७।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. ५०४।

[2] बोहटलिङ्क्, डिक्शनरी, तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ० वे० ५०१।

[3] द्र०—इस्तू० ३. ४७४।

[4] तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ५८ टि०—२।

[5] ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, २६६।

रजयित्री—रंगने वाली स्त्री। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में इसका उल्लेख आया है: वासं०, ३०. १२; तैब्रा०, ३. ४. ७. १।

१ रजस्—ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में द्यावा-पृथिवी के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष का वाचक है: ऋ० १. ५६. ५; १. ६२. ५; १. ८४. १; १. १२४. ५; १. १६८. ६; १. १८७. ४; २. ४०. ३; ६. ६२. ९ इत्यादि; अवे०, ४. २५. २; ७. २५. १; ७. ४१. १; १०. ३. ९; १३. २. ८, ४३; तैसं०, ३. ५. ४. २; वासं०, १३. ४४ इत्यादि। अन्तरिक्ष को भी दिव् की भांति तीन, किंतु साधारणतया दो भागों में विभक्त कहा गया है: 'पार्थिव, 'दिव्य' या 'दिवः'। कुछ स्थलों पर यह शब्द पृथिवी के धूसरित क्षेत्रों को सूचित करता है: ऋ० ४. ५३. ५; ५. ६९. १; ९. ७४. ६; १०. ४५. ३; १०. १२३. ८; अवे०, १३. १. ११ इत्यादि; ऋ०–१. १६४. ६ में छः लोकों का कथन है; ऋ० १. ८१. ५; १. ९०. ७; १. १५४. १; ६. ४९. ३; ८. ८८. ५; ९. ७२. ८; द्र० ऋ० ४. ५३. ३; १. ११०. ६; तु०–मैकडानल, वैमा०, पृ०–१०; ऋ० १. १६६. ३; ३. ६२. १६; १०. ७५. ७।

२ रजस्—याजुष संहिताओं में रजत की भांति यह चांदी का वाचक है; रजःशय: वासं०, ५. ८; रजाशय: तैसं०, १. २. ११. २; सायण का ऐब्रा० पर भाष्य; १. २३. २; मैसं०, १. २. ७; कासं०, २. ८। ऋग्वेद १०. १०५. ७ में भी त्सिमर ने उपर्युक्त अर्थ किया है, किंतु यह चिन्त्य है। द्र०–आ० ले०, ५५, ५६।

रजस=अथर्ववेद १०. २. २५ में यह शब्द एक प्रकार की मछली के लिए आया है। राथ ने इसे "अपवित्र" के अर्थ में विशेषण माना है: वोबू०। तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६२१; ह्विटनी, ट्रां० अवे० ६२४।

रजि—ऋग्वेद में यह किसी राजा या दैत्य का नाम है, जिसे इन्द्र ने पिठीनस के लिये मारा था: ऋ०–६. २६. ६। तु०–लुड्विग, ट्रां० ३. १५६; वोबू०, जहां राथ ने अवे०, २०. १२८. १३ से तुलना की है।

रज्जव्य—शतपथ ब्राह्मण ६. ७. १. २८ में यह रस्सी का वाचक है।

रज्जु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रस्सी के अर्थ में यह शब्द आम है: ऋ० १. १६२. ८ में शीर्षण्या रशना रज्जुः; अश्व के प्रसङ्ग में यह शीर्षबन्धन को सूचित करता है: अवे०, ३. ११. ८; ६. १२१. २; तैसं०, २. ५. १. ७; शब्रा०, १. ३१. १४; १०. २. ३. ८; ११. ३. १. १ इत्यादि। अथर्ववेद ४. ३. २. १९ ४७. ७, ८ में सर्प को दांत वाली रस्सी (रज्जुः दत्वती) कहा गया है; ब्लूम-फील्ड, हिम्स आफ दि अ०वे०, ३६८। तु० 'वरुण्या वा एषा यद् रज्जुः' शब्रा० ३. २ ४. १८;

रज्जु-दाल—शतपथ ब्राह्मण १३. ४. ४. ६ में यह एक वृक्ष (cordia mysca letifolia) का नाम है। तु० 'तस्य प्रजापतेः यः श्लेष्मासीत् स सार्धं समवद्रुत्य मध्यतो नस्त उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवत् रज्जुदाल-स्तस्मात् स श्लेष्मणः श्लेष्मणो हि समभवत्' शब्रा० १३. ४. ४. ६। तु०–एगलिंग, सेबुई० ४४. ३७३ टि०–२।

रज्जु-सर्ज—गोल मिण्ढी मारकर बैठने वाला सांप। यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों में रज्जु-सर्ज का उल्लेख आता है: वासं०, ३०. ७; तैब्रा० ३. ४. ३. १।

रण—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रण शब्द "युद्ध के हर्ष" का और बाद में युद्ध का वाचक है: ऋ० १. ६१. १. ९; १. ७४. ३; १. ११९. ३; ६. १६. १५ इत्यादि; अवे०, ५. २. ४ इत्यादि।

रत्न—बहु-मूल्य पदार्थ, देय द्रव्य: ऋ० १. २०. ७; १. ३५. ८; १. ४१. ६; १. १२५. १; १. १४०. ११; १. १४१. १०; २. ३८. १ इत्यादि; अवे०, ५. १. ७; ७. १४. ४; शब्रा०, ५. ३. १. १।

रत्नि—षड्विंश ब्राह्मण ४. ४ में रत्नि शब्द अरत्नि का समानान्तर है।

रत्निन्—रत्न वाला। यह शब्द राज-परिवार के उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो राजसूय के अवसर पर रत्न-हविष् नामका विशेष यज्ञ करते थे। तैत्तिरीय संहिता १. ८. ९. १ और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. ३. १ में इन लोगों की सूची इस प्रकार है: **ब्रह्मन्** (पुरोहित), **राजन्य, महिषी** (राजा की प्रथम विवाहिता पत्नी), **वावाता** (राजा की प्रिय पत्नी), **परिवृक्ती** (प्रोज्झिता पत्नी), **सेनानी, सूत** (सारथि या कोषाध्यक्ष), **भाग-दुघ** (कर संग्रह करने वाला या भोजन बांटने वाला), **अक्षा-वाप** (अक्ष-क्रीडा का प्रधान या अक्ष फेंकने वाला)। शतपथ ब्राह्मण ५. ३. १. १ में क्रम इस प्रकार है: **सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ** (कञ्चुकी), **संग्रहीतृ, भाग-दुघ, अक्षा-वाप, गो-निकर्तन** (गोवध करने वाला या शिकारी) और **पालागल** (संदेशवाहक); परिवृक्ती को घर में रहने का निषेध है, जिस दिन उसके घर निर्ऋति के लिए बलि रखी जाती है; कात्यौसूत्र, १५. ३. ३५ के अनुसार वह एक ब्राह्मण के घर चली जाती है, जहाँ वह उसके क्षेत्राधिकार की अवाधता एवं मुक्ति में भाग लेती है। मैत्रायणी संहिता २. ६. ५: ४. ३. ८ में यह

सूची इस प्रकार है: **ब्रह्मन्, राजन्, महिषी, परिवृक्ती, सेनानी, संग्रहीतृ, क्षत्तृ, सूत, वैश्य-ग्रामणी, भाग-दुघ, तक्ष-रथकारौ** (बढ़ई और रथ बनाने वाला), **अक्षावाप** और **गो-विकर्त**। काठक संहिता १५. ४ में **गोविकर्त** के स्थान पर **गो-व्यछ** है, और **तक्ष-रथकारौ** का वहां उल्लेख नहीं है। सूची में प्रायः राज-परिवार के तथा अन्य महत्त्व के व्यक्तियों का उल्लेख है, यद्यपि **संग्रहीतृ, भाग-दुघ, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ** की राज-पुरुषता के विषय में संदेह हो सकता है। इसी प्रकार **अक्षावाप** या तो राजा के लिए खेलने वाला है, अर्थात् एक पेशेवर खेलने वाला, जो राजा के साथ खेलता है, या यह उसके खेल का निरीक्षण करता है, अथवा वह एक सार्वजनिक अधिकारी हो सकता है, जो राज्य के द्यूत-क्रीडकों के अड्डों का नियन्त्रण करता था, और उनसे आय कर वसूल करता था, जैसा कि बाद के काल में किया जाता रहा है। प्रारम्भिक आङ्ग्ल इतिहास में भी गृहाधिकारियों का राज्य के मन्त्री के रूप में विकास दृष्टि-गोचर होता है। पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १. ४ की एक लघुतर सूची में आठ वीरों का नाम है: **भ्रातृ, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ,** और **संग्रहीतृ**। तु०—वेबर, इस्टू०, १७. २००, ऊबर देन राजसूय, ४, हापकिन्स, जअओसो० १३. १२८, एगलिंग, सेबुई० ४१. ५८-६५, हापकिन्स, ट्रांजेक्शन्स आफ दि कनेक्टिकट एकेडमी १५. ३०. टि०—२।

रथ— ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ और **अनस्** का उल्लेख आम है, किंतु उनके विभेद का उल्लेख नहीं किया गया है: ऋ० १. २०. ३; ३. १५. ५; ४. ४. १०; ४. १६. २०; ४. ३६. २; ४. ४३. २५ इत्यादि; अवे०, ५. १४. ५; १०. १. ८; ऐब्रा०, ७. १२. ३ इत्यादि। उनके भेद के विषय में केवल इतना आया है कि रथ की नाभि का छिद्र (**ख**) अनस् के **ख** से बड़ा होता था: ऋ० ८. ९१. ७; सायण भाष्य के साथ[1]।

रथ में दो चक्र होते थे, जिनका जिक्र प्रायः आता है; तु०—छाउ०, ४. १६. ५; जैउब्रा०, ३. १६. ७; कौउ०, १. ४। चक्र में **पवि** (रिम), **प्रधि** (चक्र-परिधि), **अर** (अरे) और **नभ्य** (नाभि-छिद्र=नाह)—ये भाग होते थे। **पवि** और **प्रधि** दोनों मिलकर **नेमि** बनती थी; तु० ऋ० १. ३२. १५; १. १४१. ९; ५. १३. ६; ५. ५८. ५; ८. २०. १४; ८. ७७. ३; १०. ७८. ४; कासं०, १०. ४ इत्यादि। नाभि-छिद्र को **ख** कहा गया है। इसमें अक्ष के सिरे डाले जाते थे। **आणि** अक्ष के सिरों को कहते थे, या अक्ष के सिरों को नाभि में स्थिर रखने के लिए

[1] तु०—वैस्टू०, २. ३३३।

प्रयुक्त पिनों को कहते थे—यह संदिग्ध है। तु०—**प्रधि**। रथ का अक्ष अरट्टु की लकड़ी से बनाया जाता था: ऋ० ८. ४६. ४७[1]। अक्ष के चारों ओर दोनों चक्र घूमते थे। अक्ष पर रथ का असली ढांचा (कोश) जड़ा जाता था। इस भाग को **बन्धुर** भी कहा गया है, जो अधिक सूक्ष्म दृष्टि से "आसन" का अर्थ अभिव्यक्त करता है। **त्रि-बन्धुर** विशेषण **अश्विनों** के रथ का है। इनके रथ का एक विशेषण त्रि-चक्र भी है। वेबर के अनुसार तीन आसन और तीन चक्र वाला रथ वास्तव में था[2]। किंतु त्सिमर का विचार है कि यह केवल पुराकल्पनात्मक है[3]। **गर्त** शब्द भी योद्धा के आसन को अभिव्यक्त करता है।

अक्ष से समकोण पर रथ की भार-यष्टि (ईषा, प्रउग) होती थी। प्रतीत होता है कि ईषा एक होती थी, जिसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते थे; उनकी गरदनों पर एक जुआ रख[4] दिया जाता था; ईषा को जुए के छेद में डाल दिया जाता था (ख, तर्द्मन्) और तब जुआ और ईषा को बाँध कर कस दिया जाता था: ऋ० ८. ९५. ७।

घोड़ों को, गरदन पर जिस जस जगह कि जूआ रखा जाता था, वहाँ बाँध दिया जाता था। कन्धों पर चमड़े की रस्सी रहती थी, जो कि ईषा के बराबर रहती थी, भारयष्टि के बराबर-बराबर। त्सिमर[5] का कहना है कि ऋ० १. ११९. ५. में **वाणी** शब्द लकड़ी के दो फड़ों को सूचित करता है, जिनमें चर्म-प्रग्रह बाँधे जाते थे। यही मत राथ[6], बोहटलिंग्क (लेक्सिकन) और ग्रासमान का है[7]। संभवतः **रश्मि** और **रशना** शब्दों से चर्म-प्रग्रह अभिप्रेत हो। ये शब्द **वल्गा** (लगाम) को सूचित करते हैं, जो घोड़े के मुंह में लगाई जाती थी। सईस लगाम द्वारा घोड़ों को रोकता था, और कोड़े से उन्हें आगे बढ़ाता

[1] त्सिमर, आले०, २४७ टि०।
[2] प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन ऐकेडेमी, १८९८, ५६४; विर्खो, त्सा० फ्यूर एथनोलगी, ५. २००; तु०—टि० २१।
[3] आले०, ८।
[4] किंतु युग के खुले भाग का भी "ख" नाम हो सकता है; विल्सन के अनुवाद पर कावेल की टिप्पणी; द्रष्टव्य: ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद २. २३७ टि० अवे०, १४. १. ४० में तर्द्मन्; ऋ० ३. ६. ६; ५. ५६. ४; १०. ६०. ८।
[5] आले०, २४९।
[6] वोबू०।
[7] द्र०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. १६८।

था : ऋ० ५. ८३. ३; ६. ७५. ६। घोड़े के अधोबन्धन को **कक्ष्या** कहा गया है : ऋ० १०. १०. १३; **कक्ष्या-प्रा** : ऋ० १. १०. ३ इन्द्र के घोड़े का विशेषण है, जिसका अर्थ है कक्ष्या को भरने वाला, अर्थात् हट्टाकट्टा।

प्रायः दो अश्व जोड़े जाते थे, किंतु कभी-कभी तीन और चार का भी संकेत आ जाता है। यह कहना मुश्किल है कि इनमें तीसरे और चौथे घोड़ों को आगे जोड़ा जाता था या पार्श्व में; संभवतः दोनों प्रकार की प्रथा प्रचलित रही हो। पाँच घोड़े भी जोड़े जा सकते थे। ऋ० १०. ३३. ५ में तीन अश्वों का उल्लेख है और **प्रष्टि** शब्द ऋ० १. ३९. ६; ८. ७. २८ में तृतीय अश्व का अर्थ दे सकता है। द्र० शब्रा०, ५. १. ४. ११; ५. २. ४. ९ इत्यादि; पंविब्रा० १६. १३. १२; चार अश्वों के उल्लेख के लिए तु०—ऋ० २. १८. १; शब्रा० ५. ४. ३. १७; ५. १. ४. ११[1]। रथ में प्रायः घोड़े ही जोड़े जाते थे, किंतु गर्दभ और अश्वतरी का भी इस संबन्ध में उल्लेख मिल जाता है; **गर्दभ** : ऐब्रा०, ४. ९. ४; **अश्वतरी** : छाउ०, ४. २. १; ५. १३. २; ऐब्रा०, ४. ९. १। बलीवर्द या बैल छकड़े में जोते जाते थे, और इसी से उनका नाम अनड्-वाह् पड़ा था। कभी-कभी एक निर्धन व्यक्ति केवल एक घोड़े पर संतोष कर लेता था, जो रथ में दो ईषाओं के बीच दौड़ता था : ऋ० १०. १०१. ११; १०. १३१. ३; ६. १५. १९; पंविब्रा०, १६. १३. १२; २१. १३. ८ इत्यादि। रथ में सारथि दाहिनी ओर रहता था और योद्धा वामभाग में, जैसा कि **सव्येष्ठा** और **सव्यष्ठा** शब्द से प्रतीत होता है। वह जब चाहे तब बैठ भी सकता था; क्योंकि रथ में आसन होते थे, और बाण चलाने वाला इच्छानुसार बैठकर बाण चला सकता था; **सव्यष्ठा** : अवे०, ८. ८. २३; सव्येष्ठ-सारथि शब्द तैसं०, १. ७. ९. १ में आया है, जो निश्चय ही योद्धा और सारथि को सूचित करता है। द्र०—शब्रा०, ५. ३. १. ८[2]।

आपस्तम्ब शुल्व-सूत्र ६. ५ में रथ के परिमाण इस प्रकार दिये गए हैं : **भार-यष्टि** १८८ अंगुल, **अक्ष** १०४ अंगुल, **युग** ८६ अंगुल। चक्र की **पवि** (रिम) के अतिरिक्त अन्य भाग लकड़ी के बने होते थे[1]।

रथ के अन्य अनेक अङ्गों का भी उल्लेख मिलता है; यथा : **अङ्क, न्यङ्क, उद्धि, पक्षस्, पातल्य, भुरिज्, रथोपस्थ, रथ-वाहन**[2]।

तु०—'तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते' गोब्रा० १. २. २१; 'रसं तमं ह वै तद् रथंतरमित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ९. १. २. ३६; 'वज्रो वै रथः' तैब्रा० १. ३. ६. १; 'असौ वा आदित्य एष रथः' शब्रा० ९. ४. १. १५।

रथकार—रथ बनाने वाले का उल्लेख अथर्ववेद ३. ५. ६ में राजा की प्रजा के रूप में, संभवतः औद्योगिक वर्ग के रूप में मिलता है। याजुष संहिताओं एवं ब्राह्मणों में भी रथकार का उल्लेख आता है। इन सभी स्थलों पर और संभवतः अथर्ववेद में भी रथकार का उल्लेख एक जाति के रूप में हुआ है : कासं०, १७. १३; मैसं०, २. ९. ५; वासं०, १६. १७; ३०. ६; तैब्रा०, १. १. ४. ८; ३. ४. २. १; शब्रा०, १३. ४. २. १७। याज्ञवल्क्य १. ९५ में रथकार को **माहिष्य** (क्षत्रिय पति और वैश्य पत्नी का पुत्र) और **कर्णी** (वैश्य पति और शूद्र स्त्री की पुत्री) से उत्पन्न संतान कहा गया है। किंतु यह तर्क-संगत नहीं दीखता कि ऐतिहासिक रूप से उनका उद्भव इस प्रकार का रहा हो। इनका स्थान **वैश्य** के नीचे और **शूद्र** के ऊपर माना गया है[3]। रथकारों को उनके कर्म के अनुसार एक जाति का बताया जा सकता है। हिल्लेब्राण्ट का सुझाव है कि अनु जाति रथकार जाति का आधार है; क्योंकि अनु लोगों ने **ऋभुओं** की क्रमशः विशेष आराधना की है, जो कि सर्वोत्तम रथ-निर्माता थे[4]। किंतु इस मत के संबन्ध में अल्प साक्ष्य है।

---

[1] एगलिंग, सेबुई०, ४१. २१ टि० १; पाँच अश्वों के उल्लेख के लिए द्र०—'रथः पञ्चवाही' कासं०, १५. २; मैसं०, २. ६. ३; तैसं०, के समानान्तर स्थल १. ८. ७. २ में **प्रष्टिवाही** आया है।

[2] एगलिंग, सेबुई० ४१. ६२ टि० १; ग्रीक सूचनाओं में दो योद्धा और एक सारथि का उल्लेख आता है; तु०—**अश्विनों** का रथ, तीन आसनों के साथ; द्र०—फान श्रोडर, इन्दीश्ने लितरात्यूर उन्द कुल्तूर,

[1] द्र०—बर्क, त्सादामौगे० ५६. ३४४. ३४५; शब्रा०, ५. ४. ३. १६; विवाहोत्सव के लिए शामलि-काष्ठ का रथ बनता था : ऋ० १०. ८५. २०।

[2] आर्षकाव्यकालीन रथ के लिए द्रष्टव्य हापकिन्स, जअओसो०, १३. २३५-२६२; तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज़, ३३८, ३३९; त्सिमर, आले० २४५-२५२; हापकिन्स, ट्रांजेक्शंस०, १५. ३८ टि० १।

[3] तु०—वेबर, इस्तू०, १०. १२. १३; और तु०—**वर्ण**, द्र०—फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग, २०९. २१०।

[4] द्र०—वैमि०, ३. १५२. १५३। तु०—वेबर, इस्तू०, १७. १९६ एवं अग्रिम।

रथ-गृत्स—वाजनेयि संहिता १५. १५ और ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८. ९ में चतुर सारथि के लिये रथ-गृत्स आया है। तु० 'तस्य (अग्नेः) रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानी-ग्रामण्याविति वासन्तिकौ तावृतू' शब्रा० ८. ६. १. १६; तु०–तैसं०, ४. ४. ३. १; **रथकृत्स्न**: मैसं०, २. ८. १०; ११. **रथकृत्स**: का० सं०, १७. ९।

रथ-चक्र—ब्राह्मणों में रथ के चक्र का अनेकशः उल्लेख आया है: ऐब्रा०, ३. ४३. ४; तैब्रा०, १. १. ६. ८; शब्रा०, २. ३. ३. १२; ५. १. ५. २; ११. ८. १ द्रष्टव्य **रथ** और **चक्र** इत्यादि।

रथ-चर्षण—रथ-चर्षण शब्द एक बार ऋग्वेद ८. ५. १९ में आता है, किंतु वहां पर उसका भाव संदिग्ध है; राथ[1] के अनुसार रथ का कोई भाग अपेक्षित है; किंतु संभवतः इसका अर्थ है रथ का मार्ग। तु०–दुर्गाचार्य का भाष्य, निरुक्त ५. १२ पर।

रथ-जूति—अथर्ववेद १९. ४४. ३ में रथ-जूति शब्द या तो रथ के जैसे वेग से चलने वाले का विशेषण है, अथवा जैसा कि राथ ने[2] सुझाया है, यह व्यक्ति-वाचक है।

रथ-नाभि—वाजसनेयि संहिता एवं उपनिषदों में रथ के चक्र की नाभि को रथ-नाभि कहा गया है: वासं० ३४. ५; बृउ०, २. ५. ५; ऐआ० ३. २. ४; कौउ०, ३. ८; छाउ०, ७. १५. १ इत्यादि।

रथंतर—एक प्रकार के साम का नाम रथंतर है: ऋ० १. १६४. २५; १०. १८७. १; अवे, ८. १०. ३; ११. ३. १६; वासं०, १०. १०; ११. ८; तैब्रा०, २. १. ५. ७; २. ७. १. १; ऐब्रा०, ८. १; शब्रा०, १. ७. २. १७; १. ८. १. १९ इत्यादि। तु० 'रसं तमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ९. १. २. ३६; 'रथं मर्याः क्षेप्त्वातारीदिति तद् रथंतरस्य रथंतरत्वम्' तांब्रा० ७. ६. ४; 'अयं वै (पृथिवी—)लोको रथंतरं छन्दः' शब्रा ८. ५. २५; 'इयं वै पृथिवी रथंतरम्' ऐब्रा० ८. १; कौब्रा० ३. ६; तांब्रा० ६. ८. १८; शब्रा० १. ७. २. १७; 'वाग् वै रथंतरम्' ऐब्रा० ४. २८; तांब्रा० ७. ६. १७; 'ब्रह्मवर्चसं वै रथंतरम्' तैब्रा० २. ७. १. १; 'ब्रह्म वै रथंतरम्' ऐब्रा० ८. १. २; 'ऋग् रथंतरम्' तांब्रा० ७. ६. १७; 'अपानो रथंतरम्' तांब्रा० ७. ६. १४; 'यद् ध्रस्वं तद् रथंतरं यद्दीर्घं तद् बृहत्' कौब्रा० ३. ५; 'देवरथो वै रथंतरम्' तांब्रा० ७. ७. १३; 'अन्नं वै रथंतरम्' ऐब्रा० ८. १; 'राथंतरी वै रात्रिः' ऐब्रा० ५. ३०; 'गायत्री वै रथंतरस्य योनिः' तांब्रा० १५. १०. ५; 'एतद् वै रथंतरस्य स्वमायतनं यद् बृहती' तांब्रा० ४. ४. १०; 'अग्निर्वै रथंतरम्' ऐब्रा० ५. ३०; 'त्रिवृच्च त्रिणवश्च राथंतरौ तावजश्चाश्वश्चान्वसृज्येतां तस्मात् तौ राथंतरं प्राचीनं प्रधूनुतः' तांब्रा० १०. २. ५; 'चतुरक्षरं रथंतरम्' तैब्रा० २. १. ५. ६; 'प्रजननं वै रथंतरम्' तांब्रा० ७. ७. १६; 'रथंतरमेतत् परोक्षं यच्छक्वर्यः' तांब्रा० १३. २. ८; 'रथंतरमेतत् परोक्षं यद् वैरूपम्' तांब्रा० १२. ५. ५; (सामवेद उवाच) 'रथंतरं नाम वे सामाघोरं चाक्रूरं च' गोब्रा० १. २. १. ८; 'तेजो रथंतरं साम्नाम्' तांब्रा० १५. १०. ६; 'रथंतरं वै सम्राट्' तैब्रा० १. ४. ४. ९।

रथ-प्रोत दार्भ्य—दर्भ का वंशज। मैत्रायणी संहिता २. १३ में एक राजा या एक पुरोहित का नाम है।

रथ-प्रोष्ठ—ऋग्वेद १०. ६०. ५ में एक राज-वंश का नाम है। द्र०–**सु-बन्धु**।

रथ-मुख—परवर्ती संहिताओं में रथ के अगले भाग के लिए यह शब्द आया है: अवे०, ८. ८. २३; तैसं०, ३. ४. ८. २; ५. ४. ९. ३ इत्यादि। तु०–**रथ-शीर्ष**।

रथर्वी—अथर्ववेद १०. ४. ५ में एक सर्प का वाचक है।

रथ-वाहन—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ को रखने के लिए प्रयुक्त एक चलते-फिरते अवलम्ब का नाम रथ-वाहन है: ऋ० ६. ७५. ८; अवे०, ३. १७. ३=तैसं०, ४. २. ५; कासं०, १६. ११=मैसं०, २. ७. १२=वाधसू०, २. ३४, ३५; द्र० कासं०, २१. १०; तैब्रा०, १. ७. ९. ६; शब्रा०, ५. ४. ३. २३ एवं अग्रिम। राथ के अनुसार यह ग्रीक बोमोस का समकक्ष है, जिस पर रथ को टिका दिया जाता था[1] रथवाहन-वाह शब्द उन दो अश्वों के लिए आता है, जो उस अवलम्ब को खींचते थे: तैसं०, १. ८. २०. १; तैब्रा०, १. ८. ४. २; कासं०, १५. ९; मैसं०, २. २. १। वेबर का विचार है कि इसका प्रयोग युद्ध के रथ को युद्ध-क्षेत्र में पहुँचाने वाले अवलम्ब के लिए होता था[2]।

रथवाहन-वाह—द्र०–**रथ-वाहन**।

---

[1] वोबू०।

[2] वोबू०। द्र०–ह्विटनी, ट्रां० अवे० ७६७ टि०। इसका अर्थ है रथ-वेष-युक्त।

[1] द्र०–फेस्टग्रुस आन बोहटलिङ्गक, ९५ एवं अग्रिम; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ११६।

[2] ऊबर देन वाजपेय, २७ टि० २; गेल्डनर द्वारा अनुसृत, वैस्टू०, २. २७५; वेबर ने यह स्वीकार किया है कि यह रथावलम्ब का काम कभी-कभी देता था, किंतु गेल्डनर का मत है कि ऐसा कभी नहीं होता था।

रथ-वीति दार्भ्य—दर्भ का वंशज रथवीति। ऋग्वेद ५. ६१. १७, १९ में रथ-वीति दार्भ्य का उल्लेख गो-बहुल प्रदेश के निवासी के रूप पर किया गया है, जो सुदूर पर्वतों में, संभवतः हिमालय पर था। उन्हें सूक्त-गायकों का आश्रयदाता भी बताया गया है। परवर्ती काल में उन्हें एक राजा कहा गया है, जिनकी कन्या को **श्यावाश्व** ने अपनी पत्नी बनाने के लिए अपने पिता एवं **मरुतों** की सहायता से जीत लिया था[1]।

रथ-शीर्ष—रथ का मुख अथवा अगला भाग, पंजाला। शतपथ ब्राह्मण ९. ४. १. १३ में इसका उल्लेख आया है।

रथ-सङ्ग—ऋग्वेद ९. ५३. २ में शत्रु के रथों के संयुग को यह शब्द द्योतित करता है।

रथाक्ष—याजुष संहिताओं में रथ के अक्ष को सूचित करता है। कात्यायन श्रौत सूत्र के भाष्यकार ने इसकी लम्बाई १०४ अंगुल बताई है, जो आपस्तम्ब शुल्बसूत्र के कथन से मिलती है। द्र० तै० सं०, ६. ६. ४. १; कासं०, २९. ८; काश्रौसूत्र, ८. ८. ६; आपशुसूत्र, ६. ५; बर्क, त्सादामौगे० ५६, ३४४, ३४५ द्र०—**रथ**।

रथाह्न्य—शतपथ ब्राह्मण १२. २. ३. १२ में रथ द्वारा एक दिन की यात्रा को जताता है।

रथिन्, रथी—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ से चलने वाले का वाचक है। यह योद्धा और सारथि दोनों के लिये आता है: ऋ० १. १२२. ८; ५. ८३. ३; ६. ४७. ३१; ८. ४. ९; १०. ४०. ५; १०. ५१. ६; १. २५. ३; २. ३९. २; ३. ३. ६; ५. ८७. ८; ७. ३९. १ इत्यादि; अवे०, ४. ३४. ४; ७. ६२. १; ७. ७३. १; ११. १०. २४; तैसं०, ५. २. २. ३; ४. ७. १५. ३; वासं०, १६. २६; शब्रा०, ८. ७. ३. ७ इत्यादि; तु०—त्सिमर, आले०, २९६।

रथीतर—अच्छा सारथि। बौधायन श्रौतसूत्र और बृहद्देवता में एक आचार्य का नाम है: बौश्रौसूत्र, २२. ११; बृदे०, १. २६; ३. ४०; ७. १४५ मैकडानल का संस्करण।

रथे-ष्ठा—रथ पर स्थित। रथ पर से युद्ध करने वाले योद्धा को रथे-ष्ठा कहा गया है: ऋ० १. १७३. ४. ५; २. १७. ३; ६. २१. १; ६. २२. ५; ६. २९. १; ८. ४. १३; ८. ३३. १४; ९. ९७. ४९; वासं०, २२. २२ तु०—त्सिमर, आ० ले०, २९६।

रथोपस्थ—रथ का उत्सङ्ग, पंजाली। अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों में यह शब्द रथ के अन्तर्भाग को सूचित करता है, जिस पर योद्धा और सारथि बैठते थे: अवे०, ८. ८. २३; ऐब्रा०, ८. १०. २; शब्रा०, २. ३. ३. १२ तु०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. २३८ टि०—१।

रथौजाः—तु० 'तस्य (अग्नेः) रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविति वासन्तिकौ तावृत्' शब्रा० ८. ६. १. १६;

रन्ध्र—ऋग्वेद ८. ७. २६ में 'उष्णो रन्ध्र' इस वाक्यांश के अन्तर्गत रन्ध्र शब्द किसी स्थान को उद्दिष्ट करता है; किंतु इसका यथार्थ भाव संदिग्ध है। पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ९. १३ में **'उष्णो रन्ध्र'** एक व्यक्ति का नाम है।

रपस्—वैदिक साहित्य में रपस् शब्द कुछ स्थलों पर आया है, जिसे शारीरिक दोष, पाप, या बुराई के अर्थ में माना गया है। सायण ने इसे रक्षस् के अर्थ में भी कुछ स्थानों पर लिया है: ऋ० १. ६९. ८; ६. ३१. ३। द्र०—ऋ० १. ३४. ११; २. ३३. ७; ७. ३४. १३; १०. ९७. १०; अवे०, ५. ४०. १०; ६. ९१. १; ७. ५०. १; ८. १८. ८, १६ इत्यादि।

रभि—ऋग्वेद ८. ५. २९ में आया यह शब्द रथ के किसी भाग को सूचित करता है; संभवतः इसका अर्थ ऊंटना हो।

रम्—तु० 'प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि' शब्रा० १४. ८. १३. ३;

रम्भ—ऋग्वेद ८. ४५. २० में यष्टि या आधार के अर्थ में रम्भ शब्द आया है। ऋ० २. १५. ९ में एक व्यक्ति को रम्भिन् कहा गया है; स्पष्टतः उस व्यक्ति को, जो बुढ़ापे में टेक के सहारे चलता है। सायण ने इसका अर्थ द्वारपाल किया है।

रम्भिणी—ऋग्वेद के एक स्थल पर रम्भिणी को मरुतों के स्कन्ध पर स्थित बताया गया है: ऋ० १. १६८. ३; तु०—१. १६७. ३। द्र०—मैक्समूलर, सेबुई० ३२. २८३।

रम्भी यह ऋग्वेद २. १५. ९ में किसी व्यक्ति का सूचक है, जिसने इन्द्र से हिरण्य-लाभ किया था। द्रष्टव्य-**रम्भ**।

[1] द्र० जीग, दी त्रा० ऋ०, ५० एवं अग्रिम; ६२ टि० २; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. १५३. ३५४; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ३५९, ३६२।

रयि—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में धन के लिए सामान्य शब्द रयि है : ऋ० १. ७३. १; १. १५९. ४; २. २१. ६; ३. १. १९; ४. २. ७; ४. ३४. १०; ४. ३६. ९; ६. ६. ७; ६. ३१. १ इत्यादि; अवे०, ३. १४. १; ६. ३३. ३; ७. ८०. २; तैसं०, ७. १. ७२; वासं० ९. २२; १४. २२; २७. ६ इत्यादि। रयि-विशेष का उल्लेख कभी-कभी वीरों (अच्छे पुत्रों), अश्वों, और पशुओं के रूप में किया गया है; **वीर** : ऋ०, २. ११. १३; २. ३०. ११; ४. ५१. १० इत्यादि; **अश्व** : ऋ० ५. ४१. ५; ८. ६. ९ इत्यादि; **पशु** : ऋ० ५. ४: ११ इत्यादि। तु० 'रयिरिति मनुष्याः' (उपासते) शब्रा० १०. ५. २. २०; 'वीर्यं वै रयिः' शब्रा० १३. ४. २. १३; 'पुष्टं वै रयिः' शब्रा० २.३.४.१३; 'पशवो वै रयिः' तैब्रा० १. ४. ४. ९।

रयि-ष्ठ—'पशवो वै रयिष्ठं पशूनामवरुध्यै' तांब्रा० १४. ११. ३१.

रराट—ललाट के लिए कुछ स्थलों में रराट शब्द आया है : वासं०, ५. २१; २४. १; तैब्रा०, २. १. २. १; कासं०, १४. १; पागृसूत्र, ३. ६ इत्यादि।

रव—ऋग्वेद-काल से ही रव शब्द ध्वनि या स्वन के अर्थ में आया है : ऋ० ९. ९७. ३६; १. ९४. १०; ३. ३१. ६; ७. ७९. ४; अवे०, ५. १३. ३; ऋ० १. ६२. ४ इत्यादि।

रशना—रशना शब्द रज्जु के अर्थ में आम है। ऋग्वेद में यह शब्द अश्व के विविध बन्धनों का वाचक है। ऋ० १. ६२. ८ में "शीर्षण्या रशना" लगाम को नहीं, अपितु लगाम के शीर्षबन्ध को उद्दिष्ट करता है; तु०—रज्जु। दूसरे स्थलों पर चर्म-रज्जु यह अर्थ निश्चित जान पड़ता है : ऋ० १. १६३. २, ५; १०. ७९. ७। कभी-कभी वल्गा या लगाम अभिप्रेत है : ऋ० ४. १. ९; ९. ८७. १; १०. १८. १४; तु०—तैसं०, १. ६. ४. ३। अन्यत्र बन्धन यह अर्थ हो सकता है : ऋ० २. २८. ५; अवे०, ८. ७८. १; १०. ९. २; वासं०, २१. ४६; २२. २; २८. ३३; तैसं०, ६. ६. ४. ३; शब्रा०, ३. ६. २. १० इत्यादि। ऋग्वेद (१०. ४६) में रशना को अङ्गुलि के समान बताया गया है। तु०—त्सिमर, आले०, २४९।

१ रश्मि—शब्द रज्जु के अर्थ में बहुत कम (ऋ० १. २८. ४; ४. २२. ८; ८. २५. १८; ऐब्रा०, ४. १९. ३ इत्यादि) प्रयुक्त हुआ है; आमतौर से यह वल्गा या चर्म-रज्जु के अर्थ में आया है : ऋ० ८. ७. ८; १०. १३०. ७ इत्यादि; तैसं०, १. ६. ४. ३; वासं, २३. १४; तैब्रा०, १. २. ४. २ इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण २. ३७. १ में दो भीतरी (अन्तरौ) वल्गाएं या रथ की चर्म-रज्जु उल्लिखित हैं। तु०—त्सिमर, आले०, २४९।

रश्मि २—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में सूर्य की किरणों के लिये रश्मि शब्द का प्रयोग हुआ है : ऋ० १. ३५. ७; ४. ५२. ७; ७. ३६. १; ७. ७७. ३; अवे०, २. ३२. १; तैब्रा०, २. १. १. १; शब्रा०, ९. २. ३. १४ इ०। तु० 'अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन्' शब्रा ६. १. २. ३; 'अभीशवो वै रश्मयः' शब्रा० ५. ४. ३. १४; 'रश्मयो हास्य (सूर्यस्य) विश्वे देवाः' शब्रा० ३. ९. २. ६; 'एवं वै विश्वेदेवा रश्मयः' शब्रा० २. ३. १. ७; 'तस्य (सूर्यस्य) ये रश्मयस्ते सुकृतः' शब्रा० १. ९. ३. १०; 'रश्मय एवं हिंकारः' जैउब्रा० १. ३. ३. ९; 'रश्मयो वै दिवाकीर्त्यानि (सामानि)' तांब्रा० १. २. ४. २; 'तस्य (सूर्यस्य) ये रश्मयस्ते देवा मरीचिपाः' शब्रा० ४. १. १. २५; 'भासा वै रश्मयो मरुतो रश्मयः' तांब्रा० १४. १२. ९; 'अन्नं हि रश्मिः' शब्रा० ८. ५. ३. ३; 'एते वै पवितारो यत् सूर्यस्य रश्मयः' शब्रा० ३. १. ३. २२; 'तद् यदेकैकस्य रश्मेर्द्वौ वर्णौ भवतः' गोब्रा० २. ६. ६;

रस—तरल सार-पदार्थ के अर्थ में रस शब्द अनेकशः आया है : ऋ० १. २३. २३; ६. ४४. २१; ५. ४३. ४; १. १८७. ४. ५; अवे, ४. ६५. ३; ऐब्रा०, ३. २७. ७. ३१; ८. ७; तैसं०, २. १. ७. १; तैब्रा०, १. ३. १०. इत्यादि। तु० 'रसो वै मधु' शब्रा० ६. ४. ३. २; 'अपो वै देवा मधुमतीरगृभ्णन्निति अपो देवा रसवतीरगृह्णन्नित्येवैतदाह' शब्रा० ५. ३. ४. ३; 'स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतदाह' शब्रा० ५. ३. ४. ३. 'रसो वा आपः' शब्रा० ३. ३. ३. १८।

रसा—यह शब्द ऋ० १. ११२. १२; ५. ५३. ९; १०. ७५. ६ में आया है। यह एक नदी का नाम है, जो वैदिक क्षेत्र के अत्यधिक उत्तर-पश्चिम में थी। अन्यत्र यह एक देवशास्त्रीय धारा का नाम है, जो पृथ्वी के सिरों और वातावरण को परिवेष्टित किए हुए है : ऋ० ५. ४१. १५; ९. ४१. ६; १०. १०८. १, २; तु०—जैब्रा०, २. ३४८; जअओसो०, १९. १०० एवं अग्रिम; ऋ० १०. १२१. ४। यह अनुमान तर्क-संमत है कि **"सरस्वती"** शब्द की भांति "रसा" का भी परवर्ती अर्थ नदी रहा हो, और वह **अरँक्सेस** या **जकार्तेस** हो सकती है; क्योंकि वेंडिदाद ने **रंहा** को रसा का अवेस्तन रूप माना है। किंतु यह शब्द संभवतः प्रारम्भिक अर्थ में केवल जल या

"रस" को उद्दिष्ट करता था, जो किसी भी नदी के लिए सरस्वती की भांति प्रयुक्त किया जा सकता था : ऋ० ४. ४३. ६; ८. ७२ १३। लुड्विग[१] का मत है कि ऋग्वेद ५. ५३. ९ में पाये जाने वाले **"रसानितभा"** शब्द में विशेष्य और विशेषण का योग है; अर्थात् 'अनितभा' **रसा** का विशेषण है, जो 'अगतभा' यह अर्थ दे सकता है। किंतु यह ठीक नहीं है; **अनितभा** एक दूसरी नदी हो सकती है[२]।

रसाशिर्—ऋग्वेद में यह सोम के विशेषण के रूप में "रस से मिश्रित" इस अर्थ में आया है : ऋ० ३. ४८. १; सायण ने रस का अर्थ दूध किया है; तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. २११ टि०—५।

रहस्यु—तु०'तान् (वैखानसानृषीन्) रहस्युर्देवमलिम्लुङ मुनिमरणेऽमारयत्' तांब्रा० १४. ४. ७;

रह-सू—ऋग्वेद २. २९. १ में अविवाहिता माता के लिए रह-सू (=गुप्त रूप से गर्भधारण या प्रसव करने वाली) शब्द आया है। तु०—**पति** और **धर्म**।

रहस्यु देवमलिम्लुच्—पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ४. ७ में एक देवशास्त्रीय व्यक्ति का नाम रहस्यु देवमलिम्लुच् है, जिसने **मुनिमरण** में वैखानस ऋषियों का वध किया था।

रहू-गण—ऋग्वेद १. ७८.५ में बहुवचन में प्रयुक्त यह शब्द एक वंश का नाम है। लुड्विग के अनुसार वे **गोतमों** से संबद्ध थे, जैसा कि "गोमत रहूगण" इस शब्द से प्रकट है[१]। द्र०—ट्रां० ऋ० ३. ११०। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामोगे० ४२. २३६ टि०—१।

राका—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में पूर्ण चन्द्रमा के दिन को राका कहा गया है : ऋ० २. ३२. ४; ५. ४२. १२; तैसं०, १. ८. ८. १; ३. ४. ९. १, ६; कासं०, १२. ८.७०;। तु० 'योत्तरा (पौर्णमासी) सा राका' ७.११; 'योषाः सा राका', ऐब्रा० ३. ४८; 'या राका सा त्रिष्टुप्' ऐब्रा०, ३. ४७।

राज-कर्तृ या राज-कृत्—राजा को बनाने वाला। अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों में यह उन लोगों का वाचक है, जो स्वतः राजा न होते हुए राजा के अभिषेक में सहायक बनते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उन व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं:—**सूत** (सारथि), **ग्रामणी** (ग्राम का प्रमुख, संभवतः अभिषेक-स्थान के निकटस्थ ग्राम का प्रमुख प्रतिनिधि, जैसा कि एगलिंग का मत है)। ऐतरेय ब्राह्मण में भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार, पिता, भाई आदि अभिप्रेत हैं : ऐब्रा०, ८. १७. ५; अवे०, ३. ५. ७; शब्रा०, ३. ४. १. ७; १३. २. २. १८।

द्र० एगलिंग, सेबुई० ४१.६० टि०; तु०—वेबर, इस्टू०, १७. १९९।

राज-कुल—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. २८. ४ में राज-कुल शब्द आया है।

राजन् १—राजा। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द प्रायः आया है : ऋ० ३. ४३. ५; ५. ५४. ७; अवे०, ४. २२. ३, ५; ८. ७. १६ इत्यादि। यह स्पष्ट है कि आदिकालीन भारत में शासन राजा द्वारा होता था जैसी कि आक्रमणशील आर्य जाति से आशा की जा सकती थी; क्योंकि शत्रु-देश में आकर इस जाति ने यही रूप ग्रहण किया होगा। आर्यों ने ग्रीक आक्रमण में और जर्मनों ने इंगलण्ड के आक्रमण में राज-तन्त्र को ही तरजी दी थी[१]। जैसा कि त्सिमर[२] ने वैदिक समाज की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, केवल पैतृक व्यवस्था समाज के लिए पर्याप्त आधार नहीं थी।

राज-शक्ति का स्वरूप—त्सिमर[३] का विचार है कि एक ओर जहाँ वैदिक राज-तन्त्र वांशिक था, जैसा कि अनेक स्थलों में इसके वंशगत होने के चिह्न मिलते हैं, (उदाहरणार्थ, **वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास्, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, मित्रातिथि, कुरुश्रवण, उपमश्रवस्** इत्यादि) वहाँ साथ ही निर्वाचन-प्रणाली का संकेत भी मिल जाता है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि इस निर्वाचन को लोग राज-परिवार के व्यक्तियों में से ही करते थे, अथवा संपूर्ण सामन्त-मण्डल में से। गेल्डनर[४] का विचार है कि उल्लेखनीय स्थलों (ऋ० १०. १२४. ८, १०. १७३; अवे०, १. ९;

---

[१] ट्रां० ऋ०, ३. २०२।

[२] तु०—मैक्समूलर, इण्डिया, १६६. १७३ टि०। तु०—त्सिमर, आले०, १५. १६; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ३२३; ब्रन्नहोफर, ईरान उण्ड तूरान, ८६; वेबर, प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन ऐकेडेमी, १८९८, ५६७, ५६९

[१] तु०—स्टब्स, कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंगलण्ड, ५९ एवं अग्रिम।

[२] आले०, १६२।

[३] आले० १६२ एवं अग्रिग; वेबर, इस्टू०, १७. १८८; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३३६; लानमान, संस्कृत-रीडर, ३८६; 'दशपुरुष'='दस पीढ़ियों की राजधानी' : शब्रा०, १२. ९. ३. ३; तु०—५. ४. २. ८; ऐब्रा०, ८. १२. १७।

[४] वैस्टू०, २. ३०३।

३. ४; ४. २२) पर चुनने का अधिकार सामन्तों का न होकर प्रजा का होता था। किंतु निःसंदेह राजतन्त्र सर्वथा निर्वाचन पर आधृत नहीं था; राज-परिवार में उचित व्यक्ति के न मिलने पर दूसरे को चुनने के उदाहरण कुरुवंशीय **देवापि** और **शंतनु** की पुराकथा में मिलते हैं; द्र०—निरुक्त, २. १०।

राज-शक्ति डांवाडोल रहती थी; अनेक प्रसङ्गों में राजा के राज्य-च्युत होने के उल्लेख मिलते हैं। फिर से सार्वभौमता प्राप्त करने के विवरण भी मिलते हैं, और अथर्ववेद में राज-शक्ति-संबन्धी मन्त्र दिये गये हैं[1]।

युद्ध में राजा—निश्चय ही ऋग्वेद से बाद के साहित्य में युद्धार्थ अभियानों का उल्लेख कम आता है, जिनका पहले राजाओं के कर्तव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था। किंतु तैत्तिरीय १. ८. ४. १ में **कुरु-पञ्चाल** राजाओं का उल्लेख आता है, जो इस प्रदेश के ब्राह्मणों की भांति शरद् ऋतु में आक्रमण करते थे और जो सदा संनद्ध रहते थे। **उदाज** शब्द भी **निराज** के साथ इस बात का समर्थन करता है कि राजा युद्ध से प्राप्त धन में भाग लेता था। ऋग्वेद में युद्धों के अनेक प्रसंग आते हैं; उदाहरण के लिये, **दाशराज्ञ** : ऋ० ७. १८; ७. ३३; ७. ८३ और तु०—३. ३३; ३. ५३। यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय भी अपने कर्तव्य के पालन में उतने ही तत्पर रहते थे, जितने कि ब्राह्मण यज्ञों एवं अपने अन्य कर्तव्यों के पालन में। आक्रमणात्मक युद्ध के साथ-साथ सुरक्षात्मक युद्ध भी राजा किया करते थे। राजा को जन का **गोपा** कहा गया है। राजसूय के अवसर पर उसे ब्राह्मणों का रक्षक बताया गया है : ऋ० ३. ४३. ५। आदिवासियों पर आक्रमण का ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है : ऋ० २. १२. ११; ४. २६. ३; ६. २६. ५; ६. ३३. ४, इत्यादि। परवर्ती वैदिक साहित्य में भी युद्ध के उल्लेख आते हैं : ऋ० ९. १७; १० ३; २८. २; तैसं०, ६. ४. ८. ३; कौब्रा०, ५. ५; शब्रा०, २. ६. २. ४ एवं अग्रिम[2]। राजसूय में "विश्" के "भोजन" (कर-ग्रहण) से ब्राह्मण की रक्षा का शुल्क चुकाया गया है। राजा के पुरोहित से यह आशा की जाती रही है कि वह अपने मन्त्रों से राजा एवं उसकी सेना को विजयी बनावे। राजा युद्ध म स्वयं लड़ता था। कौषीतकि उपनिषद् ३. १ के अनुसार **प्रतर्दन** युद्ध में मारे गये थे। राजसूय के प्रसङ्ग में उन्हें पुरों का भेत्ता बताया गया है।

शान्ति में राजा युद्ध-संबन्धी सेवाओं के उपलक्ष में राजा को प्रजा की आज्ञाकारिता प्राप्त होती थी; उदाहरण के लिये, राजा **जनक विदेहों** को दास के रूप में **याज्ञवल्क्यों** को प्रदान करते हैं : बृउ०, ४. ४. ३०; २. १. २०; मैसं०, १. ६. १०; ऋ० १. ६७. १; ४. ५०. ८। प्रजा की आज्ञाकारिता कभी-कभी बलात् भी प्राप्त की जाती थी : ऋ० ९. ७. ५: तु०—७. ६. ५ इत्यादि; तैब्रा०, २. ७. १८. २। राज-सत्ता के लिए राजा प्रजा से अंशदान प्राप्त करता था, क्योंकि राजा को **विश्** का भोक्ता कहा गया है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रजा को सताता रहता था। इसकी उत्पत्ति उस प्रथा में है, जिसके अनुसार राजा और उसके परिजन प्रजा के अंशदान पर निर्भर रहते थे; द्रष्टव्य **बलि** और तु०—ऋ० १. ६५. ४; अवे०, ४. २२. ७; ऐब्रा०, ७. २९; ८. १२. १७; कौब्रा०, ४. १२; शब्रा०, १. ८. २. १७; ४, २. १. ३. १७; ५. ३. ३. १२; ५. ४. २. ३; १०. ६. २ १; १३. २. ९. ६, ८[1]। यह कर ग्राम, गौ, और अश्वों में से कोई एक भाग होता था। यह ध्यान देने की बात है कि ग्राम और पशु को एक ही जगह रखा गया है, जिससे उनपर राजा के सर्वोच्च स्वामित्व के संबन्ध में वाद-विवाद का अवकाश ही न रह जाय; द्र०—अवे ४. २२. २। यह कर षष्ठांश होता था, जैसा कि परवर्ती साहित्य में उल्लेख मिलता है[2]। प्रथा के अनुसार राजा किसी क्षत्रिय को संरक्षण का अधिकार दे सकता था; इसी से सामन्त-प्रथा का विकास हुआ जान पड़ता है। क्षत्रिय या ब्राह्मण से कर नहीं लिया जाता था। ग्रन्थों में ब्राह्मण की संपत्ति को राज-वर्तन से मुक्त बताया गया है : शब्रा०, १३. ६. २. १८; १३. ७१. १३। ब्राह्मण केवल सोम-राजा का सेवक है, क्षत्रिय का नहीं। राजा के प्रति भक्ति प्रजा

---

[1] इस संवन्ध में विशेष शब्द है, 'अपरुद्ध'; तु०—अवे०, ३. ३. ४; कासं०, २८. १; तैसं०, २. ३. १; मैसं०, २. २. १; पंविब्रा०, १२. १२. ६; शब्रा०, १२. ९. ३. ३; कौसू०, १६. ३०; कालण्ड, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबर-रितुआल ३७ एवं अग्रिम; अवे०, ३, ३ तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, १११।

[2] हापकिन्स, जअओसो०, १३. १८७, २१५।

[1] वेबर, इस्तू०, १८. ९३ टि०; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. २४६; पिशल और गेल्डनर, वैस्तू०, १. १६; विन्तरनित्स, गेशिश्त देर इन्दिश्शन लितरात्यूर, १. १७३, १७४; कीथ, ऐआ०, १६१।

[2] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. ८५. ८६; इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, २३८, ३३३; रीज डेविड्स, जराएसो०, १९०१, ८६०।

के हृदय में रहती थी; तु० मैसं०, २. १. ८; ३. ११. ८; ४. ४. ३; शब्रा०, ५. ४. ४. ११; तैब्रा०, २. ६. ५। द्रष्टव्य **बलि**।

इन सब के बदले राजा न्यायाधीश का काम करता था। स्वयं अदण्ड्य रह कर भी वह दण्ड धारण करता था: शब्रा०, ५. ४. ४. ७। अपराधियों का न्याय वस्तुत: उसके प्रशासन के अन्तर्गत था; क्योंकि सूत्रों में अपराधियों का व्यक्तिगत न्याय कोई राजपदाधिकारी या राजा का प्रतिनिधि करता था, क्योंकि राजन्य को शूद्र के दण्ड का अध्यक्ष काठक संहिता २७. ४ (तु०—**क्षत्रिय**) में बताया गया है। नागरिक न्याय के क्षेत्र में राजा केवल अन्तिम अपील में निर्णय देता था; किंतु यह अनिश्चित है। ऋग्वेद का **मध्यम-शी** संभवत: जनता का न्यायाधीश होता था, या यह मध्यस्थ होता था। अपराधों के विस्तृत न्याय-क्षेत्राधिकरण का समर्थन वरुण के गुप्तचरों के उल्लेख में मिलता है: ऋ०, १. २५. १३; ४. ४. ३; ६. ६७. ५; ७. ६१. ३; ७. ८७. ३; १०. १०. ८ अवे०, ४. १६. ४; क्योंकि वरुण मानवीय राजा का प्रतिरूप है[1]। संभवत: ऐसे गुप्तचरों का उपयोग युद्ध के अवसर पर भी होता था: ऋ० ८. ४७. ११[2]।

वैदिक काल में राजा के विधान-संबन्धी कार्यों का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि बाद में ये कर्तव्य उसके कार्य-कलाप के आवश्यक अङ्ग बन गये थे। यह भी नहीं बताया जा सकता कि राजा को कौन-कौन से कार्य करने पड़ते थे।

राजा के कामों में पुरोहित उसे सलाह देता था। उसे भी राजा के मन्त्रियों और सेवकों से सलाह लेने की सुविधा रहती थी; द्र०—**रत्निन्**। स्थानीय शासन ग्रामणी के अधीन होता था, जो राजा द्वारा निर्वाचित या नियुक्त किया जाता था। राजपद के बाह्य-चिह्न थे—राजा का प्रासाद एवं उसके भव्य वस्त्र: ऋ० २. ४१. ५; ७. ८८. ५; वरुण का प्रासाद; **आसन्दी** से **जनमेजय** की राजधानी **आसन्दीवन्त्** का नामकरण; तु०—शब्रा०, ५. ४. ४. १ एवं अग्रिम; वस्त्र: ऋ० १. ८५. ८; ८. ५. ३८; १०. ७८. १ इत्यादि; 'राजा धनपतिर्धनानाम्': अवे०, ४. २२. ३। ऐब्रा०, ७. ३१ में राजा को न्यग्रोध वृक्ष की भांति कहा गया है।

भू-पति के रूप में राजा—भूमि के संबन्ध में राजा का उल्लेख कुछ दुरूह-सा है। ग्रीक उल्लेख प्राय: परस्पर-विरोधी हैं; फिर वे विश्वसनीय भी तो नहीं हैं; क्योंकि उनमें सचाई का अभाव है। किंतु वे कर का उल्लेख करते हैं, और कहते हैं कि भूमि राजा की होती थी, वैयक्तिक संपत्ति नहीं[1]। हापकिन्स का मत है कि कर सुरक्षा के लिये लिया जाता था, और भूमि पर व्यक्ति या संयुक्त परिवार का स्वामित्व होता था[2]। बाडन पावल के इस मत के विपरीत, कि राजा का भूमि-स्वामित्व बाद का है, उनका कहना है कि वैदिक काल में राजा प्रजा का, विशेषत: वैश्यों का उपभोग करता था: ऋ० २९. ३; किंतु शूद्रों की भांति वह उन्हें मार नहीं डालता था[3]। नीति-सूत्रों और शास्त्रों के समय की व्यवस्था के लिए वे बृहस्पति और नारद के उद्धरण देते हैं, जिनमें राजा को सर्वोच्च स्वामी कहा गया है। मानव-धर्मशास्त्र ८. ३९ में राजा को सब का स्वामी बताया गया है; ब्युहलर ने इस संदर्भ को राजा के भू-स्वामित्व का प्रमाण माना है[4]। किंतु यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है। हाँ इससे इतना माना जा सकता है कि आधुनिक इंगलंड के राजा की भांति भारतीय राजा का भूमि पर प्रतीकात्मक स्वामित्व होता था; **विश्** लोगों उपभोग का अधिकार राजनीतिक था, न कि उन पर किसी अन्य प्रकार का स्वामित्व। संक्षेपत: वही व्यवस्था अफ्रीका में देखने को मिलती है, जहां मुखिया किसी की भी भूमि को छीन सकता है, यद्यपि वह भूमि उस व्यक्ति के अधिकार में होती है। यह विषय कुछ सीमा तक पारिभाषिक है[5]। किंतु समानान्तर विषय राजशक्ति की विशेषता को बताते हैं; दान द्वारा या स्वामि-

---

[1] द्र०—फॉय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्ट, ८० एवं अग्रिम।
[2] द्र०—फॉय, उपर्युक्त, अध्याय ३।

[1] द्र०—डियोडोरस, २. ४०; एरियन, इण्डिका ११; स्ट्रैबो, पृ० ७०३ और हापकिन्स जअओसो०, १३. ८७ एवं अग्रिम।
[2] द्र०—इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, २२१ एवं अग्रिम।
[3] द्र०—बाडन पावल, विलेज कम्युनिटीज इन इण्डिया, १४५; इण्डियन विलेज कम्युनिटी, २०७ एवं अग्रिम।
[4] द्र०—सेबुई० २५, २५९।
[5] द्र०—कीथ, जर्नल आफ दि अफ्रीकन सोसाइटी, ६. २०२ एवं आगे। अन्य आर्य जातियों के साक्ष्य से भी राजा के प्रारम्भिक भू-स्वामित्व का समर्थन नहीं होता। यह स्वामित्व आंग्लसैक्सन काल तक नहीं था: द्र०—इंग्लिश हिस्ट्री रिव्यू, ८१. ७; होमर-कालीन ग्रीस में भी नहीं था: लैंग, होमर ऐंड हिज़ एज, २३६ एवं अग्रिम; रोम में भी नहीं था।

त्वाधिकार द्वारा यह शक्ति हस्तान्तरित हो सकती थी। हापकिन्स का विचार है कि पुरोहितों को भूमि का दान देना सचमुच भूमि का दान होता था।

राजा के सभा से संबन्ध के लिए देखिए **सभा** और उसके अभिषेक के लिए देखिए **राजसूय**। अराजकता का अर्थ है शासन का अभाव: तैब्रा०, १५. ९. १; ऐब्रा०, १. १४. ६[१]।

तु०–'स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त' गोब्रा० १. ५. ८; 'राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति' शब्रा० ५. १. १. १२; 'राज्ञ एव राजसूयम्' शब्रा० ५. १. १. १२; 'यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयान् अमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति' शब्रा० ५. ४. ४. १५; 'राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति' शब्रा० ९. ४. १. १; 'नाराजकस्य युद्धमस्ति' तैब्रा० १. ५. ९. १; 'राजा महिमा' तैब्रा० ३. ९. १. १।

राजन् २—कुछ स्थलों पर राजन् शब्द राजवंशीय क्षत्रिय के लिए आया है, अथवा केवल सामन्त के लिए : ऋ० १. ४०. ८; १०. १०८. ७; १०. ४२. १०; १०. ९७. ६; तैसं०, ४. ६. ८. ३; वासं०, १८. ४८; २६.२; अवे०, १९. ६२. १ और संभवत: २. ६. ४ इत्यादि[२]।

त्सिमर ने इस बात के संकेत पाये हैं कि ऋग्वेद १०. ९७. ६ के अनुसार शान्ति के समय में कुछ राज्यों में कोई राजा नहीं होता था; और राज-वंश के लोगों के समान अधिकार होते थे[३]। उन्होंने प्रारम्भिक जर्मनी के राज्यों से इस बात की तुलना की है[४]। किंतु उस स्थल से तो इतना ही पता चलता है कि राज-परिवार के सदस्यों को राजन् कह सकते थे और इससे त्सिमर के कथन का समर्थन नहीं होता। निःसंदेह ऐसी राज्य-व्यवस्था संभव थी, और बौद्ध काल में इसके उदाहरण मिलते हैं।

राजन—साम-विशेष। 'एतद् वै साक्षादन्नं यद् राजनं पञ्चविधं भवति पाङ्क्तं ह्यन्नम्' तांब्रा० ५. २. ७।

राजनि – **रजन** का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३. १७; २३. १६. ११ और तैत्तिरीय आरण्यक ५. ४. १२ में **उग्रदेव** का यह पैतृक नाम है।

राजन्य—राज-वंशीय व्यक्ति के लिए वैदिक काल में राजन्य शब्द आया है। संभवत: उन अभिजात व्यक्तियों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता था, जो राज-वंश के नहीं होते थे। यह संभव है कि आरम्भ में इस शब्द का प्रयोग केवल राज-वंश के लोगों तक ही सीमित रहा हो, किंतु यह किसी भी स्थल से प्रमाणित नहीं होता; फलत: कह सकते हैं कि यह शब्द प्रारम्भ में सभी कुलीनों के लिए व्यवहृत होता था, केवल राजवंशीय व्यक्तियों के लिए नहीं : ऋ० १०. ९०. १२; अवे०, ५. १७. ९; ५. १०. २; ६. ३८. ४; १०. १०. १८; १२. ४. ३२ एवं अग्रिम; १५. ८. १; १९. ३२. ८; तैसं०, २. ४. १३. १; २. ५. ४. ४; २. ५. १०. १; ५. १. १०. ३। शतपथ ब्राह्मण में राजन्य शब्द अनेक बार आया है, जब कि क्षत्रिय शब्द का प्रयोग उसमें परवर्ती अर्थ में भी है[१]। शतपथ ब्राह्मण में राजन्य को राजपुत्र से भिन्न बताया गया है; तु०–१३. ४. २. १७; १३. १. ६. २। राजन्य के कर्तव्यों और उसके पद का उल्लेख 'क्षत्रिय' के नीचे किया गया है, जो शब्द बाद में शासक-वर्ग के लिए राजन्य शब्द का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसके उच्च स्थान का पता तैत्तिरीय संहिता २. ५. ४. ४ से चलता है, जहाँ उसे विद्वान् ब्राह्मण और ग्रामणी (वैश्य) के साथ समृद्धि की चोटी पर (गत-श्री) बताया गया है।

तु० 'एष वै प्रजापते: प्रत्यक्षतमां यद् राजन्यस्तस्मादेक:

---

[१] लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रिफीस, ७४। तु०–त्सिमर, आले०, १६२ एवं अग्रिम; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ८४ एवं अग्रिम; फॉय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त नाख देन धर्मसूत्रन, लाइपत्सिग, १८९५; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, ४६ एवं अग्रिम; जराएसो०, १९०१. ८६०. ८६१।

[२] लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २३६, २३७; संभवत: जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, १. ४. ५ में "राज्ञ:" इसी भाव में है; राजा को वहां अनार्य कहा गया है, किंतु यह पाठ अशुद्ध है; तु०–राज्य।

[३] द्र०–आले०, १७६, १७७; अवे०, १. ९; ३. ४; ४. २२; इनमें राजा को अन्य सदस्यों से श्रेष्ठ बताया गया है।

[४] चेरुस्की और आर्मीनियस अपने आप को राजा बनाने का प्रयत्न करते हैं; इसे उनके पारिवारिक व्यक्ति फेल कर देते हैं: द्र०–टैसीटस, ऐनाल्स, २. ८८। तु०–रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, १९।

[१] द्र०–एगलिंग का इण्डेक्स, सेबुई०, ४४. ५६१। तु–म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. २५८ एवं अग्रिम; त्सिमर, आले० १९१; यह संभव है कि कुलीन व्यक्ति, जो राजवंश से संबद्ध नहीं होते थे, छोटे राजा होते थे, जो जाति को दृढ़ बनान की नीयत से अपने शासन को राजा के शासन में मिला देते थे, जैसा कि जर्मनी में होता था

सन् बहूनामीष्टे यद् वेव चतुरक्षरः प्रजापतिश्चतुरक्षरो राजन्यः' शब्रा० ५. १. ५. १४; 'क्षत्रं राजन्यः' ऐब्रा. ८. ६; 'शत्रस्य वा एतद् रूपं यद् राजन्यः' शब्रा० १३. १. ५. ३; 'ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः' ऐब्रा. ८. २. ३, ४; 'वृषा वै राजन्यः' तांब्रा० ६. १०. ९; 'शुद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्' शब्रा० १३. १. ५. ६; 'ऐन्द्रो वै राजन्यः' तैब्रा० ३. ८. २३. २; 'तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते' शब्रा० ३. २. १. ४०।

राजन्य-बन्धु—यह शब्द राजन्य का ही वाचक है, किंतु कुछ निन्दा के साथ। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण ११. ६. २. ५ में विजित ब्राह्मणों ने **जनक** को राजन्य-बन्धु कहा है। यही बात **प्रवाहण जैवलि** पर बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १. ५ में लागू है। दूसरी ओर शब्रा०, १०. ५. २. १० में, जहाँ प्रकरण स्त्रियों का है, राजाओं को ऐसा कहा गया है।[१] किंतु यहाँ राजन्य-बन्धु को निन्दा के अर्थ में नहीं ग्रहण किया जा सकता, जब तक कि यह ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त न कहा जाय; जैसा कि **नग्नजित्** के विषय में हुआ है: श० ब्रा०, ८. १, ४-१०।[२] फिर एक स्थल पर जहाँ कि चार वर्णों का उल्लेख है, वैश्य को राजन्य-बन्धु से पहले रखा गया है: शब्रा०, १. १. ४. १२।

राजन्यर्षि—पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १२. ६ में **सिन्धुक्षित्** को राजन्यर्षि बताया गया है। तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २३५ टि० ३; द्र० **वर्ण**।

राज-पति—राजाओं का स्वामी। शतपथ-ब्राह्मण ११. ४. ३. ९. में यह शब्द सोम का विशेषण है। यह कहीं भी सार्वभौम राजा के लिए नहीं आया है। द्र०—**राज्य**।

राज-पितृ—राजसूय में राजा को दी जाने वाली उपाधियों में से एक उपाधि राजपितृ थी। इसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२. ५; ८. १७. ५ में भी मिलता है। 'राजा का पिता' इस अर्थ में यह राजा की कुल-क्रमागतता का सूचक है। संभवतः प्रारम्भिक राज-तन्त्र में भी राजकुमार के अभिषेक की प्रथा चालू थी[३]।

राज-पुत्र—'राजा का पुत्र', 'राजकुमार', 'युवराज'। प्राचीन साहित्य में प्रायः सभी स्थलों पर यह शब्द अपने

[१] तु०—एगलिंग, सेबुई०, ४३, ३७० टि० १; शब्रा०, १. २. ४. २ जहां निन्दा अभिप्रेत नहीं है।

[२] तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स १२. ५१५।

[३] द्र० हापकिन्स, जे. रा. ए. सो., १३. १३९; 'पितृ-युक्त राजा' अर्थ भी संभव है।

वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है: ऋ० १०. ४०. ३; ऐब्रा०, ७. १७. ६; पंविब्रा०, १९. १. ४; कासं०, १४. ८; तैब्रा०, ३. ८. ५. १; शब्रा०, १३ ४. २. ५; १३. ५. २. ५ इत्यादि। कासं०, २८. १ में यह राजन्य और राजपुत्र की अभिन्नता का प्रदर्शक है। बाद में यह शब्द भू-स्वामी के अर्थ में सीमित हो जाता है[१]।

राज-पुरुष—निरुक्त २. ३ में राज-सेवक के लिए राज-पुरुष शब्द आया है। तु० **पुरुष**।

राज-भ्रातृ—राजा का भाई। पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १. ४ के अनुसार यह राजा के सहायक आठ वीरों में से एक है। ऐब्रा०, १. १३. १८ इत्यादि में भी उसका उल्लेख आता है।

राज-मात्र—कौषीतकि ब्राह्मण २७. ६ में और शांखायन श्रौत-सूत्र १७. ५. ३, ४; १७. १५. ३ में यह उन सभी व्यक्तियों को उद्दिष्ट करता प्रतीत होता है, जो राजन् कहा सकते हैं, अर्थात् **राजपुत्र** और **राजन्य**।

राज-यक्ष्म—राज-रोग। ऋग्वेद १. १६१. १ में और तदनन्तर अनेक बार इस शब्द का प्रयोग मिलता है: अवे०, ११. ३. ३९; १२. ५; तैसं०, २. ३. ५. २; कासं०, ११. ३; २७. ३; मैसं०, २. २. ७। त्सिमर ने इसे क्षय बताया है, जो ठीक जान पड़ता है[२]। परवर्ती साहित्य में उल्लिखित क्षय रोग के लक्षण इसमें मिलते हैं[३]। ब्लूम-फील्ड के अनुसार इसका अर्थ "उपदंश" है: किंतु यह चिन्त्य है[४]।

राज-सूय—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में उल्लिखित राजसूय राजा के अभिषेक-समारोह का नाम है: अवे०, ४. ८. १; ११. ७. ७; तैसं०, ५. ६. २. १; ऐब्रा०, ७. १५. ८: शब्रा, ५. १. १. १२ इत्यादि। सूत्रों में इसका विस्तृत वर्णन आया है[५]। इसकी प्रमुख

[१] द्र०—जाली, त्साइतश्रिफ्त ५०. ५१४।

[२] द्र०—आले०, ३७५ एवं अग्रिम।

[३] तु०—वाइज, सिस्टम आफ हिन्दू मेडिसिन, ३२१ एवं अग्रिम; जाली, मेडिसिन ८८. ८९ टि०—२, जिन्होंने राज-यक्ष्म को सभी रोगों से बुरा कहा है अर्थात् 'राजा से भी अच्छा न किया जा सकने वाला रोग'।

[४] द्र०—हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६९७, किंतु इसका विपर्यास भी उसी में ४१५ में है।

[५] द्र०—वेबर, ऊबर दी कोइनिग्सवाइहे देन राजसूय; हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, १४४-१४७; ओल्डेनबर्ग, रिलिगियोन देस वेद, ४७२, ४९१; शुनःशेप की कथा इस समारोह का एक भाग

विशेषताएँ ब्राह्मणों में मिलती हैं, विशेषत: शब्रा०, ५. २. ३. १ में; द्र०—मैसं०, ४. ३. १ एवं अग्रिम; तैसं०, १. ८. १. १ एवं अग्रिम। इसमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्र याजुष संहिताओं में मिलते हैं: तैसं०, १. ८; कासं०, १५; मैसं०, २. ६; वासं०, १०। राजसूय यज्ञ निरा पुरोहितों का क्रिया-कलाप न होकर एक लोकप्रिय उत्सव होता था; उदाहरणार्थ, राजा अपने राजकीय परिधान में सुसज्जित होता था और सार्वभौम शक्ति के प्रतीक के रूप में वह धनुष् और बाण को धारण करता था। उसका यथाविधि अभिषेक होता था; वह अपने किसी एक संबन्धी के विरुद्ध कृत्रिम गो-आक्रमण संपन्न करता था: शब्रा०, ५. ४. ३. १ एवं अग्रिम; या किसी राजन्य से छद्म-युद्ध करता था; तु०—तैसं०, १. ८. १५ भाष्य के साथ[1] अक्ष-क्रीडा भी की जाती थी, जिसमें उसे विजयी दिखाया जाता था; द्र०; **अक्ष**[2]। वह प्रतीक रूप से आकाश की ओर चढ़ता था, जो उसके विश्व-व्यापक शासन का सूचक होता था। वह एक व्याघ्र-चर्म पर चढ़ता था और इस प्रकार वह व्याघ्र की शक्ति को प्राप्त कर लेता था।

ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१-२३ में अभिषिक्त राजाओं की एक सूची दी गई है, जहां राजा के अभिषेक को चन्द्र से संबद्ध महाभिषेक बताया गया है[2]। यह अश्वमेधियों की सूची से संबन्ध रखता है, जो शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४ और शांखायन श्रौतसूत्र १६. ९ में दी गई हैं।

राज-स्तम्बायन—राजस्तम्ब का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ४. २. १; १०. ६. ५. ९. में **यज्ञवचस्** का यह पैतृक नाम है।

राजाधिराज—राजाओं का राजा। तैत्तिरीय आरण्यक १. ३१. ६ में सार्वभौम राजा के लिये आया है।

राजाश्व—राजा का घोड़ा। यजुर्वेद और ब्राह्मणों में राजाश्व का उल्लेख आता है: तैसं०, ४. ३. ६. २; ४. ४. २. १; मैसं०, २. ८. ३, ९; कासं०, १७. ३. ८; वासं०, १४. १३; १५. १०; तैब्रा०, २. २. ६. २; ३. ११. ३. १; ऐब्रा०, ५. २३. २ इत्यादि।

१-राज्ञी—द्र०—राजन्।

होती थी: हिल्लेब्राण्ड्ट, उपर्युक्त; वेबर, ४७ और ओल्डेनबर्ग, ३६६ टि०—१; तु०—कीथ, जराएसो०, १९०७, ८४४, ८४५।

[1] एग्लिंग, सेबुई०, ४१. १०० टि० १।

[2] तु०—वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, ८। तु०—एग्लिंग, सेबुई०, ४१. २४. २५।

२-राज्ञी—छान्दोग्योपनिषद् २. १५. २ में प्रतीची या पश्चिम दिशा को राज्ञी बताया गया है।

राज्य—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में "सार्वभौम सत्ता" के अर्थ में राज्य शब्द आता है: अवे०, ३. ४. २; ४. ८. १; ११. ६. १५; १२. ३. ३१; १८. ४. ३१; तैसं०, २. १. ३. ४; २. ६. ६. ५; ७. ५. ८. ३; ऐब्रा०, ७. २३; जैउब्रा०, १. ४. ५। शतपथ ब्राह्मण ५. १. १. १२ के अनुसार इस सत्ता के अन्दर नहीं आता।

राज-सत्ता के अनेक प्रकार बताये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण ५. १. १. ३ के अनुसार राजसूय यज्ञ **राजा** के लिए है; वाजपेय **सम्राट्** के लिए है; साम्राज्य की सत्ता राज्य-सत्ता से बढ़कर है। सम्राट् की एक विशेषता के रूप में उसका सिंहासनाधिरोहण बताया गया है; **आसन्दी**: शब्रा०, १२. ८. ३. ४। कहीं कहीं **स्वाराज्य** (अनियन्त्रित राज्य) एवं राज्य का विपर्यास दिखाया गया है: कासं०, १४. ५; मैसं०, १. ११. ५; तु०—तैब्रा० १. ३. २. २। एतरेय ब्राह्मण ८. १२. ४. ५ (तु०—शांश्रौसूत्र, १७. १६. ३) में ऐसे सभी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख आता है: **राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य,** और **महाराज्य**; जब कि **आधिपत्य** (सर्वोच्च शक्ति) का उल्लेख और जगह आता है: पंविब्रा०, १५. ३. ३५; छाउ,० ५. २. ६। किंतु इन शब्दों से राज्य के इतने प्रकारों को समझना आवश्यक नहीं था। कोई भी राजा सम्राट् या महाराज कहा सकता था, भले ही वह सचमुच राजाओं का राजा न रहा हो; वह धाक का राजा हुआ तो उसे ये विशेषण मिल जाते थे; तु०—**जनक विदेह**: शब्रा०, ११. ३. १. २, ६; ११. २. २. ३ इत्यादि। वैदिक काल में **अशोक-साम्राज्य** या **गुप्त-साम्राज्य** के समान साम्राज्य संभव नहीं था।

तु० 'अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्' शब्रा०, ५. १. १. १३।

तु०—हापकिन्स, ट्रांजैक्शन्स०, १५. ३०।

राति—दान: ऋ० १. ११. ३; १. ६०. १; १. ८९. २; १०. १४३. ४; १. ११७. १; १. १२२. ७; १. १३२. २; १. १६२. २; २. १. १६; अवे०, ६. ३९. २; १९. ५. ४; वासं०, ३८. १३९; शब्रा०, १४. २. २. २६; शांश्रौसूत्र, ९. ६. ६ इत्यादि।

रात्रि-रात्री—ऋग्वेद में एवं अन्यत्र रात के लिए ये शब्द आये हैं: ऋ० १. ३५. १; १. ९४. ७; १. ११३. १ इत्यादि; अवे०, १. १६. १; ५. ५. १ इत्यादि।

ब्राह्मणों में रात्रि—'अन्धो रात्रिः' तांब्रा०, ९. १. ७; 'तमः पाप्मा रात्रिः' कौब्रा०, १७. ६. ९; 'तम इव हि रात्रि

मृत्युर्दिवा' ऐब्रा०, ४. ५; 'रात्रिर्वरुणः' ऐब्रा०, ५. १०; 'वारुणी रात्रिः' तैब्रा०, १. ७. १०. १; 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' कौब्रा०, २. ९; 'रात्रिरेव श्रीः श्रियां हैतद् रात्र्यां सर्वाणि भूतानि संवसन्ति' शब्रा०, १०. २. ६. १६; 'रात्रिः सावित्री' गोब्रा०, १. १. ३३; 'रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः' शब्रा०, ९. २. ३. १०; 'रात्रिर्वै पिशङ्गिला' तैब्रा० ३. ९. ५. ३; 'रजता रात्रिरभवत्' तैब्रा०, १. ५. १०. ७; 'सोमो रात्रिः' शब्रा०, ३. ४. ४. १५; 'क्षेमो रात्रिः' शब्रा०, १३. १. ४. ३; 'ब्रह्मणो वै रूप-महः क्षत्रस्य रात्रिः' तैब्रा०, ३. ९. १४. ३; 'यजमानदेवत्यं वा अहः। भ्रातृव्यदेवत्या रात्रिः' तैब्रा०, २. २. ६. ४; 'आग्नेयी वै रात्रिः' तैब्रा १. १. ४. २; ।

राथप्रौष्ठ—द्र०—**असमाति राथप्रौष्ठ**।

राथीतरी-पुत्र—रथीतर-वंशीया का पुत्र। **भालुकी-पुत्र** (बृउ०, ६. ५. १ काण्व) के शिष्य अथवा **कौञ्चिकी-पुत्र** (बृउ०, ६. ४. ३२ माध्यं०) के शिष्य एक आचार्य का नाम राथीतरी-पुत्र है।

राध गौतम—गोतम का वंशज। वंश ब्राह्मण, इस्तू०, ४. ३७३, ३८४ में दो आचार्यों का नाम राध गौतम आया है।

राधस्—ऋग्वेद-काल से ही धन के अर्थ में राधस् शब्द आता रहा है: ऋ० १. ९. ५; १. १७. ७; ५. १३. ६; २. १३. १३; २. २२. ३; ४. ३२. २१; ५. ३८. १; ५. ५२. १७; अवे०, ५. ११. ११; इत्यादि।

राधा—द्र०—**नक्षत्र**।

राधेय—राधा का वंशज। शांखायन आरण्यक ७. ६ में एक आचार्य का मातृक नाम है।

१-राम—ऋ० १०. ९३. १४ में एक व्यक्ति का नाम राम है। लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६६ के अनुसार उनका पैतृक नाम **मायव** (ऋ०, १०. ९३. १५) था; किंतु यह संदिग्ध है।

२-राम औपतस्विनि—उपतस्विन का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ४. ६. १. ७ में एक आचार्य का यह नाम है।

३-राम क्रातु-जातेय, वैयाघ्रपद्य—ऋतुजात का वंशज, व्याघ्रपद् का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. १; ४. १६. १ में **शङ्ख शाट्यायनि आत्रेय** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

४-राम मार्गवेय—ऐतरेय ब्राह्मण (रामो हास मार्ग-वेयोऽनूचानः श्यापर्णीयः ७. २७. ३) में **श्यापर्णों** के पुरोहित वंश का नाम राम मार्गवेय है।

रामकायन—द्र०—**बस्त**।

१-रामा—सामान्यतः स्त्री के अर्थ में आने वाला रामा शब्द कुछ स्थलों पर वेश्या के अर्थ में आया प्रतीत होता है: तैसं०, ५. ६. ८. ३; तैआ०, ५. ८. १३; कासं०, २२. ७। तु०—वेबर, इस्तू०, १०. ७४. ८४।

२-रामा—अथर्ववेद १. २३. १ में भाष्यकार सायण ने रामा को भृङ्गराज-नामक ओषधि माना है।

रायोवाज—पञ्चविंश ब्राह्मण ८. १. ४; १३. ४. १७ (तु०—२४. १. ७) में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम रायोवाज है।

राशि—छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २. ४ में विषयों की सूचि में राशि का उल्लेख आता है, जिसे गणित माना जा सकता है।

राष्ट्र—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में राज्य या राजकीय क्षेत्र को राष्ट्र कहा गया है: ऋ०, ४. ४२. १; ७. ३४. ११; ७. ८४. २; १०. १०९ ३; १०. १२४. ४ इत्यादि; अवे०, १०. ३. १२; १२. १. ८; १३. १. ३५; वासं०, ९. २३; २०. ८; तैसं०, १. ६. १०. ३; ३. ५. ७. ३; ५. ७. ४. ४; तैब्रा०, १. २. १. १३ इत्यादि; मैसं०, ३. ३. ७; ३. ७. ४; ३. ८. ६; ४. ६. ३।

ब्राह्मणों में राष्ट्र—'श्रीर्वै राष्ट्रम्' शब्रा०, ६. ७. ३. ७; 'श्रीर्वै राष्ट्रमश्वे गन्धः' शब्रा०, १३. २. ९. २; 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' शब्रा०, १३. १. ६. ३; अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता च संग्रहीता चैते वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्त्येतेष्वेवाध्यभिषिच्यते' तांब्रा०, १९. १. ४; 'क्षत्रं हि राष्ट्रम्' ऐब्रा०, ७. २२; 'राष्ट्रं पसः' तैब्रा०, ३. ९. ७. ४; 'राष्ट्रं मुष्टिः' शब्रा०, १३. २. ९. ८; 'राष्ट्रं हरिणः' शब्रा० १३. २. ९. ८; राष्ट्राणि वै विशः' ऐब्रा०, ८. २६; 'सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः' शब्रा०, ११. ४. ३. १४।

राष्ट्र-गोप—राष्ट्र का रक्षक। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २५ में पुरोहित को राष्ट्र-गोप कहा गया है; क्योंकि वह अपने मन्त्रों एवं यज्ञों द्वारा राष्ट्र और राजा की रक्षा करता था।

रासभ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में गधे के लिये आया है: ऋ० १. ३४. ९; १. ११६. २; १. १६२. २१; ३. ५३. ५; ८. ८५. ७; तैब्रा०, ५. १. ५. ७; कौब्रा०, १०. १; श०ब्रा, ६. ३. २. ३; ६. ४. ४. ३ इत्यादि।

तु० 'यदसदिव स रासभोऽभवत्' शब्रा०, ६. १. १. ११; 'यत् तद् अरसदिवैष रासभः' शब्रा०, ६. ३. १. २८; 'वैश्यं च शूद्रं चानु रासभः' शब्रा०, ६. ४. ४. १२

रास्ना—यजुर्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण में करधनी अथवा रश्मि, रशना या तगड़ी के लिये आया है : वासं०, १. ३०; ११. ५९; ३८. १; तैसं०, १. १. २. २; ४. १. ५. ४; कासं०, १. २; १६. ५; १९. ६; शब्रा०, ६. २. २. २५; ६. ५. २. ११, १३; तु०–रास्नाव=करधनी वाली ४. १. ५. १९।

राहु—अथर्ववेद १९. ९. १० में राहु उस असुर का नाम प्रतीत होता है, जो चन्द्र-ग्रहण का कारण बनता है। पाठ अनिश्चित है; किंतु संभवतः राहु ही अभिप्रेत हो। तु०–कौसूत्र, १००; इस्तू०, १. ८७; ह्विटनी ट्रां० अवे०, ९१४।

राहू-गण—रहू-गण का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १०, १८; ११. ४. ३. २० (तु०-सायण-भाष्य ऋ०, १. ८१. ३ पर) में यह **गोतम** का पैतृक नाम है।

रिक्थ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रिक्थ शब्द उत्तराधिकार के अर्थ में आया है : ऋ० ३. ३१. २; तु०–निरुक्त ३. ५; द्र०–ऐब्रा०, ७. १८. ९।

रिपु—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में शत्रु के लिये आया है : ऋ०–१. ३६. १६; १. १४७. ३; १. १४८. ५; २. २३. १६; २. २६. १६; २. ३४. ९ इत्यादि; अवे०, १९. ४९. ९।

रिप्र—'तद् यदमेध्यं रिप्रं तत्' शब्रा० ३. ५. २. ११.

रुक्—'अमृतत्वं वै रुक्' शब्रा० ९. ४. २. १४; ७. ४. २. २१; 'प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचते' शब्रा० ७. ५. २. १२; 'चक्षुर्वै रुक्' शब्रा० ६. ३. ३. ११.

रुक्म—रुक्म संभवतः वक्षःस्थल पर पहना जाने वाला कोई सोने का आभूषण है : ऋ० १. १६६. १०; ४. १० ५; ५. ५३. ४; ५. ५६. १ इत्यादि; रुक्म-वक्षस् : २. ३४. २. ८; ५. ५५. १; ५. ५७. ५ इत्यादि; रुक्मिन् :, १. ६६. ६; ९. १५. ५; तु०–तैसं० २. ३. २. ३; ५. १. १०. ३; वासं०, १३. ४०. इत्यादि। कुछ स्थलों पर सूर्य के लिए यह प्रयुक्त हुआ है; अतः इसे वलयाकार समझा जा सकता है। ब्राह्मणों में यह स्वर्णपात्र के अर्थ में आया है : शब्रा०, ३. ५. १. २०; ५. २. १. २१; ५. ४. १. १३; तैब्रा०, १. ८. २. ३; १. ८. ९. १; रुक्मिन् :, शब्रा०, १३. ५. ४. २; ऐब्रा०, ८. २१. ३।

तु०–'असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अति रोचते रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ७. ४. १. १०; 'आदित्यस्य (रूपं) रुक्मः' तैब्रा० ३. ९. २०. २; 'असौ वा आदित्य एष रुक्मः' शब्रा० ६. ७. १. ३; 'प्रजापतिस्तेजो वीर्यं रुक्मः' शब्रा० ६. ७. १. ९। द्र०–रजत

रुक्म-पाश—पेंडेण्ड वाली चेन : शब्रा०, ६. ७. १. ७, २७; ६. ७. ३. ८; ७. २. १. १५ इत्यादि।

रुद्र—वैदिक देवों में एक प्रमुख देवता रुद्र हैं। यद्यपि ऋग्वेद में रुद्र के लिए अलग से केवल तीन ही सूक्त (१. ११४; २. ३३; ७. ४६) आये हैं; तथापि यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में रुद्र अत्यन्त महत्त्व के देवता बन गये हैं। यजुर्वेद की सभी संहिताओं में **रुद्राध्याय** अलग से आता है : तैसं०, ४. ५; ४. ७; वासं०, १६; अवे०, ११. २ इत्यादि। रुद्र कपर्दी हैं : ऋ० १. १४. १। उनके पास पिनाक धनुष् है : वासं०, १६. ५१। वे कृत्तिवासा हैं : वासं०, १६. ५१। विशेष विवरण के लिए द्र०–मैकडानल, वैमा०।

ब्राह्मणों में रुद्र–'यदरोदीत्तस्माद् रुद्रः' शब्रा० ६. १. ३. १०; 'अग्नि-र्वै रुद्रः' ५. ३. १. १०; तांब्रा० १. १. ५. ८–९; देखो **कुमार** एवं **अग्नि**; 'अथो आरण्येष्वेव पशुषु रुद्रस्य हेतिं दधाति' शब्रा० १२. ७. ३. २०; 'अथ यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति। धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः' शब्रा० २. ३. २. ९; 'रौद्रा वै पशवः' शब्रा० ६. ३. २. ७; 'रौद्री वै गौः' तैब्रा० ५. २. ४. १३; 'यद् रुद्रश्चन्द्र–मास्तेन' कौब्रा० ६. ७; 'रुद्रः स्विष्टकृत्' शब्रा० १३. ३. ४. ३; 'घोरो वै रुद्रः' कौब्रा० १६. ७; 'रुद्रो ह वा एष देवानामशान्तः संचितो भवति तमेवैतच्छमयति' कौब्रा० १९. ४; 'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा' शब्रा० २. ६. २. ९; 'शरद् वा अस्य (रुद्रस्य) अम्बिका स्वसा' तैब्रा० १. ६. १०. ४; 'एतस्य वै देवस्य आशयादर्कः समभवत् स्वेनैवैनम् एतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणानि' शब्रा० ९. १. ९; 'स (रुद्रः) एतं रुद्रायार्द्रायै प्रैयंगवं चरुं पयसि निरवपत्। ततो वै स पशुमानभवत्' तैब्रा० ३. १. ४. ४; 'उच्छेषणभागो वै रुद्रः' तैब्रा० १. ७. ८. ५; 'तं (प्रजापतिं) रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध' शब्रा० १. ७. ४. ३; 'तद् यद् रुदितात् समभवंस्तस्माद् रुद्राः सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहितायी भीषयमाणोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुः' शब्रा० ९. १. १. ६; 'एषा (उदीची) वै रुद्रस्य दिक्' तैब्रा० १. ७. ८. ६; 'यदुदञ्चः प्रेत्य त्र्यम्बकैश्चरन्ति रुद्रमेव तत् स्वायां दिशि प्रीणन्ति' कौब्रा० ५. ७; 'प्राणा वै रुद्राः। प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति' जैउब्रा० ४. २. ६; 'कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदस्मान् मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति' शब्रा० ११. ६. ३. ७; त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी' गोब्रा० २. २. ९; 'रुद्रा एव महः' गोब्रा० १. ५. १५; 'वसवो वै रुद्रा आदित्याः संस्रावभागाः' तैब्रा० ३. ३. ९. ७।

रुद्र-भूति द्राह्यायण—वंश ब्राह्मण (इस्तू०,४. ३७२) में त्रात के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

रुद्रिय—कुछ स्थलों पर रुद्र-पुत्र मरुतों को रुद्रिय कहा गया है : ऋ० १. ३०. ७; २. ३४. १०; ५. ५७. ७; ७. ५५. २२ इत्यादि।

रुधिक्रा—ऋग्वेद २. १४. ५ के अनुसार इन्द्र के शत्रु एक दैत्य का नाम रुधिक्रा है, जिसे इन्द्र ने मारा था।

रुधिर—रक्त के समान लाल के अर्थ में रुधिर शब्द पहले अथर्ववेद ५. २९. १० में आता है।

रुप्—कुछ स्थलों पर रुप् शब्द पृथ्वी के लिये आया है : ऋ० ४. ५. ७. ८; १०. १३. ३।

रुम—ऋग्वेद ८. ४. २ में **रुशम**, **श्यावक** और **कृप** के साथ रुम को इन्द्र का कृपा-पात्र बताया गया है।

रुरु—अश्वमेध की बलियों की सूची में रुरु (हरिण) का उल्लेख आया है : तैसं०, ५. ५. १९. १; वासं०, २४. २७. ३९; मैसं०, ३. ११. ९। ऋग्वेद ६. ७५. १५ में रुरु-शीर्ष्णी (रुरु के सींग वाले) वाणों का उल्लेख है। तु०-त्सिमर, आले०, ८३।

रुशम—ऋग्वेद ८. ३. १३; ८. ४. २; ८. ५१. ९ में रुशम को इन्द्र के कृपा-पात्र के रूप में दिखाया गया है। अन्यत्र रुशमों और उनके राजा **ऋणंचय** का उल्लेख आया है : ऋ० ५. ३०. १२-१५। रुशमों और उनके राजा **कौर्म** का उल्लेख ऋग्वेद २०. १२७. १ में मिलता है।

रुशमा—पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १३. ३ में **कुरुक्षेत्र** का चक्कर लगाने वाली एक स्त्री का नाम रुशमा है। इस संदर्भ से रुशमों और **कुरुओं** का संबन्ध व्यक्त होता है।

रुषती—ऋग्वेद १. ११७. ८ में रुषती का उल्लेख आया है। लुड्विग[1], के अनुसार वह एक लड़की है, जिसका विवाह **श्याव** के साथ हुआ था। राथ[2] के अनुसार "रुशती" के रूप में यह शब्द श्वेत का वाचक है। अर्थ संदिग्ध है; क्या **श्याव** को व्यक्तिवाचक माना जा सकता है ?

रूप—'अन्नं वै रूपम्' शब्रा० ९. २. १. १२; 'योषित्येव रूपं दधाति' शब्रा० १३. १. ९. ६।

रूर—ऋग्वेद १. २५. ४; ५. २२. १०, १३; ७. ११६. १ में ज्वर-विशेष के लिये आया है। तु 'अग्निर्वै रूरः' तांब्रा० ७. ५. १०। तु०—**तक्मन्**।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १५०।
[2] वोबू०

रेक्णस—ऋग्वेद में उत्तराधिकार की संपत्ति या सामान्य संपत्ति के लिये रेक्णस् आया है : ऋ० १. ३१. १४; १. १२१. ५; १. १५८. १; १. १६२. २; ६. २०. ७; ७. ४. ७.; ७. ४०. २ इत्यादि।

१. **रेणु**—धूलि के अर्थ में रेणु शब्द ऋग्वेद-काल से ही आ रहा है : ऋ०, १. ३३. १४; १. ५६. ४; ४. १७. १३; ४. ४२. ५; अवे०, १०. १. १३ इत्यादि।

२. **रेणु**—**विश्वामित्र** के एक पुत्र का नाम रेणु है : ऐब्रा०, ७. १७. ७; शांश्रौसूत्र, १५. २६. १।

रेतस्—वीर्य के अर्थ में रेतस् शब्द ऋग्वेद-काल से ही आ रहा है। कुछ स्थलों पर इसका सामान्य प्रयोग है, जैसे पर्जन्य-रेतस् : ऋ० ५. ८३. ४। मन के प्रथम रेतस् का भी उल्लेख आया है : ऋ० १०. १२९. ४; किंतु सामान्यतः पुरुषों या पशुओं के वीर्य के अर्थ में ही इसका प्रयोग मिलता है : ऋ० १. १६४. ३४; ३. ५५. १७; वासं, १९. ७६; अवे०, २. २८. ५; २. ३४. २; ऐब्रा०, २. ३३; कासं०, २०. ६; शब्रा०, १. ४. ५ इत्यादि।

ब्राह्मणों में रेतस्—'रेतो हृदये (श्रितम्)' तैब्रा० ३. १०. ८. ७; 'अवाग् वै नाभे रेतः' शब्रा० ६. ७. १. ९; 'रेतो वै नाभानेदिष्ठः' ऐब्रा० ६. २७; 'सोमो वै वृष्णो अश्वस्य रेतः' तैब्रा० ३. ९. ५. ५; 'रेतः सोमः' शब्रा० ३. ३. २. १; 'सोमो रेतोऽदधात्' तैब्रा० १. ६. २. २; 'आपो रेतः प्रजननम्' तैब्रा० ३. ३. १० ३; 'आपो हि रेतः' तांब्रा० ८. ७. ९; 'यत् पयस्तद् रेतः' गोब्रा० २. २. ६; 'रेतः आज्यम्' शब्रा० १. ३. १. १८; 'रेतो वा अन्नम्' गोब्रा० १. ३. २३; 'रेतो हिरण्यम्' तैब्रा० ३. ८. २. ४; 'वाग् उ हि रेतः' शब्रा० १. ५. २. ७; 'शुक्लं वै रेतः' ऐब्रा० २. २४; 'रेतःसिक्तिर्वै पात्नीवतग्रहः' कौब्रा० १६. ६; 'रेतो वा अच्छिद्रम्' ऐब्रा० २. ३८; 'त्रिवृद्धि रेतः' तांब्रा० ८. ७. १४; 'रेतो वा अत्र यज्ञः' शब्रा० ७. ३. २. ९; 'कामार्तो वै रेतः सिञ्चति' गोब्रा० २. ६. १५; 'आण्डौ वै रेतः सिचौ यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति' शब्रा० ७. ४. २. २४; 'दक्षिणतो हि रेतः सिच्यते' तांब्रा० ८. ७. १०; 'दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यते' शब्रा० ६. ४. २. १०; 'आतुन्नाद्धि रेतो धीयते' तांब्रा० १२. १०. ११; 'हिंकृताद्धि रेतो धीयते' तांब्रा० ८. ७. १३; 'उपांशु वै रेतः सिच्यते' शब्रा० ९. ३. १. २; 'यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च संतप्यतेऽथ रेतः सिच्यते' शब्रा० ३. ५. ३. १६; 'वायुर्वै रेतसां विकर्ता' शब्रा० १३. ३. ८. १; 'प्राणो हि रेतसां विकर्ता' शब्रा० १३. ३. ८. १; 'यद् वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद् भवत्यथ यन् न्यूनं वृद्धं तदेतद् वै रेतसः समृद्धं यत् समं बिलम्' शब्रा० ६. ३. ३. २६।

१. रेभ—ऋग्वेद में स्तुति-गान करने वाले कारु या गायक को रेभ कहा गया है : १. १२७. १०; ६. ३. ६; ६. ११. ३; ७. ६३. ३; ८. ९७. ११; ९. ७. ६ इत्यादि; तु०—अवे०, २०. १२७. ४।

२-रेभ—ऋग्वेद में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम रेभ है, जिसे उन्होंने बाढ़ एवं कैद से बचाया था : ऋ०, १. ११२. ५; १. ११६. २४; १. ११७. ४; १. ११८.६; १. ११९. ६; १०. ३९. ९।

रे-वन्त्—रेवन्त् या रेवान् शब्द धनवान् के अर्थ में बहुत बार आया है : ऋ० १. १८. २; १०. २२. १५; ४. २५. ७; ८. २१. १४; तु०—अवे०, ६. २१. ३ इत्यादि।

रेवती—द्र०—**नक्षत्र**।

ब्राह्मणों में रेवती—'रेवत्यामरवन्त' तैब्रा०, १. ५. २. ९; 'पूष्णो रेवती' तैब्रा०, १. ५. १. ५; 'ज्योती रेवती साम्नाम्' तांब्रा०, १३. ७. २; 'यद् बृहत् तद् रैवतम्' ऐब्रा०, ४. १३; 'गायत्री वै रेवती' तांब्रा०, १६. ५. १९; 'रेवतीनां रसो यद् वारवन्तीयम्' तांब्रा०, १३. १०. ५; 'आपो वै रेवतीः' तैब्रा०, ३. २. ८. २; 'अपां वा एव रसो यद् रेवत्यः' तांब्रा०, १३. १०. ५; 'पशवो वै रेवत्यः' तांब्रा०, १३. ७. ३; 'वाग्वै रेवती' शब्रा०, ३. ८. १. १२; 'रेवत्यः सर्वा देवताः' ऐब्रा०, २. १६।

रेवा—परवर्ती संस्कृत साहित्य में **नर्मदा** नदी के रेवा नाम को वेबर (इं० लिट०, १२३) ने **रेवोत्तर** नामक व्यक्ति के प्रथमार्ध में माना है; और इसका अर्थ उन्होंने 'रेवा के दक्षिण देश में रहने वाला' यह किया है। **रेवोत्तर** का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १२. ८. १. १७; १२. ९. ३. १ में आया है।

रेवोत्तर—शतपथ ब्राह्मण १२. ९. ३. १ (तु०—१२. ८. १. १७) में **पाटव चाक्र स्थपति** का नाम रेवोत्तर है, **सृञ्जयों** ने **दुष्टरीतु पौंसायन** के साथ इन्हें छेक दिया था; किंतु **कुरुओं** के राजा **बल्हिक प्रातिपीय** का विरोध करके वे अपने राजा की शक्ति को प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए थे।

रेष्मन्—बवंडर : अवे०, ६. १०२. २; १५. २. १; मैसं०, ३. १५. २; वासं, २५. २।

रैक्व—छान्दोग्य उपनिषद् ४. १. ३, ५, ८; ४. २. २. ४ में गाड़ी वाले रैक्व की कथा आती है, जो एक विशेष विद्या में प्रवीण थे।

रैक्व-पर्ण—छान्दोग्य उपनिषद् ४. २. ५ के अनुसार **महा-वृषों** के क्षेत्रमें रैक्व-पर्ण एक स्थान है।

रैभी—(स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में)। **गाथा** और **नाराशंसी** के साथ रैभी को भी एक विशेष प्रकार का साहित्य कहा गया है : ऋ०, १०. ८५. ६; तैसं०, ७. ५. ११. २; कासं०, अश्वमेघ ५. २। बाद में अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों (२०. १२७. ४-६; खिल० ५. ९) को रैभी कहा गया है : ऐब्रा०, ६. ३२. १; कौब्रा०, ३०. ५ इत्यादि; किंतु ऋग्वेद और तैत्तिरीय संहिता के उक्त स्थलों पर ये पद्य नहीं लिये जा सकते।

रैभ्य—रेभ का वंशज। **पौतिमाष्यायण** और **कौण्डिन्यायन** के शिष्य एक आचार्य का नाम रैभ्य है : बृउ०, २. ५. २०; ४. ५. २६ माध्यंदिन।

रोग—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में बीमारी के लिए रोग शब्द आम है : अवे०, १. २. ४; ३. ३. ३; ३. २८. ५; ६. ४४. १; ६. १२०. ३; ९. ८. १, २१; छाउ०, ७. २६. २।

रोचन—'रोचनो हि नामैष लोको यत्रैष (सूर्यः) तपति' शब्रा०, ७. १. १. २४। द्र०—**दिव्**।

रोदसी—द्यावा-पृथिवी अर्थात् द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक के लिए द्विवचन में रोदसी शब्द का प्रयोग आम रहा है : ऋ० १. १०. ८; १. ३३. ५; १. १३६. ६; २. १. १५; २. ११. ९; ३. २. २; ३. ३. २; अवे०, १. ३२. ३; ४. १. ४ इत्यादि।

तु० 'यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः रोदस्त्वम्' तैब्रा०, २. २. ९. ४;

रोधस्वती—ऋग्वेद १; ३८. ११; निघण्टु, १. १३. में नदी के लिए रोधस्वती शब्द आया है।

रोपणाका—एक पक्षी के लिये आया है : ऋ०, १. ५०. १२; अवे०, १. २२. ४; तु०—तैब्रा०, ३. ७. ६. २२। सायण ने शारिका या काष्ठशुक किया है; किंतु कौशिक सूत्र २६. २० के भाष्यकार केशवमिश्र ने इसका अर्थ काष्ठ-विशेष किया है।

रोमशा—बृहद्देवता ३. १५६. में राजा **भावयव्य** की पत्नी का नाम रोमशा है, जिनकी बनाई ऋग्वेदीय ऋचा १. १२६. ७ का उल्लेख आता है। किंतु उस ऋचा में आने वाला "रोमशा" शब्द विशेषण भी हो सकता है, जिनका अर्थ होगा "रोमों वाली"।

रोहः—'स्वर्गो वै लोको रोहः' शब्रा०, ७. ५. २. ३६

१-रोहिणी—ऋग्वेद में एवं अन्यत्र लाल **गौ** के लिया आया है : ऋ० ८. ९३. १३; ८. १०१, १३; अवे०, १३. १. २२; तैसं०, ६. १. ६. ३; शब्रा०, २. १. २. ६; ४. ५. ८. २. इत्यादि।

२-रोहिणी—नक्षत्र। तु० 'सा (विराट्) तत ऊर्ध्वारोहत्, सा रोहिण्यभवत् तद् रोहिण्यै रोहिणीत्वम्' तैब्रा०, ११. १०. ६; 'प्रजापती रोहिण्यामग्निमसृजत। तं देवा

रोहिण्यामादधत। ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन् तद् रोहिण्यै रोहिणीत्वम्' तैब्रा०, १. १. २. २; 'ता अस्य (प्रजापतेः) प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्थू रोहिण्य इवैव तद् वै रोहिण्यै रोहिणीत्वम्' शब्रा०, २. १. २. ६; 'या (प्रजापतेर्दहिता) रोहित् सा रोहिणी अभूत्' ऐब्रा०, ३. ३३; 'आत्मा वै प्रजा पशवो रोहिणी' शब्रा०, ११. १ १. ७।

रोहित्—ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर राथ (वोबु०) के अनुसार रोहित् "लाल अश्व" का वाचक है: १. १४. १२; १. १००. १६; ५. ५६ ५; ७. ४२. २; बाद में यह लाल हरिणी को जताता है: तैसं०, ६. १. ६. ५; मैसं०, ३. १४. ११, १८; वासं० २४. ३०, ३७; अवे०, ४. ४. ७; ऐब्रा०, २. ३३. १।

१-रोहित—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में लाल अश्व के लिये आया है: ऋ०, १. ९४. १०; १. १३४. ९; २. १०. २; ३. ६. ६; तैसं०, १. ६. ४. ३; पंविब्रा०, १४. ३. १२; तु०-अवे०, १३. १. १।

२. रोहित—शुनःशेप के आख्यान में हरिश्चन्द्र के पुत्र का नाम रोहित है: ऐब्रा०, ७. १४; शांश्रौसूत्र, १५. १८. ८।

३. रोहित—छन्द। 'रोहितं नामैतच्छन्दो यत्पारुच्छेपमेतेन वा इन्द्रः सप्त स्वर्गान् लोकानरोहत्' ऐब्रा० ५. १०।

रोहितक—रोहितक या रोहीतक एक वृक्ष है: मैसं०, ३. ९. ३; आपश्रौसूत्र, १. ५. ८।

रोहितक-कुल—एक स्थान-विशेष का नाम रोहितक-कुल है: पंविब्रा०, १४. ३. १२; तु०-१५. ११. ६; लाश्रौसूत्र, ६. ११. ४।

रोहितकूलीय—साम-विशेष। 'एतेन वै विश्वामित्रो रोहिताभ्यां रोहितकूल आजिमजयत्' तांब्रा० १४. ३. १२।

रोहिदश्व—लाल घोड़ों वाला। कुछ स्थलों पर अग्नि के लिए रोहिदश्व शब्द का प्रयोग मिलता है: ऋ० १. ४५. २; ४. १. ८; ८. ४३. १६; १०. ७. ४; तु०-१०. ९८. ९; वासं०, ११. ७२।

रोहीतक—द्र०-**रोहितक**।

रौरव—साम-विशेष। 'ते (असुराः) प्रत्युष्यमाणा अरवन्त यदरवन्त तस्माद् रौरवम्' तांब्रा० ७. ५. ११; 'अग्निर्वै रूरस्तस्यैतद् रौरवम्' तांब्रा० ७. ५. १०; 'पशवो वै रौरवम्' तांब्रा० ७. ५. ८।

१. रौहिण—इन्द्र के शत्रु एक असुर का नाम रौहिण है: ऋ० १. १०३. २; २. १२. १२; अवे०, २०. १२८. १३। हिल्लेब्राण्ड्ट (वैमि०, ३. २०७) ने माना है कि यह एक ग्रह (तु०-**रोहिणी**) है; किंतु यह चिन्त्य है।

२. रौहिण—पुरोडाश। 'अग्निश्च ह वा आदित्यश्च रौहिणावेताभ्यां हि देवताभ्यां यजमानाः स्वर्गं लोकं रोहन्ति' शब्रा० १४. २. १. २; 'अहोरात्रे वै रौहिणौ' शब्रा० १४. २. १. ३; 'इमौ वै लोकौ रौहिणौ' शब्रा० १४. २. १. ४; 'चक्षुषी वै रौहिणौ' शब्रा० १४. २. १. ५।

३. रौहिण वासिष्ठ—रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न: तैत्तिरीय आरण्यक १. १२. ५ में एक व्यक्ति का नाम है।

रौहिणायन—रौहिण का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ३. ५. १४ में **प्रियव्रत** का यह पैतृक नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में **शौनक** एवं अन्य व्यक्तियों के शिष्य के रूप में भी रौहिणायन का उल्लेख आता है: २. ५. २०; ४. ५. २६ माध्यंदिन।

रौहित—छन्दो विशेष।

—ल—

लक्ष—ऋग्वेद में द्यूत के पुरस्कार को लक्ष कहा गया है: ऋ०, २. १२. ४; तु०-ल्यूडर्स, दास व्युर्फ़ेलश्पीलन इम आल्तन इन्दीन, ४ टि०; त्सिमर, आले०, २८७।

लक्षण या लक्ष्मन्—पशुओं के ऊपर छापे या दागे गये चिह्नों को लक्षण या लक्ष्मन् कहते हैं। मैत्रायणी संहिता ४. २९ में पशुओं को चीतने का कार्य रेवती नक्षत्र में करने को कहा गया है; संभवतः रेवती (=धनवती) नक्षत्र में पशुओं की समृद्धि सोची जाती रही हो। द्र०-**अष्टकर्णी**। तु०-गोभिलगृसूत्र, ३. ६. ५; शांगृसूत्र, ३. १०; अवे०, ६. १४१. २; मैसं०, ४. २. ९।

लक्ष्मण्य—लक्ष्मण का वंशज। ऋग्वेद ५. ३३. १० में यह ध्वन्य का पैतृक नाम प्रतीत होता है।

लक्ष्मन्—तु०-'तस्माद् यस्य मुखे लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते' शब्रा० ८. ४. ४. ११; 'तस्माद् यस्य दक्षिणतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते' शब्रा० ८. ४. ४. ११; 'तस्माद् यस्य सर्वतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते' शब्रा० ८. ५. ४. ३। द्र०-लक्षण।

लक्ष्मी—पहले लक्ष्मी शब्द चिह्न का वाचक था; फिर "पुण्या लक्ष्मीः" और 'पापी लक्ष्मीः' के रूप में सौभाग्य और दुर्भाग्य का वाचक बना; उसके पश्चात् यह संपत्ति या समृद्धि का वाचक बना। चिह्न के अर्थ में: ऋ० १०. ७१. २; द्र०-अवे०, ११. ७. १७; १२. ५-६; शब्रा०, ८. ४. ४८, ११; ऐब्रा०, २. ४०; तैसं०, २. १. ५. २) वाजसनेयि संहिता ३१. २२ में श्री और

लक्ष्मी का उल्लेख आता है। तु०—तैब्रा०, २. १. २. २। खिल २. ६ में या श्री-सूक्त में लक्ष्मी शब्द श्री का वाचक है।

लब—लवा या बटेर। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में लब का उल्लेख आता है: मैसं०,३. १४. ५; वासं०, २४; निरुक्त, ७. २ जहाँ ऋग्वेद १०. ११९ को लब-सूक्त बताया गया है; अनुक्रमणी में ऐन्द्र लब को उसका ऋषि कहा गया है। तु०—बृदे०, ८. ४०।

लम्बन—आडम्बर या दुन्दुभि का नाम लम्बन आया है: बृउ०, ५. १२. १ माध्यंदिन।

ललाट—मस्तक: अवे०, ९. ७. १; १०. २. ८; शब्रा०, ३. ७. ४. ८; काश्रौसूत्र, ६. ४. २; लाश्रौसूत्र, ८. ८. २०। तु०—रराट।

१. ललामी—अश्व, वृषभ या पशु के माथे के सहज चिह्न अथवा बनाए गए चिह्न, अथवा पुण्ड्र को ललामी कहा गया है। ऋग्वेद १. १. १००. १६ में यह पुण्ड्रवती के अर्थ में आया है। द्र०—अवे०, १५. १. १; तैसं०, २. ३. १; २. १. ४. १; ७. ३. १७. १; काश्रौसूत्र, २०. १ ३३ इत्यादि।

२. ललामी—अथर्ववेद १. १८. १ में किसी दानवी का बोधक है।

लवण—नमक। ऋग्वेद में लवण का उल्लेख नहीं मिलता; अथर्ववेद में एकबार ७. ७६. १ में यह शब्द आया है; इसके बाद ब्राह्मणों के अन्तिम युग में ही लवण का वर्णन मिलता है, जहाँ इसे अनोखे मूल्य का बताया गया है: छाउ०, ४. १७. ७; तु०—छाउ०, ४. १३. १; बृउ०, २. ४. १२; शब्रा०, ५. २. १. १६। प्राचीन वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख न मिलना आश्चर्यजनक है; क्योंकि उस समय आर्य नमक के प्रदेश (=सिन्धु की घाटी) में थे।

तु०—'लवणेन सुवर्णं संदध्यात्' गोब्रा० १. १४; जैउब्रा० ३. १७. ३।

लवन—निरुक्त २. २ में फसल की कटाई (लवन) का उल्लेख आता है।

लाक्षा—अथर्ववेद ५. ५. ७ में लाख के लिये आया है। तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २२९; ब्लूमफील्ड, हिम्स आ० दि अवे०. ३८७, ४२१।

लाङ्गल—हल के लिए वैदिक शब्द लाङ्गल है: ऋ० ४. ५७. ४; अवे०,२. ८. ४; तैसं०,६. ६. ७ ४; निरुक्त ६. २६ इत्यादि; लाङ्गलेषा: आपश्रौसूत्र, २२. ४. ७। कई स्थलों पर इसे फाल-युक्त (पवीरवत्, पवीरवम्) कहा गया है: अवे०, ३. १७. ३=तैसं०, ४. २. ५. ६=कासं०, १६. ११; मैसं०, २. ७. १२=वासं०, १२. ७१, वाध०, २. ३४ ३५। उन्हीं स्थलों पर इसे सुशीम (=अच्छी तरह लगने वाला) और अच्छी सिलम (=त्सरु) वाला कहा गया है।

लाङ्गलायन—लाङ्गलका वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३. ८ में ब्रह्मन् मौद्गल्य का यह पैतृक नाम है।

लाज—पुंलिङ्ग, बहुवचन में परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भुने हुए धान को लाज कहा गया है: मैसं०, ३. ११. २; वासं०, १९. १३, ८१; २१. ४२; शब्रा०, १२. ८. २. ७; १०; १२. ९. १. २; १३. २. १. ५।

तु०—'आदित्यानां का एतद् रूपं यल्लाजा:' तैब्रा० ३. ८. १४. ४; 'नक्षत्राणां वा एतद् रूपं यल्लाजा:' शब्रा० १३. २. १. ५।

लाजि—वाजसनेयि संहिता २३. ८ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९. ४. ८ में लाजि शब्द आया है; अर्थ दुरूह है; सायण ने "भुने दाने वाला" (=लाजिन्) इस अर्थ में लिया है, और महीधर ने इसे "भुने दाने का परिमाण" बताया है।

लातव्य—लतु का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ६. ८ (तु०—षंविब्रा०, ४. ७) में कूशाम्ब स्वायव का पैतृक नाम लातव्य है।

तु०—'लातव्यो गोत्रो ब्रह्मण: पुत्र (ओंकार:)' गोब्रा० १. १.२५; 'स्वाहा वै सत्य-संभूता ब्रह्मणो दुहिता ब्रह्मप्रकृता लातव्यसगोत्रा त्रीण्यक्षराण्येकं पदं त्रयो वर्णा: शुक्ल: पक्ष: सुवर्ण इति' शब्रा० १. ४. ७; 'एतद्ध स्म वा आह कूशाम्ब: स्वायवो ब्रह्मा लातव्य: कस्विद् अद्य शिशुमारी यज्ञपथेऽप्यस्ता रिप्यति' तांब्रा० ८. ६. ८।

लामकायन—लमक का वंशज। एक प्रामाणिक आचार्य के रूप में लामकायन का उल्लेख मिलता है: लाश्रौसूत्र, ४. ९. २२; ६. ९. १०; निदान-सूत्र, ३. १२. १३; ७. ४. ८[1]। वंश ब्राह्मण[2] में उनका नाम संवर्गजित् भी आया है।

लामगायन—तु०'स्वाहा वै सत्यसंभूता ब्रह्मणा प्रकृता लामगायनसगोत्रा द्वे अक्षरे एकं पदं त्रयश्च वर्णा: शुक्ल: पक्ष: सुवर्ण इति' गोब्रा०, १. ३. १६।

लाह्यायनि—लह्य का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ५. १. २ में भुज्यु का पैतृक नाम लाह्यायनि है।

लिबुजा—वैदिक साहित्य में पेड़ पर चढ़ने वाली लता का वाचक है: ऋ० १० १० १३; अवे०, ६. ८. १; पंविब्रा०, १२. १३. ११; निरुक्त, ६. २८; ११. ३४।

[1] द्र०—वेबर, इस्टू०, ४. ३८४।

[2] इस्टू०, ४. ३७३।

लुश—इन्द्र के प्रिय होने के नाते लुश और कुत्स की प्रतिद्वन्द्विता का ब्राह्मणों में उल्लेख मिलता है: पंविब्रा०, ९. २. २२; जैब्रा०, १. १२८[1]। अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १०. ३५-३६ के रचयिता लुश धानाक है। तु० बृदे०, २. १२९; ३. ५५।

लुशाकपि खार्गलि—खृगल का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ४. ३ के अनुसार कुषीतक और कौषीतकियों को शाप देने वाले का नाम लुशाकपि खार्गलि है। वे केशिन् दाल्भ्य के समकालीन थे: कासं०, ३०. २; कपिसं०, ४६. ५।

लोक ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है: ऋ० १०. १४. ९[2]; अवे०, ८. ९. १; ८. ९. १५; ४. ३८. ५; ११. ५. ७; ११. ८. १० इत्यादि; वासं०, ३२. ११ इत्यादि। तीन लोकों का बार-बार उल्लेख आया है: अवे०, १०. ६. ३१; १२. ३. २०; ऐब्रा०, १. ५. ८; शब्रा०, १३. ७. ३ इत्यादि। 'अयं लोकः' अवे०, ५. ३०. १७; ८. ८. ८; १२. ५. ३८; १९. ५४. ५; वासं०, १९. ४६ इत्यादि; इसका विलोम वह लोक 'असौ लोकः' अवे०, १२. ५. ३८, ५७; तैसं०, १. ५. ९. ४; ऐब्रा०, ५. २८. २; ८. २. ३। कुछ स्थलों पर लोक शब्द से स्वर्ग अभिप्रेत है: शब्रा०, २. ६. १. ७; १०. ५. ४. १६; ११. २. ७. १२; संभवतः ऐब्रा०, ७. १३. १२। दूसरे लोकों का भी वर्णन मिलता है: कासं०, २६. ४; कौब्रा०, २०. १; बृउ०, ३. ६. १; ४. ३. ३६; ६. १. १८ इत्यादि।

ब्राह्मणों में लोक—'त्रय इमे लोकाः' तांब्रा०, ७. १. १; १६. १६. ४; शब्रा०, १. २. ४. २०; 'एता वै (भूर्भुवः स्वरिति) व्याहृतय इमे (पृथिव्यादयः) लोकाः' तैब्रा०, २. २. ४. ३; 'त्रयो वाव लोकाः। मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति' शब्रा०, १४. ४. ३. २४; 'इमे वै (त्रयः) लोका दिव्यानि धामानि' शब्रा०, ६. ३. १. १७; 'उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्' तांब्रा०, १६. १०. ३; 'इमे वै लोका विश्वानि धामानि' शब्रा०, ६. ७. ३. १०; 'स यः स वैश्वानरः। इये स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरो न्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः' शब्रा०- ९. ३. १. ३; 'इमे लोकास्त्रिराजः' तांब्रा०, १६. ११. ४; 'इमे लोकास्त्रिणवः' तांब्रा०, ६. २. ३; 'इमे वै लोका उखा' शब्रा०, ६. ५. २. १७; 'इमे वै लोका आसदः' शब्रा०, १०. २. ५. ८; 'इमे वै (त्रयोः) लोका भूतेच्छदः' गोब्रा०, २. ६. १४; 'इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रम्' शब्रा०, ८. ३. १. १०; 'इमे वै लोकाः सरिरम्' शब्रा०, ७. ५. २. ३४; 'तदादुः, किं तत् सहस्रम्। इती मे लोका इमे वेदा अथो वागिति ब्रूयात्' ऐब्रा०, ६. १५; 'इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च' शब्रा०, ७. ४. १. २५; 'इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णाः' शब्रा०, ७. ४. २. ८; 'इमे वै लोकाः सतश्च योनिरसतश्च। यच्च ह्यस्ति यच्च न तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते' शब्रा०, ७. ४. १. १४; 'इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तम्' शब्रा०, ५. ४. २. ६; 'स (विष्णुः) इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम्' ऐब्रा०, ६. १५; 'इम उ लोकाः संवत्सरः' शब्रा०, ८. २. १ १७; 'एत उ वाव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरः' शब्रा०, १०. २. ६. ७; 'एते हेमे लोका मित्रगुप्ताः' शब्रा०, ६. ५. ४. ४; 'स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे कथं न्विमे (त्रयो) लोका ध्रुवाः प्रतिष्ठिताः स्युरिति स एभिश्चैव पर्वतैर्नदीभिश्चेमां (पृथिवीम्) अदृंहद् वयोभिश्च मरीचिभिश्चान्तरिक्षं जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम्' शब्रा०, ११. ८. १. २; 'यावन्त इमे लोका ऊर्ध्वास्तावन्तस्तीर्यञ्चः' तांब्रा०, १८. ६. ३।

लोग, लोगेष्टका—लोष्ठ या ढेला: ऋ० १०. १८. १३; १०. २८. ९; शांब्रा०, ९. ३; शांश्रौसूत्र, ५. १३. ३। शतपथ ब्राह्मण ७. ३. १. १३. में मिट्टी से बनी ईंट लोगेष्टका है। द्र०—शब्रा०, ७. ३. १. १३; १०. ४. ३. १४।

लोध—ऋग्वे ३. ५३. २३ में लोध शब्द आया है। राथ[1] के अनुसार इससे कोई लाल जानवर अभिप्रेत है। ओल्डेनबर्ग[2] ने लाल बकरा यह अर्थ किया है। तु०—तैसं०, ५. ६. १६—१ में 'अधि लोध-कर्ण' जिसका अर्थ संभवतः 'अतिलाल कानों वाला' है; तु० निरुक्त, ४. १२।

लोपा—तैत्तिरीय संहिता ५. ३. १८. १ में अश्वमेध की बलियों में लोपा का उल्लेख आया है। सायण के अनुसार यह श्मशान- शकुनि या काक है।

लोपामुद्रा—ऋग्वेद १. १७९. ४ में अगस्त्य की पत्नी का नाम लोपामुद्रा है। तु० बृदे०, ४. ५७।

लोपाश—ऋग्वेद १०. २८. ४ में और यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में लोपाश संभवतः शृगाल या लोमड़ी के लिए आता है: तैसं०, ५. ५. २१. १; मैसं०, ३. १४. १७; वासं०, २४. ३६।

---

[1] शाट्यायनक के लिए द्र०; अर्तेल, जअओसो०, १. ३१।

[2] राथ ने वोबृ० में लोक को सर्वत्र स्थान या अवकाश के अर्थ में लिया है।

[1] वोबृ०

[2] ऋ० नो०, १. २२५।

१. लोमन्—रोमन् या रोआँ : ऋ० १०. १६३. ६; अवे०, २. ३३. ७; वासं, १९. ८१; तैसं०, ५. १. ६; ऐब्रा०, २. ११ इत्यादि ।

२. लोम (साम)—'भरद्वाजस्य लोम (साम) भवति' तांब्रा० १३. ११. ११; 'तदु (लोमसाम) दीर्घमित्याहुः' तांब्रा० १३. ११. १२; 'पशवो वै लोम (साम)' तांब्रा० १३. ११. ११ ।

लोष्ठ—मिट्टी का ढेला : तैसं०, ५. २. ५. ६; शब्रा०, ३. २. २. २०; ४. १. ५. २; १४. ४. १. ८; कासं०, २३. ६; काश्रौसूत्र, २०. ३. ७ इत्यादि ।

लोह—लोह का प्रारम्भिक अर्थ लाल है; फिर यह इस रंग के तांबे का या संभवतः कांसे का वाचक होता है । इसे **श्याम** (लोहा) से भिन्न बताया गया है : वासं०, १८. १३; तैसं०, ४. ७. ५. १ । ब्राह्मणों में भी कई बार इसका उल्लेख आता है : शब्रा०, १३. २. २. १८; छाउ०, ४. १७; ६. १. ५; जैउब्रा०, ४. १. ४ । द्र०—**अयस्** । तु०—'रजतेन लोहं (संदध्यात्)' गोब्रा० १. १. १४; 'लोहेन सीसं संदध्यात्' गोब्रा० १. १. १४; 'दिशो वै लोहमय्यः (सूच्यः)' शब्रा० १३. २. १०. ३ ।

लोह-मणि—छान्दोग्योपनिषद् ६. २. २. ५ में बोह-टलिङ्ग्क की डिक्शनरी के अनुसार लोह-मणि शब्द तांबे के ताबीज या मणि को जताता है; स्वर्णखण्ड को नहीं, जैसा कि भाष्यकारों के आधार पर मैक्समूलर ने अपने अनुवाद में माना है ।

लोहायस—लाल धातु । शतपथ ब्राह्मण ५. ४. १. १, २ में **अयस्** और **स्वर्ण** से भिन्न लोहायस् का उल्लेख है । जैमिनीय ब्राह्मण ३. १७. ३ में **कार्ष्णायस** और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ६२. ६. ५ में **कृष्णायस** से इसे भिन्न बताया गया है । संभवतः, तांबा अपेक्षित हो ।

तु०—'त्रपुणा लोहायसं (संदध्यात्)' जैउब्रा० ३. १७. ३ ।

लोहित—प्रायः लाल के अर्थ में लोहित शब्द अथर्ववेद ११. ३. ७ में ताम्र को जताता है । आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २४. ९. ७ में किसी व्यक्ति का नाम लोहित है ।

लोहितायस—लाल धातु, "तांबा" । यह **लोह** का पाठान्तर है : मैसं०, २. ११. ५; ४. ४. ४; कासं०, १८. १० ।

लोहिताहि—लाल सांप । यजुर्वेद में अश्वमेध की सूची में लोहिताहि का उल्लेख आया है : तैसं०, ५. ५. १४. १; मैसं०, ३. १४. १२; वासं०, २४. ३१ । तु०—त्सिमर, आले०, ९५ ।

लौगाक्षि—लोगाक्ष का वंशज । कात्यायन श्रौतसूत्र १. ६. २४ में एक आचार्य का नाम लौगाक्षि है ।

लौहित्य—लोहित का वंशज । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में अनेक आचार्यों का पैतृक नाम लौहित्य है, जो संभवतः लौहित्य वंश की किसी विशेष शिक्षा या अध्ययन का द्योतक है । देखिए :—**कृष्णदत्त, कृष्णरात, जयक, त्रिवेद कृष्णरात, दक्ष जयन्त, पल्लिगुप्त, मित्रभूति, यशस्विन् जयन्त, विपश्चित् दृढजयन्त, वैपश्चित दार्ढजयन्ति, दृढ-जयन्त, श्यामजयन्त, श्यामसुजयन्त, सत्यश्रवस्** । शांखायन आरण्यक ७. २२[1] में भी एक लौहित्य या लौहिक्य का उल्लेख आया है ।

—व—

१. वंश—बांस के अर्थ में वंश शब्द का उल्लेख ऋग्वेद-काल से ही पाया जाता है । यह प्रायः घर बनाने के काम में आता था : ऋ० १. १०. १; अवे०, २. १२. ६; ९. ३. ४; मैसं०, ४. ८. १०; तैब्रा०, १. २. ३. १; शब्रा०, ९. १. २. २५; ऐआ०, ३. २. १; शांआ० ८. १ ।

२. वंश—शब्दिक अर्थ "बांस" । मनुष्यों या आचार्यों की परंपरा की सूची, पोरियों के सादृश्य पर : शब्रा०, १०. ६. ५. ९; बृउ०, ६. ३. १४; वंब्रा०, ४. ३७४ में; शांआ०, १५. १ ।

वंश-नर्तिन्—बांस पर नाचने वाला नट । पुरुषमेध की बलियों की सूची में वंश-नर्तिन् का उल्लेख आया है : वासं०, ३०. २१; तैब्रा०, ३. ४. १७. १ ।

वंसग—ऋग्वेद में धन के आगे चलने वाले वृषभ को वंसग कहा गया है : १. ७. ८; १. ५५. १; १. ५८. ४; ५. ३६. १ इत्यादि; अवे०, १८. ३. ३६ ।

वक दाल्भ्य—दल्भ का वंशज । छान्दोग्य उपनिषद् १. २. १३; १. १२. १ में एक आचार्य का यह नाम है । काठक संहिता ३०. २ के अनुसार उन्होंने **धृतराष्ट्र** के साथ एक याज्ञिक वाद-विवाद में भाग लिया था ।

वकल—ब्राह्मणों में वृक्ष की छाल (=वल्कल) के लिये आया है : तैब्रा०, ३. ७. ४. २; कौब्रा०, १०. २ ।

वक्षणा—ऋग्वेद ३. ३३. १२ में कुल्या के लिये आया है ।

वक्षस्—द्र०—**शरीर** ।

वघा—अथर्ववेद ६. ५०. ३; ९. २. १२ में एक जानवर के लिये आया है ।

वङ्क्रि—पार्श्वास्थि के लिए कुछ स्थानों पर आया है : ऋ० १. १६२. १८; तु० ऐब्रा०, २. ६; शब्रा०, १३. ५. १. १८; शांश्रौसूत्र, ५. १७. ६; १६. ३. २४ ।

[1] द्र०—कीथ, शांआ०, ५० टि० १ ।

तु० 'पर्शव उह वै वङ्क्रयः' कौब्रा०, १०.४। तु०—शरीर।

वङ्ग—बंगाल का नाम वैदिक साहित्य में वङ्ग के रूप में नहीं पाया जाता, यदि हम ऐतरेय ब्राह्मण २. १. १ के "वङ्गावगधाः" को "वङ्ग–मगधाः" इस रूप में न ग्रहण करें। वङ्ग शब्द इस अर्थ में बौधायन धर्मसूत्र १. १. १४ में और अथर्ववेद-परिशिष्ट १. ७. ७ में आया है।

वंगृद—किसी असुर का नाम वंगृद है: ऋ० १. ५३. ८।

१. वज्र—इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में ही बार-बार आया है। इन्द्र हाथ में वज्र धारण करके चलते हैं: ऋ० ६. २३ ३। त्वष्टा ने उनके लिए स्वयं वज्र बनाया था: ऋ० १. ३२ २; १. ५१. ७। वह सौ पोरों वाला है: ऋ० ८. ६. ६।

ब्राह्मणों में वज्र: 'वज्रो वा अश्रिः' शब्रा०, ३. ५. ४. २; 'वज्रो वै परशुः' शब्रा०, ३. ६. ४. १०; त्रिवृद् वै वज्रः' कौब्रा०, ३. २; '(देवाः) एतं त्रिःसमृद्धं वज्रमपश्यन्नाप इति तत् प्रथमं वज्ररूपं सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपं पञ्चदशर्चं भवति तत् तृतीयं वज्ररूपमेतेन वै देवास्त्रिःसमृद्धेन वज्रेणैभ्यो लोकेभ्योऽसुराननुदन्त' कौब्रा०, १२. २; 'वज्रो वा आपः' शब्रा०, १. १. १. १७; तैब्रा०, ३. २. ४. २; 'पञ्चदशः (स्तोमः) वै वज्रः' शब्रा०, १. ३. ५. ७; 'वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदशः' शब्रा०, ८. ४. १. १०; 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धाभवत् तस्य स्फ्यतृतीयं वा यावद् वा यूपस्तृतीयं वा यावद् वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत् तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत् तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्' शब्रा०, १.२.४.१; 'वज्रो वै स्फ्यः' तैब्रा०, १.७.१०.५; 'वज्रो यूपः' शब्रा०, ३.६.४.१९; 'वज्रो वै यूपशकलः' शब्रा०, ३. ८. १. ५; 'वज्रो वै रथः' तैब्रा०, १. ३. ६. १; 'वज्रो वै विकङ्कतः' शब्रा०, ५. २. ४. १८; 'वज्रो वै पशवः' शब्रा०, ६. ४. ४. ६; 'वज्रो वा अश्वः' शब्रा०, ४. ३. ४. २७; 'वज्रो वै चक्रम्' तैब्रा०, १. ४. ४. १०; 'वज्रो वै ग्रावा' शब्रा०, ११. ५. ९. ७; 'वज्रो वा आज्यम्' शब्रा०, १. ४. ४. ४; 'वज्रो वै त्रिष्टुप्' शब्रा०, ७. ४. २. २४; 'वज्र एव वाक्' ऐब्रा०, २. २१; 'वज्रो वै वषट्कारः' ऐब्रा०, ३. ८; 'वज्रो वै हिंकारः' कौब्रा०, ३. २; 'वज्रो वै सामिधेन्यः' कौब्रा०, ३. २. ३; 'वज्रो वै वैश्वानरीयम् (सूक्तम्) ऐब्रा०, ३. १४; 'वज्रो वै यौधाजयम्' तांब्रा०, ७. ५. १२; 'शाक्वरो वज्रः' तैब्रा०, २. १. ५. ११; 'वज्रा वा उपसदः' शब्रा०, १०. २. ५. २; 'वज्रो वै त्रिणवः' तांब्रा० ३. १. २; 'वज्रो वा एष यत् षोडशी' ऐब्रा०, ४. ११; 'संवत्सरो वज्रः' शब्रा०, ३. ६. ४. १९; 'वीर्यं वज्रः' शब्रा०, १. ३. ५. ७; अष्टाश्रिर्वै वज्रः' ऐब्रा०, २. १; 'एवमेव वै वज्रः साधुर्यदारम्भणतोऽणीयान् प्रहरणतः स्थवीयान्' षब्रा०, ३. ४; 'दक्षिणत उद्यामो हि वज्रः' शब्रा०, ८. ५. १. १३। द्र०–ऐब्रा०, २. १; अवे०, ११. १०. २७; २. ३. ६ इत्यादि।

२. वज्र—ऐतरेय ब्राह्मण ६. २४. १ में गेल्डनर[1] के अनुसार वज्र शब्द हैण्डल या बींटे के लिए आया है; और कुट शब्द हथौड़े के सिरे के लिये।

वज्र-बाहु[2], वज्रिन्[3]—वज्र धारण करने वाला। इन्द्र के लिए ये शब्द आए हैं।

बडवा—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में घोड़ी के लिए आया है: तैसं०, ७. १. १. २; तैब्रा०, १. ८. ६. ३; ३. ८. २२. ३; शब्रा०, ६. ५. २. १९; तु०—तैसं०, २. १. ८. ३।

तु०–'तस्मात् संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते' शब्रा० ११. १. ६. २।

वणिज्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बनिये अथवा व्यापारी के लिए वणिज् शब्द आया है: ऋ०, १. ११२. ११; ५. ४५. ६; अवे०, ३. १५. १ इत्यादि। तु०—पणि, क्रय, वाणिज।

वणिज्या—ब्राह्मणों में व्यापार के लिए वणिज्या शब्द का प्रयोग आम है: शब्रा०, १. ६. ४. २१; पंविब्रा०, १७. १. २।

१. वत्स—बछड़ा: ऋ०, ३. ३३. ३; ४. १८. १०; अवे०, ४. १८. २; १२. ४. ७; तैसं०, ६. ४. ११. ४। बछड़ों द्वारा गौ को पिन्हाना या पसमाना: तैसं०, २. ३. ६. २; जैउब्रा०, २. १३. २; बछड़ों से गौ को अलग करना: ऋ० ५. ३०. १०; ८. ८८. १।

तु०–'वत्सा वै दैव्या अध्वर्यवः' शब्रा० १. ८. १. २७; 'मन एव वत्सः' शब्रा० ११. ३. १. १; 'अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते' शब्रा० १२. ४. १. ११; 'अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः' जैउब्रा० २. १३. १; 'वत्सा उ वै यज्ञपतिं वर्धन्ति यस्य ह्येते भूयिष्ठा भवन्ति स हि यज्ञपतिर्वर्धते' शब्रा० १. ८. १. २८।

२. वत्स—ऋग्वेद में एक कवि, कण्व के पुत्र, या वंशज का नाम वत्स है: ऋ० ८. ६. १; ८. ८. ८; ८.

---

[1] वैस्तू०, १. १३८।

[2] ऋ० १. १६५. ८; २. १२. १२;।

[3] ऋ० १. ७. २, ५; १. ३२. १; ३. ४६. १; अवे०, १०. ४. १२ इत्यादि।

९. १; ८. ११. ७। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६. ६ के अनुसार वत्स ने अग्नि-परीक्षा द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी मेधातिथि के संमुख अपने वंश की पवित्रता को प्रमाणित किया था। शांखायन श्रौतसूत्र १. ६. ११. २० में तिरिंदर पारशव्य से उनके दान प्राप्त करने का उल्लेख है; तु० आपश्रौसू०, २४. ५. ११।

वत्सतर, वत्सतरी—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में छोटे बछड़े को वत्सतर या वत्सतरी कहा गया है: तैसं०, १. ८. १७. १; १. ८. १८. १; वासं०, २४. ५; कासं०, २४. २; ऐब्रा०, १. २७. २ इत्यादि।

तु०—'मारुत्यो वत्सतर्यः' तांब्रा० २१. १४. १२।

वत्स-नपात् बाभ्रव—बभ्रु का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यं०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व में **पथिन् सौभर** के शिष्य एक आचार्य का नाम वत्स-नपात् बाभ्रव है।

वत्स-प्री भालन्दन—भलन्दन का वंशज। एक आचार्य का यह नाम है; इन्होंने वात्सप्र नामक साम का दर्शन किया था: तैसं०, ५. २. १. ६; कासं०, १९. १२; मैसं०, ३. २. २; पंविब्रा०, १२. ११. २५। तु० शब्रा०, ६. ७. ४. १।

वत्सर—द्र० **संवत्सर**।

वधक—अथर्ववेद ८. ८. ३ में और शतपथ ब्राह्मण 'ये वधकास्तेऽन्तरिक्षस्य रूपम्' ५. ४. ५. १४ में बांस या बेंत के लिये आया है।

वधर—एक अस्त्र है, जो दैवी एवं मानवीय दोनों प्रकार के युद्धों में प्रयुक्त हुआ है: ऋ० १. ३२. ९; ४. २२. ९; ८. २२. ८; ८. २४. २७।

१. वधू—स्त्री के लिए सामान्य शब्द वधू है, जो प्रायः विवाहिता या दूल्हन के लिए आया है: ऋ०, ५. ३७. ३; ५. ४७. ६; ७. ६९. ३; ८. २६. १३; १०. २७. १२; १०. ८५. ३०; १०. १०७. ९; अवे०, १. १४. २; ४. २०. ३; १०. १. १; १४. २. ९, ४१ इत्यादि। डेल्ब्रुक[१] के अनुसार यह शब्द √वह् ('लेजाना') धातु से व्युत्पन्न है; त्सिमर[२] के अनुसार विवाहार्थक एक अन्य धातु से यह शब्द बना है।

२. वधू—ऋग्वेद ८. १९. ३६; तु०—५. ४७. ६ में वधू को राथ[३] ने एक मादा जानवर माना है, किंतु त्सिमर[४] ने इसे दासी के अर्थ में लिया है। किंतु वधू शब्द का प्रयोग कभी भी इन अर्थों में नहीं आया है। उक्त स्थल पर **त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य** द्वारा किसी कवि को ५० वधुएँ देने का वर्णन है। इसे हम बहु-विवाह-प्रथा के द्योतक अर्थ में लें तो ५० पत्नियाँ यह अर्थ होगा। कुछ स्थलों पर वधूमन्त् का अर्थ **रथ**: (ऋ० १. १२६. ३; ७. १८. २२) **अश्व**: ऋ० ८. ६८. १७ (तु०—६. २७. ८), एवं **उष्ट्र** है: अवे०, २०. १२७. २। त्सिमर के अनुसार इन स्थलों पर रथ, अश्व आदि के साथ दास अभिप्रेत है, जिसका बृहद्देवता से समर्थन होता है: बृदे०, ३. १४७। राथ ने इन स्थलों पर वधू का अर्थ वस्त्र या रथ के योग्य, अश्व के योग्य इत्यादि लिया है, जो चिन्त्य है।

वधू-युः—वधूकाम वर अर्थात् विवाहेच्छुक वर: ऋ०, १०. ८५. ९; ३. ५२. ८; ९. ६९. ३; १०. २७. १२; अवे०, १४. २. ४२।

वध्रि—क्लीब या बधिया के लिये ऋग्वेद-काल से ही वृषा के विलोमार्थ में आया है: ऋ० १. ३२. ७; १. ३३. ६; २. २५. ३; ८. ४६. ३०; १०. १०२. १२; अवे०, ३. ९. २, ३; ४. ६. ७, ८; ५. २०. २ इत्यादि।

वध्रिमती—नपुंसक या खस्सी पतिवाली। ऋग्वेद (१. ११६. १३; १. ११७. २४; ६. ६२. ७; १०. ३९. ७; १०. ६५. १२) के अनुसार वध्रिमती एक स्त्री का नाम है: **अश्विनों** की कृपा से उसके पति को पुरुषत्व प्राप्त हुआ और तब इसे **हिरण्यहस्त** नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

१. वध्र्यश्व—बधिया अश्वों वाला। ऋग्वेद ६. ६१. १; १०. ६९. १ में **दिवोदास** के पिता और अग्नि-उपासना के समर्थक व्यक्ति का नाम वध्र्यश्व है। अथर्ववेद में नामों की एक लम्बी सूची में भी इनका उल्लेख आया है: अवे०, ४. २९. ४; तु०—आपश्रौसूत्र, २४. ६. ६।

२. वध्र्यश्व आनूप—अनूप का वंशज। पञ्चविंश-ब्राह्मण १३. ३. १७ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम है।

वन—अरण्य: ऋ० १. ५४. १; १. ६५. ८; ३. ५१. ५; ५. ४१. ११; कौसूत्र ७६. ३। यह दम (=घर) का प्रतीप है: ऋ०, ७. १. १९। लकड़ी से बना सोम का प्याला (ऋ० १. ५५. ४; २. १४. ९) और रथाङ्ग (ऋ० ८. ३४. १०) भी इसका अर्थ है।

वन-धिति—ऋग्वेद १. १२१. ७. में वन-धिति शब्द आया है। भाष्यकारों ने इसे स्वधिति, शस्त्र या कुल्हाड़ी के अर्थ में लिया है, किंतु मोनियर विलियम्स ने अपनी डिक्शनरी में इसे "वेदि पर लकड़ी की समिधाओं का चय" इस अर्थ में लिया है।

[१] दी इन्दो०, ४१४, ४३९।
[२] आले०, १०८।
[३] वोबू०।
[४] आले०, १०८, १०९।

वन-प—वन का संरक्षक। पुरुषमेध की बलियों में वनप का उल्लेख आता है : वासं०, ३०. १९; तैब्रा०, ३. ४. ११. १। तु०—**दाव-प**।

वनर्गु—वन में जाने वाला। ऋग्वेद १०. ४. ६ और अथर्ववेद ४. ३६. ७ में डाकू के लिये आया है। सामवेद आरण्य संहिता ४. ९ में कवियों या मनुष्यों के विपर्यास में वनर्गु का उल्लेख आया है।

वनस्पति—वन का पति। पहले यह शब्द वृक्षों का वाचक था : ऋ० १. १६६. ५; ३. १४, १०; ५. ७. ४; ५. ४१. ८; अवे०, ११. ६. १; ११. ९. २४ इत्यादि; फिर यह **यूप** के लिये आया : तैसं०, ६. २. ८. ४; अवे०, ९. ३. ११ इत्यादि। कुछ स्थलों पर यह **रथाङ्ग** या सारे रथ के लिये आया है : ऋ०, २. ३७. ३; ३. ५३. २०; ४. ४७. २६; निरुक्त, ९. ११। यह **दुन्दुभि** : वासं०, ९. १२ (तु०—अवे०, १२. ३. १५), **लकड़ी के यंत्र** या ताबीज : अवे०, ६. ८५. १; १०. ३. ८, ११ और कहीं कहीं **सोम-लता** : ऋ० १. ९१. ६; वासं०, १०. २३. इत्यादि के लिये भी आया है।

तु०—'अग्निर्वै वनस्पतिः' कौब्रा० १०. ६; 'प्राणो वनस्पतिः' कौब्रा० १२. ७; 'वनस्पतयो वै द्रु' 'तैब्रा० १. ३. ९. १; 'यदुग्रो देव ओषधयो वनस्पतयस्तेन' कौब्रा० ६. ५; 'अथो सर्व एते वनस्पतयो यदुदुम्बरः' शब्रा० ७. ५. १. १५; 'तेजो ह वा एतद् वनस्पतीनां यद् वाह्याशकलस्तस्माद् यदा वाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यन्ति' शब्रा० ३. ७. १. ८।

वनिष्ठु—आंतों के आगे के मलमूत्र सरकाने वाले अवयव का नाम वनिष्ठु अथर्ववेद २. ३३. ४ में आया है। तु०—**शरीर**। द्र०—ऋ०, १०. १६३. ३; अवे०, ९. ७. १२; १०. ९. १७. २०. १३१. १२; वासं०, १९. ८७; २५. ७ इत्यादि।

१. वन्दन—ऋग्वेद (७. ५०. २; तु०—७. २१. ५; अवे०, ७. ११५. २; ७. ११३. १) में किसी रोग, संभवतः शरीर के ऊपर के किसी उद्भेद को जताता है।

२. वन्दन—**अश्विनों** के कृपा-पात्र एक व्यक्ति का नाम वन्दन है : ऋ० १. ११२. ५; १. ११६. ११; १. ११७. ५; १. ११८. ८; १०. ३९. ८।

वन्धुर—रथ में बैठने का स्थान : ऋ० १. १३९. ४; ३. १४. ३; ६. ४७. ९; अवे०, १०. ४. २; **अश्विनों** का रथ त्रि-वन्धुर है; क्योंकि वहाँ २ **अश्विनों** और एक सारथि को बैठने के लिए स्थान अपेक्षित है। तु०—ऋ०, १. ४७. २; १. ११८. १; २; १. १५७. ३; १. १८३. १; ७. ६९. २; ७. ७१. ४; ८. २२. ५; ९. ६२. १७।

वप—बोने वाला। पुरुष-मेध की बलियों में वप का भी उल्लेख है : वासं०, ३०. ७; तैब्रा०, ३. ४. ३. १।

वपन—ब्राह्मणों में बाल कटाने को वपन कहते हैं : तैसं०, २. ७. १७. १; शब्रा०, ३. १. २. १

तु० 'तेऽसुरा ऊर्ध्वं पृष्ठेभ्यो नापश्यन्। ते केशानग्रेऽवपन्त। अथ श्मश्रूणि। अथोपपक्षौ। ततस्तेऽवाञ्च आयन्। पराभवन्। यस्यैवं वपन्ति। अवाङेति। अथो परैव भवति' तैब्रा० १. ५. ६. १. २; 'अथ देवा ऊर्ध्वं पृष्ठेभ्योऽपश्यन्। ते उपपक्षानग्रेऽवपन्। अथ श्मश्रूणि। अथ केशान्। ततस्तेऽभवन्। सुवर्गं लोकमायन्। यस्यैवं वपन्ति भवत्यात्मना। अथो सुवर्गं लोकमेति' तैब्रा० १.५. ६. २। तु० **क्षुर, केश**।

वपा—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में दीमकों की बंबी को वपा कहते हैं : तैसं०, ५. १. २. ५; तैब्रा०, १. १. ३. ४; शब्रा०, ६. ३. ३. ५।

वप्तृ—नाई : ऋ० १०. १४२. ४; अवे०, ८. २. १७; तैब्रा०, १. ५. ६. ३।

वप्र—अथर्ववेद ७. ७. ७१ में वप्र का अर्थ परकोटा या गढ़ की चारदीवारी है।

१. वम्र, वम्री—दीमक : ऋ० १. ५१. ९; ८. १०२. २१; ४. १९. ९; वासं०, ३७. ४; तैब्रा०, १. २. १. ३; शब्रा०, १४. १. १. ८, १४। तु०—**वपा**।

तु० 'इमा वै वम्र्यो यदुपदीकाः' शब्रा०, १४. १. १. ८;

२. वम्र—ऋग्वेद १. ५१. ९; १. ११२. १५; १०. ९९. ५ में एक ऋषि का नाम वम्र है। तु०—**वम्रक**।

वम्रक—ऋग्वेद १०. ९९. १२ में वम्रक का अर्थ राथ[१] ने "दीमक" लिया है, किंतु पिशेल[२] इससे एक व्यक्ति को लेते हैं, जो वम्र के समकक्ष है, और जो कुमारी-पुत्र था, और जिसे दीमकों से बचाया गया था।

१. वयस्—पक्षी : अवे०, ३. २१. २; ६. ५९. १; ७. ९६. १; ८. ७. २४; तैसं०, ३. १. १. १; ५. २. ५. १; ५. ५. ३. २ इत्यादि।

तु० 'अथ यदश्रु संक्षरितमासीत् तानि वयांस्यभवन्' शब्रा०, ६. १. २. २; 'उरस एवास्य (इन्द्रस्य) हृदयात् त्विषिरस्रवत् स श्येनोऽपाष्ठिहाभवद् वयसां राजा' शब्रा०, १२. ७. १. ६; 'एतद् वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनः' शब्रा०, ३. ३. ४. १५; 'श्येनो वै वयसां क्षेपिष्टः' षब्रा०, ३. ८; 'पशवो वै वयांसि' शब्रा०, ९. ३. ३. ७; 'निर्ऋतेर्वा एतन्मुखं यद् वयांसि यच्छकुनयः' ऐब्रा०, २. १५।

२. वयस्—आयु : अवे०, १२. ३. १; कासं०,

[१] बोवू०

[२] वैस्तू०, १. २३८, २३९.

११. २; तैब्रा०, ३. १२. ५. ९; शब्रा०, ३. १. २. २१; ३. ३. ३. ३ इत्यादि।

वया—ऋग्वेद में शाखा को वया कहा गया है : २. ५. ४; ५. १. १; ६. ७. ६; ६. १३. १; ८. १३. ६. १७ इत्यादि।

वयित्री—पञ्चविंश ब्राह्मण १. ८. ९ में बुनने वाली (जुलाही) के लिये आया है।

वय्य— ऋग्वेद १. ५४. ६; २. १३. १२; ४. १९. ६ में वय्य का उल्लेख आया है। सायण के अनुसार यह ऋग्वेद १. ५४. ६ में **तुर्वीति** का पैतृक नाम है। राथ[1] के अनुसार सभी स्थलों पर इसका अर्थ साथी है।

वर—ऋग्वेद-काल से ही दूल्हे के लिए वर शब्द का प्रयोग मिलता है : ऋ०, १. ८३. २; ५. ६०. ४; ९. १०१. १४; १०. ८५. ८, ९; अवे०, २. ३६. १, ५, ६; ११. ८. १; ऐब्रा०, ४. ७. १ इत्यादि।

वरण—बरना, एक वृक्ष-विशेष : अवे०, ६. ८५. १; १०. ३. १; १९. ३२. ९; पंविब्रा०, ५. ३. ९, १०; शब्रा०, १३. ८. ४. १।

तु० 'तस्माद् वरणो भिषज्य एतेन हि देवा आत्मानमत्रायन्त तस्माद् ब्राह्मणो वारणेन (पात्रेण) न पिबेद् वैश्वानरं नेच्छमया इति' तांब्रा०, ५. ३. १०-११।

वरणावती—अथर्ववेद ४. ७. १ में वरणावती का उल्लेख आया है। राथ[2] के अनुसार यह एक नदी है। लुड्विग[3] ने इसे **गङ्गा** का पर्याय माना है। सायण के समान ब्लूमफील्ड[4] ने इससे एक पौधा लिया है। तु०—**काशि**।

वरत्रा—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में चर्म-रज्जु के लिए आया है : ऋ० ४. ५७. ४; अवे०, ११. ३. १०; २०. १३५. १३। यह घोड़े या बैल को जुए में बांधने के लिये होती है : ऋ० १०. ६०. ८; १०. १०२. ८। कूप (**अवत**) से जल खींचने की लेज्जू के लिये भी इसका प्रयोग होता था : ऋ० १०. १०६. ५।

वर-शिख—किसी आदिवासी जाति के नेता का नाम वरशिख है, जिसे **अभ्यावर्तिन्** **चायमान** ने हराया था : ऋ० ६. २७. ४, ५; तु०—बृदे०, ५ १२४।

वरसद्—'एष (सूर्यः) वै वरसद् वरं वा एतत् सद्मनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तपति' ऐब्रा०, ४. २०।

[1] वोबू०।
[2] वोबू०।
[3] ट्रां० ऋ०, ३. २०१।
[4] हिम्स ऑफ दि अवे०, ३७६।

वराह—सूकर। ऋग्वेद-काल से ही वराह का उल्लेख मिलता है : ऋ०, १. ६१. ७; ८. ७७ १०; ९. ९७. ७; १०. २८. ४; तु०—क्रोष्टृ : अवे०, ८. ७ २३; १२. १. ४८; कासं०, ८. २; २५. २ इत्यादि; मैसं०, ३. १४. १९ इत्यादि। **रुद्र** देवता को स्वर्ग का वराह कहा गया है : ऋ०, १. १४४. ५; तु०—तैसं०, ६. २. ४. २; ७. १. ५. १ इत्यादि। वराह के शिकार के लिए कुत्तों का उल्लेख मिलता है: ऋ० १०. ८६. ४। इसका पाठान्तर वराहु शब्द केवल देवों के विशेषण के रूप में आया है : ऋ० १. ८८. ५; १. १२१. ११; तैआ०, १. ९. ४। तु० 'अग्नौ ह वा देवा घृतकुम्भं प्रवेशयांचक्रुस्ततो वराहः संबभूव तस्माद् वराहो मेदुरो घृताद्धि संभूतस्तस्माद् वराहे गावः संजानते स्वमेवैतद् रसमभिसंजानते' शब्रा०, ५. ४. ३. १९; 'पशूनां वा एष मन्युः। यद् वराहः' तैब्रा०, १. ७. ९. ४; 'स (प्रजापतिः) वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्' तैब्रा०, १. १. ३. ६;

वराहु—द्र०—वराह

वरिवस निघण्टु २. १० में धन के पर्यायों में आया है। द्र० वासं०, १५. ४; १५. ५; तैसं०, ५. ४. ५. ३ इत्यादि।

वरिष्ठा संवत्—'इयं (पृथिवी) वै वरिष्ठा संवत्' शब्रा०, ६. ३. २. २;

वरु—ऋग्वेद ३. २३. २८; ३. २४. २८; ३. २६. २ में वरु का उल्लेख आया है। सायण ने इसे व्यक्तिवाचक माना है; सुषाम्णे के साथ यह शब्द स्वर की दृष्टि से संबोधन का रूप है। राथ[1] के अनुसार **वरोसुषामन्** नाम है।

वरुण—एक प्रमुख वैदिक देव हैं। वे संपूर्ण भुवनों के राजा हैं : ऋ०, ५. ८५. ३; वे उनके सम्राट् हैं : ऋ० ८. ४२. १। देवों और मर्त्यों सभी के वे राजा हैं : ऋ० २. २७. १०। वरुण की सब से बड़ी विशेषता है उनका धृत-व्रत होना : ऋ २. १. ४। द्यावा-पृथिवी उन्हीं के धर्म से विष्कंभित हैं : ऋ०, ६. ७० १। वे प्रमुख **आदित्य** हैं। उनका उल्लेख **मित्र** के साथ प्रायः आया है। मित्र को दिन का और वरुण को रात्रि का देवता कहा गया है : तैसं०, ६. ४. ८. ३। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल की वैमा०

ब्राह्मणों में वरुणः—'यच्च वृत्वातिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् तं वा एवं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण' गोब्रा०, १. १. ७; 'वरुणो वै जुम्बकः' शब्रा०, १३. ३. ६. ५; 'रात्रिर्वरुणः' ऐब्रा०, ४. १०; 'वारुणी रात्रिः' तैब्रा०, १. ७. १०।

[1] वोबू०।

१; 'यः प्राणः स वरुणः' गोब्रा०, २. ४. ११; 'यो वै वरुणः सोऽग्निः' शब्रा०, ५. २. ४. १३; 'यो वा अग्निः स वरुणस्तदप्येतद् ऋषिणोक्तं त्वमग्ने वरुणो जायसे यदिति' ऐब्रा०, ६. २६; 'अथ यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवति। तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरुणः' शब्रा०, २. ३. २. १०; 'स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम्' ऐब्रा०, ३. ४; 'वरुण्यो वा एष योऽग्निना भृतोऽथैष मैत्रो य ऊष्मणा भृतः' शब्रा०, ५. ३. २. ८; 'यः (अर्धमासः) अपक्षीयते स वरुणः' तांब्रा०, २५. १०. १०; 'यः (अर्धमासः) एवापूर्यते स वरुणः' शब्रा०, २. ४. ४. १८; 'श्रीर्वै वरुणः' कौब्रा०, १८. ९; 'अयं वै (पृथिवी-)लोको मित्रोऽसौ (द्युलोकः) वरुणः' शब्रा०, १२. ९. २. १२; 'व्यानो वरुणः' शब्रा०, १२. ९. १. १६; 'अपानो वरुणः' शब्रा०, ८. ४. २. ६; 'योनिरेव वरुणः' शब्रा०, १२. ९. १. १७; 'वरुणो दक्षः' शब्रा; ४. १. ४. १; 'वरुण एव सविता' जैउब्रा०, ४. २७. ३; 'स वा एषो (सूर्यः)ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति' कौब्रा०, १८. ९; 'संवत्सरो वरुणः' शब्रा०, ४. ४. ५. १८; 'क्षत्रं वरुणः' कौब्रा०, ७. १०; 'इन्द्र उ वै वरुणः स उ वै पयोभाजनः' कौब्रा०, ५. ४; 'वरुण्यो यवः' शब्रा०, ४. २. १. ११; 'एषा (उत्तरा) वै वरुणस्य दिक्' तैब्रा०, ३. ८. २०. ४; 'यद् वै यज्ञस्य दुरिष्टं तद् वरुणो गृह्णाति' तांब्रा०, १३. २. ४; 'अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति' तैब्रा०, १. ७. २. ६; 'वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरति' शब्रा०, २. ५. २. २०; 'सवो वै देवानां वरुणः' शब्रा०, ५. ३. १. ५; 'विराड् वरुणस्य पत्नी' गोब्रा०, २. २. ९; 'अप्सु वै वरुणः' तैब्रा०, १. ६. ५. ६; 'तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत् तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणिः' ऐब्रा०, ३. ३४; 'वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत् स त्रेधापतद् भृगुस्तृतीयमभवच्छ्रायन्तीयं तृतीयमपस्तृतीयं प्राविशत्' तांब्रा०, १८. ९. १; 'यो ह वायमपामावर्तः स हावभृथः स हैष वरुणस्य पुत्रो वा भ्राता वा' शब्रा०, १२. ९. २. ४; 'एता वा अपां वरुणगृहीता याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते' शब्रा०, ४. ४. ५. १०; 'वरुणस्य वाभिषिच्यमानस्याप इन्द्रियं वीर्यं निरघ्नन्। तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्' तैब्रा०, १. ८. ९. १; 'वरुण्या वा एषा यद् रज्जुः' शब्रा०, ३. २. ४. १८; 'वरुण्या वै यज्ञे रज्जुः' शब्रा०, ६. ४. ३. ८; 'वारुण एककपालः पुरोडाशो भवति' शब्रा०, ४. ४. ५. १५; 'तद् धि वारुणं यत् कृष्णं (वसः) शब्रा०, ५. २. ५. १७; 'खलतेर्विक्लिधस्य शुक्लस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धन् जुहोति। एतद् वै वरुणस्य रूपम्' तैब्रा०, ३. ९. १५. ३; 'वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत् ततोऽश्वः समभवत्' शब्रा०, ४. २. १. ११; 'एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः' शब्रा०, २. ५. २. १६; 'वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविः' शब्रा०, ७. ५. २. २०; 'यो राजसूयः स वरुणसवः' तैब्रा०, २. ७. ६. १; 'वरुण्या वा एता ओषधयो याः कृष्टे जायन्तेऽथैते मैत्रा यन्नाम्बाः' शब्रा०, ५. ३. ३. ८; 'वरुण्या वा एषा (शाखा) या परशुवृक्णाथैषा मैत्री या स्वयं प्रशीर्णा' शब्रा०, ५. ३. २. ५; 'यद वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति' शब्रा०, २. ६. ४. ८।

वरुण-गृहीत—जलोदर-ग्रस्त एक व्यक्ति के लिये आया है। वरुण ने पापों के दण्डस्वरूप उसे जलोदर रोग से ग्रस्त कर दिया था: ऋ० ६. ७४. ४; ७. ८८. ७; अवे०, २. १०. १; ४. १६. ६; ७; १४. १. ५७; १४. २. ४९। व्यक्ति-वाचक शब्द के लिए द्र०—तैसं०, २. १. २, १; ६. ४. २. ३; कासं०, १२. ४; शब्रा०, ४. ४. ५. ११; तैब्रा०, १. ६. ४. १ इत्यादि।

वरुण-प्रघास—इष्टि-विशेष। तु०—'तद् यन्वेव (प्रजापतिना सृष्टाः प्रजाः) वरुणस्य यवान् प्रादंस्तस्माद् वरुणप्रघासा नाम' शब्रा० २. ५. २. १. 'यदादित्यो वरुणं राजानं वरुणप्रघासैरयजत। तद् वरुणप्रघासानां वरुणप्रघासत्वम्' तैब्रा० १. ४. १०. ६।

वरुण-साम–एतेन वै वरुणो राज्याधिपत्यमगच्छद् राज्यमाधिपत्यं गच्छति वरुणसाम्ना तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ९. २३.

वरुणानी—वरुण की पत्नी: ऋ० १. २२. १२; २. ३२. ८; ५. ४६. ८; ७. ३४. २२; अवे०, ६. ४६. १; कासं०, ८. ५; १९. ३; तैसं०, ५. ५. ४. १।

वरूत्रि—रक्षा करने वाली। कुछ देवियों या देव-पत्नियों को वरूत्रि बताया गया है: ऋ० १. २२. १०; २. ६२. ३; ५. ४१. १५; ७. ३४. २२; ७. ३८. ५; ७. ४०. ६; वासं०, ११. ६१; १३. ४४; शब्रा०, ६. ५. ४. ६; तैसं०, ४. १. ६. १ इत्यादि।

तु०—'अहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदं सर्वं वृतम्' शब्रा० ६. ५. ४. ६।

वर्चस्—तेजस् के अर्थ में वर्चस् शब्द अनेकशः आया है। वर्चस् प्राप्त करने की वैदिक भारतीयों की उत्कट अभिलाषा रही है। ब्रह्मवर्चस् के लिए तो उनका प्रेम बहुत ही स्पृहणीय है: ऋ० १. २३. १३; २४; अवे०, ६. ५. १; वासं०, १२. ७; ऋ० ३. ८. ३; ३. २४. १; १०. १२८. १; शब्रा०, ४. ५. ४. ३ इत्यादि।

तु०—'वर्चो वा एतद् यद्धिरण्यम्' शब्रा० ३. २. ४. ९।

वर्चिन्—ऋग्वेद २. १४. ६; ४. ३०. १४. १५; ६. ४७. २१; ७. ९९. ५ में इन्द्र के एक शत्रु का नाम वर्चिन् आया है। उसे **दास** कहा गया है एवं **शम्बर** के साथ उसका उल्लेख आया है; वह संभवतः आदिवासियों में से एक रहा हो : ऋ० ४. ३०. १५; ६. ४७. २१। उसे **असुर** भी कहा गया है : ऋ०, ७. ९९. ५। संभवतः वह **वृचीवन्तों** से संबद्ध रहा हो।

१. **वर्ण**—रंग। रंग के लिए वर्ण शब्द ऋग्वेद-काल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है : ऋ० १. ७३. ७; १. ९६. ५; १. ११३. २; ४. ५. १३; ९. ९७. १५; ९. १०४. ४; ९. १०५. १; १०. ३. ३; अवे०, १. २२. १, २; १. २३. २; १. २३. २; ११. ८. १६; वासं०, ४. २. २६ इत्यादि। अनेक प्रकार के रंगों का उल्लेख मिलता है, किंतु यह बताना कठिन है कि वैदिक लोग रंगों का विभेद किस आधार पर करते थे। ऋग्वेद में लाल और पीले रंगों के विभेद का कई बार उल्लेख आया है[1]। काले को कृष्ण और सफेद को श्वेत कहा गया है : ऋ० १. १४०. ९. तु०—मैसं०, ४. ३. ८ में काले को "श्येनी" भी कहा गया है। भूरे रंग को श्याम कहा गया है : शब्रा०, ५. १. ३. ७। नील का अर्थ संदिग्ध है; संभवतः "गाढ़ा काला रंग" इस शब्द से अभिप्रेत रहा हो : छाउ०, ३६. १; "नील" को कौउ०, ४ में कृष्ण कहा गया है; तु०—ऋ० ८. १०. ३१ "नील" में नीलेपन के साथ काले का भाव मानने का एक कारण यह भी है कि अग्नि के धूम्र को नीला कहा गया है। **हरि, हरिण, हरित्** और **हरित** शब्द पीले रंग के वाचक हैं, यद्यपि हरे रंग का भाव भी इनमें माना जा सकता है; क्योंकि मण्डूक के रंग को हरित बताया गया है : ऋ० ७. १०३. ६; तु०—३. ४४. ३। बभ्रु शब्द निश्चय ही बदामी रंग को जताता है, क्योंकि **विभीदक** के बीज को बभ्रु बताया गया है; द्र०—**अक्ष**। कपिल (बंदर का रंग) लाल बदामी रंग का बोधक है : ऋ० १०. २७. १६; बृउ०, ६. ४. १४; जब कि पिङ्गल पीत-बभ्रुवर्ण को उद्दिष्ट करता प्रतीत होता है : अवे०, ११. ५. २६; कासं०, १५. १; तैसं०, ७. १. ६. २; बृउ०, ६. ४. १४। पीले रंग को **पीत** एवं **पाण्डु** शब्दों से उद्दिष्ट किया गया है : बृउ०, २. ३. ६। केसरिया परिधान (माहारजन) का बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३. ६ में उल्लेख आया है। **रुधिर** और **लोहित** शब्द लाल वर्ण को सूचित करते हैं, एवं **अरुण** शब्द हलके लाल रंग को सूचित करता है। "कल्माष" का अर्थ है "चितकबरा" : वासं०, २९. ५८; शिल्प का अर्थ "चित्रित" या कई वर्णों वाला हो सकता है : वासं०, २४. ५; २९. ५८; तैसं०, ५. ५. २२. १; ५. ६. १३. १; ५. ६. २०. १। **अरुण-पिशंग** (लाल बदामी) जैसे मिश्रित रंग का भी उल्लेख आता है : तैसं०, ६. ६. ११. ६।

२. **वर्ण**—शाब्दिक अर्थ 'रंग'। ऋग्वेद में वर्ण शब्द जाति का वाचक बन गया है, किंतु प्रारम्भ में वहाँ दासों एवं आर्यों के वर्ण (रंग) का उल्लेख आया है : **दास-वर्ण** : ऋ० २. १२. ४; **आर्य-वर्ण** : ऋ०, ३. ३४. ९; तु०—१. १०४. २; २. ३. ५; शांश्रौसूत्र, ८. २५. २; पंविब्रा०, ५. ५. १४; द्र०—**दस्यु** और **दास**। इन वर्णों का विभेद भी दिखाया गया है : गोब्रा०, १. १. २३; कासं०, ११. ६। ऋग्वेद में प्रायः दो ही वर्णों का उल्लेख आता है, किंतु परवर्ती साहित्य में चारों वर्णों का पूर्णतः विकास उभर आया है : शब्रा०, ५. ५. ४. ९; ६. ४. ४. १३; ६. ४. ४. ९; बृउ०, १. २. २५; ऐब्रा०, ८. ४; तु०—कासं०, ३४. ५; पंविब्रा०, ५. ५. १७; तैब्रा०, १. २. ६. ७।

ऋग्वेद में वर्ण—वर्ण शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद काल में वर्णों के अस्तित्व या अनस्तित्व का निरूपण करना कठिन है। किंतु पुरुष-सूक्त (ऋ० १०. ९०. १२; अवे०, १९. ६. ६, वासं०, ३१. ११; तैआ०, ३. १२. ५)[1] में इन चारों वर्णों का उल्लेख आ जाता है : **ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य** और **शूद्र**। यह सूक्त बहुत बाद का बताया जाता है : अतः इससे प्रारंभिक ऋग्वेदीय व्यवस्था का भान नहीं हो पाता।[2] त्सिमर[3] ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ऋग्वेद-काल में वर्ण-व्यवस्था अज्ञात थी। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया है कि ब्राह्मणों (पंविब्रा०, १७. १; तु०—अवे०, १५; द्र०—**व्रात्य**) में सिन्धु-प्रदेश के आर्यों को ब्राह्मण-संस्कृति के अन्तर्गत नहीं माना गया है, जो इस बात का सूचक हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्था का आरम्भ **मध्यदेश** में हुआ था, **सिन्धु-प्रदेश** में नहीं, जो कि ऋग्वेद का असली क्षेत्र था। उन्होंने म्यूर[4] के मत को माना है, जो है :—(क) चतुर्वर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में केवल पुरुष-सूक्त में आया है; (ख) वर्णों में पहले तीन वर्णों को चौथे शूद्र वर्ण से विपर्यस्त दिखाया

---

[1] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, ११. १२१ एवं आगे।

[1] तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[2]. ७. १५।

[2] द्र०—मैक्समूलर, संस्कृत लिटरेचर, ५७०; वेबर, इंस्टू०, ९. ३; कोल्ब्रुक, एसेज १. ३०९, आर्नल्ड, वैदिक मीटर, १६७।

[3] आले०, १८५. २०३।

[4] संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[2]. २३९ एवं अग्रिम, विशेषतः २५८।

गया है; (ग) ब्राह्मण शब्द ऋग्वेद में विरल है, क्षत्रिय मुश्किल से ही दो एक बार आया है : ऋ०, ८. १०४. १३; १०. १०९. ३; राजन्य, वैश्य और शूद्र का उल्लेख केवल पुरुष-सूक्त में है; (घ) ब्राह्मण शब्द का अर्थ प्रारम्भ में कवि या साधु है, फिर यह पुरोहित का वाचक वन गया है; (ङ) केवल इने गिने स्थलों (ऋ० १. १०८. ७; ४. ५०. ८; ८. ७. २०; ८. ४५. ३९; ८. ५३. ७; ८. ८१. ३०; ९. ११२. १; १०. ८५. २९) पर यह पेशेवर पुरोहित को जताता है; अन्यत्र यह व्यक्तिक अनुभवी या ज्ञानी के अर्थ में आया है : ऋ० १०. १०७. ६; १०. १२५. ५। किंतु म्यूर[१] ने ब्राह्मण को आरम्भ से ही खानदानी पुरोहित के रूप में माना है।

त्सिमर के अनुसार आर्यों की पूर्व की ओर क्रमिक प्रगति के साथ-साथ वर्णों का विकास हुआ है। उन्होंने जर्मनी के आक्रमणों की इस तथ्य के लिये तुलना की है। आक्रामक जाति के स्थायित्व के लिए आवश्यक है एक प्रबल राजा का होना। अन्य छोटे-मोटे राजा उसके सामन्त बन जाते हैं; सामन्त सिपाही रखते हैं, जो बड़े राजा की सहायता में भेजे जाते हैं। इस प्रकार योद्धा-वर्ग की उत्पत्ति हो जाती है; साथ ही अन्य लोग लड़ाई-झगड़ों के कार्यों से निश्चिन्त होकर कृषि, गो-रक्षा, व्यापार-वाणिज्य की ओर ध्यान देते हैं: इस तरह एक और वर्ग बन जाता है। राजा लोग पहले के पुरोहितों के साथ सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

पहले राजा अपने लिए और जनता के लिए यज्ञ कर सकता था : ऋ० ३. ३३. ८; ७. १८. ८३; किंतु ऋग्वेद में पुरोहितों के इस अधिकार का महत्त्व, विशेषतः विश्वामित्र और वसिष्ठ के प्रकरण में उद्दिष्ट है; किंतु साथ ही देवापि आर्ष्टिषेण की कथा में राजा के यज्ञ कर सकने का अधिकार पुनः उभर आया है : निरुक्त, २. १० में ऋ०, १०. ९८. की व्याख्या। युद्ध या आक्रमण के अवसर पर पुरोहितों का यह अधिकार महत्त्वपूर्ण बन जाता था। इस अधिकार को पाने के लिए पुरोहितों को काफी संघर्ष भी करना पड़ता था। अथर्ववेद में सृञ्जयों की कथा से इस पर प्रकाश पड़ता है : अवे०, ५. १७-१९[२]। शतरुद्रिय मन्त्रों में भी ऐसे अशान्ति-काल में पुरोहितों के उन मन्त्रों का उल्लेख आता है, जिनमें रुद्र को सभी प्रकार के आदिवासियों, चोरों एवं डाकूओं आदि का अधिपति बताया गया है : वासं०, १६=तैसं०, ४. ५. १-११=कासं०, १७. ११-१६ मैसं०, २. ९. १-१०।

[१] उक्त, २५९।
[२] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १[२], २८०- २८९।

प्रायः यही मत वर्ण-व्यवस्था के संबन्ध में शिरोधार्य है[१]। किंतु कुछ विद्वानों ने इसका विरोध भी किया है[२]। निदान इस विषय को सरल ढंग से इस प्रकार रखा जा सकता है : वर्ण-व्यवस्था एक क्रमिक विकास का परिणाम है; ऋग्वेद के काल में यद्यपि वर्ण-व्यवस्था उतनी नहीं उभर पाई थी, जितनी कि यजुर्वेद-काल में, तथापि उसका अविकसित बीज तब भी वर्तमान था; "ब्राह्मण" शब्द आरम्भ में केवल कवि या साधु के अर्थ में ही नहीं, अपितु पुरोहित के अर्थ में भी आया है; ऋग्वेद को सिन्धु-प्रदेश की ही रचना न मानकर अधिकांश में मध्यदेश की रचना मानना चाहिये; विशेषतः सुदास् और उसकी विजयों के प्रकरण (ऋ० मं०, ३, ६) में। इस मत का समर्थन पिशल[३], गेल्डनर[४], हापकिन्स[५] और मैक्डानल[६] ने किया है। साथ ही ऋग्वेद में त्रिवर्गीय या चतुर्वर्गीय विभाजन का उल्लेख ब्रह्म, क्षत्र, विशः के रूप में अथवा उक्त तीन वर्गों एवं असम्य वर्ग के रूप में मिल जाता है; द्र०—ऋ०, ३. ३५. १६-१८; १. ११३. ६; २. २७. ८; ६. ५१. २; ७. ६६. १०। ऋग्वेद में युद्ध किसी वर्ग-विशेष के लोगों के लिए ही नहीं था। अथर्ववेद २. १९. १; ९. ७. ९; १५. ९. २. ३ में जन का "बल" के साथ उल्लेख है; वहाँ भी विश् के सभा, समिति एवं सेना में भाग लेने का उल्लेख आ जाता है। क्षत्रिय पहले सामन्त-वर्गीय व्यक्ति ही थे, बाद में वे भी वंश-परंपरागत बनने लग गये थे; राजा भी वंश-क्रमागत होने लगे थे; द्र०— राजन्। किंतु यह मानना अनिवार्य बन जाता है कि शूद्र इन सबसे पृथक् थे। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के मूल तत्त्व ऋग्वेद-काल में ही विद्यमान थे। पुरोहित अवश्य प्रमुख थे; किंतु उन्हें यज्ञ के विशेष ज्ञान के आधार पर

[१] द्र०—फान श्रोडर, इन्दीन्स, १५२; मैक्डानल, सं० लिट०, १५९; वेबर, इस्तू०, १०. १; केगी, ऋ०, टि० ५८।
[२] हाग, ब्रह्म उण्ड दी ब्राह्मनन, १८७१; केर्न, इंदिश्शे थियोरियन ओवर दे स्टाण्डेन्-फेरडीलिंग, १८७१; लुड्विग, दी नाखरिश्तन देस ऋग-उन्द अथर्ववेद ऊबरज्योग्राफीश्शे फेरफासुंग देस आल्तन इन्दीन, ३६ एवं अग्रिम; ट्रां० ऋ०, ३. २३७. २४७; ओल्डेनबर्ग, रिलिगियोन देस वेद, ३७३ एवं अग्रिम; तु०—त्सादामौगे०, ५१. २६७ एवं अग्रिम; गेल्डनर, वैस्तू०, २. १४६. टि०।
[३] वैस्तू०, २. २१८।
[४] वही, ३. १५२।
[५] जअओसो०, १९. १८।
[६] संस्कृत लिटरेचर, १४५।

यज्ञानुष्ठान के लिये रखा जाता था, यद्यपि बाद में वे भी वंशक्रमागत बन गये थे।

देवापि जैसे आख्यानों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास करना भी आवश्यक नहीं है कि पहले **वर्ण-व्यवस्था** नहीं थी; क्योंकि उपनिषदों में पहले राजाओं के पौरोहित्य कार्यों एवं ज्ञान-दान में भाग लेने का भी उल्लेख आता है और उपनिषदों को विकसित वर्ण-व्यवस्था के युग का ही माना जाता है। साथ ही **देवापि** की कथा में इस दृष्टि से अधिक बल भी नहीं है; क्योंकि उनके **क्षत्रिय** होने का प्रमाण निरुक्त २. १० से पहले कहीं नहीं मिलता। तु०-**विश्वामित्र** और **जह्नु**।

परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में वर्ण—ऋग्वेद-काल एवं परवर्ती काल की वर्ण-व्यवस्था में इतना ही अन्तर है कि जो व्यवस्था पहले नाम-मात्र की थी वही आगे चलकर पर्याप्त विकसित एवं कठोर नियमों में बंध गई।

वर्णों के नाम—प्रारम्भिक नाम हैं: **ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य** और **शूद्र** : ऋ० १०. ९०; तैसं०, ७. १. १. ४, ५; ऐब्रा०, ८. १९. १; शब्रा०, १. १. ४. १२; ३. १. १. १०; ५. ५. ४. ९; पंबिब्रा०, ६. १. ६. ११; अथवा **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** और **शूद्र** : बृउ०, १. २. २७ माध्यं०=१. ४. १५ काण्व; शब्रा०, ६. ४. ४. १३; १३. ६. २. १०; वासं०, ३०. ५। अन्य नाम भी आते हैं: **ब्रह्मन्, क्षत्र, शूद्रार्यौ** : तैसं०, ४. ३. १०. १-३; कासं०, १७. ५; वासं, १४. २८-३०; **ब्रह्मन्, राजन्य, शूद्र, आर्य** : अवे०, १९. ३२. ८; तु०—१९. ६२. १; **ब्रह्मन्, राजन्य, वैश्य, शूद्र** : कासं०, ३७. १; **ब्राह्मण, राजन्, वैश्य, शूद्र** : तैसं०, ५. ७. ६. ४; कासं०, ४०. १३; मैसं०, ३. ४. ८; वासं०, १८. ४८; शब्रा०, ५. ६. ४. ९ इत्यादि; **देव, राजन्, शूद्र, आर्य** : १९. ६२. १; वासं०, २६. २; तु०—**अर्य, आर्य, ब्रह्मन्, क्षत्र, विश्** और **शूद्र** : बृउ०, १. २. १३ माध्यं० १. ४. १५ काण्व। कुछ अन्य स्थलों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के साथ **चाण्डाल** का भी उल्लेख आता है : छाउ०, ५. १०. ७। कभी-केवल तीन उच्च वर्णों का उल्लेख मिलता है; **ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य** : अवे०, ५. १७. ९; मैसं०, ३. १. ५; ३. २. २; ४. ४. ९; तैब्रा०, ३. १२. ९. २; तैसं०, ६. २. ५. २. ३; तैआ०, २. ८. ८; **ब्रह्मन्, क्षत्रम्, विश्** : वासं०, १०. १०-१२; ३८. १४; शब्रा०, २. १. ४. ११; ११. २. ७. १५ एवं अग्रिम; १४. २. २. ३०; तैआ०, ४. १०. १०-१२ इत्यादि; तु० अवे०, ५. १८. १५; कासं०, १२. १; २९. १०; वासं०, ३८. १९। **ब्राह्मण, राजन्** और **शूद्र** इन तीनों का उल्लेख अथर्ववेद १०. १. १३ में आता है। दो वर्णों अर्थात् **ब्रह्मन्** और **क्षत्र** अथवा **क्षत्र** और **विश्** का भी एक साथ उल्लेख आया है; द्र० **क्षत्रिय, वैश्य, विश्**।

वर्ण के संबन्ध में आवश्यक उद्धरणों का बड़ा संग्रह : म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२ में है; वेबर, इस्तू०, १० में ब्राह्मणों से संबद्ध उद्धरण आ गये हैं। धर्मसूत्रों में वर्ण-व्यवस्था के संबन्ध में पर्याप्त सामग्री है, किंतु वे बहुत बाद के हैं, और वैदिक काल के लिए उनके आधार पर कोई पक्का पेश मत करना कठिन है।

वर्णों में संबन्ध—यज्ञ-साहित्य वर्णों के संबन्ध में सूक्ष्म विवेचनों से भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, चारों वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के श्मशान-स्तूपों के बनाने का निर्देश शतपथ ब्राह्मण १३. ८. ३. ११; में किया गया है। चारों वर्णों के संबोधन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार बताये गये हैं:—"एहि" (आओ), "आगच्छ" (आ जाओ), "आद्रव" (शीघ्र आओ) और "आधाव" (दौड़ कर आओ); इनमें नम्रता या शिष्टता का उतार-चढ़ाव है: शब्रा०, १. १. ४. १२। पुरुषमेध के प्रसङ्ग में चारों वर्णों के लोग चार प्रकार के देवों को समर्पित किये जाते हैं: वासं०, ३०. ५; तैब्रा०, ३. ४. १. १; शब्रा०, १३. ६. २. १०; तु०—तैसं०, २. ५. १०. १, २; ७. १. १. ४, ५; कासं०, १७. ४; ३७. १; वासं०, १०. १०; १४. २४; ऐब्रा०, ७. २३. २४; ८. ४ इत्यादि। सूत्रों में भी ऐसे नियम मिलते हैं: आगृसूत्र, १. २४. ११. १२[१]।

किंतु प्रथम तीन वर्ण **शूद्र** से कुछ मानों में विशिष्ट हैं। शतपथ ब्राह्मण ३. १. १. १० के अनुसार दीक्षित व्यक्ति को **शूद्र** से वार्तालाप नहीं करना चाहिये : तु० आपस्तम्ब, काश्रौसूत्र, ७. ५. ७ के भाष्य में उद्धृत; आश्रौसूत्र, १२. ८. ७[२]। प्रायः **शूद्र** को अपवित्र एवं यज्ञ-स्थली पर जाने के अयोग्य माना गया है : शब्रा०, ३. १. १. ९; तु०— ५. ३. ३. २; तैसं०, ७. १. १. ६; कासं०, ११. १०; मैसं०, २. ४. ८। अग्निहोत्र के लिये **शूद्र** के हाथ से दुहे गये दूध को त्याज्य बताया गया है : कासं०, ३१. २; मैसं०, ४. १. ३। किंतु दूसरी ओर कुछ स्थलों पर **शूद्र** का भी सोम-यज्ञ में अधिकार माना गया है : शब्रा०, ५. ५. ४, ९; तु०—१. १. ४. १२। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १. ४. ८ में अन्य वर्णों के अग्नि-चयन के साथ **रथकार** के लिये भी उसका विधान बताया गया है। कुछ स्थलों पर **ब्राह्मण** को अन्य तीन वर्णों से उसका विपर्यास दिखाते हुए हविर्भक्षक कहा गया है : ऐब्रा०, ७. १९. १; मैसं०, १. ४. ६; गोब्रा०, २. १. ६।

---

१ द्र०—वेबर, इस्तू०, १०. २० एवं अग्रिम।

२ वेबर, इस्तू०, १०. १२।

प्रत्येक वर्ण की अलग-अलग विशेषताओं का वर्णन **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** और **शूद्र** शीर्षक लेखों में किया गया है। उनका सारांश इस प्रकार है:—**विश्** वह आधार-पीठ है, जिस पर **ब्राह्मण** और **क्षत्रिय** जीवन-निर्वाह करते हैं: शब्रा०, ११. २. ७. १६; कौब्रा०, १६. ४; **ब्राह्मण** और **क्षत्रिय विश्** से बढ़ कर हैं: पंविब्रा०, २. ८. २; ११. ११. ९; ऐब्रा०, १५. ६. ३; २. ३३. १; कासं०, २९. १०; तैसं०, २. ५. १०. १; शब्रा०, ६. ४. ४. १३ इत्यादि। तीनों वर्ण **शूद्र** से बढ़कर हैं। राज्यसत्ता राजा, उसके सामन्तों एवं सैनिकों में निहित थी; इन सबको **क्षत्रिय** कहा जा सकता है। राज्य की सुरक्षा, प्रशासन, न्याय, युद्ध आदि कार्य क्षत्रियों के उत्तरदायित्व में थे। राजा द्वारा सामन्तों को **ग्राम** दिये जाते थे, जिनसे वे कर वसूलते थे; उनके अपने खेत भी होते थे; उनमें **दासों** एवं अधिवासियों द्वारा वे खेती कराते थे। राज्य निश्चय ही छोटे-छोटे होते थे, **महाराज** आदि शब्दों के अतिरिक्त कोई ऐसा शब्द नहीं मिलता जो बड़े राज्यों को सूचित करता हो। **विश्** (=प्रजा) या **वैश्य** लोग कृषि, पशु-पालन एवं व्यापार करते थे; वे राजा या सामन्तों को कर देते थे; क्योंकि सुरक्षा का भार इन्हीं लोगों पर रहता था। भले ही **वैश्यों** में कुछ बड़े भूस्वामी रहे हों और वे अपने हाथों खेती न करते रहे हों, किंतु बहुसंख्यक लोग अपने हाथों खेती करते थे। युद्ध के समय ये लोग भी सेना में भर्ती हो जाते थे; क्योंकि इन लोगों का पारस्परिक अलगाव अभी बहुत आगे नहीं बढ़ा था; और न विभिन्न वर्गों के पेशों का विभाजन ही बहुत पक्का बन पाया था। पुरोहितों के संभवत: दो वर्ग थे: वे या तो राजा अथवा सामन्तों के पुरोहित थे, उनके दरबार में आया जाया करते थे, और आवश्यकता पड़ने पर संमति आदि भी दिया करते थे; दूसरे वे जो पुरोहिताई का सामान्य जीवन व्यतीत करते थे, और राजा अथवा सामान्तों द्वारा रचे जाने वाले प्रभूत यज्ञों में सहायक ऋत्विजों का कार्य करते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९ में वर्णों के संबन्ध का सार अच्छी प्रकार दिया गया है: **ब्राह्मण क्षत्रियों** से दान लेते थे (=आदायी थे), सोम-पान करते थे (=आपायी): भोजन चाहते थे (=आवसायी) और इच्छानुसार हटाए जा सकते थे (=यथाकामप्रयाप्य); किंतु इन शब्दों की व्याख्या और प्रकार से भी की गई है, जिसके अनुसार वे अपनी इच्छा के अनुसार विचरण कर सकते थे। (आवसायी का अर्थ किया गया है, "सर्वत्र बसने या घूमने वाला"। द्र०—वेबर, इस्टू०, ९. ३२६. १०. १४)। **शूद्र** दूसरों का सेवक (=अन्यस्य प्रेष्य:) था; वह इच्छानुसार वध्य (=यथाकामवध्य:) था। **वैश्य** कर देने वाला (अन्यस्य बलिकृत्), अन्यों का उपजीव्य (=अन्यस्याद्य:) और इच्छानुसार दमनीय (=यथाकामज्येय:) था: ऐब्रा०, ७. २९. ३। इन सभी वर्णों का संबन्ध **क्षत्रिय** से बताया गया है। **क्षत्रिय** इस उल्लेख के अनुसार **ब्राह्मणों** को भी नियन्त्रित कर सकता था; **वैश्य** तो उससे छोटा, एवं उसे कर देने वाला था ही; उसकी भूमि को भी वह छीन सकता था; किंतु अकारण उसका वह वध नहीं कर सकता था। अब रही **शूद्र** की बात; उसे न तो संपत्ति का अधिकार था और न जीवन का ही।

उक्त संदर्भ बाद का है, और इसी लिये **क्षत्रिय** को उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णव्यवस्था-संबन्धी नियमों के क्रमशः कड़ा होने के साथ-साथ **वैश्य** का स्थान अधिकाधिक हीन होता गया। वेबर[१] ने यह दिखाया है कि किसी समय वाजपेय यज्ञ, जिसमें रथों की दौड़ भी होती थी, **राजा** और **पुरोहित** के समान **वैश्य** के लिए भी विहित था, जैसा कि शांखायन श्रौतसूत्र १६. १७. ४; (तु०—१५. १. १) से पता चलता है। किंतु इस दृष्टि से तो राजा के महत्त्व में भी कुछ कमी आ गई है: तैत्तिरीय शाखा के ग्रन्थों (तैसं०, ५. ६. २. १; तैब्रा०, १. ७. ६. १; तु०—लाश्रौसूत्र, ८. ११. १; आश्रौसूत्र, ६. ९. १९) के अनुसार वाजपेय एक छोटा यज्ञ था, जो राजा के प्रसङ्ग में **राजसूय** यज्ञ के बाद होता था; और पुरोहित के प्रसङ्ग में बृहस्पतिसव के बाद होता था; किंतु शतपथ ब्राह्मण ५. १. १. १; ५. २. १. १९; काश्रौसूत्र, १५. १. १, २ के अनुसार वाजपेय करने वाला **ब्राह्मण** ही हो सकता था; और इस यज्ञ को बृहस्पति-सव से अभिन्न बनाया गया है, जो कि केवल पुरोहितों के ही हित में था। किंतु शतपथ ब्राह्मण एवं ऐतरेय ब्राह्मण के इन स्थलों पर आवश्यकता से अधिक बल नहीं देना चाहिये; क्योंकि इनमें पुरोहितों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज में असल में उनका क्या महत्त्व होना चाहिए; और कुछ अंशों में यह उन्हें प्राप्त भी था। दूसरी ओर वैदिक काल से कुछ ही बाद के ग्रन्थों में, आर्षकाव्य और पालि-साहित्य में **ब्राह्मणों** का महत्त्व **क्षत्रियों** की अपेक्षा कम है[२]।

---

[१] ऊबर देन वाजपेय, १० एवं अग्रिम।

[२] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, १३. ९८४ एवं अग्रिम; फिक, दी सोश्याल ग्लीडरूङ्ग १०७ एवं अग्रिम; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, ५३ एवं अग्रिम, १५८।

यद्यपि वर्णों के पारस्परिक संबन्ध का वैदिक साहित्य में विशद विवेचन है, तथापि स्पृश्यता एवं अपने से नीचे के वर्ण वाले व्यक्ति के साथ भोजन के निषेध का वहां जिक्र नहीं के बराबर आता है। ये नियम स्मृतियों एवं सूत्रों में मिल सकते हैं; उदाहरण के लिये देखिये मनु० ३. २३९; ५. ८५; वाधसूत्र, १४. १; आपधसूत्र, १. ६. १८, १६; २. ४. ९. ७; गोधसूत्र, १७. १७; मनु० ४. २१० विष्णु०, ४१. ७। यह सच है कि अन्यों के साथ भोजन का निषेध है (उदाहरणार्थ ऐआ०, ५. ३. ३) किंतु यहाँ वर्ण-व्यवस्था का प्रकरण नहीं है; केवल यज्ञिय कार्य के अनुष्ठान के लिए आवश्यक पवित्रता को ध्यान में रखकर ऐसा कहा गया है। इसका आधार अन्य प्राचीन जातियों के समान यह अन्ध-विश्वास भी हो सकता है कि एक साथ भोजन करने से एक दूसरे के समान आचार-विचार बन जाते हैं; किंतु वैदिक भारतीयों ने अपने से निम्न वर्ण के व्यक्ति से भोजन लेने में पवित्रता का नाश नहीं माना है: तु० छाउ०, १. १०. १; तैआ०, ५. ८. १३। वैदिक-काल में ही नहीं, अपितु आर्षकाव्य-काल में भी जातीय मुखिया, विधान, संगठन अथवा सामान्य उत्सव आदि का उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि वह आनुवंशिक आधार पर खड़ी हुई थी; एक समान वृत्ति करने पर निर्भर थी; एवं अन्तरवर्णीय विवाह के विरुद्ध थी।

अन्तरवर्णीय विवाह पर रोक—एरियन की इण्डिका १२. ८. ९ में, संभवतः मेगस्थनीज के आधार पर यह उल्लेख आता है कि आर्य अन्तरवर्णीय विवाह के विरुद्ध थे। पालि-साहित्य में भी ऐसे प्रकरण मिल जाते हैं[1]। मनु १०. ५; ३. १५ के अनुसार यद्यपि निम्न वर्ण की स्त्री से ऊँचे वर्ण का व्यक्ति विवाह कर सकता था; तथापि इसे गर्हित ही समझा जाता था। पारस्कर गृह्य-सूत्र १. ४ के अनुसार भी ऊँचे वर्ण का व्यक्ति नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता था; किंतु शूद्र स्त्री से विवाह का वहाँ भी निषेध आया है, यद्यपि गोगृसूत्र ३. २. ४२ के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति में शूद्रा से भी विवाह किया जा सकता था। प्राचीन साहित्य में भी वंश की पवित्रता पर बल दिया गया है: तैसं०, ६. ६. १. ४; वासं०, ७. ४६; तैब्रा०, १. ४. ४. २; शब्रा०, ४. ३. ४. १९; १२. ४. ४. ६; काश्रौसूत्र, २५. ३.१७; लाश्रौसूत्र, १. १. ७; कौसूत्र, ६७; तु० शब्रा०, ११. ५. ७. १; ११. ४. १. २, ९; आश्रौसूत्र, २. १८. १२; आश्रौसूत्र, १२. २१. १, २; बृउ०, ६. ४. २९। दूसरी ओर इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कभी-कभी ब्राह्मण वंश तक की पवित्रता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। **कवष ऐलूष** को दासी-पुत्र कह कर ताना दिया गया है: ऐब्रा०, २. १९. १; कौब्रा०, १२. ३। **वत्स** को **शूद्रा** का पुत्र कहा गया है; किंतु **वत्स** ने अपने वंश की पवित्रता अग्नि-परीक्षा द्वारा प्रमाणित कर दी थी: पंविब्रा०, १४. ६. ६ तैत्तिरीय संहिता ६. ६. १. ४ के अनुसार विद्वान् (शुश्रुवान्) व्यक्ति **ब्राह्मण** और आर्षेय (=ऋषि का वंशज) होता है। **जबाला** के पुत्र **सत्यकाम** को भी **हारिद्रुमत गौतम** ने अपना शिष्य बना लिया था, यद्यपि वे अपने पिता का नाम तक नहीं बता सके थे: छाउ०, ६. ४. ४। काठक संहिता ३०. १ में कहा गया है कि एक ज्ञान ही की महत्ता है, वंश की नहीं; किंतु इन कथनों से इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वंश-परंपरा की पवित्रता के नियम बहुत दृढ़ नहीं थे; और पवित्र आनुवंशिकता ही वर्ण-व्यवस्था की आधार-शिला थी। याजुष संहिताओं में **आर्य** और **शूद्रा** या **शूद्रा** एवं **आर्य** के गर्ह्य संपर्कों का भी उल्लेख आया है: तैसं०, ७. ४. १९. ३, ४; कासं०, अश्वमेध, ४. ७; वासं०, २४. ३०, ३१। संभवतः कभी ऐसे विवाह भी हो जाते रहे हों। यदि हम बृहद्देवता ४. २४, २५ की व्याख्या को ठीक मान लें तो **दीर्घतमस् दासी उशिज्** के पुत्र थे, जिनकी कथा पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११. १७ में आई है।

अथर्ववेद ५. १७. ८, ९ में कहा गया है कि यदि किसी स्त्री के **ब्राह्मण, क्षत्रिय** और **वैश्य** पति हों तो सबसे प्रमुख अधिकार उस स्त्री पर **ब्राह्मण** का होता है; और उसका वास्तविक पति उसे ही माना जाना चाहिये। **क्षत्रियकन्याओं** का **ब्राह्मणों** से विवाह उद्दिष्ट है: राजा **शर्यात** की कन्या का **च्यवन** ऋषि के साथ शब्रा०, ४. १. ५. ७ में और **रथवीति** की कन्या का **श्यावाश्व** के साथ बृदे० ५. ५० में परिणय सूचित होता है।

पेशा और वर्ण—ग्रीक ग्रन्थों[1] एवं जातकों[2] के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी वर्णों के लोग सामान्यतः अपने-अपने कामों में लगे रहते थे; जब कि ब्राह्मण पुरोहित के कार्य के अतिरिक्त अन्य अनेक काम भी कर लेते थे; और श्रमण एवं संन्यासी तो किसी भी जाति के आदमी बन सकते थे। किंतु वैदिक काल की प्रथा सरल थी: वहाँ **पुरोहित** और **राजा** क्रमशः यज्ञ और प्रशासन का

[1] तु० फिक, उपर्युक्त, ३४. ४०।

[1] एरियन, इंडिका, १२. ८. ९; स्ट्रेबो, १५. ४. ४९।
[2] तु०—फिक, उक्त, ४० एवं अग्रिम।

कार्य करते थे। लुड्विग[1] के अनुसार **दीर्घश्रवस्** नामक **ब्राह्मण** के व्यापार करने का उल्लेख ऋग्वेद १. ११२. ११ में दीख पड़ता है; यह हो सकता था (परवर्ती सूत्रों में भी इसका विधान आता है), किंतु निश्चयपूर्वक ऐसा नहीं कहा जा सकता। महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो **क्षत्रियों** के पौरोहित्य कार्य के संबन्ध में है; किंतु इस विषय में निश्चायक संदर्भ बहुत ही कम हैं। अलबत्ता **विश्वामित्र** का उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद में तो उन्हें **सुदास्** से संबद्ध **पुरोहित** ही कहा गया है; किंतु पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १२. २ में उन्हें राजा **जह्नु** का वंशज एवं **राजा** बताया गया है; तथा ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८. १९ (तु०—शांश्रौसूत्र, १५. २१) में **शुनःशेप** के **विश्वामित्र** के दत्तक पुत्र होने से दो वंशों (**गाथियों** के दैव वेद एवं **जह्नुओं** के) आधिपत्य को प्राप्त करने का उल्लेख मिल जाता है। पञ्चविंश ब्राह्मण में **राजन्यर्षि** और **देवराजन्** जैसे पारिभाषिक शब्द **क्षत्रियों** के लिये आये हैं: १२. १२. ६; १८. १०. ५। जैमिनीय ब्राह्मण (द्र० पृ० ५६२, पाण्डुलिपि[2]) में कहा गया है कि तत्त्व-विशेष को जानने वाला **राजा** ऋषि बन जाता है (=राजा सन्नृषिर्भवति)। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४. २ (तु० ऐब्रा०, ७. १७. ६ में **राजपुत्र विश्वामित्र**) में एक **'ब्राह्मण** को **राजन्य** बताया गया है। **देवापि** की कथा का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। म्यूर[3] ने ऋग्वेद पर सायण भाष्य (१. १००; ४. ४२; ४३; ४४; ५. २७; ६. १५; १०. ९, ७५, १३३, १३४, १४८, १७९ इत्यादि) के आधार पर ऐसे अनेक सूक्त-द्रष्टा ऋषियों का उल्लेख किया है, जो राजा थे। किंतु कहीं-कहीं उन्होंने इसमें गलती भी कर डाली है; जैसे **पृथीवैन्य** के सूक्त १०. १४८. ५ में कहीं भी उनके ऋषि के अतिरिक्त और कुछ होने का उल्लेख नहीं मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ५. ४ में उन्हें राजा कहा गया है; किंतु इसे वे विशेष महत्त्व नहीं देते; उसे वे वैसा ही मानते हैं, जैसे **विश्वामित्र** को केवल बाद के काल में क्षत्रिय कहा गया है। **विश्वामित्र** और **श्यापर्णों** के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ में कहा गया है कि इन राजाओं ने पुरोहितों की सहायता के बिना यज्ञ-संपादन किया था[4]। किंतु यह व्याख्या अनिश्चित है; इसी प्रकार समानान्तर स्थल पर **कश्यपों**, **असितमृगों** और **भूतवीरों** की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि वहाँ राजा की सहायता के लिए अन्य पुरोहित भी थे।

[1] द्र० ऋ०, ३. २३७।

[2] ह्वापकिन्स, जअओसो० में उद्धृत।

[3] उक्त, १[2] २६५ एवं अग्रिम।

[4] द्र०—त्सिमर, आले०, १९६।

उपनिषदों के कई स्थलों पर ब्रह्म-ज्ञान के व्याख्याता राजाओं का उल्लेख आता है। इस प्रकार राजा **जनक** के **ब्रह्मन्** हो जाने का कथन आता है: शब्रा०, ११. ६. १. १०। **अजातशत्रु** ने **गार्ग्य बालाकि** को शिक्षा दी थी: बृउ०, २. १. १; कौउ०, ४. १। **प्रवाहण जैवलि** ने **श्वेतकेतु आरुणेय** को (बृउ०, ६. १. १; माध्यं०=६. २. १ काण्व; छाउ०, ५. ३. १), **शिलक** ने **शालावत्य** (छाउ०, १. ८. १) और **चैकितायन दाल्भ्य** को (छाउ०, १. ८. १) शिक्षा दी थी। **अश्वपति कैकेय** ने भी **ब्राह्मणों** को पढ़ाया था: शब्रा०, १०. ६. १. २। इन स्थलों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि उपनिषदों के सिद्धान्त विशेषतः **क्षत्रियों** द्वारा स्थापित किये गये थे[1]; किंतु यह मत चिन्त्य है[2]। राजा संभवतः अपनी चाटुकारी चाहते थे, और अपने को ब्रह्म-सिद्धान्त-प्रतिपादक के रूप में ग्रन्थों में ख्यापित देखना चाहते थे; अतः उन्हें उपनिषदों में इस रूप में उल्लिखित माना जा सकता है। अन्यत्र **राजन्य** के मत को हेय समझा गया है: शब्रा०, ८. १. ४. १०।

फलतः यथार्थ निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त **क्षत्रियों** एवं **राजाओं** ने ब्राह्मणों के पौरोहित्य एवं तत्त्व-प्रतिपादन के कार्य में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं किया था। वर्ण-संबन्धी पेशों के सर्वथा बदल जाने का एक भी स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता। हां, उत्तरवैदिक काल में कोई भी राजा श्रमण हो सकता था; **देवापि** के आधार पर वैदिक साहित्य में ऐसी प्रथा को ढूंढ़ना अनुचित प्रतीत होता है।

दूसरी ओर ब्राह्मण लोग, कम से कम पुरोहित लोग युद्ध में राजा के साथ भाग लेते थे; जैसे कि **वसिष्ठ** और **विश्वामित्र** ने निश्चय ही भाग लिया था: ऋ०, ३. ५३. १२, १३; १. १२९. ४; १. १५२. ७; १. १५७. २; ७. ८३. ४; १०. ३८; १०. १०३ इत्यादि। आर्षकाव्य-काल में भी पुरोहित लोग युद्धों में भाग लेते थे[3]। किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि पुरोहितों ने अपना वर्ण बदल लिया था।

वर्ण-परिवर्तन का एक और संकेत शतपथ ब्राह्मण १०. ४. १. १० में देखा जा सकता है, जहाँ **श्यापर्ण शायकायन**

[1] द्र०—डायसन, फिलासोफी आफ दि उपनिषद्स, १७।

[2] द्र०—ब्लूमफील्ड, रिलिजन आफ दि वेद, २१८ एवं अग्रिम; कीथ, जराएसो०, १९०८, ८३८. ८६८, ११४२; ऐब्रा०, ५०, ५१, २५७।

[3] द्र०—ह्वापकिन्स, जअओसो०, १३. १८४।

ने अपने पुत्रों के विषय में कहा है कि वे **सामन्त**, **पुरोहित** एवं **शल्वों** के सामान्य सदस्य बन सकते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९ में **विश्वामित्र** से कहा गया है कि यदि उन्होंने गलत हवि दी तो उनके पुत्र अन्य तीन जातियों के बन जायँगे। ऋग्वेद ३. ४३. ५ में सोम-पान से मत्त एक ऋषि कहता है कि उसे राजा बना दिया जाय। दूसरी ओर **पर आट्णार** जैसे कुछ राजाओं के सत्र करने का उल्लेख आता है : पंविब्रा०, २५. १६. ३; तैसं०, ५. ६. ५. ३; कासं० २२. ३। वर्ण-परिवर्तन की दृष्टि से इन सब प्रकरणों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। परवर्ती काल में **ब्राह्मण** भी **राजा** हो सकता था; और ऋग्वेद में एक ऋषि नशे में कहता है कि सभी राजा **ब्राह्मण** हैं, क्योंकि वे दीक्षित हो गये हैं; द्र० शब्रा०, १३. ४. १. १३; तु०—११. ६. २. १ में **जनक** का प्रसङ्ग। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वर्ण-परिवर्तन असंभव था, किंतु किसी भी स्पष्ट उल्लेख के आधार पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वर्ण-परिवर्तन वैध एवं सामान्य था।

फलतः यह माना जा सकता है कि **पुरोहित** और **राजा** आनुवंशिक होते थे। चुनाचें इन दोनों को वस्तुतः दो वर्णों के रूप में माना जा सकता है। **वैश्यों** के संबन्ध में कुछ कठिनाई पड़ती है; क्योंकि वे अनेक प्रकार के पेशे करते थे; द्र० **वैश्य**। यद्यपि बौद्ध-काल में **कृषक**, **श्रेष्ठिन्** आदि अनेक उपजातियों में **वैश्यों** का विभाजन मिलता है; तथापि प्रारम्भिक वैदिक काल में इतना स्पष्ट विभाजन नहीं था। वे सभी सामान्य लोग, जो स्वतन्त्र जीविका चलाते थे, **ब्राह्मण** और **क्षत्रिय** न होकर भी **शूद्रों** से समाज में ऊँचे होते थे और **वैश्य** कहाते थे।

शूद्र वर्ण के लोग विजित आदिवासियों में से थ, जिन्हें **आर्यों** ने **दास** बना लिया था। **शूद्रों** के विवाह का कोई महत्त्व नहीं समझा जाता था; किंतु धीरे-धीरे जब बड़ी संख्या में आदिवासी और उनके राजा जीते गए, तब पूर्ववत् व्यवस्था न रह गई। उन्हें भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मिल गई, और वे भी ग्राम की आवश्यकताओं के पूरक कार्य करने लग गए, और **चण्डाल** एवं **निषाद** जैसे लोग आर्यों के स्वामित्व में आकर उनकी छत्रच्छाया में दिन टेरने लगे।

किंतु प्रतीत होता है कि कुछ लोग **आर्यों** में से भी **शूद्र** बन गये थे; **आर्यों** के भी कुछ वर्णों का क्रमशः नीचे की ओर पतन हुआ था। संभवतः **रथकार** इसी प्रकार बने हों। तैत्तिरीय संहिता १. १. ४. ८ में **रथकार** को **ब्राह्मण**, **राजन्य** एवं **वैश्य** के साथ गिनाया गया है; वहाँ पर स्पष्ट रूप से आया है कि **रथकार** वर्ण-विशेष में नहीं है; संभवतः वे **वैश्यों** की ही एक उपजाति रहे हों। अन्य स्थलों पर **रथकारों** को **शूद्र** समझा गया है : काश्रौसूत्र, १. १. ९ सभाष्य; ४. ७. ७; ४. ९. ५। किंतु अथर्ववेद ४. ५. ६ में **रथकार** एवं **कर्मार** को गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है : वे राजा के चुनाव में भाग लेते थे। अन्यत्र भी **रथकार** और **कर्मार** का गौरवपूर्ण स्थान संकेतित है : वासं०, ३०. ६, ७; तु०—२४. २७; तु०—तैब्रा०, ३. ४. २१; ३. ४. ३. १; द्र०—शब्रा०, १३. ४. २. १७। यह नहीं माना जा सकता कि **रथकार** आर्य नहीं थे। ऋग्वेद में रथकारों के हस्त-लाघव की प्रशंसा आती है; किंतु बाद में जब शारीरिक श्रम को हेय समझा जाने लगा, तब **रथकार** भी नीचे गिर गये। इसी प्रकार **कर्मार**, **तक्षन्**, **चर्मम्न**, और **जुलाहे** भी हेय समझे जाने लगे।

परवर्ती धर्म-सूत्रों (गोसूत्र, ४, वाधसूत्र, १८; बौधसूत्र, १. १६. १७) में विभिन्न अन्तरवर्णीय विवाहों के आधार पर विभिन्न उप-वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख आता है। किंतु प्राचीन वैदिक-काल में ऐसी बात नहीं थी। फिर कुछ बातें तो इनमें गलत भी हैं; उदाहरण के लिये **सूत** के संबन्ध में ऐसा कथन। यदि **सूत** को उप-जाति मानना आवश्यक ही है, तो ऐसा होना उनके पेशे के ही आधार पर संभव है, अन्तरवर्णीय विवाह के आधार पर नहीं। **सूत**, **ग्रामणी** आदि को प्राचीन काल में किसी वर्ण-विशेष का व्यक्ति नहीं समझा जाता था। बाद में क्रमशः विकास होते-होते अनेक प्रकार के वर्ण बन गये।

वर्णों की उत्पत्तिः—यह एक कठिन प्रश्न है : मूलतः आर्यों और विजित आदिवासियों में विभेद किया गया था; और वह भी उनके रंग (=वर्ण) के आधार पर। इसके अतिरिक्त इन दोनों वर्णों के पारस्परिक विवाह-संबन्ध के नियमों के आधार पर भी वर्ण का विकास संभव है। कोई **आर्य** किसी **शूद्रा** से विवाह भले ही कर ले, किंतु कोई **शूद्र** किसी **आर्या** से विवाह नहीं कर सकता था। सच पूछो तो गौर वर्ण और कृष्ण वर्ण के व्यक्तियों के संबन्ध इस प्रकार के रहे हो सकते हैं :—(१) **गौर** पुरुष का **कृष्णवर्णीया** स्त्री से विवाह, (२) उन दोनों में बिना विवाह के भी यौन संबन्ध; (३) **कृष्ण** पुरुष का **गौर-वर्णीया** स्त्री से विवाह; (४) इन दोनों का बिना विवाह का यौन संबन्ध। इन सब पर रिजली[१] ने अच्छी तरह विचार किया है और उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के मूलमें रक्त-शुद्धि की महत्ता का भी उल्लेख किया है। जितना ही उच्च वर्ण होता था, उतना ही शुद्ध आर्य-रक्त माना जाता था। **गोत्र** के बाहर एवं **जाति** के अन्तर्गत विवाह

[१] दी पीपल्स आफ इण्डिया।

के नियमों का भी **वर्ण** की उत्पत्ति में सामान्य हाथ रहा माना जा सकता है। किंतु अन्य देशों में यह वर्ण की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारण भले ही रहा हो, वैदिक भारत में इसका नाम के लिये ही स्थान था; क्योंकि यहां **ब्राह्मण** या **पुरोहित** के राज-कन्याओं से विवाह के अनेक उदाहरण पहले दिखाये जा चुके हैं।

एक बार उभर आने पर **जाति** अनायास ही विभिन्न दिशाओं में विकसित हो उठी। नेसफील्ड[1] ने पेशों को वर्ण की उत्पत्ति का मूल कारण माना है। **तक्षन्**, **रथकार**, **धैवर** आदि इसके उदाहरण हैं। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि और किसी भी घटक को ध्यान में न रखकर (जैसे **आर्य** और **दास** का विचार किये बिना ही) केवल पेशों के आधार पर वर्ण बन गये थे। संभवतः सामन्तों और सामान्य जनों का विभाजन तो आर्यों की शाखाओं के अपने मूल निवास से बिछुड़ने के पहले ही हो गया था।

ब्राह्मणों और **क्षत्रियों** की तुलना ईरानी **अथर्वों** और **रथेस्थाओं** से की जा सकती है[2]; किंतु वर्ण-व्यवस्था ईरानी अवस्था के आधार पर हुई थी यह नहीं माना जा सकता[3]। ब्राह्मणों में एवं प्राचीन संहिताओं में भी चतुर्वर्णों की उत्पत्ति का बीज निहित है। वर्ण (=रंग) और पेशा (=वर्ग) दोनों ही वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था के कारण माने जा सकते हैं[4]।

३. **वर्ण**—द्र०—**स्वर**।

वर्त—द्र०—**वर्त्र**।

वर्तनि—ऋग्वेद में एवं बाद में यह शब्द रथ के अङ्ग (नेमि) को जताता प्रतीत होता है: ऋ० १. ५३. ८; ७. ६९. ३; ८. ६३. ८; ऐब्रा०, ५. ३३. २; सोम-शकट का भाग: तैसं०, ६. ४. ९. ५; षविंब्रा०, १. ५ इत्यादि।

वर्तिका—ऋग्वेद में यह बटेर का वाचक है। **अश्विनों** ने एक बार इसे वृक के मुंह से बचाया था। यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में भी इसका उल्लेख मिलता है: ऋ० १. ११२. १८; १. ११६. ४; १. ११७. १६; १. ११८ ८; १०. ३९. १३; तैसं०, ५. ५. ११. १; वासं०, २४. २०, ३०; मैसं०, ३. १४. १। इस शब्द के रूप के संबन्ध में तु०—वार्त्तिक, पाणिनि, ७. ३.४५ पर, जहाँ इसे उत्तरी कहा गया है, पूर्वीय वर्त्तिका के विपरीत। तु०—वेबर, इस्टू०, ५. ४५ टि०; त्सिमर, आले०, ९०।

वर्त्मन्—मार्ग के अर्थ में वर्त्मन् शब्द आम है: ऋ० १. ८५. ३; अवे०, ६. ६०. १; १०. ६. ६७. १; १२. १. ४७; तैसं०, ६. २. ९. २; ६. ६. ३. १; शब्रा० १०. ६. १. ७; शांश्रौसूत्र, ४. १०. ३ इत्यादि।

वर्त्र—अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह शब्द तडाग आदि के बाँध को सूचित करता है। अथर्ववेद में भाष्यकार तथा कुछ प्रतियों ने **वर्त** पाठ दिया है: अवे०, १. ३. ७; तैब्रा०, १. ६. ८. १; ह्विटनी, ट्रां०अवे०, ४।

वर्ध्र—वरत्रा या चर्म-रज्जु का वाचक है, (अदवायन) जिमसे, बुनी आसन्दी को बांधा जाता था। इसका उल्लेख अथर्ववेद १४. १. ६० और शतपथ ब्राह्मण ५. ४. ४. १ में आता है; पैप्पलाद शाखा में वर्ध्रा है।

वर्मन्—ऋग्वेद में एवं अनन्तर कवच के लिये आया है। वर्म या कवच किस पदार्थ से बनता था, यह अनिश्चित है: ऋ० १. ३१. १५; १. १४०. १०; ६. ७५. १, ८, १८, १९; ८. ४७. ८; १०. १०७. ७ इत्यादि; अवे०, ८. ५. ७. ९. ५. २६; १७. १. २७ इत्यादि। इसके बुनने या तैयार करने का उल्लेख मिलता है: ऋ०, १. ३१. १५; १० १०१. ८। इसकी हेरोडोटस के क्षौम-वस्त्र से तुलना की जाती है।[1] किंतु एक परवर्ती संदर्भ में **अयस्**, **लौह** और **रजत** के कवच का उल्लेख मिलता है: जैउब्रा०, ४. १. ३। कवच संभवतः धातु या धातु और चर्म से बनते थे। तु०—त्सिमर, आले०, २९८; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज, २२२; फॉन श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, ३४।

वर्ष—यह शब्द प्रारम्भ में **वर्षा** (ऋ० ५. ५८. ७; ५. ३८. १०; अवे०, ३. २७. ६; ४. १५ इत्यादि) को, फिर **वर्षा-ऋतु** (अवे०, ६. ५५. २; तैसं०, १. ६. २. ३; २. ६. १. १; ५. ६. १०. १; वासं०, १०. १२ इत्यादि) को और तब **वर्ष** (ऐब्रा०, ४. १७. ५; शब्रा०, १. ९. ३. १९ इत्यादि) या साल को सूचित करता है।

वर्षयन्ती—द्र०—**नक्षत्र**।

---

[1] ब्रीफ व्यू आफ दि कास्ट्स-सिस्टम आफ दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऐंड अवध, १८८५।

[2] द्र०—लुड्विग, ट्रां०ऋ०, ३. २४३, २४४।

[3] इस संबन्ध में रिज़ली, इण्डियन एम्पायर, १. ३२६-३४८ एवं अन्य लोगों के मत गलत हैं।

[4] भारतीय दर्शनात्मक या धर्म-संबद्ध मत के लिए द्रष्टव्य: ऋ० १०. ९०; तैसं०, ७. १. १. ४; ४. ३. १०, १–३=कासं १७. ५=वासं०, १४. २८–३०; शब्रा०, ८. ४. ३. ३; **ब्राह्मणों** की उत्पत्ति के संबन्ध में: अवे०, ४. ६. १; १५. ९. १।

[1] तु०—हेह्न, कुल्तुर प्लान्सन ६, १६७ एवं अग्रिम; लैंग, होमर ऐंड हिज़ एज, १५० एवं अग्रिम।

१. वर्षा-हू—वर्षा को बुलाने वाला=मेंढक। वाजसनेयि संहिता २४. ३८ में अश्वमेध की बलियों की सूची में इसका भी उल्लेख आया है।

२. वर्षा-हू—तैत्तिरीय संहिता ३. ४. १०. ३. में वर्षा-हू, वर्षा-भू (=पुनर्नवा) एक पौधा है। भ के स्थान पर यहां ह हो गया है: वाकरनागल, आल्टिं० ग्रा० १. २१७। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में वर्षा-भू यह रूप आता है।

१. वर्ष्मन्—ऋग्वेद ६. ४७. ४, ८. ३२. ३; १०. ६३. ४ और अथर्ववेद ३. ४. २; (तु०–२०. १२७. २) में वर्ष्मन् शब्द शरीर के अर्थ में आया है।

२. वर्ष्मन्—कुछ स्थलों पर यह शब्द उच्चता या चोटी को जताता है: ऋ० ३. ८. ३; १०. २८. २; १०. ७०. १; वासं०, ५. १६; ऋ०, ३. ५. ९; ४. ५४. ४; वासं०, २८. १; तैसं०, ३. ४. ८. ७; ५. २. १. ५ इत्यादि।

वल—इन्द्र के विरोधी एक शत्रु का नाम वल है, जिसे इन्द्र ने नष्ट किया था: ऋ० १. ११. ५; १. ५२. ५; २. ११. २०; २. १५. ८; २. २५. ३; ३. २४. १०; ८. १४. ७; १०. ६२. २; १. ६२. ४; ६. ३९. २; ४. ५०. ५; २. १२. ३; २. १४. ३; निरुक्त, ६. २; तु०–अवे०, ४. २३. ५; ऐब्रा०, ६. २४; तैसं०, २. १. ५. १ इत्यादि।

वल-ग—अथर्ववेद में एवं अनन्तर यह शब्द रहस्यमय मन्त्र के अर्थ में आया है: अवे०, ५. ३१. ४; १०. १. १८; १९. ९. ९; तैसं०, १. ३. २. १ सायण भाष्य के साथ; ६. २. ११. १. २; कासं०, २. ११; २५. ९; वासं०, ५. २३; शब्रा०, ३. ५. ४. २,।

वल्क—परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में वृक्ष के वल्कल के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है: तैसं०, २. ५. ३. ५; ३. ७. ४२; तैब्रा०, १. ४. ७. ६।

वल्मीक—तैसं०, १. १. ३. ४; कासं०, १९. २; ३१. १२; २५. १९; वासं०, ३५. ८ और शब्रा०, २. ६. २. १७; बृउ०, ४. ४. १०; तैब्रा०, १. १. ३. ४ में दीमक के लिए आया है।

वल्श—यह शब्द उपशाखा (तैसं०, ७. ३. ९. १) का वाचक है। द्र० शत-वल्श (=सौ शाखाओं वाला: ऋ० ३. ८. ११; अवे०, ६. ३०. २ इ०,) और सहस्र-वल्श (ऋ० ३. ८. ११; ८. ३३. ९ इत्यादि में) शब्द जो रूपक बन कर संतान के लिए आये हैं: तैत्तिरीय संहिता, १. ३. ५. १; कासं० ३. २ इत्यादि।

१. वव्रि—द्र०– अत्रि।

२. वव्रि—ऋग्वेद ५. १९. के ऋषि अनुक्रमणी के अनुसार वव्रि हैं।

३. वव्रि—कुछ स्थलों पर यह शब्द शरीर या रूप का वाचक है: ऋ० १. १६४. ७; १. १६४. २९; ४. ४२. १; १०. ४. ४; निघण्टु ३. ७; निरुक्त, २. ९।

१. वश अश्व्य—ऋग्वेद में यह अश्विनों के एक शरणार्थी का नाम है: १. ११२. १०; १. ११६. २१; ८. ८. २०; ८. २४. १४; ८. ४६. २१, २३; ८. ५०. ९; १०. ४०. ७) शांखायन श्रौतसूत्र १६. ११. १३ में भी यह आया है, जहाँ पृथुश्रवस् कानीत से इनके दान प्राप्त करने का उल्लेख आता है। ये ऋग्वेद के एक सूक्त के संमानित प्रणेता हैं (८. ४६), जिसमें अनेकशः वश का उल्लेख आया है: शब्रा०, ८. ६. २. ३; ९. ३. ३. १९; ऐआ०, १. ५. १. २; शांआ०, २. १०. ११। तु०–वेबर, एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल, ३८, ३९।

२. वश बहुवचन में वशों को ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. २ में मध्य-देश का निवासी कहा गया है। इनका उल्लेख कुरुओं, पञ्चालों और उशीनरों के साथ किया गया है। कौषीतकि उपनिषद् ४. १[1] के अनुसार ये मत्स्यों से भी संबद्ध हैं। गोपथ ब्राह्मण १. २. ९[2] में वशों और उशीनरों को संयुक्त बताया गया है; ये नाम[3] उनकी एकता के सूचक प्रतीत होते हैं।

वशा—ऋग्वेद (२. ७. ५; ६. ६३. ९; १०. ९१. १४ इत्यादि) एवं परवर्ती संहिताओं (अवे०, ४. २४. ४; १०. १०. २; १२. ४. १ इत्यादि; तैसं०, २. १. ४. ४, ५; ३. ४. २. २; कासं०, १३. ४ इत्यादि) में यह शब्द गौ को जताता है; किंतु कुछ स्थलों को छोड़कर सर्वत्र यह आवश्यक नहीं है; तु० अवे०, ७. ११३. २ जहाँ परिवृक्ता की तुलना वशा से की गई है। १२. ४ में जहाँ गौ का विपर्यय वशा है, वहाँ कोई भी संकेत वशा के बच्चे न देने वाली के अर्थ की ओर नहीं है। इसमें मन्त्र १६

[1] पाठ है: सवशमत्स्येषु हस्तलिपियों के सवन्मत्स्येषु के स्थान पर, जिसे सत्वन्मत्स्येषु के रूप में संशोधित किया गया है; कीथ, शां० आ०, ३६ टि० २; जराएसो०, १९०८, ३६७।

[2] जहाँ पाठ शवस-उशीनरेषु है। तु०– सवश-उशीनराणाम्: ऐब्रा०, ८. १४. ३ और टि० २।

[3] दोनों की व्युत्पत्ति √वश् (इच्छा करना) से। तु०–ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, २९३ टि०, ४०७ टि०।

अपवाद है।[1] कुछ स्थलों पर वशा मारने योग्य (=अनूवध्या) कही गई है : तैसं० २. २. ९. ७; कासं०, १०. १। संभवतः फरड़ा गौएं ही मारी जाती थीं; फलतः यह बाद में फरड़ा (वन्ध्या) गौ का वाचक बन गया।

वषट्—स्वाहा के अर्थ में वषट् शब्द अनेक स्थलों पर आता है, किंतु कहीं-कहीं यह पितरों के संबन्ध में विशेष रूप से आता है : ऋ० १. १४. ८; १०. १२५. ९; वासं०, ११. ३९; अवे०, ७. ९७. ७; ऋ० ७. ९९. ७; अवे०, १. ११. १; ८. १०. २०; शब्रा०, १. ६. १. २५; ४. २. १. २६; शांश्रौसूत्र, १०. २१. २ इत्यादि।

वसति—ऋग्वेद (१. ३१. १५; ५. २. ६) एवं परवर्ती साहित्य (वासं०, १८. १५; तैब्रा०, २. ३. ५. ३; ३. ७. ३. ३ इत्यादि) में यह शब्द 'निवास' या 'गृह' को उद्दिष्ट करता है।

वसतीवरी—सोमयज्ञ के एक दिन पहले नदी से लाकर रात भर रखे रहने के बाद जिस जल का उपयोग यज्ञ में होता था, उस जल को वसतीवरी नाम दिया गया है : ऐब्रा०, २. २०; तैसं०, ६. ४. २. १; शब्रा०, ३. ६. १. २६; ३. ९. २. २, १६; काश्रौसूत्र, ८. ९. ७; ९. ३. १२ इत्यादि।

वसन—ऋग्वेद १. ९५. ७ में एवं अन्यत्र (छाउ०, ८. ८. ५; कौउ०, २. १५; नि० ८. ९) यह वस्त्र का वाचक है।

वसन्त—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में वसन्त ऋतु का उल्लेख आता है। इसे नियमित रूप से प्रथम महीने से मिलाया गया है : १०. ९०. ६; १०. १६१. ४; अवे०, ६. ५५. २; ८. २. २२; १२. १ ३६ इत्यादि। द्र०—ऋतु।

वसावि—ऋग्वेद १०. ७३. ४ में, राथ[2] के अनुसार यह शब्द "कोषागार" का वाचक है।

वसिष्ठ—वैदिक परंपरा में पौरोहित्य की विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति का नाम वसिष्ठ है। ऋग्वेद का सप्तम मण्डल वसिष्ठ-प्रणीत बताया गया है। इसका प्रमाण यह है कि उस मण्डल के सूक्तों में वसिष्ठ (ऋ० ७. ९. ६; ७. १३. ४, २१; ७. २२. ३; ७. २३. १; ७. २६. ५; ७. ३३. ११ एवं अग्रिम; ७. ४२. ६; ७, ५९. ३; ७. ७०. ६; ७. ७३. ३; ७. ८६. ५; ७. ८८. १; ७. ९५. ६; ७. ९६. १; १०. ६५. १५; १०. १५०. ५; १. ११२. ९) या वसिष्ठों का नाम (ऋ० ७. ७. ७; ७. १२. ३; ७. २३. ६; ७. ३३. १ एवं अग्रिम; ७. ३७. ४; ७. ३९. ७; ७. ४०. ७; ७. ७६. ६. ७; ७. ७७. ६; ७. ८०. १; ७. ९०. ७; १०. १५. ८; १०. ६६. १४; १०. १२२. ८) प्रायः आया है। अन्यत्र भी उनका उल्लेख आता है। जैसा कि ओल्डेनबर्ग ने दिखाया है, सर्वत्र एक व्यक्ति का उल्लेख है, यह मानना ठीक नहीं। वसिष्ठ शब्द को अवनिवार्यतः किसी एक व्यक्ति का वाचक नहीं माना जा सकता[1], और यह आवश्यक भी नहीं है कि वसिष्ठ की वास्तविक सत्ता को अस्वीकार कर दिया जाय; क्योंकि ऋ० ७. १८ में वसिष्ठ के प्रणेतृत्व तथा **सुदास्** को दी गई उनकी सहायता का उल्लेख मिलता है[2]।

वसिष्ठ के जीवन की मुख्य विशेषता है उनकी **विश्वामित्र** से शत्रुता। **विश्वामित्र** (द्र०—ऋ०, ३. ३३. ५३)[3] निश्चय ही किसी समय **सुदास्** के पुरोहित थे; किंतु वे उस पद से हट गए थे और **सुदास्** के शत्रुओं के पक्ष में जा मिले थे और **सुदास्** के विरुद्ध भयंकर आक्रमण में उन्होंने साथ दिया था। **सुदास्** की विजय-गाथा वाले सूक्त ऋ० ७. १८ में **विश्वामित्र** द्वारा अपने मित्रों पर लाई गई विपत्ति का उल्लेख आता है[4]। फिर भी ओल्डेनबर्ग[5] का मत है कि वसिष्ठ और **विश्वामित्र** के युद्ध का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है। दूसरी ओर गेल्डनर[6] का यह मत ठीक होना कठिन है कि ऋग्वेद ३. ५३. १५.

[1] तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६५६, ६५८, ब्राह्मण वहाँ 'बच्चे न देने वाली गौ' को अपनी बताते हैं। सूत-वशा (बच्चा देने के बाद वन्ध्या होने वाली गौ) का उल्लेख तैसं०, २. १. ५. ४ में है। तैसं०, २. १. २. २ और तैब्रा०, १. २. ५. २ में अवि के साथ प्रयुक्त सूता का अर्थ मेषिका (भेड़) है।

[2] वोबू०

[1] त्सादामौगे० ४२. २०४ एवं अग्रिम; तु०—७. २३. १ (एकवचन) मन्त्र ६ (बहुवचन) के साथ।

[2] ऋ० ७. ३३. के संबन्ध में ओल्डेनबर्ग एवं गेल्डनर में मतभेद है। द्र०—वैस्तू०, २. १३०; किंतु यह बहुत संदिग्ध है कि क्या यह ७. १८ के समान प्राचीन है या इसमें वसिष्ठ के प्रणेतृत्व का कोई प्रमाण मौजूद है।

[3] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १[2], ३२८ एवं अग्रिम।

[4] हापकिन्स, जअओसो०, १५. २६० अग्रिम।

[5] उपर्युक्त, २०४ टि०—३।

[6] उपर्युक्त, २. १५८ एवं अग्रिम।

१६. २१–२४[1] में वसिष्ठ-पुत्र **शक्ति** से **विश्वामित्र** की शत्रुता का संकुचित विवरण है, जिसके अनुसार **विश्वामित्र** ने विशेष वाक्-शक्ति प्राप्त की थी और उन्होंने **सुदास्** के परिचरों द्वारा **शक्ति** का वध करा दिया था। षड्गुरु-शिष्य[2] ने इस घटना का विस्तृत वर्णन किया है, जो शाट्यायनक[3] में पाई जाती है और जिसकी सूक्ष्म बातें तैत्तिरीय संहिता (७. ४. ७. १)[4] और पञ्चविंश ब्राह्मण (४. ७. ३; ८. २. ३; १९. ३. ८; २१. ११. २.)[5] में मिल जाती हैं, जिनमें वसिष्ठ के पुत्र का **सुदासों** द्वारा वध और उन पर वसिष्ठ की विजय का उल्लेख आया है; किंतु इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इन संदर्भो में **सुदास्** को वसिष्ठ के विरुद्ध कहीं भी नहीं दिखाया गया है; इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४. ९; ८. २१. ११; तु०—शांश्रौसूत्र, १६. ११. १४) में वसिष्ठ **सुदास् पैजवन** के पुरोहित एवं अभिषेककर्ता के रूप में उभरते हैं। यास्क (नि० २. २४; द्र०—शांश्रौसूत्र, २६. १२. १३) ने **विश्वामित्र** को **सुदास्** का पुरोहित कहा है। इससे इस कथन की पुष्टि होती है कि पहले कभी **विश्वामित्र** ने **सुदास्** के पुरोहित-पद को ग्रहण किया था। **सुदास्** के अस्त हो जाने पर संभवतः वे अपनी पूर्वावस्था में आ गये थे। इसके बाद वसिष्ठ पुरोहित हुए, उन्होंने **शक्ति** के वध के प्रतिशोध-स्वरूप **सुदासों** को पराजित कर दिया।[6]

कुछ भी हो, यह मानना आवश्यक नहीं है कि **सुदास्** और **विश्वामित्र** में स्थायी वैर था। इसके साक्ष्य (पंविब्रा०, १५. ४. २४) मिलते हैं कि **भरतों** के पुरोहित वसिष्ठ थे, जब कि कुछ स्थलों (तैसं०, ३. ५. २. १,) का० सं०, ३७) पर उन्हें प्रजा का पुरोहित बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वसिष्ठ इस सिद्धान्त के पुरस्कर्ता थे कि पुरोहित को यज्ञ में ब्रह्मन् ऋत्विज् के रूप में कार्य करना चाहिये[2]। शतपथ ब्राह्मण (१२. ६. १. ४१; तु० ४. ६. ६. ५) का कथन है कि वसिष्ठ लोग ही केवल ऐसे पुरोहित थे, जो ब्रह्मन् का कार्य कर सकते थे; किंतु बाद में कोई भी पुरोहित ऐसा कर सकता था : षविंब्रा०, १. ५।[3] तैत्तिरीय संहिता ३. १. ७. ३ में **जमदग्नि** और **विश्वामित्र** की शत्रुता का वर्णन आता है। **पराशर** और **शतयातु** ऋग्वेद ७. १८. २१ में वसिष्ठ के साथ संबद्ध हैं; गेल्डनर[4] के अनुसार ये क्रमशः उनके पौत्र एवं पुत्र थे। पिशल[5] के अनुसार ऋ० ७. ५५ में वसिष्ठ को अपने पिता **वरुण** का सामान चुराने वाला कहा गया है।[6] गेल्डनर[7] ने भी ऋग्वेद ७. ३३. ११ के आधार पर वसिष्ठ को **वरुण** और अप्सरा **उर्वशी** का पुत्र

---

[1] अन्तिम चार ऋचाएं "वसिष्ठद्वेषिण्यः" हैं, जिसकी व्याख्या अपश्रुति के रूप में निरुक्त के भाष्यकार-दुर्ग ने की है; क्योंकि वे कापिष्ठल वासिष्ठ थे : द्र०—म्यूर, उपर्युक्त १२. ३४४, बृदे०, ४. ११७ एवं अग्रिम; मैकडानल के साथ। ऋचाओं का ठीक अर्थ अनिश्चित है। द्रष्टव्य ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटेन, १. २४५. एवं अग्रिम।

[2] तु० सायण, ऋ० ७. ३२. पर भाष्य, मैकडानल, सर्वानुक्रमणी १०७; वेबर, इस्तू०, ११९।

[3] अनुक्रमणी ७. ३२ पर टि०, जहाँ दोनों ताण्ड्य और शाट्यायनक उदाहृत हैं; म्यूर, उपर्युक्त, १२. ३२८।

[4] तैसं०, ३. १. ७. ३; ५. ४. ११. ३ में भी वसिष्ठ को **विश्वामित्र** का शत्रु कहा है।

[5] कथा : कौब्रा०, ४. ८ और जैब्रा०, १. १५०; ३. २६. ८३, १४९, २०४ में भी है; २. ३९० में इसका निश्चित वर्णन है, जैसा कि शाट्यायनक (टि० १० में) हैं : '**सुदासों** ने **शक्ति** को अग्नि में भस्म कर दिया'।

[6] राथ ने (१२१ एवं अग्रिम) कहा है कि वसिष्ठ **विश्वामित्र** की प्रियता दूर करने में सफल हुए। वेबर ने (इस्तू०, १. १२०, एपिश्शेस ३४) इस पर संदेह किया है। म्यूर ने (उपर्युक्त १२. ३७१-३७५) इसे असाध्य बताया है। राथ और म्यूर दोनों ने **भरतों** को **तृत्सुओं** का शत्रु समझ कर इस प्रश्न को उलझा दिया है। यह संभव नहीं (द्र०—**तृत्सु**); यद्यपि ब्लूमफील्ड का भी यही मत है; ज० अ० ओ० सो०, १६. ४१ ४२।

[1] वेबर, इस्तू० १० ३४।

[2] वसिष्ठ **शुनःशेप** के यज्ञ में ब्रह्मा थे : ऐब्रा०, ७. १६, शांश्रौसूत्र, १५. २१. ४।

[3] वेबर, इस्तू०, १०. ३५।

[4] वैस्तू०, २. १३२।

[5] वैस्तू, २. २५. एवं अग्रिम।

[6] औफ्रेक्त, इस्तू०, ४. ३३७; इन्होंने इसमें किसी प्रेमी का प्रेयसी से मिलन माना है; तु०—लानमान, संस्कृत-रीडर ३७०; बृदे० ६. ११. मैकडानल के नोट के साथ।

[7] वैस्तू०, २, १३८; इसी प्रकार निरुक्त, ५. १३; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[2]. २३१ टि० ९७; बृद० ५. १५०, १५१।

कहा है। संभवतः यह ऋग्वेद ७. ८३. ८ में वसिष्ठों के तृत्सु कहे जाने की व्याख्या करता है; क्योंकि वे एक आश्चर्यजनक माता पिता के पुत्र थे। उन्हें किसी गोत्र को ग्रहण करना था, विशेषतः उस राजा के गोत्र को, जिसकी वे सेवा करते थे, और ऐसा जान पड़ता है कि **अगस्त्य** ने उनका परिचय उसके साथ कराया था।

वैदिक साहित्य में वसिष्ठ-**विश्वामित्र** की शत्रुता के संकेत मिलते हैं: ऋ० १. ११२. ९; ७. ८८. ४; ७. ९६. ३; १०. ९५ १७; १०. १८१. १; कासं०, १६. १०; २०. ९; ३२. २; इस्तू०, ३. ४७८; मै० सं०, १. ४. १२; २. ७. ९; ४. २. ९; तैसं०, ५. २. १०. ५; अवे०, ४. २९. ४; ऐब्रा०, ६. १८. ३; कौब्रा०, २६. १४; २९. २, ३; ३०. ३; जैउब्रा०, ३. ३, १३; ३. १५. २; ३. १८ ६; ऐआ०, २. २. २; बृउ०. २. २. ४ इत्यादि।[1] आर्ष काव्य[2] में में ऋषि वसिष्ठ की **विश्वामित्र** के साथ शत्रुता का वर्णन मिलता है।

वसिष्ठ-शिला यह एक स्थान का नाम है। द्र०—**विपाश्**।

वसु—ऋग्वेद (४. १७. ११, १३; ४. २०. ८; ६. ५५. ३; ८. १३. २२ इत्यादि) में एवं अन्यत्र (अवे०, ७. ११५. २; ९. ४. ३; १०. ८. २०; १४. २. ८ इत्यादि) धन के अर्थ में वसु शब्द आया है।

वसु-क्र—वसु-क्र और उनकी पत्नी दोनों ऋग्वेद १०. २७. २९ के प्रणेता ऋषि हैं। इस प्रणेतृत्व का उल्लेख ऋग्वेद के आरण्यकों में भी पाया जाता है: ऐआ०, १. २. २; शाआ०, १. ३।

वसु-रुचि सौर्यवर्चस्—अथर्ववेद ८. १४. २७ में एक गंधर्व का यह नाम है।

वसु-रोचिस्—ऋग्वेद ८. ३४. १६ में आता है[3]।

वस्ति—अथर्ववेद १. ३. ६ में भाष्यकार के अनुसार धनुषाकार मूत्राशय को वस्ति कहा गया है। तु०—**शरीर**।

वस्तु—ऋग्वेद (१. ७९. ६; १. १०४. १; १.

---

[1] द्र०—वेबर, इस्तू०, १०. ८९. ९२; एपिश्शेस० ३५।

[2] म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[2] ३७५-४१४। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३३ एवं आगे; एपिश्शेस० ३१-३४, इलि० ३१, ३७, ५३, ७९, १२३, १६२; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२, २०४-२०७।

[3] लुडविग, ट्रां० ऋ०, ३. १६२; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद २. १७५, टि०।

१७९. १ इत्यादि, इसी प्रकार वासं०, २८. १२.) में प्रातः के अर्थ में आया है।

वस्त्र—ऋग्वेद (१. २६. १; १. ११४. ४; ३. ३९. २; ५. २९. १५ इत्यादि) में एवं अनन्तर (अवे०, ५. १. ३; ९. ५. २५; १२. ३. २९ इत्यादि) कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। द्र०—**वासस्**।

वस्न—वस्न शब्द ऋग्वेद ४. २४. ९[1] में एवं अवे० १२. २. ३६ (मूल्य)=वासं०, ३. ४९; तैसं०, १. ८. ४. १; कासं०, ९. ५; मैसं० १. १०. २[2] में मूल्य या मूल्य के समकक्ष अन्य वस्तु को जताता है।

वहतु—ऋग्वेद (१. १८४. ३; ४. ५८. ९; १०. १७. १ (=अवे०, ३. ३१. ५) १०. ३२. ३; १०, ८५. १३ एवम् अग्रिम) में एवं अनन्तर (अवे०, १०. १. १; १४. १. ९, १२; ६६, ७३; ऐब्रा०, ४. ७. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण, १. ५. १. २) पत्नी के माता-पिता के घर से पति के घर जाने के समारोह (=बरात) का नाम वहतु है।

वह्नि—वहन करने वाला। यह किसी वहनकर्ता पशु, जैसे अश्व (ऋ० २. २४. १३; २. ३७. ३; ३. ६. २ इत्यादि) अज (ऋ० ६. ५७. ३), या वृषभ (तैब्रा०, १. ८. २. ५ इत्यादि) आदि को सूचित करता है।

वह्य—ऋग्वेद ७. ५५. ८ एवं अथर्ववेद ४. ५. ३, ४. ३; १४. २. ३० में स्त्रियों के बैठने की पीढ़ी के लिये आया है: १४. २. ३०। तु०—त्सिमर, आले०, १५४।

वाकोवाक्य—वार्तालाप। यह शब्द ब्राह्मणों (शब्रा., ४. ६. ९. २०; ११. ५. ६ ८; ११. ५. ७. ५; छाउ०, ७. १. २. ४; ७. २. २. २; ७. १. ७. १) में आम है। यह वेद के कुछ भागों को उद्दिष्ट करता है। शब्रा०, ४. ६. ९. २० में **ब्रह्मोद्य** को वार्तालाप कहा गया है। संभवतः सभी स्थानों पर **ब्रह्मोद्य** का यही अर्थ रहा हो। गेल्डनर[3] का मत भिन्न है; वे वाकोवाक्य में **इतिहास-**

---

[1] जहाँ "भूयसा वस्नमचरत्कनीयः" का अर्थ होगा "अधिक मूल्य देकर कम मूल्य की चीज प्राप्त की"। ठीक अर्थ के लिए द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटन, १. ४१९. ४२०।

[2] मैसं०, १. १०. २ का भाव है हम अपने पेय का विनिमय कर लें, पण्य की भांति। तु०—वास्निका (=मूल्य के योग्य), पंविब्रा०, १४. ३. १३। तु०—त्सिमर, आले०, २४७; श्राडर, प्रि० हिस्टो० ऐण्टिक्विटीज़ ३८२।

[3] काठक संहिता, १४. ५. में भिन्न कथन है; वैसे ही मैसं०, १. ११. ५, में। ओल्डेनबर्ग इस पुरा-कथा

पुराण का आवश्यक अंश पाते हैं, अर्थात् विवरणात्मक भाग के विपर्यासरूप वार्तालापात्मक या नाट्यात्मक तत्त्व। १—तु०—वैस्टू०, १. २९१; तु०—वेबर, इस्टू०, १. २६७; एर्गालिंग, सेबुई०, ४४. ९८ टि०—३; यह निश्चित है कि 'तर्क' अर्थ नहीं है, यद्यपि मैक्स मूलर ने छाउ० के अनुवाद में यही अर्थ लिया है।

वाच्—वाणी। वैदिक विचार-धारा में वाणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु पुराकल्पनात्मक विवरणों के अतिरिक्त इस विषय में उल्लेख अल्प हैं। शतपथ ब्राह्मण ४. १. ३. ९६ में वाणी को चार भेदों में विभक्त किया गया है—**मनुष्यों** की वाणी, **पशुओं** की वाणी, **पक्षियों** की वाणी (वयांसि) और क्षुद्र **सरीसृपों** की वाणी। तैसं०, ६. ४. ७. ३, मैसं०, ४. ५. ८ में वाणी का उच्चारण **इन्द्र** द्वारा कहा गया है। **तूणव**, **वीणा** और **दुन्दुभि** (पंविब्रा०, ६. ५. १०. १३, तैसं०, ६. १. ४. १. मैसं०, ३. ६. ८; कासं०, २३. ४) की वाणी का उल्लेख आता है; एक स्थल (पञ्चविंश ब्राह्मण, उक्तस्थल) पर रथाक्ष की ध्वनि का भी उल्लेख आता है। **कुरु-पञ्चालों** की वाणी खास तौर से प्रसिद्ध थी : शब्रा०, ३. २. ३. १५।[१] कौषीतकि ब्राह्मण ७. ६. के अनुसार वैसी ही देश के उत्तरी भागों की भी थी; अतः लोग वहाँ अध्ययनार्थ जाते थे। इसके अतिरिक्त वाणी की म्लेच्छता ज्ञात थी और उससे बचने के निर्देश भी आये हैं : शब्रा०, ३. २. १. २३. २४।[१]

वाणी का एक भेद **दैवी** और **मानुषी** के रूप में है, जिसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं; जैसे 'तथा' के स्थान में दैवी वाणी में 'उ'; द्र०—कासं०, १४. ५; मैसं०, १. ११. ५में "यश्च वेद यश्च न" प्रयुक्त है, दैवी मानुषी के स्थान पर। संभवतः 'वेदो' पढ़ा जाना चाहिए; शब्रा०, ६. २. १. ३४; ऐब्रा०, ७. १८. १३; ऐआ० १. ३. १; नि० १३. ९ में एक ब्राह्मण-वाक्य। ब्राह्मण को दोनों का ज्ञाता कहा गया है : कासं०, उपर्युक्त; मैसं०, उपर्युक्त इत्यादि। सायण[२] के अनुसार यह भेद संस्कृत और अपभ्रंश के बीच न होकर वैदिक एवं याज्ञिक वाणी तथा साधारण जीवन की भाषा के बीच है।

आर्य-वाणी (ऐआ०, ३. २. ५; शांआ०, ८. ९) और **ब्राह्मण-वाणी** (ऐआ० १. ५. २) का भी उल्लेख आता है, जिससे संस्कृत-भाषा अनार्य-भाषाओं के विपर्यास में दीख पड़ती है। व्रात्यों के दीक्षित वाच् बोलने का उल्लेख आता है, यद्यपि वे दीक्षित नहीं थे। उनकी वाणी को उच्चारण में सरल (अदुरुक्त) एवं उच्चारण में कठिन भी बताया गया है : पंविब्रा०, १७. १. ९। इसका यह अर्थ हो सकता है कि अब्राह्मण जातियां प्राकृत भाषा की ओर अधिक तेजी से बढ़ रही थीं; विशेषतः उस समय जबकि हम शतपथ ब्राह्मण के अनुसार व्रात्यों का कर्कशवाक् जातियों से संबन्ध मान लें।

ग्रियर्सन[३] ने पैशाची भाषा के वर्णन के प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण के आसुरी भाषा के उदाहरण (हे ऽरयः के स्थान में 'हे ऽलवः') को पैशाची का लक्षण माना है, जो मागधी में भी संभव है; क्योंकि इसमें **र** के स्थान पर **ल** तथा **य** के स्थान में **व** पाया जाता है। कोनो[४] के अनुसार पैशाची भाषा विन्ध्य-प्रदेश में बोली जाती थी; किंतु इस पैशाची को अभिप्रेत मानने पर विशेष बल नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रसक्त पाठ एवं भाव दोनों ही अनिश्चित हैं। "हे ऽलवो" या "हे अलवः" शुद्ध प्राकृत नहीं माना जा सकता। यह भी ध्यान देने की बात है कि शतपथ ब्राह्मण १३. ८. १. ५ में असुरों को पूर्व के लोगों

का उद्गम ऋ०, ८, १०० में पाते हैं। किंतु द्र०—फान श्रोडर, मिस्टीरियम उण्ड मिमस, ३३९ एवं कीथ, ज. रा. ए. सो., १९११, ९३ एवं अग्रिम।

[१] दुरूह वाक्यांश से कुछ संदेह उत्पन्न होता है 'उत्तराहि वाग् वदति कुरुपञ्चालत्रा।' इसका अर्थ प्रतीत होता है : '**कुरुपञ्चालों** में उत्तर की वाणी।' इसका समर्थन काण्वशाखा में मिलता है, जिसका उद्धरण एर्गालिंग ने सेबुई० १२. ४२ टि० १ में दिया है। वह पाठ केवल दुरूह ही नही है, अपितु वह **कुरुओं** को उत्तरी **महावृषों** से जोड़ता भी है; अतः हमें पढ़ना चाहिये 'महावृषेषु; और यह विश्वसनीय नहीं है। एर्गालिंग द्वारा उत्तराहि का अर्थ 'स्वर में उच्च' लेना उचित नहीं है। वेबर का सुझाव अधिक संभव है : इस्टू०, १. १९९. इन्होंने कुरुपञ्चालत्रा का अर्थ किया है, '**कुरुपञ्चालों** में; यह अर्थ ठीक है, विशेषतः तब जब कि उत्तरी लोग कश्मीर में **उत्तरकुरु** के रूप में थे, जो संस्कृत का एक आकर था। तु०—फ्रांके, पाली उण्ड संस्कृत, ८९

[१] जहाँ असुरों का वर्णन है, 'हेऽलवः' संभवतः हेऽरयः के स्थान पर। किंतु काण्व-शाखीय पाठ भिन्न है। द्र०—एर्गालिंग, सेबुई० २६. ३१ टि० ३।

[२] द्र०—एर्गालिंग, सेबुई० ४१. २०० टि०।

[३] त्सादामौगे०, ६६-६६ टि० १.

[४] त्सादामौगे०, ६४. १०४ एवं अग्रिम।

से संबद्ध दिखाया गया है; इससे डा० ग्रियर्सन के सिद्धान्त का खण्डन होता है; तु०—शब्रा०, ३. २. १. २३, जहां इस खण्ड के मान्य लेखक याज्ञवल्क्य पूर्व के ही हैं। यदि **शाण्डिल्य** के भाग में ऐसा कोई उल्लेख होता तो उससे ग्रियर्सन के सिद्धान्त का समर्थन हो सकता था। तु०—लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रिफीस, ३४, ३५; वेबर, १७५–१८०; कीथ, ऐआ०, १७९, १८०, १९६।

वाचक्नवी—वचक्नु की वंशजा। यह एक स्त्री का पैतृक नाम है, जिसका एक पैतृक नाम **गार्गी** भी है, और जो बृहदारण्यक उपनिषद् (ऋ० ३. ६. १; ३. ८. १ तु०—आगृसू०, ३. ४. ४; शांगृसू०, ४. १०; अवे० परिशिष्ट ४३. ४. २३) में ब्रह्म-विद्या की एक छात्रा के रूप में उल्लिखित है।

वाज—शक्ति और गति अर्थ से घोड़ों की रेस: (ऋ० २. २३. १३; ३. ११. ९; ३. ३७. ६; ३. ४२. ६; ५. ३५. १; ८६. २ इत्यादि), पुरस्कार: ऋ० १. ६४. १३; २. २६. ३; २. ३१. ७; ३. २. ३; ८. १०३. ५ इत्यादि; या केवल समृद्धि: ऋ० १. २७. ५; १. ९२. ७; ६. ४५. २१, २३ इत्यादि; अवे०, १३. १. २२; पंविब्रा०, १८. ७. १. १२ है। इसका अश्व अर्थ नहीं है, क्योंकि वह अर्थ तो **वाजिन्**[1] का है।

वाज-पेय—यह एक ऐसा समारोह है, जिसे शतपथ ब्राह्मण ५. १. ५. २, ३ एवं परवर्ती साक्ष्य[2] के अनुसार केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही कर सकता था। उसी ब्राह्मण (५. १. १. १३; कात्यौसूत्र, १५. १. १. २) में इसे राजसूय से श्रेष्ठ यज्ञ बताया गया है; किंतु दूसरे ग्रन्थों (तैसं०, ५. ६. २. १; तैब्रा०, १. ७. ६. १; आश्रौसूत्र, ९. ९. १९; लाश्रौसूत्र, ८. ११. १ इत्यादि) में ब्राह्मण के प्रसङ्ग में इसे **बृहस्पति-सव** का प्रारम्भिक यज्ञ तथा राजा के प्रसङ्ग में **राज-सूय** का प्रारम्भिक यज्ञ कहा गया है, जब कि शतपथ ब्राह्मण ५. २. १. २; (तु० कात्यौसूत्र, १४. १. २) में बृहस्पति-सव से वाजपेय का अभेद बताया गया है। इस यज्ञ में आवश्यक है एक रथ की दौड़, जिसमें यज्ञकर्ता विजयी होता है। शांखायन श्रौतसूत्र १५. १[3] में आता है कि किसी समय कोई भी आर्य इसे कर सकता था। हिल्लेब्रांड्ट[4] इसकी ओलिम्पिक खेलों से तुलना करते हैं, किंतु इसके लिए पर्याप्त आधार नहीं है। यह यज्ञ रथ की दौड़ की एक प्राचीन प्रथा पर आधृत था, जो एक उत्सव के रूप में बदल गई थी, जिसमें सहानुभूति-पूर्ण यातु के आधार पर यज्ञकर्ता को विजयी बना दिया जाता था। वस्तुतः[1] एगलिंग का यह विचार ठीक है कि वाज-पेय एक प्रारम्भिक यज्ञ था, जिसे ब्राह्मण पुरोहित होने के पहले करता था और क्षत्रिय अभिषेक से पहले करता था। कुरु-वाजपेय विशेषतः प्रसिद्ध था: शांखायन श्रौतसूत्र, १५. ३. १४ एवं अग्रिम; आश्रौसूत्र, १८. ३. ७।

वाज-बन्धु—ऋग्वेद ८. ६८. १९ में यह व्यक्ति-वाचक नाम हो सकता है। साथ ही यह 'संघर्ष में मित्र' के अर्थ में एक विशेषण भी हो सकता है।

वाज-रत्नायन—वाजरत्न का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. ५ में यह **'सोम-शुष्मन्'** का पैतृक नाम है।

वाज-श्रवस् बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३२ मा०=६. ५. ३ का० की अन्तिम वंश-सूची में **जिह्वावन्त् बाध्योग** के शिष्य का नाम वाजश्रवस् है।

वाजश्रवस—वाजश्रवस् का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ५. ५. १ में **कुश्रि** का यह पैतृक नाम है। यह **नचिकेतस्** के पिता का भी पैतृक नाम है, जिसका उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ११. ८, १ (तु० काउ०, १. १[2]) में में आया है, जहां नाम स्पष्टतः **उशन्त्** है, जिसे सायण ने 'चाहने वाला' इस अर्थ में लिया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाजश्रवसों को ऋषि बताया गया है: १. ३. १०. ३। वे **गोतम** (तु० तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३. ११. ८) थे।

वाजसनेय—बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३. १५; ६. ४. ३३ मा० ६. ३. ७, ६. ५. ३ का० और जैमिनीय ब्राह्मण २. ७६[3] में **याज्ञवल्क्य** का पैतृक नाम वाजसनेय है। सूत्रों (अनुपद सूत्र, ७. १२; १) में उनकी शाखा के वाजसनेयियों का उल्लेख है। तु०—वेबर, इस्टू०, १. ४४., ५३, ८३, २८३; २. ९; ४. १४०, २५७, ३०९; १०. ३७, ७६, ३९३ इत्यादि।

वाजिन्—ऋग्वेद (२. ५. १; २. १०. १; २. ३४. ७; ३. ५३. २३; ६. ७५. ६; १०. १०३. १० इत्यादि) के कुछ स्थलों पर इसका अर्थ अश्व है, जो उसकी गति और शक्ति का सूचक है। ऋ० १०. ५६. २ में,

---

[1] द्र०—पिशल, वैस्टू०, १. १० एवं अग्रिम; जहाँ उन्होंने वोबू० से भिन्न अर्थ दिये हैं।

[2] द्र०—वेबर, ऊबर देन राजसूय; हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरात्यूर १४७ एवं अग्रिम।

[3] द्र०—वेबर, उपर्युक्त, ४१ एवं अग्रिम।

[4] वैमि०, १. २४७।

[1] सेबुई०, ४१. २४. २५।

[2] विभिन्न नामों के साथ के लिये द्र० वेबर, इंलिरात्यूर, १५७ टि०।

[3] ज० अ० ओ० सो०, १५. २३८।

संभवतः जैसा कि लुड्विग[1] का विचार है, यह बृहदुक्थ के पुत्र का नाम हो।

तु० 'यत् सद्यो वाजान्त्समजयत्' तस्माद् वाजी नाम' तैब्रा० ३. ९. २१. २; 'वाजिनो ह्यश्वाः' शब्रा० ५. १. ४. १५; 'अग्निर्वायुः सूर्यः। ते वै वाजिनः' तैब्रा. १. ६. ३. ९; 'इन्द्रो वै वाजी' ऐब्रा० ३. १; 'पशवो वै वाजिनः' गोब्रा० २. १. २०; 'ऋतवो वै वाजिनः' कौब्रा. ५. २; 'छन्दांसि वै वाजिनः' गोब्रा. २. १. २०; 'उक्थ्या वाजिनः' गोब्रा० २. १. २२।

वाजिन—तैसं०, १. ६. ३. १०; वासं०, १९. २१. २३ और शब्रा०, २. ४. ४. २१; ३. ३. ३. २; ९. ५. १. ५७ इत्यादि में ताजे गर्म दूध के जामन वाले दूध में मिश्रण को वाजिन कहा गया है।

तु० 'इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम्' ऐब्रा० १. १३ 'योषा पयस्या रेतो वाजिनम्' शब्रा० २. ४. २१; 'रेतो वाजिनम्' तैब्रा० १. ६. ३. १०; 'पशवो वै वाजिनम्' तैब्रा० १. ६. ३. १०।

तु०—एगलिंग, सेबुई० १२. २८१. टि० २; गार्बे ने आपश्रौतसूत्र, ३.४४५ में इसे मस्तु या दधिमण्ड (whey) कहा है।

वाज्य—वाज का वंशज। वंश ब्राह्मण[2] में यह केतु का पैतृक नाम है।

वाडेयी-पुत्र—द्र०—बाडेयी-पुत्र।

वाण—ऋग्वेद १. ८५. १०; ८. २० ८; ९. ९७. ८; १०. ३२. ४[3] और अथर्ववेद १०. २. १७ में यह शब्द, वोबू० के अनुसार, वाद्य-संगीत को जताता है। परंतु परवर्ती संहिताओं (तैसं०, ७. ५. ९. २; कासं०, ३४. ५) और ब्राह्मणों (पंविब्रा०, ५. ६. १२; १४. ७.८; ऐआ०, ५. १. ४ इत्यादि) में इसका अर्थ शत-तन्तु वीणा है, जो महाव्रत यज्ञ के अवसर पर काम आती थी। ऋग्वेद १०. ३२. ४ में स्पष्टतः वाद्य-यन्त्र की सप्त ध्वनियों का संकेत है, जिन्हें अन्यत्र (१. १६४. २४. ३. १. ६; ३. ७. १; ९. १०३. ३ इत्यादि) सप्त वाणी बताया गया है, यदि सप्त वाणी का अर्थ सप्त स्वर न हो तो।[4] त्सिमर, (आले०, २८९) का विचार है कि ऋ० १. ८५. १० में इसका अर्थ वेणु या वंशी है, किंतु यह आवश्यक नहीं है। मैक्स मूलर ने (सेबुई० ३२. १३८) इसका अर्थ 'वाणी' किया है: ऋ० १. ८५. १०; ९. ९७. ८ किंतु ऋ० ८. २०. ८; ९. ५०. १ में 'बाण' अर्थ दिया है।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १३३। [2] इस्टू०, ४. ३७२. ३८३।
[3] तु०—हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, १७. ६७।
[4] मैकडानल, वैदिक ग्रामर, ६४।

वाणिज—यह शब्द पेशे के रूप में व्यापारी को जताता है=वणिज् का पुत्र। यह शब्द वासं०, ३०. १७; तैब्रा०, ३. ४. १४. १ में पुरुषमेध की बलियों में आया है।

वाणी—द्र०—वाण।

वाणीची—ऋग्वेद ५. ७५. ४ में यह शब्द आया है। वोबू० के अनुसार इसका अर्थ वाद्य-यन्त्र है।

वात—ऋग्वेद (१. २८. ६; २. १. ६; २. ३८. ३; ३. १४. ३ इत्यादि) में एवं तदनन्तर (अवे०, ४. ५. २; ५. ५. ७; १२. १. ५१ इत्यादि) वायु के लिए वात शब्द नियमित रूप से आया है। पांच वात कहे गए हैं: तैसं०, १. ६. १. २; कासं०, ३२. ६। ऋ० ५. ५३. ८ में त्सिमर[1] ने उत्तर-पूर्वी मानसून का संकेत पाया है। तु० 'वातो हि वायुः' शब्रा०, ८. ७. ३. १२; 'यो वै प्राणः स वातः' शब्रा०, ५. २. ४. ९; 'न वै वातात् किंचना शीयोऽस्ति न मनसः किं चनाशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति' शब्रा०, ५. १. ४. ८; वातो वै यज्ञः' शब्रा० ३. १. ३. २६; 'वाग् वातस्य पत्नी' गोब्रा०, २. २. ९; तु०—सलिल-वात।

वात-पान—वायु-रक्षक। तैसं० ६. १. १. ३ में यह शरीर को हवा से बचाने वाले परिधान के अर्थ में आया है।

वात-रशन—वायु-वेष्टित। यह शब्द ऋग्वेद १०. १३६. २ में मुनियों के लिए और तैत्तिरीय आरण्यक १. २३.२; १. २४. ४; २. ७. १[2] में ऋषियों के लिए आया है। नग्न साधु अभिप्रेत होते हैं, जिनका उल्लेख परवर्ती साहित्य में बहुधा मिलता है।

वातापि—इन्द्र उ वै वातापिः स हि वातमाप्त्वा शरीराण्यर्हन् प्रतिप्रैति' कौब्रा०, २७. ४

वातवत—वातवन्त् का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण २५. ९ में यह वृष-शुष्म का पैतृक नाम है। कौषीतकि ब्राह्मण २. ९ में भी वही रूप है, पाठान्तर वाधावत के साथ; तु०—इस्टू०, ४. ३७३।

वातवन्त्—पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ३. ६ में किसी ऋषि का नाम वातवन्त् है। इस ऋषि ने और दृति ने कोई सत्र किया था। उसे निषिद्ध समय में समाप्त करने पर इन्हें दुःख उठाना पड़ा था और इसके वंशज वातवत दालेयों से कम समृद्ध हुए थे।

[1] आले०, ४५; इन्होंने ऋ०, १०. १३७. २ की भी तुलना की है, जिसमें दो वातों का उल्लेख आता है।
[2] वेबर, (इस्टू०, १. ७८ में) ने इसे व्यक्तिवाचक माना है।

वात्स-प्र—साम-विशेष। 'वत्सप्रीर्भालन्दनः श्रद्धां नाविन्दत स तपोऽतप्यत स एतद् वात्सप्रमपश्यत् स श्रद्धामविन्दत श्रद्धां विन्दामहा इति वै सत्रमासते विन्दते श्रद्धाम्' तांब्रा० १२. ११. २५; 'रात्रिर्वात्सप्रम्' शब्रा० ६. ७. ४. १२; 'अहोरात्रे वात्सप्रम्' शब्रा० ६. ७. ४. १०; 'स हैष दाक्षायणहस्तः। यद्वात्सप्रं तस्माद् यं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्तदस्मै जातायायुष्यं करोति' शब्रा० ६. ७. ४. २. 'प्रतिष्ठा वै वात्सप्रम्' शब्रा० ६. ७. ४. १५।

वात्सि—वत्स का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ६. २४ १६ में **सर्प** का यह पैतृक नाम है।

वात्सी-पुत्र—वत्स-वंशजा का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् की अन्तिम वंश-सूची में यह एक आचार्य का नाम है। काण्व शाखा ६. ५. २ के अनुसार ये **पाराशरी-पुत्र** के शिष्य और माध्यंदिन शाखा ६. ४. ३१ के अनुसार **भारद्वाजी-पुत्र** के शिष्य थे।

वात्सी माण्डवी-पुत्र—माध्यंदिन-शाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३० की अन्तिम वंश-सूची में **पाराशरी-पुत्र** के शिष्य किसी आचार्य का यह नाम है।

वात्स्य—वत्स का वंशज। यह एक या कई गुरुओं का नाम है। एक का उल्लेख शांखायन आरण्यक ८. ३ में आता है, जब कि उसके समानान्तर स्थल ऐतरेय आरण्यक ३. २. ३ में **बाध्व** नाम है। अन्यों का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् की वंश-सूचियों में **कुश्रि** (६. ५. ४ काण्व) **शाण्डिल्य**(२. ५. २२; ४. ५. २८ मा०=२. ६. ३ का०, शब्रा०, १०. ६. ५. ९) या दूसरे वात्स्य (२. ५. २०; ४. ५. २६ का०) के शिष्यों के रूप में आया है; एक बार शतपथ ब्राह्मण ९. ५. १. ६२ में भी इस नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है।

वात्स्यायन—वात्स्य का वंशज। तैत्तिरीय आरण्यक १. ७. २ में यह एक आचार्य का नाम है।

वादन—ऐआ०, ३. २. ५; शांआ०, ८. ९; शांश्रौतसूत्र, १७. ३. १४ इत्यादि में यह वीणा के कोण के लिये आया है।

वादित—यह संगीत को जताता है; समास में "गीत-वादित" छान्दोग्य उपनिषद् ८. २. ८ में आया है और बिना समास के वादित कौषीतकि ब्राह्मण २९. ५ में नृत्य और गीत शब्दों के साथ प्रयुक्त हुआ है। द्र०—**शिल्प**।

बाधावत—कौषीतकि ब्राह्मण २. ९ में यह "**वात-वत**" का पाठान्तर है। तु०—वेबर, इस्टू०, १. २१५ टि०; २. ३६३ टि०।

वाधूय—वाधूय उस परिधान का नाम है जिसे वधू विवाह के समय पहनती थी और जिसे बाद में किसी ब्राह्मण को दे दिया जाता था: ऋ० १०. ८५. ३४; अवे०, १४. २. ४१; तु०—कौसूत्र, ७९. २१; आगृसूत्र, १. ८. १२ इत्यादि।

वाध्र्यश्व—वध्र्यश्व से संबद्ध। ऋग्वेद १०. ६९. ५ में यह अग्नि का विशेषण है।

वानप्रस्थ—द्र०—**आश्रम**।

वानस्पत्य—पुंलिङ्ग में अथर्ववेद (८. ८. १४; ११. ९. २४; तु०—१२. १. २७) के एक या दो स्थलों पर यह छोटे वृक्ष के लिए आया प्रतीत होता है। अन्यत्र (शब्रा०, ११. १. ७. २; ११. ३. १. ३; ऐब्रा०, ८. १६. १) नपुंसकलिङ्ग में यह वनस्पति या वृक्ष के फल को जताता है।

वान्या—द्र०—**निवान्य-वत्सा**।

वाम-कक्षायण—शतपथ ब्राह्मण में एक गुरु का नाम है, जो **वात्स्य** (१०. ६. ५. ९; तु० ७. २. १. ११) या **शाण्डिल्य** (बृउ०, ६. ५. ४ काण्व) के शिष्य बताये गये हैं; तु० शब्रा०, १०. ४. १. ११।

वाम-देव—परंपरा के अनुसार ये ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ऋषि हैं: ऐआ०, २. २. १ इत्यादि। एक बार उस मण्डल में इनका नाम भी आया है: ४. १६. १८। याजुष संहिताओं (कासं०, १०. ५; मैसं०, २. १. ११; ३. २. ६) के अनुसार ये उस मण्डल के चतुर्थ सूक्त के द्रष्टा हैं। वहाँ वे **गोतम** के पुत्र प्रतीत होते हैं, जब कि ऋग्वेद ४. ४. ११ में **गोतम** को इस ऋषि का पिता बताया गया है। ऋग्वेद ४. ३२. ९, १२ में **गोतमों** को **इन्द्र** की स्तुति करने वाले के रूप में चित्रित किया गया है। बृहद्देवता में वामदेव के संबन्ध में दो अभद्र विवरण आये हैं: एक में कहा गया है कि वामदेव के कुत्ते की अंतड़ियाँ पकाने पर स्वतः **इन्द्र** श्येन के रूप में उनके सामने प्रकट हो गये थे। दूसरे में कहा गया है कि वे संघर्ष में **इन्द्र** को जीत कर उसे ऋषियों में बेच देते हैं: ४. १२६. १३१ एवं अग्रिम; मैकडानल के नोट के साथ। ग्रीग[1] ने इन कथानकों को ऋग्वेद (४. २७ और ४. २४ क्रमशः)[2] में ढूंढने की चेष्टा की है। साथ ही देखिये अथर्ववेद १८. ३. १५, १६ को और ऐब्रा०, ४. ३०. २; ६. १८. १, २; ऐआ०, २. ५. १=ऐउ०, २. ५. को, जहां वामदेव के

[1] दीजाऋ० ७६ एवं अग्रिम।

[2] प्रथम सूक्त पर देखिये ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. २९१ एवं अग्रिम; दूसरे पर वही, ४१९ एवं अग्रिम।

जन्म के पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेने का उल्लेख आता है। बृउ०, १. ४. २२ मा०=१. ४. १०; पंविंब्रा०, १३. ९. २७ में भी वामदेव का उल्लेख आता है।

तु०—लुडविग, ट्रांस०आफ दि ऋ०, ३. १२३. १२४; वेबर, प्रोसी०, आफ दि बर्लिन एकेडमी, १८९४, ७८९ एवं अग्रिम। ओल्डेनबर्ग, त्साइतश्रिफ्त० ४२. २१५।

वामदेव्य, वाम्नेय—'तौ (मित्रावरुणौ) अब्रूतां वामं मर्या इदं देवेष्वाजनीति तस्माद् वामदेव्यम्' तांब्रा० ७. ८. १; 'पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि' तांब्रा० ७. ९. १. 'वामदेव्यं वै साम्नां सत्' तांब्रा० ४. ८. १०; 'वामदेव्यमात्मा (महाव्रतस्य)' तांब्रा० १६. ११. ११; 'शान्तिर्वै वामदेव्यम्' तैब्रा० ११. ८. २; 'सर्वदेवत्यं वै वामदेव्यम्' तांब्रा० ७. ८. २; 'प्राजापत्यं वै वामदेव्यम्' तांब्रा० ४. ८. १५; 'प्रजननं वै वामदेव्यम्' शब्रा० ५. १. ३. १२; 'वामदेव्यं मैत्रावरुणसाम भवति' शब्रा० १३. ३. ३. ४; 'प्राणो वै वामदेव्यम्' शब्रा० ९. १. २. ३८; 'पशवो वै वामदेव्यम्' तांब्रा० ४. ८. १५. 'इदं वा वामदेव्यं यजमानलोकोऽमृतलोकः स्वर्गो लोकः' ऐब्रा० ३. ४६; 'अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम्' तैब्रा० १. १. ८. २। द्र०—**बृहदुक्थ**।

वामन—'वामनो हि विष्णुरास' शब्रा० १. २. ५. ५; 'वैष्णवो वामनः (पशुः) शब्रा० १३. २. २. ९; 'वैष्णवं वामनम् (पशुम्) आलभन्ते' तैब्रा० १. २. ५. १

वाम्र—साम-विशेष। (वाम्रं) सामार्षेयेण प्रशस्तं यं वै गां यमश्वं यं पुरुषं प्रशंसन्ति वाम इति तं प्रशंसन्ति' तांब्रा० १३. ३. १९.

वाय—द्र०—**ओतु**।

वायत—वयन्त् का वंशज। यह **पाशद्युम्न** का पैतृक नाम ऋग्वेद ७. ३३. २ में आया है। तु०—**व्यन्त्**।

वायस—ऋग्वेद १. १६४. ३२ में एवं नि० ४. १७ के एक वैदिक उद्धरण में (ऋ० ५. ५१ के बाद के एक खिल में) यह किसी बड़े पक्षी के लिये आया है। काक[१] के अर्थ में प्रयोग षड्विंश ब्राह्मण ६. ८ में मिलता है।

वायु—सामान्य हवा एवं एक देवता के रूप में वायु का अनेकशः उल्लेख मिलता है : ऋ० १. २. ४, ५, ६; ७. ६४. ५; ४. २१. ४; ५, ४१. ६; ४. ३६. ३; निघण्टु, ५. ४; निरुक्त, १०. १ इत्यादि। **ब्राह्मणों में वायु** अयं वै वायुर्योऽयं पवते' शब्रा० २. ६. ३. ७; 'अयं वै वायुर्योऽयं पवत एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किं च विविच्यते' शब्रा० १. १. ४. २२; 'वायुरनुवत्सरः' तांब्रा० १७. ३. १७; 'वायुर्वै देवः' जैउब्रा० ३. ४. ८; 'अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायुः) पवते' ऐब्रा० ८. २८; 'अयं वै बृहस्पतिः योऽयं (वायुः) यद् पश्चाद् वाति। पवमान एव भूत्वा पश्चाद् वाति' तैब्रा० २. ३. ९. ६; 'वायुर्ह्येव प्रजापतिस्तदुक्तमृषिणा पवमानः प्रजापतिरिति' ऐब्रा० ४. २६; 'स एष वायुः प्रजापतिरस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तः' शब्रा० ८. ३. ४. १५; 'एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः' कौब्रा० १९. २; अर्धं ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापतिः' शब्रा० ६. २. २. ११; 'अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते' शब्रा० ६. ५. ४. १४; 'अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते' शब्रा० ६. ५. ४. १४; 'वायुर्वै यन्ता। वायुना हीदं यतमन्तरिक्षं न समृच्छति' ऐब्रा० २. ४१; 'यद् दक्षिणतो वाति। मातरिश्वैव भूत्वा दक्षिणतो वाति' तैब्रा० २. ३. ९. ५; 'वायुर्वै जातवेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किं च' ऐब्रा० २. ३४; 'वायुर्वा अग्नेः स्वो महिमा' कौब्रा० ३. ३; 'तेजो वै वायुः' तैब्रा० ३. २. ९. १; 'अयं वै पूषा योऽयं पवते एष हीदं सर्वं पुष्यति' शब्रा० १४. २. १. ९; 'यो वा अयं पवत एष द्युतानो मारुतः' शब्रा० ३. ६. १. १६; 'यो वा अयं पवत एष तनूनपाच्छाक्वरः सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ' शब्रा० ३. ४. २. ५; 'वायुर्वै तार्क्ष्यः' कौब्रा० ३०. ५; 'अयं वै तार्क्ष्यो योऽयं पवते एष सर्वस्य लोकस्याभि वोढा' ऐब्रा० ४. २०; 'वायुर्वा आशुस्त्रिवृत् स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते' शब्रा० ८. ४. १. ९; 'वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः' तैब्रा० ३. ८. ७. १; 'वायुर्वै देवानामाशिष्ठः' शब्रा० १३. १. २. ७; 'वायुः सप्तिः' तैब्रा० १. ३. ६. ४; 'अयं वै सरिरः योऽयं पवते। एतस्माद् वै सरिरात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सहेरते' शब्रा० १४. २. २. ३; 'अयं वै समुद्रः योऽयं पवत एतस्माद् वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति' शब्रा० १४. २. २. २; 'स एवायं पवत एष एव स समुद्र एतं हि संद्रवन्तं सर्वाणि भूतान्यनुसंद्रवन्ति' जैउब्रा० १. २५. ४; 'अयं वै साधुः योऽयं पवत एष हीमान् लोकान्त् सिद्धोऽनुपवते' शब्रा० १४. १. २. २३; 'वायुरेव सविता' गोब्रा० १. १. ३३; 'अयं वै सविता योऽयं पवते' शब्रा० १४. २. २. ९; 'तस्मादुत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत् पवते' ऐब्रा० १. ७; 'वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत्' शब्रा० ६. ७. ३. ११; 'योऽयं वायुः पवत एष सोमः' शब्रा० ७. ३. १. १; 'अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदं सर्वं करोति' शब्रा० ८. १. १. ७; 'एष वै पृथग्वर्मा वैश्वानरः' शब्रा० १०. ६. १. ७; 'वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिः (इष्टका)' शब्रा० ८. ३. २. १; 'वायुरेव साम' जैउब्रा० ३. १. १२; 'अयमेव स्तुवो योऽयं पवते' शब्रा० १. ३. २. ५; 'वायुर्वै स्तोता' तैब्रा० ३. ९. ४.४; 'वायुरेकपात् तस्याकाशं पादः' गोब्रा० १. २. ८; 'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः' गोब्रा० १. २. ८;

'प्राणा उ वायुः' शब्रा० ८. ४. १. ८; 'प्राणो वै वायव्या (ऋक्)' कौब्रा० १६. ३. ४; 'वायुर्मे प्राणे श्रितः' तैब्रा० ३. १०. ८. ४; 'स यत् पुरस्ताद् वाति। प्राण एव भूत्वा पुरस्ताद् वाति। तस्मात् पुरस्ताद् वान्तं सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्दन्ति' तैब्रा० २. ३. ९. ४-५; 'वायुर्वै प्रणीर्यज्ञानां यदा हि प्राणित्यथ यज्ञोऽथाग्निहोत्रम्' ऐब्रा० २. ३४; 'वायुप्रणेत्रा वै पशवः' शब्रा० ४. ४. १. १५; 'वायुर्वा उग्रः' शब्रा० ६. १. ३. १३; 'वायुर्वाव पुरोहितः' ऐब्रा० ८. २७; 'वायुरेव महः' गोब्रा० १. ५. १५; 'मनो वा वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ' शब्रा० ८. १. १. ७; 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सो ऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः' शब्रा० १३. ६. २. १; 'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते' ऐब्रा० ५. ३३; 'वाग् वै वायुः' तैब्रा० १. ८. ८. १; 'वायुर्वै रेतसां विकर्ता' शब्रा० १३. ३. ८. १; 'वायुर्वै पयसः प्रदापयिता' तैब्रा० ३. ७. १. ५; 'वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' शब्रा० १४. ३. २. ७; 'वायुर्वै नभसस्पतिः' गोब्रा० २. ४. ९; 'वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः' तैब्रा० ३. २. १. ३; '(प्रजापतिः) भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स वायुरभवद् रसस्य रसः' जैउब्रा० १. १. ४; 'वायुरेव यजुः' शब्रा० १०. ३. ५. २; 'वायोर्युजुर्वेदो (ऽजायत)' शब्रा० ११. ५. ८. ३; 'त्रैष्टुभो हि वायुः' शब्रा० ८. ७. ३. १२; 'वायुरध्वर्युः' गोब्रा० १. २. २४; 'तदसावादित्य इमान् लोकान्त्सूत्रे समावयते तद् यत् तत्सूत्रं वायुः सः' शब्रा० ८. ७. ३. १०; 'अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते' शब्रा० १. ८. ३. १२; 'तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति' शब्रा० ८. १. १. ७; 'शुक्लो हि वायुः' शब्रा० ६. २. २. ७; 'अनिरुक्तो हि वायुः' शब्रा० ८. ७. ३. १२; '(वायोः) मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी' शब्रा० ८. ६. १. १७; 'तस्य (वायोः) रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविति ग्रैष्मौ तावृतू' शब्रा० ८. ६. १. १७; 'तमेताः पञ्चदेवताः परिम्रियन्ते विद्युद् वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निः' ऐब्रा० ८. २८।

वायोविधिक—पक्षी पकड़ने वाला। यह शब्द शतपथ ब्राह्मण १३. ४. ३. १३ में पाया जाता है। तु०—एगलिंग, सेबुई०, ४४, ३६९ टि०—५।

वाय्य—वय्य का वंशज। यह ऋग्वेद ५. ७९. १, २ में सत्यश्रवस् का पैतृक नाम है।

वार्—ऋग्वेद १. ११६. २२; २. ४. ६; १०. १२. ३; १०. ९९. ४; १०. १०५. १ इत्यादि में एवं अवे०, १३. ८; शब्रा०, ६. १. १. ९ में यह शब्द जल के अर्थ में आता है। कुछ स्थलों पर (ऋ०, ४. १९. ४; ८. ९८. ८; ९. ११२. ४) इसका अर्थ खड़ा जल, तालाब है।

वारकि—वरक का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४१. १ में कंस का यह पैतृक नाम है।

वारक्य—वरक का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में यह पैतृक नाम **कंस, कुबेर, जनश्रुत, जयन्त** और **प्रोष्ठपद्** का है।

वारण—ऋग्वेद ८. ३३. ८; १०. ४०. ४ में राथ[1] ने इसे मृग का विशेषण माना है, जिससे अर्थ 'वन्य पशु' यह होता है। किंतु इसका अर्थ हाथी होना चाहिए, जैसा कि संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। संभवतः अथर्ववेद ५. १४. ११ में वारणी शब्द हस्तिनी को जताता है।

तु०—पिशल और गेल्डनर, वैस्टू०, १. १५. १००—१०२; ह्विटनी ट्रां० अवे०, २९६; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ४६७; त्सिमर, आले०, ८०।

वारवन्त्—ऋग्वेद १. २७. १ में वारवन्त् शब्द वारवान्, बालवान् या बालों से युक्त के अर्थ में आया है।

वारवन्तीय—साम। 'अग्निर्वा इदं वैश्वानरो दहंस्तत् तस्माद्देवा अबिभयुस्तं वरणशाखयाऽवारयन्त यदवारयन्त तस्माद् वारवन्तीयम्' तांब्रा०, ५. ३. ९; 'सो (अग्निः) ऽश्वो वारो भूत्वा पराङैत्। तं वारवन्तीयेनावारयत। तद् वारवन्तीयस्य वारवन्तीयत्वम्' तैब्रा०, १. १. ८. ३; 'यदवारयन् (देवा आदित्यस्याधः मातं) तद् वारवन्तीयस्य वारवन्तीयत्वम्' तैब्रा०, १. १. ८. ३; 'पशवो वै वारवन्तीयम्' तांब्रा०, ५. ३. १२; 'वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यमिन्द्रियस्य वीर्यस्य परिगृहीत्यै' तांब्रा०, ९. ५. ९; 'केशिने वा एतद् दाल्भ्याय सामाविरभवत्' तांब्रा०, १३. १०. ८; 'रेवतीनां रसो यद् वारवन्तीयम्' तांब्रा०, १३. १०. ५।

वारुणि—वरुण का वंशज। यह भृगु का पैतृक नाम है: ऐब्रा०, ३. ३४. १; शब्रा०, ११. ६. १. १; तैउ०, ३. १ इत्यादि।

वार्कलि—वृकला का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १२. ३. २. ६ में यह एक आचार्य का मातृक नाम है। वार्कलिन् के रूप में नाम ऐतरेय आरण्यक ३. २. २[2] में आता है।

---

[1] वोबू०।

[2] तु०—कीथ का नोट, शांआ०, ८. २; तु०—वेबर, इ० लि० ३३. १२३, जिनका विचार है कि वार्कलि वाष्कलि आ समानान्तर है।

वार्कारुणी-पुत्र—बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३१ मा०–६. ५. २ का० की अन्तिम वंश-सूची में **आर्तभागी-पुत्र** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख है।[1]

वार्ध्रा-णस[1], **वार्ध्री-णस**[2]—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में यह एक पशु का नाम है। इसका अर्थ सायण के अनुसार खड्ग या गण्डक है।[3] बोहर्टलिङ्ग्क ने अर्थ दिया है पुराना बकरा या एक प्रकार का बक या सारस।[4] तु०—त्सिमर, आले०, ८०।

वार्ष—साम-विशेष। 'वृषो वैजानस्त्र्यरुणस्य त्रैधात्वस्यैक्ष्वाकस्य पुरोहित आसीत् स ऐक्ष्वाकोऽधावयत् ब्राह्मण-कुमारं रथेन व्यच्छिनत् स पुरोहितमब्रवीत् तत मा पुरो-धायामिदमीदृगुपागात् इति तमेतेव साम्ना समैरयत् तद्वाव स तर्ह्यकामयत कामसनि साम वार्षं काममेवैतेनावरुन्धे' तांब्रा० १३. ३. १२।

वार्ष-गण—वृषगण का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३३ मा०–६. ५. ३ का० में यह **असित** का पैतृक नाम है।

वार्षगणी-पुत्र—वृषगण-वंशजा का पुत्र। माध्यंदिनशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् की आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची ६. ४. ३१ में **गौतमीपुत्र** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख आया है।

वार्षगण्य—वृषगण का वंशज। वंश ब्राह्मण[1] में यह एक आचार्य का नाम है।

वार्षागिर—वृषागिर् का वंशज। ऋग्वेद १. १००. १७ में **अम्बरीष, ऋज्राश्व, भयमान, सहदेव** और **सुराधस्** का यह पैतृक नाम है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. ११३।

वार्ष्ण—वृषन्, वृष्णि, या वृष्ण का वंशज। यह **गोबल** (तैब्रा०, ३. ११. ९. ३; जैउब्रा०, १. ६. १), **बर्कु** (शब्रा०, १. १. १०; बृउ०, ४. १. ८, जहां काण्व शाखा (४. १. ४) में एक पाठान्तर **वार्ष्म** है) और **ऐक्ष्वाक** (जैउब्रा०, १. ५. ४) का पैतृक नाम है।

वार्ष्णि-वृद्ध—वृष्णि-वृद्ध का वंशज। कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४ में यह उल का पैतृक नाम है।

वार्ष्णेय—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०. ९. १५ में यह शुष का पैतृक नाम है।

वार्ष्ण्य—वृष्णि का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ३. १. १. ४[1] में यह एक व्यक्ति का पैतृक नाम है।

वार्ष्म—द्र०—**वार्ष्ण**।

वाल परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों (वासं०, १९. ८८; शब्रा०, १२. ७. ३. ११; १२. ८. १. १४ इत्यादि) में यह वाल-शोधनी (बाल से बनी चालनी) का वाचक है।

वालखिल्य—ब्राह्मणों में यह शब्द ऋग्वेद ८. ४८ के बाद प्रक्षिप्त सूक्तों के लिए प्रयुक्त हुआ है : ऐब्रा०, ५. १५. १. ३, ४; ६. २४. १, ४, ५. १०, ११; कौब्रा०, ३०. ४. ८; पंविब्रा०, १३. ११. ३; १४. ५. ४; ऐआ० ५. २. ४; गोब्रा०, २. ६. ९।[2] तैत्तिरीय आरण्यक १. २३ में इन सूक्तों के ऋषियों को वालखिल्य बताया गया है। तु०—खिल (२)।

तु० 'यद् वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिलमिति वै तदाचक्षते वालमात्रा उ हेमे प्राणा असंभिन्नास् तद् यदसंभिन्ना-स्तस्माद् वालखिल्याः' कौब्रा० ३०. ८; 'प्राणा वै वाल-खिल्याः प्राणेनेवैतदुपदधाति ता यद् वालखिल्या नाम यद् वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वाल-मात्रादु हेमे प्राणा असंभिन्नास्ते यद् वालमात्रादसंभिन्नास्त-स्माद् वालखिल्याः' शब्रा० ८. ३. ४. १; 'प्राणा वाल-खिल्याः' ऐब्रा० ६. २६; 'पशवो वालखिल्याः' तांब्रा० २०. ९. २; 'प्रगाथा वै वालखिल्याः' ऐब्रा० ६. २८; 'ऐन्द्रयो वालखिल्याः (ऋचः)' ऐब्रा० ६. २६.

वाल-दामन्—शतपथ ब्राह्मण ५. ३. १० में अश्व के बालों से बनी रस्सी का नाम वाल-दामन् है।

वालि-शिखायनि—शांखायन आरण्यक ७. २१ में एक आचार्य का नाम है।

वावाता—ब्राह्मणों में राजा की प्रिय पत्नी, जिसका दर्जा महिषी से नीचे होता था, वावाता कही गई है : ऐब्रा०, ३. २२. १. ७; तैब्रा०, १. ७. ३. ३; शब्रा०, १३. २. १. ५; १३. २. ४. १, ८; १३. ५. २. ६ इत्यादि।

---

[1] जहां **वार्कारुणीपुत्र** दुबारा उक्त हैं, और वे दूसरे आचार्य के शिष्य बताये गये हैं।

[1] तैसं०, ५. ५. २०. १; मैसं०, ३. १४. २०।

[2] वासं०, २३. ३९ (प्रा० ३. ८९; ६. २८)

[3] तैसं० पर भाष्य, उक्त स्थल।

[4] डिक्शनरी, तच्छब्दान्तर्गत।

[1] इस्तू०, ४. ३७२; निदान सूत्र, २. ९; ६. ७ इत्यादि। तु०—गार्बे, सांख्य फिलासफी, ३६।

[1] काण्व शाखा में नाम नहीं है। द्र०— एगलिंग, सेबुई० २६. २ टि० २।

[2] तु०—मैक्समूलर, एंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, २२०; सेबुई० ३२. ४६; बृहद्देवता, ६. ८४ मैकडानल का संस्करण; शेफ्तलोवित्स, दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, ३५ एवं आगे।

वाशिता— सांड से बलधियाने के लिये रांभने वाली गौ को वाशिता कहा गया है: अवे०, ५. २०. २; कासं०, १३. ४; तैब्रा०, १. १. ९. ९; ऐब्रा०, ६. १८. १०; ६. २१. १४ इत्यादि।

वाशी— वाशी शब्द मरुतों (ऋ० १. ३७. २; १. ८८. ३; ५. ३३. ४) और त्वष्टा (ऋ० ८. २९. ३) के अस्त्र के अतिरिक्त अन्य देवशास्त्रीय पदार्थों (ऋ० ८. १२. १२; १०. ५३. १०; १०. १०१. १० संभवत: सोम-सवन के पत्थर) को भी उद्दिष्ट करता है। अथर्ववेद १०. ६. ३ में सायण के अनुसार बढ़ई का बसूला अभिप्रेत है।

वाश्रा—गौ या नव-प्रसूता गौ के अर्थ में वाश्रा शब्द कुछ स्थलों पर आया है: ऋ० १. ३७. १०; १. ३८. ८; १. ३२. २; १. ३८. ३; १. ९५. ६; २. ३४. १५; ८. ४३. १७; ९. १३. ७ इत्यादि।

वासःपल्पूली—कपड़े धोने वाला। पुरुषमेध की बलियों में इसका भी उल्लेख आया है: वासं०, ३०. १२; तैब्रा०, ३. ४. ७. १।

वासस—वस्त्र के लिये सामान्य वैदिक शब्द वासस् है: ऋ० १. ३४. १; १. ११५. ४; १. १६२. १६; ८. ३. २४; १०. २६. ६; १०. १०२ इत्यादि; तैसं०, ६. १. ९. ७; ६. १. ११. २; वासं०, २. ३२; ११. ४०; ऐब्रा०, १. ३; तु०–शब्रा०, ५. २. १. ८ में **कुश परिधान** और शांआ०, ११. ४ में **कुसुम्भ-परिधान**। प्राय: ऊन के कपड़े बनते थे; द्र०–**ऊर्णा**। **पूषा** को कपड़ा बुनने वाला (=वासो-वाय, ऋ० १०. २६. ६) कहा गया है; क्योंकि उनका संबन्ध रूप-निर्माण से है। कढ़ाई वाले वस्त्रों का भी उल्लेख आता है; तु०–**पेशस् मरुतों** के स्वर्ण-खचित वस्त्र धारण करने का उल्लेख मिलता है; हिरण्यान् अत्कान् ऋ० ५. ५५. ६। 'वासो-दा' शब्द (ऋ० १०. १०७. २; तु० वस्त्र-दा, ऋ० ५. २४. ८) से कपड़े का दान देने वाले को उद्दिष्ट किया गया है। ऋग्वेद १. ८५. १; १. ९२. ४; ९. ९६. १; १०. १६ में वैदिक भारतीयों के आभूषण-प्रेम का उल्लेख आता है; सु-वसन (ऋ०, ९. ९७. ५०) और सुरभि (ऋ० ६. २९. ३; १०. १२३. ७) विशेषण ठीक तरह से फिट होने वाले वस्त्रों को जताते हैं।

वैदिक आर्य जांघिया या एक निचला परिधान (तु० **नीवि**) पहनते थे: अवे०, ८. २. १६; १४. २. ५०; तु०–तैसं०, ६. १. १. ३; वासं०, ४. १० इत्यादि; और उस पर दूसरा वस्त्र पहनते थे: अवे०, ८. २. १६। ऊपर एक **प्रावार** या उत्तरीय (तु० **अधीवास**) धारण करते थे: ऋ०, १. १४०. ९; १. १६२. १६; १०. ५. ४), जिसे **अत्क** या **द्रापि** कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ५. २० में यज्ञिय परिधान के उल्लेख से उक्त कथन का समर्थन होता है; वहाँ **तार्प्य** या सिल्क के निचले वस्त्र का उल्लेख मिलता है। उस पर एक ऊनी वस्त्र होता था और सबके ऊपर उत्तरीय रहता था। उष्णीष या पगड़ी बाँधने का भी वहाँ उल्लेख आता है; उसमें तुर्रा बांधने का संकेत भी मिलता है। उष्णीष सामान्य जीवन में उपयोग में नहीं आता था; उसे विशेष यज्ञिय समारोहों पर बाँधा जाता था। अथर्ववेद ८. २. १६; १४. २. ५० में एवं शतपथ ब्राह्मण ५. २. १. ८ में स्त्रियों के परिधान का भी उल्लेख मिलता है। यह नहीं कहा जा सकता कि पुरुषों और स्त्रियों के परिधानों में क्या अन्तर था, अथवा इनके परिधानों का स्वरूप क्या होता था। यह मार्के की बात है कि आत्मज्ञानी मुनियों के अतिरिक्त अन्य वैदिक लोग सभ्य समाज के अनुकूल वस्त्र धारण करते थे; तु० शब्रा०, ११. ५. १. १; ३. १. २. १३-१७। देखिये **वसन**, **वस्त्र**, **ओतु**, और **तन्तु**। चर्म-वस्त्रों के संबन्ध में देखिये **मल**। तैत्तिरीय संहिता २. २. ११. ४ में वासस् का एक विशेषण उपाधाय्य-पूर्वय है, जिसका अर्थ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १९. २०. २ के अनुसार 'झालरदार' या कन्नीदार माना जा सकता है।

तु०–'रूपं वा एतत् पुरुषस्य यद् वास:' शब्रा०, १३. ४. १. १५; 'तस्माद् सुवासा एव बुभूषेत्' शब्रा०, ३. १. २. १६; 'ओषधयो वै वास:' शब्रा०, १. ३. १. १४; 'सर्वदेवत्यं वै वास:' तैब्रा० १. १. ६. ११; त्वग् घि वास: शब्रा०, ४. ३. ४. २६।

तु०–त्सिमर, आले०, २६१. २६२।

वासिष्ठ—वसिष्ठ का वंशज। यह पैतृक नाम **सात्यहव्य** (तैसं०, ६. ६. २. २; कासं०, ३४. १७; मैसं०, ३. ३. ६; ४. ८. ७; ऐब्रा०, ७. २३. ९, १०) **रौहिण** (तैआ०, १. १२. ७) और **चैकितानेय** (जैउब्रा०, १. ४२. १; षविंब्रा०, ४. १; तु० गोब्रा०, २. २. १०) का है। वासिष्ठ ही अच्छे ब्रह्मा ऋत्विज् होते थे: तैसं०, ३. ५. २. १; कासं०, ३७. १७; शब्रा०, १२. ६. १. ४१। एक वासिष्ठ का उल्लेख आचार्य के रूप में आया है: वंशब्रा०, इस्तू०, ४. ३७३; जैउब्रा०, ३. १५. २।

वास्तव्य—'यज्ञेन वै देवा: दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देव: (रुद्र:) पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद् वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत' शब्रा० १. ७. ३. १।

वास्तु—घर के लिए ऋग्वेद-काल से ही वास्तु शब्द आम रहा है : ऋ० १. १५४. ६; ८. २५. ५; अवे०, ७. १०८. १; शब्रा०, १. ७. ३. १, ७, १७; २. १. २. ९; तैसं०, २. १. १०. ३; शांगृह्यसूत्र, २. १४; आगृह्यसूत्र, १. २. ४ इत्यादि।

तु० 'वास्तु हि तद् यज्ञस्य यद् धुतेषु हविःषु (अवशिष्यते)' शब्रा० १. ७. ३. ७; 'वास्त्वनुष्टुब् वास्तु स्विष्टकृत्' शब्रा० १. ७. ३. १८; 'पेसुकं वै वास्तु पिस्यति हि प्रजया पशुभिर्यस्यैवं विदुषोऽनुष्टुभौ भवतः' शब्रा० १. ७. ३. १८; 'अवीर्यं वै वास्तु' शब्रा० १. ७. ३. १७।

वास्तु-पश्य—जैमिनीय ब्राह्मण ३. १२० में एक ब्राह्मण का यह नाम है। संभवतः **वास्तु-पस्य** के स्थान पर यह गलत पाठ है[1]।

वाह—हल खींचने वाला बैल : ऋ०, ४. ५७. ४, ८; अवे०, ६. १०२. १। द्र०—**रथ-वाहन**।

वाहन—ब्राह्मणों में भार ढोने वाले पशुओं (ऐब्रा० ४. ९. ४; शब्रा०, १. ८. २. ९; २. १. ४. ४; ४. ४. ४. १०) को अथवा गाड़ी खींचने वाले (शब्रा०, ९. ४. २. ११) पशुओं को वाहन कहा गया है। तु०—**रथ-वाहन**।

वाहस—अजगर। इसका उल्लेख अश्वमेध की बलियों की सूची में आया है : तैसं०, ५. ५. १३. १; ५. ५. १४. १; मैसं०, ३. १४. १५; वासं०, २४. ३४। तु०—त्सिमर, आले०, ९४।

वाह्लिय—द्र०—**शूष वाह्लेय भारद्वाज**।

वि—पक्षी : ऋ०, २. २९. ५; २. ३८. ७; ४. ६४. ६ इत्यादि; पंविब्रा०, ५. ६. १५।

तु० 'अन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि' शब्रा० १४. ८. १३. ३।

वि-ककर—अश्वमेध की बलियों में वि-ककर नामक एक पक्षी का भी उल्लेख आता है : वासं०, २४. २०। तु० आपश्रौतसूत्र, २०. १४. ५।

वि-कङ्कत—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में एक वृक्ष-विशेष है : तैसं०, ३. ५. ७. ३; ६. ४. १०. ५; कासं०, १९. १०; मैसं०, २. १. ९; तु० अवे०, ११. १०. ३; द्र०—शब्रा०, २. २. ४. १८ इत्यादि।

तु० 'प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुतिमजुहोत् स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्' शब्रा० ६. ६. ३. १।

वि-कृन्त—द्र०—**तस्कर**।

वि-क्रय—बिक्री : अवे०, ३. १५. ४; निरुक्त, ३. ४।

वि-क्लिन्दु—अथर्ववेद १२. ४. ५ में एक रोग का नाम है। ब्लूमफील्ड ने इसे प्रतिश्याय, पीनस या शीत माना है।

वि-घन—परिघ, तोमर या घन के लिये वि-घन तैत्तिरीय संहिता ३. २. ४. १ में आया है। अवे०, ७. २८. १ में द्रु-घण का भी उल्लेख आता है।

तु० 'इन्द्रमदेव्यो माया असचन्त स प्रजापतिमुपाधावत् तस्मा एतं विघनं प्रायच्छत् तेन सर्वा मृधो व्यहत यद् व्यहत तद् विघनस्य विघनत्वम्' तांब्रा० १९. १९. १; 'इन्द्रोऽकामयत पाप्मानं भ्रातृव्यं विहन्यामिति स एतं विघनमपश्यत् तेन पाप्मानं भ्रातृव्यं व्यहन् वि पाप्मानं भ्रातृव्यं हते य एवं वेद' तांब्रा० १९. १९. २.

वि-चक्षण ताण्ड्य—वंश ब्राह्मण (इस्टू०, ४. ३७३) में **गर्दभी-मुख** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है। तु० 'चक्षुर्वै विचक्षणं वि ह्येतेन पश्यति' ऐब्रा० १. ६;

वि-चर्षणि—स्फूर्तियुक्त या कर्मठ के अर्थ में विचर्षणि शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है। इस गुण के प्रति वैदिक आर्यों की उत्कट भावना रही है : ऋ० ४.३६.५; ८. १३. ६; २. २२. ३; २. ४१. १०. १; ६. ४५. १६; ६. ४६. ३; १. ७८. १; ३. २. ८; ३. ११. १; १. ६४. १२; ५. ६३. ३; १. ३५. ९; ९.११. ७; ९. ४०. १; ९. ६२. १०; विचर्षण :— तैआ०, ७. ३. १ या तैउ०, १. ४. १।

वि-चारिन् कावन्धि—कबन्ध का वंशज। गोपथ ब्राह्मण १. २. ९, १८ में एक देवशास्त्रीय आचार्य का यह नाम है।

वि-चृत्—अथर्ववेद २. ८. १; ६. ११०. २; ६. १११. ३; (तु० ३. ७. ४) में राथ[2] के अनुसार द्विवचन में यह शब्द दो तारों को उद्दिष्ट करता है। तैत्तिरीय संहिता ४. ४. १०. २ में इसे वे **मूल** नक्षत्र मानते हैं। निःसंदेह सभी स्थलों पर तारा या नक्षत्र अभिप्रेत है।

विज—द्र०—**अक्ष**।

वि-जर्जरा—वाजसनेयि संहिता ३०. १५ में वि-जर्जरा शब्द महीधर के अनुसार शिथिल शरीर वाली ढिलपिल स्त्री को जताता है। तु०—**धव**।

वि-जामातृ—द्र०—**जामातृ**।

वितस्ता—ऋग्वेद के नदी-सूक्त १०. ७५. ५ (निरुक्त, ९. २६) में पंजाब की सबसे पश्चिमी नदी वितस्ता का उल्लेख आया है। अलेग्जेंडर के ऐतिहासिकों के अनुसार यह हिडैप्सेस, टालेमी द्वारा शोधित बिडैप्सेस या मुसलमान ऐतिहासिकों के अनुसार विहत है। आधुनिक कश्मीरी भाषा में यह वेध है। ऋग्वेद में केवल एक बार इसका

[1] द्र०—हापकिन्स, जअओसो०, २६. ६१।

[1] हिम्स आफ दि अवे०, ६५८। [2] वोबू०।

नाम आने से ज्ञात होता है कि पंजाब में अधिकांश वैदिक साहित्य के निर्माण होने की मान्यता ठीक नहीं है।

वितस्ति—'हस्तो वितस्तिः' शब्रा० १०. २. २. ८.

वि-तृतीय—द्र०—**तक्मन्**।

वित्त—धन या संपत्ति के अर्थ में वित्त शब्द का प्रयोग आम है: ऋ० ५. ४२. ९; १०. ३४. १३; अवे०, १२. ३. ५२; तैसं०, १. ५. ९. २; ६. २. ४. ३; वासं०, १८. ११. १४ इत्यादि। तैत्तिरीय उपनिषद् में वित्त से पूर्ण पृथिवी का उल्लेख आता है: २. ८। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४. ७. ७ के अनुसार मनुष्य की महत्ता का माप उसका वित्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४. १; ४. ४. २६ में कहा गया है कि साधु पुरुषों को वित्तैषणा का त्याग कर देना चाहिए।

तु० 'एतावान् ख़लु वै पुरुषो यावदस्य वित्तम्' तैब्रा. १. ४. ७. ७।

वि-दग्ध शाकल्य—**याज्ञवल्क्य** के समकालीन एक आचार्य का यह नाम है। उन्होंने **जनक विदेह** की सभा में **याज्ञवल्क्य** से प्रश्न पूछे थे: बृउ०, ३. ९. १; ४. १. १७ माध्यं० ४. १ ७ काण्व; जैउब्रा०, २. ७६; शब्रा०, ११. ६. ३. ३।

विदथ—ऋग्वेद का एक दुरूह शब्द विदथ है। राथ के अनुसार इसका प्रारंभिक अर्थ है **'आज्ञा'**: ऋ० १. ३१. ६; १. ११७. २५; ३. १. १८; ३. २७. ७; ४. ३८. ४; ६. ८. १; १०. ८५. २६; १०. ९२. २; अवे०, ४. २५. १; ५. २०. १२; १८. ३. ७० इत्यादि। फिर इसका अर्थ हुआ **'आज्ञा देने वाला'** और फिर **'सभा'**: ऋ० २. १. ४; २. २७. १२, १७; ३. ३८. ५, ६; ५. ६३. २; ७. ६६. १०; ८. ३९. १; १०. १२. ७; अवे०, १. १३. ४; **धार्मिक सभा**: ऋ० १. ६०. १; २. ४. ८; २. ३९. १; ३. १. १; ३. ५६. ८ इत्यादि; या **'युद्ध'**: ऋ० १. १६७. ६; ५. ३९. २ इत्यादि। ओल्डेनबर्ग[१] ने पहले इसे 'अध्यादेश' (वि √धा) और यज्ञ के अर्थ में माना था, किंतु बाद में उन्होंने √विध् (√पूजा करना) धातु से ही इसे व्युत्पन्न बताया था।[२] लुड्विग[३] के अनुसार इसका मूल अर्थ **सभा**, विशेषतः मघवानों की **सभा** है। गेल्डनर[४] के अनुसार इसका प्रारम्भिक अर्थ ज्ञान (√विद्), और फिर **"यज्ञ"** या आध्यात्मिक विषय है। दूसरी ओर ब्लूमफील्ड[१] का मत है कि इसका प्रारम्भिक अर्थ गृह है (√विद् 'पाना, या 'पकड़ना''); तु० ऋ० १० ८५. २६, २७; १. ११७. २५; २. १. ६; अवे०, १८. ३. ७०; फिर इसका अर्थ **"यज्ञ"** होता है। यह अर्थ सभी स्थलों के लिए उपयुक्त है। ऋ० ४. २७. २ में सम्राट् को विदथ्य कहा गया है; किंतु वहाँ भी अर्थ 'गृहों से संपन्न' यह संभव है; इस दृष्टि से तु० ऋ० १. ९१. २०; १. १६७. ३; अवे०, २०. १२८. १। सभा में स्त्रियों के जाने का उल्लेख नहीं है; किंतु विदथ के संबन्ध में इसका उल्लेख मिलता है; तु० अवे०, ७. ३०. ४; मैसं०, ४. ७. ४। इससे ब्लूमफील्ड के मत का समर्थन होता है। लुडविग[२] ने कुछ स्थलों (शब्रा०, ५. ३. १. १३; काश्रौतसूत्र, १५. ३. ३५; ऋ० १. ३१. ६; ५. ६२. ६; ऐब्रा०, १. ३०. २७, २८) पर इसे ब्राह्मणों के आश्रय-स्थान के अर्थ में लिया है; किंतु यह चिन्त्य है।

विदद्वसु—'यज्ञोऽसुरेषु विदद्वसुः' तांब्रा० ३. ३. ८; 'यज्ञो वै विदद्वसुः' तांब्रा० ११. ४. ५; 'विदद्वसु वै तृतीय-सवनम्' तांब्रा० ८. ३. ६।

विदन्वन्त् भार्गव—भृगु का वंशज। एक साम-द्रष्टा ऋषि का यह नाम है: पंविब्रा०, १३. ११. १०; जैउब्रा० ३. १५९।

विदर्भ—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ४४० में एक ऐसे स्थान का नाम विदर्भ है, जहाँ के **माचल** (संभवतः खास तौर के कुत्ते) व्याघ्रों को मारने वाले बताये गये हैं।

विदर्भी कौण्डिनेय—**वत्स-नपात्** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है: बृउ०, २. ५. २२; ४. ५. २८; माध्यं०, २. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व।

वि-दिश्—मध्यवर्ती दिशाओं को वि-दिश् कहा गया है: वासं०, ६. १९; षविब्रा०, ४. ४ द्र०—**दिश्**।

विदीगय—तैत्तिरीय संहिता ५. ६. २२. १ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९. ९. ३; आपश्रौतसूत्र, २०. २२. १३ में विदीगय किसी पशु का नाम है। संहिता-भाष्य में इसका अर्थ कुक्कुट-विशेष और ब्राह्मण-भाष्य में श्वेत-बक बताया गया है।

---

[१] सेबुई० ४६. २६ एवं अग्रिम।
[२] द्र०—त्सादामौगे० ५४. ६०९-६११।
[३] ट्रां० ऋ०, ३. २५९।
[४] वैस्टू०, १. १४७; त्सादामौगे०, ५२. ७५७; ऋ० ग्लासार, १६१।

[१] जअओसो०, १९. १२ एवं अग्रिम।
[२] ट्रां० ऋ०, ३. २६१। (तु०—त्सिमर, आले० १७७; इन्होंने ऋ० २. २७. १२ के 'विदथेषु प्रशस्तः' का उद्धरण देते हुए कहा है कि सभा से छोटी कोई संस्था विदथ नाम की थी)।

वि-देघ—शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १० में **विदेघ माथव** का उल्लेख आता है; संभवतः वे **विदेघों** (=विदेहों) के राजा थे। तु०—एगलिंग, सेबुई०, १२. ४१ टि०—४; १०४ टि०।

वि-देह—एक **जन** का नाम विदेह है; विदेहों का उल्लेख ब्राह्मण काल के पूर्व नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण १. ४. १. १० में आने वाली **विदेघ माथव** की कथा से ज्ञात होता है कि वहां की संस्कृति का निर्माण पश्चिमी ब्राह्मणों ने किया था; और **कोसल** वाले उनसे पहले ब्राह्मण-सस्कृति में दीक्षित हो चुके थे। बाद में वे उपनिषदों के एक अच्छे ज्ञाता एवं आश्रयदाता बने थे: बृउ०, २. ८. २; तु०—४. २. ६; ४. ९. ३०; शब्रा०, ११. ३. १. २; ११. ६. २. १; ११. ६. ३. १; तैब्रा०, ३. १०. ९. ९। कौषीतकि उपनिषद् ४. १ में विदेह एवं **काशी** के संबन्ध का उल्लेख आता है। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४ की **जनों** की सूची में विदेहों का उल्लेख नहीं है; संभवतः **काशी** और **कोसल** वालों के साथ "**प्राच्याः**" कह कर उन्हें उद्दिष्ट किया गया हो। शांखायन श्रौतसूत्र १६. २९. ५ में **काशी**, **कोसल** और विदेह तीनों के लिए एक पुरोहित **जल जातूकर्ण्य** का उल्लेख आया है; शांश्रौतसूत्र, १६. ९. ११. १३ में विदेहराज **पर आट्णार** और **कोसल-राज हिरण्यनाम** के संबन्ध का उल्लेख मिलता है, जब कि शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ४ में **पर आट्णार** को **कोसल** का राजा और **हिरण्यनाम** का वंशज बताया गया है।

नमी साप्य विदेहों के एक दूसरे राजा थे: पंविब्रा०, २५. १० १७। यजुर्वेद में विदेह की गौओं का उल्लेख प्रतीत होता है, यद्यपि तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार ने "वैदेही" का अर्थ "सुन्दर शरीर वाली" (=विमितदेहसंबन्धिनी) किया है: तैसं०, २. १. ४. ५; कासं०, १४. ५। बौधायन श्रौतसूत्र २. ५; २१. १३ के समानान्तर स्थलों पर भी विदेहों का उल्लेख आता है।

संभवतः **कोसल** और विदेहों की **सीमा सदानीरा** (गंडक) नदी थी, जो नेपाल से निकलकर पटना के पास गङ्गा में मिलती है। तु० इंपीरियल गज़ेटियर आफ इंडिया, १२. १२५।

विद्या—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में विद्या शब्द ज्ञान के अर्थ में आया हैं: अवे०, ६. ११६. १; ११. ७. १०; ११. ८. ३; तैसं०, २. १. २. ८; ५. १. ७. २; ऐब्रा०, ८. २३. ८, ९ इत्यादि। विशेषतः तीनों वेदों की विद्या (=त्रयी विद्या) का उल्लेख आता है: तैब्रा०, ३. १०. ११. ५; तु० शब्रा०, ५. ५. ५. ६ इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण में अध्ययन करने योग्य पदार्थों की सूची में विद्या शब्द विशेष अर्थ में आया है: (११. ५. ६. ८; बृउ०, २. ४. १०; ४. ५. ११) सायण के अनुसार वहाँ विद्या का अर्थ "दर्शन शास्त्र के प्रकार" हैं। गेल्डनर[१] के अनुसार यह पहले के ब्राह्मणों को उद्दिष्ट करता है, किंतु एगलिंग का मत अधिक संभव है, जिसके अनुसार यहां **सर्प-विद्या**, **विष-विद्या** जैसी विद्याओं को संकेतित किया गया है[२]।

वि-द्युत्—बिजली के अर्थ में वि-द्युत् शब्द ऋग्वेदकाल से ही आम है: ऋ० १. ३२. १३; १. ३८. ८; २. ३५. ९; ३. १. १४; ५. १०. ५; ५. ८३. ४; ६. ३. ८; १०. ९५. १०; ७. ३३. १०; ९. ८७. ८; १०. ९९. २; अवे०, ९. २. १४; १०. १. २३; ७. ५९. १; ७. ११. १; शब्रा०, ६. १. ३. १४; छाउ०, ५. २२. २ इत्यादि।

तु० '(प्रजापतिः) तान् (देवान्) व्यद्यत् ('पाप्मनः सकाशात् वियोजितवान्' सायण) यद् व्यद्यत् तस्माद् विद्युत्' तैब्रा०, ३. १०. ९. १; 'विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः विदानाद् विद्युद् विद्यत्येनं सर्वस्मात् पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति' शब्रा०, १४. ८. ७. १; 'विद्युदेव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'अथैतस्यामुदीच्यां दिशि भूयिष्ठं विद्योतते' षब्रा०, २. ४; 'वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति' ऐब्रा०, २. ४१. 'विद्युद् वा अपां ज्योतिः' शब्रा०, ७. ५. २. ४९।

विद्रथ—अथर्ववेद ६. १२७. १; ९. ८. २० में विद्रथ एक रोग, फोड़े, या बद के लिये आया है। त्सिमर[३] के अनुसार यह यक्ष्म के साथ होता था। बाद में इसे विद्रधि कहा गया है। लुड्विग[४] के अनुसार ऋग्वेद ४. ३२. २३ में भी यही भाव है; किंतु यह निश्चित नहीं है।[५]

विद्वान् प्राज्ञ, पण्डित या आत्मविद् के अर्थ में विद्वान् शब्द वैदिक काल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है: ऋ० ६. २१. ११; ७. २८. १; ७. २१. ४; १. २४. १३; १. ७०. ६; १. १२०. २; १. १५२. ६; ४. १. ४; ४. १९. १०; ५. ४१. ७; ५. ४६. १; अवे०, ९. ३. ३; वासं०, ६. २६; ८. १३; अवे०, ७. १०८. १ इत्यादि।

वि-धर्म—साम-विशेष। 'विधर्म भवति धर्मस्य विधृत्यै' तांब्रा० १५. ५. ३१.

---

[१] वेस्तू०, १. २९०. टि० ४।
[२] सेबुई० ४४, ९८ टि०—२।
[३] आ० ले०, ३८६।
[४] ट्रां० ऋ०, ५. ९३।
[५] द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋ० नो०, १. २९५।

विधवा—पति के मर जाने पर स्त्री विधवा कही जाती है। यह शब्द √'विध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'लुट जाना, बिंध जाना'। ऋग्वेद १०. ४०. ८ में राथ[1] ने पुंलिङ्ग में 'विधव' का प्रयोग माना है, किंतु यह उचित नहीं प्रतीत होता। विधवा शब्द विरल है: ऋ० ४. १८. १२; १०. ४०. २; षविंब्रा०, ३. ७; निरुक्त, ३. १५।

वि-धाता—'चन्द्रमा एव धाता च विधाता च' गोब्रा० २. १. १०.

विधु—ऋग्वेद १०. ५५. ५ निरुक्त, १४. १८[1] में विधु शब्द चन्द्रमा के अर्थ में आया है, जहाँ उसे बहुतों में अकेले चलने वाला कहा गया है (विधुं दद्राणं समने बहूनाम्)।

वि-नशन—लोप होने वाला। विनशन उस स्थान का नाम है, जहाँ **सरस्वती** नदी बालू में रम जाती है: पंविंब्रा०, २५. १०. ६; काश्रौतसूत्र, २४. ५. ३०; लाश्रौतसूत्र, १०. १५. १; बौधर्मसूत्र, १. १. २. १२[2]। यह स्थान आजकल पंजाब में **पटियाला** के पास पड़ता है।[3] तु०—**प्लक्ष प्रास्रवण**।

विप्—ऋग्वेद ९. ३. २; ९. ६५. १२; ९. ९९. १ में राथ[4] के अनुसार विप् शब्द सोम-चालनी के पेंदे के उन तारों को जताता है, जिन पर छानने का वस्त्र रखा जाता था; किंतु यह व्याख्या संदिग्ध है।

वि-पथ—**व्रात्य** के प्रसङ्ग में ऊबड़-खाबड़ मार्ग को विपथ कहा गया है: अवे०, १५. २. १; पंविंब्रा०, १७. १. १४; लाश्रौतसूत्र, ८. ६. ९; अनुपदसूत्र, ५. ४; काश्रौतसूत्र, २२. ४. ११; आपश्रौतसूत्र, २२. ५. ५; तु०—७. ३. ८; वेबर, इस्तू०, १. ४४। तु०—**अनस्**।

१—विपश्चित्—मर्मज्ञ, विद्वान् या तत्त्वज्ञ के अर्थ में विपश्चित् शब्द ऋग्वेदकाल से ही पाया जाता है: ऋ० ८. ५४. ९; ४. ३६. ७; ८. १. ४; ८. ३. ३; ८. ४३. १९; ९. ६४. २५; अवे०, ८. ९. ३; शब्रा०, ३. ५. ३. १२ इत्यादि।

तु० 'यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्' शब्रा० ३. ५. ३. १२.

२. विपश्चित् दृढजयन्त लौहित्य—लोहित का वंशज। **दृढजयन्त लौहित्य** के शिष्य का यह नाम है: जैउब्रा०, ३. ४२. १।

३. विपश्चित् शकुनि पाराशर्य—पराशर का वंशज। **अषाढ़ उत्तर पाराशर्य** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है: जैउब्रा० ३. ४१. १।

वि-पाश्—विपाश् नदी का ऋग्वेद में दो बार उल्लेख आया है: ३. ३३. १, ३; ४. ३०. ११[1]। आजकल इसे व्यास कहते हैं। ग्रीक लेखकों ने इसे हिफेसिस, हिपेनिस और बिपेसिस के रूप में लिखा है। ऋग्वेद के केवल दो सूक्तों में उल्लिखित होने से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन जीवन से इसका बहुत कम संबन्ध था। निरुक्त ९. २६ के अनुसार इसका प्राचीन नाम **उरुंजिरा** था: तु० २. २४; ९. ३६। गोपथ ब्राह्मण १. २. ७ के अनुसार इसके मध्य में **"वसिष्ठशिला"** नामक स्थान था। पाणिनि ४. २. ७४ ने इसका उल्लेख किया है; बाद में यह नाम **विपाशा** बन गया है। प्राचीन काल से अब तक इस नदी ने कई बार अपने मार्ग बदले हैं[2]।

विपियान—बहुत पीने वाला, या बार-बार पीने वाला। ऋग्वेद १. ११२. १५ में विपियान को भाष्यकार वेंकट माधव ने एक व्यक्ति का नाम माना है।

वि-पूजन शौराकि या सौराकि—एक आचार्य का नाम यजुर्वेद में वि पूजन शौराकि (मैसं०, ३. १. ३) या सौराकि (कासं०, २७. ५) आया है।

वि-पृथु—शांखायन श्रौतसूत्र १४. ७२. ३ में स्पष्टतः विपथ के लिये आया है। संभवतः विपथ के स्थान में भूल से इसका प्रयोग हुआ हो।

विप्र—अनुभूति-संपन्न गायक को विप्र कहा गया है: ऋ० १. १२९. २, १; २. १६२. ७; ४. २६. १ इत्यादि; तु० ३. ७. ७; ३. ३१. ५; ४. २. १५ इत्यादि; तैसं०, २. ५. ९. १; वासं० ९. ४; शब्रा०, १. ४. २. ७ इत्यादि। बाद में यह विद्वान् ब्राह्मण का वाचक बन गया है: शब्रा०, ३. ५. ३. १२ इत्यादि। आर्षकाव्य-काल में इसका अर्थ ब्राह्मण रह गया है।

वि-प्रचित्ति या विप्रजिति—बृहदारण्यक उपनिषद् २. ६. ३; ४. ६. २ काण्व के अनुसार एक आचार्य का नाम विप्रचित्ति है। माध्यंदिन बृउ०, २ ५. २२; ४. ५. २८ में विप्रजिति रूप है।

विप्र-जन सौराकि—काठक संहिता २७.५ में राथ[3] के अनुसार **विपूजन** का ही पाठान्तर विप्रजन के रूप में आया है।

---

[1] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, १. ४६५।

[2] तु०—ब्युहलर, सेबुई०, १४. २. १४७; द्र०—जैउब्रा०, ४. २६।

[3] द्र०—इंपीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, २२. ९७।

[4] बोबू०।

[1] दूसरे स्थल पर निरुक्त, ११. ४८ के अनुसार "विपशिन्" अर्थ है, किंतु यह ठीक नहीं; तु० ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटन, १. २९४।

[2] द्र०—इंपीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, ७. १३८, व्यास।

[3] बोबू०।

वि-बाली—ऋग्वेद ४. ३० १२ में किसी अज्ञात नदी का नाम विबाली है।

वि-मण्डक काश्यप—कश्यप का वंशज। वंश ब्राह्मण[1] में ऋष्यशृङ्ग के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

वि-भिन्दु—ऋग्वेद ८. २. ९१ में एक यज्ञ-कर्ता का नाम विभिन्दु है।

वि-भिन्दुक—किसी व्यक्ति या असुर का नाम विभिन्दुक है, जिसके यहाँ से मेधातिथि ने गौएं हांक ली थीं : पंविब्रा०, १५. १०. ११। हापकिंस ने विभिन्दुक को मेधातिथि का पैतृक नाम माना है[2]।

वि-भिन्दुकीय—पुरोहितों के एक वर्ग का नाप विभिन्दुकीय है, उनके सत्र का उल्लेख जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. २३३ में आया है।

विभीतक, विभीदक—बहेड़ा। विभीदक : ऋ० ७. ८६. ६; १०. ३४. १; विभीतक बाद के ग्रन्थों में आया है। इसका बीज अक्ष-क्रीडा में प्रयुक्त होता था; द्र० २. अक्ष। इसकी भी लकड़ी याज्ञिक अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए प्रयुक्त होती थी : तैसं०, २. १. ५. ८; २. १. ७. ३; शब्रा०, १३. ८. १. १६ इत्यादि।

वि-भूति—विभव, व्यापक, प्रचुर, प्रभृति अर्थों में यह शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आम है : ऋ० १. ८. ९; १. १६६. ११; ६. १७. ४; बालखिल्य, १. ६. २. ६; प्रश्नउ०, ५. ४ इत्यादि।

तु० 'याः षड् विभूतय ऋतवस्ते' जैउब्रा० १. २१. १।

१. वि-मद—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १०. २०–२६ के रचयिता विमद हैं। इन सूक्तों में उनका (ऋ० १०. २०. १०; १०. ३२. ७) और उनके वंश के विमदों (ऋ० १०. २३. ६) का उल्लेख आता है। "वि वो मंदे" (तुम्हारे मद में) यह कई बार आया है : ऋ० १०. २१. १, ८; १०. ३४. १–३। बाद में भी विमद का उल्लेख मिलता है : अवे०, ४. २९. ४; ऐब्रा०, ५. ५. १।

२. वि-मद—अश्विनों के एक कृपापात्र का नाम विमद है; अश्विनों ने उन्हें कमद्यू नामक पत्नी प्रदान की थी : ऋ० १. ५१. ३; १. ११२. १९; १. ११६. १; १. ११७. २०; १०. ३९. ७; १०. ६५. १२। इन्हें १ विमद से अभिन्न नहीं माना जा सकता।

वि-मुक्ता—शाब्दिक अर्थ है "छोड़ी हुई," "अलग की हुई"। षड्विंश ब्राह्मण ५. ६ में मोती का नाम विमुक्ता आया है।

वि-मोक्तृ—रथ जोतने वाले का विलोम "विमोक्तृ" =रथ छोड़ने वाला। पुरुषमेध की बलियों की सूची में विमोक्तृ का उल्लेख आता है : वासं०, ३०. १४; तैब्रा०, ३. ४. १०. १; तु० "विमोक्त्री", ३. ७. १४. १। रथ खोलने अर्थात् विमोचन का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० ३. ५३. ५; २०, ४. ४६. ७ इत्यादि; तैसं०, ७. ५. १. ५ इत्यादि।

वि-रप्शिन्—पूर्ण, महान्, शक्तिशाली। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में विरप्शिन् शब्द उक्त अर्थ में आया है : ऋ० ४. १७. २०; १. ६४. १०; १. ८७. १; १. १६६. ८; ३. ३६. ४; ४. २०. २; ६. २२. ६; ६. ३२. १; ६. ४०. २; ८. ६५. ८; वासं०, १. २८; निघण्टु ३. ३.। भाष्यकारों ने "बहुविधशब्दवान्" यह अर्थ भी किया है।

वि-राज्, वि-राट्—सार्वभौम शक्ति वाले या परम-पुरुष के अर्थ में ऋग्वेद १०. ९० के समय से ही यह शब्द आ रहा है : अवे० ८. ५. १०; ८. ९. १; ८. १०. १; तैब्रा०, १. २. १, २७ इत्यादि।

२. वि-राज्—राज-सत्ता का एक रूप : ऋ० १. १८८. ५; ९. ९६. १८; १०. १६६. १ इत्यादि; अवे०, १२. ३. ११; १४. २. १५ इत्यादि। वास्तविक उपाधि के रूप में इसका प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. ३ में मिलता है, जहाँ उत्तर-कुरुओं और उत्तर-मद्रों को विराज् कहा गया है।

तु०—वृष्टिर्वै विराट् तस्या एते घोरे तन्वौ विद्युच्च ह्रादुनिश्च' शब्रा० १२. ८. ३. ११; 'विराडग्निः' शब्रा० ६. २. २. ३४; 'वाग् वै विराट्' शब्रा० ३. ५. १. ३४; 'इयं (पृथिवी) वै विराट्' शब्रा० १२. ६. १. ३०; 'विराड वै गौः' शब्रा० ७. ५. २. १९; 'अन्नं विराट्' कौब्रा० ९. ६; 'अन्नं विराट् तस्माद् यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति तद् विराजो विराट्त्वम्' ऐब्रा० १. ५; 'ऊर्ग् विराट्' तैब्रा० १. २. २. २; 'वैराजो वै पुरुषः' तांब्रा० २. ७. ८; 'विराड् वै यज्ञः' शब्रा० १. १. १. २२; 'विराड् वा अग्निष्टोमः' कौब्रा० १५. ५; 'विराड् वरुणस्य पत्नी' गोब्रा० २. २. ९; 'विराट् सृष्टा प्रजापतेः। ऊर्ध्वारोहद् रोहिणी। योनिरग्नेः प्रतिष्ठितिः' तैब्रा० १. २. २. २७; 'विराड् वै छन्दसां ज्योतिः' तांब्रा० ६. ३. ६; 'दशाक्षरा विराट्' ऐब्रा० ६. २०; 'त्रिंशदक्षरा वै विराट्' ऐब्रा० ४. १६, 'सहस्राक्षरा वै परमा विराट्' तांब्रा० २५. ९. ४।

---

[1] ड्रांजैक्शन्स० १५–६० टि० १।

[2] इस्टू०, ४. ३७४।

३. **वि-राज्**—दश अक्षरों के चार पदों वाले एक वैदिक छन्द का नाम विराज् (विराट्) है। यह दश की संख्या का भी इसीलिए द्योतक है। ऋग्वेद १०. १३०. ५ में इस छन्द को **मित्रावरुण** से संबद्ध बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण १. ४ में विराज् को अन्न कहा गया है। द्र०—निरुक्त, ७. १३; ऋ० प्रा०, १६. १२, २८; ३२, ३७; १७. २, ४. २५. ३२ इत्यादि।

वि-रूप—एक अङ्गिरस्: ऋ० १. ४५. ३; ८. ७५. ६। अनुक्रमणी में ऋग्वेद ८. ४३ ८. ६४ को उनकी रचना कहा गया है।

वि-रोचन प्राह्लादि—प्रह्लाद या प्रह्लाद का वंशज विरोचन। अथर्ववेद ८. १०. २२; में एक असुर का यह नाम है। द्र० तैब्रा०, १. ५. ९. १; १. ५. १०. ७; छाउ०, ८. ७. २। पुराणों में आने वाली **प्रह्लाद** और **विरोचन** की कथा का सूत्रपात यहीं से माना जा सकता है।

वि-लम्ब सौपर्ण—साम-विशेष। 'यदन्तरात्मा पक्षौ विलम्बते तस्माद् विलम्बसौपर्णम्' तांब्रा०, १४. ९. २०।

विलिगी—अथर्ववेद ५. १३ ७ में एक प्रकार के सर्प का नाम विलिगी है।

विलिष्ट-भेषज—अथर्ववेद २०. ५. २ पैप्पलाद शाखा के अनुसार मोच आने या मरोड़ की दवा को विलिष्ट-भेषज कहते हैं।

वि-लोहित—अथर्ववेद ९. ८. १; १२. ४. ४ में एक रोग का नाम विलोहित है। ब्लूमफील्ड[१] ने इसे नकसीर बताया है; हेनरी ने इसे रक्त का गलना या भ्रष्ट होना माना है, जब कि ह्विटनी इससे रक्ताल्पता को लेते हैं।

विवध या वीवध—बंहगी; किंतु इसका प्रयोग आलंकारिक रूप से आया है, जैसे "वि-विवध" अर्थात् "बराबरी से न बांटा हुआ भार": तैसं, ७. २. ५. २; ७. २. ७. ३; विवीवध: पंविब्रा०, ४. ५. १९; उभयतोवीवध: कासं०, २७. १०; और सवीवधता अर्थात् भार की समानता: ऐब्रा०, ८. १. ४; पंविब्रा०, १४. १. १०; सवीवधत्व: ५. १. ११; २२. ५. ७ इत्यादि।

वि-वयन—तह जमाना, गूंथना। आसन्दी प्रभृति में तह बिठाने का उल्लेख मिलता है: ऐब्रा०, ३. ५. ३; शब्रा०. १२. ८. ३. ६; 'विवान' उसी अर्थ में: लाश्रौतसूत्र, ३. १२. १।

[१] ह्मिस०, ६५७।

[२] ले लिव्रे, ८, ए ९ दे ल् अथर्ववेद, १०५. १४२।

[३] ऐ० अवे०, ५४९।

वि-वस्वन्त्—चमकने वाला। कुछ स्थलों पर अग्नि, उषा प्रभृति का यह विशेषण है: ऋ० १. ४०. १; १. ९६. २; ३. ३०. १३; ७. ९. ३ इत्यादि। किंतु मुख्यतः यह सूर्य है। कभी-कभी विवस्वान् को एक **आदित्य** या **अदिति** का पुत्र कहा गया है: तैब्रा०, १. १. ९. ३; पंविब्रा०, २४. १२. ४। ऋग्वेद १०. ११७. १ में वे **वैवस्वत यम** के पिता कहे गए हैं। ऋग्वेद १०. १७. २ के अनुसार **सरयू**—नामक पत्नी से उन्होंने **अश्विनों** को उत्पन्न किया है। वे **यम** और **यमी** के पिता हैं: ऋ० १०. १०। इस प्रकार वे मानव-जाति के उत्पादक के रूप में उल्लिखित हैं। बाद में **वैवस्वत मनु** के पिता के रूप में पुराणों में उनका अनेकशः उल्लेख है।

तु० असौ वा आदित्यो विवस्वान् एष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो ह्येनेन परिवृतः, शब्रा० १०. ५. २. ४.

२—वि-वस्वन्त् आदित्य—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १०. १३ के द्रष्टा ऋषि का नाम विवस्वन्त् आदित्य है।

वि-वाह—शादी। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में विवाह का उल्लेख आम है:। अवे०, १२. १. २४; १४. २. ६५; ऋग्वेद में वहतु (=बरात) शब्द भी आया है; द्र० तैसं०, ७. २. ८. ७; कासं०, २५ ३; पंविब्रा०, ७. १०. ४; ऐब्रा०, ४. २७. ५। देखिये **पति**।

विश्—विश् का असली अर्थ संदिग्ध है। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर बसने या निवास (√विश् 'प्रवेश करना') करने वालों के अर्थ में यह शब्द आया है: ऋ० ४. ४. ३; ४. ३७. १; ५. ३. ५; ६. २१. ४; ६. ४८. ८; ७. ५६. २२; ७. ६१. ३; ७. ७०. ३; ७. १०४. १८; १०. ९१. २ इत्यादि। अन्यत्र जहाँ 'राजा' के संबन्ध में '**विश्**' का उल्लेख आया है, वहाँ अर्थ है प्रजा,: ऋ० ४. ५०. ८; ६. ८४; १०. १२४. ८; १०. १७३. ६; अवे० ३. ४. १; ४. ८. ४; ४. २२. १, ३; तैसं०, ३. २. ८. ६; वासं०, ८. ४६; शब्रा०, १. ८. २. १७; ४. २. १. ३; ५. ३. ३. १२; ५. ४. २. ३; १०. ६. २. १; १३. ६. २. ८; कौउ०, ४. १२ इत्यादि; उदाहरण के लिये **तृणस्कन्द** की विश—ऋ० १. १७२. ३ या **तृत्सुओं** की विश:—ऋ० ७. ३३. ६। कुछ स्थलों पर **जन** के अर्थ में यह शब्द आया है: ऋ० ६. १. ८; ६. २६. १; ८. ७१. ११; 'मनुषो विशः', ६. १४. २; ८. २३. १३; 'मानुषीः विशः', १०. ८०. ६ इत्यादि; जैसे आर्य विश्: ऋ० १०. ११. ४; **दैवी विश्**: ऋ० ८. ३४. २; अवे०, ६. ९८. २; वासं०, १७. ८६ या **दास विशः** इत्यादि: ऋ० ४. २८. ४; ६. २५. २; '**अदेवीः विशः**' ८. ९६. १५; '**असिक्नीः**' ऋ० ७. ५. ३ इत्यादि।

कभी-कभी विश् शब्द **जन** के एक उपविभाग को उद्दिष्ट करता है : ऋ० २. २६. ३; १०. ८४. ४; १०. ९१. २; अवे०, १४. २. २७; किंतु ऐसा सामान्य नहीं है। इन स्थलों पर भी उपर्युक्त अर्थ ठीक बैठ जाता है। किंतु यह उपविभाग स्थान के आधार पर है या रक्त-संबन्ध के आधार पर यह कहना दुष्कर है; क्योंकि विश् का **ग्राम** या **गोत्र** से संबन्ध अनिश्चित है। अथर्ववेद १५. ८. २, ३; तु०—१४. २. २७ और ऋ०, १०. ९१. २ में एक बार 'विशः' का उल्लेख 'स-बन्धवः' (संबन्धियों) के साथ है; किंतु उससे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। फिर भी यह संभव है कि कहीं-कहीं **विश् गोत्र** के अर्थ में आया हो, अथवा एकाधिक कुछ **गोत्रों** को मिलाकर विश् बनता हो। तु० **विश्पति**।

परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में विश् शब्द तृतीय वर्ण **वैश्य** को उद्दिष्ट करता है, जो प्रायः **ब्राह्मणों** एवं **क्षत्रियों** का विपर्यास दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ है; उदाहरण के लिए : तैसं०, २. २. ११. २; मैसं०, २. १. ९; ३. ३. १०; कासं०, १९. ९; तु० पंविब्रा०, १८. १०. ९; शब्रा०, २. १. ३. ५; ८. ७. २. ३; १३. २. २. १७, १९; १३. २. ९. ६; १४. १. ३. २७; छाउ०, ८. १४।

'तु० यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि' शब्रा० ८. ७. ३. २१ 'यज्ञो वै विट्' शब्रा० १४. ३. १. ९; 'विट् सूक्तम्' ऐब्रा० २. ३३; 'विशो ग्रावाणः' शब्रा० ३. ९. ३. ३; 'विड् वै गभः' शब्रा० १३. २. ९. ६; 'विड् वै हरिणी' तैब्रा० ३. ९. ७. २; 'विशो वै विश्वे देवाः' शब्रा० ५. ५. १. १०; 'विशो वै पस्त्याः' शब्रा० ५. ३. ५. १९; 'विशो वै सूच्यः' शब्रा० १३. २. १०. २; 'राष्ट्राणि वै विशः' ऐब्रा० ८. २६; 'विट् सुरा' शब्रा० १२. ७. ३. ८; 'अन्नं वै विशः' शब्रा० ४. ३. ३. १२; 'अन्नं वै क्षत्रियस्य विट्' शब्रा० ३. ३. २. ८; 'तस्माद् राष्ट्री विशमत्ति' शब्रा० १३२. ९. ८; 'दैव्यो वा एता विशो यत् पशवः' शब्रा० ३. ७. ३. २; 'तस्माद् ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते' शब्रा० ११. २. ७. १६; 'स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति' शब्रा० १४. ४. २. २४; 'अनिरुक्ते हि विट्' शब्रा० ९. ३. १. १५।

वि-शर—अथर्ववेद २. ४. २ में एक रोग, संभवतः भयंकर दर्द को विशर कहा गया है। त्सिमर[१] के अनुसार ज्वर (=**तक्मन्**) का दर्द अभिप्रेत है। राथ[२] ने इसे एक असुर का नाम माना है। त्सिमर के मत का समर्थन अथर्ववेद १९. ३४. १० से होता है, जहाँ **बतास** के साथ विशरीक का उल्लेख है।

[१] आले०, ३९१।
[२] बोबू०।

वि-शरीक—द्र० **वि-शर**।

वि-शस्तृ—ऋग्वेद १. १६२. १९ में विशसन-कर्ता या हिंसक को विशस्ता कहा गया है। तु० अवे०, ९. ५. ४।

वि-शाखे—द्र० **नक्षत्र**।

विशोविशीय—साम-विशेष। 'अग्निरकामयत विशो विशोऽतिथिः स्यां विशो विश आतिथ्यमश्नुवीयेति स तपोऽतप्यत स एतद् विशोविशीयमपश्यत् तेन विशो विशोऽतिथिरभवत्' तांब्रा० १४. ११. ३७।

विश्पति—विश्पति एक अनिश्चितार्थक शब्द है, जिसका असली भाव **विश्** के अर्थ पर निर्भर है। त्सिमर[१] ने इसे एक **उपजन** का नेता माना है, किंतु इसके समर्थन में केवल अनिश्चितार्थक ऋ० १. ३७. ८ के अतिरिक्त अन्य संदर्भ नहीं मिलता। अधिकांश स्थलों पर यह निवास-स्थान के स्वामी को उद्दिष्ट करता है, चाहे वह व्यक्ति हो, अग्नि हो, अथवा **सभा-भवन** का अग्नि हो : ऋ० १. १२. २; १. २६. ७; १. १६४. १; २. १. ८; ३. २. १०; ३. ४०. ३; ७. ३९. २; ९. १०८. १०; १०. ४. ४; १०. १३५. १ इत्यादि; गृह-स्वामिनी के अर्थ में : तैसं०, ३. १. ११. ४। ऋग्वेद ७. ५५. ५ अवे०, ४. ५. ६ में भी यह अर्थ ठीक है, जहाँ एक विशेष मन्त्र-प्रयोग द्वारा विश्पति, माता-पिता एवं अन्य लोगों के सोने की कामना की गई है, जिससे प्रेमिका का प्रेमी रात्रि में उससे मिल सके। यहाँ माता-पिता से विश्पति को अलग कहा गया है, जो संयुक्त परिवार के पितामह या पितृव्य के लिए आया होगा, जो घर के स्वामी रहे होंगे; तु० बृदे०, ६. ११ एवं अग्रिम, जहां **वसिष्ठ** का चोर के रूप में किसी गृह में घुसने का उल्लेख आया है; किंतु विश्पति का अर्थ गृह-स्वामी ही होगा। कहीं-कहीं यह शब्द **सजात** के अर्थ में आया है : तैसं०, २. १. ३. २, ३। कुछ स्थलों पर विशों के पति के अर्थ में यह शब्द **राजा** को उद्दिष्ट करता है : अवे०, ३. ४. १; ४. २२. ३; तु० ऋ०, ३. १३. ५; ७. ३९. २। त्सिमर ने यहाँ राजा के निर्वाचन का उल्लेख माना है[२]; किंतु द्र०—**राजन्**। अथवा विश् अर्थात् प्रजा के मुखिया को विश्पति कहा गया है : तैसं०, २. ३. १. ३।

[१] आले०, १७१।
[२] आले०, १६४. १६५।

विश्पला—ऋग्वेद में भाष्यकारों के अनुसार एक स्त्री का नाम विश्पला है, जिसकी टांग टूट जाने पर **अश्विनों** ने उसे लोहे की टांग चढ़ाई थी : ऋ०, १. ११२. १०; १. ११६. १५; १. ११७. ११; १. ११८. ८; १०. ३९. ८। पिशल[1] ने इसे घुड़दौड़ के किसी घोड़े का नाम माना है, किंतु यह अनुमान-मात्र है।

विश्वक—विश्वक कृष्णिय ('कृष्ण का पुत्र') **अश्विनों** के एक कृपापात्र का नाम है, जिन्होंने उनके खोये पुत्र **विश्वापू** को ला दिया था : ऋ० १. ११६. २३; १. ११७. ७; ८. ८६. १; १०. ६५. १२। द्र. **कृष्ण** २। तु० मैकडानल, वैमा० ५२।

विश्व-कर्मन्—सब कुछ करने वाला। ऋग्वेद १०. ८१; १०. ८२ में विश्वकर्मा को सृष्टि-कर्ता के रूप में दिखाया गया है। वे सबके देखने वाले हैं; सभी ओर उनकी आखें है। विशेष विवरण के लिए द्र० मैकडानल, वैमा०। तु० **विश्व-कर्मन् भौवन**, और त्वष्टृ।

तु० 'वाग् वै विश्वकर्मर्षिर्वाचा हीदं सर्वं कृतम्' शब्रा० ८. १. २. ९; 'प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा' शब्रा० ७. ४. २. ५; 'असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ तपति' कौब्रा० ५. ५; 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माभवत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्' ऐब्रा० ४. २२; 'विश्वकर्मायमग्निः' शब्रा० ९. २. २. २।

विश्व-कर्मन् भौवन—भुवन का वंशज। किसी देवशास्त्रीय राजा का यह नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. ८ के अनुसार **कश्यप** ने उनका अभिषेक किया था और उन्होंने **कश्यप** को पृथवी दान में दे दी थी। शतपथ ब्राह्मण १३. ७. १५ के अनुसार उन्होंने सर्वमेध यज्ञ किया था और अपना सब कुछ दान में दे दिया था।

विश्वजित्—यज्ञविशेष। विश्वजिता वै प्रजापतिः सर्वाः प्रजा अजनयत् सर्वमुदजयत् तस्माद् विश्वजित्' कौब्रा० २५. १३; 'प्रजापतिर्विश्वजित्' कौब्रा० २५. ११, १२, १५; 'इन्द्रो विश्वजिदिन्द्रो हीदं सर्वं विश्वमजयत्' कौब्रा० २४. १; 'सर्वं वै विश्वजित्' शब्रा० १०. २. ५. १६. 'एकाहो वै विश्वजित्' कौब्रा० २५. ११.

विश्व-ज्योतिः—एकाह यज्ञ। 'अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिः' शब्रा० ७. ४. २. २५; 'वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिः' शब्रा० ८. ३. २. १; 'प्राणो वै विश्वज्योतिः' शब्रा० ७. ४. २. २८; 'कीकसा विश्वज्योतिः' शब्रा० ७. ५. १. ३५.

विश्वंतर सौषद्मन—सुषद्मन् का वंशज। एक राजा का यह नाम है। इन्होंने **श्यापर्णों** को हटाकर संभवतः अन्य पुरोहितों की सहायता से यज्ञ किया था। **श्यापर्णों** में से एक व्यक्ति **राम मार्गवेय** ने अन्त में राजा को प्रसन्न करके उनसे हजारों गौएं प्राप्त की थीं : ऐब्रा०, ७. २७. ३, ४; ७. ३४. ७, ८।

विश्व-प्सु—सभी रूपों वाला। ऋग्वेद ६. ३५. ३; ८. २२. १२; १०. ७७. ४ में विश्वप्सु शब्द आया है।

विश्व-प्स्न्य—सभी प्रकार के धन या रूप वाला। ऋग्वेद ७. ४२. ६ में भाष्यकार माधव वेंकट ने विश्वप्स्न्य को एक राजा का नाम माना है; किंतु धनी के अर्थ में यह विशेषण हो सकता है। द्र० ऋ० ८. ८६. १५; तु०—वासं०, १२. १०; ऋ०—७. ७१. ४; २. १३. २।

विश्व-मनस—विश्व-मनस् एक-ऋषि का नाम है : ऋ०, ८. २३. २; ८. २४. ७। उन्हें **इन्द्र** का मित्र बताया गया है : पंविब्रा०, १५. ५. २०। अनुक्रमणी के अनुसार वे **व्यश्व** के वंशज और ऋ०, ८. २३–२६ के रचयिता थे।

विश्व-मानुष—ऋग्वेद (८.४५.२२) में किसी व्यक्ति का नाम विश्वमानुष है; किंतु संभवतः 'सभी मनुष्य' के सामान्य अर्थ में यह शब्द आया है।

विश्व-रूप त्वाष्ट्र—बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की वंशसूचियों (२. ६. ३; ४. ६. ३) में एक आचार्य का यह नाम है।

तु० 'त्वष्टुर्ह वै पुत्रः त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेवंरूप आस तस्माद् विश्वरूपो नाम' शब्रा० १. ७. ३. १; 'तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास सुरापाणमेकमन्यस्मा अशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद' शब्रा० १. ६. ३. २।

विश्व-वयस्—द्र० **बम्बा-विश्ववयस्**।

विश्व-वार—ऋग्वेद ५. ४४. ११ में स्पष्टतः एक यज्ञ-कर्ता का नाम विश्व-वार है।

विश्व-सामन्—एक आत्रेय ऋषि का नाम विश्वसामन् है : ऋ०, ५. २२. १।

विश्व-सृज्—विश्वसृज् कुछ देवशास्त्रीय लोगों को कहा गया है, जिनके एक सत्र का उल्लेख आता है : पंविब्रा०, २५. १८. १।

विश्वाची—'विश्वाचीरभि चष्टे घृत्ताचीरिति स्रुचश्चैतद् वेदीश्चाह' शब्रा० ९. २. ३. १७।

विश्वामित्र—सभी का मित्र। विश्वामित्र एक ऋषि का नाम है; इन्हें **कुशिक** का पुत्र कहा गया है : ऋ० ३. ३३. ५; ३. ५३. ७, १२। ये ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ऋषि कहे गये हैं। एक सूक्त में, जो वस्तुतः उनका

[1] वेस्टू०, १७१–१७३।

ही है, उन्होंने **विपाश्** और **शुतुद्री** नदियों की स्तुति की है : ऋ० ३. ३३. ५। वहाँ उन्होंने अपने को **कुशिक** का पुत्र कहा है। वे उक्त स्थलों पर **भरतों** के सहायक प्रतीत होते हैं। यह जन आक्रमण के लिए पूर्व से आ रहा था। नदी पार करते समय वे बाढ़ में फंस गए, पर विश्वामित्र ने नदियों को स्तुति द्वारा प्रसन्न कर लिया और **भरत** लोग पार पहुंच गए। उसी मण्डल के ३. ५३. ९–११ में भी इस घटना का उल्लेख आया है, किंतु सायण ने इसका गलत अर्थ समझा है। उनके अनुसार धन प्राप्त करके जाते समय विश्वामित्र का पीछा किया गया था : सायणभाष्य, ऋ० ३. ३३ पर। यास्क के अनुसार केवल यह ज्ञात होता है कि राजा ने विश्वामित्र को अपना पुरोहित बनाया था : निरुक्त, २. २४। **सुदास्** के संदर्भ में विश्वामित्र और **वसिष्ठ** के संबन्ध के लिए देखिए **वसिष्ठ**।

विश्वामित्रों का ऋग्वेद ३. १. २१; ३. १८. ४; ३. ५३. १३; १०. ८९. १७; अवे०, १८. ३. ६; १८. ४. ५४; जैउब्रा०, ३. १५. १ में उल्लेख आया है। उनके वंश को **कुशिकों** के रूप में दिखाया गया है : ऋ० ३. २६. १, ३; ३ २९. १५; २. ३०. २०; ३. ४२. ९. १०। परवर्ती साहित्य में **वसिष्ठ** के समान विश्वामित्र भी एक देवशास्त्रीय व्यक्ति बन गए हैं। उनका उल्लेख कभी-कभी **जमदग्नि** के साथ आया है; तु० ऋ०, ३. ५३. १५, १६। वे **शुनःशेप** के, जिन्हें उन्होंने अपना दत्तक पुत्र **देवरात** के रूप में बनाया था, होतृ-पुरोहित थे : ऐब्रा०, ७. १६; शांश्रौतसूत्र, १५. १७। वे **इन्द्र** के कृपा-पात्र थे और उन्होंने **इन्द्र** से भेंट भी की थी : ऐआ०, २. २. ३; शांआ०, १. ५। एक ऋषि के रूप में अन्यत्र भी उनका उल्लेख आता है : ऐआ०, २. २. १; ऐब्रा०, ६. १८. १; ६. २०. ३; तैसं०, २. २. १. २; ३. १. ७. ३; ५. २. ३. ४; कासं० १६. १९; २०. ९; मैसं०, २. ७. १९; कौब्रा०, १५. १; २६. १४; २८. १, २; २९. ३; पंविब्रा०, १४. ३. १२; बृउ०, २. २. ४; जैउब्रा०, ३. ३. १३; ३. १५. १ इत्यादि; **जमदग्नि** के साथ : अवे०, ४. २९. ५ इत्यादि।

आर्षकाव्य में विश्वामित्र राजा बन चुके हैं; वे बाद में ब्राह्मण वन गए थे[1]। ऋग्वेद में उनके राजा होने का उल्लेख नहीं है; किंतु निरुक्त २. २४ में उनके पिता **कुशिक** को राजा कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८. ९ में कहा गया है कि **शुनःशेप** ने उनका दत्तक पुत्र बनकर **जह्नुओं** का राजत्व एवं **गाथियों** का दैव वेद दोनों को पा लिया था; किंतु द्र० शांश्रौतसूत्र, १५. २७, जहाँ राजत्व का उल्लेख नहीं है। पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १२. २ में भी विश्वामित्र को राजा कहा गया है। किंतु इन सब उद्धरणों से विश्वामित्र के राजा होने की संभावना नहीं उभर पाती; संभवतः उनके पूर्वज राजवंश के रहे हों।

तु०–'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः' शब्रा० ८. १. २. ६; 'वाग् वै विश्वामित्रः' कौब्रा० १०. ५।

विश्वा-वसु—विश्वावसु एक गंधर्व या सोमगंधर्व का नाम है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में मिलता है :। ऋ० १०. ८५. २१; १०. १३९. ४, ५; अवे०, २. २. ४; १४. २. ३५; वासं०, २. ३; तैसं०, १. ६. १. ६. ५; शआ०, ३. २. ४. २ इत्यादि।

विश्वे-देवाः—संपूर्ण देवों को जहाँ एक साथ उद्दिष्ट करने की आवश्यकता समझी गई है, वहाँ उन्हें 'विश्वे-देवाः' के नाम से अभिहित किया गया है।

तु० 'रश्मयो ह्यस्य (सूर्यस्य) विश्वेदेवाः' शब्रा० ३. ९. २. ६; 'तस्य ये रश्मयस्ते विश्वे देवाः' शब्रा० ४. ३. १, २६; 'प्राणा वै विश्वे देवाः' शब्रा० १४. २. २. ३७; 'ऋतवो वै विश्वे देवाः' शब्रा० ७. १. १. ४३; 'इन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः' शब्रा० २. ४. ४. १३; 'श्रोत्रं विश्वे देवाः' शब्रा० ३. २. २. १३; 'ता (दिशः) उ विश्वे देवाः' जैउब्रा० २. २. ४; विडु विश्वे देवाः' शब्रा० १०. ४. १. ९; 'अनन्ता विश्वे देवाः' शब्रा० १४. ६. १. ११; 'विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमाः' शब्रा० १. ३. १. २. ८।

विष—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में विष या जहर का उल्लेख आम है : ऋ० १. ११७. १६; १. १९१. ११; ६. ६१. ३; १०. ८७. १८; अवे०, ४. ६. २; ५. १९. १०; ६. ९. २ इत्यादि।

विष-विद्या—आश्वलायन श्रौत-सूत्र १०. १०५ में अन्य विद्याओं के साथ विष-विद्या का भी उल्लेख आया है। द्र० **विद्या**।

विषाण—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में पशुओं के सींग को विषाण कहा गया है : अवे०, ३. ७. १, २; ६. १२१. १; ऐब्रा०, २. ११. १०; शब्रा०, ७. ३. २. १७।

विषाणका—अथर्ववेद ६. ४४. ३. में एक पौधे का नाम विषाणका है।[1] ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार यह केवल सींग के अर्थ में आया है। इसका उपयोग वार्तीकार

[1] द्र०–म्यूर, संस्कृत-टेक्स्ट्स, १[2] ३८८ एवं अग्रिम।

[1] तु०–विषाणिका, वाइज, हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन, १४६ में।

[2] हिम्स आफ दि अ० वे०, ४८२।

(रोग) के निराकरण के लिए होता था : अवे०, ९. ८. २०, 'वातीकृत:' ६. ४४. ३; ६. १०९. ३। यह रोग संदिग्ध है; तिसमर[1] के अनुसार यह घाव से उत्पन्न होने वाला रोग है; उन्होंने ऋग्वेद ६. १६. २०; ९. ९६. ८ के अवात (व्रण-रहित) से इसकी तुलना की है; किंतु ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार यह एक बादी का रोग है।

विषाणिन्—ऋग्वेद ७. १८. ७ में तृत्सुओं का शत्रु एक जन विषाणिनों का है, न कि मित्र, जैसा राथ[3] ने माना था। शब्द का अर्थ है 'सींग वाला,' किंतु इसका भाव अस्पष्ट है; संभवतः उनके अस्त्र सींग जैसे थे या उनमें सींग जड़ा होता था। **अनिलों, भलानसों, शिवों,** और **पक्थों** के साथ उन्हें उत्तर-पश्चिम का जन माना जा सकता है।

१—विषूवन्त्—एक-वर्षीय सत्र में मध्य के दिन का नाम विषूवन्त् आया है : अवे०, ११. ७. १५; पंविब्रा०, ४. ५. २; ४. ७. १; ५. ९. १०; ऐब्रा०, ३. ४१. ४; ४, १८. १; ४. २२. १; ६. १८. ८; कौब्रा०, २५. १; २६. १; तैब्रा०, १. २. ३. २; शब्रा०, १०. १. २. २; १०. १. ३. १४, २३; १०. १. ४. २; १०. २. १. ८ इत्यादि। तिलक[4] के अनुसार यह उस दिन को जताता है, जिस दिन, दिन और रात बराबर होते हैं। यह मत ठीक है।

२. विषूवन्त्—गृह के प्रसङ्ग में अथर्ववेद ९. ३. ८ में विषूवन्त् शब्द आया है। संभवतः छत अभिप्रेत हो।

विषूचिका—विषूचिका एक रोग है, जो अधिक सोमपान से पैदा हो जाता है। संभवतः यह हैजा हो; इसका शाब्दिक अर्थ है "दोनों ओर मलोत्सर्ग" : वासं०, १९. १०=मैसं०, ३. ११. ७=कासं०, ३७. १८=तैब्रा०, २. ६. १. ५=शब्रा०, १२. ७. ३. २।

वि-ष्कन्ध—अथर्ववेद में कई बार एक रोग का नाम विष्कन्ध आया है : १. १६. ३; २. ४. १; ३. ९. २, ६; ४. ९. ५; १९. ३४. ५; तैसं०, ७. ३. ११. १ इसके निराकरण के लिए सीस-मणि या कवच : अवे०, १. १६. ३; तु०–४; ३. ९. ६, शण या भांग : अवे०, २. ४. ६, अञ्जन : (अवे०, ४.९.५) और जंगिड पौधे : (अवे०, २. ४. १, ५; १९. ३४. ५; १९. ३५) के उपयोग का उल्लेख है। वेबर[5] के अनुसार यह वात-रोग है; किंतु ब्लूमफील्ड[1] ने ऋग्वेद के **व्यंस** (१. ३. २. ५) और **विग्रीव** (३. ४. २४) के समान इसे एक असुर माना है। संभवतः अथर्ववेद ३. ९. १ में उल्लिखित **कर्शफ** और **विशफ** नामक पौधों का भी इस रोग के निराकरण के लिए उपयोग होता रहा हो।

विष्टारिन्—अथर्ववेद ४. ३४. १ में विष्टारिन् शब्द किसी विशेष **ओदन** या **यूष** अथवा जूष का नाम है : तु० कौसूत्र, ६६. ६।

विष्टप-कर्णी—द्र०—**अष्टाकर्णी**।

विष्ठा-व्राजिन्—शतपथ ब्राह्मण ५. १. १२ में सायण के अनुसार यह शब्द 'एक ही स्थान में रहने वाले' को उद्दिष्ट करता है[2]; किंतु एगलिंग[3] ने दिखाया है कि काण्व-शाखा के एक स्थल पर इसे एक रोग कहा गया है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा "अतिसार या आम-रोग से ग्रस्त"।

विष्णापू—विष्णापू **विश्वक** के पुत्र का नाम है। यह खो गया था; **अश्विनों** ने इसे इसके पिता के पास पहुँचा दिया था : ऋ० १. ११६. २३; १. ११७, ७; ८. ८६. ३; १०. ६५. १२।

विष्णु—सर्वानुक्रमणी के अनुसार ६ सूक्त विष्णु की उपासना में कहे गए हैं। विष्णु को प्रकाश और सूर्य का मूर्त रूप माना जा सकता है, विशेषतः जब उनके तीन पद-न्यासों का उल्लेख आता है। यहाँ सूर्य, विद्युत् और अग्नि के रूप में विष्णु की कल्पना की जा सकती है, अथवा, उदय, प्रकाश और अस्तकालीन स्थिति से भी इसकी तुलना की जा सकती है।

ब्राह्मणों में विष्णु :—'यो वै विष्णुः स यज्ञः' शब्रा० ५. २. ३. ६; 'विष्णुर्वै यज्ञः' ऐब्रा० १. १३; 'यज्ञो वै वैष्णुवारुणः' कौब्रा० १६. ८; 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यंदिनं सवनमादित्यास्तृतीय सवनम्' शब्रा० १४. १. १. १५; 'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः' शब्रा० १४. १. १. ६; '(प्रजापतिः) यजुर्भ्योऽधि विष्णुम् (असृजत्) व विष्णुं यश आच्छंत्। तम् आलभत। 'यो विष्णोरध्योषधीरसृजत' तैब्रा० २. ३. २. ४; 'यो वै विष्णुः सोमः सः' शब्रा० ३. ३. ४. २१; 'यत् तदन्नमेष स विष्णुर्देवता' शब्रा० ७. ५. १. २१; 'वीर्यं विष्णुः' तैब्रा० १. ७. २. २; 'प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः' शब्रा० ६. ५. २. ८; 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः' ऐब्रा० १. १;

[1] आलें०, ३८९, ३९०।
[2] हिम्स आफ दि अ० वे०, ४८१. ५१६।
[3] त्सूर लितरात्यूर ९५।
[4] ओरायन, २१, २२।
[5] इस्टु०, ४. ४१०; १३. १४१; १५. २१५।

[1] हिम्स०, २८२, २८३।
[2] तु० बोवू०; बोहर्टलिङ्गक की डिक्शनरी।
[3] सेबुई० ४१. १२३ टि० १।

'अन्तो विष्णुर्देवतानाम्' तांब्रा० २१. ४. ५. 'एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च' ऐब्रा० १. १; 'यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेन' शब्रा० १. ९. ३. ९; 'वामनो ह विष्णुरास' शब्रा० १. २. ५. ५; 'वैष्णवो वामनः (पशुः)' शब्रा० १३. २. २. ९; 'विष्णुर्वै देवानां द्वारपः' ऐब्रा० १. ३०; 'तस्य उपपरासृत्य (वम्र्यः) ज्यामपिजक्षुस्तस्यां छिन्नायां धनुरार्त्न्यौ विष्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः' शब्रा० १४. १. १. ९; 'तस्य (मखस्य विष्णोः) धनुरार्त्निरूर्ध्वा पतित्वा शिरोऽच्छिनत् स प्रवर्ग्योऽभवत्' तांब्रा० ७. ५. ६; '(दध्यङ्ङाथर्वणः) तौ (अश्विनौ) ह उपनिन्ये तौ यदोपनिन्येऽथास्य (दधीचः) शिरश्छित्वान्यत्रापनिदधतुरथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः' शब्रा० १४. १. १. २४; 'पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी' गोब्रा० २. २. ९; 'यच्छ्रोत्रं स विष्णुः' गोब्रा० २. ४. ११; 'तद् यदेनेन (यज्ञेन विष्णुना) इमां सर्वां (पृथिवीं) समविन्दन्त तस्माद् वेदिर्नाम' शब्रा० १. २. ५. ७; 'यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद् वेदिर्नाम' १. २. ५. १०; (ऋ० १. १५४; ७. ९९; १. ९०. ९; १. १५४. ५; तैसं०, ३. ४. ५. १; ऋ० १. २२. १९; ४. ५५. ४; ५. ३. ३ इत्यादि)।

विष्फुलिङ्ग—आग की चिनगारी : बृउ०, २. १. २३; ६. १. १२; कौउ०, ३. ३; ४. २० तु० 'विष्फुलिङ्गक' ऋ० १. १९. १२; सायण ने इसका अर्थ अग्नि-जिह्वा या लपट किया है।

विष्फुलिङ्गक—ऋग्वेद १.१९२. १२ में विष्फुलिङ्गक शब्द विष्फुलिङ्ग या अग्नि की चिनगारी के अर्थ में आया है।

विष्वक्-सेन—सामविधान ब्राह्मण के अन्त में आचार्यों की वंश-सूची में **नारद** के शिष्य एक आचार्य का नाम विष्वक्-सेन है।

विष्वाच्—ऋग्वेद १. ११७. १६ में एक असुर का नाम विष्वाच् है।

वि-सल्य, वि-सल्यक—अथर्ववेद में एक रोग का नाम वि-सल्य (९. ८. २०) या वि-सल्यक (६. १२७. १; ९. ८. २, ५; १९. ४४. २) है। शंकर पण्डित ने वि-सल्यक पढ़ा है।[1] सायण ने वि-सल्यक (अवे०, ६. १२७ १) और वि-सर्पक (१९. ४४. २) पढ़ा है। संभवतः दर्द या ज्वर के साथ की शिरोवेदना अभिप्रेत हो।

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, हिम्स०, ६०१; ह्विटनी, ट्रां०, अ० वे०, ३७६; त्सिमर, आ० ले०, ३७८, ३८४।

वि-स्रस्—वृद्धावस्था या जरा-जीर्णता : अवे०, १९. ३४. ३० बोहटलिङ्ग्क की डिक्शनरी में संशोधन 'विस्रुहस्' है, जिससे तु० ऋ० ६. ७, ६; द्र० तैसं०, ३. ८. २०. ५; ऐआ०, २. ३. ७; ऐब्रा०, ८. २०. ७; कउ०, ६. ४।

विह्लह—अथर्ववेद ६. १६. २ में एक पौधे का नाम विह्लह है। "विहंल" और "विहल्ल" पाठान्तर हैं।

वीङ्क—साम-विशेष। 'च्यवनो वै दाधीचोऽश्विनोः प्रिय आसीत् सोऽजीर्यत तमेतेन साम्नाप्सु व्यैङ्कयतान्तं पुनर्युवानमकुरुतां तद् वाव तौ तर्ह्यकामयेतां कामसनि साम वीङ्कं काममेवैतेनावरुन्धे' तांब्रा० १६. ६. १०।

वीणा—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में वीणा या बीन का उल्लेख आता है : तैसं०, ६. १. ४. १; कासं०, ३४. ५; मैसं०, ३. ६. ८; शब्रा०, ३.२.४. ६; १३. १. ५. १; शततन्त्री : शांश्रौतसूत्र, १७. ३. १; जैउब्रा०, १. ४२। पुरुषमेध की बलियों की सूची में एवं अन्यत्र वीणावादक का उल्लेख आया है : वासं०, ३०. २०; तैब्रा०, ३. ४. १५. १; बृउ०, २. ४. ८; ४. ५. ९। ऐतरेय आरण्यक ३. २. ५; (तु० शांआ०, ८. ९) में इसके वालयुक्त चर्मावरण, शिरस्, उदर (मध्य-भाग), अम्भण (ध्वनि-पट्ट), तन्त्र (तार) और वादन (कोण, बजाते समय पहनी जाने वाली मुंदरी) का उल्लेख आया है। शतपथ ब्राह्मण १३. ४. २. ८ में "उत्तर-मुद्रा" किसी तान का अथवा किसी विशेष प्रकार की वीणा का नाम है। तु०—**वाण**।

वीणा-गाथिन्—वीणा बजाने वाला : तैब्रा०, ३. ९. १४. १; शब्रा०, १३. १. ५. १; १३. ४. २. ८, ११. १४; १३. ४. ३. ५ उसके नेता को वीणा-गणगिन् कहा गया है : शब्रा०, १३. ४. ३. ३; १३. ४. ४. २; शांश्रौतसूत्र, १६. १. २९।

वीणा-वाद—द्र०—**वीणा**।

वीत-हव्य—वीतहव्य एक राजा का नाम है, जो भरद्वाज के साथ (ऋ० ६. १५. २, ३) और **सुवास्** के समकालीन (ऋ० ७. १९. ३) थे। अथर्ववेद ६. १३७ १ में उन्हें **जमदग्नि** और **असित** से संबद्ध कहा गया है; किंतु उस लोक-कथा का विशेष महत्त्व नहीं है। संभवतः वे **सृञ्जयों** के राजा थे[1]। यजुर्वेद में एक राजा वीतहव्य **श्रायस** का उल्लेख आता है। संभवतः ये ऋग्वेद के वीतहव्य से अभिन्न अथवा उनके वंश के रहे हों : तैसं०, ५. ६. ५. ३; कौसं०, २२. ३; पंविब्रा०, २५. १६. ३; तु० ९. १. ९। तु० **वैत-हव्य**।

[1] हिल्लेब्राण्ट, वैदिशे मिथो०, १. १०५।

वीति—भोज या प्रमोद के अर्थ में यह शब्द आता है : ऋ० १. १३. २; ७. ६८. २; १. ७४. ४; ७. १६. ४; ६. ५३. १०; ९. १. ४; ९. ९७. २५ इत्यादि। तु० 'अग्न आ याहि वीतय इति अवितवे इत्येतत्' शब्रा० ६. ४. ४. ९।

वीर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वीर शब्द बलवान् या नायक को उद्दिष्ट करता है : ऋ० १. १८. ४; १. ११४. ८; ४. २९. २; ५. २०. ४; ५. ६१. ५; अवे०, २. २६. ४; ३. ५. ८ इत्यादि। एकवचन में यह शब्द **पुत्र** के अर्थ में आया है, जिसके लिए वेद में अनेक बार कामना की गई है : ऋ० २. ३२. ४; ३. ४. ९; ३. ३६. १०; ७. ३४. २०; तैसं०, ७. १. ८. १ इत्यादि। पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १. ४ में राजा के आठ वीरों का उल्लेख आता है, जो उसके सहायक एवं दरबारी हो सकते हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—**राज-भ्राता, राज-पुत्र, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहीतृ**। देखिये **रत्निन्**।

वीरण—षड्विंश ब्राह्मण ५. २ में **वीरिण** पौधे को वीरण कहा गया है।

वीर-हत्या—मनुष्य की हत्या। अपराधों की सूची में वीर-हत्या का भी उल्लेख आता है : तैआ०, १०. ४०। प्राचीन साहित्य में वीर-हन् (मनुष्य-वधक) का अनेक बार उल्लेख आया है : तैसं०, १. ५. २. ६; २. २ ५. ५; कासं०, ३१. ७; कपिसं०, ३७. ७; मैसं०, ४. १. ९; तैब्रा०, ३. २. ८. १२; वासं०, ३०. ५; पंविब्रा०, १२. ६. ८; १६. १. १२ इत्यादि। तु० **वैर**।

वीरिण—शतपथ ब्राह्मण १३. ८. १. १५ में एक घास। देखिये **वीरण**।

वीरुध—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में पौधे के लिये आया है : ऋ० १. ६७. ९; १. १४१. ४; २. १. १४; २. ३५. ८; अवे०, १. ३२. ३; १. ३४. १; २. ७. १; ५. ४. १; १९. ३५. ४. इत्यादि। प्रायः **ओषधि** के समान ही इसका अर्थ है, किंतु उसकी तुलना में यह छोटे पौधों को उद्दिष्ट करता है।

वीर्य—वैदिक साहित्य में वीर्य शब्द पौरुष, शक्ति, एवं ओज के अर्थ में पाया जाता है : ऋ० १. ३२. १; १. ५५. ३; १. ८०. १५; ३. २५. २; शब्रा०, ३. ३. ३. ३; १२. ७. १. ३; अवे०, १. ७. ५; ३. १९. १; ३. २; ४. ३ इत्यादि।

तु० 'वीर्यं विष्णुः' तैब्रा० १. ७. २. २; 'वीर्यं वा इन्द्रः' तांब्रा० ९. ७. ५, ८; 'वीर्यं वा अग्निः' तैब्रा० १. ७. २. २; 'इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम्' ऐब्रा० १. १३; 'वीर्यं त्रिष्टुप्' शब्रा० ७. ४. २. २४; 'तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरः' शब्रा० ६. ६. २. १.

१—**वृक**—भेडिया। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वृक का उल्लेख आम है : ऋ० १. ४२. २; १. १०५. ७; १. ११६. १४; २. २९. ६; ६. ५१. १४; ७. ३८. ७ इत्यादि; अवे०, ७. ९५. २; १२. १. ४९; कासं०, १२. १०; मैसं० ३. १४. ४; वासं ४. ३४; १९. १०; १९. ९२ इत्यादि। यह भेड़ों (ऋ० ८. ३४. ३; 'उरामथि', १०. ६६. ८), बछड़ों (अवे०. १२. ४. ७) का शत्रु और मनुष्यों के लिए भयावह (ऋ० १. १०५. ११, १८; २. २९. ६) था। इसका रंग अरुण बताया गया है : ऋ० १. १०५. १८। वृकी का भी ऋग्वेद में उल्लेख आया है : १. ११६. १६; १. ११७. १७; १. १८३. ४; ६. ५१. ६; १०. १२७. ६।

तु० 'अथ यत् कर्णाभ्यामद्रवत् ततो वृकः समभवत्' शब्रा० ५. ५. ४. १०; 'मूत्रादेवास्यौजोऽस्रवत्। स वृकोऽभवदारण्यानां पशूनां जूतिः' शब्रा०. १२. ७. १. ८.

२ **वृक**—ऋग्वेद के १. ११७. २१; ८. २२. ६ एवं निरुक्त, ५. २६ में वृक शब्द हल के अर्थ में आया है।

वृकद्वरस्—ऋग्वेद २. ३०. ४ में वृकद्वरस् का उल्लेख आता है, जहाँ लुड्विग[१] के अनुसार **शण्डिकों** के राजा वृकद्वरस् के विरुद्ध किसी युद्ध का प्रसङ्ग है। किंतु यह संदिग्ध है। राथ[२] और ओल्डेनबर्ग[३] ने 'वृकद्वरस्' पाठ माना है; हिलेब्राण्ट[४] ने यहाँ **ईरानियों** से संबन्ध देखा है।

वृक्ष—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वृक्ष शब्द पेड़ के अर्थ में आया है : ऋ०, १. १६४. २०, २२; २. १४. २; २. ३९. १; ४. २०. ५; ५. ७८. ६; अवे०, १. १४. १; २. १२. ३; ६. ४५. १; १२. १. २७, ५१। अथर्ववेद १८. २. २५ (तु० बृदे०, ५. ८३) में इसे खोखला बनाकर इससे शवाधार या शव के लिए सन्दूक बनाने का उल्लेख है। षड्विंश ब्राह्मण[५] में वृक्ष से रक्त गिरने का एक अपशकुन के रूप में उल्लेख आया है।

वृक्ष-सर्पी—वृक्ष पर चढ़ने वाला। कृमि-विशेष या पेड़ पर चढ़ने वाला सांप : अवे०, ९. २. २२।

---

[१] ट्रां० ऋ०, ३. १५३।

[२] वोबू०।

[३] ऋ० नोटेन, १. २११.

[४] वैमि०, ३. ४४२।

[५] इस्टू०, १. ४०।

वृक्ष्य—शतपथ ब्राह्मण १. १. १. १० में वृक्ष के फल को वृक्ष्य कहा गया है।

वृचया—ऋग्वेद १. ५१. ३ के अनुसार **अश्विनों** द्वारा **कक्षीवन्त्** को दी गई पत्नी का नाम वृचया है।

वृचीवन्त्—एक जन का नाम वृचीवन्त् है। ऋग्वेद ६.२७.५ के अनुसार **सृञ्जयों** के राजा **दैवरात** ने **तुर्वशों** के राजा और **वृचीवन्तों** को हराया था। त्सिमर ने **तुर्वशों** और वृचीवन्तों को अभिन्न माना है[1], किंतु यह अनावश्यक है। दोनों जन आपस में मित्र माने जा सकते हैं। इसके बाद केवल पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १२. २ में वृचीवतों का उल्लेख मिलता है, जहाँ **जह्नुओं** एवं **वृचीवन्तों** का सार्वभौम सत्ता के लिए संघर्ष वर्णित है और **जह्नु** राजा **विश्वामित्र** के यज्ञ द्वारा विजयी होने का उल्लेख है। तु० **हरियूपीया**।

वृजन—राथ[2] के अनुसार कुछ स्थलों पर वृजन शब्द ग्राम के अर्थ में आया है: ऋ० १. ५१. १५; १. ७३. २; १. ९१. २१; १. १०५. १९; १. १२८. ७; १. १६५. १५; १. १६६. १४ इत्यादि। त्सिमर[3] ने इस मत को मानकर यह दिखाने का यत्न किया है कि यह स्थायी निवास का (ऋ० १. ५१. १५; १. ७३. २; तु० १. ७३. ४) एवं युद्ध में भाग लेने वाले जनों (ऋ० ७. ३२ २७; १०. ४२. १०) का वाचक है। गेल्डनर[4] ने प्रारम्भिक अर्थ जाल और उससे अन्य अर्थों का विकास माना है।

वृजिन—दोष, एवं कभी-कभी दोषी के लिए भी वृजिन शब्द आया है: ऋ० १. २०. १; ६. ४६. १३; ९. ९७. १८; ४. २. ११; अवे०, ७. ५६. ४ इत्यादि।

वृत्र—ढकने वाला। इन्द्र का प्रमुख शत्रु वृत्र है, जिसे इन्द्र ने मारा था। इसे मेघ एवं अन्धकार का मूर्त रूप माना गया है: ऋ० १. ४. ८; १. ७. ५; ४. १७. १; ४. १८. ७; अवे०, ३. २; ४. २४. १; शब्रा०, ११. १. ५. ५; १३. ५. ४. ९।

तु० 'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम' शब्रा० १. १. ३. ४; 'स यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः' शब्रा० १. ६. ३. ९; 'पाप्मा वै वृत्रः' शब्रा० ११. १. ५. ७; '(इन्द्रः) तं (वृत्रं) द्वेधा न्वभिनत् तस्य यत् सौम्यं व्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्' शब्रा० १. ६. ३. १७; 'अथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः' शब्रा० १. ६. ४. १३; 'आपो ह वै वृत्रं जघ्नुस्तेनैवैतद् वीर्येणापः स्यन्दन्ते' शब्रा० ३. ९. ४. १४; 'महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः' शब्रा० २. ५. ४. १; 'तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः' शब्रा० ३. ४. ३. १३; 'मरुतो ह वै सांतपना मध्यंदिने वृत्रं संतेपुः स संतप्तोऽनन्नेव प्राणन् परिदीर्णः शिश्ये' शब्रा० २. ५. ३. ३। विशेष विवरण के लिए द्र० मैकडानल, वैमा०।

वृत्र-घ्न—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ५ में सायण के अनुसार वृत्रघ्न एक स्थान का नाम है। प्रकरण **भरत** द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अश्व को **गंगा**, **यमुना**, के तट पर और वृत्रघ्न पर (वृत्रघ्ने) बाँधने का है; किंतु राथ[1] के अनुसार यहाँ वृत्रघ्ने को चतुर्थी में लिया जा सकता है।

वृत्र-शङ्कु—वृत्र की खूंटी। शतपथ ब्राह्मण १३. ८. ४. १ में आया वृत्रशङ्कु शब्द कात्यायन श्रौतसूत्र २१. ३. ३१ के भाष्यकार के अनुसार पाषाण के स्तम्भ का वाचक है। संभवतः यह अर्थ शब्रा०, ४. २. ५. १५ के आधार पर किया गया है। तु० एगलिंग, सेबुई० ४४, ४३७ टि० १।

वृद्ध-द्युम्न आभिप्रतारिण—अभिप्रतारिन् का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८. ९ में एक राजा का यह नाम है, जहाँ उसके पुरोहित **शुचिवृक्ष गौपलायन** की प्रशंसा है। शांखायन श्रौतसूत्र १५. १६. १०–१३ में इसके विपरीत कहा गया है कि पुरोहित ने यज्ञ में गलती की थी; और तभी एक ब्राह्मण ने भविष्य-वाणी की थी कि **कुरुओं** को **कुरुक्षेत्र** से निर्वासित होना पड़ेगा, जैसा कि बाद में हो गया था।

वृद्ध-वाशिनी—निरुक्त ५. २१ में शृगाली के लिये आया है।

१—**वृश**—द्र०—**वृष**।

२. **वृश-जान**—वृश जन का वंशज। एक प्रसिद्ध पुरोहित का नाम वृश जान है। एक बार वे राजा **त्र्यरुण** के साथ रथ पर जा रहे थे। राजा के तेज रथ हांकने के कारण एक बालक रथ के नीचे दब कर मर गया, जिसे बाद में इन्होंने जिलाया था: पंविब्रा०, १३. ३. १२; शाट्यायनक,

[1] आले०, १२४।
[2] वोबू०।
[3] आले०, १४२, १५९, १६१।
[4] वैस्तू०, १. १३९।

[1] जैमिनीय पाठ के लिए द्र०—जअओसो०, १८. २०; ताण्डक, द्र० सायण-भाष्य, उपर्युक्त; भाल्लवि ब्रा० जिसका उद्धरण, बृदे०, ५. २३ में आया है।

ऋग्वेद ५. २. के सायणभाष्य में उद्धृत)[१]। ऋग्वेद ५. २ में ज़ीग[२] के अनुसार इस कथा का संकेत विद्यमान है।

वृश्चिक—बिच्छू : ऋ० १. १९१. १६; अवे०, १०. ४. ९, १५; १२. १. ४६; शांआ०, १२. २७। इसके विष से लोग वैसे ही डरते थे, जैसे सर्प के विष से : ऋ० १. १९१. १६; अवे०, १०. ४. ९, १५ : अवे०, १२. १. ४६।

वृष—काठक संहिता ३०. १ में एक पौधे के लिये आया है। मैत्रायणी संहिता ४. ८. १ में वृश रूप है, जिसका बोहर्टलिंग्क (डिक्शनरी) ने 'छोटा पशु' यह अर्थ किया है, यह चिन्त्य है। तु०—**येवाष**।

वृष-खादि—ऋग्वेद १. ६४. १० में मरुतों का विशेषण है। बोलेंसन[3] के अनुसार यह शब्द कान में बाली धारण करने को सूचित करता है। मैक्समूलर ने भी ऐसा ही अर्थ माना है[४]।

वृष-गण—ऋग्वेद ९. ९७. ८ में गायकों के एक परिवार का नाम वृष-गण है।

वृषणश्व—वृषणश्व का उल्लेख **मेना** और **इन्द्र** के प्रकरण में आया है, जहां **मेना** वृषणश्व की लड़की बताई गई है : तैआ० १. १२. ३; जैब्रा०, २. ९७; शब्रा०, ३. ३. ४. १८; षविंब्रा०, १. १. १६, तैआ० १. १२. ३।

वृष-दंश—मजबूत दाँत वाला। अश्वमेध की बलियों की सूची में वृष-दंश (मार्जार या बिल्ली) का उल्लेख आता है : तैसं०, ५. ५. २१. १; मैसं०, ३. १४. १२; वासं०, २४. ३१। पञ्चविंश ब्राह्मण ८. २. २ में इसके मकियाने का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि यह पालतू भी होता था। गेल्डनर[५] ने अथर्ववेद १. १८ में पालतू बिल्ली वृष-दती का उल्लेख माना है; किंतु ह्विटनी[६] ने इस मत का खण्डन किया है।

वृषन्—ऋग्वेद १. ३६. १०; ६. १६. १४, १५ में एक व्यक्ति का नाम वृषन् है, जिसका पैतृक नाम पाथ्य है।

तु० 'एष वै वृषा हरिर्य एष तपति' शब्रा० १४. ३. १. २६; 'इन्द्रो वै वृषा' तांब्रा० ९. ४. ३; 'योषा वै वेदिर्वृषाग्निः' शब्रा० १. २. ५. १५; 'वृषा हि मनः' शब्रा० १. ४. ४. ३; 'योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः' शब्रा० १. ३. १. ९; 'वृषा वै राजन्यः' तांब्रा० ६. १० ९. 'आण्डाभ्यां हि वृषा पिन्वते' शब्रा० १४. ३. १. २२. 'पश्चाद् वै परीत्य वृषा योषामधि द्रवति तस्यां रेतः सिञ्चति' शब्रा० २. ४. ४. २३.

वृषभ—ऋग्वेद में वृषभ शब्द बैल के अर्थ में, किंतु प्रायः आलंकारिक रूप में आया है : ऋ०, १. ९४. १०; १. १६०. ३; ६. ४६. ४; पर्जन्य के लिए : ऋ० ७. १०१. १, ६ इत्यादि।

वृषल—ऋग्वेद के अक्ष-सूक्त (१०. ३४. ११; तु० निरुक्त, ३. १६) में वृषल एक बाह्य जाति का नाम है; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. १२ माध्यंदिन में वृषल या वृषली को अस्पृश्य बताया गया है।

वृष-शुष्म वातावत जातूकर्ण्य—वातवन्त् का वंशज। ऋग्वेद-ब्राह्मणों (ऐब्रा०, ५. २९. १; कौउ०, २. ९ पाठान्तर 'वाधावत') में एक पुरोहित का यह नाम है। संभवतः वृष-शुष्म नाम वंश ब्राह्मण में भी उन्हीं का आया है।[१]

वृषा-कपि—ऋग्वेद १०. ८६ में **इन्द्र** और **इन्द्राणी** के साथ वृषा-कपि भी संबद्ध हैं। भाष्यकारों ने उन्हें **इन्द्र** और **इन्द्राणी** का पुत्र माना है; उनकी सूर्य से भी एकता मानी गई है। उक्त सूक्त के रचयिता ऋषि के रूप में भी उनका उल्लेख मिलता है : द्र० ऋ० १०. ८६; निघण्टु, ५. ६; निरुक्त, १२. २७।

तु० 'तद् यत् कामयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः तद् वृषाकपेर्वृषाकपित्वम्' गोब्रा० २. ६. १२; 'आत्मा वै वृषाकपिः' ऐब्रा० ६. २९.

वृषा-रव—वृष के समान रांभने वाला। पशु के लिए आया है : ऋ० १०. १४६. २=तैब्रा०, २. ५. ५. ६। शतपथ ब्राह्मण १२. ५. २. ७ में यह शब्द दुन्दुभि बजाने वाली लकड़ी को जताता है।

वृष्टि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वर्षा के लिये सामान्य शब्द वृष्टि है : ऋ०, १. ११६ १२; २ ५. ६; अवे०, ३. ३८. ११; ६. २२. ३ इत्यादि।

तु० (प्रजापतिः) तम् (पाप्मानम्) अवृश्चत् 'यदवृश्चत् तस्माद्वृष्टिः' तैब्रा० ३. १०. ९. १; 'वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति' ऐब्रा० २. ४१; 'वृष्टिर्वै विराट् तस्या एते घोरे तन्वौ विद्युच्च ह्रादुनिश्च' शब्रा० १२. ८. ३. ११; 'तौ (अनड्वाहौ) यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद् वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यतीत्येतद्ध विज्ञानम्' शब्रा० २. ३. ४. ११; 'अन्नं वृष्टिः' गोब्रा० १. ४. ४. 'इत-

---

[१] दी ज्ञा० ऋ०, ६४-७६।
[२] ओरियंट उण्ड आक्सिडेंट, २. ४६१ टि०।
[3] सेबुई० ३२. १०७, १२०।
[४] वैस्तु०, १. ३१३–३१५।
[५] ट्रां० ऋ०, १९, २०।

[१] इस्तु०, ४. ३७३।

प्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निर्वृष्टिं वनुते स एतैः (घृत-) स्तोकैरेतान्स्तोकान् वनुते त एते स्तोका वर्षन्ति' शब्रा० ३. ८. २. २२. 'वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनुप्रविशति' ऐब्रा० ८. २८.

वृष्टि-वनि—'सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति' शब्रा० १४. २. १ २१.

वृष्टि-हव्य—ऋग्वेद १०. ११५. ९ में एक ऋषि का नाम है, जिनके पुत्र **उपस्तुत** थे।

वृष्ण्य—'रेतो वै वृष्ण्यम्' शब्रा० ७. ३. १. ४६.

वेट्कार—'वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारः' शब्रा० ९. ३. ३. १४.

वेणु—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में बाँस के लिये आया है: अवे०, १. २७. ३; तैसं, ५. २. ५. २; ७. ४. १९. २; कासं०, १३. १२; शब्रा०, १. १. ४. १९; २. ६. १७ इत्यादि। इसे खोखला (सुषिरं) बताया गया है: तैसं०, ५. १. १. ४। ऋग्वेद में केवल वालखिल्य-सूक्त (८. ५५. ३) में यह शब्द आया है, जहाँ दान-स्तुति का प्रसङ्ग है, और जहाँ राय[1] ने इसे वंशी के अर्थ में लिया है, जो बाद में वेणु का अर्थ बन गया है। कौषीतकि ब्राह्मण ४. १२ में वेणु के साथ **सस्य** का उल्लेख आता है: दोनों को वसन्त में पकने वाला कहा गया है; तु० काश्रौतसूत्र ४. ६. १७ सभाष्य।

तु० 'सैषा योनिरग्नेर्यद् वेणुः' शब्रा० ६. ३. १. ३२; 'अग्निर्देवेभ्य उद्क्रामत् स वेणुं प्राविशत् तस्मात् स सुषिरः' शब्रा० ६. ३. १. ३१.

वेतस—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बेंत के लिये आया है: ऋ० ४. ५८. ५; अवे०, १०. ७. ४१; १८. ३. ५; तैसं०, ५. ३. १२. २; वासं०, १७. ६; तैब्रा०, ३. ८. ४. ३ इत्यादि। इसे स्वर्णिम (हैरण्य, ऋग्वेद ५. ३. १२. २) बताया गया है।

तु० 'ताः (आपः) प्रजापतिमब्रुवन्। यद्वै नः कमभूद् अवाक् तदगाद् इति सोऽब्रवीत्। एष व एतस्य वनस्पतिर्वेत्त्विति वेत्तु संवेत्तु सोऽह वै तं वेतस इत्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ९. १. २. २२; 'अप्सु योनिर्वै वेतसः' शब्रा० १२. ८. ३. १५; 'तस्माद् वेतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः' शब्रा० ९. १. २. २४।

वेतसु—ऋग्वेद ६. २०. ८; ६. २६. ४ में एकवचन में और १०. ४९. ४ में बहुवचन में वेतसु आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि **इन्द्र** ने वेतसु को हराया था; किंतु यह नहीं समझा जा सकता कि वेतसु किसी असुर का नाम था। त्सिमर[1] के अनुसार वेतसु लोगों का एक जन था; **दश-द्यु** उसके एक सदस्य थे; इन लोगों ने **तुग्रों** को हराया था।

वेतस्वन्त्—बेंतों से भरा हुआ। वेतस्वन्त् एक स्थान का नाम है, जिसे वेबर[2] ने **एकयावन गांदम** का एक भाग माना था: पंविंब्रा०, २१. १४. २०।

१. वेद—"पवित्र ज्ञान" के अर्थ में अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में वेद शब्द आम है: अवे०, ७. ५४. २; १०. ८. १७; १५. ३. ७; **वेद-त्रय**:–शब्रा०, ५. ५. ५. १०; १३. ४. ३. ३; निरुक्त, १. १. २, १८, २० इत्यादि। बहुवचन में यह **ऋग्वेद, यजुर्वेद** तथा सामवेद को उद्दिष्ट करता है: अवे०, ४. ३५. ६; १९. २. १२; तैसं०, ७. ५. ११. २; ऐब्रा०, ५. ३२. १; ६. १५. ११; तैब्रा०, ३. १०. ११. ४; शब्रा०, ११. ३. ३. ७; १२. ३. ४. ११ इत्यादि। तु० **विद्या**।

तु०– 'स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः' शब्रा० ११. ५. ८. ३; 'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति' गोब्रा० १. २. १६; 'ते सर्वे त्रयो वेदाः। दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनाम् अभवन्' शब्रा० १०. ४. २. २५; 'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः' गोब्रा० १. २. १०; 'वेदो ब्रह्म' जैउब्रा० ४. २५. ३; 'वेदा एव सविता' गोब्रा० १. १. ३३; 'तदाहुः किं तत् सहस्रम् (ऋ० ६. ६. ९) इतीमे लोका इमे वेदा अथो वागिति ब्रूयात्' ऐब्रा० ६. १५; 'अनन्ता वै वेदाः' तैब्रा० ३. १०. ११. ३; 'अथो सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम' शब्रा० १२. ८. ३. २३।

२. वेद—दर्भमुष्टि। तु० 'प्राजापत्यो वै वेदः' तैब्रा० ३. ३. ७. २; 'प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद्वेदः' तैब्रा० ३. ३. ९. ११; 'योषा वे वेदिर्वृषा वेदः' शब्रा० १. ९. २. २१; 'वृषा वै वेदो योषा पत्नी' कौब्रा० ३. ९।

वेदि—'तं यज्ञं वेद्यामन्वविन्दन् यद् वेद्यामन्वविन्दंस्तद्वेदेर्वेदित्वम्' ऐब्रा० ३. ९; 'यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद् वेदिर्नाम' शब्रा० १. २. ५. १०; 'वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्' तैब्रा० ३. ३. ९. १०;

---

[1] वोब०।
[2] वेबर, इस्टू०, १०. ३४३।

[1] आले०, १२८।
[2] इस्टू०, १. ३२।

'पृथिवी वेदिः' ऐब्रा० ५. २८; 'एतावती वै पृथिवी। यावती वेदिः' तैब्रा० ३. २. ९. १२; 'वेदिर्वै परोन्तः पृथिव्याः' तैब्रा० ३. ९. ५. ५; 'वेदिर्वै देवलोकः' शब्रा० ८. ६. ३. ६; 'वेदिर्वै सलिलम्' शब्रा० ३. ६. २. ५; वेदिरेव विश्वाची (अप्सराः)' शब्रा० ८. ६. १. १९; 'योषा वै वेदिः' शब्रा० १. ३. ३. ८; 'योषा वै वेदिर्वृषाग्निः' शब्रा० १. २. ५. १५; 'सा वै वेदिः पश्चात् वरीयसी स्यात् मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्वी' शब्रा० १. २. ५. १६; 'व्याममात्री (वेदिः) पश्चात् स्यादित्याहुः। एतावान् वै पुरुषः पुरुषसंमिता हि त्र्यरत्निः प्राची' शब्रा० १. २. ५. १४; 'त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्' शब्रा० १. २. ५. ९; 'सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्' शब्रा० १. २. ५. १७; 'अथो उदक्प्रवणा' शब्रा० १. २. ५. १७।

वेदाङ्ग—वेदाङ्ग शब्द सर्वप्रथम निरुक्त १. २० में और बाद में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य १२. ४० में ऋग्वेद के सहायक ग्रन्थों को जताता है। बाद में यह वेद के सहायक छः विशिष्ट अङ्गों (**शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष**) को जताता है।

वेधस्—मेधाविन्, पवित्र, धार्मिक गुणी या वीर के अर्थ में वेधस् शब्द वैदिक साहित्य में आता है और प्रायः यह देवविशेष या देवों का विशेषण बनकर आया है; ऋ० १. ६९. ३; ४. १. ६५. १०; ५. ४३. १२; ९. २६. ३; ९. १०२. ४; १. १३१. ६; ३. ४१. १; ५. १५. १; ४. ६. १; ४. १६. २; १०. १०. १ इत्यादि।

१. **वेन**—निघण्टु ३. १५ के अनुसार वेन शब्द मेधावी के लिए आया है : ऋ० १, ३९. १०; ८. ५२. १; १०. १२३. १; ९. ६४. २१; ९. ८५. १०; ८. ४१. ३ इत्यादि।

२. **वेन**—निघण्टु ३. १७ के अनुसार यह शब्द कुछ स्थलों पर यज्ञ का वाचक है : ऋ० ९. २१. ५; ४. ५८. ४; ८. ८९. ५; १०. ६४. २; १. ६१. १४; अवे०, १६. ३. २ इत्यादि।

३. **वेन**—ऋग्वेद १०. ९३. १४ में एक उदार दाता का नाम वेन आया है। संभवतः **पृथवाण** (ऋ० १०. ९३. १५) उनका पैतृक नाम है।

४. **वेन**—तु० असावादित्यो वेनो यद् वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत् तस्माद् वेनः' शब्रा० ७. ४. १. १४; 'इन्द्र उ वै वेनः' कौब्रा० ८. ५।

तिलक[१] के अनुसार ऋग्वेद १०. १२३ में वेन शब्द **शुक्र** ग्रह के लिए आया है।

[१] ओरायन, १६३।

वेमन्—द्र०—**ओतु**।

१. **वेश**—ऋग्वेद में वेश एवं वेशस् शब्द संभवतः आश्रित, निवासी के अर्थ में आये हैं : ऋ० ४. ३. १३; ५. ८५. ७; कासं०, १२. ५; ३१. १२; ३२. ४; वासं०, २. ५, ७ काण्व; मैसं०, १. ४. ८; २. ३. ७; ४. १. १३। द्र० वोबू।

२. **वेश**—ऋग्वेद २. १३. ८; १०. ४९. ५ में व्यक्ति-वाचक शब्द है।

वेशन्ता[१], **वेशन्ती**[२], **वेशान्ता**[३]—ये सभी शब्द तालाब या सरोवर के वाचक हैं। १—अवे०, ११. ६. १०; २०. १२८. ८, ९; तैब्रा०, ३. ४. १२. १। २—अवे०, १. ३. ७;। ३—बृउ०, ४. ३. ११। द्र०—**वैशन्त**।

वेशस्—द्र०—**१ वेश**।

वेशान्ता—द्र०—वेशन्ता।

वेशी—ऋग्वेद ७. १८. १७ में वेशी का अर्थ सूई प्रतीत होता है।

वेश्मन्—गृह : ऋ० १०. १०७. १०; १०. १४६. ३; अवे०, ५. १७. १३; ९. ६. ३०; ऐब्रा०, ८. २४. ६ इत्यादि; शब्रा०, १. ३. २. २४।

वेश्य—ऋग्वेद ४. २६. ३; ६. ६१. १४ में वेश्य शब्द 'पड़ौस' की अपेक्षा 'आश्रय' को अधिक जताता है। तु०—**१—वेश**।

वेष्क—शतपथ ब्राह्मण ३. ८. १. १५ में पशुओं को बाँधने के पाश या पगहा को वेष्क कहा गया है। द्र०—**श्लेष्क**।

वेहत्—वेहत् शब्द फरड़ा गौ का वाचक है : अवे०, १२. ४. ३७ एवं अग्रिम; ३. २३. १ में वेहत् स्त्री; वासं०, १८. २७; २४. १; तैसं, २. १. ५. ३; शब्रा०, १२. ४. ४. ६। कुछ स्थलों पर **वशा** के साथ इसका उल्लेख आता है : कासं०, ३८, १०; मैसं०, ३. ११. ११; वासं०, २१. २१; तैब्रा०, २. ६. १८. ४।

वैकर्ण—ऋग्वेद ७. १८. ११ में **दाशराज्ञ** युद्ध के प्रसङ्ग में वैकर्ण का उल्लेख आता है, जहाँ कहा गया है कि **सुदास्** ने दोनों वैकर्णों के २१ जनों को नष्ट कर दिया था। त्सिमर[१] ने वैकर्ण नाम **कुरु-क्रिवियों** के संघ का माना है। महाभारत (६. २१०५) और वोबू० में **विकर्ण** को कश्मीर में माना गया है; जो वहाँ रहने वाले **कुरुओं** की एक स्मृति हो सकती है। तु०—**उत्तर-कुरु**।

१—**वैखानस**—कुछ देवशास्त्रीय ऋषियों का नाम वैखानस है, जो **मुनिमरण** नामक स्थान में रहस्यु **देवम-**

[१] आ०ले०, १०३।

लिम्लुच् द्वारा मारे गये थे : पंविब्रा०, १४. ४. ७; तैआ०, १. २. ३; तु० पंविब्रा., १४. ९. २९ में **वैखानस पुरुहन्मन्** ।

२—**वैखानस**—साम-विशेष । '(इन्द्रः) (मृतान् वैखानसानृषीन्) एतेन साम्ना समैरयत् वद्वाव स तर्ह्य-कामयत कामसनि साम वैखानसं काममेवैतेनावरुन्धे' तांब्रा० १४. ४. ९.

वैचित्र-वीर्य—द्र०—**धृतराष्ट्र** ।

वैजान विजान का वंशज । सायण के अनुसार वृश का पैतृक नाम वैजान है : पंविब्रा०, १३. ३. १२; किंतु संभवतः पाठ 'वै जानः' है; और पैतृक नाम जान है । तु०—वेबर, इस्तू०, १०. ३२ ।

वैट्टभटी-पुत्र—**कार्शकेयी-पुत्र** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है : बृए०, ६. ५. २ काण्व । तु०—**वैदभृती-पुत्र** ।

वैडव—वीडु का वंशज । पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ८. १४ में **वसिष्ठ** का पैतृक नाम वैडव है, जहाँ उन्हें एक साम-द्रष्टा ऋषि बताया गया है ।

वैडूर्य—वैडूर्य के लिये अद्भुत ब्राह्मण[1] में आया है ।

वैतरण—ऋग्वेद १०. ६१. ७ में अग्नि के प्रसङ्ग में वैतरण शब्द आया है । राथ[2] ने इसे व्यक्तिवाचक माना है, किंतु संभवतः "वितरण से संबद्ध" इस अर्थ में यह अग्नि का विशेषण रहा हो, जैसे **भरत** का अग्नि अथवा **वध्र्यश्व** का अग्नि ।

१. **वैत-हव्य**—वीत-हव्य का वंशज । एक ब्राह्मण की गौ का भक्षण करने के कारण वैत-हव्यों के नष्ट हो जाने का उल्लेख अथर्ववेद ५. १८. ११; ५. १९. १ में आया है । त्सिमर ने वैत-हव्य को **सृञ्जय** का विशेषण माना है । किंतु यह चिन्त्य है; क्योंकि एक व्यक्ति वीत-हव्य का भी उल्लेख मिलता है ।

२. **वैत-हव्य**—साम-विशेष । 'वीतहव्यः श्रायसो ज्योग्निरुद्ध एतत् सामापश्यत् सोऽनागच्छन् प्रत्यतिष्ठत् अवगच्छति प्रतितिष्ठत्येतेन तुष्टुवानः' तांब्रा० ९. १. ९ ।

वैतहोत्र—वीतहोत्र का वंशज । मैत्रायणी संहिता ४. २. ६ में **क्रीत** का यह पैतृक नाम है ।

वैद—विद का वंशज । **हिरण्य-दन्त्** का पैतृक नाम वैद है : ऐब्रा०, ३. ६. ४; ऐआ०, २. १. ५; आश्रौतसूत्र, १२. १०. ९; "बैद" इसका पाठान्तर है ।

वैदथिन—विदथिन् का वंशज । ऋग्वेद ४. १६. ११; ५. २९. १३ में **ऋजिश्वन्** का यह पैतृक नाम है ।

[1] इस्तू०, १. ४०, ओमिना उण्ड पोर्टेंटा, ३२५ ।

[2] वोबू० ।

वैददश्वि—विददश्व का वंशज । ऋग्वेद ५. ६१. १० में **तरन्त** का पैतृक नाम वैददश्वि है । पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ७. १२ और जैमिनीय ब्राह्मण (१. १५१; ३. १३९) में दो वैददश्वि **तरन्त** और **पुरुमीढ्ह** हैं; तु० सायण भाष्य, ऋ०, ९. ५८. ३. पर । किंतु ऋग्वेद में **पुरुमीळ्ह** को वैददश्वि नहीं कहा गया है । तु० आर्षेय ब्राह्मण, बर्नेल का संस्करण, पृ० ५४ ।

वैदन्वित—साम-विशेष । 'विदन्वान् वै भार्गव इन्द्रस्य प्रत्यहस्तं शुगार्छत् स तपोऽतप्यत स एतानि वैदन्वितान्य-पश्यत् तैः शुचमपाहतापशुचं हते वैदन्वितैस्तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ११. १० ।

वैदभृती-पुत्र—वैदभृत्-वंशीया का पुत्र । यह एक आचार्य का नाम है : बृउ० ६. ४. ३२. माध्यंदिन । तु० **वैट्टभटी-पुत्र** ।

वैदर्भ—विदर्भ का राजा । ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में **भीम** वैदर्भ का उल्लेख आता है ।

वैदर्भि—विदर्भ का वंशज । प्रश्न उपनिषद् १. १; २. १ में **भार्गव** का पैतृक नाम वैदर्भि है ।

वैदेह—विदेह का राजा । **जनक** और **नमी साप्य** का विशेषण है ।

वैधस - वेधस् का वंशज । **हरिश्चन्द्र** का पैतृक नाम है : ऐब्रा०, ७. १३. १; शांश्रौतसूत्र, १५. १७. १ ।

वैन्य—वेन का वंशज । देवशास्त्रीय **पृथि, पृथी** या **पृथु** का पैतृक नाम है : ऋ०, ८. ९. १०; पंविब्रा० १३. ५. २०; शब्रा०, ५. ३. ५. ४ ।

वैपश्चित दार्ढजयन्ति गुप्त लौहित्य—विपश्चित् का वंशज, 'दृढजयन्त का वंशज', 'लोहित का वंशज' । जैमिनीय ब्राह्मण ३. ४२. १. में **दार्ढजयन्ति दृढजयन्त लौहित्य** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है ।

१—**वैयश्व**—व्यश्व का वंशज । ऋग्वेद ८. २३. २४; ८. २४. २३; ८. २६. ११ में **विश्वमनस्** का पैतृक नाम वयश्व है ।

वैयश्व—साम-विशेष । 'व्यश्वो वा एतेनाङ्गिरसो-ऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्या एतत् पृष्ठानामन्ततः क्रियते' तांब्रा० १४. १०. ९.

वैयाघ्रपदी-पुत्र—व्याघ्रपद्-वंशीया का पुत्र । **काण्वी पुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाय वैयाघ्रपदी-पुत्र है : बृउ०, ६. ५. १ ।

वैयाघ्र-पद्य—व्याघ्रपद् का वंशज । **इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय** (शब्रा०, १०. ६. १. ८; छाउ०, ५. १४. १), **बुडील आश्वतराश्वि** (छाउ०, ५. १६. १) **गोश्रुति** (छाउ०, ५.

३; शांआ०, ९. ७), और **राम क्रातुजातेय** (जैउब्रा०, ३. ४०. १; ४. १६. १) का यह पैतृक नाम है।

वैयास्क—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य १७. २५ में ऋग्वेद के छन्दों के एक ज्ञाता का नाम वैयास्क आता है। राथ[1] ने संभवतः ठीक ही उसे यास्क माना है; ठीक पाठ "वै यास्कः" रहा होगा।

वैर, वैर-देय—शत्रुता। संहिताओं एवं ब्राह्मणों में इन शब्दों का अर्थ निश्चय ही वीर-हत्या के लिये दिया जाने वाला दण्ड है; **वैर-देय** : ऋ० ५. ६१. ८; कासं० २३. ८; २८. २. ३, ६; **वैर** : पंविब्रा०, १६. १. १२; तु०—तैसं०, १. ५. २. १; कासं०, ९. २; कपिसं०, ८. ५; मैसं०, १. ७. ५ जहाँ "वीरम्" पाठ है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १. ९. २४. १–४ और बौधायनश्रौत सूत्र १. १०. १९, १–२ से इनका समर्थन होता है। दोनों में **क्षत्रिय** के वध के लिए १००० गौएं, **वैश्य** के वध के लिए १०० गौएं, और **शूद्र** के वध के लिए एक बैल दण्डस्वरूप देने का विधान आता है। ब्राह्मण की हत्या तो घोरतम अपराध है; तु० आप०, १. ९. २४. ७; बौधायन, १. १०. १८. १८। बौधायन के अनुसार यह सब राजा को दिया जाना चाहिए। संभवतः राजा मृत व्यक्ति के संबन्धियों को यह दे देता था। आपस्तम्ब के अनुसार स्त्रियों के वध का भी यही दण्ड था : १. ९. २४. ५; किंतु **गौतम** ने उन्हें शूद्र के स्तर पर माना है, एक अपवाद को छोड़कर १. १०. १९. ३। ये दण्ड "वैर-यातन" या "वैर-निर्यातन" (अर्थात् शत्रुता के अन्त और प्रायश्चित्त) के लिए होते थे। ऋग्वेद २. ३२. ४ में मनुष्य को शत-दाय कहा गया है; संभवतः वहाँ इस विशेषण का आधार है, उसका १०० गौओं के मूल्य के बराबर होना, जो उसे मारने पर दण्डस्वरूप वधक को देनी पड़ती थीं। निःसंदेह ये मूल्य घट-बढ़ सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५. ७ में **शुनः शेप** का मूल्य १०० गौओं के रूप में माना गया है। शत-दाय शब्द यजुर्वेद में भी आया है : कासं०, ९. २; कपिसं०, ३. ५; मैसं०, १. ७. ५।

इन उल्लेखों से प्रतीत होता है, कि वैर के प्रतिशोध की व्यक्तिगत भावना पर राजकीय सत्ता और सार्वजनिक विचारों का नियन्त्रण स्थापित हो चुका था। तु०—**धर्म**।

वैर-हत्या—मनुष्य-हत्या। वाजसनेयि संहिता ३०. १३ में और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. ९. ५ में वैर-हत्या का उल्लेख आता है। तु०—**वीर-हन्**।

वैराज्य—द्र०—**राज्य**।

[1] बोबू०।

१—**वैरूप**—विरूप का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ९. २१ में **अष्टादंष्ट्र** का पैतृक नाम वैरूप है।

२—**वैरूप**—साम-विशेष। 'देवा वै तृतीयेनाह्ना स्वर्गं लोकमायंस्तानसुरा रक्षांस्यन्ववारयन्त ते विरूपा भवत विरूपा भवतेति भवन्त आयंस्ते यद् विरूपा भवत विरूपा भवतेति भवन्त आयंस्तद् वैरूपं सामाभवत् तद् वैरूपस्य वैरूत्वम्' ऐब्रा० ५. १. 'रथंतरमेतत् परोक्षं यद् वैरूपम्' तांब्रा० १२. २. ५; 'वाग् वैरूपम्' तांब्रा० १६. ५. १६; 'पशवो वै वैरूपम्' तांब्रा० १४. ९ ८.

वैशन्त -ऋग्वेद ७. ३२. २ के अनुसार वैशन्त एक राजा का नाम है। इन्द्र ने इनकी हवि ग्रहण न करके **सुदास्** की हवि ग्रहण की थी, क्योंकि **वसिष्ठों** ने **सुदास्** को इस दृष्टि से सहायता प्रदान की थी। लुड्विग[1] ने इन्हें वेशन्त के रूप में **पृथु-पर्शुओं** का पुरोहित माना है; जब कि ग्रिफिथ[2] ने वैशन्त किसी नदी का नाम माना है; किंतु दोनों ही मत चिन्त्य हैं।

वैशम्पायन—विशम्प का वंशज। वैदिक साहित्य में केवल एक बार तैत्तिरीय आरण्यक, १. ७. ५ में वैशम्पायन नाम आता है; बाद में गृह्य-सूत्रों एवं विशेषतः आर्षकाव्य-काल में ये एक प्रमुख आचार्य के रूप में उल्लिखित हैं।

वैशाख—द्र०—**मास**। **नक्षत्र**।

वैशालेय—विशाल का वंशज। देवशास्त्रीय **तक्षक** का पैतृक नाम वैशालेय है : अवे०, ८. १०. २९।

वैशी-पुत्र—वैश्य स्त्री का पुत्र। ब्राह्मणों में वैशीपुत्र का उल्लेख मिलता है : तैब्रा०, ३. ९. ७. ३; शब्रा०, १३. २।

वैश्य वैश्य तीसरा वर्ण है, जो **ब्राह्मण** और **क्षत्रिय** से निम्न एवं **शूद्र** से उच्च माना गया है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०. ९०. १२) के बाद कई बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी **विश्य रूप** भी आया है : अवे०, ५. १७. ९; वासं०, ३०. ५ इत्यादि; (द्र०—**वर्ण**) **विश्य** :—अवे० ६. १३. १, वासं०, १८. ४८ इत्यादि।

वैदिक साहित्य में वैश्यों का उल्लेख **ब्राह्मण** एवं **क्षत्रियों** की अपेक्षा कम आता है। ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९ में उसकी विशेषताएं स्पष्ट रूप से कही गई हैं, जहाँ उसे कर देने वाला (=अन्यस्य बलिकृत्), दूसरों का उपजीव्य (=अन्यस्याद्य) और यथाकामज्येय अर्थात् आवश्यकता-नुसार दमनीय बताया गया है। यद्यपि वह कर देता था, तथापि वह **शूद्रों** की तरह दास नहीं था। उसके वध का

[1] द्रां० ऋ०, ३. १७३

[2] हिम्स आफ दि ऋ०, २. २४ टि०।

अपराध भी दण्ड के योग्य कहा गया है; द्र०—वैर। यद्यपि उसे राजा हटा सकता था, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह असंपन्न होता था।

वैश्य का प्रधान कार्य कृषि था; उसके पास भूमि रहती थी। कृषक की अष्ट्रा (पैंनी) उसका प्रमुख चिह्न था : कासं०, ३७. १; कौसू०, ८०। आर्य वैश्य कृषि और पशु-पालन के अतिरिक्त व्यापार भी करते थे; द्र० पणि, और वणिज्।

युद्ध के समय वे क्षत्रियों के नेतृत्व में संगठित होते थे; द्र० क्षत्रिय। किंतु वे युद्ध में विशेष भाग नहीं लेते थे, और न उन्हें शस्त्र एवं युद्ध की अन्य सुविधाएँ ही दी जाती थीं।

वैश्यों का दार्शनिक एवं बौद्धिक विषयों में कोई भाग वैदिक साहित्य में निर्दिष्ट नहीं हैं। तैत्तिरीय संहिता २. ५. ४. ४ के अनुसार वैश्यों की सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षा ग्रामणी बनने की रहती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल में कोई वैश्य क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता था या नहीं, किंतु यह सर्वथा असंभव भी नहीं था; द्र० क्षत्रिय और वर्ण।

यदि वर्ण की ऐसी परिभाषा की जाय, जिसके अनुसार विवाह-संबन्ध एक ही वर्ण में होता हो और पेशा आनुवंशिक चलता हो तो निश्चय ही वैश्य किसी वर्ण का नाम न होगा; क्योंकि प्रायः सभी अब्राह्मण एवं अक्षत्रिय स्वतन्त्र कार्य करने वाले वैश्य कहलाये हैं; किंतु फिर भी वैश्य का वर्ण के रूप में अस्तित्व था; क्योंकि इन सब बातों के होते हुए भी वे विशेष मानों में वर्गीकृत हो चुके थे।

तु० 'वैश्यो वै ग्रामणीः' शब्रा० ५. ३. १. ६; 'जागतो वै वैश्यः' ऐब्रा० १. २८; 'वैश्वदेवो वै वैश्यः' तैब्रा० २. ७. २. २; 'शरद् वै वैश्यस्यर्तुः' तैब्रा० १. १. २. ७; 'तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चन्ति' शब्रा० १३. २. ९. ८; 'अथ यदि दधि वैश्यानां स भक्षो वैश्यांस्तेन भक्षेण जिन्विष्यसि वैश्यकल्पस्ते प्रजायामाजनिष्यतेऽन्यस्य बलिकृदन्यस्याद्यो यथाकामज्येयो यदा वै क्षत्रियाय पापं भवति वैश्यकल्पोऽस्य प्रजायामाजायत ईश्वरो हास्माद् द्वितीयो वा तृतीयो वा वैश्यतामभ्युपेतोः स वैश्यतया जिज्यूषितः' ऐब्रा० ७. २९; 'तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते' शब्रा० ३. २. १. ४०; 'ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः' तैब्रा० ३. १२. ९. २;

वैश्व-मनस—साम-विशेष। 'विश्वमनसं वा ऋषिमभ्यायमुदव्रजितं रक्षोऽगृह्णात्' तांब्रा० १५. ५. २०.

वैश्वानर—सभी मनुष्यों से संबद्ध, सर्व-व्यापक। अग्नि या सभी देवों के लिए वैश्वानर शब्द अनेक बार आया है; विशेषतः यह अग्नि के लिये आया है : ऋ० १. ५९. १, ९८. १; ३. २. १; ४. ५. १; वासं०, ४. १५; अवे०, ३. २१. ३; ४. ३६. १, २; निघण्टु, ५. १; निरुक्त, ७. २१ इत्यादि।

ब्राह्मणों में वैश्वानर : 'स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः' शब्रा० ९. ३. १. ३; 'इयं पृथिवी वै वैश्वानरः' शब्रा० १३. ३. ८. ३; 'एष वै प्रतिष्ठा वैश्वानरः (यत् पृथिवी)' शब्रा० १०. ६. १. ४; 'एष वै रयिर्वैश्वानरः (यदापः)' शब्रा० १०. ६. १. ५; 'एष वै बहुलो वैश्वानरः (यदाकाशः)' शब्रा० १०. ६. १. ६; 'एष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानरः (यद् वायुः)' शब्रा० १०. ६. १ ७; 'असौ वै वैश्वानरो योऽसौ तपति' कौब्रा० ४. ३; 'स यः स वैश्वानरः। असौ स आदित्यः' शब्रा० ९. ३. १. २५; 'एष वै सुततेजा वैश्वानरः (यदादित्यः)' शब्रा० १०. ६. १, ८; 'एष वै अतिष्ठा वैश्वानरः (यद् द्यौः)' शब्रा० १०. ६. १. ९; 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः' शब्रा० १०. ६. १. ११; 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैतं घोषं शृणोति' शब्रा० १४. ८. १०. १; 'वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः' शब्रा० ६. २. १. ३५; 'संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः' ऐब्रा० ३. ४१; 'संवत्सरो वैश्वानरः' शब्रा० ५. २. ५. १५; 'शिर एव वैश्वानरः' शब्रा० ६. ६. १. ९; 'क्षत्रं वै वैश्वानरः' शब्रा० ६. ६. १. ७.

वैश्वामित्र—विश्वामित्र का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७ में वैश्वामित्रों के रूप में एक पुरोहित-वंश का उल्लेख है।

वैष्टम्भ—साम-विशेष। 'अहर्वा एतदव्लीयत तद् देवा वैष्टम्भैर्व्यष्टम्नुवन् तद् वैष्टम्भस्य वैष्टम्भत्वम्' तांब्रा० १२. ३ १०.

वैष्टपुरेय—विष्ठपुर का वंशज। शाण्डिल्य और रौहिणायन के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है : बृउ०, १. ५. २०; ४. ५. २५ माध्यंदिन।

वौषट्—'असौ वावृतवः षट्' ऐब्रा० ३. ६।

व्यंस—अंस या स्कन्ध-रहित। इन्द्र के शत्रु एक असुर का नाम व्यंस है : ऋ० १. ३२. ५; १. १०१. २; १. १०३. २; २. १४. ५; ३. ३४. ३; ४. १८. ९. इत्यादि।

व्यचश्छन्दः—'असौ वा आदित्यो व्यचश्छन्दः' शब्रा. ८. ५. २. ६;

व्यच्छ—पुरुषमेध की बलियों में व्यच्छ या गोव्यच्छ का उल्लेख आता है, जिसका भाव संदिग्ध है। सायण के अनुसार इसका अर्थ है 'गौओं को खदेड़ने वाला'। राथ[1] ने भी इसे 'गौओं का पीडक' माना है। वेबर[2] ने इसे 'गौ मारने वाला' बताया है; तु० **गोविकर्तन,** जो काठक संहिता में समानान्तर आया है। एगलिंग[3] ने इसे केवल 'गौओं के पास पहुँचने वाला' माना है। तु०—वासं०, ३०. १८. तैब्रा०, ३. ४. १६. १; तु०—कासं०, १५. ४।

व्यद्वर, व्यद्वरी—चबाने वाले (√अद्) पशुओं को व्यद्वर और व्यद्वरी कहा गया है : शब्रा०, ७. ४. १. २७; तु० अवे०, ६. ५०. २; अवे० ३. २८. २। तु०—**व्यध्वर,** वोबू० में।

व्यध्वर—काटने-पीटने वाला। अथर्ववेद ३. ३१. ४ में किसी कृमि के लिये आया है। इसे **व्यद्वर** के रूप में पढ़ना आवश्यक नहीं; फिर भी ह्विटनी[4] ने इसे व्यध् धातु से व्युत्पन्न न मानकर "वि-अध्वन्" के रूप में मानना ठीक समझा है; अर्थ होगा वक्र, कुटिल। यह शब्द मशक के साथ भी आया है : हिरण्यकेशीगृसूत्र, २. १६. ३; अवे०, ६. ५०. ३; जहाँ शंकर पण्डित और ह्विटनी ने **व्यद्वर** पाठ ग्रहण किया है।

व्यल्कशा—ऋग्वेद १०. १६. १३ में एक पौधे के लिये आया है।

व्यश्व—ऋग्वेद में **अश्विनों** के एक कृपापात्र ऋषि व्यश्व हैं : ऋ० १. ११२. १५। अष्टम मण्डल में, संभवतः उनके वंशज **विश्वमनस्** द्वारा रचित सूक्तों में, कई बार यह नाम आया है : ८. २३ १६; ८. २४. २२; ८. २६. ९। दो अन्य स्थलों पर एक प्राचीन ऋषि के रूप में इनका उल्लेख है : ऋ० ८. ९. १०; ९. ६५. ७। ओल्डेनबर्ग[5] के अनुसार ऋग्वेद में उनका एक भी सूक्त नहीं है। व्यश्वों का भी उल्लेख मिलता है : ऋ०, ८. २४. २८ और लुड्विग[6] **वश अश्व्य** को उनसे संबद्ध मानते हैं। एक **आङ्गिरस** व्यश्व को पञ्चविंश-ब्राह्मण १४. १०. ९ में साम-द्रष्टा ऋषि कहा गया है।

[1] वोबू०।
[2] इस्टू०, १. ८२. टि० ११।
[3] सेबुई० ४४. ४१६।
[4] ट्रां० अवे०, ७४।
[5] त्साडामोगे०, ४२. २१७।
[6] ट्रां० ऋ०, ३. १०६।

व्यष्टि—बृहदारण्यक उपनिषद् में एक देवशास्त्रीय आचार्य का नाम व्यष्टि है : ४. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यंदिन।

व्याख्यान—शतपथ ब्राह्मण ३. ६. २. ७ में व्याख्यान किसी विवरणात्मक कथा को कहा गया है; वहाँ **कद्रू** और **सुपर्णी** से संबद्ध व्याख्यान अभिप्रेत है। अन्य स्थलों पर यह शब्द "भाष्य" के सामान्य अर्थ में आया है : शब्रा०, ६. १. २७. ३३; ७. २. ४. २८। बृहदारण्यक उपनिषद् में बहुवचन में यह शब्द ग्रन्थ-लेखन या भाष्य-ग्रन्थों को जताता है, किंतु **अनुव्याख्यान** से इसका संबन्ध स्पष्टतः क्या था, यह नहीं कहा जा सकता : २. ४. १०; ४. १. ६ माध्यंदिन=४. १. २ काण्व; ४. ५. ११ माध्यं०। ज्ञीग[1] के अनुसार व्याख्यान भी **अन्वाख्यान** एवं **अनुव्याख्यान** के समान कथा को उद्दिष्ट करता है।

व्याघ्र—बाघ। व्याघ्र का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है; किंतु अथर्ववेद में कई बार सिंह का और इसका नाम आया है : ४. ३. १; ४. ३६. ६; ६. ३८. १; ६. १०३. ३; ६. १४०. १; १२. १. ४९; १२. २. ४३; १९. ४६. ५; १९. ४९. ४। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि अथर्ववेद के समय आर्यलोग बंगाल पहुँच गए थे। परवर्ती साहित्य में भी व्याघ्र का उल्लेख सामान्य है : तैसं०, ६. २. ५. ५; कासं०, १७. २; मैसं०, २. १. ९; वासं०, १४. ९; १९. १०; ऐब्रा०, ७. ५. ३; शब्रा०, १२. ७. १. ८; छाउ०, ६. ९. ३; ६. १०. २ इत्यादि। तैत्तिरीय संहिता ५. ४. १०. ५ में सुप्त व्याघ्र के जगाने की भयावह स्थिति का उल्लेख आता है। सिंह के समान व्याघ्र भी शक्ति का प्रतीक है; तु० अवे०, ४. ३६. ६; ८. ५. ११; द्र०—**शशयु**। इसी दृष्टि से **राजसूय** के समय राजा व्याघ्र-चर्म पर चढ़ता है, जिससे वह व्याघ्र की शक्ति प्राप्त कर ले : अवे० ४. ८. ४। तु०—**शार्दूल, पेत्व**। तु० 'क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः' ऐब्रा० ८. ६; 'ऊवध्यादेवास्य मन्युरस्रवत् स व्याघ्रोऽभवत् आरण्यानां पशूनां राजा' शब्रा० १२. ७. १. ८।

व्याघ्र-पद्य—छान्दोग्य उपनिषद् ५. १६. १ में **वैयाघ्रपद्य** के स्थान में यह अशुद्ध पाठ आया है।

व्याधि—रोग। व्याधि का उल्लेख कई बार आया है : छाउ०, ४. १०. ३; षविब्रा०, ५. ४; शांश्रौतसूत्र, ३. ४. ८। विविध रोगों पर विभिन्न शीर्षकों के नीचे विचार किया जा चुका है। कुछ शारीरिक दोषों का भी वैदिक साहित्य में उल्लेख है। पुरुषमेध की बलियों की सूची (वासं०, ३०. १०, १७. २१; शांश्रौतसूत्र, ३.

[1] दीजाऋ० २१. ३४।

४. ८) में वामन, कुब्ज, खलति (गंजा; तु० शब्रा० १३. ३. ६. ५), अन्ध (तु० बृउ०, ६. २. ९; छाउ०, ५. १९; ५. १३. २; ८. ४. २; ८. ९. १; ८. १०. १; कौउ०, ३. ३), बधिर (द्र० बृउ०, ६. २. १०; छाउ०, ५. १. १०; कौउ०, ३. ३), मूक (कौउ० ३. ३), पीवन् (मोटा) सिध्मल एवं किलास (कुष्ठी, द्र० पंविब्रा०, १४. ३. १७; २३. १६. ११), हर्यक्ष (पीली आंखों वाला) पिङ्गलाक्ष, पीठ-सर्पिन् (विकलाङ्ग), स्राम (लंगड़ा), जागरण (उन्निद्ररोग-ग्रस्त), स्वप्न (बहुत सोने वाला), अति-दीर्घ (द्र० वासं०, ३०. २२; तु० शब्रा०, ३. ४. १९. १. यहाँ अतिमिर्मिर, अतिदन्तुर, अतिकिरिट या छोट दांत वाला, तथा अतिमेमिष या बहुत घूरने वाला—ये भी आये हैं,) अति-ह्रस्व, अति-स्थूल, अत्यंसल, अतिकृश, अति-कुल्व (खल्वाट) और अति-लोमश (बहुत बाल वाला) इन सभी व्यक्तियों को गिनाया गया है।

मैत्रायणी संहिता (४. १. ९; तैब्रा०, ३. २. ८ ९; तु० अवे० ७. ६५ ३) में बुरे नख वालों एवं पीले दाँत वालों को पापियों की सूची में गिनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण १३. ३. ६. ५ में शुक्ल, खल्वाट, विक्लिध (खराब दाँत वाला) एवं अरुण बभ्रु नेत्र वाले का उल्लेख है। वाजसनेयि संहिता २०. २१ में 'किर्मिर' का उल्लेख है, जिसे त्सिमर[1] ने चितकबरा के अर्थ में जातियों के मिश्रण का फल माना है, किंतु यह चिन्त्य है। कुछ शब्द दूषित अङ्गों वाली स्त्रियों को बताते हैं: वासं०, ३०. १५ अविजाता, विजर्जरा, अवतोका, पर्यायिणी (तैब्रा०, ३. ४. ११. १ अपस्कद्वरी। अथर्ववेद १. १८. ४ में ऋश्य-पदी (हरिण के समान पैर वाली) और वृष-दती (बैल के समान दाँत वाली) शब्द संभवतः विकार-ग्रस्त स्त्रियों को जताते हैं।

तु० 'ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते' कौब्रा० ५. १; गोब्रा० २. १. १९.

व्यान—एक प्राण-वायु का नाम व्यान है। द्र० प्राण।

तु० 'व्यानो ह्युपांशु सवनोऽन्तरिक्षं ह्येव व्यनन् अभिव्यनिति' शब्रा० ४. १. २. २७; 'व्यानो वरुणः' शब्रा० १२. ९. १. १६; 'आपो व्यानः' जैउब्रा० ४. २२. ९।

व्याम—एक माप का नाम व्याम है, जो फैलाए हुए हाथों के बीच की दूरी को जताता है; संभवतः यह छः फीट हो: अवे०, ६. १३७. २; तैसं०, ५. १. १. ४; ५. २. ५. १; शब्रा०, १०. २: ३. १, २; १. २. ५. १४; ७. १. १. ३७ भाष्यकार के अनुसार 'अरत्नि' का या आगृह्य-सूत्र, ९. १९, भाष्यकार के अनुसार ५ अरत्नि का; अरत्नि=२४ अंगुल या ३।४ इंच।

व्याहृति—'एतानि ह वै वेदानामन्तः श्लेषणानि यदेता व्याहृतयः' ऐब्रा० ५. ३२; 'एवमेवैता व्याहृतयस्त्रय्यै विद्यायै संश्लेषिण्यः' कौब्रा० ६. ११; 'एता वै व्याहृतयः इमे लोकाः' तैब्रा० २. २. ४. ३; 'सर्वाप्तिर्वा एषा यदेता व्याहृतयः' ऐब्रा० ८. ७।

व्योमन्—द्र०—दिव्।

व्रा—राथ[1] के अनुसार व्रा शब्द झुंड के अर्थ में आया है: ऋ० १. १२४. ८; १. १२६. ५; ४. १. १६; ८. २. ६; १०. १२३. २; तु०—१. १२१. २; अवे०, २. १. १)। त्सिमर[2] ने स्त्रीलिङ्ग व्रा को ग्राम का एक आंशिक समूह (संबन्धियों का) माना है, जो विश् का एक भाग है। दूसरी ओर पिशल[3] ने सभी स्थलों (ऋ० १२१. २; ८. २. ६) पर व्रा का अर्थ स्त्री माना है, चाहे वह मानव स्त्री हो या मादा पशु; अथवा वह स्त्री जो समन (भोज) में जाती हो (ऋ० १. १२४. ८), अथवा वेश्या ("विश्या" ऋ० १. १२६. ५) हो; अथवा जहाँ आलंकारिक भाषा में वेश्या अर्थ अभिप्रेत हो: ऋ०, ४. १. १६; १०. १२३. २; अवे०, २. १. १।

व्रज—गमनार्थक √व्रज धातु से बना यह शब्द प्रारम्भ में उस स्थान या चरागाह को जताता है, जहाँ दूध देने वाला धन प्रातःकाल चरने जाता है: २. ३८. ८ और जहाँ अन्य पशु दिन-रात रहते हैं; तु० सायण, ऐब्रा०, ३. १८. १४ पर भाष्य। व्रज का कई बार ऋग्वेद में उल्लेख आया है: ऋ०, २. ३८. ८; १०. २६. ३; तु०—१०. ९७, १०; १०. १०१. ८। बाद में यह पशुओं के धन को उद्दिष्ट करता है: ऋ०, ५. ३५. ४; ७. २७. १; ७. ३२. १०; ८. ४६ ९; ८. ५१. ५। यह गेल्डनर[4] का मत है जो राथ[5] के उस मत से अच्छा है, जिसके अनुसार व्रज का प्रारम्भिक अर्थ √वृज के आधार पर "पशु-शाला" है और फिर "झुंड"। यह अस्वाभाविक-सा है; क्योंकि वैदिक काल में पशुओं को शाला में नहीं खिलाया जाता था। किंतु कुछ स्थलों पर यह शब्द अवरोध या गो व्रज (अवे०, ३. ११. ५; ४. ३८. ७; शांआ०,

---

[1] आ० लै०, ४२८।

[2] तु०—वेबर, इं० १. ८०।

---

[1] वोबृ०।

[2] आले०, १६२।

[3] वैस्टू०, २. ३१३।

[4] वैस्टू०, २. २८२; ऋ० ग्लासर, १७४।

[5] वोबृ०।

२. १६; तु० बृउ०, ६. ४. २२ माध्यं० "सार्गल," "सपरिश्रम"; संभवतः ऋ० १०. ९७. १०; १०. १०१. ८; तु०—गोष्ठ) अथवा अस्तबल (ऋ० १०. ४. २; ४. ५१. २; तैब्रा०, ३. ८. १२. २; वासं० १. २५) के अर्थ में आया है। गौओं की चोरी वाली देवशास्त्रीय कथा में भी यह शब्द आया है[1]। कहीं-कहीं यह जलाशय के अर्थ में भी आया प्रतीत होता है: वासं०, १०. ४=तैब्रा०, १. ८. ११. १; मैसं०, २. ६. ७।

तु० 'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' तैब्रा० ३. २. ९. ३।

व्रत—परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों में दूध का बोधक है, क्योंकि व्रत करने वाला व्यक्ति केवल दूध पीकर रहता था: अवे०, ६. १३२. २; तैसं०, ६. २. ५. ३. ४; वासं०, ४. ११; शब्रा०, ३. २. २. १०, १४, १७; ३. २. ४. १५; ९. २. १. १८; तु० धृत-व्रत: पंविब्रा०, १८. २. ५, ६; **व्रत-दुघा**, 'व्रत के लिए दूध देने वाली गौ': शब्रा०, ३. २. २. १४; १४. ३. १. ३४ इत्यादि। तु० 'अन्नं वै व्रतम्' शब्रा० ७. ५. १. २५; 'तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने' शब्रा० १. १. १. ७; 'एतत् खलु वै व्रतस्य रूपं यत्सत्यम्' शब्रा० १२. ८ २. ४; 'संवत्सरो वै व्रतं तस्य वसन्त ऋतुर्मुखं ग्रीष्मश्च वर्षाश्च पक्षौ शरन्मध्यं हेमन्तः पुच्छम्' तांब्रा० २१. १५. २; 'वीर्यं वैव्रतम्' शब्रा० १३. ४. १. १५; 'अमानुष इव वा एतद् भवति यद्व्रतमुपैति' शब्रा० १. ९. ३. २३; 'न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति' ऐब्रा० ७. ११.

व्राज-पति—ऋग्वेद १०. १७९. २–अवे०, ७. २ में व्राजपति शब्द आया है; वहाँ कहा गया है कि जैसे कुलप लोग व्राजपति के पास रहते हैं, वैसे ही इन्द्र के साथ उसके अनुचर चलते हैं। त्सिमर[2] के अनुसार कुलों के मुखियाओं से घिरा ग्रामणी यहाँ अभिप्रेत है; किंतु ह्विटनी[3] ने प्रधान एवं ग्राम-मुख्यों को इससे लिया है। अथर्ववेद १. १६. १ में अकेला व्राज शब्द क्रिया-विशेषण के रूप में आया है, जिसका अर्थ है 'झुंडों में'।

व्राज-बाहु—कौषीतकि ब्राह्मण में मृत्यु की, अपने शिकार को घेरने वाली भुजाओं को व्राज-बाहु कहा गया है। तु०—विष्ठा-व्राजिन्।

व्रात—कुछ स्थलों पर व्रात शब्द समूह या झुंड के अर्थ में आया है: ऋ०, १. १६३. ८; ३. २६. २; ५. ५३. ११; ९. १४. २; १०. ३४. ८, १२; १०. ५७. ५, अवे०, २. ९. २; तैसं०, १. ८. १०. २; वासं०, १६. २५; पंविब्रा०, ६. ९. २४; १७. १. ५, १२। ऋग्वेद ५. ५३. ११, (तु० ३. २६. २) में मरुतों के गणों के तीन विशेष नाम हैं: शर्ध, व्रात, गण। तु०—व्रात-पङ्क्ति।

व्रात-पति—समूह का पति। यजुर्वेद में गण-पति के साथ व्रात-पति भी रुद्र का नाम है: तैसं०, ४. ५. ४. १; कासं०, १७. १३; मैसं०, २. ९. ४; वासं०, १६. २५।

व्रात्य—यजुर्वेद में पुरुषमेघ की बलियों की सूची में व्रात्य का उल्लेख आया है: वासं०, ३०. ८; तैब्रा०, ३. ४. ५. १। अन्यत्र व्रात्यों के लिए एक यज्ञ का विधान किया गया है: १५. १. १ एवं अग्रिम; पंविब्रा० १७. १. ४; काश्रौतसूत्र, १२. १; २२. ४; लाश्रौतसूत्र, ८.६; आपश्रौतसूत्र, २२. ५. ४–१४। पञ्चविंश ब्राह्मण के अनुसार अजातियों के चार प्रकार हैं: 'हीन' या दलित-वर्ग; बाल्यावस्था से अजातियों के साथ रहने वाले व्यक्ति; निन्दित जो किसी पाप के कारण छेक दिये गये हैं; और वे वृद्ध जो नपुंसकता के कारण 'शमनीचमेढ्र' अर्थात् छेके हुओं में जा मिले हों।

इनमें से व्रात्य हीनों में हैं, अन्य वर्ग गौण हैं। राजा रामकृष्ण भागवत[1] के अनुसार ये व्रात्य दो प्रकार के थे: दलित अनार्य और गिरे हुए आर्य (=गरगिर्)। किंतु यह अनुमान-मात्र है; व्रात्यों का केवल एक ही वर्ग प्रतीत होता है। वे अनार्य थे ऐसा संभव नहीं जान पड़ता; क्योंकि कहा गया है कि अनभिषिक्त होने पर भी वे अभिषिक्तों की भाषा बोलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे आर्य ही थे: पंविब्रा०, १७. १। उनके सुगम उच्चारण की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है; संभवतः वे कोई प्राकृत भाषा बोलते थे। सूत्रों में उनके अर्हन्तों और यौधों को क्रमशः ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान कहा गया है।

अन्य उल्लेखों के आधार पर वे ब्राह्मण-संस्कृति से रहित माने जा सकते हैं। वे कृषि एवं वाणिज्य नहीं करते थे और न ब्राह्मणों के समान ब्रह्मचर्य के नियमों का ही पालन करते थे: पंविब्रा०, १७. १. २। वे एक विशेष यज्ञ करने के बाद ब्राह्मण-संस्कृति वाले समाज के सदस्य बन सकते थे; अतः उन्हें अनार्य नहीं कहा जा सकता।

व्रात्यों के जीवन एवं परिधान का भी वर्णन मिलता है। उनके सिद्धान्त ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के विपरीत थे। सुधर न सकने वालों को वे पीटते थे: पंविब्रा०, १७.

---

[1] द्र० गेल्डनर, वेस्टू०, २. २८३ एवं अग्रिम।

[2] आ० ले०, १७१।

[3] ट्रां० अवे०, ४३६।

[1] ज० आफ दि बाम्बे ब्रान्च आफ दि रा० ए० सो०, १९. ३५९–६०.

१. १४। उनका गृहपति **उष्णीष** धारण करता था; कशा, **प्रतोद** या कोड़ा लेकर चलता था, जो धनुषाकार (ज्या-ह्रोड) होता था। गृहपति काले कपड़े के आवरण में होता था; वह शुक्ल और कृष्ण चर्म काट कर पहनता था। उसकी गाड़ी 'विपथ' होती थी, जिसपर फट्टे बिछे होते थे। उसके अनुयायी झालरदार परिधान (बलू-कान्तानि दामतूषाणि) पहनते थे। प्रत्येक अजिन पर दो झालरों से अजिन की दो तहें हो जाती थीं (द्विसंहितान्य-ञ्जनानि)। वे जूते पहनते थे : पंविब्रा०, १७. १. १५। ये सभी स्थल दुरूह हैं और इनका अर्थ करना कठिन है। उनके नेता के पास चांदी का **निष्क** भी रहता था : पंविब्रा०, १७. १. १५। दीक्षित होने पर व्रात्य अपनी संपत्ति पुरोहित को दे देते थे। सूत्रों में जूतों के प्रकार आदि के संबन्ध में और भी उल्लेख हैं, किंतु पञ्चविंश ब्राह्मण में उनका संकेत नहीं है।

उनकी पश्चिमी शाखा संभवतः **सरस्वती** के पास थी। किंतु पूर्व में भी व्रात्य रहते थे; क्योंकि **मगध**-वासी व्रात्यों से पुरोहित के दान लेने का उल्लेख आया है। अथर्ववेद के १५ वें काण्ड से विशेष सामग्री नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ व्रात्यों का रहस्यात्मक वर्णन है : उनसे सभी दिशाएँ व्याप्त कही गई हैं। राथ[१] का मत है कि पञ्चविंश ब्राह्मण के व्रात्य के समान अथर्ववेद का व्रात्य नहीं है। यहाँ व्रात्य का अर्थ घूमने वाला साधु है; और यहाँ उसकी उसी दृष्टि से प्रशंसा की गई है। वस्तुतः यहाँ "व्रात्य" परिव्राजक को कहा गया है। किंतु यहाँ भी **उष्णीष**, **विपथ** एवं **प्रतोद** का उल्लेख आता है; जिससे पञ्चविंश ब्राह्मण के व्रात्य से उसकी समानता उभर आती है। अथर्ववेद के उस काण्ड में व्रात्य को पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में दैवी एवं रहस्यात्मक रूप में दिखाया गया है।

व्रीहि—चावल। ऋग्वेद में व्रीहि का उल्लेख नहीं है; ५. ५३. १३ में धान्य-बीज को चावल मानना अनावश्यक है; किंतु अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में इसका अनेकशः उल्लेख मिलता है : अवे०, ६. १४०. २; ८. ७. २०; ९. ६. १४; तैसं०, ७. २. १०. ३; कासं०, १०. ६; ११. ५; मैसं०, २. १०. २; ४. ३. २; वासं०, १८. १२; ऐब्रा०, २. ८. ७; २. ११. १२; ८. १६. ३, ४; शब्रा, ५. ५. ५. ९; बृउ०, ६. ३. २२ माध्यंदिन=६. ३. १३ काण्व; छाउ०, ३. १४. ३। चावल दक्षिणी एवं पूर्वी भारत का अन्न है; अतः इसका उल्लेख ऋग्वेद में न मिलना स्वाभाविक है; तु० तैब्रा०, १. ७. ३. ४; कासं०, १२. ४. ५, ६ इत्यादि। तैत्तिरीय संहिता १. ८. १०. १ में काले और सफेद चावल का विपर्यास दिखाया गया है; अन्यत्र शीघ्र जमने वाले और लंबे चावल (महा-व्रीहि) का उल्लेख आया है : अवे०, ११. ४. १३; जैब्रा०, १. ४३; छाउ०, ५. १०. ६ इत्यादि। संभवतः शीघ्र उगने वाला चावल वही है, जिसे बाद में षष्टिक (साठ दिन में पकने वाला) कहा गया है। व्रीहि और यव का एक साथ भी उल्लेख मिलता है।

तु० 'मज्जभ्य एवास्य भक्षः सोमपीथोऽस्रवत् ते व्रीहयोऽभवन्' शब्रा० १२. ७. १. ९; '(देवाः) तं (मेधं) खनन्त इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ' शब्रा० १. २. ३. ७; 'क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् व्रीहयः' ऐब्रा० ८. १६।

तु० त्सिमर, आले०, २३९। तु०—प्लाशुक।

व्लेष्क—द्र०—**ब्लेष्क**।

श

शंयु—शंयु **बृहस्पति** के देवशास्त्रीय पुत्र का नाम है। यजुर्वेद में उन्हें एक आचार्य के रूप में दिखाया गया है। तै०संहिता, २. ६. १०. १; ५. २. ६. ४; तैब्रा०, ३. ३. ८. ११; शब्रा०, १. ९. १. २४; तैआ०, १. ५. २; तु० लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रीफीस, ११३।

तु० 'शंयुर्ह वै बार्हस्पत्यः सर्वान् यज्ञाञ्छमयांचकार तस्माच्छंयोर्वाकमाह' कौब्रा० ३. ९; 'शंयुर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य संस्थां विदांचकार स देवलोकमपीयाय', शब्रा० १. ९. १; २४.

शंस—स्तुति या मन्त्र के अर्थ में यह शब्द कई बार आया है : ऋ० १. १८. ३. १. २७. १३; १. ३३. ७; १. १४१. ६; १०. ४२. ६; १. १७३. ९; ३. १६. ४; ६. २४. २; ४. ४. १४ इत्यादि।

शक—गोमय : अवे०, ३. १४. ४; २०. १३१. १६।

शकट, शकटी—गाड़ी के अर्थ में ये शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में बहुत कम आये हैं। ऋग्वेद १०. १४६. ३ और षड्विंश ब्राह्मण ४. ७ में शकटी को रात्रि में होने वाली वन्य ध्वनि के समान बताया गया है। शकट शब्द का उल्लेख निरुक्त ६. २२; ११. ४७ और छान्दोग्य उपनिषद् ४. १. ८ में आया है।

शक-धूम—अथर्ववेद ६. १२८. १, ३, ४ (तु०—नक्षत्रकल्प) में शक-धूम को नक्षत्रों का राजा बताया गया है। शब्द का अर्थ है 'गोमयाग्नि से उत्पन्न धूम'। वेबर का विचार है कि इसे मौसम की विशेषता समझा जाता था।[१] ब्लूमफील्ड का मत है कि इस शब्द का अर्थ

[१] वोबू०।

[१] द्र०—ओमिना उण्ड पोर्टेन्टा, ३६३; इस्टू०, ५. २५७; १०. ६५; नक्षत्र, २. २७२ टि०—२९३।

'मौसम का भविष्य-वक्ता' है, जो अग्नि के धूम के आधार पर भविष्य-वाणी करता है।[1] ह्विटनी ने इस मत का तिरस्कार किया है।[2] जैसा कि राथ ने अपनी डिक्शनरी में लिखा है यह कोई नक्षत्र-वर्ग या आकाश-गङ्गा हो सकता है।

शकन्—द्रष्टव्य शकृत्।

शक-पूत—गोमय से पवित्र किया हुआ। ऋग्वेद १०. १३२. ५ में एक राजा का नाम शक-पूत है।

शकंभर—गोमय धारण करने वाला। अथर्ववेद ५. २२. ४ में संदिग्धार्थक शकंभर शब्द आया है। लुड्विग[3] और ग्रिल[4] इसे एक आदिम जाति का मानते हैं। ब्लूमफील्ड[5] ने इसे हैंजा या डायरिया का मूर्त रूप माना है।[6] ह्विटनी का कहना है कि यह शब्द उन लोगों के लिये आया है, जो देश में ईंधन के लिये गोमय के पिण्डे एकत्र करते थे।

शका—याजुष संहिताओं में उल्लिखित अश्वमेध की बलियों में से एक शका भी है। इसका अर्थ अनिश्चित है। महीधर ने वाजसनेयि संहिता २४. ३२ के भाष्य में इसे एक प्रकार का पक्षी माना है। सायण ने तैत्तिरीय संहिता ५. ५. १२. १; १८. १ के भाष्य में इसे मक्षिका या लम्बे कर्ण वाला वन्य पशु माना है। मैत्रायणी संहिता ३. १४. १३ में भी इसका उल्लेख आया है।

शकुन—पक्षी। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शकुन का उल्लेख कई बार हुआ है: ऋ० ४. २६. ६; ९. ८५. ११; ९. ८६. १३; ९. १०७. २०; ९. ११२. २; १०. ६८. ७; १०. १०६. ३; १०. १२३. ६; १०. १६५. २; अवे०, १२. १. ५१; १२. ३. १३; २०. १२७. ४; तैसं०, ३. २. ६. २; वासं०, १८. ५३ इत्यादि। यह एक बड़े पक्षी को उद्दिष्ट करता है; (तु० अवे०, ११. २. २४ वयस्; निरुक्त, ३. १८) अथवा शुभाशुभ (शकुन) के सूचक के रूप में आया है; तु० कौब्रा०, ७. ४; मैउ०, ६. ३४. इत्यादि। त्सिमर[1] ने किकिओस से इसकी तुलना की है, जो शकुन-सूचक-पक्षी है।

शकुनि—पक्षी। शकुन के समान यह भी आम है, किंतु इसमें कुछ अधिक शुभाशुभ-सूचना का भाव निहित है। यह श्येन या सुपर्ण से छोटा है; और दुर्भाग्य की सूचना देता है: ऋ० २. ४२. १, २; २. ४३. ३; अवे०, १०. ३. ६। जब यह अश्वमेध की बलियों की सूची में आता है, तब यह किसी पक्षि-विशेष को सूचित करता है; तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार के अनुसार यह काक है: तैसं०, ५. ५. १९. १; वासं०, २४. ४०; मैसं०, ३. १४. २१। बाद में यह श्येन के अर्थ में आता है, किंतु संभवतः इसका अर्थ वन्य काक है। अन्यत्र भी इसका उल्लेख आता है: अवे०, २. २५. २; ७. ६४. १; ११. ९. ९; कासं०, २५. ७; ऐब्रा० २. १५. १२; ४. ७. ३; शब्रा०, १४. १. ३१; छाउ०, ६. ८. २ इत्यादि। तु० त्सिमर, आ० ले०, ८८, ४३०।

शकुनि-मित्र—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४१. १ में विपश्चित् पाराशर्य का नाम शकुनि-मित्र है।

शकुन्त—अथर्ववेद ११. ६. ८ में एक पक्षी का नाम है।

शकुन्तक[2], शकुन्तिका[3]—संहिताओं में अल्प-काय पक्षियों के लिये आते हैं।

तु० 'विड् वै शकुन्तिका' शब्रा० १३. २. ९. ६।

शकुन्तला—शकुन्तला एक अप्सरा की लड़की का नाम है, जिसने शतपथ ब्राह्मण ३. ५. ४. १३ के अनुसार नाडपित से भरत को उत्पन्न किया था। वेबर[4] ने नाडपिती पढ़ा है, और उसे शकुन्तला का विशेषण माना है। तु० 'शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे परः सहस्रानिन्द्रायाश्वान् मेध्यान् च आहरद् विजित्य पृथिवीं सर्वाम्' शब्रा० १३. ५. ४. १३।

शकुन्ति—ऋग्वेद २. ४२. ३; २. ४३. १ में शकुन-सूचक किसी पक्षी का नाम शकुन्ति है।

शकुल—परवर्ती संहिताओं में शकुल शब्द मत्स्य की किसी विशेष जाति का सूचक है: अवे०, २०. १३६. १; वासं०, २३. २८; तु० त्सिमर, आले०, ९७।

---

[1] द्र० अजफि०; ७. ४८४; जअओसो०, १३.१३३; ह्विम्स अफ दि अ० वे०, ५३२. ५३३।

[2] द्र०—ट्रां० अ० वे०, ३७७. ३७८. (तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३५३; कालण्ड, आल्तिन्दिश्शेस त्साउबर रितुआल १७५ टि० ३)।

[3] ट्रां०, ऋ०, ३. ५१०।

[4] हुंडेर्त लीडर, २. १५४।

[5] ह्विम्स आफ दि अ० वे०, ४४५, ४४६।

[6] ट्रां० अ० वे० २५९।

---

[1] आ० ले०, ८८, ४३०।

[2] ऋ० २. ४३. के बाद खिल; वासं०, २३, २३।

[3] ऋ० १. १९१. १; वासं०, २३. २२।

[4] एपिश्शेस इस वैदिश्शन रितुआल, ६।

शकृत्[1] **शकन्**[2]—ऋग्वेद में एवं अन्यत्र ये शब्द गोमय के लिये आये हैं। यह स्पष्ट है कि खाद के महत्त्व को लोग पहचानते थे; द्र० **करीष**। द्र० **शक-धूम**।

१. शक्ति—जैमिनीय ब्राह्मण २. ३९० में शक्ति को **वसिष्ठ** का पुत्र बताया गया है। वहाँ **विश्वामित्रों** द्वारा शक्ति के अग्नि में प्रक्षिप्त किये जाने का भी उल्लेख है। शाट्यायनक का अनुसरण करने वाले षड्गुरुशिष्य के अनुसार शक्ति की कथा इस प्रकार है: **विश्वामित्र** शक्ति से पराजित होने पर **जमदग्नि** के पास गए, और उन्होंने इन्हें ससर्परी विद्या सिखलाई। बाद में **विश्वामित्र** ने शक्ति से प्रतिशोध लेने के लिए उन्हें वन में जला दिया; द्र० सर्वानुक्रमणी[3]। बृहद्देवता ४. ११२ में कथा का पूर्वार्ध-मात्र है। गेल्डनर ने ऋग्वेद ३. ५३. २२ के आधार पर शक्ति के किसी संघर्ष में मरने का उल्लेख किया है[4]। किंतु उनकी व्याख्या संदिग्ध है[5]।

२. शक्ति आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ५. १६ के अनुसार एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम शक्ति आङ्गिरस है।

तु० हिल्लेब्रांड्ट, वैदिश्शे मिथोलगी, २. १६०।

शक्र—**इन्द्र** के लिए शक्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद-काल से ही मिलता है: ऋ० ४. १६. ६; ५. ३४. ३, ४; ६. ४७. ११; ७. २०. ९; ७. १०४. २०; ८. २. २३; ८. ३२. १२; अवे०, ८. १. ८; १२. १. ३७; तैब्रा०, २. ४. ३. ४ इत्यादि।

शक्वरी—स्त्रीलिङ्ग, बहुवचन में यह शब्द उन शक्वरी ऋचाओं या महानाम्नी ऋचाओं को उद्दिष्ट करता है, जिन पर शाक्वर साम गाया जाता है: ऋ० ८. ३३. ४; १०. ७१. १४; नि० १. ८। अवे०, १३. १. ५; तैसं०, २. २. ८. ५; २. ६. २. ३; ३. ४. ४. १; ५. ४. १२. २; कासं०, २६. ४; पंविंब्रा०, १०. ६. ५; १२. १३. १२; तैब्रा०, २. १. ५. ११० शब्रा०, ३. ३. १. १; ३. ९. २. १७ इत्यादि।

तु० 'यदिमान् लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद् यदिदं किं च तच्छक्वर्योऽभवन् तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्' ऐब्रा० ५. ७; 'इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावद् वृत्रं हनानीति तस्मा एतच्छन्दोभ्य इन्द्रियं वीर्यं निर्माय प्रायच्छदेतेन शक्नुहीति तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्' तांब्रा० १३. ४. १. 'पशवः शक्वर्यः' तांब्रा० १३. १. ३ 'श्रीः शक्वर्यः' तांब्रा० १३. २. २; 'वज्रः शक्वर्यः' तांब्रा० १२. १३. १४; 'ब्रह्म शक्वर्यः' तांब्रा० १६. ५. १८; 'सप्तपदा शक्वरी' तैब्रा० २. १. ५. ११।

तु०—कीथ, ऐआ०, २५८ एवं आगे।

शंकर—शतरुद्रिय मन्त्रों में **रुद्र** के एक नाम के रूप में शंकर शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आता है। बाद में शंकर भारतीयों के प्रमुख देवता बन जाते हैं; द्र० वासं०, १६. ४१; आगृह्यसूत्र, २. २. २; ४. ८. १९ इत्यादि।

१—शङ्कु—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में शङ्कु लकड़ी के फन्ने या खूंटी का वाचक है: शतपथ ब्राह्मण २१. १. १० ने शङ्कुओं को चर्म को प्रसारित करने के साधन और **पड्बीश** के पिन के रूप में लिखा है। छान्दोग्य उपनिषद् २. २३. ४ में इसका अर्थ पत्ते का तन्तु या है।

द्र० ऋ० १. १६४. ४८; शब्रा०, ३. ५. १. १; ३. ५. २. २; ३. ६. १. ३; १३. ८. ४. १; ऐब्रा०, ३. १८. ६ इत्यादि; बृउ०, ६. २. १३ माध्यं०=६. १. १३ काण्व; मैक्समूलर, सेबुई० १. ३५; लिटिल, ग्रामेटिकल इंडेक्स, १४९; किंतु तु० अर्टल, ज० अ० ओ० सो०, १६. २२८ जिन्होंने जैब्रा०, २. १० और जैउब्रा०, १. १०. ३ के 'शूची' शब्द से तुलना की है।

२. शङ्कु—साम-विशेष। 'शङ्कु भवत्यह्नो धृत्यै यद्वा अधृतं शङ्कुना तद् दाधार' तांब्रा० ११.

१. शङ्ख—अथर्ववेद ४. १०. १ में **कृशन** विशेषण के साथ शङ्ख शब्द संभवतः मोती के बाह्यावरण को सूचित करता है, जिसे अलंकार के रूप में धारण किया जाता था[1]। बृहदारण्यक उपनिषद् २ ४. ९; ४ ५. १० में यह बजाये जाने वाले शंख को बताता है।

२. शङ्ख कौष्य—काठक-संहिता २२. ७ में एक आचार्य शङ्ख कौष्य का उल्लेख आता है। **जात शाकायन** ने इनकी आलोलना की थी।

३. शङ्ख बाभ्रव्य—**बभ्रु** का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४१. १; ४. १७. १ में **राम** के शिष्य एक आचार्य का नाम शङ्ख बाभ्रव्य है।

---

[1] ऋ० १. १६१. १०; अवे०, १२. ४. ९; तैसं०, ७. १. १९. ३।

[2] अवे०, १२. ४. ४; तैसं०, ५. ७. २३. १; वासं० ३७. ९। तु० त्सिमर, आले०, २३६।

[3] मैकडानल-संस्करण, पृष्ठ १०७ और ऋ० ७. ३२ पर गेल्डनर, वैस्टू०, २. १५९ टि० ३।

[4] द्र०—वैस्टू०, २. १५९ एवं अग्रिम; संदेहपूर्ण; ऋग्वेद कोमेंटार, ८९।

[5] ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. २५४।

[1] ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, १६१

शङ्ख-ध्म—शङ्ख बजाने वाला। शङ्ख-ध्म का उल्लेख यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में और बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है : वासं०, ३०. १९; तैब्रा०, ३. ४. १३. १; बृउ०, २. ४. ९; ४. ५. १०।

शंग शाट्यायनि आत्रेय—शाट्यायन का वंशज, अत्रि का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. १ में नगरिन् के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

१. शची—शक्ति, सामर्थ्य प्रभृति अर्थों में ही वैदिक साहित्य में शची शब्द का प्रयोग मिलता है। इन्द्र को बहुशः शचीपति कहा गया है। बाद में शांगृसूत्र, १. १२ में इन्द्र की पत्नी का नाम शची आया है; द्र० ऋ० १. १७. ४; १. ६२. १२; १. १०३. २; १. १०९. ७; ३. ६०. ६; वासं०, १९. ८१; ऐब्रा०, ७. ३३ इत्यादि।

२. शची पौलोमी—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १०. १५९ की रचयित्री का नाम शची पौलोमी है।

शचीवन्त्—ऋग्वेद १०. ७४. ५ में स्पष्टतः एक व्यक्ति का नाम शचीवन्त् है, जहां संबोधन का रूप 'शचीवः' है। किंतु राथ ने (वोबू० में) इसे 'शची च' इस रूप में पढ़ा है। तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०८; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋ० २. २४९. टि०।

शण—सन। अथर्ववेद २. ४. ५ में शण के वन में उत्पन्न होने का उल्लेख है; और जंगिड की भांति विष्कन्ध की ओषधि के रूप में व्यवहृत होने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण ३. २. १. ११; १. ६. १. २४; १. ६. २. १५ में भी इसका उल्लेख आता है।

तु० 'यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणास्तस्मात् ते पूतयो भवन्ति' शब्रा० ३. २. १. ११; 'शणा जरायु' शब्रा०, ६. ६. २. १५।

शण्ड—याजुष संहिताओं और ब्राह्मणों में मर्क के साथ शण्ड को असुरों का पुरोहित कहा गया है : तैसं०, ६. ४. १०. १; मैसं०, ४. ६. ३; वासं०, ७. १२; ७. १३; मर्कः ७. १६. १७; शब्रा०, ४. २. १. ४; तैब्रा०, १. १. १. ५; तु०—हिल्लेब्रांड्ट वैमि०, १. २२३।

शण्डिक—ऋग्वेद ३. ३०. ८ में बहुवचन में शण्डिकों का उल्लेख आया है। लुड्विग का मत है कि उस सूक्त में शण्डिकों और उनके राजा पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना है; द्र० ट्रां० ऋ०, ३. १५३।

शत-क्रतु—सैकड़ों मनोबल वाला। इन्द्र को वैदिक काल से ही शतक्रतु कहा गया है। उत्तरवैदिक काल में "शत अश्वमेध करने वाले" के अर्थ में शतक्रतु इन्द्र का पर्याय बन गया है : ऋ०, १. ४. ८; १. ३०. १; १. ५१. २; ८. १. ११; अवे०, ६. ३०. १; ६. ८२. १; वासं०, ३. ४९; शांश्रौतसूत्र, ४. १०. १ इत्यादि।

शत-द्युम्न—सैकड़ों यश वाला। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. १ के अनुसार शत-द्युम्न एक ऐसे व्यक्ति का नाम है, जिसने याज्ञसेन के साथ संपदा प्राप्त की थी; क्योंकि उनके पुरोहित मात्स्य को यज्ञ के समुचित काल का ज्ञान था।

शत-पति—मैत्रायणी संहिता ४. १४. १२ और तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ८. ४. २ के अनुसार शत-पति इन्द्र की उपाधि है, जिन्हें मनुष्यों में अकेला "शतपति" कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार ने शतपति का अर्थ "शतदेवों का स्वामी" किया है, जो चिन्त्य है। परवर्ती विधानों में शतग्रामों के अधिपति का उल्लेख आता है,[१] जो संभवतः न्यायाधीश और कर-संग्रहकर्ता होता था; जैसे कि आजकल कलेक्टर और मैजिस्ट्रेट होते हैं।

शत-पदी—'वाग् वाव शतपदी' षब्रा० १. ४; 'ऋक् शत-पदी, षब्रा'० १. ४.

शत-बलाक्ष मौद्गल्य—मुद्गल का वंशज। निरुक्त ११. ६ में एक व्याकरण के आचार्य का नाम शतबलाक्ष मौद्गल्य है।

शतभिष, शत-भिषज्—तु० 'यच्छतमभिषज्यन्। तच्छतभिषक्', तैब्रा० १. ५. २. ९; 'क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः। नक्षत्राणां शतभिषग् वसिष्ठः' तैब्रा. ३. १. २. ७. द्र०—नक्षत्र।

शत-मान—द्रष्टव्य मान और कृष्णल।

शत-यातु—सैकड़ों जादुओं की शक्ति वाला। ऋग्वेद ७. १८. २१ में एक ऋषि का नाम शतयातु है। पराशर के बाद और वसिष्ठ के पहले उनकी गणना है। गेल्डनर का विचार है कि वे वसिष्ठ के पुत्र रहे होंगे : वैस्तू०, २. १३२।

तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३९।

शत-रुद्रिय[२], **शत-रुद्रीय**[३]—शतरुद्रों से संबद्ध सूक्त। यह यजुर्वेद के एक भाग[४] का नाम है, जिसमें

---

[१] द्र०—फॉय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त, ७४।

[२] कासं०, २१. ६; शब्रा०, ९. १. १. १; ९. १. २. १; १०. १. ५. ३, १५।

[३] तैसं०, ५. ४. ३. १; ५. ५. ९. ४; ५. ७. ३. ३; तैब्रा०, ३. ११. ९. ९।

[४] तैसं०, ४. ५. १–११; कासं०, १७. ११–१६; मैसं०, २. ९. १; वासं०, १६. १ एवं आगे।

रुद्र देवता के सैकड़ों पक्षों का आराधन है, और उनकी सैकड़ों उपाधियों का उल्लेख है।

तु० तद् यदेतं शतशीर्षाणं रुद्रमेतेनाशमयंस्तस्माच्छतशीर्ष-रुद्रशमनीयं शतशीर्षरुद्रशमनीयं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ९. १. १. ७; 'ते (देवाः) अब्रुवन्। अन्नमस्मै (रुद्राय) संभराम तेनैनं शमयामेति तस्मा एतदन्नं समभरञ्छान्तदेवत्यं तेनैनमशमयंस्तद्यदेतदेवमेतेनाशमयंस्त-स्माच्छान्तदेवत्यं शान्तदेवत्यं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० ९. १. १. २; 'त्वमग्ने रुद्र इति शतरुद्रीयस्य रूपम्' तैब्रा० ३. ११. ९. ९; 'अहोरात्रे शतरुद्रीयम्' तैब्रा० ३. ११. १०. ३। तु०—त्सिमर, आले०, २०२; वेबर, इं० लिट० १०८, १११, १५९, १६९, १७०; एगलिंग, सेबुई० ४३. १५० एवं अग्रिम।

शत-शारद—ऋग्वेद (७. १०१. ६; १०. १६१. २) एवं अथर्ववेद (१. ३५. १; ८. २. २; ८. ५. २१) में एक सौ शरदों या वर्षों के जीवन के लिये आया है।

शतानीक सात्राजित—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. ५ और शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ९–१३ में एक राजा का नाम शतानीक सात्राजित है, जिसने **काशी** के राजा **धृत-राष्ट्र** को पराजित किया था; और उनके अश्वमेध का अश्व छीन लिया था। स्पष्टतः वे एक **भरतवंशी** राजा थे। अथर्ववेद (१. ३५. १=वासं०, ३४. ५२ **दाक्षायणों** के संबन्ध में) में भी उनका उल्लेख आया है।

शत्रि आग्निवेशि—**अग्निवेश** का वंशज शत्रि। ऋग्वेद ५. ३४. ९ में एक उदार आश्रयदाता का नाम शत्रि आग्निवेशि है।

तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५५।

शत्रु—ऋग्वेद एक परवर्ती साहित्य में दुश्मन के अर्थ में यह शब्द आम है: ऋ० १. ३३. १३; १. ६१. १३; २. २३. ११; २. ३०. ३ एवं आगे; ३. १६. २; ४. २८. ४ इत्यादि; अवे० ४. ३. १; ६. ४. २; १०. ३. १ इत्यादि।

शंतनु—यास्क द्वारा कथित एक कथा के नायक शंतनु हैं: निरुक्त, २. १०। यह कथा बाद में अन्यत्र भी पाई जाती है: बृदे०, ७. १५५ एवं अग्रिम[1]। शंतनु अपने बड़े भाई **देवापि** के रहते ही **कुरुओं** के राजा हो जाते हैं। उनके इस अनुचित कार्य से वृष्टि पड़नी बंद हो जाती है। वे अपने बड़े भाई को राज्य देने के लिए विवश होते हैं; किंतु देवापि राज्य लेना अस्वीकार करते हैं और एक यज्ञ कराते हैं, जिससे वर्षा हो जाती है। ज़ीग ने ऋग्वेद १०. ९८ में इस कथा का स्रोत ढूंढ़ने की चेष्टा की है; किंतु यहाँ केवल यह कथन है कि **आर्ष्टिषेण** देवापि ने (पुरोहित के रूप में) एक यज्ञ द्वारा (राजा) शंतनु के लिए वर्षा कराई थी। वहाँ इन दोनों के संबन्ध का कोई संकेत नहीं है।

[1] मैकडानल के नोट के साथ; ज़ीग, दीजाऋ०, १२९ एवं अग्रिम।

शपथ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द "अभिशाप" के अर्थ में अधिक आया है, सौगन्ध के अर्थ में कम। किंतु सौगंध या शपथ का चलन आम था, जैसा कि ऋग्वेद ७. १०४. १५ से ज्ञात होता है, जहाँ वक्ता, संभवतः **वसिष्ठ** कहते हैं कि "यदि मैं यातुधान होऊँ तो मेरी आज ही मृत्यु हो जाय; और यदि ऐसा न होऊँ तो मेरे शत्रुओं की मृत्यु हो जाय।"

द्र० ऋ० १०. ८७. १५; निरुक्त, ७. ३; अवे०, ३. ९. ५; ४. ९. ५; ४. १८. ७; ४. १९. ७ इत्यादि; तु० म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, ३२६, ३२७।

१. शफ—अष्टम भाग के अर्थ में शफ का प्रयोग मिलता है, क्योंकि जहाँ गौ या अन्य पशुओं के चार पादों के आधार पर एक पाद एक चतुर्थ का भाव देता है, वहां ८ शफों (खुरों) में से एक शफ अष्टम भाग का अर्थ देता है। यह भाव ऋग्वेद में भी पाया जाता है और परवर्ती साहित्य में तो अविरल रूप में मिलता है: ऋ० ८. ४७. १७; अवे०, ६. ४६. ३; १९. ५७. १; तैसं०, ६. १. १०. १; शब्रा०, ३. ३. ३. ३ इत्यादि; तु० हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो० १६. २७८; १७. ४७; त्सिमर आ० ले०, २५९।

२. शफ—ब्राह्मणों में द्विवचन में शफ शब्द का जहाँ प्रयोग मिलता है, वहाँ उसका अर्थ लकड़ी की बनी संडासी होता है, जिससे आग पर से पात्र को उतारा जाता था। संभवतः लकड़ी के दो भागों में विभक्त होने से इसे शफ कहा गया है।

द्र० ऐब्रा०, १. २२. १४; शब्रा०, १४. २. १; १६। तु० एगलिंग, सेबुई० ४४, ४५८ टि० ४; ४७६।

शफक—अथर्ववेद ४. ३४. ५ में किसी पौधे का नाम है। आपस्तम्बश्रौत-सूत्र ९. १४. १४ में भी इसका उल्लेख आया है, जहाँ यह किसी फल वाले जलीय पौधे को उद्दिष्ट करता है। इसके पत्ते शफाकार होते हैं; इसीलिए इसे शफक कहा गया है।

तु० वेबर, इस्टू०, १८. १३८; त्सिमर, आ० ले०, ७०; ह्विटनी ट्रां० अ० वे०, २०७।

शफारुज्—शफ या खुर को नष्ट करने वाला। ऋग्वेद १०. ४४. ९; १०. ८७. १२ में यातुधानों को शफारुज् कहा गया है।

शफाल—बौधायन श्रौतसूत्र २०. १२ में ऋतुपर्ण की राजधानी का नाम शफाल है।

तु० कालण्ड, ऊबर दास रितुआल देस बौधायन, २१. ३६।

शबर—ऐतरेय ब्राह्मण ८. १८. २ में शबर एक वन्य जाति का नाम है। इसका उल्लेख दस्युओं के वर्ग में, **अन्ध्र, पुलिन्द, मूतिब, पुण्ड्र** लोगों के साथ हुआ है।

द्र० शांश्रौतसूत्र, १५. २६. ६; तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, ४८३।

शबल—'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' कौब्रा० २. ९.

शबली—'वाग् वै शबली' तांब्रा० २१. ३. १–२.

शम्—'ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यः शमित्यूर्ध्वमक्षरमुदक्रामत् स य इच्छेत् सर्वाभिरेताभिरावद्भिश्च परावद्भिश्च कुर्वीयेत्येतयैव तन्महा व्याहृत्या कुर्वीत' गोब्रा० १. १. ११.

शमितृ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शमितृ ऐसे व्यक्ति को कहा गया है, जो मारे गए पशु के मांस को काटता है : ऋ० १. १६२. ९ एवं आगे; २. ३. १०; ३. ४. १०. ५. ४२, ४ इत्यादि; अवे०, १०. ९. ७; वासं०, १७. ५७; २१. २१; २३. ३९; ऐब्रा०, २. ६. २; २. ७. १०. १२; ७. १. २; पंविब्रा०, २५. १८. ४ इत्यादि। तु० 'अध्रिगुश्चापापश्च उभौ देवानां शमितारौ' तैब्रा० ३. ६. ६. ४; 'मृत्युस्तदभवद् धाता शमितोग्रो विशां पतिः' तैब्रा० ३. १२. ९. ६.

शमी—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में शमी एक वृक्ष है : अवे० ६. ११. १; ६. ३०. २, ३; तैसं०, ५. १. ९. ६; ५. ४. ७. ४; कासं०, ३६. ६; तैब्रा०, १. १. ३. ११ एवं आगे; १. ६. ४. ५; शब्रा०, २. ५. २. १२; ९. २. ३. ३७ इत्यादि। अथर्ववेद ६. ३०. २, ३ में इसे बालों को नष्ट करने वाला कहा गया है; तु०—धन्वन्तरीय निघण्टु, पृष्ठ १८८ पूना का संस्करण, जहाँ शमी और शमी के फलों को बालों को नष्ट करने वाला कहा गया है। वहीं इसे मादकता उत्पन्न करने वाला और चौड़ी पत्ती वाला भी बताया गया है। अग्नि जलाने के लिये शमी की मृदु लकड़ी की अरणी बनाई जाती थी : अवे०, ६. ११. १; शब्रा०, ११. ५. १. १५; ३. ४. १. २२, तैसं०, ५. १. ९. ६, ५. ४. ७. ४। ऊपर की अरणी अश्वत्थ की लकड़ी की होती थी। शमी के फल को शमी-धान्य कहा गया है : शब्रा०, १. १. १. १०

तु० 'प्रजापतिरग्निमसृजत्। सोऽबिभेत् प्र मा धक्ष्यतीति तं शम्याशमयत्। तच्छम्यै शमित्वम्' तैब्रा० १.१. ३. ११; 'शमीमयं (शङ्कुं) उत्तरतः, शं मेऽसदिति' शब्रा० १३. ८. ४. १। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ५९, ६०।

शमील—द्र०—शमी।

शम्बर—ऋग्वेद में **इन्द्र** के एक शत्रु का नाम शम्बर है : ऋ० १. ५१. ६; १. ५४. ४; १. ५९. ६; १. १०३. २; १. १०३. ८; १. ११२. १४; १. १३०. ७; २. १२. ११; २. १४. ६; २. १९. ६; ४. २६. ३; ४. ३०. १४; ६. १८. ८; ६. २६. ५; ६. ३१. ४; ६. ४३. १; ६. ४७. २, २१; ७. १८. २०; ७. ९९. ५। उसका उल्लेख **शुष्ण, पिप्रु,** और **वर्चिन्** के साथ दास के रूप में हुआ है, जहाँ (ऋ० ६. २६. ५) इसे **कुलीतर** का पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद ७. १८. २० में कहा गया है कि वह अपने आप को **देवक** (दैवी) समझता है। शम्बर के किलों की संख्या नब्बे (ऋ० १. १३०. ७), निन्यानवे (ऋ० २. १९. २) और एक सौ (ऋ० २. १४. ६) तक बताई गई है। ऋग्वेद २. २४. २ में "शम्बर के पुरों" का जिक्र आया है। उसके मुख्य शत्रु थे : **दिवोदास अतिथिग्व,** जिन्होंने **इन्द्र** की सहायता से शम्बर के ऊपर विजय प्राप्त की थी : ऋ० १. ५१. ६; १. १३०. ७; २. १९. ६; ४. २६. ३ इत्यादि।

यह कहना कठिन है कि शम्बर वास्तविक व्यक्ति था या नहीं। हिल्लेब्राण्ड्ट का मत है कि वह **दिवोदास** का शत्रु एक वास्तविक व्यक्ति था[1]। उनके अनुसार जहाँ **दिवोदास** के शत्रु के रूप में शम्बर का उल्लेख है, वहाँ वह एक असली व्यक्ति है; किंतु जहाँ उसे दानव कहा गया है, (जैसे कि सप्तम मण्डल में) वहाँ अराखोसिया से भारत में आने के कारण परिवर्तन हो गया है। कुछ भी हो, यह माना जा सकता है कि शम्बर भारत की आदिम जातियों का नेता था, और वह पर्वतों में रहता था : ऋ० १. १३०. ७; ४. ३०. १४; ६. २६. ५।

तु० लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १७७, मैकड़ानल, वैदिक मा०, पृष्ठ १६१; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे० ४२. २१०; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १७८।

शम्बिन्—अथर्ववेद ९. २. ६ में केवल एक बार आने वाला यह शब्द संभवतः "पार ले जाने वाला" इस

[1] वैमि०, १. १०३, १०८; ३. २७३।

अर्थ में आया है। इसका शाब्दिक अर्थ है "शम्ब" या बाँस धारण करने वाला। शम्ब शब्द एकबार ऋग्वेद १०. ४२. ७ में भी आता है।

शंमद् आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज शंमद्। पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ५. ११ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का यह नाम है।

तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६०।

शम्या—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शम्या चक्की के पाट की कील अथवा जूए में लगाई जाने वाली सिलम है: ऋ० १०. ३१. १०; अवे० ६. १३८. ४; २०. १३६. ९; तैसं०, ६. २. ७. १; पंविब्रा०, २५. १०. ४; शब्रा०, १२. ५. २. ७ इत्यादि। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६. १. १ में और शतपथ ब्राह्मण १. १. १. २२; २. १. १६. ५; २. २. ३. २ इत्यादि में यह चक्की के निचले पाट की कील को जताता है। जुए की सिलमों से युग को वृषभ या अश्व की गरदन पर पक्का कर दिया जाता था: ऋ० ३. ३३. १३; शब्रा०, ३. ३. ४. २५; तैसं०, ६. ८. ३; पंविब्रा०, ६. ५. २०। शम्या का लम्बाई की माप में भी प्रयोग होता था: तैब्रा०, ३. २. ६. २; कात्यायन श्रौत सूत्र ५. ३. २० के अनुसार इसकी लम्बाई ३२ अंगुल होती थी, जो लगभग दो फीट के बराबर होगी।[1] ब्राह्मणों में कई बार शम्या शब्द लकड़ी के उस आधार-पट्ट को जताता है जिस पर चक्की के निचले पाट को रखा जाता था: तैब्रा०, १. ६. १. १; शब्रा०, १. १. १. २२; १. २. १. १६; ५. २. ३. २; बौश्रौसूत्र, १. ७; आपश्रौसूत्र १८. ८.१२ इत्यादि।

शयण्डक—द्र०—शयाण्डक।

शयन—अथर्ववेद ३. २५. १. ५. २९. ८ और शतपथ ब्राह्मण ११. ५. १. २; ११. ५. ७. ४ में शयन शय्या के अर्थ में आया है। तु०—तल्प, वह्य।

शयाण्डक—तैत्तिरीय संहिता ५. ५. १४. १ में किसी जीव का नाम शयाण्डक है, जिसे मैत्रायणी संहिता ३. १४. १४ और वाजसनेयि संहिता २४. ३३ में शयण्डक के रूप में दिया गया है। राथ ने वोबू० में इसे एक पक्षी माना है; किंतु तैत्तिरीय-संहिता के भाष्यकार ने इससे कृकलास लिया है।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९५।

शयु—ऋग्वेद में शयु अश्विनों के एक कृपा-पात्र का नाम है। अश्विनों ने उसकी गौ को दुधारू बनाया था:

[1] तु०—फ्लीट, जराएसो०, १९१२, २३२।

ऋ० १. ११२. १६; १. ११६. २२; १. ११७. २०; १. ११८. ८; १. ११९. ६; ६. ६२. ७; ७. ६८. ८; १०. ३९. १३; १०. ४०. ८।

१. शर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शर का अर्थ सरकण्डा है: ऋ० १. १९१. ३; अवे०, ४. ७. ४; तैसं०, ५. २. ६. २; ६. १. ३. ३; कासं०, ११. ५. २३. ४; शब्रा०, १. २. ४. १; ३. १. ३. १३; बृउ०, ६. ४. ११; नि०, ५. ४ इत्यादि। अथर्ववेद १. २. १; १. ३. १ में इसका बाण या शरकाण्ड के लिए उपयोग उल्लिखित है; साथ ही अवे०, ८. ८. ४ में उसकी सुभेद्यता या कोमलता का भी उल्लेख आया है। तु०—शर्य। 'अथ (इन्द्रः) यत्र (वज्रं) प्राहरत्तच्छ्रलोऽशीर्यंत स पतित्वा शरोऽभवत् तस्माच्छरो वात्र यदशीर्यत' शब्रा० १. २. ४. १; 'वज्रो वै शरः' शब्रा० ३. १. ३. १३.

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ७१।

२. शर आर्चत्क—ऋचत्क का वंशज शर। ऋग्वेद १. ११६. २२ तु०—१. ११२. १६ में यह एक ऋषि का नाम है। क्या आर्चत्क पैतृक नाम है?[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १०३; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १५०

३. शर शौरदेव्य—शूरदेव का वंशज शर। ऋग्वेद ८. ७०. १३-१५ में एक उदार राजा का नाम शर शौरदेव्य है, जिसने तीन गायकों को एक बछड़ा दिया था। यह दानस्तुति व्यङ्ग्यात्मक हो सकती है; द्र०—पिशल, वैस्तू०, १. ५-७; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३; ५. १७५।

शरद्—द्र०—ऋतु० तु. 'शरद् वै बर्हिरिति हि शरद् बर्हिर्या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति ता वर्षा वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे तस्माच्छरद् बर्हिः' शब्रा० १. ५. ३. १२; 'बर्हिर्यजति शरदमेव शरदि हि बर्हिष्ठा ओषधयो भवन्ति' कौब्रा० ३. ४; 'शरदि हि खलु वै भूयिष्ठा ओषधयः पच्यन्ते' जैउब्रा० १. ३५. ५; 'स्वधा वै शरद्' शब्रा० १३. ८. १. ४; 'शरद् वै वैश्यस्यर्तुः' तैब्रा० १. १. २. ७; 'शरद् वा अस्य (रुद्रस्य) अम्बिका स्वसा' तैब्रा० १. ६. १० ४; 'शरत् पुच्छं (संवत्सरस्य)' तैब्रा० ३. ११. १०. ३; 'यद् विद्योतते तच्छरदः (रूपम्)' शब्रा० २. २. ३. ८; 'शरद् ब्रह्मा तस्माद् यदा सस्यं पच्यते ब्रह्मण्वत्यः प्रजा इत्याहुः' शब्रा०' ११. २. ७. ३२; 'शरदेव सर्वम्' गोब्रा० १. ५. १५।

१. शरभ—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में किसी जंगली जीव का नाम शरभ है: अवे०, ९. ५. ९; तु०—शलभ; तैसं०, ४. २. १०. ४; वासं० १३. ५१; ऐब्रा० २. ८. ५; शब्रा०, १. २. ३. ९ इत्यादि। संस्कृत-

साहित्य में यह एक किंवदन्तियों का पशु है, जिसके आठ पैर होते हैं, जो हिमाच्छन्न पर्वतों पर रहता है, और हाथियों एवं सिंहों का वैरी है। वाजसनेयि संहिता में महीधर ने यही अर्थ लिया है। अथर्ववेद (उपर्युक्त स्थल) में इसे अज के समान बताया गया है। तु०—एगलिंग, सेबुई० १२. ५२. टि. १; त्सिमर, आ० ले०, ८९।

२. शरभ—ऋग्वेद ८. १००. ६ में एक ऋषि का नाम शरभ है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६३।

शरव्या—बाण-प्रक्षेप के अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आया है : ऋ० ६. ७५. १६; १०. ८७. १३; अवे०, १. १९. १, ३; ५. १८. ९; ११. १०. ६; १२. ५. २५–२९; तैसं०, ४. ५. १. १ इत्यादि।

शराव—ब्राह्मणों में शराव शब्द अन्न का एक माप है : सप्तदश-शराव : तैब्रा०, १. ३. ४. ५; १. ३. ६. ८; शब्रा०, ५. १. ४. १२।

शरीर—वैदिक साहित्य में शरीर शब्द कई बार आया है : ऋ० १. ३२. १०; १०. १६. १ इत्यादि; अवे०, ५. ९. ७; १८. ३. ९ इत्यादि; वासं०, ३४. ३५; तैसं०, १. ७. २. १; ऐब्रा०, २. ६. १३; २. १४. २; शब्रा०, १०. १. ४. १; तैब्रा०, १. २. १. ८। वैदिक आर्य आरम्भ से ही शरीर-शास्त्र के अध्ययन की ओर आकृष्ट हो गये थे; फलतः अथर्ववेद १०. २ में उन्होंने शरीर के अवयवों की उचित रूप में छानबीन की है[१]। इसमें इनका उल्लेख यों है :—पार्ष्णी (एडियां) मांस, गुल्फ (चरणग्रन्थि-अस्थि), अङ्गुलि, ख (छिद्र)। उच्छलकौ (दो पब्बे), प्रतिष्ठा, अष्ठीवन्तौ, जंघे (दोनों निचले पैर, या टांगें), जानुनोः सन्धि (घुटनों का जोड़)। फिर चतुष्टय या चारों ओर के जानु (घुटने) के भाग, शिथिर कबन्ध (नमनीय धड़)। श्रोणी और ऊरु कुसिन्ध (=शरीर के ढांचे) के आधार हैं। फिर उरस्, ग्रीवा, स्तन, कफोड़ों (कंधे के दो सिरे), स्कन्धों, पृष्टि (मेरुदण्ड) अंसौ (दोनों हंसलियां) बाहू, "सप्त खानि शीर्षाणि (शीर्ष के सात छिद्र, मुख, नासिका आदि), कर्ण, नासिका, चक्षणी (नेत्र), मुख, हनु (ठोडी) जिह्वा, मस्तिष्क, ललाट, ककाटिका (मुख की अस्थि) कपाल और 'चित्या हन्वोः' (जबड़ों का गठन)।

यह क्रम चरक और सुश्रुत द्वारा दिये नामों के समान है[२]। कफोडौ के अनेक पाठान्तर हैं[३]। "उष्णिहा" शब्द (अवे०, ६. १३४. १; ऋ० ६. १६३. २=अवे०, २. ३३. २; अवे०, ९. ८. २१. १०. १०. २०) बहुवचन में स्कन्ध के समकक्ष है; तु० अवे०, १०. ७. ३ जहाँ "स्कन्धाः" को कृत्तिकाः के समान कहा गया है, संभवतः दोनों में सात संख्या होने के कारण; तु० १०. ९. २०; ६. १३५. १; १२. ५. ६७[१]। पृष्टि (ऋ० १०. ८७. १०; अवे०, ८. ३. १०; अवे०, ९. ७. ५, ६; १०. ९. २०; अवे०, १२. १. ३४; १८. ४. १०; शब्रा०, ७. ६. २. ७)[२] का अर्थ मेरु-दण्ड है, पार्श्वास्थि नहीं, जिसके लिये पर्शु आया है : अवे०, ११. ७. ६ इत्यादि। बहुवचन में कीकस शब्द भी मेरुदण्ड की ग्रन्थियों का वाचक है : अवे०, ९. ७. ५; ९. ८. १४; कहीं-कहीं यह ऊपरी मेरुदण्ड को ही सूचित करता है : अवे०, ११. ८. १५; २. ३३. २; शब्रा०, ७. ६. २. १०। अनूक भी मेरुदण्ड का सूचक है : अवे०, ४. १४. ८; तु० ९. ८. २१, या सच पूछो तो यह कटि-भाग का वाचक है : अवे०, २. ३३. २ तु०—शतपथ ब्राह्मण १२.२.४.१२, १४ में, जहां कहा गया है कि अधोभाग में बीस और ऊर्ध्वभाग में छत्तीस तिर्यक् क्रम हैं, जिनसे छब्बीस ग्रन्थियाँ बनती हैं यह संख्या ठीक है। किंतु आधुनिक वर्गीकरण में ७ ग्रीवावर्ती, १२ ग्रीवोदर-मध्यवर्ती, ५ निम्नवर्ती और दो त्रिकास्थि और गुदास्थि हैं। बहुवचनान्त करूकर शब्द भी मेरुदण्ड का वाचक है : अवे०, ११. ९. ८[३]; इसी भाव को **कुंताप** शब्द भी सूचित करता है : शब्रा०, १२. २. ४. १२।

बहुवचन में ग्रीवा शब्द ग्रीवावर्ती मेरुदण्ड-ग्रन्थियों का वाचक है। उनकी संख्या शतपथ ब्राह्मण १२. २. ४. १० में सात दी गई है; किंतु सामान्यतः यह शब्द श्वासनली या अधिक सूक्ष्मता से तरुणास्थि-वलय को सूचित करता है : ऋ० ६. १६३. २=अवे०, २. ३३. २; अवे०, ६. १३४. १; ९. ७. ३; १०. ९. २०. ११. ८. १५।[४] जत्रु बहुवचन में ग्रीवावर्ती तरुणास्थियों को सूचित (ऋ० ७. १. १२; अवे०, १४. २. १२) करता है, या पंजरवर्ती तरुणास्थियों को सूचित करता है. जो भाव कि शतपथ

[१] तु०—हर्नले, जराएसो०, १९०७, १०–१२, ओस्टियोलजी, १०९–१११, २४२।

[२] तु०—हर्नले, ओस्टियोलजी ११२।

[३] तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ५६८।

[१] हर्नले, जराएसो० १९०६, ९१८; १९०७, १, २।

[२] हर्नले, जराएसो०, १९०७. २ एवं आगे; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ५४८; एगलिंग, से० बु० ई०, ४४. १६४ टि० २।

[३] ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, १२४।

[४] हर्नले, जराएसो०, १९०६, ९१६ एवं आगे।

ब्राह्मण १२. २. ४. ११, (तु०—७. २. ६. १०)[१] में आता है, जहाँ उनकी संख्या आठ दी गई है।

भंसस् शब्द अथर्ववेद में तीन बार आया है: २. ३३. ५; ९. ८. २१; ८. ६. ५, ह्विटनी नें इसका अर्थ नितम्ब या पायु किया है।[२]

शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य के शरीर में अस्थियों की संख्या ३६० बताई गई है: शब्रा०, १०. ५. ४. १२; १२ ३. २. ३,।[३] शब्रा०, १२. २. ४. ९—१४ में शीर्ष और धड़ की अस्थियों की संख्या गिनाई गई है, जो इस प्रकार है: शिर ३ भागों का है, त्वचा, अस्थि और मस्तिष्क; गले में १५ अस्थियाँ हैं: १४ तिर्यक्क्रम की (करूकर), और एक मध्यवर्ती "वीर्य" नामक; वक्षःस्थल में १७ हैं, १६ जत्रु और एक उरस्; उदर के पृष्ठवर्ती भाग में २१ हैं, २० कुंताप और एक उदर; दोनों पार्श्वों में २७ हैं: २६ पर्शु हैं, सत्ताइसवें में दोनों पार्श्व हैं; अनूक में ३३ हैं: ३२ तिर्यक् क्रम वाली और एक अनूक भाग।

वासं०: १९. ८१-९३; मैसं०, ३. ११. ९; कासं०, ३८. ३; तैब्रा०, २. ६. ५ में न केवल कपाल के, अपितु शरीर के कतिपय अवयवों की गणना दी गई है; लोम, त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा, यकृत्, क्लोमन् (फेफड़ा), मतस्ना (वृक्क या मूत्रपिण्ड), पित्त, आन्त्र, गुदा, प्लीहा, नाभि, उदर, वनिष्ठु (मलाशय), योनि, प्लासि या शेप (पुरुषेन्द्रिय), मुख, शिरस्, जिह्वा, आसन् (मुखद्वार), पायु (गुद), वाल, चक्षु, यक्ष्म, (पलक), उतानि (नेत्र रोग), नासिका, व्यान (श्वास), नस्य (नासिका-बाल), कर्ण, भ्रू, आत्मन् (शरीर), उपस्थ (कटि), श्मश्रु, केश। वासं०, २०. ५. १३; मैसं०, ३. ११. ८; कासं०, ३८. ४; तैब्रा०, २. ६. ५ की गणना इस प्रकार है:—शिरस्, वाक्, मनस्, अङ्गुलि, अङ्ग, बाहू, हस्त, कर्ण, आत्मा, उरस्, पृष्टि, उदर, अंस, ग्रीवा, श्रोणी, ऊरु, अरत्नि, जानु, नाभि, पायु, भसत्, अंड, पस (जननेन्द्रिय), जंघा, पद्, लोम, त्वच्, मांस, अस्थि, मज्जा। एक अन्य गणना वासं०, ३९. ८. ९, १० में इस प्रकार है: वनिष्ठु, पुरीतत् (हृदय-कोश), लोम, त्वचा, लोहित, मेद, मांस, स्नाव, अस्थि, मज्जा, रेतस्, पायु, कोश्य (हृदय के पास का मांस), पार्श्व्य (पार्श्व का मांस) इत्यादि।

[१] हर्नले, ज०रा०ए०सो०, १९०६, ९२२ एवं आगे।
[२] ट्रां०अ०वे०, ७७, ५५१
[३] हर्नले, ओस्टियोलजी, २३८, २३९, १०६—१०९ जिसमें यह दिखाने का प्रयास है कि शतपथ ब्राह्मण वैज्ञानिक तत्त्व से कितनी सीमा तक परे हटा है; कीथ, त्सा०दा०मौ०गे०, ६२. १३५ एवं आगे।

अश्व-कंकाल की अस्थियों की गणना आई है: ऐ०ब्रा०, ७. १; वासं०, २५. १-९; मैसं०, ३. १५।

ऐतरेय आरण्यक १. २, २ में मानव-शरीर को एक सौ एक तत्त्वों से बना हुआ बताया गया है: चार भाग हैं, प्रत्येक में पचीस तत्त्व हैं, और धड़ १०१ वां तत्त्व है। ऊपरी दो भागों में चार जोड़ वाली पांच अंगुलियां हैं, दो कक्षी,[१] दोस् (भुजा), अक्ष (ग्रीवास्थि), अंस-फलक (कंधों के पट्ट) हैं। नीचे के दो भागों में चार जोड़ वाली पांच अंगुलियां हैं, जंघा है, टांग है और तीन नाड़ियां हैं।

शांखायन आरण्यक २. २ में गणना इस प्रकार है: शीर्ष में तीन अस्थियां हैं[२]: शब्रा०, २. ४. ९; गले में तीन पोर (पर्व) हैं: शांआ० २. ३;[३] अक्ष (ग्रीवास्थि) हैं: शांआ० २. ४;[४] अंगुलियों में तीन जोड़ हैं: शांआ०, २. ५; यहां ऐतरेय आरण्यक के चार जोड़ों की बात सुधारी गई है। अनूक में इक्कीस तिर्यक् क्रम की अस्थि-ग्रन्थियां हैं: शांआ० २. ६[१५]। मैत्रायणी संहिता ३. २. ९ में गणना इस प्रकार है: शीर्ष में चार अङ्क हैं: प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाक्; किंतु एक गणना में लगभग बारह विभेद हैं।[५] तैत्तिरीय उपनिषद् १. ७. १ में गणना इस प्रकार है: चर्म, मांस, स्नावन्, अस्थि, मज्जा। ऐतरेय आरण्यक ३. २. १, २; शांआ०, ८. १२ में द्विवचन में मज्जा, स्नाव और अस्थि का उल्लेख आया है। अन्य भाग शरीर में ये हैं: कंकूष (संभवतः कान का कोई भाग, अवे०, ९. ८. २, पैप्पलाद शाखा में कंकुख है), योनि, कक्ष (भुजा की कांख, अवे०, ६. १२७. २; तु०—कक्षी, मैसं०, ४. ५. ९), दन्त, नख, प्रपद (पैर का अगला भाग, अवे०, २. ३३. ५)[६] हलीक्ष्ण (पित्त, अ०वे० २. ३३. ३)।[७]

[१] संभवतः हाथ की हथेली; कीथ, ऐआ० १७५।
[२] तु०—हर्नले ओस्टियोलजी, १७२ एवं आगे,
[३] कीथ, शां० आ०, ९ टि० ४।
[४] कीथ, उपर्युक्त टि० ५।
[५] कीथ, उपर्युक्त १० टि० ४।
[६] द्र०—कीथ, ऐतरेय आरण्यक, १८५, १९२, १९५, ये केवल कल्पनात्मक हैं।
[७] ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, ७७ लानमान के नोट के साथ; कीथ, ऐआ०, २०४; उस आरण्यक २. १. ४ में अंगूठा अर्थ असंभव है।
[८] ह्विटनी, उपर्युक्त, ७६।

(विवरण:—हर्नले ज०रा०ए०सो०, १९०६, ९१६ एवं आगे; १९०७. १ एवं आगे; ओस्टियोलजी।

'तु. अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम्' शब्रा०, ६. १. १. ४; 'अशरीरं वै रेतोऽशरीरा वपा यद् वै लोहितं यन्मांसं तच्छरीरम्' ऐब्रा०, २. १४.

शरु—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में शरु शब्द एक अस्त्र, विशेषतः बाण का वाचक है, किंतु कभी-कभी यह वज्र, शूल या भाले को भी सूचित करता है : ऋ० १. १००. १८; १. १७२. २; १. १८६. ९; २. १२. १०; ४. ३. ७; ४. २८. ३ इत्यादि; अवे०, १. २. ३; १. १९. २; ६. ६५. २; १२. २. ४७; बाण : ऋ० १०. १२५. ६; १०. ८७. ६; शूल या भाला : ऋ० ४. ३. ७ । तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, २२३; त्सिमर, आ०ले०, ३०१ ।

शर्कर—द्र०—शिशुमार २ ।

शर्करा—शर्करा शब्द चूर्ण या बालू के अर्थ में परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आया है : अवे०, ११. ७. २१; तैसं०, ५. १. ६. २; ५. २. ६. २; तैब्रा०, १. १. ३. ७; १. २. १. ४; ३. १२. ६; शब्रा०, २. १. १. ८ इत्यादि ।

तु० 'तां (पृथिवीं) शर्कराभिरदृंहत् शं वै नोऽभूदिति तच्छर्कराणां शर्करात्वम्' तैब्रा० १. १. ३. ७; 'शर्कराया अश्मानम् (असृजत) तस्माच्छर्कराश्मैवान्ततो भवति' शब्रा०, ६. १. ३. ५ ।

शर्कराख्य—द्र०—शार्कराक्ष ।

शर्कोट—अथर्ववेद ७. ५६. ५ में किसी जानवर का नाम है । राथ[1] और त्सिमर[2] इसे सर्प मानते हैं, किंतु ग्रिल[3], हेनरी[4] और ब्लूमफील्ड[5] ने इससे वृश्चिक को लिया है ।

शर्ध—द्र०—व्रात ।

शर्ध्य—ऋग्वेद १. ११९. ५ में राथ (वोबू०) ने इससे कोई रथाङ्ग लिया है । अर्थ संदिग्ध है ।

शर्मन्—निरुक्त ३. ४ में गृह के पर्यायों में शर्मन् शब्द आया है । वैदिक साहित्य में यह शब्द प्रायः गृह, शरण, या सुरक्षा के अर्थ में आया है । शर्म-सद् (गृह में स्थित) शब्द भी आम है : ऋ० १. ७३. ३ ।

द्रष्टव्य : ऋ० १. ४. ६; १. ११४. ५; ३. १३. ४; ४. २८. ४; शब्रा०, ३. २. १. ८; १२. ८. ३. ११ इत्यादि ।

[1] वोबू० ।
[2] आले०, ९५ ।
[3] हुंडर्त लीडर[2], १८३ ।
[4] ले लिव्रे द लू अथर्ववेद, ८२ ।
[5] हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५५४, ५५५ ।

तु० 'वाग् वै शर्म' ऐब्रा० २. ४० ।

शर्य, शर्या—ऋग्वेद १. ११९. १० में शर्य और ऋग्वेद १. १४८. ४; १०. १७८. ३; (तु० नि० ५. ४; १०. २९) में शर्या शब्द बाण के अर्थ में आया है =शर से बना हुआ । साथ ही शर्य (ऋ० ९. ११०. ५; १०. ६१. ३) और शर्या (ऋ० ९. १४. ४; ९. ६८. २) का अर्थ सोमचालनी भी है, किंतु इन स्थलों का भाव संदिग्ध है ।

द्र०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. ५२. गेल्डनर, वैस्टू० २. २३५ टि०—१ ।

शर्यणावन्त्—ऋग्वेद में शर्यणावन्त् से सायण ने कोई स्थान-विशेष लिया है : ऋ० १. ८४. १४; ८. ६. ३९; ८. ७. २९; ८. ६४. ११; ९. ६५. २२; ९. ११३. १; १०. ३५. २; द्र०—जैब्रा०, ३. ६४; शाट्यायनक, ऋ०, १. ८४. १३ के सायण भाष्य में । उनके अनुसार "शर्यणा" कुरुक्षेत्र में कोई मण्डल है । उसके पिछले भाग में शर्यणावन्त् एक झील है । सायण का यह मत ठीक प्रतीत होता है । यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुरुक्षेत्र में एक झील अन्यतःप्लक्षा थी । राथ[1] का मत है कि ऋ० १. ८४. १४; १०. ३५. २ में "शर्यणावन्त्" केवल झील ही है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "शरों से भरा हुआ जल" । अन्य स्थानों में वे इससे एक सोम-पात्र लेते हैं । त्सिमर[2] ने इस अर्थ को माना है, किंतु दूसरी ओर पिशल ने सायण के अर्थ को स्वीकार किया है ।[3] हिल्लेब्राण्ड्ट[4] ने भी इससे कोई स्थान ही लिया है, किंतु उन्होंने इसे" पाँच जातियों के बीच माना है : ऋ० ९. ६५. २२; इसी प्रकार लुड्विग,[5] भी शर्यणावन्त् से सरस्वती को लेते हैं । बेर्गेन्य[6] का मत है कि यह किसी स्वर्गीय सोम-निर्माता का नाम है ।

शर्यात—ऋग्वेद १. ११२. ७ में शर्यात अश्विनों का कोई कृपा-पात्र है । शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण ३. १२०-१२२ में शर्यात की कथा आती है । शर्यातों के हाथों च्यवन के पीडित होने का उल्लेख आता है । उन्होंने सुकन्या को पत्नी रूप में च्यवन को देकर उन्हें संतुष्ट

[1] वोबू० ।
[2] आ० ले०, १९, २० ।
[3] वैस्टू०, २. २१७; इसी प्रकार मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ३९८ ३९९ ।
[4] वैमि०, १. १२६ एवं आगे ।
[5] ट्रां० ऋ०, ३. २०५ ।
[6] रिलिगियों वैदिक १. २०६ ।

किया था। वहीं अश्विनों द्वारा च्यवन के युवावस्था-संपन्न बनाए जाने का भी उल्लेख आता है। शर्यात को वहां मानव (=मनु का वंशज) बताया गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. ७. १; ४. ८. ३, ५ में शर्यात एक यज्ञ-कर्ता के रूप में उभरते हैं।

तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. २५० एवं आगे; एगलिंग, सेबुई० २६, २७२ एवं आगे; अर्टेल, जअओ० सो०, १६, २३६, २३७।

शर्व—शतरुद्रिय मन्त्रों में रुद्र का एक नाम शर्व है : वासं०, १६. २८; द्र०—अवे०, ११. २. १६; १५. ५. १; तैआ०, १०. १६ इत्यादि।

तु. 'यच्छर्वोऽग्निस्तेन' कौब्रा० ६. ३; 'अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति' शब्रा० १. ७. ३. ८।

शर्वदत्त गार्ग्य—शर्वदेव से दत्त, गर्ग का वंशज। वंश-ब्राह्मण में एक आचार्य का नाम शर्वदत्त है : इस्तू०, ४. ३७।

शल—वोबू० के अनुसार अथर्ववेद ८. ७. २८, काठक संहिता १२. १० (इस्तू०, ३. ४६४) और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५. १०. १ में शल शब्द लम्बाई का एक माप है। शल के साथ संख्या-सूचक शब्द भी, जैसे त्रिशल आदि प्रयुक्त हुए हैं; किंतु ह्विटनी[1] का मत है कि यह अर्थ सभी स्थलों पर उपयुक्त नहीं है।

शलभ—पैप्पलादशाखीय अथर्ववेद ९. ५. ९ में फतिंगे के अर्थ में शलभ शब्द आया है। शौनकशाखीय अथर्ववेद में शरभ रूप है।

शलली—बालों के सजाने या काढ़ने तथा आंखों को अंजित करने वाली शलाका का नाम शलली आया है : कासं०, २३.१; तैब्रा०, १.५.६.६; शब्रा०, २.६.४.५।

शलुन—अथर्ववेद में शलुन शब्द एक कीड़े का वाचक है। पैप्पलाद शाखा में शलूल रूप है, किंतु सायण ने शल्ग पाठ लिया है। द्र०—अवे०, २. ३२. २।

तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ०वे०, ७३, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३१५ त्सिमर; आ०ले०, ९८ शलुन।

शल्क—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले काष्ठ-खण्डों या छिलकों आदि को शल्क कहा गया है : तैसं०, ५. २. ९. ३; ५. ४. २. ३; कासं०, २०. ८; २७. ७; ऐब्रा०, २. १४. ४; तैब्रा०, १. १. ९. ९; १. २. १. १५।

[1] ट्रां० अ०वे०, ५०१।

शल्मलि—सेमर या सिम्बल। ऋग्वेद ७. ५०. ३ में इसके फल को विषाक्त बताया गया है। विवाह का रथ इसकी लकड़ी से बनाया जाता था : ऋ० १०. ८५. २० इसे सबसे ऊंचा वृक्ष बताया गया है : तैसं०, ७. ४. १२. १; वासं०, २३. १३; शब्रा०, १३. २. ७. ४; पंविब्रा०, ९. ४. ११ इत्यादि।[1]

तु० 'शल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते' शब्रा० १३. २. ७. ४.

शल्य—द्रष्टव्य—इषु

शल्यक—वाजसनेयिसंहिता और परवर्ती काल में शलाका के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग है : वासं०, २४. ३५; ऐब्रा०, ३. २६. ३।

तु० 'तस्याः (गायत्र्याः) अनु विसृज्य कृशानुः सोमपालः सन्यस्य पदो नखमच्छिदत् तच्छल्यकोऽभवत् तस्मात् स नखक्षिज्' ऐब्रा० ३. २६.

शर्वत—अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में किसी कीड़े का नाम है : अवे०, ९. ४. १६; इसका पाठान्तर स्ववर्त है; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे० ५३१; तैसं०, ५. ७. २३. १; तु०—त्सिमर, आ० ले० ९८; राथ "शववर्त" अर्थात् शव पर रहने वाला कीड़ा यह अर्थ करते हैं।

१. शवस्—वंश ब्राह्मण में अग्निभू काश्यप के शिष्य एक आचार्य का नाम शवस् है।

द्र० इस्तू०, ४. ३७३।

२. शवस—शक्ति या बल के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आम है : ऋ० १. ३७. ९; ७. २८. ३; ७. ५६. ७; ७. ४८. २; १. ३९. ८; ८. ५७. ८; ६. १९. ६; ७. ७४. ६ इत्यादि।

शवस—शवस शब्द केवल एक बार गोपथ ब्राह्मण १. २. ९ में आता है, जहाँ "सवशोशीनरेषु" के स्थान पर "शवस-उशीनरेषु" यह गलत पाठ है। तु०—वश।

शविष्ठ—ऋग्वेद ८. ७४. १४. १५ में लुड्विग के अनुसार एक उदार आश्रयदाता का नाम शविष्ठ है। द्र० ट्रां० ऋ० ३. १६३।

शश—खरगोश। शश शब्द ऋग्वेद १०. २८. २ में एक बार आया है।[2] परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भी इस जानवर का कुछ स्थलों पर उल्लेख आता है : वासं०, २३. ५६; २४. ३८; मैसं०, ३. १४. १५; चन्द्रमा में शश : शब्रा०, ११. १. ५, ३।

तु० ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३६८।

[1] तु० एगलिंग, सेबुई०, ४४. ३१७ टि० २।
[2] द्र० बोहटलिङ्गक, प्रो० आफ दि सै. ए. १८९४ एवं आगे।

शशयु—शश को चाहने वाला। अथर्ववेद ४. ३. ६ में किसी पशु का नाम या विशेषण शशयु है। त्सिमर के अनुसार इसका अर्थ चीता है; किंतु यह चिन्त्य है[1]। ह्विटनी ने राथ के मत को उद्धृत किया है, जिसमें इसका अर्थ कोई शिकारी पक्षी माना गया है। किंतु उन्होंने भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ माना है 'छिपकर शिकार करने वाला'[2]।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३६८।

शशीयसी—ऋग्वेद ५. ६१. ६ में एक प्रकार की स्त्री का नाम शशीयसी है। पुरुषों के शश, अश्व आदि भेदों के लिये देखो वात्स्यायन का काम-सूत्र।

शश्वती—द्र०—आसंग।

शष्य—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में घास के नये अंकुओं को शष्य कहते हैं : वासं०, १९. १३, ८१; २१. २९; ऐब्रा०, ८. ५. ३; ८. ८. ४; शब्रा०, १२. ७. २. ८; १२. ९. १. २ इत्यादि।

शस्तृ—ऋग्वेद १. १६२. ५ और अथर्ववेद ९. ३. ३ में पशु-वध करने वाले को शस्तृ कहा गया है।

शस्त्र—होतृ द्वारा उच्चारित मन्त्र को शस्त्र और उद्गातृ द्वारा उच्चारित मन्त्र को **स्तोत्र** कहा गया है। प्रातःकालीन सोम के हविर्मन्त्रों को **आज्य** और **प्रउग** कहा गया है; मध्याह्नकालीन मन्त्रों को **मरुत्वतीय** और **निष्केवल्य** कहा गया है; संध्याकालीन मन्त्र **वैश्वदेव** और **आग्निमारुत** हैं : तैसं०, ३. २. ७२ इत्यादि; कासं०, २४. २ इत्यादि; वासं०, १९, २५, २८ इत्यादि; शब्रा०, ४. २. ४. २० इत्यादि।

तु०—'तद् यदेनच्छ्यति तस्माच्छस्त्रं नाम' शब्रा० ४. ३. २. ३; 'विट् शस्त्रम्' पंब्रा० १. ४; 'प्रजा शस्त्रम्' शब्रा० ५. ८. २. २०; 'वाग् घि शस्त्रम्' ऐब्रा० ३. ४. ४।

विवरण : इस्तू०, १०. ३५३ और कालेंड तथा हेनरी, ल् अग्निष्टोम।

शाकटायन—शकट का वंशज। शाकटायन एक वैयाकरण का पैतृक नाम है, जिनका उल्लेख निरुक्त, प्रातिशाख्यों एवं परवर्ती साहित्य में हुआ है : निरुक्त १. ३. १२ एवं आगे; ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, १. ३; १३. १६; वाजसनेयि प्रातिशाख्य ३. ८ इत्यादि।

तु०—वेबर, इं० लि०, १४३, १५१, १५२, २१७।

शाकदास भाडितायन—भडित का वंशज। वंश ब्राह्मण में **विचक्षण ताण्ड्य** के एक शिष्य का नाम शाकदास भाडितायन है। द्र०—इस्तू०, ४. ३७३।

शाकपूणि—शकपूण का वंशज। निरुक्त में एक वैयाकरण का नाम शाकपूणि कई बार आया है : निरुक्त ३. ११; ८. ५, ६, १४; १२. १९; १३. १०. ११।

तु०—वेबर, इं० लि०, १४३, १५१, १५२, २१७।

१. शाकल—वोबू० के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४३. २ में शाकल्य की शिक्षा का नाम शाकल है; किंतु बोहर्टलिंग्क ने अपनी डिक्शनरी में इसका अर्थ एक प्रकार का सर्प किया है, जो ठीक प्रतीत होता है।

तु०—वेबर, इस्तू०, ९. २७७; इं० लि०, ३३ टि०।

२. शाकल—साम-विशेष। 'एतेन वै शंकलः पञ्चमेऽह्नि प्रत्यतिष्ठत् प्रतितिष्ठति शाकलेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ३. १०.

शाकल्य—शकल का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ११. ६. ३. ३, बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ९. १; ४. १. ७ इत्यादि में **विदग्ध** का; और ऐतरेय आरण्यक ३. २. १, ६ तथा शांखायन आरण्यक ७. १६; ८. १. ११ में **स्थविर** का पैतृक नाम शाकल्य है। एक शाकल्य (ऐआ० ३. १. १; शांआ०, ७. १; नि० ६. २८) को ऋग्वेद के पाठों पर कार्य करने वाला आचार्य बताया जाता है। वेबर[1] का मत है कि **विदग्ध** ही वे शाकल्य हैं, जिन्होंने ऋग्वेद का पद-पाठ बनाया था। किंतु ओल्डेनबर्ग[2] का मत है कि शाकल्य ब्राह्मण-काल के बाद में हुए थे। गेल्डनर ने दोनों व्यक्तियों को एक माना है।[3] किंतु इस बात की संभावना कम है।[4]

शाकायनिन्—शतपथ ब्राह्मण १०. ४. ५. १ में शाकायनियों को **शाकायन्य** का अनुगामी बताया गया है।

शाकायन्य—शाक का वंशज। काठक-संहिता २२. ७ में **जात** का पैतृक नाम शाकायन्य है।

तु०—मैउ०, १. २; ६. २९।

शाकिन्—बहुवचन में उल्लिखित शाकियों (ऋ० ५. ५. २. १७) को लुड्विग ने उदार दाता माना है : ट्रां० ऋ०, ३. १५५

तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. ५२१ टि०।

शाक्त्य—शक्ति का वंशज। **गौरिवीति** का पैतृक नाम शाक्त्य है :

---

[1] द्र०—आलें० ७९, ८४।
[2] द्र०—ट्रां० अवे०, १४९।

---

[1] इं० लि०, ३२, ३३।
[2] प्रोलेगोमेना, ३८० टि०।
[3] वैस्तू०, ३. १४४–१४६।
[4] द्र०—कीथ, ऐआ०, २३९, २४०।

ऐब्रा०, ३. १९. ४; शब्रा०, १२. ८. ३. ७; पंविब्रा०, ११. ५. १४; १२. १३. १०; २५. ७. २; आश्रौतसूत्र, २३. ११. १४; २४. १०. ६. ८।

शाकर—द्रष्टव्य-**शक्वरी**।

शाखा—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वृक्ष की शाखा का उल्लेख आम है। ऋग्वेद में इस अर्थ में **वया** का अधिक प्रयोग है : ऋ० १. ८. ८; ७. ४३. १; १०. ९४. ३; अवे०, ३. ६. ८; १०. ७. २१; ११. २. १९ इत्यादि।

शांखायन—कौषीतकि ब्राह्मण में शांखायन का आचार्य के रूप में उल्लेख नहीं है, किंतु शांखायन आरण्यक १५. १ में आचार्यों की वंश-सूची में यह नाम आया है, जहाँ **गुणाख्य** को उस ग्रन्थ का अधिकारी माना गया है। श्रौतसूत्र में शांखायन का नाम नहीं है, किंतु गृह्य-सूत्र ४. १०; ६. १० में **सुयज्ञ** शांखायन को एक आचार्य के रूप में स्वीकार किया गया है; द्र० शांबव्य गृह्यसूत्र।[१] परवर्ती काल में यह शाखा गुजरात में थी। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १५. ७ में **काण्डमायन** के साथ शाखायन का नाम आता है।

विवरण : वेबर, इं० लि०, ३२. ४४, ५० एवं आगे; ८०. ३१३, ३१४; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, ४५, १९१, २४५, २४९।

शाट्यायन—**शाटच** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण (८. १. ४. ९; १०. ४. ५. २) और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ६. २; १. ३०. १; २. २. ८; २. ४. ३; २. ९. १०; ३. १३. ६; ३. २८. ५) में एक आचार्य का पैतृक नाम शाटचायन है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. १६. १ में एक वंश-सूची में उन्हें **ज्वालायन** का शिष्य बताया गया है। किंतु सामविधान ब्राह्मण के अन्त में पाए जाने वाले एक वंश में उन्हें **बादरायण** का शिष्य कहा गया है। सूत्रों में उनके अनुगामी शाटचायनियों का उल्लेख आता है : लाश्रौसूत्र, ४. ५. १८; अनपदसूत्र, १. ८; २. ९; ३. २, ११; ४. ८ इत्यादि[२]। आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र ५.२३.३ में शाटचायनि ब्राह्मण को उनका बनाया हुआ कहा गया है। आश्रौसूत्र, १०. १२. १३, १४; लाश्रौसूत्र, १. २. २४; आश्रौसूत्र, १. ४. १३ में शाटचायनक ब्राह्मण को उनका बनाया हुआ कहा गया है।

[१] इस्तू०, १५. १५४ में; आगृसूत्र, ३. ४. ४; तु०—कारिका, नारायण की, शांगृसूत्र, १. १. १० में; आनर्तीय, शांश्रौसूत्र १. २. १८ पर।

[२] वेबर, इस्तू०, १. ४४।

अर्टल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण के समान था, और उसी काल का था[१]।

तु०—मैकडानल, संस्कृत-लिटरेचर, २०३; औफ्रेख्ट, त्सादामौगे०, ४२. १५१, १५२।

शाट्यायनक—द्र०—**शाटचायन**।

शाट्यायनि, शाट्यायनिन्—द्र—**शाटचायन**।

शाण्ड—**शण्ड** का वंशज। ऋग्वेद में एक व्यक्ति का नाम शाण्ड है, जिसकी उदारता की प्रशंसा की गई है। यह आवश्यक नहीं है कि अगली ऋचा में उल्लिखित **पुरुपन्था** से उनकी एकता मानी जाय।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५८।

शाण्डिल—तैत्तिरीय आरण्यक १. २२. १० में **शाण्डिल्य** के वंशजों को शाण्डिलाः कहा गया है :

शाण्डिली-पुत्र—शण्डिल-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची में **राथीतरी-पुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम शाण्डिलीपुत्र है।

बृउ० माध्यंदिन ६. ४. ३२=काण्व, ६. ५. २।

शाण्डिल्य—**शण्डिल** का वंशज। यह कई आचार्यों का पैतृक नाम है; द्र०—**उदर** और **सुयज्ञ**। सर्वप्रमुख शाण्डिल्य वे हैं, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है : ९. ४. ४. १७; ९. ५. २. १५; १०. १. ४. १०. १०; ४. १. ११; १०. ६. ३. ५; १०. ६. ५. ९; तु०—छाउ०. ३. ११. ४ वहाँ उनके याज्ञिक अग्नि को शाण्डिल कहा गया है : ९. १. १. ४३; ९. ३. ३. १८; ९. ५. १. ६१, ६८ इत्यादि। इससे यह प्रतीत होता है कि वे अग्नि-चयन के एक बड़े आचार्य थे, जिसका निरूपण शतपथ ब्राह्मण के पञ्चम एवं अग्रिम काण्डों में किया गया है। दशम काण्ड के अन्त (१०. ६. ५. ९) की एक वंश-सूची में उन्हें **कुश्रि** का शिष्य और **वात्स्य** का गुरु कहा गया है; किंतु काण्व-शाखीय शतपथ ब्राह्मण (६. ५. ४) की एक अन्य सूची में उन्हें **कुश्रि** के शिष्य **वात्स्य** का शिष्य कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय और चतुर्थ अध्यायों की उलझी हुई वंश-सूचियों में उन्हें कई आचार्यों का शिष्य कहा गया है :—**कैशोर्य काश्यप** का : २. ५. २२; ४. ५. २८ मा०=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व; **वैष्टपुरेय** का : २. ५. २०; ४. ५. २६ मा०; **कौशिक** का : २. ६. १; ४. ६. १ काण्व; **गौतम** का : २. ५. २०; ४. ५. २६

[१] जअओसो०, १६. २४१ भूमिका; १८, २० एवं आगे।

मा०=२. ६. १; ४. ६. १ का०, **बैजवाप** का: २. ५. २०; ४. ५. २६ मा० और **भीमलात** का: २. ६. २। निःसंदेह इन सब स्थलों पर अनेक शाण्डिल्यों का उल्लेख हो सकता है, किंतु ये सूचियाँ इतनी उलझी हुई हैं कि इन पर विचार नहीं किया जा सकता।

विवरण: एगलिंग, सेबुई०, १२. ३१ एवं आगे; ४३. १८ एवं आगे; वेबर, इं० लि०, ७१, ७६ एवं आगे; १२०, १३१, १३२; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २१३।

शाण्डिल्यायन—शाण्डिल्य का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ९. ५. १. ६४ में शाण्डिल्यायन एक आचार्य का पैतृक नाम है। स्पष्टतः वे **चेलक** से अभिन्न हैं, जिनका उल्लेख उसी ग्रन्थ (१०. ४. ५. ३) में आया है। अतः यह अनुमान तर्कसंमत है कि **चैलकि जीवल** उनके पुत्र हैं: शब्रा०, २. ३. १. ३४। किंतु क्या वे **प्रवाहण जैवलि** के पितामह थे? **प्रवाहण** एक राजा थे, ब्राह्मण नहीं[1]। सूत्रों में शाण्डिल्य के समान शाडिल्यायन का नाम भी प्रायः आया है।[2]

तु०—वेबर, इं० लि०, ५३. ७६, १२०।

शातपर्णेय—शतपर्ण का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ३. ३. १ में **धीर** का पैतृक नाम शातपर्णेय है।

शातवनेय—शतवनि का वंशज। ऋग्वेद १. ५९. ७ में **पुराणीथ** का पैतृक नाम शातवनेय है।

शाद—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में शाद घास के लिये आया है: ऋ० ९. १५. ६; वासं०, २५. १ इत्यादि।

शाप—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक काल में शाप स्वप्न आदि में अनुभूत अभिशाप का पर्याय है: ऋ० ७.१८.५; १०. २८. ४; अवे०, ३. २४. २; शांआ० १२. ११। तु०—गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १७८; वैस्तू०, ३. १८४, १८५।

शामुल्य—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त १०. ८५. २९ में उल्लिखित शामुल्य एक ऊनी वस्त्र है, जो रात्रि में पहना जाता था।

विवरण: त्सिमर, आ० ले०, २६२।

शामूल—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३८. ४ में शामूल शब्द **शामुल्य** (=ऊनी वस्त्र) के अर्थ में है; किंतु राथ ने इसे शोध कर शामील (=शमी का टुकड़ा) पढ़ा है: जअओसो०, १६. २४३।

[1] तु०—वेबर, इस्तू०, १. २५९।

[2] द्र०—वेबर, इस्तू०, १. ४५ एवं आगे।

तु०—अर्टेल, जअओसो०, १६. ११६, २३३; लाटचायन श्रौसूत्र, ९. ४. ७; कौसूत्र, ६९. ३।

शाम्ब—द्रष्टव्य-**शार्कराक्ष**।

शाम्बर—ऋग्वेद ३. ४७. ४ में शाम्बर शब्द "शम्बर से संबद्ध" के अर्थ में एक विशेषण है, जिसका भाव शम्बर से संबद्ध युद्ध भी हो सकता है।

शाम्बु—अथर्ववेद १९. ३९. ५ में अङ्गिरसों के साथ बहुवचन में शाम्बुओं का प्रयोग आचार्यों के एक प्राचीन वंश का सूचक है। शाम्बव्यों के एक गृह्य-सूत्र की भी सूचना मिली है: ओल्डेनबर्ग, इस्तू०, १५. ४. १५४।

विवरण: ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ६७८; किंतु ह्विटनी, ट्रां०, ९६० में "शम्बुभ्यः" के स्थान पर "भृगुभ्यः" संशोधन है।

शांमद—साम-विशेष। 'शम्मद् वा एतेनाङ्गिरसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः' तांब्रा० १५. ५. ११।

शायस्थि—वंश-ब्राह्मण १२ में एक आचार्य का नाम शायस्थि है: इस्तू० ४. ३७२।

शारद—द्र०—**पुर्**।

१. **शारि**—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूचि में शारि का उल्लेख आता है। इनकी वाणी को पुरुष-वाणी के समान कहा गया है। यह एक पक्षी है, जो बाद में शारिका कहाता है, जैसा कि त्सिमर ने माना है। द्र०—**शारिशाका**।

२. **शारि**—ऋग्वेद १. ११२. १६ में शारि शब्द को सायण ने बाण के अर्थ में लिया है। इसका भाव तो अनिश्चित है, किंतु **शर** से इसका संबन्ध संभव है।

द्र०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. १०३।

शारिशाका—अथर्ववेद ३. १४. ५ में एक अत्यन्त दुरूह शब्द शारिशाका आया है। वेबर का मत है कि यह शारि पक्षी का शकन् (मल) है[1]। ग्रिल[2] का मत है कि यह शब्द एक पक्षी "चोंचदार काक" है। राथ ने पाठ में संशोधन कर "शालिः शक इव" ("खाद में चावल के समान") अर्थ किया है[3]; और ब्लूमफील्ड ने संशोधन किया है "शारि-शुकेव" शारिका और शुक के शमान।[4]

[1] इस्तू०, १७. २४६।

[2] हुंडेर्त लीडर[2], ११२।

[3] द्र०—ह्विटनी के ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद ११० में।

[4] हिम्स आफ दि अ० वे०, ३५१; किंतु द्र०—लानमान का नोट ह्विटनी के ट्रां० अ० वे० में।

शार्कर—सामविशेष। 'स (शर्करः शिशुमारर्षिः) एतत् सामापश्यत् तेनापो न समाश्नुत तद् वाव स तर्ह्यकामयत कामसनि साम शार्करम्' तांब्रा० १४. ५. १५.

शार्कराक्ष—वंश-ब्राह्मण १२ में एक आचार्य शाम्ब का पैतृक नाम शार्कराक्ष है। संभवतः यह शार्कराक्ष्य के स्थान पर गलत पाठ है। काठक संहिता २२. ८ में एक अन्य शार्कराक्ष का उल्लेख आया है, जो संभवतः शर्कराक्ष के स्थान में पाठ है। पैतृक नाम शार्कराक्षि आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. १०. १० में पाया जाता है।

द्र०—इस्तू०, ४. ३७२।

शार्कराक्ष्य—शार्कराक्ष का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ६. १. १. में जन का पैतृक नाम शार्कराक्ष्य है: छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११. १; ५. १५. १ में भी यह शब्द आता है। बहुवचन में उसका प्रयोग ऐतरेय आरण्यक २. १. ४ और वंश ब्राह्मण १२.[1] में आता है।

तु०—कीथ, ऐआ०, २०४; वेबर, इस्तू०, १. ३८८; ३. २५९।

शार्ग—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पक्षी का नाम शार्ग है। सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में इसे "वन्य चटक" बताया है: तैसं०, ५. ५. १९. १; मैसं०, ३. १४. १४; वासं०, २४. ३३। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ९३।

शार्ंग—ऋग्वेदानुक्रमणी में ऋ० १०. १४२ को शार्ंग ऋषियों द्वारा दृष्ट कहा गया है; द्र०—सायण-भाष्य, सर्वानुक्रमणी पर षड्गुरु शिष्य का भाष्य[2]। इन ऋषियों के नाम हैं: जरितृ, द्रोण, सारिसृक्व और स्तम्बमित्र। महाभारत (१. ८. ३३४ एवं अग्रिम) में इन मन्दपालसुत शार्ङ्गों के संबन्ध में एक कथा आती है कि कैसे वे खाण्डववन में आग लगने पर अपनी स्तुतियों द्वारा बचे थे। जीग[3] ने इस कथा द्वारा ऋग्वेद के उक्त सूक्त की व्याख्या करने का प्रयास किया है। ओल्डेनबर्ग का मत है कि कथा सूक्त के आधार पर गढ़ी गई है, न कि सूक्त का आधार कोई कथा है।[4]

शार्दूल—सिंह या चीता। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में शार्दूल का उल्लेख मिलता है: तैसं०, ५. ५. ११. १; कासं०, १२. १०; मैसं०, ३. १४. ११; वासं०, २४. ३०; शब्रा०, ५. ३. ५. ३; ४. १. ९. ११; ४. ५. ४. १०; ११. ८. ४. १; तैब्रा०, १. ७. ८. १; १. ८. ५. २; कौउ०, १. २ इत्यादि। तु०—त्सिमर, आ० ले०, ७९।

तु० 'मृत्योर्वा एव वर्णः यच्छार्दूलः' तैब्रा० १. ७. ८.१. तु०—व्याघ्र।

शार्यात—संभवतः शर्यात का वंशज। ऋग्वेद १. ५१. १२; ३. ५१. ७ में शर्यात एक गायक का नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण ४. ३२. ७ में भी पैतृक नाम मानव के साथ एक शार्यात का उल्लेख है, जिन्हें ऋग्वेद १०. ९२ का ऋषि बताया गया है। च्यवन द्वारा अभिषिक्त कहा गया है: ८. २१. ४। शतपथ ब्राह्मण ४. १. ५. १ एवं अग्रिम में उन्हीं शर्यात का उल्लेख है, जो च्यवन की कथा से संबद्ध हैं। इन दोनों स्थलों पर शार्यातों को शर्यात का वंशज कहा गया है। शर्यात की दुहिता का नाम शार्याती भी आया है।

शार्याती—द्र०—शार्यात।

शालंकायन—शलंकु का वंशज। वंश-ब्राह्मण में एक आचार्य का यह पैतृक नाम है: इस्तू०, ४. ३८. ३; आश्रौसूत्र, १२. १०. १०; आपश्रौसूत्र २४. ९. १।

तु०—वेबर, इं० लि०, ७५; इस्तू०, १. ४९।

शालंकायनीपुत्र—शलंकु-वंशीया का पुत्र। माध्यंदिनशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४. ३१ में वार्षगणीपुत्र के शिष्य एक आचार्य का नाम शालंकायनीपुत्र है।

शाला—अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में शाला शब्द गृह के अर्थ में आम है; इसमें कोठी-कुठले आदि आ जाते हैं: अवे०, ३. १२. १; ९. ३. १ इत्यादि। द्र०—गृह। शालापति: अवे० ९. ३. १२।

द्रष्टव्य—अवे०, ५. ३१. ५; ६. १०६. ३; ८. ६. १०. ९. ३. १ एवं आगे, १४. १. ६३; तैब्रा०, १. २. ३, १; शब्रा० ३. १. १. ६ इत्यादि।

शालावत्य—शलावन्त् का वंशज। छान्दोग्य उपनिषद् १. ८. १ में शिलक का और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३८. ४ में गलूनस आर्क्षाकायण का पैतृक नाम शालावत्य है।

शालि—शालि शब्द चावल या धान के लिए प्रयुक्त है। राथ ने शारिशाका (अवे०, ३. १४. ५) में "शारि" को "शालि" के रूप में पढ़ा है।

शालूक—अथर्ववेद ४. ३४. ५ में कमल की जड़ को शालूक कहा गया है।

विवरण: त्सिमर, आले०, ७०; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २०७।

[1] इस्तू०, ४. ३८२.
[2] मैकडानल के संस्करण में पृष्ठ १६३।
[3] दीजाऋ०, ४४–५०।
[4] त्सादामोगे०, ३९, ७९।

शाल्व—गोपथ ब्राह्मण १. २. ९ में मत्स्यों के साथ शाल्व लोगों का उल्लेख आया है। तु०—सल्व।

शावसायन—शवस् का वंशज। वंश ब्राह्मण २ में देवतरस् का पैतृक नाम शावसायन है। द्र०—इस्तू०, ४. ३७३।

शास—ब्राह्मणों में शास शब्द तलवार या चाकू के लिये आया है: ऐब्रा,० ७. १७. ५; शांश्रौसूत्र, १५. २५. १; शब्रा०, ३. ८. १. ४, ५; १३. २. ३. १६।

शिंशपा—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शिंशपा शीशम के लिये आया है। ऋ० ३. ५३. १९ में खदिर के साथ; अवे०, २०. १२९. ७।

तु०—शांशप, अवे०, ६. १२९. १; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३७८।

तु०—त्सिमर, आले०, ६१।

शिंशुमार[1] **या शिशुमार**[2]—यह एक जलीय जानवर है; ग्राह, नक्र[3] या कूर्म-विशेष[4] ?

शिक्य—अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में रस्सी के छिक्के के लिए आया है: अवे०, ९. ३. ६; तु०—अवे०, १३. ४. ८; तैसं०, ५. २. ४. २, ३; ५. ६. ९. १; शब्रा०, ५. ५. ४. २८; ६. ७. १. १६। तु०—एर्गलिंग, सेबुई०, ४१. २६८ टि० ३; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अवे०, ४९७; ह्विटनी के ट्रांसलेशन आफ दि अथर्ववेद, ५२६ में।

तु० 'दिशः शिक्यं दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुं यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यम्' शब्रा० ६. ७. १. १६; 'ऋतवः शिक्यमृतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यम्' शब्रा० ६. ७. १.१८; 'प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यम्,' शब्रा० ६. ७. १. २०;

शिख और अनुशिख—शिख और अनुशिख दो पुरोहितों के नाम हैं, जिन्होंने नेष्टृ और पोतृ के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १५. ३ में उल्लिखित नागोत्सव में भाग लिया था।

तु०—वेबर, इस्तू०, १. ३५।

शिखण्ड—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में शिखा या चोटी के लिये आया है: तैसं०, ७. ३. १६. २; तैब्रा०, १. २. १. २७; ३. ७. ६. ४; चतुःशिखण्ड: ऋ० १०. ४३. ३ के चतुःकपर्द के समान; शिखण्डिन्: अवे०, ४. ३७. ७; ११-२. ११. इत्यादि।

शिखण्डिन् याज्ञसेन—यक्षसेन का वंशज। कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४ में केशिन् दाल्भ्य के पुरोहित का नाम शिखण्डिन् याज्ञसेन है।

शिखर—पर्वत की चोटी के अर्थ में कौषीतकि ब्राह्मण २६. १ में एवं आर्षकाव्यों में शिखर शब्द आया है।

शिखा—शतपथ ब्राह्मण १. ३. ३. ५ में चोटी के अर्थ में शिखा शब्द आया है। शिखा को खोले रखने का अर्थ शोक एवं कोप करना होता था: आगृसूत्र, ४. २. ९।

तु०—ब्लूमफील्ड, अजफि०, ११. ३४०; हिम्स आफ दि अ० वे० ६३४; अ० वे०, ९. ९. ७ पर।

शिग्रु—ऋग्वेद ७. १८. १९ में शिग्रु एक जाति का नाम है। अजों और यक्षुओं के साथ तृत्सुओं के राजा सुदास् द्वारा उनके पराजित होने का उल्लेख आया है। यह कहना कठिन है कि (लुड्विग के अनुसार) वे भेद के नेतृत्व में थे या नहीं।[1] यदि शिग्रु शब्द के परवर्ती अर्थ को संमुख रखकर विचार किया जाय तो वे अनार्य ठहरते हैं। मत्स्य लोग संभवतः आर्य थे।

तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलि० देस वेद, ८५; मैकडानल, वैमा० १५३; हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, १६. १५४; कीथ, ज० रा० ए० सो०, १९०७. ९२९ एवं अग्रिम; ऐआ०, २०० टि०; त्सिमर आ० ले०, १२७।

शिञ्जार—ऋग्वेद ८. ५. २५; १०. ४०. ७ कण्व, प्रियमेध, उपस्तुत, और अत्रि के साथ शिञ्जार का उल्लेख आया है। गेल्डनर इसे अत्रि का विशेषण समझते हैं: ऋग्वेद ग्लासर, १७९।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३९।

शितिकक्षी—तैत्तिरीय संहिता ५. ५. २०. १ में श्वेतोदर गृध्र के अर्थ में (सायण के अनुसार) शितिकक्षी शब्द का प्रयोग आया है। यह शब्द विशेषण भी हो सकता है।

तु० वासं०, २४. ४; अवे०, ५. २३. ५; द्रष्टव्य: त्सिमर, आ० ले०, ९३।

---

[1] ऋ० १. ११६. १८; तैसं०, ५. ५. ११; अवे०, ११. २. २५; तु० शांआ०, १२. २८।

[2] मैसं०, ३. १४. २; वासं०, २४. ३०; पैप्पलाद-शाखीय अथर्ववेद, ११. २. २५; तैआ०, २. १९।

[3] वेबर, इस्तू०, ५. ३२५; और सायण भाष्य, ऋग्वेद अवे०, और तैसं० के उपर्युक्त स्थलों में।

[4] वोबू०; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, १५७; ह्विटनी ट्रां० अवे०, ६२४।

तु०—त्सिमर, आले०, ९६; गेल्डनर, ऋग्वेद, ग्लासर, १७९।

[1] द्र०—ट्रां० ऋ०, ३. १. २. ७३।

शिति-पृष्ठ—श्वेत पृष्ठ वाला। पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १५. ३ में **नागोत्सव** के मैत्रावरुण पुरोहित का नाम शिति-पृष्ठ है।

तु०—वेबर, इस्टू०, १. ३५।

शिति-बाहु ऐषकृत नैमिषि—जैमिनीय ब्राह्मण १. १६३ में यह एक यज्ञकर्ता का नाम है, जिस की याज्ञिक सामग्री को लेकर एक बन्दर भाग गया था। द्र०—ज० अओसो०, २६. १९२।

शित-पुट—तत्तिरीय संहिता ५. ५. १७. १ में भाष्यकार के अनुसार एक प्रकार की बिल्ली अभिप्रेत है।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ८६।

शिपद—ऋग्वेद ७. ५०. ४ में अ-शिपद और शिमिद शब्द आये हैं। संभवतः शिपद और शिमिद रोग हैं।

द्र०—त्सिमर, आ० ले० ३९४।

शिपवित्नुक—अथर्ववेद ५. २०. ७ में किसी कीट-विशेष का नाम शिपवित्नुक है।

तु०—त्सिमर, आले०, ९८; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २६२।

शिपिविष्ट—'यमुपैत्सीत्तमपाराप्सीत्तच्छिपितमिव यज्ञाय भवति तस्माच्छिपिविष्टायेति' शब्रा० ११. १. ४. ४; 'एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनूर्यच्छिपिविष्टः' तांब्रा० १८. ६. २६; 'यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः' तांब्रा० ९. ७. १०।

शिप्रा—शिप्रा शब्द का अर्थ अनिश्चित है। कुछ स्थलों पर इसका अर्थ कपोल है: ऋ० ३. ३२. १; ५. ३६. २; ८. ७६. १०; १०. ९६, ९; १०. १०५. ५[१] कुछ स्थलों पर शिरस्त्राण का कपोलस्थ भाग अपेक्षित हैं: ऋ० ५. ५४. ११; ८. ७. २५; गेल्डनर ने यहाँ शिप्रा को शिरस्त्राण माना है। ऋग्वेद १. १०१. १० में यह अश्व-वल्गा के अर्थ में आया प्रतीत होता है[१]। अयःशिप्र: (अश्विनों को: ऋ० ४. ३७. ४), हिरण्य-शिप्र: ऋ० २. ३४. ३ हरिशिप्र: ऋ० १०. ९६. ४ और हिरिशिप्र: ऋ० २. २. ३; ६. २५. ९ में इस शब्द का अर्थ शिरस्त्राण प्रतीत होता है, जिसके क्रमशः विशेषण हैं: "लोहे का" "स्वर्ण का" और "पीला"। इस प्रकार शिप्रिन्: ऋ० १. २९. २; १. ८१. ४; ६. ४४. १४ इत्यादि का अर्थ होगा शिरस्त्राण धारण करने वाला।

शिलक शालावत्य—शलावन्त् का वंशज। छान्दोग्य उपनिषद् १. ८. १ में **चैकितायन दाल्भ्य** और **प्रवाहण जैवल** के समकालीन एक आचार्य का नान शिलक शालावत्य है।

१. **शिल्प**—कौषीतकि ब्राह्मण २९. ५ में कला के लिए आया है; इसके तीन प्रकार हैं: नृत्य, गीत और वादित।

तु० 'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमानं आत्मानं संस्कुरुते' तैब्रा० ६. २७; 'त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति' कौब्रा० २९. ५।

२. **शिल्प कश्यप**—बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंशसूची में एक आचार्य का नाम शिल्प कश्यप है; इन्हें **काश्यप नैध्रुवि** का शिष्य बताया गया है।

शिव—ऋग्वेद ७. १८. ७ में एक जाति के लोगों का नाम शिव है, जिनका उल्लेख **अलिनों**, **पक्थों**, **भलानसों** और **विषाणियों** के साथ हुआ है, जिन्हें **सुदास्** ने युद्ध में हराया था। राथ ने उन्हें **सुदास्** का मित्र नहीं माना है।[२] सिकन्दर के समय **सिन्धु** और **असिक्नी** नदियों के मध्य बसे हुए, ग्रीकों के मतानुसार **शिबोइ** या **शिबेइ** से उन्हें मिलाया जा सकता है।[३] पाणिनि ४. २. १०९ पर भाष्यकार के अनुसार उत्तर में स्थित **शिवपुर** से भी इनका संबन्ध रहा होगा। तु०—**शिबि**।

तु० 'शिव इति शमयत्येवैनम् (अग्निम) एतदहिंसायै तथो हैष (अग्निः) इमान् लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति' शब्रा० ६. ७. ३, १५.

---

[१] ये अर्थ राथ की वोबू० के अनुसार हैं। गेल्डनर ने ऋग्वेद ग्लासर, १७९ में इस शब्द को शिप्र के रूप में नपुंसक लिङ्ग में माना है, किंतु ऋग्वेद १. १०१. १० में उन्होंने इसे ओष्ठ के अर्थ में लिया है। तु०—त्सिमर, आले०, २४९ टि०; गेल्डनर ने ऋ० ३. ३२. १; ८. ७६. १० और १०. ९६. ९ में मूछ अर्थ भी माना है। यास्क ने निरुक्त ६. १७ में इससे जबड़ा और नासिका यह अर्थ लिया है।

[१] तु०—त्सिमर, उपर्युक्त; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३०१; गेल्डनर, वैस्टू०, २. ३९. टि० २।

[२] द्र० त्सूर लितरात्यूर उन्द गेशिश्ते देस वेद, ९५ एवं आगे; एक बार त्सिमर ने भी ऐसा माना था, आ० ले० १२६।

[३] द्र० एरियन, इंडिका, ५. १२, डिओडोरस, १७. ९६।

तु० वेबर, इस्टू०, १३. ३७६; तु० वोबू०; त्सिमर, उपर्युक्त, ४३१; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १७३; हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो० १५. २६० एवं आगे।

शिशिर—द्रष्टव्य–ऋतु।

शिशु—'अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः' शब्रा० १४. ५. २. २.

शिशु आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ३. २४ में एक सामद्रष्टा ऋषि का नाम शिशु आङ्गिरस है।

तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६०।

शिशुक—अथर्ववेद ६. १४. ३. में किशोर के अर्थ में आया है; किंतु ब्लूमफील्ड के अनुसार इसका अर्थ अश्व-शावक है।[1] सायण ने इसे "शुशुक" पढ़ा है, और इसका अर्थ वन्य पशु किया है।

तु०—ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, २९१।

१. शिशुमार—द्रष्टव्य–शिंशुमार।

२. शिशुमार—पञ्चविंश ब्राह्मण १४.५.१५ में यह शब्द शर्कर ऋषि के लिए प्रयुक्त हुआ है, जहाँ उन्हें शिशुमारर्षि कहा गया है। भाष्यकार ने इसका अर्थ किया है—शिशुमार के रूप में एक ऋषि।

शिश्न—'शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति' शब्रा० १. ४. ३. ९.

शिश्न-देव—ऋग्वेद में ७. २१. ५; १०. ९९. ३ में बहुवचन में इस शब्द का प्रयोग आया है; इसका अर्थ है "लिङ्ग को देव-रूप में मानने वाला।" संभवत; इस शब्द से आदिवासियों की लिङ्गपूजा अभिप्रेत हो।

शिफा—ऋग्वेद १. १०४. ३ में शिफा से सायण ने एक नदी ली है; जो उचित प्रतीत होता है।

तु०—त्सिमर, आले०, १८; पेरी, जअओसो०, ११. २०१।

शिबि—बौधायन श्रौत सूत्र २१. १८ में उशीनर के पुत्र शिबि का उल्लेख आता है। उन्हें इन्द्र का कृपा-पात्र बताया गया है, जिन्होंने उनके लिए वर्षिष्ठीय वेदिका पर यज्ञ करके उन्हें विदेशी आक्रमण से बचाया था।

तु०—कालण्ड, ऊबर डेस रितुआल सूत्र देस बौधायन, २८।

शिमि—वैदिक साहित्य में शिमि शब्द कर्म के लिए आया है: ऋ० १. १००. १३; तैआ०, १. ९. ३; ४. ९. १ इत्यादि।

शिमिद—ऋग्वेद ७. ५०. ४ में अ-शिमिद इस रूप में इस शब्द का प्रयोग आया है; यह रोग-विशेष का वाचक दीख पड़ता है। स्त्रीलिङ्ग में शिमिदा शब्द एक दैत्या के अर्थ में अथर्ववेद ४ २५. ४ में और शतपथ ब्राह्मण ७. ४. १. २७ में आया है। तु०—शिपद।

द्रष्टव्यः त्सिमर, आले०, ३९४।

शिम्बल—सायणाचार्य के अनुसार ऋग्वेद ३. ५३. २२ में शिम्बल शब्द शाल्मलि (=शल्मलि) "सेमरवृक्ष" के फूल के लिए आया है।

तु०—गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १७९; ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटेन, १. २५४।

शिम्यु—ऋग्वेद ७. १८. ५ में सुदास् द्वारा दाशराज्ञ युद्ध में पराजित किए गए राजाओं या जातियों में से एक का नाम शिम्यु है। ऋग्वेद के एक दूसरे स्थल १. १००. १८ में शिम्युओं का उल्लेख दस्युओं के साथ होने से त्सिमर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शिम्यु लोग अनार्य थे; आ० ले०, ११८, ११९; राथ ने अपनी वोबू० में शिम्यु का अर्थ केवल "शत्रु" लिया है।

द्रष्टव्य' हापकिन्स, जअओसो०, १५, २६१।

शिरस्—सिर के लिए शिरस् शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है: ऋ० १. ५२ १०; २. २०. १; अवे०, ६. ४९. २; ऐब्रा०, १. २५ इत्यादि। तु० शरीर

तु० 'यच्छ्रियं' समुदौहंस्तस्माच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेवैतच्छिरः' शब्रा० ६. १. १. ४; 'शिरो वै प्राणानां योनिः', शब्रा० ७. ५. १. २२; 'त्रिधातु हि शिरः' तैब्रा० ३. ३ ७. ११. 'त्रिवृद्धचेव शिरो लोम त्वगस्थि' तांब्रा० ५. १. ३; 'त्रिवृतं ह्येव शिरो भवति त्वगस्थि मज्जा मस्तिष्कम्' गोब्रा० १. ५. ३; 'शिरो वा अग्रे संभवतः संभवति चतुर्धा विहितं वै शिरः प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्' तांब्रा० २२. ९. ४; 'शीर्षतो वा अग्रे जायमानो जायते' शब्रा० ३. ४. १. १९; 'शीर्षण्येवाग्रे पलितो भवति' शब्रा० ११. ४. १. ६; 'द्विकपालं हि शिरः' शब्रा० १०. ५. ४. १२; 'अष्टाकपालं पुरुषस्य शिरः' तैब्रा० ३. २. ७. ४; 'मध्ये संगृहीतमिव हि शिरः' शब्रा० १४. १. २. १७; 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। इदं तच्छिरः' शब्रा० १४. ५. २. ५;

शिरिम्बिठ—ऋग्वेद १०. १५५. १ में शिरिम्बिठ संभवतः एक व्यक्ति का नाम है। अनुक्रमणी में उस सूक्त का ऋषि भी इन्हीं को बताया गया है; किंतु यास्क ने इसका अर्थ 'बादल' लिया है: निरुक्त, ६. ३०।

तु०—लुड्विगः ट्रा० ऋ० ३. १६७

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ११८; हापकिन्स, रिलिजन्स आफ इंडिया, १५०; फान श्रोडर, वियेना ओरियण्टल जर्नल, ९. २३७; मैकडानल, वैमा०, १५५; कीथ, ज० रा० ए० सो०, १९११, १००२ टि० ५

शीत—'क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्' शब्रा० १३. २. ९. ५; 'क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतो वातः' तैब्रा० ३. ९. ७. २. शान्ति राष्ट्र-जीवन के लिये घातक है=इससे पौरुष जाता रहता है।

शीपाल—सिरवाल। ऋग्वेद १०. ६८. ५ में आई है। इसका परवर्ती नाम शैवल (=सेवार) है। षड्विंश ब्राह्मण ३. १ में शीपल्य एक विशेषण है, जिसका अर्थ है—"सेवार के साथ उगा हुआ।"

तु०—त्सिमर, आ० लें०, ७१।

शीपाल—अथर्ववेद ६. १२. ३ में यह शब्द आया है, जहाँ इसका अर्थ "शीपाल से भरा हुआ जलाशय" हो सकता है। हो सकता है कि यह किसी नदी या झील का नाम रहा हो।

तु०—त्सिमर, आ० लें०, ७१; ह्विटनी, ट्रां० अ० वे०, २८९, २९०; ब्लूमलील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ४६२।

शीपुद्रु—अथर्ववेद ६. १२७. १ में चीपुद्रु के स्थान पर गलत पाठ शीपुद्रु है। द्र०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३७६।

शीयथु—द्र०—श्वयथ।

शीर्ष—शिरस् के अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है: ऋ० १. ३३. ५; अवे०, ४. ३४. १; ७. ५६. ६; १४. १. ५५ इत्यादि।

शीर्षक्ति—अथर्ववेद में शिरो-वेदना के लिये आया है: अवे०, १. १२. ३; ९. ८. १; १२. २. १९; १२. ५. ३२।

तु०—ब्लूमफील्ड, ज०अ०ओ०सो०, १६. ३५; हिम्स आफ दि अथर्ववेद, २५२; अजफि०, १७. ४१६; इन्होंने "शीर्षंसक्ति" पढ़ा है।

तु०—मैकडानल, वैग्रा०, ६४. २; बोहटलिङ्क, प्रो० आफ दि सैक्सन एकेडमी, १८९७, ५०; लानमान, ह्विटनी के अथर्ववेद के ट्रांसलेशन १४ में; अवे०, १९. ३९. १० में शिरोवेदना के लिए शीर्ष-शोक शब्द व्यवहृत हुआ है।

शीर्षण्य—ब्राह्मणों में आसन्दी के सिरहाने के लिये आया है: ऐब्रा०, ८. ५. ३; ८. १२. ३; ८. १७. २; कौउ०, १. ५; शाश्रौसूत्र, १७. २. ८।

शीर्ष-शोक—द्र०—शीर्षक्ति।

शीर्षामय—अथर्ववेद ५. ४. १०; ९. ८. १ में शीर्षामय शब्द सिर की बीमारी के लिये आया है।

शीष्ट—ऋग्वेद के वालखिल्य-सूक्त ८. ५३. ४ में शीष्ट शब्द आता है, जहाँ यह किसी अप्रसिद्ध जाति का नाम प्रतीत होता है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६३।

शुक—ऋग्वेद १. ५०. १२ में शुक का उल्लेख आता है, जहाँ शुक और रोपणाका से कमल रोग का पीलापन लेने की प्रार्थना की गई है। याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में शुक का उल्लेख है; उसे पीला (हरा) और पुरुष-वाक् बताया गया है: तैसं०, ५. ५. १२. १; मैसं०, ३. १४. १४; वासं०, २४. ३३; २४. २। ब्लूमफील्ड के अनुसार दुरूह शब्द शारि-शाका (अवे० ३. १४. ५) के उत्तरार्ध में संशोधित पाठ शुक होना चाहिए। द्र०—हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ३५२।

शुक्ति आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ५. १६ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम है।

१. शुक्र—तिलक के अनुसार ऋग्वेद ३. ३२. २; ९. ४६. ४ में शुक्र शब्द से आकाशीय ग्रह अभिप्रेत है। वैदिक इंडेक्स के लेखकों ने इसकी संभावना में संदेह प्रकट किया है। द्र०—मन्थिन्।

तु० 'असौ वा आदित्यः शुक्रः' शब्रा० ९. ४, २. २१; 'एष वै शुक्रो य एष तपति' शब्रा० ४. ३. १. २६; ४. ५. ९. ६; 'अस्य (अग्नेः) एवैतानि नामानि (छत्री, अक्रः शुक्रः, ज्योतिः, सूर्यः)' शब्रा० ९. ४. २. २५; द्र० 'अत्तैव शुक्र आद्यो मन्थी' शब्रा० ४. २. १. १३; 'ज्योतिर्वै शुक्रं 'हिरण्यम्' ऐब्रा० ७. १२; 'सत्यं वै शुक्रम्' शब्रा० ३. ९. ३. २५।

२. शुक्र जाबाल—जबाला का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ७. ७ में एक आचार्य का नाम शुक्र जाबाल है।

शुल्क—द्रष्टव्य—यजुस्।

शुक्ल-दन्त्—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ३ में मृग-विशेष (=वन्य पशु) को शुक्ल-दन्त् कहा गया है; संभवतः हाथी अभिप्रेत हो।

शुच और शुचा—ऋग्वेद १०. २६. ६ में शुच और शुचा क्रमशः एक पुरुष और एक स्त्री के नाम प्रतीत होते हैं।

शुचन्ति—ऋग्वेद १. ११२. ७ में अश्विनों के एक कृपा-पात्र का नाम शुचन्ति है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६५।

शुचिवृक्ष गौपालायन—गोपाल का वंशज शुचिवृक्ष। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८. ९ में वृद्धद्युम्न अभिप्रतारिन् के पुरोहित का नाम शुचिवृक्ष गौपालायन है।[1] मैत्रायणी संहिता ३. १०. ४ में भी यह नाम आया है।

[1] औफ़ेक्ट के संस्करण में पाठ गौपालायन है।

शुतुद्री—ऋग्वेद ३. ३३. १; १०. ७५. ५; (निरुक्त, ९. २६) में उल्लिखित शुतुद्री नदी पंजाब की सबसे पूर्वी नदी है, जो आजकल सतलज कहाती है। टोलमी और एरियन ने उसे **जरदोस** कहा है। एरियन के समय में सतलज स्वतन्त्र रूप से बहती थी और कच्छ की खाड़ी में गिरती थी।[1] वेदोत्तरकालीन सतलज का नाम शत-द्रु (=सौ धाराओं में बहने वाली) है। इतिहास में सतलज ने कई बार अपना रास्ता बदला है।[2]

शुद्धाशुद्धीय—सामविशेष। 'इन्द्रो यतीन् सालावृकेयेभ्यः प्रायच्छत् तमश्लीला वागभ्यवदत् सोऽशुद्धोऽमन्यत स एतच्छुद्धाशुद्धीयमपश्यत् तेनाशुध्यत्' तांब्रा० १४. ११ २८.

शुनः पुच्छ—कुत्ते की पूंछ। **शुनः शेप** के एक भाई का नाम शुनःपुच्छ है: ऐब्रा०, ७. १५. ७; शांश्रौसूत्र, ५. २०. १।

शुनम्—'यद्वै समद्धं तच्छुनम्' शब्रा० ७. २. २. ९;

शुनःशेप—'कुत्ते की पूंछ'। एक व्यक्ति का नाम शुनःशेप है। इनका पैतृक नाम **आजीगर्ति** है। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३–१८ में कही गई कथा के अनुसार **हरिश्चन्द्र** के पुत्र **रोहित** ने उन्हें बलि के रूप में खरीदा था; क्योंकि **रोहित** वरुण को समर्पित था, और अपने स्थान में किसी और को बलि के रूप में प्रदान करना चाहता था। शांखायन श्रौत-सूत्र २५. २०. १ (एवं आगे; तु० २६. ११. २) में भी यह कथा आई है। पुनःशेप को मारने के लिये यूप में बाँध दिया गया था; किंतु अपनी स्तुतियों द्वारा, जो ऋग्वेद १. २४ एवं अग्रिम में सुरक्षित मानी गई हैं, वे मुक्त हो गये थे। **विश्वामित्र** की सलाह से उन्होंने वरुण देव की आराधना में सूक्त कहे थे। बाद में वे **विश्वामित्र** के ही दत्तक पुत्र **देवरात** के रूप में हुए। **विश्वामित्र** के कुछ पुत्रों ने इसका विरोध किया, जिस पर पिता ने उन्हें शाप दे दिया। ऋग्वेद में केवल इतना ही उल्लेख है कि शुनःशेप दैवी सहायता द्वारा मृत्यु-भय से मुक्त हुए थे। याजुष संहिताओं में यह उल्लेख आया है कि वे **वरुण**-गृहीत थे (संभवतः जलोदर द्वारा), और बाद में **वरुण** के पाशों से मुक्त हुए थे: तैसं०, ५. २. १ ३; कासं०, १९. ११ मैसं० ३. २. १ में कथा नहीं है।

विवरण: मैक्समूलर, ऐंशियंट संस्कृत लिटरेचर, ४०८एवं आगे; ५७३ एवं आगे; राथ, इस्तू०, १. ४५७; २. ११२ एवं आगे; वेबर, इंलि०, ४७–४८; एपिश्शेस इम वेदिश्शेन रितुआल, १०–१६; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२. ३५५ एवं आगे; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, २०७; लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १४६; कीथ, जराएसो०, १९११, ९८८, ९८९।

शुनस्कर्ण—शुनस्कर्ण एक राजा का नाम है: बौश्रौसूत्र, २१. १७[1] वे **शिबि** या **बष्किह** के पुत्र बताये गये हैं: पंविब्रा०, १७. १२. ६। उन्होंने **सर्वस्वार**-नामक यज्ञ किया था, जिससे वे मृत्यु-पर्यन्त नीरोग रहे थे।

तु०–'एतेन वै शुनस्कर्णो वष्किहोऽयजत तस्माच्छुनस्कर्णस्तोम इत्याख्यायते' तांब्रा० १७. १२. ६।

शुन-होत्र—ऋग्वेद २. १८. ६; ४. ४१, १७ में ऋषियों के एक वंश का नाम शुन-होत्र आया है।

शुनासीर—द्विवचन में ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में शुनासीर शब्द आता है। ये संभवतः कृषि के दो देवता हैं। राथ के अनुसार इनसे फाली और हल अभिप्रेत हैं।

द्रष्टव्य: ऋ० ४. ५७. ५, ८; अवे०, ३. १७. ५; मैसं०, १. ७. १२; वासं०, १२. ६९ इत्यादि; राथ, वोबू०; बृहद्देवता, ५. ८ एवं आगे; मैकडानल के नोट के साथ; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ११६. ११७ यहाँ शुनम् का अर्थ "सफलता के साथ" किया गया है।

तु०–या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तच्छुनमथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तत् सीरम्' शब्रा० २. ६. ३. २; 'संवत्सरो वै सुनासीरः' गोब्रा० २. १. २६; 'शान्तिर्वै भेषजं शुनासीरौ' कौब्रा० ५. ८।

विवरण: सूर्यकान्त, 'सरस् सोम एण्ड सीर' बुलेटीन बी० ओ० आर० आई० १९५९।

शुनो-लाङ्गूल—कुत्ते की पूंछ। **शुनःशेप** के एक भाई का नाम शुनो-लाङ्गूल है: ऐब्रा०, ७. १५. ७; शांश्रौसूत्र, १५. २०. १।

शुम्बल—शुम्बल शब्द शतपथ ब्राह्मण १२. ५. २. ३ में आया है। इसका अर्थ अनिश्चित है; हरिस्वामी ने इसका अर्थ 'पुआल' किया है। एगलिङ्ग के अनुसार रूई के डोडे या गलहे अभिप्रेत हैं[2]।

शुल्क—ऋग्वेद में शुल्क का अर्थ मूल्य है। धर्म-सूत्रों में इसका अर्थ कर है[3]। म्यूर ने अथर्ववेद ३. २९. ३ में

[1] द्र–इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, २३. १७९।
[2] द्र०–उपर्युक्त, गजेटियर।
तु०–त्सिमर, आ० ले०, १०. ११।

[1] कालण्ड, ऊबर देस रितुआल सूत्र देस बौधायन २८।
[2] सेबुई०, ४४, २०२ टि० ३; काश्रौसूत्र, २५. ७. १२
[3] द्रष्टव्य: फॉय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त, ३९ एवं आगे।

संशोधन करके "कर" लिया है; किंतु वहाँ इससे ठीक अर्थ नहीं बैठता[1]। यह संशोधन ब्लूमफील्ड[2] और ह्विटनी[3] ने ग्रहण किया है। दूसरे स्थल पर ह्विटनी और ब्लूमफील्ड ने वेबर द्वारा किये गए उसी संशोधन को स्वीकार नहीं किया है[4]।

शुशुक—द्रष्टव्य : अशुंग और शिशुक।

शुशुलूक—ऋग्वेद ७. १०४. २ में शुशुलूक-यातु एक दैत्य के लिये आया है। सायण के अनुसार इस शब्द का अर्थ है छोटा उल्लू। मैत्रायणी संहिता ३. १४. १७ में अश्वमेध की बलियों की सूची में स्त्रीलिङ्ग में शुशुलूका के रूप में यह शब्द आया है।

तु०—त्सिमर, आले०, ४१३।

शुष्क भृङ्गार—कौषीतकि उपनिषद् २. ६ में एक आचार्य का नाम शुष्क भृङ्गार है।

तु०—शांश्रौसूत्र, १७. ७. १३।

शुष्ण—शुष्ण एक असुर का नाम है : ऋ० १. ११. ७; १. ३३. १२; १. ५१. ६; ४. १६. १२ इत्यादि।

तु० 'शुष्णो दानवः प्रत्यङ पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक इव परिभाषते' शब्रा० ३. १. ३. ११।

शुष्मिण—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. १० में **शिवियों** के एक राजा **अमित्र-तपन** का नाम शुष्मिण है।

शूद्र—वैदिक वर्णों में शूद्र चौथा है। ऋग्वेद में केवल एक बार पुरुषसूक्त १०. ९०. १२ में, जहाँ वर्णों का सर्वप्रथम उल्लेख आया है, चतुर्थ वर्ण के रूप में शूद्र का उल्लेख आता है। उसी वेद में **दस्यु** और **दास** का आदिवासी के रूप में आर्यों से भिन्न उल्लेख आता है। निश्चय ही ये सेवक या दास थे। हो सकता है कि परवर्ती साहित्य में उल्लिखित शूद्र इन्हीं आदिवासी दासों से बने हों, जो आर्यों से पराजित होकर उनके सेवक बन गये थे। यह स्वाभाविक-सा है कि आर्य-जाति के साथ युद्ध करने में जब बहुत से "दास" मारे गए, तब बचे-खुचे दास विजेता आर्यों के सेवक या दास बन गये और दासों के जो इने-गिने गाँव बच गये वे भी आर्यों के नियन्त्रण में आ गये। इससे बैडन पावल के उस सिद्धान्त का अंशतः समर्थन हो जाता है, जिसके अनुसार भारत के सभी कृषि-प्रधान ग्राम द्राविड-मूलक थे। इसी प्रकार पर्वतों एवं वनों में रहने वाली जातियों को भी आर्यों ने शूद्र बनाकर अपनी सेवा में ले लिया था।

शूद्रों के संबन्ध में उक्त दृष्टि-कोण ठीक है; क्योंकि केवल घरेलू दासों या नौकरों को ही वेद में शूद्र नहीं कहा गया है; वहाँ तो सदा शूद्रों का आर्यों से विपर्यास दिखाया गया है : अवे०, ४. २०. ४; १९. ३२ ८; १९ ६२. १; वासं०, १४. ३०; २३. ३०; २३. ३१; तैसं०, ४. २. १०. २; ७. ४. १९. ३; कासं०, अश्वमेध, ४. ७; १७. ५; मैसं०, २. ८. ६; ३ १३. १ इत्यादि; (द्र०—**आर्य और अर्य**) तैसं०, १. ८. ३. १; वासं० २०. १७; कासं०, २८. ५। शूद्रों के रंग का भी आर्यों के वर्ण से विपर्यास दिखाया गया है : कासं०, ३४. ५; पंविब्रा०, ५. ५. १७; तु०—शब्रा०, ६. ४. ४. ९; बृउ०, १. ४. २५; ऐब्रा० ८. ४. ५; तैब्रा० १. २. ६. ७[1]। शूद्र के मार्ग भी भिन्न बताये गये हैं : ऐब्रा० ७. १७. ३. ४, शांश्रौसूत्र, १५. २४। ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९. ४[2] में शूद्र को **पर-प्रेष्य, कामोत्थाप्य** (इच्छानुसार उपयोग में लाया जा सकने वाला) और **यथाकामवध्य** (इच्छानुसार मार डालने योग्य बताया गया है। नार्मन-विजय के बाद अंग्रेज दासों से भारतीय दासों की तुलना रोचक है; अन्तर इतना ही है कि भारत में दास पर उसके स्वामी का अधिकार राजा द्वारा वैध ठहरा दिया गया था। पञ्चविंश ब्राह्मण ६. १. ११ में कहा गया है कि यदि कहीं शूद्र बहुत धनी (=बहु-पशु) भी बन जाय तो भी उसका असली काम अन्य वर्ण के लोगों का "पद-प्रक्षालन" करना है। महाभारत में बार-बार आया है कि शूद्र का अपना धन कुछ नहीं है "नहि स्वमस्ति शूद्रस्य" द्र० महाभारत १२. ३०. ७[3]। दूसरी ओर, जैसे इंग्लैण्ड में राजा कानून द्वारा दास के जीवन और उसके अंगों की रक्षा करता था वैसे ही भारत में भी वह दासों की देख-भाल करता था। बौधायन और आपस्तम्ब के अनुसार दास का वध कर देने पर दस गौओं का दण्ड दिया जाता था : बौधसूत्र, १. १०. १९. १, आपधसूत्र, १. ९. २४. ३। यद्यपि इस बात का उल्लेख तो कहीं नहीं आता, तथापि ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दण्ड स्वामी पर लागू

[1] संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५. ३१०।
[2] हिम्स आफ दि अवे०, ४३४।
[3] ट्रां० अवे०, १३६।
[4] वेबर, इस्टू०, १७. ३०४।
तु०—त्सिमर, आले०, ४१३।

[1] वेबर, इस्टू०, १०. ४; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १२, १४०; महाभारत १२. १८८. ५।
[2] म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२. ४३९.
[3] हापकिन्स, ज०अ०ओ०सो० १३. ७३, ७४ महाभारत, १२. २९४. २१।

नहीं होता था, अपितु यदि कोई अन्य व्यक्ति दास को मार देता था तो उस पर लागू होता था।

पवित्रता की बातों में आर्यों और शूद्रों का अन्तर विशेष रूप से ध्यान में रखा जाता था। वैदिक विधानों में शूद्र की उपेक्षा की गई है और दूसरे वर्णों के लिये सब बातें कही गई हैं: शब्रा०, २. १. ४. २; ४. २. २. १५ इत्यादि।[1] अग्निहोत्र के लिए शूद्र को गौ दुहने का निषेध है: कासं०, ३२. २; मैसं०, ४. १. ३; सूत्रों के अनुसार एक आर्य ही स्थाली तैयार कर सकता है; मैसं०, १. ८. ३। शतपथ ब्राह्मण ३. १. १. १०; (तु०—५. ३. २. २) कहता है कि यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ति को शूद्र से नहीं बोलना चाहिए। किंतु शाट्यायनक में इस नियम को कुछ ढीला कर दिया गया है, और केवल पापी शूद्र से न बोलने का विधान दिया गया है। यज्ञ के अवसर पर यज्ञ-शाला में शूद्र नहीं घुस सकता; क्योंकि शूद्र को यज्ञ करने योग्य नहीं माना गया है; और उसे स्पष्ट शब्दों में अयज्ञीय कहा गया है: शब्रा०, ३. १. १. १०; पंविब्रा०, ६. १. ११; द्र०—मैसं., ७. १. १. ६; लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सेक्रीफीस, ८२। काठक संहिता ११. १० में शूद्र को सोम-पान न करने वाला बताया गया है; इसीलिए वह करीर भी नहीं पाता। प्रवर्ग्य यजमान को शूद्र के संपर्क से बचने का आदेश है: शब्रा०, १४. १. १. ३१। इतना ही नहीं; याजुष संहिताओं में तो शूद्र को पुरुषमेध की बलियों की सूची में गिनाया गया है: वासं०, ३०. ५; तैब्रा०, ३. ४. १. १; शब्रा०, १३. ६. २. १०। काठक-संहिता ३७ १ में वह राजसूय में भी उपस्थित है। महाव्रत-महोत्सव में आर्य और शूद्र के बीच एक युद्ध का उल्लेख आता है, जिसमें आर्य की विजय होती है और शूद्र मुंह की खाता है। संभवतः यह प्रथा भारतीय नाटक का पूर्व रूप रही हो।[2]

दूसरी ओर ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनके आधार पर शूद्र के महत्त्व को स्थापित किया जा सकता है। यह तथ्य फिर अँग्रेजी दासों की याद दिला देता है, जो कानून के शिकंजे में कसे रहने पर भी धीरे-धीरे स्वतन्त्र बन रहे थे। प्रारम्भिक ग्रन्थों में धनी शूद्रों का भी उल्लेख मिलता है: मैसं०, ४. २. ७. १०; पंविब्रा०, ६. १. ११।

[1] तु०—एर्गालिग, सेबुई० १२. १६ एवं आगे; २६. २९३; तु०—हापकिन्स, उपर्युक्त १३, ७३. ७५ टि०।

[2] द्र०—कीथ, त्सा० दा० मौ० गे० ६४. ५३४।

शतपथ ब्राह्मण ५. ३. २. २ के अनुसार राजा के कुछ मन्त्री शूद्र होते थे। बौद्ध ग्रन्थों में शूद्र गृहपति का उल्लेख आता है; विधिशास्त्रों में शूद्र राजाओं के उल्लेख मिलते हैं[1]। शूद्र और आर्यों के पापों के उल्लेख आते हैं: कासं०, ३८. ५; तैसं०, १. ८. ३. १; वासं०, २०. १७। जैसे अन्य जातियों की ओर से यश की प्राप्ति के लिए प्रार्थना आती है (वासं०, २६. २; अवे०, १९. ३२. ८; १९. ६२ १), वैसे ही शूद्रों की ओर से भी: तैसं०, ५. ७. ६. ४; कासं०, ४०. १३; मैसं० ३. ४. ८; वासं०, १८. ४८। आर्यों के समान शूद्र के भी यातु-प्रयोगों का उल्लेख मिलता है: अवे०, १०. १. ३।

सूत्रों में ऐसे अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शूद्रों की निम्नता उभर आती है: गौधसूत्र, १२. १, ७, १३; आपधसूत्र, २. १०. २७. १४, १५। शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है: गौतम, १२. ४–६। उनके संपर्क से बचना चाहिये: आपस्तम्ब, १. ५. १७. १; २. २. ३. ४ इत्यादि। उनके भोजन को त्याज्य कहा गया है: आपस्तम्ब १. ५. १६. २ इत्यादि। फिर भी सूत्रों के अनुसार शूद्र लोग व्यापारी बन सकते थे और स्वतन्त्र व्यवसाय भी कर सकते थे: गौतम, १०. ६०।

अलबत्ता सूत्रों ने शूद्र स्त्री से विवाह करने की छूट सभी वर्णों को दी है: पारस्करगृसूत्र, १. ४. ११; गोभिलगृसूत्र, ३. २. ५२[2]। यद्यपि वत्स (पंविब्रा०, १४. ६. ६) और कवष (ऐब्रा०, २. १९. १) की इसलिए निन्दा की गई है कि वे शूद्रा एवं दासी के पुत्र थे; तथापि इस निद्रा से इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि इस प्रकार पारस्परिक संबन्ध संभव था। साथ ही याजुष संहिताओं में आर्य और शूद्रा का तथा शूद्र और आर्या के अनुचित संबन्ध का भी उल्लेख आता है; आर्य और शूद्रा: वासं०, २३. ३०; तैसं०, ७. ४. १९. ३; मैसं०, ३. १३. १; कासं०, अश्वमेध, ४. ८; शूद्र और आर्या: वासं०, २३. ३१।

[1] द्र०—फॉय, दी कोड़निग्लिशे गेवाल्त ८; फिक, दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग, ८३. ८४; द्र०—मनु० ४. ६१; विष्णु०, ७१. ६४; संभवतः जैउब्रा०, १. ४. ५; किंतु द्रष्टव्य राथ का संशोधन, जअओसो०, १६, २४३।

[2] द्र० वेबर, उपर्युक्त १०. ७४; शूद्र का आर्य-स्त्री से विवाह दण्डनीय बताया गया है: आपस्तम्ब, १. १०. २६. २०; १. १०. २७. ९; गौतम, १२. २. ३।

शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। त्सिमर[1] का कहना है कि टालेमी (६. २०) ने एक सूद्रोइ जाति का उल्लेख किया है और संभवतः वहाँ तात्पर्य ब्राहुई से है। इस कथन पर अधिक बल न देते हुए भी यह कहा जा सकता है कि शूद्र आर्यों की विरोधी किसी जाति का नाम था[2]।

तु० 'स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत न काचन देवता शूद्रो मनुष्यस्तस्माच्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि नहि तं काचन देवतान्वसृज्यत तस्मात् पादावनेज्यन् अतिवर्धते पत्तो हि सृष्टः' तांब्रा० ६. १. ११; 'अथ यद्यपः शूद्राणां स भक्षः शूद्रांस्तेन-भक्षेण जिन्विष्वसि शूद्रकल्पस्ते प्रजायामाजनिष्यतेऽन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यो यद्याकामवध्यः' ऐब्रा० ७. २९; 'असतो वा एष संभूतः यच्छूद्रः' तैब्रा० ३. २. ३. ९; 'अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत' शब्रा० १४. १. १. ३१; 'असुर्यः शूद्रः' तैब्रा० १. २. ६. ७; 'तपो वै शूद्रः' शब्रा० १३. ६. २. १०; 'वैश्यं च शूद्रं चानु रासभः' शब्रा० ६. ४. ४. १२।

विवरणः—फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, १५४, १५५; जाली, त्सादामौगे०, ५०. ५१५; रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, ५४; हापकिन्स, जअओसो०, १३. ३७ एवं आगे; त्सिमर, आले०, १९१ एवं आगे; वेबर, इंलि०, १८. ७७. १११, ११२, २७६; इस्तू० १०. ४ एवं आगे; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १[2] ८ एवं आगे।

शूद्रा—अथर्ववेद एवं परवर्ती काल में शूद्र स्त्री के लिए शूद्रा शब्द का प्रयोग आता है: अवे०, ५. २२. ७=दासी, ५. २२. ६; तैसं०, ७. ४. १९. ३; कासं० अश्वमेध, ४. ८; मैसं०, ३. १३. १; वासं०, २३. ३० इत्यादि; शूद्रा-पुत्र : पंविब्रा०, १४. ६. ६।

शूर—ऋग्वेद में एवं तदन्तर शूर शब्द वीर योद्धा के लिये आया है : ऋ० १. ७०. ११; १. १०. १. ६; १. ११४. ८; १. १५८. ३; २. १७. २; ३०. १० इत्यादि; अवे०, ८. ८. १। वासं०, १६. ३४; २०. ३७ इत्यादि; शूर-वीर : अवे०, ८. ५. १।

शूर-वीर माण्डूक्य—मण्डूक का वंशज। ऋग्वेद के आरण्यकों में एक आचार्य का नाम शूर-वीर माण्डूक्य है; ऐआ०, ३. १. १, ३, ४; शाआ०, ७. २, ८, ९, १० जहाँ शौरवीर पाठ है।

शूर्प—अथर्ववेद में एवं अनन्तर शूर्प शब्द अन्न पछोड़ने के छाज के लिए आया है। अवे० १२. ३. १९ में इसे 'वर्षवृध' बताया गया है; अतः त्सिमर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कभी यह सरकण्डों का भी बनता रहा होगा; द्र०—आ० ले०, २३८।

तु० अवे०, ९. ६. १६; १०. ९. २६; ११. ३. ४; १२. ३. १९ एवं आगे; २०. १३६. ८; तैसं०, १. ६. ८. ३; तैब्रा०, १. ६. ५. ४; ३. २. ५. ११ इत्यादि; तु०—लानमान, ह्विटनी के ट्रान्सलेशन आफ दि अथर्ववेद, ६८६ में; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद ६४९।

शूल—जिस सींख पर कबाब बनाया जाता था, उसे ऋग्वेद एवं परवर्ती ब्राह्मणों में शूल कहते हैं : ऋ० १. १६२. ११; शब्रा०, ११. ४. २. ४; ११. ७. ३. २; छाउ०, ७. १५. ३; रुद्र के शूल का उल्लेख षडविंश ब्राह्मण, ५. ११. से पहले नहीं आता। वेदोत्तरकालीन साहित्य में त्रिशूल रुद्र का आयुध है। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २७१।

१ शूषवार्ष्णेय—वृष्णि का वंशज। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०. ९. १५ में शूष वार्ष्ण का संमान आदित्य के नाम से किया गया है।

२. शूष वाह्न्य भारद्वाज—वह्नि का वंशज, भरद्वाज का वंशज। वंश ब्राह्मण २ में अराड दात्रेय शौनक के शिष्य एक आचार्य का नाम शूष वाह्नेय भारद्वाज है।

द्र०— इस्तू०, ४. ३७३।

शृङ्ग—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सींग के लिए आया है। बाण के अग्रभाग को भी शृङ्ग कहा गया है: ऋ० १. १४०. ६; १. १६३. ११; २. ३९. ३; ३. ८. १० इत्यादि; अवे०, २. ३२. ६; ८. ६. १४; ९. ४. १७ इत्यादि; तु०—ह्विटनी, ट्रा० अवे०, १५४।

शृङ्ग-वृष्—ऋग्वेद ८. १७. १३ में एक व्यक्ति का नाम शृङ्गवृष् है। लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६१ के अनुसार ये पृवाकु-सानु के पिता थे। तु०—ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, २. १४२ टि०।

शृङ्गिन्—सींग वाले पशुओं को ऋग्वेद-काल से ही शृङ्गिन् कहा गया है : ऋ० १. ३२. १५; १. ३३. १२; ३. ८. १०; ऐब्रा०, ४. १७; कासं०, ३३. १ इत्यादि।

शेप—द्र०—शरीर।

शेरभ और शेरभक—अथर्ववेद २. २४. १ में सर्पों या दैत्यों के लिये ये शब्द आये हैं।

तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ६४।

---

१ अवे०, २१६, ४३५।

२ द्र०—वेबर, इंस्तू०, १८. ७५, २५५; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २१२; फिक, दी सोश्याल ग्लीड-रुङ्ग, २०१, २०२।

शेवधि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में खजाने या कोष के लिये शेवधि शब्द का प्रयोग हुआ है : ऋ० २. १३. ६; ७. ५३. ५; ९. ३. १५।

तु०—८. ५२. ९; अवे०, ५. २२. १५; वासं०, १८. ५९ इत्यादि।

शेवल—अथर्ववेद १. ११. ४ में सेवार या सिरवाल के लिए शेवल शब्द आया है।

तु०—**शीपाल**।

शेवृध और शेवृधक—अथर्ववेद २. २४. १ में ये शब्द सर्पों या दैत्यों के लिये आये हैं।

तु०—ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ६४।

शेषण—अथर्ववेद ७. १०९. ५ में शेषण शब्द अक्ष फेंकने के अर्थ में आता है; जबकि ग्लन (=ग्रहण) शब्द फेंकने के लिए अक्ष पकड़ने के लिये आया है।

तु०—**ग्लह**।

शेषस्—ऋग्वेद में शेषस् शब्द संतान के अर्थ में आया है : ऋ० १. ९३. ४; ५. १२. ६; ५. ७०. ४; ६. २७. ४, ५; ७. १. १२; ७. ४. ७; १०. १६. ५।

शैब्य—**शिवियों** से संबद्ध। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. १० में एक राजा **अमित्र-तपन शुष्मिण** की उपाधि है। प्रश्न उपनिषद् १. १; ५. १ में आचार्य **सत्यकाम** का पैतृक नाम शैब्य है।

शैलन—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. २. ३; २. ४. ६ में बहुवचन में प्रयुक्त शैलन शब्द आचार्यों की एक शाखा को जताता है।

शैलालि—**शिलालिन्** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ३. ३ में एक आचार्य का नाम शैलालि है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ६. ४. ७ में शैलालि ब्राह्मण का उल्लेख है। सूत्रों में शैलालियों की शाखा का उल्लेख आता है : आपश्रौतसूत्र, ४. ५ इत्यादि।

तु०—वेबर, इस्तू०, १. १५६; इं० लि०, १९७; इन्होंने पाणिनि ४. २. ११०. १११ में उल्लिखित शिलालिन् के नट-सूत्र से तुलना की है।

शैलिन या शैलिनि—**शिलिन** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण में यह **जित्वन्** का पैतृक नाम है। संभवतः शैलन से तुलना की जा सकती है।

शैलन : बृउ०, ४. १. ५ माध्यंदिन; शैलिनि : ४. १. २ काण्व; तु०—मैक्स मूलर, सेबुई० १५. १५२ टि० २।

शैलूष—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में शैलूष का उल्लेख आता है। इसका अर्थ अभिनेता या नर्तक हो सकता है। सायण के अनुसार शैलूष अपनी पत्नी से वेश्यावृत्ति कराता था। द्रष्टव्य : वासं०, ३०. ६; तैब्रा०, ३. ४. २. १; तु०—त्सिमर, आ० ले०, २९०; वेबर, इं० लि०, १११, १९६, १९७; शैलूष का ठीक अर्थ जानने के लिए आवश्यक है भारत में नाटक की उत्पत्ति का ज्ञान। तु०—**इतिहास**। कीथ, ज०रा०ए०सो०, १९११, ९९५ एवं आगे।

शैशव—साम-विशेष। 'शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत। तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रका इत्यामन्त्रयसे इति। सोऽब्रवीदहं वाव पितास्मि यो मन्त्रकृदस्मीति ते देवेष्वपृच्छन्त ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति तद् वै स उदजयत्। उज्जयति शैशवेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १३. ३. २४.

शोचिष्केश—'शिश्नं वै शोचिष्केशं शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति' शब्रा० १. ४. ३. ९.

शोचिस्—प्रकाश या किरण के अर्थ में शोचिस् शब्द ऋग्वेद-काल से ही पाया जाता है : ऋ० १. १२. १२; ५. ६. ५; १. १२७. १; १. १४३. २; १. १७५. ३; ३. ४. ४; ७. ४३. २; अवे०, ५. २७. १; १७. १. १६; वासं०, १७. ११; निघण्टु १. १७।

शोण सात्रासाह—शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. १६–१८ में **पञ्चाल** के राजा और **कोक** के पिता शोण सात्रासाह का उल्लेख आया है; इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसमें **तुर्वश** उपस्थित हुए थे।

तु०—एगलिङ्ग, सेबुई०, ४४. ४००।

शोभ—द्र०—**भृगवाण**।

शौक्त—साम-विशेष। 'शुक्तिर्ण एतेनाङ्गिरसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत्' तांब्रा० १३. ११. २२.

शौङ्गायनि—**शुङ्ग** का वंशज। वंश-ब्राह्मण १ में एक आचार्य का नाम शौङ्गायनि है। आश्वलायन श्रौत-सूत्र १२. १३. ५ इत्यादि में **शुङ्गों** को आचार्य कहा गया है। द्र०—इस्तू०, ४. ३७२, ३८३।

शौङ्गी-पुत्र—**शुङ्ग**-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची (६. ४. ३१ माध्यंदिन=६. ५. २ काण्व) में **सांकृतीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम शौङ्गी-पुत्र है।

शौच—**शुचि** का वंशज। तैत्तिरीय आरण्यक २. १२ में **आह्नेय** का पैतृक नाम शौच है।

शौचद्रथ—**शुचद्रथ** का वंशज। ऋग्वेद ५. ७९. २ में **सुनीथ** का पैतृक नाम शौचद्रथ है।

शौचेय प्राचीनयोग्य—शुचि का वंशज, **प्राचीनयोग** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ११. ५. ३. १, ८ में एक आचार्य का यह नाम है। तैत्तिरीय संहिता ७. १. १०. २ में **सार्वसेनि** का पैतृक नाम भी शौचेय है।

शौचेय सार्वसेनि—तैत्तिरीय संहिता ७. १. १०. २. में एक व्यक्ति का नाम शौचेय सार्वसेनि है।

शौनक—शुनक का वंशज। शौनक यह एक सामान्य पैतृक नाम है। यह **इन्द्रोत** (शब्रा०, १३. ५. ३. ५; १३. ५. ४. १) और **स्वैदायन** (शब्रा०, ११. ४. १. २) के नाम के साथ आया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५. २०; ४. ५. २६ माध्यंदिन) में एक शौनक को **रौहिणायन** का गुरु बताया गया है। कौषीतकि ब्राह्मण ४. ७ में एक शौनक यज्ञ का उल्लेख आया है। छान्दोग्य उपनिषद् १. ९. ३ में **अतिधन्वन्** शौनक का एक आचार्य के रूप में उल्लेख आया है। छान्दोग्य उपनिषद् ४. ३. ५, ७ और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १. २१ के अनुसार एक **कापेय** शौनक **अभिप्रतारिन्** **काक्षसेनि** के समकालीन थे, जिनके पुरोहित **शौरक** थे: जैउब्रा०, १. ५९. २। सूत्र और बृहद्देवता आदि में एक प्रामाणिक माने जाने वाले शौनक का वैयाकरण, कल्प-ज्ञाता आदि के रूप में उल्लेख आता है।

तु०—वेबर, इं० लि०, २४, ३२–३४, ४९, ५४, ५६, ५९, ६२, ८५, १४३; मैकडानल, बृहद्देवता १, पृष्ठ २३; कीथ, ऐतरेय आरण्यक, १८. १९, २९७।

शौनकी-पुत्र—शुनक-वंशीया का पुत्र। माध्यंदिन शाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची ६. ४. ३०, ३१ में **काश्यपीबालाक्यामाठरीपुत्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम शौनकीपुत्र है।

शौर-देव्य—शूरदेव का वंशज। ऋग्वेद ८. ७०. १३–१५ में **शर** का पैतृक नाम शौर-देव्य है।

शौराकि—द्र०—**विपूजन** और **विप्र-जन**।

शौर्पणाय्य—शूर्पणाय का वंशज। माध्यंदिनशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् की प्रथम दो वंश-सूचियों (२. ५. २०; ४. ५. २६) में **गौतम** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

शौल्बायन या शौलवायन—शुल्ब का वंशज। यह आचार्य **उदङ्क** का पैतृक नाम है: तैसं०, ७. ४. ५. ४; ७. ५. २; बृउ०, ४. १. २ माध्यंदिन। शतपथ ब्राह्मण ११. ४. २. १७ के अनुसार शौल्बायन उन लोगों के अध्वर्यु थे, जिनके **अयस्थूण** गृहपति थे।

शौष्कल—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में शौष्कल का उल्लेख आता है। वोबू० के अनुसार इसका अर्थ है: शुष्क मांस या मत्स्य पर निर्वाह करने वाला। भारतीय कोशकारों ने इसका अर्थ दिया है; 'शुष्क मत्स्य बेचने वाला'; सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य में इसे कंटिया से मछली पकड़ने वाला माना है।

द्रष्टव्य: वासं०, ३०. १६; तैब्रा०, ३. ४. १२. १; तु०—वेबर, इंन्दिश्शे स्त्राइफन, १. ८१ टि०—७; एगलिंग, सेबुई० ४४. ४१५।

श्मशान—श्मशान उस स्थान को कहते थे, जहां मृत-पुरुष की अस्थियों को रखा जाता था; तु०—**अनग्नि-दग्ध**। अथर्ववेद में एवं तदनन्तर इसका उल्लेख आम है। शतपथ ब्राह्मण १३. ८. १. १ में चार कोनों वाले, दक्षिण-पूर्वाभिमुख, उत्तर की ओर नत भाग वाले, ग्राम से न दीख पड़ने वाले, शान्त प्रदेश एवं रम्य वातावरण में, ऊषर भूमि में बनाये जाने वाले श्मशान का उल्लेख आता है। अग्निचित् अर्थात् अग्नि-चयन करने वाले (याज्ञिक) के लिए वेदि के सदृश श्मशान बनाने का उल्लेख है। **प्राच्य** लोग गोलाकार श्मशान बनाते थे।

तु० 'यो वै कश्चन म्रियते स शवस्तस्मा एतदन्नं करोति त एतच्छवान्नं शवान्नं ह वै तच्छ्मशान इत्याचक्षते परोक्षं; श्मशा उ हैव नाम पितृणामत्तारस्ते हामुस्मिन् लोकेऽकृतश्मशानस्य साधुकृत्यामुपदम्भयन्ति तेभ्यस्तदन्नं करोति तस्माच्छ्मशानम्' शब्रा० १३. ८. १. १;

द्रष्टव्य: अवे०, ५. ३१. ८; १०. ६. १८; तैसं०, ५. २. ८. ५; ५. ४. ११. ३; कासं०, २१. ४; मैसं०, ३. ४. ७; शब्रा०, ४. ५. २ १५ इत्यादि; तु०—एगलिंग, सेबुई० ४४. ४२४ एवं आगे; त्सिमर, आ० ले०, ४०७; हापकिन्स, जअओसो०, १६. १५३।

श्मश्रु—ऋग्वेद में एवं तदनन्तर श्मश्रु शब्द दाढ़ी-मूंछ के लिये आम आया है: ऋ० २. ११. १७; ८. ३३. ६; १०. २३. १, ४; १०. २६. ७; १०. १४२. ४; अवे०, ५. १९. १४; ६. ६८. २; वासं०, १९. ९२; २०. ५ इत्यादि; पशुओं की श्मश्रु: वासं०, २५. १; शब्रा०, १२. ९. १. ६ इत्यादि। श्मश्रु का **केशों** से विपर्यास भी दिखाया गया है: शब्रा०, २. ५. २. ४८ इत्यादि। श्मश्रु के वपन या कटवाने का भी उल्लेख आता है; द्र०—**वप्तृ** और **क्षुर**। मूछों को पुरुषत्व का प्रतीक माना गया है: तैसं०, ५. ५. १. १। मेगस्थनीज़ के अनुसार भारत के लोग मृत्यु-पर्यन्त मूछ रखते थे; द्र०—डिओडोरस, ३. ६३। तु०—त्सिमर, आ० ले०, २६५–२६७।

श्यापर्ण शायकायन—शतपथ ब्राह्मण ६. २. १. ३९ के अनुसार एक ऐसे व्यक्ति का नाम श्यापर्ण शायकायन है, जिनके लिए वेदि तैयार करने में पांच बलियां दी गई

थीं। उसी ब्राह्मण (९. ५. २. १) में उन्हें एक अग्नि-वेदि का चयन-कर्ता भी बताया गया है। उनका **सल्वों** से कुछ संबन्ध रहा था: शब्रा०, १०. ४. १. १०। ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ में उनके वंश के **श्यापर्णों** का उल्लेख मिलता है। इन्होंने अपने आप को पुरोहित कहा है; किंतु राजा **विश्वतन्त्र** ने इन्हें अपने यज्ञ में से निकाल दिया था; किंतु उसके नेता **राम मार्गवेय** ने अनुनय करके उन्हें फिर बुला लिया था। श्यापर्ण का **कुन्तियों** द्वारा की गई **पञ्चालों** की पराजय से भी कुछ संबन्ध है।

द्र०—वेबर, इस्टू०, ३. ४७१ एगलिंग, सेबुई० ४३. ३४४, ३४५; म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, ५[२], ४३७ एवं आगे।

श्याम—काला। अथर्ववेद ११. ३. ७ में अयस् के साथ इसका अर्थ लोहा प्रतीत होता है। अकेले भी इसका अर्थ लोहा प्रतीत होता है: अवे०, ९. ५. ४; तैसं०, ५. ७. ५. १; कासं०, १८. १०; मैसं०, २. ११. ५; वासं०, १८. १३।

तु०—त्सिमर, आले०, ५२–५४; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज, १८९।

श्याम जयन्त लौहित्य—**लोहित** का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४२. १ में आचार्यों की एक वंश-सूची में इन्हें **जयन्त पाराशर्य** का शिष्य एक आचार्य कहा गया है। वहीं पर इसी नाम के एक अन्य व्यक्ति को **मित्रभूति लौहित्य** का शिष्य बताया गया है।

श्याम-पर्ण—काठक संहिता २०. ८ और मैत्रायणी संहिता ३. २. ७ में **सोमदक्ष कौश्रेय** द्वारा शिक्षित एक व्यक्ति का नाम श्याम-पर्ण है।

श्याम-सुजयन्त लौहित्य—लोहित का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४२. १ में आचार्यों की एक वंश-सूची में **कृष्ण-धृति सात्यकि** के शिष्य एक आचार्य का नाम श्याम-सुजयन्त लौहित्य है।

श्यामाक—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में सामक के लिये आया श्यामाक शब्द आया है: तैस०, १. ८. १. २; २. ३. २. ६; ४. ७. ४. २; मैसं०, २. ११. ४; वासं०, १८. १२; कासं०, १०. २; शब्रा०, १०. ६. ३. २; १२. ७. १. ९ इत्यादि; कौब्रा०, ४. १२। इसके नन्हें बीज का उल्लेख अथर्ववेद १९. ५०. ४ में आता है, जहाँ इसे हवा से उड़ जाने वाला बताया गया है। वहां इसे कपोतों का खाद्य कहा गया है: २०. १३५. १२। छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४. ३ में श्यामाक और इसके **तण्डुल** को बहुत ही नन्हा कहा गया है।

तु०—'लोमभ्य एवास्य चित्तमस्रवत्। ते श्यामाका अभवन्', शब्रा० १२. ७. १. ९; 'तासाम् (ओषधीनाम्) एष उद्धारो यच्छ्यामाकः' गोब्रा० २. १. १७; 'स (सोमः) एतं सोमाय मृगशीर्षाय श्यामाकं चरुं पयसि निरवपत्। ततो वै स ओषधीनां राज्यमभ्यजयत्' तैब्रा० ३. १. ४. ३।

तु०—त्सिमर, आले०, २४१. २७५।

१. श्याव—ऋग्वेद १. ११७. २४; १०. ६५. २ में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम श्याव है। वे **हिरण्य-हस्त** के तदात्म माने जा सकते हैं।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १५०; मैकडानल, वैमा० पृष्ठ ३२।

२. श्याव—ऋग्वेद ८. १९. ३७ के अनुसार **सुवास्तु** नदी के तट पर श्याव को उदारता दाता कहा गया है।

तु०— लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६१।

३. श्याव—ऋग्वेद ५. ६१. ९ में श्याव संभवतः **श्यावाश्व** है, जैसा कि सायण ने माना है।

श्यावक—ऋग्वेद ८. ३. १२; ८. ४. २ में श्यावक को एक यज्ञ-कर्ता और **इन्द्र** का मित्र बताया गया है; वे २. **श्याव** से अभिन्न हो सकते हैं।

श्यावसायन—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. २ में **देवतरस्** का पैतृक नाम श्यावसायन है। संभवतः **शावसायन** के स्थान में यह अशुद्ध पाठ है।

श्यावाश्व—श्यावाश्व का उल्लेख **ऋग्वेद** में कई बार आया है: ऋ० ५. ५२. १; ५. ६१. ५, ९ ५. ८१. ५; ८. ३५. १९; ८. ३६. ७; ८. ३७. ७; ८. ३८. ८ अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के पञ्चम, अष्टम और नवम मण्डलों के अनेक सूक्त श्यावाश्व द्वारा कहे गये हैं: ऋ० ५. ५२-६१; ५. ८१; ५. ८२; ८. ३५-३८; ९. ३२। ऋग्वेद ५. ६१ में श्यावाश्व ने अपने आश्रयदाता (विददश्व के पुत्र) **तरन्त**, **पुरुमीढ** और **रथवीति** के नाम दिये हैं। बृहद्देवता में एक कथा इस सूक्त के आधार पर उभर आई है, जिसमें उन्हें **अर्चनानस्** का पुत्र बताया गया है, जो **रथवीति** दाल्भ्य के लिए यज्ञ करते थे। श्यावाश्व के पिता अपने पुत्र का विवाह राजा की पुत्री से करना चाहते थे। राजा ने स्वीकृति दे दी थी, किंतु माता अपनी पुत्री का विवाह किसी ऋषि के साथ करना चाहती थी। पिता और पुत्र निराश लौट रहे थे, जब कि उनके पहले आश्रयदाता **तरन्त** और **पुरुमीढ** मिल गये। इन्होंने उनके प्रति संमान प्रकट किया और **तरन्त** की पत्नी **शशीयसी** ने श्यावाश्व को प्रचुर धन दिया। श्यावाश्व ने सौभाग्य से वन में **मरुतों** के दर्शन किये और

उनकी कृपा से वे ऋषि बन गये। फलतः राजा ने अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ कर दिया; द्र०— बृ०दे०, ५. ४९ एवं आगे[१]। ज़ीग का कहना है कि यह कथा ऋग्वेद में किसी पूर्वकथा के आधार पर उभर आई है। किंतु ऋग्वेद में संदर्भ अत्यन्त दुरूह है; और हो सकता है शशीयसी एक विशेषण-मात्र रहा हो[२]। इस सूक्त में कुछ ऐतिहासिक तथ्य हो सकता है; किंतु वह क्या तथ्य है, इस बात का निर्णय करना कठिन है।

शांखायन श्रौतसूत्र १६. ११. ७-९ में भी श्यावाश्व के **वैददश्वि** से दान लेने का उल्लेख आता है। अथर्ववेद ४. २९. ४; १८. ३. १५ की दो नाम-सूचियों में से प्रथम में **पुरुमीढ** का और द्वितीय **अर्चनानस्** एवं **अत्रि** का नाम आता है। पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ५. ९ में उन्हें एक साम-मन्त्र का द्रष्टा बताया गया है[३]। तैत्तिरीय आरण्यक १. ११. २ में भी इनका नाम आया है[४]। शांखायन श्रौत-सूत्र और पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ५. ९ में उन्हें **आर्चनानस** (=**अर्चनानस्** का पुत्र) कहा गया है। ऋग्वेदानुक्रमणी में उन्हें **आत्रेय** (अत्रि का पुत्र) बताया गया है।

२ श्यावाश्व—साम-विशेष। 'श्यावाश्वमार्चनानसं सत्रमासीनं धन्वोदवहन् स एतत् सामापश्यत् तेन वृष्टिम-सृजत ततो वै स प्रत्यतिष्ठत् ततो गातुमविन्दत गातुविद् वा एतत् साम' तांब्रा०, ८. ५. ९;

---

१ द्र०—ऋग्वेदानुक्रमणी में ऋ० ५. ६१ पर षड्गुरु-शिष्य का भाष्य; सायण-भाष्य, ऋ० ५. ६१. १७-१९ पर; ज़ीग, दीज़ा ऋ० ५० एवं अग्रिम में नीतिमञ्जरी।

२ द्र०—ज़ीग, उपर्युक्त, ५०. ६०; तु०—गेल्डनर, वैस्टू०, ३. १४८; शशीयसी, को ऋ० ५. ६१. ६. में राथ ने (वोबू०) एक विशेषण के रूप में लिया है; वेबर ने भी एपिश्शेस इम वेदिश्शन रितुआल, २७ में ऐसा ही माना है।

३ वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, २७ टि० ४; यहां उन्होंने अनुमान किया है कि ये एक क्षत्रिय थे।

४ किंतु ज़ीग ने (उपर्युक्त, ६१ टि० ४ में) अवे० ११. २. १८ तथा शांश्रौसूत्र, २४. ३३. २६ की भांति विशेषण के रूप में लिया है।

विवरण: लुडविग, ट्रां० ऋग्वेद, ३. १२६, १२७; ओल्डेनवर्ग, त्सादामौगे० ४२. २१४ ऋग्वेद-नोटन, १. ३५४; मैक्समूलर, सेबुई० ३२. ३५९ एवं आगे; लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सेक्रिफीस, १२२।

श्यान्या—ऋग्वेद ६. १५. १७ में अन्धकार के लिये आया है।

श्येन—ऋग्वेद में वाज के लिये आया है: ऋ० १. ३२. १४; १. ३३. २; १. ११८. ११; १. १६३. १; १. १६५. २ इत्यादि। गृध्र से भी तात्पर्य हो सकता है। संभवतः यह पक्षियों में सबसे अधिक तेज गति वाला है: तैसं०, २. ४. ७. १; ५. ४. ११. १; षड्विंश ब्राह्मण, ३. ८। छोटे पक्षी इससे डरते हैं: कासं०, ३७. १४। यह उनके समूह पर आक्रमण भी करता है: अवे०, ७. ४१ २। वायु में दूर तक उड़ने से इसे नृ-चक्षस् (मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला) कहा गया है। यह स्वर्ग से सोम को पृथ्वी पर लाया था: जअओसो०, १—२४ जहां सभी संदर्भ दिये गए हैं।

तु० 'यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्नि-र्भूत्वाऽस्मिन् लोके संश्यायति तद् यत् संश्यायति तस्माच्छ्-येनः' गोब्रा०, १. ५. १२; 'उरस एवास्य (इन्द्रस्य) हृदयात् त्विषिरस्रवत् स श्येनोऽपाष्ठिहाभवत्। वयसां राजा' शब्रा०, १२. ७. १. ६; 'स (श्येनः) हि वयसामा-शिष्ठः' तांब्रा०, १३. १०. १४; 'श्येनो वै वयसां क्षेपिष्ठः' षब्रा०, ३. ८;

विवरण: त्सिमर, आ० ले०, ८७, ८८; इन्होंने श्येन के विशेषण ऋजिष्य "तेज ऊपर उड़ने वाला" को ईरानी श्येन का नाम माना है।

श्यैत—साम-विशेष। 'ते (पशवः) शेत्या अभवत्। यच्छेत्या अभवंस्तस्माच्छ्यैतम्' तांब्रा०, ७. १०. १३; 'पशवो वै श्यैतम्' तांब्रा०, ७. १०. १३; 'पशुकाम एतेन स्तुवीत' तांब्रा०, ७. १०. १४;

श्रत्-श्रद्—श्रद्धा। निघण्टु ३. १० में सत्य के पर्यायों में श्रत् या श्रद् का भी पाठ है। संभवतः यह हृदय (heart का समकक्ष है: ऋ०, १. १०३. ५; ८. ७५. २; ऋ०, २. १२. ५; १. ५५. ५; १०. ३९. ५; १०. १४७. १; वासं०, ८. ५; अवे०, ११. २. २८; शब्रा०, १. ३. १. २८; तैआ०, १. ११. १४ इत्यादि।

श्रद्धा—श्रद्धा विश्वास या निष्ठा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है: ऋ०, १. १०८. ६; ६. २६. ६; ७. ३२. १४; ८. १. ३१; ९. ११३. २, ४; १०. १५१. १; वासं०, १९. ३०; १९. ७७; २०. २४; ऐब्रा०, ५. २७; ८. १५; तैसं०, १. ६. ८. १; शब्रा०. १. ३. १. २६; १२. १. २. १ इत्यादि।

ऋग्वेद १०. १५१ में श्रद्धा एक देवता के रूप में उभरी है। कहा गया है कि श्रद्धा से ही अग्नि समिद्ध होता है, श्रद्धा से ही हवि दी जाती है। श्रद्धा ही मग

की मूर्धा है। हे श्रद्धे, देने वाले और देने की इच्छा रखने वाले का प्रिय करो : ऋ० १०. १५१. १–२। श्रद्धा की उपासना देव और यजमान करते हैं; श्रद्धा से ही धन मिलता है : ऋ० १०. १४१. ४। श्रद्धा की त्रिकाल आराधना करने का उल्लेख है, और उससे प्रार्थना की गई है कि यह हमें श्रद्धामय बनावे : ऋ० १०. १५१ ५।

श्रद्धा और अश्रद्धा से चाहे जैसे हो दान देने का उल्लेख आता है : तैउ०, १. ११।

तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३. १०. १ में श्रद्धा को **प्रजापति** की दुहिता बताया गया है; शतपथ ब्राह्मण १२. ७. ३. ११ में उसे **सूर्य** की दुहिता कहा गया है।

तु० 'श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः' ऐब्रा० ७. १०; 'तेज एव श्रद्धा' शब्रा० ११. ३. १. १; 'श्रद्धा वा आपः' तैब्रा० ३. २. ४. १; 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' शब्रा० १२. ७. ३. ११। विवरण मैकडानल, वैमा०।

२. श्रद्धा कामायनी—अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के श्रद्धा-सूक्त १०. १५१ की रचयित्री श्रद्धा कामायनी हैं।

श्रपयितृ—भोजन बनाने वाला। शतपथ ब्राह्मण १. २. २. १४ में यह शब्द आया है।

श्रम—मेहनत। वैदिक साहित्य में श्रम का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। ऋग्वेद १०. ११४. १० में श्रम का दाय ("श्रमस्य दायम्") देने का उल्लेख आया है। ऋग्वेद ४. २. ६ में कहा गया है कि हे अग्नि, जो तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा से अपने मूर्धा को तपाता है (मूर्धानं वा ततपते त्वाया) तुम उसके रक्षक बनो। द्र०–ऋ० १०. ११४. १०; अवे०, ४. ११. १०; ८. ८. ९; शब्रा., ६. ३. ३. ७; १४. ४. ३. ३१; तु०–अवे०, ४. ३५. २; ६. १३३. ३; १०. ७. ३६; ११. ५. ४; ११. ७. १७; १२. ५. १; शब्रा०, १. ६. २. ३; तैब्रा०, २. ४. १. ११; ऐब्रा०, २. १३; ७. १५ इत्यादि।

श्रमण—परिव्राजक। श्रमण शब्द सर्व-प्रथम उप-निषदों में आया है : बृउ०, ४. ३. २२; तैआ०, २. ७; (इस्तू०, १. ७८) फिक[1] के अनुसार कोई भी श्रमण बन सकता था। मेगस्थनीज़ ने अपने समय में पूर्वी भाग में (मध्यदेश के आगे) श्रमणों का उल्लेख किया है।[2] वैदिक साहित्य में केवल बृहदारण्यक उपनिषद् और तैत्तिरीय आरण्यक में श्रमण शब्द आता है, जहाँ तक तापस का श्रमण के रूप में आचरण करने का संकेत है।

[1] दी सोश्याल ग्लीडरुङ्ग, ३९ एवं अग्रिम।

[2] द्र०–स्ट्रैबो, १५. १, ४९, ६०, एरियन, इंडिका १२. ८. ९

विवरण : वेबर, इं० लि०, २७, २८, १२९, १३८

श्रवण—द्रष्टव्य–नक्षत्र।

श्रवणदत्त कौहल—श्रवण द्वारा दिया हुआ, कोहल का वंशज। वंश ब्राह्मण[1] में सुशारद शालंकायन के शिष्य एक आचार्य का नाम श्रवणदत्त कौहल है।

श्रविष्ठा—द्र०–नक्षत्र।

श्रायन्तीय—साम-विशेष। 'यद् (देवाः सूर्यं सप्तसु छन्दसुः) अश्रायन्। तच्छ्रायन्तीयस्य श्रायन्तीयत्वम्' तैब्रा० १. ५. १२. १; 'प्रजापतिः प्रजा असृजत। स दुग्धो रिरिचानोऽमन्यत स एतच्छ्रायन्तीयमपश्यत् तेनात्मानं समश्रीणात् प्रजया पशुभिरिन्द्रियेण' तांब्रा० ९. ६. ७; 'वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत् स त्रेधापतत्। भृगुस्तृतीयमभवत्। श्रायन्तीयं तृतीयमपस्तृतीयं प्राविशत्' तांब्रा० १८. ९. १; 'श्रायन्तीयं यज्ञविभ्रष्टाय ब्रह्मसाम कुर्यात्' तांब्रा० ८. २. ९।

श्रायस—तैत्तिरीय संहिता ५. ४. ७. ५ और काठक संहिता २१. ८ में एक आचार्य कण्व का पैतृक नाम श्रायस है। तैत्तिरीय संहिता ५. ६. ५. ३ और पञ्चविंश ब्राह्मण ९. १. ९; २५. १६. ३ में यह वीत-हव्य का पैतृक नाम है।

श्रावण—द्र०–मास और नक्षत्र।

श्री—वैदिक साहित्य में श्री शब्द संपदा के अर्थ में आया है : ऋ० ८. २. १९; अवे०, ६. ५४. १; ६. ७३. १; ९. ५. ३१; १०. ६. २६; ११. १. १२, २१; १२. १. ६३; १२. ५. ७; तैसं०, २. २. ८. ६; ५. १. ८. ६; ६. १. १०. ३; ७. २. ७. ३ इत्यादि; शब्रा०, ११. ४. ३ में श्री को देवी के रूप में ग्रहण किया गया है। द्र०–रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया। प्रारम्भिक बौद्ध चित्रकलाओं में श्री को कमल पर आसीन, दो हाथियों के मध्य में, उनके सूंड की जलधारा से सिंचित होती हुई दिखाया गया है। इस देवी का आज भी भारत में प्रमुख स्थान है।

द्र०–श्रेष्ठिन्।

तु० 'अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः' शब्रा० ६. १. १. ४; 'इयं (पृथिवी) वै श्रीः' ऐब्रा० ८. ५; 'तस्याः (श्रियः) अग्निरन्नाद्यमादत्त सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यं मित्रः क्षत्रमिन्द्रो बलं बृहस्पतिर्ब्रह्मवर्चसं सविता राष्ट्रं पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि' शब्रा० ११. ४. ३. ३; 'श्रीर्वै पशवः श्रीः शक्वर्यः' तांब्रा० १३. २. २; 'श्रियै वा एतद् रूपं यद् वीणा' शब्रा० १३. १. ५. १; 'श्रीर्वै स्वरः' शब्रा० ११. ४. २. १०; 'रात्रिरेव

[1] इस्तू०, ४. ३७२।

श्रीः श्रियां हैतद् राज्यां सर्वाणि भूतानि संवसन्ति' शब्रा० १०. २. ६. १६; 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' शब्रा० ६. ७. ३. ७; 'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' शब्रा० १३. २. ९. ३; 'श्रीर्वै वरुणः' कौब्रा० १८. ९; 'एकस्था वै श्रीः' कौब्रा० १८. ९।

श्रुत-कक्ष—ऋग्वेद ८. ९२. २५ में श्रुतकक्ष को एक सूक्त का ऋषि कहा गया है। अनुक्रमणी में भी ऐसा ही उल्लेख है। पञ्चविंश ब्राह्मण ९. २. ७ में उन्हें एक साम-द्रष्टा ऋषि कहा गया है।

तु०—लुग्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०८।

श्रुत-रथ—ऋग्वेद १. १२२. ७ में एक युवा राजा का नाम श्रुत-रथ है। वे **पज्र**-वंश के, जिसमें **कक्षीवन्त्** भी थे, आश्रयदाता बताये गये हैं: ऋ० ५. ३६. ६।

तु०—लुड्विग, ट्रां. ऋ. ३. १५५; पिशल, वैस्तू०, १. ९७।

श्रुत-रय—ऋग्वेद १. ११२. ९ में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम श्रुत-रय है।

श्रुतर्वन् आर्क्ष—**ऋक्ष** का वंशज। एक राजा का नाम श्रुतर्वन् आर्क्ष है, जिनकी उदारता का उल्लेख ऋग्वेद ८. ७४. ४, १३ में तथा जिनकी **मृगय** पर विजय का जिक्र ऋग्वेद १०. ४९. ५ में आता है।

श्रुतर्विद्—ऋग्वेद ५. ४४. १२ में एक व्यक्ति का श्रुतर्विद है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३८-१३९।

श्रुत-सेन—शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ३ और शांखायन श्रौतसूत्र १६. ९. ४ में **जनमेजय** के भाइयों में से एक का नाम श्रुत-सेन है।

श्रुष वाह्नेय काश्यप—**वह्नि** का वंशज **कश्यप** का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. १ में **देवतरस्** के शिष्य एक आचार्य का नाम श्रुष वाह्नेय काश्यप है। यह संभव है कि **शूष** के स्थान पर श्रुष गलत पाठ हो।

श्रुष्टि—'अव्यं श्रुष्टिः' शब्रा० ७. २. २. ५.

श्रुष्टि अङ्गिरस—पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ११. २१ में एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम श्रुष्टि आङ्गिरस है। संभवतः ठीक पाठ **श्नुष्टि** आङ्गिरस हो।

तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, २. १६०; हापकिन्स ट्रांजैक्शन्स०, १५. ६८।

श्रुष्टि-गु—सधे हुए बैलों वाला। ऋग्वेद के वाल-खिल्य सूक्त ८. ५१. १ में एक व्यक्ति का नाम श्रुष्टि-गु है।

तु०—लुडविग, ट्रां० ऋ०, ३. १४०, १४१; हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, १७. ९०।

श्रेणि—पंक्ति या लाइन के अर्थ में आता है। ऋग्वेद ५. ५९. ७ में पक्षियों की श्रेणी; ऋग्वेद १. १२६. ४ में अश्वों की श्रेणी और ऋग्वेद ४. ३८. ६ एवं छान्दोग्य उपनिषद् ५. १४. १ में रथों की श्रेणी का उल्लेख आता है।

श्रेष्ठिन्—ब्राह्मणों में श्रेष्ठिन् आया है: ऐब्रा०, ३. ३०. ३; कौब्रा०, २८. ६; कौउ०, ४. २०; तैब्रा०, ३. १. ४. १० में **भग** को देवों का श्रेष्ठी बताया गया है। राथ ने इस शब्द का अर्थ अपनी डिक्शनरी में "प्रभावशाली व्यक्ति" किया है। यह संभव है कि वणिक्-समाज या निगम के प्रमुख व्यक्ति को श्रेष्ठिन् कहा जाता रहा हो; जैसाकि आजकल सेठ शब्द से ज्ञात होता है। इसी प्रकार **श्रेष्ठ्य** शब्द के अर्थ के विषय में भी संशय है। श्रेष्ठता इस अर्थ के साथ साथ यह वणिक्-समाज की श्रेष्ठता को भी उद्दिष्ट कर सकता है: अवे०, १. ९. ३= तैसं०, ३. ५. ४. २=कासं०, ५. ६=मैसं०, १. ४. ३; अवे०, १०. ६. ३१; ऐब्रा०, ४. २५. ८; ७. १८. ८; तैब्रा०, ३. ८. ९, १; शब्रा०, १३. ७. ७. १; छाउ०, ५. २. ६; कौउ०, २. ६; ४. १५, २० इत्यादि।

वणिक्समाज का धर्म-सूत्रों में बार-बार उल्लेख आता है: गौधसूत्र, ११. २०. २१ इत्यादि।[1] बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है:[2] आर्षकाव्य में तो इसका बार-बार उल्लेख है।[3] किंतु वैदिक संदर्भों के आधार पर उस काल में श्रेष्ठि-समाज के अस्तित्व के विषय में कुछ कहना धृष्टता है।

श्रोणा—तु०, 'यदश्लोणत्। तच्छ्रोणा' तैब्रा०, १. ५. २. ८; द्र०—**नक्षत्र**।

श्रोणि—द्र०—**शरीर**।

श्रोत्र—कान: ऋ० १०. ९०. १४; १०. ८५. ११; अवे०, ११. ३. २; शब्रा०, ४. १. ५. १; १३. ४. ४. ८; १४. ४. १. ६; छाउ०, ८. १२. ४; काश्रौसूत्र १७. ५. ११; २५. ६. ११ इत्यादि।

तु० 'श्रोत्रं हृदये (श्रितम्)' तैब्रा०, ३. १०. ८. ६; 'श्रोत्रं वै ब्रह्म श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति श्रोत्रे ब्रह्म प्रतिष्ठितम्' ऐब्रा०, २. ४०; 'श्रोत्रं वै सम्राड्' शब्रा०, १४. ६. १०. १२; 'श्रोत्रं वै परं रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परं रजः' शब्रा०,

[1] फॉय, दी कोड्निग्लिशे गेवाल्त, १४ टि. २ इत्यादि।

[2] रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, ८८ एवं अग्रिम।

[3] हापकिन्स, ज०अ०ओ०सो०, १३. ८१ एवं अग्रिम।

तु०—हापकिन्स, इंडिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, १६८ एवं अग्रिम।

७. ५. २. २०; 'तद् यच्छ्रोत्रं दिशस्ताः' जैउब्रा०, १. २८. ९; 'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोति । अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः' शब्रा०, ८. १. २. ६; 'श्रोत्रं विश्वेदेवाः' शब्रा०, ३. २. २. १; विश्वं हि श्रोत्रम्' शब्रा०, ७. ५. २. १२; 'यच्छ्रोत्रं स विष्णुः' गोब्रा०, २. ४. ११; 'वागिति हि श्रोत्रम्', जैउब्रा०, ४. २२. ११; 'श्रोत्रं पङ्क्तिः' शब्रा०, १०. ३. १. १; 'श्रोत्रं वै संपत् । श्रोत्रं हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः' शब्रा०, १४. ९. २. ४।

श्रोत्रिय—अथर्ववेद एवं परवर्ती काल में पवित्र अध्ययन से संपन्न अध्यात्म-ज्ञानी ब्राह्मण को श्रोत्रिय कहा गया है : अवे०, ९. ६. ३७; १०. २. २० एवं अग्रिम; कासं०, २३. ४; २८. ४; ऐब्रा०, १. २५. १५; शब्रा०, ५. ४. ४. ५; १३. ४. ३. १४; तैउ०, २. ८ इत्यादि; तु०—महाश्रोत्रिय; छाउ०, ५. ११. १।

श्रौत-ऋषि[1] **या श्रौतर्षि**[2]—श्रुत-ऋषि या श्रुतर्षि का वंशज। यह देवभाग का पैतृक नाम है।

श्रौतकक्ष—साम। 'इन्द्राय मद्वने सुतमिति श्रौतकक्षं क्षत्रसाम प्रक्षत्रमेवैतेन भवति' तांब्रा० ९. २. ७।

श्रौमत्य—श्रुमन्त् का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ४. ५. १ में एक आचार्य का नाम श्रौमत्य है।

श्लेष्मन्—श्लेष्मा उसे कहते हैं, जिससे किसी वस्तु के अवयवों को जोड़ा जाता हो (श्लिष् "जोड़ना" धातु से व्युत्पन्न)। चर्म के संबन्ध में तन्तु-विशेष अपेक्षित हो सकते हैं: ऐब्रा०, ५. ३२. ६; जैउब्रा०, ३. १७. ३; छाउ०, ४. १७. ४। रथ के प्रकरण में इसका अर्थ रज्जु हो सकता है: कासं०, ३४. ९; तु०—पंविब्रा०, १६. १. १३, जहां रथ को श्लेष्मवान् कहा गया है। लकड़ी के प्रकरण में इसका अर्थ सरेस हो सकता है: कौब्रा०, ६. १२; तु०—जैउब्रा०, और छाउ०, उपर्युक्त; शांआ०, २. १। बाद में श्लेष्मा का अर्थ जुकाम हो जा सकता है।

श्लोक—बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ४. १०; ४. १६ माध्यंदिन=४. १. २; ४. ५. ११ काण्व) में साहित्य के प्रकारों की गणना में उपनिषदों के बाद और सूत्रों के पहले बहुवचन में श्लोक शब्द आया है। तैत्तिरीय उपनिषद् ३. १०. ६ में श्लोककृत् शब्द आता है। इसका अर्थ कवि है, जैसा कि मैक्समूलर ने[3] माना है, न कि "उच्च स्तर से पुकारने वाला" जैसा कि बोबू० ने बताया है। ठीक अर्थ श्लोक का क्या है, यह नहीं कहा जा सकता; ब्राह्मणों में कई प्रकार के छन्दों को श्लोक कहा गया है: शब्रा०, ११. ३. १. ५; ११. ५. ४. १२; १३. ७. १. १५; ऐब्रा०, ८. २२. ३; ऐब्रा०, २. ३. ८; पंविब्रा०, २४. १८. ४; तैआ०, ८. १; कौउ०, १. ६ इत्यादि। अथर्ववेद ५. २०. ७ में वोबू० का अर्थ ठीक बैठता है।

श्लोण्य—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९. १७. २ में श्लोण्य लंगड़ेपन का वाचक है, न कि त्वग्दोष का, जैसा कि भाष्यकार ने माना है।

तु० श्लोण, "लंगड़ा" : अवे०, १२. ४. ३; तैसं०, ६. १. ६. ७ इत्यादि।

श्वघ्निन्—ऋग्वेद और अथर्ववेद में श्वघ्नी द्यूत खेलने वाले को कहते हैं। मूलतः इस शब्द का अर्थ कभी शिकारी रहा होगा : ऋ० १. ९२. १०; २. १२. ४; ४. २०. ३; ८. ४५. ३८; अवे०, ४. २०. ७; तु०—वेबर, इस्टू० १८. ७१।

श्वन्—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में श्वन् शब्द कुत्ते के अर्थ में आया है : ऋ० १. १६१. १३; १. १८२. ४; २. ३. ९. ४ इत्यादि; अवे०, ६. ३७. ३; ११. २. २; पंविब्रा०, ८. ८. २२ इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग में शुनी शब्द का भी प्रयोग मिलता है : अवे०, ४. २०. ७ चतुरक्षी शुनी : शब्रा०, ६. ५. २. १०। श्वान् पालतू पशु था : ऋ० २. ३९. ४; और चोर आदि से घर की रक्षा करता था। ऋ० ७.५५.५ के अनुसार वह सूकरों के शिकार में भी काम आता था, अतः उसे वराह-यु भी कहा गया है : ऋ० १०. ८६. ४; किंतु वह सिंह का पीछा नहीं कर सकता था : अवे०, ४. ३६. ६। वालखिल्य सूक्त ऋ० ८. ५५. ३ में एक दानस्तुति में सौ श्वानों के उपहार का उल्लेख आता है। अन्यत्र श्वा को अशुद्ध होने के कारण अयज्ञीय कहा गया है : जैब्रा०, १. ५१. ४; शब्रा०, १२. ४. १. ४; उसे यज्ञस्थल से हटा दिया जाता था : ऋ० ९. १०१. १। कुत्ते का मांस खाना दारिद्र्य का सूचक था : ऋ० ४. १८. ३; किंतु बाद में श्वपच या कुत्ता पकाने वालों की एक हीन जाति बन गई थी। भोज के बाद अवशिष्ट हड्डियाँ कुत्तों को दे दी जातीं थी : अवे०, ६. ३७. ३; तु०—९. ४. १६। **सरमा** को इन्द्र की विश्वसनीय शुनी कहा गया है, जो गौओं की खोज में **पणियों** के पास गई थी : ऋ० १. ६२. ३; १. ७२, ८ इत्यादि।[1] रुद्र को यजुर्वेद में श्व-पति भी कहा

[1] ऐब्रा०, ७. १. ६,
[2] शब्रा०, २. ४. ४. ५; तैब्रा०, ३. १०. ९. ११।
[3] सेबुई० १५. ६९।

[1] द्र०—मैकडानल, वैमि०, पृष्ठ १५१।

गया है : वासं०, १६. २८; कासं०, १७. १३; मैसं०, २. ९. ५। यजुर्वेद में ही पुरुषमेध की बलियों की सूची में श्वनिन् (कुत्ते पालने वाले) को गिनाया गया है : वासं०, १६. २७; ३०. ७; तैब्रा०, ३. ४. ४. १ इत्यादि; तु०–श्व-नी=कुत्तों का नेता : मैसं०, २. ९. ५। चतुरक्ष श्वानों का उल्लेख कुछ स्थलों पर मिलता है : तु० ऋ० १०. १४. १०, ११; अवे०, १८. २. ११, १२; तैआ०, ६. ३. १; तैब्रा०, ३. ४. ८. १; शब्रा०, १३. १. २. ९ इत्यादि। इन्हें देवशास्त्रीय माना जा सकता है।[1]

श्व-पद्—अथर्ववेद ८. ५. ११. १९. ३९. ४ में श्वपद् शब्द वन्य पशु या शिकारी जानवर को जताता है।

श्वयथ—शतपथ ब्राह्मण ४. २. १. ११ में श्वयथ शब्द शोथ के अर्थ में आता है, जहाँ आँखों के शोथ का वर्णन है। संभवतः यह बौधायन श्रौत-सूत्र २. ५[2] के अनुसार शीयथु रोग हो, जिसे विदेह में प्रचलित कहा गया है।

श्व-वर्त—श्वानों में वर्तमान। अथर्ववेद की पाण्डु-लिपियों (९. ४. १६) में किसी विशेष जाति के जन्तु का नाम श्व-वर्त है। द्रष्टव्य–शवर्त।

श्वशुर—ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में श्वशुर शब्द का प्रयोग आम है। पहले इसका अर्थ "पत्नी का श्वशुर" (पति का पिता") था; पति का श्वशुर नहीं : ऋ० १०. २८. १; १०. ८५. ४६; १०. ९५. ४; अवे०, ८. ६. २४, १४. २. २६ इत्यादि। सूत्रयुग में इसका प्रयोग पति के श्वशुर के लिये भी प्रारम्भ हो गया : पारस्कर-गृह्यसूत्र, ३. १०. ४६। स्नुषा को श्वशुर के संमान का ध्यान रखना पड़ता था : ऋ० १०. ९५. ४; अवे०, ८. ६. २४; मैसं०, २. ४. २; कासं, १२. १२; ऐब्रा०, ३. २२. ७; अवे०, १४. २. २६। जब श्वशुर बूढ़ा हो जाता था, तब स्नुषा सम्राज्ञी बन जाती थी : ऋ० १०. ८५. ४६; द्रष्टव्य–**पति**। बहुवचन में यह शब्द श्वशुर एवं उसके भाइयों का बोध कराता है : ऋ० १०. ९५. १२; अवे०, १४. २. २७। बहुवचन में इसका प्रयोग संमान-सूचक माना जा सकता है, किंतु इससे बहुपतित्व की सूचना नहीं मिलती।

विवरण : डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्दस्शा-फ्तसनामन, ५१५, ५१६।

श्वश्रू—पति और पत्नी दोनों की श्वश्रू (सास) का उल्लेख मिलता है : ऋ० १०. ८५. ४६; अवे०, १४. २. २६; ऋ० १०. ३४. ३। श्वश्रू और श्वशुर यदि नियन्त्रण में असमर्थ हुए तो स्नुषा के प्राधान्य में आ जाने का उल्लेख मिलता है : ऋ० १०, ८५. ४६; किंतु हाथ पैर चलते अधिकार उन्हीं का रहता था : अवे०, १४. २. २६। जुआरी इस बात की शिकायत करता है कि उसके जुआ खेलने के कारण उसकी श्वश्रू ने उसके प्रति प्रेम का परित्याग कर दिया है : ऋ० १०. ३४. ३।

तु०–डेल्ब्रुक, वही, ५१६।

श्वाजनि—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ५. २ में श्वाजनि एक वैश्य का नाम है।

श्वा-पद—श्वपद् की भांति श्वापद भी कोई वन्य पशु या शिकारी जानवर है। इसका उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में आम आया है : ऋ० १०. १६. ६; अवे०, ११. १०. ८; शब्रा०, ५. ५. ४. १०, (जहाँ शार्दूल को श्वापदों में मुख्य कहा गया है) १२. २. ४. १६; बृउ०, १. ४. २९; शांआ०, १२. १६ इत्यादि।

श्वा-विध्—श्वान् को बेधने वाला, सेह। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में शल्य को श्वा-विध् कहा गया है। अथर्ववेद में इसे दीर्घ-कर्ण भी कहा गया है; द्र० अवे० ५. १३. ९; तैसं०, ५. ५. २०. १; मैसं०, ३. १४. १४; वासं०, २३. ५६; २४. ३३ इत्यादि।

तु०–त्सिमर, आले०, ८२।

द्रष्टव्य **शल्यक**।

श्विक्न—शतपथ ब्राह्मण में दो बार एक जाति का नाम श्विक्न आया है; उसके राजा **ऋषभ याज्ञतुर** का भी उल्लेख आता है; द्र० शब्रा०, १२. ८. ३. ७; १३. ५. ४. १५।

तु०–**श्वैक्न**। तु०–वेबर, इस्तू०, १. २०९, २१०।

१. श्वित्र—श्वेत। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में एक सर्प-विशेष का नाम श्वित्र है : अवे०, ३. २७. ६, (जहां पाठान्तर चित्र है,) ११. ४. ५. १३; तैसं०, ५. ५. १०. २; मैसं०, २. १३. २१ में चित्र है, जो गलत प्रतीत होता है; तु०–त्सिमर, आ० ले०, ९५; ह्विटनी, ट्रांअवे०, १३४; संभवतः वासं०, २४. ३९ में अश्वमेध की बलियों

---

[1] द्र०–ब्लूमफील्ड, ज० अ० ओ० सो०, १५. १६५ एवं आगे; हिम्स आफ दि अथर्ववेद, ५००; इनका मत है कि सूर्य के दो श्वान् सूर्य और चन्द्र हैं। तु०–**दिव्य श्वन्**।

तु०–त्सिमर, आ० ले०, २३३; हापकिन्स, अ० ज० फि०, १५. १५४–१६३।

[2] कालड, ऊबर दास रितुआल सूत्र देस बौधायन, ३५, ३६।

की सूची में यही अर्थ है; किंतु बोन्रू० में इसे पालतू घरेलू पशु माना गया है।

२. श्वित्र—पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ११. ११ में यह एक विशेषण है, जिसका अर्थ है, 'श्वेत कुष्ठ से आक्रान्त'।

श्वित्र्य—द्रष्टव्य श्वैत्रेय।

श्वेतकेतु आरुणेय औद्दालकि—अरुणा का वंशज, उद्दालक का पुत्र। शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक बार श्वेतकेतु आरुणेय औद्दालकि का उल्लेख आता है: शब्रा०, ३. ४. ३. १३; ४. २. ५. १४; ११. २. ७ १२; ११. ५. ४. १८; ११. ६. २. १; १२. २. १. ९; बृउ०, ३. ७-१; ६. १. १ माध्यंदिन=६. २. १ काण्व; छाउ०, ५. ३. १; ६. १. १; ६. ८. १। कौषीतकि उपनिषद् १. १ में वे आरुणि के पुत्र और गौतम कहे गये हैं। कौषीतकि ब्राह्मण २५. ६ में कौषीतकियों के कल्प में सदस्य या सत्रहवें ऋत्विज् के यज्ञ-त्रुटि के निरीक्षण-संबन्धी विवाद में उन्हें प्रामाणिक अधिकारी के रूप में बताया गया है। उनके पिता आरुणि का भी वहां उल्लेख आया है। वे किसी सीमा तक मौलिक विचारों के व्यक्ति थे; क्योंकि मधु का ग्रहण ब्रह्मचारी के लिए वर्जित होने पर भी वे उसे खाने पर आग्रह करते रहे: शब्रा०, ११. ५. ४. १८। वे पञ्चाल के राजा प्रवाहण जैवल के समकालीन थे, और उनसे उन्होंने शिक्षा भी ग्रहण की थी: बृउ०, ६. १. १, माध्यंदिन=६. २. १ काण्व; छाउ०, ५. ३. १। वे विदेह के राजा जनक के भी समकालीन थे और उनकी राज-सभा के आध्यात्मिक विचार-विमर्शों में उन्होंने भाग लिया था: शब्रा०, ११. ६. २. १। बृउ०, ३. ७ १ में उन्हें याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान के विवाद में पराजित बताया गया है। वे विदेह में कुछ ब्राह्मणों के साथ घूमते हुए आये थे, वहां बसे नहीं थे; वस्तुतः वे कुरु-पञ्चाल के निवासी थे। शांखायन श्रौतसूत्र १६. २७-६ में उनके संबन्ध में एक कथा आई है: जल-जातूकर्ण्य काशी, विदेह और कोशल इन तीनों प्रदेशों के पुरोहित थे। इसे देखकर श्वेतकेतु ने अपने पिता की आलोचना की कि उनके याज्ञिक ज्ञान से केवल दूसरे व्यक्ति लाभ उठाते एवं यशस्वी बन रहे हैं। उनके पिता ने उन्हें ऐसा कहने से मना किया और कहा कि उन्होंने यज्ञ की विद्या में प्रवीणता प्राप्त की है और उनके जीवन का लक्ष्य ही इस विषय में अन्य ब्राह्मणों से विमर्श करना है।

श्वेतकेतु के संबन्ध में सभी आख्यान वैदिक काल के अन्तिम भाग के हैं; अतः आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. २. ५. ४-६ का यह कथन आश्चर्यजनक नहीं है कि वे अवर काल के थे और अपनी विशेषता से ही उन्हों ने ऋषित्व प्राप्त किया था। किंतु उनका काल बहुत अधिक बाद का नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है और शतपथ ब्राह्मण पाणिनि के समय में भी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था; अतः ५०० ई० पूर्व ही उनके काल की बहुत बाद की सीमा हो सकती है; अर्थात् ५०० ई० पूर्व के बाद हम उनका काल नहीं मान सकते; वह इससे भी प्राचीन हो[1] सकते हैं।

१. **श्वेत्या**—नदी-सूक्त १०. ७५. ६ में यह एक नदी है; संभवतः यह सिन्धु की सहायक है।

विवरण: त्सिमर, आ० ले०, १४. १५; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २०० इन्होंने "श्वेती" शब्द माना है। गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १८४ में दोनों रूप हैं।

२. **श्वेत्या**—निघण्टु १. ८ में उषा के पर्यायों में इसका पाठ आया है। ऋग्वेद १. ११३. २ में इस अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।

श्वैक्न—श्विक्नों का राजा। शतपथ ब्राह्मण २. ४. ३. ३ में प्रतिदर्श की उपाधि श्वैक्न है। इन्होंने दाक्षायण यज्ञ किया था। उन्होंने सुप्लन् सार्ञ्जय को भी उस यज्ञ की शिक्षा दी थी; अतः वेबर ने श्विक्नों और सृञ्जयों के बीच संबन्ध माना है: इस्तू०, १ २०९, २१०।

श्वैत्रेय—ऋग्वेद १. ३३. १४; ५. १९. ३ में श्वैत्रेय शब्द आता है। सायण ने इसे श्वित्र के वंशज किसी व्यक्ति का नाम माना है। इनमें से प्रथम स्थल ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल ६. २६. ४ से अभिन्न है, जहाँ दश-द्यु शब्द श्वैत्रेय से रहित होकर आया है। लुड्विग ने (=श्वित्री के पुत्र=) की दश-द्यु से अभिन्नता मानी है (ट्रां० ऋ०, ३. १४७); और उन्हें कुत्स का पुत्र माना है; तु०—ऋ० १. ५१. ६; ६. २६. ३. ४। बेर्गेन्य[2] और बाउनाक[3] ने उन्हें भुज्यु माना है। गेल्डनर[4] का

[1] द्र०—ब्यूहलर, सेबुई०, २. ३७ एवं आगे; एगलिंग, सेबुई०, १२. ३५ एवं आगे; मैक्समूलर, ऐंशियंट संस्कृत लिटरेचर, ३६० एवं अग्रिम; वेबर, वैस्तू०, ५. ६५; १३. ४४३; कीथ, ऐतरेय आरण्यक, २२

विवरण: म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, १², ४३३; मैक्समूलर, ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४२१ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९७. टि०।

[2] रिलिगियों वैदिक, ३. ११।

[3] कुह्न का त्सा०, ३५, ५२७।

[4] ऋग्वेद ग्लासर, ७. ८।

विचार है कि श्वैत्रेय श्वित्रा गौ का पुत्र एक वृषभ है; तु०—श्वैतरी, ऋ० ४. ३३. १; किंतु यह चिन्त्य है; भले ही एक स्थान पर श्वैत्रेय एक वृषभ से संबद्ध है।[1] श्वित्र्य का भी वही अर्थ प्रतीत होता है जो श्वैत्रेय का है : ऋ० १. ३३. १५।[2]

षट्-पाद्—'अग्निः षट्पादस्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः' गोब्रा० १. २. ९।

षड्ढोता—'तस्मै (ब्रह्मणे) षष्ठं हूतः प्रत्यशृणोत्। स षड्ढूतोऽभवत्। षड्ढूतो ह वै नामैषः। तं वा एतं षड्ढूतं सन्तं षड्ढोतेत्याचक्षते परोक्षेण' तैब्रा० २. ३. ११. २–३; 'धाता षड्ढोता' तैब्रा० २. ३. १. १; 'धाता षड्ढोतॄणां होता' तैब्रा० २. ३. ७. ७।

षण्ड—पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १५. ३ में वर्णित **नागोत्सव** के एक पुरोहित का नाम षण्ड है।

तु०—वेबर, इस्टू० १. ३५।

षण्डिक—मैत्रायणी संहिता १. ४. १२ में षण्डिक को **केशिन्** का समकालीन माना गया है। संभवतः उचित पाठ खण्डिक रहा हो।

षष्ठमहः—तु० 'देवायतनं वै षष्ठमहः' कौब्रा० २३. ५; 'स्वर्गो वै लोकः षष्ठमहः' ऐब्रा० ६. २६; 'देवक्षेत्रं वै षष्ठमहः' गोब्रा० २. ६. १०; 'प्राजापत्यं वै षष्ठमहः' कौब्रा० २३. ८; 'पुरुष एव षष्ठमहः' कौब्रा० २३. ४; 'सर्वरूपं वै षष्ठमहः' कौब्रा० २१. ४. 'अन्तः षष्ठमहः' कौब्रा० २३. ७।

षोडश कलाः—'षोडशकलं वै ब्रह्म' जैउब्रा० ३. ३८. ८; 'सच्चासच्चासच्च सच्च वाक् च मनश्च वाक् च चक्षुश्च श्रोत्रं च श्रोत्रं च चक्षुश्च श्रद्धा च तपश्च तपश्च श्रद्धा च तानि षोडश षोडशकलं ब्रह्म' जैउब्रा० ४. २५. १–२ 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः' शब्रा० १४. ४. ३. २२; 'स (प्रजापतिः) षोडशधात्मानं व्यकुरुत भद्रं च समाप्तिश्चाभूतिश्च संभूतिश्च भूतं च सर्वं च रूपं चापरिमितं च श्रीश्च यशश्च नाम चाग्रं च सजाताश्च पयश्च महीया च रसश्च' जैउब्रा० १. ४६. २; 'षोडशकलो वै चन्द्रमाः' षब्रा० ४. ६; 'षोडशकलो वै पुरुषः' शब्रा० ११. १. ६. ३६; 'यो वै कला मनुष्याणामक्षरं तद् देवानाम्। तद् वै लोमेति द्वे अक्षरे त्वगिति द्वे असृगिति द्वे मेद इति द्वे मांसमिति द्वे स्नावेति द्वे अस्थीति द्वे मज्जेति द्वे ताः षोडशकला अथ य एतदन्तरेण प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः' शब्रा० १०. ४. १. १७; 'षोडशकला वै पशवः' शब्रा० १२. ८. ३. १३।

[1] द्र०—कीथ, ज० रा० ए० सो०, १९१०, ९३५।

[2] जहाँ राथ ने वोबू० में श्वित्री का द्वितीया का रूप श्वित्र्यम् माना है।

स

सं-रुध और सं-लिखित—अथर्ववेद ७. ५०. ५ में इन दोनों का अक्ष-क्रीडा के प्रसङ्ग में उल्लेख आया है; अर्थ अनिश्चित है।

सं-वत्सर—संवत्सर (=वर्ष) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में आम है : ऋ० १. ११०. ४; १. १४०. २; १. १६१. १३; ७. १०३. १, ७ इत्यादि; अवे०, १. ३५. ४; २. ६. १; ३. १०. २; ४. ३५. ४; ६. ३३. ३, इत्यादि।

संहिताओं और ब्राह्मणों के आधार पर संवत्सर में ३६० दिन बनते हैं, जो १२ महीनों में बँटते हैं। निःसंदेह यह **चान्द्र** वर्ष का विभाजन है, जिससे संवत्सर ६ दिन अधिक का बनता है; द्र०—**मास**। **सौर** वर्ष का सर्व-प्रथम उल्लेख सामवेद के निदान-सूत्र ५. १२. २. ५ में आता है, जहाँ कहा गया है कि २७ नक्षत्रों में से प्रत्येक में सूर्य १३$\frac{1}{3}$ दिन ठहरता है।[1]

नक्षत्र या क्रान्ति-वृत्त से संबद्ध **सौर** वर्ष के साथ संवत्सर के ठीक न बैठने के कारण इस बात के लिये प्रयास किये गए हैं कि प्राकृतिक एवं स्वीकृत वर्षों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। हम देख चुके हैं (द्र० **मास**) कि ब्राह्मण-काल में **अधिमास** के उभरने का साक्ष्य नगण्य मिलता है; फिर भी ५ या ६ वर्ष पर एक **अधिमास** की सत्ता वहाँ स्वीकृत मानी जा सकती है।

त्सिमर[2] का कहना है कि वर्षों के जिस चक्र का उल्लेख मिलता है, उससे **अधिमास** की पुष्टि होती है। पाँच वर्षों की गणना इस प्रकार है; **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर** और **वत्सर** : वासं०, २७. ४५; **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर,** और **वत्सर** : तैसं०, ५. ५. ७. ३, ४; **संवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर** और **वत्सर** : तैब्रा०, ३. १०. ४. १; **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर,** और **उद्वत्सर** : कासं०, १३. ५; ३९. ६; ४०. ६; अथवा **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, इद्वत्सर** : गर्ग, ज्योतिष-भाष्य, १० में उद्धृत। किंतु यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इन नामों की विभिन्नता या भिन्नक्रमता के

[1] द्र०—वेबर, नक्षत्र, २. २८४।

[2] आ० ले०, ३६९, ३७, तु०—वोबू०।

साथ-साथ उनकी संख्या में भी अन्तर है। पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १३. १७ और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४. १०. १ में केवल चार का ही उल्लेख है : **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर**,। अथर्ववेद ६. ५५. ३ में तीन ही का उल्लेख है : **इदावत्सर, परिवत्सर, संवत्सर**,। तैत्तिरीय संहिता ५. ७. २. ४ में भी केवल तीन ही का उल्लेख है : **इदुवत्सर, परिवत्सर, संवत्सर**,। अवे०, ८. ८. २३ और तैआ० १०. ८० में केवल **संवत्सर, परिवत्सर** का उल्लेख है। किंतु कुछ अन्य ग्रन्थों में ६ वर्ष गिनाए गए हैं, जैसे कि वाजसनेयि संहिता ३०. १५ में **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, वत्सर, संवत्सर**। तैत्तिरीय आरण्यक ४. १९. १ में उनके नाम इस प्रकार हैं: **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर, वत्सर**। इनमें कहीं भी **अधिमास** की कल्पना का संकेत नहीं उभरता। संभवतः यहाँ हमें वत्सर के पौरोहित्यिक कल्पना-जात विभेद मिलते हैं, जिनका आधार सामान्य वत्सर के प्राचीन **संवत्सर** और **परिवत्सर** ये दो विभेद हो सकते हैं। इन विभिन्न सीरियों के रहस्य की कुंजी हमें पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १३. १७ में मिल जाती है, जहाँ बहुविध **चातुर्मास्य** यज्ञों को विभिन्न वर्षों में करने का विधान आता है।[1] त्सिमर की ३५४ दिनों के दो वर्षों के चक्र की मान्यता का, जिसमें प्रति दूसरे वर्ष एक **अधिमास** रहता है, परवर्ती सूत्रों से पहले के किसी भी साक्ष्य से समर्थन नही हो पाता।

त्सिमर ने ऋग्वेद ४. ३३. ७ (तु०—१. ११०. २; १. १६१. १३) में उल्लिखित **ऋभुओं** के १२ दिन तक अगोह्य के घर में आराम करने में भी **अधिमास** का संकेत ढूंढने का यत्न किया है[2]। त्सिमर का यह भी कहना है कि इन १२ दिनों को **चान्द्र** वर्ष के ३५४ एवं **सौरवर्ष** के ३६६ दिनों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए शरद् ऋतु में जोड़ दिया जाता था। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि क्योंकि जर्मनी में १२ रात्रियों को प्राचीन माना गया है इसलिये १२ दिन वाली प्रवृत्ति आर्य-जर्मन काल की है[3]। किंतु यह मत चिन्त्य है; और ये १२ दिन "संवत्सर की प्रतिमा" हैं, जो १२ मासों के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं; काल-विभाग से उनका कोई संबन्ध नहीं है; द्र०—कासं०, ७. १५; तैब्रा०, १. १. ९. १०; कौब्रा० २५. १५; अवे०, ४. ११. ११[1]।

शामशास्त्री ने (गवामयन, १३७, १३७) ने बौधायन श्रौतसूत्र (२. १२; ३. १; २६. १८; २०. ३; द्र०—कौब्रा०, १. ३; शब्रा०, ११. १. १. ७) के कतिपय समय-संबन्धी विवरणों में चक्र के पाँचवें वर्ष केवल संवत्सर के ही संकेत से कुछ निष्कर्ष निकाले हैं, जो कि चिन्त्य हैं[2]। तिलक[3] का मत है कि ऋग्वेद (२. १२. ११ "चत्वारिंश्यां शरदि") और अथर्ववेद (१२. ३. ३४ "षष्ट्यां शरत्सु") में ऋतु एवं दिन के आधार पर तिथि-गणना का उल्लेख है।

ब्राह्मणों में संवत्सर: 'स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत् संवत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति' शब्रा०, ११. १. ६. १२; 'यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः' शब्रा०, ६. १. ३. ८; 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' शब्रा०, २. ३. ३. १८; 'संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः' शब्रा०, १०. २. ६. १; 'संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः' शब्रा०, १. २. ५. १२; 'संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतद् द्वारं यदमावास्या चन्द्रमा एव द्वार-पिधानः' शब्रा०, ११. १. १. १; 'संवत्सर-संश्रितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति' शब्रा०, ३. १. ४. ५; 'संवत्सरो वै पञ्च-होता' तैब्रा०, २. २. ३. ६; 'संवत्सरो वाव होता' गोब्रा०, २. ६. ६; 'संवत्सरो वै धाता' तैब्रा०, १. ७. २. १; 'पुरुषो वै संवत्सरः' शब्रा०, १२. २. ४. १; 'प्राणो वै संवत्सरः' तांब्रा०, ५. १०. ३; 'वाक् संवत्सरः' तांब्रा०, १०. १२. ७; 'संवत्सर एव साम' जैउब्रा०, १. ३५. १; 'अग्निः संवत्सरः' तांब्रा०, १७. १३. १७; 'संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः' तैब्रा०, १. ७. २. ५; 'संवत्सरो वै वैश्वानरः' शब्रा०, ४. २. ४. ४; 'संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः' शब्रा०, १. ५. १. १६; 'संवत्सरो वै सोमो

---

[1] तु० वेबर, इं० स्त्राइफन, १. ९१; थिबो, ऐस्ट्रोनमी, एस्ट्रोलगी उन्द माथामाटीक, १२; हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, २४, ४२।

[2] द्र०—आले०, ३६६, ३६७; तिलक, ओरायन, १६ एवं अग्रिम; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, ३. १४५; मैकडानल, वैमि०, पृष्ठ १३३; ओल्डेनबर्ग, रिलिगियों देस वेद, २३६।

[3] द्र०—वेबर, इस्तू०, १०. २४२ एवं आगे; १७. २२३. २२४; १८. ४५, ४६; प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडेमी, १८९४, ८०९; थिबो, उपर्युक्त १०; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज, ३०, ३१०; ह्विटनी, जअओसो०, १६. ९४।

[1] वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता, ३८८।

[2] द्र०—कालण्ड, ऊबर दास रितुआलसूत्र देस बौधायन, ३६, ३७।

[3] आर्कटिक होम इन दि वेदाज, २८०—२८८।

राजा' कौब्रा०, ७. १०; 'संवत्सरो वै सोमः पितृमान्' तैब्रा०, १. ६. ८. २; 'संवत्सरो वा इन्द्राशुनासीरः' तैब्रा०, १. ७. १. १; 'स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्यः' शब्रा०, १०. २. ४. ३;, 'एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः। एष हि-मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोत्यथ म्रियन्ते' शब्रा०, १०. ४. ३. १; 'संवत्सरो विश्वकर्मा' ऐब्रा०, ४. २२; 'संवत्सरो वरुणः' शब्रा०, ४. ४. ५. १८; 'व्योमा हि संवत्सरः' शब्रा०, ८. ४. १. ११; 'सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै नामैतद् यत् सुमेक इति' शब्रा०, १. ७. २. २६; 'संवत्सरो वै समस्तः सहस्रवान्स्तोकवान् पुष्टिमान्' ऐब्रा०, २. ४१; 'संवत्सरो वै परिक्षित्, संवत्सरो हीमाः प्रजा : परिक्षेति, संवत्सरं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति' ऐब्रा०, ६. ३२; 'संवत्सरो वज्रः' शब्रा०, ३. ६. ४. १९; 'संवत्सरो यजमानः' शब्रा०, ११. २. ७. ३२; 'संवत्सरो वै देवानां जन्म' शब्रा०, ८. ७. ३. २१; 'संवत्सरः खलु वै देवानां पूः' तैब्रा०, १. ७. ७. ५; 'तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारं तं वा एतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते' शब्रा०, १. ६. १. १९; 'मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः' शब्रा०, ६. ७. ४. ११; 'संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मै च नाकं भवति' शब्रा०, ८. ४. १. २४; 'संवत्सरो वै देवानां गृहपतिः' तांब्रा०, १०. ३. ६; 'एकं वा एतद् देवानामहः। यत्संवत्सरः' तैब्रा०, ३. ९. २२. १; 'इम उ लोकाः संवत्सरः' शब्रा०, ८. २. १. १७; 'सर्वं वै संवत्सरः' शब्रा०, १. ६. १. १९; 'ऋतवः संवत्सरः' तैब्रा०, ३. ९. ९. १; 'ऋषभो वा एष ऋतूनां यत्संवत्सरः। तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपम्' तैब्रा० ३. ८. ३. ३; 'त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य' शब्रा०, ३. ४. ४. १७; 'त्रेधा विहितो वै संवत्सरः' कौब्रा०, १९. ३; 'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य' शब्रा०, १. ५. २. १६; 'षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य' शब्रा०, १. २. ५. १२; 'सप्तर्तवः संवत्सरः' शब्रा०, ९. ६. १. १४; 'द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः' शब्रा०, २. २. ३. २७; 'संवरत्सस्य प्रतिमा वै द्वादश रात्रयः' तैब्रा० १. १. ६. ७; 'एतावान् वै संवत्सरो यदेष त्रयोदशो मासस्तदत्रैव सर्वः संवत्सर आप्तो भवति' कौब्रा०, १९. २; 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः' शब्रा०, १४. ४. ३. २२; 'संवत्सरः सप्तदशः' तांब्रा०, ६. २. २; 'सप्तदशो वै संवत्सरो द्वादश मासाः पञ्चर्तवः' शब्रा०, ६. २. २. ८; 'सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन तावान्त्संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः' ऐब्रा०, १. १; 'संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशः तस्य मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद् यत्तमाह प्रतूर्तिरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति' शब्रा०, ८. ४. १. १३; 'संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षड् ऋतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद् यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति' शब्रा०, ८. ४. १. १४; 'संवत्सरो वाव वर्चो द्वाविंशः तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव वर्चो द्वाविंशस्तद् यत् तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमः' शब्रा०, ८. ४. १. १६; 'संवत्सरो वाव संभरणस्त्रयोविंश : तस्य त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव संभरणस्त्रयोविंशस्तद् यत्तमाह संभरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि संभृतः' शब्रा०, ८. ४. १.१७; 'चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः' ८. ४; 'संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पञ्चविंशः' शब्रा०, ८. ४. १. १९; 'संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः षड् ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशस्तद् यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा' शब्रा०, ८. ४. १. २२; 'संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः' शब्रा०, ८. ४. १. २३; 'संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशः षड्विंशतिरर्धमासाः स त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद् यत् तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते' शब्रा०, ८. ४. १. २५; 'त्रीणि वै षष्टिशतानि संवत्सरस्याह्नाम्' कौब्रा० ११. ७; 'एतावान् वै संवत्सरो यदहोरात्रे' कौब्रा०, १७. ५; 'यस्मादेषा समाना सती षडहविभक्तिर्नानारूपा तस्माद् विरूपः संवत्सरः' तांब्रा०, १०. ६. ६; 'षडहो वा उ सर्वः संवत्सरः' कौब्रा०, १९. १०; 'एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका' तांब्रा०, ५. ९. २; 'मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी' कौब्रा०, ४. ४; 'मुखं (संवत्सरस्य) उत्तरे फल्गुन्यौ पुच्छं पूर्वे' गोब्रा०, २. १. १९; 'एषा ह वा संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत् फाल्गुनी पौर्णमासी' शब्रा०, ६. २. १८; 'एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य यदुत्तरे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ९; 'एषा वै जघन्या रात्रिः संवत्सरस्य यत् पूर्वे फल्गुनी' तैब्रा०, १. १. २. ९; 'आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद् विषुवान्' तांब्रा०, ४. ७. १; 'आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि पक्षौ' गोब्रा०, १. ४. १८; 'आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासाः' शब्रा०, १२. २. ३. ६; 'अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षोऽथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्' शब्रा०, १२. २.

३. ७; 'संवत्सरो वै व्रतं तस्य वसन्त ऋतुर्मुखं ग्रीष्मश्च वर्षाश्च पक्षौ शरन्मध्यं हेमन्तः पुच्छम्' तांब्रा०, २१. १५. २; 'संवत्सरे संवत्सरे वै रेतः सिक्तं जायते' ऐब्रा०, ४. १४; 'संवत्सरो वै प्रजननम्' गोब्रा०, १. २. १५; 'संवत्सरं हि प्रजाः पशवोऽनु प्रजायन्ते' तांब्रा०, १०. १. ९; 'तस्मादु संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते' शब्रा०, ११. १. ६. २; 'संवत्सर एव कुमारो व्याजिहीर्षति' शब्रा०, ११. १. ६. ३; 'तस्मात् संवत्सर-वेलायां प्रजाः (शिशवः) वाचं प्रवदन्ति' शब्रा०, ७. ४. २. ३८; 'चक्षुर्वा एतत् संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासः' तांब्रा०, ५. ९. ११; 'प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रंसुः स एव संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः संधी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि' शब्रा०, १. ६. ३. ३५; 'संवत्सरः सर्वे कामाः' शब्रा०, १०. २. ४. १; 'संवत्सरो वै सर्वस्य शान्तिः' तांब्रा०, ९. ८. १३;

सं-वरण—ऋग्वेद ५. ३३. १० में एक ऋषि का नाम संवरण है।

तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे; ४२. ४१५।

संवर्ग-जित् लामकायन—वंश ब्राह्मण (१) में **शाकदास** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

इस्तू०, ४. ३७३।

१. सं-वर्त—ऋग्वेद ८. ५४. २ में **कृश** के साथ संवर्त नाम आया है। ये एक प्राचीन यज्ञ-कर्ता थे। वे संभवतः कृश ही हैं।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १४१. १६४।

२. संवर्त आङ्गिरस—**अङ्गिरस्** का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. १२ में **मरुत्त** के अभिषेक-कर्ता का नाम संवर्त आङ्गिरस है।

तु०—लियोमान, त्सादामौगे; ४८. ६७।

संशानानि—सामविशेष। 'एतैर्वै सामभिर्देवा इन्द्रमिन्द्रियेण वीर्येण समश्यन्' गोब्रा० २. ५. ७.

सं-श्रवस् सौवर्चनस—एक आचार्य का नाम सं-श्रवस् सौवर्चनस है। तैत्तिरीय संहिता १. ७. २. १ के अनुसार इन्होंने **तुमिञ्ज** से एक यज्ञ-कल्प के संबन्ध में विचार किया था।

सं-श्रावयितृ—कौषीतकि उपनिषद् २. १ में एक अनुचर के लिये, जो आने वालों की सूचना देता है, संश्रावयितृ आया है। द्वारपाल ?

संश्लिष्टका[1] **या संश्लिष्टिका**[2]—जैमिनीय ब्राह्मण और शाट्यायनक में गोधा के साथ एक जानवर के लिये यह आया है।

सं-सर्प—द्रष्टव्य **मास**।

सं-सृप—देवता एवं हविर्विशेष। 'वरुणस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्। तत् संसृद्भिरनु समसर्पन्। तत् संसृपां संसृप्त्वम्' तैब्रा० १. ८. १. १;

सं-स्कन्ध—'संहत कंधों वाला'। अथर्ववेद १९. ३४. ५ में **विष्कन्ध** के शाथ एक रोग का नाम है। ह्विटनी के अनुसार यह विशेषण है, और '**विष्कन्ध** रोग को दूर करने वाली' औषध का व्यापक है।[1]

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ६५. ३९१; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, २८३।

संस्कृतत्र—संस्कृतत्र शब्द विशसनादि के स्थान का व्यापक है: ऋ० ६. २८. ४; अवे०, ४. २१. ४।

संहित—साम-विशेष। 'तद् देवाः 'संहितेन समदघुर्यंत् समदघुस्तस्मान् संहितम्' तांब्रा० ८. ४. ९; 'संहितं भवति द्वयक्षरणिधनं प्रतिष्ठायै' तांब्रा० १५. ११. १।

सं-होत्र—ऋग्वेद १०. ८६. १० में संहोत्र शब्द (गेल्डनर, वैस्तू० २. ३८) किसी याज्ञिक शाखा का बोधक है।

सक्तु—परिवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में सक्तु शब्द सत्तू, विशेषतः "जौ के सत्तू" का वाचक है: तैसं०, ६. ४. १०. ६; वासं०, १९. २१ एवं आगे; शब्रा०, १. ६. ३. १६; ९. १. १. ८।

तु० **गवेधुका**: कासं०, १५. २।

तु०—**अपामार्ग**; **कुवल**, **कर्कन्धु**, **बदर** शब्रा०, ५. ५. ४. २२ इत्यादि। ऋग्वेद में केवल एक बार १०. ७१. २ में यह शब्द आया है, जहां तितउ (चलनी) से छानने के संबन्ध में इसका जिक्र आया है।

तु० 'देवानां वा एतद् रूपं यत् सक्तवः' शब्रा० १३. २. १. ३; 'प्रजापतेर्वा एतद् रूपं यत् सक्तवः' तैब्रा० ३. ८. १४. ५।

तु०—त्सिमर, आले०, २३८।

सखि—मित्र। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह मित्र के लिये आता है: ऋ० १. १६४. २०; ३. ४३. ४; ३. १. ९; ५. १२. ५; ६. ७५. ३; अवे०, ५. ४. ७; ५. ११. ९; ५. १३. ५ इत्यादि; **सखित्व** और **सख्य**: ऋ० १. १०. ६; ३. १. १५; ४. २५. २ इत्यादि; ऋ० १. १७८. २; २. १८. ८; ७. २२. ९ इत्यादि।

[1] शाट्यायनक सायण-भाष्य, ऋ० ८. ९१ पर उद्धृत।

[2] जैब्रा०, १. २२१; जअओसो०, १८. २९।

[1] द्र०—ट्रां० अ० वे०, ९५२।

सघन्—तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में किसी पक्षी, संभवतः गृध्र या चील के लिये आया है : तैसं०, ३. २. १. १; तैब्रा०, १. ८. ६. १; त्सिमर, आ० ले०, ८८।

संकल्प—निश्चय के अर्थ में संकल्प शब्द ऋग्वेद-काल (ऋ० १०. १६४. ५) से ही आम है। यजुर्वेद में मन को शुभ संकल्प-युक्त बनाने के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं। वाजसनेयि संहिता के छः मन्त्रों (३४. १–६) में आता है : तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

संग-प्रयोगि—मैत्रायणी संहिता ३. १. ९ में एक आचार्य का नाम संग-प्रयोगि है।

सं-गति—ऋग्वेद १०. १४१. ४ में संगति शब्द समिति (=सम्–इ–ति=सभा) के अर्थ में आया प्रतीत होता है।

सं-गव—संगव वह काल है, जब चर चुकने के बाद दुहने के लिये गौएँ लाई जाती हैं। दिन के विभाजन में यह समय दोपहर से पहले (=पूर्वाह्ण) है। तु० **गो, अहन्**। द्रष्टव्य : ऋ० ५. ७६. ३; अवे०, ९. ६. ४६; मैसं०, ४. २. ११; तैब्रा०, १. ४. ९. २; १. ५. ३. १; २. १. १. ३; शब्रा०, १. १२। विवरण : गेल्डनर, वैस्तू०, ३. ११२ एवं आगे।

सं-गविनी—ऐतरेय ब्राह्मण ३. १८. १४ में संगविनी शब्द आया है। वहाँ कहा गया है कि **भरतों** की गौएँ संध्या को **गोष्ठ**=घेर में रहती थीं; किंतु दोपहर के समय वे संगविनी में रहती थीं। स्पष्टतः संगविनी शब्द यहाँ छायादार गोहर के बाग आदि को जताता है, जहाँ दोपहर के समय गौएँ आराम करती थीं।

तु० गेल्डनर, वैस्तू० ३. ११२, ११३; त्सिमर, आ० ले०, ३६२।

संग्रहीतृ—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में संग्रहीतृ शब्द आता है : तैसं०, १. ८. ९, २; कासं०, १५. ४; मैसं०, २. ६. ५; ४. ३. ८। यहाँ यह शब्द राजा के **रत्नियों** में से किसी एक अधिकारी का बोधक है। शतरुद्रीय मन्त्रों में भी संग्रहीतृ शब्द मिलता है : तैसं०, ५. ५. ४. २; कासं०, १७. १३; मैसं०, २. ९. ४; वासं० १६. २६.। सारथि यह अर्थ सभी स्थलों पर ठीक बैठ जाता है, किंतु सायण ने कुछ स्थानों पर इसका अर्थ राजा का **कोषाध्यक्ष** किया है : तैसं०, १. ८. ९. २; तु०–१. ८. १६; किंतु सारथि : १. ८. १५; तैब्रा०, १. ७. १०.६।

द्र०–तैब्रा०, १. ७. ३. ५, १. ७. ९. ६, ३. ८. ५. ३, ऐब्रा०, २. २५. ६, शब्रा०, ५. ३. १. ८, ५. ४. ३. २३।

तु०–एगलिंग, सेबुई०, ४१. ६३ टि०–१।

सं-ग्राम—संग्राम शब्द का मौलिक अर्थ 'जमघट' प्रतीत होता है, जो शान्ति और युद्ध दोनों के समय संभव है। शान्ति-कालीन 'जमघट' के अर्थ में इसका प्रयोग अथर्ववेद १२. १. ५६ में सुरक्षित है। युद्ध के अर्थ में तो यह सभी ग्रन्थों में आम मिलता है : अवे० ४. २४. ७; तैसं० ४. ७. १५. २; मैसं० ३. १६. ५ आदि।

वैदिक युद्ध का विशेष ब्यौरा तो नहीं मिलता; फिर भी कहा जा सकता है कि वह बाद के भारतीय युद्धों जैसा ही रहा होगा। **पदाती** सिपाहियों के साथ कुछ **रथी** रहते थे; दोनों की मिलकर **सेना** कहाती थी। रथ में प्रायः दो व्यक्ति रहते थे : ऋ० २. १२. ८। पदातियों को रथी धावा वोलते समय पीछे छोड़ देते थे : अवे० ७. ६२. १०।

तु० **मुष्टि-हन्**। फौज संभवतः क्षत्रियों की होती थी। **पदाती** सिपाही छोटा कवच पहरते थे और लड़ाई में धनुष् से काम लेते थे, जैसा कि हेरोडोटस के उस विवरण से ज्ञात होता है, जिसके अनुसार यर्क्सीज़ ने भारतीय सिपाहियों को साथ लेकर ग्रीक फौजों पर धावा बोला था। सामन्त लोग युद्ध-यात्रा के समय **वर्म**, शिरस्त्राण (=शिप्रा) और हाथों पर दस्ताने (=हस्तघ्न) भी चढ़ा लेते थे। रथ पर **सारथि** और उसके वामभाग में योद्धा (=सव्येष्ठा) रहता था। घुड़सवारी का युद्ध के समय ज़िक्र नहीं मिलता है; और यह उस समय के युद्धों के लिये उपयुक्त[1] भी नहीं बैठती थी; क्योंकि मुख्य आयुध तो धनुष् था, और घोड़े पर चढ़कर धनुष का चलाना दुःसाध्य था। भाला, तलवार और फरसे का प्रयोग तो कदाचित् ही होता था। द्र० **आयुध**।

इस बात में संदेह है कि क्या सेना का संघटन जात-पाँत[2] पर आधृत था, जैसा कि होमर की रचनाओं में ज़िक्र आता है, और जैसा कि टैसीटस ने जर्मनी की सैन्य-व्यवस्था के बारे में बताया है; (=**ज्ञाति**) द्र० **व्रात**; किंतु आर्षकाव्य में संबन्धी लोग आपस में भिड़ते बताये जाते हैं; और हो सकता है कि वैदिक काल में भी[3] ऐसा ही होता रहा हो।

दुर्गों का **उपसादन** एवं **प्रभेदन** घेरा डाल कर किया जाता था :[4] तैसं० ६. २. ३. १; शब्रा० ३. ४. ४. ३–५; गोब्रा० २. २. ७। धावा बोलने के साधन अपर्याप्त थे; और ये लम्बे काल तक काम में नहीं लाये जा सकते

१ त्सिमर, आले० २९; ह्विटनी, जअओसो० ३. ३१२।
२ जअओसो० २. ३६२; जर्मानिया ७.
३ हाप्‌किन्स, जअओसो० १३. १९३.
४ हिलेब्राण्ड्ट, वैमि० १. ३०० नोट

थे। हिलेब्राण्ड्ट[1] के मत में ऋ० ८. १. २–४ में आया 'पुर् चरिष्णू' एक प्रकार का रथ था, जो कि रोमन सैनिकों के किलों पर आक्रमण करने के साधन ट्रोजान अश्व (Siege-engine[2] लकड़ी का एक ढाँचा, जिस पर घोड़े की खाल मढी होती थी) का भारतीय पूर्वरूप था।

सुरक्षा एवं विजय—युद्धों के साथ-साथ पड़ौसी इलाकों पर धावे सामान्य थे; इनके द्वारा प्राप्त किया धन **उदाज** और **नीराज** कहाता था। राजा के साथ-साथ अन्य लोगों का हिस्सा भी होता था : ऋ. १०. १४२. ४ तु० ऋ० १०. १४२. ४।[3]

ध्वजाओं का प्रयोग होता था; और **दुन्दुभि**, **बकुर** आदि बाजे बजाये जाते थे।[4]

सं-गाथ—कुछ स्थलों पर संगाथ शब्द युद्ध के अर्थ में आया प्रतीत होता है : कासं० २९. १; वासं०, १६; शब्रा०. १. १. ४. १८।

सं-घात—कुछ स्थलों पर संघात शब्द युद्ध के अर्थ में आया प्रतीत होता है : कासं०, २९. १. १६; शब्रा०, १. १. ४. १८।

सचिव—साथी या अनुचर; सच् 'अनुगमन करना'। ऐतरेय ब्राह्मण ३. २०. १ में राजा के साथी मन्त्री को सचिव कहा गया है। यहाँ **इन्द्र** के सचिव मरुतों का उल्लेख आया है। यह शब्द जर्मन "कोम्स" (Comes) एवं अंग्रेजी गेसिथ (Gesith) का समकक्ष प्रतीत होता है। द्र०—स्टब्स, सिलेक्ट चार्टर्स, ५७।

[1] उपर्युक्त, ३. २८९. टि०

[2] रॉबर्ट ग्रीव्स, दि सीज ऐण्ड फाल ऑफ ट्रॉय, भूमिका, पृष्ठ १.

[3] सायण के आधार पर हिल्लेब्राण्ड्ट, उपर्युक्त, २. ६४. टि० ५; तैब्रा०, १. ८. ४, १।

[4] इसी प्रकार बाद में भी; द्र०—एरियन, इण्डिका, ७. ९; प्रत्येक पक्ष का **क्रन्दस्** : ऋ० २. १२. ८; तु०— ६. २५. ६; १०. १२१. ६, जिसका अर्थ बाद में क्रन्दनकारी शत्रु हुआ; तु०—टैसिटस, जर्मानिया, २।

तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. ४६९-४७२; वेबर, प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडमी, १८९८, ५६४; त्सिमर, आ० ले० २९३. ३०१; द्र०—**इषुधन्वन्** और **रथ** : हापकिन्स, जअओसो० १३. २८१; इन्होंने परवर्ती आर्षकाव्य-कालीन युद्ध-विधि का निदर्शन किया है; तु० इनका नोट, वही, १५. २६५, २६६; युद्ध के समय यज्ञ के प्रसङ्ग में। तु०—**पुरोहित**।

स-जात—साथ उत्पन्न। ऋग्वेद १. १०९. १ में और परवर्ती साहित्य में अनेक बार यह शब्द आया है : अवे०, १. ९. ३; १. १९. ३; २. ६. ४; ३. ३. ६; ६. ५. २; ६. ७३. १; ११. १. ६, ७; तैसं०, २. १. ३. २; २. २. १. २; २. ६. ९. ७; मैसं०, २. १. ८; कासं०, ११. १२, १३; १२. १; वासं०, ५. २३; १०: २९; २७. ५। इस शब्द का प्रारम्भिक अर्थ "संबन्धी" प्रतीत होता है। बाद में विस्तृत होकर इसका अर्थ 'एक ही पद या ओहदे' के लोग यह हो गया है; किंतु दोनों अर्थ एक दूसरे से इतने घुलमिल गये हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना कठिन है। अथर्ववेद में राजा के सजातों का जहाँ उल्लेख आया है, वहाँ तात्पर्य राजकुमारों से है : अवे०, ३. ३. ४, ६[1]। जहाँ सामान्य व्यक्तियों का उल्लेख आता है, वहाँ तात्पर्य वैश्यों से है : शब्रा०, ५. ४. ४. १९; **ग्रामणी** के सजात। इसी प्रकार योद्धाओं के प्रसङ्ग में इस शब्द का अर्थ क्षत्रिय होता है; किंतु परवर्ती 'सजाति' शब्द के समान इसमें किसी जाति-विशेष का संकेत नहीं रहता; द्र०—**सजाति**, मनु०, ९. ८७; १०. ४१ इत्यादि; **सजात्य** : ऋ० २. १. ५; ३. ५४. १६; ८. १८. १९; ८. २०. २१; ८. २७. १०; १०. ६४. १३; साथ ही "साजात्य" शब्द का भी "जाति से संबद्ध" अर्थ नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७. १२. २ में सजातों के विवाद का भी उल्लेख आया है।

सं-चर—तैत्तिरीय संहिता ५. ४. ३. ५ में पशुओं के 'गोहर' के लिये का संचर प्रयोग हुआ है। किंतु सामान्यतः यह शब्द किसी यज्ञ में भाग लेने वाले व्यक्तियों के बीच आने-जाने के रास्ते का व्यापक है : शब्रा०, १. ९. २. ४; ३. १. ३. २८; लाश्रौसूत्र, ३. ७. ११; काश्रौसूत्र, १. ३. ४२ इत्यादि।

सं-जय—साम-विशेष। 'ते देवा असुरान् संजयेन समजयन् यत् समजयन् तस्मात् संजयं पशूनामवरुद्ध्यै संजयं क्रियते' तांब्रा० १३. ६. ७;

सं-ज्ञान—समान अनुभूति, ऐक्य। ऋग्वेद-काल से ही सं-ज्ञान के महत्त्व को पहचाना गया है। अथर्ववेद में अनेक मन्त्र संज्ञान के लिये आये हैं। वैदिक ग्राम छोटे होते थे और इनके निवासी अन्योन्याश्रित रहते थे; फलतः इनमें लड़ाई-झगड़ा उठ खड़ा होता था : ऋ०, १०. १९. ६; अवे०, ३. ३०. ४; ७. ५२. १; ११. १. २६; तैसं०, ५. २. ३. २; ५. ३. १. १४; वासं०, २६. १; ३०. ९; निरुक्त ४. २१, इत्यादि।

[1] तु०—वेबर, इस्टू० १७, १८८।

वंशज। ऋग्वेद ५. ७९. १ में यह एक ऋषि का नाम है। लुड्विग,[1] का मत है कि वे **सुनीथ शौचद्रथ** के पुत्र थे।

सत्य-हविस्—मैत्रायणी संहिता १. ९. १. ५ में एक देवशास्त्रीय अध्वर्यु का यह नाम है।

सत्याधिवाक चैत्ररथि—चित्ररथ का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३९. १ में एक व्यक्ति का नाम है।

सत्त्, सत्र—बैठक। सत्त् वे लम्बे सोम-याग हैं, जो १३ से लेकर १०० दिनों में पूरे होते थे, और जिनमें अनेक ऋत्विज् भाग लेते थे। बाद में सभी बड़े यज्ञों एवं समारोहों को सत्त् कहा जाने लगा। सत्त् का एक तकार वाला रूप अधिक प्रचलित है: ऋ० ६. ३३. १३; अवे०, ११. ७. ८; १२. १. ३९; १७. १. १४; वासं०, १५. ४९; ८. ५२; ऐब्रा०, २. १९; ४. १७; ५. १४; ८. २१; तैब्रा०, १. ४. ७. ७; तैसं०, २. ३. ३. १. ७. २. ९. ३; शब्रा०, ४. ६. १. १५ इत्यादि।

तु० 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' कौब्रा० १५. १।

सत्रासाहीय—साम-विशेष। 'यद् वा असुराणामसोढमासीत् तद् देवाः सत्रासाहीयेनासहन्त सत्रैतानसक्ष्महीति तत् सत्रासाहीयस्य सत्रासाहीयत्वम्' तांब्रा० १२. ९. २१।

सत्त्वन्—सत्त्व वाला। ऋग्वेद में एवं परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ योद्धा है: ऋ० १. १३३. ६; १. १. ७३. ५; २. २५. ४; २. ३०. १०; ३. ४९. २ इत्यादि; अवे०, ५. २०. ८; ६. ६५. ३; वासं०, १६. ८. २० इत्यादि।

सत्वन्त्—सत्वन्त् एक जाति है, जो ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. ३ के अनुसार दक्षिण में रहती थी। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. २१ में **भरतों** द्वारा इनकी पराजय का एवं इनके अश्वमेधीय अश्व के अपहरण का उल्लेख आता है। इस तथ्य से ऐसा जान पड़ता है कि ऐतरेय ब्राह्मण २. २५. ६ में "सत्वनां" के स्थान पर "सत्वताम्" पढ़ा जाना चाहिये; क्योंकि इन्हीं के विरुद्ध **भरतों** के आक्रमण का उल्लेख मिलता है। कौषीतकि उपनिषद् ४. १ में भी वोबू०, कावेल और मैक्स मूलर के अनुसार यह शब्द पाया जाता है; किंतु यह निश्चित है कि यहाँ पाठ "सत्वन् मत्स्येषु" न होकर "सवश-मत्स्येषु" है।[2]

[1] ट्रां० ऋ०, ३. १५६।

[2] द्र०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९३ टि०; जिसमें मैक्स मूलर, सेबुई० १. ७७ को शोधा गया है।

तु०—वेबर, इस्टू०, १. २११, २१२, ४१९; ९. २५५; कीथ, जराएसो० १९०८, ३६७।

तु०— 'शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्। आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सत्वतामिव' शब्रा० १३. ५. ४. २१; 'तस्माद्धाप्येतर्हि भरताः सत्वनां वित्तिं प्रयन्ति तुरीये हैव संग्रहीतारो वदन्ते' ऐब्रा० २. २५; 'तस्मादेतस्या दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते भोजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा० ८.१४.

सदन—द्र०—गृह।

सदन्दि—द्र०—तक्मन्।

सदस्—द्रष्टव्य—गृह।

तु० 'यदस्मिन् विश्वे देवा असीदंस्तस्मात् सदोनाम त उ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्ति' शब्रा० ३. ५. ३. ५; 'उदरं वै सदः' कौब्रा० ११. ८; 'प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत् सदः' तांब्रा० ६.४.११; शब्रा० ३. ६. १. २३

सदस्य—द्रष्टव्य—ऋत्विज्।

सदा-नीरा—सर्वदा जल से भरी हुई। यह एक नदी का नाम है, जो शतपथ ब्राह्मण (सैषा (सदानीरा) अप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा) १. ४; १. १७ के अनुसार **कोसलों** और **विदेहों** के बीच की सीमा थी। भारतीय कोशकारों ने इसे **करतोया** नदी माना है; किंतु वह ज्यादा पूर्व में है।[1] वेबर के अनुसार यह **गंडकी** नदी है।

सदा-पृण—ऋग्वेद ५. ४४. १२ में एक ऋषि का नाम है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १३८।

सदोविशीय—ब्रह्म-साम। 'पशवः सदोविशीयम्' तांब्रा० १८. ४. ९।

सद्मन्—गृह के अर्थ में सद्मन् शब्द वैदिक साहित्य में आया है: ऋ० १. ३८. १०; १. ६७. १०; २. १५. ३; ९. ९२. ६; १०. २०, ५; अवे०, ५. ३१. ८; निघण्टु ३. ४ आदि। निघण्टु ३. ३० के अनुसार द्विवचनान्त "सद्मनी" शब्द द्यावा-पृथिवी का वाचक है; द्र०—ऋ०, १. १८५. ६; ३. ५५. २।

सद्यन्—तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ८. ६. १ में सद्मन् के स्थान पर अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है।

सद्यः-क्रीः—एकाह सोमयाग। 'त एतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदित्यानयाजयन्' शब्रा०, ३. ५. १. १७;

[1] द्र०—इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, १५. २४।

[2] द्र०—उपर्युक्त, गजेटियर, १२५; वेबर, इस्टू०, १. १७२, १८१।

तु०—ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९८ टि०।

अस्माभिः (अङ्गिरोभिः) एष प्रतिगृहीतो य एष (सूर्यः) तपतीति तस्मात् सद्यः क्रियोऽश्वः श्वेतो दक्षिणा' शब्रा०, ३. ५. १. १९।

सध-माद्—साथ पीने वाला, साथी : ऋ० १. १२१. १५; ४. २१. १; ६. ३७. १; ७. ७६. ४; तु०– ७. १८. ७; ३. ४३. ६; ६. ६९. ४; ५. २०. ४; ७. ४३. ५; वासं०, १०. ७।

सध-माद—साथ पीने का स्थान, भोज : ऋ० १. ३०. १३; १. ५१. ८; ७. २२. ३; ७. ३२. १; ८. २. ३. २८; ३. ४३. ३; अवे०, ६. ६२. २; वासं०, १९. ४४ आदि।

सध-स्थ—"सहत्व", साथ खड़े होने का स्थान, सभा, लोक। सध-स्थ शब्द संमेलन-स्थान या लोक के अर्थ में आया है : ऋ० १. १५४. १; ३. ६२. १५; २. ९. ३; १. १६३. १३; ३. ५१. ९; ३. ६२. १५; वासं०, ११. १६; ११. २०; अवे०, २. २. १; ७. ८२. ५ १२. १, १८ इत्यादि।

तु० 'स्वर्गो वै लोकः सधस्थः' शब्रा०, ९. ५. १. ४६।

सध्रि—ऋग्वेद ५.५४. १० में एक ऋषि का नाम है। तु०–लुड्विग, ३. १३८।

१. सनक—दो काप्यों में से एक का नाम सनक है; दूसरे का नाम **नवक** है। इन्होंने **विभिन्दुकीयों** के यज्ञ में भाग लिया था। जैमिनीय ब्राह्मण ३. २३३,[1] में इनका उल्लेख आता है। लुड्विग[2] का कहना है कि ऋग्वेद १. ३३. ४ में सनकों को अयज्ञीय बताया गया है, किंतु यह संदिग्ध है[3]।

२. सनक—ऋग्वेद १. ३३. ४ में वृत्रानुचर एक असुर का नाम है। तु०–**१. सनक**।

सनग—द्रष्टव्य–**सनातन**।

सनत्-कुमार—सदा कुमार। छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. १; ७. २६. २ में एक पौराणिक ऋषि का नाम सनत्-कुमार है।

सन-श्रुत अरिंदम—सदा से यशस्वी, शत्रुओं का दमन करने वाला। ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में एक महाराज का यह नाम है।

सनाच्-छ्व—काठक संहिता २०. १ में यह एक आचार्य का नाम है। कपिष्ठल संहिता ३१. ३[4] में सहनाश्छिव पाठ है। संभवतः दोनों पाठ अशुद्ध है।

[1] जअओसो०, १८.२८। [2] ट्रां० ऋ०, ३. १४७।
[3] द्र०–गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १८९।
[4] द्र–फान श्रोडर, काठक संहिता २. १८. टि० ५।

सनातन—तैत्तिरीय संहिता ४. ३. ३. १ में एक देवशास्त्रीय ऋषि का नाम सनातन है। बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५. २२; ४. ५. २८ माध्यंदिन=२. ६. ३; ४. ६. ३ काण्व की प्रथम दो वंश-सूचियों में **सनग** के शिष्य और **सनारु** के गुरु के रूप में इनका उल्लेख आता है। **सनग** और **सनारु** भी देवशास्त्रीय प्रतीत होते हैं।

सनारु—द्र०–**सनातन**।

सनिस्रस—द्रष्टव्य–**मास**।

सनिस्राक्ष—अथर्ववेद २. ८. ५ में खंडहर के अर्थ में सनिस्राक्ष आया है। सायण के अनुसार इस का अर्थ विशीर्यमाण घर है।

सं-दृश—द्रष्टव्य–**गृह**।

सं-दान—ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में यह शब्द पाश, रोक, या बन्धन के अर्थ में आया है : ऋ० १. १६२. ८, १६; अवे०, ६. १०३, १; ६. १०४. १; ११. ९. ३; तैसं०, २. ४. ७. २; शब्रा०, १४. ३. १. २२ इत्यादि।

सं-धा—संहिताओं एवं ब्राह्मणों में संधि या संविदा के अर्थ में यह शब्द आया है : अवे०, ११. १०. ९, १५; तैसं०, १. ७. ८. ४; तैब्रा०, १. ७. १. ६; २. १. १. ३; कौउ०, ३. १।

सं-धि—शतपथ ब्राह्मण ३. २. १. ५; १०. ५. ४. २ में द्यौः और पृथ्वी के मिलन-स्थल को संधि कहा गया है। प्रकाश और अन्धकार का मिलन-काल संध्या भी संधि कहाता है : वासं०, २४. २५; तैब्रा०, १. ४. ५. १; २. २. ९. ८; शब्रा०, १. ६. ३. ५५; ९. ४. ४. १३ आदि; बाद में सं-ध्या शब्द प्रयोग में आता है।

सं-नहन—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में रस्सी के लिये संनहन आया है : तैसं०, १. १. २. २; शब्रा०, १. ३. ३. ६; २. ६. १. १५ इत्यादि।

स-पत्न—प्रतिद्वन्द्वी। ऋग्वेद के दशम मण्डल एवं परवर्ती संहिताओं में सपत्न शब्द पाया जाता है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर **सपत्नी** का पुंलिङ्ग रूप सपत्न बन गया है : ऋ० १०. १६६. १ आदि; अवे०, १. १९. ४; १०. ६. ३०; १२. २. ४६; तैसं०, १. ६. २. २; ३. २. ८. ५ आदि; सपत्न-हन् : ऋ० १०. १५९. ५; अवे०, १. २९ ५ आदि।

तु० 'पाप्मा वै सपत्नः' शब्रा० ८. ५. १. ६।

स-पत्नी—ऋग्वेद में सह-पत्नी के अर्थ में यह शब्द आया है : ३. १. १०; ३. ६. ४, किंतु प्रथम और दशम मण्डलों में यह शब्द "प्रतिद्वन्द्विनी सह-पत्नी" के अर्थ में

आता है : ऋ० १. १०५. ८; १०. १४५. १–५; ऋचा २ में "पतिं मे केवलं कुरु" अर्थात् "मेरे पति को केवल मेरा ही बनाओ"। परवर्ती संस्कृत साहित्य में यह शब्द "प्रतिद्वन्द्विनी का पर्याय बन गया है।

सप्तदश—'प्रजापतिर्वै सप्तदशः' गोब्रा० २. २. १३; 'सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन तावान्संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः' ऐब्रा० १. १; द्र० **संवत्सर, षोडशकला**। 'सप्तदशं ह्यन्नम्' शब्रा० ८. ४. ४. ७; 'प्रजातिः सप्तदशः' ऐब्रा० ८. ४; 'सप्तदश उ स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै' तांब्रा० १२. ६. १३; 'विट् सप्तदशः' तांब्रा० १८. १० ९; 'पशवो वै सप्तदशः' तांब्रा० १९. १०. ७; 'सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदशो ग्रीवाः षोडश्यः शिरः सप्तदशम्' शब्रा० ६. २. २. ९; 'उदरं वा एष स्तोमानां यत् सप्तदशः' तांब्रा० ४. ५. १५; 'राष्ट्रं सप्तदशः' तैब्रा० १. ८. ८. ५; 'सर्वः सप्तदशो भवति' तांब्रा० १७. ९. ४।

सपर्या—पूजा या परिचर्या : ऋ० ३. ५४. २।

तु०–३. ९. ८; १. ९३. २; ३. ३१. १९; ४. १२. २; ८. ४४. १५; ५. २१. ३ आदि।

सप्त-गु—ऋग्वेद १०. ४७. ६ में उसी सूक्त के ऋषि का नाम सप्त-गु आया है।

सप्त-धातु—शरीर के सात सत्त्व। द्र०–**शरीर**।

सप्तर्षयः—'सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते' शब्रा० २. १. २. ४; 'अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति' शब्रा० २. १. २. ४.

सप्त-सिन्धवः—सात नदियां। ऋग्वेद ८. २४. २७ में "सप्तसिन्धवः" शब्द एक प्रदेश का बोधक है; किंतु अन्यत्र यह सात नदियों का सूचक है : ऋ० १. ३२. १२; १. ३४. ८; १. ३५. ८; १. ७१. ७; १. १०२. २; ४. २८. १; ८. ९६. १ आदि; वासं०, ३८. २६; अवे०, ४. ६. २; तैसं०, ४. ३. ६. १ आदि। मैक्समूलर के अनुसार पंजाब की पांच नदियां **सिन्धु** और **सरस्वती** के साथ अभिप्रेत हैं।[1] दूसरे लोगों का मत है कि **सरस्वती** के स्थान पर **कुभा** होनी चाहिये, या सात नदियों में **आक्सस** होनी चाहिये।[2] त्सिमर[3] ने इन सात नदियों को निश्चित नहीं किया है; और संभवतः उनका ऐसा करना ठीक भी है, क्योंकि वेद में सप्त या सात एक प्रिय संख्या मानी गई हैं; और इसका प्रयोग पवित्र पदार्थों के लिये आम तौर से किया गया है।

सप्त सूर्याः—परवर्ती संहिताओं में सात सूर्यों का उल्लेख मिलता है; किंतु वहाँ उनके नाम नहीं दिये गये हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में इनके नाम गिनाये गये हैं : **आरोग, भ्राज, पटर, पतंग, स्वर्णर, ज्योतिषीमन्त्**, और **विभास**; किंतु ये नाम बाद में कम आते हैं। द्र०–अवे०, १३. ३. १०; कासं०, ३७. ९; तैआ०, १. ७[1] जहाँ अग्नि की सात जिह्वाओं के नामों का विवरण है। वेबर के अनुसार यहाँ सात ग्रहों का उल्लेख है;[2] किंतु बाद में इन्होंने इस मत का परित्याग कर दिया था; तु०–ऋ० ९. ११४. ३ के "सप्त दिशो नाना सूर्याः"[3]। संभवतः ऋग्वेद में उल्लिखित सात किरणें अपेक्षित हैं : ऋ० १. १०५. ९।[4]

सप्त-मानुष—ऋग्वेद ८. ३९. ८ में शप्तमानुष शब्द अग्नि का विशेषण है; इसका अर्थ है : सात जातियों से संबन्ध रखने वाला। हापकिन्स का मत है कि ऋग्वेद के सात वंश-मण्डलों (=२–८) की ओर इशारा है :[5] किंतु राथ[6] ने सप्त-मानुष को वैश्वानर के समान माना है।

सप्त-व्रधि—ऋग्वेद ५. ७८. ५; ८. ७३. ९; १०. ३९. ९ में **अश्विनों** के एक कृपा-पात्र का नाम है, जिन्होंने एक वृक्ष में बंधे सप्त-व्रधि को छुड़ाया था। अथर्ववेद ४. २९४ में भी उसका उल्लेख है। गेल्डनर के अनुसार वह **अत्रि** है।

---

[1] द्र०–चिम्स, १. ६. ३; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १[2] ४९० टि०।

[2] लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००; लासन, इं० आल्तर थुम्स्कुन्द, १.[2] ३; ह्विटनी, जअओसो०, ३. १११; **आक्सस** के पक्ष के लिये द्र०–थामस, ज० अ० ओ० सो०, १८८३. ३७१ एवं आगे।

[3] आ० ले०, २१

तु०–हापकिन्स, जअओसो०, १६. २७८; इंडिया ओल्ड ऐंड न्यू, ३३।

[1] तु०–मैकडानल, वैमा०, पृ० ८९; द्र०–कीथ, ऐ० ब्रा०, २६६; हापकिन्स, ग्रेट एपिक आफ इंडिया, ४७५.

[2] इ०स्टू०, १. १७०; २. २३८।

[3] वही, १०. २७१ टि

[4] हापकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, १६. २७७।

[5] ज० अ० ओ० सो० १६. २७८।

[6] वोबू०।

[7] द्र०–ऋग्वेद ग्लासर, १९०।

तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५६; बाउनाक, त्सा० दा० मौ० गे० ५०. २६८।

सप्त होता—'तस्मै (ब्रह्मणे) सप्तमं हूतः प्रत्यशृणोत्। स सप्तहूतोऽभवत्। सप्तहूतो ह वै नामैषः। तं वा एतं सप्तहूतं सन्तं सप्त होतेत्याचक्षते परोक्षेण' तैब्रा० २. ३. ११. २. 'इन्द्रियं वै सप्त होता' तैब्रा० २. २. ८. २; 'इन्द्रः सप्त होता' तैब्रा० २. ३. १. १. अर्यमा सप्त होतॄणां होता' तैब्रा० २. ३. ५. ६.

सप्ति—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में तेज घोड़े के लिये आया है: ऋ० १. ८५. १, ६; १. १६२. १; २. ३४. ७; ३. २२. १ इत्यादि; वासं०, २२. १९, २२।

सप्त्य—ऋग्वेद ८. ४१. ४ में सप्त्य का अर्थ रेस-कोर्स हो सकता है।

सफ—साम-विशेष। 'सफेन वै देवा इमान् लोकान् समाप्नुवन् यत् समाप्नुवन् तत् सफस्य सफत्वम्' तांब्रा० ११. ५. ६.

स-बन्धु—एक ही गोत के। ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में स-बन्धु शब्द संबन्धियों का सूचक है: ऋ० ३. १. १०; ५. ४७. ५; ८. २०. २१ आदि; अवे०, ६. १५. २; ८. २. २६; १५. ८. २, ३ आदि।

सभा—आर्यों के संमेलन एवं संमेलन-स्थान दोनों के लिये आता है। ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख आम है; किंतु इसके संबन्ध में मिलने वाली सूचनाएँ अपर्याप्त हैं: ऋ० ६. २८. ६; ८. ४. ९; १०. ३४. ६।

तु०-'सभा-सह्' अर्थात् 'समा में प्रमुख': ऋ० १०. ७१. १०; अवे०, ५. ३१. ६; ७. १२. १, २; ८. १०. ५; १२. १. ५६; १९. ५५. ६; तैसं०, १. ७. ६. ७; मैसं०, ४. ७. ४; वासं०, ३. ४५; १६. २४; २०. १७; तैब्रा०, १. १. १०. ६; शब्रा०, २. ३. २. ३; ५. ३. १. १०; कौब्रा०, ७. ९ आदि। सभा-भवन का प्रयोग अक्ष-क्रीडा के लिये भी होता था: ऋ० १०. ३४. ६; अवे०, ५. ३१. ६; १२. ३. ४६। जब सभा की बैठक नहीं होती थी, तब सभा के हाल का उपयोग अक्ष-क्रीडा के लिये होता था। अक्ष-क्रीडक को सभा-स्थाणु='सभा में खंभे की भांति स्थिर' बताया गया है: वासं०, ३०. १८; तैब्रा०, ३. ४. १६. १ सायण भाष्य के साथ। "जो पाप हमने ग्राम, वन, या सभा में किया है" (वासं०, ३. ४५; २०. १७; तैसं० १. ८. ३. १; कासं०, ९. ४; मैसं०, १. १०. २) इत्यादि उक्तियों में त्सिमर[1] ने सभा के पाप को, महीधर भाष्य (वासं०, ३. ४५) के आधार पर या तो बड़ों के प्रति उद्दण्डता माना है अथवा झगड़ों के फैसले में पक्षपात बताया है; द्र० महीधर वही, २०. १७। किंतु एर्गलिंग के अनुसार यहाँ द्यूत-क्रीडा की ओर संकेत हो सकता है[1]; (इन्होंने अन्यत्र इसका अनुवाद भिन्न प्रकार से किया है)[2]। जैसा कि होमर की लैस्खी में होता था, वैसा ही वैदिक सभाओं में भी सामाजिक विषयों पर विचार-विमर्श एवं गौओं आदि के बारे में बातचीत चलती थी: ऋ० ६. २८. ६।

तु०-८. ४. ९, अवे०, ७. १२. २; इसमें सभा को नरिष्टा या "उल्लास-स्थल" कहा गया है; किंतु उसी सूक्त (७. १२. ३) में गंभीर राजनीतिक विचार-विमर्श का भी उल्लेख आया है)[3]। संभवतः वहाँ वादविवाद एवं शास्त्रार्थ अथवा वाग्युद्ध होते थे[4]।

लुडविग[5] का कहना है कि सभा सभी लोगों के लिए न होकर केवल ब्राह्मणों और मघवानों (=धनवानों) के लिये होती थी। इन्होंने अपने मत की पुष्टि में ये संदर्भ दिये हैं: ऋ० ८. ४. ९; १०. ७१. १०; किंतु ये स्थल निर्णायक नहीं हैं; तु०-ऋ० ७. १ ४; अवे०, १९. ५७. २। उनके इस मत का समर्थन इन बातों के आधार पर किया जा सकता है: ब्राह्मणों को सभेय कहना: ऋ० २. २४. १३; तु०-१. ९१. २०; अवे०, २०. १२८. १; वासं०, २२. २२;[6] और "रयिः सभावान्" अर्थात् धन एक आदमी को सभावान् बना देता है इत्यादि उल्लेख (द्र०-ऋ० ४. २. ५; १. १६७. ३; जहां सभावती शब्द वाक् या स्त्री के लिये आया है)। किन्तु ब्लूमफील्ड[7] इन उद्धरणों में सभा शब्द का प्रयोग घरेलू काम-काज के लिये एवं घर के लिये समझते हैं, सामाजिक सभा के लिये नहीं[8]। वोबू० ने भी कुछ स्थलों के सभा शब्द को घरेलू सभा के रूप में ग्रहण किया है, सामाजिक सभा के

[1] आले०, १७२।

[1] द्र०-एर्गलिंग, सेबुई० १२. ३९८।

[2] द्र०-वही, ४४. २६५।

[3] तु०-टैसिटस, जर्मानिया, २२।

[4] द्र०-त्सिमर, आले०, १७४; इन्होंने ऋ० २. २४. १३ में सभेय का ऐसा अर्थ किया है।

[5] द्र०-लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. २५३-२५६।

[6] मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. २७६। इन्होंने सभेय शब्द को शिष्टता के नियम के रूप में ग्रहण किया है; किंतु होमर के उल्लेखों में पाये जाने वाले नियम वैदिक साहित्य पर नहीं लगते।

[7] जअओसो०, १९. १३।

[8] वोबू०, के अनुसार अर्थ है: 'किसी निवास स्थान में सभा-भवन'।

रूप में नहीं; द्र० अवे०, ८. १०. ५ (किंतु यहां भाव सामाजिक संमेलन का प्रतीत होता है; तु० ८. १०. ६; तैसं०, ३. ४. ८. ६; तैब्रा०, १. १. १०. ३; छाउ०, ८. १४ किंतु यहां भी भाव है "संमेलन-भवन"; द्र० ५. ३. ६ जहां राजा के संमेलन-भवन में जाने का उल्लेख है; **सभा-ग**[१]। त्सिमर के अनुसार सभा का अर्थ ग्राम-सभा है, जिसका अध्यक्ष **ग्रामणी** होता था[२]। उन्होंने राजा के **सभा** और **समिति** में जाने के उल्लेख को ध्यान में नहीं रखा है: शब्रा०, ३. ३. ४ १४; छाउ, ५. ३. ६); साथ ही उन्होंने एक भी ऐसे स्थल को नहीं दिखाया, जिसमें **ग्रामणी** के सभा-पतित्व का उल्लेख हो। हिल्लेब्राण्ड्ट का यह मत ठीक हो सकता है कि **सभा** और **समिति** में वास्तविक अन्तर नहीं था। उनका यह भी मत है कि सभा-सत्र में, जहां **सुजात** के प्रवेश का उल्लेख आता है (ऋ० ७. १. ४), यहां दासों एवं अनार्यों के अतिरिक्त सभी आर्यों का उल्लेख है, न कि आर्यों के किसी एक वर्ग का। हिल्लेब्रांड्ट ने 'सभ्य (=सभा के) अग्नि' से निष्कर्ष निकाला है कि यज्ञ में सभा की ओर से एक अग्नि का विधान होता था; द्र०-'अग्नि सभ्य है": अवे०, ८. १०. ५; १९. ५५. ६; द्र०-ऋ० ३. २३. ४; ५. ३. ११; ७. ७. ५।

स्त्रियां सभा में नहीं जाती थीं, क्योंकि वे राज-नीति में भाग नहीं लेती थीं: मैसं०, ४. ७. ४। सभा=दरवार; तु०-**ग्राम्य-वादिन्**।

विवरण: त्सिमर, आले०, १७२-१७४।

सभा-चर—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में समाचर भी आया है: वासं०, ३०. ६; तैब्रा०, ३. ४. २. १ सायणभाष्य के साथ[३]। बोवू० में इसे 'सभा-ग' (=सभा में जाने वाला) इसके अर्थ में माना है; क्योंकि समाचर "धर्म" के प्रति निष्ठा वाला होता है, इस लिये इससे हम एक विधि-विज्ञ सभा-सदस्य को ले सकते हैं, जो मामलों का निर्णय करने के लिये बैठता था। यह नहीं कहा जा सकता कि सारी सभा मिलकर फैसले करती थी, या उसके कुछ सदस्य इस काम को करते थे। द्रष्टव्य **सभासद्**।

सभा-पति—शतरुद्रिय मन्त्रों में सभा-पति शब्द रुद्र के लिये आया है: वासं०, १६. २४; तैसं०, ४. ५. ३. २; कासं०, १७. १३ आदि।

सभा-पाल—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७. ४. ६ में सभा-पाल शब्द "सभा-भवन के संरक्षक" के लिये आया है।

[१] द्र०-आले०, १७४।
[२] वैमि०, २. १२३-१२५।
[३] तु०- वेबर, इस्त्राइफन ७७. टि०-१।

सभाविन्—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. १६. १ में सायण के अनुसार सभाविन् का अर्थ अक्ष-क्रीडा-भवन का रक्षक है।

सभा-सद्—सभा में बैठने वाला। सभा में बैठकर विधिसंबन्धी विषयों पर निर्णय देने वाले सदस्यों को सभासद् कहा गया है; तु०-**सभा-चर**। यह शब्द अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में पाया जाता है: अवे०, ३. २९. १ **यम** के लिए; ७. १२. २; १९. ५५. ६; कासं०, ८. ७; मैसं०, १. ६. ११; तैब्रा०, १. २. १. २६; ऐब्रा०, ८. २१. १४। हो सकता है कि गांव का हर व्यक्ति सभासद् न कहलाकर परिवारों के मुखिया ही सभासद् कहलाते रहे हों और वे ही सभा में भाग लेते रहे हों, जैसा कि आज भी गांवों की पंचायतों में देखा जाता है। सभा की बैठकें सामान्य विचार-विमर्श की अपेक्षा आपसी झगड़ों को निपटाने के लिये अधिक होती थीं।

सभासाह—'एष वै ब्राह्मणानां सभासाहः सखा यत् सोमो राजा' ऐब्रा १. १३।

सभा-स्थाणु—द्रष्टव्य-**सभा**।

सभेय—द्रष्टव्य **सभा**।

समंक—अथर्ववेद १. १२. २; ६. ५०. १ में आने वाला यह शब्द दुरूह है। ब्लूमफील्ड ने प्रथम मन्त्र में इसका अर्थ अंकुश किया है; और दूसरे स्थान पर अन्न-नाशक कोई कीट।

द्र० हिम्स आफ दि अवे०, ७. १४२; तु०-वोबू०।

समन—ऋग्वेद में समन का अर्थ संदिग्ध है। राथ ने वोबू० में कुछ स्थलों (ऋ० ६. ७५. ३, ५; ९. ९. ६. ९; १०. १४३. ४; अवे०, ६. ९२. २; वासं०, ९. ९ पर इसका अर्थ युद्ध और दूसरे स्थलों (ऋ २. १६. ७; ६. ६०. २; ७. २. ५; ८. १२. ९; ९. ९७. ४७; १०. ५५. ५; १०. ८६. १०; अवे०, २. ३६. १ पर) मेला किया है। पिशल[१] के अनुसार यह ऐसा मेला है, जिसमें स्त्रियां प्रमोदार्थ जाती थीं: ऋ० १. १२४. ८; तु० ब्रा० ४. ५८. ८; ६. ७५. ४; ७. २. ५; १०. ८६. १०; १०. १६८. २।; कवि यश की कामना से जाते थे: ऋ० २. १६ ७; ९. ९७. ४७[२]; धनुर्धर अपने धनुष् की सफाई दिखाकर पुरस्कार पाने की आशा से जाते थे: ऋ० ६. ७५. ३, ५; और सवार घुड़दौड़ के लिये जाते थे: ऋ० ९. ९६. ९; अवे०, ६. ९२. २। यह मेला रात से लेकर सवेरे तक चलता था: ऋ० १. ४८. ६; या तबतक चलता था, जब तक कि दर्शकों को एकत्र करने के

[१] वैस्तू०, २. ३१४।
[२] तु०-गेल्डनर, वैस्तू०, २. ३८।

लिये रात्रि में जलाया गया अग्नि प्रकाशित रहता था: ऋ० १०. ६९. ११; तु०–७. ९. ४ युवतियाँ (अवे०, २. ३६. १) और स्त्रियां (ऋ० ७. २. ५) वहां अपने लिये पति चुनती थीं; और वेश्याएं अपना धन्धा जोड़ती थीं (ऋ० ४. ५८. ८, जिसमें राथ ने ६. ५७. ४; १०. १६८. २ की भांति "परि-रंभ" के अर्थ में लिया है)। ऐसे मेले ग्रीस में भी होते थे, जिनमें युवतियों को अजनबियों से मिलने की स्वतन्त्रता होती थी; इन्हीं के आधार पर वहां अनेक सुखान्त नाटकों की रचना हुई थी। तु०–महाफी, ग्रीक लिटरेचर, १. २. २५९ एवं अग्रिम।

तु०–गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १९०।

समन्त—साम-विशेष। 'समन्तेन पशुकामः स्तुवीत पुरोधाकामः समन्तेन स्तुवीत' तांब्रा० १५. ४. ७.

समर—कौषीतकि ब्राह्मण में एवं ऋग्वेद तक में समर शब्द युद्ध के अर्थ में आया है=सम्+अर√ऋ०, कौब्रा०, ७. ९; शांश्रौसूत्र, १५. १५. १२; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर १९०; ऋ० ६. ९. २। तु० **समर्य** ४. २४. ८ आदि।

समा—समा का अर्थ आरम्भ में ग्रीष्म रहा होगा, जैसा कि अथर्ववेद के कुछ स्थलों से ज्ञात होता है: ऋवे०, १. ३५. ४; २. ६. १; ३. १०. ९।[1] यह बाद में ऋतु इस अर्थ में भी कभी कभी आता है: ऐब्रा०, ४. २५. ७; नि०, ९. ४१। किंतु सामान्य रूप से यह वर्ष के अर्थ में आता है: ऋ० ४. ५७. ७; १०. ७५. ५; १०. १२४. ४; अवे०, ५. ८. ८; ६. ७५. २ इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण ६. २. १. २५ के अनुसार वाजसनेयि संहिता २७. १ में इसका अर्थ महीना है; जो कि संदिग्ध है।[2]

समान—द्रष्टव्य–**प्राण**।

तु० 'दिशः समानः' जैउब्रा० ४. २२. ९; 'निरुक्ता-निरुवत इव ह्ययं समानः' षब्रा० १. २.

समान-गोत्र और समान जन, समान-बन्धु—'एक ही वंश' या 'एक ही दरजे के' इस अर्थ में क्रमशः समान-गोत्र (कौ० उ०, २५. १५) और समान जन (पंविब्रा०, १६. ६. ९; लाश्रौसूत्र, ८. २. १०) ये शब्द आते हैं; ब्राह्मणों में समान-बन्धु शब्द संबन्धी के अर्थ में आता है: ऋ० १. ११३. २; शब्रा०, ३. ५. १२५।

[1] तु०–ह्विटनी, ट्रां अ०वे०, ३६।

[2] द्र०–महीधर-भाष्य; एगलिंग, सेबुई०, ४१. १६८ टि० १।

तु०–त्सिमर, आ० ले०, ३७२; श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐण्टिक्विटीज, ३०१।

समान्त—एक ही सीमा वाला, पड़ौसी, अतः शत्रु। मैत्रायणी संहिता २. १. २४ में शत्रु के अर्थ में समान्त शब्द आया है।

समिति—=सम्+इति,√इ। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में वैदिक आर्यों की सभा समिति कहाती है। ऋ० १. ९५. ८; ९. ९२. ६; १०. ९७. ६; १०. १६६. ४; १०. १९१. ३; अवे०, ५. १९. १५; ६. ८८. ३; ७. १२. १; १२. १. ५६ इत्यादि। सभा के लिये यह शब्द आया है: अवे०, ७. १२. १; १२. १. ५६; १५. ९. २, ३; ८. १. ५. ६। लुड्विग के अनुसार समिति में सभी "विशः" या प्रजाएं बैठती थीं; मघवन् और ब्राह्मण भी यदि चाहते थे तो संमिलित हो जाते थे, यद्यपि उनकी सभा अपनी अलग रहती थी। यह व्याख्या चिन्त्य है।[1] त्सिमर[2] का यह कहना भी कि सभा ग्रामीणों की होती थी, ठीक नहीं है। हिल्लेब्रांड्ट[3] के अनुसार समिति और **सभा** एक ही थीं और "सभा" शब्द संभवतः प्रारम्भ में केवल सभा-भवन के लिये आता था।

राजा जैसे **सभा** में जाता था, वैसे ही समिति में भी: ऋ० ९. ९२. १; १०. ९७. ६।[4] त्सिमर का कहना है कि राजा का चुनाव समिति करती थी।[5] किंतु यह बात उतनी ही अनिश्चित है, जितनी कि यह कि राजा का निर्वाचन होता था; द्र०–**राजन्**। किंतु कुछ ऐसे भी कथन हैं, जिनके अनुसार राजा और समिति में संज्ञान या मतैक्य होने से उसकी समृद्धि होती थी: अवे०, ६. ८८. ३।[6] कहा जा सकता है कि समिति का कार्य सामान्य नीतियों का निर्धारण या उनपर विचार-विमर्स करना, विधान बनाना, एवं न्याय करना होता था; तु०–**सभासद्**; किंतु इस प्रकार की बातों का उल्लेख नगण्य है। देवों की एक समिति थी, जिसे **दैवी** कहा गया है: ऋ० १०. ११. ८; उनकी **सभा** का भी उल्लेख आया है: जैउब्रा० २. ११. १३. १४। बौद्ध ग्रन्थों में समिति का उल्लेख

[1] द्र०–लुड्विग, ट्रां ऋ०, ३. २५३ एवं अग्रिम।

[2] आले०, १७२ एवं अग्रिम।

[3] द्र०–वैमि०, २. १२४ टि० ६।

[4] यहाँ किसी राजा का अर्थ अपेक्षित नहीं, जैसा कि त्सिमर ने आले०, १७६, १७७ में माना है; यहाँ एक ही वंश के राजपुत्रों के एक साथ समिति में जाने का उल्लेख है।

[5] द्र०–आ० ले०, १७५; अवे०, ६. ८७, ८८; ऋ० १०. १७३; अवे०, ५. १९. १५ तथा ३. ४. ६ के आधार पर।

[6] राथ, वोबू०।

नहीं मिलता।[1] स्मृति-ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख नहीं आता।[2] आर्ष काव्यों में भी सभा और समिति का उस रूप में उल्लेख नहीं मिलता।[3]

समिध्- ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में समिध् शब्द समिधा या इंधन के अर्थ में आया है : ऋ० ४. ४. १५; ६. १५. ७; ६. १६. ११; ७. १४. १; १०. १२. २ इत्यादि; वासं०, ३. ४; २०. २५ इत्यादि। गेल्डनर[4] के अनुसार ऋग्वेद १०. ५२. २ में इसका संकेत अग्नीध् की ओर है।

तु०–'प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येनं समिन्धते' शब्रा० ९. २. ३- ४४; 'यदेनं समयच्छत् तत् समिधः समित्त्वम्' तैब्रा० २. १. ३. ८; 'वसन्तो वै समित्' शब्रा० १. ५. ३. ९; 'गर्भः समित्' शब्रा० ६. ६. २. १५; 'अस्थीनि वै समिधः' शब्रा० ९. २. ३. ४६।

समीक—निघण्टु २. १७ में युद्ध के अनेक पर्यायों में एक समीक भी है; द्र०–ऋ० ३. ३०. ११; ४. २४. ३; ८. ३. ५; १०. ४२. ४ इत्यादि।

समुद्र—जलों का समवाय। ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में समुद्र शब्द कई बार आया है। वैदिक आर्यों को समुद्र का कहां तक ज्ञान था यह विषय महत्त्व का है। वीनियन डि सेंट मर्टिन के शब्दों में वैदिक आर्य समुद्र को नहीं जानते थे[5]। किंतु मैक्स मूलर और लास्सन के अनुसार वे समुद्र से परिचित थे[6]। त्सिमर ने ऋग्वेद-काल में समुद्र के ज्ञान को अत्यन्त सीमित बताते हुए भी ऋग्वेद ७. ९५. २ में इसे माना है; और बाद में तो निश्चय के साथ माना है[1]। उनका मत है कि समुद्र के ज्वार और प्रत्यावर्तन का ज्ञान ऋग्वेद-काल में नहीं था; सिन्धु के मुहाने का उल्लेख नहीं है, मत्स्य-भोजन अज्ञात है। तु०–**मत्स्य**। कुछ स्थलों पर रूपक में दो समुद्रों का, अर्थात् ऊपरी और पृथ्वीवर्ती समुद्रों का उल्लेख आता है : ऋ० १०. १३६. ५। तु०–अवे०, ११. ५. ६; ऋ० ८. ६. ७; १०. ९८. ५। अन्य स्थलों पर सहायक नदियों से भरी सिन्धु नदी को इन्होंने समुद्र से लिया है; उदाहरण के लिये, ऋ० १. ७१. ७; ३. ३६. ७; ३. ४६. ४; ५. ८५. ६; ६. ३६. ३; ७. ९५. २; ८. १६. २; ८. ४४. २५; ९. ८८. ६; ९. १०७. ९; ९. १०८. १६ जहाँ नदियों का जिक्र है, या ऋ० १. १६३. १; ४. २१. ३; ५. ५५. ५; ८. ६. २९, जहाँ पृथ्वी और समुद्र का विपर्यास दिखाया गया है। संभवतः उनका यह मन्तव्य वैदिक काल के समुद्र-ज्ञान को बहुत संकुचित दृष्टि से देखने पर आधृत है; असल में तो सिन्धु से परिचित लोग समुद्र को जानते थे : समुद्र की निधि का उल्लेख आता है; तु०–ऋ० १. ४७. ६; ७. ६. ७; ९. ९७. ४४, जहाँ मुक्ता एवं सामुद्रिक व्यापार ज्ञात है। तु०–ऋ० १. ४८. ३; १. ५६. २; ४. ५५. ६; तु०–डायस्कुरी और अश्विनों की समता। भुज्यु की कथा से समुद्रवाही पोतों द्वारा व्यापार की सूचना मिलती है।

वैदिक काल में वेबिलन के साथ व्यापार की बात सिद्ध नहीं हो पाती। यहूदियों की "राजाओं की पुस्तक" में उल्लिखित 'कोफ' और 'तुखीम' या कपि और मयूर से इस बात पर पक्का प्रकाश नहीं पड़ पाता, क्योंकि इस ग्रन्थ के निर्माण का काल संदिग्ध है[2]। किंतु बाद में लगभग ७०० ई० पूर्व में सामुद्रिक व्यापार स्वाभाविक जान पड़ता है[3]। परवर्ती साहित्य में समुद्र शब्द सागर के

[1] तु०–ब्युहलर, त्सादामौगें० ४८. ५५।

[2] फॉय, दी कोइनिग्लिशे गेवाल्त, ६. ७. १०।

[3] हापकिन्स, जअओसो० १३. १४८–१५२; जिन्होंने गुप्त समर-समिति एवं गुप्त पुरोहित-सभाओं के माध्यम से समिति का ह्रास दिखाया है। समिति में सामान्य जन के विचारों पर कम ध्यान दिया जाता था; राजा या बड़े लोग बोलते थे, शेष लोग अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट कर देते थे। ऐसा ही होमर के समय में और प्राचीन जर्मनी में होता था; तु० लैंग, ऐन्थ्रोपोलजी ऐंड दि क्लासिक्स, ५१ एवं आगे; टैसिटस, जर्मानिया, ११. १२।

[4] ऋग्वेद ग्लासर, १९१।

[5] एत्यूदे स्यूर ला ज्योग्राफी द्यु वेद, ६२ एवं अग्रिम; तु०–विल्सन ऋग्वेद, १. ४१।

[6] द्र०–सेबुई०, ३२–६१ एवं आगे; ऋ० १. १९०. ७, ५. ७८. ८; ७. ४९. २; ७. ९५. २; १०. ५८ का उद्धरण देकर; लासन, इंदिश्शे आल्तर-थुम्स्कुन्द, १२. ८८३।

[1] द्र०–आले०, २२ एवं आगे, तु० मैकडालन, संस्कृत लि०, १४३. १४४; अवे०, ४. १०. ४ मुक्ताशुक्ति का उल्लेख; ६. १०५. ३ समुद्र का विक्षर या विप्लव, १९. ३८. २; तैसं०, ७. ४. १३. १. एवं आगे।

[2] प्र०–वेबर, इंलि०, ३, किग्स, १०. २२।

[3] द्र०–केनेडी, जराएसो०, १८९८, २४१-२८८; ब्युहलर, इस्टू०, ३. ७९ एवं आगे; इन्दिश्शे पैलियोग्रफी, १७-१९ जिन्होंने यातायात को बहुत प्राचीन माना है; विसेंट स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, २५ टि०।

ही अर्थ में आया है: तैसं०, २. ४. ८. २; ७. ५. १. २। ऐब्रा०, ५. १६. ७ में इसे अविकल कहा गया है; (तु०—३. ३९. ७) यह पृथिवी को घेरे हुए है: वही, ८. २५. १; पूर्वी और पश्चिमी समुद्र: शब्रा०, १. ६. ३. ११; (तु०—१०. ६. ४. १), यद्यपि यह प्रयोग एक रूपक है; किंतु संभवतः हिन्द सागर और अरब सागर का ज्ञान उन्हें अवश्य था।

तु० 'य एवायं पवत एष एव स समुद्रः एतं हि संद्रवन्तं सर्वाणि भूतान्यनु सं द्रवन्ति' जैउब्रा०, १. २५. ४; 'तद् यदापः समद्रवन्त तस्मात् समुद्र उच्यते' गोब्रा०, १. १. ७; 'तद् वस्तिमभिनत्। स समुद्रोऽभवत्। तस्मात् समुद्रस्य (जलं) न पिबन्ति। प्रजननमिव हि मन्यन्ते' तैब्रा०, २. २. ९. २-३; 'समुद्रो वा अपां योनिः' शब्रा०, ७. ५. २. ५८) 'समुद्रो वा अवभृथः' तैब्रा०, २. १. ५. २; 'मनो वै समुद्रः' शब्रा०, ७. ५. २. ५२; 'वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः' तांब्रा०, ६. ४.७; 'वाग् वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते' ऐब्रा०, ५. १६; 'पुरुषो वै समुद्रः' जैउब्रा०, ३. ३५. ५; 'रुक्मो वै समुद्रः' शब्रा० ७. ४. २. ५; 'समुद्र एवास्य (अश्वस्य मेध्यस्य) बन्धुः समुद्रो योनिः' शब्रा १०. ६. ४. १; 'तस्मादिमं लोकं दक्षिणावृत् समुद्रः पर्येति' शब्रा०, ७. १. १. १३; 'तस्मादिमं लोकं सर्वतः यमुद्रः पर्येति' शब्रा०, ७. १. १. १३; 'असौ वै (द्यु—) लोकः समुद्रो नभस्वान्' शब्रा०, ९. ४. २. ५।

तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, ३. १४-१९; पिशल और गेल्डनर, वैस्टू०, १. २३।

संपत्—'श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः' शब्रा०, १४. ९. २. ४;

संपात—सूक्त-विशेष। 'संपातैर्वै देवाः स्वर्गं लोकं समपतन्' तैब्रा०, २२. १; 'तान् क्षिप्रं समपतद् यत् क्षिप्रं समपतत् तत् संपातानां संपातत्वम्' ऐब्रा०, ६. १८; 'वामदेवो वा इमान् लोकानपश्यत् तान्संपातैः समपतद् यत्संपातैः समपतत् तत् संपातानां संपातत्वम्' ऐब्रा०, ४. ३०; 'तान् वा एतान् संपातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत् तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत्' ऐब्रा० ६. १८;

समृति=सम्+ऋति; √ऋ। समर के अर्थ में आम है: ऋ० ४. १६. १७; ५. ७. २; १. ३१. ६; १. ३२. ६; निघण्टु २. १७. इत्यादि।

सं-भल=सम्+भर ? अथर्ववेद २. ३६. १; १४. १. ३१ १४ २. ६६; कौसू०, ७५ में कन्या के समादाता को संभल कहा गया है।

सम्-राज्—ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में सर्वोच्च शासक को सम्राट् कहा गया है, जो राजा से ऊपर होता था: ३. ५५. ७; ३. ५६. ५; ४. २१. १; ६. २७. ८; ८. १९. ३२; वासं०, ५. ३२; १३. ३५; २० ५ इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण (५. १. १. १३; तु०—१२. ८. ३. ४; १४. १. ३ ८) में **वाजपेय** और **राजसूय** के प्रसङ्ग में सम्राट् को राजा के ऊपर बताया गया है; सम्राट् वाजपेय यज्ञ करके ही बन सकता था। किंतु सम्राट् शब्द का प्रयोग "राजाओं का राजा" इस अर्थ में वैदिक साहित्य में नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उस समय की राजनीतिक अवस्था इस बात के लिये उपयुक्त नहीं थी; और जैसे तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में **अशोक** सम्राट् था वैसे सम्राट् की कल्पना वैदिक युग में नहीं की जा सकती। उस समय तो किसी भी प्रभावशाली राजा को सम्राट् कह दिया जाता था, जैसे **विदेह** के **जनक** को: शब्रा०, ११. ३. २. १, ६; ११. २. २. ३; बृउ०, ४. १. १; ४. ३. १[1]। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४. २, ३ में तो पूर्व के राजाओं की यह उपाधि ही बन गई है। ऐब्रा० के ही उद्धरण के अनुसार उत्तरी राजाओं की उपाधि **विराट्** थी, दक्षिणी राजाओं की **स्वराट्**, **सत्वन्तों** की **भोज**, मध्यदेशीय (**कुरु-पञ्चाल**, **वश** और **उशीनरों** के) अधिपों की **राजा** उपाधि थी। तु० **राज्य**।

तु० 'स यदाह सम्राडसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै वायुर्भूत्वान्तरिक्षलोके सम्राजति तद् यत् सम्राजति तस्मात् सम्राट् तत् सम्राजस्य सम्राट्त्वम्' गोब्रा०, १. ५. १३; 'तस्य यो रसो व्यक्षरत् तं पाणिभिः संममृजुस्तस्मात् सम्राट्' शब्रा० १४. १. १. ११; 'स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त' गोब्रा० १. ५. ८।

सम्-राजी—सम्राट् की पत्नी।

सरघ्, सरघा—सरघ् (शब्रा०, ३. ४. ३. १४) और सरघा (पंविब्रा०, २१. ४. ४; तैब्रा०, ३. १०. १०. १) दोनों शब्द मधुमक्खी के अर्थ में आये हैं। तु०—**सरट्**।

सरमा—**इन्द्र** की दूती शुनी, जो **पणियों** के यहां गौओं का पता लगाने गई थी: ऋ० ४. १६. ८; १०. १०८; तु० मैकडानल, वैमा०।

सरयु—ऋग्वेद में तीन बार सरयु शब्द नदी के लिये आया है। **चित्ररथ** और **अर्ण** के **तुर्वशों** और **यदुओं** से पराजित होने का उल्लेख आता है; ये सरयु को पार करके आए थे। एक स्थल पर सरयु का उल्लेख **सरस्वती**

[1] तु०—वेबर, ऊबर देन वाजपेय, ८।

और सिन्धु के साथ आया है : ऋ० १०. ६४. ९; अन्यत्र रसा, अनितभा और कुभा के साथ : ऋ० ५. ५३. ९। वेदोत्तरकालीन साहित्य में सरयू (कभी-कभी 'सरयु') अवध की नदी है, जो आजकल सरजू कहाती है।[१] त्सिमर[२] का कहना है कि प्रसक्त वैदिक उद्धरणों में इसी नदी का उल्लेख है; तीसरे स्थल पर उत्तरपूर्वी मानसून के साथ पश्चिमी मानसून को देखने के कारण कहा जा सकता है कि सरयु पंजाब की नदी थी। हापकिन्स का मत है कि सरयु पश्चिम की नदी थी[3] और लुड्विग इसे क्रुम (क्रुमु) से अभिन्न मानते हैं।[४] विलियन दे सेंट वी मार्टिन इसे शुतुद्री और विपाश् के संमिलन से बनी नदी मानते थे।

सरस्—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में सरस् शब्द ह्रद या जलाशय के अर्थ में आया है : वासं०, २३. ४७; २३, ४८; ३०. १६; ऐब्रा०, ३. ३३. ६; शब्रा०, १३. ५. ४. ९; छाउ०, ८. ५. ३। द्र० सूर्यकान्त, सरस्, सोम ऐण्ड सीर; बीओआरआई० पूना.

१. **सरस्वती**—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सरस्वती का अनेक बार उल्लेख आता है। बाद के साहित्य में जहाँ इसका उल्लेख है, वहां यह कुरुक्षेत्र के पास धरती में समाहित हो जाने वाली सरस्वती है। द्रष्टव्य विनशन : तैसं०, ७. २. १. ४; पंविब्रा०, २५. १०. १; कौब्रा०, १२. २. ३; शब्रा०, १. ४. १. १४; ऐब्रा०, २. १९. १, २; संभवतः अवे०, ६. ३०. १।[५] सरस्वती का अर्थ है 'जलाशयों से परिपूर्ण' और सचमुच सरस्वती के आस पास का प्रदेश आजकल भी बरसात में तालाबों की एक लंबी शृङ्खला बन जाता है; ईरानियन में इसका समकक्ष नाम हरख्वैती है, जिसे आजकल हेलमंड कहते हैं। राथ को यह मान्य है कि ऋग्वेद के कुछ स्थलों में इसी सरस्वती का उल्लेख है (ऋ० २. २३. ४ जहाँ दृषद्वती है; १०. ६४. ९; १०. ७५. ५, जहाँ सिन्धु है)। दृषद्वती (संभवतः आधुनिक चौतंग, जो थानेश्वर के पूर्व में बहती है)[१] के साथ सरस्वती ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा थी; द्रष्टव्य मध्य-देश। सरस्वती प्रारम्भिक वैदिक काल की पावन नदी है; सूत्रों के अनुसार इसके तट पर पावन प्रभूत यज्ञ किये जाते थे : काश्रौसूत्र १२. ३. २०; २४. ६. २२; आश्रौसूत्र, १२. ६. २. ३; शांश्रौसूत्र, १३. २९।

ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य के निम्न स्थलों पर राथ ने सरस्वती के नाम से सिन्धु को लिया है : ऋ० १. ८९. २; १. १६४. १९; २. ४१. १६ एवं आगे; २. ३०. ८; २. ३२. ८; ३. ५४. १३; ५. ४२. १२; ५. ४३. ११; ५. ४६. २; ६. ४९. ७; ६. ५०. १२; ६. ५४. ६; ७. ९. ५; ७; ३६. ६; ७. ३९. ५; ७. ४०. ३; ८. २१. १७; ८. ५४. ४; १०. १७. ७; १०. ३०. १२; १०. १३१. ५; १०. १८४. २; अवे०, ४५. ४. ६; ५. २३. १; ६. ३. २; ६. ८९. ३; ७. ६८. १; १४. २. १५, २०; १६. ४. ४; १९. ३२. ९; तैसं०, १. ८. १३. ३; वासं०, १९. ९३; २४. ११; शब्रा०, १. ६. २. ४; ११. ४. ३. ३; १२. ७. १. १२; १२. ७. २. ५; बृउ०, ६. ३. ८। इनमें से कुछ स्थलों पर सरस्वती को नदीतमा कहा गया है : ऋ० २. ४१. १६; उसके मुसद्र में गिरने का उल्लेख है : ऋ० ६. ६१ २; ८. ७. ९६. २; उसे बहुत विशाल नदी बताया गया है, जिसके तट पर राजा (ऋ० ८. २१ १८) और पञ्चजन (ऋ० ६. ६१. १२) रहते थे। त्सिमर और अन्य विद्वानों ने इस मत को स्वीकार किया है।[२]

किंतु दूसरी ओर लास्सन[3] और मैक्समूलर[४] परवर्ती सरस्वती और वैदिक सरस्वती को एक ही मानते हैं। ऋ० १०. ७५. ५ में नदियों की गणना का क्रम यों है : गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री; यहाँ सरस्वती को यमुना और सतजल के बीच में रखा गया है। यह थानेश्वर के पश्चिम में बहने वाली और भटनेर के रेगिस्तान में विलीन हो जाने वाली सरसूती हो सकती है, जिसमें पटियाला के आस-पास घग्गर नामक एक और नदी आ मिलती है; वहाँ से सिन्धु तक एक सूखे नदी-मार्ग हक्र या

---

[१] यह गोग्रा की सहायक नदी है; बहरामघाट के बाद गोग्रा को भी सरजू कहा जाता है। गोग्रा की एक दूसरी शाखा, जो गोग्रा के पुराने मार्ग में दाहिनी ओर बहती है, और बलिया को पार करके गङ्गा में गिरती है, छोटी सरजू कहाती है, तु०—इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया २२. १०९; १२. ३०२; २३. ४१८; २६ प्लेट ३१।

[२] द्र०—आले०, १७-४५; तु०—म्यूर, संस्कृत-टैक्स्ट्स, २[२]. २५; मैक्समूलर, सेबुई०, ३२–३ २३।

[3] द्र०—रिलिजन्स आफ इंडिया ३४।

[४] द्र०—ट्रां० ऋ० ३. २८०।

[५] तु०—रॉथ, बोबू०।

[१] तु०—ओल्डहम, जराएसो०, २५. ५८; इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, २६ प्लेट ३२।

[२] द्र०—त्सिमर, आले०, ५. १०; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, १. ६०; २. ९० इत्यादि; लुड्विग, ट्रां० ऋग्वेद, ३. २०१. २०२।

[3] इंदिरशे आल्तरथुम्स्कुन्द, १[२]. ११८।

[४] सेबुई०, ३२. ६०।

घग्गर का निशान अब भी वर्तमान है[1]। मैक्समूलर का मत है कि वैदिक काल में सरस्वती सतलज जैसी एक प्रभूत नदी थी; और वह समुद्र तक पहुँचती थी, या तो सिन्धु में मिलकर अथवा अकेली ही। वह पंजाब की शेष भारत के साथ पूर्वी सीमा थी। इस बात के लिये कोई निर्णायक साक्ष्य तो नहीं मिलता कि सरस्वती के आकार या पथ में परिवर्तन हुआ है, किंतु इतना माना जा सकता है कि इसके आकार में कमी आ गई है। साथ ही परवर्ती और प्रारम्भिक सरस्वती को एक मानने के लिये और भी साक्ष्य हैं। ऋग्वेद २. ४१. १६ में सरस्वती की पवित्रता का उल्लेख आया है, जहाँ इसका संबोधन "देवितमे" है; और यही पवित्रता सरस्वती के साथ परवर्ती काल में भी बनी आ रही है। पञ्चविंश ब्राह्मण में **पारावतों** के सरस्वती के पूर्व में बसने का उल्लेख आया है; द्र०—**पारावत** और **बृसय**। यदि **सिन्धु** को सरस्वती माना जाय तो उन्हें अपने मूल निवास से बहुत दूर मानना पड़ेगा। **पूरुओं** को भी सरस्वती के तट पर रहने वाला बताया गया है; और इन्हें बहुत दूर पश्चिम में नहीं माना जा सकता: ऋ० ७. ९५, ९६[2]। जब पञ्चजनों को **कुरुक्षेत्र** में **भरतों** का पड़ोसी माना जाता है, जो कि सरस्वती के तट पर थे, तब सरस्वती को पंजाब की पूर्वी सीमा मानने में आपत्ति नहीं होती। जहां सात नदियों का उल्लेख है (ऋ० ८. २४. २७) वहां **सिन्धु** और **कुभा** (=काबुल) का उल्लेख न होकर पांच नदियों के साथ **सिन्धु** और सरस्वती का उल्लेख माना जा सकता है। ऋ ८. २४. २७ में सात नदियों का उल्लेख है; किंतु सरस्वती और सात नदियों का संवन्ध अव्यवस्थित-सा है। ऋ० ८. ५४. ४ में सात नदियों और सरस्वती को संबोधित किया गया है; ६. ६१. १. १२ में उसे सात बहनों वाली नदी बताया गया है; ऋ० ७. ३६. ६ में उसे "सातवीं नदी" कहा गया है। यदि "सात बहनों वाली" नदी के कथन में सरस्वती को अलग मानें तब तो **कुभा** और **सिन्धु** के साथ ही गणना करनी पड़ेगी। किंतु यहाँ भाव वैसा नहीं है; इसलिये सरस्वती को उन सात में से एक माना जा सकता है। सरस्वती के समुद्र में गिरने के अनुल्लेख का कारण ढूंढना भी कठिन नहीं है; इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक कवि

[1] द्र०—इंपीरियल गज़ेटियर आफ इंडिया, २६; प्लेट ३२; तु०—ओल्डहम, जराएसो०, २५, ४९—७६।

[2] लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १७५; इन्होंने स्वीकार किया है कि यहां सिन्धु अभिप्रेत नहीं है; तु० हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. ११५।

उसके अन्त तक गये ही नहीं थे या वह बहुत दूर रेगिस्तान को सींचती चली गई थी और ब्राह्मण काल के पहले उसके विलुप्त होने का ज्ञान न हो पाया था। वाजसनेयि संहिता ३४. ११ में सरस्वती में पांच नदियों के गिरने का उल्लेख है; किंतु यह उल्लेख बहुत बाद का है (जैसा कि देश शब्द के प्रयोग से प्रमाणित होता है); किंतु इसका यह आशय नहीं है कि ये पांचों नदियां पंजाब की हैं।

हिल्लेब्राण्ड्ट ने इस मत को कुछ अदल बदल के साथ स्वीकार किया है[1]। उन्होंने इसमें एक देवशास्त्रीय नदी (बाद की **वैतरणी**) और अराखोसिया की **अर्धन्दव** का भी उल्लेख माना है; (देवशास्त्रीय) नदी: ऋ० ७. ९५. ६; १०. १७. ७; अवे०, ७. ६८. २; १४. २. २०; पंविब्रा०, ३५. १०. ११; **अर्धन्दव**, ऋ० ६. ४९. ७; ६. ६१; संभवतः वासं०, ३४. ११। उनके ऐसा मानने का आधार उनका यह मन्तव्य है कि ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के विपरीत उसके षष्ठ मण्डल में ईरान के दृश्यों के संकेत मिलते हैं। किंतु उनका यह मत चिन्त्य है। द्र०—**दिवोदास**। ब्रुन्नहोफर ने इस प्रसङ्ग में ईरानी नदी के संकेत माने थे, किंतु बाद में **आक्सस** के पक्ष में निर्णय दिया था, जिसका यहां पर प्रश्न ही नहीं उठता[2]। द्र०—**प्लक्ष प्रास्रवण**।

तु० 'वाक् सरस्वती' शब्रा० ७. ५. १. ३१; 'वाग् वै सरस्वती पावीरवी' ऐब्रा०, ३. ३७; 'अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम्' ऐब्रा०, ३. ४; 'जिह्वा सरस्वती' शब्रा०, १२. ९. १. १४; 'सरस्वती हि गौः' शब्रा०, १४. २. १. ७; 'अमावास्या वै सरस्वती' गोब्रा०, २. १. १२; 'योषा वै सरस्वती वृषा पूषा' शब्रा० २. ५. १. ११; 'एषा वा अपां पृष्ठं यत् सरस्वती' तैब्रा०, १. ७. ५. ५; 'ऋक्सामे वै सारस्वता-वुत्सौ' तैब्रा०, १. ४. ४. ९; 'सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम्' कौब्रा १२. २; 'अथ यत् (अक्ष्णोः) कृष्णं तत् सारस्वतम्' शब्रा०, १२. ९. १. १२;

२. सरस्वती—वाक् या वाग्देवी के अर्थ में सरस्वती शब्द ऋग्वेद-काल से ही आम है: ऋ० १. ३. १०, ११, १२; १. १३. ९; १. ८९. ३ इत्यादि।

[1] द्र०—वैमि० १. ९९ एवं आगे; ३. ३७२—३७८।

[2] द्र०—बेत्सनबर्गर्स बाइत्रागे १०. २६१ टि० २; ईरान उण्ड तूरान, १२७।

तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स ५. ३३७ एवं अग्रिम; मैकडानल, संस्कृत लि० १४१; वैमा०, पृष्ठ ८६, ८८; फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, ८४, १६४।

सरह्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द मधुमक्खी के लिये आया है: ऋ० १. ११२. २१; तैसं०, ५. ३. १२. १२; शब्रा०, १३. ३. १. ४; उणादि सूत्रों में धातुज शब्द सरट् है; उणादि सूत्र, १. १३३। द्र०—सरघ्

तु०—मैकडानल, वैदिक ग्रामर, पृष्ठ २३८ टि० २; तु०—त्सिमर, आले०, ९७।

सरित्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सरित् शब्द नदी के अर्थ में आम है: ऋ० ४. ५८. ६; ७. ७०. २; अवे०, १२. २. ४१; वासं०, २४. ११; तैब्रा०, १. २. १. ११ इत्यादि।

सरीसृप—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सरीसृप रेंगने वाले जन्तु के लिये आता रहा है: ऋ० १०. १६२. ३; अवे०, ३. १०. ६; १९. ७. १; १९. ४८. ३ इत्यादि।

सर्प—सांप। ऋग्वेद में, जहां इस अर्थ में अहि शब्द आम है, वहां सर्प शब्द केवल एक बार १०. १६. ६ में आया है; किंतु परवर्ती साहित्य में यह शब्द आम बन गया है: अवे०, १०. ४. २३; ११. ३. ४७; तैसं०, १. ५. ४. १; ३. १ : १. १ इत्यादि।

तु० 'इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च' शब्रा०, ७. ४. १. २५; 'रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा इव हि सर्पाणामायतनान्यस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च विभ्रातृव्यम्' शब्रा०, ४. ४. ५. ३;

सर्प-राज्ञी—सर्पों की रानी। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ऋग्वेद १०. १८९ की द्रष्ट्री का नाम सर्प-रानी है: तैसं०, १. ५. १; तैब्रा०, १. ४. ६. ६; २. २. ६. १; ऐब्रा०, ५. २३. १. २।

तु० 'इयं (पृथिवी) वै सर्पराज्ञीयं हि सर्पतो राज्ञी' ऐब्रा०, ५. २३; शब्रा०, २. १. ४. ३०; 'देवा वै सर्पाः। तेषामियं (पृथिवी) राज्ञी' तैब्रा०, २. २. ६. २;

सर्प-विद्या—अध्ययन के विषयों में अन्य विद्याओं के साथ-साथ सर्प-विद्या का भी उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (१३. ४. ३. ९; तु०—शांश्रौसूत्र, १६. २. २५; आश्रौसूत्र, १०. ७. ५ में विष-विद्या और छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २, ४; ७. २. ७; ७. ४. १; ७. ७. १ में सर्पदेव-जन-विद्या द्र० शब्रा०, १३. ४. ३. ९) में आता है। निश्चय ही सर्प-विद्या के कुछ नियम रहे होंगे; और इनका संकलन रहा होगा; क्योंकि इसके एक पर्वन् का वहां उल्लेख मिलता है। गोपथ ब्राह्मण १. १. १० में सर्प-वेद का उल्लेख आया है।

तु०- एगलिंग, सेबुई०, ४४. ३६७ टि०—३।

सर्पि वात्सि—वत्स का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ६. २४. १५ में यह एक आचार्य का नाम है।

औफ़ेक्ट संपादित ऐतरेय ब्राह्मण, ४२४ में "सर्पिर्" शब्द है।

सर्पिस् बोबू० के अनुसार पिघलाये मक्खन को तरल या घनीभूत रूप में सर्पिस् (=घृत) कहते हैं। रॉथ ने ऐतरेय ब्राह्मण १. ३. ५ के भाष्य में सायण द्वारा उल्लिखित घृत (=घनीभूत घी) और सर्पिस् (=तरल घी) के अन्तर को स्वीकार नहीं किया है। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में घृत शब्द बार-बार आया है: ऋ० १. १२७. १; ५. ६. ९; १०. १८. ७; अवे०, १. १५. ४; ९. ६. ४१; १०. ९. १२; १२. ३. ४५; तैसं०, २. ३. १०. १ इत्यादि।

सर्व—देखो शर्व।

सर्व-चरु—ऐतरेय ब्राह्मण ६. १. १ और कौषीतकि ब्राह्मण २९. १ में देवों के सर्व-चरु यज्ञ का उल्लेख है। बोबू० के अनुसार यह एक व्यक्ति का नाम है। यह किसी स्थान का नाम भी संभव है (सायण-भाष्य, ऐतरेय ब्राह्मण २९. १), और एक विशेषण भी है; द्र०—औफ़ेक्ट, ऐब्रा०, ४२५, टि०—१।

सर्व-ज्योतिः—यज्ञ-विशेष। 'परमो वा एष यज्ञः (सर्व-ज्योतिः),' तांब्रा०, १६. ९. २।

सर्व-वेदस—ब्राह्मणों में सर्ववेदस एक यज्ञ है, जिसमें यजमान अपनी सारी संपदा पुरोहित को दान में दे देता है: तैब्रा०, १०. ४. ७. ७; कौब्रा०, २५. १४; पंविब्रा०, ९. ३. १। यह शब्द संपूर्ण संपत्ति के अर्थ में भी आया है: तैसं०, ७. १. १. ३; तैब्रा०, ३. २. १; पंविब्रा०, ६. ७. १५; शब्रा०, ४. ६. १, १५ इत्यादि।

सर्षप—सरसों। परवर्ती वैदिक साहित्य में कुछ बार यह शब्द आया है: छाउ०, ३. १४. ३; तु०—षड्विंश ब्राह्मण ५. २; शांश्रौसूत्र, ४. १५. ८ इत्यादि; किंतु परवर्ती साहित्य में यह सामान्य बन गया है।

सलावृकी—द्रष्टव्य—सालावृक।

सलिल=सरिर, √सृ। जल के अर्थ में सलिल शब्द ऋग्वेद काल से ही आम है: ऋ० १०. ७२. ६; १०. १०९ १; अवे०, ४. १५. ११; तैसं०, ४. ४. १२. ३ इत्यादि।

तु० 'वेदिर्वै सलिलम्' शब्रा०, ३. ६. २. ५।

सलिल-वात- याजुष संहिताओं में यह शब्द 'पानी पर से आने वाली वायु से अनुगृहीत' इस अर्थ में

आया है। भाष्यकार ने 'सलिल-नामक वायु से अनुगृहीत' यह अर्थ माना है। संभवतः समुद्री हवा या दक्षिण-पश्चिमी मानसून अभिप्रेत हो: तैसं०, ४. ४. १२. ३; कासं०, २४. ४; इंडियन एम्पायर, १. १००। ऋग्वेद में मानसून का उल्लेख नहीं के बराबर है। **मरुत्सूक्तों** में मानसून का जिक्र हो सकता है; द्र०—ऋ० १. १९. ७; १. ३७. ६ एवं आगे; १. ३८. ८; १. ६४. ८; १. ८८. ५; ५. ८३. १ एवं आगे; ५. ८५. ४; त्सिमर, आले०, ४२-४४।

सल्व—शतपथ ब्राह्मण १०. ४. १. १० में सल्व एक जाति है। वहीं **श्यापर्ण शायकायन** की आत्म-श्लाघा आती है, जिसके अनुसार "यदि उनका यज्ञ पूर्ण हो जाता तो उनकी जाति सल्वों में धनी, ब्राह्मण और कृषक बन जाती; किंतु यह न होने पर भी उनकी जाति सल्वों से आगे बढ़ी हुई थी': मन्त्रपाठ २. ११. १२ में "साल्वीः प्रजाः" आता है, जहां उन्होंने **यमुना-तट** पर अपने रथों को रोकते हुए अपने राजा **यौगंधरि** का उल्लेख किया है[1]। बाद के संदर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि साल्व या शाल्व लोग **कुरुपञ्चाल** में रहते थे और उनमें से कुछ **यमुना** के तट पर विजयी हुए थे; द्र०—महाभारत, ४. १. ११; ८. ४. (४५) १४; पाणिनि, ४. १. १७३ की काशिकावृत्ति में भी **यौगंधरों** का नाम आता है। वैदिक युग में इन्हें उत्तर-पश्चिम में मानने के लिये स्पष्ट साक्ष्य नहीं हैं[2]।

सवन—सवन का प्रारम्भिक अर्थ था सोम को निचोड़कर उसका रस निकालना। फिर यह सोम की आहुति के लिये आने लगा, जो दिन में तीन बार दी जाती थी: प्रातःसवन, माध्यंदिन सवन और सायंसवन। बाद में यह यज्ञ या हविर्विशेष का वाचक बन गया: ऋ०, १. २१. ४; १. १३१. १; २. १८. ७; २. ४३. २; ३. ३६. ८; ९. ८०. १; ४. २२. ५; ४. ३५. ४; ४. ३६. २; ७. ५९, ७; ८. ५५. १२; १०. ४०. ३; अवे०, ७. ९७. ४; ९. १. १२; तैसं०, ६. १. ६. ४, ६. ४. ५. १; ऐब्रा०, २. २४. ३. २७ इत्यादि।

सवितृ—प्रेरक। सविता एक प्रमुख सूर्य-संबद्ध देव हैं। इन्हें द्युलोक-स्थानीय और अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता भी कहा गया है। कहीं-कहीं इन्हें सूर्य से अभिन्न और कहीं-कहीं भिन्न भी माना गया है। सायण के अनुसार उदय के पूर्व सविता होता है और उदयोपरान्त सूर्य होता है। ऋग्वेद के ११ सूक्तों में अकेले सविता की आराधना आती है। कुछ अन्य सूक्तों में भी उनका उल्लेख आया है। आदित्यों में भी उनकी गणना की जाती है। उन्हें हिरण्य-बाहु और हिरण्य-हस्त कहा गया है। गायत्री या सावित्री मन्त्र (ऋ० ३. ६२. १०) उन्हीं को संबोधित करके पढ़ा जाता है: ऋ० १. ३४. १०; १. १२३. ३; १. १६४. २६; २. ३०. १; ३. ६२. १०; ४. ५३. १; ४. ५४. २; ५. ८१. ३; ५. ८२. ३; ६. १; ७. ३८. १; ७. ७१. १; ७. ६३. ३; अवे०, ५. २७. १; ५. २४. १; शब्रा०, १. १. २. १७; ६. ३. १. १९; मैकडानल, वै० मा०।

तु० 'सविता वै देवानां प्रसविता' शब्रा०, १. १. २. १७; 'आदित्य एव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'असौ वै सविता योऽसौ तपति' कौब्रा०, ७. ६; 'अग्निरेव सविता' जैउब्रा०, ४. २७. १; 'यो ह्येव सविता स प्रजापतिः' शब्रा०, १२. ३. ५. १; 'प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत' तैब्रा०, १. ६. ४. १; 'वरुण एव सविता' जैउब्रा०, ४. २७ ३; 'विद्युदेव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'वायुरेव सविता' गोब्रा० १. १. ३३; 'चन्द्रमा एव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'यज्ञ एव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'इयं (पृथिवी) वै सविता' शब्रा०, १३. १. ४. २; 'अभ्रमेव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'वेदा एव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'अहरेव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; 'पशवो वै सविता' शब्रा०, ३. २. ३. ११; 'प्राणो वै सविता' ऐब्रा०, १. १९; 'मनो वै सविता' गोब्रा०, ६. ३. १. १३; 'यकृत् सविता' शब्रा०, १२. ९. १. १५; 'उष्णमेव सविता' गोब्रा०, १. १. ३३; '(वायुः) यदुत्तरतो वाति सवितैव भूत्वोत्तरतो वाति' तैब्रा०, २. ३. ९. ७; 'अथ यत्र ह तत् सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे' कौब्रा०, १८. १;

सव्यष्ठा[1], **सव्यष्ठ**[2], **सव्येष्ठा**[3], **सव्यस्थ**[4]—ये सभी शब्द रथ में स्थित योद्धा के लिये आते हैं, जो सारथि के वाम भाग में रहता था। भाष्यकारों (शब्रा०, ५. ३. १. ८ पर; तैब्रा०, १. ६. ९. १ पर) ने सव्यष्ठा के रूप में एक दूसरे सारथि को माना है; किंतु यह चिन्त्य है[5]।

---

[1] द्र०—विंटरनित्स, मन्त्र-पाठ, ४५—४७।

[2] तु०—वेबर, इस्टू०, १. २१५; बाद में राजस्थान में रहे होंगे, लास्सन, इंदिश्शे आल्तरथुम्स्कुन्द, १२. ७६०।

---

[1] अवे०, ८. ८. २३।

[2] शब्रा०, ५. २, ४. ९; ५. ३. १. ८; ५. ४. ३. १७; १८. [3] तैब्रा०, १. ६. ९. १।

[4] काण्वशाखीय शब्रा०; एगलिंग, सेबुई०, ४१. ६२ टि०; मैसं०, ४. ३. ८।

[5] एगलिंग, उपर्युक्त। हापकिन्स, जअओसो०, १३. २३५।

तु०—त्सिमर, आले०, २९६।

सस—ऋग्वेद १. ५१. ३, १०. ७९. ३ में पौधा या घास-विशेष के अर्थ में यह शब्द आया है। सोम-लता (ऋ० ३. ५. ६; ४. ५. ७ इत्यादि) और याज्ञिक पलाल (ऋ० ५. २१. ४) के लिये भी इसे माना जा सकता है।

ससर्परी—ऋग्वेद ३. ५३. १५, १६ में ससर्परी शब्द आया है। परवर्ती व्याख्या (बृदे०, ३. ११३ मैकडानल के नोट के साथ) के अनुसार विशष प्रकार की वाक् ससर्परी है, जिसे **विश्वामित्र** ने **जमदग्नि** से प्राप्त किया था।

तु०—गेल्डनर, वैस्टू०, २. १५९।

सस्य—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अन्न के अर्थ में सस्य शब्द आया है। यह अवेस्ता के हह्य के समकक्ष है: ऋ० ७. ११. १; ८. १०. २४; तैसं०, ३. ४. ३. ३; ५. १. ७. ३; ७. ५. २०. १; मैसं०, ४. २. २ इत्यादि। द्र०—**कृषि**।

सह—अथर्ववेद (११. ६. १५; तु०—सामविधान ब्राह्मण २. ६. १०) में सह से रॉथ ने वोबू० में एक पौधा लिया है; किंतु ब्लूमफील्ड[१] ने इसे 'शक्तिशाली' इस अर्थ में विशेषण माना है।

सह-जन्या—देखो **मेनका, माहित्थि**।

सह-देव—ऋ० १. १००.१७ में एक राजा सहदेव का उल्लेख आता है, जिन्होंने **शिम्युओं** और **दस्युओं** पर विजय प्राप्त की थी। यह संभव है कि वे सहदेव **सांजय** से अभिन्न रहे हों, जिनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण २. ४. ३, ४ (तु०—१२. ८. २. ३) में मिलता है और जिन्हें एक बार **सुप्लन् सांजय** कहा गया है। उन्होंने दाक्षायण यज्ञ के ज्ञान के कारण अपना नाम बदल दिया था। ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में **सोमक साहदेव्य** के साथ उनका उल्लेख आया है, जिनका जिक्र ऋग्वेद ४. १५. ७ एवं अग्रिम में मिलता है।

तु०—त्सिमर, आले०, १३२; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि० १. १०५, १०६।

सह-देवी—भाष्य के अनुसार अथर्ववेद में सहदेवी एक पौधा है। द्र०—अवे०, ६. ५९. २।

तु०—ग्रिल, हुंडेर्त लीडर २, १६३; ह्विटनी, ट्रां०अवे०, ३२५; ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ४९०; जिन्होंने इस पाठ को स्वीकार नहीं किया है। सामविधान ब्राह्मण ३. ६. १०; में सहदेव एक पौधा है।

सह-मान—अथर्ववेद में एक पौधा है: अवे०, २. २५. २; ४. १७. २; ८. २. ६; ८. ७. ५ आदि।

[१] हिम्स ऑफ दि अवे०, ६४८।

तु०—ह्विटनी, ट्रां०अवे०, ६४२; त्सिमर, आले०, ७२।

१. सहस्—बल, √सह्: ऋ० १. २४. ६; १. ५१. १०; १. १२७. १०; २. १७. १; ४. २०. ६; ५. २३. ४; ५. ३१ ३; ६. १. १; ४. ५०. १; ५. ५७. ६; ६. ५. ६; ६. ६६. ९; ७. ६. ५; ७. २१. ७; अवे०, ४. ३६. ३; शब्रा०, १२. ७. १. ८ इत्यादि।

२. सहस्—द्र०—**मास**।

सहस्य—द्र०—**मास**।

सहस्र-वर्तनि—'साम वै सहस्रवर्तनि' षब्रा० १. ४।

सहो-जित्—द्र०—**जैत्रायण**।

सांवरणि—ऋग्वेद ८. ५१. १ में **मनु** के पैतृक नाम के रूप में सांवरणि (=**संवरण** का पुत्र) शब्द आया है। ब्लूमफील्ड के अनुसार शुद्ध पाठ सावर्णि है[१], जिसका अर्थ है **सवर्णा** से उत्पन्न=**मनु**। प्राचीन देवकथा में **सरण्यू** का स्थान **सवर्णा** (छाया) में ले लिया था। द्र०—**मनु**। यह संभव है। शेफ्तलोवित्स[२] ऋग्वेद की कश्मीर में प्राप्त पांडुलिपि में मिलने वाले "सांवरण" (="यज्ञभूमि में प्राप्त") पाठ के आधार पर इसे **सोम** का विशेषण मानते हैं। यह चिन्त्य है[३]। हमें या तो **मनु सांवरणि** नाम का एक असली व्यक्ति मानना चाहिये, या **मनु** को एक नाम और **सांवरणि** को दूसरा नाम मानना चाहिये, अथवा यह मान लेना चाहिये कि **मनु सांवरणि** मनु का ही पैतृक नाम है, जहां **संवरण**—संबन्धी देवकथा का लोप हो चुका है।

सांवर्त—साम-विशेष। तु० 'देवानां वै यज्ञं रक्षांस्यजिघांसन् तान्येतेन इन्द्रः संवर्तमुपावपद्यत् संवर्तमुपावपद्यत् तस्मात् सांवर्तम्' तांब्रा०, १४. १२. ६।

साकमश्व देवरात—शांखायन आरण्यक १५. १ की अन्तिम वंश-सूची में **विश्वामित्र** के शिष्य एक आचार्य का नाम साकमश्व देवरात है।

साकमश्व साम—'ते (देवाः) अग्निं मुखं कृत्वा साकमश्वेन अभ्यक्रामन् यत्साकमश्वेनाभ्यक्रामंस्तस्मात् साकमश्वम्' तांब्रा०, ८. ८. ४; 'यदग्निरश्वो भूत्वाभ्यत्यद्रवत् तत् साकमश्वं सामाभवत्' ऐब्रा०, ३. ४. ९; 'यदग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय तस्मात् साकमश्वम्' गोब्रा०, २. ४. ११;

साकमेध—'ऐन्द्रो वा एष यज्ञक्रतुर्यत् साकमेधाः' कौब्रा०, ५. ५।

[१] द्र०—जअओसो०, १५. १८० टि०।

[२] दी अपोक्रिफन देस ऋग्वेद ३८।

[३] द्र०—ओल्डनबर्ग, गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन, १९०७, २३७।

सांकृती-पुत्र—संकृत-वंशीया का पुत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की एक वंश-सूची में **आलम्बायनी-पुत्र** (काण्व० बृ० उ०, ६. ५. २) या **आलम्बीपुत्र** (माध्यंदिन बृ० उ०, ६. ४. ३२) के शिष्य एक आचार्य का नाम सांकृती-पुत्र है।

सांकृत्य—**संकृति** का वंशज। माध्यंदिनशाखीय बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ५. २०; ४. ५. २६; तु०—तैब्रा०, ८. २१; १०. २१; १६. १६) की प्रथम दो वंश-सूचियों में **पाराशर्य** के शिष्य एक आचार्य का नाम सांकृत्य है।

साची-गुण—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ४ में प्राप्त एक पद्य में **साचीगुण भरतों** के क्षेत्र में एक स्थान का नाम प्रतीत होता है। लियोमान के अनुसार **साचीगुण इन्द्र** का विशेषण हो सकता है; किंतु यह विचार्य है।

सांजीवी-पुत्र—शतपथ ब्राह्मण में आचार्यों की वंश-सूची में **माण्डूकायनि** के शिष्य एक आचार्य का नाम सांजीवी-पुत्र है : शब्रा०, १०.६.५. ९; माध्यंदिन ६. ५. ४ काण्व। किंतु दोनों शाखाओं की बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्हें **प्राश्नीपुत्र औसुरिवासिन्** का शिष्य बताया गया है : बृउ०, ६. ४. ३२ माध्यंदिन ६. ५. २ काण्व। इससे प्रतीत होता है कि ये दो गुरु-परंपराओं में थे,—**शाण्डिल्य** की अग्नि-उपासन में और **याज्ञवल्क्य** की ज्ञानोपासन-परंपरा में।

तु०—एर्गालंग, सेबुई०, १२. ३४ एवं आगे; वेबर, इंलि०, १३१।

साति औष्ट्राक्षि—**उष्ट्राक्ष** का वंशज। वंश ब्राह्मण (इस्तू०, ४.३७२) में आचार्य का नाम साति औष्ट्राक्षि है।

सात्य-कामि—**सत्यकाम** का वंशज। तैत्तिरीय संहिता २. ६. २. ३ में **केशिन्** का पैतृक नाम सात्य-कामि है।

सात्य-कीर्त—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३२. ४. १ में आचार्यों की एक शाखा का नाम सात्यकीर्त है।

सात्य-यज्ञ—**सत्ययज्ञ** का वंशज। शब्रा० ३. १. १. ४ में एक आचार्य का नाम है।

१. **सात्य-यज्ञि**—**सत्ययज्ञ** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ११. ६. २. १; ३. १३. ४. २. ४; १३. ५. ३. ९ में **सोम-शुष्म** का पैतृक नाम सात्ययज्ञि है।

२. **सात्य-यज्ञि**—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २.४.५ में **शैलनों** और **कारीरदियों** के साथ आचार्यों की एक शाखा का नाम सात्य-यज्ञि है।

[1] त्सादामोगे०, ४८. ८० टि० ५।

सात्य-हव्य—**सत्यहव्य** का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. ९ में **अत्यराति जानंतपि** के समकालीन एक **वसिष्ठ** का पैतृक नाम सात्य-हव्य है। तैत्तिरीय संहिता ६. ६. २. २ में यह **देवभाग** का पैतृक नाम है।

सात्रा-जित—**सत्राजित्** का वंशज। ऐब्रा० ८. २१. ५ और शब्रा० १३. ५. ४. १९, २१ में यह **शतानीक** का पैतृक नाम है।

सात्रा-साह—**सत्रासाह** का वंशज। शब्रा० १३. ५. ४. १६, १८ में यह **शोण** का पैतृक नाम है।

सादिन्—अथर्ववेद ११. १०. २४ में घुड़सवार को सादिन् कहा गया है। वाजसनेयि संहिता ३०. १३ में भी घुड़सवार का उल्लेख आया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. ७. १ और ऋग्वेद १. १६२. १७; ५. ६१. ३। (तु०—१. १६३. ९) में घुड़सवारी का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय आरण्यक १. २. ४ (तु०—शब्रा०, ७. ३. २. १७) में पार्श्वभाग से घोड़े पर चढ़ने का उल्लेख है। आश्वलायन श्रौत-सूत्र ११. ९. १४ में **वह्य** अश्व के विपरीत **साद्य** अश्व का उल्लेख आया है।

तु०—त्सिमर, आले०, २३०, २९५, २९६, मैक्समूलर, सेबुई०, ३२. ३५८; कीथ, ऐतरेय आरण्यक, १७७; वेबर, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि बर्लिन एकेडमी, १८९८, ५६४।

साद्य—द्र०—**सादिन्**।

साधारणी—ऋग्वेद १. १६७. ४ में "साधारणी' शब्द को मैक्समूलर वेश्या के अर्थ में लेते हैं[1]।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ३३२; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ४. ५. ४६१; पिशल और गैल्डनर, वैस्तू० १. २५।

सानु—अग्रभाग या चोटी के लिये ऋग्वेद-काल से ही आम है : ऋ० १. १०. २; ६. ४८. ५; १. १४६. २; ६. ३९. २; ६. ६१. २; १. ११७. १६; ६. ६. ४; ५५. १; ६. ७. ६; ८. ९२. २ इत्यादि।

साप्त—ऋग्वेद ८. ५५. ५ में साप्त शब्द व्यक्ति-वाचक हो सकता है; किंतु अर्थ अनिश्चित है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ५. ५५२; ग्रिफिथ, हिम्स ऑफ दि ऋग्वेद, २. २६६।

साप्तरथ-वाहनि—**सप्तरथ-वाहन** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. १. ४. १०; ११ में यह **शाण्डिल्य** के शिष्य एक आचार्य का पैतृक नाम है।

तु०—वेबर, इस्तू०, १. २५९ टि०।

साप्य या साय्य—ऋग्वेद ६. २०. ६ में **नमी** का पैतृक नाम साप्य या साय्य है।

[1] सेबुई० ३२. २७७।

साम-वेद—एक संहिता के रूप में सामवेद का नाम ब्राह्मणों एवं बाद के साहित्य में आया है : तैब्रा०, ३. १२. ९. १; ऐब्रा०, ५. २२. १; शब्रा०, ११. ५. ८. ३; १२. ३. ४. ९; ऐब्रा०, ३. २. ३; बृउ०, १. ५. १३ माध्यंदिन=१. ५. ५ काण्व, १. २. ४. १०; ४. १६ माध्यं०=४. १. २ काण्व, ४. ५. ११ माध्यं० छाउ०, १. ३. ७; ३. ३. १. २; ३. ३. १५. ७; ७. १. २, ४; ७. ७. १ इत्यादि। ऋग्वेद में भी सामन् का उल्लेख मिलता है : १. ६२. २; १. १०७. २; १. १६४. २४ इत्यादि[1]। अथर्ववेद-काल से ऋक्, यजुस्, और सामन् का उल्लेख मिलता है : अवे०, १०. ७. १४; ११. ७. ५; वासं०, ३४. ५ इत्यादि। इन पाठों में सामग या साम-गान करने वाले का भी उल्लेख मिलता है : ऋ० २. ४३. १; १०. १०७. ६; अवे०, २. १२. ४; ऐब्रा० २. २२. ३; २. ३७. ४; ३. ४. १।

तु०—'यद् वै तत् सा चामश्च समभवतां तत् सामाभवत् तत् साम्नः सामत्वम्' ऐब्रा० ३. २३; 'सैव नामर्गासीत्। 'अमो नाम साम' गोब्रा० २. ३. २०; 'प्राणो वा वामो वाक् सा, तत् साम' जैउब्रा० ४. २३. ३; 'ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्तां सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम' ऐब्रा० ३. २३; 'एष (प्राणः) उ एव साम। वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव साम' शब्रा० १४. ४. १. २४; 'प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि' शब्रा० १४. ८. १४. ३; 'प्राणा वै सामानि' शब्रा० ९. १. २. ३२; 'स यः प्राणस्तत् साम' जैउब्रा० १. २५. १०; 'प्राण एव साम' जैउब्रा० ३. १. १८; 'प्राणो वाव साम्नः सुवर्णम्' जैउब्रा० १. ३९. ४; 'तद् यदेतत् सर्वं वाचमेवाभिसमयति तस्माद् वागेव साम' जैउब्रा० १. ४०. ६; 'एतदु ह वाव साम यद् वाक्' जैउब्रा० २. १५. ४; 'वागेवर्चश्च सामानि च मन एव यजूंषि' शब्रा० ४. ६. ७. ५; 'वाग्देवत्यं साम, वाचो मनो देवता, मनसः पशवः, पशूनामोषधय, ओषधीनामापः। तदेतदद्भ्यो जातं सामाप्सु प्रतिष्ठितम्' जैउब्रा० १. ५९. १४; 'स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स्वः स्वर्गलोकोऽभवत्' षब्रा० १. ५; 'साम वा असौ (द्यु-) लोकः। ऋगयं (भूलोकः)' तांब्रा० ४. ३. ५; 'साम्नामादित्यो देवतं तदेव ज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम्' गोब्रा० १. १. २९; 'अर्चिः सामानि' शब्रा० १०. ५. १. ५; 'वायुरेव साम' जैउब्रा० ३. १. १२; 'साम वै सहस्रवर्तनि' शब्रा० १. ४; 'साम वा ऋचः पतिः' शब्रा० ८. १. ३. ५; 'ऋचि साम गीयते' शब्रा० ८. १. ३. ३; एतद् वाव साम यावान् स्वरः। ऋग् वा एषर्ते स्वराद् भवति' जैउब्रा० १. २१. ९; 'न वा अहिङ्कृत्य साम गीयते' शब्रा० १. ४. १. १; 'तानि वा एतानि त्रीणि साम्न उद्गीतमनुगीतमागीतम्। तद् यथेदं वयमागायोद्गायाम एतदुद्गीतम्। अथ यद् यथागीतं तदनुगीतम्। अथ यत् किं चेति साम्नस् तदागीतम्' जैउब्रा० १. ५५. १४; 'सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम' शब्रा० १२. ८. ३. २३; 'साम हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता' शब्रा० ४. ४. ५. ६; 'नासामा यज्ञोऽस्ति' शब्रा० १. ४. १. १; 'सोमाहुतयो ह वा एता देवतानां यत् सामानि' शब्रा० ११. ५. ६. ६; 'सामैवान्नम्' साविं० १. १. ३; 'सो (प्रजापतिः) ऽब्रवीदेकं वावेदमन्नाद्यमसृक्षि सामैव' जैउब्रा० १. ११. ३; 'साम देवानामन्नम्' गोब्रा० ६. ४. १३; 'क्षत्रं वै साम' शब्रा० १२. ८. ३. २३; 'साम्राज्यं वै साम' शब्रा० १२. ८. ३. २३; 'संवत्सर एव साम' जैउब्रा० १. ३५. १; 'साम हि सत्याशीः' तांब्रा० ११. १०. १०; 'तयोः (सदसतोः) यत् सत् तत् साम तन्मनः स प्राणः' जैउब्रा० १. ५३ २; 'मनो वाव साम्नः श्रीः' जैउब्रा० १. ३९ २; 'श्रोत्रं वाव साम्नः श्रुतिः' जैउब्रा० १. ३९. ६; 'चक्षुर्वाव साम्नोऽपचितिः' जैउब्रा० १. ३९. ५; 'वामदेव्यं वै साम्नां सत्' तांब्रा० ४. ८. १०; 'सद् वै वामदेव्यं साम्नाम्' तांब्रा० १५. १२. १; 'बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति' तांब्रा० ७. ३. १६; 'अन्तो बृहत् साम्नाम्' तांब्रा० १९. १२. ८; 'अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकः' शब्रा० १०. ५. २. १; 'महाव्रतं साम्नाम् (समुद्रः)' शब्रा० ९. ५. २. १२; 'धर्म इन्द्रो राजेत्याह तस्य देवा विशः·····सामानि वेदः······साम्नां दशतं ब्रूयात्' शब्रा० १३. ४. ३. १४; 'प्राणः सामवेदः' शब्रा० १४. ४. ३. १२; 'स्वर्गो लोकः सामवेदः' षब्रा० १. ५; 'सूर्यात् सामवेदः' शब्रा० ११. ५. ८. ३; 'सामवेद एव यशः' गोब्रा० १. ५. १५; शब्रा० १२. ३. ४. ९; 'सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः' तैब्रा० ३. १२. ९. २; 'सामवेदेनास्तमये महीयते' तैब्रा० ३. १२. ९. १; 'सामवेदेऽथ खिलश्रुतिः ब्रह्मचर्येण चैतस्मादथर्वाङ्गिरसो ह यो वेद स वेद सर्वम्' गोब्रा० १. १. २९।

१. **साम-श्रवस**—साम-गान में प्रसिद्ध। बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १. ३ में यह शब्द आया है। मैक्स मूलर[2] के अनुसार यह **याज्ञवल्क्य** की उपाधि है; किंतु बोहटलिङ्क ने (अपने अनुवाद, ३६ में) इसे उनके एक शिष्य का नाम माना है।

---

[1] तु०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामोगे०, ३८, ४३९ एवं आगे।

[2] सेबुई० १५. १२१।

२. **साम-श्रवस**—**साम-श्रवस्** का वंशज । पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ४. ३ में **कुषीतक** का पैतृक नाम साम-श्रवस् है।

सामिधेनी—ऋग्विशेष । 'एता हि वा इदं सर्वं समिन्धत एताभिरिदं सर्वं समिद्धं तस्मात् सामिधेन्यो नाम' शब्रा० ११. २. ७. ६; 'समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्यो नाम' शब्रा० १. ३. ५. १; 'वज्रो वै सामिधेन्यः' कौब्रा० ३. २. ३ ।

सामुद्रि—**समुद्र** का वंशज । शतपथ ब्राह्मण १३. २. २. १४ में **अश्व**—नामक एक देवशास्त्रीय साधु का नाम है।

सांमद—**संमद** का वंशज । शतपथ ब्राह्मण १३. ४. ३. १२ में एक देवशास्त्रीय मत्स्य का नाम सांमद है। तु० 'मत्स्यः सांमदो राजेत्याह तस्योदके चरा विशः' शब्रा० १३. ४. ३. १२ ।

साम्राज्य—तु० 'तस्मादे तस्यां प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैवतेऽभिषिच्यन्ते सम्राडित्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा० ८. १४; 'अथैनं (इन्द्रं) प्राच्यां दिशि वसवो देवाः···अभ्यषिञ्चन्···साम्राज्याय' ऐब्रा० ८. १; 'तेजसो वा एष वनस्पतिरजायत यदश्वत्थः। साम्राज्यं वा एतद् वनस्पतीनाम्' ऐब्रा०, ७. ३२; 'अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्' शब्रा० ५. १. १. १३; 'साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः' तांब्रा० ४. ६. २४ ।

द्रष्टव्य **सम्राज्** और **राज्य**।

साय—ऋग्वेद में सायंकाल के लिये आया है, बाद में क्रियाविशेषण सायम् के रूप में अव्यय बन गया है : तैब्रा०, १. ५. ३. ३; कौब्रा०, २. ७; शब्रा०, ७. ३. २, १८; ऋ० ५. ७७. २; १०. १४६. ४; अवे०, ३. १२. ३; ४. ११. १२; ८. ६. १० इत्यादि; तु०—सायं-प्रातर् : अवे०, ३. ३०. ७; १९. ३९. २ इत्यादि ।

१. **सायक**—ऋग्वेद २. ३३. १०; ३. ५३. २३; १०. ४८. ४ में बाण के अर्थ में आया है।

२. **सायक जान-श्रुतेय काण्डूविय**—**जनश्रुत** का वंशज । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. २ में जनश्रुत काण्डुविय के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

सायकायन—**सायक** का वंशज । शतपथ ब्राह्मण १०. ३. ६. १०; १०. ५. २. १ में **श्यापर्ण** का पैतृक नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की वंश-सूची में **कौशिकायनि** के शिष्य एक आचार्य का भी यह नाम है : ४. ५. २७ माध्यंदिन=४. ६. ३ काण्व ।

सायूय—द्रष्टव्य-**साप्य**।

सायं-दोह—द्र०-**दोह**।

सारथि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में रथ-नियन्ता को सारथि कहा गया है, जब कि योद्धा **सव्यष्ठा** है : ऋ० १. ५५. ७. १. १४४. ३; २. १९. ६; ६. २०. ५; ६. ५७. ६; १०. १०. ६; अवे०, १५. २. १; तैब्रा०, १. ७. ९. १; मैसं०, ४. ३. ८ इत्यादि ।

तु०—त्सिमर, आले०, २९६ ।

सारमेय—**सरमा** का वंशज । ऋग्वेद ७. ५५. २ में इन्द्र के देवशास्त्रीय श्वा के नाम से पृथ्वी का एक श्वा एवं **यम** के दो श्वा सारमेय कहाये हैं। तु० ऋ० १०.१४.१०।

सार्ञ्जय—ऋग्वेद की दान-स्तुति ६. ४७. २५ में सार्ञ्जय **सृञ्जयों** के राजा प्रतीत होते हैं न कि **सृञ्जय** के वंशज । शांखायन श्रौत सूत्र १६. ११. ११ के अनुसार वे **प्रस्तोक** थे, जिनका उल्लेख उसी सूक्त में आया है; किंतु यह संदिग्ध है। वे निश्चय ही **भरद्वाजों** के आश्रय-दाता थे । **सहदेव सुप्लन्** का भी यह विशेषण है : शब्रा० २. ४. ४. ४; १२. ८. २. ३[1] ।

तु०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. १०४. १०५ ।

सार्प-राज्ञी—पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ९. ४ और कौषीतकि ब्राह्मण २७. ४ का सार्पराज्ञी सर्पराज्ञी से अभिन्न है।

तु०—'इयं (पृथिवी) वै सार्पराज्ञीयं हि सर्पतो राज्ञी' कौब्रा० २७. ४; तांब्रा० ४. ९. ६; 'वाग् वै सार्पराज्ञी' कौब्रा० २७. ४; 'गीर्वै सार्पराज्ञी' कौब्रा० २७. ४ ।

सार्वसेनि—**सर्व-सेन** का वंशज । तैत्तिरीय संहिता ७. १. १०. ३ में **शौचेय** का यह पैतृक नाम है।

साला-वृक—ऋग्वेद १०. ७३. २; १०. ९५, १५ में सालावृक भेड़िये के अर्थ में है। **इन्द्र** द्वारा **यतियों** के ध्वंस के परवर्ती आख्यान में भी यही अर्थ अपेक्षित है, जहाँ कहा गया है कि **इन्द्र** ने **यतियों** को सालावृकों को सौंप दिया : तैसं०, ६. २. ७. ५; ऐब्रा०, ७. २८. १; कौउ०, ३ १ । उसी शब्द से सालावृकेय बना है, जिसका अर्थ है : **साला-वृक** का वंशज : पंविब्रा०, ८. १. ४; १३. ४. १६; १४. ११. २८; १८. १. ९; १९. ४. ७; जैब्रा०, १. १८५[1] । इसका स्त्रीलिङ्ग रूप सालावृकी है : कासं०, २८. ४; किंतु कुछ स्थलों पर सलावृकी मिलता है : तैसं०, ६. २. ७. ५; मैसं०, ३. ८. ३; आपधसूत्र, १. १०. १७; १. ११. ३३ । तु०—**तरक्षु**।

---

[1] जअओसो०, १९. १२३; काठक-संहिता ८. ५; ११. १०; २५. ६; ३६. ७; इस्तु०, ३. ४६५, ४६६; कौउ०, ३. १; शंकरानन्द के अनुसार। अवे०, २. २७. ५ में **इन्द्र** को सालावृकों का शत्रु बतलाया गया है।

ब्राह्मणों में सालावृक—'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् तेषां त्रय उदशिष्यन्त रायोवाजो बृहद्गिरिः पृथुरश्मिः' तांब्रा० ८. १. ४; १३. ४. १७; 'इन्द्रो यतीन् सालावृकेयेभ्यः प्रायच्छत् तमश्लीला वागभ्यवदत् स प्रजापतिमुपाधावत् तस्मा एतमुपहव्यं प्रायच्छत्' तांब्रा० १८. १. ९; इन्द्रो यतीन् सालावृकेयेभ्य प्रायच्छत् तमश्लीला 'वागभ्यवदत् सोऽशुद्धोऽमन्यत स एतच्छुद्धाशुद्धीयं (साम) अपश्यत् तेनाशुध्यत्' तांब्रा० १४. ११. २८; 'यत्रेन्द्रं देवताः विश्वरूपं त्वाष्ट्रमभ्यमंस्त वृत्रमस्तृत यतीन् सालावृकेभ्यः प्रादादरुर्मघानवधीद् बृहस्पतेः प्रत्यवधीदिति तत्रेन्द्रः सोमपीथेन व्यार्धत [तं (प्रतर्दनं) हेन्द्र उवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात् त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालकाञ्जांस्तस्य मे तत्र न लोम च नामीयत स यो मां वेद न ह वै तस्य केन चन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया न मातृवधेन न पितृवधेन नास्य पापं चक्रुषो मुखान्नीलं वेतीति—कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ३. १] ऐब्रा० ७. २८;

विवरण—त्सिमर, आले०, ८१; वेबर, इस्तू०, १९२; ह्विटनी, ट्रां० अ०, ६८; ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ३०६, जिन्होंने श्रृगाल अर्थ लिया है।

सावयस—**सवयस** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १. १ ७ में अषाढ या आषाढ का पैतृक नाम सावयस है।

सावर्णि—**सावर्ण्य** के साथ सावर्णि शब्द ऋग्वेद १०. ६२. ९, ११ में पैतृक रूप में है। किंतु **सवर्ण** नाम का व्यक्ति साहित्य में नहीं मिलता। रॉथ ने अपनी डिक्शनरी में **सरण्यू** की **सवर्णा** पुत्री से उत्पन्न पुत्र **मनु** का इसे पैतृक नाम माना है[1]। यह सब कुछ **मनु** और **सवर्णा** की लोककथा पर आधुत है[2]।

सावित्री—तु०—'अथ (आचार्यः) अस्मै सावित्रीमन्वाह' शब्रा० ११. ५. ४. ६; 'सोऽपहतपाप्मानं तां श्रियमश्नुते य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीं संपदमुपनिषदमुपास्ते' गोब्रा० १. १. ३९; 'द्यौः सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'वाक् सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'अन्तरिक्षं सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'नक्षत्राणि सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'पृथिवी सावित्री' जैउब्रा० ४. २७. १; 'रात्रिः सावित्री' गोब्रा १. १. ३३; 'स्तनयित्नुः सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'वर्षं सावित्री' १. १. ३३; 'आपः सावित्री' जैउब्रा० ४. २७. ३; 'अन्नं सावित्री' १. १. ३३; 'दक्षिणा सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'छन्दांसि सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३; 'शीतं सावित्री' गोब्रा० १.१.३३; 'आकाशः सावित्री' जैउब्रा० ४. २७. ५; 'स्त्री सावित्री' जैउब्रा० ४. २७. १७।

साह-देव्य—ऋग्वेद ४. १५. ७ में कुमार साहदेव्य का उल्लेख आता है। द्र०—**सह-देव** और **सोमक**।

सिंह—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सिंह का उल्लेख मिलता है : ऋ० १. ६४. ८; १. ९५. ५; ३. २. ११; ३. ९. ४; ३. २६. ५; ४. १६. १४ इत्यादि; अवे०, ४. ३६ ६; ५. २०. १, २; ५. २१. ६; ८. ७. १५; तैसं०, ५. ५. २१. १; कासं०, १२. १० इत्यादि; मैसं०, २. १. ९; कौउ०, १. २। सिंह की दहाड़ का उल्लेख आया है : ऋ० १. ६४. ८; ३. २६. ५। अवे०, ५. २०. १ में दुन्दुभि की ध्वनि से इसकी तुलना की गई है। उसकी दहाड़ को **स्तनथ** बताया गया है : ऋ० ५. ८३. ३; अवे०, ५. २१. ६; ८. ७. १५। वह घूमने वाला 'कुचर' और गिरि में रहने वाला 'गिरिष्ठाः' है : ऋ० १. १५४. २; १०. १६०. २। वह घातुक (मृगो भीम उपस्थाणु) है : ऋ० २. ३३. ११ ऋ० २. ३३. ११; और उससे **रुद्र** की तुलना की गई है। जब **अपां नपात्** अग्नि जल में प्रविष्ट हुआ, तब उसकी उपमा सिंह से दी गई है : ऋ० ३. ९. ४। श्रृगाल द्वारा सिंह की पराजय का उल्लेख आश्चर्य दिखाने के लिये आया है : ऋ० १०. २८. ४। सिंह मनुष्यों के लिये भयानक था : ऋ० १. १७४. ३। उसे कटघरे में फँसाया जाता था : ऋ० १०. २८. १०। किसी झाड़ी में उसकी प्रतीक्षा की जाती थी : ऋ० ५. ७४. ४; शिकारी लोग उसका पीछा करते थे : ऋ० ५. १५. ३[1]। किंतु कुत्ते सिंह से डरते थे : अवे०, ५. ३६. ६। सिंही भी उत्साह में सिंह जैसी ही थी। ऋग्वेद ७. १८. १७ में **इन्द्र** द्वारा **सुदास्** को विशाल शत्रुओं के विरुद्ध दी गई सहायता की तुलना एक सिंही के **पेत्व** (मेष) से हारने से की गई है। ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३५. १ में सिंही के विदर्दुर जबड़ों का जिक्र आया है। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में भी सिंही का जिक्र आता है : तैसं०, १. २. १२. २; ६. २. ७. १; वासं०, ५. १०; शब्रा०, ३. ५. १. २१; मैसं०, ३. ८. ५।

तु०—**हलीक्ष्ण**।

तु०—'लोहितादेवास्य सहोऽस्रवत् स सिंहोऽभवत्। आरण्यानां पशूनामीशः' शब्रा० १२. ७. १. ८; 'स यन्नस्तोऽद्रवत्। ततः सिंहः समभवत्' शब्रा० ५. ५. ४. १०।

---

[1] तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, १२, १७;।

[2] तु०—ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १५.१७९ एवं आगे।

[1] स्ट्रैबो, १५. १. ३१।

तु०—त्सिमर, आले०, ७८, ७९।

सिकताः—तु० 'सा (मृत्) अतप्यत'। सा सिकता असृजत', शब्रा० ६. १. ३. ४; 'सिकताभ्यः शर्करामसृजत' शब्रा० ६. १. ३. ५; 'द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा च' शब्रा० ७. ३. १. ४३; 'अलंकारो न्वेव सिकता भ्राजन्त इव हि सिकता अग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः' शब्रा० ७. १. १. ९; 'अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकताः' शब्रा० ७. १. १. १०; 'रेतः सिकताः' शब्रा० ७. १. १. ११; 'सिकता वा अपां पुरीषम्' शब्रा० ७. ५. २. ५९।

१. सिच्—किसी परिधान की कन्नी या छोर को सिच् कहा गया है। ऋग्वेद ३. ५३. २ में एक पुत्र द्वारा पिता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये उसके परिधान के किनारे को खींचने का उल्लेख आता है। ऋग्वेद १०. १८. ११ में एक माता अपने परिधान के छोर से पुत्र को ढकती दिखाई गई है। बाद में यह शब्द आम बन गया है: अवे०, १४ २. ५१; शब्रा०, ३. २. १. १८।

२. सिच्—द्विवचन में सिच् शब्द सेना के पार्श्वों का और बहुवचन में कतारों का बोधक है: ऋ० १०. ७५. ४; अवे०, ११. ९. १८; ११. १०. २०।

तु०—पिशल, वैस्तू०, २. ६५; गेल्डनर, वही, ३. ३१।

३. सिच्—ऋग्वेद १. ९५. ७ में सिच् अन्तरिक्ष का सूचक है। शाब्दिक अर्थ भूमि और आकाश के दो किनारे है।

सिध्मल—कुष्ठी। वाजसनेयि संहिता ३०. १७ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. १४. १ में सिध्मल शब्द पुरुषमेध की बलियों की सूची में आया है।

तु०—किलास।

सिनीवाली—सिनीवाली शब्द अमावस्या के नव-चन्द्र दिन एवं उसकी अधिष्ठात्री देवी का बोधक है, जो उर्वरता की प्रतीक है। ऋग्वेद काल से ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है: ऋ० २. ३२. ७, ८; १०. १८४. २; अवे०, २. २६. २; ६. ११. ३; ९. ४. १४; १४. २. १५; १९. ३१. १०; तैसं०, २. ४. ६. २; ३. ४. १. ६; ५. ५. १७. १, ५. ६. १८. १; कासं०, ३५. २ इत्यादि।

तु०—'या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली' ऐब्रा० ७. ११; 'वाग् वै सिनीवाली' शब्रा० ६. ५. १. ९; 'योषा वै सिनीवाली' शब्रा० ६. ५. १. १०।

तु०—त्सिमर, आले०, ३५२; मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ १२५।

सिन्धु—ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक बार सिन्धु शब्द नदी के अर्थ में आया है। सप्त सिन्धवः—ऋ० १. ९७. ८; १. १२५. ५; २. ११. ९; २. २५. ३, ५; ३. ५३. ९ आदि। किंतु यही नाम भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण नदी का भी है: ऋ० १. १२२. ६; १. १२६. १; ४. ५४. ६; ४. ५५. ३; ५. ९; ७. ९५. १; ८. १२. ३; ८. २५. १४; ८. २०. २५; ८. २६. १८; १०. ६४. ९, अवे० १२. १. ३; १४. १. ४३; संभवतः ६. २४. १ भी; ७. ४५. १; १९. ३८. २; वासं० ८. ५९। संहिताओं के काल के बाद यह शब्द दूरी आदि को सूचित करने के लिये आता है। बौधसूत्र, १. २. १४ में सिन्धु-सौवीर शब्द आता है[1]। सैन्धव अश्व प्रसिद्ध थे: बृउ०, ६. २. १५ माध्यंदिन=६. १. १३ काण्व।

द्रष्टव्य—सैन्धव और सरस्वती।

सिन्धु-क्षित्—पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १२. ६ के अनुसार पुराने काल से छेके गये किंतु बाद में अपना लिये गये एक राजन्यर्षि का नाम सिन्धु-क्षित् है। संभवतः ये केवल देवशास्त्रीय हैं[1]।

द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २३५ टि० ३।

सिमा—शाक्वर साम। '(इन्द्रो वृत्रस्य) सीमानमभिनत् तत् सिमा' तांब्रा०, १३. ४. १; 'ता ऊर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत तत् सिमा अभवंस्तत् सिमानां सिमात्वम्' ऐब्रा० ५. ७।

सिरी—ऋग्वेद १०. ७१. ९ में बुनने वाली स्त्री के लिये आया है।

सिलाची—अथर्ववेद ५. ५. १, ८ में घाव भरने वाले पौधे के रूप में सिलाची का उल्लेख आया है; इसे लाक्षा भी कहते हैं।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ४१९; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २२८।

सिलांजाला—सिलांजाला (भाष्यकार के अनुसार शलांजाला पाठ है) एक पौधे के लिये आया है। कौशिक सूत्र २. १६ में शिलां—पाठ है।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ४६६; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २९२, २९३।

सीचापू—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में किसी पक्षी के लिये आया प्रतीत होता है: मैसं०, ३. १९. ६; वासं०, २४. २५।

तु०—त्सिमर, आले०, ९४।

[1] विवरण: ब्यूहलर, सेबुई० १४. १४८; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ३९४ टि०; त्सिमर, आले०, १६. १७. २७।

सीता—खूड़=हल की रेखा। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आम है : ऋ० ४. ५७. ६, ७ कृषि-संबन्धी श्रेष्ठ सूक्त संभवतः बाद का है; द्र० अवे०, ११. ३. १२; तैसं०, ५. २. ५. ४, ५; ५. ६. २. ५; कासं०, २०. ३ इत्यादि।

तु०—'बीजाय वा एषा योनिः क्रियते यत् सीता यथा ह वा अयोनौ रेतः सिञ्चेद् एवं तद् यद् अकृष्टे वपति' शब्रा० ७. २. २. ५; 'प्राणा वै सीताः' शब्रा० ७. २. ३. ३; 'सा (सीता सावित्री) ह पितरं प्रजापतिमुपससार। तं होवाच। नमस्ते अस्तु भगवः' तैब्रा० २. ३. १०. १।

तु०—हॉपकिन्स, जअओसो०, १७. ८६ टि०।

सीदन्तीय—शङ्कु-साम। तु०—'एतेन वै प्रजापतिरूर्ध्वा इमान् लोकानसीदद् यदसीदत् तत् सीदन्तीयस्य सीदन्तीयत्वम्। ऊर्ध्व इमान् लोकान् सीदति सीदन्तीयेन तुष्टुवानः' तांब्रा० ११. १०. १२।

सीमन्—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में सीमन् शब्द मांग के लिये आता है : अवे०, ९. ८. १३; ऐब्रा० ५. ७. ४; पंविब्रा०, १३. ४. १; १५. ५. २०; शब्रा०, ७. ४. १. १४।

तु०—सीमन्त, ऋ० ६. १३४. ३; तैब्रा०, २. ७. १७. ३।

सीर—हल। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सीर शब्द का उल्लेख आम है : ऋ० ४. ५७. ८, १०, १०१. ३, ४; अवे०, ६. ३०. १; ६. ९१. १; तैब्रा०, १. ७. १२; २. ५. ८. १२; वासं०, १८. ७; मैसं०, २. ११. ४। यह काफी बड़ा और भारी होता था, क्योंकि इसमें अनेक बैल जुड़ते थे; छ बैल : अवे०, ६. ९१. १; ८. ९. १६; तैसं०, ५. २. ५. २; कासं०, १५. २. २०. ३; शब्रा०, ७. २. २. ६; १३. ८. २. ६; **आठ बैल** : अवे०, ६. ९१. १; **बारह बैल** : तैसं०, १. ८. ७. १; ५. २. ५. २; कासं०, १५. २; मैसं०, २. ६. २ इत्यादि। **चौबीस बैल** भी जोते जाते थे : कासं०, १५. २।[1] जोते जाने वाले बैल बरत्रा से बाँध दिये जाते थे : ऋ० ४. ५७. ४; १०. १०२. ८ (में मुद्गल की कथा में) १०. १०२. ८; बैलों को जुए में बाँधा जाता था। बैलों को पैनी (अष्ट्रा) से हांका जाता था।

तु०—वैश्य; तु०—ऋ० ४. ५७. ४; १०. १०२. ८। हल के संबन्ध में अधिक विवरण नहीं मिलते। छः या इससे अधिक बैल संभवतः ऊद में जोड़े जाते रहे हों। भारी से भारी हल को दो बैल खींच लेते हैं। मैड़ों में

[1] तु०—वेबर, इस्टू०, १३. २४४ टि. १।

चार बैल जुड़ते हैं, जब कि ऊद में ४ या इससे अधिक भी जोड़े जा सकते हैं। २४ बैलों की तो बड़ी से बड़ी ऊद में भी जरूरत नहीं पड़ती।

तु०—त्सिमर, आले०, २३६, २३७।

सीर-पति—'इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः' तैब्रा० २. ४. ८. ६.

सील—हल। कपिष्ठल संहिता २८. ८. में सील (=सीर) का प्रयोग मिलता है।

सीलमा-वती—ऋग्वेद १०. ७५. ८ में लुड्विग[1] के अनुसार सीलमावती एक नदी है; किंतु यह सर्वथा चिन्त्य है। सायण के अनुसार यह शब्द 'सन में धनी' इस अर्थ में आया है।

द्र०—त्सिमर आले०, ४२९; बोहटलिङ्गक, डिक्शनरी; गेल्डनर, ऋग्वेद ग्लासर, १९५।

सीस—सीसा। सबसे पहले अथर्ववेद १२. २. १, १९ में यह शब्द आता है। इसके ताबीज का उल्लेख मिलता है : अवे०, १. १६. २, ४। इसके बाद यह शब्द सामान्य बन गया है : मैसं०, २. ४. २; वासं०, १८. १३; तैब्रा०, ३. १२. ६. ५; शब्रा०, ५. १. २. १४; ५. ४. १. ९; १२. ७. १. ७; १२. ७. २. १०; छाउ०, ४. १७. ७ इत्यादि। जुलाहे इससे तोल का काम भी लेते थे : वासं०, १९. ८०; मैसं०, ३. ११. ९; तैब्रा०, २. ६. ४[2]।

तु०—'नाभ्या एवास्य शूषोऽस्रवत्। तत् सीसमभवन्नायो न हिरण्यम्' शब्रा० १२. ७. १. ७; 'एतदयो न हिरण्यं यत् सीसम्' शब्रा० ५. १. २. १४; 'लोहेन सीसं (संदध्यात्)' गोब्रा० १. १. १४; '(इन्द्रः) तत् (रक्षः) सीसेनापजघान। तस्मात् सीसं मृदु सुतजवं हि' शब्रा० ५. ४. १. १०।

तु०—ब्लूमफील्ड, जअओसो० १५. १५७. १५८।

सु-कन्या—शर्यात की पुत्री के लिये आया है, जिसने च्यवन से विवाह किया था : शब्रा०, ४. १. ५. ६; ४. १. १०. १३; जैउब्रा०, ३. १२१ एवं आगे।

सु-कपर्द—द्र०—कपर्द।

[1] ट्रां० ऋ०, ३. २००।

[2] रॉथ, बोवू०; और त्सिमर, आले० का यह मत है। किंतु ग्रिफिथ; ट्रां० वाजसनेयि संहिता, १८३ टि० का मत है कि १९. ८० में भारमापक के रूप में सीस का प्रयोग न होकर दैत्यों और जादू आदि के विरुद्ध ताबीज के अर्थ में है।

सु-करीर—मैत्रायणी संहिता २. ७. ५ में सु-कुरीर के स्थान पर सुकरीर पाठ आया है। द्रष्टव्य-कुरीर।

सु-कीर्ति कक्षीवन्त—कक्षीवन्त् का वंशज। यह एक ऋषि का नाम है, जिसे ऋग्वेद के ब्राह्मणों में ऋ० १०. १३१ का द्रष्टा बताया गया है। द्र० ऐब्रा०, ५. १५. ४; ६. २९. १; कौब्रा०, ३०. ५।

सु-कुरीर—द्रष्टव्य कुरीर।

सुकृतस्य योनिः—'कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः' शब्रा० ६. ४. २. ६।

सुकृतस्य लोकः—'सत्यं वै सुकृतस्य लोकः' तैब्रा०, ३. ३. ६. ११।

सु-केशिन् भारद्वाज—भरद्वाज का वंशज। प्रश्न उपनिषद् १. १ में एक आचार्य का नाम है।

सु-क्षिति—'अयं वै' (पृथिवी—) लोकः सुक्षितिरस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति' शब्रा० १४. १. २. २४; 'अथो अग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिन् लोके सर्वाणि भूतानि क्षियति' शब्रा० १४. १. २. २४।

सु-ख—द्रष्टव्य-ख।

सुगन्धि-तेजन—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में किसी सुगन्धयुक्त घास के लिए आया है: तैसं०, ६. २. ८. ४; कासं०, २५. ६; ऐब्रा०, १. २८. २८; शब्रा०, ३. ५. २. १७; पंविब्रा०, २४. १३. ५।

सु-चित शैलन—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १४. ४ में एक आचार्य का नाम है।

सु-जात—अच्छी तरह उत्पन्न। ऋग्वेद में मनुष्यों का विशेषण है। इसे सामान्य जनों के विपरीत उच्च वर्ग के व्यक्तियों से संबद्ध मानना भूल है: ऋ० २. २. ११; ५. ६. २; ७. १. ४. १५; ८. २०. ८। द्र०-सभा।

सुतं-भर—अनुक्रमणी के अनुसार सुतंभर ऋग्वेद ५. ११. १४ के द्रष्टा ऋषि हैं। उन सूक्तों में यह शब्द नहीं आता; ऋ० ५. ४४. १३ में विशेषण (=सोम-भरण करने वाला) के रूप में आया है। ऋ० ९. ६. ६ में यह किसी व्यक्ति का नाम हो सकता है। (यदि 'सुतंभराय' के स्थान पर 'सुतं भराय' पाठ माना जाय, जैसा कि राथ ने वोबू० में लिया है)।

सुतेमनस् शाण्डिल्यायन—वंश ब्राह्मण (१) में एक आचार्य का नाम है।

सुत्वन् कैरिशि भार्गायण—ऐतरेय ब्राह्मण ८. २८. १८ में एक राजा का नाम है। **मैत्रेय कौषारव** से एक मन्त्र सीख कर इन्होंने पाँच राजा मारे थे और तब ये महान् बन गये थे।

सु-दक्षिण क्षैमि—**क्षेम** का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ६. ३; ३. ७. १ एवं अग्रिम; ३. ८. ६ में एक आचार्य का नाम है।

सु-दत्त पाराशर्य—**पराशर** का वंशज। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४१. १; ४. १७. १ में **जनश्रुत वारक्य** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

सु-दामन्—पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १८. १ में सुदामन् एक नदी का नाम है।

सुदास्—ऋग्वेद ७. १८ में **तृत्सुओं** के राजा सुदास् की दस राजाओं के ऊपर विजय का उल्लेख आता है; द्र०-ऋ० ७. २०. २; ७. २५. ३; ७. ३२. १०; ७. ३३. ३; ७. ६४. ३; ७. ८३. १ एवं आगे। एक समय **विश्वामित्र** उनके पुरोहित थे और वे उनकी **विपाश्** और **शुतुद्री** के तटों पर नाना विजयों में सहायक बने थे: ऋ० ३. ५३. ९. ११; तु० **विश्वामित्र** और **वसिष्ठ**। **अश्विनों** ने उन्हें **सुदेवी** नामक रानी दी थी: ऋ० १. ११२. १९। उन्होंने सुदास की अन्य प्रकार से भी सहायता की थी। ऋ० १. ४७. ९।[1] ऋ० ७. १९. ३ में **त्रसदस्यु** के साथ उनका नाम आया है; किंतु ऋ० १. ६३. ७ में अन्यत्र त्रसदस्यु के पिता **पुरुकुत्स** से उनकी पराजय का उल्लेख प्रतीत होता है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में उन्हें एक बड़ा राजा बताया गया है और वहाँ उनके पुरोहित **वसिष्ठ** हैं। शांखायन श्रौत सूत्र १६. ११. १४ में भी ऐसा ही संकेत आया है, जहाँ उनकी पुरोहित के प्रति उदारता गाई गई है।

उनके पूर्वजों के संबन्ध में पता नहीं है; क्योंकि उन्हें **पैजवन** या **पिजवन** का पुत्र भी कहा गया है, जैसा कि यास्क ने इस पैतृक नाम की व्याख्या में बताया है। यदि यह व्याख्या ठीक है तो **दिवोदास** उनके पितामह रहे होंगे। यदि उन्हें **दिवोदास** का पुत्र माना जाता है तो **पिजवन** और पहले के पूर्वज रहे होंगे। प्रथम संभावना

[1] जहाँ रॉथ, वोबू० के अनुसार, सुदास 'अच्छा पूजक' इस अर्थ में एक विशेषण है।

[2] 'सुदासे' के स्थान पर 'सुदासम्' पाठ करके; जैसा कि लुडविग ने ट्रां० ऋ०. ३. १७४. में किया है; तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि., १. ११२ टि० १; गेल्डनर, वैस्तू०, १. १५३, ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. ६३।

ठीक प्रतीत होती है। तु०—**तुर्वश, दाशराज्ञ, पैजवन, भरत, सौदास**।

तु०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १०७ एवं अग्रिम; वेबर, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल ३१ एवं आगे।

१. सु-देव—ऋग्वेद ८. ६. ३ में सु-देव को लुड्विग ने किसी व्यक्ति का नाम माना है।

द्र०—ट्रां० ऋ०, ३. १६०।

२. सु-देव काश्यप—**कश्यप** का वंशज। तैत्तिरीय आरण्यक २. १८ में एक आचार्य का यह नाम है। इन्होंने पवित्रता का नियम भङ्ग करने पर एक प्रायश्चित ढूंढ निकाला था।

तु०—वेबर, इस्टू०, १. १८८. टि०; १०. १०३।

सु-देवला—बौधायन श्रौत सूत्र २०. १२ के अनुसार **ऋतुपर्ण** की स्त्री का नाम सुदेवला है।

सु-देवी—द्र०—**सु-दास्**।

सु-धन्वन् आङ्गिरस—**अङ्गिरस्** का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् ३.३. १ में यह एक आचार्य का नाम है।

१. सु-नीथ शौचद्रथ—**शुचद्-रथ** का वंशज। ऋग्वेद ५. ७९. २ में एक व्यक्ति का नाम है। तु०—**सत्य-श्रवस्**।

२. सु-नीथ कापटव—वंश ब्राह्मण में सु-नीथ कापटव एक आचार्य का नाम है।

द्र०—इस्टू०, ४. ३७२।

१. सु-पर्ण—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सु-पर्ण एक बड़ा पक्षी, श्येन या गृध्र है: ऋ० १. १६०. २०; २. ४२. २; ४. २६. ४; ८. १०२. ८; ९. ४८. ३ इत्यादि; अवे०, १. २४. १; २. २७. २; २. ३०. ३; ४. ६. ३ आदि। जिन स्थलों पर इसके शव-भक्षण का उल्लेख है, वहाँ तो यह अवश्यमेव गृध्र है: मैसं०, ४. ९. १९; तैआ०. ४. २९। जैमिनीय ब्राह्मण २. ४. ३८ में हंस के समान एक गृध्र को दूध से जल को अलग कर देने वाला बताया गया है। सु-पर्ण को ऋग्वेद १०. १४४. ४ में श्येन का वंशज कहा गया है, किंतु अन्यत्र दोनों को भिन्न भिन्न बताया गया है: ऋ० २. ४२. २; इससे त्सिमर ने यह अनुमान लगाया है कि संभवतः यह पक्षी बाज है।[२] अथर्ववेद में इसकी ध्वनि का उल्लेख आया है और इसे पर्वतों में रहने वाला बताया गया है: २. ३०. ३; ५. ४. २।

'अथवा एष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यत् पुरस्ताद् विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षोऽथ यान् षडुपरिष्टाद् सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्' शब्रा. १२. २. ३७; 'यज्ञो वै देवेभ्योऽपाक्रामत् स सुपर्णरूपं कृत्वाचरत् तं देवा एतैः (सौपर्णैः) सामभिरारभन्त' तांब्रा० १४. ३. १०; 'वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान्' शब्रा० ६. ७. २. ६।

२. सु-पर्ण—याजुष संहिताओं में सुपर्ण नाम के एक ऋषि का उल्लेख आया है: तैसं०, ४. ३. ३. २; कासं०, ३९. ७।

सुपर्णेय—द्र०—**प्राजापत्य**।

सु-पित्र्य—ऋग्वेद १०. ११५. ६ में सुपित्र्य शब्द संभवतः विशेषण है=पैतृक चरित्र को बनाये रखने वाला। लुड्विग ने इसे व्यक्तिवाचक माना है।[१]

सु-प्रतीत औलुण्ड्य—वंश ब्राह्मण[२] में बृहस्पतिगुप्त के शिष्य एक आचार्य का नाम सुप्रतीत औलुण्ड्य है।

सुप्लन् साञ्जय—**सृञ्जयों** के एक राजा थे; इन्होंने **प्रतीदर्श** से दाक्षायण यज्ञ की शिक्षा ग्रहण की थी; और अपनी सफलता के प्रमाण-स्वरूप **सहदेव** नाम धारण किया था: शब्रा० २. ४. ४; १२. ८. २. ३।

तु०—लेवी, ला दाक्त्रिन द्यु सैक्रिफीस, १३९; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १०५. १०६।

सु-बन्धु—ऋग्वेद १०. ५९. ८, १०. ६०. ७, १० में सु-बन्धु शब्द को सायण ने व्यक्ति-वाचक माना है; किंतु यह संदिग्ध है। रॉथ[३] ने इसे 'अच्छे मित्र' के अर्थ में विशेषण माना है। परवर्ती परंपरा में सुबन्धु और उनके भाई **गौपायनों** को **असमाति** का पुरोहित माना गया है; इन लोगों को हटा कर **असमाति** ने **किरात** और **आकुलि** नामक दो अन्य पुरोहितों को अपना लिया था। इन दोनों ने कपोत-रूप में सु-बन्धु को मूर्छित कर दिया था; किंतु उनके भाइयों ने ऋ० १०. ५७. ६० पढ़ कर उन्हें फिर से होश में ला दिया था। द्र०—बृदे० ७. ८३. एवं आगे। द्र०—**असमाति**।

विवरण: मैक्समूलर, जराएसो०, २. ४२०–४५५; ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे० ३. ९०।

सु-ब्रह्म—'असावादित्यः सुब्रह्म' पंब्रा० १. १; 'वाग् वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति' ऐब्रा० ६. ३।

---

[१] जअओसो०, १९. १०१।

[२] द्र० आ० ले०, ८८; बाद में देवशास्त्रीय सु-पर्ण या गरुड़ को विष्णु का वाहन माना गया है; इसे सु-पर्णों का राजा कहा जाता है।

[१] द्र०—ट्रां० ऋ०, ३. १६९।

[२] द्र०—इस्टू० ४. ३७२।

[३] वोबू०।

सु-ब्रह्मण्य—ब्राह्मणों में उद्गातृ के सहायक तीन ऋत्विजों में से सुब्रह्मण्य एक है : पंविब्रा०, २५. ४. ६; २५. १८. ४; शब्रा०, ३. ३. ४. ९[1]। उसके पद **सुब्रह्मण्या** है : ऐब्रा०, ६. ३. १–७, ११, १२; कौब्रा०, २७. ६ इत्यादि। पुरोहित को भी ऐसा ही कहा गया है : ऐब्रा०, ७. १. २; पंविब्रा०, १८. ९. १९ आदि। द्र०—**ऋत्विज्**।

सु-ब्रह्मण्या—'ब्रह्म वै सुब्रह्मण्या' कौब्रा० २७. ६; 'तदाहुः किं सुब्रह्मण्यायै सुब्रह्मण्यात्वमिति वागेवेति ब्रूयात्। वाग् वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति' ऐब्रा० ६. ३; 'ब्रह्मश्रीर्वै नामैतत् साम यत् सुब्रह्मण्या' षब्रा०, १. २।

सु-भगा—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में यह शब्द भद्र स्त्रियों के संबोधन में आता है : ऋ० १०. १०. १०. १२; १०. १०८. ५; अवे०. ५. ५. ६; ६. ३०. ३ इत्यादि।

सु-भद्रिका—याजुष संहिताओं में अश्वमेध के प्रसङ्ग में सु-भद्रिका शब्द मिलता है : वासं०, २३. १८; तु० शब्रा०, १३. २. ८. ३; मैसं०, ३. १२. २०। वेबर के मत में यह **काम्पील** के राजा की रानीका नाम है।[2] किंतु वाजसनेयि संहिता के भाष्यकार महीधर ने इसे अनेक प्रेमियों वाली स्त्री या वेश्या माना है; किंतु इस दशा में 'सुभद्रा' यह नाम भी त्याज्य होता। रॉथ[3] तो महीधर से सहमत हैं, किंतु तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में यह शब्द नहीं पाया जाता; वहां सु-भगा शब्द है : तैसं०, ७. ४. १९. १; तैब्रा०, ३. ९. ६; कासं०, अश्वमेघ, ४. ८। फलतः इसका अर्थ संदिग्ध रह जाता है।

सुमति-त्सरु—द्र०—**त्सरु**।

सु-मन्त्र बाभ्रव गौतम—**बभ्रु** का वंशज, **गौतम** का वंशज। वंश ब्राह्मण में **शूष वाह्नेय भारद्वाज** के शिष्य एक आचार्य का नाम है।

द्र०—इस्तू०, ४. ३७३।

सु-मित्र वाध्र्यश्व—वध्र्यश्व का वंशज। ऋग्वेद १०. ६९. ३, ५ में यह एक ऋषि का नाम है; १०. ६९. १, ७, ८ में उनके वंश के **सु-मित्रों** का उल्लेख भी आया है। तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३३।

सु-मीढ—ऋग्वेद ६. ६३. ९ में एक आश्रयदाता का नाम सु-मीढ है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५८।

सु-मेक—'सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै नामैतत् यत् सुमेक इति' शब्रा०, १. ७. २. २६।

सु-मेध—ऋग्वेद १०. १३२. ७ में यह शब्द आता है; यह एक विशेषण हो सकता है। अच्छी मेधा वाला अथवा एक व्यक्ति-वाचक शब्द है, जो **नृ-मेध** या उसके भाई से अभिन्न है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १३३; ग्रिफिथ, हिम्स ऑफ दि ऋग्वेद, २. ५७९ टि०।

सुम्न—'प्रजा वै पशवः सुम्नम्' तैब्रा० ३. ३. ९. ९; 'यज्ञो नै सुम्नम्' शब्रा० ६. २. २. ४।

सुम्न-यु—शंखायन आरण्यक १५. १ की वंश-सूची में **उद्दालक** के शिष्य एक आचार्य का नाम सुम्न-यु है।

तु० 'यजमानो वै सुम्नयुः' शब्रा० १. ४. १. २१.

सु-यज्ञ शाण्डिल्य—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. १७. १ में **कंस वारक्य** के शिष्य का नाम है। एक **सुयज्ञ-शांखायन** एक गृह्यसूत्र के रचयिता हैं।

सु-यवस—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अच्छे चरागाह के लिये आया है : ऋ० १. ४२. ८; ६. २८. ७; ७. १८. ४ इत्यादि; तैसं०, १. ७. ५. २ इत्यादि।

सुरभि—'प्राणा वै सुरभयः' तैब्रा० ३. ९. ७. ५.

सुरा—एक मादक द्रव। कुछ स्थलों पर इसके पक्ष में कथन आते हैं : ऋ० १. ११६. ७; १०. १३१. ४, ५; तु०—अवे०, ४. ३४. ६; १०. ६. ५; तैसं०, १. ३. ३. २; शब्रा०, १२. ७. ८; अन्यत्र इसके विपरीत उल्लेख हैं : ऋ० ७. ८६. ६; ८. २. १२; ८. २१. १४; मैसं० १. ११. ६; २. ४. २; १ इत्यादि। अथर्ववेद ६. ७०. १ में[1] इसे मांस-भक्षण और अक्ष-कीडा के प्रसङ्ग में निन्दनीय बताया गया है। इसका उल्लेख प्रायः अक्ष-क्रीडा के प्रसङ्ग में हुआ है : ऋ० ७. ८६. ६, अवे०, १४. १. ३५, ३६; १५. ९. १, २। **सोम** के विपरीत यह सामान्य लोगों का पेय था : तैब्रा०, १. ३. ३. २। सभा एवं गोष्ठियों में लोग इसे पीते थे : ऋ० ७. ८६. ६; अवे०, १४. १. ३५. ३६; १५. ९. १, २। यह कलह उत्पन्न करता था : ऋ० ८. २. १२, ८. २१. १४; तु०—कासं० १४. ६; शब्रा०, १. ६. ३. ४; मैसं०, २. ४. २ इत्यादि।

इसके स्वरूप का पता नहीं है। यह एक प्रकार का आसव रहा होगा, जो अन्न और पौदों से वाष्प द्वारा निकाला जाता था जैसा कि एगलिंग ने माना है।[2]

---

[1] तु०—वेबर, इस्तू०, १०. ३६२. ३७४।

[2] इस्तू०, १. १८३. १८४; इं० लि०, ११४, ११५ तु०—ग्रिफिथ, ट्रां० वा०सं०, २१२ टि०।

[3] वोबू० में।

[1] तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अ० वे०, ४९३।

[2] सेबुई० ४४, २२३ टि० २ कालण्ड, आल्ति० त्सा-उबररितुआल, २१ टि०—१ त्सिमर, आ० ले०

ह्विटनी के मतानुसार यह यव से बनता था[1]। गेल्डनर ने इसे मद्यासव माना है[2]। कुछ स्थलों पर इसका मधु के संबन्ध में उल्लेख आया है : अवे०, ६. ६९. १; ९. १. १८, १९; वासं०, १९. ९५[3]। इसे चमड़े की मशकों में रखा जाता था : पंविब्रा०, १४. ११. २६; तु० ऋ० १. १९१. १०।[4]

तु० 'अनृतं पाप्मा तमः सुरा' शब्रा० ५. १. २. १०; 'अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति' शब्रा० १. ६. ३. ४; 'सुरां पीत्वा रौद्रमनाः' शब्रा० १२. ७. ३. २०; 'स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत् सा सुराभवदन्नस्य रसः' शब्रा० १२. ७. १. ७; 'यत् सुरा भवति क्षत्ररूपं तदथो अन्नस्य रसः' ऐब्रा० ८. ८; 'अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत् सुरा' शब्रा० १२. ८. १. ४; 'अन्नं सुरा' तैब्रा० १. ३. ३. ५। 'प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च' शब्रा० ५. १. २. १०. 'एतद् वै देवानां परममन्नं यत् सोमः। एतन्मनुष्याणां यत्सुरा' तैब्रा० १. ३. ३. ३; 'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा' तैब्रा० १. ३. ३. ४; 'यशो हि सुरा' शब्रा० १२. ७. ३. ९४; 'विट्-सुरा' शब्रा० ४२. ७. ३. ८; 'अशिव इव वा एष भक्षो यत् सुरा ब्राह्मणस्य' शब्रा० १२. ८. १. ५।

सुरा-कार—यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलियों की सूची में सुराकार या सुरा बनाने वाले का उल्लेख है : वासं०, ३०. ११; तैब्रा०, ३. ४. ७. १।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, २८१, जिन्होंने ऋ० १. १९१. १० की तुलना की है, जो ऐसे पुरुष की ओर संकेत करता है।

सु-राधस्—ऋग्वेद १. १००. १७ में सुराधस्-नामक एक व्यक्ति का उल्लेख **अम्बरीष** और अन्य व्यक्तियों के साथ आया है।

सु-राम—ऋग्वेद १०. १३१. ५ में सुराम एक रोग है, जो अधिक सुरा पीने से हो जाता था। **नमुचि** की लोक-कथा में **इन्द्र** को इस रोग ने दबा लिया था[1]। बाद में सु-राम (या सु-रामन्) शब्द "सुन्दर रमणीय" के अर्थ में **सोम** का विशेषण बन गया है।

तु०—वासं०, २१. ४२; मैसं०, ३. ११. ४; ४. १२. ५[2]।

सु-रूप—साम-विशेष। 'पशवो वै सुरूपं पशूना-मवरुद्धचै' तांब्रा० १४. ११. ११; 'अन्नं वै सुरूपम्' कौब्रा० १६. ३।

सुरूप-कृत्नु—'योऽयमनिरुक्तः प्राणः स सुरूपकृत्नुः' कौब्रा० १६. ४।

सु-वर्ण—अच्छे रंगवाला; हिरण्य का विशेषण है : तैब्रा० १. ४. ७. ४; १. ८. ९. १ इत्यादि; बाद में इसका पर्याय बन गया है : अवे०, १५. १. २; तैब्रा०, ३. १२. ६. ६; शब्रा०, ११. ४. १. ८ इत्यादि; छाउ०, १. ६. ६; ३. १९. १, ४. १७. ७ इत्यादि। सुवर्ण या स्वर्ण=सोना।

तु०—'लवणेन सुवर्णं (संदध्यात्)' जैउब्रा० ३. १७. ३; 'सुवर्णेन रजतं (संदध्यात्)' जैउब्रा० ३. १७. ३।

सु-वसन—ऋग्वेद ६. ५१. ४ में सुन्दर परिधान के लिये आया है; विशेषण रूप में अच्छे वसन या वस्त्रवाले को भी सु-वसन कहा गया है : ऋ० ९. ९७. ५०। सुवासस् विशेषण सामान्य है : ऋ० १. १२४. ७; २. ८. ४; १०. ७१. ४ इत्यादि।

तु०—**वासस्**।

तु०—त्सिमर, आले०, २६२।

सु-वास्तु—अच्छे घर वाला। ऋग्वेद ८. १९. ३७ (निरुक्त, ४. १५) में एक नदी का नाम है। यह स्पष्टतः एरियन[3] की सोअस्तोस और आधुनिक स्वात है, जो **कुभा** (काबुल नदी) की सहायक है, जो स्वयं **सिन्धु** की सहायक है। तु०—रॉथ निरुक्त, एर्लाउटरुंगन, ४३; त्सिमर, आले०, १८; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००; इंपीरियल गज़ेटियर ऑफ इंडिया, २३. १८७।

सु-वीर—'एष वाव सुवीरो यस्य पशवः' तांब्रा०, १३. १. ४।

सु-वृक्ति—कुछ स्थलों पर सुवृक्ति शब्द स्तोत्र के अर्थ में आया है : अच्छी तरह बनाया गया, =सु √वृज्+ति,

२८०, २८१; तु०—कात्यायन श्रौत-सूत्र १९. १ २०-२७, महीधर, वासं० भाष्य, १९. १।

[1] द्र०—ट्रां० अ० वे०, २०७; तु०—श्राडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ३२६।

[2] द्र०—ऋग्वेद ग्लासर १९८।

[3] द्र०—हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. २५१; इनका मत है कि सोम और सुरा एक समय एक दूसरे के विरोधी पुरोहितों के पेय थे, और इनका संबन्ध विभिन्न जनवर्गों से था।

[4] तु०—हॉपकिन्स, जअओसो० १३. १२१।

[1] द्र०—ब्लूमफील्ड, जअओसो०, १५. १४८ एवं आगे।

[2] हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. २४५ एवं आगे; इन्होंने मिश्रित सुरा यह अर्थ किया है।

[3] इंडिका ४. ११।

ऋ० १. ६२. १; ३. ३. ९; ३. ६२. १२; ५. ४१. २; ७. ८. ३; ७. २४. २; ७. ३१. ११; ७. ७०. ७; ७. ९४. ४; ८. ८. २२; १०. ३०. १; १०. ४१. ४; १०. ६४. ४; १०. ८०. ७ इत्यादि।

सु-शस्ति—'ये वोढारस्ते सुशस्तयः' शब्रा०, ६. ४. ३. ९।

सु-शारद शालंकायन—वंशब्राह्मण में ऊर्जयन्त् औपमन्यव के शिष्य एक आचार्य का नाम सुशारद शालंकायन है। द्र०-इस्तू०, ४. ३७२।

१. सु-श्रवस्—ऋग्वेद १. ५३. ९ में सायण ने इसे एक व्यक्ति का नाम माना है।

तु०-'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त। तत्पर्णं उपाश्रृणोत्। सुश्रवा वै नाम' तैब्रा०, १. १. ३. ११।

२. सु-श्रवस्—पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६ ८ में उप-गु सौश्रवस के पिता का यह नाम है।

३. सु-श्रवस् कौष्य—शतपथ ब्राह्मण १०. ५. ५. १ में कुश्रि वाजश्रवस के समकालीन आचार्य का नाम है।

सु-श्रवस् वार्षगण्य—वृषगण का वंशज। वंश ब्राह्मण में प्रातरह्न कौहल के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

द्र०-इस्तू०, ४. ३७२।

सु-षामन्—ऋग्वेद ८. २५. २२ में संभवतः ८. ६०. १८ में भी एक व्यक्ति का नाम सु-षामन् है; ऋ० ८. २३. २८, ८. २४. २८, ८. २६. २ में संभवतः 'वरो सुषामन्' इस विचित्र रूप में यह मिलता है। देखो वरु

तु०-लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १६२।

सु-षुम्णः—'सुषुम्ण इति सुयज्ञिय इत्येतत्' शब्रा० ९. ४. १. ९.

सु-षेण—'तस्य (पर्जन्यस्य) सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानी ग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू' शब्रा० ८. ६. १. २०.

सु-षोमा—ऋग्वेद के नदी-सूक्त (१०. ७५. ५; निरुक्त, ९. २६ जहाँ इसे सिन्धु से अभिन्न कहा गया है) में एक नदी है। ऋग्वेद के दो अन्य स्थलों पर यह शब्द आया है। ८. ७. २९ में यह पुंल्लिङ्ग में संभवतः किसी जाति को उद्दिष्ट करता है; और ८. ६४. ११ में स्त्रीलिङ्ग में यद्य रॉथ[१] के अनुसार सोम-पात्र का विशेषण है। इस नदी की पहचान मुश्किल है; मेगास्थनीज के आधार पर इसे आधुनिक सुवान कहा जा सकता है:

द्र०-एरियन, इण्डिका, ४. १२; श्वान, मेगास्थनीज, ३१; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. १२६ एवं अग्रिम; मैक्स मूलर, सेबुई०, ३२. ३९८, ३९९; त्सिमर, आले०, १२-१४।

सु-सर्तु—ऋग्वेद की नदी-स्तुति में यह एक नदी है। यह सिन्धु की सहायक थी; किंतु कौन सी यह बताना कठिन है: ऋ० १०. ७५. ६।

तु०-त्सिमर, आले०, १४; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २००।

सु-हविस् आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३. २५ में एक साम-द्रष्टा ऋषि हैं।

सू-कर—सूकर शब्द संभवतः अव्यक्तानुकरण शब्द है="सू" ध्वनि करने वाला अथवा=सुकर' अच्छी थोबड़ी वाला; =सूकर का मुंह। संभवतः यह भारोपीय काल का शब्द है, और संभवतः लैटिन सुकुलस के समकक्ष है[१]। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द आम है: ऋ० ८. ५५. ४; अवे०, २. २७. २; ५. १४. २१; मैस० ३, १४, २१, वासं०, २४. ४०; छाउ०, ५. १०. २ इत्यादि; इन स्थलों पर सूकर-मांस के खाने का उल्लेख नहीं है; किंतु बुद्ध की मृत्यु सूकर के मद्दव (=मार्दव=मृदुमांस) के खाने से बताई गई है[२]। अथर्ववेद में एक स्थान पर इसका उल्लेख मृग के साथ आया है, जहाँ वराह के विपरीत जंगली सूकर यह अर्थ प्रतीत होता है: अवे०, १२. ४८।

तु०-मृग।

सूक्त—अच्छी तरह कथित=सु-वृक्त। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में शस्त्र के भाग-भूत मन्त्र-समुदाय को सूक्त कहा गया है: तैसं०, ५. ४. ५; ७. १. ५. ४ आदि; ऐब्रा०, २. ३३; ३. ११. ९, १२-१५; ४. २१. ५; ६. ८. १०; ११. १६। ऋग्वेद में भी सूक्त के अर्थ में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है: १. ४२. २०; १. १७१. १; २. ६. २; ७. २९. ३ आदि।

तु०-'यजमानो हि सूक्तम्' ऐब्रा० ६. ९; 'आत्मा सूक्तम्' कौब्रा० १४. ४; 'द्यौः सूक्तम्' जैउब्रा० ३. ४. २; =शिरः, जैउब्रा० ३. ४. ३; =ग्रहाः, ऐब्रा० ३. २३; 'गृहा वै प्रतिष्ठा सूक्तम्' ऐब्रा० ३. २४; ='विट्' ऐब्रा० २. २३; =प्रजा, पशवः, कौब्रा० १४. ४।

[१] वोबू०।

[१] संस्कृत सू, लैटिन, सू-सू, ग्रीक स-सु, प्राचीन हाई जर्मन, सू समकक्ष हैं; तु०-ब्रुगमान, ग्रुण्डरिस २२. ४८३।

[२] द्र०-फ्लीट, जराएसो०, १९०६, ८८१ टि०। द्र०-राजनिघण्टु ७. ८५।

सूक्तवाक—'संस्था सूक्तवाकः' शब्रा० ११. २. ७. २८;=प्रतिष्ठा, कौब्रा० ३. ८।

सूची—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सुई के अर्थ में सूची का प्रयोग मिलता है: ऋ० २. ३२. ४; अवे०, ११. १०. ३; वासं०, २३. ३३; तैब्रा०, ३. ९. ६. ४; ऐब्रा०, ३. १८. ६; शब्रा०, १३ २. १०. २, ३; जैब्रा० २. १०; जैउब्रा०, १. १०. ३।

द्र०—अर्टल, जअओसो० १६. २८८।

'विशो वै सूच्यः' शब्रा० १३. २. १०. २ १६. २८८।

सूचीक—ऋग्वेद १. १९१. ७ में एक डसैले जन्तु का नाम सूचीक है।

तु०—त्सिमर, आले०, ९८।

सूत—एक राजकीय अफ़सर था; जिसका उल्लेख **ग्रामणी** के साथ आता है। पञ्चविंश ब्राह्मण ९. १. ४ में आये आठ वीरों में एक वह भी है। उसका नाम **महिषी** के बाद और **ग्रामणी** से पहले है। अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित ग्यारह **रत्नियों** में से एक वह भी है: कासं०, १५. ४; मैसं०, २. ६. ५; ४. ३. ८; तैब्रा०, १. ७. ३. १; तैसं० १. ८. ९. १; शब्रा०, ५. ३. १. ५। अथर्ववेद ३. ५. ७ में राजा को बनाने वाले (=**राजकृत्**) लोगों में उसका उल्लेख आता है। यजुर्वेद के शत-रुद्रिय मन्त्रों में भी उसका उल्लेख आया है: तैब्रा०, ४. ५. २. १; कासं०, १७. २; मैसं०, २. ९. ३; वासं०, १६. १८। पुरुषमेध की बलियों की सूची में भी उसका नाम आया है: वासं०, ३०६; तैब्रा०, ३. ४. २. १; इन के अतिरिक्त अन्य उल्लेख हैं: तैब्रा०, २. ७. १८. ४; शब्रा०, ५. ४. ४. ७; १३. ४. २. ५; १३. ७. १. ४३; कासं०, २८. ३; बृउ०, ४. ३. ३७, ३८। भाष्यकारों ने इसे **सारथि** या राजा के अस्तबलों का अधीक्षक माना है। इस मत को रॉथ,[१] ह्विटनी[२] और ब्लूमफील्ड[३] ने स्वीकार किया है; किंतु कुछ स्थलों पर सूत के साथ **संग्रहीतृ** (=सारथि) का भी उल्लेख आता है; फलतः सूत का सारथि अर्थ असंगत बन जाता है। एगलिंग[४] के अनुसार कम से कम ब्राह्मणों में सूत राजदरबार का कवि या चारण हो सकता है। वेबर[५] के अनुसार सूत का अर्थ है 'दीक्षित, संस्कार किया हुआ; अतः वह राजा का सतत सहकारी है। आर्षकाव्य में सूत राजा का दूत एवं बन्दी बन कर उभरता है।[१] यह संभव है कि शतरुद्रिय मन्त्रों में उल्लिखित उसके विशेषण अहन्ति (वासं०, १८), अहन्त्य (तैसं०, ४. ५. २. १) अहन्त्व (कासं०, १७. २; मैसं०, २. ९. ३) इसके दूत, एवं बन्दी होने के कार्यों की ओर संकेत करते हों।[२]

[१] वोबृ०।
[२] ट्रां० अवे०, ६२।
[३] हिम्स ऑफ दि अवे०, ११४।
[४] सेबुई०, ४१. ६२ टि० १।
[५] इस्तू०, १७. २००।

तु० 'सवो वै सूतः' शब्रा० ५. ३. १. ५.

सूत-वशा—यजुर्वेद में एक बार ब्या कर फिर गर्भिणी न होने वाली गौ को सूत-वशा कहा गया है: तैसं०, २. १. ५. ४; ६. १. ३. ६; कासं०, ३७. ५; तैब्रा०, २. ७. ४. १ इत्यादि।

सूत्र—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में सूत्र शब्द तागे का वाचक है: अवे०, ३. ९. ३; १८. ८. ३७; शब्रा०, ३. २. ४. १४; ७. ३. २. १३; १२. ३. ४. २; १२. ७. २. १०; छाउ०, ६. ८. २; निरुक्त, ४. ६।

बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ४. १०; ४. १. ६. माध्यंदिन=४. १. २ काण्व; ४. ५. ११) में यज्ञ-संबन्धी नियमों के संकलन का नाम सूत्र है।

तु०—वेबर, इस्तू० ५. २४. २५; ज़ीग, दी ज्ञा०, ऋ०, २१।

सूद—ऋग्वेद ७. ३६. ३; ९. ९७. ४ के सूद शब्द को वोबृ० ने कूप के अर्थ में लिया है; ऋ० १०. ६१. २; कासं०, १६. १३; तैब्रा०, १. १. ३. ५; १. २. १. ३; शब्रा०, ८. ७. ३. २१ में इसे 'सूखे जलाशय के दलदल' के अर्थ में माना है। पिशल[३] के अनुसार सूद उस पदार्थ (संभवतः उष्ण दुग्ध) को कहते हैं, जिसे सोम को प्रयोग में लाने के पूर्व उसमें मिलाया जाता था। यह अर्थ सभी स्थलों पर ठीक बैठ जाता है। एगलिंग ने इसका अर्थ 'कूप' किया है[४] और ग्रासमान ने इसका अर्थ 'मधुर पेय' लिया है।[५]

सूद-दोहस्—ऋग्वेद ८. ६९. ३ में 'सूद दुहना' इस अर्थ में यह शब्द आया है। पिशल के अनुसार यह सोम में मिलाया जाने वाला पदार्थ-विशेष है[६]।

[१] हॉपकिन्स, जअओसो०; १३. २५४, २५५।
[२] अहन्ति को वेबर ने इस्तू०, १७. २०० में "न लड़ने वाला" माना है। अहन्त्य और अहन्त्व अहन्य के अर्थ में लिये जा सकते हैं।
[३] वैस्तू० १. ७२, ७३। [४] सेबुई० ४३. १४४।
[५] हिल्लेब्रांड्ट, वैमि, १. २११।
[६] वैस्तू०, १. ७२; सूदयितृ: ऋ० १०. ६४. ९; सूदिन्: कासं०, २७. २; सूदाः: तैसं०, ७. ४. १३. १; वासं०, २२. २५ इत्यादि।

रॉथ[1] इसका अर्थ करते हैं : कूप की भांति दूध देने वाला।

तु० 'आपो वै सूदोऽन्नं दोहः' शब्रा० ८. ७. ३. २१; 'प्राणः सूददोहाः' शब्रा० ७. १. १. १५. 'त्वक् सूददोहाः' शब्रा० ८. १. ४. ५.

सूना—ऋग्वेद और अथर्ववेद में सिव् "सीना" से मांस रखने की टोकरी का नाम सूना पड़ा है; √सिव् 'सीना': ऋ० १. १६१. १०; १. १६२. १३; १०. ८६. १८; अवे०, ५. १७. १४; शांश्रौसूत्र, १७. ३२. ३ में पलाश की लकड़ी का उल्लेख है।

सू-नु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सूनु शब्द पुत्र के अर्थ में आया है : ऋ० १. २६. ३; २. ३८. ५; ६. ५२. ९; अवे०, ६. १. २; ७. २. २; १२. ३. २३ इत्यादि। इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है, उत्पन्न[2]। किंतु ऋग्वेद में सूनु शब्द पिता के प्रसङ्ग में अधिक आया है माता के प्रसङ्ग में बहुत कम (प्रायः सहसः सूनुः 'अद्रेः सूनुः' इत्यादि कहा गया है; ऋ० ५. ४२. २ में माता के साथ सूनु का उल्लेख है।) इस प्रकार पिता अपने सूनु के लिए सूपायन (अच्छा जुटाने वाला) है : ऋ० १. १. ९७। किंतु ऋ० १०. १८. ११ में जहाँ पृथ्वी का माता के रूप में उल्लेख है, वहाँ सूनु के स्थान पर पुत्र शब्द का प्रयोग आता है। इस व्युत्पत्ति से मातृ-सत्ता का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पिता और सूनु के संबन्ध के लिये द्रष्टव्य पितृ।

सूनृत, सूनृत—मञ्जुल=सु+ऋत : ऋ० १. ३. ११; १. ८. ८; १. १२४. १०; १. १२३. ५; ४. ५५. ९; ८. ९. १७; ऐब्रा० १. ३०; ऋ० १. ३०. ५; ऋ० १. १२१. १४; १. १२३. ६; ३. ३१. १८; अवे०, ८. १०. ११; ११. ७. १३; १२. ५. ६; १०. ६. १३; ऋ० १. ९२. ७ आदि।

सू-रि—अच्छे धन वाला=सु+रि। ऋग्वेद में यज्ञ करने वाले को सूरि कहा गया है; बाद में उसे यजमान कहा गया है। सूरि या यजमान वह है, जो पुरोहित को धन देकर यज्ञ कराता है : ऋ० १. ३१. ७, १२; १. ४८. २४; १. ५४. ११; १. ७३. ५, ८, ९; ३. ३१. १४; ५. ४२. ४; ५. ७९. ६; ६. ४. ८; ६. २३. १०; ७. ३२. १५; ८. ७०. १५; १०. ६१. २२; १०. ११५. ५, ७, ८। सूरियों का प्रायः मघवाओं के साथ उल्लेख आया है। इन्हें वीर योद्धा बताया गया है : ऋ० १. ६९. ३; १. ७३. ९; १. १२२, १२; १. १८०. ९; ७. ३२. १५। इन्हें पुरोहितों से उनके आश्रयदाता के रूप में संबद्ध किया गया है : ऋ० १. ९७. ३, ४; ५. १०. ६; ६. ८. ७; ६. २५. ७; ७. ३. ८; ७. ४४. १८; ८. ६०. ६. १०. ६६. २। सूरियों को पुरोहितों का साथी बताया गया है : ऋ० ५. ६४. ५; ७. ३२. २५; ८. ४५. ३६; ९. ९६. ४, १०. ११५. ७।

तु०-लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. २३६।

सूर्मि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सूर्मि शब्द रॉथ के अनुसार (दीप के रूप में प्रयुक्त होने वाली) नली के अर्थ में आया है : ऋ० ७. १. ३; तैसं०, १. ५. ७. ६; ५. ४. ७. ३; कासं०, २१. ९ जहां इसे कर्णकावती कहा गया है। ऋग्वेद ८. ६९. १२ में यह शब्द पानी की नली के अर्थ में आया है। तैत्तिरीय संहिता ४. ५. ९. २ में सूर्म्य शब्द नली में स्थित जल को उद्दिष्ट कर सकता है।

द्र०-अवत।

सूर्य—वैदिक देवशास्त्र में सूर्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] ऋग्वेद में सूर्य एक अत्यन्त उपकारी शक्ति है; और यह बात उस जाति के लिये अस्वाभाविक नहीं, जो हिमालय के ठण्डे इलाकों से आई हो; द्र०-ऋ० १. ५०. ६; १. ११५. १, ३; १. १६४. ११, १३; १. १९१. ८, ९; १०. ८८. ११; १०. १३९. ३ इत्यादि। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सूर्य की उष्णता का बार बार उल्लेख आता है : ऋ० ७. ३४. १९; ९ १०७. २०[2]।

एक कथा में आता है कि इन्द्र ने सूर्य को जीत लिया और उसने उनके रथ का चक्र चुरा लिया : ऋ० १. १७५. ४; ४. ३०. ४; १०. ४३. ५; इसमें तूफान से सूर्य के के छिप जाने की ओर संकेत हो सकता है[3]। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४. ४ में सूर्य के मार्ग का एक सुन्दर वर्णन है; सूर्य को इस ब्राह्मण ने एक ही ओर प्रकाशमय माना है; इस प्रकाशमय भाग को पृथ्वी की ओर करके पूर्व से पश्चिम की ओर वे जाते हैं; किंतु रात में जब वे उसी मार्ग से पश्चिम से पूर्व की ओर लौटते हैं तब उनका प्रकाशमय भाग तारों की तरफ होता है, जिससे तारे चमकने लगते हैं और धरती पर अंधेरा हो जाता है[4]।

---

[1] वोबू०।

[2] द्र०-डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शन फेरवान्द्सशाफ्तसनामन।

[1] द्र०-मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ ३० एवं आगे।

[2] एह्नि, यम, १३४; मैकडानल, पृष्ठ ३० एवं आगे।

[3] द्र०-मैकडानल, उपर्युक्त।

[4] द्र०-मैकडानल, पृष्ठ १०; इन्होंने इन स्थलों की तुलना की है, ऋ० १. ११५. ५; १०. ३७. ३;

ऋग्वेद ४. १३. ५ में यह आश्चर्य के साथ पूछा गया है कि सूर्य अपने स्थान पर दृढ़ कैसे है, वह गिर क्यों नहीं पड़ता ?

ऋग्वेद में सूर्य-ग्रहण की ओर भी अनेक संकेत हैं। यह कहा गया है कि स्वर्भानु ने अन्धकार द्वारा सूर्य को ग्रस लिया; अत्रि ने फिर सूर्य को बाहर निकाला : ऋ० ५. ४०. ५–९[1]। अन्यत्र उनके वंश के अत्रियों के लिये भी वैसा ही कहा गया है : अवे०, १३. २: ४, १२, ३६; शब्रा०, ४. ३. ४. २१। अथर्ववेद १९. ९. १० में सर्वप्रथम राहु का उल्लेख सूर्य के प्रसङ्ग में आया है[2]। इन्द्र द्वारा सूर्य की विजय को भी ग्रहण के संबन्ध में माना जा सकता है। ऋ० ४. २८. २, ३; ५. २३. ४ में भी ऐसा माना जा सकता है। ऋग्वेद १०. २७. २० में "सूरो मर्क:" को रॉथ (डिक्शनरी) और त्सिमर (उपर्युक्त) ग्रहण उत्पन्न करने वाला दानव मानते हैं, किंतु इससे "निर्मल सूर्य" यह अर्थ भी लिया जा सकता है। अथर्ववेद २. १०. ८ में ग्रहण का संकेत है[3]। लुडविग्[4] कहते हैं कि चन्द्रमा के बीच में आ जाने के कारण सूर्य-ग्रहण का सिद्धान्त ऋग्वेद को ज्ञात है; पृथ्वी के चारों ओर सूर्य के घूमने का भी वे उल्लेख ऋग्वेद में मानते हैं : ऋ० ४ २८. २३; ५. २३. ४; १०. १३८. ४। उन्होंने १०२९ ई० पूर्व में घटित सूर्य-ग्रहण का उल्लेख भी ऋग्वेद में माना है। इन सभी मतों का ह्विटनी ने खण्डन किया है[5]।

सूर्य समय-निर्माता के रूप में ३६० दिन का वर्ष बनाते हैं (ऋ० ५. ८१. १), जो वैदिक जीवन का सामान्य संवत्सर है। इस सौर वर्ष को दो भागों में बाँटा जा सकता है : उत्तरायण, जब सूर्य उत्तर की ओर जाते हैं (उत्तरायण, शब्द बाद का है, मनु ६.१० इत्यादि; उदगयन शब्द : बृउ०, ६. ३. १; कौसू०, ६७. ४; गोगृ-सूत्र, ८. १. १; गोगृसूत्र, १. १. ३; आगृसूत्र, १. ४ इत्यादि)[1]; और दक्षिणायन, जब सूर्य दक्षिण की ओर जाते हैं (यह नाम भी बाद का है : मनु, १. ६७ इत्यादि)। शतपथ ब्राह्मण २. १. ३ में प्रत्येक अयन को तीन ऋतुओं का कहा गया है : उत्तरायण में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा; दक्षिणायन में शरद्, शिशिर, हेमन्त। इसमें संदेह नहीं है कि ये काल सूर्य के शीत-अयन से उत्तर की ओर तथा ग्रीष्म-अयन से दक्षिण की ओर घूमने के आधार पर हैं। कौषीतकि ब्राह्मण १९. २ में ऐसा स्पष्टतः कहा गया है।

तु०—तैसं० ६. ५. ३; बृउ०, ६. १. १८ माध्यंदिन = ६. २. १८[2] काण्व। दूसरा सिद्धान्त यह हो सकता है कि सूर्य के विषुवत् रेखा के उत्तर या दक्षिण में रहने के आधार पर यह काल-विभाजन रहा हो; अयन के आधार पर नहीं; किंतु वैदिक ज्योतिष-सिद्धान्त में इन रेखाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है[3]। ऋग्वेद में अयनों का जिक्र संदिग्ध है[4]।

ब्राह्मणों और संभवतः ऋग्वेद में अमावस्या के दिन चन्द्र को सूर्य में प्रविष्ट हुआ माना जाता है : शब्रा०, १. ६. ४. १८; ४. ६. ७. १२; १०. ६. २. ३; ११. १. ६. १९; बृउ०, १. २. १३; ऐब्रा०, ८. २८. ८; ऋ० ५. ४७. ३; ९. २५. ६; ९. ७१. २; १०. ५५. ५; १०. १३८. ४[5]। हिल्लेब्रांड्ट[6] के अनुसार ऋग्वेद में

द्र०—स्पेयर, ज० रा० ए० सो०, १९०६, ७२३; थिबो, ऐस्ट्रोनमी ऐस्ट्रोलगी उण्ड माथा-माटीक ६।

[1] तु०—मैकडानल, उपर्युक्त, पृष्ठ १०; पंविब्रा०, ४. ५. २; ४. ६. १४; कौब्रा०, २४. ३; तिलक, ओरायन, १५९।

[2] तु०—त्सिमर, आले०, ३५१।

[3] द्र०—लानमान, फेस्टग्रुस ऑन रॉथ, १८७–१९०।

[4] प्रो० ऑफ दि बोहेमियन एकेडेमी ऑफ साइंसेज, १८८५; ट्रां० ऋग्वेद, ६. १०।

[5] प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, अक्टूबर १८८५, १७; जअओसो०, १६. ८२. ८३, एगलिंग, सेबुई० ४१. ६५. ६६; थिबो०, ऐस्ट्रोनमी एस्ट्रोलोगी उण्ड माथामाटीक, ६।

[1] वेबर, नक्षत्र, २. २०१, २१२, ज्योतिष, १०७ एवं अग्रिम; यास्क, निरुक्त, १४. १०।

[2] द्र०—वेबर, नक्षत्र, २. ३. ४५ एवं अग्रिम।

[3] द्र०—थिबो, इंडियन ऐंटीक्वेरी, २४, ९६; ऐस्ट्रो-नमी ऐस्ट्रोलगी उण्ड माथामाटीक, १०; ओल्डेन-बर्ग, त्सादामौगे०, ४८. ६३१ एवं आगे; ४९. ४७३ एवं आगे; नाखरिश्तन देर कोइनिग्लिशन गेजलशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन त्सु गोत्तिङ्गन, १९०९, ५६४ टि० १; कीथ, जराएसो०, १९०९, ११०३; दूसरी ओर द्र०—तिलक, ओरायन, २२. २१।

[4] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, ३. २७९–२८३; इन्होंने ऋ० १. ६१. १५; ५. २९. ५; १०. १७७. ४; १०. १७२. २ का उल्लेख किया है, किंतु ये स्थल निष्कर्षात्मक नहीं हैं; तु०—थिबो, उप-र्युक्त, ६।

[5] तु०—हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, १. ४६३–४६६।

[6] हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, ३. ४६७, ४६८।

चन्द्रमा के सूर्य-प्रकाश से प्रकाशित होने का उल्लेख है; किंतु यह संदिग्ध है : ऋ० ९. ७१. ९; ९. ७६. ४; ९. ८६. ३२; संभवतः १. १९०. ३; सामवेद, २. ९, २, १२, १[१]। द्रष्टव्य—**अर्यम्णः पन्थाः, नक्षत्र और सप्तसूर्याः।**

ब्राह्मणों में सूर्य—'तं (इन्द्रं) देवा अब्रुवन् सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्' तैब्रा० २. २. १०. ४; 'असौ वै सूर्यो योऽसौ तपति' कौब्रा० ५. ८; 'असौ वा आदित्यः सूर्यः' शब्रा० ९. ४. २. २३; 'एष वै शुक्रो य एष तपत्येष उ एव बृहन्' शब्रा० ४. ५. ९. ६; एष इन्द्रो य एष तपति' शब्रा० २. ३. ४, १२; 'असौ वै पूषा योऽसौ तपति' गोब्रा० २. १. २०; 'असौ वै सविता योऽसौ तपति' कौब्रा० ७. ६; 'यः सूर्यः स धाता स उ एव वषट्कारः' ऐब्रा० ३. ४८; 'एष वै वषट्कारो य एष तपति' शब्रा० ११. २. २. ५; 'एष वै स्वाहाकारो य एष (सूर्यः) तपति' शब्रा० १४. १. ३. २६; 'एष वै ब्रह्मणस्पतिः य एष तपति' शब्रा० १४. १. २. १५; 'स वा एषोऽपः प्रविश्य वरुणो भवति' कौब्रा० १८. ९; 'अर्कश्चक्षुस्तदसौ सूर्यः,' तैब्रा० १. १. ७. २; 'एष वै मखो य एष तपति' शब्रा० १४. १. ३. ५; एष वै पिता य एष तपति' शब्रा० १४. १. ४. १५; 'एष वै ग्रहः य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजा गृहीताः' शब्रा० ४. ६. ५. १; 'एष वै गोजाः' ऐब्रा० ४. २०; 'एष वै गोपाः य एष तपत्येष हीदं सर्वं गोपायति' शब्रा० १४. १. ४. ९; 'एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमान् लोकांस्तन्त्रमिवानुसंचरति' शब्रा० १४. २. २. २२; 'अथ वै निविदसावेव योऽसौ तपत्येष हीदं सर्वं निवेदयन्नेति' कौब्रा० १४. १; 'आदित्यो निवित्' जैउब्रा० ३. ४. २; 'सौर्या वा एता देवता यन्निविदः' ऐब्रा० ३ ११; 'असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ तपति' ५. ५; 'एष (सूर्यः) वै वरसद् वरं वा एतत् सद्मनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तपति' ऐब्रा० ४. २०; 'एष वै व्योमसद् व्योम वा एतत् सद्मनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तपति' ऐब्रा० ४. २०; 'एष वै नृषत्' ऐब्रा० ४. २०; 'एष वै होता वेदिषत्' ऐब्रा० ४. २०; 'असौ वै होता योऽसौ तपति' गोब्रा० २. ६. ६; 'असौ वै दूरोहो योऽसौ तपति' ऐब्रा० ४. २०; 'असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः' शब्रा० ८. ५. २. ६; 'एष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येनेदं सर्वं यतम्' शब्रा० १४. १. ३. ४; 'स एष (सूर्यः) मृत्युः' शब्रा० १०. ५. १. ४; 'सूर्यः परिवत्सरः' तांब्रा. १७. १३. १७; 'असौ वै महावीरो योऽसौ तपति' कौब्रा० ८. ३. ७; 'एष वै चतुः स्रक्तिर्य एष तपति दिशो ह्येतस्य स्रक्तयः' शब्रा० १४. ३. १. १७; 'अथ वै पुरोरुगसावेव योऽसौ तपत्येष हि पुरस्ताद्रोचते' कौब्रा० १४. ४; 'तद् वा एतदेव पुरश्चरणम्। य एष तपति' शब्रा० ४. ६. ७. २१; 'एष वाव स परोरजा इति होवाच। य एष तपति' तैब्रा० ३. १०. ९. ४; 'एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीदं सर्वं गृह्णात्येनेदं सर्वं गृभीतम्' शब्रा० १४. १. ४. २; 'असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः' शब्रा० ६. ३. १. १५; 'ज्योतिरेष य एष तपति' कौब्रा० २५. ३. ९; 'एष वै श्रेष्ठो रश्मिः यत्सूर्यः' शब्रा० १. १. ३. १६; 'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकः' शब्रा० १०. ५. २. १; 'बार्हतो वा एष य एष तपति' कौब्रा० १५. ४; 'बृहत्यां वा असावादित्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति' गोब्रा० २. ५. ७; 'जागतो वा एष य एष तपति' कौब्रा० २५. ४. ७; 'त्रैष्टुभो वा एष य एष तपति' कौब्रा० २५. ४; 'य आदित्यः स्वर एव सः' जैउब्रा० ३. ३३. १; 'स यदाह स्वरोऽसीति सोयं वा एतदाहैष ह वै सूर्यो भूत्वामुष्मिंल्लोके स्वरति

[१] थिबो०, उपर्युक्त; ६ इनका मत है कि इन स्थलों का यह भाव है कि शुक्लपक्ष की रात्रियों में सूर्य से विनिःसृत प्रकाश से चन्द्रमा पूर्ण रहता है। **अर्यम्णः पन्था** के लिये द्र०—लुड्विग ट्रां० ऋ०, ३. १८८; ये ऋ०, १. ११०. २ में क्रांतिमण्डल और विषुवत् रेखा का तथा १०. ८६. ४, में पृथ्वी की धुरी का उल्लेख मानते हैं। तु०—तिलक, ओरायन, १५८ एवं आगे; ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद नोटन, १. १०२, १०५; ये मत चिन्त्य हैं। ब्राह्मणों में सूर्य का वर्णन सर्वथा साधारण ढंग का है। पंविब्रा० १६. ८. ६ के अनुसार पृथ्वी से स्वर्ग और सूर्य की दूरी एक हजार गौओं के एक दूसरी पर खड़ी करने की दूरी के बराबर है; या पंविब्रा० २५. १०. १६ के अनुसार अश्व की ४४ दिन की यात्रा की दूरी के बराबर है। ऐतरेय ब्राह्मण २. १७. ८ के अनुसार यह अश्व की सहस्र दिन की यात्रा की दूरी के बराबर है; अथवा कौब्रा० ८. ३ के अनुसार १०० योजन की दूरी है। ब्राह्मणों में सूर्य के जल से निकलने और उसमें डूबने का भी उल्लेख आता है : ऐब्रा०, ४. २०, १३; निरुक्त ६१७; कौब्रा०, २४. ४. ५; २६. १। सूर्य के पश्चिम में अस्त होने का भी उल्लेख है : कौब्रा०, १८. ९। शतपथ ब्राह्मण ७. ४. १. १७ में सूर्य को गोलाकार माना गया है, साथ ही चतुष्कोण भी : शब्रा०, १४. ३. १. १७।
द्र०—वेबर, इस्टू०, ९. ३५८ एवं आगे।

तद् यत् स्वरति तस्मात् स्वरस्तत् स्वरस्य स्वरत्वम्' गोब्रा० १. ५. १४; 'स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्' शब्रा० १२. ९. २. ८; 'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा' शब्रा० १४. ३. २. ९; 'ते देवाः सूर्यं काष्ठां कृत्वा-जिमधावन्' तांब्रा० ९. १. ३५; 'एतद् वा अनपराद्धं नक्षत्रं यत् सूर्यः' शब्रा० २. १. २. १९; 'सूर्यो अग्ने र्योनिरायतनम्' तैब्रा० ३. ९. २१. २; 'अग्नये सायं हूयते सूर्याय प्रातः' तैब्रा० २. १. २. ६; 'तेषां (नक्षत्राणाम्) एष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त' शब्रा० २. १. २. १८; 'एष यत्रोदङ्ङावर्तते देवेषु तर्हि भवति देवांस्त—ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति' शब्रा० २. १. ३. ३; 'सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता' शब्रा० १. ३. ४. ८; 'सूर्यो वै प्रजानां चक्षुः' शब्रा० १३. ३. ८. ४; 'स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा विद्धो न व्यरोचत तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपाहतां स एषोऽपहतपाप्मा तपति' शब्रा० ५. ३. २. २; 'सूर्यस्य वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिः नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति' शब्रा० १४. २. १. २१; 'स उद्यन्नेवामूं (दिवम्) अधिद्रवत्यस्तं यन्निमां (पृथिवीम्) अधिद्रवति' शब्रा० १. ७. २. ११; 'सौर्यो वा अश्वः' गोब्रा० २. ३. १९; 'अस्माभिः (अङ्गिरोभिः) एष प्रतिगृहीतो य एष (सूर्यः) तपतीति तस्मात् सद्यः क्रियोऽश्वः श्वेतो दक्षिणा' शब्रा० ३. ५. १. १९; 'सूर्य उद्गाता' गोब्रा० १. १. १३; 'सूर्यात् सामवेदः (अजायत)' शब्रा० ११. ५. ८. ३; 'एष वा अपां रसो योऽयं पवते स एष सूर्ये समाहितः सूर्यात् पवते' शब्रा० ५. १. २. ७.।

सूर्य-नक्षत्र—शतपथ ब्राह्मण २. १. १९ में सूर्य-नक्षत्र का उल्लेख है, जो सायण के अनुसार एक नक्षत्र है; किंतु काण्व पाठ के आधार पर यह यज्ञ-कर्ता को सूर्य को ही नक्षत्र समझने के लिये कहा गया है; अर्थात् वह अन्य नक्षत्रों के फेर में न पड़कर सूर्य के ऊपर पक्का विश्वास करे।

तु०—एर्गलिंग, सेबुई०, १२. २८८।

सूर्यस्य दुहिता—'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' शब्रा० १२. ७. ३. ११।

सूर्या-चन्द्रमसा या सूर्या-चन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्रमा को द्वन्द्व समास में दो ज्योतिष्पिण्डों के रूप में ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में दिखाया गया है: ऋ० १. १०२. ५. ५१. १५; १०. १९. ३; बृउ०, ३. ८. ९; छाउ०, ७. १२१।

तु०—वेबर, नक्षत्र, ३. २९३; ज्योतिष, २८. ५०; इस्तू०, ९. ११२।

१ **सूर्या**—सूर्य की पुत्री: ऋ० १. ११६. १७। उसे **प्रजापति** और **सविता** की पुत्री भी कहा गया है। उसे **अश्विनों** की पत्नी कहा गया है, किंतु **सोम** से भी उसके विवाह का उल्लेख मिलता है। ऋ० १. ११९. २ में उसे **ऊर्जानी** कहा गया है। ऋ० ६. ५५. ४; ६. ५८. ४ उसे **पूषन्** की बहन बताया गया है। **पूषन्** ने उसे देवों से प्राप्त किया था और वे उससे प्रेम करते थे। ऋग्वेद १०. ८५ सूर्या-सूक्त या विवाह-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है; इसमें सूर्या के विवाह का विस्तृत विवरण आता है।

द्र०—ऋ० १०. ८५; अवे०, १२. १. २४; ६. ८२. २; ९. ४. १४; ऋ० १. १८४. ३; ४. ४३. ६; ५. ७३. ५; ८. २२. १; ऐब्रा०, ४. ७ इत्यादि। विशेष विवरण के लिए द्र०—मैकडानल, वैमा०।

तु०—'अथ यत्र ह तत् सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे' कौब्रा० १८. १; 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्' ऐब्रा० ४. ७।

सृक—ऋग्वेद के दो स्थलों में सृक इन्द्र के अस्त्र, संभवतः शक्ति या तोमर के लिये आया है: ऋ० १. ३२. १२; १०. १८०. २; तु०—**सृकायिन्**, **सृका-हस्त**, वासं०, शतरुद्रिय मन्त्र, १६. २१. १६. ६१ इत्यादि में।

सृगाल—शतपथ ब्राह्मण १२. ५. २. ५; से पहले सृगाल का उल्लेख नहीं मिलता। आर्षकाव्य में इसका उल्लेख आम है।

सृजय—यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक सृजय भी है। अर्थ अज्ञात है। महीधर ने वाजसनेयि-संहिता के भाष्य में इसे एक पक्षी माना है; सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में इसे "काली मक्खी", "श्वेत सर्प" या "काला भैंसा" माना है: तैसं०, ५. ५. १४. १; मैसं०, ३. १४. १४; वासं०, २४. २३;

तु०—त्सिमर, आले०, ९९।

सृञ्जय—ऋग्वेद-काल से ही सृञ्जय एक जाति है। सृञ्जय **दैववात** को **तुर्वशों** और **वृचीवन्तों** पर विजयी बताया गया है: ऋ० ६. २७. ७। उनके याज्ञिक अग्नि का उल्लेख मिलता है: ऋ० ४. १५ ४। **दैववात** के प्रसङ्ग में **साहदेव्य सोमक** का भी उल्लेख आया है। निःसंदेह ये भी एक राजा थे: ऋ० ४. १५. ७; क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में इनका उल्लेख इनके पिता **साञ्जय सहदेव** (प्रारम्भिक नाम **सुप्लन्**) के साथ आया है, जहां उन दोनों का **पर्वत** और **नारद** द्वारा अभिषेक दिखाया गया है। ऋग्वेद की दान-स्तुति ६. ४७. २२, १५ में भी **दिवोदास** के साथ साञ्जय **प्रस्तोक** का उल्लेख आया है; तु०—शांश्रौसूत्र०, १६. ११. ११। **वीतहव्य** को भी एक

सार्ञ्जय माना जा सकता है, किंतु त्सिमर ने **वैतहव्य** को पैतृक नाम न मान कर एक विशेषण माना है[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि सृञ्जय और तृत्सु परस्पर मित्र थे; क्योंकि **दिवोदास** और सृञ्जय राजा का साथ-साथ उल्लेख आया है[2]; और **तुर्वश** इन दोनों के शत्रु थे; द्र०—ऋ० ८. १८; **तुर्वश** और **तृत्सु**; ऋ० ६. २७. ७। शतपथ ब्राह्मण ११. ४. ४. ५ से इस मत की पुष्टि होती है, जहां **देवभाग श्रौतर्ष** को **कुरुओं** और सृञ्जयों का पुरोहित बताया गया है।

दूसरी ओर सृञ्जयों पर, विशेषतः **वैतहव्यों** पर अवश्य कोई विपत्ति पड़ी थी; क्योंकि अथर्ववेद (५. १९. १ तु०—५. १८. १०, ११) में कहा गया है कि इन्होंने **भृगुओं** को नाराज कर दिया था और ये लोग बुरी तरह समाप्त हो गये थे। इस कहानी के विषय में पक्की तरह कुछ नहीं बताय़ा जा सकता; फिर भी काठक संहिता १२. ३ और तैत्तिरीय संहिता ६. ६. २. २, ३ के अनुसार सृञ्जयों की कोई भारी हानि हुई थी। कारण इसका कोई यज्ञ-सम्बन्धी त्रुटि हो सकती है।

सृञ्जयों की भौगोलिक स्थिति का ठीक ज्ञान नहीं है। हिल्लेब्रांड्ट[3] का सुझाव है कि प्रारम्भिक काल में उन्हें **दिवोदास** के साथ **सिन्धु** के पश्चिम में मानना चाहिये। उन्होंने ब्रनहोफर का मत भी दिया है, जिसके अनुसार ग्रीक 'जरङ्गई' शब्द के साथ समानता के आधार पर उन्हें द्रंगियाना में रखा गया है[4]। त्सिमर[5] उन्हें ऊपरी **सिन्धु** के पास मानते हैं[3]। फिर भी सृञ्जयों के निवास-स्थान का निश्चित करना कठिन है। उन्हें **सिन्धु** से सुदूर पूर्व में माना जा सकता है, क्योंकि उनके मित्र **तृत्सु** **मध्यदेश** के रहने वाले थे, और वे **कुरुओं** में मिल गये थे।

इस जाति के इतिहास के संबन्ध में एक बात मार्के की है। इन्होंने अपने राजा **दुष्टरीतु पौंसायन** को दश पीढ़ियों की परंपरा तोड़कर राज सिंहासन से हटा दिया था और उनके मंत्री **रेवोत्तर पाटव चाक्रस्थपति** को भी मार भगाया था। किंतु मन्त्री ने **कुरु**-राजा **बल्हिक प्रातीप्य** के विरोध करने पर भी **दुष्टरीतु पौंसायन** को फिर से राजगद्दी पर बिठा दिया था : द्र०—शब्रा०, १२. ९. ३. १ एवं आगे। बहुत संभव है कि **कुरु** राजा ही उस आन्दोलन के मूल में रहा हो, जिसने राजा एवं उसके मन्त्री को अपदस्थ करके भगा दिया था। किंतु राजा के इस पुनः-प्रतिष्ठान को (ब्लूमफील्ड के मतानुसार) सृञ्जयों की पराजय कैसे कहा जा सकता है[1]।

सृणी—ऋग्वेद १. ५८. ४ में निश्चित रूप से और संभवतः ऋ० १०. १०१. ३, निरुक्त ५. २८ और १०. १०६. ६ में सृणी शब्द आता है।[2] अर्थ दरांती है। शतपथ ब्राह्मण ७. २. २. ५ में भी यह शब्द आता है। ऋ० ४. २०. ५ में सृण्य के जेता के साथ आता है; भाव संदिग्ध है; रॉथ[3] चेता और ओल्डेनबर्ग[4] छेत्ता संभव बताते हैं। हॉपकिन्स[5] के अनुसार इसका अर्थ एक प्रकार का अंकुश है।

---

[1] द्र०—ओल्डेनबर्ग, त्सादामौगे०, ४२. २१२; हिल्लेब्राण्ड्ट, वैमि०, १. १०५; त्सिमर, आले० १३२. **वैतहव्य** पर।

[2] तु०—**दिवोदास** और **भरद्वाजों** का संबन्ध : ऋ० ६. १६. ५; ६. ३१. ४; हिल्लेब्रांड्ट, उपर्युक्त, १. १०४; उनका सृञ्जयों से संबन्ध; **वैतहव्य** से, ऋ० ६. १५. २, ३; द्र०—६. २७. ७ इन दोनों में **भरद्वाज**-वंश वालों का ही उल्लेख है।

[3] उपर्युक्त, १. १०६।

[4] हेरोडोरस ने जरङ्गई और जरङ्गीज रूप रक्खा है; स्ट्रैबो और एरियन ने द्रङ्गई रूप दिया है। अवेस्ता में जयंक, और प्राचीन फारसी में दरय रूप है; द्र०—ब्लूमफील्ड, अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलोलाजी, २५. ११; ओल्डेनबर्ग, जराएसो०, १९०९. १०९८ :

[5] आले० १३२, १३३; वेबर, इस्टू०, १. २३२; यह ऋ० १. १०० के आधार पर अनुमान है, जो **सहदेव** और **सिंधु** के उल्लेख पर निर्भर है।

[1] द्र०—हिम्स ऑफ दि अवे०, ४३३; इसी प्रकार त्सिमर, उपर्युक्त १३२।
तु०—वेबर, इस्टू०, १. २०८; ३. ४७२; १८. २३७; एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, ३१; लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५३; ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०५।

[2] गेल्डनर, वैस्टू०, १. ११६. टि०—१ और पिशल, वही, २. १११ के अनुसार सृण्याभिः के स्थान पर सृण्या होना चाहिए, और जूहूभिः के साथ इसे विशेषण के रूप में लेना चाहिए, जिससे अर्थ होगा 'हँसिया जैसा यज्ञ का चमस'; किंतु यह संदिग्ध है।

[3] त्सा०दा०मौ०गे०, ४८. १११।

[4] ऋ० नो०, १. २८४.

[5] ज०अ०सो०सो०, १७. ८६ टि०।

तु०—त्सिमर, आ०ले०, २३८; ओल्डेनबर्ग, उपर्युक्त, १. ५८।

सृण्य—द्र०–सृणी।

सृबिन्द—ऋग्वेद ८. २२. २ में सृबिन्द इन्द्र के शत्रु का नाम है। एवं हो सकता है सृबिन्द शब्द आर्यभाषा का न हो।

तु०–मैकडानल, वैमा० पृ० १६२।

सृमर—याजुष संहिताओं में अश्वमेध की बलियों की सूची में सृमर किसी अज्ञात पशु का नाम है : तैसं०, ५. ५. १६. १; सायण के अनुसार चमर; मैसं०, ३. १४. २०; वासं०, २४. २९, जहाँ महीधर ने इसे गवय माना है।

सेतु—पुल। यह अर्थ इस शब्द के परवर्ती अर्थ "सीमा" की व्याख्या कर देता है। वैदिक साहित्य में यह सर्वत्र अलंकार के रूप में आया है : ऋ० ९. ४१. २; तैसं०, ३. २. २. १; ६. १. ४. ९; ६. ५. ३. ३; ७. ५. ८. ५; कासं०, २८. ४; ऐब्रा०, ३. ३५; तैब्रा०, २. ४. २. ६; शब्रा०, १३. २. १०. १।

द्र०–मैक्समूलर, सेबुई०; १. १३० टि० २।

तु०–त्सिमर, आले०, २५७।

सेनजित्—द्र०–सु-षेण।

सेना—सेना का प्रारम्भिक अर्थ अस्त्र है; यह अर्थ ऋग्वेद और अथर्ववेद में पाया जाता है : ऋ० १. ६६. ७; १. ११६. १; (यहाँ "सेना-जू" अर्थात् "बाण की भांति तीव्रगामी" इस अर्थ में आया है) १. १४३. ५; १. १८६. ९; २. ३३. ११; ५. ३०. ९; ७. ३. ४; ८. ७५. ७; १०. २३. १; अवे०, ८. ८. ७; ११. १०. ४। इसके बाद इस शब्द का अर्थ सामान्य रूप में सेना हो जाता है : ऋ० १. ३३. ६; ७. २५. १; ९. ७६. १; १०. १०३, १, ४, ७; १०. १४२. ४; १०. १५६. २; अवे०, ३. १. १; ३. १९. ६; ४. १९. २; ५. २१. ९, इत्यादि।

तु०–'सेनेन्द्रस्य पत्नी' गोब्रा० २. २. ९।

द्र०–संग्राम।

द्रष्टव्य–फान ब्राडके, त्सादामौगे०, ४६. ४५६; ब्लूमफील्ड, वही, ४८, ५४९, ५५०; पिशल, वैस्तू०, १. २३१ टि० २; ये यह स्वीकार नहीं करते कि सेना का अर्थ कभी अस्त्र भी था।

सेना-नी—सेना का अगुआ, नायक। यह राजा के सेनापति की उपाधि है। ऋग्वेद ७. २०. ५; ९. ९६. १; १०. ८४. २ में इसका उल्लेख है। रूपक में भी यह शब्द वहां (१०. ३४. १२ अक्ष-क्रीडासूक्त) में आया है। याजुष संहिताओं के शतरुद्रिय मन्त्रों में भी यह शब्द आया है : वासं०, १६. १७; कासं०, १७. ११; मैसं०, २. ९. ४; तैसं०, ४. ५. २. १। अन्यत्र भी इन संहिताओं और ब्राह्मणों में सेनानी का उल्लेख मिलता है : वासं०, १५. १५; कासं०, १७. ९; मैसं०, २. ८. १०; शब्रा०, ८. ६. १. २१। सेनानी को राजा के रत्नियों में से एक माना गया है : तैसं०, १. ८. ९. १; तैब्रा०, १. ७. ३. ४; मैसं०, २. ६. ५; ४. ३. ८; कासं०, १५. ४; शब्रा०, ५. ३. १. १। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३. १० में इस अधिकारी को सेना-पति कहा गया है।

सेना-पति—द्र०–सेना-नी।

सेलग—ब्राह्मणों में यह शब्द संभवतः डाकू के लिये आया है : ऐब्रा०, ७. १. ५; ८. ११. ८; शब्रा०, १३. ४. ३. १०।

द्र०–सेलग।

सेहु—अथर्ववेद ७. ७६. १ में सेहु का अर्थ कोई नीरस पदार्थ है।

तु०–त्सिमर, आले०, ५४; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ४४१।

सैतव—सेतु का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५. २१; ४. ५. २७ माध्यंदिन, २. ६. २ काण्व) की आचार्यों की प्रथम दो वंश-सूचियों में एक आचार्य का नाम सैतव है। वे पाराशर्य या पाराशर्यायण (बृउ०, २. ६. २ काण्व) के शिष्य थे।

सैन्धव—सिन्धु से आने वाला। तैत्तिरीय संहिता ७. ४. १३. १ में यह जल का विशेषण है। अथर्ववेद १९. ३८. २ में यह गुग्गुलु को उद्दिष्ट करता है - शतपथ ब्राह्मण (११. ५. ५. १२; बृउ०, ६. २. १३ मा०=६. १. १३ का) में यह अश्व का व्यापक है। अन्यत्र (बृउ०, २. ४. १२; ४. ५. १३) यह नमक का भी विशेषण है।

सैन्धुक्षित—साम-विशेष। 'सिन्धुक्षिद् वै राजन्यर्षिर्ज्योगपरुद्धश्चरन् स एतत् सैन्धुक्षितमपश्यत् सोऽवागच्छत् प्रत्यतिष्ठद् अवगच्छति प्रतितिष्ठति सैन्धुक्षितेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १२. १२. ६।

सैर्य—ऋग्वेद १. १९१. ३ में सैर्य, कीड़ों से ग्रस्त घास-विशेष के लिये आया है।

तु०–त्सिमर, आले०, ७२।

सैलग—वाजसनेयि संहिता ३०. १८ और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४. १६. १; शा० आ० १२. २३ में शैलग) में पुरुषमेध की एक बलि सेलग है। सेलग की भाँति इसका भी अर्थ डाकू प्रतीत होता है।

तु०–एगलिंग, सेबुई० ४४. ३६७ टि० ४।

सोभरि—सोभरि ऋग्वेद में एक ऋषि का नाम है: ऋ० ८. ५. २६; ८. १९. २; ८. २०. १९; ८. २२. २। उनके वंश का भी उल्लेख आता है: ऋ० ८. १९. ३२; ८. २०. ८; एक पिता **सोभरी** का भी उल्लेख है: ऋ० ८. २२. १५;

तु०—८. १०३. १४; अवे०, १८. ३. १५।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०५; ओल्डेनबर्ग, त्सा दा. मौ. गे., ४२. २१७।

सोम—सोम एक प्रसिद्ध वीरुध् अथवा लता थी। वैदिक यज्ञों में इसके रस की हवि दी जाती थी। सोम के महत्त्व का इतने ही से पता चल जाता है कि ऋग्वेद का संपूर्ण नवम मण्डल एवं अन्य छः सकल सूक्त इसकी प्रशंसा में आये हैं।

सोम क्या था—किंतु यह लता असल में कौन सी थी इसके विषय में हमारा ज्ञान आज भी नगण्य है। ऋग्वेद ९. ११३. २ में इसे वीरुधां पतिः कहा गया है। अथर्ववेद ५. २४. ७ में भी ऐसा ही आया है। बाद में सुश्रुत २९. २२ ने तो साफ शब्दों में 'कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला' कह कर इसे लता घोषित कर दिया है।

सोम के पत्ते होते हैं: ऋ० ९. ९७. ३३, अवे० ३. ५. ४। यदि हिल्लेब्राण्ड्ट[1] का मत मानकर ऋ० ३. ५३. १४ में आये '**नैचाशाख**' को सोम का विशेषण मान लिया जाय तो उसकी टहनियां और पत्ते निम्नाभिमुख होने चाहियें।

सोम-पर्व—सोम के अङ्गुलि या गौ के स्तन के समान पुष्ट, मोटे पर्व या काण्ड होते हैं: ऋ० १. ९. १।

तु०—**परुस्**, तैब्रा० ३. ७. १३; वै सूत्र २४। इन्हें वेद में अंशु कहा गया है: ऋ० ९. ६७. २८; ८. ९. १९; १. १६८. ३; ३. ४८. २ इत्यादि। क्षिप् (=अङ्गुलि) से भी काण्ड की उपमा दी गई है; फलतः, सोम के काण्ड अङ्गुलि-सदृश रहे होंगे: ऋ० ९. ७९. ४।

तु०—पिशल, वैस्तू० १. ७०। इसी के लिये **वक्षणा** और **वाण**[2] शब्द का प्रयोग भी आया है; **वक्षणा**: ऋ० ८. १. १७; **वाण**: ऋ० ४. २४. ९; ९. ५०. १। हो सकता है कि सोमलता पर कांटे भी होते हों—क्योंकि वर्णन आता है कि सोम के पास तीक्ष्ण बाण है: ऋ० ९. ७६. २; ९. ६१. ३०; ९. ९०. ३। सोम का पर्व गोलाकार न होकर सकोण होता था। यदि सोम का पर्व **अंशु** कहाता था तो सारा सोम **अन्धस्** कहाता था: ऋ० १. २८. ७; ४. १६. १ इत्यादि।

सोम-रस—सोम का दुग्ध अरुण वर्ण का होता था: ऋ० ७. ९८. १; ९. ४०. २; ९. ४५. ३; क्योंकि स्वयं सोम अरुण वृक्ष की शाखा है: ऋ० १०. ९४. ३। हरितवर्ण अंशु से रस निकाला जाता था: ऋ० ९. ९२. १; यहाँ हरित शब्द हरे, पीले, एवं किंचित् लाल वर्ण का वाचक है। सोमरस का वर्ण **बभ्रु** बताया गया है: ऋ० ९. ३३. २; ६३. ४, ६; वह **हरि** या **पिङ्गल** था: ऋ० ९. ३. ९; ९. ७. ६; ९. ६५. ८। वह **अरुष** होता था: ९. ६१. २१; **शोण**: ९. ९. ७. १३। शतपथादि ब्राह्मणों में सोम के अभाव में जिस लता का विधान आता है, उसका वर्ण लाल या अरुण होता था: शब्रा० ४. ५. १०. १। जिस गौ के बदले में सोम को खरीदते थे उसका रंग कपिल या किंचित् लाल-पीला होना चाहिये, क्योंकि सोम का रंग वैसा ही होता है: तैसं० ६. १. ६; शब्रा० ३. ३. १. १४। सोम के प्रतिनिधियों में **पूतिका** या **पूतितृण** बताया गया है। इसे मराठी में 'मयाल' कहते हैं। यह लता होती है और इसके लाल और सफेद दो भेद होते है। इसका रस कुछ अरुण होता है। इसकी फैली हुई टहनियां अंगुष्ठ के बराबर मोटी होती हैं। इसके गुण सोमवल्ली जैसे बताये गये हैं। इस प्रकार फाल्गुनी लता भी अरुण पुष्प वाली होनी चाहिये और उसके अभाव में अरुण दूर्वा लेनी चाहिये: शब्रा० ४. ५. १०. १—४। बाद में सुश्रुतकार ने साफ शब्दों में कह दिया है:—

> **सर्वे एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः।**
> **क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥२९१६॥**

सुश्रुतकार ने सोम की चन्द्रमा के साथ तुल्यता साफ शब्दों में दिखाते हुए लिखा है:—

> **सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दशपञ्च च।**
> **तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥**
> **एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।**
> **शुक्लस्य पौर्णमास्यांतु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥**
> **शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।**
> **कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥**

सुश्रुत, चि०स्था०अ०, २९.

किंतु यह संभव है कि इस लता के 'सोम' (=चन्द्रमा) इस नाम को देखकर किसी ने इन दोनों में समता का आधार स्पष्ट करने के लिये ये श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये हों।

---

[1] वैमि० १. १४—१८; २. २४१—२४५।

[2] द्र०—बाण; सोम-सवन के बाद बचे हुए भाग को **अन्धस्** कहा गया है: ऋ० ९. ८६. ४४; वह **वव्रि** भी है: ऋ० ९. ६९. ९; वह **त्वक्** भी है: ऋ० ९. ८६. ४४; वह **शरीर** भी है: तैब्रा० ३. ७. १३. १; वह **तान्व** भी है: ऋ० ९. ७८. १।

सोम पर्वतों पर होता था; वीरुध् सोम पर्वतों पर पैदा होता था; **मुञ्जवन्त्** पर्वत का नाम इस संबन्ध में खास तौर से लिया गया है : ऋ० १. ९. ३. ६; ३. ४८. २; ५. ३६. २; ५. ४३. ४; ५. ८५. २; ९. १८. १; ९. ४६. १; ९. ७१. ४; ९. ८२. ३; अवे० ३. २१. १०। सुश्रुत ने इसके उत्पत्ति-स्थानों का वर्णन करते हुए लिखा है :—

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रमलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ, गिरौ देवसहे तथा॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रसिद्धा ये महीधराः॥
(सु० चि० स्था० अ० २९)

सोम की दिशा **उत्तर** (तैब्रा० ३. ११. ५. २) **पश्चिम** (ऐब्रा० १. १८.) एवं **पूर्व** (ऐब्रा० १. ३.) बताई गई है।

सोम की प्राप्ति दुर्लभ थी इस आशय के संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं। सोम द्युलोक में है : ऋ० १०. ११६. ३। सोम को श्येन **कृशानु** गंधर्व से लड़कर लाया था : ऋ० १. ९३. ६; ४. २७. ३–४। सोम के स्थान का पहरा गंधर्व देते हैं : ऋ० ९. ८३. ४; सोम की इसी दुर्लभता को सुश्रुतने इन शब्दों में लिखा है :

न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा॥
(सु० चि० अ० २९)

ऐसे दुष्प्राप्य सोम की प्राप्ति के बाद चोरी भी हो जाती थी; अतएव ब्राह्मणों में 'यदि सोममपहरेयुः' (शब्रा० ४. ५. १०. १) आदि प्रसङ्ग आते हैं। तैयार किये हुए सोम को भी असुर लोग उठा ले जाते थे : ऐब्रा० २. ३, ४। सोम को असुर लोग लाते थे; संभवतः इसी लिये उसे **असुर्य** कहा गया है : मैसं० ७. ४. ४। जो लोग वर्ष के १३ मास गिनते हैं, सोम उनसे खरीदा जाता था (ऐब्रा० १. ३) और यह प्रथा, हो सकता है असुरों में चालू रही हो। सोम खरीदते समय मारपीट तक की नौबत आ जाती थी : आश्वलायन श्रौतसूत्र में इसी लिये आता है : (तं) 'लोष्ठैर्घ्नन्ति, लकुटैर्घ्नन्ति'। आज कल भी, जहां कहीं नाम के लिये सोमयाग होता है, वहां सोम का प्रतिनिधि लेते समय इस प्रथा का नाटक किया जाता है।

उक्त वर्णनों से सोम के ३ भेद निकल आते हैं : एक किंचित् लालवर्ण रसवाला, दूसरा श्वेतवर्ण रसवाला और तीसरा किंचित् पीले एवं हरे वर्ण के रसवाला : तैब्रा० १. ४. ७. ४–५।

ऐसे सोम की जल बहने हैं : ऋ० ९. ८२. ३। सोम जल का गर्भ है : ऋ० ९. ९७. ४१; शब्रा० ४. ४. ५. २१। जल सोम की माता है : ऋ० ९. ६१. ७। सोम में जल मिलाया जाता था; अतः हो सकता है, ऐसा वर्णन किया गया हो।

सोम मादक था—सोम का रस मादक होता था। इसकी मादकता को कम करने के लिये इसमें पानी, दही या दूध मिलाया जाता था। यह बात ऐब्रा० २. ३, ४ के एक आख्यान से स्पष्ट हो जाती है। इसके अनुसार एक लंबी जीभ वाली असुर स्त्री ने कुछ तैयार सोमरस पी लिया था। इसे पीते ही उसे नशा हो गया। मित्रा-वरुणों के परामर्श पर उसमें दही मिलाने से यह दोष जाता रहा। आजकल भी भांग आदि का नशा दूर करने के लिये दूध या दही का प्रयोग करते हैं। मैसं० २. २. ३ (इन्द्रो वै त्वष्टुः सोममपिबत् अनुपहूयमानः। तस्योर्ध्वः सोमपीथोऽपतत्')।

सोम क्या था—विभिन्न भाषाओं में सोम के विभिन्न नाम हैं : वैदिक सोम; तिब्बती सोम, फारसी इमहूय; बलूची 'उमान' चीनी सिम या सुम। अंग्रेजी में सोम को एफिड्रा बलगेरिस बताया जाता है। आजकल कुछ लोग सांटिया वेल-विरोडी को सोम बताते हैं। इसका लैटिन नाम सार कस्टेमा ब्रेबिसटिमा है। डा० एचीसन एफेड्रा पेचिक्लाड़ा को सोम बताते हैं। उक्त पौधा उत्तर **बलूचिस्तान** से लेकर **हरिरुद** घाटी के सारे मार्ग में **ईरान** तक के पहाड़ी प्रदेशों में बहुतायत से मिलता है। एफेड्रा की दूसरी जाति हुम-इ बंदक नाम से प्रसिद्ध है। मैक्स-मूलर (एकेडमी १८८४) के अनुसार इस पौधे को पीसने से पर्याप्त रस निकलता है। रस को थोड़ी देर रख कर उसमें उफान आन दिया जाता है। फिर दूध और शहद मिलाकर सुरा जैसे असर वाला स्वादिष्ठ पेय बन जाता है। धूर्त स्वामी के मतानुसार सोमलता काली, बिना पत्ते की, एवं दूधदार होती है। इसका रस वमनकारी होता है। बकरियां इसे खूब चरती हैं।

कुछ विद्वानों ने इसे भांग बताया है, कुछ ने सन। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने इसे सरकोस्टेमा विमिनाल (Sarcostemma viminale) या एस्क्लेपियस एसिडा (Asclapias acida=सरकोस्टिमा ब्रेविस्टिग्मा[1]

[1] सोम के संबन्ध में मैक्समूलर, रॉथ, जे०जी० बेकर, थिसल्टन डायर आदि के वार्तालाप को बायोग्राफी ऑफ दि वर्ड्स (२२२) में निबद्ध किया गया है।

Sarcostemmabrevistigma) माना है। राजेन्द्र-लाल मित्र ने इसे यव-सुरा में काम आने वाला कोई पदार्थ माना है।

सोम के विषय में उक्त मत-भेद से पता चल जाता है कि इसे पहचानना कितना दुष्कर है; और सुश्रुत ने तो अपनी रचना के चि० स्था० अ० २९ में इसके २४ भेद लिखे हैं; और कहा है कि यद्यपि सोम तो एक ही है तथापि स्थान, नाम, आकृति, रसवीर्यविपाकादि भेदों से यह २४ प्रकार का बन जाता है। यह भूलभुलैयां और भी अधिक बढ़ जाती है जब हम ब्राह्मणों की परोक्ष प्रक्रिया पर ध्यान देते हुए शब्रा० (३. ४. ३. १३; ४. २. ५. १५ आदि) को सोम का 'अशाना' औषध, एवं वृत्र के शरीर से तादात्म्य स्थापित करता हुआ पाते हैं। इन सबके विपरीत हिलेब्राण्ट्ट सोम से पौधे को न लेकर चन्द्रमा को लेते हैं और सोम के सभी वर्णनों में चन्द्रमा का वर्णन देखते हैं; और हो सकता है कि मौलिक सोम-चन्द्र के आह्लादकत्वादि गुणों पर रीझ कर वैदिक ऋषि ने किसी मादक वीरुध् पर उसके सभी गुण आरोपित कर दिये हों और बाद में अपनी अतिशायिनी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर इस वीरुध् के पत्तों में भी १५ दिन घटने और १५ दिन बढ़ने की बात उद्भावित कर ली हो; क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों की परोक्ष-प्रक्रिया से तो आप सोम, चाहे जिस मादक अथवा आह्लादक पदार्थ को कह सकते हैं।

यदि हिल्लेब्रांड्ट[२] का मत मानकर **नैचाशाख** (ऋ० ३. ५३. १४) सोम का विशेषण मान लिया जाय तो संभवतः सोम के पल्लव निम्नाभिमुख मानने पड़ेंगे। सोम-पल्लव को **अंशु** कहा गया है: ऋ० १. १६८. ३; ३. ४८. २ इत्यादि। जब कि संपूर्ण पौधे के लिये **अन्धस्** आया है: ऋ० १. २८. ७; ३. ४८. १; ४. १६. १। **अन्धस्** शब्द सोम-रस के लिये भी आया है: ऋ० २. १४. १; २ १९. १; २. ३५. १ इत्यादि। सोम-काण्ड को **पर्वन्** कहा गया है: ऋ० १. ९. १।

तु०—**परुस्**: तैब्रा० ३. ७. १३; वैतानसूत्र, २४। **क्षिप्** (=अङ्गुल) का प्रयोग पल्लवों की संज्ञा के रूप में मिलता है; अतः वे अङ्गुल के सदृश रहे होंगे: ऋ० ९. ७९. ४।

तु०—पिशल, वैस्तू०, १. ७०; **वक्षणा** और **बाण** का अर्थ भी पल्लव प्रतीत होता है; **वक्षणा**: ऋ० ८. १. १७; **बाण**: ऋ० ४. २४. ९; ९. ५०. १।[१] इस बात के कुछ साक्ष्य मिलते हैं कि **पर्वन्** गोल न होकर सकोण था।[२] यह पौधा पर्वतों पर उत्पन्न होता था; **मूजवन्त्** पर्वत का नाम इस संबन्ध में खास तौर से आया है: ऋ० १. ९१. ६; ३. ४८. २; ५. ३६. २; ५. ४३. ४; ५. ८५. २; ९. १८. १; ९. ४६. १; ९. ७१. ४; ९. ८२. ३; अवे०, ३. २१. १०। इसी प्रकार अवेस्ता में यस्न, १०. ४ इत्यादि।

किंतु इन कथनों के आधार पर सोम की पहिचान संभव नहीं है। इसे सरकोस्टेमा विमिनेल (Sarcostemma viminale) या ऐस्क्लेपियस एसिडा Asclepias acida=सरकोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा Sarcostemma brevistegma) कहा गया है[३]। रॉथ[४] का मत है कि सरकोस्टेमा ऐसीडम (Sarcostemma acidium) को ही सोम के अधिक निकट माना जाना चाहिये। वाट का मत है कि अफगानी द्राक्षा ही सोम है[५]। राइस के अनुसार सोम इक्षु है[६]। मैक्समूलर और

---

[१] द्र०—लास्सन, इन्दिश्श आल्तरथुम्सकुन्द, १२. ९३१; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स ५. २६१; हाग, ऐब्रा० २. ४८६; मैक्समूलर, त्सादामोगे० ९. ५४। १; १०. ९४. ३; १०. १४४. ५; तु०—शब्रा०, ४. ५. १०. १; एवं आगे। हरि वर्ण का, ९. ९२. १; गौ, जिसे देकर सोम खरीदा जाता था, बभ्रु या अरुणा कही गई है: शब्रा०, ३. ३. १. १. ५; मैसं०, ३. ७. ५ इत्यादि।

[२] वैमि०, १. १४-८; २४१-२४५।

[१] किंतु ये दोनों स्थल संदिग्ध हैं; तु० **बाण**। सोम सवन के बाद बचे हुए भाग को **अन्धस्** कहा गया है: ऋ० ९. ८६. ४४। उसे **वव्रि** भी कहा गया है: ऋ० ९. ९६. ९; और **त्वक्** भी उसका नाम आया है: ऋ० ९. ८६. ४४; तैब्रा० ३. ७. १३; १। **शरीर** भी उसका नाम है; तैब्रा०, ३. ७. १३ १; २. **शर्य**: ऋ० ९. ६८. २; **तान्व**: ऋ० ९. ७८. १।

[२] तु०—पृष्ठ्य: ऋ० ४. २०. ४; हिल्लेब्रांड्ट, १. ५४. ५५।

[३] द्र०—लास्सन, इंदिश्शे आल्तरथुम्स्कुन्द, १२. ९३१; म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५. २६१ एवं आगे; तु० हाग, ऐब्रा०, २. ४८९; मैक्समूलर, त्सादामोगे०, ९. ५४।

[४] त्सादामोगे० ३५. ६८० एवं अग्रिम; तु०—३८. १३४ एवं अग्रिम।

[५] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, १. ७ एवं आगे।

[६] उपर्युक्त १०।

राजेन्द्र लाल मित्र ने इसे यव-सुरा के साधक के रूप में माना है, अर्थात् सोम कोई ऐसा पौधा है, जिसके पुष्पों का यवसुरा बनाने में उपयोग होता था। हिल्लेब्राण्ड्ट कहते हैं कि न तो द्राक्षा और न सुरासाधक पौधा ही सोम शब्द से उद्दिष्ट है[१]। इतने से पता चल जाना चाहिये कि सोम को पहचानना कितना दुःसाध्य है[२]।

सोम-क्रय—यजुर्वेद में सोम का रस निकालने से पहले उसे खरीदने का विधान आता है: शब्रा०, ३. ३. १. १।[3] हिल्लेब्रांड्ट का कहना है कि ऋग्वेद तक को सोम-विक्रय की प्रथा ज्ञात थी[४]। यह पर्वतों पर उगता था और **कीकट** प्रदेश की किसी जाति या राजा का इस पर अधिकार रहता था: ऋ० ३. ५३. १४। यज्ञ में सोम को (शूद्र द्वारा प्रतिनिहित) किसी गंधर्व से प्राप्त किया जाता था; सोम-प्राप्ति के इस नाटकीय ढंग में भारतीय नाटचशास्त्र का प्रभव माना जा सकता है[५]।

सोम-सवन—सोम को पत्थरों (अद्रि, ग्रावा) से पीस कर या ओखली में कूट कर उसका रस निकाला जाता था। इन पत्थरों को हाथों में पकड़ा जाता था[६]। सोम पर्वों को **अधिषवण**-फलक पर, एक के साथ एक करके रख दिया जाता था और परवर्ती यज्ञ-विधान के अनुसार नीचे एक बिल बनाया जाता था। पत्थरों द्वारा सोम को पीसने में आवाज पैदा होती थी; इसे दानवीय प्रभावों को कीलने वाली माना जाता था: काश्रौसूत्र, ४. ४. २८, संभवतः ऋ० १०. ९४. ५ में इस बिल के लिये **आखर** शब्द आया है।

सोम को चर्म पर वेदी पर रखा जाता था: ऋ० ५. ३१. १२; **धिषणा** शब्द कुछ स्थलों पर वेदि के अर्थ में आया है: ऋ० १. १०९. ३; ३. २. १; ६. ११. ३ इत्यादि।

कभी-कभी पत्थरों के बजाय ओखली और मूसल का प्रयोग होता था; ऋ० १. २८ में मूसल को मन्था कहा गया है; जैसे कि दही चलाने की रई को पूरबी भाषा में 'मही' कहते हैं। उलूखल शब्द स्वयं आया है। ऋ० १०. १०१. ११ में वनस्पति और वन शब्द भी संभवतः उसी अर्थ में हैं। ओखली-मूसलकी ईरान में आम थी, किंतु वैदिक क्षेत्रों में इसका आम चलन नहीं था।

सोम-पात्र—**चमू** एक पात्र था, जिससे देवों को सोम चढ़ाया जाता था; **कलश** और **चमस** पुरोहितों के सोम पीने के चषक थे। कभी-कभी **चमू** का अर्थ ओखली-मूसल भी है: ऋ० ३. ५३. १४; संभवतः इसका यह नाम ओखली जैसे इसके आकार के कारण पड़ा हो।

चर्म, जिस पर सोम-पर्व रखे जाते थे, उसका नाम **त्वच्** था: ऋ० ९. ६५. २५; ९. ६६. २९; ९. ७०. ७; ९. ७९ ४ इत्यादि; दो बार इसे **गो** (गो-चर्म) भी कहा गया है: ऋ० १०. ९४. ९; १०. ११६. ४। सोम के पात्रों के ये नाम आये हैं; **कोश** (ऋ० ७. १०१. ४; ८. २०. ८ इत्यादि; यह एक बड़ा पात्र है, जिसमें से सोम को कलश या प्यालों में डाला जाता था। **सधस्थ** (ऋ० ३. ६२. १५; ९. १. २; १७. ८. इत्यादि); **द्रु** (ऋ० ९. १. २; ९. ६५. ६; ९. ९८. २; किंतु १०. १०१. १० में द्रु=मुसल); **वन** (ऋ० २. १४. ९; ९. ६६. ९ इत्यादि। तैयार सोम को जिस पात्र में रखा जाता था और जिससे उसे देवों को चढ़ाया जाता था, उन दोनों पात्रों को **वन** कहते थे); **द्रोण** (ऋ० ९. १५. ७; ९. ३३. २ इत्यादि; इसका निश्चित अर्थ न होने से यह किसी भी पात्र के लिये आ जाता है; **चमू** देवों का पात्र था, **कलश** पुरोहितों का था; बाद में **कलश** कोश

---

[१] वही, १२; सोम के संम्बन्ध मैक्समूलर, रॉथ, जे०जी० बेकर, डब्ल्यू० टी० थेसल्टन डायर, चार्ल्स जी० लेलैण्ड और ए० हाउटम शिण्डलर के वार्तालाप को मैक्समूलर की बायोग्राफी आफ दि वर्ड्स, (२२२) में निबद्ध किया गया है; और हिल्लेब्रांड्ट ने इसकी समीक्षा की है। द्र०—एगलिंग, सेबुई० २६. २४ एवं अग्रिम; इनका मत है कि परंपरागत व्याख्या बहुत गलत नहीं है। द्र०—कालण्ड, त्सादामौगे०, १८८; इन्होंने सरकोस्टेमा ऐसिडियम (Sarcostemma acidium) माना है।

[२] मूल सोम अवेस्ता का हओम था, जिस पौधे से आजकल कर्मान और येज़्द के पारसी अपना हूम रस बनाते हैं, और जिसे वे हओम से अभिन्न बताते हैं। उसके संबन्ध में द्र०—एगलिंग, सेबुई०, २६. २४ एवं आगे।

[३] हिल्लेब्रांड्ट, १. ८९ एवं आगे।

[४] वही, ७०।

[५] तु०—एगलिंग, सेबु० ई० २६. २७; पंविब्रा०, ९. ५. ३।

[६] **ग्रावन्**: ऋ० १. ८३. ६; १. १३५. ७ इत्यादि; **अद्रि**: १. १३०. २; १. १३५. ५; १. १३७. ७ इत्यादि; अद्रि शब्द का प्रयोग प्रायः √सु "सवन करना" के साथ आया है; ग्रावन् प्रायः √वद् "बोलना" के साथ आया है। द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, १. १५३ टि०—१; हाथों में धारण करना: ऋ० ५. ४५. ७; ९. ११. ५; १०. ७६. २ इत्यादि।

के तुल्य प्रयुक्त हुआ है, जब **चमस** कलश के स्थान पर पुरोहितों का पात्र बन गया था)[१]। **स्रुव** यज्ञिय चमस का नाम है (ऋ० १. ११६. २४; तु०—**अमत्र** और **खारी**)।

सोम-पर्वों को जल में भिगो दिया जाता था; इससे ये फूल जाते थे और इनका रस खूब निकलता था। यह पद्धति **आप्यायन** कहाती थी : ऋ० ९. ७४. ९; मैसं०, ४. ५. ५।

सोम-सवन प्रक्रिया—ऋग्वेदकालिक सोम पेषण-प्रक्रिया का ठीक ठीक विवरण देना दुष्कर है। निश्चय ही पीसने के बाद इसे चलनी में छानते थे; इस चलनी का नाम **पवित्र** था (सोम को हाथ में ग्रहण कर पवित्र करने की प्रक्रिया ऋग्वेद को ज्ञात थी या नहीं इस बात में संदेह है। सोम-चलनी के नामों के लिए द्र०—**पवित्र**)। 'नीट' सोम को **शुक्र** (ऋ० १. १३७. १; ३. ३२. २; ८. २. १० इत्यादि) और **शुचि** (ऋ० १. ५. ५; १. ३०. २; ८. २. ९ इ०) कहते थे। नीट सोम **इन्द्र** और **वायु** को चढ़ाया जाता था; किंतु **कण्वों** ने इस प्रथा को तोड़ दिया था : तु० ऋ० ८. २. ५, ९, १०, २८ इत्यादि। मैसं०, ४. ७. ४ में अमिश्रित सोम को अस्वीकार कर दिया गया है। हिल्लेब्रांड्ट १. २०७, २०८ का यह मत है कि **कण्वों** ने सोम-मिश्रण पर अधिक बल दिया था; क्योंकि वे जिस पौधे का प्रयोग करते थे, वह असली सोम से कम गुणों वाला था।

सोम-मिश्रण—सोम को गौ के दूध में मिलाया जाता था (=**गवाशिर**); दही में मिलाया जाता था (=**दध्याशिर**; अन्न में मिलाया जाता था (=**यवाशिर**)[२]। इन मिश्रणों का आलंकारिक शब्दों में उल्लेख किया गया है : **अत्क या कवच** : ऋ० ९. ९६. ४; **वस्त्र या वासस्** : ९. ८. ६; ९. ९६. ५, **अभिश्री** अर्थात् मिश्रण : ९. ७९. ५; ९. ८६. २७, **रूप** : अवे०, ९. २५. ४; **श्री** : ऋ० ४. ४१. ८; ९. १६. ६), **रस** : ऋ० ३. ४८. १; ६. ४७. १), ९. ९७. १४; द्र०—**सूद**), **प्रयस्** : ऋ० ३. ३०. १; ९. ४६. ३; ९. ६६. २३. और संभवतः नभस् अर्थात् सुगंध : ऋ० ९. ८३. ५; ९. ९७. २१ इत्यादि)। इस प्रकार मिश्रित सोम को **तीव्र** कहा गया है : ऋ० १. २३. १; २. ४१. १४; ५. ३७. ४; ६. ४७. १ इत्यादि। सोमपर्व रस निकाल लेने के बाद **ऋजीष** कहाते थे : मैसं०, ४. ८. ५; अवे०, ९. ६. १६ इत्यादि; वासं० १९. ७२ निरुक्त, ५. १२ इत्यादि।[१]

प्रतीत होता है कि कभी-कभी सोम में मधु भी मिलाया जाता था; संभवतः इस मिश्रण को **कोश-मधुश्च्युत्** कहते थे : ऋ० ९. १०३. ३।

तु०—९. १७. ८; ९. ८६. ४८; ९. ९७. ११; ९. १०९. २०। इसमें संदेह है कि क्या सुरा भी सोम के साथ मिलाई जाती थी; द्र०—**सुराम**।

तु० मैसं० ४. १२. ५; वासं० २१. ४२ और **सुरासोमा**, वही २१. ६०।

सोम-सवन—सोम का दिन में तीन बार सवन किया जाता था, किंतु अवेस्ता में उसके दो बार सवन का ही उल्लेख आता है; द्र०—यस्न, १० २। **सायं-सवन** विशेषतः **ऋभुओं** से संबद्ध था; **माध्यंदिन** का संबन्ध **इन्द्र** से और **प्रातः सवन** का **अग्नि** से था; किंतु कल्पों से पता चलता है कि अन्य देव भी सोम पान करते थे।[२] ग्रन्थों में सोम पीने वालों और न पीने वालों का विवेक किया गया है : ऋ० १. ११०. ७; २. ३०. ७; ५. ३४. ३, ५; ४. १७. १७; ४. २५. ६. ७; ५. ३७. ३. ६. ४१. ४; ७. २६. १ इत्यादि। सोम-यज्ञों के लिये आपस में भारी प्रतिद्वन्द्विता रहती थी : ऋ० २. १८. ३; ८. ३३. १४; ८. ६६. १२ और विशेषतः ऋ० ८. ३२. २, जिसके अनुसार **वसिष्ठ लोग इन्द्र** को **पाशद्युम्न वायत** के सोम-यज्ञ से **सुदास्** के यहाँ उठा ले आये थे। अनेक प्रसिद्ध सोम-याज्ञियों का उल्लेख आता है : **अत्रि**; ऋ० ५. ५१. ८; ५. ७२. १; ८. ४२. ५; **शार्यात**, : १. ५१. १२; ३. ५८. ७; वासं०, ७ ३५; शिष्ट लोग, ८. ५३. ४ इत्यादि; **तुर्वश यदु**, ८. ४५. २७; **संवर्त कृश** ८. ५४. २; **नीपातिथि, मेध्यातिथि, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु**, ८. ५१. १ इत्यादि)। कल्पों में विधान आता है कि सोम पान को वंश में जारी रखना चाहिये : तैसं०, २. १. ५. ५ एवं आगे; मैसं० २. ५. ५ इत्यादि। जिन प्रदेशों में सोम का उपभोग भरपूर होता था, उनके नाम हैं :—**आर्जीक, पस्त्यावन्त, शर्यणावन्त्, सुषोमा** और पञ्चजनों का निवास-स्थान इत्यादि।[३] सोम के मादक एवं उत्तेजक प्रभाव का

[१] हिल्लेब्रांड्ट, १. १८७।

[२] हिल्लेब्रांड्ट, १. २१९-२२२।

[१] हिल्लेब्रांड्ट, १. २३६, २३७ के अनुसार **ऋजीषी** उसे कहते हैं जिसका सोम से संबन्ध हो, सोम तिरोह्न्य का अर्थ है दो दिन पहले का अभिषुत सोम।

[२] हिल्लेब्रांड्ट, १. २५७ एवं आगे।

[३] द्र०—हिल्लेब्रांड्ट, १. २१५, १४३; सोम मध्य-प्रदेश के उत्तरी पर्वतों पर अवश्य होता था भले

भी उल्लेख आता है; द्र०—ऋ० ८. ४८[1]।

यह बताना कठिन है कि क्या सोम-पान कभी पुरोहित-वर्ग के अतिरिक्त सामान्य जनों में भी प्रचलित या नहीं। इसकी लोक-प्रियता के साधारण साक्ष्य तो मिलते हैं, किंतु इस विषय में निश्चय के साथ कुछ कहना धृष्टता होगी। द्र०—ऋ० ८. ६९. ८–१०।

तु०–८. ३१. ५, १. २८. ५[2]।

वैद्यक में कल्प लता—सोम की महिमा वैद्यक में अपार है। यहाँ इसे कल्प-लता कहा गया है और इससे मानवीय शरीर का पुनर्निर्माण बताया गया है। सोमरस के सेवन की विधि वैद्यक ग्रन्थों में इस प्रकार है :

सोम-रस सेवन-विधि—कोई भी रसायन लेने से पूर्व पञ्चकर्म आदि से शरीर-शुद्धि का विधान किया गया है। स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन आदि पञ्चकर्म से शुद्ध होकर शुभ मुहूर्त में 'त्रिवृत्ताकार' अथवा गर्म कुटीर में प्रवेश करे। फिर सोम के कन्द को सोने की सूई से छेदे; कन्द में से झरते रस को सोने के पात्र में रख कर बिना चखे पी जाय। उत्तम जनों से घिरा हुआ, यम-नियम से अपने मन को वश में रख, बहुत कम बोलकर अथवा मौन रह आनन्द-कुटीर के अन्दर रहे। यह कुटी स्वयं रसायन है। जरा भी बाहर न निकले। पवित्र विचारों के साथ पवित्र जीवन व्यतीत करे। सोम में भावना रख कर तन्मय हो जाय। रात्रि को शान्ति मन्त्र श्रवण करे। कुश के बिस्तर पर, काले मृगचर्म पर सोवे। प्यास लगने पर स्वच्छ ताजा जल पीवे। दूसरे दिन प्रातः उठकर गौ का स्पर्श कर वहीं बैठ जाय। सोम रस पच जाने पर उल्टी होगी। उल्टी में रक्त कृमि दिखाई देंगे। रात्रि में उबालकर ठण्ढा दूध पीवे। तीसरे दिन कृमिवाला शौच होगा। इससे सर्वदोष मुक्त होकर शरीर शुद्ध हो जायगा। रात्रि में स्नान कर दूध पीवे। रेशमी वस्त्र की शय्यापर सोवे। चौथे दिन शरीर सूज जायगा। सारे दिन बिस्तरे पर धूल बिछाकर सोवे। रात्रि को पूर्ववत् दूध पी ले। पांचवें-छठे दिन भी ऐसा ही करे। सातवें दिन वह आदमी मांस-चमड़ी हड्डी रहित सोम प्रभाव से श्वास लेने वाला बन जायगा। उस दिन साधारण गरम दूध की धारा से स्नान करे। शरीर पर तेल, जेठी मधु, चन्दन आदि का लेप करे। आठवें दिन जल्दी ही प्रातः दूध से स्नान करे। दूध पीकर धूल की जगह असली बिस्तर पर पूर्ववत् सोवे। अब मांस बढ़ने लगेगा। ढीली पड़ी चमड़ी फटने लगेगी। दांत, नख, रोम झड़ जायंगे। नवें दिन तेल से अभ्यङ्ग करे। खैर की छाल के क्वाथ से रोज परिसेक कराता रहे। इस प्रकार १६ दिन तक करे।

१७ वें दिन अथवा १८ वें दिन नोकदार स्निग्ध हीरे जैसे स्फटिक तुल्य प्रबल शक्तिवाले नये दाँत निकलेंगे। तब से २५ वें दिन तक पुराने लाल चावल की दूध में बनी खीर का सेवन करे। २६ वें दिन लाल चावल के नरम ओदन का सेवन करे। उस दिन से सुन्दर लाल सुर्ख प्रातःकालीन सूर्य के समान कान्ति वाले नये नख पैदा होंगे। स्निग्ध और स्थिर लक्षणों वाले नवीन केश निकलेंगे। मटियाले कमल सदृश, अलसी के फूल के समान नवीन प्रकाश वाली चमड़ी निकलेगी। महीना पूरा होने पर बाल मुड़वा डाले। मुण्डन कराकर चन्दन, काला तिल वगैरह का कल्क सिर पर चुपड़ कर दुग्ध से स्नान करे। सात रात बाद भ्रमर सदृश घुंघराले, स्निग्ध बाल उत्पन्न होंगे। तीन रात गुजरने पर चौथे दिन इसे अन्दर के अन्तिम घर से बाहर निकाल कर दो घड़ी भर खड़ा रख कर फिर अन्दर ले जाय। तब आमलक तेल का अभ्यंग करता रहे। उद्वर्तन के लिये जौ का आटा पीसे। स्नान के लिये वनस्पति द्वारा सुगन्धित कूपजल ले। लेप के लिये चन्दन, भोजन के लिए आमला स्वरस मिश्रित जाति-जाति के यूष एवं दाल लेवे। यूष आदि में जेठी मधु द्वारा पकाया काले तिल का

ही उसका मूल जन्म-स्थान जहाँ कहीं रहा हो, तु०—रॉथ, त्सादामौगे०, ३८. १३४ एवं आगे।

[1] अवेस्ता-काल में भी इसे ऐसा ही कहा गया है; कहीं-कहीं इसे पुरोहितों को प्रसन्न करने वाला कहा गया है : ऋ० १. ९१. १३; ८. २. १२; १०. १६७. ३। अधिक सोम-पान से उत्पन्न अनेक रोगों का भी जिक्र आता है : मैसं०, २. २. २. १३ इत्यादि। सौत्रामणी एक ऐसा यज्ञ है, जिसमें इन्द्र द्वारा पिये सोम का वमन करने पर प्रायश्चित्त के विधान हैं; तैसं०, २. ३. ५, ६; शब्रा०, ५. ५. ४. ९; १२. ७. १. ११; इस यज्ञ का नाम अवे०, ७. ३. २ में भी है; संभवतः यह यज्ञ प्राची है; तु०—**विषूचिका**। तु०—त्सिमर, आले०, १७५; ऋ० १. ९१. १३; १. ११८. ३; ८. १२; ८. १७. ६; ८. ४८. १२; संभवतः **वम्र** तभी से उसका नाम पड़ा है : ऋ० १. ११२. १५।

[2] हिल्लेब्रांड्ट, १. १४३–१४७।
विवरण : त्सिमर, आले०, २७२–२८०; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १. २६६; २. २०९ एवं आगे; मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ १०४ एवं आगे।

तेल ले। इस प्रकार १० रात करे। ११ वीं रात अन्त के घर में से पहली खोली में आकर पूर्ववत् व्यवहार करे। बाद में तीसरी दस रातें मन को स्थिर रखता हुआ वैसा ही करे। तीसरे दस दिनों में धूप-पवन का सेवन करे। इस बीच दर्पण में मुख न देखे। तदन्तर १० रात क्रोधादि त्याग करके रहे। इस तरह सोम का प्रयोग करे।

सोम का ब्राह्मणों में वर्णन—'स्वा वै म एषेति तस्मात् सोमो नाम' शब्रा० ३. ९. ४. २२; 'सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः' शब्रा० ५. १. २. १०; 'श्रीर्वै सोमः' शब्रा० ४. १. ३. ९; 'सोमः (श्रियः) राज्यम् (आदत्त)' शब्रा० ११. ४. ३. ३; 'राजा वै सोमः' शब्रा० १४. १. ३. १२; 'सोमो राजा राजपतिः' तैब्रा० २. ५. ७; 'असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः' कौब्रा० ४. ४; 'सोमो राजा चन्द्रमाः' शब्रा० १०. ४. २. १; 'चन्द्रमा वै सोमः' कौब्रा० ६. ५; 'चन्द्रमा उ वै सोमः' शब्रा० ६. ५. १. १. 'स यदाह गयोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै चन्द्रमा भूत्वा सर्वान् लोकान् गच्छति' गोब्रा० १. ५. १४.; '(इन्द्रः) (वृत्रं) द्वेधा न्वभिनत् तस्य यत् सौम्यं न्यक्तमास त' चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासूर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्' शब्रा० १. ६. ३. १७; 'वृत्रो वै सोम आसीत्' शब्रा० ३. ४. ३. १३; 'पितृलोकः सोमः' कौब्रा० १६. ५; 'पितृदेवत्यो वै सोमः' २. ४. २. १२; 'संवत्सरो वै सोमः पितृमान्' तैब्रा० १. ६. ८. २; 'संवत्सरो वै सोमो राजा' कौब्रा० ७. १०; 'ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य' ऐब्रा० १. १३; 'सोमो वै प्रजापतिः' शब्रा० ५. १. ३. ७; 'यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा ऐतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिन् लोके संश्यायति। तद् यत् संश्यायति तस्माच्छ्येनस्तच्छ्येनस्य श्येनत्वम्' गोब्रा० १. ५. १२; 'सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशः' शब्रा० १३. ४. ३. ८; 'यो वै विष्णुः सोमः सः' शब्रा० ३. ३. ४. २१; 'जुष्टा विष्णव इति। जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह' शब्रा० ३. २. ४. १२; 'तद् यदेवेदं क्रीतो विशतीव तदु हास्य वैष्णवं रूपम्' कौब्रा० ८. २; 'सोमो वै पवमानः' शब्रा० २. २. ३. २२; 'योयं वायुः पवत एष सोमः' शब्रा० ७. ३. १. १; 'स यदाह सम्राडसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै वायुर्भूत्वान्तरिक्षलोके सम्राजति तद् यत् सम्राजति तस्मात् सम्राट् तत् सम्राजस्य सम्राट्त्वम्' गोब्रा० १. ५. १३; 'एष (वायुः) सोमस्यौद्गीथो यत् पवते' तांब्रा० ६. ६. १८; 'सोमः सर्वा देवताः' ऐब्रा० २. ३; 'सोमो रात्रिः' शब्रा० ३. ४. ४. १५; 'सोमो वै चतुर्होता' तैब्रा० २. ३. ११; 'सोमो वै पर्णः' शब्रा० ६. ५. ११; 'सोमो वै पलाशः' कौब्रा० २. २; 'यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि' तांब्रा० ९. ५. ३; 'इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यो नस्तः सोमः समधावत् तानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि' तांब्रा० ९. ५. ७; 'एष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणदूर्वाः' शब्रा० ४. ५. १०. ५; 'परोक्षमिव ह वा एष सोमो राजा यन्न्यग्रोधः' ऐब्रा० ७. ३१; 'पशुर्वै प्रत्यक्षं सोमः' शब्रा० ५. १. ३. ७; 'पशवः सोमो राजा' तैब्रा० १. ४. ७. ६; 'सोमो वै दधि' कौब्रा० ८. ९; 'स यदाह स्वरोऽसीति सोम वा एतदाहैष ह वै सूर्यो भूत्वामुष्मिन् लोके स्वरति तद् यत् स्वरति तस्मात् स्वरस्तत् स्वरस्य स्वरत्वम्' गोब्रा० १. ५. १४; 'एष वै यजमानो यत् सोमः' तैब्रा० १. ३. ३. ५; 'द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत् सोमो राजा' ऐब्रा० १. २६; 'क्षत्रं सोमः' ऐब्रा० २. ३८; शब्रा० ३. ४. १. १०; 'यशो वै सोमः' शब्रा० ४. २. ४. ९; ऐब्रा० १. १३; 'यश उ वै सोमो राजान्नाद्यम्' कौब्रा० ९. ६; ✓प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च' शब्रा० ५. १. २. १०; 'अन्नं सोमः' कौब्रा० ९. ६; शब्रा० ३. ३. ४. २८; 'एतद् वै देवानां परमन्नं यत् सोमः' तैब्रा० २. ३. ३. २; 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' शब्रा० १. ६. ४. ५; 'हविर्वै देवानां सोमः' शब्रा० ३. ५. ३. २; 'उत्तमं वा एतद्धविर्यत्सोमः' शब्रा० १२. ८. २. ८२; 'एषो ह परमाहुतिर्यत् सोमाहुतिः' शब्रा० ६. ६. ३. ७; 'सोमाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यत्सामानि' शब्रा० ११. ५. ६. ६; =प्राणः, ७. ३. १. २; तांब्रा० ९. ९. १; =वाजपेय, तैब्रा० १. ३. २. ३; =उत्तमः पविः, शब्रा० ३. ९. ४. ५. =रेतः, कौब्रा० १३७; शब्रा० ३. ३. २. १; 'सोमो वै वृष्णो अश्वस्य रेतः' तैब्रा० ३. ९. ५. ५; 'एते सोमांशवः प्रत्नोंशुर्यमेतमभिषुण्वन्ति तृप्तोंशुरापो रसोंशुर्व्रीहिर्वृषोंशुर्यवः शुक्रोंशुः पयो जीवोंशुः पशुरमृतोंशुर्हिरण्यमृगंशुर्यजुरंशुः सोमांशुरित्येते वा उ दश सोमांशवो यदा वा एते सर्वे संगच्छन्तेऽथ सोमोऽथ सुतः' कौब्रा० १४. १४. ४; 'सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुदक्रामत् तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्' तैब्रा० १४. ७. ४; 'शुक्रः सोमः' 'तांब्रा० ३. ६. ९; 'स यत् सोमपानं (विश्वरूपस्य मुखम्) आस। ततः कपिंजलः समभवत् तस्मात् स बभ्रुक इव बभ्रुरिव हि सोमो राजा' शब्रा० १. ६. ३. ३; 'सोम इव गन्धेन (भूयासम्)' मपा० २. ४. १४; 'भद्रा (प्रजापतेस्तनूविशेषः) तत् सोमः' ऐब्रा० ५ २५; 'तिरोअह्न्या हि सोमा भवन्ति' कौब्रा० १८. ५; 'तद् यत् तदमृतं सोमः सः' शब्रा० ९. ५. १. ८; 'सर्वं हि सोमः' शब्रा० ५. ५. ४. ११; 'तस्मात् सोमो राजा

सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति' षब्रा० ३. १२; 'श्येनो भूत्वा (गायत्री) दिवः सोममाहरत्' शब्रा० १. ८. २. १०; 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्' तैब्रा० १. १. ३. १०; 'अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः' गोब्रा० २. २. ४; 'सोमो राजा मृगशीर्षेण आगन्' तैब्रा० ३. १. १. २; 'स (सोमः) एतं सोमाय मृगशीर्षाय श्यामाकं चरुं पयसि निरवपत्। ततो वै स ओषधीनां राज्यमभ्यजयत्' तैब्रा० ३. १. ४. ३; 'एष वै सोमस्यौषधीनां प्रत्यक्षतमां यच्छ्यामाकाः' शब्रा० ५. ३. ३. ४; 'तस्य (सोमस्य) अश्रु प्रास्कन्दत् ततो यवः समभवत्' शब्रा० ४. २. १. ११; 'सोमो वा अकृष्टपचस्य राजा' तैब्रा० १. ६. १. ११; 'सोम ओषधीनामधिराजः' गोब्रा० २. १. १७; 'एष वै ब्राह्मणानां सभासाहः सखा यत् सोमो राजा' ऐब्रा० १. १३; 'सोमराजानो ब्राह्मणाः' तैब्रा० १. ४. ७. २; 'एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति। तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः सोमराजा हि भवति' शब्रा० ५. ४. २. ३; 'ब्राह्मणानां स (सोमः) भक्षः' ऐब्रा० ७. २९; 'सोमो वै ब्राह्मणः' तांब्रा० २३. १६. ५; 'तस्य (नमुचेः) शीर्षच्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत्' शब्रा० १२. ७. ३. ४; 'शोभनं ह्येतस्य (सोमस्य) वासः' शब्रा० ३. ३. २. ३; 'प्रतीची दिक्। सोमो देवता' तैब्रा० ३. ११. ५. २; 'उत्तरा ह वै सोमो राजा' ऐब्रा० १. ८; 'सोमो रुद्रैः (व्यद्रवत्)' शब्रा० ३. ४. २. १; 'यदेवात्र पयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य' शब्रा० ४. १. ४. ९; 'वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत् ततोऽश्वः समभवत्' शब्रा० ४. २. १. ११; 'दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नी' गोब्रा० २. २. ९; 'सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे' कौब्रा० १८. १; 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्' एब्रा० ४. ७; 'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा' तैब्रा० १. ३. ३. ४; 'वैराजः सोमः' कौब्रा० ९. ६।

सोम-क्रयणी—'सा या बभ्रुः पिङ्गालाक्षी (गौः) सा सोमक्रयणी' शब्रा० ३. ३. १. १४; 'वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन' शब्रा० ३. २. ४. १०।

२. सोम प्रातिवेश्य—**प्रतिवेश्य** का वंशज। शांखायन आरण्यक १५. १ में आचार्यों की वंश-सूची में **प्रतिवेश्य** के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

सोमवामी—'स यो वालं भूत्यै सन् भूतिं न प्राप्नोति यो वालं पशुभ्यः सन् पशून्न विन्दते स सोमवामी' शब्रा० १२. ७. २. २।

सोम-साम—'यथा वा इमा अन्या ओषधय एवं सोम आसीत् स तपोऽतप्यत स एतत् सामापश्यत्। तेन राज्यमाधिपत्यमगच्छद् यशोऽभवत्' तांब्रा० ११. ३. ९।

सोमक साहदेव्य—**सहदेव** का वंशज। ऋग्वेद ४. १५. ७-१० में **सृञ्जयों** के एक राजा का यह नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४. ९ में उनका और उनके दो पुरोहितों **पर्वत** और **नारद** का उल्लेख आता है।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५४; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, १. १०५।

सोम-दक्ष कौश्रेय—**कुश्रि** का वंशज। काठक और मैत्रायणी संहिताओं में एक आचार्य का यह नाम है: कासं०, २०. ८; २१. ९; मैसं०, ३. २. ७।

तु०—वेबर, इस्टू०, ३. ४७२, ४७३।

सोमपि-त्सरु—द्र०—**त्सरु**।

सोम-शुष्म सात्य-यज्ञि—**सत्य-यज्ञ** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ११. ६. २. १, ३ में यह एक यात्री ब्राह्मण का नाम है, जो **विदेह-जनक** से मिले थे। उन्हें उसी नाम के, किंतु **प्राचीन-योग्य** पैतृक नाम वाले व्यक्ति से अभिन्न माना जा सकता हैं जिसे जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. २ में **सत्य-यज्ञ** का शिष्य बताया गया है।

सोम-शुष्म वाजरत्नायन—**वाज-रत्न** का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. ५ में एक पुरोहित के रूप में इनका उल्लेख आता है; इन्होंने **शतानीक** का अभिषेक किया था।

सौकरायण—बृहदारण्यक उपनिषद् की आचार्यों की दूसरी वंश-सूची में **काषायण** (४. ६. २ काण्व) या **त्रैवणि** (४. ५. २७ माध्यंदिन) के शिष्य एक आचार्य का नाम सौकरायण है।

सौ-जात आराढि—ऐतरेय ब्राह्मण ७. १२. १ में एक आचार्य का यह नाम है।

सौत्रामणी—'तावश्विनौ च सरस्वती च। इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृत्य तदस्मिन् पुनरदधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त सुत्रातं बतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति तद् वाव सौत्रामण्यभवत् तत् सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वम्' शब्रा० १२. ७. १. १४; 'ते देवा अब्रुवन्। सुत्रातं बतैनमत्रासतामिति तस्मात् सौत्रामणी नाम' शब्रा० ५. ५. ४. १२; 'ऐन्द्रो वा एष यज्ञो यत् सौत्रामणी' शब्रा० १२. ८. २. २४; 'देवसृष्टा वा एवेष्टिर्यत् सौत्रामणी' शब्रा० ५. ५. ४. १४; 'एष ब्राह्मणयज्ञ एव यत् सौत्रामणी' शब्रा० १२. ९. १. १; 'सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणी' शब्रा० १२. ८. १. २; 'स यो भ्रातृव्यवान् स्यात् स सौत्रामण्या यजेत' शब्रा० १२. ७. ३. ४। द्रष्टव्य—**सोम**।

सौ-दन्ति—**सु-दन्त** का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३. १३ में **विश्वामित्र** के समकालीन पुरोहितों के नाम के रूप में बहुवचन में यह शब्द आया है।

सौदास—बहुवचन में यह शब्द **सुदास्** के वंशजों को जताता है। जैमिनीय ब्राह्मण २. ३९० के अनुसार इन्होंने **वसिष्ठ** के पुत्र **शक्ति** को अग्नि में डाल दिया था (संभवतः शाट्यायनक में यह कथा है)[1]। अन्य ग्रन्थों के अनुसार **वसिष्ठ** ने अपने पुत्र के वध का प्रतिशोध स्वयं लेने का प्रयास किया और इसमें वे सफल भी हुए: तैसं०, ७. ४. ७. १; कौब्रा०, ४. ८; पंविब्रा०, ४. ७. ३[2]। गेल्डनर[3] का विचार है कि ऋग्वेद ३. ५. २२ में भी इस कथा की झलक है।

सौ-द्युम्नि—**सु-द्युम्न** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. १२ में राजा **भरत दौःषन्ति** का यह पैतृक नाम है।

सौ-धन्वन—**सु-धन्वन्** का वंशज। ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में **ऋभुओं** को सौधन्वन कहा गया है: ऋ० १. ११०. २, ४; १. १६१. २; ३. ६०. १. ३, ५; ४. ३५. १, ८; अवे०, ६. ४७. ३; तैसं०, ३. १. ९. २।

सौपर्ण—साम-विशेष। 'यज्ञो वै देवेभ्योऽपाक्रमत्। स सुपर्णं रूपं कृत्वाचरत्। तं देवा एतैः सामभिरारभन्त' तांब्रा० १४. ३. १०।

सौ-बल—**सु-बल** का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ६. २४. १६ में **सर्प वात्सि** के शिष्य का यह नाम है।

१. सौभर—**सौभरि** का वंशज। बृहदारण्यक उपनिषद् में **पथिन्** का यह पैतृक नाम है: बृउ०, २. ५. २२ माध्यं=२. ६. ३ काण्व; ४. ५. २८ माध्यं०=४. ६. ३ काण्व।

२. सौभर—साम-विशेष। 'ताः (प्रजाः) अब्रुवन् सुभृतं नोऽभार्षीरिति तस्मात् सौभरम्' तांब्रा० ८. ८. १६; 'बृहता वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्। तस्य तेजः परापतत्। तत् सौभरमभवत्' गोब्रा० ८. ८. ९; 'यः स्वर्गकामः स्यात् यः प्रतिष्ठाकामः सौभरेण स्तुवीत' तांब्राः० ८. ८. १३.

सौमाप—**सौमाप** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ३. २ में दो **मानुतन्तव्य** नामक आचार्यों का यह पैतृक नाम है।

[1] तु०—गेल्डनर, वैस्टू०, २. १५९ टि०।

[2] कालंड, ऊबर दास रितुआल सूत्र देस बौधायन, २०।

[3] उपर्युक्त संदर्भ।

सौमापि—**सोमाप** का वंशज। शांखायन आरण्यक १५. १ में एक आचार्य **प्रियव्रत** का यह पैतृक नाम है।

सौमायन—**सोम** का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १८. ६ में **बुध** का यह पैतृक नाम है।

सौमिक—साम-विशेष। 'सुमित्रः सन् क्रूरमकरित्येनं (कुत्सं) वागभ्यवदत् तं शुगार्थत् स तपोऽतप्यत स एतत् सौमित्रमपश्यत् तेन शुचमपाहत' तांब्रा० १३. ६. १०।

सौमेध—सामविशेष। 'योगे योगे तव स्तरमिति सौमेधम्' तांब्रा० ८. २. २०।

सौम्य—उपनिषदों में प्रिस संबोधन के लिये सौम्य शब्द का व्यवहार मिलता है: वृ० उ०, ३. १. ३; ३. २. १३; छा० उ० ४. ४. ४ एवं आगे।

सौयवसि—**सूयवस्** का वंशज।' **अजीगर्त** का यह पैतृक नाम है।

सौराकि—द्र०—**विप्रजन**।

सौरी—त्सिमर[1] के मतानुसार तैत्तिरीय संहिता (५. ५. १६. १; वासं०, २४. ३३; मैसं०, ३. १४. १४) में अश्वमेध की बलियों में एक अज्ञात पशु का नाम सौरी है; किंतु यह चिन्त्य है। इसका अर्थ है 'सूर्य को समर्पिता'

सौ-वर्चनस—तैत्तिरीय संहिता १. ७. २. १ में यह **संश्रवस्** का पैतृक नाम है।

सौ-श्रवस—**सु-श्रवस्** का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६. ८ में यह **उपगु** का पैतृक नाम है। काठक संहिता १३. १२. में **कण्व** सौश्रवसों का उल्लेख आता है।

२. सौ-श्रवस—साम-विशेष। 'तं (छिन्नशिरस्कं सौश्रवसं) एतेन साम्ना (इन्द्रः) समैरयत्। स तर्ह्यकामयत कामसनि साम सौश्रवसं काममेवैतेवावरुन्धे' तांब्रा० १४. ६. ८।

सौश्रोमतेय—**सुश्रोमता** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण ६. २. १. ३७ में **आषाढ़ि** का यह पैतृक नाम है।

तु०—**आषाढ़ि**।

तु०—एगलिंग, सेबुई०, ४१. १७१ टि० १।

सौ-षद्मन—**सु-षद्मन्** का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७. १; ७. ३४. ७ में **विश्वामित्र** का यह पैतृक नाम है।

सौ-हविष—साम-विशेष। 'सुहविर्वा आङ्गिरसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः' तांब्रा० १४. ५. २५।

[1] आले०, ९९।

१. **स्कन्ध**—द्र०–शरीर।

२. **स्कन्ध**—द्र०–औषधि।

स्कन्ध्या—स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में यह शब्द अथर्ववेद ६. २५. ३ में कंधों के किसी रोग का वाचक है।

तु०–ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अवे०, ४७२, ४७३।

स्तन—द्र०–शरीर।

स्तनयित्नु—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्तनयित्नु शब्द गर्जन के अर्थ में आया है: ऋ० ५. ८३. ६; अवे०, १. १३. १; ४. १५. ११; ३. ११. १ इत्यादि।

तु०–'कतमस्तनयित्नुरिति। अशनिरिति' शब्रा० ११. ६. ३. ९; 'स बृहदसृजत। तत् स्तनयित्नोर्घोषोऽन्वसृज्यत' तांब्रा० ७. ८. १०; 'स्तनयित्नुः सावित्री' गोब्रा० १. १. ३३।

स्तम्ब—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में घास के बंडल, स्तबक या मुट्ठी के लिये आया है: अवे०, ८. ६. १४; तैसं०, ५. ६. ४. १; दर्भ का: तैब्रा०, २. ७. १७. ३; ३. ३. ४; ३. ३. ३. ३४; ऐब्रा०, ५. २३. ९ इत्यादि।

स्तम्भ—काठक संहिता ३०. ९; ३१. १ और सूत्रों में खंभे के अर्थ में स्तम्भ शब्द आया है। इससे पहले (ऋ० १. ३४. २; ४. १३. ५ इत्यादि में) स्कम्भ शब्द आता है।

स्तरी—फरड़ा गौ: ऋ० १ ११६. २२; १. ११७. २०; ७. २३. ४; ७. ६८. ८; ७. १०१. ३; १०; ३१. १० वालखिल्य, ३. ७; ऋ० १. १२२. २; तैसं०, १. ५. ८. ४; ऋ० १०. ६९. ७; कासं०, १३. ६, इत्यादि।

स्तायु—द्र०–तस्कर।

स्ति—द्र०–उप-स्ति।

स्ति-पा—द्र०–उप-स्ति।

स्तुका—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बाल या ऊनके लच्छे को कहते हैं: ऋ० ९. ९७. १७; कासं०, २५. ६; अवे०, ७. ७४. २; शब्रा०, ३. २. १. १३ इत्यादि।

स्तुति—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में प्रशंसा-गीत को स्तुति कहते हैं: ऋ० १. ८४. २; ६. ३४. १; १०. ३१. ५; शब्रा०, ७. ५. २. ३९।

स्तुप—वाजसनेयि संहिता २. २. २५. २ और शतपथ ब्राह्मण १. ३. ३. ५; ३. ५. ३. ४ में बाल के लच्छों को स्तुप कहा गया है। द्र०–स्तुका।

स्तूप—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में शिखा को अथवा शीर्ष के ऊपरी भाग को जताने के लिए स्तूप शब्द का प्रयोग हुआ है: ऋ० ७. २. १।

तु०–१. २४. ७; तैसं०, ३. ३. ६. ५; पंविब्रा०, १३. ४. ४।

स्तृ—केवल तृतीया बहुवचन में प्रयुक्त यह शब्द आकाश के तारों को जताता है: ऋ० १. ६८. ५; १. १६६. ११; २. २. ५; २. ३४. २; ४. ७. ३; ६. ४९. ३, १२; १. ८७. १ में गौ या बैल के माथे पर तारक-चिह्न को जताता है, किंतु यह संदिग्ध है।

तु०–ग्रासमान, वोर्टेरबूख, १. २३३।

स्तेग—याजुष संहिताओं में यह शब्द कृमियों की एक जाति को उद्दिष्ट करता है: तैसं० ५. ७. ११. १; वासं०, २५. ६। ऋग्वेद १०. ३१. ९; अवे०, १८. १. ३९[1], में भी यह शब्द आया है; किंतु वहाँ भी इसका अर्थ अनिश्चित है; संभवतः यह हल की फाली का वाचक हो।[2]

स्तेन—ऋग्वेद-काल से ही चोर के लिये स्तेन शब्द का व्यवहार आ रहा है: ऋ० २. २३. १६; २. २८. १०; २. ४२. ३ इत्यादि; अवे०, ४. ३. ४, ५; ४. ३६. ७; १९. ४७. ६; ऐब्रा०, ५. ३०. ११ इत्यादि।

तु०–त्सिमर, आले०, १७८ एवं आगे।

तु०–तस्कर।

स्तेय—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में चोरी के लिये आया है: अवे०, ११. ८. २०; १४. १. ५७; निरुक्त, ६. २. ७; कौउ० ३. १; तु०–स्तेय-कृत्: ऋ० ७. १०४. १०।

तु०–धर्म।

स्तोक—'स्तोको वै द्रप्सः' गोब्रा० २. २. १२।

स्तोतृ—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्तोता या प्रशंसा के गीत गाने वाले को इस शब्द से बताया गया है; और यह **मघवन्** और **सूरि** के संबन्ध में प्रायः आता है: ऋ० १. ११. ३; १. ३८. ४; ३. १८. ५. ६. ३४. ३ इत्यादि; अवे०, ६. २. १; १९. ४८. ४; मघवन् सूरि के संबन्ध में: ऋ० १. १२४. १०; २. १. १६; ५. ६४. १; ७. ७. ७; निरुक्त, ७. २।

स्तोत्र—जैसे होतृ और उसके सहायक पुरोहित के गान को शस्त्र कहा गया है, वैसे ही उद्गातृ और उसके सहायक के स्तुति-गान को स्तोत्र कहा गया है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में यह शब्द इस पारिभाषिक अर्थ में प्रायः आया है: तैसं०, ३. १. २. ४; कासं०

---

[1] त्सिमर, आ० ले०, ९८।

[2] द्र०–वेबर, प्रोसीडिंग्स आफ दि बर्लिन एकेडमी, १८९५. ८३३; तु०–ह्विटनी, ट्रां०अ०वे०, ८२४।

२९. २; ऐब्रा०, २. ३७. ४; ३. ४६. ८; ४. १२. ६; कौब्रा० १७. ७; शब्रा०, ४. १. १. ७; ८. १. ३. ४ इत्यादि।

तु०—वेबर, इस्टू०, १०. ३५३; कालंड तथा हेनरी, ल् अग्निष्टोम, जहाँ स्तोत्र उस यज्ञ के लिये दिये गये हैं।

तु०—'क्षत्रं वै स्तोत्रम्' शब्रा०, १. ४; 'आत्मा वै स्तोत्रम्' शब्रा० ५. २. २. २०.

स्तोम—ऋग्वेद (१. १४४. ९; ३. ५. २; ३. ५८. १ इत्यादि) में यह शब्द 'प्रशंसा गीत' के अर्थ में आया है; किंतु बाद में स्तोत्र-गान के एक विशेष प्रकार को स्तोम कहा गया है: तैसं०, ३. १. २. ४; वासं०, ९. ३३; १०. १० इत्यादि।

तु०—'सप्त स्तोमाः' शब्रा०, ९. ५. २. ८; 'त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमाः' तांब्रा० ६. ३. १५; 'यदु ह किं च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत् कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैव तत् कुर्वते' शब्रा० ८.४.३. २; 'स्तोमो वै देवेषु वरो नामासीत्' तांब्रा०, ८. ३. ३; 'स्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोकाः' ऐब्रा० ४. १८; 'स्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकाः' ऐब्रा० ४. १८; =पशुः, तांब्रा० ५. १०. ८; =अन्त, शब्रा० ९. ३. ३. ६; =प्राणाः, ८. ४. २३; =वीर्यम्, तांब्रा० २. ५. ४।

तु०—वेबर, इस्टू०, ९. २२९; १०. ३३५; हिल्लेब्रांड्ट, रितुआल लितरात्यूर १०१।

स्त्री—स्त्री शब्द पद्य और गद्य दोनों में सामान्य रूप से आया है। कन्या या पत्नी के सीमित अर्थ में इसका प्रयोग नहीं है। **नारी** शब्द भी इसी के सम-कक्ष है; किंतु परवर्ती गद्य में इसका अधिक प्रयोग नहीं मिलता। **ग्ना** शब्द केवल देवों की स्त्रियों के लिये आया है। **योषित्** अपने सजन्म शब्दों के साथ विवाह की आयु वाली युवती को उद्दिष्ट करता है[१]। ऋग्वेद में **पुमान्** या **वृषन्** के विलोमार्थ में स्त्री शब्द का प्रयोग मिलता है: ऋ० १. १६४. १६; ५. ६१. ८ इत्यादि; उसी प्रकार बाद में मैसं०, ४. ७. ४; तैसं०, ६. ५. ८. २; अथर्ववेद (१२. २. ३९; तु०—ऐब्रा०, ३. २२. १) से पहले पति के विलोमार्थ में स्त्री शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। सूत्रों में भी स्त्री और **जाया** के अन्तर को ध्यान में रखा गया है।

वैदिक भारत में स्त्री के जीवन का अधिकांश विवाहित जीवन के रूप में व्यतीत होता था; (तु०—**पति** और **मातृ**)। ऋग्वेद में स्त्रियों के पार्थक्य-जीवन का कोई संकेत नहीं मिलता, जो कि प्राचीनतम आर्ष-काव्य को छोड़कर इतर साहित्य में परिनिष्ठित रूप में मिलता है। कन्या पिता के घर में ग्राम के युवकों के मेलजोल में घर के कामों में हाथ बँटाती हुई बड़ी होती थी[१]। स्त्रियों के लिये शिक्षा के द्वार खुले हुए थे[२], क्योंकि उपनिषदों में दार्शनिक विवादों एवं विचार-विमर्शों में स्त्रियों के भाग लेने का उल्लेख मिलता है: तैसं०, ६. १. ६. ५; मैसं०, ३. ७. ३; शब्रा०, ३. २. ४. ३-६; द्र०—**गार्गी वाचक्नवी** एवं अन्य स्त्रियों का जिक्र आगृसूत्र ३. ४. ४. ४ में आता है।[३]

लड़कियों की वैधानिक दशा के विषय में हमारा ज्ञान सीमित है। ऋग्वेद (१. १२४. ७ तु०—अवे०, १. १४. २; १. १७. १) से प्रतीत होता है कि पिता के न रहने पर भाई लड़की का सहायक होता था; और बिना भाई वाली लड़कियों के नष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती थी; यद्यपि उनकी इस असहाय अवस्था से लाभ उठाने वालों के लिये ऋ० ४. ५. ५ में धार्मिक भय का उल्लेख आया है[४]। विधानतः स्त्रियों का उत्तराधिकार में भाग नहीं माना जाता था: तैसं०, ६. ५. ८. २; मैसं०, ४. ६. ४; शब्रा०, ५. ४. २. १३; निरुक्त ३. ४। स्त्रियों को विवाहित या अविवाहित दोनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र नहीं माना गया है। अनुमानतः विवाह के पहले स्त्री माता-पिता या भाइयों के संरक्षण में और बाद में पति के संरक्षण में रहती थी। पति के मर जाने पर उसकी संपत्ति को उसकी पत्नी का भारवहन करने के लिये परिवार वाले ले लेते थे[५]। यदि कुछ अविवाहित स्त्रियां (जैसे कि वेश्याएँ) धनोपार्जन करती थीं तो उनके निकट के संबन्धी इसे हथिया लेते थे।

ब्राह्मणों में स्त्री—'(सविता) श्रिया स्त्रियम् (समदधात्)' गोब्रा० १. १. ३४; 'स्त्री सावित्री' जैउब्रा० ४. २७. १७; 'तस्माद् स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति' शब्रा० ३. २. १. २०; 'तस्मात् स्त्री पुंसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति' शब्रा० ३. २. १. १९; 'तस्माद् स्त्री पुमांसं ह्वयत एवोत्तमम्' शब्रा० ३. २. १. २१; 'उत्तरतआयतना हि स्त्री' शब्रा० ८. ४. ४. ११; 'उत्तरतो

[१] तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दोज० फेर० नामन ४१७।

[१] हॉपकिन्स, ज०अ०ओ०सो०, १३. ३४९. ३५०।

[२] तु०—हॉपकिन्स, उपर्युक्त ३५१, ३५२।

[३] वेबर, इस्टू०, १०. ११८, ११९।

[४] तु०—त्सिमर, आले०, ३२८; हॉपकिन्स, उपर्युक्त, ३४१; द्र०—**श्याल, पुत्रिका**।

[५] तु०—कीथ, जराएसो०, १९१२, ४२७।

हि स्त्री पुमांसमुपशेते' शब्रा० १. १. १. २०; 'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति' शब्रा० ३. २. १. २२; 'तस्मात् स्त्र्यन्तर्वत्नी हरिणी सती श्यावा भवति' तैब्रा० २. ३. ८. १; 'तस्मादु स्त्र्यनुरात्रं पत्याविच्छते' ऐब्रा० ३. २२; 'तस्मादिमा मानुष्यस्त्रियस्तिर इवैव पुंसो जिघत्सन्ति' शब्रा० १. ९. २. १२; 'तस्मादु संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते' शब्रा० ११. १. ६. २; 'अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रक्षेत' शब्रा० १४. ११. ३१; 'तस्मादप्येतर्हि मोघसंहिता एव योषाः' शब्रा० ३. २. ४. ६; 'तस्माद् य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैताः निमिश्लतमा इव' शब्रा० ३. २. ४. ६; 'कर्म वा इन्द्रियं वीर्यं तदेतदुत्सन्नं स्त्रीषु' शब्रा० १२. ७. २. ११; 'अवीर्या वै स्त्री' शब्रा० २. ५. २. ३६; 'तद् वा एतत् स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्' शब्रा० १२. ७. २. ११; 'स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः' शब्रा० १३. २. २. ४; 'यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एत्यनूच्य इतराः' शब्रा० १. ३. १. ९; 'यत् स्थालीं रिञ्चन्ति न दारुमयं तस्मात् पुमान् दायादः स्त्र्यदायादाथ यत् स्थालीं परास्यन्ति न दारुमयं तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमथ स्त्रिय एवातिरिच्यन्ते' मैसं० ४. ६. ४; कासं० २७. ९; 'वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरति' शब्रा० २. ५. २. २०।

स्थकर—द्र०—स्थागर।

स्थपति—अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में उल्लिखित स्थपति कोई राजकीय अधिकारी प्रतीत होता है: अवे०, २. ३२. ४; ५. २३. ११; तैसं०, ४. ५. २. २; कासं०, १७. १२; मैसं०, २. ९. ३; वासं०, १६. १९; पंविब्रा०, १७. ११. ६, ७; २४. १८. २; शब्रा०, ५. ४. ४. १७ इत्यादि। **सृञ्जयों** के राजा **दुष्टरीतु पौंसायन** के स्थपति **रेवोत्तरस् चाक्र** थे, जिन्होंने राजा को पुनः सिंहासनासीन कराया था: शब्रा०, १२. ८. १. १७; १२. ९. ३. १ एवं आगे; काश्रौसूत्र, १. १. १२; आप श्रौ सूत्र, ९. १४. १२ में **निषाद-स्थपति** का उल्लेख आता है; यह निषादों का स्थपति हो सकता है।[1] किंतु प्रमुख न्यायाधीश अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसे कि प्रारंभ में अंग्रेज जजों का काम न्याय एवं शासन दोनों से संबद्ध था।[1] राजा के भाई से स्थ-पति का स्थान नीचे है: शब्रा०, ५. ४. ४. १७

स्थविर—शाब्दिक अर्थ है "बड़ा"। यह अनेक व्यक्तियों का विशेषण है। ऐतरेय आरण्यक ३. २. १, ६ में स्थविर **शाकल्य** का उल्लेख है। शांखायन आरण्यक ७. १६; ८. १. ११ में भी इन्हीं का निर्देश है; किंतु कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५ में **जातूकर्ण्य** का उल्लेख आया है।

तु०—ह्रस्व और दीर्घ।

स्थागर—तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ३. १०. २, आप० श्रौ० सू०, १४. १५. २) में एक अलंकार का वाचक है, जिसे सुगंधमय पदार्थ स्थगर से बना हुआ बताया गया है। अन्यत्र इसका रूप स्थकर आया है।[2]

म्यूर, सं० टैक्स्ट्स, ५. २६५।

स्थाणु—सतून। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में लकड़ी के ठूंठ लिये आया है: ऋ० १०. ४०. १३; अवे., १०. ४. १; १४. २. ४८; १९. १०. ४७ इत्यादि।

स्थातृ—खड़ा होने वाला। ऋग्वेद १. ३३. ५; १. १८१. ३, ३. ४५. २ इत्यादि में यह शब्द घोड़ों या रथ के हाँकने वाले के लिये आया है।

स्थापत्य—पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ११. ६, ७ में स्थपति के पद का नाम स्थापत्य है।

स्थाली—अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में पकाने के बरतन का वाचक है: अवे०, ८. ६. १७; तैसं०, ६. ५. १०. ५ वासं०, १९. २७; १९. ८६; ऐब्रा०, १. ११. ८ इत्यादि। स्थाली-पाक=दूध में पका चावल: उ०, ६. ४. १८; ऐआ० ३. २. ४; शांआ०, ११. ६. इत्यादि।

स्थिरक गार्ग्य—गर्ग का वंशज। वंश ब्राह्मण में एक आचार्य का यह नाम है।

द्र०—इस्तू०, ४. ३७३

स्थिवि—ऋग्वेद १०. ६८. ३ में इसका अर्थ द्रोण या आढक है। एक बार यह शब्द विशेषण 'स्थिविमन्त्' के रूप में आया है: ऋ० १०. २७. १५।

तु०— त्सिमर, आ० ले०, २३८।

---

[1] वेबर, इस्तू०, १. २०७ टि०, के अनुसार यह एक स्थ-पति निषाद का उल्लेख हो सकता है; द्र०—एग्लिंग, सेबुई० ४१. १११; इन्होंने शासक अर्थ माना है। तु०—वोबू०। द्र०—औपोदिति।

[1] द्र०—वेबर, इस्तू०, १०. १३. टि० ३, १३. २०३; १७. २००; १८. २६०; ऊवर देन राजसूय, १५ टि० ६; ऊवर देन वाजपेय, ९. १०; तु० काश्रौसूत्र, २२. ५. २८; २२. ११. ११; लाश्रौसूत्र, ८. ७. ११; आपश्रौसूत्र, २२ ७. ६

[2] द्र०—वेबर, इस्तू०, १३. १९८।

स्थूणा—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द स्तम्भ या थून का वाचक है : ऋ० १. ५९. १; ५. ४५. २; ५. ६२. ७; ८. १७. १४; १०. १८. १३ शव-गर्त का; अवे०, ३. १२. ६, बांस का; १४. १. ६३; शब्रा०, १४. १. ३. ७; १४. ३. १. २२ इत्यादि; स्थूणा-राज, 'प्रमुख स्तम्भ', ३. १. १. ११; ३. ५. १. १।

तु०—त्सिमर, आ० ले०, १५३।

स्थूणा-कर्णी—द्र०—अष्ट-कर्णी।

स्थूरि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में 'एक पशु से खींचा जाने वाला' इस अर्थ में स्थूरि शब्द का प्रयोग मिलता है; ऋ० १०. १३१. ३; तैब्रा०, १. ८. २. ४; ३. ८. २१. ३; पंविब्रा०, १६. १३. १२; १८. ९. ७; ऐब्रा०, ५. ३०. ६; शब्रा०, १३. ३. ३. ९ इत्यादि।

स्थैरकायण—स्थिर का वंशज। वंश-ब्राह्मण (द्र०—इस्तू०, ४. ३७२. 'ण' के स्थान पर 'न') में मित्र-वर्चस् का यह पैतृक नाम है।

स्थौलाष्ठीवि—स्थूलाष्ठीवि का वंशज। निरुक्त ७. १४; १०. १ में एक वैयाकरण का यह नाम है।

स्नातक—शतपथ ब्राह्मण १२. १. १. १० में और प्रायः सूत्रों में स्नातक ('स्नान कर चुकने वाला') शब्द विद्यार्थी के आचार्य कुल में पढ़ चुकने के भाव को जताता है। तु०— ब्रह्मचारिन्।

स्नावन्—द्र०—शरीर।

१. स्नावन्य—तैत्तिरीय संहिता ५. ७. २३. १ में उल्लिखित स्नावन्य शब्द अश्व-शरीर के भागों को उद्दिष्ट करता है।

२. स्नावन्य—बौधायन श्रौत-सूत्र (२. ५ मन्त्र) में किसी जाति का बोधक प्रतीत होता है।

तु०—कालण्ड, ऊबर देस रितुआलसूत्र देस बौधायन, ३५।

स्नुषा—स्नुषा शब्द पहले श्वशुर की दृष्टि से पुत्र-वधू का और फिर श्वश्रू की दृष्टि से पुत्र-वधू का बोधक बनता है। दूसरे भाव में यह शब्द ऋग्वेद १०. ८६.१३ में सु-स्नुषा के रूप में आया है, जिसका अर्थ है=अच्छी स्नुषा वाली श्वश्रू। इसका प्रयोग वृषाकपायी के लिये हुआ है। श्वशुर के संबन्ध में स्नुषा के संमान-भाव का कथन भी मिलता है : अवे०, ८. ६. २४; ऐब्रा०, ३. २२. ७; तैब्रा०, २. ४. ६ १२; मैसं०, २. ४. १; कासं०, १२. १२; इस्तू०, ५. २६०। द्रष्टव्य श्वशुर और पति।

तु० 'तद् यथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति' ऐब्रा०, ३. २२;

तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दो० फेर० ४१४, ४१५।

स्पन्दन—ऋग्वेद, ३. ५३. १९; में यह किसी वृक्ष का नाम है। किंतु राथ ने इसे "स्यन्दन" पढ़ा है।

तु०— औफ़ेख्ट, ऋग्वेद, २. ६; त्सिमर, आले० ६३।

स्पर—'स्परैर्वै देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमस्पारयन् यदस्पारयन् तत् स्पराणां स्परत्वम्' तैब्रा० १. २. ४. ३;

स्पर्शु—बौधायन श्रौत सूत्र २१, १३ में किसी पश्चिमी जाति का नाम स्पर्शु है।

स्पश्—द्र०—राजन्।

स्पृध्—स्पर्धा करने वाला, शत्रु। शत्रु के अर्थ में स्पृध् शब्द ऋग्वेद-काल से ही आ रहा है : ऋ०, १. ८. ३; १. ११९. १०; १. १७४. ५, १०; १. १७९, ३; २. ११. १९; ५. ४४. ७; ५. ५५. ६; ८. १४. १३; ८. ८१. ३२; ८. ८८. ५; ९. ७. ५; ९. ७. ५; ९. २०. १ इत्यादि।

स्फूर्जक—शतपथ ब्राह्मण १३. ८१. १६ में स्फूर्जक एक वृक्ष (डिओस्पिरोस एम्ब्रियो पेट्रिस Diospyros embryoptaris) के लिये आया है।

स्फ्य—'खादिरः सफ्यः' शब्रा० ३. ६. २. १२; 'वज्रो वै स्फ्यः', शब्रा० १. २. ५. २०; 'स यत् स्फ्यमादत्ते। यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एवं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति तस्माद् वै स्फ्यमादत्ते' शब्रा० १. २. ४. ३.

स्मदिभ—ऋग्वेद १०. ४९ ४ में यह शब्द आया है। रॉथ ने इसे कुत्स के एक शत्रु का नाम माना है (वोबू०)।

तु०—इभ।

तु०—ओल्डेनबर्ग, ऋग्वेद-नोटन, १. ३८०; हिल्लेब्रांड्ट, वैमि०, ३. ३९१ टि०-५।

स्यन्दन—रथ। यदि यह शब्द वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है, तो केवल ऋग्वेद ३. ५३. १९ में जहां रॉथ आदि ने स्यन्दन के स्थान में स्पन्दन पढ़ा है; (वोबू०) कौशिक सूत्र ८. १५ में स्यन्दन शब्द किसी लकड़ी का बोधक है।

स्याल—ऋग्वेद १. १०९. २ में स्याल शब्द पत्नी के भाई का वाचक है, जो उसकी रक्षा करता था और उसके विवाह का प्रबन्ध करता था। द्र०—सायण-भाष्य उक्त मन्त्र पर।

तु०—डेल्ब्रुक, दी इन्दो० फेरवान्द्स०, ५१७; पिशल, वैस्तू०, २. ७९।

स्यूम-गभस्ति—द्र०-गभस्ति।

स्यूम-गृभ—ऋग्वेद ६. ३६. २ में लगाम चबाने वाले अश्व को स्यूम-गृभ कहा गया है।

स्यूमन्—ऋग्वेद ३. ६१. ४ में रॉथ[1] के अनुसार स्यूमन् किसी घर के द्वार को जूड़ने वाली सांखल को कहते है। होमरिक काल में भी ऐसी प्रथा थी; तु० ग्रीक हिमस् डेस्मोस.

स्यूम-रश्मि—ऋग्वेद १. ११२. १६; ८. ५२. २ में अश्विनों के एक कृपा-पात्र का नाम स्यूम-रश्मि है।

तु०–लुड्विग, ट्रां० ऋग्वेद, ३. १५०, १६३।

स्योन—'स्योनमिति शिवः शिवमित्येवैतदाह' शब्रा० ३. ३. ३. १०.

स्रक्ति—ऋग्वेद ७. १८. १७ में दाशराज्ञ युद्ध के वर्णन में स्रक्ति का उल्लेख आया है। हॉपकिन्स के अनुसार इसका अर्थ माला है। द्र०–जअओसो०, १५. २६४ टि०।

स्रक्त्य—अथर्ववेद २. ११. २ में ताबीज के लिये स्रक्त्य विशेषण आया है। सायण के अनुसार स्रक्ति, अर्थात् तिलक वृक्ष की लकड़ी से बना हुआ ताबीज अभिप्रेत है।

स्रज्—माला। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में विवाहादि के अवसर पर शोभा के लिये पुरुषों द्वारा स्रज् धारण किये जाने का उल्लेख आता है: ऋ० ४. ३८. ६; ५. ५३. ४; ८. ४७. १५; ८. ५६. ३; अवे०, १. १४. १; पंविब्रा०, १६. ४. १; १८. ३. २; १८. ७. ६; शब्रा०, १३. ५. ४. २. अश्विनों को पुष्कर-स्रज् कहा गया है: ऋ० १०. १८४. ३।

तु०–त्सिमर, आले०, २६५।

स्राक्त्य—अथर्ववेद (८. ५. ४-७. ८; तु०–२. ११) में स्राक्त्य एक रक्षा-कवच है। वेबर के अनुसार यह स्फटिक है; शाब्दिक अर्थ है "अनेक कोनों वाला"[2]। भाष्यकारों ने इसे स्रक्त्य से बना हुआ माना है, जो तिलक वृक्ष की लकड़ी है[3]:

स्रुच्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्रुच् एक बड़े यज्ञीय चमस के लिये आया है, जिससे अग्नि में घृत डाला जाता था: ऋ० १. १८४. १८; १. १. ११०. ६; १. १४१. १ इत्यादि; अवे०, ५. २७. ५; ९. ६ १७ इत्यादि।

तु०–'योषा हि स्रुक्' शब्रा० १. ४. ४. ४; 'योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः' शब्रा० १. ३. १. ९; 'बाहू वै स्रुचौ' ७. ४. १. ३६; 'वाग् वै स्रुक्' शब्रा० ६. ३. १. ८; 'इमे वै लोकाः स्रुचः' तैब्रा० ३. ३. १. २।

इसके आकार आदि के लिये देखिये मैक्समूलर, त्सादामौगे०, ९. ४१, ७०; एगलिंग, सेबुई०, १२. ६७; २६. २०, २३।

स्रुव—स्रुच् के विपरीत स्रुव शब्द छोटे यज्ञीय चमस का वाचक है। यह स्थाली से आज्य निकालकर बड़े चमस जुहू में डालने के काम में आता था: आश्रौसूत्र०, १. ११. इत्यादि। ऋग्वेद (१. ११६. २४; १. १२१. ६ इत्यादि) में इसका सोम-हवि के लिये प्रयोग उल्लिखित है।

तु०–'अयमेव स्रुवो योऽयं पवते' शब्रा० १. ३. २. ५; 'प्राणः स्रुवः' शब्रा० ६. ३. १. ८; 'प्राण एव स्रुवः। सोयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसंचरति तस्माद् स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः संचरति' शब्रा० १. ३. २. ३; 'वृषा हि स्रुवः' शब्रा० १. ४. ४. ३; 'योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः' शब्रा० १. ३. १. ९।

तु०–मैक्समूलर, त्सादामौगे०, ९. ८; कालण्ड और हेनरी, ल् अग्निष्टोम, ४४; प्लेट १ नं० ९; प्लेट, २. नं० ११; एगलिंग, सेबुई०, १२. ६८; २६. २०।

स्रेक-पर्ण—ब्राह्मणों में करवीर की पत्ती: तैब्रा०, ३. ६. ६. ३; ऐब्रा०, २. ६. १५।

स्वज—अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में स्वज शब्द सर्प के लिये आता है। भाष्यकारों ने स्वज की व्याख्या में 'स्वतः उत्पन्न' यह अर्थ किया है: अवे०, ३. २७, ४; ५. १४. १०; ६. ५६. २; १०. ४. १०, १५, १७; १२. ३. ५८; तैसं०, ५. ५. १०. २; ५. ५. १४. १; ऐब्रा०, ३. २६. ३। किंतु रॉथ[1] वेबर (तैसं०, २. ८९ टि०) और त्सिमर[2] इसे √स्वज् धातु से व्युत्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ है 'मण्डल बनाना'। मैत्रायणी संहिता ३. ९. ३ में हरिण को स्वज के मारने वाला बताया है।

तु० 'सहसः स्वजः ('उभयतशिराः सर्पः' ऐब्रा० ३. ३६.)

स्वधा—धारक शक्ति। कुछ स्थलों पर पितरों के लिये देय पदार्थ के लिये यह शब्द आया है: ऋ० १०. १४. ३;

[1] वोवू०।
[2] द्र०–इस्टू०, १३. १६४।
[3] द्र०–ब्लूमफील्ड, अजफि०, ७. ४७७; हिम्स ऑफ दि अवे०, ५७७।

[1] वोब०।
[2] आ० ले०, ९५।

वासं०, २७; अवे०, ४. ३४ ८; ऐब्रा०, २. २३; शब्रा०, २. ४. २. २ इत्यादि।

तु० 'स्वधायै त्वेति। रसाय त्वेत्येवैतदाह' शब्रा०, ५. ४. ३७; 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' शब्रा० १३. ८. १. ४; 'स्वधा वै शरद्' शब्रा० १३. ८. १. ४.

१. स्वधिति—ऋग्वेद १. १६२. ९, १८, २० में अश्व के आलम्भन में प्रयुक्त कुल्हाड़ी या उसी तरह के किसी उपकरण को स्वधिति कहा गया है। उस संहिता में अन्यत्र इसका अर्थ लकड़ी काटने वाली 'कुल्हाड़ी' है : ऋ० २. ३९. ७; ३. २. १०; ३. ८. ६, ११; ५. ७. ८; ७. ३. ९; ८. १०२. १९; १०. ८९. ७; ऋ० २. ३९. ७ में शाण (क्ष्णोत्र) पर स्वधिति को तेज करने का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद ४. १४१. २ में तांबे (लोहित) की बनी स्वधिति का उल्लेख आया है।

तु०–मन्त्र ब्रा०, १. ८. ७[1]। वहाँ इससे पशुओं के कान पर चिन्ह बनाने का उल्लेख आया है। वहीं (९. ४. ६; १२. ३. ३३; तु०–१२. २. ३५[2] में) बढ़ई की कुल्हाड़ी या स्वधिति का भी उल्लेख आता है। परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ कुल्हाड़ी है : तैसं०, ६. ३. ३. २; वासं०, २. १५; ५. ४३ इत्यादि। हथियार के रूप में इसका उल्लेख नहीं मिलता। ऋ० १०. ९२. १५ में यह इन्द्र के वज्र का बोधक है।

२. स्वधिति—ऋग्वेद के कुछ स्थलों (५. ३२. १०; ९. ३६. ६; तु०–१. ८८. २) पर रॉथ के अनुसार (वोबू०) स्वधिति शब्द कठोर लकड़ी का बोधक है।

स्वनद्-रथ—ध्वनियुक्त रथवाला। लुड्विग[3] के अनुसार ऋग्वेद ८. १. ३२ में यह आसङ्ग का नाम है, किंतु अधिक संभावना इसके विशेषण होने की ही है।

स्वनय भाव्य—सिन्धु-तट-वासी एक राजा का नाम स्वनयभाव्य है, जिन्होंने ऋग्वेद १. १२६. १, ३ के अनुसार **कक्षीवन्त्** को प्रचुर दान दिया था। शांखायन श्रौत सूत्र १६. ११. ५ में उन्हें **स्वनय भाव्य** कहा गया है।

स्वप्न—ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में स्वप्न का उल्लेख मिलता है : ऋ० २. २८. १०. १०. १६२. ६; अवे०, ७. १०१. १; १०. ३. ६; वासं०, २०. १६; शब्रा०, ३. २. २. २३ इत्यादि। दुःस्वप्नों का भी जिक्र आता है : ऋ० २. ५८. १०; अवे०, १०. ३. ६। ऋग्वेद के आरण्यकों में कुछ स्वप्नों की सूची है, जिन्हें 'प्रत्यक्ष-दर्शनानि' अर्थात् 'स्वतः आंखों से देखे गये दृश्य' कहा गया है : ऐआ०, ३. २. ४; शांआ०, ११. ३।

तु०–कौसू० ४६. ९ एवं आगे; अवे० परिशिष्ट, ६८।

स्वयमातृण्णा—इष्टका। 'प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आतृन्ते' शब्रा० ७. ४. २. २; 'अन्नं वै स्वयमातृण्णा' शब्रा० ७. ४. २. १; 'इयं (पृथिवी) वै स्वयमातृण्णा' शब्रा० ७. ४. २. १; 'इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णाः' शब्रा० ७. ४. २. ८.

स्वर्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में सूर्य (ऋ० १. ७१. २; १. १०५. ३; १. १४८. १ इत्यादि; निरुक्त, २. १४) और द्युलोक (ऋ० ३. २. ७; ५. ८३. ४; १०. ६६. ४, ९ इत्यादि; अ० वे० ४. ११. ६; ४. १४. २ इत्यादि) को स्वर् कहा गया है।

तु० 'स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स्वः स्वर्गलोकोऽभवत्' शब्रा० १. ५; '(प्रजापतिः) स्वरित्येतेन सामवेदस्य रसमादत्ते। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स आदित्योऽभवद् रसस्य रसः' जैउब्रा० १. १. ५; 'असौ (द्यु—) लोकः स्वः' ऐब्रा० ६. ७; 'देवा वै स्वः' शब्रा० १. ९. ३. १४; 'अन्तो वै स्वः' ऐब्रा० ५. २०.

स्वर—उपनिषदों में स्वर अ, आ आदि ध्वनियों का बोधक है : छाउ०, २. २२. ५; तैउ०, १. २. १; इन्हें **घोषवान्** और बलवान् भी कहा गया है। जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न वर्णों को स्पर्श कहा गया है; **ऊष्मन्** और **स्वर** का भी निर्देश आता है : ऐआ०, ३. २. १ शांआ०, ८. १. इत्यादि। अर्धस्वरों को अन्तस्थ (ऐआ०, ३. २. १) या अक्षर कहा गया है : शां० आ०, ८. १। ऐतरेय आरण्यक २. २. ४ में दूसरा विभाजन घोष, ऊष्मन् और व्यञ्जन है। इसी आरण्यक (२. २. २)[1] में घोष को ध्वनि के अर्थ में ग्रहण किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् (उपर्युक्त स्थल) में मात्रा (द्र० ऐआ०, ३. १५; शांआ०, ७. १३ भी) और बल तथा वर्ण का उल्लेख आता है; अन्यत्र अ+उ+म् के संकलित रूप ओम् की व्याख्या में यह कहा गया है : ऐब्रा०, ५. ३३. २; कौब्रा०, २६. ५; आश्रौसूत्र, १०. ४[2]।

ऐतरेय आरण्यक ३. १. ३, ५ और शांखायन आरण्यक ७. १०. १२ में ऋग्वेद-पाठ के तीन रूपों का उल्लेख

---

[1] तु० ह्विटनी, ट्रां० अवे०, ३८६, ३८७; गेल्डनर, वेस्टू०, २. १५९; इन्होंने ऋग्वेद ३. ५३. २२ में प्रयुक्त परशु से इसकी तुलना की है।

[2] तु०–ह्विटनी, उपर्युक्त, ८४५।

[3] ट्रां० ऋ०, ३. १५९।

[1] तु०–कीथ, ऐतरेय आरण्यक, पृष्ठ २१३।

[2] वेबर, इस्टू०, ५. ३२।

आया है। **प्रतृण्ण** (=संहिता-पाठ), **निर्भुज** (=पद-पाठ और उभयमन्तरेण (क्रम-पाठ)[1]। उपर्युक्त आरण्यकों में ही मूर्धन्य और दन्त्य न और स का महत्त्व बताया गया है : ऐआ०, ३. २. ६; शांआ०, ८. ११; माण्डूकेयों के उच्चारण का विशेष ढंग का भी जिक्र आया है : ऐआ०, ३. १. १; ३. २. ६; शांआ०, ७. २; ८. ११)। इनमें संधि का भी जिक्र आया है : ऐआ० ३. १. २, ३, ५; ३. २. २; शांआ०, ७. १३; ८. १. २;।

कुछ शाखाओंके प्रातिशाख्यों में पर्याप्त व्याकरण-संबन्धी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है, और यास्क के निरुक्त में भी व्याकरण-संबन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है।[2] शतपथ ब्राह्मण १०. ५. १. २, ३ में लिङ्गों का विभाजन आया है। पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ९. १, २ में साम-मन्त्रोच्चारण के लिये शब्दों का विभाजन है।

तु० 'स यदाह स्वरोऽसीति होमं वा एतदाहै ष ह वै सूर्यो भूत्वामुष्मिंल्लोके स्वरति तद् यत् स्वरति तस्मात् स्वरस्तत् स्वरस्य स्वरत्वम्,' गोब्रा० १. ५. १४; 'य आदित्यः स्वर एव सः' जैउब्रा० ३. ३३. १; 'प्राणाः स्वरः' तांब्रा० ७. १. १०; 'पशवः स्वरः' गोब्रा० २. ३. २२; श्रीर्वै स्वरः' शब्रा० ११. ४. २. १०; 'प्रजापतिः स्वरः' षब्रा० ३. ७. 'अनन्तो वै स्वरः' तांब्रा. १७. १२. ३.

स्वरसाम—'इमान् वै लोकान् स्वरसामभिरस्पृण्वन् तत् स्वरसाम्नां स्वरसामत्वम्' ऐब्रा० ४. १९; 'एतैर्ह वा अत्रय आदित्यं तमसोऽपस्पृण्वन् तद्यदपस्पृण्वन् तस्मात् स्वरसामानः' कौब्रा० २४. ३; 'स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाविध्यत् तं देवाः स्वरैरस्पृण्वन् यत् स्वरसामानो भवन्त्यादित्यस्य स्पृत्यै' तांब्रा० ४. ५. २; 'प्रजापतिः स्वरसामानः' कौब्रा० २४. ४. ५; 'इमे वै लोकाः स्वरसामानः' ऐब्रा० ४. १९; 'स्वर्गो वै लोकः स्वरसाम' कौब्रा० १२. ५; 'आपः स्वरसामानः' कौब्रा० २४. ४; 'प्राणाः स्वरसामानः' तांब्रा० २४. १४. ४।

स्वराज्—स्वयं शासक या राजा। ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं में यह शब्द आया है : १. ३६. ७; १. ५१. १५; १. ६१. ९ इत्यादि; अवे० १७. १. २२; तैसं०, २. ३. ६. २; ४. ४. ८. १; ५. ५. ४. १ इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४ में यह पश्चिमी राजाओं की उपाधि है।

तु०—रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया १९, जिसमें गणतन्त्रात्मक राजाओं का उल्लेख है।

स्वरु—ऋग्वेद या परवर्ती साहित्य में यूप के (काष्ठ-खण्ड के) लिये यह शब्द आया है : ऋ० १. ९२. ५; १. १६२. ९; ३. ८. ६ इत्यादि; अवे०, ४. २४. ४; १२. १. १३ इत्यादि; ऐब्रा०, २. ३. ८; तैसं०, ५. ५. ७. १; ६. ३. ४. ९; शब्रा०, ३. ७. १. २२; ३. ८. १. ५ इत्यादि।

तु० 'एतस्मात् (यूपात्) वा एषो (शब्दलः) ऽपच्छिद्यते तस्यैतत् स्वमेवारुर्भवति तस्मात् स्वरुर्नाम' शब्रा० ३. ७. १. २४.

स्वग—एक लोक के अर्थ में स्वर्ग शब्द अथर्ववेद के समय से आता है : अवे०, २. ३४. ५; ११. १. २०; १८. ४. १४; ४. ३३. ८; ९. ५. १६ इत्यादि।

ब्राह्मणों में स्वर्ग :—'उपरीव सुवर्गो लोकः' तैब्रा० ३.२. १. ५; 'परो वा अस्माल्लोकात् स्वर्गो लोकः' ऐब्रा० ६. २०; 'सकृदिव हि सुवर्गो लोकः' तैब्रा०, १.६.३.६; पराङ्हीतोऽसौ (स्वर्ग-) लोकः' तांब्रा० ९. ८. ६; 'प्रतिकूलमिव हीतः स्वर्गो लोकः' तांब्रा० ६. ७. १०; 'एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः' तैब्रा० ३. १२. ५. ७; 'सहस्रसंमितो वै स्वर्गो लोकः' शब्रा० १३. १. ३. १; 'यावद् वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तावदस्माल्लोकात् स्वर्गो लोक इति तस्मादाहुः सहस्रयाजी वा इमान् लोकान् प्राप्नोति' तांब्रा० १६. ८. ६; 'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः' ऐब्रा० २. १७; 'चतुश्चत्वारिंशदाश्विनानि सरस्वत्याविनशनात् प्लक्षः प्रास्रवणस्तावदितः स्वर्गो लोकः सरस्वतीसंमितेनाध्वना स्वर्गं लोकं यन्ति' तांब्रा० २५. १०. १६; 'असंमितो ह्यसौ लोकः' तांब्रा० ९. ८. १४; 'अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः' ऐब्रा०, ६. २३; 'साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः' तांब्रा० ४. ६. २४; 'स्वर्गो लोकः सरस्वान्' तांब्रा० १६. ५. १५; 'स्तोमा वै परमाः स्वर्गा लोकाः' ऐब्रा० ४. १८; 'सोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकाः' ऐब्रा०, ४. १८; 'स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्' शब्रा० १२. ९. २. ८; 'एष (आदित्यः) स्वर्गो लोकः' तैब्रा० ३. ८. १०. ३; 'अहः स्वर्गः' १३. २. १. ६; ऐब्रा०, ५. ३४; 'स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपम्'

---

[1] द्र० मैक्समूलर, ऋग्वेद प्रातिशाख्य, २ एवं आगे, नक्षत्राज, २; ओल्डेनबर्ग, प्रोलेगोमेना, ३८० एवं आगे; सेबुई० ३०. १४६ एवं आगे; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, ५१।

[2] द्र० रॉथ का निरुक्त का संस्करण, १८५२, पृष्ठ २२२, जिसमें यास्क द्वारा उल्लिखित आचार्यों की सूची है। विशेष उल्लेखनीय व्यक्ति हैं **कौत्स** और **शाकटायन**।

तु० फान श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर एवं आगे।

ऐब्रा० ४. ४; 'स्वर्गो वै लोको नाकः' शब्रा० ६. ३. ३. १४; 'स्वर्गो हि लोको दिशः' शब्रा० ८. १. ३. ४; 'स्वर्गो वै लोकः सधस्थः' शब्रा० ९. ५. १. ४६; 'अथ यत् परं भाः (स्वर्गस्य) प्रजापतिर्वा स स्वर्गो लोकः' शब्रा० १. ९. ३. १०; 'सुवर्गो वै लोको बृहद्भाः' तैब्रा० ३. ३. ७. ९; 'असौ वै (स्वर्गो) लोको महांसि । तस्यादित्या अधिपतयः' तैब्रा० ३. ८. १८. २; 'अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिः' ऐब्रा० ३. ४२; 'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति' शब्रा० १३. ५. २. २; 'ओमिति वै स्वर्गो लोकः' ऐब्रा० ५. ३२; 'स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् । स स्वर्गलोकोऽभवत्' षब्रा० १. ५; 'स्वर्गो लोकः सामवेदः' षब्रा० १. ५; 'स्वर्गो वै लोको यज्ञायज्ञियम्' शब्रा० ९.४.४.१०; 'बृहद् वै स्वर्गो लोकः' तैब्रा० १. २. २. ४; 'बार्हतो वा असौ (स्वर्गो) लोकः' तैब्रा० १. १. ८. २; 'बृहत्यामधि स्वर्गो लोकः प्रतिष्ठितः' शब्रा० १३. ५. ४. २८, 'स्वर्गो वै लोकः स्वरसाम' कौब्रा० १२. ५; 'स्वर्गो वै लोकः षष्ठमहः' ऐब्रा० ६. २६; 'एकवृद् वै स्वर्गो लोकः' शब्रा० १३. २. १. ५; 'वाजो वै स्वर्गो लोकः' तांब्रा० १८. ७. १२; 'स्वर्गो वै लोकोऽभयम्' शब्रा० १२. ८. १. २२; 'स्वर्गो वै लोको दूरोहणम्' ऐब्रा० ४. २०. २१; 'स्वर्गस्य हैव लोकस्य रोहो यन्निवित्' ऐब्रा० ३. १९; 'स्वर्गो वै लोको रोहः' शब्रा० ७. ५. २. ३६; 'संवत्सरः सुवर्गो लोकः' तैब्रा० २. २. ३. ६; 'मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः' शब्रा० ६. ७. ४. ११; 'ता वा एताः पञ्च (इष्टयः) स्वर्गस्य लोकस्य द्वारः । अपाधा अनुवित्तयो नाम । तपः प्रथमां धृतिः श्रद्धा द्वितीयाम् । सत्यं तृतीयाम् । मनश्चतुर्थीम् । चरणं पञ्चमीम्' तैब्रा० ३. १२. ४. ७; 'एतस्यां ह (उदीच्यां प्राच्यां) दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारम्' शब्रा० ६. ६. २. ४; 'स्वर्गो वै लोको यज्ञः' कौब्रा० १४. १; 'छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' शब्रा० ६. ५. ४. ७; 'छन्दोभिर्वा देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमहरन्' तांब्रा० १२. १०. ६; 'देवा वै छन्दांस्यब्रुवन् युष्माभिः स्वर्गं लोकमगामेति' तांब्रा० ७. ४. २; 'साध्या वै नाम देवा आसंस्तेऽवच्छिद्य तृतीयसवनं माध्यंदिनेन सवनेन सह स्वर्गं लोकमायन्' तांब्रा० ८. ३. ५; 'ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि नक्षत्राणि ज्योतींषि' शब्रा० ६. ५. ४. ८; 'पृष्ठैर्वै देवाः स्वर्गं लोकमस्पृक्षन्' कौब्रा० २४. ८; 'स्वर्गो लोकः पृष्ठानि' तांब्रा० १६. १५. ६; 'एतद् वै यज्ञस्य स्वर्ग्यं यन्माध्यंदिनं सवनम्' तांब्रा० ७. ४. १; 'अवस्तात् प्रपदनो ह स्वर्गो लोकः' शब्रा० ८. ६. १. २३' 'नव स्वर्गा लोकाः' ऐब्रा० ४. १६; 'दश स्वर्गा लोकाः' गोब्रा० २. ६. २; 'दश पुरुषे स्वर्गनरकाणि तान्येनं स्वर्गं गतानि स्वर्गं गमयन्ति नरकं गतानि नरकं गमयन्ति' जैउब्रा० ४. २५. ६; 'इयं (पृथिवी) वै स्वर्गस्य लोकस्य प्रतिष्ठा' गोब्रा० २. ६. २; 'न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद' शब्रा० १३. २. ३. १; 'असमायी वै स्वर्गो लोकः कश्चिद् वै स्वर्गे लोके समेतीति' ऐब्रा० ६. २६; 'साध्या वै नाम देवेभ्यो देवाः पूर्वा आसंस्त एतत् (शत संवत्सरं) सत्रायणमुपायंस्तेनार्ध्नुवंस्ते सगवः सपुरुषाः सर्व एव सह स्वर्गं लोकमायन्' तांब्रा० २५. ८. २; 'सुवर्गो वै लोकः काष्ठा' तैब्रा० १. ३. ६. ५ ।

स्वर्जित् नाग्नजित—नग्नजित् का वंशज । शतपथ ब्राह्मण ८. १. ४. १० में एक राजकीय व्यक्ति, गंधार के राजा का यह नाम है । यज्ञ-कल्प के संबन्ध में उनके मत का उल्लेख आया है ।

तु०—म्यूर, संस्कृत टैक्स्ट्स १², ५१५ ।

स्वर्-णर—ऋग्वेद की दो ऋचाओं में स्वर्णर किसी यज्ञ-कर्ता का नाम है : ऋ० ८. ३. १२; ८. १२. २ ।[1] गेल्डनर[2] के अनुसार सभी स्थलों पर यह एक विशेष पवित्र झील और इसके आस-पास सोम को उत्पन्न करने वाले मण्डल का नाम है : ऋ० ४. २१. ३; ५. १८. ४; ५. १४. १; ८. ६. ३९; ८. ६५. २; ८. १०३. १४; ९. ७०. ६; १०. ६५. ४; संभवतः ऋ० ८. १२. २ में इसका अर्थ है, 'स्वर्णर से आने वाला'

स्वर-भानु असुर—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्वर्भानु एक असुर है, जिसे सूर्य-ग्रहण का कारण बताया गया है : ऋ० ५. ४०. ५; ६. ८. ९; तैसं०, २. १. २. २; पंविब्रा०, कौब्रा०, २४. ३; गोब्रा० २. ३. १९.

स्वर्विद्—'अयमग्निः स्वर्विद्' शब्रा० ९. २. १. ८.

स्वसर—वोबू० के अनुसार कुछ स्थलों पर यह शब्द पशुओं के गोष्ठ के अर्थ में आया है : ऋ० १. ३. ८; २. २. २; २. ३४. ८; ५. ६२. २; सा० वे०, १. ५. २. ३. २; फिर प्रायः रहने के स्थान या गृह के अर्थ में : ऋ० १. ३४. ७; ३. ६०. ६; ३. ६१. ४; ६. ६८. १०; ८. ९९. १; शब्रा०, ४. ३. ५. २०; फिर पक्षियों के घोंसले के अर्थ में : ऋ० २. १९. २; २. ३४. ५ । गेल्डनर[3] का मत है कि इसका अर्थ है पशुओं का स्वच्छन्द विचरना, विशेषतः प्रातःकाल चरने के लिये : ऋ० १. ३. ८; २. २. २; २. ३४. ८; ५. ६२. २; ८. ८८. १; पक्षियों के प्रसङ्ग में इससे वे उनके प्रातःकालीन उड्डयन

---

[1] तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ० ३. १६०; हॉपकिन्स, जअओसो०, १७. ८९ ।

[2] ऋग्वेद, ग्लासर, २०९ ।

[3] वेस्टु०, २. ११०-११५ ।

को अभिप्रेत मानते हैं : ऋ० २. १९. २; २. ३४ ५। रूपक बनकर यह प्रथम सोम-सवन और तब तीनों सवनों को उद्दिष्ट करता है : ऋ० १. ३४. ७; २. ६० ६; ६. ६८. १०; ८. ९९. १.। भाष्यकारों ने इसका अर्थ स्वयं सरण करने वाला या दिन माना है; द्र० निरुक्त ५. ४; वेंकटमाधव; ५. ४, वेंकट माधव, ऋ० १. ३. ८ पर भाष्य एवं अन्य भाष्यों से तुलना लक्ष्मण स्वरूप संपादित ऋगर्थ दीपिका में।

स्वसृ—बहन के अर्थ में ऋग्वेद-काल से ही स्वसृ शब्द का प्रयोग हो रहा है : ऋ० २. ३२. ६; ६. ५५. ४, ५; ८. १०१. १५; १०. १०८. ९ इत्यादि। भ्रातृ शब्द का भी प्रयोग रूपक आदि के अन्तर्गत अन्य पदार्थों के लिये हुआ है; उदाहरण के लिये अङ्गुलियों और ऋतुओं को स्वसा कहा गया है; रात्रि उषा की बड़ी स्वसा है, और उसके लिये वह स्थान खाली कर देती है : ऋ० १. १२४. ८[1]। पणि लोग भी **सरमा** को अपनी स्वसा बनाना चहते हैं : ऋ० १०. १०८. ९।

स्वसा का अपने भाई के साथ घनिष्ठ संबन्ध रहता था। यदि पिता मर जाता था, और यदि वह कमजोर होता था, तो भाई और भाभी के ऊपर स्वसा निर्भर होती थी, जैसा कि ऋग्वेद १०. ८५. ४६; (तु० ९. ९६. २२) में और ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३७. ५. में कहा गया है। इसके अतिरिक्त बिना भाई वाली लड़कियों का विवाह कठिन होता था; और उनके चरित्र भ्रष्ट हो जाने का डर बना रहता था : ऋवे० १. १७. १; ऋ० १. १२४. ७; ४. ५. ५; निरुक्त ३. ५; किंतु इस बात में संदेह है कि क्या इसका कारण, त्सिमर[2] के अनुसार, भाई का बहन के विवाह-प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान था, अथवा बिना भाई वाली लड़कियों का पुत्रिका के रूप में पिता द्वारा गृहीत होना था, जिससे उनकी संतति पति की न होकर पत्नी के पिता के वंश की मानी जाती थी[3]। तु० जामि।

स्वस्ति—कल्याण : ऋ० १. १. ९; १. ३५. १; २. ३२. ८; १०. ८; ४. ३१. ११; २. ३८. १; ३. ३८. ९; शब्रा०, १. ९. १. २७; ऋ० ६. २२. १०; वासं०, १३. १९ इत्यादि।

[1] द्र० डेल्ब्रुक, दी इन्दो० फेरवान्द० ४६३; ऋ० १. ६२. १०; १. ६४. १७; १. ७१. १ इत्यादि।

[2] आले०, ३२८।

[3] तु० गेल्डनर, ऋग्वेद कोमेंण्टार, २२. ४८. ४९; ऋ० ३. ३१. १।

स्वस्रीय—याजुष संहिताओं में विश्वरूप के प्राचीन वंश के वर्णन-प्रसङ्ग में स्वसा या बहन के लड़के के लिये स्वस्रीय आया है : तैसं०, २. ५. १; मैसं०, २. ४. १।

तु०-डेल्ब्रुक, दी इन्दोजर्मानिश्शे फेरवान्द० ४८५।

स्वाती—द्र० नक्षत्र।

स्वाध्याय—स्वयं पढ़ना। ब्राह्मणों में स्वाध्याय शब्द वैदिक पाठ, अध्ययन, एवं मनन के लिये आया है। सूत्रों में अध्ययन के अनेक नियमों का उल्लेख आता है : शब्रा०, ३. ४. ३. ६; ४. ६. ९. ६; ७; छाउ०, १. १२ १. १. ८. १५ का० उ०, १. १।

तु० 'स य एवंविद्वाननुशासनानि विद्यां वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्याहुतिभिरेव तद् देवांस्तर्पयति' शब्रा० ११. ५.६. ८।

तु०-ब्राह्मण।

स्वाप्यय—'एष (योऽयं दक्षिणेऽक्षन् मत्युनामा) उ एव प्राणः। एष हीमाः सर्वाः प्रजाः प्रणयति तस्यैते प्राणाः स्वाः स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा अपि यन्ति तस्मात् स्वाप्ययः स्वाप्ययो ह वै तं स्वप्न इत्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा० १०. ५. २. १४.

स्वायव—स्वायु का वंशज। पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ६. ८ में कुशाम्ब लातव्य का पैतृक नाम स्वायव है।

स्वाराज्य—तु. 'तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वाराज्यैव ते अभिषिच्यन्ते स्वराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षते' ऐब्रा० ८. १४.

द०-राज्य।

स्वाहाकार—तु० 'स प्रजापतेर्विदांचकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते' शब्रा० २. २. ४. ६; 'हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकारो हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते' शब्रा० १. ५. ४. ५; 'स्वाहा वै सत्यसंभूता ब्रह्मणो दुहिता ब्रह्मप्रकृता लातव्यसगोत्रा त्रीण्यक्षराण्येकं पदं त्रयो वर्णाः शुक्लः पद्मः सुवर्ण इति' शब्रा० ४७; गोब्रा० १. ३. १६; 'अन्तं हि स्वाहाकारः' शब्रा० ६. ६. ३. १७; 'तस्यै (वाचे) द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च' शब्रा० २. २. १. ३; 'यज्ञो वै स्वाहाकारः' शब्रा० ३. १. ३. २७; 'अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः' १. ५. ३. १३।

स्विष्ट-कृत्—तु० 'अग्निः स्विष्टकृत्' शब्रा० १. ५. ३. २३. 'रुद्रः स्विष्टकृत्' शब्रा० १३. ३. ४. ३; 'क्षत्रं वै स्विष्टकृत्' शब्रा० १२. ८. ३. १९; 'तपः स्विष्टकृत्' शब्रा० ११. २. ७. १८; 'अयमेवावाङ् प्राणः स्विष्टकृत्' शब्रा० ११. १. ६. ३०; 'प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत्' ऐब्रा० २. १०.

स्वेद—पसीने के अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में आता है : ऋ० १. ८६. ८; ५. ७. ५; ५. ५८. ७; १०. १०६. १०; तैसं० ७. २. १०. ४; कासं०, ३४. १२ इत्यादि ।

स्वेद—'तद् यदब्रवीन्महद् वै यज्ञं सुवेदमविदामह इति । तस्मात् सुवेदोऽभवत् । तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते' गोब्रा० १. १. १ ।

स्वेद-ज—पसीने से उत्पन्न । ऐतरेय उपनिषद् ३. ३. ३ में स्वेद-ज शब्द गरमी से उत्पन्न कृमि-कीटों के लिये आया है । मानव-धर्मसूत्र १. ४५ की व्याख्या के अनुसार मक्षिकाएँ, मशक, जूँ, और खटमल आदि सभी इसमें आ जाते हैं ।

तु० कीथ, ऐतरेय आरण्यक, २३५ ।

स्वैदायन—स्वेद का वंशज । ब्राह्मणों में एक शौनक का पैतृक नाम स्वैदायन है : शब्रा०, ११. ४. १. २, ३; गोब्रा०, १. ३. ६ ।

स्वौपश—द्र० औपश ।

ह

हंस—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में हंस का उल्लेख आया है : ऋ० १. ६५. ५; १. १६३. १०; २. ३४. ५; ३. ८. ९ इत्यादि; अवे०, ६. १२. १ इत्यादि । हंस को नील-पृष्ठ कहा गया है : ऋ० ७. ५९. ७; उनके उड़ने की विशेषता का भी उल्लेख आता है : ऋ० ३. ८. ९; वे जल पर तैरते हैं : ऋ० १, ६५. ५; ३. ४५. ४; वे उच्च स्वर करते हैं : ऋ० ३. ५३. १०; वे रात्रि में जागते भी हैं : अवे० ६. १२. १ । याजुष संहिताओं में आता है कि हंस सोम को अलग कर देता है, जैसे परवर्ती साहित्य में वह नीर और क्षीर को विविक्त कर देता है : कासं०, ३८. १; मैसं०, ३. ११. ६; वासं०, १९. ७४; तैब्रा०, २. ६. २. १ । यजुर्वेद में अश्वमेध की बलियों की सूची में भी हंस का उल्लेख है : तैसं, ५. ५. २१. १; मैसं०, ३. १४. ३; वासं०, २४. २२; २४. ३५ ।

तु०—त्सिमर, आ०ले० ८९, ९०; लानमान, ज०अ० ओ०सो०, १९. १५१; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५० ।

हंस-साचि—तैत्तिरीय संहिता ५. ५. २०. १ में अश्वमेध की बलियों की सूची में एक पक्षि-विशेष का नाम हंस-साचि है ।

तु०—त्सिमर, आले० ९३ ।

हनु—ठोढ़ी : ऋ० १. ५२. ६; ४. १८. ९; १. १६८. ५; ५. ३६. २; ८. ४९. १३; १०. ७९. १; १०. १५२. ३; अवे०, ६. ५६. ३; १०. ९. १३; २. ७. ८; ऐब्रा०, ७. ११ इत्यादि ।

हन्त—'हन्तेति चन्द्रमा ओमित्यादित्यः' जैउब्रा०, ३. ६. २ ।

हन्मन्—हन्मन् शब्द ऋग्वेद में हनन-साधन के अर्थ में आया है : ऋ० १. ३३. ११; ७. ५९. ८; ७. ९४. १२; १०. ४८. ६; १०. ११३, ८ इत्यादि ।

हय—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में अश्व के अर्थ में आया है : ऋ० ५. ४६. १; ७. ७४. ४; ९. १०७. २५; वासं०, ७. ४७; २२. १९ इत्यादि ।

तु०—त्सिमर, आ०ले०, २३१ ।

हर-याण—ऋग्वेद (८. २८. २२, निरुक्त, ५. १५,) में एक व्यक्ति का नाम है, जिसका उल्लेख **उक्षण्यायन** और **सुषामन्** के साथ है ।

तु०—लुड्विग्, ट्रां०ऋ० ६२ ।

हरि—'प्राणो वै हरिः । स हि हरति' कौब्रा० १७. १; 'एष वै वृषा हरिर्य एष तपति' शब्रा० १४. ३. १. २६; 'युक्ता ह्यस्य (इन्द्रस्य) हरयः शता दशेति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः, तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति तद् यदेतैरिदं सर्वं हरति तस्माद् धरयः (रश्मयः)' जैउब्रा० १. ४४. ५.

हरिण—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में हरिण शब्द आया है : ऋ० १. १६३. १; ५. ७८. २; अवे०, ६. ६७. ३ इत्यादि । इसे आशुगामी कहा है : अवे०, ३. ७. १; यह बहुत भीरु होता है : अवे० ६. ६७. ३; इसके सींगों से गहने बनाये जाते थ : अवे० ३., ७. १. २; इसे यव खाने का शौकीन बताया गया है : तैसं०, ७. ४. १९. २. **हरिणी** : वासं०, २३. ३०; मैसं०, ३. १३. १; कासं०, ४. ८; तैब्रा०, ३. ९. ७. २ । मैत्रायणी संहिता ३. ९. ३ में इसके स्वजों के मारने का उल्लेख है ।

तु०—कुलंग, न्यङ्कु । स्त्रीलिङ्ग में हरिणी रूप है : तैसं०, ७. ४. १९. २.

तु०—त्सिमर, आ०, ले०, ८३; ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, ३३६, ३३७ ।

हरिणी—'हरिणी द्यौः' गोब्रा० २. २. ७; 'दिवो रूपं हरिण्यः' तैब्रा० ३. ९. ६. ५; 'विड् वै हरिणी' तैब्रा०, ३. ९. ७. २.

१. हरित—संहिताओं में हरित शब्द स्वर्ण के लिये भी आया है : अवे०, ५. २८. ५. ९; ११. ३. ८; कासं०, ८. ५.

२. हरित कश्यप—बृहदारण्यक उपनिषद् में आचार्यों की अन्तिम वंश-सूची (६. ४. ३३ माध्यंदिन= ६. ५. ३ काण्व) में शिल्प कश्यप के शिष्य एक आचार्य का नाम हरित कश्यप है।

हरि-द्रु—शतपथ ब्राह्मण १३. ८. १. १६ में हरिद्रु एक वृक्ष का नाम है; इसे देवदारु कह सकते हैं= Pinus deodara।

हरिमन्—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में हरिमन् शब्द कमलबाय के पीलेपन का बोधक है : ऋ० १. ५०. ११ एवं अग्रिम; अवे०, १. २२. १; ९. ८. ९; १९. ४४. २।

तु०–त्सिमर, आ०ले०, ३७८, ३८८।

हरि-यूपीया—हरि-यूपीया शब्द का प्रयोग ऋग्वेद ६. २७. ५ में अभ्यावर्तिन चायमान द्वारा वृचीवन्तों के पराजित करने के प्रसङ्ग में आया है। यह या तो किसी स्थान का नाम है, या किसी नदी का नाम है। सायण के अनुसार लुडविग[1] ने यव्यावती नदी के तट पर इसे एक स्थान माना है। हिल्लेब्रांड्ट[2] का कहना है कि यह हर-याब (हलियाब) नदी है, जो क्रुमु (कुरुम) की सहायक है; किंतु यह मत चिंत्य है।

हरि-वर्ण आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पंचविंश ब्राह्मण ८. ९. ४, ५ में यह एक साम-द्रष्टा ऋषि का नाम है।

तु०–हॉपकिन्स, ट्रांजेक्शन्स; १५. ६३।

हरिश्चन्द्र वैधस—वेधस् का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १४. २ और शांखायन श्रौतसूत्र १५. १७ में रोहित के पिता हरिश्चन्द्र का नाम आया है। वहां पुनःशेप के वरुण को प्रदान करने का जिक्र है। हरिश्चन्द्र वैधस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार बाध्य थे कि वे अपने पुत्र रोहित को बलि के रूप में वरुण को भेंट कर दें।

हरि-श्री—'पशवो वै हरिश्रियः' तांब्रा० १५. ३. १०।

हर्म्य—ऋग्वेद ७. ५६. १६, तु०–१०. १०६. ५ में हर्म्य शब्द गृह को जताता है। इसके चहुँओर घेरा होता था : ऋ० ७. ५५. ६ (तु०–ऋ० ७. ५६. १६ में 'हर्म्येष्ठा' शब्द[1])। इसका अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है : ऋ० १. १२१. १; १. १६६. ४; ९. ७१. ४; ९. ७८. ३; १०. ४३. ३; १०. ७३. १०; अवे०, १८. ४. ५५; तैब्रा०, ३. ७. ३[2]।

¹ ट्रां०ऋ०, ३. १५८।
² वैमि० ३. २६८ टि०–१।

हलिक्ष्ण[3] या हलीक्ष्ण[4]—मैत्रायणी संहिता ३. १४. १२ और वाजसनेयि संहिता २४. ३१ में अश्वमेध की बलियों की सूची में हलिक्ष्ण या हलीक्ष्ण शब्द आया है। महीधर ने इसे सिंह माना है, किंतु सायण ने तैत्तिरीय संहिता ५. ५. १२, १; ५. ७. २३. १ के भाष्य में इसे चटक पक्षी के समान कोई पक्षी या एक प्रकार का सिंह (तृणसिंह) माना है। अथर्ववेद २. ३३. ३ में हलीक्ष्ण किसी विशेष आंत को जताता है, किंतु वेबर के अनुसार यह पित्ताधार है।

हविर्धान—हविर्द्रव्य का स्थान। इसका प्रारम्भिक अर्थ है वह गाड़ी जिस पर सोम को पेरने के लिये ले जाया जाता था; बाद में जिस दालान में उस गाड़ी को रखा जाता था उसका नाम हविर्धान पड़ गया : तैसं०, ३. १. ३. १; ६. २. ९. १ इत्यादि; तैसं०, ६. २. ११. १, ४ इत्यादि।

तु० 'अथ यदस्मिन् सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम' शब्रा० ३. ५. ३. ३; 'द्यावा-पृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम्' ऐब्रा० १. २९।

तु०–गृह; त्सिमर, आ०ले०, १५४।

हविर्यज्ञ—'अग्न्याध्येयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमः। इत्येते हविर्यज्ञाः' गोब्रा० १. ५. २३।

हविष्कृत आङ्गिरस—अङ्गिरस् का वंशज। पञ्च-विंश ब्राह्मण ११. १०. ९, १० के अनुसार एक ऋषि का नाम है। तैत्तिरीय संहिता ७. १. ४. १ में भी यह नाम आता है।

तु०–हविष्मन्त् आङ्गिरस।

हविष्पंक्ति—'धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पय-स्येत्येष यज्ञो हविष्पङ्क्तिः' ऐब्रा० २.२४. 'अथ वै हविष्पं-क्तिः प्राण एव' कौब्रा० १३. २; 'पशवो वै हविष्पंक्तिः' कौब्रा० १३. २।

¹ जिसका अर्थ गेल्डनर, वैस्टू०, २. २७८ टि २ के अनुसार है 'महल की छत पर स्थित राजकुमार या राजा'।
² तु०–त्सिमर, आ०ले०, ७९।
³ मैसं०, ३. १४. १२; वासं०, २४. ३१।
⁴ तु०–त्सिमर, आ०ले०, ७९।

हविष्मन्त आङ्गिरस—तैत्तिरीय संहिता ८. १. ४. १ और पञ्चविंश ब्राह्मण ११. १०. ९, १०; २०. ११. ३ में एक साम के द्रष्टा ऋषि का यह नाम है।

हविस्—देवताओं को दिये जाने वाले यज्ञिय पदार्थ को हविष् कहते हैं: ऋ० १. २४. ११; १. २६. ६; १. १. १७०. ५; अवे०, ३. १०. ५; ६. ५. ३ इत्यादि।

१. हस्त—द्रष्टव्य नक्षत्र।

२. हस्त—द्र० शरीर।

हस्त-घ्न—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बाण फेंकते समय सुरक्षा के लिए हाथ में पहने जाने वाले दस्ताने को हस्त-घ्न कहते हैं: ऋ० ६. ७५. १४; मैसं०, ३. १६. ३; वासं०, २९. ५१। यह शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कठिन है।[1] लाट्यायन श्रौतसूत्र ३. १०. ७ में 'हस्तत्र' और आर्षकाव्य में हस्तावाप शब्द इसके स्थान में आते हैं।[2]

हस्तादान—द्रष्टव्य-पशु।

हस्तिन् (मृग)—हाथ वाला जानवर। हाथी के अर्थ में ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'हस्तिन् मृग' शब्द का प्रयोग आया है: ऋ० १. ६४. ७; ४. १६. ४; अवे०, १२. १. २५; ३. २२. ३; ४. ३६. ९; ६. ३५. २; ६. ७०. २; १९. १. ३२। परवर्ती साहित्य में केवल हस्ती शब्द आया है: तैसं०, ५. ५. ११. १; मैसं०, ३. १४. ८; वासं०, २४. २९; पंविब्रा०, ६. ८. ८; २३. १३. २; ऐब्रा०, ४. १. १४; ५. ३१. २; ६. २७. २; शब्रा० ३. १. ३. ४; छाउ०, ७. २४. २; जैउब्रा०, ३. २२. १। यह अपनी शक्ति और पौरुष के लिए प्रसिद्ध है: ऋ०, १. ६४. ७; ४. १६. ४; अवे०, १. २२. १. ३; ३. २२. ६; ६. ७०. २। मुख से चीजें पकड़ने वाले (= मुखादान) पशुओं के विपरीत इसे मनुष्य और बन्दर के समान हाथ से चीजें पकड़ने वाला (= हस्तादान) बताया गया है: तैसं०, ६. ४. ५. ७; मैसं०, ४. ५. ७। यह पालतू होता था; द्र०—हस्ति-प। पालतू हाथी की सहायता से अन्य हाथियों को पकड़ा जाता था; द्र०—वारण। युद्ध में इसके उपयोग का उल्लेख नहीं मिलता। नैसियस और मेगास्थनीज के समय में इसका उपयोग युद्ध में होता था।[3] अथर्ववेद में मच्छरों से उसके पीड़ित होने का उल्लेख आता है: अवे०, ४. ३६. ९।

[1] द्र०—पिशल, वैस्टू०, १. २९६; ओल्डेनबर्ग, ऋ० नोटन, १. ४१६।

[2] द्र०—हॉपकिन्स, ज०अ०ओ०सो०, १३. ३०८।

[3] द्र०—फॉन श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, ४३४।

तु०—त्सिमर, आ० लै०, ८०।

२. हस्तिन्—'(देवा आदित्याः) तं (मार्तण्डं) विचक्रुर्यथायं पुरुषो विकृतस्तस्य यानि मांसानि संकृत्य संन्यासुस्ततो हस्ती समभवत् तस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रतिगृह्णीयात् पुरुषाजानो हि हस्तीति' शब्रा० ३. १. ३. ४।

हस्ति-प—हाथी पालने वाला। याजुष संहिताओं में पुरुषमेध की बलियों की सूची में हस्ति-प का उल्लेख आया है: वासं०, ३०. ११; तैसं०, ३. ४. ९. १।

हस्रा—हँसने वाली स्त्री। पिशल[1] के अनुसार ऋग्वेद १. १२४. ७ में यह वेश्या के लिये आया है।

हायन—हायन शब्द वर्ष के अर्थ में समास में आया है: अ० वे०, ८. २. २१; शत-हायन, 'सौ वर्ष पुराना,' ८. २. ८; ८. ७. २२; हायनी: १२. १. ३६। कासं०, १५. ५ और श० ब्रा०, ५. ३. ३. ६ में यह शब्द लाल चावल की एक विशेष जाति का बोधक है। तै० सं०, १. ८. १०. १ में इसके स्थान में महा व्रीहि शब्द आया है। "प्रतिवर्ष आने वाला" या "एक वर्ष तक चलने वाला" इस अर्थ में ज्वर का विशेषण भी है: अवे०, १९. ३९. १०।

तु०—श्रोडर, प्रिहिस्टोरिक ऐंटीक्विटीज़, ३०१।

हारायण—सामविशेष। 'इन्द्रस्तेजस्कामो हरस्कामस्तपोऽतप्यत स एतद्धारायणमपश्यत् तेन तेजो हरोऽवारुन्ध तेजस्वी हरस्वी भवति हारायणेन तुष्टुवानः' तांब्रा० १४. ९. ३४।

हारिकर्णी-पुत्र—हरिकर्ण-वंशीया का पुत्र। माध्यंदिन शाखीय बृ० उ०, ६. ४. ३ में भारद्वाजीपुत्र के शिष्य एक आचार्य का यह नाम है।

हारिद्रव—ऋग्वेद १. ५०. १२; ८. ३५. ७ में किसी पीले पक्षी का नाम है।[2] गेल्डनर ने इसकी खरद्रि (ओस) से तुलना की है। सायण ने इसे एक पौधा माना है: ऋ० १. ५०. १२; और तैब्रा०, ३. ७. ६. २[3],; किंतु अन्यत्र (अवे०, १. १२. ४) उन्हों ने इसे 'गोपीतनक' पक्षी माना है।

हारिद्रविक—निरुक्त ९. ५ में हारिद्रविन्-निर्मित ग्रन्थ का नाम हारिद्रविक आया है। द्र०—रॉथ, निरुक्त, २३; फॉन श्रोडर, मैसं०, १. १३।

हारिद्रुमत—हरिद्रुमन्त् का वंशज। छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४. ३ में गौतम का यह पैतृक नाम है।

[1] वैस्टू०, १. १९६, ३०८।

[2] गेल्डनर, ऋ० ग्लासर, २१३।

[3] तु०—त्सिमर, आ० लै०, ६२।

तु०—ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अवे०, १६४ टि० १; २६६; ह्विटनी, ट्रां० अवे०, २३।

हारिवर्ण—ब्रह्मसाम। 'हरिवर्णो वा एतत् पशुकामः सोपहारं सहस्रं पशूनसृजत् यदेतत् साम भवति पशूनां पुष्ट्यै' तांब्रा० ८. ९. ४।

हारीत कृष्ण या कृत्स्न—ऐतरेय आरण्यक ३. २. ६ में एक आचार्य का नाम हारीत कृष्ण है। शांखायन आरण्यक ८. १० में **हारीत कृत्स्न** यह रूप है। तु०—**कृष्ण हारीत**।

हालिंगव—**हलिंगु** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १०. ४. ५. १ में यह एक आचार्य का नाम है।

हाविष्कृत—सामविशेष। द्र०—तांब्रा० १५. ५. १७।

हाविष्मत—सामविशेष। 'हविष्मांश्च वै हविष्कृताङ्गिरसावास्तां द्वितीयेऽहनि हविष्मानराघ्नोत् नवमेऽहनि हविष्कृत्' तांब्रा० ११. १०. ९।

हिंकार—'वज्रो वै हिंकारः' कौब्रा० ३. २; 'शुक्लमेव हिंकारः' जैउब्रा०, १. ३४. १; 'वायुरेव हिंकारः' जैउब्रा० १. ३६. ९; =प्राणः, शब्रा० ४. २. २. ११; =प्रजापतिः, तांब्रा० ६. ८. ५; =लोमन्, जैउब्रा० १. ३६. ६; =चन्द्रमाः, जैउब्रा० १. ३. ४; =अनुदितः आदित्यः, जैउब्रा० १. १२. ४; =अहोरात्राणि, षब्रा० ३. १; =वसन्तः, शब्रा० ३. १; =वृषा, गोब्रा० १. ३. २३; =त्रयी विद्या, जैउब्रा० १. १९. २; =साम्नां रसः, तांब्रा० ६. ८. ७; 'न वा अहिंकृत्य साम गीयते' शब्रा० १. ४. १. १; 'श्रीर्वै साम्नो हिंकारः' जैउब्रा० १. ४. ६।

हिता—ब्राह्मणों में किन्हीं नाड़ियों का नाम हिता है: बृउ०, २. १. २१; ४. २. ४; ४. ३. २०; कौउ०, ४. १९। द्रष्टव्य **हिरा**।

हिम—ठंडक और ठंड मौसम के अर्थ में ऋग्वेद एवं परवर्ती काल में हिम शब्द का प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२. ७. २ में बर्फ के अर्थ में पुंलिङ्ग में यह शब्द आता है; इसी अर्थ में बाद में नपुंसक लिङ्ग में भी इसका प्रयोग मिलता है: ऋ० १. ११६. ८; १. ११९. ६; ८. ३२. २६ इत्यादि; अवे०, ७, १८. २; १३. १. ४६; १९. ४९. ५ में रात्रि को हिम की माता बताया गया है; षविब्रा०, ६. ९ इत्यादि। तु०—**हेमन्त**।

हिमवन्त्—बर्फ वाला। अथर्ववेद १२. १. ११ में यह पर्वतों का विशेषण है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द संज्ञा के रूप में भी आता है: ऋ० १०. १२१. ४; अवे०, ६. ९५. ३; ४. ९. ९, ५. ४. २, ८; ५. २५. ७; ६. २४. १ यहां हिमालय की नदियों का भी जिक्र है, १९. ३९. १; वासं०, २४. ३०; २५. १२; ऐब्रा०, ८. १४. ३ यहां **उत्तर कुरुओं** और **उत्तर मद्रों** के इसके सामने निवास करने का उल्लेख आता है: संभवतः **कश्मीर** में; इन सभी स्थलों पर हिमवन्त् शब्द **हिमालय** पर्वत को उद्दिष्ट करता है, किंतु साथ ही उस पर्वत-श्रेणी के अतिरिक्त अन्य पर्वतों को भी यह जताता है, जैसे **सुलेमान पर्वत** को।

द्र०—लुड्विग, ट्रां०ऋ०, ३. १९८; द्रष्टव्य **मूजवन्त्** और **त्रिककुभ्**।

विवरण: त्सिमर, आ०ले०, २९; वेबर, इस्टू० १८. १२ इन्होंने काकेसस की भी स्मृति मानी है।

हिमा—जाड़ा। शत के साथ समस्त पद में यह ऋग्वेद में एवं अन्यत्र सौ वर्ष का बोधक है: ऋ० १. ६४. १४; २. ३३. २; ५. ५४. १५; ६. ४८. ८; अवे०, २. २८. ४; १२. २. ३८; तैसं०, १. ६. ६. ३; वासं०, २. २७।

हिरणिन्—स्वर्ण में धनी। ऋग्वेद ५. ५३. ८ में यह **त्रसदस्यु** की उपाधि है। इससे राजा की स्वर्ण-संपत्ति की ओर संकेत मिलता है। लुड्विग का कहना है कि यह शब्द व्यक्ति-वाचक है, संभवतः **त्रसदस्यु** के पुत्र का।

द्र०—ट्रां० ऋ०, ३. १५५।

हिरणिन—ऋग्वेद ६. ६३. ९ में हिरणिन शब्द आता है, जहां लुड्विग ने इसे शाण्ड का नाम माना है; किंतु 'स्वर्णिम' इस अर्थ में यह विशेषण भी हो सकता है।

द्र०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १५८।

हिरण्य—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्वर्ण के अर्थ में हिरण्य शब्द आम है: ऋ० १. ४३. ५; ३. ३४. ९; ४. १०. ६; ४. १७. ११ इत्यादि; अवे०, १. ९. २; २. ३६. ७; ५. २८. ६; ६. ३८. २ इत्यादि। वैदिक भारतीयों ने हिरण्य को कितना मूल्यवान् माना था, इसका आंकना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि सोना नदियों की घाटियों से प्राप्त किया जाता था। इसी लिए **सिन्धु** नदी को स्वर्णिम और 'स्वर्णिम धारा से युक्त' कहा गया है: ऋ० १०. ७५. ८; ६. ६१. ७; ८. २६. १८। निश्चय ही भूमि को खोद कर निकाले जाने वाले हिरण्य का भी उस समय ज्ञान था: ऋ० ६. ६१. ७; ८. २६. १८। स्वर्ण को उजलाने के भी उल्लेख मिलते हैं: तैसं०, ६. १. ७. १; शब्रा०, २. १. १. ५।

वैदिक स्तोता को स्वर्ण प्राप्त करने की अभिलाषा बनी रहती थी: ऋ० ६. ४७. २३; ७. ७८. ९।[1] गौओं और घोड़ों के साथ इनके आश्रयदाता स्वर्ण की निधि भी प्रदान करते थे; (तु०—**हिरण्य-स्तूप**, एक व्यक्ति का नाम) स्वर्ण

[1] पिशल और गेल्डनर, वैस्टू०, १. २४।

का उपयोग आभूषण के रूप में होता था। गले और वक्षःस्थल के लिए निष्क उससे बनता था; कानों के लिये कर्ण-शोभन बनता था; और स्वर्ण के प्याले भी बनते थे: तैसं०, ५. ७. १. ३; तैब्रा०, १. ३. ३. ७; शब्रा०, ५. १. २. १९; ५. १. ५. २८। स्वर्ण का देवों के साथ अटूट साहचर्य बताया गया है; उनके सभी पदार्थों को स्वर्णिम कहा गया है: सूर्य के अश्व हिरण्य-त्वच् हैं: अवे०, १३. २. ८ और इसी प्रकार आगे।

बहुवचन में हिरण्य शब्द का अर्थ स्वर्णाभूषण हैं: ऋ० १. १२२. २; १. १६२. १६; २. ३३. ९; ५. ६०. ४; अवे०, ४. १०. ६; वासं०, १५. ५०; २०. ३७; अवे०, १. ३५. १; १८. ४. ५६ में एकवचन में भी स्वर्ण का अर्थ अलंकार है।

स्वर्ण विनिमय का आधार बन चुका था; जहाँ स्वर्ण के निश्चित माप वाले पदार्थों का उल्लेख मिलता है, वहाँ इस कथन को ठीक माना जा सकता है। अष्टाप्रुड और स्वर्ण के शतमान का उल्लेख संहिताओं में मिलता है (अष्टाप्रुड: तैसं०, ३. ४. १. ४; कासं०, ११. १; १३. १०; फॉन श्रोडर, त्सादामौगे०, ४९. १६४; शतमान: शब्रा०, ५. ५. ५. १६; १२. ७. २. १३; १२. ९. १. ४; तु०—१३. १. १. ४; १३. २. ३. २; १३. ४. १. १३, १३. २. ७. १३; १४. ३. १. ३२; तैसं०, २. ३. ११. ५; कासं०, ८. ५, २२. ८)[१]। कुछ अन्य स्थलों पर भी हिरण्य या 'हिरण्यानि' का अर्थ स्वर्ण के खण्ड हो सकते हैं: तैब्रा०, १. ४. ७. ४; ३. १. २. २; शब्रा०, १२. ७. १. ७; १३ ४. १. ६ इत्यादि।

स्वर्ण को कभी-कभी 'हरित' या पीला कहा गया है: कासं०, १०. ४; शब्रा०, १२. ४. ४. ६; षड्विंश ब्राह्मण, २. ९; किंतु कहीं-कहीं उसे 'रजत' या सफेद भी कहा गया है, संभवतः इन स्थलों पर चांदी यह अर्थ अभीष्ट रहा हो: तैसं०, १. ५. १. २; शब्रा०, १२. ४. ४. ७; १३. ४. २. १० इत्यादि। खान से निकली हुई अशुद्ध धातु को गला कर इसे प्राप्त किया जाता था: शब्रा०, ६. १. ३. ५; तु०—२. २. ३. २८; १२. ४. ३. १; पंविब्रा०, १७. ६. ४ निस्+तप् अर्थात् 'तपाना' का उल्लेख है; जैब्रा०, १. १०; लाश्रौसूत्र, ३. १. ९ इत्यादि; जैउब्रा०, ३. ३४. ६। मेगास्थनीज ने अपने समय में भारत को स्वर्ण में धनी बताया है।

ब्राह्मणों में हिरण्य—'तद् यदस्य (प्रजापतेः) एतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धिरम्यं हिरम्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्' शब्रा०, ७. ४. १. १६; 'अग्निर्ह वा अपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति तां संबभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत् तद्धिरण्यमभवत् तस्मादेतदग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतस्तस्मादप्सु विन्दन्त्यप्सु हि प्रासिञ्चत्' शब्रा०, २. १. १. ५; 'आग्नेयं वै हिरण्यम्' तैब्रा०, २. २. ५. २; 'तस्य अग्नेः रेतः परापतत्। तद्धिरण्यमभवत्' तैब्रा० १. १. ३. ८; 'अग्नेर्वा एतद्रुतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै' शब्रा०, १४. १. ३. २९; 'समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम्' शब्रा० ३. २. ४. ८; अश्वस्य वा आलब्धस्य रेत उदक्रामत्। तत्सुवर्णं हिरण्य मभवत्' तैब्रा० ३. ८. २. ४; 'रेतो हिरण्यम्' तैब्रा० ३. ८. २. ४; 'अयसो हिरण्यमसृजत तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यशंकाशमिवैव भवति' शब्रा० ६. १. ३. ५; 'क्षत्रस्यैतद् रूपं यद्धिरण्यम्' शब्रा० १. ३. २. २. १७; 'आयुर्हिरण्यम्' शब्रा० ४. ३. ४. २४; 'यद्धिरण्यं ददाति आयुस्तेन वर्षीयः कुरुते' गोब्रा० २. ३. १९; 'अमृतं हिरण्यम्' तैब्रा० १. ७. ६. ३;=प्राणः, शब्रा० ७. ५. २. ८; 'सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुदक्रामत् तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्' तैब्रा० १. ४. ७. ४-५; 'वरुणस्य वाभिषिच्यमानस्याप इन्द्रियं वीर्यं निरघ्नन्। तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्' तैब्रा० ८. १. ९. १;=वर्चः, तैब्रा० १. ८. ९. १;=तेजः, तैब्रा० १. ८. ९. १; 'चन्द्रं हिरण्यम्' तैब्रा० १. ७. ६. ३; 'शुक्रं हिरण्यम्' तैब्रा० १. ७. ६. ३;=ज्योतिः, शब्रा० ४. ३. १. २१;=यशः, ऐब्रा० ७. १८;=सत्यम्, गोब्रा०, २. ३. ७; 'देवानां वा एतद् रूपं यद्धिरण्यम्' शब्रा० १२. ८. १. १५; 'पवित्रं वै हिरण्यम्' तैब्रा०. १. ७. २. ६।

हिरण्य-कशिपु—ब्राह्मणों में हिरण्य-कशिपु शब्द स्वर्णिम आसन के अर्थ में आया है। संभवतः सुनहले तारों से कढ़े वस्त्र से आच्छादित आसन अभिप्रेत हो: तैब्रा०, ३.९.२०१. ऐब्रा०, ७.१८.१२; तु० अवे०, ५.७.१० में विशेषण के रूप में प्रयोग; अर्थ है 'स्वर्णिम वस्त्र वाला'।

हिरण्य-कार—याजुष संहिताओं में पुरुषमेध की बलियों की सूची में हिरण्यकार या स्वर्णकार का उल्लेख मिलता है: वासं०, ३०. १७; तैब्रा०, ३. ४. १४. १।

[१] वेबर, इंदिश्शे स्त्राइफन, १. १०१; गेल्डनर, वैस्तू०, १. २. २६८; इनका मत है कि 'सहस्रम्' आदि का उल्लेख जहां मिलता है वहां स्वर्ण के मानकों से तात्पर्य है: जैसे ऋ० ८. १. १३; ८. ६५. १२; १०. ९५. ३ इत्यादि।

[२] द्र०—डिओडोरस सिल्कस, २. ३६; स्ट्रैबो, पृष्ठ ७०३, ७११

तु०—त्सिमर, आ० ले०, ४९-५१; मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, १५१।

हिरण्य-दन्त् वैद—स्वर्णिम दन्त वाला, वेद का वंशज। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ६. ३ में और ऐतरेय आरण्यक २. १. ५ में एक आचार्य का नाम हिरण्य-दन्त् वैद है। कुछ पाण्डुलिपियों में 'बैद' पाठ है। इस नाम से अनुमान होता है कि दातों को गिरने से रोकने के लिये स्वर्ण का उपयोग किया जाता था। द्रष्टव्य **दन्त्**।

हिरण्य-नाभ—यह नाम किसी **कौसल्य** या **कोसल** के राजा का है, जिनके अश्वमेध का वर्णन शांखायन श्रौत-सूत्र १६. ९. १३ में आता है। प्रश्नोपनिषद् ६. १ में भी इनका जिक्र है; इन्हें **पर आट्णार** से अभिन्न माना जा सकता है। तु०—**हैरण्य-नाभ**।

हिरण्य-स्तूप—ऋग्वेद १०. १४९. ५ और शतपथ ब्राह्मण १. ६४. २ में यह एक व्यक्ति का नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण ३. २४. ११ में उन्हें **आङ्गिरस** कहा गया है, जिससे उन्हें ऋग्वेद १. ३२ के ऋषि होने का सौभाग्य मिला था। अनुक्रमणी में उनके अन्य सूक्त भी बताये गये हैं: ऋ० २. ३१-३५; ९. ४, ६९।

तु०—लुड्विग, ट्रां० ऋ०, ३. १०४, १४१।

हिरण्य-हस्त—ऋग्वेद में **वध्रिमती** (नपुंसक की पत्नी) नामक स्त्री को **अश्विनों** द्वारा प्रदत्त पुत्र का नाम हिरण्य-हस्त है: ऋ० १. ११६. १३; १. ११७. २४; ६. ६२. ७; १०. ३९. ७; ऋ० १. ६५. १२ में **श्याव** इस नाम से अभिहित प्रतीत होते हैं।

तु०—मैकडानल, वैमा०, पृष्ठ ५२।

हिरा—अथर्ववेद में हिता की भांति यह भी नाड़ी के लिये आता है: अवे०, १. १७. १; ७. ३५. २; वासं०, २५. ८।

तु०—वेबर, ओमिना उण्ड पोर्टेंटा, ३४६।

हुतादः—'एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः' ऐब्रा०, ७. १९।

हृत्स्वासय आल्लकेय—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०. २ में **सोमशुष्म सात्ययज्ञि प्राचीनयोग्य** के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख आया है।

हृदय—द्र०—**शरीर**।

हृदय—'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरं-मभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षर द दत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येक मक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद' शब्रा० १४. ८. ४. १; 'गुहेव हृदयम्' शब्रा० ११. २. ६. ५; 'मूर्धा हृदये (श्रितः)' तैब्रा०, ३. १०. ८. ९; 'आत्मा वै मनो हृदयम्' शब्रा० ३. ८. ३. ८; 'कस्मिन्नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति' शब्रा० १४. ६. ९. २५; 'मनो हृदये (श्रितम्)' तैब्रा० ३. १०. ८. ६; 'रेतो हृदये (श्रितम्)' तैब्रा० ३. १०. ८. ७; 'श्रोत्रं हृदये श्रितम्' तैब्रा० ३. १०. ८. ६; 'वाग् हृदये (श्रिता)' तैब्रा० ३. १०. ८. ४; 'शरीरं हृदये (श्रितम्)' तैब्रा० ३. १०. ८. ७; 'एष प्रजापतिर्यद् धृदयम्' शब्रा०, १४. ८. ४. १; 'पुत्रो हि हृदयम्' तैब्रा०, २. २. ७. ४; 'असौ वा आदित्यो हृदयम्' शब्रा० ९. १. २. ४०; 'प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः प्राणः संचरति' शब्रा० ३. ८. ३. १५; 'हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनो जवः प्रविष्टः' शब्रा० ३. ३. ४. ७।

हृदयामय—हृदय का रोग। अथर्ववेद में **यक्ष्म** और **बलास** के साथ इसका उल्लेख मिलता है: अवे०, ५. ३०. ९; ६. १४. १; ६. १२७. ३। त्सिमर ने बलास को क्षय रोग माना है।[१] जैसे विलास को क्षय रोग का कारण परवर्ती चिकित्सा-संहिताओं में माना गया है;[२] वैसे ही लक्षणों का इसमें भी संनिवेश होने से त्सिमर ने इसे क्षय रोग से अभिन्न माना है।

हृद्-द्योत और हृद्रोग—हृद्-द्योत। ऋग्वेद १. ५०. ११ में हृद्रोग और अथर्ववेद १. ३२. १ (तु० ६. २४. १) में हृद्योत शब्द आये हैं। त्सिमर[३] ने हृद्योत को हृदयामय (=विलासजन्य रोग) से मिलाया है। किंतु ऋग्वेद में यह भाव नहीं है। परवर्ती चिकित्सा-संहिताओं में यह शब्द हृदय की धड़कन बढ़ जाने के अर्थ में आता है।[४]

हेल—ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में क्रोध के अर्थ में हेल शब्द आया है: ऋ० १. २४. १४; ७. ६२. ४; अवे०, १२. ४. २० इत्यादि।

हेति—हेति शब्द अस्त्र या वज्र के अर्थ में आया है: ऋ० १. १०३. ३; १. १२१. १०; ३. ३०. १७; ६. ६२. ९; १०. ८७. १९; अवे०, ६. ५९. ३; शब्रा०, १२. ७. ३. २० इत्यादि।

हेमन्—परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में सप्तमी एकवचन में यह शब्द हेमन्त ऋतु का बोधक है: तैसं०, २. ६. १. १; कासं०, ३६. ६; तैब्रा०, १. ४. १०. १०; शब्रा०, १. ५. ४. ५; ११. २. ७. ३२।

---

१ द्र०—आ०ले०, ३८९।

२ द्र०—वाइज, हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, ३२१, ३२२।

३ आ०ले०, ३८८।

४ द्र०—वाइज, हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, ३२१।

हेमन्त—एक ऋतु के अर्थ में यह शब्द एक बार ऋग्वेद में और अनेकशः परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में आया है : ऋ० १०. १६१. ४; अवे०, ६. ५५. २; ८. २. २२; १२. १. ३६; तैसं०, ५. ७. २, ४; वासं०, १३. ५८; पंविंब्रा०, २१. १५. २; तैब्रा०, १. ४. १०. १०; शब्रा०, १०. ४. ५. २ इत्यादि। त्सिमर[१] के अनुसार ऋग्वेद में भिन्न-भिन्न जलवायु वाले प्रदेशों का उल्लेख है। उनका कहना है कि जिन सूक्तों (ऋ० ७. १०३; १०. ९०) में हेमन्त का जिक्र न होकर वर्षा पर बल दिया गया है, उनके निर्माण का समय एवं प्रदेश उनसे भिन्न हैं जिनमें हिमाच्छन्न पर्वतों का जिक्र है। कुछ भी हो, इस आधार पर ऋग्वेद के विभाग करना दुःसाहस है। यह संभव है कि उन सूक्तों में परवर्ती मध्य देश के निवासियों का जिक्र आया हो। इस प्रकार शीत और हिम के जिक्र जल-वायु प्रदेश की अपेक्षा स्थानीयता के ऊपर अधिक निर्भर हैं। एक दूसरी बात तीन से बढ़कर चार ऋतुओं का उल्लेख भारतीयों के प्राचीन विकास का सूचक है। द्र०—**ऋतु**।

शतपथ ब्राह्मण १. ५. ४. ५, में हेमन्त-काल में पौधों के सूखने और पत्तियों के झड़ने तथा पक्षियों के कम उड़ने का उल्लेख आता है।

'एतौ (सहश्च सहस्यश्च) एव हैमन्तिकौ (मासौ) स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतो सहश्च सहस्यश्च' शब्रा० ४. ३. १. १८; 'तस्य (पर्जन्यस्य) सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू' शब्रा० ८, ६, १. १०; 'हेमन्तो होता तस्माद्धेमन् वषट् कृताः पशवः सीदन्ति' शब्रा० ११. २. ७. ३२; 'हेमन्तो मध्यं (संवत्सरस्य)' तैब्रा० ३. ११. १०. ४; 'यद् वृष्ट्वोद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य (रूपम्)' शब्रा० २. २. ३. ८; 'हेमन्तो निधनम्' शब्रा० ३. ११; 'अन्त ऋतूनां हेमन्तः' शब्रा० १. ५. ३. १३.।

हैत-नामन—**हित-नामन्** का वंशज। मैत्रायणी संहिता ३. ४. ६ में एक आचार्य आहृत का पैतृक नाम हैत-नामन् है।

द्र०—पाणिनि, ६. ४. १७०; वार्त्तिक और फॉन श्रोडर, मैसं०, २. ९।

हैरण्य-नाम—**हिरण्य-नाम** का वंशज। शतपथ ब्राह्मण १३. ५. ४. ५ में आई एक गाथा में **कोसल** राज **पर आट्णार** का पैतृक नाम हैरण्य-नाम आया है।

---

[१] आ०लें०, ४०।

होतृ—वैदिक याग में सर्व-प्रमुख एवं प्राचीनतम ऋत्विक् का नाम होतृ है, जो अवेस्ता के 'ज़ओतर' का समकक्ष है : ऋ० १. १. १; १. १४. ११; १. १३९. १० इत्यादि; होतृ का पद **होत्र**, : ऋ० २. १. २; २. ३६. १; २. ३७. १ इत्यादि। यह शब्द √हु धातु से व्युत्पन्न है, जैसा कि **और्णवाभ** का मत है; द्र०—निरुक्त, ४. २६। इससे यह पता चलता है कि होतृ पहले गान करने के साथ-साथ हवन भी करना था; किंतु बाद में हवन का कार्य **अध्वर्यु** का बन गया। ऋग्वेद में **ऋत्विजों** का कार्य-विभाजन हो चुका था; और वहाँ होतृ का प्रमुख कार्य शस्त्रों का पाठ करना था। प्राचीन काल में वही राजा का पुरोहित भी होता था; बाद में पुरोहित का पद ब्रह्मा को मिल गया।

तु०—ओल्डेनबर्ग, रिलिगियों देस वेद, ३८० एवं अग्रिम।

तु०—'यद् वा स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमा वहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वम्' ऐब्रा०, १. २; 'मध्यं वा एतद् यज्ञस्य यद्धोता' तैब्रा०, ३. ३. ८. १०; = आत्मा, ऐब्रा० ६. ८; 'आग्नेयो होता' तांब्रा० १८. ९. ९; 'अग्निर्वै देवानां होता' ऐब्रा० १. २८; 'अग्निर्वै होताधिदैवं वागध्यात्मम्' शब्रा० १२. १. १. ४; =वाक्, शब्रा०, १. ५. १. २१; =मनः, तैब्रा० २. १. ५. ९; =प्राणः, ऐब्रा० ६. ८; =सूर्यः, गोब्रा०, २. ६. ६; = पुरुषः, गोब्रा०, २. ६. ६; =क्षत्रम्, ऐब्रा० ६. २१; = संवत्सरः, गोब्रा०, २. ६. ६; =हेमन्तः, शब्रा०, ११. २. ७. ३२.

होत्रक—ऐतरेय ब्राह्मण २. ३६. ५ में **होतृ** के सहायक का नाम होत्रक है। सूत्रों में इस शब्द का अनेकशः प्रयोग मिलता है : कभी इसी अर्थ में, कभी अधिक व्यापक अर्थ में सभी (चार मुख्य पुरोहितों के अतिरिक्त) ऋत्विजों के अर्थ में; तु०—आश्रौसूत्र० ५. ६. १७।

ह्यस्—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बीते हुए कल के अर्थ में आया है : ऋ० ८. ६६. ७; ८. ९९. १; १०. ९५. ५; पंविंब्रा०, ११. ९. ३।

ह्रद—ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य में झील या तड़ाग के अर्थ में ह्रद शब्द आया है ऋ० १. ५२. ७; ३. ३६. ८; ३. ४५. ३; १०. ४३. ७; १०. ७१. ७; १०. १०२. ४; १०. १४२. ८ इत्यादि; अवे०, ४. १५. ४; ६. ३७. २; पंविंब्रा०, २५. १०. १८; शब्रा०, ४. १. ५. १२; ४. ४. ५. १० तथा ११. ५. ५. ८ इत्यादि।

ह्रदे-चक्षुस्—ऋग्वेद १०. ९५. ६ में प्रयुक्त इस शब्द से जैक्सन ने तृणगुच्छक की इच्छा यह अर्थ लिया है।

जैक्सन, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, मई १८९०. ४।

ह्रस्व माण्डूकेय—मण्डूक का वंशज। ऐतरेय आरण्यक ३. १. ५, ३. २. १, ६ में यह एक आचार्य का नाम है।

तु०—वेबर, इस्तू०, १. ३९१

ह्रादुनि—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में यह शब्द कहीं-कहीं स्वाहा के अर्थ में आया है: ऋ० १. ३२. १२; ५. ४४. ३; तैसं०, ७. ४. १३. १; वासं०, २२. २६; २६. ९ इत्यादि।

ह्रादु—अवे० १. २५. २, ३ में तक्मन् के लिये प्रयुक्त यह शब्द संदिग्धार्थक है। पैप्पलाद शाखा में हुड् ('भेंड़') रूप है। हेनरी का अनुमान है कि यह मूलतः सेमिटिक शब्द हरूड (=स्वर्ण) का समकक्ष है, (असीरियन 'हुरशु' और हेब्रू हरूश्)[1]। ग्रीक ख्लोरोस के आधार पर हैलेबी का सुझाव है कि इसका अर्थ 'हरिताभ पीत' हो सकता है।[2]

[1] द्र०—जूर्नाल् एशियाटिक, नवम खण्ड, १०. ५१३।

[2] द्र०—उपर्युक्त जर्नल, ११. ३२० एवं अग्रिम।

किंतु ये दोनों अनुमान चिन्त्य हैं।[1] वेबर का विचार है कि इस का अर्थ 'स्तम्भ' या 'कील' है।[2]

ह्वरस्—रॉथ[3] के अनुसार ऋग्वेद ९. ३. २; ९. ६३. ४; ९. १०६. १३ में ह्वरस् का अर्थ सोम-चालनी का एक भाग है; संभवतः वह भाग जहाँ से सोम छन कर नीचे गिरता है।[4] किंतु गेल्डनर इसका अर्थ आवरण करते हैं।[5]

[1] द्र०—मैकडानल, ज०रा०ए०सो०, १९०७, ११०६।

[2] इस्तू०, ४. ४२०।

तु०—लानमान, ह्विटनी का अथर्ववेद का ट्रांसलेशन २६; ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अवे०, २७३।

[3] वोबू०।

[4] द्र०—त्सिमर, आ०ले०, २७८, टि०; हिल्लेब्राण्ट, वै०मि०, १. २०३।

[5] द्र०—वैस्तू०, २. २०।

———